आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन

डॉ. पुरुषोत्तम नागर

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
जयपुर
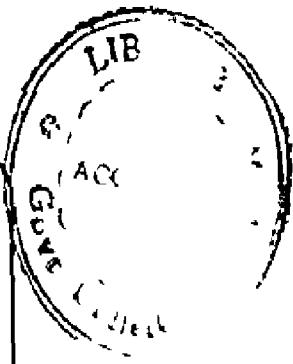
प्रथम संस्करण : 1980
द्वितीय संस्करण : 1982
तृतीय संस्करण : 1984
चतुर्थ संस्करण : 1989
पंचम संस्करण : 1994

Aadhunika Bharatiya Samajika Evam Rajanitika Chintana

ISBN : 81-7137-150-7

मूल्य : 128.00 रुपये मात्र

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
ए-26/2, विद्यालय मार्ग,
तिलक नगर, जयपुर-302 004

मुद्रक :
कोटावाला ऑफसैट
जयपुर

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित।

समर्पण

स्वतन्त्र भारत

के

गौरवपूर्ण अतीत, वर्तमान तथा भविष्य

की सबल स्रष्टा

श्रीमती इन्दिरा गाँधी

को

सादर समर्पित

प्रकाशकीय भूमिका

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 25 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1994 को 26वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व साहित्य के विभिन्न विषयो के उत्कृष्ट ग्रन्थो के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थो को हिन्दी में प्रकाशित कर अकादमी ने हिन्दी जगत के शिक्षको, छात्रों एवम् अन्य पाठकों की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी में शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रन्थो का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमो के अनुकूल हो। विश्वविद्यालय स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक ग्रन्थ जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ में अपना समुचित स्थान नहीं पा सकते हों और ऐसे ग्रन्थ भी जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नहीं पाते हों, अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक ग्रन्थो को प्रकाशित करती रही है और करेगी जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नहीं गौरवान्वित भी हो सकें। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 400 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का प्रकाशन किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यो के बोर्डों एवं अन्य संस्थाओ द्वारा पुरस्कृत किये गए हैं तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयो द्वारा अनुशंसित।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना-काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अतः अकादमी अपने लक्ष्यो की प्राप्ति में उक्त सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

यह पुस्तक राजनीतिशास्त्र के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर तैयार करवाई गई थी। इसका पंचम संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमे हर्ष हो रहा है। इसमें राजा राममोहन राय से लेकर राम मनोहर लोहिया तक के विभिन्न राजनीतिज्ञो, विचारकों, समाज-सुधारकों एवं क्रांतिकारियों के सिद्धान्तो और विचारको का सप्रमाण विवेचन किया गया है, जो विषय से सम्बन्धित छात्रों और अध्यापकों के लिए तो अत्यधिक उपयोगी होगा ही, अपितु सामान्य पाठकों को भी संभवतः रुचिकर लगे, क्योंकि विवेचित महापुरुषों के जीवन का आधुनिक भारत के निर्माण में प्रभूत योगदान रहा है। इनमें से अनेक महापुरुष आधुनिक

अखबारी कटिंग पर अपनी विद्वत्ता का ढोंग रचाने वाले विद्वान्-विदूषकों पर तरस आता है। वर्तमान संदर्भ में आधुनिक भारत के सामाजिक तथा राजनीतिक चिंतन के अध्ययन की उच्च-विश्वविद्यालय स्तरीय अनिवार्यता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी सामान्य भारतीय नागरिक के लिये इसका समीचीन ज्ञान। भारत की चिंतन विधा को समझने का कार्य सर्वोपरि रहे तो शासन तथा राजनीति, सविधान तथा लोक प्रशासन जैसे गौण विषयों को पूर्वापार स्वतः प्राप्त हो जायेगा।

प्रस्तुत ग्रंथ में आधुनिक भारतीय चिंतकों के समस्त महत्त्वपूर्ण विचारों को यथासंभव उन्हीं के वक्तव्यों, लेखों तथा संस्मरणों की सहायता से उद्भासित किया गया है। महत्त्वपूर्ण जीवनी लेखकों, टीकाकारों तथा समीक्षक अध्येताओं के विचारों के माध्यम से चिंतक तथा उसके चिंतन को उभारने का प्रयास किया गया है। चिंतक को समझने के लिए चिंतक के जीवन का साक्षात्कार उतना ही आवश्यक है जितना उसके चिंतन का अध्ययन। अतः चिंतक तथा उसके चिंतन दोनों पर यथासंभव विस्तार से प्रकाश डाला गया है। कतिपय चिंतकों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व सीमित होने के कारण उन्हें व्याख्या की दृष्टि से सीमित स्थान ही मिल पाया है जब कि कुछ चिंतकों के जीवन तथा विचार पर विस्तृत व्याख्या की अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए विवेचन सविस्तार प्रस्तुत किया गया है। चिंतन की व्याख्या में यद्यपि व्यक्तित्व-पूजा की शैली का अनुसरण नहीं किया गया तथापि कतिपय चिंतकों की राष्ट्रीय मान्यता अथवा निकट समसामयिकता के कारण निरपेक्षता के सम्बन्ध में पाठकों के अपने विचार हो सकते हैं जो लेखक की व्याख्या से मेल न खाते हों, किन्तु ऐसे समस्त संदर्भों में चिंतक तथा उसके चिंतन की अपेक्षा लेखक को स्वयं की सीमा ही उत्तरदायी मानी जाये। आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक चिंतन के अध्येताओं, शोध-स्नातकों तथा समस्त पाठकों को इस ग्रंथ के अध्ययन के पश्चात् आधुनिक भारतीय चिंतन के गरिमामय पक्ष की प्रेरक अनुभूति हो सके तो लेखक अपने आपको कृतार्थ समझेगा।

लेखक श्री टी एन. चतुर्वेदी, निदेशक, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान, नई दिल्ली का अतीव आभारी है जिनके आशीर्वाद से यह लेखन कार्य पूर्ण हो सका। लेखक प्रो. अटल बिहारी माथुर, निदेशक, कालेज शिक्षा, राजस्थान, जयपुर के सौहार्द एवं प्रकांड विद्वतापूर्ण पथ-प्रदर्शन के लिये उनके प्रति नतमस्तक है।

ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये लेखक राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर के निदेशक डॉ. रामबली उपाध्याय तथा उप निदेशक श्री यशदेव शल्य के प्रति आभारी है। सुन्दर मुद्रण के लिये वैदिक यन्त्रालय, अजमेर के संरक्षक श्रीकरण शारदा, सह-मंत्री डॉ. भवानीलाल भारतीय तथा व्यवस्थापक श्री सतीशचन्द्र शुक्ल के प्रति लेखक अपना आभार व्यक्त करता है। ग्रंथ से सम्बन्धित अन्य उपयोगी कार्यों के लिये लेखक श्री नन्दलाल याज्ञिक तथा श्री भरत रामचन्दानी का ऋणी है।

स्वजनों का ग्रंथ निर्माण की प्रेरणा में विशिष्ट योगदान रहा है इसके लिये लेखक श्री विजय शंकर नागर तथा श्रीमती रमाबेन का हार्दिक रूप से आभारी है। ग्रंथ की मुद्रित प्रति के संशोधन तथा अनुक्रमणिका के निर्माण में सहधर्मिणी श्रीमती आशा नागर तथा दोनों पुत्र अनुपम एवं अपूर्व का योगदान अविस्मरणीय है।

—पुरुषोत्तम नागर

श्री वल्लभाचार्य जयन्ती

दिनांक 10-4-80

विषय-सूची

खण्ड 1

खण्ड 2

अध्याय | पृष्ठ संख्या

खण्ड 1

अध्याय 1

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन : स्वरूप, अध्ययन-क्षेत्र, महत्त्व एवं पाश्चात्य प्रभाव

राजनीतिक एव सामाजिक चितन का उद्भव, विकास एव प्रचलन देश, काल एव परिस्थितियो मे सयुक्त होता है। परपरा, निरतरता, परिवर्तन तथा आधुनिकीकरण चितन को जीवत बनाते हैं। भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक चितन का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इसकी विशिष्टता वस्तुत प्राचीनता, मौलिकता, निरतरता तथा आधुनिक तत्वो को ग्रहण करने की क्षमता मे सन्निहित है। भारत मे चितन का क्रम कभी विच्छिन्न नही हुआ। ऋग्वेदकाल से वर्तमानकाल तक चितन की अविरल धारा प्रवहमान रही है। राजनीतिक एव सामाजिक विचार-क्षेत्र मे भारत ने अनेकानेक अद्भुत प्रयोग किये हैं। हमारी राज्य-व्यवस्था ऐसे समय मे परिपक्व हुई थी एव क्रियान्वित की गयी थी जबकि विश्व के अन्य अनेक राज्य, विशेषत आज के सर्वाधिक आधुनिक एव सम्पन्न कहे जाने वाले राज्य, अधकार के गर्त मे डूबे हुए थे। भारत की सपन्नता के प्रति ईर्ष्या भावी विदेशी आक्रमणकारियों ने बार बार आक्रमण कर चितन तथा व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने के प्रयत्न किये और भारत सदियो तक गुलाम बना रहा, किन्तु चितन एव राजनीतिक प्रबुद्धता कभी भी भारत मे विलग एव विलीन नहीं हुई। अग्रेजीराज भी भारतीय राजनीतिक एव सामाजिक चितन के मूल आधारों को समाप्त नही कर पाया।

आधुनिक भारतीय चितन प्राचीन भारतीय चितन से एकदम विच्छिन्न नही है।[1] मूल रूप मे वह प्राचीन चितन का परिवर्धित रूप ही है। पाश्चात्य विचारधारा के प्रभाव से इसमे आधुनिक सदर्भ जोड़े गये हैं। जिन विचारो का आधार भारत से लुप्त हो गया है उन आधारो को पश्चिम से यथावत् ग्रहण किया गया है। भारत की आधुनिक 'राजनीतिक प्रबुद्धता', परपरावादी 'प्रशासनिक राजनीति' के 'आदोलनात्मक राजनीति' की ओर सक्रमण[2] तथा सवैधानिक प्रयोगो को पाश्चात्य प्रभाव के अतर्गत माना गया है। भारत मे अग्रेजी शासन की स्थापना तथा उसके जन-जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव ने कई नवीन पाश्चात्य राजनीतिक विचारो को भारत मे प्रचलित होने का अवसर प्रदान किया है। काल-विभाजन की दृष्टि से 18 वी शताब्दी से वर्तमान तक का भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक चितन 'आधुनिक' कहा जाता है। आधुनिक भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक चितन-धारा, जिसमे आर्थिक एव दार्शनिक पक्ष भी सयुक्त हैं, अग्रेजी शासन काल मे निर्बाध प्रवाहित होती हुई, अद्यावधि अक्षुण्ण रूप से प्रवहमान है। अग्रेजीराज की समानातरता के युग मे भारत का सामाजिक एव राजनीतिक चितन अग्रेजो की कृपा का प्रतिफल न होकर उनके प्रति अश्रद्धा एव विरोधजन्य अधिक रहा है। अग्रेजी साहित्य एव मान्यताओ के अतिरिक्त फ्रास, जर्मनी, इटली, अमरिका तथा रूस की राजनीतिक परिस्थितियो एव मान्यताओ ने भी आधुनिक भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक चितन को प्रभावित किया है।

आधुनिक भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक चितन का उद्गम समाज एव धर्म सुधार आदोलनो से हुआ है। पाश्चात्य विचारधारा एव विदेशी शासन ने भारतीय

चिन्तन तथा संस्कृति की उपादेयता के संबंध में जो चुनौती प्रस्तुत की, उसकी एक विशेष प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। राजा राममोहन राय में सर्वप्रथम इस प्रतिक्रियात्मक परिवर्तन के संकेत मिलते हैं। उनके द्वारा स्थापित 'ब्रह्म-समाज' इसी प्रतिक्रिया का परिणाम था। अंग्रेजी शासन के प्रति राजा राममोहन राय का भाव तो श्रद्धापूर्ण था किन्तु बाद के वर्षों में भारतीय जनमानस में इस विदेशी सत्ता के प्रति घृणा की भावना बलवती हो गयी थी।[3] यह घृणा कई प्रकार से व्यक्त हुई थी। कई स्थानों पर जनता के प्रत्येक वर्ग ने सशस्त्र विद्रोह किया था ताकि विदेशी शासक उसके धर्म, संस्कृति एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता पर और अधिक आघात न कर सकें। इस कार्य में हिन्दू, मुसलमान, आदिवासी तथा देशी रियासतों के राजा सभी एकजुट हुए थे।[4] यहां तक कि मुस्लिम फकीरों तथा हिंदू सन्यासियों ने भी बंगाल में विद्रोह का झंडा फहरा दिया था।[5] दक्षिण भारत में भी विजयनगरम्, तिन्नवली तथा वाईनाड में सशस्त्र विद्रोह हुए। सैयद अहमद बरेलवी का बहावी आंदोलन मुस्लिम-सुधार-आंदोलन होने के साथ-साथ स्पष्टतः अंग्रेजों के विरुद्ध भी था। विद्रोह की यह ज्वाला शांत नहीं हुई, यद्यपि अंग्रेजों ने इसे पूर्ण क्रूरता से कुचला फिर भी यह ज्वाला 1857 में अपने प्रचंड रूप में धधक उठी। आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन पर इस महान् घटना का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। क्योंकि भारतीय जनमानस को झकझोर कर विदेशी शासन के विरुद्ध करने वाली यह आधुनिक युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी। अंग्रेजों ने जिस निरंकुश क्रूरता से इस स्वातन्त्र्य संग्राम को कुचला था, उसका इतिहास साक्षी है। इस घटना के पश्चात् रानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र (1858) मात्र राजनीतिक दिखावा प्रतीत होता है। लार्ड सेलिसबरी ने 1883 में स्वयं अपनी सत्ता को इस साम्राज्यवादी नीति के लिए धिक्कारा था।[6] इतना होने पर भी भारतीयों को पूर्णतया शक्ति के अधीन रखने के लिए, शांति एवं व्यवस्था के नाम पर सेना का आंग्लीकरण, प्रशासनिक तंत्र का पुनर्गठन तथा भारतीय व्यापार का पूर्णतया अंग्रेजों के हित में संचालन किया गया फलतः भारत की आर्थिक दुर्दशा बढ़ी। कुटीर उद्योग एवं कृषि दोनों का ही ह्रास हुआ। विलियम डिग्बी, दादाभाई नौरोजी तथा रमेशचन्द्र दत्त के आर्थिक विचार इन तथ्यों से प्रभावित हुए। भारत की आर्थिक दुर्दशा का जीवंत चित्र प्रस्तुत कर इन लेखकों ने आर्थिक चिंतन को एक नयी दिशा दी। दुर्भिक्ष की हृदय-विदारक स्थिति से द्रवित स्वयं डिग्बी ने अंग्रेजों के इस कथन के लिए कि भारत का शासन उन्हें 'ईश्वरीय वरदान' के रूप में प्राप्त हुआ है धिक्कारा और उनके मिथ्या दंभ का विखण्डन किया।

भारत का शासन हथियाने के बाद अंग्रेजों की समृद्धि निरन्तर बढ़ती गयी। सन् 1852 में उनकी विदेशी विनियोग पूंजी 2180000000 थी, वह सन् 1892 में 2000000000 हो गयी,[7] जबकि भारतीय जनता गरीबी के असह्य बोझ से दबती जा रही थी। भारत की आबादी का 90 प्रतिशत ग्रामीण जन-समुदाय भुखमरी, बेकारी तथा दुर्भिक्ष से जूझ रहा था। अंग्रेजों ने भारत से कमाई पूंजी का भारत में ही विनियोग किया। रेल, डाकघर तथा बागानों का विकास अंग्रेजों ने मूलतः स्वहित-साधन की दृष्टि से ही किया था। दादाभाई नौरोजी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया' में इसका उल्लेख किया है और आंकड़ों सहित ऐसे आर्थिक शोषण की पुष्टि की है। भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग पर आबकर लगा कर अंग्रेजी राज ने पनपते हुए एकमात्र सूती वस्त्र-उद्योग को भी दबा दिया। भारतीय राष्ट्रजीवन में नमक-कर तथा

लगान की मनमानी वसूली ने ग्रामीण जनता को आर्थिक दृष्टि से विपन्न बना दिया। इन कारणों से भारतीय आर्थिक चिंतन के क्षेत्र में नवीन दृष्टि उत्पन्न हुई। महादेव गोविन्द रानाडे ने अपने आर्थिक निबंधों में इसीलिए मुक्त-व्यापार की भर्त्सना की थी।

इतना ही नहीं, भारत में अंग्रेजी सत्ता ने भारतीयों के धर्म, संस्कृति एवं सामाजिक व्यवहार को भी नकारा। अंग्रेजी शासन में विदेशी ईसाई मिशनरियों की बन आयी। वे खुले रूप में हिंदू-मुस्लिम धर्मों की भर्त्सना करने लगे। उन्होंने दलित एवं शोषित वर्ग को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने का कार्यक्रम बनाया। ईसाई धर्म की आड़ में मिशनरियों ने लेखन तथा शिक्षण संस्थानों के माध्यम से भारत में अंग्रेजी राज को ईश्वरीय वरदान एवं विधान के रूप में सिद्ध करने का प्रयास किया। उनके इस व्यवहार से भारतीयों के मन में अंग्रेजी शासकों के प्रति घृणा और बढ़ी।[8] ऐसे समय में स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज सम्बद्ध कार्य एवं विचारों द्वारा मिशनरियों के कुटिल कार्यों का सामना किया। लाला लाजपतराय ने भी आर्य समाज के माध्यम से भारत की गरिमा को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रभावोत्पादक विचार प्रस्तुत किये। उदारवादियों में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा गोपाल कृष्ण गोखले ने राजनीतिक कार्यक्रमों द्वारा, भारतीय प्रशासनिक सेवा एवं अन्य असैनिक एवं सैनिक उच्च पदों से भारतीयों को अलग रखने की नीति का घोर विरोध किया।

पत्रकारिता के विकास से भी आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन को पर्याप्त संबल मिला। सन् 1875 में भारत में 374 देशी अखबार निकलते थे, जबकि अंग्रेजी भाषा में केवल 147 ही थे।[9] देशी अखबारों का विरोध अंग्रेजी शासन के प्रति अधिक तीव्र था, जबकि अंग्रेजी अखबार अधिकतर सौम्य थे। लार्ड लिटन के विरोधी रवैये के बावजूद यह क्रम लार्ड रिपन के समय पुनः प्रारम्भ हो गया। बंगाल, बंबई, मद्रास, पंजाब एवं उत्तर प्रदेश पत्रकारिता के क्षेत्र में अग्रणी थे। प्रेस की स्वतन्त्रता ने भारत में राष्ट्रवादी प्रकाशनों का अम्बार लगा दिया। नील की खेती में लगे श्रमिकों की दुर्दशा अंततः अंग्रेजी सरकार विरोधी गांधी-सत्याग्रह में परिणत हुई। गांधी जी ने यह सत्याग्रह चंपारन में सन् 1917 में प्रारम्भ किया।

भारतीयों के राजनीतिक संगठनों जैसे पूना-सार्वजनिक सभा (1870), इंडियन एसोसियेशन (1876), मद्रास-महाजन-सभा (1884) तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा संगठित नेशनल कान्फरेंस (1883) ने ही अंततः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (1885) का मार्ग प्रशस्त किया था। राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से आधुनिक भारतीय विचारकों को एक सभा-स्थल प्राप्त हुआ। कांग्रेस के क्रियाकलापों में भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। इसलिए यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस सन् 1885 से सन् 1947 तक आधुनिक भारतीय चिंतन की दर्पण रही है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने प्रारम्भ में अंग्रेजी शासन के प्रति भारतीयों की प्रतिक्रियात्मकता को सहानुभूति में परिवर्तित करने का प्रयास किया था। इसीलिए कांग्रेस के प्रारंभिक सदस्यों ने उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया। इन्होंने अंग्रेजी शासन का अस्तित्व स्वीकार कर लिया। फलतः सरकारी नौकरियों में अवसरों के विस्तार तथा अन्य प्रशासनिक एवं न्यायिक सुधारों की याचना का युग प्रारम्भ हुआ। भारतीय राष्ट्रवाद जिसने आधुनिक भारतीय चिंतन को वास्तविक आधार प्रस्तुत किया था, इस काल में

उपेक्षित होता दिखाई देता है। किन्तु यह स्थिति अधिक दिन नहीं रही। सन् 1888 में कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन से ही भारतीय राष्ट्रवाद तथा अंग्रेजी साम्राज्यवाद का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। लार्ड कर्जन द्वारा किये गये बंगाल के विभाजन (1905) ने राष्ट्रवादी चिंतन को उत्प्रेरित किया। लाल, बाल तथा पाल द्वारा स्वतन्त्रता, राज्य एवं राष्ट्र संबंधी धारणाएं प्रचारित की गयीं। उग्रवादियों ने पुनरभ्युदयवाद एवं सुधारवाद का समन्वय प्रस्तुत किया। इनके ठीक विपरीत सन् 1909 में मिंटो-मोर्ले-सुधारों ने मुसलमानों को पृथक्ता का उपदेश देकर राष्ट्रवादी विचारधारा के मार्ग में रुकावटें पैदा करने की चेष्टा की।

सन् 1919 में जालियांवाला बाग-हत्याकांड ने भारतीय राष्ट्रवादी चिंतन को स्वतन्त्रता- प्राप्ति के लिए पूर्णतः प्रतिबद्ध कर दिया। एक ओर संवैधानिक तन्त्र तथा संसदीय लोकतन्त्र तो दूसरी ओर गांधी जी के असहयोग-आंदोलन एवं क्रांतिकारी आंदोलन की गतिविधियां दिखाई देती थीं। गांधी जी की राजनीति ने असहयोग एवं सत्याग्रह संबंधी अपरंपरावादी नवीन विचार प्रस्तुत कर भारतीय चिंतन सीमा का विकास किया। इसी प्रकार सैनिक विद्रोह द्वारा भारत की सत्ता हस्तगत करने का सुभाष बोस का विचार और प्रयत्न सन् 1857 की याद ताजा करने वाला था। शांति तथा शक्ति दोनों माध्यमों से स्वतन्त्रता-प्राप्ति का यह प्रयत्न यदि एक ओर भारतीय चिंतन की प्राचीन धरोहर गीता के 'कर्मवाद' को आत्मसात् किये हुये है तो दूसरी ओर भारतीय विचारकों की विश्व के साथ निरंतर प्रगति करने की सार्वभौमिक लालसा का भी प्रतीक है।

राजदर्शन की दृष्टि से आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन को एक व्यवस्थित राजनीतिक चिंतन या दर्शन नहीं स्वीकार किया गया है जैसा कि पाश्चात्य दर्शन को माना जाता है। इसमें ऐसे तार्किक विश्लेषण की नितान्त कमी मानी गयी है जिसके द्वारा राजनीतिक दर्शन के रूप में राजनीतिक संभावनाओं, सिद्धांतों एवं विवादों को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया जाता है। राजनीतिक दर्शन के समान इसमें राजनीतिक विचारों एवं विचार-धाराओं का व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध नहीं होता। यह तर्क भी इसके विरुद्ध प्रस्तुत किया जाता है कि इसमें राजनीतिक मूल्यों, मर्यादाओं एवं आदर्शों का समन्वय नहीं हुआ है और न इसके राजनीतिक चिंतन का कोई आधार ही दिखाई देता है। इसलिए इसे राजनीतिक सिद्धान्त की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसमें राजनीतिक मूल्यों की विवेचना भी उपलब्ध नहीं है। इसका कोई व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध सिद्धांत नहीं है जिसके आधार पर इसे व्यवहारवादी, उत्तरव्यवहारवादी अथवा अन्य वैज्ञानिक पद्धति का बाना पहना कर गणित एवं सांख्यिकी के बंधन में रखा जा सके। एक लेखक ने तो यहां तक कह दिया है कि राजनीतिक विश्लेषण जैसी कोई वस्तु आधुनिक भारतीय चिंतन में है ही नहीं। वे यह मानते हैं कि राजनीति ने आधुनिक भारतीय चिंतन में कोई भी भूमिका नहीं निभायी है। वे राजनीतिक विकास तथा राजनीतिक विचारों के आंदोलन को भिन्न भिन्न मानते हैं।[10]

उपर्युक्त तर्क दोषपूर्ण नहीं तो असम्बद्ध अवश्य है। आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन के प्रवर्तकों का मूल उद्देश्य राज्य, सरकार, सम्प्रभुता आदि की मौलिक धारणाएं तथा नवीन सामाजिक एवं आर्थिक विचार प्रस्तुत करना नहीं था। उनका उद्देश्य भारत को जातीय, साम्प्रदायिक, सामाजिक व आर्थिक शोषण एवं दासता के चंगुल से निकालकर राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध करना था, ताकि भारतीय जनजीवन

स्वतन्त्रता, समानता एवं लोकतांत्रिक विचारों से परिचित होकर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकें। उनका चिंतन राष्ट्रवादी था। वे कल्पना में विचरण न कर जीवन की वास्तविक कठिनाइयों से जूझ रहे थे। अतः भारतीय चिंतन को निरपेक्ष राजनीतिक दर्शन एवं सिद्धान्तों के शास्त्रीय दृष्टिकोण से परखना त्रुटिपूर्ण होगा। आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन में राष्ट्रवाद संबंधी अनेक मौलिक धारणाएं प्रस्तुत हुई हैं। राष्ट्रवाद की व्याख्या करते समय विश्व का कोई भी चिंतक अथवा भारत इतिहासज्ञ राष्ट्रवादी विचारधारा का उल्लेख एवं मनन किये बिना नहीं रह सकता। राष्ट्रवाद के विचार का अध्यात्मीकरण आधुनिक भारतीय विचारकों की अनुपम देन है। नव-मानववाद, सार्वभौमवाद तथा सत्याग्रह आदि के विचार आधुनिक भारतीय चिंतकों की प्रमुख विशेषताएं हैं।

विषयवस्तु की दृष्टि से आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन को वर्गीकृत करना सरल नहीं है, क्योंकि प्रत्येक विचारक ने राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं पर अपने व्यक्तिगत विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित विचारों में कहीं परंपरा एवं आधुनिकता का सम्मिश्रण है, तो कहीं उनका परस्पर संघर्ष भी। किन्हीं दो विचारकों में साम्य ढूंढना सरल नहीं है। इसी प्रकार यदि इन विचारकों के व्यक्तिगत जीवन तथा क्रिया-कलाप को अलग रखकर केवल उनके विचारों का अध्ययन किया जाये, यह भी उचित नहीं होगा। आधुनिक भारतीय चिंतकों ने विचारों को अपने पुस्तक-कक्ष में आराम कुर्सी पर बैठकर नहीं बनाया है। जीवन की प्रारंभिक घटनाएं, परिवार का वातावरण, शिक्षा-दीक्षा, समाज की मान्यताएं, बौद्धिक प्रबुद्धता, शासन एवं राज्य व्यवस्था के प्रति दृष्टिकोण, धार्मिक मान्यताएं, पड़ने वाले बाह्य प्रभाव आदि अनेक तथ्य मिल कर एक चिंतक का निर्माण करते हैं। ऐसी स्थिति में चिंतक को उसके संपूर्ण जीवन के संदर्भ में हमें देखना होगा। तदनन्तर ही वर्गीकरण की स्थिति आनी चाहिए।[11]

अध्ययन-सुविधा की दृष्टि से आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचारकों पर इतिहास-क्रम की दृष्टि से विचार करना अधिक उचित लगता है। स्थूलतः विचारकों को विभिन्न विचारशैलियों के अंतर्गत विभाजित किया जा सकता है ताकि उनके विचारों में जो सूक्ष्म साम्य है उसे ठीक से परिलक्षित किया जा सके। उदाहरणार्थ 'उदारवाद' तथा 'उग्रवाद' का वर्गीकरण न तो वैज्ञानिक ही है और न तर्क पर आधारित है। इसे केवल सुविधामात्र मानना चाहिए। चूंकि विचारकों ने परस्पर व्यंग्य कसने की दृष्टि से इन शब्दों का प्रयोग किया था, कालान्तर में यही शब्द बोलचाल में आ गये और टीकाकारों ने इन्हें यथावत् ग्रहण कर लिया। मूलतः उदारवाद तथा उग्रवाद का अंतर केवल समयोचित एवं क्षणभंगुर था। समय के साथ उदारवादी उग्रवादी, तथा उग्रवादी उदारवादी बनते दिखायी देते हैं। फिर भी प्रचलित मान्यताओं का आधार ग्रहण करते हुए आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन का अध्ययन-क्षेत्र निम्नांकित रूप में निर्धारित किया जाता है।

सर्वप्रथम, सामाजिक एवं धर्म-सुधार-आंदोलन के प्रणेताओं का अध्ययन किया जाता है। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीमती एनी बेसेन्ट ने आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन को सजीवित कर धर्म एवं समाज के सुधार का अथक प्रयास भी किया। इनका यह कार्य सराहनीय था। विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से अपना कार्यक्रम प्रस्तुत कर उन्होंने अपने विचारों को स्थायी

संस्थागत आधार प्रदान किया ताकि भविष्य की पीढ़ियां उनसे मार्गदर्शन प्राप्त कर सकें। यह दूरदर्शितापूर्ण कार्य था। आज भी ब्रह्मसमाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसायटी का कार्य अपने संस्थापकों की नीति के अनुसार यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ चल रहा है।

राजा राममोहनराय द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज ने जाति-पाति के भेद को दूर करने के कार्य के साथ एकेश्वरवाद का समर्थन एवं मूर्तिपूजा का खण्डन भी किया। ब्रह्मसमाज ने व्याप्त धार्मिक अंधविश्वासों एवं कुरीतियों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा फहराया। राय के अथक प्रयत्नों से सती-प्रथा समाप्त हुई। वे मात्र धर्म-सुधारक अथवा समाजोद्धारक ही नहीं थे वरन् पत्रकारिता एवं ग्रंथरचना द्वारा राजनीतिक कार्यक्रम का श्रीगणेश करने वाले भी थे। संसदीय लोकतन्त्र, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, पाश्चात्य शिक्षा का वरण एवं न्यायिक तथा प्रशासनिक सुधारों के समर्थन में उन्होंने अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये। उनका राजनीतिक तथा सामाजिक लक्ष्य भारतीयों में आत्मसम्मान एवं जागृति का संचार करना था। इसी कारण से उन्हें आधुनिक भारत का 'जनक' भी कहा जाता है।

धर्म एवं समाज-सुधार आंदोलन के अध्ययन में दूसरा प्रमुख नाम स्वामी दयानंद सरस्वती का है। अपने गहन संस्कृत-ज्ञान द्वारा उन्होंने वेदों की पुनः प्रतिष्ठा की तथा जनमानस में भारतीय संस्कृति, धर्म तथा प्राचीन साहित्य के महत्त्व को संस्थापित किया। व्याप्त हीनता की भावना को दूर कर स्वामीजी ने भारतीयों में पौरुष का संचार किया। आर्यसमाज-आन्दोलन केवल धार्मिक अथवा सामाजिक आंदोलन ही नहीं था बल्कि यह एक राजनीतिक आंदोलन भी था जिसने अंग्रेजी शासन को आतंकित कर दिया था। भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन को आधुनिकता एवं भारतीयता का बाना पहनाने का कार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों से ही संभव हुआ था। वे स्वतन्त्रता, स्वदेशी, स्वभाषा, स्वधर्म तथा शिक्षा के भारतीय करण के प्रणेता थे। वे राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नायक थे और विदेशी धर्म तथा विदेशी राज्य की दासता के प्रति घोर विद्रोही थे। सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी ने राजनीति की विशद व्याख्या[12] प्रस्तुत कर आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन को अपने अनेक मौलिक विचारों से समृद्ध किया है। राजनीतिक चेतना के अग्रदूत होने के साथ ही साथ वे सामाजिक क्रांति के भी सूत्रधार थे। समाज सुधार की दृष्टि से उन्होंने जातिप्रथा-विरोध, विधवा-विवाह समर्थन तथा हरिजनोद्धार का प्रगतिशील कार्य किया। धार्मिक क्षेत्र में स्वामी दयानंद ने हिंदू धर्म एवं संस्कृति को ईसाइयत तथा इस्लामी चुनौती का सामना करने की सामर्थ्य दी। उनके 'शुद्धि' कार्यक्रम से ईसाई मिशनरियों तथा कठमुल्लाओं के हौसले पस्त हो गये।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक चिंतन में उग्र राष्ट्रवाद का समावेश किया। उनका ध्येय भारतीयों के मानस में आत्मविश्वास उत्पन्न करना था ताकि वे स्वतन्त्रता का वरण कर सकें। वे विप्लववाद के प्रेरणा स्रोत थे। भारत के सहस्रों क्रांतिकारियों ने उनके भाषणों तथा लेखों को अपना प्रकाश स्तंभ बना रखा था। उन्होंने वेदान्त तथा उपनिषद् के दार्शनिक तत्त्वों को साधारण जनता तक पहुंचाया तथा भारतीय संस्कृति के भग्न स्वरूपों का नवीनीकरण किया। उनका राजनीतिक चक्र का सिद्धांत[13] भारत की भावी समाजवादी व्यवस्था एवं दलित-वर्ग के शासन का पूर्वाभास था। वे दरिद्रनारायण के उपासक थे। उनके प्रयत्नों से प्रथम बार भारतीय श्रेष्ठि तथा अभिजात्य वर्ग को दरिद्रभारत की सेवा का आधुनिक

प्रवेश प्राप्त हुआ।

श्रीमती एनी बेसेंट ने थियोसोफिकल सोसायटी द्वारा भारत के प्राचीन गौरव एवं सम्मान का भाव भारतीयों में जाग्रत किया। पाश्चात्य सभ्यता एवं साहित्य की अंधभक्ति द्वारा भारतीयों में अपनी सांस्कृतिक धरोहर के प्रति जो भ्रान्ति एवं उपेक्षा उत्पन्न हो गयी थी उसको श्रीमती बेसेंट ने दूर कर सनातन हिन्दू-सिद्धान्तों में अपनी तथा देशविदेश के सहस्रों नरनारियों की निष्ठा उत्पन्न की। अध्यात्म के साथ साथ राजनीति में भी उनका पूरा सहयोग रहा। उन्होंने स्वराज्य का प्रायोगिक पक्ष अपने होम-रूल आंदोलन के माध्यम से प्रस्तुत किया। भारतीय स्वाधीनता के समर्थन एवं सनातन धर्म के उत्थान में उन्होंने अपना सर्वस्व जीवन ही अर्पित कर दिया।

दूसरी विचारधारा में आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन के उन विचारकों को सम्मिलित किया गया है जो उदारवादी अथवा मितवादी विचारों के हैं। इनमें दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, श्रीनिवास शास्त्री आदि प्रमुख हैं। इन विचारकों ने संविधानवाद, संसदीय लोकतंत्र, स्थानीय स्व-शासन, प्रशासनिक सुधार एवं सेवाओं के भारतीयकरण के संदर्भ में अपने विचार प्रकट किये। इनमें से कतिपय विचारक स्वराज्य के पक्षधर तथा अंग्रेजों की शोषणनीति के विरोधी थे। प्रमुखतः उदारवादियों ने राजनीतिक एवं सामाजिक चिंतन के क्षेत्र में आर्थिक तथा औद्योगिक सम्पन्नता, स्वावलम्बन और स्वशासन पर विचार प्रस्तुत किये। वे शिक्षा का पाश्चात्य आधार ग्रहण कर भारतीय शिक्षा-व्यवस्था को भी उसी ढाँचे में ढालना चाहते थे। इनके आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों ने भावी राजनीतिक कार्यक्रम की नींव रखी। वे स्वयं जनमानस को उतना अधिक प्रभावित नहीं कर सके, जितना उग्रवादियों ने किया। इसका एक कारण यह था कि वे सरकार के अधिक निकट तथा जनता से अधिक दूर थे।

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन की तृतीय विचारधारा के अंतर्गत उग्रवाद अथवा अतिवाद का अध्ययन किया जाता है। उग्रवादी विचारकों में बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, विपिन चन्द्र पाल तथा अरविंद घोष का योगदान उल्लेखनीय है। इन्होंने बहिष्कार, स्वराज्य, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा के कार्यक्रम प्रस्तुत किये। राष्ट्रवादी चिंतन को आध्यात्मिक आयाम प्रदान कर उग्रवादियों ने भारतीय जनसमुदाय में नवीन चेतना का संचार किया। निष्क्रिय प्रतिरोध का इनका विचार एक क्रांतिकारी प्रयोग सिद्ध हुआ। अंग्रेजी राज को चुनौती देने में इस विचार का अत्यधिक महत्त्व रहा, क्योंकि इस विचार के प्रभाव से भारतीय जनता में निर्भयता एवं देश के लिए सर्वस्व बलिदान करने की इच्छा बलवती हुई। इनके विचारों ने नवयुवकों तथा विप्लववादियों को अत्यधिक प्रेरणा दी। इनका दृष्टिकोण स्वदेशी था। पर वे पाश्चात्य ज्ञान एवं शिक्षा के विरोधी नहीं थे। वे आधुनिकता के लिए हर प्रकार का ज्ञान-विज्ञान पश्चिम से ग्रहण करने के लिए उद्यत थे किन्तु साथ ही साथ अपनी संस्कृति, भाषा एवं प्राचीन गौरव को त्यागना नहीं चाहते थे। स्वराज्य प्राप्ति इनका मूल लक्ष्य था। इनके विचारों में समाजवाद, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद तथा अंतर्राष्ट्रवाद का नीरक्षीरविवेकी विश्लेषण मिलता है। विशेषकर लाला लाजपतराय के समाजवाद तथा श्रमिक संगठनों से संबंधित विचार एवं साम्यवाद के प्रति उनके उद्गार[11] आज भी उनकी दूरदर्शिता, राजनीतिक दक्षता एवं विद्वता की याद दिलाते हैं। सामाजिक क्षेत्र में इनके द्वारा किये

गये कार्यों ने महात्मा गांधी को भी प्रेरित किया था।

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन की चौथी विचारधारा धर्म तथा राजनीति के गठबंधन की ओर इंगित करती है। अंग्रेजी कूटनीति ने जिस साम्प्रदायिक त्रिकोण की स्थापना कर हिंदुओं तथा मुसलमानों में फूट डालने में सफलता प्राप्त की, वही नीति धर्म तथा राजनीति को संयुक्त करने वाले चिंतन के लिए उत्तरदायी बनी। मुस्लिम लीग की स्थापना ने तथा मिंटो-मोर्ले सुधारों ने मुसलमानों को संगठित हो आक्रामक रवैया अपनाने के लिए प्रेरित किया। इसकी प्रतिक्रिया में हिन्दु-मानस में भी जोश आया। हिन्दू-विचारधारा के समर्थकों ने प्राचीन सांस्कृतिक गौरव, भारत के विशिष्ट दर्शन तथा मानवीय प्रबुद्धता का संदेश अपने सहधर्मियों को देकर भावी संकट तथा विघटनकारी साम्प्रदायिक तत्वों के प्रति उन्हें सजग किया। जहां हिंदु-विचारधारा विशुद्ध रूप से भारतीय थी, क्योंकि भारत के बाहर न तो कोई उनका प्रेरणा-स्थल था न विश्राम-स्थल ही, वहां मुस्लिम विचारधारा ने बाह्य स्थलों एवं तत्वों से प्रेरणा प्राप्त की और सदैव भारत से अपने आपको पृथक् माना। यह पृथकतावादी नीति अंत में भारत-विभाजन का कारण बनी। चिंतन की इस धारा के प्रमुख हिन्दू विचारक विनायक दामोदर सावरकर हैं, जिन्होंने हिंदुत्व[15] के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। वे उन विचारकों में से थे, जिन्होंने सन् 1857 के संग्राम को भारत के प्रथम स्वातंत्र्य-संग्राम की संज्ञा दी थी। अन्य अनेक विचारकों ने भी हिंदू-धर्म तथा संस्कृति के आधारभूत तत्वों पर आश्रित हिन्दू-राष्ट्र की भावना को प्रचारित किया। मुस्लिम विचारकों में सैयद अहमद खां, इकबाल तथा मोहम्मद अली जिन्ना ने पृथक् राष्ट्र तथा पृथक् राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समस्त आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन को अवरुद्ध करने का प्रयास किया।

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन की पांचवी विचारधारा समन्वयवादी है। इस धारा के प्रमुख विचारक अरविंद घोष, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू हैं। इनके विचारों में उदारवाद तथा उग्रवाद का सम्यक समिश्रण हुआ है। ये पूर्व तथा पश्चिम की वैचारिक संधि के परिचायक हैं। मानव गरिमा, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, शोषण का विरोध, विश्वबंधुत्व, धार्मिक सहिष्णुता आदि विचारों से इन चिंतकों ने भारत को नवीन दिशा दी। अरविंद घोष ने अपने पूर्ण आध्यात्मिक जीवन में, जो कि उन्होंने पांडिचेरी में सन् 1910 में प्रारंभ किया, मानव-कल्याण के अभूतपूर्व विचार प्रकट किये। भारतीय दर्शन को पाश्चात्य वैज्ञानिक चिंतन से जोड़ने का उनका प्रयास अतुलनीय था। वे विश्वराज्य की स्थापना के पूर्वद्रष्टा थे।[16] इसी प्रकार रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने आध्यात्मिक स्वतंत्रता को सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का पूर्वगामी माना।[17] वे राष्ट्रवाद के प्रबल विरोधी थे, क्योंकि उनके मतानुसार विश्वबंधुत्व तथा विश्व-मानव का विचार पश्चिमी राष्ट्रवाद के रहते साकार नहीं हो सकता।[18] उन्होंने अराष्ट्रवाद के माध्यम से विश्व-मानव की प्रतिष्ठा स्थापित करने का निरंतर प्रयास किया। महात्मा गांधी ने आधुनिक भारतीय चिंतन को अहिंसा, सत्याग्रह तथा असहयोग का कार्यक्रम देकर न केवल भारत अपितु विश्वचिंतन में अपना अनूठा स्थान बना लिया है। धर्म तथा राजनीति का समुचित संमिश्रण, साधन तथा साध्य का सम्यक् संबंध, पूंजीवाद का न्यासधारिता के सिद्धांत द्वारा शमन, सत्ता का विकेन्द्रीकरण, ग्राम-स्वराज आदि महात्मा गांधी के ऐसे विचार थे, जिन्होंने आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं

राजनीतिक चिंतन को गरिमा एवं विश्वप्रियता प्रदान की। सामाजिक दृष्टि से हरिजनोद्धार का कार्य निष्पक्ष सामाजिक न्याय का प्रतीक था। आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवाद के दुर्गुणों का शांतिपूर्ण ढंग से दूर करने का उनका उपचार साम्यवादी वर्ग-संघर्ष से बचने का एकमात्र उपाय है। गांधीजी के राजनीतिक उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू के विचारों पर पाश्चात्य प्रभाव अधिक था। वे अत्यधिक आदर्शवादी थे। उन्होंने समाजवादी व्यवस्था के अनन्य उपासक के रूप में लोकतांत्रिक समाजवाद का आधार प्रस्तुत किया। वे अंतर्राष्ट्रवाद, मानववाद, धर्मनिरपेक्ष राज्य तथा संसदीय लोकतंत्र के समर्थ विचारक हैं।

चिंतन की छठी विचारधारा मानववाद, समाजवाद तथा सर्वोदयवाद से संबंधित है। इसमें मानवेन्द्र नाथ राय का नव-मानववाद अथवा वैज्ञानिक मानववाद की विचारधारा, आचार्य नरेन्द्र देव, डा. राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता, जयप्रकाश नारायण आदि समाजवादी नेताओं के विचार एवं विनोबा भावे का भूदान कार्यक्रम सम्मिलित हैं। सर्वोदय से संबंधित विचारकों ने भी भारतीय चिंतन में 'दलविहीन लोकतंत्र', जैसे विचारों का समावेश किया। उपर्युक्त विचारकों में मानवेन्द्र नाथ राय, आचार्य नरेन्द्रदेव तथा विनोबा भावे का विशिष्ट स्थान है। मानवेन्द्र नाथ राय की मौलिकता नव-मानववाद की स्थापना में तथा साम्यवाद की कटु आलोचना में परिलक्षित होती है। राय पहले लेखक हैं जिन्होंने आधुनिक भारतीय चिंतन की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की है।[19] आचार्य नरेन्द्र देव ने समाजवाद को भारतीय परिवेश में अंगीकृत करने के लिए वैचारिक एवं व्यावहारिक साधन जुटाये।[20] विनोबा भावे ने गांधीजी के विचारों को मूर्तरूप देनेका सफल प्रयोग किया है। उनका भूदान-कार्यक्रम इसी उद्देश्य से परिचालित है।

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन के वैचारिक प्रवाह ने अनेक अवधारणाओं को जन्म दिया है। इन अवधारणाओं के अध्ययन के बिना भारतीय चिंतन के मर्मस्थल तक पहुँचना संभव नहीं है। स्वराज्य, राष्ट्रवाद, न्यायकारिता, विकेंद्रीकरण, सत्याग्रह, सम्प्रदायवाद आदि ऐसी अवधारणाएं हैं, जिनके माध्यम से आधुनिक भारतीय चिंतन को विशेष अर्थ प्राप्त हुए हैं।

आधुनिक भारतीय चिंतन पर पाश्चात्य प्रभाव का सकारात्मक पक्ष

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन के विकास एवं नवीनीकरण में पाश्चात्य शिक्षा एवं दर्शन का भी योगदान रहा है। पाश्चात्य प्रभाव का मूल कारण भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना है। अंग्रेजों ने कूटनीति, सफल रणनीति एवं भारतीयों की दुर्बलता का लाभ उठाकर अपना शासन यहां स्थापित किया था। उनके शासन में चाहे वह ईस्ट इंडिया कंपनी के अंतर्गत रहा हो अथवा अंग्रेजी सम्राट् के अंतर्गत, भारतीयों का मनोबल गिराने के समस्त साधन काम में लाये गये। अंग्रेजों की दुरंगी नीति एवं उनके द्वारा किये गये अत्याचारों ने भारतीयों के मन में घृणा का भाव उत्पन्न किया, किन्तु साथ ही साथ उनके प्रति व्यक्त इस घृणा ने आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन को प्रेरणा भी दी। आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन के अग्रगामी प्रणेता अधिकतर अंग्रेजी शिक्षा, साहित्य एवं इतिहास से प्रभावित थे। अंग्रेजी शिक्षा के साथ साथ उन्हें अन्य पाश्चात्य देशों की भाषा, साहित्य, इतिहास एवं संस्कृति को

जानने का अवसर भी प्राप्त हुआ। पाश्चात्य शिक्षा ने उनके मानसिक स्तर को विस्तृत एव उदार बनाया। उन्होंने अंग्रेजो की ससदात्मक व्यवस्था, विधि के शासन एव लोकतात्रिक अधिकारों की स्थिति को आत्मसात् किया। वे फ्रांस की राज्यक्राति से भी प्रेरित हुए। अमेरिका की स्वतत्रता ने उन्हें नवीन दृष्टि प्रदान की। वे रूस की साम्यवादी क्राति से लाभान्वित हुए। आयरलैंड के गृहयुद्ध ने उन्हें अपने स्वराज की प्राप्ति के लिए उकसाया। उन्होंने मिल, हर्बर्ट स्पेंसर, बर्क, गैरीबाल्डी, केवूर, मैजिनी, रूसो, वाल्टेयर, मोन्टो, कार्लमार्क्स, लेनिन, टालस्टाय, थोरो आदि को पढ़ा और उनसे प्रभावित हुए। फलत उनके द्वारा राजनीतिक सुधारो की माग प्रस्तुत की गई। शनै शनै. यह माग स्वराज एव पूर्ण स्वतत्रता मे परिणत हो गई।

अंग्रेजी शासन ने भारत को एकता के सूत्र मे बाधकर भावी राष्ट्रीय जागृति का मार्ग प्रशस्त किया। समस्त भारत को एक ही प्रशासनिक एव न्यायिक सूत्र मे बाधा गया। प्रशासनिक दक्षता एव न्यायिक सुधारो के द्वारा शाति एव व्यवस्था स्थापित की गई। सेना को सगठित कर भारत की रक्षा-व्यवस्था को एक ओर सबल किया गया तो दूसरी ओर भारतीय सैनिको को आधुनिकतम हथियारो तथा सैन्यनीति से परिचित कराया गया। भूमि सुधारो तथा राजस्व की पुनर्गठित व्यवस्था स्थापित की गई। किन्तु भारतीयों का शोषण निरन्तर होता रहा। भारत की आर्थिक दुर्दशा, जो कृषि, कुटीर-उद्योगो एव व्यवसायो की गिरी हुई स्थितियो से उत्पन्न हुई, अंग्रेजो व्यापार नीति का ही कारण थी। भारत को आर्थिक दृष्टि से खोखला कर अंग्रेजो ने अपने व्यवसाय, विदेशी व्यापार तथा साम्राज्यवाद का विस्तार किया। इगलैंड की औद्योगिक क्राति भारतीयो के खून और पसीने की गाढी कमाई हथिया कर, अंग्रेजो ने, की थी। भारत की सभ्यता एव सस्कृति को हमेशा के लिए घुन लगा कर उन्होंने भारत का बहुत अहित किया।

दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वानों ने जिनमे अंग्रेज, फ्रांसीसी तथा जर्मन आदि विद्वान सम्मिलित थे, भारतीय साहित्य एव सास्कृतिक गौरव को हमारे सामने प्रस्तुत किया। वेदो की गरिमा, उपनिषदो का महत्व, हमारे पौराणिक ग्रथो का योगदान, हमारी प्राच्य विद्याए, मोहनजोदडो तथा हडप्पा की सिंधु सभ्यता का उत्खनन एव रहस्योद्घाटन, अजन्ता आदि गुफाओ की खोज आदि कार्य करके उन्होंने हम स्वय के बारे मे व्याप्त अज्ञानता के तिमिर मे से बाहर निकाल कर नवीन प्रकाश दिखाया। अट्ठारहवी तथा उन्नीसवी शताब्दी मे भारत का पुनरुत्थान इसी का परिणाम था। यदि भारतीय साहित्यिक तथा सास्कृतिक धरोहर के सम्बन्ध में यह जानकारी उस समय प्राप्त नहीं हुई होती, तो हमारे आधुनिक राजनीतिक एव सामाजिक चिंतन को राष्ट्रवादी विचारधारा का वह उफान देखने को न मिलता जो अन्यथा दृष्टिगोचर होता है।

सामाजिक सुधार के क्षेत्र मे भी भारत ने पाश्चात्य प्रभाव से अपनी जातिगत एव धर्मगत बुराइयो को दूर करने का प्रयत्न किया है। आज के आधुनिक भारतीय सामाजिक चिंतन मे हरिजन, दलित एव पिछड़ी जातियो को अन्य भारतीय जन के समान गौरव एव सम्मान का पद प्राप्त हुआ है। अन्तर्जातीय विवाह, धार्मिक सहिष्णुता, अधविश्वासों की कमी के कारण हमारी सामाजिक चेतना मे अभिवृद्धि हुई है। इसी प्रकार आर्थिक चिंतन के क्षेत्र मे भी भारत ने समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य प्राप्त करने, गरीबी दूर करने, पूंजीवाद एव सामन्तवाद को समाप्त करने का बीड़ा उठाया है। हमारा आर्थिक

नियोजन इसका द्योतक है। इस प्रकार पाश्चात्य प्रभाव के दूरगामी परिणाम हुए हैं।

राजनीति आर्थिक एवम् सामाजिक परिवर्तन का आधुनिक माध्यम रही है। राजनीतिज्ञ जो कि राज्य मे नवीन विचारो के सदेशवाहक होते हैं बाह्य प्रभावो को आत्मसात् किये बिना नही रहते। समानता, स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र तथा समाजवाद ऐसे विचार है जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को नयी दिशा दी है और इनसे राजकीय सरक्षण मे अथवा उससे भिन्न सामाजिक व्यवहार को परिवर्तित करने के सुधारवादी कार्यक्रम को क्रियान्वित करने मे सफलता मिली है। राजनीतिज्ञ विचार तथा व्यवहार मे सेतु का कार्य करते हैं। उन्हे समाज को नवीन विचारो के अनुरूप ढालना होता है और वे स्वय समाज की मान्यताओ को अपने विचारो के माध्यम से प्रतिबिम्बित करते है। इस दृष्टि से आधुनिक भारतीय राजनीतिक एवम् सामाजिक चिन्तन वस्तुत उन राजनीतिज्ञ विचारको का चिन्तन था जो कर्म के धनी थे। राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए हमारे राष्ट्रीय विचारको ने नवीन भारतीय समाज के सृजन के लिए आर्थिक एवम् राजनीतिक आधार प्रस्तुत किये। वे पाश्चात्य प्रभाव से अछूते नही थे और ब्रिटेन के अधीन होने के कारण भारतीय चिन्तन पर ब्रिटेन का सर्वाधिक प्रभाव रहा। कानून, शिक्षा तथा प्रोद्योगिकी के क्षेत्र मे यह प्रभाव सर्वाधिक रहा। भारत मे विधि के शासन की स्थापना अग्रेजी राज्य का परिणाम थी। अग्रेजो ने हमारी विधि सबधी मान्यताओ को सहितावद्ध किया क्योकि हिन्दू धर्म मे विधि का आधार वर्ण-व्यवस्था थी जो भेदभाव की सूचक थी। न केवल हिन्दू कानून मे अपितु मुस्लिम कानून म भी सकीर्णता थी। अत पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत विधि के क्षेत्र मे क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। कानून के समक्ष सभी की समानता का आदर्श भारत के लिए नवीन था। यद्यपि न्यायिक पद्धति एवम् प्रशासन में अनेक कमियाँ थी किन्तु न्याय के समक्ष समानता का आदर्श दोष रहित था।

जिन अवधारणाओं पर पाश्चात्य प्रभाव सर्वाधिक मुखर है, वे निम्नलिखित है —

राष्ट्र तथा राष्ट्रवाद :

भारतीय चिन्तन पर राष्ट्रवाद का प्रभाव जे एस मिल के विचारो का प्रतिफल था। रेनान ने भारत के उग्र राष्ट्रवाद को प्रेरित किया जो आगे जा कर आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के रूप मे प्रकट हुआ। श्रीअरविन्द ने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिकता का बाना पहनाया। सावरकर तथा जिन्ना न उपराष्ट्रवाद का विचार प्रस्तुत किया और जिन्ना न तो द्विराष्ट्रवाद की स्थापना भी कर दी। राष्ट्रवाद के इन सभी उदाहरणो मे पाश्चात्य देशो से कम-अधिक मात्रा मे प्रेरणा प्राप्त की गई थी किन्तु पाश्चात्य प्रभाव का एक और भी पक्ष हमारे सामने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचारो के रूप मे सामने आया जिसमे उन्होने राष्ट्रवाद की कमियो के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित किया। वे एक राष्ट्र एक राज्य के सिद्धान्त को उचित नही मानते थे। मिल ने एक राष्ट्र एक राज्य के सिद्धान्त को माना किन्तु लार्ड एक्टन ने बहुराष्ट्रीय राज्य की विचारधारा प्रस्तुत की। भारत मे मोहम्मद इकबाल ने मुसलमानो के पृथक् राज्य की माग को मिल के विचारो के अनुरूप प्रस्तुत किया तो डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने लोर्ड एक्टन के विचारो के अनुरूप बहुराष्ट्रीय राज्य की स्थापना की बात कही। इकबाल ने रेनान की दुहाई देकर मुसलमानों के लिए पृथक् राज्य की माग प्रस्तुत की जबकि राजेन्द्र प्रसाद ने मैकार्टनी, फ्रीडमेन तथा कोबेन के विचारो को

राज्य का बढ़ता हुआ प्रभाव व्यक्तित्व के लिए हानिकारक था तथा राज्य हिंसा का संगठित रूप बनकर सामने आता था। विनोबा भावे ने राज्यविहीन समाज की कल्पना की जिसमे स्वतन्त्र लोकशक्ति का सृजन हो सके। डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने राज्यविहीन समाज की स्थापना का समर्थन किया। वे समाज को शासन के प्रभाव से स्वतन्त्र रखना चाहते थे। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पक्ष लेकर राज्य के *बाध्यकारी प्रभाव तथा नौकरशाही की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को मानव स्वतन्त्रता का भक्षक* बतलाया। किन्तु उपरोक्त विचारक अपने विचारो को भारतीय अतीत से सबधित नहीं कर पाये। बेनीप्रसाद के अनुसार हिन्दू राज्य दर्शन मे सीमित सरकार का विचार सर्वथा लुप्त रहा। प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था मे राज्य के कल्याणकारी कार्य को महत्व दिया जाता था। यद्यपि ग्राम स्वराज्य तथा आर्थिक विकेन्द्रीयकरण की पूर्ण सुविधाएँ उपस्थित थी परन्तु फिर भी राज्य द्वारा मनुष्य का समस्त भौतिक जीवन नियमित एवम् नियमित किया जाता था। विधि की सर्वोच्चता सर्वमान्य थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शासन के प्रति व्यक्ति की अविश्वास की भावना को महत्व दिया और यह माना कि व्यक्ति शासन के प्रति स्वतन्त्रता का समर्पण किये बिना अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा नही कर सकता।

राज्य का प्रतिरोध

महात्मा गांधी ने अहिंसा तथा सत्य की अवधारणाओ पर अत्याचारी राज्य के प्रतिकार करने का मार्ग दर्शाया। वे गीता को शान्ति का संदेश देने तथा हिंसा का प्रतिकार करने की मार्गदर्शिका मानते थे। उनके सत्याग्रह सबधी प्रयोगो पर थोरू जैसे पाश्चात्य विचारको का प्रभाव था किन्तु उन्होने पाश्चात्य जगत मे प्रचलित निष्क्रिय-प्रतिरोध के विपरीत सत्याग्रह की मौलिक धारणा को प्रस्तुत किया। गाधीजी ने सेवा तथा आत्म बलिदान को राजनीतिक पद्धति में प्रवेश देकर अहिंसा की प्राचीन धारणा को विश्व मे सर्वत्र लोकप्रिय बना दिया। गांधीजी का राजनीतिक दर्शन पाश्चात्य प्रभाव से अछूता नही था किन्तु यह पाश्चात्य प्रभाव सीमित ही कहा जा सकता है। गाधीजी पर भारतीय दर्शन का प्रभाव अत्यन्त व्यापक था। उन्होने भारतीय राजनीतिक चिंतन मे पाश्चात्य *राजनीतिक विचारो तथा भारतीय दार्शनिक मूल्यो को समन्वित कर नवीन दृष्टि प्रस्तुत* की। एक अर्थ मे महात्मा गाधी, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, श्रीअरविन्द आदि मनीषियो ने पूर्व तथा पश्चिम के राजनीतिक चिन्तन को सश्लिष्ट विचारधारा के रूप मे प्रसारित किया। यह उनका समन्वयवादी दृष्टिकोण था। पाश्चात्य प्रभाव का यह अर्थ नही है कि हम भारतीय सामाजिक एवम् राजनीतिक चिन्तको की मौलिकता तथा भारतीयता के उन पर पड़नेवाले प्रभाव को दृष्टि से ओझल करदें। कोई भी विचारक अपने इर्द-गिर्द के पर्यावरण के प्रभाव से विमुक्त नही हो सकता। भारतीय चिन्तन केवल कल की खोज नही है। सदियो से चले आ रहे अनवरत विचार प्रवाह का भारतीयो के मानस पर इतना प्रभाव अंकित रहा है कि वे मौलिक चिन्तन की क्षमता मे किसी भी पाश्चात्य चिंतक से पीछे नहीं है।

समाजवाद, *लोकतंत्र एवम् सर्वोदय*

भारतीय राजनीतिक एवम् सामाजिक चिन्तन मे समाजवाद, लोकतन्त्र तथा सर्वोदय की विचारधारा के उन्नायको पर पाश्चात्य प्रभाव देखा जा सकता है। भारत मे समाजवादी

चिन्तन यूरोपीय समाजवाद के कारण विकसित हुआ। भारतीय समाजवाद अपनी बौद्धिक एवम् व्यवहारिक विशेषताओं में पूर्णतया पाश्चात्य समाजवाद की प्रतिकृति था। भारत में समाजवाद के प्रवर्तक आचार्य नरेन्द्रदेव, जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण तथा राम मनोहर लोहिया ने अपनी समाजवादी विचारधारा पाश्चात्य चिन्तन के अनुरूप विकसित की थी। साम्यवादी तथा फेबियनवादी दोनों ही प्रकार की समाजवादी विचारधारा ने भारतीय चिन्तन को प्रभावित किया। मार्क्स, एंजिल्स, वेब्स तथा बर्नार्ड शा सभी ने भारतीय चिन्तकों को प्रभावित किया और भारत में मार्क्स वर्ग-संघर्ष, श्रम के सिद्धान्त, सामाजिक स्वामित्व तथा समतावादी समाज का वातावरण तैयार हुआ। पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत भारत में समाजवादी चिन्तन पर विचार विकसित तो हुआ किन्तु कुछ विशिष्टताएं इन चिन्तन में अवश्य रहीं। राम मनोहर लोहिया तथा जवाहरलाल नेहरू ने समाजवाद सम्बन्धी सभी पाश्चात्य विचारों को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टिकोण से केवल उन्हीं समाजवादी पाश्चात्य विचारों को ग्रहण किया जिनसे भारतीय परिवेश में समाजवाद स्थापित किया जा सके और पश्चिम का अन्धानुकरण न किया जाये। उन्होंने भारतीय संदर्भ में समाजवाद को लोकप्रिय बनाया। किन्तु कुछ ऐसे भी विचारक थे जिन्होंने समाजवाद की आलोचना की। राजगोपालाचार्य ने मानवीय प्रकृति तथा राजनीतिक व्यवहार के आधार पर समाजवाद की आलोचना की। महात्मा गांधी, विनोबा भावे तथा जयप्रकाश नारायण ने पाश्चात्य समाजवाद का विकल्प प्रस्तुत करते हुए सर्वोदय की विचार-धारा का प्रचार किया। सर्वोदय समाजवादी लक्ष्य को राज्य के सामुदायिक आर्थिक एवम् राजनीतिक जीवन में प्रभावशाली बने बिना प्राप्त करने का साधन था। सर्वोदयवादी राज्य के प्रभाव को सीमित करने तथा समतावादी समाज की स्थापना करने के विचार को आगे बढ़ाते रहे हैं। समाजवादी चिन्तन में मानवेन्द्रनाथ राय का अपना विशिष्ट महत्व है क्योंकि उन्होंने भारत में समाजवाद को प्रारम्भिक स्तरों पर स्थापित होते हुए देखा था और स्वयं साम्यवादी विचारों में ओत-प्रोत होते हुए भी भारत में समाजवादी-मानवतावादी चिन्तन के प्रचारक रहे।

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवम् राजनीतिक चिन्तन में लोकतन्त्र का महत्व पाश्चात्य प्रभाव से द्विगुणित हो गया है। प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र की स्थापना, स्वतन्त्रता तथा समानता सम्बन्धी अधिकारों की मांग, वयस्क मताधिकार आदि पाश्चात्य लोकतान्त्रिक प्रयोगों ने भारतीय चिन्तकों को अत्यधिक प्रभावित किया। जॉन स्टुअर्ट मिल तथा अब्राहम लिंकन द्वारा लोकतन्त्र की विशेषताओं का प्रतिपादन भारतीयों के लिए प्रेरणा का स्रोत रहा है। गांधीजी, जवाहरलाल नेहरू डा० अम्बेडकर तथा राधाकृष्णन् ने लोकतन्त्र को समाज के एक प्रकार के रूप में स्वीकार किया है न कि शासन के प्रकार के रूप में। वे समानता तथा बन्धुत्व पर आधारित समाज की स्थापना का विचार रखते हैं। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार लोकतन्त्र एक राजनीतिक सुविधा (वयस्क मताधिकार), एक आर्थिक पद्धति (सभी के लिए अवसरों की समानता) तथा जीवन का नैतिकमार्ग (विवेक सम्मतता) है। नेहरू ने लोकतन्त्र का अर्थ समानता से लिया है—समानता पर आधारित समाज। भारत में लोकतन्त्र को शासन के प्रकार के रूप में दीर्घकाल से स्वीकार किया गया है। इसी कारण के अन्तर्गत भारत के संविधान निर्माताओं ने पाश्चात्य लोकतान्त्रिक

संस्थाओं का भारत में अनवरत प्रयोग किया है। जायसवाल तथा जयप्रकाश नारायण ने लोकतन्त्र को भारत के लिए नया नहीं माना। उनकी मान्यता है कि ग्राम पंचायतों द्वारा भारत में प्राचीन समय में लोकतन्त्र का प्रयोग होता रहा है। भारत में संवैधानिक लोकतन्त्र की स्थापना मॉन्टेग की 1917 में की गई घोषणा से प्रारम्भ होकर द्वैध शासन, प्रान्तीय प्रशासन, प्रादेशिक स्वशासन तथा पूर्ण स्वतन्त्रता के रूप में पल्लवित हुई है। स्वतन्त्रता के पश्चात् 1950 में भारत को पूर्ण सम्प्रभुता सम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य के रूप में घोषित करने का कार्य भारत को पूर्णतया लोकतान्त्रिक बनाने का सफल प्रयास है। संसदीय लोकतंत्र की स्वीकृति ने आधुनिक भारत में पाश्चात्य लोकतन्त्र की सार्वभौमिक मान्यताओं को पूर्णतया स्थापित किया है।

प्रो० अप्पादोराय ने आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन को पाश्चात्य राजनीतिक विचारों, भारतीय परम्परा, भारतीय पर्यावरण तथा विश्व की घटनाओं का सम्मिश्रण बतलाया है। उनके अनुसार राजनीतिक तथा वैधिक समानता, समाजवाद तथा लोकतन्त्र सम्बन्धी विचार मूलतः पाश्चात्य समाज की देन है। हमारे चिन्तकों ने जो कि भारत की आध्यात्मिक परम्पराओं में पले हुए हैं, वर्तमान भारत की आर्थिक अविकसितता के प्रति जागृत रहते हुए उन पाश्चात्य विचारों को भारत की आवश्यकता-नुसार सन्तुलित किया है। उनके अनुसार मूल प्रश्न यह है कि क्या भारतीय आवश्यकताओं तथा पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव का सम्मिश्रण राजनीतिक सिद्धान्तों के महत्वपूर्ण प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर दे सका है। एक प्रश्न जो कि भारतीय चिन्तकों के समक्ष उपस्थित होता है यह है कि राजनीतिक संगठनों के उद्देश्य क्या हैं और उनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? व्यक्ति अपने श्रेष्ठत्व को प्राप्त करना चाहता है किन्तु राज्य उसकी इस स्वाभाविक चेष्टा में कहाँ तक सहयोगी बन सकता है? राज्य की सत्ता की प्रकृति क्या है? क्या राज्य व्यक्तियों के विचारों तथा कार्यों को नियमित करने की शक्ति से सम्पन्न है? क्या व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध अधिकार प्राप्त हैं? राज्य की सत्ता के साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समन्वय जो कि सामाजिक हित की दृष्टि से हो राजनीतिक सिद्धान्त की एक महत्वपूर्ण समस्या है। अप्पादोराय के अनुसार हमारे देश में अभिजनों की यह एक सामान्य सर्वसम्मत धारणा है कि व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य व्यक्ति स्वयं है। राज्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का साधन है, स्वयं साध्य नहीं है। इसका उद्देश्य व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार सोचने तथा अपने विचारों को अभिव्यक्ति करने के समर्थ बनाना है ताकि वह बिना किसी बाह्य नियन्त्रण के अपने जीवन की नैसर्गिक ऊँचाईयों तक स्वयं पहुँच सके बशर्ते कि वह अपने समान अन्यों की समान स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप न करे और अपने निजी स्वार्थों के लिए दूसरों की दुर्बलता का शोषण न करे। उन्होंने तीन प्रश्न अध्ययन की दृष्टि से प्रस्तुत किये हैं—(1) वृहत् समाज में राज्य का स्थान (2) समाजवाद का अभिप्राय तथा (3) सहभागी लोकतन्त्र की अवधारणा। सर्वप्रथम समाज में राज्य के स्थान को लेकर गांधीजी के विचारों को महत्ता दी जा सकती है। उन्होंने राज्य को सभी के कल्याण का प्रवर्तक माना है न कि अधिक से अधिक व्यक्तियों के अधिकतम सुख का। गांधीजी ने सीमित सरकार का जो विचार प्रस्तुत किया है वह एक अपूर्ण समाज की दृष्टि से ही व्यक्त किया गया है। मूलतः गांधीजी का सामाजिक आदर्श प्रबुद्ध अराजकतावाद का प्रतीक है। इस

सन्दर्भ मे जयप्रकाश नारायण, राजेन्द्रप्रसाद तथा विनोबा भावे के विचार गांधीजी के समान ही हैं। किन्तु अप्पादोराय ने सैद्धान्तिक दृष्टि से इस विचार को चुनौती दी है। उनके अनुसार सामाजिक संगठन के अराजकतावादी विचार को कैसे भी प्रस्तुत क्यो न किया जाये, व्यक्ति जन्म से ही सामाजिकतायुक्त होने के कारण अपने हितो का सामजस्य करते हुए संघर्ष को टालने का प्रयास करेगा। व्यक्ति स्वभाव से बिना किसी बाहरी दबाव के कानून का पालन करता है। एक बार व्यक्ति की आवश्यकता, उसकी आर्थिक असमानताएँ एवम् बाध्यकारी राज्य दूर कर दिये जाये तो सभी व्यक्ति अपनी सामाजिक प्रकृति के अनुरूप व्यवहार करने लगेंगे जैसे कि अधिकतर व्यक्ति आज व्यवहार करते हैं। भय इस बात का है कि अराजकता अराजक समाज मे तभी उत्पन्न होगी जब व्यक्ति राज्य की अवस्थिति को ही व्यवस्था के कारण मानने लग जाये। वास्तव मे व्यवस्था व्यक्ति स्वय बनाये रखते हैं। व्यक्तियो के निजी स्वार्थों के कारण ही संघर्ष की स्थिति उत्पन्न नहीं होती अपितु समाज की भलाई के लिए कौन से विचार श्रेष्ठ है इसको लेकर भी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। नागरिक नियमो का उल्लघन तथा अपराध केवल निर्धन व्यक्तियो के द्वारा ही नही किये जाते अपितु धनी व्यक्तियो द्वारा भी किये जाते हैं। कोई मद्यनिषेध का नैतिकता के आधार पर विरोध करता है तो कोई मद्यनिषेध को अपने हितो पर कुठाराघात करने वाला मानता है। जो गोवध-निषेध के आन्दोलन का समर्थन करते हैं और उसके लिए यातनाएँ सहन करते हैं वे समाज के लिए कौन से विचार अच्छे हैं इस दृष्टि से कुछ भिन्न विचार रखते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा तथा अपने विवेक के अनुसार अन्य व्यक्तियो से भिन्न विचार रख सकता है। अत. सत्य निरपेक्ष न रहकर सापेक्षता का बोध कराता है। सत्य के परस्पर विरोधी विचार ठीक उसी प्रकार से अपरिहार्य है जिस प्रकार से सामाजिक सघर्षों की स्थिति। अत यह कहना कि राज्य तिरोहित हो जायेगा अत्यधिक आशावादी विचार है। राज्य मे अनेको कमियाँ हो सकती है, राज्य शक्ति का अतिरिक्त सग्रह कर सकता है और सर्वाधिकारवादी बन सकता है किन्तु निस्वार्थों द्वारा नियंत्रित भी हो सकता है। इसके निवारण का उपाय है इसको परिष्कृत करना। जनता तथा शासन दोनो को विकसित करने की आवश्यकता है न कि राज्य की कमियों के कारण राज्य का समापन। अरस्तु का यह विचार कि राज्य केवल जीवन के लिए उत्पन्न हुआ है लेकिन वह जीवन को विकसित करने के लिए आज भी बना हुआ है उचित ही प्रतीत होता है। मानवीय प्रकृति सवेगो तथा विवेक का मिश्रण है। जीवन में सहकारिता की आवश्यकता है और उसके लिए शासन राज्य का क्रियात्मक रूप होने के कारण सामान्य हित में राज्य की बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग करता है ताकि समाज मे व्यवस्था बनी रहे। शक्ति राज्य का आधार नहीं है। इच्छा, न कि शक्ति राज्य का आधार है। राज्य के कार्य परिस्थितियों की सापेक्षता की दृष्टि से देखे जाने चाहिए। सीमित सरकार का विचार भारत जैसे विकासशील देश में स्वीकार नही किया जा सकता। यदि राज्य के द्वारा मूलभूत लोककल्याणकारी कार्य किये जाने श्रेयस्कर प्रतीत हो तो उनका स्वागत ही किया जाना चाहिए।

दूसरी समस्या है समाजवाद के अभिप्राय की। भारतीय चिन्तको ने समाजवाद को पाश्चात्य मान्यता से भिन्न रूप मे देखा है। गांधी तथा नेहरू दोनो ही राष्ट्रीयकरण को

नीति को समाजवाद का मूल तत्व नहीं मानते। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने राष्ट्रीयकरण की नीति को दासता तथा स्वतन्त्रता का विरोधी माना है। इससे यह समस्या उत्पन्न होती है कि समाजवाद के दो लक्ष्य - समुचित उत्पादन तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं किये जा सकते। सार्वजनिक उद्यमों तथा निजी व्यवसायियों के मध्य उचित सामंजस्य के बिना समाजवाद का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। एक ओर भारी उद्योगों को राष्ट्रीयकृत करने की आवश्यकता है तो दूसरी ओर अन्य उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन निजी क्षेत्र में करने की उपयुक्तता है।

तीसरी समस्या सहभागी लोकतन्त्र से सम्बन्धित है। जयप्रकाश नारायण ने नागरिकों को शासन कार्य में सहभागी बनने के लिए प्रेरित किया है। किन्तु निहित स्वार्थों के कारण दलीय व्यवस्था ने लोकतन्त्र को पथभ्रष्ट कर दिया है। यह अच्छा है कि व्यक्ति शासन कार्य में रुचि ले किन्तु मूल समस्या यह है कि क्या व्यक्ति आधुनिक समय की उलझनों में ऐसा करने में समर्थ है। यद्यपि नैतिक शक्तियाँ लोकतान्त्रिक व्यवस्था तथा प्रकृति को व्यवस्थित करती हैं किन्तु व्यक्ति जब तक अपने जीवन में नैतिक मूल्यों को उतार नहीं लेता तब तक नैतिक मूल्य स्वयं जीवित नहीं हो सकते। अतः व्यक्ति पर लोकतन्त्र आधारित है। व्यक्ति ही लोकतन्त्र की कार्य क्षमता को निर्धारित कर सकता है और लोकतन्त्र को बनाये रखने में सहयोग दे सकता है।

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र का अध्ययन करने के पश्चात् यह प्रश्न मस्तिष्क में उठना स्वाभाविक है कि चिंतन के क्षेत्र में इसका क्या योगदान एवं महत्व है। इस प्रश्न का उत्तर इस तथ्य पर निर्भर करता है कि हमारे चिंतन में कितनी मौलिकता है। विशुद्ध भारतीय मूल्यों एवं अनुभवों के आधार पर जो अनुपम विचार आधुनिक भारतीय चिंतकों ने प्रस्तुत किये हैं उनकी गणना डा. अप्पादोराय ने इस प्रकार की है :

(1) पराधीन व्यक्तियों की सरकारों को भी सहमति, न कि शक्ति, को अपनी सत्ता का आधार बनाना चाहिए।

(2) स्व-शासन सुशासन से न केवल श्रेयस्कर ही है, अपितु सुशासन के लिये अत्यावश्यक भी है।

(3) वांछित साध्य के लिए उचित साधनों को प्राप्त तथा ग्रहण करना चाहिए।

(4) समाज का उद्देश्य मात्र अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख न होकर प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण होना चाहिए।

(5) उपर्युक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इच्छाओं का परिसीमन, न कि उनकी अनिश्चित एवं असीमित वृद्धि, आवश्यक है। इसी प्रकार न्यासकारिता के सिद्धांत के अनुसार धनाढ्य वर्ग को अपने अतिरिक्त धन का उपयोग दरिद्रहित में करना चाहिए।

(6) जहाँ साधारण राजनीतिक तर्क तथा आग्रह-पद्धतियाँ विफल हो जाती हैं, वहाँ व्यक्तिगत यातना द्वारा इच्छित शुभ-कामना एवं अन्य व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त हो सकता है।

(7) समाजवादी सिद्धांत को पूंजीवाद तथा साम्यवाद से अपने मूलभूत उद्देश्यों

> को उधार लेने के स्थान पर एक स्वशासित दिशा मे राजनीतिक एवं आर्थिक विकेन्द्रीकरण प्राप्त करना चाहिए।[21]

उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक. देश अपनी आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुसार एक निर्धारित मार्गपर चलना चाहता है। इन कार्य में उस देश के विचारक एवं दार्शनिक अपने चिंतन द्वारा उसका मार्ग प्रशस्त करते हैं। भारत भी चिंतन के क्षेत्र में किसी से पीछे नहीं है। हमारे पूर्वज विचारकों के चिंतन पर ही स्वतंत्र भारत का निर्माण हुआ है। यद्यपि वर्तमान संक्रमणकाल मे राजनीतिक एव सामाजिक जीवन में कई ऐसे तथ्य उभर कर सामने आये हैं, जिनका भावी चिंतन को समाधान ढूंढना है। उदाहरण के लिए भारत मे संसदीय लोकतंत्र को मखौल, चुनावों मे भ्रष्टाचार, भ्रष्ट एवं अकर्मण्य नौकरशाही, नेतृत्व का अनैतिक आचरण तथा सत्ता-लोलुपता, पूंजीवादियों द्वारा शोषण, दलीय अधिनायकतंत्र, विदेशी प्रभाव में मौलिकता का ह्रास आदि ऐसी समस्याएं हैं, जिन्होंने भारत को जर्जरित करना प्रारंभ कर दिया है। गहन अध्ययन, मनन एवं चिंतन मे जन साधारण की रुचि कम होती जा रही है। जीवन का मूल लक्ष्य धन एवं पद हथियाने की प्रवृति होता जा रहा है। हमें इन समस्याओं का समुचित समाधान आधुनिक भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक चिंतन ही प्रदान कर सकेगा। इसके लिए हमें चिंतन के उन पूर्वाधारों को आत्मसात् करना होगा। हमारे पूर्वज विचारकों से ही हमें नई ज्योति प्राप्त हो सकती है। एक विदेशी लेखक के अनुसार भारतीय चिंतन में मनु से गांधी तक एक ही विचार सर्वव्याप्त है कि शासक की व्यक्तिगत ईमानदारी तथा नैतिक उत्तरदायित्व ही एक स्थायी शासन स्थापित कर सकते हैं। यदि राज्य में ये गुण उपलब्ध न हो तो कोई भी प्रशासनिक तकनीक अथवा संगठन की चालबाजी, संवैधानिक उपकरण अथवा संशोधन शासन को (नष्ट होने से) नहीं बचा सकते। जहा ये गुण विद्यमान है वहां की राजनीति में राज्य का महत्त्व द्वितीय श्रेणी का है।[22] निराश होने के स्थान पर आज सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की है कि हम पुनः दयानंद अथवा विवेकानंद की भांति उठ कर एक जीवन-आदर्श प्रस्तुत करें और भारतीय चिंतन को पुन. नैतिकता एव न्याय के पवित्र आधार पर प्रतिस्थापित करें। ☐☐

टिप्पणियां

1. देखिये वी. एस. नरवाने, माडर्न इण्डियन थॉट, (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1970) पृष्ठ 8
2. देखिये राम आर. मेनन (सम्पादक), दी पोलिटिकल करेक्टरिंग इन इण्डिया, (प्रेन्टिस हाल, न्यूदेहली, 1970), पृ 1
3. देखिये के. सन्थानम, ब्रिटिश इम्पीरियलिज्म एण्ड इण्डियन नेशनलिज्म, (भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1972), पृ 20
4. देखिये ताराचन्द, हिस्ट्री ऑफ दी फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया, द्वितीय भाग, (पब्लिकेशन्स डिवीजन, नई दिल्ली, 1977), पृ. 96-97
5. बंकिमचन्द्र चटर्जी (1838-1894) ने अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास आनन्दमठ मे इसी घटना को आधार बनाया है।
6. देखिये एन ऐंथोलोजी ऑफ माडर्न इण्डियन एलोक्वेन्स (भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1960), पृ 5 पर दादा भाई नौरोजी द्वारा लन्दन में मई, 1905 मे दिये गये भाषण का उद्धरित अंश।
7. देखिये ब्रिटिश इम्पीरियलिज्म एण्ड इण्डियन नेशनलिज्म, पृ 28

8 बी शिवाराव ने इण्डियाज फ्रीडम मूवमेन्ट, (ओरियेंट लोंगमैन, नई दिल्ली, 1972) में यह व्यक्त किया है कि भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम में अंग्रेजी शासकों के प्रति भारतीयों में नाम मात्र की घृणा थी। किन्तु यह कथन तथ्य पर आधारित नहीं है। देखिए पृ. 1

9 देखिये के सन्थानम् पृ 39

10 बी एम मरवाने, पृ 17

11 ए अप्पादोराय ने इण्डियन पोलिटिकल थिंकिंग, (आक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, मद्रास, 1971), पृ VII-IX में इस धारणा का प्रतिपादन किया है कि चिन्तकों के स्थान पर चिन्तन का अध्ययन ही सार्थक है। उनका दृष्टिकोण संकुचित है। भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक चिन्तन का गहन अध्ययन इस तथ्य के आधार पर नहीं किया जा सकता।

12 देखिये सत्यार्थप्रकाश, (वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1966, संस्करण 34), पृ 128-164

13 देखिये स्वामी विवेकानन्द, माडर्न इण्डिया, (अद्वैत आश्रम, अलमोडा, 1956, पांचवां संस्करण), पृ 21-75

14 देखिये लाजपतराय, दी पोलिटिकल फ्यूचर आफ इण्डिया, (बी डब्ल्यू ह्यूबश, न्यूयार्क, 1919), पृ 206-207

15 वी डी सावरकर, हिन्दुत्व, (सदाशिव पेठ, पूना, 1942) पृ 72-117

16 देखिये श्रीअरविन्द, दी आइडियल आफ ह्यूमन युनिटी, (श्री अरविन्द लाइब्रेरी, न्यूयार्क, 1950), पृ 399-400

17 देखिये रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दी रिलीजन आफ मैन (जार्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन,1931), पृ 188

18 देखिये रवीन्द्रनाथ ठाकुर, नेशनलिज्म, (मेकमिलन, लन्दन, 1920), पृ 56

19 देखिये एम एन रॉय, इण्डिया इन ट्रांजीशन, (जे बी टारगेट, जिनेवा, 1922),

20 नरेन्द्रदेव, सोशियलिज्म एण्ड नेशनल रेवोल्यूशन, (पद्मा पब्लिकेशन, बम्बई, 1946) पृ 77

21 अप्पादोराय, इण्डियन पोलिटिकल थिंकिंग, पृ 151-152

22 देखिये डी मैकेंजी ब्राउन, दी व्हाइट अम्ब्रेला इण्डियन पोलिटिकल थाट, फ्रोम मनु टू गांधी, (जैको पब्लिशिंग हाउस बम्बई, 1964 भारतीय संस्करण), पृ 161

अध्याय 2

राजा राममोहन राय (1772-1833)

राजा राममोहन राय का जन्म 1772[1] में बंगाल के राधा नगर में हुआ था। उनकी मृत्यु सितम्बर 27, 1833 के दिन ब्रिस्टल (इंगलैण्ड) में हुई। राममोहन राय सदैव ईश्वरीय तत्त्व की एकता में विश्वास रखते थे। वे कई भाषाओं के ज्ञाता थे। धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में विशेष ज्ञान प्राप्त कर उन्होंने सर्वप्रथम विदेशी धर्मों का भारतीय धर्मों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया। वे इस्लाम, बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म तथा ईसाई धर्म के अच्छे अध्येता थे। किन्तु इन सब धर्मों में से ईसाई धर्म के प्रति उनका विशेष लगाव रहा। इसी कारण उन्होंने ग्रीक और हिब्रू भाषाएं सीखीं। हिन्दू-शास्त्रों का उनका ज्ञान बहुत अपर्याप्त था। उन्होंने वेदों के स्थान पर उपनिषदों को ही अपने अध्ययन का आधार बनाया था। उनका एकेश्वरवाद एवं मूर्तिपूजा-विरोधी रवैया चाहे प्रारम्भिक स्तर पर ईसाई एवं इस्लाम धर्म से प्रभावित मान लिया जाय, किन्तु अन्ततोगत्वा यह उपनिषदों का ही प्रभाव था। उन्होंने "ब्रह्म" की महिमा पहचान कर एक अद्वैती के रूप में 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की थी।

सोलह वर्ष की किशोर अवस्था में उन्होंने फारसी-भाषा में मूर्ति-पूजा के विरोध में एक पुस्तिका प्रकाशित की। अपने पिता के साथ तनावपूर्ण सम्बन्धों के कारण वे घर छोड़ कर देश-भ्रमण के लिए निकल पड़े। इसी दौरान वे तिब्बत भी गये और वहां बौद्ध लामाओं के सम्पर्क में आये और बौद्ध धर्म का ज्ञान प्राप्त किया। पिता की मृत्यु के बाद 1830 में मुर्शिदाबाद लौटे और वहां कई वर्षों तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी में दीवान के पद पर काम करते रहे। उस समय दीवान का पद कम्पनी-शासन की दृष्टि से किसी भारतीय को मिलने वाला सर्वोच्च पद माना जाता था क्योंकि दीवान का पद दण्डनायक, जिलाधीश एवं न्यायाधीश तीनों पदों का एकीकृत रूप था। दीवान के पद पर रहते हुए वे जॉन डिग्बी के सम्पर्क में आये (जो उनका वरिष्ठ अधिकारी था) और इस सम्पर्क के कारण वे आंग्ल भाषा में लिखने एवं बोलने में पारंगत हो गये। इस बीच उन्हें दस हजार रुपये वार्षिक आय का कोई गुप्त स्रोत प्राप्त हुआ जिससे वे 1814 में कम्पनी की सेवा छोड़कर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने के लिए कलकत्ता में बस गये।

राजा राममोहन राय ने धर्म-सुधार, सामाजिक पुनर्निर्माण एवं शिक्षा के क्षेत्र में उत्तम कार्य किया। डॉ. मजूमदार के अनुसार आधुनिक भारत में राजनीतिक चिन्तन का क्रम राजा राममोहन राय से ठीक उसी तरह प्रारम्भ होता है जैसे पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास अरस्तू से।[2] उन्होंने राजा राममोहन राय को आधुनिक राजनीतिक आन्दोलन का जनक माना है। वे संवैधानिक आन्दोलन के सूत्रपातकर्ता माने जाते हैं।

मिस सोफिया डोवसन कोलेट ने राजा राममोहन राय को नव भारत का पैगम्बर कहा है।[3] राजा राममोहन राय ने देश में नये राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ किया। जनता के अधिकारों तथा उनकी कठिनाइयों को शासन के समक्ष प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसमें जनता के प्रति उत्तरदायित्व को भी जागृत करने में सहायता दी। सर्व प्रथम उन्होंने ही नागरिक अधिकारों के पक्ष में तत्कालीन गवर्नर जनरल एडम की प्रेस-विरोधी नीति को सर्वोच्च न्यायालय में 31 मार्च 1823 के दिन चुनौती दी थी।

राजा राममोहन राय ने धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया तथा एक ओर सच्चे वेदान्ती के रूप में ईसाई मिशनरियों का प्रभाव बढ़ने से रोका तो दूसरी ओर अद्वैतवादी भारतीय दर्शन की परम्परा को पुनर्जीवित किया। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण केवल पारलौकिक चिन्तन में लिप्त नहीं रहा। वे उच्च कोटि के राजनीतिक विचारक एवं द्रष्टा थे। 1821 में संवाद कौमुदी पत्रिका के प्रारम्भ द्वारा उन्होंने वर्षों से सुप्त राजनीतिक चिन्तन को एक नयी दिशा प्रदान की तथा इसके माध्यम से भारतीयों के प्रारम्भिक राजनीतिक अधिकारों की माँग प्रस्तुत की। भारत की न्यायिक एवं राजस्व सम्बन्धी पद्धतियों में सुधार के लिए उन्होंने जो ज्ञापन इंग्लैण्ड प्रेषित किया वह एक दृष्टान्त बन गया। इस ज्ञापन में न्यायिक व्यवस्था में ज्यूरी द्वारा सुनवाई, भारतीय न्यायिक पदाधिकारियों तथा सम्मिलित न्यायाधीशों की नियुक्ति और दीवानी एवं फौजदारी दण्ड-संहिता आदि की माँग प्रस्तुत की गई थी। 1833 के भारतीय सुधार-अधिनियम ने राजा राममोहन राय के सुझावों एवं माँगों की कुछ सीमा तक पूर्ति की।

उन्होंने हिन्दू धर्म में व्याप्त कुरीतियों एवं भ्रष्ट आचरण को ललकारा और भारत में समाज-सुधार-आन्दोलन का सूत्रपात किया। किन्तु समाज-सुधार के कार्य से राजा राममोहन राय सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने समाज-सुधार के कार्य को राजनीतिक जागृति से भी जोड़ा। अपने एक पत्र में उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि हिन्दू-धर्मावलम्बियों का धार्मिक व्यवहार उन्हें अपने राजनीतिक हितों की दृष्टि से विमुख कर रहा है। जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज को खोखला बना दिया है। अनेक धार्मिक विधियों एवं धार्मिक संस्कारों की संकीर्णता ने उनकी एकता को भंग कर दिया है। आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दू-समाज में सुधार इस प्रकार से किया जाय कि वे अपने राजनीतिक महत्त्व को समझ सकें।[4] इस प्रकार राजा राममोहन राय ने एक युगद्रष्टा के रूप में राष्ट्रीयता एवं लोक-तन्त्र के विचारों को धर्म, समाज-सुधार एवं राजनीतिक विकास से सम्बन्धित कर दिखाया। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि राजा राममोहन राय केवल हिन्दू पुनरुत्थान के प्रतीक थे। वे सच्चे अर्थ में धर्म-निरपेक्षतावादी थे। प्रमाण के रूप में एक अंग्रेजी पत्र का वह हास्य-व्यंग्य उद्धरित किया जा सकता है जिसमें राजा राममोहन राय को भारत का गवर्नर जनरल बनाने का सुझाव दिया गया था और यह लिखा गया था कि 'राजा राममोहन राय न हिन्दू हैं, न मुसलमान है, न ईसाई हैं और ऐसी स्थिति में वे निष्पक्षता से गवर्नर जनरल का कार्यभार सम्हाल सकते हैं'।[5] इससे यह स्पष्ट है कि स्वयं अंग्रेज उन्हें एक निष्पक्ष भारतीय के रूप में मानते थे।

राजा राममोहन राय ने राजनीतिक समस्याओं के व्यवहारिक समाधान के लिए ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया। भारतीय इतिहास के कुशाग्र विद्वान के रूप में

उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि भारत में ईसा के लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व से ही सवैधानिक शासन-व्यवस्था प्रचलित थी, जिसमें ब्राह्मणों का कार्य विधि-निर्माण करने का था तथा क्षत्रिय प्रशासक के रूप में थे। ब्राह्मणों ने विधि-निर्माण का कार्य स्वेच्छाचारिता से न करके लोकमत के आधार पर किया था। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों की निरंकुशता पर भी नियन्त्रण बनाये रखा। किन्तु जैसे ही ब्राह्मणों ने पद-लोलुपता के कारण सत्ता क्षत्रियों को समर्पित कर दी वैसे ही क्षत्रियों ने कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका-सम्बन्धी कार्य अपने हाथ में केन्द्रित कर निरंकुशता का प्रारम्भ किया। गजनी तथा गौरी ने राजपूतों के आन्तरिक कलह का लाभ उठा कर भारतीयों को पराधीन बना दिया। राजा राममोहन राय के अनुसार निरंकुशता के अलावा भारतीय राजाओं की आपसी फूट तथा कायरता, युद्ध-कौशल की कमी तथा जनता में देशभक्ति के अभाव ने भारत को अहिंसा के मार्ग की ओर प्रवृत्त कर गुलामी की बेड़ियों में जकड़ दिया। राजा राममोहन राय न केवल भारतीय इतिहास के ज्ञाता थे अपितु यूरोप तथा अमेरिका के इतिहास का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। उनकी समस्त रचनाओं में यह ऐतिहासिक अनुभव परिलक्षित होता है। निम्नलिखित कृतियों से उनके राजनीतिक विचारों का पता चलता है

1. हिन्दू-उत्तराधिकार-कानून के अनुसार स्त्रियों के प्राचीन अधिकारों पर कतिपय आधुनिक अतिक्रमण सम्बन्धी सक्षिप्त टिप्पणियां (1822);
2. प्रेस-नियमन के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय एवं सम्राट् को याचिका (1823);
3. अंग्रेजी शिक्षा पर लार्ड एम्हर्स्ट के नाम एक पत्र (1823);
4. ईसाई जनता के नाम अन्तिम अपील (1823);
5. प्राचीन एवं आधुनिक सीमाओं का सक्षिप्त विवरण तथा भारत का इतिहास (1832);
6. भारत की न्यायिक एवं राजस्व-व्यवस्था आदि पर प्रश्नोत्तर (1832);
7. यूरोपवासियों को भारत में बसाने सम्बन्धी विचार (1831);
8. पत्र एवं भाषण आदि।[6]

राजा राममोहन राय की उपर्युक्त रचनाओं में उनका यथार्थवादी व्यक्तित्व झलकता है। वे अंग्रेजी राज्य से उत्पन्न लाभों के प्रशंसक थे फिर भी वे भारत में विधि के शासन की स्थापना के लिए तथा प्रजा को राजनीतिक अधिकार दिलाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। उन्हें ग्रामीण भारत की अज्ञानता तथा जनता की शासन के प्रति अन्यमनस्कता पर क्षोभ होता था। वे इस मांग पर दृढ़ रहे कि योग्य एवं अनुभव-प्राप्त भारतीयों को शनैः शनैः उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया जावे ताकि उनमें शासन से सम्बन्धित होने की भावना का उदय हो। इस सन्दर्भ में बिमान बिहारी मजूमदार ने लिखा है कि राजा राममोहन राय के लेखों में 'स्वतन्त्रता का जन्म सिद्ध अधिकार' या 'प्राकृतिक अधिकारों' का उल्लेख न मिलना विस्मयकारी है, क्योंकि जो व्यक्ति फ्रांस की द्वितीय क्रांति, अमेरिका तथा फ्रांस के अधिकारों के घोषणापत्रों में पूर्ण रुचि रखता हो वह अपने ही देश में स्वतन्त्रता का नारा बुलन्द न करे, यह विचित्र बात है। किन्तु राजा राममोहन राय का इस प्रकार का व्यवहार किसी और तथ्य को प्रकाशित करता है और वह यह है कि वे अपनी दार्शनिक वृत्ति के कारण क्रान्तिकारियों की नारेबाजी से दूर रह कर

स्थापित करना चाहते थे कि कर्त्तव्यों से ही अधिकार प्राप्त होते हैं और अधिकार राज्य से अलग-अलग होकर प्राप्त नहीं हो सकते। इस सदर्भ में बगाल हरकारू के सपादक जेम्स सदरलैंड की यह मान्यता थी कि राजा राममोहन राय यद्यपि राजनीति में गणतन्त्रवादी नहीं थे, फिर भी वे सिद्धांत रूप में गणतन्त्रवाद को स्वीकार करते हुए अमेरिका में गणतन्त्र की सफलता से अत्यधिक प्रभावित थे।[7]

राजा राममोहन राय के विचारों पर मोन्टेस्क्यू, ब्लेकस्टन तथा बेंथम की छाप स्पष्टतः दिखाई देती है। मोन्टेस्क्यू के प्रभाव में उन्होंने शक्ति-पृथक्करण तथा विधि के शासन को स्वीकार किया और अपने लेखों में इनका बारम्बार उल्लेख किया। इसी प्रकार बेंथम के शासन, नैतिकता एवं व्यवस्थापन सम्बन्धी विचारों का इन पर प्रभाव पड़ा। बेंथम के समान राजा राममोहन राय ने भी प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का तिरस्कार किया। बेंथम के प्रभाव में राजा राममोहन राय ने भारत में दीवानी तथा फौजदारी दंड-संहिता निर्मित करने की जोरदार माँग प्रस्तुत की। कानून तथा नैतिकता के अन्तर एवं उपयोगितावाद से सम्बद्ध सिद्धान्त भी राजा ने बेंथम के प्रभाव में स्वीकार किये।[8] इन्हीं आधारों पर उन्होंने सती-प्रथा की समाप्ति का आन्दोलन भारत में चलाया था। किन्तु कुछ अर्थों में वे बेंथम से भिन्न विचार भी रखते थे। वे बेंथम के इस विचार से सहमत नहीं थे कि मानव मात्र की समान आवश्यकताएं होती हैं तथा इस अर्थ में सभी मानव समान हैं। राजा का यह अभिमत था कि भारत की जनता के लिए वे ही नियम तथा कानून उपयुक्त हैं जो कि यहाँ की मान्यताओं, रीतिरिवाजों तथा परिस्थितियों से मेल खाते हों।[9] बेंथम के बाद ब्लेकस्टन का राजा राममोहनराय पर प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी संविधान की कुछ विशिष्टताओं का ज्ञान प्राप्त कर राजा राममोहन राय ने भारत में नागरिक स्वतन्त्रता की मांग प्रस्तुत की। तत्कालीन भारत की स्थिति को देखते हुए राजा राममोहन राय ने भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता की मांग प्रस्तुत न करके न्याय, जीवन की सुरक्षा तथा सम्पत्ति सम्बन्धी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की बात कही।[10] राजा राममोहनराय से बेंथम की व्यक्तिगत भेंट लन्दन में हुई थी। बेंथम ने राजा राममोहन राय को "अत्यन्त प्रशंसित तथा मानवता की सेवा में रत प्रिय स्नेही सहयोगी" वाक्य से सम्बोधित किया।[11] ब्रिटिश समाजवाद के पिता रोबर्ट ओवेन के राजा को समाजवादी बनाने के समस्त तर्क विफल रहे। ओवेन क्रोधित मुद्रा लिये लौट पड़े।[12]

राजा राममोहन राय प्रारम्भ से ही भारत में अंग्रेजी शासन के प्रशंसक नहीं थे। उन्हें आरम्भ में अंग्रेजी शासन के प्रति घोर घृणा थी, किन्तु शनैः शनैः जब उन्हें यह अनुभूति हुई कि अंग्रेजी शासन चाहे विदेशी शासन क्यों न हो भारतीयों की शीघ्र उन्नति का कारक बनेगा, तब से वे 'अंग्रेजी शासन के प्रशंसक बन गये"।[13] इस पर भी उनके उत्कट देश-प्रेम ने भारत में अंग्रेजी शासन को केवल चालीस वर्षों अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के तृतीय चरण तक के लिए ही स्वीकार किया ताकि बाद में स्वयं भारतीय अपने भाग्य का निर्माण कर सकें।[14] विपिन चन्द्र पाल ने राजा को इसी सन्दर्भ में राजनीति में स्वतन्त्रता-आन्दोलन का अग्रदूत कहा है।[15]

राजा राममोहन राय ने 1823 में अंग्रेजी सरकार द्वारा एक संस्कृत-कालेज खोलने के प्रस्ताव का पुरजोर विरोध किया। वे संस्कृत-कालेज के स्थान पर अंग्रेजी भाषा के

माध्यम से गणित, दर्शन शास्त्र, रसायन शास्त्र, जीव शास्त्र आदि विज्ञानों के अध्ययन के लिए एक उदार एवं जागृत शिक्षा-पद्धति युक्त महाविद्यालय की माग कर रहे थे। उनके अनुसार संस्कृत-शिक्षा पद्धति ने देश को अंधकार के गर्त में डुबो दिया था, अतः संस्कृत के स्थान पर पाश्चात्य शिक्षा-व्यवस्था का उन्होंने समर्थन किया और इसके लिए विदेशों मे शिक्षा-प्राप्त शिक्षकों तथा पुस्तकों आदि की माग की।[16] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि राजा राममोहन राय पाश्चात्य रंग मे रंगे भारतीय थे, जिन्हे हर वस्तु पाश्चात्य रंग के अनुरूप ही स्वीकार्य थी। राजा राममोहन राय ने भारतीयता का त्याग नहीं किया था। उनका विरोध भारतीयकरण की विकृतियों में ही था। इसी कारण उन्होंने मूर्ति पूजा का भी विरोध किया था। वे पुनरभ्युदयवादी नहीं थे। आधुनिकता के प्रभाव में उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता का मार्ग चुना। वे ईसाइयों के विरुद्ध नहीं थे, बल्कि उन्हें सहयोग देने की माग करते थे ताकि दोनों धर्मों मे सौहार्द स्थापित हो सके। यदि मिशनरियों द्वारा धर्म-परिवर्तन का कृत्य हो रहा हो तब भी हिन्दुओं को उनकी अज्ञानता पर सहानुभूति ही प्रदर्शित करनी चाहिए[17] ऐसी उनकी मान्यता थी।

राजा राममोहन राय के राजनीतिक विचार

राजा राममोहन राय का स्वातन्त्र्य-प्रेम उनके राजनीतिक विचारों का स्रोत था। एक सच्चे भारतीय के रूप मे राजा राममोहन राय ने विचार-स्वातन्त्र्य को मानव का परमाधिकार माना। पाश्चात्य विचारदर्शन के अध्ययन ने उनके इस विश्वास को और भी प्रगाढ़ कर दिया। वे विश्वमानवता के हितचिन्तक थे और उदारवाद से अभिभूत थे। राष्ट्रवाद के संकीर्ण विचार से ग्रस्त न होकर उन्होंने अपना अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण सदैव बनाये रखा। स्पेन में संवैधानिक सरकार की स्थापना का समाचार प्राप्त होते ही राजा राममोहन राय ने कलकत्ता के टाउन हाल मे एक सार्वजनिक भोज आयोजित किया। फ्रान्स की द्वितीय क्रान्ति का उन्होंने अभिवादन किया। नेपल्स की संवैधानिक सरकार के पतन पर वे अत्यन्त खिन्न हो उठे थे। यह सब उनके लोकतांत्रिक विश्वास का प्रतीक था। 1832 के भारत-सुधार-अधिनियम को उन्होंने विश्व की स्वतन्त्रता-प्रेमी जनता की विजय माना था।[18]

राजा का विधिशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान गहन था। उन्होंने विधि को रीति-रिवाजों एवं सामाजिक मान्यताओं से सम्बन्धित माना था। उनके अनुसार विधि का आधार कालान्तर से चली आ रही सामाजिक मान्यताएं होती हैं, जो समय पा कर सम्प्रभु द्वारा विधि में परिवर्तित कर दी जाती हैं। इसके पश्चात् सम्प्रभु द्वारा विधि में आवश्यक हेर-फेर किया जा सकता है और वह मान्य भी है। किन्तु वे मान्य विधियों में स्वेच्छाचारिता जन्य परिवर्तन के पक्षपाती नहीं थे। यदि प्रचलित विधि तर्क सम्मत है तथा जनहितकारी है तो कोई कारण नहीं कि उसकी मान्यता शासन द्वारा समाप्त कर दी जाये। यदि वह अन्यायपूर्ण है तो चाहे कितनी भी पुरानी मान्यता क्यों न हो वह निरस्त की जा सकती है। राजा का यह मत न्याय शास्त्र की विश्लेषणात्मक एवं ऐतिहासिक पद्धतियों का समीचीन सामंजस्य था। आस्टिन ने भी इसी प्रकार का विचार न्यायशास्त्र के सन्दर्भ में प्रकट किया था। आस्टिन से पूर्व राजा राममोहन राय ने कानून तथा नैतिकता का अन्तर प्रस्तुत किया।[19] राजा राममोहन राय ने हिन्दू-उत्तराधिकार-कानून के सन्दर्भ में जीमूतवाहन द्वारा लिखित दायभाग का सन्दर्भ देते हुए यह स्थापित

किया कि बिना अपनी सम्पत्ति को अपने पुत्रों से सलाह लिये बिना बेच सकता है अथवा रहने रख सकता है। राजा राममोहन राय का यह मत था कि कानून की दृष्टि से यह उचित है, किन्तु नैतिकता की दृष्टि से परिवार के अन्य सदस्यों को सम्पत्ति से वंचित करना उचित नहीं है। किन्तु कानून और नैतिकता अलग-अलग हैं। कुछ नैतिक नियम कानून से भी अधिक बाध्यकारी होते हैं तो कुछ कानून भी नैतिक नियमों से अधिक प्रभावशील होते हैं। अन्त में उन्होंने यह माना कि कानून चाहे नैतिक हो अथवा न हो फिर भी हमें उनका पालन करना चाहिए। राजा राममोहन राय कानून के सन्दर्भ में उपयोगितावादी नहीं थे। उनकी विधिशास्त्र में दक्षता ने उन्हें अन्याय का विरोध करने में सहायता दी। उन्होंने विधि के क्षेत्र में गवर्नर-जनरल द्वारा बनाये गये कानूनों को उचित नहीं माना। उनका यह तर्क था कि भारत पर शासन करने की अन्तिम सम्प्रभु शक्ति-स-समद-सम्राट् में निहित है। इसलिए वे चाहते थे कि स-संसद-सम्राट् ही भारत के लिए कानून पारित करे न कि गवर्नर-जनरल।[20] वे विवेकयुक्त कानून के समर्थक थे और इस कारण उन्होंने ईस्टइण्डिया-कम्पनी के मनमाने शासन की भर्त्सना की। राजा राममोहन-राय शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के अनुगामी थे। उन्होंने कम्पनी-शासन में कार्यपालिका तथा विधायी शक्तियों का एकीकृत रूप स्वीकार नहीं किया। किन्तु राजा राममोहन राय भारत में कम्पनी-शासन के स्थान पर ब्रिटिश शासन को स्थापित करने के पक्षपाती नहीं थे। उनके अनुसार कम्पनी-शासन जहाँ सीमित सरकार का प्रतीक था, वहाँ ब्रिटिश शासन पूर्ण निरंकुशता का परिचायक था। वे इस बात से अवश्य सहमत थे कि दोहरी शासन-व्यवस्था स्थापित हो तो ज्यादा अच्छा है ताकि अवरोध एवं सन्तुलन बना रह सके। उनका सुझाव इंगलैण्ड द्वारा व्यवस्थापन करने तथा कम्पनी-शासन द्वारा उन्हें क्रियान्वित कराने का था। राजा राममोहन राय ने प्रेस की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। प्रेस की स्वतन्त्रता का समर्थन अच्छे कानूनों के निर्माण की दृष्टि से किया गया था। उन्होंने यह सुझाव रखा कि भारतीय जनता को अपनी समस्याएँ शासन तक प्रस्तुत करने का अधिकार होना चाहिए। प्रेस के द्वारा यह काम सरलता से हो सकता है और सरकार जनता की इच्छा सुगमता से ज्ञात कर सकती है।[21] इसी तरह से प्रेस के माध्यम से जनता की शिकायतें सरकार तक पहुँच सकती हैं और सरकार उनका हल ढूंढ कर जन-विद्रोह की कठिन स्थिति को टाल सकती है। प्रेस की स्वतन्त्रता से जनता भारत-सरकार की कुटिल नीतियों के विरोध में ब्रिटिश जनता से न्याय की मांग कर सकती है। इतना ही नहीं प्रेस-स्वतन्त्रता कम्पनी-शासन की सफलताओं का मापदण्ड भी होगी। राजा राममोहन राय ने प्रेस की स्वतन्त्रता के साथ-साथ जनहित में यह मांग भी की, कि भारत की वास्तविक स्थिति का ज्ञान करने के लिए समय-समय पर जांच-आयोगों की नियुक्ति की जाये ताकि अच्छे कानूनों की संख्या में अभिवृद्धि हो। राजा इतने से ही सन्तुष्ट न हुए, उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि बुद्धिजीवियों तथा सम्भ्रान्त वर्ग के भारतीयों के सुझाव भी कानून बनाते समय कम्पनी-शासन द्वारा प्राप्त किये जायें। जो कानून कम्पनी शासन निर्मित करे उसे इंगलैण्ड की संसद तथा कम्पनी के निदेशकों के सामने प्रस्तुत किया जाये। संसद की स्थायी समिति द्वारा इस कार्य को अन्तिम रूप दिया जाये।[22] राजा राममोहन राय ने भारत में विधायी परिषद् की स्थापना का सुझाव ठीक नहीं माना, क्योंकि उनके विचारों

से भारत में विधायी परिषद् की स्थापना से कार्यपालिका एवं न्यायपालिका से सम्बन्धित अधिकारी वर्ग अपना आधिपत्य और भी विस्तृत कर लेगा तथा नाम मात्र के लिए कतिपय भारतीयों का मनोनयन उन्हें कोई विशेष शक्ति प्रदान नहीं करेगा। अतः वे विधायी परिषद् के स्थान पर उच्चवर्ग के भारतीयों द्वारा शासन को सलाह दी जाने की माँग प्रस्तुत कर रहे थे।[23]

प्रेस की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में राजा राममोहन राय की माँग मूलतः धार्मिक पत्रिकाओं पर कम्पनीशासन द्वारा लगायी गयी रुकावट को दूर करने के सम्बन्ध में थी, किन्तु शनैः शनैः उनकी यह माँग सर्वव्यापी हो गयी। उन्होंने यह विचार प्रस्तुत किया कि चूँकि भारत की शासन-व्यवस्था प्रतिनिधि शासन के सिद्धान्त पर आधारित नहीं थी, ऐसी स्थिति में प्रेस की स्वतन्त्रता अत्यावश्यक थी ताकि इस माध्यम से वाद-विवाद की स्वतंत्रता प्राप्त हो सके। उनके अनुसार प्रेस की स्वतन्त्रता ने विश्व के किसी भी भाग में क्रान्ति को कभी जन्म नहीं दिया। क्रान्तियाँ वहीं हुई हैं, जहाँ निरंकुश शासन ने जनता को अज्ञान के अन्धकार में रखा है। उनके अनुसार भारत में प्रेस की स्वतन्त्रता से, शासन की आलोचना से अधिक शासन के पक्ष का समर्थन हुआ है और शिक्षितवर्ग अंग्रेजों को आक्रामक समझने के स्थान पर मुक्तिदाता के रूप में मानने लगा है। इस पर भी यदि शासन आश्वस्त न हो तो वह प्रेस की स्वतन्त्रता पर उचित कानूनी प्रतिबन्ध लगा सकता है ताकि शासन को किसी प्रकार का भय न रहे। यद्यपि राजा की प्रेस की स्वतन्त्रता सम्बन्धी सारी दलील असफल ही रहीं, फिर भी उनके द्वारा उठाई गयी यह आवाज इस तथ्य का प्रतीक थी कि वे अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को रुद्ध करना उचित नहीं मानते थे।[24]

राजा राममोहन राय व्यक्तिवाद अथवा राज्य द्वारा कम से कम हस्तक्षेप के अनुगामी नहीं थे। उन्होंने शासन के कार्यक्षेत्र को अधिक से अधिक व्यापक बनाने के विचार को अपना समर्थन दिया। वे कम्पनीशासन को भारत की सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक उन्नति के लिए प्रोत्साहित करना चाहते थे। उन्होंने शासन द्वारा धर्म-सुधार के कार्य को करने की भी अनुमति दे दी थी, ताकि असत्य एवं अधार्मिक कृत्यों पर शासन अपना नियन्त्रण स्थापित कर सके। उनके अनुसार भारत में प्रचलित अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवहार को शासन की आज्ञा से ही नियन्त्रित एवं निषिद्ध किया जा सकता था। शासन के प्रकार के सम्बन्ध में राजा राममोहन राय का विचार सीमित या सवैधानिक राजतन्त्र के पक्ष में था। वे न तो कुलीनतन्त्र के पक्षपाती थे और न पूर्ण प्रजातन्त्र के। प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में उनका यह विचार था कि समस्त जनता को शासन-कार्य में सम्बन्धित करना उचित नहीं है। प्रायः सामान्य जनता शासन के नियमों तथा कार्यप्रणाली से अवगत नहीं होती। ऐसी स्थिति में प्रजातन्त्र निजी स्वार्थों की पूर्ति का साधन बन जाता है। पूर्ण राजतन्त्र का भी उन्होंने प्रतिकार किया। उन्हें किसी एक शासक में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित करना उचित नहीं प्रतीत होता था। ऐसा शासन जनता के साथ खिलवाड़ कर सकता है तथा निरंकुशता का प्रतीक बन सकता है। उन्होंने कुलीनतन्त्र को भी इसलिए अनुचित बताया कि इसमें जहाँ चन्द व्यक्तियों को शासन का लाभ प्राप्त हो सकता था, वहाँ अन्य व्यक्तियों में ईर्ष्या-द्वेष की भावना पनप सकती थी। इस तरह कुलीनतन्त्र में निरंकुश राजतन्त्र तथा अनियन्त्रित

प्रजातन्त्र दोनों की ही बुराइयां प्रकट होती थी।[25]

राजा राममोहन राय के सामाजिक विचार

राजा राममोहन राय आधुनिक भारत में स्त्री-स्वातन्त्र्य के अग्रदूत माने जा सकते हैं। उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिलाने का पुरजोर प्रयत्न किया। वे स्त्रियों को हीन दृष्टि से देखने वालों के इस तर्क से सहमत नहीं थे कि स्त्रियों का ज्ञान सीमित होता है। उनका यह विश्वास था कि जब स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखा जाता है तो फिर उनके ज्ञान को संकुचित बताने का प्रयत्न अनुचित ही नहीं वरन् अन्यायपूर्ण भी है। वे भारतीय स्त्रियों को लीलावती, गार्गी, मैत्रेयी आदि के समान विदुषी बनने की प्रेरणा देते थे। राजा स्त्रियों के आर्थिक अधिकारों के भी महान् समर्थक थे। उन्होंने हिन्दू उत्तराधिकार कानून के सन्दर्भ में पुत्रियों को पिता की सम्पत्ति का एक चौथाई भाग देने का समर्थन किया। उन्हीं के सद्प्रयत्नों से भारत में सती-प्रथा पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। उन्होंने सती-प्रथा को अत्यन्त क्रूर कृत्य बताते हुए यह दावा किया कि भारत के किसी भी धर्मशास्त्र के अनुसार सती-प्रथा स्वीकार्य नहीं है। उन्होंने सामाजिक न्याय के सन्दर्भ में स्त्रियों पर पुरुषों के अत्याचार का घोर विरोध किया। वे चाहते थे कि सरकार ऐसा कानून पारित करे जिससे कोई भी पुरुष एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह न कर सके। उन्होंने जाति-व्यवस्था का भी घोर विरोध किया और इसे हिन्दू-जाति का कलंक बताया। वे स्वयं अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में थे। शास्त्र का आधार प्रस्तुत करते हुए उन्होंने शैव विवाह-पद्धति का समर्थन किया, जिसमें उम्र, वर्ग एवं जाति का कोई बन्धन नहीं होता। इसके अन्तर्गत किसी भी परित्यक्ता अथवा विधवा, जो कि सपिण्ड (स्वगोत्री) न हो, विवाह करने योग्य है।[26]

धार्मिक विचार

राजा राममोहन राय के धार्मिक विचारों की आधारशिला उनके द्वारा इस्लाम धर्म, हिन्दूधर्म तथा ईसाई धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थों का अनुशीलन है। उन्होंने कुरान का अरबी भाषा से बंगाली में अनुवाद किया। संस्कृत का अध्ययन कर उपनिषद्, गीता तथा अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया और विशेषतः वेदान्त में अपनी रुचि दिखाई। 1802 में एकेश्वरवाद के समर्थन में आपने फारसी में तुहफात-उल-मुवाहिदीन नामक ग्रन्थ लिखा। ईसाई धर्म के अध्ययन के लिए आपने लेटिन, ग्रीक तथा हिब्रू भाषाएँ सीखी। धर्म एवं दर्शनशास्त्र सम्बन्धी सत्संग के निमित्त 'आत्मीय सभा' की स्थापना की। वेदान्त के सूक्ष्म अध्ययन से प्रभावित हो आपने एकेश्वरवाद का प्रचार किया और वेदान्तसार नामक ग्रन्थ 1816 में प्रकाशित किया। अपने इस धार्मिक क्रियाकलाप के कारण जिसमें हिन्दू धर्मावलम्बियों में सम्बन्धित कुरीतियों का उन्मूलन करने का विशेष प्रयास किया गया था, आप ईसाई मिशनरियों की आलोचना का विषय बने, ईसाइयों के आक्षेपों का उत्तर देने के लिए उन्होंने कई संक्षिप्त पुस्तिकाएं प्रकाशित कीं, जिनमें संवाद कौमुदी विशेष लोकप्रिय हुई।[27]

वेदान्त, इस्लाम तथा ईसाई-धर्म के अलावा राजा राममोहन राय ने तान्त्रिक, बौद्ध, जैन तथा वैष्णव मार्ग का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। उनके द्वारा 1828 में ब्रह्म-समाज की स्थापना की गई। ब्रह्म-समाज ने आधुनिकता, उदारवाद एवं विवेक-

वाद की नवीन धारा भारत में प्रवाहित की। ब्रह्म समाज की स्थापना द्वारा भारतीय पुनर्जागरण-आन्दोलन को नया सम्बल मिला।[28] ब्रह्म-समाज ने रचनात्मक कार्य प्रारम्भ किया और किसी प्रकार के धार्मिक शास्त्रार्थ में न पड़ते हुए एक तटस्थ निरपेक्ष मार्ग का अनुसरण किया। राजा राममोहन राय ने ब्रह्म-समाज के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए यह व्यक्त किया कि ब्रह्म-समाज में न तो किसी मूर्ति की पूजा की जायेगी और न ही कोई प्रार्थना या उपदेश ऐसा दिया जायेगा जिससे नैतिकता के उच्च आदर्शों एवं एकेश्वर-वाद को धक्का पहुँचे। उन्होंने ब्रह्म-समाज का सर्वोच्च लक्ष्य सभी धर्मों में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों के मध्य एकता का सचार करना स्वीकार किया। साथ ही साथ उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि ब्रह्म-समाज किसी भी जड़-चेतन वस्तु को जो कि किसी धार्मिक पूजा का माध्यम हो, आलोचना, घृणा अथवा प्रतिकार का विषय नहीं बनायेगा। यह 'समाज' की धर्म-सहिष्णु नीति का परिचायक था। 'समाज' की प्रारम्भिक गतिविधियों से यह स्पष्ट होता है कि इसकी स्थापना का उद्देश्य सामाजिक सुधार से अधिक धार्मिक साधना का सम्पादन था। राजा राममोहन राय ने प्रत्येक मानव में ईश्वर की अनुभूति जागृत करने का प्रयास किया था।[29]

राजा के धार्मिक विचारों पर इस्लाम का प्रभाव सर्वप्रथम स्पष्ट हुआ। उन्होंने एकेश्वरवाद को इस्लाम के प्रभाव में ही अपनाया। ईसाई धर्म से उनका सम्पर्क बाद में हुआ। अतः उन पर ईसाई धर्म का प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर नहीं होता। ब्रह्म-समाज पर ईसाई मत का प्रभाव राजा के पश्चात् केशवचन्द्र सेन के समय में अधिक देखा गया, क्योंकि ब्रह्म-समाज के क्रियाकलाप बिल्कुल ईसाई धर्मावलम्बियों के समान होने लगे थे। राजा राममोहन राय वेदान्त के महत्त्व से परिचित हुए उससे पहले ही उन पर इस्लाम का प्रभाव पड़ चुका था। फिर भी वेदान्त में सत्य का साक्षात्कार कर उन्होंने ब्रह्मवाद तथा एकेश्वरवाद को मिलाना ही श्रेयस्कर समझा। इस प्रकार हिन्दू धर्म तथा इस्लाम का समन्वय राजा राममोहन राय के धार्मिक विचारों का मूल बना।[30] हिन्दू धर्म के अन्तर्गत शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त को राजा राममोहन राय ने अपने विचारों का आधार न बना कर उपनिषदों में व्यक्त प्राचीन वेदान्त को ही अपनाया। आत्मा की अमरता तथा एक निराकार, परब्रह्म, सर्वशक्तिमान्, दयालु ईश्वर के अस्तित्व को उन्होंने स्वीकार किया। वे ब्रह्म को विश्व तथा व्यक्तियों के निर्माता के रूप में मानने लगे। प्रकृति को वे एक सहायक तत्त्व मानते हुए ब्रह्म को ही संसार का नियामक तत्त्व मानते रहे। इस दार्शनिक आधार को ग्रहण कर राजा राममोहन राय ने अपने धार्मिक विचारों का प्रचार प्रारम्भ किया। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि इस प्रकार के साधारण धार्मिक सिद्धान्त द्वारा समाज में व्याप्त आडम्बर तथा धार्मिक क्लिष्टता से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। उन्होंने वेदान्त का इसी कारण वरण किया तथा उपनिषदों को साध्य बना कर धार्मिक कर्मकाण्ड तथा अन्धविश्वास से संघर्ष करने का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने मूर्तिपूजा, जात-पाँत, खान-पान की रूढ़िवादिता तथा अन्य अंधविश्वासों का इसी आधार पर खण्डन भी किया। वे आत्मा को विश्वास तथा निष्ठा का प्रमुख तत्त्व मानते थे। आत्मसाधना तथा आन्तरिक जागृति पर उनका ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित रहा। पाश्चात्य दर्शन एवं साहित्य के प्रभाव में राजा राममोहन राय ने जनता को पाखण्डों से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया

और इस प्रयास में हिन्दू-धर्म से सम्बन्धित उन दृष्टान्तों का समर्थन भी किया, जो उनके इन उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो सकते थे। अपने धार्मिक क्रिया-कलापों में राजा राममोहन राय ने एक सार्वभौमिक धर्म का स्वप्न भी देखा था।[31] यद्यपि राजा राममोहन राय का यह स्वप्न पूरा नहीं हुआ, किन्तु उनके इस प्रयास ने धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का नवीन मार्ग अवश्य प्रस्तुत किया। वे परम सत्य की एकता तथा मानवीय मूल्यों की स्वीकृति को सब धर्मों का आधार मानते थे। धर्मों की इस मौलिक एकता का आदर्श भारतीय चिन्तन का जाज्वल्यमान रत्न है। राजा राममोहन राय मानव की सेवा को ही सच्ची ईश्वर-उपासना मानते थे। धार्मिक उदारवाद से प्रेरित हो राजा राममोहन राय ने स्वीकार किया कि वे समस्त धर्मों की मूलगत समानता को स्वीकार करते हुए धर्मों के पारस्परिक विभाजनकारी सिद्धान्तों को अमान्य समझते हैं।[32]

राजा राममोहन राय के जीवन के एक प्रेरक प्रसंग को प्रायः विस्मृत कर दिया जाता है जो कि स्पष्टतः उनकी धार्मिक दृढ़ता का परिचायक है। कलकत्ता के प्रथम बिशप डा. मिडिलटन ने राजा राममोहन राय को ईसाइयत में परिवर्तित करने को अपना परम कर्तव्य समझ कर इस दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ किया। उन्हें न केवल अपने ईसाई धर्म की श्रेष्ठता का ही दम्भ था अपितु उन्हें भारत में ईसा के प्रथम पट्टशिष्य (अपोसल) बनाने का लोभ भी था। किन्तु राजा राममोहन राय ने बिशप को स्पष्ट कर दिया कि वे सत्य एवं अच्छाई के अलावा किसी वस्तु से मोहित नहीं हो सकते। उन्होंने स्वेच्छा से दो ईसाई मिशनरियों विलियम येट्स तथा विलियम एडम के साथ मिलकर कुछ मसीही साहित्य का बंगला-भाषा में अनुवाद किया था। विलियम एडम राजा राममोहन राय से इतने प्रभावित हुए कि वे एक प्रोटेस्टेंट मिशनरी से एकेश्वरवादी (यूनीटेरियन) ईसाई बन गये।[33]

राजा राममोहन राय को अपने धार्मिक विचारों के लिए न केवल अपने परिवार का ही कोपभाजन बनना पड़ा, अपितु मित्रों की उपेक्षा का शिकार भी होना पड़ा। यदि राजा राममोहन राय चाहते तो अपने पिता के धार्मिक विचारों का अनुगमन कर चैन से जीवन बिता सकते थे, किन्तु उन्होंने जो मार्ग चुना वह दुःख, पितृप्रेम विहीनता और सामाजिक बहिष्कार का मार्ग था। उन्हें दो बार पिता ने घर से निकाल दिया। मित्रों ने उन्हें अपमानित किया। यहाँ तक कि वे कलकत्ता शहर की सड़कों पर भी सशस्त्र हुए बिना नहीं निकलते थे। जीवन के बाद के दिनों में उनकी माता ने उन्हें अपनी सम्पत्ति से वंचित करने का प्रयत्न किया। फिर भी वे अपने धार्मिक विचारों से विचलित नहीं हुए। यदि वे धर्म-परिवर्तन करना चाहते तो कोई भी अन्य धर्म उन्हें बाँहें फैला कर आलिंगन करने को आगे बढ़ता। वे अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक वेदों में विश्वास रखने वाले ब्राह्मण ही बने रहे। वे अपने धर्म को त्यागने के स्थान पर उसको सुधारना चाहते थे।[34]

राजा राममोहन राय के आर्थिक विचार

राजा राममोहन राय के आर्थिक विचार सैद्धान्तिक अथवा दार्शनिक दृष्टिकोण से युक्त न होकर भारत की आर्थिक स्थिति के वास्तविक धरातल पर निर्मित हुए हैं। उनके आर्थिक विचार न तो स्वप्नदर्शी समाजवादी चिन्तन से प्रभावित हैं, न अर्थशास्त्रियों के क्रम से

कम हस्तक्षेप वाले सिद्धान्त (लेज़े फेर थियरी) से। राज्य की आर्थिक कार्यविधि के क्षेत्र को निर्धारित करने का उनका उद्देश्य उनके आर्थिक विचारों में दृष्टिगोचर नहीं होता। वे सच्चे अर्थों में एक व्यावहारिक आर्थिक प्रक्रिया के पक्षपाती थे जिसमें पूंजीपति एवं निर्धन दोनों का निर्वाह हो सके। व्यक्तिगत सम्पत्ति के समर्थक होते हुए भी निर्धनता के गर्त में फंसी हुई मानवता को शासन द्वारा उबारने का उन्होंने सुझाव प्रस्तुत किया था।[35]

बिमानविहारी मजूमदार ने राजा राममोहन राय के आर्थिक विचारों का विवेचन करते हुए लिखा है कि राजा राममोहन राय ने 'पैतृक सम्पत्ति पर हिन्दुओं का अधिकार' नामक लेख में सम्पत्ति तथा वैधानिक मान्यता प्राप्त संविदा को सरकार द्वारा न तोड़ने का आग्रह किया था। राजा ने प्रचलित आंग्लभारतीय मान्यता के विपरीत यह स्थापित किया कि भारत में भूमि का सदैव व्यक्तिगत स्वामित्व ही बना रहा है। भूमि को राज्य की असीम सम्पत्ति के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया गया। मुगल-काल में भी सरकार द्वारा सुरक्षा प्रदान करने के एवज में भूमि की उपज पर भूमि के स्थायी बन्दोबस्त का लाभ कृषकों तथा खेतीहर मजदूरों को देशव्यापी स्तर पर प्राप्त था। राम मोहनराय मध्यम् वर्ग को और भी अधिक सम्पन्न बनाने का विचार रखते थे और इस कारण उन्होंने जमींदारी व्यवस्था का अधिक पक्ष लिया। किन्तु वे निर्धन कृषकों का जमींदारों द्वारा शोषण स्वीकार नहीं करते थे। उन्हें खेत में हल जोतने वाले निर्धन तथा अभावग्रस्त कृषक की आर्थिक दीनता से इतनी अधिक सहानुभूति थी कि वे जमींदार तथा रैयतवाड़ी दोनों ही प्रथाओं के शोषणपाश से उसे बचाने को तत्पर थे। इसके लिए उन्होंने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि जमींदार को लगान की मात्रा अथवा राशि में कोई परिवर्तन न करने दिया जावे। यदि शासन ऐसा करने से इसलिए झिझकता हो कि ऐसे नियमों से दीर्घ काल से चली आ रही व्यवस्था को हानि पहुँचेगी तो शासन को जनहित में ऐसी झिझक छोड़ देनी चाहिए। अच्छी व्यवस्था के लिए प्राचीन मान्यताओं को जो हितकारी न हों, छोड़ने में संकोच नहीं होना चाहिए।

राजा राममोहन राय ने जहां निर्धन कृषकों की स्थिति सुधारने के लिए जमींदारों तथा सरकार को लगान की राशि कम करने का सुझाव दिया वहां दूसरी ओर सरकार द्वारा राजस्व की हानि की पूर्ति के लिए तीन सुझाव भी प्रस्तुत किये। उनका पहला सुझाव यह था कि राजस्व की आय बढ़ाने के लिए विलासिता की सामग्री तथा अन्य वस्तुओं पर जो कि दैनिक जीवन की आवश्यकताओं में सम्मिलित नहीं होतीं, अत्यधिक कर लगाये जायें। उनका दूसरा सुझाव था कि राजस्व-विभाग पर किये जाने वाले रखरखाव के व्यय में कटौती की जावे। इसी प्रकार राजस्व सम्बन्धी कामकाज के लिए उन्होंने यह सुझाव दिया कि जिलाधीश (कलेक्टर) के पद पर सम्भ्रान्त भारतीय नियुक्त किये जायें तथा उन्हें तीन सौ अथवा चार सौ रुपये वेतन दिया जाये। इस प्रकार उच्चवर्गीय भारतीयों में आत्मविश्वास एवं शासन के प्रति सन्तोष का भाव उत्पन्न होगा तथा इन पदों पर नियुक्त ब्रिटिश अधिकारियों को दिये गये अत्यधिक वेतन की तुलना में भारतीय अधिकारियों को कम वेतन देने से राजस्व-खर्च में भी बचत होगी। राजस्व की बचत से किसानों पर पड़ने वाले कर का भार भी कम होगा।[36]

राजा राममोहन राय ने राजस्व की बचत के लिए यह भी सुझाव प्रस्तुत किया कि एक स्थायी सेना के स्थान पर अस्थायी नागरिक सैनिक दस्ते बनाये जायें। इस कार्य के लिए किसानों की सहायता ली जाये। उनसे राजस्व की उचित वसूली की जाये, किन्तु उनका भूमि पर स्वामित्व माना जाये ताकि वे ब्रिटिश शासन को हर प्रकार से समर्थित करें तथा आवश्यकता होने पर सैन्यदल के रूप में भी गठित हो सकें। इस प्रकार स्थायी सेना पर व्यय में कटौती होगी और आन्तरिक सुरक्षा की समस्या भी हल हो सकेगी।[37]

उन्होंने भारत में पूंजी के निर्माण तथा संरक्षण के लिए यह विचार व्यक्त किया कि देश से प्रतिवर्ष करोड़ों की धनराशि के निर्यात को रोका जाना चाहिए। इसके लिए सम्पन्न विदेशी व्यापारियों को, जो कि भारत में सम्पत्ति का अर्जन करते हैं, भारत में ही बसाया जाये ताकि वे अपना धन बाहर भेजने के स्थान पर भारत की उद्योग-व्यवस्था में ही लगायें। ब्रिटिश नागरिकों का भारत में उपनिवेशन किया जाये। इस तरह के उपनिवेशन से भारत को साहित्यिक, सामाजिक एवं राजनीतिक प्रगति में सहायता प्राप्त होगी। किन्तु राजा राममोहन राय के इस आशय की बंगाल में तीव्र आलोचना हुई। उनके विरोधियों ने यह व्यक्त किया कि राजा राममोहन राय अंग्रेजों को भारत में आमन्त्रित कर उन्हें यहां की भूमि का स्वामित्व देना चाहते हैं ताकि वे अपनी जमींदारी यहां कायम कर सकें। वास्तविकता यह थी कि राजा राममोहन राय अंग्रेज श्रमिकों अथवा किसानों को भारत में आमन्त्रित करने का सुझाव नहीं दे रहे थे। वे अंग्रेजों के स्थान पर उनकी कुशलता तथा पूंजी को भारत में लगाना चाहते थे। वे केवल ऐसे यूरोपवासियों को भारत में बसाने के पक्ष में थे जो अपने उच्च ज्ञान एवं लोकनिष्ठा से भारतीयों के चरित्र को उन्नत कर भारत में औद्योगिक चेतना का विकास कर सकें। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि ब्रिटिश तथा अन्य यूरोपवासी भारत की कृषि-व्यवस्था में नवीन उपकरणों का प्रयोग कर उत्पादन वृद्धि में सहायक सिद्ध हो सकेंगे। तकनीकी ज्ञान का भी भारत में प्रसार उनकी सहायता से सम्पन्न हो सकेगा।[38] उनकी उपस्थिति से भारत में राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति का ज्ञान भी जनता को प्राप्त हो सकेगा और वे भारत में कुशल प्रशासन की स्थापना में सहयोगी सिद्ध होंगे। उनके माध्यम से आम जनता की शिकायतें इंगलैंड की सरकार तक पहुंचती रहेगी। जिन्हें राजा के इन सुझावों में अमरिकी विद्रोह की झलक दिखाई देती थी, उनके लिए राजा राममोहन राय का यह उत्तर था कि अमेरिका ने इंगलैण्ड के विरुद्ध विद्रोह कुशासन के कारण ही किया था। वे कनाडा का उदाहरण देकर यह सिद्ध करना चाहते थे कि यदि शासन जनहित में हो और जनता समृद्ध हो तो कोई कारण नहीं कि भारत की मिलीजुली संस्कृति वाली जनता एक उदार एवं जागृत इंगलैण्ड की सरकार से अपने सम्बन्ध-विच्छेद करने का प्रयास करेगी। इसी तरह उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि यूरोप से आकर भारत में बसने वाले व्यक्तियों द्वारा भारत के भीतरी भागों में न तो किसी प्रकार का दम्भ प्रदर्शित किया जायगा और न मनमाना व्यवहार होगा।[39] उनके सम्पर्क में आने से भारत में एक नवीन जागृति आयेगी जिससे अन्धविश्वास एवं अशिक्षा दूर हो सकेगी। यदि कहीं इंगलैंड से पृथकता की मांग भी भारत में बलवती हुई तो भी दो समान धर्मी स्वतन्त्र देशों के रूप में वे सम्बन्ध विकसित होंगे, जिनमें भाषा, धर्म तथा रीति-रिवाजों का साम्य

होगा। राजा राममोहन राय के ये विचार उनके सम्बन्ध में कई भ्रान्तियों को जन्म देने वाले हैं। इनसे कई प्रश्न हमारे सामने उभरते हैं। पहला प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या भारत में यूरोपनिवासियों द्वारा उपनिवेशन भारत में ईसाई धर्म तथा अंग्रेजी भाषा का एकाधिपत्य स्थापित करने की दृष्टि से राजा राममोहन राय द्वारा सुझाया गया है। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या राजा राममोहन राय का उद्देश्य भारत को कनाडा, न्यूजीलैंड अथवा आस्ट्रेलिया जैसा उपनिवेश बनाने का है जो कालान्तर में स्वतन्त्रता प्राप्त करके भी अंग्रेजी संस्कृति के ही दास बने रहे। यदि इन्हीं दो प्रश्नों पर गहनता से विचार किया जाये तो राजा राममोहन राय से अधिक देशद्रोही तथा भारतीय संस्कृति का शत्रु और कोई नहीं हो सकता। परन्तु राजा राममोहन राय के प्रारम्भिक जीवन तथा उनके बाद के जीवन एवं लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे न तो भारतीय संस्कृति के शत्रु थे और न अंग्रेजी शासन को सदा के लिए भारत में स्थापित करना चाहते थे। उनके उपर्युक्त विचार जो ईसाई-धर्म तथा अंग्रेजी भाषा के समर्थन में व्यक्त किये गये हैं उनकी प्रामाणिकता सन्देहास्पद प्रतीत होती है। यद्यपि उनके बाद के ब्रह्म-समाजियों में, विशेषतः केशवचन्द्र सेन में, ईसाइयत का प्रभाव अवश्य देखने को मिलता है किन्तु राजा राममोहन राय के स्वयं के विचारों से यह पुष्ट नहीं होता कि उन्होंने कभी ऐसा आत्मघाती वक्तव्य दिया हो। उनका उपनिवेशीकरण सम्बन्धी विचार केवल आर्थिक प्रगति तक ही सीमित मानना चाहिए।[40] □□

टिप्पणियाँ

1 प्रचलित मान्यता के अनुसार उनके जन्म का वर्ष 1772 माना गया है किन्तु उनके मरणस्थल ब्रिस्टल (इंग्लैंड) में बनायी गयी उनकी समाधि पर उनका जन्म समय 1774 अंकित है। प्रो॰ मैक्समूलर ने भी इसी को मान्य स्वीकार किया है। देखिये मैक्समूलर, बायोग्राफिकल एसेज, (लौंगमेन्स, ग्रीन एंड को., लन्दन, 1884)

2. बिमान बिहारी मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ इंडियन सोशल एंड पोलिटिकल आइडियाज : फ्रॉम राममोहन टू दयानन्द, (बुकलैंड, कलकत्ता, 1967) पृ 22

3 मिस सोफिया डोबसन कोलेट, लाइफ एंड लेटर्स ऑफ राजा राममोहन राय, (एच. सी. सरकार एंड को. कलकत्ता, 1913) पृ 15

4 वही

5. वही, पृ 180

6 बिमान बिहारी मजूमदार, पृ 25 तथा राजा राममोहन राय : हिज लाइफ, राइटिंग्स एंड स्पीचेज, पृ 1—261

7. वही, पृ 45 तथा राममोहन रॉय एंड दी प्रोसेस ऑफ मोडर्नाइजेशन इन इंडिया, (विकास, दिल्ली, 1975) पृ 102

8 वही, पृ 37

9 वही, पृ 45 तथा लेटर्स ऑफ दी ब्रह्मो समाज, (नटेसन, मद्रास, 1926) पृ 48

10 वही, पृ 28

11 देखिये एस सी. चक्रवर्ती (सम्पा), दी फादर ऑफ मोडर्न इंडिया : कोमेमोरेशन वॉल्यूम ऑफ दी राम मोहन राय सेन्टेनरी सेलिब्रेशन्स, 1933, (कलकत्ता, 1935) पृ 56-57

12. देखिये सोफिया डोबसन कोलेट, पृ 200

13. दी डान आफ मोडर्न इंडिया, पृ 88 तथा 120
14. वही, पृ. 205
15. वही, पृ 201
16. वही, पृ. 23
17 वही, पृ 91—92
18 बिमान बिहारी मजूमदार, पृ 28
19 वही, पृ 29
20 वही, पृ 33
21 वही, 39
22 वही, पृ 40-41
23 वही, पृ 36
24 वही, पृ 24
25 वही, पृ 39
26 वही, पृ 47 तथा दी इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, पृ 373-384
27. देखिये के. आर. श्री निवास आयंगर, इंडियन राइटिंग इन इंगलिश, (एशिया, बम्बई, 1973) पृ. 31
28. जकारियास, रिनासेंट इंडिया (एलन एंड अनविन, लन्दन, 1933) पृ. 15
29. बिमानबिहारी मजूमदार, पृ. 24
30. दी डान आफ मोडर्न इंडिया, पृ 71
31. बिमानबिहारी मजूमदार, पृ. 24
32. शिवनाथ शास्त्री, हिस्ट्री ऑफ दी ब्रह्मसमाज, पृ 16–30 तथा मणीलाल पारेख, दी ब्रह्म समाज ए शोर्ट हिस्ट्री, (ओरियेंटल क्राइस्ट हाउस, राजकोट, 1929) पृ. 15–18
33. मैक्समूलर, पृ. 23-24
34 वही,
35 बिमान बिहारी मजूमदार, पृ 42
36. वही, पृ. 43
37. वही,
38 वही, पृ. 44
39. वही, पृ 46
40 वही,

अध्याय 3

स्वामी दयानन्द (1824-1883)

स्वामी दयानन्द का जन्म 1824 में गुजरात के टंकारा नामक स्थान में हुआ था। उनका जन्म-नाम मूलशंकर था। उनका परिवार शैवसम्प्रदाय का अनुयायी था तथा कट्टर सनातन-धर्मी मान्यताओं में विश्वास रखता था। किन्तु बाल्यकाल की 'शिवरात्रि-घटना' ने स्वामी दयानन्द को मूर्तिपूजा का प्रबल विरोधी बना दिया और वे ज्ञान की खोज में परिवार छोड़ कर यात्रा पर निकल पड़े। उन्होंने सन्यासी का वेश धारण कर उत्तर भारत के समस्त यात्रास्थलों, मठों तथा आश्रमों में भ्रमण किया। चौबीस वर्ष की आयु में स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से उन्होंने सन्यास की दीक्षा ली और तब से मूलशंकर दयानन्द सरस्वती कहलाने लगे। उनकी इस ज्ञान-यात्रा में उनका कई साधु-सन्यासियों से साक्षात्कार हुआ किन्तु कोई भी उन्हें पूर्णतया प्रभावित नहीं कर सका और उनकी जिज्ञासा अतृप्त ही रही। चारोंओर व्याप्त अज्ञान, अन्धविश्वास, जाति-व्यवस्था से उत्पन्न कटुता तथा नैतिक पतन का अनुभव उनको समय-समय पर होता रहा। हिन्दू-समाज की ऐसी विषम स्थिति देखकर स्वामी दयानन्द सरस्वती का हृदय द्रवित हुए बिना नहीं रहा। मन ही मन उन्होंने समाज को परिष्कृत करने का संकल्प किया। इस संकल्प की पूर्ति लिए हिन्दू-धर्म के मूल-आधार वेद एवं शास्त्रों का अगाध अध्ययन आवश्यक था। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता थी कि वेदों की परम्परावादी एवं संकीर्ण व्यवस्था के स्थान पर अर्वाचीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में उनकी विवेकयुक्त व्याख्या की जावे। उन्हें इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए मथुरा की यात्रा करनी पड़ी जहां स्वामी विरजानन्द जैसे वेदों के गूढ़ विद्वान् के शिष्यत्व में स्वामी दयानन्द को अपने जीवन का सच्चागुरु प्राप्त हो गया। अल्पकाल में ही गुरुकृपा से स्वामी दयानन्द ने नवीन ज्ञान ज्योति प्राप्त की। शिक्षा की समाप्ति पर उनके सतगुरु ने उनसे गुरु-दक्षिणा में यह मांग कि वे वेदों के सही ज्ञान, एकेश्वरवाद और वेदोक्त धर्म के प्रचार तथा अंधविश्वास और कुरीतियों को अन्त करने के लिए अपने जीवन को समर्पित करने का वचन दें। स्वामी दयानन्द ने जीवन-पर्यन्त इस वचन का पालन किया और अपना सर्वस्व देश की सेवा में अर्पित कर दिया।

उन्होंने मूर्तिपूजा को वेद विरुद्ध बताया और विधवा-विवाह, बालविवाह, विदेश-यात्रा सम्बन्धी कुरीतियों एवं अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए हिन्दुओं का आह्वान किया। जाति-प्रथा, छुआछूत, आदि का भी विरोध कर (शास्त्रार्थ के माध्यम से) आपने एक निर्भीक एवं निष्पक्ष मार्ग प्रस्तुत किया जिसके द्वारा अन्ततः धीरे-धीरे भारत में नवीन चेतना का संचार होने लगा। उन्होंने अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 10 अप्रेल 1875 को बम्बई में आर्य-समाज की स्थापना की। इसके बाद भारत में आर्य समाज की शाखाएं

फैलती चली गयी। पंजाब, राजपूताना, उत्तरप्रदेश तथा गुजरात में आर्यसमाज का विशेष प्रभाव रहा। राजपूताना के राजा-महाराजाओं ने स्वामी दयानन्द का सम्मान किया और कई शासक उनके शिष्य बन गये। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह, शाहपुरा के राव नाहरसिंह तथा जोधपुर के राजा अजीतसिंह उनके विशेष प्रिय शिष्य रहे। स्वामी दयानन्द का दक्षिण-भारत से सम्पर्क नहीं रहा अन्यथा दक्षिण में भी उनका प्रभाव फैले बिना नहीं रहता। उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतः उत्तर-भारत तक ही सीमित रहा। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश का द्वितीय संस्करण स्वयं संशोधित किया तथा प्रथम संस्करण जो कि 1875 में उनके द्वारा दिये गये भाषणों एवं वक्तव्यों के आधार पर पंडितों द्वारा लिखा गया था उसे स्वयं रद्द घोषित कर दिया। द्वितीय संस्करण का कार्य स्वामी दयानन्द ने सितम्बर 1882 में उदयपुर (मेवाड़) में पूरा किया था।

स्वामी दयानन्द तथा उनकी रचनाओं का संक्षिप्त विवरण

स्वामी दयानन्द द्वारा रचित ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका वैदिक साहित्य में अपना अनूठा स्थान रखती है। पाश्चात्य विद्वानों ने एक स्वर से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि वेद विश्व की सर्वाधिक प्राचीन धरोहर है। आर्यों ने वेदों को समस्त मानवीय ज्ञान का भंडार माना है। वेदों के अनुसार ईश्वर ही सृष्टि का निर्माण और कालान्तर में उसका विनाश करता है। यह क्रिया अनादि एवं अनन्त है। सृष्टि के प्रारम्भ से अन्त तक के समय का एक कल्प माना गया है। ईश्वर द्वारा मनुष्य की रचना की गयी है और उसके मार्ग-दर्शन के लिए समस्त ज्ञान का मूल भी दर्शाया गया है। वर्तमान कल्प के प्रारम्भ से यह ज्ञान चार ऋषियों को मिला जिनके नाम थे—अग्नि, वायु, आदित्य एवं अंगिरस और इन्हीं के माध्यम से चार वेद ऋक्, यजुर, साम तथा अथर्व उद्घाटित हुए। यही विश्वास आज तक ऋषियों तथा मुनियों का रहा है और यही स्वामी दयानन्द की भी मान्यता थी।[1] आदि शंकराचार्य ने वेदों को अपौरुषेय माना है। स्वामी दयानन्द ने भी इसका समर्थन करते हुए अपने समस्त विचार एवं उपदेश वेदों पर आधारित किये हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने गुरु विरजानन्द से यह शिक्षा प्राप्त की कि वेदों तथा समस्त आर्ष-साहित्य (ऋषियों एवं मुनियों की कृतियों) की व्याख्या निरुक्त एवं अष्टाध्यायी द्वारा स्थापित सिद्धान्तों के आधार पर की जानी चाहिए। यही कारण था कि उन्होंने सायण द्वारा रचित वेद-भाष्य को स्वीकार नहीं किया। उनका यह मत था कि सायण द्वारा रचित वेद भाष्य यास्क मुनि के निरुक्त-नियमों से भिन्न रूप हो गया है। इसी प्रकार बेनफे, मैक्समूलर तथा म्योर की वैदिक टीकाएं भी उन्हें समीचीन प्रतीत नहीं हुई। इन टीकाओं ने अर्थ का अनर्थ करने में ही सहायता दी है, क्योंकि ये भी सायण की परिपाटी पर ही रची गई थी। इन पाश्चात्य टीकाकारों ने अपने पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हो पश्चिमी जगत् की पिछड़ी हुई मान्यताओं पर अपने तर्क आधारित किये जबकि वास्तविकता यह थी कि वैदिक कालीन भारत पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से कई गुना विकसित एवं सभ्य था। उन्होंने वैदिक शब्दों का अक्षरशः अनुवाद करने में अपना समय लगाया और वे भावार्थ एवं मर्म को नहीं छू सके। इस त्रुटि को स्वयं मैक्समूलर ने भी स्वीकार किया है।[2] इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द की वैदिक टीकाएं सत्य के सर्वाधिक निकट मानी जा सकती हैं।[3]

स्वामी दयानन्द की दूसरी महत्वपूर्ण रचना सत्यार्थ प्रकाश है। इसमें चौदह

अध्याय हैं। इस ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द ने भारत में प्रचलित सभी धार्मिक एवं दार्शनिक मतमतान्तरों का विवेचन किया है। प्रथम अध्याय में ओऽम् शब्द की व्याख्या की है। द्वितीय में बच्चों के जन्म, उनकी प्रारम्भिक शिक्षा, मातृत्व की देखभाल, आदि का विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में ब्रह्मचर्य, शिक्षा, प्राणायाम तथा स्त्रियों एवं शूद्रों को वेदाध्ययन की पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थन हुआ है। चतुर्थ अध्याय में विवाह, वर्णाश्रम-व्यवस्था एवं गृहस्थाश्रमधर्म का विवेचन है। पंचम अध्याय में वानप्रस्थ एवं सन्यासधर्म के निर्धारक तत्व, ईश्वर तथा आत्मा का अन्तर स्पष्ट किया गया है। छठे अध्याय में शासन, शासक के कर्त्तव्य, राज्य-परिषदें, मन्त्रियों की योग्यता एवं अनुभव, बहुमत एवं अल्पमत, कराधान, शौर्य के नियम, सैनिक विद्या, सैन्य स्नातकों एवं व्यूह रचना, युद्ध, युद्धबन्दियों के प्रति व्यवहार, तटस्थता, न्याय एवं न्यायिक पद्धतियां, दण्ड, राजनीति आदि का सुन्दर विवेचन किया गया है। राजनीति-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिये इस अध्याय की विशेष उपादेयता है क्योंकि यह स्वामी दयानन्द के राजनीतिक विचारों का मूल स्रोत है। सप्तम अध्याय में ईश्वर तथा वेद, एकेश्वरवाद, ईश्वर-आराधना, आत्मा की स्वतन्त्रता, अवतारवाद, नव-वेदान्तवाद आदि का विवेचन है। अष्टम अध्याय में सृष्टि की रचना, पालन एवं संहार, त्रिमूर्ति, बहुदेववाद एवं नास्तिकतावाद का विवेचन है। साथ ही साथ इसमें भौतिकवाद, बौद्धदर्शन, वेदान्त तथा भाग्यवादिता एवं षट् दर्शन, आर्यावर्त में आर्यों का आगमन आदि का भी तर्कपूर्ण पर्यवेक्षण किया गया है। नवम् अध्याय में ज्ञान, अज्ञान मुक्ति आदि का वर्णन है। दशम अध्याय में नैतिक-अनैतिक की परिचर्चा, खाद्य एवं अखाद्य वस्तुओं का वर्णन तथा विदेश-यात्रा, अन्तर्जातीय भोजन आदि पर प्रकाश डाला गया है। ग्यारहवें अध्याय में भारत में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायों का वर्णन एवं खण्डन किया गया है। बारहवें अध्याय में नास्तिकतावाद, बौद्ध एवं जैन दर्शन, चार्वाक, पशुबली आदि की आलोचना प्रस्तुत हुई है। तेरहवें अध्याय में ईसाई धर्म की परिचर्चा एवं उसका खण्डन किया गया है। चौदहवें अध्याय में इस्लाम एवं कुरान की आलोचना प्रस्तुत की गयी है। इन अन्तिम दो अध्यायों को जिनमें ईसाई धर्म तथा इस्लाम की आलोचना समाहित है स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश के द्वितीय संस्करण में संलग्न किया है। इन अध्यायों को स्वामी दयानन्द ने ईसाई मिशनरियों तथा मुस्लिम मौलवियों द्वारा हिन्दू धर्म की निरन्तर भर्त्सना करने वाली पुस्तकों के प्रतिकार स्वरूप लिखा था।[4]

स्वामी दयानन्द द्वारा विरचित अन्य ग्रन्थ थे—संस्कार-विधि, आर्याभिविनय, आर्योद्देश्य-रत्नमाला, व्यवहार-भानु, अष्टाध्यायी भाष्य, संस्कृत-वाक्य-प्रबोध, वेदान्त ध्वांति निवारण, गोकरुणानिधि, पंचमहायज्ञ-विधि, भ्रांति-निवारण, भ्रमोच्छेदन, वेद-विरुद्ध-मतखण्डन, शिक्षापत्री-ध्वांति-निवारण, काशी-शास्त्रार्थ, सत्यधर्म-विचार, वेदांग-प्रकाश आदि। उन्होंने अपनी स्वयं की मान्यताओं को सत्यार्थ प्रकाश के अन्त में 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' नामक शीर्षक से प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार स्वामी दयानन्द का वाङ्मय प्रमुखतः धार्मिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन में पूर्ण है। किन्तु उनके द्वारा समय समय पर दिये गये वक्तव्य एवं सत्यार्थ-प्रकाश का षष्टम अध्याय उनके स्पष्ट राजनीतिक चिन्तन को प्रस्तुत करते हैं। उनकी रचनाओं का मूल आदर्श देशभक्ति एवं राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत है।

स्वामी दयानन्द के राजनीतिक विचार

स्वामी दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक विचार सर्वथा भारतीय अध्ययन-परम्परा का निर्वाह करते हैं। उन्होंने राजनीतिक अन्वेषण की पाश्चात्य परम्परा के असदृश अपने विचारों को कतिपय पूर्वाग्रहों पर आधित किया। वे वेदों को मानवीय सभ्यता का मूल आधार मानते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि वेद अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरकृत है। ईश्वर ही शासन व्यवस्था का दाता है अत ईश्वर-प्रदत्त शासन व्यवस्था ही जो कि वेदों से निसृत हुई है, वही मान्य है। वे राजनीति को वेद-प्रदत्त शास्त्र के रूप मे मानते थे। अपने अन्य विचारो के समान राजनीतिक विचारो का भी वेद-सम्मत दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए स्वामी दयानन्द ने सायण तथा महिधर के वेदभाष्यों को प्रमाण्य घोषित किया। सायण तथा महिधर के भाष्यो के परम्परागत, रूढ़िवादी दृष्टिकोण को स्वामी दयानन्द ने नकारा, क्योंकि वे वेदो की प्रगतिशील एव वैज्ञानिक व्याख्या के लिए कृतसंकल्प थे। उनकी सर्वथा नवीन एव वैज्ञानिक वैदव्याख्या ने उनके राजनीतिक विचारों को नवीन परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत करने मे सहायता दी।[5] उन्होंने ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका तथा ऋग्वेद-भाष्य में वेदकालीन राजनीतिक व्यवस्था एव चिन्तन को प्रस्तुत करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि परम्परागत वेदभाष्यों मे वर्णित वैदिक देवी-देवताओ जैसे इन्द्र, वरुण, अग्नि, मरुत, सूर्य आदि को देवता मानना अज्ञान है एव वेदों की अतार्किक व्याख्या करना है। स्वामी दयानन्द के अनुसार ये देवी-देवता न होकर शासन के प्रकार है तथा इनके तात्त्विक गुणधर्म से इनकी व्याख्या होनी चाहिए, न कि देवताओं के रूप मे इनकी पूजा-अर्चना आदि से।[6] इस सन्दर्भ मे विमानविहारी मजूमदार ने यह मत व्यक्त किया है कि स्वामी दयानन्द वास्तव मे राजनीतिक विचारो के व्यक्ति थे। आधुनिक समय में उन्होंने ही सर्वप्रथम आर्यों की राजनीति का विशद चित्रण प्रस्तुत किया है। वेदो, ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों एव धर्मशास्त्रो से चुने हुए उद्धरणों के आधार पर उन्होंने भारत की प्राचीन राजनीतिक विचारावली को पुनर्प्रकाशित कर दिया। प्राचीन भारतीय राजनीति के अन्वेषकों में स्वामी दयानन्द का नाम अग्रणी रहेगा।[7]

स्वामी दयानन्द के राजनीतिक विचारो में राज्य को एक विकसित एवं लोकहितकारी सस्था के रूप में देखा गया है। उन्होंने राज्य की उत्पत्ति, उसका विकास तथा राज्य की स्थापना सम्बन्धी विचारों में अपना समय नहीं लगाया। वे राज्य को सकारात्मक अर्थों मे स्वीकार करते हुए उसे मानव-जीवन के पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति का साधन मानते हैं। राज्य इहलोक एव परलोक दोनो की साधना का माध्यम है। विमानविहारी मजूमदार के अनुसार स्वामी दयानन्द ने राज्य के उद्देश्यों को जितना व्यापक स्वरूप दिया है वैसा प्राचीन, मध्यकालीन एव आधुनिक समय के किसी भी अन्य राजनीतिक विचारक ने नहीं किया।[8]

स्वामी दयानन्द ने राज्य को समुदायों का समुदाय कहा है। उनके विचार आधुनिक समय के बहुलवादियो के पूर्वगामी दिखाई देते हैं। वे राज्य को एक महत्वपूर्ण समुदाय मानते हुए भी उसे एकमात्र महत्त्वपूर्ण सामाजिक सस्था नहीं मानते थे। वे राज्य के साथ ही साथ तीन अन्य समुदायों का भी उल्लेख करते हैं। पहला राजनीतिक समुदाय, दूसरा कला एव विज्ञान सम्बन्धी समुदाय तथा तीसरा धर्म एव नैतिकता सम्बन्धी

समुदाय। अपने इन विचारों को स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश में ऋग्वेद के तृतीय मंडल में सूक्त 38 की व्याख्या करते हुए इस प्रकार व्यक्त किया है :

"ईश्वर उपदेश करता है कि राजा और प्रजा के पुरुष मिल कर सुख-प्राप्ति और विज्ञान वृद्धि कारक राजा-प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में तीन सभा अर्थात् विद्यार्य्य सभा, धर्मार्य्यसभा, राजार्य्यसभा नियत करके बहुत प्रकार के समग्र प्रजा सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को सब ओर से विद्या स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलङ्कृत करें।"[9]

उनके अनुसार विद्वान् एव प्रतिभाशाली व्यक्तियों को कला एव विज्ञान अकादमियों के लिए निर्वाचित किया जाये। विद्वान् तथा पवित्र व्यक्तियों को धर्म-अकादमी के लिये चुना जाये तथा प्रसिद्ध एव पवित्र व्यक्तियों को राज्य सभा के लिये चुना जाये। इस प्रकार वे सच्चरित्र एव विद्वान् व्यक्तियों को ही राज्य, धर्म, कला, आदि का कार्य सौंपना चाहते थे। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि स्वामी दयानन्द ने उन्हें 'नियुक्त' करने के स्थान पर 'निर्वाचित' करने का आग्रह किया है। यह अपने आप में उनके लोकतान्त्रिक विचारों एव स्वातन्त्र्य प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण है। साथ ही साथ स्वामी दयानन्द ने राज्य के समस्त क्रियाकलापों के लिए इन तीनों सभाओं या अकादमियों का समर्थन आवश्यक माना है। तीनों सभाएं पारस्परिक रूप से सम्बन्धित होते हुए भी अपने व्यष्टिगत कार्यों के लिए आत्म-निर्भर एव स्वतन्त्र रखी गयी हैं। राज्य तथा अन्य समुदायों में पारस्परिक सहयोग को मान्यता प्रदान कर उनके विरोध को यथासम्भव दूर रखने का प्रयास किया गया है। राज्य के स्वरूप की आंगिक एकता को स्वामी दयानन्द ने स्वीकार किया है। यजुर्वेद के उस श्लोक[10] को जो कि प्राय: अन्य विद्वानों द्वारा वर्ण-व्यवस्था के अर्थ में प्रस्तुत किया जाता है, स्वामी दयानन्द ने राज्य की आंगिक सम्बद्धता के सन्दर्भ में देखा है। वे लिखते हैं कि ईश्वर द्वारा रचित सृष्टि में जो मुख के सदृश उत्तम हो वह ब्राह्मण है, बल-पराक्रम जिसमें अधिक हो वह क्षत्रिय, जो पदार्थों एव क्रय-विक्रय में चातुर्य रखता हो वह वैश्य तथा जो मूर्खतादि गुणवाला हो वह शूद्र है। निराकार होने से जब परमेश्वर के मुखादि अंग होते ही नहीं हैं तो मुख-आदि से जातियों का उत्पन्न होना असम्भव है।[11]

स्वामी दयानन्द के विचारों में शासन के प्रकारों के सन्दर्भ में एक विरोधाभास यह दृष्टिगोचर होता है कि जहां अन्य लोगों द्वारा वैदिक काल में राजतन्त्र को एक मान्य शासन-व्यवस्था के रूप में प्राय. स्वीकार किया गया है वहां स्वामी दयानन्द राजतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्र की उपस्थिति का बोध कराते हैं।[12] उनके अनुसार प्राचीन समय में भी एक व्यक्ति के शासन को भारत में कभी उचित नहीं स्वीकार किया गया था। इस प्रकार राजतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्र की महत्ता को स्थापित करने का प्रयास स्वामी दयानन्द के राजनीतिक विचारों की विशेषता है और उनकी पूर्वाग्रह-चेष्टा भी।[13] यह मानने में अस्वीकृति नहीं हो सकती कि भारत में राजतन्त्र एक पूर्ववैदिक कालीन संस्था के रूप में मान्य रहा है।[14] गणतन्त्र तथा गणाधिपति की स्थिति जिसको स्वामी दयानन्द का विशेष समर्थन प्राप्त रहा, एक उत्तरवैदिक कालीन संस्था के रूप में मान्य है। उत्तर वैदिक-कालीन सभा तथा समितियों का उल्लेख स्वामी दयानन्द के राजनीतिक विचारों में पुनः उद्भासित हुआ है। वे राजा द्वारा विभिन्न सभाओं के सहयोग से शासन-कार्य सम्पादित करने

का उल्लेख करते हैं। जनता को राजा तथा सभाओं के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति दी गयी है। ये शक्ति-पृथक्करण, अवरोध एवं सन्तुलन को मान्यता नहीं देते। शक्ति के पारस्परिक द्वन्द्व का निराकरण करने का अधिकार राजा या अध्यक्ष को न देकर उन्होंने परिव्राजकों या सन्यासियों को दिया है। सन्यासियों को इस प्रकार की शक्ति से युक्त करने का कारण उनकी निष्पक्षता, निष्कपटता एवं ज्ञान आदि गुण हैं। इतना ही नहीं, स्वामी दयानन्द ने विधि की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए भी यह माना है कि यदि विधि का निर्माण करने वाले अयोग्य, अज्ञानी तथा वेदों के ज्ञान से रहित हों तो उनकी आज्ञाओं की तथा ऐसे लोगों द्वारा निर्मित विधि की अवहेलना धर्म संगत है। उनके द्वारा कानूनों के निर्माताओं के वेद-विरुद्ध आचरण पर उनकी अवज्ञा एक महान् राजनीतिक क्रांति का बोध कराती है।[15] बिमानबिहारी मजूमदार ने स्वामी दयानन्द के इन विचारों को सविनय अवज्ञा आन्दोलन एवं असहयोग आदोलन का मार्ग-दर्शक माना है। आर्य-समाज के समर्थकों का अंग्रेजी शासन से विरोध स्वामी दयानन्द के इन राष्ट्रीय विचारों का प्रतिफल है।[16]

स्वामी दयानन्द ने अपने राजनीतिक विचारों को अधिकतर मनुस्मृति पर अवस्थित किया है किन्तु उनकी व्याख्या अधिक तथ्यपूर्ण एवं आधुनिक है। वे राजा के दैवी अधिकारों को कदापि स्वीकार नहीं करते। उनके विचारों में राजा की स्थिति चुने हुए अध्यक्ष के समान है। उन्होंने धर्मतन्त्र का कहीं भी अनुसरण नहीं किया।[17]

स्वामी दयानन्द ने विधि अथवा दंड को प्रमुखता दी है। मनुस्मृति से उद्धरित श्लोकों के आधार पर उन्होंने लिखा है कि दंड ही राजा तथा शासन कर्त्ता है और वही चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्मों को प्रतिभूत करता है। कानून ही धर्म है तथा दंड एवं कृष्णवर्ण रक्तनेत्र भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करने वाला है। दंड तेजोमय है और उसको अविद्वान्, अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता। यदि राजा अधर्मात्मा हो तो दंड उस राजा को कुटुम्ब सहित नाश कर देता है।[18] पापयुक्त, मूढ़ एवं विषयी राजा न्याय पूर्वक दंड संचालन में कभी समर्थ नहीं हो सकता। प्रजापालन करना ही राजाओं का परमधर्म है।[19] राजा को पक्षपात रहित होकर न्याय करना चाहिए। पिता, आचार्य, मित्र, स्त्री, पुत्र और पुरोहित ही क्यों न हो ये सब स्वधर्म में स्थित न रहने पर राजा द्वारा दण्ड्य हैं। इसी प्रकार राजा भी स्वधर्मच्युत होने पर दंड का भागी हो जाता है। स्वामी दयानन्द ने राजा के सन्दर्भ में अत्यधिक कठोर दंड की व्यवस्था निर्धारित की है। उनकी व्याख्या के अनुसार जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक भाग दंड हो तो उसी अपराध में राजा पर सहस्रगुण अर्थात् हजार गुना दंड होना चाहिए।[20] मन्त्री को आठ सौ गुना और उससे छोटे राज्याधिकारी को उससे कम। इस प्रकार कम होते होते चपरासी तक दंड का अनुपात आठगुना रखा गया है। कारण यह दिया गया है कि यदि राजपुरुषों को प्रजा-पुरुषों से अधिक दंड न दिया गया तो वे प्रजा के नाश के लिए उद्यत हो जायेंगे। जैसे "सिंह अधिक और बकरी थोड़े दंड से ही वश में आ जाती है" उसी प्रकार राज पुरुषों को अधिक दंड से नियन्त्रित किया जाये।[21] इसी प्रकार से चोरी जैसे साधारण अपराध में भी शूद्र को चोरी से आठ गुना, वैश्य को सोलह गुना, क्षत्रिय को बत्तीस गुना, ब्राह्मण को चौसठ गुना, सौगुना या एक सौ अट्ठाइस गुना दंड मिलना चाहिए। स्वामी दयानन्द के अनुसार जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक

हो उसको अपराध की स्थिति मे उतना ही अधिक दंड दिया जाना चाहिए।[22]

शासन के विकेन्द्रीकरण के प्राचीन मनुस्मृति-सम्मत मत का अनुसमर्थन करते हुए स्वामी दयानन्द ने व्यक्त किया है कि राजा तथा राज्य-सभा अपने राज-कार्य की सिद्धि करने के लिए ' दो, तीन, पाच और सौ ग्रामो के बीच एक राज्य-स्थान रखें, जिसमें यथायोग्य राजकीय कर्मचारी निगरानी के लिए नियुक्त किये जायें। एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधान पुरुष को रखे, उन्हीं दस ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामो के ऊपर तीसरा, उन्ही सौ ग्रामो के ऊपर चौथा और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पाचवा पुरुष रखे अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम मे एक पटवारी, उन्ही दस ग्रामों में एक थाना और दो थानों पर एक बड़ा थाना और उन पाच थानो पर एक तहसील और दस तहसीलों पर एक जिला नियत किया है, यह वही अपने मनु आदि धर्मशास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है।"[23]

स्वामी दयानन्द ने इस शासन-व्यवस्था की कार्य-प्रणाली का उल्लेख करते हुए आगे यह व्यक्त किया है कि "एक-एक ग्राम का पति ग्रामों मे नित्यप्रति जा जो दोष उत्पन्न हो उन-उन को गुप्तता से दस ग्राम के पति को विदित कर दे और वह दस ग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दस ग्रामों का वर्तमान नित्यप्रति बता दे। बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शत ग्रामाधिपति को नित्य प्रति निवेदन करे, वैसे ही सौ-सौ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात हजार ग्रामों के स्वामी को बीस-बीस ग्राम के पाच अधिपति सौ-सौ ग्राम के अध्यक्ष को सहस्र-सहस्र के दस अधिपति दस सहस्र के अधिपति को और दस-दस हजार के दस अधिपति लक्ष (एक लाख) की राज्य-सभा को प्रतिदिन का वर्तमान बतावें। ये सब राज्य-सभा, महाराज-सभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ति महाराज-सभा में सब का वर्तमान बतावें।"[24] न्यायाधीशों के कार्य की जाच पड़ताल के लिए स्वामी दयानन्द ने राज्य-सभा के अतिरिक्त अध्यक्ष द्वारा घूमफिर कर पता लगाने का कार्य सौंपा है। यह राज्यसभासद "जो कि नित्य घूमने का काम करें उसके अन्तर्गत सभी गुप्तचर संस्थाओ को रखा जाये तथा वे गुप्तचर राज्यपुरुषों एव प्रजापुरुषों के साथ सम्बन्ध रखते हो और भिन्न-भिन्न जाति के रखे जायें। इनके द्वारा सब गुणदोषों को गुप्त रीति से जाना जाये तथा अपराधी को दंड और गुणी को सम्मानित किया जाये। राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार दे वे धार्मिक, सुपरीक्षित, विद्वान्, कुलीन हों तथा उनके अधीन प्रायः शठ और पर पदार्थ हरने वाले चोर डाकुओ को भी नौकर रख कर उनको दुष्ट कर्म से बचाने के लिये राज्य के नौकर कर के उनसे प्रजा की रक्षा यथावत् करे। जो राजपुरुष अन्याय से वादी प्रतिवादी मे गुप्त धन लेकर पक्षपात से अन्याय करे उसका सर्वस्वहरण कर यथायोग्य दंड दें।"[25]

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट होता है कि स्वामी दयानन्द राजतन्त्रीय शासन के स्थान पर गणतंत्रीय शासन-व्यवस्था के पोषक थे। वे शक्ति पृथक्करण के स्थान पर शासन के कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सम्बन्धी कार्यों में सामंजस्य चाहते थे। वे न्यायपालिका को भी स्वतन्त्र आचरण के लिए न छोड़ कर उस पर भी शासन की दृष्टि रखना चाहते थे, ताकि भ्रष्ट न्यायाधीशों को देश निष्कासन दिया जा सके। शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को मिटाने के उनके सुझाव आधुनिक समय के भ्रष्टाचार निरोधक विभाग के समान

दिखाई देते हैं।[26]

स्वामी दयानन्द ने केवल शासन के प्रकार एवं राज्य व्यवस्था का सैद्धान्तिक आधार ही प्रस्तुत नहीं किया अपितु उन्होंने शासन के आन्तरिक एवं बाह्य कार्यों का भी विशद वर्णन आर्ष ग्रन्थों के आधार पर सत्यार्थ प्रकाश में प्रस्तुत किया है। वे वर्ण-व्यवस्था के कर्म की दृढ़ता से क्रियान्वित करना राज्य का आवश्यक कार्य मानते हैं। यदि उच्च परिवार में उत्पन्न बालक की चेष्टाएं शूद्रों जैसी हैं तो उसे शूद्र का ही कार्य करना होगा। यदि माता-पिता के एक ही सन्तान हो और वह सन्तान भी अयोग्य निकल जाये तो राज्य द्वारा उन्हें दूसरी योग्य सन्तान दे दी जायेगी। स्वामी दयानन्द के इस मत का यह तात्पर्य है कि वे राज्य-नियन्त्रित व्यवसायात्मक बालशिक्षा का समर्थन करते हैं जैसा कि आधुनिक समय में सोवियत रूस ने किया है। किन्तु भारत जैसे देश में जहां जनसंख्या का अनुपात वृहद् है स्वामी दयानन्द का यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। यह इस कारण से भी सम्भव प्रतीत नहीं होता कि भारत में सम्पत्ति का समान वितरण नहीं है। स्वामी दयानन्द ने सम्पत्ति के समान वितरण पर अपना विचार व्यक्त नहीं किया है। वे सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार करते हैं और यह भी व्यक्त करते हैं कि पूंजीपतियों को सम्पत्ति का उपयोग सामाजिक शोषण के लिए न करने दिया जाये किन्तु इससे अधिक और अन्य व्यवस्था उन्होंने व्यक्त नहीं की है।[27]

उनके राज्य दर्शन विषयक लेखन में देश की सुरक्षा को अतीव महत्त्व दिया गया है। वे एक सुनियोजित एवं सुसंगठित सेना को राज्य की रक्षा का आवश्यक अंग मानते हैं। सेना के तीनों अंगों अर्थात् थल-सेना, नौ-सेना तथा नभ-सेना का उल्लेख उन्होंने मनुस्मृति के आधार पर किया है। व्यूहनीति तथा सेना के संभार तन्त्र की चर्चा उनकी व्याख्या को अधिक महत्त्वपूर्ण बना देती है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि उन्हें आधुनिक रणनीति का भी पूर्ण ज्ञान था।[28] वे समस्त नागरिकों को भी आवश्यक सैन्यशिक्षण देने के पक्षपाती हैं। देश की सुरक्षा तथा राष्ट्रीय धन-संपदा की वृद्धि ये दोनों ही राज्य के आवश्यक कार्यों की सूची में मूर्धन्य रखे गये हैं।[29] उनका राज्य-सम्बन्धी विचार एवं पुलिस-राज्य की कल्पना पर आधारित न होकर पूर्णतया लोक-कल्याणकारी है। राज्य के कार्यों में अनाथ,अपाहिज एवं समाज के निम्न वर्ग के व्यक्तियों के संरक्षण का समावेश उनके राज्य सम्बन्धी विचारों को यथार्थ के निकट ले आता है।

स्वामी दयानन्द के राजनीतिक विचारों में चाणक्य की सी शक्ति है। वे शक्ति-राजनीति से भी दूर नहीं। उन्होंने अपने राजनीतिक विचारों में जहां नैतिकता एवं सत्य को राजनीति एवं शासन-व्यवस्था का मापदण्ड माना है वहीं कूटनीति के सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए दुष्टों, आततायियों तथा विदेशी आक्रामकों को समाप्त करने के लिए असीमित शक्ति के प्रयोग की स्वीकृति भी दी है। युद्ध में हिंसा के महत्त्व को पूर्णतया आत्मसात् करते हुए उन्होंने यह भी मत, मनुस्मृति के आधार पर, व्यक्त किया है कि आवश्यकता पड़ने पर दुश्मन की खाद्य सामग्री को तथा उसके जलाशयों को विषाक्त कर नष्ट कर देना चाहिए। यही नहीं, अपितु हर प्रकार की रीति-नीति अपना कर दुश्मन को सदा के लिए समाप्त करना उन्होंने उचित माना है। एक सन्यासी होकर भी राष्ट्र की रक्षा का जैसा सच्चा दायित्व यथार्थपूर्ण व्यवहार से स्वामी दयानन्द ने दर्शाया है वह

अपने आप मे उनकी राष्ट्रीय विचारधारा एव देशभक्ति का ज्वलंत उदाहरण है। एक तत्वज्ञानी, दार्शनिक, मानवता के सेवी का यह यथार्थपूर्ण राजनीतिक दायित्व भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। इसी कारण से स्वामी दयानन्द ने विदेशी सस्कृति एव विदेशी धर्मों का भारत मे प्रतिकार प्रस्तुत किया।

स्वामी दयानन्द के राजनीतिक विचारो का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि वे कोरे सन्यासी ही नहीं थे अपितु एक महान् समाज-सुधारक तथा कट्टर देशभक्त भी थे। उनकी कृतियो एव भाषणो मे उनका देशाभिमान झलकता है। ब्रिटिश शासन की जकड मे फसे हुए भारत मे स्वामी दयानन्द, उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज तथा उनके अनुयायियो ने देशसेवा का जो व्रत निभाया वह विस्मृत नही किया जा सकता। इन्होने अपने समय मे देशी रियासतो के राजा-महाराजाओ को जागृत करने का प्रयास भी राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर किया। उनकी राष्ट्रीय विचार-धारा का उदाहरण उनका हिन्दी प्रेम भी था। ऐसे समय मे जब हिन्दी को अपनी मान्यता स्थापित करने के लिए सघर्ष करना पड रहा था, स्वामी दयानन्द ने गुजराती भाषी होते हुए भी अपने भाषण तथा कृतियाँ सस्कृत-हिन्दी मे लिखवायी। वे हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा मानते थे। हिन्दी भाषा के अलावा उनका स्वदेशी प्रेम भी असीमित था। उन्ही के प्रयत्नो से उनके शिष्यों ने जिनमें भारत के कई बडे राजा-महाराजा आदि थे, विदेशी वस्त्रों को त्याग कर हाथ का बुना हुआ स्वदेशी वस्त्र पहनना प्रारम्भ किया।

स्वामी दयानन्द के राजनीतिक विचारो से निसृत राष्ट्रीय विचारधारा ने उनके कार्यक्रम के प्रति ब्रिटिश शासन को असमंजस मे डाल दिया। वेलेन्टीन शिरोल ने स्वामी दयानन्द को 'एक सिद्धहस्त राजनीतिज्ञ तथा अंग्रेजी शासन को अन्दर से उखाड़ने मे प्रयत्नशील' की सज्ञा दी। शिरोल की यह धारणा थी कि स्वामी दयानन्द के विचार हिन्दूधर्म को सुधारने से अधिक विदेशी शासन के विरुद्ध दृढ़ प्रतिरोध उत्पन्न करने वाले थे। स्वामी दयानन्द के अवसान के पश्चात् भी ब्रिटिश शासन का रवैया आर्यसमाज-विरोधी ही रहा। आर्यसमाज के कई प्रमुख नेताओ को जिनमे अजीतसिंह तथा लाला लाजपतराय प्रमुख थे अपने राष्ट्रीय विचारो के कारण ब्रिटिश शासन का कोपभाजन बनना पड़ा।

उनके राजनीतिक विचारों का आधार उनकी भारत के महान् अतीत मे आस्था एवं पुनर्म्युदयवादी मान्यता थी। उनका मत था कि स्वयम्भू मनु के समय से महाभारत-काल तक भारत एक विश्वशक्ति के रूप मे रहा था। किन्तु पारस्परिक द्वेष, अज्ञान, अशक्ति एवं विलासिता के कारण भारत की स्वतन्त्रता का लोप होता चला गया। वे विदेशी शासन को, चाहे वह कितना ही उन्नत एवं सुसभ्य क्यों न हो और कितना ही धर्म-निरपेक्ष एव दयालुता पर आधारित हो, लोक-दुख का निवारक नहीं मानते थे। उनके द्वारा विदेशी शासन की समय समय पर अवमानना के कारण एक हिन्दू सन्यासी अल्लाराम ने उनके विरुद्ध देशद्रोह का आरोप इलाहाबाद न्यायालय में दर्ज करवाया। किन्तु अंग्रेज न्यायाधीश ने दूसरा ही मत लिया और यह निर्णय दिया कि स्वामी दयानन्द के प्रवचन सुधारात्मक थे तथा उनका प्रचार हिन्दुओं को स्वयं की स्वशासन अयोग्यता का आभास कराना था।

भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के सम्बन्ध मे स्वामी दयानन्द को पूर्ण आत्मविश्वास

था। वे जानते थे कि अंग्रेजी शासन अपनी दमनात्मक नीति एवं मदोन्मत्तता के कारण भारत में अधिक समय नहीं चल सकेगा। इस सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द ने व्यक्त किया था कि,

"सृष्टि से ले के पांच सहस्र वर्षों से पूर्व समय-पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे-छोटे राजा रहते थे क्योंकि कौरव पाण्डव-पर्यन्त यहां के राज्य और राज शासन में सब भूगोल के सब राजा और प्रजा चले थे, क्योंकि यह मनुस्मृति जो कि सृष्टि की आदि में हुई है उसका प्रमाण है। इसी आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों से भूगोल के मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि सब अपने अपने योग्य विद्या चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करते और महाराजा युधिष्ठिर जी के राजसूययज्ञ और महाभारत युद्ध पर्यन्त यहां के राज्याधीन सब राज्य थे। सुनो! चीन का भगदत्त, अमेरिका का बब्रुवाहन, यूरोप देश का विडालाक्ष अर्थात् मार्जार के सदृश आंख वाले, यवन जिसको यूनान कह आये और ईरान का शल्य आदि सब राजा राजसूय यज्ञ और महाभारत युद्ध में सब आज्ञानुसार आये थे। जब रघुगण राजा थे तब रावण भी यहां के आधीन था। जब रामचन्द्र के समय में विरुद्ध हो गया तो उसको रामचन्द्र ने दण्ड देकर राज्य से नष्ट कर उसके भाई विभीषण को राज्य दिया था।"

इस सम्बन्ध में आगे विचार व्यक्त करते हुए स्वामी दयानन्द ने दर्शाया है :

"स्वायंभुव राजा से लेकर पाण्डव पर्यन्त आर्यों का चक्रवर्ती राज्य रहा। तत्पश्चात् आपस के विरोध से लड़ कर नष्ट हो गये, क्योंकि इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है तब आलस्य, पुरुषार्थरहितता, ईर्ष्या-द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्या सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं, जैसे मद्य, मांस-सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचारिता-दोष बढ़ जाते हैं। और जब युद्ध-विभाग में युद्ध-विद्या-कौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना करने वाला भूगोल में दूसरा न हो तब उन लोगों में पक्षपात अभिमान बढ़ कर अन्याय बढ़ जाता है। जब ये दोष हो जाते हैं तब आपस में विरोध होकर अथवा उनसे अधिक दूसरे छोटे कुलों में से कोई ऐसा समर्थ पुरुष खड़ा होता कि उनको पराजय करने में समर्थ होवे, जैसे मुसलमानों की बादशाही के सामने शिवाजी, गोविन्दसिंहजी ने खड़े होकर मुसलमानों के राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया।"[30]

उपर्युक्त उद्धरण के सम्बन्ध में विमानबिहारी मजूमदार ने व्यक्त किया है कि यद्यपि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत भारतीय इतिहास की सतरहवीं शताब्दी का उल्लेख त्रुटिपूर्ण है किन्तु उनके इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे अप्रत्यक्ष रूप से भारत में अंग्रेजी शासन की समाप्ति का आह्वान कर रहे थे।[31]

स्वामी दयानन्द के सामाजिक विचार

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश में चार आश्रमों अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास सम्बन्धी विवेचन में अपने सामाजिक विचारों को प्रकट किया है।[32] वे समाज तथा सरकार के कार्य-क्षेत्र में कोई अन्तर नहीं स्वीकार करते। सामाजिक

व्यवस्था को उन्होंने शासन-व्यवस्था का ही अंग माना है तथा दोनों के क्रिया-कलाप अन्योन्याश्रित रखे हैं। समाज के चार वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र शासन द्वारा नियमित किये जायें तथा राज्य यह देखे कि सब अपने अपने उत्तरदायित्वों का वहन ठीक से करते रहें।[33] इस प्रकार राज्य-व्यवस्था पर सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति रखकर उन्होंने राज्य का कार्यक्षेत्र असीमित बना दिया है। अपने राष्ट्रीय राज्य-सम्बन्धी विचारों के अन्तर्गत वे विवाहादि कार्य भी राज्य द्वारा निर्देशित एवं संरक्षित मानते हैं। बाल-विवाह, बहुपतिप्रथा तथा बहुपत्नीप्रथा सब पर राज्य को अंकुश लगाने का अधिकार स्वीकार किया गया है ताकि समाज में व्याप्त कुरीतियां एवं अन्धविश्वास समाज, शासन तथा राज्य को जर्जरित एवं दुर्बल न बना दें। इस सन्दर्भ में स्वामी दयानन्द ने पुरुषों के लिये विवाह की आयु कम से कम पच्चीस तथा सर्वाधिक उपयुक्त आयु अड़तालीस वर्ष की रखी है। स्त्रियों के लिए विवाह-योग्य आयु कम से कम सोलह तथा अधिक से अधिक चौबीस वर्ष की रखी है।[34] बिमानबिहारी मजूमदार ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि भारत में विवाह की आयु को वयस्कता का आधार दिलाने का श्रेय बी एम मलाबारी को दिया जाता है जिनका एतद् सम्बन्धी लेख 1884 में अर्थात् स्वामी दयानन्द की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ।[35] स्पष्ट है कि इस कार्य का श्रेय स्वामी दयानन्द को सर्वप्रथम प्राप्त हुआ है क्योंकि उन्होंने **सत्यार्थ प्रकाश** में ऐसे विचार पहले ही व्यक्त कर दिये थे। यह स्वामी दयानन्द की दूरदर्शिता एवं आधुनिकता का ज्वलन्त उदाहरण है। उन्होंने सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में जो कार्य किया है, वह अद्वितीय है। विवाह के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द ने विवाह करने वालों की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया है। उनका मत है कि विवाह में योग्य वर तथा कन्या स्वयं स्वतन्त्र निर्णय द्वारा अपने जीवन-साथी का चुनाव करें। माता-पिता द्वारा यदि सम्बन्ध तय किया जाये तो भी वर-कन्या से सम्मति अवश्य ली जाये।[36] स्वामी दयानन्द का यह सुझाव प्रगतिशील था क्योंकि ऐसा करने में दाम्पत्यसूत्र में बंधने वाले वर-वधू का वैवाहिक जीवन अधिक सुखप्रद हो सकेगा। किन्तु उपर्युक्त उदार दृष्टिकोण का यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिए कि स्वामी दयानन्द सहशिक्षा अथवा लड़के-लड़कियों के स्वतन्त्र-मिलन में विश्वास रखते थे। उन्होंने ऐसी किसी भी उच्छृंखलता को स्वीकार नहीं किया है।[37] वे विवाह के पहले लड़के या लड़की में किसी प्रकार का वार्तालाप भी अमान्य ठहराते हैं। इसी तरह उन्होंने विधवा-विवाह को भी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों के लिए अमान्य ठहराया है। विधुर पुरुष एवं विधवा स्त्री के मध्य सन्तान-प्राप्ति के लिए उन्होंने ऋग्वेद के आधार पर नियोग-पद्धति को स्वीकार किया है।[38]

स्वामी दयानन्द के सामाजिक विचारों में अत्यधिक क्रांतिकारी विचार शूद्रों अर्थात् *दलितजातियों के उत्थापन से सम्बन्धित थे।* उन्होंने वर्ण को जन्म के आधार पर न मान कर कर्म के आधार पर स्वीकार किया और यह विचार प्रकाशित किया कि शूद्र वेदाभ्यास का उसी प्रकार अधिकारी है जैसे कि अन्य वर्ण। शूद्रों के उत्थान के लिए उन्हें वेदोक्त संस्कारों से युक्त करने तथा उन्हें हिन्दू-समाज में प्रतिष्ठित पद दिलाने का उनका प्रयास अत्यन्त प्रशंसनीय रहा है। अछूतों के प्रति भारतीय जनमानस की भावनाओं को उन्होंने परिवर्तित कर दिया और स्वयं दलितजातियों के सम्पर्क में आये और उनके हाथ से भोजन

बलादि ग्रहण किया। यह स्वामी दयानन्द के समय की महान् क्रान्तिकारी घटना थी। इस कारण स्वामी दयानन्द को कटुतम आलोचना का विषय बनना पड़ा किन्तु वे दृढ़-प्रतिज्ञ रहे। महात्मा गाँधी ने स्वामी दयानन्द की प्रशंसा करते हुए उनके अछूतोद्धार के कार्य को महान् योगदान के रूप में माना है।[39]

स्वामी दयानन्द के धार्मिक विचार

स्वामी दयानन्द चारों वेदों को स्वतः प्रमाण मानते थे। उनके अनुसार वेदों को स्वयं ईश्वर ने प्रणीत किया है। ईश्वर या ब्रह्म या परमात्मा सच्चिदानन्द-स्वरूप है। ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं। वह सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सर्वसृष्टि का कर्ता, धर्ता, हर्ता, जीवों को कर्मानुसार सत्य-न्याय से फल देने वाले लक्षणों से युक्त, परमेश्वर है। इसके विपरीत इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य 'जीव' है। जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न व्याप्य-व्यापक भाव और साधर्म्य से अभिन्न है। जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक और पिता-पुत्र आदि सम्बन्धों से युक्त माना गया है। ईश्वर, जीव तथा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण ये तीनों "अनादि पदार्थ" हैं। इन्हीं तीनों को नित्य कहा गया है और इनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं।[40]

स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा का प्रबल खंडन किया है। उनका यह मत था कि जब परमेश्वर निराकार और सर्वव्यापक हैं तब उसकी मूर्ति कैसे बन सकती है। यदि मूर्ति के दर्शन मात्र से परमेश्वर का स्मरण होता है तो परमेश्वर के बनाये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि अनेक पदार्थ परमेश्वर रचित महामूर्तियाँ हैं जो उन पाषाणादि मूर्तियों से श्रेष्ठ हैं और उनसे परमेश्वर का सही स्मरण होता है। पाषाणादि मूर्तियों के पूजक कुकर्म करने में इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि उनका विश्वास है कि यदि मूर्ति उनके सामने नहीं है तो उनको कोई नहीं देख रहा। किन्तु जो पाषाणादि मूर्तियों को नहीं मानता वह सर्वदा सर्व-व्यापक, सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी परमात्मा को सर्वत्र मानता है और इस कारण से क्षणमात्र भी परमात्मा से अपने को पृथक् न जानते हुए किसी भी प्रकार की कुचेष्टा या कुकर्म नहीं करता। क्योंकि वह जानता है कि यदि उसने मन, वचन और कर्म से कोई भी पाप किया तो उस अन्तर्यामी के न्याय से बिना दण्ड पाये नहीं बच सकता। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने जीव को चेतन तथा मूर्ति को जड़ मानते हुए मूर्ति-पूजा को पाखंड सिद्ध किया और उसे जैनियों द्वारा चलाया गया पाखंडकार्य बताया।[41] स्वामी दयानन्द ने हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों को अधार्मिक एवं वेद-विरुद्ध सिद्ध किया। इस सन्दर्भ में उन्होंने स्वामी नारायण, वल्लभसम्प्रदाय, वाममार्ग, जैन, सिख, बौद्ध आदि मतों की भर्त्सना की तथा इनमें व्याप्त पाखंडों के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित किया। सत्यार्थ प्रकाश में स्वामी दयानन्द ने ईसाई धर्म तथा इस्लाम की अधिकतर मान्यताओं को अतार्किक, विवेकशून्य, अर्धविकसित एवं अन्यायपूर्ण सिद्ध किया है।[42]

वे पक्षपातरहित, न्यायाचरण, सत्यभाषण तथा वेदों से अविरुद्ध कर्म को 'धर्म'

मानते थे तथा इसके विपरीत कर्म को 'अधर्म'। सर्व दुःखों से मुक्त, बन्धन-रहित हो सर्व-व्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरण तथा नियत समयपर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग कर पुनः संसार में आना ही मुक्ति है। उनके अनुसार ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि मुक्ति के साधन हैं। वे प्रारब्ध से पुरुषार्थ को अधिक महत्त्व देते थे क्योंकि पुरुषार्थ से ही सचित प्रारब्ध बनते हैं या बिगड़ते हैं। उनके अनुसार विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्माजन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रतपति का सत्कार करना ही सच्ची देव-पूजा है। सत्यभाषण, विद्या, सत्संग यमादि योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्यादानादि शुभ कर्म ही तीर्थ हैं न कि जलस्थलादि से सम्बन्धित तीर्थ-यात्रा धाम। ईश्वर निराकार है अन्यथा वह व्यापक नहीं हो सकता। यदि ईश्वर साकार हो तो उनके अवयवों को बनाने वाला दूसरा होना चाहिए। यदि कोई स्वेच्छा से भी ईश्वर को स्वयम्भू अर्थात् आप ही आप शरीर बना लिया ऐसा माने तब भी यही सिद्ध होता है कि शरीर के बनने से पूर्व ईश्वर निराकार था। इसलिए परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है। परमेश्वर की स्तुति करनी चाहिए किन्तु यह स्तुति, उपासना आदि निर्गुण स्तुति के रूप में हो। स्तुति, उपासना का उद्देश्य परमेश्वर जैसे गुण, कर्म स्वभाव धारण करना है। केवल भजन, कीर्तन, प्रार्थना, नमाज करते रहना और अपना चरित्र नहीं सुधारना सब व्यर्थ हैं।[43]

स्वामी दयानन्द के शिक्षा सम्बन्धी विचार

शिक्षा के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द के विचार प्राचीन वैदिक परम्परा के पोषक हैं। उन्होंने शिक्षा को मानव-जीवन का महत्त्वपूर्ण ध्येय माना है। सत्यार्थ प्रकाश में मनुस्मृति के आधार पर, स्वामी दयानन्द ने व्यक्त किया है "राजा को योग्य है सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रख के, विद्वान् बनावे। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता-पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का या लड़की किसी के घर में न रहने पावे किन्तु आचार्यकुल में रहे।"[44] पुनश्च "संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेदविद्या का दान अति श्रेष्ठ है। इसलिये जितना बन सके उतना प्रयत्न तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि में किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान् होता है।"[45]

उपर्युक्त सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द अनिवार्य शिक्षा के पक्षपाती थे। उनकी कल्पना के शिक्षण संस्थान आधुनिक समय के 'पब्लिक स्कूल्स' जैसे नहीं थे। उन्हें सह-शिक्षा भी पसन्द नहीं थी। वे लड़के तथा लड़कियों दोनों के लिए पृथक् शिक्षण-संस्थान चाहते थे। वे शिक्षण-संस्थानों को गुरुकुल प्रणालि के आधार पर गठित करना चाहते थे जहाँ विद्यार्थियों का रहना आवश्यक था। नगर या ग्राम से कम से कम पाँच मील दूर आवासीय शिक्षण-संस्थानों की स्थापना उनका उद्देश्य था। वे अनुशासन की कठोरता पर अधिकाधिक बल देते थे। इन शिक्षण-संस्थानों में विद्यार्थियों को उनकी शिक्षा पूरी होने तक रखने के पक्षपाती थे। जब तक विद्याभ्यास पूरा न हो जावे; तब तक वे न

सी घर जा सकते हैं और न अपने माता-पिता से पत्र-व्यवहार ही कर सकते है।[46] स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार का कठोर नियन्त्रण इसलिए सुझाया है ताकि विद्याभ्यास के वर्षों में विद्यार्थियो पर किसी भी प्रकार की घरेलू समस्याओं का बोझ न पड़े और साथ ही साथ माँ-बाप के लाड़प्यार का बुरा असर अथवा बुरी संगत का प्रभाव उन पर न हो। इसी प्रकार से गुरुकुल में विद्यार्थियो के पारिवारिक आर्थिक स्तर के आधार पर कोई भेद-भाव न किया जाये। चाहे राजकुमार हो अथवा रंक सब के बच्चो को समान शिक्षा दी जाये ताकि उनमें ऊँच-नीच, गरीब-अमीर का भेद न बने और वे हीनता की भावना से ग्रस्त न हो।[47]

परम्परागत तथा रूढ़ीवादी दृष्टिकोण का त्याग कर स्वामी दयानन्द ने स्त्रियो एव शूद्रो[48] की शिक्षा पर विशेष बल दिया है। स्त्रियों के लिए पुरुषो के समान ही शिक्षा की अनिवार्यता पर विशेष जोर दिया गया है। उनका यह विश्वास है कि भारत में प्रारम्भ से ही स्त्रियो को विदुषी बनाने का क्रम रहा है। मध्यकालीन संस्कृति एव पर्दा-प्रथा के कारण स्त्रियों की शिक्षा मे जो अवनति आई उसका स्वामी दयानन्द ने प्रतिकार किया है। वे चाहते हैं स्त्रियां भी उच्च शिक्षा प्राप्त कर अपने अनुकूल पति का वरण करें। स्त्रियां शिक्षित होगी तो उनकी सन्ताने भी सुशिक्षित होगी और वे गृहस्थाश्रम को आनन्दित बनायेंगी।[49]

पुरुषो के लिये स्वामी दयानन्द ने शिक्षा का कार्यक्रम अधिक विस्तृत एव गहन रखा है। पुरुषो की शिक्षा बाईस वर्ष की रखी गयी है। उनके शिक्षा काल में केवल पुस्तको का अध्ययन मात्र ही अनिवार्य नहीं समझा गया अपितु उनकी शारीरिक एव मानसिक वृत्तियो का विकास भी अनिवार्य माना गया है। योगाभ्यास से शारीरिक बल प्राप्ति एव कला, संगीत आदि से मानस को परिष्कृत करने का प्रबन्ध किया गया है। स्वामी दयानन्द ने संगीत के सभी प्रकारों की शिक्षा मे अनिवार्य स्थान दिया है। संगीत को मन शुद्ध करने का कारक मानते हुए वे सामवेद का सस्वर गायन-वादन पाठ्यक्रम के लिए प्रस्तुत करते हैं। वे विद्यार्थियो द्वारा श्रृंगार रस के गायन का विरोध करते हैं। विद्यार्थियो की सात्विक प्रवृत्ति का विकास एव ब्रह्मचर्य-पालन शिक्षा की अनिवार्य आवश्यकता है। इतना ही नहीं, स्वामी दयानन्द ने पुरुषो के समस्त शिक्षा-काल को अलग-अलग विषयो के अध्ययन के लिये सुनियोजित किया है। सर्वप्रथम पाणिनि की व्याकरण तथा पतञ्जलि का महाभाष्य तीन वर्ष के अन्दर पूरा करने का क्रम निर्धारित किया है। इसके पश्चात् यास्क द्वारा रचित निरुक्त आठ महीने मे, पिंगल का छन्द शास्त्र चार महीने मे, मनुस्मृति, रामायण तथा महाभारत के कतिपय अंश एक वर्ष मे, षट् दर्शन एव दशोपनिषद दो वर्षों मे, चारो वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थ छः वर्षों मे, औषध एव चिकित्सा विज्ञान चार वर्षों मे, संगीत, गणित, ज्यामिती, भूगोल, भूगर्भशास्त्र तथा खगोल शास्त्र तीन वर्षों में और अन्त मे राजनीति शेष दो वर्षों मे पढ़ने पढ़ाने का क्रम निर्धारित किया है। इस शिक्षा के साथ साथ सैनिक शिक्षा भी अनवरत चलाने का क्रम निर्धारित किया गया है जिसके अन्तर्गत समस्त विद्यार्थियो को शारीरिक प्रशिक्षण, शस्त्र-संचालन, रक्षण एव सैन्य नीतियो का ज्ञान आवश्यक है।[50] शिक्षको के लिए भी विद्वत्ता, सच्चरित्रता एव

30 वही, पृ. 259-60
31. देखिए विमान बिहारी मजूमदार पृ. 265
32. सत्यार्थ-प्रकाश, पृ. 43-127
33. वही, पृ. 85
34. वही, पृ. 75
35 देखिये विमान बिहारी मजूमदार पृ 260
36. सत्यार्थ प्रकाश, पृ. 77
37 वही, पृ 85-6
38 वही, पृ 104
39. देखिये विमानबिहारी मजूमदार, पृ. 247
40. सत्यार्थ प्रकाश, पृ. 562-3
41. वही, पृ. 292-3
42. वही
43. वही
44. वही, पृ 71
45. वही
46. वही, पृ. 36
47. वही, पृ 37
48. वही, पृ 51
49. वही, पृ 37
50. वही, पृ 63-6
51. वही, पृ 34

अध्याय 4

स्वामी विवेकानन्द (1863-1902)

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी, 1863 को कलकत्ता के एक सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। उनके पिता कलकत्ता-उच्चन्यायालय में वकालत करते थे। उनकी माता विदुषी एवं हिन्दूधर्म की महत्ता में विश्वास रखने वाली महिला थी। विवेकानन्द पर अपनी माता के सद्गुणों का विशेष प्रभाव पड़ा। उनके पितामह ने पच्चीस वर्ष की अल्प आयु में ही समस्त धन-दौलत का त्याग कर सन्यास ग्रहण कर लिया था।[1] किन्तु इन पारिवारिक प्रभावों से भी बढ़ कर स्वामी विवेकानन्द को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला कारण उनका श्री रामकृष्ण परमहंस का शिष्यत्व था। बंगाल के इस महान् सन्त का शिष्यत्व प्राप्त कर नरेन्द्रनाथ दत्त—स्वामी विवेकानन्द बन गये। वैसे स्वामी विवेकानन्द अपने विद्यालय-जीवन में अत्यन्त मेधावी छात्र के रूप में माने जाते रहे। अपने महाविद्यालय जीवन में स्वामी विवेकानन्द एक अच्छे वक्ता एवं वार्तालापकर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनकी स्मृति विलक्षण थी। उनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उन्हें 'एनसाइक्लोपीडिया-ब्रिटैनिका' के ग्यारह खण्ड कंठस्थ थे।[2] भारतीय संगीत की कंठ एवं वाद्य-विद्याओं में वे सिद्धहस्त थे—यहाँ तक कि उन्होंने भारतीय संगीत के विज्ञान एवं दर्शन पर एक अप्रमाण निबन्ध भी प्रकाशित किया।[3] अपने समय के अनुरूप वे पाश्चात्य विज्ञान, उदारवाद एवं पाश्चात्य समाज की लोकतान्त्रिक मान्यताओं के सम्पर्क में आये। जे० एस० मिल, हीगल, कान्ट के विचारों का अध्ययन उन्होंने किया तथा हर्बर्ट स्पेन्सर के विचारों को पढ़ कर स्पेन्सर से पत्र-व्यवहार किया और उनकी कुछ मान्यताओं की आलोचना भी की। स्पेन्सर स्वामी विवेकानन्द की आलोचना से अत्यधिक प्रभावित हुआ।[4] स्वामी विवेकानन्द ने ब्रह्म-समाज के विचारकों से प्रेरित हो भारत के धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य का भी गूढ़ मथन किया। वे साधारण ब्रह्म-समाज के सदस्य बन गये। किन्तु उनका वैचारिक अन्तर्द्वन्द्व निरन्तर चलता रहा। वे नास्तिकतावाद एवं संशयवाद की ओर प्रवृत्त होने लगे। अपने मित्र बृजेन्द्रनाथ सील के समक्ष उन्होंने अपना संशयवाद प्रकट किया। बृजेन्द्रनाथ सील से उन्हें शैले तथा वर्ड्सवर्थ पढ़ने की प्रेरणा प्राप्त हुई, किन्तु साथ ही साथ वे परम ब्रह्म के तत्वज्ञान की ओर भी प्रवृत्त हुए।[5] अपने मित्र के समान स्वामी विवेकानन्द के विचारों में बुद्धिवाद, वेदान्तीय अद्वैतवाद, हीगल के द्वन्द्वात्मक परमतत्व तथा फ्रांस की राज्यक्रान्ति के वैदवाक्य-स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व की गूंज थी। वे व्यक्तिवाद के स्थान पर सार्वभौमिक विवेक को श्रेष्ठ मानते थे।[6] किन्तु उनका चिन्तन इतने तक ही सीमित नहीं रहा। वे सत्यज्ञान की खोज में रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आये। यह सम्पर्क प्रारम्भ में विवेकानन्द पर पड़े पाश्चात्य चिन्तन के प्रभाव एवं बुद्धिवाद के प्रति

उनकी आस्था के कारण उन्हें तुरन्त आस्तिक बनाने में सहायक सिद्ध नहीं हुआ। एक दिवस, नवम्बर 1880 में, जब विवेकानन्द अपनी विश्वविद्यालय के प्रथम वर्ष की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, उन्होंने अपने एक ईसाई मित्र के यहाँ आयोजन में संगीत का कार्यक्रम प्रस्तुत किया और वहीं रामकृष्ण को भी देखा। रामकृष्ण ने उन्हें दक्षिणेश्वर बुलाया। वे अपने कुछ मित्रों के साथ दक्षिणेश्वर पहुँचे। रामकृष्ण ने उन्हें गाना सुनाने को कहा। विवेकानन्द ने गाना सुनाया और इसी मध्य रामकृष्ण तन्मय हो गये। श्रीरामकृष्ण ने गाना समाप्त होते ही विवेकानन्द से एकान्त में वार्तालाप किया किन्तु विवेकानन्द उस महान् सन्त की वास्तविकता से प्रथम भेंट में अवगत नहीं हुए। विवेकानन्द बार बार प्रयास करते कि वे उनसे नहीं मिलेंगे, फिर भी उस सन्त का आकर्षण उन्हें खींच लाता। ऐसी परिस्थिति में भी विवेकानन्द अपनी जिद पर रहे और सन्त का सन्देश न समझ सके। इस बीच स्वामी विवेकानन्द के पिता की मृत्यु हो गयी। परिवार निराश्रित हो गया। विवेकानन्द ने अनुभव किया कि उनकी दरिद्रता की स्थिति में न उनके मित्र सहायक हुए, न ईश्वर। भूख से व्याकुल नौकरी की तलाश में दर दर भटकने से ईश्वर में उनकी रही-सही आस्था भी जाती रही। इसी बीच एक दिन पुनः श्री रामकृष्ण ने उन्हें दक्षिणेश्वर बुलाया। स्वामी विवेकानन्द ने वहाँ जाकर श्रीरामकृष्ण से उनके लिए माँ काली से आर्थिक संकट से उबारने का वरदान माँगने को कहा। श्रीरामकृष्ण ने यह व्यक्त किया कि यह वरदान तो स्वयं विवेकानन्द ही माँग सकते थे। इस पर स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं माँ काली के दर्शन कर उनसे वर माँगना चाहा किन्तु वहाँ उन्हें ऐसा तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ कि वे अपनी आर्थिक कठिनाइयों को भूल कर ज्ञान एवं श्रद्धा का वरदान माँगने लगे। एक नवीन अलौकिक शक्ति उनमें जागृत हुई और वे श्रीरामकृष्ण के अधिक निकट आते चले गये। श्रीरामकृष्ण ने कई बार अपने स्पर्शमात्र से उनकी समाधि लगवा दी। एक बार उन्हें श्रीरामकृष्ण की कृपा से निर्विकल्प समाधि का भी अनुभव हुआ। इस प्रकार विवेकानन्द की अध्यात्म-साधना निरन्तर बढ़ती गयी और अगस्त 1886 में जब श्रीरामकृष्ण परमहंस का स्वर्गवास हुआ, तब तक विवेकानन्द उनके सर्वाधिक निकटस्थ शिष्य बन चुके थे। श्री रामकृष्ण की मृत्यु के पश्चात् निरन्तर चार वर्षों तक विवेकानन्द भारत का भ्रमण करते रहे। भारत के प्रमुख धार्मिक एवं सांस्कृतिक केन्द्रों की उन्होंने यात्रा की। इन यात्राओं ने विवेकानन्द को जहाँ एक ओर भारत की आर्थिक दुर्दशा, उसकी सामाजिक पतनता तथा मानसिक अस्थिरता का ज्ञान कराया तो दूसरी ओर उन्हें भारत की सांस्कृतिक सम्पन्नता, परम्पराओं की शक्ति, ग्राह्य शक्ति तथा प्रच्छन्न धार्मिकशक्ति का भी बोध हुआ।[7] इन्हीं यात्राओं के दौरान वे अलमोड़ा में हिमालय की भव्यता से प्रभावित हुए और कुछ समय के लिए वहाँ ठहर कर संस्कृतभाषा का गूढ़ ज्ञान प्राप्त किया। इसी समय विश्वधर्मसंसद के शिकागो सम्मेलन में भाग लेने का उन्होंने निर्णय किया। खेतड़ी (राजस्थान) के तत्कालीन ठाकुरसाहब ने उनके शिकागो-सम्मेलन में सम्मिलित होने का व्यय वहन किया। शिकागो-सम्मेलन स्वामी विवेकानन्द के जीवन का एक स्वर्णिम अध्याय बन गया। भारतीय वेदान्त का आधुनिक अर्थों में दिव्य सन्देश देकर विवेकानन्द ने जो कार्य भारत के लिए किया वह आधुनिक भारतीय इतिहास का सर्वोच्च कीर्तिमान बन गया है। एक ओर जहाँ पश्चिम की वैज्ञानिक उपलब्धियों ने

विवेकानन्द को प्रभावित किया, वहीं उन्हें पश्चिम की भौतिकता, शानता तथा स्वच्छन्दता ने झकझोर दिया। 1899 में दूसरी बार पश्चिमी देशों की यात्रा ने उन्हें और भी अधिक सन्तप्त किया।[8]

स्वामी विवेकानन्द ने 11 सितम्बर, 1893 को शिकागो की विश्वधर्म परिषद् द्वारा किये गये अभिवादन के उत्तर में कहा था :

जिस सौहार्दता और स्नेह के साथ आपने हम लोगों का स्वागत किया है, उसके फलस्वरूप मेरा हृदय अकथनीय हर्ष से प्रफुल्लित हो रहा है। संसार के प्राचीन महर्षियों के नाम पर मैं आपको धन्यवाद देता हूं तथा सब धर्मों की मातास्वरूप हिन्दूधर्म एवम् भिन्न भिन्न सम्प्रदाय के लाखों-करोड़ों हिन्दुओं की ओर से भी धन्यवाद प्रकट करता हू।

मैं उन सज्जनों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हू, जिन्होंने इस सभामंच पर से प्राच्य-प्रतिनिधियों के संबंध में आपको यह बतलाया है कि ये दूर देशवाले पुरुष सर्वत्र सहिष्णुता का भाव प्रसारित करने के निमित्त यश और गौरव के अधिकारी हो सकते हैं। मुझको ऐसे धर्मावलम्बी होने का गौरव है, जिसने संसार को 'सहिष्णुता' तथा 'सब धर्मों को मान्यता प्रदान करने' की शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते। वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर ग्रहण करते है। मुझे आपसे यह निवेदन करते गर्व होता है कि मैं ऐसे धर्म का अनुयायी हू, जिसकी पवित्र भाषा संस्कृत मे अंग्रेजी शब्द 'एक्सक्लूजन' का कोई पर्यायवाची शब्द नहीं। मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित और शरणागत जातियों तथा भिन्न वर्गों व धर्मों के बहिष्कृत मतावलम्बियों को आश्रय दिया है। मुझे यह बतलाते गर्व होता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मन्दिर रोमन-जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया, उसी वर्ष कुछ अभिजात यहूदी आश्रय लेने दक्षिण भारत मे आये और हमारी जाति ने उन्हें छाती से लगाकर शरण दी। ऐसे धर्म में जन्म लेने का मुझे अभिमान है, जिसने पारसी जाति की रक्षा की और उसका पालन अब तक कर रहा है। भाइयों! मैं आप लोगों को एक स्तोत्र के कुछ पद सुनाता हू, जिसे मैं अपने बचपन से गाता रहा हू और जिसे प्रतिदिन लाखों मनुष्य गाया करते हैं।

—"जैसे विभिन्न नदियां भिन्न भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जाने वाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।"

यह सभा, जो ससार की अब तक हुई सभाओं में से एक है, जगत् के लिए गीता के उस अद्भुत उपदेश की घोषणा एवम् विज्ञापन है, जो हमें बतलाता है—

"जो कोई मेरी ओर आता है—चाहे किसी प्रकार से हो—मैं उसको प्राप्त होता हूं। लोग भिन्न-भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अन्त में मेरी ही ओर आते हैं।'

साम्प्रदायिकता, सकीर्णता और इनसे उत्पन्न भयंकर धर्मविषयक उन्मत्तता इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुकी है। इनके घोर अत्याचार से पृथ्वी भर गयी, इन्होंने अनेक बार मानव-रक्त से धरणी को सींचा, सभ्यता नष्ट कर डाली तथा समस्त जातियों को हताश कर डाला। यदि यह सब न होता, तो मानव-समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता। पर अब उनका भी समय आ गया है,

और मैं पूर्ण आशा करता हूँ कि जो घण्टे आज सुबह इस सभा के सम्मान के लिए बजाये जाते हैं, वे समस्त कट्टरताओं, तलवार या लेखनी के बल पर किये जाने वाले समस्त अत्याचारों तथा एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले मानवों की पारस्परिक कटुताओं के लिए मृत्यु नाद ही सिद्ध होंगे।"[9]

विवेकानन्दजी ने नवम् दिवस, 19 सितम्बर 1893 को हिन्दू धर्म की आभ्यन्तरिक शक्ति के विषय में कहा था कि—

"ऐतिहासिक युग के पूर्व के केवल तीन ही धर्म आज संसार में विद्यमान है—हिन्दू-धर्म, पारसी-धर्म, और यहूदी-धर्म। ये तीनों धर्म अनेकानेक प्रचण्ड आघातों के पश्चात् भी लुप्त न होकर आज भी जीवित हैं—यह उनकी आन्तरिक शक्ति का प्रमाण हैं। पर जहाँ हम यह देखते हैं कि यहूदी धर्म, ईसाई धर्म को नहीं पचा सका, वरन् अपनी सर्वविजयी सन्तान ईसाई-धर्म द्वारा अपने जन्मस्थान से निर्वासित कर दिया गया, और यह कि केवल मुट्ठी भर पारसी ही अपने महान् धर्म की गाथा गाने के लिए अब अवशेष हैं,—वहाँ भारत में एक के बाद एक अनेकों धर्म-पंथों का उद्भव हुआ और वे पंथ वेद-प्रणीत धर्म की जड़ को हिलाते-से प्रतीत हुए, पर भयंकर भूकम्प के समय समुद्री किनारे की जलतरंगों के समान यह धर्म कुछ समय के लिए इसीलिये पीछे हट गया कि वह तत्पश्चात् हजारगुना अधिक बलशाली होकर सम्मुखस्थ सब को डुबानेवाली बाढ़ के रूप में लौट आये, और जब यह सारा कोलाहल शान्त हो गया, तब सारे धर्म-सम्प्रदाय अपनी जन्मदात्री मूल हिन्दू-धर्म की विराट् काया द्वारा आत्मसात् कर लिये गये, पचा लिये गये। आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार जिसकी केवल प्रतिध्वनि मात्र है, ऐसे वेदान्त के अत्युच्च आध्यात्मिक भाव से लेकर मूर्तिपूजा एवं तदानुषंगिक अनेकानेक पौराणिक दन्तकथाओं, और इतना ही नहीं बल्कि बौद्धों के अज्ञेय वाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद-इनमें स प्रत्येक के लिए हिन्दूधर्म में स्थान है। तब, प्रश्न यह उठता है कि वह कौनसा एक साधारण बिन्दु है, जहाँ पर इतनी विभिन्न दिशाओं में जानेवाली भिन्न-रेखाएँ केन्द्रस्थ होती हैं? वह कौनसा एक सामान्य आधार है, जिस पर इतने परस्पर विरोधी भासनेवाले ये सब भाव आश्रित हैं? इसी प्रश्न का उत्तर देने का अब मैं प्रयत्न करूँगा। हिन्दू जाति ने अपना धर्म अपौरुषेय वेदों से प्राप्त किया है। उनकी धारणा है कि वेद अनादि और अनन्त है। श्रोताओं को, सम्भव है, यह हास्यास्पद मालूम हो और वे सोचें कि कोई पुस्तक अनादि और अनन्त कैसे हो सकती है। परन्तु वेद का अर्थ है भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक तत्त्वों का संचित कोष। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्यों के पता लगने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया था और आज यदि मनुष्य जाति उसे भूल भी जाय, तो भी वह नियम अपना काम करता ही रहेगा, ठीक यही बात आध्यात्मिक जगत् को चलाने वाले नियमों के सम्बन्ध में भी है। एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ और प्रत्येक आत्मा का परम पिता परमात्मा के साथ जो नैतिक तथा दिव्य आध्यात्मिक सम्बन्ध है, वे हमारे पता लगाने के पूर्व भी थे, और हम यदि उन्हें भूल भी जायँ, तो भी वे बने रहेंगे। इन नियमों का सत्यों का आविष्कार करनेवाले "ऋषि" कहलाते हैं और हम उनको पूर्णत्व को पहुँची हुई विभूति जानकर सम्मान देते हैं। श्रोताओं को यह

बतलाते हुए मुझे हर्ष होता है कि इन प्राचीन वैदिक ऋषियों ने कुछ लिखा भी था। यहाँ पर कोई यह तर्क कर सकता है कि ये आध्यात्मिक नियम, नियम के रूप में अनन्त भले ही हों, पर इनका आदि तो अवश्य ही होना चाहिये। वेद हमें यह सिखाते हैं कि सृष्टि का (अत एव सृष्टि के इन नियमों का भी) न आदि है, न अन्त। विज्ञान ने हमें सिद्ध कर दिखाया है कि समस्त विश्व की सारी शक्ति-समष्टि का परिमाण सदा एकसा रहता है। तो फिर, यदि ऐसा कोई समय था जब किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं था, उस समय यह संपूर्ण व्यक्त शक्ति कहाँ थी? कोई कोई कहते हैं कि ईश्वर में ही वह सब अव्यक्त रूप से निहित थी। तब तो ईश्वर कभी निष्क्रिय और कभी सक्रिय है, इससे तो वह विकारशील हो जायगा। प्रत्येक विकारशील पदार्थ मिश्रित होता है और हर एक मिश्रित पदार्थ में वह परिवर्तन अवश्यम्भावी है, जिसे हम विनाश कहते हैं। इस तरह तो ईश्वर की मृत्यु हो जायगी, जो कि सर्वथा असम्भव एवम् हास्यास्पद कल्पना है। अत ऐसा समय कभी नहीं था, जब यह सृष्टि नहीं थी। अत एव यह सृष्टि अनादि है।"[10]

स्वामी विवेकानन्द ने ईश्वर तथा संसार को दो समानान्तर रेखाओं के रूप में माना। उनका यह विचार था कि ईश्वर एक महान् शक्ति है जिसकी प्रेरणा से ब्रह्माण्ड का सृजन एवम् विनाश होता रहता है। सूर्य और चन्द्रमा को विधाता ने पूर्व कल्पों के सूर्य और चन्द्रमा के समान बनाया है। विवेकानन्द ने आत्मा के सम्बन्ध में भी आत्मा के अनादि की स्थिति को स्वीकार किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में यह व्यक्त किया कि "आत्मा किसी पदार्थ से सृष्ट नहीं हुई है, क्योंकि सृष्टि का अर्थ है भिन्न-भिन्न द्रव्यों का संयोग और इस संयोग का अर्थ होता है भविष्य में अवश्यम्भावी वियोग। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा का सृजन नहीं हुआ था, वह कोई सृष्ट पदार्थ नहीं है। पुनश्च, कुछ लोग जन्म से ही सुखी होते हैं, पूर्ण स्वास्थ्य का आनन्द भोगते हैं, उन्हें सुन्दर शरीर, उत्साहपूर्ण मन और सभी आवश्यक सामग्रियाँ प्राप्त रहती हैं। दूसरे कुछ लोग जन्म से ही दुखी होते हैं, किसी के हाथ या पाँव नहीं होते, तो कोई मूर्ख होते हैं और येन-केन प्रकारेण अपने दुखमय जीवन के दिन काटते हैं। ऐसा क्यों? यदि ये सभी एक ही न्यायी और दयालु ईश्वर द्वारा उत्पन्न किये गये हों, तो फिर उसने एक को सुखी और दूसरे को दुखी क्यों बनाया? भगवान् ऐसा पक्षपाती क्यों है? फिर ऐसा मानने से भी बात नहीं सुधर सकती कि जो इस वर्तमान जीवन में दुखी हैं, वे भावी जीवन में पूर्ण सुखी होंगे। न्यायी और दयालु भगवान् के राज्य में मनुष्य इस जीवन में भी दुखी क्यों रहे? दूसरी बात यह है कि सृष्टि उत्पादक ईश्वर को मानने वाला यह सिद्धान्त सृष्टि में इस वैषम्य के लिए कोई कारण बताने का प्रयत्न तक नहीं करता, बल्कि यह तो केवल एक सर्व-शक्तिमान् स्वेच्छाचारी पुरुष का निष्ठुर व्यवहार ही प्रकट करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि यह कल्पना युक्ति-विरुद्ध है। (अत एव यह स्वीकार करना ही होगा कि इस जन्म के पूर्व ऐसे कारण होने ही चाहिएँ, जिनके फलस्वरूप मनुष्य इस जन्म में सुखी या दुखी हुआ करता है। और ये कारण हैं उनके ही पूर्वानुष्ठित कर्म। अथच, मनुष्य के शरीर और मन की प्रकृति उनके पिता-पितामह आदि के शरीर मन से प्राप्त होती है, ऐसा आनुवंशिकता का सिद्धान्त क्या उपर्युक्त समस्या का समुचित उत्तर

न होगा ? यह स्पष्ट है कि जीवनस्रोत जड़ और चैतन्य इन दो धाराओं में प्रवाहित हो रहा है। यदि जड़ और जड़ के विकार ही आत्मा, मन, बुद्धि आदि हम जो कुछ है उन सबके उपयुक्त कारण सिद्ध हो सकते तो फिर और स्वतन्त्र आत्मा के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि चैतन्य का विकास जड़ से हुआ है। अत एव यह स्वीकार न करने पर कि एक जड़पदार्थ से सब कुछ सृष्ट हुआ है, यह भी स्वीकार करना निःसंशय युक्तियुक्त होता है कि एक मूल चैतन्य से ही समस्त सृष्टि-कार्य का निर्वाह हो रहा है। और यह केवल युक्तियुक्त ही नहीं वरन् वांछनीय भी है। पर यहाँ उसकी आलोचना की कोई आवश्यकता नहीं।"[11]

स्वामी विवेकानन्द ने पुनर्जन्मवाद तथा आनुवांशिकता के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया कि मानव की कतिपय शारीरिक प्रवृत्तियाँ आनुवांशिकता से प्राप्त होती हैं। किन्तु वे केवल शारीरिक होती हैं। जीवात्मा की विशेष प्रवृत्ति पूर्वजन्म के कर्मों के कारण निश्चित होती है। स्वामी विवेकानन्द ने पुनर्जन्म के सिद्धांत को विज्ञान संगत बताने का प्रयास किया है। उनकी यह मान्यता थी कि विज्ञान के अनुसार मनुष्य की प्रवृत्ति या स्वभाव बार-बार अभ्यास से निश्चित होती है। एक नवजात बालक के संदर्भ में प्रवृत्तियों का कारण पूर्व कर्मों को मानना आवश्यक हो जाता है क्यूंकि नवजात बालक ने वर्तमान जीवन में उस स्वभाव की प्राप्ति नहीं कि, वह पूर्व जीवन से ही उसे प्राप्त हुआ है। उनके अनुसार पूर्वजन्म की बातें याद नहीं रहती, उसका यह अर्थ नहीं है कि हमें पूर्वजन्म की घटनाएं याद करने में कठिनाई हो। किसी व्यक्ति की मातृभाषा कुछ और हो और वह वर्तमान में किसी अन्य भाषा का प्रयोग कर रहा हो तो वह उस समय के लिए अपनी मातृभाषा को वह अचेतन मन में लिये हुए होता है। और प्रयास करने पर पुनः चैतन्य मन में उसका प्रयोग कर सकता है। अतः चैतन्य के धरातल पर जो अवस्थित है वही बोधगम्य होता है। हमारे मन के अन्तराल में हमारे समस्त अनुभव संगृहीत रहते हैं। प्रयास करने पर वे मन की गहराई से चैतन्य की सतह पर उभर आते हैं और हमारी पूर्व जन्मों की स्मृति जाग्रत हो उठती है। यही कारण है कि हिन्दू जनमानस में आत्मा की अमरता को विशेष मान्यता मिली हुई है। आत्मा को शस्त्र, अग्नि, जल, तथा वायु से भी क्षति नहीं पहुंचती। आत्मा "एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं नहीं है, यद्यपि उसका केन्द्र शरीर में अवस्थित है, और मृत्यु का अर्थ केवल इतना ही है कि एक शरीर से दूसरे शरीर में इस केन्द्र का स्थानान्तर हो जाना। यह आत्मा भौतिक नियमों के वशीभूत नहीं है, वह स्वरूपतः नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव है। परन्तु किसी अचिन्त्य कारण से वह अपने को जड़ से बंधी हुई पाती है और अपने को जड़ ही समझने लगती है।"[12]

स्वामी विवेकानन्द ने आत्मा की देववद्धता को जड़ का दासत्व करने की प्रवृत्ति का भ्रम दूर किया है। वे यह मानने को तैयार नहीं कि आत्मा और जीव के मध्य किसी अन्य अस्तित्व की कल्पना की जाये। इसे केवल ईश्वरेच्छा मानना भी शंका का समाधान नहीं करता। उन्होंने कारणवाद को इसका आधार बतलाते हुए कहा है कि "मनुष्य की आत्मा अनादि और अमर है, पूर्ण और अनन्त है, और मृत्यु का अर्थ है—एक शरीर से दूसरे शरीर में केवल केन्द्रपरिवर्तन। वर्तमान व्यवस्था हमारे पूर्वानुष्ठित कर्मों द्वारा

निश्चित होती है और भविष्य, वर्तमान कर्मों द्वारा। आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र में लगातार घूमती हुई कभी ऊपर उठती है, कभी नीचे जाती है। पर यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है—क्या मनुष्य उस छोटी सी नौका के समान है, जो प्रचण्ड तूफान में पड़ एक क्षण किसी वेगवान तरंग के फेनिल शिखर पर चढ़ जाती है और दूसरे क्षण भयानक गह्वे में नीचे धकेल दी जाती है, मनुष्य क्या इस प्रकार अपने अच्छे और बुरे कर्मों के नितान्त परवश हो केवल इधर उधर भटकता फिरता है। क्या वह कार्य-कारण के सतत प्रवाही, सर्वभक्ष, भीषण तथा गर्जनशील प्रवाह में पड़ा हुआ शक्तिहीन, निस्सहाय, नगण्य जीव मात्र है? क्या वह उस कर्म-चक्र के नीचे पड़ा हुआ एक क्षुद्र कीटाणु है, जो पतिशोक से व्याकुल विधवा के आँसुओं तथा अनाथ बालक की आहों की तनिक भी परवाह न करते हुए अपने मार्ग में आने वाली सभी वस्तुओं को कुचल डालता है? इस प्रकार के विचार से अन्तःकरण काँप उठता है, पर प्रकृति का नियम तो यही है। तो फिर क्या कोई आशा ही नहीं है? इससे बचने का कोई मार्ग नहीं है? यही करुण पुकार निराशा-विह्वल हृदय के अन्तस्तल से ऊपर उठी और उस करुणानिधान विश्वपिता के सिंहासन तक जा पहुँची। वहाँ से आशा तथा सान्त्वना की वाणी निकली और एक वैदिक ऋषि के अन्तःकरण में प्रेरणा रूप में आविर्भूत हुई। ईश्वरी शक्ति द्वारा अनुप्राणित इस महर्षि ने संसार के सामने खड़े होकर घन-गम्भीर स्वर से इस आनन्द सन्देश की घोषणा की—

"हे अमृत के पुत्रगण! हे दिव्यधामवासी देवगण! सुनो, मैंने उस अनादि पुरातन पुरुष को पहचान लिया है, जो पुरुष को जानकर ही तुम मृत्यु के चक्कर से छूट सकते हो। दूसरा कोई पथ नहीं है।"

"हे अमृत के पुत्रगण!" कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह। बन्धुओं! इसी मधुर नाम से मुझे तुम्हें पुकारने दो "हे अमृत के अधिकारीगण।" सचमुच हिन्दू तुम्हें पापी कहना अस्वीकार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो। तुम भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, यह मानव-स्वभाव पर घोर लाछन है। उठो! ए सिंहो! "तुम तो जरामरणरहित नित्यानन्दमय आत्मा हो। तुम जड़ पदार्थ नहीं हो। तुम शरीर नहीं हो। जड़-पदार्थ तो तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं। अतः वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि व्यापार कतिपय भयावह, निर्दय अथवा निर्मम विधानों का प्रवाह है, और न यही कि वह कार्य-कारण का एक अच्छेद्य बन्धन है, वरन् वे यह घोषित करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, प्रत्येक अणु-परमाणु में तथा शक्ति के प्रत्येक स्पन्दन में ओत-प्रोत वही एक पुराणपुरुष विराजमान है, "जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर इतस्ततः नाचती है।"[13]

स्वामी विवेकानन्द ने यह कहा है कि वेदों ने शुद्ध प्रेम की शिक्षा दी है। वे भगवान् श्रीकृष्ण, जिन्हें हिन्दू ईश्वर का पूर्णावतार मानते हैं, के कथन की समर्थन करते हैं जिन्होंने मनुष्य को इस संसार में कमलवत के समान रहने की शिक्षा दी है। अर्थात् मनुष्य का हृदय ईश्वर में लगा रहे और उसके हाथ निलिप्त भाव से कर्म करने में लगे रहें। फल की आशा छोड़कर ईश्वर की भक्ति करना और ईश्वर के प्रति निस्वार्थ प्रेम रखना

सर्वश्रेष्ठ है। ईश्वर अखिल सौन्दर्य तथा समस्त सुषमा का मूल है। उनके अनुसार वेदो ने आत्मा को ब्रह्म स्वरूप माना है। आत्मा पंच भूतों के बन्धन मे है और बन्धन टूटने पर यह पुन पूर्णत्व को प्राप्त कर लेती है। इस अवस्था का नाम स्वाधीनता अथवा मुक्ति है। स्वामी विवेकानन्द ने अपरोक्षानुभूति को हिन्दुधर्म का मूल मन्त्र माना है, उनके अनुसार आत्मा का बन्धन ईश्वर की कृपा से टूट सकता है। ईश्वर की यह दया उन व्यक्तियों पर होती है जिनका स्वभाव शुद्ध एवम् पवित्र होता है। पवित्रता ईश्वर की अनुग्रह-प्राप्ति का मार्ग है। विशुद्ध व्यक्ति इसी जीवन मे ईश्वर का दर्शन प्राप्त कर भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है। ऐसा मानव जिसकी समस्त कुटिलताए नष्ट हो चुकी और समस्त सन्देह दूर हो गये हैं—कार्य-कारण के नियम से मुक्त होकर पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है। उनके अनुसार ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन से ही शकाओं का निवारण होता है। और यही पूर्णत्व की स्थिति है, जिसमे आत्मा तथा परमात्मा दोनों का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार हिन्दूधर्म विभिन्न मत-मतान्तरो पर विश्वास करने का प्रयत्न मात्र न होकर प्रत्यक्ष अनुभूति अथवा साक्षात्कार पर आधारित है। उनके शब्दो मे "केवल विश्वास का नाम हिन्दूधर्म नही है हिन्दूधर्म का मूलमन्त्र है, 'मैं आत्मा हू, यह विश्वास होना और तद्रूप बन जाना।' अत हिन्दुओं की सारी साधना-प्रणाली का लक्ष्य है—सतत अध्ययन द्वारा पूर्ण बन जाना, देवता बन जाना, ईश्वर के निकट जाकर उसके दर्शन कर लेना, और इस प्रकार ईश्वरसान्निध्य को प्राप्त होकर उनके दर्शन कर लेना, उन सर्वलोक-पिता ईश्वर के समान पूर्ण हो जाना—यही असल में हिन्दूधर्म है। और जब मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है, तब उसका क्या होता है? तब वह असीम आनन्द का जीवन व्यतीत करता है। वह अन्य समस्त लाभो की अपेक्षा उत्कृष्ट लाभ स्वरूप परमानन्दधाम ईश्वर को प्राप्त करके परम आनन्द का अधिकारी हो जाता है।"[14]

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दूधर्म तथा विज्ञान का सामजस्य स्थापित किया। उनके अनुसार भारतीय दर्शन मे अद्वैतवाद धर्म विज्ञान का चरम सिद्धान्त था जो विज्ञान के एकत्व की खोज के समान था। उनके अनुसार परिवर्तनशील विश्व का एकमात्र आधार परमात्मा है और अन्य सब आत्माए उसका प्रतिबिम्ब मात्र हैं। द्वैतवाद तथा अनेकेश्वरवाद आदि सभी अद्वैतवाद में परिणत होते हैं। आज का विज्ञान भी दृश्यजगत् को सृष्टि न मानकर विकास मात्र कहता है। हिन्दूधर्म भी दृश्यजगत् को माया मानते हुए वैज्ञानिक सत्य के अत्यन्त आधुनिक प्रयोगों के निकट है। भारत मे अनेकेश्वरवाद का प्रबल प्रचार रहा है। मूर्तिपूजा हिन्दूधर्म का आधार रही है। मूर्ति के बिना धार्मिक चिंतन असम्भव है। मूर्तिपूजा नीचे की सीढ़ी है, जिसके सहारे ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ा जा सकता है। मूर्ति-पूजा भ्रमात्मक नही है। मूर्ति-पूजा के विरोधियो को स्वामी विवेकानन्द का यह तर्क निरुत्तर कर देता है कि "ईश्वर यदि सर्वव्यापी है, तो फिर ईसाई गिरजाघर नामक एक स्वतन्त्र स्थान मे उसकी आराधना के लिए क्यो जाते हैं? वे 'क्रास' को इतना पवित्र क्यों मानते हैं? मन मे किसी मूर्ति के बिना आये कुछ सोच सकना उतना ही असम्भव है जितना कि श्वास लिये बिना जीवित रहना। इसलिए तो हिन्दू आराधना के समय बाह्य प्रतीक का उपयोग करता है। हिन्दू लोग पवित्रता, नित्यत्व, सर्वव्यापित्व आदि आदि भावो का संबध विभिन्न देवमूर्तियो से जोड़ते अवश्य हैं, पर अन्तर यह है कि

जहाँ अन्य लोग अपना सारा जीवन किसी गिरजाघर की मूर्ति की भक्ति में ही बिता देते हैं और उससे आगे नहीं बढ़ते, क्योंकि उनके लिए तो धर्म का अर्थ यही है कि कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों को वे अपनी बुद्धि द्वारा स्वीकृत कर लें और अपने मानव-भाइयों की भलाई करते रहें— वहां एक हिन्दू की सारी धर्मभावना प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कार में केन्द्रीभूत हुआ करती है। मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके स्वयं ईश्वर बनना है। मूर्तियां, मन्दिर, गिरजाघर या शास्त्र-ग्रन्थ तो धर्मजीवन की बाल्यावस्था में केवल आधार या सहायक मात्र है, पर उसे तो उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिए।"[15]

किन्तु स्वामी विवेकानन्द मूर्ति-पूजा को परमेश्वर से साक्षात्कार करने की पहली अवस्था ही मानते थे। उनके अनुसार प्रार्थना तथा ईश्वर का साक्षात्कार अन्तिम अवस्थाएं थीं। वे यह मानते थे कि अज्ञानी के धर्म से लेकर वेदान्त के अद्वैतवाद तक जितने भी धर्म हैं वे सब ब्रह्म-प्राप्ति के उपाय तथा उन्नति की विभिन्न सीढ़ियां हैं। उनके अनुसार हिन्दूधर्म में विभिन्नता में एकता को पूर्ण मान्यता मिली है। हिन्दुओं में यह दृढ़ धारणा है कि निरपेक्ष ब्रह्मतत्व की प्राप्ति सापेक्ष का अवलम्बन लेकर ही हो सकती है। मूर्ति, क्रास तथा चाँद आध्यात्मिक उन्नति के सहायक रूप हैं। यद्यपि प्रत्येक को इनकी सहायता की आवश्यकता नहीं होती किन्तु कुछ इन सापेक्ष उपायों के बिना ईश्वर-साधना की ओर नहीं बढ़ पाते। हमें यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि जो इन साधनों का परमेश्वर से साक्षात्कार करने में प्रयोग करते हैं, उनके लिए इन साधनों का आश्रय उचित नहीं है। वे हिन्दूधर्म में उदारता का विशेष महत्व देखते हैं। उनके अनुसार हिन्दुओं में अनेक दोष हैं, किन्तु हिन्दू इन दोषों को स्वयं के शरीर को दण्ड देने तक ही सीमित रखते हैं। धर्मान्ध हिन्दू विधर्मियों को ईसाइयों के समान अग्नि में जलाने का कभी प्रयास नहीं करेगा। हिन्दू तथा ईसाई धर्मोन्माद में यह अन्तर महत्वपूर्ण है। हिन्दुओं में अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता का भाव विशेष मात्रा में उपलब्ध है। हिन्दू धर्म को संकीर्ण बताने वालों को स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि एक ही ज्योति भिन्न-भिन्न रंग के कांच में से भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होती है। विभिन्न स्वभाव वाले लोगों के लिए उपयुक्त होने की दृष्टि से यह वैचित्र्य आवश्यक भी है। परन्तु प्रत्येक के अन्तस्तल में–प्रत्येक धर्म में–उसी एक सत्य का राजत्व है। भगवान् कृष्ण ने कहा है "जहां भी तुम्हें मानवसृष्टि को उन्नत बनाने वाली और पावन करने वाली अतिशय पवित्रता और असाधारण शक्ति दिखायी दे, तो जान लो कि वह मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई है।" और इस शिक्षा का परिणाम क्या हुआ है ? सारे संसार को मेरी यह चुनौती है कि वह समग्र संस्कृत दर्शनशास्त्र में मुझे एक ऐसी उक्ति तो दिखा दे, जिसमें यह बताया गया हो कि केवल हिन्दुओं का ही उद्धार होगा और दूसरों का नहीं। भगवान कृष्णद्वैपायन व्यास का वचन है, "हमारी जाति और सम्प्रदाय की सीमा के बाहर भी पूर्णत्व को पहुंचे हुए मनुष्य है।"[16]

स्वामी विवेकानन्द ने बौद्ध तथा जैन धर्मों का हिन्दूधर्म के साथ समन्वय स्थापित किया। वे अज्ञेयवादी बौद्ध धर्म तथा निरीश्वरवादी जैन धर्म को हिन्दूधर्म से सबंधित प्रवाह का अंग मानते थे। उनके अनुसार बौद्ध तथा जैन ईश्वर पर निर्भर न होकर भी मनुष्य में देवत्व के विकास के महान् सत्य को स्वीकार करते हैं। वे परमेश्वर को नहीं मानते हो किन्तु उसके पुत्र स्वरूप आदर्श मनुष्य बुद्धदेव अथवा जिन को मानते हैं

यदि इन्हें ईश्वरपुत्र माना जाये तो परमेश्वर का ज्ञान पिता रूप में स्वयंसिद्ध है। स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार हिन्दूधर्म की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत कर विश्व में एक सार्वभौमिक धर्म का विचार प्रस्तुत किया जो देश काल से मर्यादित न हो तथा भगवान के समान अनन्त हो "जिसकी ज्योति श्रीकृष्ण के भक्तों पर और ईसा के प्रेमियों पर, सन्तों पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाशित होती हो, जो न तो ब्राह्मणों का हो, न बौद्धों का, न ईसाइयों का और न मुसलमानों का, वरन् इन सभी धर्मों का समष्टि स्वरूप होते हुए भी जिसमें उन्नति का अनन्त पथ खुला रहे, जो इतना व्यापक हो कि अपनी असंख्य प्रसारित बाहुओं द्वारा सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य का आलिंगन करे और उसे अपने हृदय में स्थान दे, चाहे वह मनुष्य हिंस्र पशु से किंचित् ही उठा हुआ, अति नीच, बर्बर और जंगली ही क्यों न हो, अथवा अपने मस्तिष्क और हृदय के सद्गुणों के कारण मानव-समाज से इतना ऊंचा क्यों न उठ गया हो कि लोग उसकी मानवी प्रकृति में शंका करते हुए देवता के समान उसकी पूजा करते हों। वह विश्वधर्म ऐसा होगा कि उसमें अविश्वासियों पर अत्याचार करने या उनके प्रति असहिष्णुता प्रकट करने की नीति नहीं रहेगी, वह धर्म प्रत्येक स्त्री और पुरुष के ईश्वरीय स्वरूप को स्वीकार करेगा और उसका सम्पूर्ण बल मनुष्य-मात्र को अपनी सच्ची, ईश्वरीय प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केन्द्रित रहेगा।" स्वामी विवेकानन्द ने सार्वभौमिक उदार धर्म के आदर्श को ही राष्ट्रों द्वारा अनुगमन करने का एक मात्र आधार माना। उनके अनुसार सम्राट् अशोक की धर्म-सभा केवल बौद्ध धर्मावलम्बियों की थी तथा बादशाह अकबर की धर्म-परिषद् उपयुक्त दिखाई देते हुए भी केवल दरबार की शोभा बढ़ानेवाली थी। किन्तु उन्होंने शिकागो की विश्व धर्म-परिषद् को 'प्रत्येक धर्म में ईश्वर है' इस सार्वभौमिक सत्य का विश्वव्यापी प्रचार करने का माध्यम माना। उन्होंने विश्व धर्म-परिषद् को अपनी शुभकामनाएं अर्पित करते हुए कहा "वही परमेश्वर जो हिन्दुओं का ब्रह्म, पारसियों का अहुरमज्द, बौद्धों का बुद्ध, मुसलमानों का अल्ला, यहूदियों का जिहोवा और ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता है, आपको अपने उदार उद्देश्य को कार्यान्वित करने की शक्ति प्रदान करे। पूर्व-गगन में नक्षत्र उदित हुआ, कभी धुंधला और कभी देदीप्यमान होते हुए, धीरे-धीरे पश्चिम की ओर यात्रा करते-करते उसने समस्त जगत् की परिक्रमा कर डाली और अब वह पुनः पूर्व-क्षितिज में सहस्र-गुनी अधिक उज्ज्वलता के साथ उदित हो रहा है।" परिषद् के विदाई समारोह पर बोलते हुए उन्होंने कहा कि "ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं हो जाना चाहिए, और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही। पर हां, प्रत्येक को चाहिए कि वह दूसरों के सार-भाग को आत्मसात् करके पुष्टि लाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी प्रकृति के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो।" "शुद्धता पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदायविशेष की सम्पत्ति नहीं है एवम् प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ व अतिशय उन्नत चरित्र स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है।" धार्मिक अहम्मन्यता तथा स्वधर्म की थोथी सर्वश्रेष्ठता के विरुद्ध स्वामी विवेकानन्द का शाश्वत वचन था—"सहयोग, न कि विरोध", "परभाव-ग्रहण, न कि पर-भाव-विनाश," "समन्वय और शान्ति न कि मतभेद और कलह।"[17]

स्वदेश आगमन पर उनका भारतीय जनमानस द्वारा अभूतपूर्व स्वागत किया

गया। विवेकानन्द ने तनिक भी समय नष्ट नहीं किया और भारत-भ्रमण करते हुए भारत का आध्यात्मिक नवोदय देश के कोने कोने में पहुंचाया। उनकी इस यात्रा ने भारत के प्रबुद्ध वर्ग को भारतीय धर्म एवं दर्शन के प्रति पुनः आस्थावान् बनाया। उनके सारगर्भित भाषणों का संकलन "लेक्चर्स फ्रोम कोलम्बो टू अल्मोड़ा" नामक शीर्षक से प्रकाशित किया गया। 1897 में कलकत्ता के निकट बेलूर में विवेकानन्द ने 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। इस के एक वर्ष पश्चात् वे पुनः यूरोप-भ्रमण पर गये तथा पेरिस में होने वाली "कांग्रेस आफ दी हिस्ट्री आफ रिलीजन्स" में भाग लिया। वे कुछ समय मिश्र में भी रहे। भारत लौटने पर वे पुनः भारत को प्रबुद्ध करने के मार्ग पर लग गये। अत्यधिक परिश्रम, चिन्तन तथा कार्यबहुल ने उन्हें अन्दर से जर्जरित कर दिया था, किन्तु उनके बाह्य शारीरिक आवरण पर कहीं भी थकान का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता था। उनका भव्य मुख पारलौकिक आनन्द से सदैव देदीप्यमान रहता था। किन्तु विधाता की लीलावश वे केवल 39 वर्ष की अल्पायु में जुलाई 4, 1902 को चिर समाधिस्थ हो गये।

इतने अल्प समय में स्वामी विवेकानन्द इतिहास-पुरुष बन गये। भारत में ही नहीं अपितु समस्त विश्व में उनका नाम-स्मरण अत्यन्त आदर भाव से होने लगा। जगह-जगह उनके स्मारक बने। कलकत्ता के पास दक्षिणेश्वर से लगा हुआ हुगली नदी का पुल 'विवेकानन्द ब्रिज' के नाम से जाना जाता है। भारत के प्रमुख शहरों में विवेकानन्द के नामके स्मारक बने हुए हैं। दक्षिण में कुमारी-अन्तरीप पर 'विवेकानन्द शिला' है जहां पर वे ध्यानावस्थित हो ब्रह्माण्ड के रहस्य का अवगाहन किया करते थे।[18] अब वहां एक भव्य विवेकानन्द-शिला-स्मारक बन चुका है। विवेकानन्द के इन स्थूल स्मारकों से भी अधिक स्थायी एवं भावपूर्ण स्मारक भारतवासियों के हृदय में अवस्थित है। भारत की समस्त जागृत, राष्ट्र-भक्त एवं प्रबुद्ध जनता उनके प्रति आज भी नतमस्तक है। एक परिव्राजक होकर भी राष्ट्रीयता के लिए दिव्य सन्देश का निनाद स्वामी विवेकानन्द ने किया यह आधुनिक भारतीय इतिहास की प्रमुख घटना है। भारत के क्रान्तिकारी सपूतों ने एक ओर विवेकानन्द का संदेश तथा दूसरी ओर कर्मवादनी गीता के स्वर पर हंसते हंसते भारत के लिए अपनी शहादत दी है।

स्वामी विवेकानन्द एवं राष्ट्रवाद

स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में भारत के शैक्षणिक जगत् में यह भ्रान्त धारणा बनी हुई है कि वे केवल संन्यासी, धर्मोपदेशक एवं वेदान्ती मात्र थे, उनका राजनीतिक क्रियाकलापों एवं राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं था और स्वामी विवेकानन्द के विचारों की राजनीतिक व्याख्या हो ही नहीं सकती। इस भ्रान्ति के मूल में जहां एक ओर इस आलोचक-वर्ग की पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन के प्रति अंधभक्ति है वो दूसरी ओर भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन के नाम से उनमें वितृष्णा विद्यमान है। इस भ्रांतिमूलक प्रचार एवं दुराग्रह का उन्मूलन आवश्यक है ताकि यह स्पष्ट किया जा सके कि पूर्व स्वातन्त्र्य-काल के प्रायः प्रत्येक विचारक ने, चाहे वह संन्यासी हो अथवा समाज-सुधारक, भारत की राजनीतिक प्रगति को अपना लक्ष्य माना है। इसका अपवाद मिलना असम्भव है। यदि आलोचकों का यह तर्क है कि कोई संन्यासी

अपने स्वयं के वक्तव्यों द्वारा यह घोषित करता है कि उनके विचारों को राजनीतिक श्रेणी में न रखा जाये अथवा उनका राजनीति से कोई सम्बन्ध न जोड़ा जाये तो फिर उन विचारों से राजनीतिक अर्थ निकालना उचित नहीं। किन्तु यह स्थिति हास्यास्पद है। किसी विचारक के नकारने मात्र से उसके विचारों में राजनीतिक पक्ष को कोई भी अध्ययन-कर्ता अछूता नहीं छोड़ सकता। इस सन्दर्भ में गांधी का उदाहरण स्वयं-सिद्ध है। इसी तरह यह मानना कि कोई परिव्राजक अथवा सन्यासी राजनीतिक दृष्टिकोण लेकर नहीं चलता नितान्त भ्रमपूर्ण है। भारतीय इतिहास एवं दर्शन में राजनीति जीवन से इतनी घुली मिली है कि उसे पृथक् नहीं किया जा सकता। भारत के सन्यासियों ने अन्य धर्मावलम्बियों की तरह केवल धार्मिक चोला पहन कर कार्य नहीं किया अपितु उन्होंने देश को राजनीतिक चेतना एवं स्वतन्त्रता का पाठ भी पढ़ाया है। स्वामी दयानन्द का उदाहरण उन अनेक उदाहरणों में से एक है। अतः यह स्पष्टतः मान कर चला जाये कि स्वामी विवेकानन्द के राष्ट्रीयता-सम्बन्धी विचार अथवा अन्य राजनीतिक विचारों के कारण उन्हें एक राजनीतिक चिन्तक की भी संज्ञा दी जा सकती है। वे राजनीतिज्ञ न हों, किन्तु एक राजनीतिक चिंतक अवश्य थे। उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए उनके स्वयं के उद्गार तथा टीकाकारों की उन पर व्याख्या का विहंगम अवलोकन किया जाना अनिवार्य है।

स्वामी विवेकानन्द के राजनीतिक विचार उनके धार्मिक एवं सामाजिक विचारों के सहगामी हैं। वे राष्ट्रवाद का आध्यात्मीकरण करने के पक्षपाती थे। हिन्दू-धर्म की महत्ता ने उन्हें राष्ट्रवाद के समीप ला खड़ा किया। वे हिन्दू-धर्म को सब धर्मों का प्रमुख स्रोत मानते थे। उनके अनुसार धर्म ही व्यक्ति और राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में भारत को राजनीतिक दासता से मुक्ति प्राप्त करने का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा था,

" आज हमारे देश को जिन चीजों की आवश्यकता है वे हैं लोहे की मांस-पेशियाँ, इस्पात की तन्त्रिकाए, प्रखर संकल्प, जिसका कोई प्रतिरोध न कर सके, जो अपना काम हर प्रकार से पूरा कर सके, चाहे उसके लिये महासागर के तल में जाकर मृत्यु से साक्षात्कार ही क्यों न करना पड़े यह है जिसकी हमें आवश्यकता है और इसका हम तभी सर्जन कर सकते हैं तभी सामना कर सकते हैं और तभी शक्तिशाली बन सकते हैं जबकि हम अद्वैत के आदर्श का साक्षात्कार कर लें, सबकी एकता के आदर्श की अनुभूति कर लें अपने में विश्वास, विश्वास और विश्वास। यदि तुम्हें अपने तैंतीस करोड़ पौराणिक देवताओं में तथा उन सब देवताओं में विश्वास हैं जिन्हें विदेशियों ने तुम्हारे बीच प्रतिष्ठित कर दिया है, किन्तु फिर भी अपने में विश्वास नहीं है तो तुम्हारा उद्धार नहीं हो सकता। अपने में विश्वास रखो और उस विश्वास पर दृढ़तापूर्वक खड़े रहो। क्या कारण है कि हम तैंतीस करोड़ लोगों पर पिछले एक हजार वर्ष से मुट्ठी भर विदेशी शासन करते आये हैं? क्योंकि उन्हें अपने में विश्वास था और हमें नहीं है।'[10]

विवेकानन्द हेगल की तरह राष्ट्र की महत्ता के प्रतिपादक थे। उनके अनुसार भारत को अपने अध्यात्म से पश्चिम को विजित करना होगा। उनका कहना था 'एक बार पुनः भारत को विश्व की विजय करनी है। उसे पश्चिम की आध्यात्मिक विजय

करनी है।"[20] मानवेन्द्रनाथ राय ने विवेकानन्द की आलोचना करते हुए उनकी राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारधारा के प्रभाव का इस प्रकार वर्णन किया है

"विवेकानन्द का राष्ट्रवाद आध्यात्मिक साम्राज्यवाद था। उन्होंने तरुण भारत को प्रेरित किया कि वह भारत के आध्यात्मिक उद्देश्यों में विश्वास रखे। उनके दर्शन के आधार पर आगे चल कर उन तरुण बुद्धिजीवियों के परम्परानिष्ठ राष्ट्रवाद का निर्माण हुआ जो अपने वर्गों से सम्बन्ध-विच्छेद कर चुके थे और जिन्होंने अपने को गुप्त समुदायों के रूप में संगठित किया तथा ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिये हिंसा और आतंक का समर्थन किया . आध्यात्मिक श्रेष्ठता के द्वारा विश्व को विजय करने के इस रोमांसपूर्ण स्वप्न ने उन तरुण बुद्धिजीवियों में भी नयी चेतना जाग्रत करदी जिनकी दयनीय आर्थिक स्थिति ने उन्हें व्याकुल कर रखा था।"[21]

विवेकानन्द ने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक पुट दिया। उनका यह कार्य उनके इस प्रबल विश्वास का कि भविष्य में धर्म ही भारत का मेरुदंड बनेगा अनुगामी था। वे इस अर्थ में पुनरभ्युदयवादी थे। वे भारत के अतीत का आह्वान कर भविष्य के भारत का निर्माण करना चाहते थे। वे भारत राष्ट्र की महत्ता एव एकता के पोषक थे तथा सभ्यता को आन्तरिक ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति मानते थे। वे रूढ़िवादी नहीं थे। उनका राष्ट्र प्रेम भारत-माता के चित्र में समाहित था। बंकिम की तरह उन्होंने भी भारत को जननी के रूप में देखा था। वे उग्र-राष्ट्रवाद के पक्षपाती थे और इसी कारण से उन्होंने भगिनी निवेदिता को "आक्रामक हिन्दूवाद" का उपदेश दिया। भगिनी निवेदिता ने इसी आक्रामक हिन्दूवाद को उग्रराष्ट्रवादी आन्दोलन में प्रयुक्त किया। बंगाल के विभाजन (1905) के समय भारत में जो "गरमदल" उभरा उस पर भगिनी निवेदिता का अत्यधिक प्रभाव रहा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि स्वामी विवेकानन्द तथा उनकी योग्य शिष्या दोनों ही संकीर्ण हिन्दू-साम्प्रदायिकता के प्रतिपादक थे। वास्तविकता यह थी कि दोनों ही हिन्दूवाद को भारतीय राष्ट्रवाद के पर्यायवाची एव राष्ट्रीय एकता के प्रतीक के अर्थ में प्रयोग कर रहे थे।

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक सामाजिक एव राजनीतिक चिन्तन के (स्वामी दयानन्द के पश्चात्) ऐसे दूसरे विचारक हैं जिन्होंने सक्रिय प्रतिरोध का मार्ग भारतीयों के लिये प्रशस्त किया। स्वामी दयानन्द ने इस प्रतिरोध को जहाँ सामाजिक एव धार्मिक क्षेत्र में अधिक प्रचारित किया वहां स्वामी विवेकानन्द ने यह चेतना राजनीतिक क्षेत्र में अधिक व्यापक बनायी। उनके उपदेशों ने एक नवीन शक्ति तथा अभय का सन्देश सचारित किया। वे भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के सन्देश-वाहक बने। उनके अभय के सन्देश से भारत की पददलित, सामाजिक दृष्टि से बहिष्कृत एव पौरुषहीन जनता को जीवनदान मिला तथा आत्मचेतना प्राप्त हुई। इसी आत्मचेतना के परिणामस्वरूप बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत ने करवट बदली और विदेशी दासता से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ठोस कदम उठाया। आत्मा के अमरत्व तथा मानव-गरिमा के महत्व को आधार मान कर विवेकानन्द ने बंधनों से मुक्ति प्राप्त करने का आह्वान किया। गीता, वेदान्त तथा उपनिषदों के आधार पर उन्होंने अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट किया कि प्रत्येक भारतीय को समस्त प्रकार के अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त करने के प्रयास में जुट जाना चाहिए।[22] आर्थिक एव

सामाजिक समस्याओं का, सेवा एवं सामाजिक दायित्व की भावना से सामना करने का विचार प्रस्तुत किया।[23] भारत की कोटि-कोटि जनता को सम्बोधित कर विवेकानन्द ने कहा—

"हे वीर ! निर्भीक बनो, साहस धारण करो, इस बात पर गर्व करो कि तुम भारतीय हो और गर्व के साथ घोषणा करो, 'मैं भारतीय हूं और प्रत्येक भारतीय मेरा भाई है।" "बोलो ज्ञान-हीन भारतीय, दरिद्र तथा अकिंचन भारतीय, ब्राह्मण भारतीय, अछूत भारतीय मेरा भाई है।" तुम भी अपनी कमर में लंगोटी बांध कर गर्व के साथ उच्च स्वर में घोषणा करो, "भारतीय मेरा भाई है, भारतीय मेरा जीवन है, भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं, भारतीय समाज मेरा बाल्यकाल का पालना है, मेरे यौवन का आनन्द उद्यान है, पवित्र स्वर्ग और मेरी वृद्धावस्था की वाराणसी है।" "मेरे बन्धु बोलो" भारत की भूमि मेरा परम स्वर्ग है, भारत का कल्याण मेरा कल्याण है और दिन-रात जपो और प्रार्थना करो, हे गौरीपति! हे जगदम्बे! मुझे पुरुषत्व प्रदान करो। हे शक्ति की जननी मेरे दौर्बल्य को हर लो, मेरी पौरुषहीनता को हर लो तथा मुझे मनुष्य बना दो।"[24]

उनके द्वारा राष्ट्रीय उन्नति एवं जागरण के लिए दिया गया सशक्त वक्तव्य आज भी भारतीयों के लिये प्रेरणादायक है। विवेकानन्द ने कहा था :

"राष्ट्र के रूप में हम अपना व्यक्तित्व विस्मृत कर बैठे हैं और यही इस देश में सब बुराइयों की जड़ है। हमें देश को उसका खोया हुआ व्यक्तित्व वापस देना है और जनता का उत्थान करना है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी ने उसको अपने पैरों से कुचला है। किन्तु अब उनके उत्थान की शक्ति भी अन्तराल से आनी चाहिए, अर्थात् परम्परानिष्ठ हिन्दू समाज में से। प्रत्येक देश में जो बुराइयां देखने को मिलती हैं वे धर्म के कारण नहीं हैं, बल्कि धर्म-द्रोह के कारण हैं। इसलिये दोष धर्म का नहीं है, मनुष्यों का है।"[25]

राजनीतिक दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द जहां एक ओर राष्ट्रीय उत्थान के लिये सम्यक् धर्म का उपदेश दे रहे थे तो दूसरी ओर उनका ध्यान भारत की आर्थिक दुर्दशा को दूर करने पर भी केन्द्रित था। उनका विश्वास था कि भारत की आर्थिक समृद्धि से भारत स्वयं राजनीतिक स्वतन्त्रता का उद्देश्य पूरा कर सकेगा। यही कारण था कि उन्होंने समाजवादी विचारधारा का अवलम्बन लिया और कहा—

'मैं एक समाजवादी हूं, इसलिए नहीं कि मैं इसे एक परिपूर्ण व्यवस्था मानता हूं किन्तु इसलिए कि भूखे रहने से तो आधी रोटी ही अच्छी है। अन्य व्यवस्थाओं को परीक्षित किया गया, किन्तु वे अपर्याप्त पायी गयीं। अब इसका परीक्षण किया जाय यदि और किसी प्रयोजन के लिए नहीं तो केवल इसकी नवीनता के लिए ही सही।'[26]

स्वामी विवेकानन्द ने इस प्रकार एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को प्रस्तावित किया जो कि पूर्व की आध्यात्मिक संस्कृति एवं पश्चिम की धर्मनिरपेक्ष उन्नति का समन्वित रूप थी। भारत में स्वामी विवेकानन्द राष्ट्रवाद के बढ़ते हुए ज्वार के प्रतीक बन गये।[27] उनका प्रभाव भारत में एक नवीन चेतना का उद्बोधक तथा विश्व के लिए उद्वेलन का कारण बना। ऐसे समय में जब कि भारत में राजनैतिक उदासीनता एवं निराशा के बादलों ने भारतीयों को अकर्मण्य बना दिया था, स्वामी विवेकानन्द ने हमें पुनः आत्म-सम्मान दिया और हममें हमारे भूतकालिक सुपुप्त अभिमान को पुनः जाग्रत किया।[28]

सामाजिक विचार

स्वामी विवेकानन्द ने समाजशास्त्र का शास्त्रोक्त अध्ययन नहीं किया था किन्तु फिर भी अपनी आध्यात्मिक शक्ति एवं प्रबल प्रज्ञा के कारण उन्होंने भारतीय समाज की सूक्ष्मतम विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त कर सामाजिक उत्थान एवं क्रांति का सूत्रपात किया। संयोगवश लंदन में 1896 में जब स्वामी विवेकानन्द ने आधुनिक भारत का प्रारूप तैयार किया उसी वर्ष गायटानो मोस्का ने भी अपनी प्रसिद्ध कृति एलीमेंटी डी साइन्जा पोलीटिका में यूरोप के अभिजन वर्ग-चक्र के सिद्धांत का निरूपण किया था।[29] यह स्वामी विवेकानन्द की अलौकिक मौलिक प्रतिभा का ज्वलन्त उदाहरण है कि उन्होंने स्वतन्त्र रूप से भारत के जिस समाजशास्त्रीय अध्ययन का सूत्रपात किया वह आधुनिक राजनीतिक समाजशास्त्र के लिये प्रथम अध्याय माना जा सकता है। भारत के 'जातीय चक्र' का विशद उल्लेख स्वामी विवेकानन्द के सामाजिक चिन्तन का प्रमुख स्तम्भ है। उनके अनुसार मनुष्य में जिन तीन गुणों-सत्त्व, रजस् तथा तमस् का सार्वभौमिक प्राधान्य है वे ही तीन गुण सर्व-कालिक होकर चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के रूप में उपस्थित हुए हैं। इन्ही चार वर्णों में भिन्न-भिन्न देशों ने भिन्न-भिन्न शासकीय शक्तियों का साक्षात्कार किया है।[30] विवेकानन्द के अनुसार विश्व-इतिहास का अध्ययन इस तथ्य का साक्षी है कि इन्हीं चार श्रेणियों ने कालान्तर में एक दूसरे से राजनीतिक एवं सामाजिक शक्तियां अर्जित की हैं। चीन, सुमेरिया, बेबीलोन, मिश्र, चेल्डी, आर्य, फारसी, यहूदी तथा अरब राष्ट्रों में समाज को मार्गदर्शन पुरोहित अथवा ब्राह्मण-वर्ग से मिला। इसके पश्चात क्षत्रिय-वर्ग का उद्गम हुआ जिसने निरंकुश राजतन्त्र की या फिर धनिक सामन्ती तन्त्र की स्थापना की। आधुनिक राष्ट्रों में, जिनमें इंग्लैंड प्रधान है, वैश्य-वर्ग ने व्यापार तथा वाणिज्य के द्वारा समाज को नियन्त्रित करने की शक्ति अपने हाथ में ले ली। पुरोहित वर्ग के अधःपतन ने क्षत्रिय-वर्ग का उत्थान किया और पुरोहित एवं क्षत्रिय दोनों ही वर्गों को वैश्य वर्ग ने अपनी आर्थिक सम्पन्नता के सामने झुका दिया। शूद्र की स्थिति जैसी थी वैसी ही रही। शूद्र-वर्ग की चेतना द्वारा ही यह चक्र पूर्ण होगा। भविष्य में शूद्र-वर्ग का ही बोलबाला रहेगा।[31] विवेकानन्द ने शूद्र-वर्ग को भारत की दलित जातियों के अर्थ में ही नहीं लिया किन्तु व्यापक अर्थ में शूद्रों की श्रेणी में मजदूरों, श्रमिकों एवं मेहनतकश किसानों को सम्मिलित किया है। इस दृष्टि से स्वामी विवेकानन्द का समाजशास्त्रीय विवेचन अत्याधुनिक प्रतीत होता है। उनका 'शूद्रतन्त्र' सम्बन्धी दृष्टिकोण समस्त विश्व में श्रमिकों एवं किसानों का आधिपत्य दर्शाता है। समाजवादी देशों में सर्वहारावर्ग के उत्कर्ष को स्वामी विवेकानन्द ने समय से पूर्व इंगित कर दिया था। उनकी यह भविष्य-वाणी, "शूद्रों का यह उत्थान पहले रूस में और फिर चीन में होगा। इसके उपरान्त भारत में उत्कर्ष होगा और वह भावी विश्व के निर्माण में सशक्त भूमिका अदा करेगा"[32] सत्य हो रही है।

स्वामी विवेकानन्द का विवेचन आधुनिक समाजवादी विचारकों की भाँति आर्थिक दृष्टिकोण पर पूर्णतया आधारित नहीं है। उन्होंने प्रत्येक विचार को आध्यात्मिक पुट दिया है। कहीं-कहीं इस प्रकार की आध्यात्मिकता का बाहुल्य उनके विचारों की तर्क सगति को शिथिल कर देता है। जैसे 'एक ओर पश्चिमी समाजों की स्वार्थ पर आधारित

स्वतन्त्रता है, दूसरी ओर आर्य-समुदाय का अतिशय बलिदान है। यदि इस हिंसात्मक संघर्ष में भारत को ऊपर और नीचे उछाला जाये तो क्या इसमें कोई आश्चर्य की बात है? पश्चिम का लक्ष्य है वैयक्तिक स्वतन्त्रता, भाषा है अर्थकरी विद्या और साधन है राजनीति, भारत का लक्ष्य है मुक्ति, भाषा है वेद और साधन है त्याग।" [33] इसी प्रकार के कथन में विवेकानन्द की धार्मिक आस्था का बाहुल्य दिखाई देता है। इसी तरह वर्ण-व्यवस्था का आंगिक सिद्धांत पर आधारित दृष्टिकोण भी विवेकानन्द के विचारों को पुरातनपंथी बनाता है। किन्तु इस संदर्भ में हमें यह न भूलना चाहिए कि स्वामी विवेकानन्द ने सामाजिक सुधार का भी प्रचार किया था। वे वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत दलितों एवं हरिजनों पर होने वाले अत्याचार के प्रबल विरोधी रहे। उन्होंने दलितों को 'दरिद्रनारायण' के रूप में देखा और उनकी सेवा को प्रत्येक भारतीय का प्रथम कर्त्तव्य घोषित किया। उन्हीं के शब्दों में, 'मुझे इस बात की चिंता नहीं है कि वे हिन्दू हैं या मुसलमान अथवा ईसाई, किन्तु जिन्हें ईश्वर से प्रेम है उनकी सेवा के लिए मैं सदैव तत्पर रहूंगा। मेरे वत्स अग्नि में कूद जाओ। यदि तुम्हें विश्वास है तो तुम्हें सब कुछ मिल जायेगा। हममें से प्रत्येक को दिन-रात भारत के उन करोड़ों दलितों के लिये प्रार्थना करनी चाहिए, जो दरिद्रता, पुरोहितों के जंजाल तथा अत्याचार में जकड़े हुए हैं-दिन-रात उनके लिये प्रार्थना करो। . . . . .मैं न तत्त्वशास्त्री हूं, न दार्शनिक हूं और मैं सन्त भी नहीं हूं। मैं दरिद्र हूं। मुझे दरिद्रों से प्रेम है। . . . . .भारत में कौन ऐसा है जिसके मन में इन बीस करोड़ स्त्री-पुरुषों के लिये सहानुभूति हो जो गहरी दरिद्रता और अज्ञान में डूबे हुए हैं? उपाय क्या है? उनके जीवन में प्रकाश कौन ला सकता है? इन्हीं लोगों को अपना देवता समझो। मैं उसी को महात्मा कहता हूं जिसका हृदय दरिद्रों के लिये द्रवित होता है। जब तक करोड़ों लोग भुखमरी और अज्ञान के शिकार हैं तब तक मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को विश्वासघाती समझता हूं जो उनके धन से शिक्षा प्राप्त कर उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता.... .।" [34]

स्वामी विवेकानन्द के धार्मिक विचार

स्वामी विवेकानन्द, अपने गुरु श्रीरामकृष्ण परमहंस के समान यह मानते थे कि मनुष्य अपने अन्तराल में निहित ईश्वर को आत्मसात् किये बिना जीवन के सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता। वह जीवन व्यर्थ है जिसमें परमात्मा की अभिव्यक्ति नहीं है। [35] विवेकानन्द हिन्दू-धर्म के सच्चे प्रतिनिधि थे और हिन्दू-धर्म को सब धर्मों का जनक मानते थे। वैदिक धर्म से लेकर वैष्णव धर्म तक उनका क्षेत्र था। नैतिक मानववाद और आध्यात्मिक आदर्शवाद का समन्वय उनके विचारों को सार्वभौमिकता का बाना पहनाता है। वे धर्म को व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनों को ही शक्ति प्रदान करने वाला तत्त्व मानते थे। उनके अनुसार, "मेरे धर्म का सार शक्ति है। जो धर्म हृदय में शक्ति का संचार नहीं करता वह मेरी दृष्टि में धर्म नहीं है, चाहे वह उपनिषदों का धर्म हो और चाहे गीता अथवा भागवत का। शक्ति धर्म से भी बड़ी वस्तु है और शक्ति से बढ़कर कुछ नहीं।" [36]

स्वामी विवेकानन्द वेदांत के निष्णात अध्येता थे। उनकी दर्शन में अन्तर्दृष्टि विलक्षण थी। वे आदि शंकराचार्य के समान अद्वैतवादी-मायावादी थे। उन्होंने भी

ब्रह्म को पूर्ण सत्य माना था। उनका सच्चिदानन्द ब्रह्म मे पूर्ण विश्वास रहा। वे ब्रह्म को सर्वोच्च सत्ता मानते थे। उनके अनुसार ज्ञान की सर्वोच्च अवस्था मे पूर्ण सत्य का साक्षात्कार ही ब्रह्म है। यदि भक्ति के माध्यम से उसे प्राप्त करने का प्रयास किया जाय तो वह ईश्वर की ओर इंगित करता है। शरीर के मूलरूप मे यही ब्रह्म आत्मा के रूप मे है। ईश्वर इस सृष्टि का कर्ता, धर्ता एव सहारक है। उनके अनुसार प्रत्येक जीव मे ईश्वर का अश विद्यमान है। वे दृश्य जगत् को माया मानते रहे और इसके समर्थन मे उन्होंने तर्क भी प्रस्तुत किये। तन्त्रशास्त्र के प्रभाव के कारण, विवेकानन्द ने ब्रह्म की सृजनात्मक शक्ति को माता के रूप मे स्वीकार किया। उनका यह विश्वास था कि जीवात्मा जो कि निष्कलक एव निष्पाप है, भौतिक जगत् के बन्धनो से मुक्ति प्राप्त कर ईश्वरत्व ग्रहण कर सकती है। सुकर्मों से यह ध्येय साध्य है और इसी मार्ग पर चल कर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

स्वामी विवेकानन्द अपनी योगसाधना की चरम सिद्धि प्राप्त कर आध्यात्मिक आनन्द मे खो गये थे। उनकी यह स्थिति उन्हे व्यक्तिगत मोक्ष साधन की ओर ले जा रही थी किन्तु ऐसे समय मे श्रीरामकृष्ण परमहस ने उन्हें जागृत किया और यह आदेश दिया कि अपनी मुक्ति प्राप्त करने के स्थान पर मानवता को मुक्ति का सदेश दो। गरीब, निरीह तथा दलित व्यक्ति की सेवा कर उन्हें मुक्त करो। अपने गुरु के इस आदेश से स्वामी विवेकानन्द ने धर्म को मानव-धर्म की परिधि में देखना प्रारम्भ किया और उनका दृष्टिकोण अतिव्यापक हो गया। अपनी मुक्ति के स्थान पर मानव मात्र की मुक्ति के लिए उन्होने चिन्तन प्रारम्भ कर दिया और यह सिद्ध किया कि ध्यान, योग साधना तथा समाजसेवा एक दूसरे के विलोम नहीं है।[37]

स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त-दर्शन के अन्तर्गत इस तथ्य को प्रस्तुत किया कि वेदान्त उस ईश्वर मे विश्वास नही करता जो मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग मे असम्भ सुख दे सकता है किन्तु जीवित व्यक्ति को रोटी उपलब्ध नहीं करा सकता।[38] उनका वेदान्त-दर्शन इन तीन मुख्य स्तम्भो पर आधारित था—(1) मानव की वास्तविक प्रकृति ईश्वरीय है, (2) जीवन का लक्ष्य उस ईश्वरीय प्रकृति की अनुभूति है और (3) समस्त धर्मों का मूल लक्ष्य समान है। उनके अनुसार वेदान्त ससार त्यागने का उपदेश नहीं देता किन्तु समस्त विश्व को ब्रह्ममय करने का पाठ सिखाता है।[39] 'ईशावास्यमिदम् सर्वम्' की धारणा से उनके विचारों मे अद्वैत, द्वैत एवं विशिष्टाद्वैत तीनों का अद्भुत समिश्रण है। विवेकानन्द ईश्वर को निर्गुण तथा सगुण दोनो ही रूपो में स्वीकार करते है।[40] वे अद्वैतवादियो के ब्रह्म-प्राप्ति के निर्विकल्प समाधि के मार्ग को तथा द्वैतवादियों के सविकल्प समाधि के अर्थ को ब्रह्म के साथ तादात्म्य की विधाएँ मानते हुए उन्हें एक ही सिक्के के दो पहलु स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार वे सच्चिदानन्द की अनुभूति के लिये ज्ञान, भक्ति तथा कर्मयोग तीनों का ही समन्वय आवश्यक मानते हैं। उनका उद्देश्य शकराचार्य के ज्ञान तथा बुद्ध की दयालुता का मिश्रण उत्पन्न करना है। वे योग को ही धर्म का मूल आधार मानते हैं। उनके अनुसार योग एक साधारण व्यक्ति के लिए मानव तथा मानवता का सम्मिलन है, एक रहस्यवादी के लिये उनकी निम्न तथा उच्च सत्ता का मिश्रण है, एक प्रेमी के लिये योग प्रेमी तथा प्रेम के देवता का मिलन है तथा एक दार्शनिक के लिये समस्त

अस्तित्व का बोध है। यही योग है और इस मार्ग का पथिक योगी है। मानव मात्र कार्य, पूजा या अनुष्ठान, मानस-निग्रह या दर्शन आदि किसी भी एक अथवा समस्त के माध्यम से योग साधना द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है।[41]

शिक्षा सम्बन्धी विचार

स्वामी विवेकानन्द केवल आध्यात्मिक शिक्षक ही नहीं थे अपितु भारतीय समाज एवं राष्ट्र की अनेक समस्याओं को हल करने का मार्ग भी उन्होंने प्रस्तुत किया था। उनका विचार था कि भारत की पिछड़ी हुई स्थिति के लिए शिक्षा की कमी बहुत हद तक उत्तरदायी थी। वे तत्कालीन शिक्षा-पद्धति के प्रबल आलोचक थे। अंग्रेजों की शिक्षा-पद्धति को वे बाबुओं का निर्माण करने वाला यन्त्र मानते थे।[42] यह शिक्षा उन्हें नकारात्मक ज्ञान देती थी और स्वावलम्बन विहीन थी। रटने पर अधिक जोर देने के कारण बुद्धि का विकास नैसर्गिक रूप मे नहीं हो सकता था। यह शिक्षा न तो उन्हें जीविकोपार्जन के लिये तकनीकी ज्ञान देती थी और न जीवन जीने का मार्ग दिखाती थी।[43] स्वामी विवेकानन्द शिक्षा-पद्धति को निश्चित लक्ष्यों से संयुक्त करना चाहते थे। उनका ध्येय मनुष्य का निर्माण करने वाली शिक्षा-पद्धति को अंगीकार करना था। अद्वैत दर्शन के आधार पर स्वामी विवेकानन्द ने यह रहस्योद्घाटन किया कि ज्ञान मनुष्य में ही अन्तर्निहित है। जब व्यक्ति कोई बात सीखता है तो वह अपने अन्दर ही उस तथ्य को खोज कर निकालने की प्रक्रिया से ऐसा करता है।[44] बाह्य क्षेत्र से ज्ञान प्राप्त नहीं होता। ज्ञान तो आन्तरिक प्रक्रिया है। उसे जागृत करने की आवश्यकता है। शिक्षक सिखाता नहीं है अपितु ज्ञान जागृत करता है।[45]

शिक्षा के लिए स्वास्थ्य को विवेकानन्द ने अत्यधिक महत्त्व दिया। स्वस्थ शरीर से ही स्वस्थ मस्तिष्क का बोध हो सकता है।[46] वे ध्यान केन्द्रित करने की क्रिया को भी शिक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण मानते थे। ध्यानावस्थित होने पर प्रत्येक विद्या का अभ्यास सहज रूप में हो सकता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य के पालन से नैतिक चरित्र ऊंचा उठता है।[47] कामवासना की शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में बदलने का स्वामी विवेकानन्द का आह्वान वैज्ञानिक दृष्टि से भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना आध्यात्मिक दृष्टि से। पूर्ण शक्ति के साथ विद्याभ्यास कर व्यर्थ की बातों से ध्यान को विरमित करना तथा तथ्य पर ध्यान केन्द्रित करना यह विवेकानन्द का स्थापित आदर्श था जिसका अनुसरण करने पर उच्चतम बौद्धिक उपलब्धियां प्राप्त हो सकती थी।[48] विवेकानन्द ने गुरु-सेवा तथा गुरु-शिष्य परम्परा का भी उल्लेख अपने भाषणों में किया। जैसे आध्यात्मिक ज्ञान बिना गुरु के प्राप्त नहीं हो सकता उसी प्रकार भौतिक ज्ञान भी सद्गुरु की संगति से ही प्राप्त होता है। इस प्रकार वे गुरुकुल शिक्षा पद्धति के पक्षपाती थे। वे यह भी मानते थे कि सच्ची शिक्षा प्रकृति के सान्निध्य से प्राप्त होती है। प्रकृति से दूर रह कर शिक्षा अधूरी रह जायेगी।[49]

शिक्षा के लिए स्वामी विवेकानन्द ने शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा के समन्वय पर बल दिया है।[50] इन सभी शिक्षा सम्बन्धी विचारों का मूल लक्ष्य एक विशुद्ध भारतीय शिक्षा-पद्धति का निर्माण करने का था। स्वामी विवेकानन्द पश्चिम के अंधानुसरण के विरोधी थे। जिस प्रकार से पश्चिमी शिक्षा तथा संस्कृति को पढ़े-लिखे भारतवासियों ने

अपनाना प्रारम्भ किया था उससे उनका मन व्यथित था। यही कारण है कि स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय धर्म तथा संस्कृति के मूलभूत स्तम्भ पर शिक्षा का मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। वे पाश्चात्य विचारों की नैतिक एवं मानवीय विशेषताओं को ग्रहण करने के लिए उद्यत थे किन्तु उनकी नकल करना उन्हें पसन्द नहीं था। वेशभूषा, खानपान, रीति-रिवाज, धर्म, चिन्तन, शिक्षा, समाज-उत्थान, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सभी को वेद, वेदान्त, उपनिषद आदि से नियन्त्रित कर उन्होंने भारतीयता को जीवित रखा। इस भारतीयता की छाप उन्होंने पश्चिम पर इतनी गहरी छोड़ी कि आज भी भारत के बाहर जो भारतीय महानता का प्रभाव है उसका अधिकांश स्वामी विवेकानन्द के योगदान का ही परिणाम है। □□

टिप्पणियाँ

1. देखिये रोमाँ रोलाँ, दी लाइफ ऑफ रामकृष्ण, (अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1965) पृ 222
2. देखिये दी लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द बाई हिज ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न डिसाइपल्स (अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा) खण्ड 2 पृ. 893
3. देखिये रोमाँ रोलाँ, पृ 223
4. देखिये वी एस नरवाने, माडर्न इण्डियन थाट, पृ 83
5. देखिये रोमा रोलाँ, पृ. 225
6. वही, पृ 226
7. नरवाने, पृ 84
8. वही, पृ 86
9. शिकागो वक्तृता स्वामी विवेकानन्द, (श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1975). पृ 10-12
10. वही, पृ 16-18
11. वही, पृ 19-21
12. वही, पृ. 22-23
13. वही, पृ 25-26
14. वही, पृ 30
15. वही, पृ 35
16. वही, पृ 39-40
17. वही, पृ 49 50
18. नरवाने, पृ. 86
19. दी कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 3, पृ. 190
20. वही खण्ड 5, पृ 120-121
21. इण्डिया इन ट्रांजीशन, पृ. 193
22. दी लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 2, पृ. 796
23. वही, पृ 306
24. दी मैसेज आफ विवेकानन्द, (अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1966) पृ 13-14
25. दी लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 1, पृ 306-307
26. देखिये जवाहरलाल नेहरू, "डिस्कवरी आफ इण्डिया", पृ 358
27. दोनेश्वरानन्द (स), दी लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द, पृ 7
28. जवाहरलाल नेहरू, इण्डियन थोट्स, पृ. 270
29. देखिये डी मैके औ ब्राउन, दी व्हाइट अम्ब्रेला-इण्डियन पोलिटिकल थॉट फ्रोम मनु टु गांधी, पृ 279

30. विवेकानन्द, "माडर्न इण्डिया", देखिये कम्पलीट वर्क्स, भाग 4
31. वही
32. देखिये भूपेन्द्रनाथ दत्त, विवेकानन्द : पेट्रियट-प्रोफेट, पृ 365
33. विवेकानन्द, "माडर्न इण्डिया', देखिये कम्पलीट वर्क्स, भाग 4
34 दी लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द, पृ 690
35 शिशिर कुमार मित्रा, दी विजन आफ इण्डिया, पृ 32-33
36 दी लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द, भाग 2, पृ 699
37 डा राधाकृष्णन, स्वामी विवेकानन्द सेन्टेनरी मेमोरियल वाल्यूम, आमुख iv
38 वही, पृ. 248
39 स्वामी विवेकानन्द, ज्ञान योग, पृ 140-141
40 स्वामी विवेकानन्द, प्रेक्टिकल वेदान्त, पृ 90-91
41. स्वामी विवेकानन्द, राज-योग, पृ 1
42. कम्पलीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, खण्ड 5, पृ 364
43 वही, पृ 362
44 वही, खण्ड 1, पृ. 28
45 स्वामी विवेकानन्द, ओन इण्डिया एण्ड हर प्रोब्लम्स, पृ. 58-59
46 कम्पलीट वर्क्स, खण्ड 3, पृ 242
47 वही, खण्ड 1, पृ 131-132
48. वही, खण्ड 8, पृ. 47
49. वही, खण्ड 5, पृ 360
50. वही, खण्ड 3, पृ 190

अध्याय 5

श्रीमती एनी बेसेंट (1847-1933)

एनी बेसेंट का नाम उन सर्व विदेशियों में अग्रणी है जिन्होंने भारत के बाहर जन्म लेकर भी भारत को अपनाया, भारत को अपना घर स्वीकार किया तथा भारतीय संस्कृति एवं हिन्दू-धर्म-दर्शन को श्रेष्ठता के शिखर पर पुन स्थापित करने में अपना जीवन अर्पित कर दिया। एनी बेसेन्ट आयरलैण्ड में पैदा हुईं और ब्रिटेन में ही उनका युवा जीवन व्यतीत हुआ। विवाह उनके लिए बन्धन सिद्ध हुआ। वे सांसारिक जीवन व्यतीत करने के लिए उत्पन्न नहीं हुई थी, उनका मार्ग आध्यात्मिक था। किन्तु अपने इस आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने में उन्हें स्वयं के विवेक एवं बुद्धिवाद में सामंजस्य स्थापित करना पड़ा। वे अत्यधिक मेधावी महिला थीं। अपनी विद्वत्ता, लेखनी तथा वक्तृत्व की शक्ति के कारण वे अल्प समय में ही ख्याति प्राप्त करने लगीं। वे ब्रिटेन के समाजवादी आन्दोलन की अगुआ रहीं। आयरलैंड के होमरूल-आन्दोलन में उन्होंने खुलकर भाग लिया। वे चार्ल्स ब्रेडला की नेशनल सेक्यूलरिस्ट सोसाइटी की सदस्य बनीं और होमरूल-कार्यक्रम उनके जीवन का अंग बन गया। किन्तु ब्रिटेन के उनके कार्यकलाप में अकस्मात् परिवर्तन आया। थियोसॉफी आन्दोलन की प्रवर्तक श्रीमती ब्लैवट्स्की के संपर्क में आते ही एनी बेसेन्ट की विचारधारा भी बदल गई। श्रीमती ब्लैवट्स्की द्वारा लिखित दी सीक्रेट डॉक्ट्रिन का उन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और वे रहस्यवाद की ओर झुकीं। भारत की अगाध आध्यात्मिक रस-माधुरी का पान करने के लिए वे लालायित रहने लगीं। थियोसॉफी आन्दोलन के लिए उन्होंने अपना सारा समय लगा दिया। श्रीमती ब्लैवट्स्की की मृत्यु के पश्चात् वे 1893 में भारत आयीं। 46 वर्ष की परिपक्व अवस्था में उनका भारत आगमन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उन्होंने भारत की आध्यात्मिक धरोहर को जहाँ सुरक्षित रखने का कार्य प्रारम्भ किया वहीं भारत से अशिक्षा, अज्ञान, राजनीतिक शिथिलता आदि को दूर करने का भी संकल्प लिया। बनारस में भगवानदास आदि के सहयोग से उन्होंने 'सेन्ट्रल हिन्दू-कॉलेज' की स्थापना की। आगे जाकर यही 'सेन्ट्रल हिन्दू-कॉलेज' पंडित मदनमोहन मालवीय द्वारा निर्मित बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी का आधार स्तम्भ बना। बेसेन्ट ने अपने द्वारा प्रचारित शैक्षिक कार्यक्रम में धार्मिक शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व दिया। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि शिक्षण में धार्मिक शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थियों में नैतिक एवं मानवीय मूल्यों को जगाया जा सकता है। देश-सेवा एवं नागरिकता के उच्च आदर्शों की प्राप्ति के लिए उन्होंने 'इण्डियन बॉय-स्काउट एण्ड गर्ल-गाइड एसोसियेशन' स्थापित किया। 1907 में एनी बेसेंट को भारत की थियोसोफिकल सोसाइटी का अध्यक्ष मनोनीत किया गया। वे 1907 से अपनी मृत्यु-पर्यन्त (1933) इस पद पर रहीं। मद्रास के पास अडयार नामक स्थान पर, जहाँ पर

थियोसोफिकल समाज का मुख्य कार्यालय है, आज भी श्रीमती एनी बेसेन्ट द्वारा संगृहीत सहस्रों पुस्तकों का अद्वितीय संग्रह विद्यमान है। भारत में तन्त्रशास्त्र, योगविद्या एवं रहस्यवाद के अध्ययन के लिए बेसेन्ट द्वारा पल्लवित यह स्थान संसार के बुद्धिजीवियों तथा सन्दर्शनियों के लिए तीर्थस्थल बन चुका है।

एनी बेसेन्ट का भारत के धार्मिक एवं समाज-सुधार आन्दोलन से प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। वे जब नवम्बर 16, 1893 को भारत के तूतीकोरिन नामक स्थान पर उतरीं तो उन्होंने पाया कि भारतवासी जहाँ एक ओर अपने धर्म के प्रति हीन भावना से ग्रस्त थे तो दूसरी ओर भारत की स्त्रियाँ पर्दाप्रथा तथा अन्य कुरीतियों की शिकार थीं। उन्होंने सारे भारत का भ्रमण कर भारतवासियों का ध्यान उनकी महान् आध्यात्मिक धरोहर की ओर आकृष्ट किया। इससे भारत में नवीन जागृति एवं विश्वास का वातावरण उत्पन्न हुआ। भारत आगमन के पहले 20 वर्षों में श्रीमती बेसेन्ट ने राजनीतिक मामलों से अपने आप को दूर रखा और केवल धार्मिक, शैक्षिक तथा समाज-सेवा के कार्य में ही अपना समय व्यतीत किया। भारत की आध्यात्मिक जागृति एवं भारत की महानता का का सन्देश देने के पश्चात् श्रीमती एनी बेसेन्ट ने यह नारा लगाया कि कोई भी विदेशी राज्य अन्य राज्यों को अपना गुलाम बना कर नहीं रख सकता। उनके अनुसार भारत जैसे महान् राष्ट्र को स्वराज न देना इंग्लैण्ड की सरकार पर कलंक है। अपने भारतीय स्वतन्त्रता सम्बन्धी क्रियाकलाप में एनी बेसेन्ट ने जनवरी 1914 में कॉमनवील नामक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 'होमरूल' कार्य को चलाने के लिये उन्हें एक दैनिक पत्र की आवश्यकता हुई और यह कार्य उन्होंने मद्रास स्टैण्डर्ड पत्र को खरीद कर पूरा किया। अब एनी बेसेन्ट के पास एक दैनिक पत्र भी था जिससे वे अपने राजनीतिक विचार जनता तक पहुँचा सकती थीं। उन्होंने मद्रास स्टैण्डर्ड का नाम बदल कर न्यू इण्डिया रख दिया। शनैः शनैः एनी बेसेन्ट का भारत की राजनीति से सम्बन्ध बढ़ता गया। अपनी पुस्तक वेक अप इण्डिया के माध्यम से उन्होंने भारत को राजनीतिक तन्द्रा से जगाया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के शिथिल कार्यकलाप को नवीन गति दी। कांग्रेस के नेतागण एनी बेसेन्ट के समर्थन में उतने उत्साह से आगे नहीं आये, अतः उन्होंने 1916 में होमरूल लीग की स्थापना कर डाली। कांग्रेस में श्रीमती बेसेन्ट को उग्रवादियों का समर्थन प्राप्त था। उदारवादियों के कार्य से बेसेन्ट सन्तुष्ट नहीं थीं। उनका विचार तिलक तथा लाला लाजपतराय को कांग्रेस के मार्गदर्शकों के रूप में देखने का था। यही कारण था कि 1915 में बम्बई में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन के लिए श्रीमती बेसेन्ट ने लाला लाजपतराय का नाम अध्यक्ष-पद के लिए प्रस्तावित किया किन्तु उदारपन्थी फिरोजशाह मेहता, जो कि बम्बई-अधिवेशन के लिए स्वागत समिति के अध्यक्ष थे, को यह प्रस्ताव रुचिकर नहीं लगा और उन्होंने शीघ्र ही श्री सत्येन्द्र (बाद में रायपुर के लॉर्ड सिन्हा) को बम्बई-अधिवेशन का अध्यक्ष निर्वाचित करा दिया। एनी बेसेन्ट ने कांग्रेस के बम्बई-अधिवेशन में भारत के लिए होमरूल की मांग प्रस्तुत की, किन्तु उदारवादियों ने भयभीत स्थिति में इस मांग को सरकार तक पहुंचाने का साहस नहीं दिखाया। समर्थन तो दूर रहा, अध्यक्ष सिन्हा ने श्रीमती एनी बेसेन्ट को "अधीर आदर्शवादी" कह कर सम्बोधित किया। कांग्रेस के उदारवादी नेतृत्व के इस पंगु एवं डरपोक रवैये को

देख कर एनी बेसेन्ट का कांग्रेस से कुछ समय के लिए दूर चले जाना स्वाभाविक ही था।

1915 में एनी बेसेन्ट ने अपनी "इंडिया : ए नेशन" तथा "हाउ इंडिया रौट फॉर फ्रीडम" नामकी लेखमाला कॉमनवील में प्रकाशित की। बाद में यह लेखमाला पृथक् पुस्तकों के रूप में छापी गयी और अत्यधिक प्रसिद्ध पुस्तकों की श्रेणी में इन्हें माना जाने लगा। एनी बेसेन्ट के सत्प्रयत्नों से 1916 में लखनऊ में कांग्रेस का एकीकरण हुआ। 1907 की 'सूरत-फूट' के पश्चात् लोकमान्य तिलक पुनः कांग्रेस के मंच पर आये। एनी बेसेन्ट, जिन्ना तथा लोकमान्य तिलक के सम्मिलित प्रयास से ऐतिहासिक 'कांग्रेस-लीग समझौता' हुआ। उनके द्वारा किये गये कठिन परिश्रम एवं राजनीतिक चेतना जागृत करने के कार्य ने जहाँ उन्हें अद्भुत लोकप्रियता दिलवायी वहीं ब्रिटिश शासन ने उनके कार्य से चिन्तित हो उन्हें 1917 में नजरबन्द कर दिया। एनी बेसेन्ट के दो भारतीय सहयोगी डा. बी. एन. अरण्डेल तथा बी. पी. वाडिया भी बन्दी बना लिये गये। किन्तु श्रीमती एनी बेसेन्ट का बन्दी बनाया जाना एक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का विषय बन गया। डा. सुब्रह्मण्य अय्यर, जो कि थियोसोफिकल समाज के उपाध्यक्ष थे, ने किसी तरह अमेरिका के राष्ट्रपति श्री वुड्रो विल्सन को एक पत्र लिख कर उनका ध्यान श्रीमती एनी बेसेन्ट पर बिना मुकदमा चलाये उन्हें बन्दी बनाये जाने की घटना की ओर आकृष्ट किया। वुड्रो विल्सन ने इंगलैंड के प्रधानमन्त्री लॉयड जोर्ज को पत्र लिख कर एनी बेसेन्ट की रिहाई की माँग की। भारत में सर्वत्र प्रदर्शन हुए तथा एनी बेसेन्ट की रिहाई के समर्थन में हड़तालें रखी गयी। अन्त में ब्रिटिश सरकार ने आन्तरिक एवं बाह्य दबाव के सामने झुक कर एनी बेसेन्ट तथा उनके दोनों सहयोगियों को रिहा कर दिया। भारत में सर्वत्र प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। कांग्रेस दल ने इस उपलक्ष्य में एनी बेसेन्ट को *1917* के कलकत्ता अधिवेशन का अध्यक्ष मनोनीत किया।

1918 के मोन्टेग-चेम्सफर्ड-प्रस्तावों के प्रकाशित होने पर एनी बेसेन्ट ने अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। उनके अनुसार ये प्रस्ताव इंगलैण्ड द्वारा प्रस्तुत करने के अयोग्य थे तथा भारत द्वारा स्वीकार करने योग्य नहीं थे। भारत ने प्रथम विश्व-युद्ध में इंगलैंड को तन-मन-धन से जो सहायता की थी उसे देखते हुए ये प्रस्ताव नगण्य थे। इन प्रस्तावों को लेकर श्रीमती एनी बेसेन्ट तथा महात्मा गाँधी में भी मत-भेद हो गया। एनी बेसेन्ट संविधानवादी थीं, जबकि गाँधी जी सत्याग्रह का आह्वान कर असहयोग की ओर प्रवृत्त हो रहे थे। एनी बेसेन्ट असहयोग एवं सत्याग्रह-आन्दोलन की तीव्र विरोधी थीं। उन्होंने अपनी संविधानवादी विचारधारा नहीं बदली और प्रोफेसर मन्मथराम कुमार द्वारा "कामनवेल्थ आफ इंडिया बिल" तैयार करवाया तथा उसे कांग्रेस के सामने प्रस्तुत किया। कांग्रेस ने उनका यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार इंग्लैंड की संसद् ने भी जोर्ज लेन्सबरी द्वारा प्रस्तुत इसी विधेयक को अस्वीकार कर दिया।

श्रीमती एनी बेसेन्ट एक महान् ऐतिहासिक विभूति के रूप में सदैव याद की जाती रहेंगी। जन्म से विदेशी होते हुए भी जितनी भारत की सेवा उन्होंने की, उतनी कई भारतवासी भी नहीं कर सकते थे। जार्ज बर्नार्ड शॉ ने उन्हें न केवल इंग्लैंड अपितु सारे यूरोप में सबसे बड़ी वक्ता माना था। उनका सुहावना व्यक्तित्व एवं उनके सजन्य कार्यों की चमक प्रत्येक भारतवासी के हृदय पर अंकित है। उनके द्वारा लिखित अनेक ग्रन्थों का

महत्व आज भी वैसा ही बना हुआ है। नवीन भारत के निर्माताओं में श्रीमती एनी बेसेन्ट का नाम सदैव आदर से लिया जाता रहेगा।

एनी बेसेन्ट के राजनीतिक विचार

एनी बेसेन्ट का यह दृढ़ विश्वास था कि भारत एक राष्ट्र था, एक राष्ट्र है और एक राष्ट्र रहेगा। वे भारत की प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता से राष्ट्रवाद की भावना का सम्बन्ध मानती थी। भारत ने जिस प्रकार राष्ट्र को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया, यह राष्ट्रवाद की नवीन परिभाषा के साथ ही साथ भारत राष्ट्र की प्राचीनता का साक्ष्य प्रस्तुत करता है।[1] एनी बेसेन्ट के अनुसार राष्ट्र ईश्वर की अभिव्यक्ति है। प्रत्येक मनुष्य में विचार करने वाली आत्मा उस ईश्वरीय तत्व का आभास कराती है। इस प्रकार राष्ट्र व्यक्तियों की समष्टि है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व झलकता है। आत्म-तत्व तथा ईश्वरीय तत्व में परस्पर सम्बन्ध से जो आध्यात्मिक अथवा धार्मिक तत्व उत्पन्न होता है वही राष्ट्र का सबसे महत्वपूर्ण निर्माण एवं निर्णायक तत्व है।[2] सब कुछ नष्ट हो जाने पर भी धर्म-तत्व के रहते राष्ट्र नष्ट नहीं हो सकता। एनी बेसेन्ट ने यहूदियों का उदाहरण देते हुए यह सिद्ध किया कि केवल धार्मिक मान्यता एवं पृथक् धार्मिक अस्तित्व राष्ट्रीयता एवं राष्ट्र को जीवित रख सकते हैं चाहे उस राष्ट्रीयता की स्वयं की भूमि, सरकार, सम्प्रभुता हो अथवा नहीं।[3] राष्ट्र दैवीय जीवन का पृथ्वी पर प्रतिरूप है। राष्ट्रीयता के जादू से जो एकता की भावना उत्पन्न होती है वह विश्व की यथाशक्ति सेवा में प्रयुक्त होनी चाहिए। बेसेन्ट ने राष्ट्रवाद की विचारधारा को संकीर्ण अथवा विध्वंसात्मक दृष्टिकोण से स्वीकार नहीं किया।[4] प्रत्येक राष्ट्र का अपना लक्ष्य एवं कर्त्तव्य पूर्वनिर्धारित है और यह मज़ेनी के शब्दों में "एक विशेष उत्तरदायित्व" है जिसे ईश्वर ने आरोपित किया है।[5]

एनी बेसेन्ट का विचार था कि भारत के एक राष्ट्र के रूप में विकसित होने के लिए हिन्दू-धर्म का पुनरभ्युदय आवश्यक है। हिन्दू-धर्म की विश्व के धर्मों से श्रेष्ठता से हिन्दुओं में आत्मविश्वास एवं राष्ट्रीय आत्म-सम्मान की वृद्धि होनी चाहिए। भारत धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में, विश्व का शिष्य नहीं किन्तु गुरु है।[6] बेसेन्ट के इन विचारों के साथ भारत की आंतरिक धार्मिक एकता की शृंखला जुड़ी हुई थी जिसके आधार पर उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि भारत अंग्रेजों के आगमन के पूर्व भी एक राष्ट्र था तथा राष्ट्रीय एकता के सूत्र भारत में यथावत् विद्यमान थे।[7] केवल राजनीतिक जागृति की कमी थी जिसे श्रीमती बेसेन्ट जैसे ओजनायकों द्वारा समय समय पर पूरा किया गया। श्रीमती बेसेन्ट का यह दृढ़ विश्वास था कि भारत जैसे महान् देश के लिये धर्म का आधार महत्वपूर्ण था। ज्ञान, अंधविश्वासों का अन्त, भौतिक समृद्धि तो आवश्यक तत्व हैं ही किन्तु बेसेन्ट इन तत्वों को धर्म के अधीन ही मानती थीं। उन्होंने एक स्थान पर बेकन की इस उक्ति को "कम ज्ञान मनुष्य को नास्तिकता की ओर ले जाता है, किन्तु गहन ज्ञान उसे पुनः धर्म की ओर ले जाता है" उद्धृत करके यह सिद्ध किया कि हिन्दू-धर्म ही भारत की राष्ट्रीय आत्म-चेतना का उद्दीपक है।[8] एनी बेसेन्ट राष्ट्र को जीवन युक्त मानती थीं। उनके अनुसार राष्ट्र एक जीव तथा ईश्वरीय तत्व का अंश है तदनुसार चारित्रिक विशेषताओं से युक्त है। राष्ट्र में मानवता प्रतिबिम्बित होती है क्योंकि वह

मानव का समग्ररूप है। यह मानवता आध्यात्मिक सूत्रों में ही उचित प्रकार से बढ़ती है। भारत का आध्यात्मिक अतीत इस धार्मिक महत्ता के माध्यम से भारत को पुरातन राष्ट्र सिद्ध करता है। भारत की यह प्राचीनता विश्व-कल्याण के लिए हितकारी सिद्ध होगी।[9] एनी बेसेन्ट ने यहाँ तक माना कि भारत ही विश्व का उद्धारक होगा। भारत की सदियों में मान्यता-प्राप्त न्याय निष्ठा, कर्त्तव्य-परायणता तथा कष्ट सहन करने एवं आत्मसात् करने की क्षमता ने उसे एक विशिष्ट भूमिका सौंपी है जो समस्त मानवता के हित में प्रयुक्त होती है।[10] हिन्दू-धर्म एकता तथा पारस्परिक निर्भरता का पाठ पढ़ाता है। यह बौद्धिक प्रयत्नों, बौद्धिक अन्वेषणों एवं बौद्धिक स्वतन्त्रता के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने वाला धर्म है। केवल यही धर्म विवेक की सत्ता को अंतिम सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। भारत के षड्दर्शन हिन्दू-धर्म की बौद्धिक स्वतन्त्रता के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। श्रीमती बेसेन्ट के अनुसार भारत का राष्ट्रीय भविष्य केवल हिन्दू-धर्म पर ही आश्रित है। इस तरह का विचार हानिप्रद नहीं, क्योंकि हिन्दू-धर्म अन्य धर्मों पर आक्रमण नहीं करना चाहता, उसमें सहिष्णुता कूट-कूट कर भरी हुई है। हिन्दू-धर्म किसी अन्य का धर्म परिवर्तन नहीं चाहता और न ही उसकी लालसा अन्य मतावलम्बियों से अपनी बात बलात् स्वीकार करवाने की है। सच्चा हिन्दू न तो किसी दलितवर्ग के संत के प्रति अश्रद्धा का भाव रखेगा और न ही वह किसी ज्ञानी मुस्लिम फकीर की समाधि पर पुष्प चढ़ाने में संकोच करेगा। उसमें सहिष्णुता असीमित है।[11] आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दू-धर्मावलम्बियों के धार्मिक कृत्यों में हस्तक्षेप न किया जाये। राजनीतिक मामलों में धार्मिक मतभेदों को स्थान नहीं मिलना चाहिए। राज्य के लिए सभी नागरिक समान हैं। राज्य द्वारा किसी भी एक धार्मिक मत का समर्थन सदैव ही विरोध एवं मनमुटाव का कारण रहा है। पृथक् निर्वाचन-व्यवस्था, अल्प-संख्यकों की राजनीतिक तथा मनोनीत सदस्यों का गुट—सभी राष्ट्रीय इच्छा के लिए घातक हैं तथा नागरिक की स्वतन्त्रता के शत्रु हैं।[12] अल्प-संख्यकों का राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिनिधित्व अवश्य निर्धारित किया जाये, किंतु यह राजनीतिक सिद्धान्तों पर किया जाये, न कि धार्मिक भेदभाव पर। राज्य की दृष्टि में हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों ही समान भारतीय नागरिक माने जायें। हिन्दू-धर्म को किसी सिफारिश अथवा पक्षपातपूर्ण समर्थन की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं अपने पैरों पर खड़ा है तथा अपनी ओर से भारत की राष्ट्रीयता की रक्षा करने में समर्थ है।[13] इस प्रकार श्रीमती बेसेन्ट ने धर्म-निरपेक्षता का त्याग किये बिना हिन्दुओं के आदर्शों पर आधारित राष्ट्रवाद की नींव को सराहा।

राष्ट्र सम्बन्धी विचारधारा के अन्तर्गत श्रीमती बेसेन्ट ने समान धर्म, समान भाषा, समान साहित्य आदि की भी विवेचना की।[14] उनका विश्वास था कि भारत में सनातन हिन्दू-धर्म के आदर्शों पर हिन्दुओं में एकता एवं राष्ट्रीयता अत्यधिक संगठित एवं शक्तिशाली बनी रह सकती है। समान भाषा का अभाव संस्कृत तथा अंग्रेजी के प्रयोग से दूर हो सकता है। हर अंग्रेजी-विभाग में संस्कृत पढ़ी जानी चाहिए तथा हर पाठशाला में अंग्रेजी पढ़ाई जानी चाहिए। हिन्दी भारत की आम जनता द्वारा सर्वत्र समझी जाने वाली भाषा है। उर्दू हिन्दी का ही फारसीकरण है। पंजाबी तथा गुरुमुखी हिन्दी की ही बोलियाँ हैं। इसी प्रकार गुजराती तथा मराठी है। बंगाली भी संस्कृतमय हिन्दी

है। किन्तु दक्षिण भारत की भाषाएँ जिनमें तमिल तथा तेलुगु मुख्य हैं-उत्तर भारत की हिन्दी से मेल नहीं खाती। चूंकि दक्षिण भारत की भाषाएं बहुत कम लोगों द्वारा प्रयुक्त होती हैं इसलिए दक्षिण भारतीयों को भारत की एकता एवं राष्ट्रीयता के हित में हिन्दी अपना लेनी चाहिए। इस प्रकार संस्कृत समस्त हिन्दुओं को धार्मिक दृष्टि से एकीकृत रखेगी, अंग्रेजी से प्रशासनिक एकता बनी रहेगी और हिन्दी सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में एकता का भाव बनाये रखेगी। समान साहित्य का उदाहरण हिन्दुओं द्वारा मान्य वेद, वेदांत, स्मृतियाँ आदि से मिलता है। भारत की हिन्दूमतावलम्बी जनता इस समान साहित्य से परस्पर जुड़ी हुई है। भविष्य में हिन्दुओं के साथ अन्य धर्मावलम्बियों को भी भारतीय राष्ट्र में रहना है। अतः अन्य धर्मों को धार्मिक सहिष्णुता एवं आध्यात्मिक तत्वज्ञान की समानता के आदर्श पर मिल कर चलना होगा। तभी भारत राष्ट्र का भविष्य सुदृढ़ होगा। पारस्परिक धार्मिक वैमनस्य मिटाना होगा और सबको समान रूप से सहिष्णु बनना होगा। अनेक समान धर्म न होते हुए भी अनेक धर्मों से युक्त भारत उपर्युक्त आदर्शों पर राष्ट्रीयता बनाये रख सकता है। इतना ही नहीं, भौगोलिक कारणों से भी *हिन्दू-राष्ट्र या मुस्लिम राष्ट्र जैसी कोई मान्य नहीं है, केवल भारतीय राष्ट्र का ही* अस्तित्व स्पष्ट है। भारत प्रारम्भ से ही एक पृथक् भौगोलिक प्रदेश के नाम से जाना गया है।[15] कलकत्ता-कांग्रेस-अधिवेशन के अध्यक्षीय पद से श्रीमती एनी बेसेन्ट के ये वाक्य और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—

'भारत, जिसने लाखों वर्षों के अपने इतिहास में प्राचीन काल की शक्तिशाली सभ्यताओं को उभरते और गिरते देखा, किन्तु वह उनके साथ नष्ट नहीं हुआ....भारत, जिसे राष्ट्रों के बीच अनेक बार बलि पर चढ़ाया जा चुका है, अब पुनर्जन्म प्राप्त कर चुका है और नव जीवन की इस चिरन्तन वेला में वह दिन दूर नहीं जब भारत गर्व के साथ सिर ऊंचा किये स्वतन्त्र और समर्थ बन कर एशिया के लिए अलौकिक प्रकाश की किरण और विश्व के लिए वरदान बन कर चमकेगा।"[16]

श्रीमती एनी बेसेन्ट ने राष्ट्रवाद की आध्यात्मिक धारणा का अनुमोदन करते हुए भी भारत राष्ट्र को संकीर्णता के परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा। उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि भारत ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल का सदस्य बने। वे भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों पर अत्यधिक जोर देती रहीं। उनका विश्वास था कि भारत को ब्रिटेन से पूर्णतया मुक्ति प्राप्त करने का विचार त्याग देना चाहिए, क्योंकि भारत और ब्रिटेन दोनों को ही मिल कर भविष्य के लिए कार्य करना है। उनका यह भी विश्वास था कि केवल भारत के प्रयत्नों से ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद एक राष्ट्रमण्डल में परिवर्तित हो सकता है—एक ऐसा राष्ट्रमण्डल जिसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को सम्प्रभुता में ब्रिटेन के समान माना जाये। पारस्परिक हितों एवं ऐतिहासिक कारणों से यह राष्ट्रमण्डल हिंसा और प्रतिशोध के स्थान पर सद्भावना एवं सहयोग पर आधारित होना चाहिए। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि प्रारम्भ में राष्ट्र मण्डल का केन्द्र इंग्लैंड में होगा किन्तु बाद में इसका केन्द्र भारत ही बनेगा।[17]

स्वराज एवं लोकतन्त्र

श्रीमती एनी बेसेन्ट ने राजनीतिक स्वशासन एवं लोकतन्त्र के सम्बन्ध में अपने विचारों का प्रतिपादन करते हुए जहाँ भारत के लिए स्वराज की मांग का पुरजोर समर्थन

किया, वहां लोकतन्त्र के सम्बन्ध मे अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं को प्रकट करने की स्वतन्त्रता का भी पूरा-पूरा उपयोग किया। उनका यह विश्वास था कि भारत को स्वराज्य प्राप्त होना चाहिए फिर भी वे भारत मे पाश्चात्य लोकतन्त्र के अधानुसरण के पक्ष में नहीं थीं।[18] वे खोपड़ियाँ गिनने वाली लोकतान्त्रिक व्यवस्था के स्थान पर ज्ञान तथा विद्वत्ता युक्त प्रतिनिधियो की सरकार की स्थापना देखना चाहती थीं। उनके अनुसार ग्राम-स्तर पर, राज्य-स्तर पर तथा केन्द्रीय स्तर पर अलग-अलग योग्यता-प्राप्त प्रतिनिधियों की आवश्यकता है। ग्रामस्तर के साधारण योग्यता वाले अनुभवी कृषक को ग्राम, तालुका एव जिला पंचायत-स्तर पर चुना जाये तो वह दक्षता से कार्य कर सकता है, किन्तु राज्य अथवा संघीय स्तर पर उच्च योग्यता के बिना किसी का चुना जाना उचित नहीं ठहराया जा सकता। सघीय शासन-व्यवस्था की पेचीदगियाँ, कानून की गूढ़ सरचना, जटिल व्यवस्थापन आदि ऐसी चुनौतियाँ हैं कि उन्हें एक उच्च शिक्षा प्राप्त अनुभवी व्यक्ति ही समझ सकता है।[19] अतः केन्द्रीय ससद् के लिये सर्वोच्च योग्यता होनी चाहिए। एनी बेसेन्ट ने "कामनवेल्थ आफ इंडिया बिल" (1925) मे प्रतिनिधियो के चुने जाने के लिए निम्नलिखित तीन में से एक योग्यता अनिवार्य मानी—(1) स्नातक-स्तर तक शिक्षा अथवा तकनीकी ज्ञान का डिप्लोमा (2) केन्द्रीय ससद् के लिए निर्वाचित होने के लिये एक कार्यकाल की राज्य-व्यवस्थापिका की सदस्यता (3) चैम्बर आफ कामर्स, जमींदारी सगठन ट्रेड युनियन काउंसिल, इंडस्ट्रियल एसोसिएशन आदि में से किसी एक की सदस्यता। उपर्युक्त अर्हताओं का उद्देश्य एवं कुलीनतन्त्रीय शासन स्थापित करने की वृत्ति का परिचायक था। एनी बेसेन्ट ने अपने इन विचारो की आलोचना का यह उत्तर दिया था कि उनका उद्देश्य समृद्धवर्ग का शासन स्थापित करना नहीं है। उनका यही तर्क है कि उच्च शिक्षा-प्राप्त सम्भ्रान्त व्यक्ति इतिहास, दर्शन, तर्कशास्त्र आदि से मानसिक प्रशिक्षण प्राप्त कर नवीन परिस्थितियों का उचित सामना कर सकते हैं। उनका मानसिक स्तर अधिक उदात्त होता है और वे मनुष्यो तथा वस्तुओं को समझने की क्षमता रखते हैं।[20] श्रीमती एनी बेसेन्ट द्वारा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र की आलोचना तथा उसके स्थान पर अभिजात-तन्त्र की प्रशसा दोनो ही युक्तियुक्त थीं। यद्यपि आधुनिक विचारक इस तर्क से सहमत नहीं कि लोकतन्त्र मे मताधिकार अथवा निर्वाचित होने का अधिकार किसी शैक्षिक उपलब्धि पर आधारित हो, किन्तु फिर भी यह मानना होगा कि निर्वाचित प्रतिनिधियो के उत्तरदायित्वों तथा आधुनिक व्यवस्थापन की जटिलताओं को ध्यान में रखते हुए एक अयोग्य तथा अर्धशिक्षित व्यक्ति कदापि शासन-कार्य से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता। श्रीमती एनी बेसेन्ट द्वारा यही विचार व्यक्त किया गया था और उस दृष्टि से यह विचार स्वीकार करने योग्य था। केवल इस आधार पर एनी बेसेन्ट को अभिजाततन्त्र की पोषक मानना उचित नहीं है क्योंकि जहां वे देश व्यापी शासनकार्य का सम्पादन करने के लिए उच्च योग्यताएं निर्धारित करती हैं, वहीं ग्राम पचायतों के लिए साधारण ग्रामीण को समस्त कार्य चलाने योग्य मानती हैं।

समाजवाद

एनी बेसेन्ट अपने समय की समाजवादी विचारधारा से प्रभावित थीं। उनका समाजवादी दृष्टिकोण फेबियनवादी था। वे समाज में वर्ग-संघर्ष अथवा सर्वहारा की

पश्चिम विजय के वैज्ञानिक समाजवादी विचारों से दूर थी। उनका समाजवादी दृष्टिकोण व्यक्तिवाद एवं यदृच्छावाद के विरोध-स्वरूप विकसित हुआ था। वे सहकार पर आधारित नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिए लालायित थीं। सम्पत्ति के समाजीकरण द्वारा वह ऐसे समाजवाद की कल्पना कर रही थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता के आधार पर उचित सामाजिक उत्तरदायित्व का भार वहन कर सके। इस प्रकार "प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार" के लोकप्रिय समाजवादी कथन के स्थान पर एनी बेसेन्ट का नारा "प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार तथा प्रत्येक को उसकी बुद्धिमत्ता एवं दक्षतानुसार" था।[21] किन्तु उनके विचारों का यह अर्थ लगाना कि वह पूँजीवादी शोषण का समर्थन करती थीं, उचित नहीं होगा। उनका उद्देश्य बुद्धिमान एवं अनुभवी व्यक्तियों के शासन से अवश्य था किन्तु वे सम्पत्ति के एकाधिकार का समर्थन नहीं करती थीं। उनका यह विचार सर्वदा रहा कि पूँजीपतियों की सम्पत्ति को सीमित रखने के लिए उन पर अधिक कर लगाये जायें। ज्ञान तथा नैतिकता सम्बन्धी आध्यात्मिकता का अवलम्बन करने के पश्चात् उन्होंने समाजवादी व्यवस्था में भी इन्हीं दो गुणों को प्रमुखता दी।[22] यही कारण है कि उनके समाजवाद सम्बन्धी विचारों को "अभिजाततन्त्रीय समाजवाद" की संज्ञा दी गयी है।

श्रीमती बेसेन्ट ने समानता के आदर्श को इतना अधिक महत्त्व नहीं दिया जितना महत्त्व उन्होंने स्वतन्त्रता को दिया। वे अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा नागरिक स्वतन्त्रता को अधिक महत्त्वपूर्ण मानती थीं। स्वतन्त्रता को आत्मा का शाश्वत गुण मानते हुए, उद्यम तथा अनुशासन से उसे प्राप्त करने का आह्वान किया। बाह्य स्वतन्त्रता के लिए आन्तरिक आत्म-स्वतन्त्रता की प्राप्ति एक पूर्वापेक्षित तथ्य है और आन्तरिक स्वतन्त्रता आत्मसंयम की सहगामिनी है। आचरण की शुद्धता एवं मन की पवित्रता के आदर्शों पर ही स्वतन्त्रता आधारित की जा सकती है। यही राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए अपेक्षित है। इस प्रकार एनी बेसेन्ट का स्वतन्त्रता सम्बन्धी चिन्तन आध्यात्मिक गुणों से युक्त था।

धार्मिक विचार

श्रीमती बेसेन्ट के अनुसार धर्म मनुष्य की आत्मा द्वारा बृहत् आत्मा के साथ तादात्म्य की खोज है। उनके अनुसार जीवन के तीन महान् सत्य हैं। प्रथम, मनुष्य की आत्मा अमर है। आत्मा के भविष्य, विकास और सौन्दर्य की कोई सीमा नहीं है। द्वितीय, वह सत्य जो जीवन देने वाला है, हमारे अन्दर है, हमारे बाहर है, अमर है, सर्व कल्याण-कारी है, वह न देखा जा सकता है, न सुना जा सकता है, न सूँघा जा सकता है। लेकिन वह सत्य उस मनुष्य के द्वारा जो उसे जानने का इच्छुक है, जाना जा सकता है। तृतीय, प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। वह अपने सुख, दुःख, प्रशंसा, पुरस्कार, दण्ड आदि सबका विधायक है। ये सत्य उतने ही महान् हैं जितना कि विधाता महान् है।[23] श्रीमती बेसेन्ट ने थियासोफी के माध्यम से अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार थियोसोफी उन अटल सत्यों का समूह है जो सभी धर्मों की आधारशिला कही जा सकती है और कोई भी एक धर्म उसको अपनी सम्पत्ति नहीं कह सकता। यह एक सरल जीवन दर्शन देती है जिसकी सहायता से जीवन की जटिलताएँ समझ में आ सकती हैं। विकास किस प्रकार न्याय व प्रेम की सहायता से चलता है यह स्पष्ट हो जाता है। यह मृत्यु को

उनके उचित स्थान पर रखती है—एक अनन्त जीवन में बार-बार होने वाली घटना के रूप में। यह इस बात को घोषित करती है कि मृत्यु के बाद का जीवन अधिक व्यापक और ओजपूर्ण होता है। वह मनुष्य से आग्रह करती है कि वह अपने को आत्मा के रूप में देखे और मन तथा शरीर को स्वामी नहीं, बल्कि सेवक के रूप में देखे। थियोसोफी धर्म के जटिल और छिपे सिद्धान्तों के अर्थ को व्यक्त करके, बुद्धि की कसौटी पर जाचने योग्य बनाती है।[24] थियोसोफी का आधारस्तम्भ पुनर्जन्म और कर्म-विधान है। यह कर्म-विधान ईश्वर का कोई मनमाना नियम नहीं है, वरन् वह वैज्ञानिक सिद्धान्त 'कर्म और फल' पर आधारित है। वैज्ञानिक नियम है कि हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। कर्म-विधान इसी वैज्ञानिक नियम पर आधारित है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि कोई भी क्षण नहीं जाता है, जब मनुष्य बिना कर्म किये रहे। सभी प्रकृति के गुणों के वश में होकर कर्म करते हैं। गीता में ही अन्य स्थान पर श्रीकृष्ण ने कहा है कि प्रकृति के गुणों के कारण जीव कर्म करता है। अहंकार के कारण विमूढ़ आत्मा अपने को कर्त्ता समझता है। सच तो यह है कि आत्मा तो कुछ करता ही नहीं, न उसको दु ख एवं सुख होता है। वह तो द्रष्टा स्वरूप सब देखता रहता है।[25] अर्थात् शरीर और मन प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर कर्म करते हैं। अत कर्म का प्रतिफल शरीर और मन पर पड़ता है न कि आत्मा पर जो केवल द्रष्टा स्वरूप देखता रहता है। यदि हम अपने को आत्मा समझें जो शरीर मन और बुद्धि के परे है तो हमको कष्ट नहीं पहुँचेगा। चूंकि हम अपने को शरीर और मन से भिन्न नहीं समझते हैं, हमें कष्टों की अनुभूति होती है। जब तक हमारी चेतना इतनी ऊँची नहीं उठती है कि हम अपने को शरीर और मन से भिन्न समझें, हमें समझ लेना चाहिए कि वैज्ञानिक नियम कारण और फल के अनुसार हमारे कर्मों का प्रतिफल हम पर पड़ेगा ही।[26] हम मनसा, वाचा और कर्मणा तीनों प्रकार से काम करते हैं और वैज्ञानिक नियम के अनुसार तीनों प्रकारों के कर्मों का प्रतिफल होता है और यह फल कर्त्ता को भोगना पड़ता है। हमारे विचारों का भी फल हमको भोगना पड़ता है। जो विचार हमारे मन में उठते रहते हैं वे विचार मानसिक जगत् के तत्वों का रूप धारण कर लेते हैं और वे रूप (थॉट-फार्म) सोचने वाले के आसपास मंडराते रहते हैं। स्वभावतः जिनके प्रति ये विचार किये जाते हैं, उनकी ओर भी प्रवाहित होते रहते हैं और उनके मन में भी वैसे ही विचार पैदा करते हैं। इन विचार-रूपों में ऐसी शक्ति होती है कि समान विचार वाले रूपों में मिलकर वे और भी शक्तिशाली बन जाते हैं और वातावरण को दूषित करते रहते हैं। नि सन्देह हमारा मन विचारों को पैदा करने वाला होने के कारण वह इसका प्रतिफल भोगने का भागी बन जाता है। विचारों में स्वत कार्यान्वित होने की शक्ति होती है। विचारों के द्वारा एक ऐसे तत्त्व का निर्माण होता है जो वाह्य रूप में भी प्रभावशाली होता है। मनुष्य के द्वारा बोले जाने वाले शब्द उसके जीवन को प्रभावित करते हैं। अत. रुग्णावस्था के विचार ही मनुष्य को रोगी बना देते हैं और स्वास्थ्य के विचार उसे स्वस्थ होने में सहायक होते हैं। विशाल विश्व-चेतना में विचारों का एक केन्द्र है। जब-जब मनुष्य सोचता है वह अपने मस्तिष्क को क्रियाशील बनाता है। संसार के समस्त मनुष्य एक विशाल क्रियाशील मस्तिष्क के अन्तर्गत हैं, जो कि स्वभावतः विचार के अनुरूप ही विभिन्न प्रकार की पृष्ठभूमि तैयार करता है।[27]

श्रीमती बेसेन्ट के अनुसार हमारे विचार, हमारी भावनाएँ एव हमारी शारीरिक दशा अधिकांशत: हमारी क्रियाओं के द्वारा प्रकट होती हैं। हम जो कुछ बाह्य रूप में हैं अथवा जो बनेंगे, सब इस बात पर निर्भर है कि हम क्या सोचते हैं? क्योंकि विचार के द्वारा हम क्रियात्मक शक्ति का उपयोग करते हैं। हम सब लोगों ने अपने जीवन में अपने शब्दों, विचारों और क्रियाओं के द्वारा जैसा भी वातावरण तैयार किया है, हम उसी वातावरण में रहते हैं। विचारों के माध्यम से ही, चाहे चेतन विचार हो अथवा अचेतन, हम अपने भविष्य की घटनाओं और क्रियाओं को निर्मित करते रहते हैं। जो हमारे विचारों के द्वारा बनाया गया है, उसे विचारों के द्वारा ही नष्ट भी किया जा सकता है। जीवन भर की गलत विचारधारा को जानबूझ कर, निश्चयात्मक ढंग से नष्ट किया जा सकता है और उसके स्थान पर पूर्णत नवीन विचारों को मस्तिष्क में प्रस्थापित भी किया जा सकता है। अत: जीवन में प्रत्येक दिन, प्रत्येक क्षण हमें भले बुरे का विवेक करना ही चाहिए और हमें अपने मस्तिष्क में विवेकपूर्ण विचार ही उत्पन्न करना चाहिए।[28] श्रीमती बेसेन्ट के अनुसार हम उस महाज्योति की ही चिनगारी हैं और उसी में ही विलीन होंगे, अनेक जन्म हमने लिये हैं और अनेक बार हमारी मृत्यु हुई है। जैसे कोई वृक्ष प्रतिवर्ष हराभरा, पल्लवित व पुष्पित होता है, वैसे ही अनेक जीवन लेकर हम पूर्णता की ओर बढ़ रहे हैं। उस पूर्णता में मृत्यु नाम की मरीचिका समाप्त ही हो जायेगी, विछोह होगा ही नहीं। हम अपनी समग्रता और आत्मतत्त्व को अच्छी तरह अनुभव कर 'पूर्ण' बन जायेंगे। यही जीवन का हेतु है।[29]

श्रीमती बेसेन्ट ने सर आशुतोष मुकर्जी द्वारा प्रारम्भ करवाये गये "कमला व्याख्यान" के अन्तर्गत जनवरी 1925 में तीन भाषण कलकत्ता-सीनेटहाल में दिये। भाषणों का विषय था भारतीय शिक्षा, भारतीय दर्शन एवं धर्म तथा भारतीय कला। भारतीय दर्शन एवं धर्म सम्बन्धी भाषण में श्रीमती बेसेन्ट ने भारतीय दर्शन के आदर्श तथा भारतीय धर्म के आदर्श में एक रूपता के दर्शन किये। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि भारत में दर्शन को धर्म से असम्बद्ध नहीं माना गया। विज्ञान तथा नैतिकता के सम्बन्ध को इस विचार ने अति प्रगाढ़ बना दिया है।[30] अनैतिक आचरण से सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। उन्होंने इस सन्दर्भ में श्रीमद्भगवद् गीता में वर्णित ईश्वरीय गुणों का उल्लेख किया जिनके बिना सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव है। उनके अनुसार भारतीय दर्शन एवं धर्म ने मानव की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति कर दी है। ब्रह्म का ज्ञान तथा योग-पद्धति ने मानव के समस्त सकटों को दूर करने का मार्ग प्रशस्त किया है। चिन्तन का अगाध सागर हिलोरें लेता दिखाई पड़ता है। "नेति नेति" से लेकर "तत्वमसि" तक का मार्ग मानव की श्रेष्ठता एवं परमतत्त्व की प्राप्ति का अवगाहन है।

श्रीमती बेसेन्ट के धार्मिक विचारों का आधार उनकी हिन्दू धर्म में अगाध आस्था है। वे हिन्दू-धर्म को उसकी पूर्णता में स्वीकार करती हैं। उपनिषद्, गीता, पुराण, महाभारत, रामायण, स्मृति, धर्मशास्त्र आदि समस्त साहित्य को उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। हिन्दू-धर्म के दर्शन, उसके आचार-शास्त्र, उसकी उपासना-पद्धति, उसकी योग-पद्धति, रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड तथा वर्णाश्रम धर्मव्यवस्था सभी को स्वीकार कर श्रीमती बेसेन्ट ने भारतीयों को चकित कर दिया।[31] इतना ही नहीं, उन्होंने कर्म के सिद्धान्त, पुनर्जन्म की

धारणा, अवतारवाद आदि को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हुए मद्रास के प्रेसीडेन्सी कॉलेज में अपने नवम्बर 1914 के भाषण में कहा, "मैंने अपने विश्व के महान् धर्मों के चालीस वर्षों से अधिक के अध्ययन में, किसी भी धर्म को न तो इतना पूर्ण, न इतना वैज्ञानिक, न दार्शनिक और न इतना आध्यात्मिक पाया जितना हिन्दू-धर्म के नाम से विख्यात महान् धर्म को। आप जितना इसका ज्ञान प्राप्त करेंगे उतना ही आप इससे प्रेम करेंगे, जितना अधिक आप इसे समझने का यत्न करेंगे उतनी ही अधिक गहराई से आप इसका मूल्य करेंगे।[32] इससे भी अधिक ओजस्वितापूर्ण वाणी में उन्होंने कहा था :

"और यदि हिन्दू स्वयं हिन्दू-धर्म की रक्षा नहीं करते तो कौन इसकी रक्षा करेगा ? यदि भारत के नौनिहाल अपने विश्वास का आलिंगन नहीं करते तो इसकी सुरक्षा कौन करेगा ? केवल भारत ही भारत को बचा सकता है तथा भारत एवं हिन्दू-धर्म एक ही हैं। कोई भी पाश्चात्य शरीर से वह कार्य नहीं कर सकता जो आप कर सकते हैं। भारत के लिए न मेरा प्रेम, न पूर्ण सेवा, न पूर्ण भक्ति इस विदेशी चोले में वह कार्य कर सकती है जो आप भारत की सन्तानें कर सकती हैं। हिन्दू पैदा होता है, बनाया नहीं जाता। न हिन्दू धर्म की सेवा, न हिन्दू-उपदेशों का पालन, न हिन्दू-ज्ञान की शिक्षा किसी अहिन्दू को हिन्दू बना सकती है। अतः हममें से वे जिनका हृदय हिन्दू है तथा जिनके पीछे भूत-कालिक हिन्दू जीवन (के अनुभव) हैं केवल आपकी सहायता मात्र कर सकते हैं, मुख्य कार्य आपको स्वयं करना है।'[33]

श्रीमती एनी बेसेन्ट के कार्यों का मूल्यांकन

श्रीमती बेसेन्ट ने प्रेम तथा सेवा से अपने आपको हिन्दू राष्ट्र से जोड़कर भारत की जो सेवा की उसके सम्बन्ध में भारत के वर्तमान बुद्धिजीवियों में वैचारिक मतभेद व्याप्त है। एक ओर श्रीमती बेसेन्ट को भारत की महान् सेविका एवम् धर्मोद्धारक माना गया है तो दूसरी ओर ऐसे विचारकों की कमी नहीं है जो उन्हें भारत में अंग्रेजी राज्य की दासता का प्रवर्तक मानते हैं। आलोचकों का यह तर्क रहा है कि जब स्वामी विवेकानन्द 1893 में पश्चिमी विजेताओं को हिन्दू धर्म के माध्यम से विजित करने के लिए शिकागो गये थे, ठीक उसी वर्ष श्रीमती बेसेन्ट भारतीयों की आध्यात्मिक संस्कृति के पुनः उद्धार तथा उनके नैतिक उत्थान के लिए भारत आईं। यह कहा गया है कि भारतीय शिक्षित हिन्दू अपने गोरे शासकों की सांस्कृतिक उच्चता से इतने कायल थे कि उन्होंने श्रीमती बेसेन्ट के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करने के बजाय उन्हें भारत की राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करने तथा लोकमान्य तिलक एवम् महात्मा गांधी जैसे महान् देशनेताओं के नेतृत्व की प्रतिद्वन्द्विता करने का अवसर दिया। यह कहा गया है कि श्रीमती बेसेंट की आध्यात्मिकता उनके अंग्रेजी राज्य समर्थित विचारों को छिपाने का प्रच्छन्न चोगा था। श्रीमती बेसेंट यह अच्छी तरह से जानती थीं कि शक्ति के बल पर किसी भी साम्राज्य को अधिक दिन तक नहीं चलाया जा सकता है, अतः दासता को बनाये रखने के लिए मानसिक आधार ढूंढना आवश्यक है। उन्होंने केवल प्रशासन तक ही अंग्रेजों के भार को सीमित नहीं रखा अपितु सांस्कृतिक क्षेत्र पर भी उनका अधिकार निर्धारित कर दिया। उन्होंने ब्रिटिश शासकों को यह चेतावनी दी कि भारतीयों की सभ्यता एवम् संस्कृति आदिम कबीलों जैसी नहीं है। अतः ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को चाहिए कि वे भारत

के विवेक तथा आध्यात्मिकता को मानसिक रूप से अपने अनुकूल बनाये। आलोचकों का यह भी कहना है कि श्रीमती बेसेंट ने हिन्दुओं के मस्तिष्क को महत्त्वपूर्ण राजनीतिक गतिविधियों से दूर हटाकर उसे निरुपादेय आध्यात्मिकता में लगा दिया। भारतीयों ने भी विजेता अंग्रेजों की नस्ल के एक सदस्य द्वारा हिन्दुओं की महत्ता का उपदेश सुनकर अपने दर्शन तथा धर्म के मूल्यों को उनके माध्यम से प्राप्त कर अपनी सारी श्रद्धा उनके प्रति उड़ेल दी। ठीक उसी प्रकार से जैसे शोपनहावर द्वारा उपनिषदों की प्रशंसा सुनकर भारतीय मस्तिष्क उद्वेलित हो उठा। यद्यपि भारतीय पण्डितों ने अनेक बार उपनिषदों की प्रशंसा की थी किंतु हमारी दासता की प्रवृत्ति के कारण हम किसी विदेशी के मुख से की गई अपनी प्रशंसा को सच्ची प्रशंसा मानते रहे।

श्रीमती बेसेंट ने भारतीय संस्कृति के भौतिक पक्ष को जिसके अंतर्गत भारतीयों ने वराहमिहिर तथा आर्यभट्ट जैसे महान् विद्वानों के योगदान को विस्मृत कराकर हमें आध्यात्मिकता की ओर ले जाने का प्रयास किया ताकि हम ब्रिटिश सरकार के अंतर्गत भारत की राजनीतिक दुर्दशा के प्रति अपरिचित से बने रहें। भारतीय संस्कृति की रक्षा तथा उसके अनुपम अस्तित्व को सुरक्षित रखने का ऐसा दौर चला कि हम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के संघर्ष को उसके सामने गौण मानने लगे। भारतीय राष्ट्र की नियति श्रीमती बेसेन्ट जैसे विदेशियों के हाथ में छोड़कर साम्राज्यवाद के पाश में हम फंसते चले गये। श्रीमती बेसेंट ने इस बात का निरंतर प्रयास किया कि भारतीय राजनीति के स्थान पर धर्म की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करें। वे खुले तौर पर यह कह देती थीं कि भारतीयों की श्रेष्ठता धर्म के क्षेत्र में रही है न कि राजनीति के क्षेत्र में। अतः उन्हें विश्व का आध्यात्मिक गुरु बनना चाहिए और राजनीतिक संघर्ष से अपने आपको दूर रखना चाहिए। भारत के ऊपर विश्व में धर्म की रक्षा करने का भार बतला कर बेसेंट ने भौतिकवाद के विरुद्ध अध्यात्मवाद का प्रवचन दिया। इतना ही नहीं श्रीमती बेसेंट ने प्राच्य एवम् पाश्चात्य में गुणात्मक अंतर दर्शाते हुए दोनों संस्कृतियों की भिन्नता को ईश्वर की सुनियोजित योजना का भाग मानते हुए यह कहा कि दोनों में समानता इस कारण नहीं हो सकती कि ईश्वर दोहरापन स्वीकार नहीं करता। दोनों संस्कृतियाँ अपने आप में अनुपम तथा अपने अस्तित्व के लिए एक दूसरे पर निर्भर करती हैं। अंग्रेजों द्वारा अभी भी भारतीयों को सीखने के लिए बहुत कुछ शेष है। इसी प्रकार से भारतीयों द्वारा अंग्रेजों को बहुत सी शिक्षा दी जानी है। भारत से सभी धर्मों का अध्यात्मीकरण प्रारम्भ होगा और इंग्लैंड से व्यावहारिक विज्ञान प्रवाहित होगा, जो प्रकृति के समस्त स्रोतों को मानव की सेवा में आबद्ध कर देगा। विश्व के उद्धार के लिए दोनों को मिल जाना चाहिए, न कि आपस में एक दूसरे को नष्ट करने का प्रयास करना चाहिये। उनका यह उद्देश्य था कि भारत में अनैतिक भौतिकवाद तथा विज्ञान दोनों का पूर्ण बहिष्कार किया जाये और भारतीय अपने राष्ट्रीय जीवन में केवल धर्म को लेकर बैठ जायें। श्रीमती बेसेंट का यह विचार भारतीयों को जीवन की यथार्थ समस्याओं से अलग-थलग करने का प्रयास था। उनका आदर्श मानवता की भावना से प्रेरित न होकर राजनीतिक था और वह भी मानव की समानता का आदर्श न होकर साम्राज्यवादी दासता के बंधन को बनाये रखने का छद्म प्रयास था। उनके मुँह से विश्व बंधुत्व की बात केवल ग्रेट ब्रिटेन के

साम्राज्य को भारत में विखण्डित होने से रोकने का तथा शासक-शासित के मधुर संबंधों को बनाये रखने का कुचक्र था।

वैसे भी श्रीमती बेसेंट का मानव-एकता में विश्वास सीमित था, क्योंकि वे बुद्धिजीवी तथा अज्ञानी को समानता के स्तर पर नहीं मानती थी। वे यह भी चाहती थीं कि मानवबंधुत्व के अनुरूप शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा विजित राष्ट्रों के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जिससे दुर्बल राष्ट्र यह अनुभव न करें कि विजयी राष्ट्र उन्हें किसी तरह की सुरक्षा देने में असफल रहेगा। वे हितकारी साम्राज्यवाद की पृष्ठ-पोषक थीं जिसके अंतर्गत प्रत्येक राष्ट्र, जो कि ब्रिटेन के साम्राज्य में शामिल किया जावे, यह अनुभव न करे कि वह अपने साम्राज्यवादी शासकों से भिन्न है और साम्राज्य के पारिवारिक संबंधों में नहीं है। अर्थात् उन्होंने साम्राज्यिक परिवार का विचार प्रस्तुत किया जिसमें शासक तथा शासित दोनों मिल-जुलकर रहें और पराजित राष्ट्र ऐसी हीन मनोवृत्ति का शिकार हो जाये कि वह भविष्य में कभी भी दासता के बंधन से मुक्त होने का प्रयास ही न करे। श्रीमती बेसेंट का अभिजातीय लोकतंत्र का विचार भी ब्रिटिश साम्राज्य को बनाये रखने का प्रयास था। उन्होंने भारत में राष्ट्रीय चेतना को सीमित करने के लिए साम्राज्यीय लोकतंत्र का विचार प्रस्तुत किया था ताकि भारतीय पाश्चात्य लोकतंत्र जैसी संस्थाओं की मांग न करें। इसके लिए उन्होंने जाति-व्यवस्था को सराहा और यह चाहा कि भारत में अभिजातीय लोकतंत्र गरीब तथा अमीर, बुद्धिमान तथा अज्ञानी के अंतर को बनाये रखे। उन्होंने राजनीतिक स्वतंत्रता के सार्वभौमिक अधिकार को स्वीकार नहीं किया बल्कि उसके स्थान पर बुद्धिजीवियों के प्रभाव को बनाये रखने के लिए ऐसी राजनीतिक व्यवस्था का समर्थन किया, जो संख्यात्मक न होकर गुणात्मकता को अधिक महत्त्व देती है।

श्रीमती बेसेंट ने भारत की आध्यात्मिक महत्ता का संदेश फैलाने में कोई कमी नहीं रखी, फिर भी भारत में ऐसे व्यक्तियों का समुदाय विद्यमान था जो राष्ट्रवाद के प्रचार एवम् प्रसार में पूर्णतया लगा हुआ था और जिसने यूरोप के क्रान्तिकारियों का अनुसरण करने में ही भारत का भावी भविष्य देखा। भारत के हिंदू क्रान्तिकारियों द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के भवन को ध्वस्त करने का प्रयास बंगाल के विभाजन (1905) से प्रारम्भ हुआ और तब से भारतीय राजनीति में उग्रवादियों तथा विप्लववादियों का ऐसा क्रम प्रारम्भ हुआ जिसने आध्यात्मिकता एवम् भौतिकता तथा शासक और शासित के संबंधों पर व्यक्त किये गये श्रीमती बेसेंट के विचारों को झकझोर दिया। श्रीमती बेसेंट ने इस स्थिति से चिंतित होकर भारत में ब्रिटिश शासन की रक्षार्थ आध्यात्मिकता की बात छोड़कर सक्रिय राजनीति में प्रवेश किया और लोकमान्य तिलक द्वारा चलाये गये स्वराज्य-अभियान के चार महीने पश्चात् होम रूल लीग का समानांतर अभियान प्रारम्भ किया। श्रीमती बेसेंट द्वारा इस प्रकार से राजनीति में प्रविष्ट होना कम विस्मयकारक नहीं था, क्योंकि वे निरंतर भारतीयों को राजनीति से दूर रहने की प्रेरणा देती रही थीं। परंतु अब वे स्वयं राजनीति में प्रविष्ट होकर स्वराज्य को जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में मांगने का प्रयास कर रही थीं। आलोचकों का यह तर्क है कि श्रीमती बेसेंट ने यह नाटक इसलिए किया था कि वे महात्मा गांधी तथा लोकमान्य तिलक दोनों के

राजनीतिक कार्यक्रमों की लोकप्रियता को ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर दोहरा प्रहार मानती थीं। साम्राज्यवाद की रक्षा करने के लिए उन्होंने जनता का ध्यान तिलक तथा गांधी से हटाकर अपनी ओर केन्द्रित करने का प्रयास किया। वे नहीं चाहती थीं कि भारत की राजनीति की बागडोर उग्रवादियों के हाथ में आ जाये। विशेषतः प्रथम विश्व महायुद्ध के समय वे उग्रवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने की दृष्टि से होमरूल-आंदोलन को अधिक लोकप्रिय बनाने का प्रयास कर रही थीं, ताकि अपने आंदोलन के माध्यम से ब्रिटेन को युद्ध की स्थिति में भारत के उग्र राष्ट्रवाद का सामना न करना पड़े। उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन से भारत की स्वशासन संबंधी मांगों को मान लेने में कोई हानि नहीं देखी, क्योंकि उनका यह दृष्टिकोण था कि इन मांगों से भारत पर ब्रिटेन का साम्राज्य समाप्त नहीं होगा। वे यह भी कहती थीं कि भारत के जनबल के आधार पर ही एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा की जा सकती है। वे भारत को ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का अंग बनाना चाहती थीं, ताकि भारत को स्वशासन देकर सदा के लिए ब्रिटेन से बांध दिया जाये। श्रीमती बेसेंट का युद्ध के दौरान मद्रास में नजरबंद बनाया जाना उनके लिए वरदान सिद्ध हुआ। क्योंकि उन्हें 1917 के कांग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष चुना गया और उन्हें स्वतन्त्रता सेनानी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

श्रीमती बेसेंट भारतीयों के इस सद्भावनापूर्ण व्यवहार के प्रति अन्यमनस्क ही रहीं, क्योंकि आयरलैंड में पैदा होने के नाते भारत की स्वतंत्रता की मांग करने के स्थान पर उन्होंने यह कहा कि ईश्वर की इच्छा के कारण ही भारत ग्रेट ब्रिटेन से जुड़ा हुआ है और इसी में पूर्व तथा पश्चिम का बन्धन अन्तर्निहित है। उनका प्रयास यह था कि ब्रिटेन तथा भारत के सम्बन्धों को वे शक्ति के स्थान पर प्रेम पर आधारित कर दें ताकि भारतीय अपनी दासता की बेड़ियों को बेड़ियां न मानकर पुष्पहार मानने लग जायें। परिस्थितियों ने श्रीमती बेसेंट का साथ नहीं दिया, क्योंकि जलियांवाला बाग हत्याकांड तथा अन्य अत्याचारी ब्रिटिश कुकृत्यों के कारण भारतीय जनमानस श्रीमती बेसेंट की कथित ईश्वरेच्छा का विरोधी हो गया। उदारवादियों का प्रभाव सीमित होता गया और उसके साथ ही बेसेंट का प्रभाव भी फीका पड़ता गया। आध्यात्मवाद से निकल कर भारतीयों ने राजनीतिक स्वतन्त्रता का साक्षात्कार किया और वे महात्मा गांधी के पदचिह्नों पर चलने लगे। श्रीमती बेसेंट के प्रभाव और प्रयास निरर्थक सिद्ध हुए, क्योंकि राजनीति कुलीन तथा शिक्षित वर्गों तक ही सीमित नहीं रही। गांधीजी ने राजनीतिक चेतना घर-घर पहुंचा दी। श्रीमती बेसेंट ने गांधीजी के असहयोग एवम् बहिष्कार आन्दोलनों को भारत के लिए घातक बताया। वे महात्मा गांधी को शैतान की संज्ञा देने लगीं और उन्हें भीड़तन्त्र का अगुवा मानने लगीं। बेसेंट का यह प्रयास अत्यन्त घृणित एवम् राष्ट्रघाती था। उन्होंने कांग्रेस को भी अपने चंगुल में लेने का प्रयास किया ताकि कांग्रेस गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन की ओर अग्रसर न हो। उन्होंने गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस के प्रतिनिधित्वपूर्ण संगठन होने में भी अपना संशय प्रकट किया। वे कहने लगीं कि भारत के लिए स्वतन्त्रता अवांछनीय है। उनका यह तर्क था कि एक स्वतन्त्र किन्तु दुर्बल भारत अपनी प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा नहीं कर पायेगा क्योंकि भारत के दक्षिण भाग पर जापान का कब्जा हो जायेगा और पश्चिम सीमा प्रान्तों पर बर्बर आक्रमणकारियों का अधिकार हो जायगा। ब्रिटिश सेना के

भारत से हटने के कारण भारत की आन्तरिक सुरक्षा भी खतरे में पड़ जायेगी और भारत एक ऐसी अराजकता में फँस जायेगा जिससे भारत को सभी नेता मिलकर भी नहीं उबार सकेंगे। उनका यह भी विश्वास था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विघटन गोरे तथा अश्वेत राष्ट्रों के मध्य संघर्ष का कारण बन जायेगा। उनकी मान्यता थी कि ब्रिटेन के संरक्षण-छत्र में रहकर भारत दुनिया का सर्वोन्नत राष्ट्र बन सकता है, उससे पृथक् होकर नहीं। बेसेंट यह भी मानती थी कि भारत में क्रान्ति का समय नहीं आया है कि वे ब्रिटिश साम्राज्य को उखाड़ फेंकने का प्रयास करें। वे चाहती थीं कि भारतवासी ब्रिटिश प्रशासन के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तनों तथा राजनीतिक सुधारों के प्रति स्वामिभक्त बने रहें। किन्तु परिस्थितियाँ निरन्तर बदलती गईं और भारत की नरो-मुखी जनता ने गांधीजी का अनुसरण कर ब्रिटेन को भारत छोड़ने के लिए विवश कर दिया। श्रीमती बेसेंट ने हिन्दू धर्म की महत्ता के संदेश की आड़ में अपना अहिंसक साम्राज्यवादी मुखौटा छिपाये रखा था। □□

टिप्पणियाँ

1. एनी बेसेंट, हाऊ इण्डिया रोट फॉर फ्रीडम, पृ. 11
2. बेसेंट, न्यू इण्डिया, जनवरी 9, 1915
3. बेसेंट, लेक्चर्स ऑन पोलिटिकल साइन्स, पृ. 69
4. बेसेन्ट, दी फ्यूचर आफ इण्डियन पोलिटिक्स, पृ. 183
5. वही
6. दी बेसेन्ट स्पिरिट, भाग 3, पृ. 103
7. वही
8. वही, पृ. 104
9. देखिये न्यू इण्डिया, सितम्बर 27, 1917
10. वही
11. वही, जनवरी 9, 1915
12. वही
13. वही
14. एनी बेसेंट, फोर इण्डियाज अपलिफ्ट : कलेक्शन्स आफ स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आन इण्डियन पीपुल, पृ. 144-49
15. वही, पृ. 150-52
16. सी. पी. रामास्वामी अय्यर, एनी बेसेन्ट, पृ. 144 में उद्धृत
17. एनी बेसेंट, दी फ्यूचर आफ इण्डियन पोलिटिक्स, पृ. 294-316
18. न्यू इण्डिया, नवम्बर 27, 1922
19. वही
20. वही
21. लेक्चर्स आन पोलीटिकल साइन्स, पृ. 133
22. न्यू इण्डिया, जुलाई 30, 1931
23. थियोसोफिकल सोसाइटी, भारतीय शाखा की सूचना पुस्तिका, पृ. 15-16
24. वही, पृ. 14-5

25 हम कष्ट क्यों झेलते हैं ? इण्डियन सेक्शन थियोसोफिकल सोसायटी द्वारा प्रकाशित, पृ 5-6
26 वही, पृ 7-8
27 विचार शक्ति, पृ. 3-4
28 वही, पृ 4
29. इण्डियन आइडियल्स इन एजुकेशन, फिलोसॉफी एण्ड रिलीजन, एण्ड आर्ट, पृ. 44
30 वही, पृ 45-47
31 डी एस शर्मा, हिन्दूइज्म थ्रू दी एजेज, पृ. 116
32 वही, पृ 116 117
33 वही, पृ 115

अध्याय 6

उदारवाद एवं उग्रवाद

भारत में उदारवादी तथा उग्रवादी या उग्रराष्ट्रवादी चिन्तन ने देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं धार्मिक समस्याओं के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। उदारवादियों तथा उग्रवादियों दोनों ही का देश की परतन्त्रता को समाप्त करने तथा भारत में नवजागरण लाने में विश्वास रहा है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की राजनीति ने चिंतन के इन दोनों प्रवाहों को कुछ भिन्न राजनीतिक विचारों का प्रतीक बना दिया था। यह स्थिति लम्बे समय तक चली और वर्तमान में भी वैचारिक मतभेद उदारवाद एवं उग्रवाद के रूप में पाया जाता है। उदारवाद एवं उग्रवाद का भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के प्रारम्भिक काल में विशेष एवं पृथक् महत्त्व रहा है। पाश्चात्य शिक्षा तथा भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना ने जिस राजनीतिक चेतना का संचार भारत में किया उदारवाद तथा उग्रवाद उसी चेतना का प्रतिफल था। नव चेतना के संचार ने कतिपय भारतीय चिंतकों को इस पाश्चात्य प्रभाव का इतना कायल बना दिया कि वे इसके अलावा, इससे पृथक् और इसके विपरीत कुछ मानने को तैयार ही नहीं थे। दूसरी ओर चिन्तकों का ऐसा भी समुदाय उपस्थित हुआ जिनका उद्देश्य पाश्चात्य प्रभाव की चकाचौंध को समाप्त करने तथा भारतीय गौरव एवं महानता का संदेश देकर विचारों का भारतीयकरण करने का रहा। उदारवादी एवं उग्रवादी चिंतन अनेक समस्याओं पर विपरीत दृष्टिकोण रखने के बावजूद समान रूप से स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए दृढ़ सकल्प रहा। अन्त में दोनों ही विचारधाराओं का समन्वय प्रारम्भ हुआ और यही समन्वय भारत की स्वतन्त्रता के लिए उत्तरदायी माना गया।

उदारवाद एवं उग्रवाद ये दोनों ही शब्द कालवाची या समयवाची कहे जा सकते हैं। लोकमान्य तिलक के अनुसार "आज के उदारवादी कल के उग्रवादी थे। इसी प्रकार से आज के उग्रवादी कल के उदारवादी हो जायेंगे।" तिलक के उद्गार इन शब्दों के समयवाची होने की ओर इंगित करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि उदारवादी तथा उग्रवादी दोनों ही परिवर्तनशील हैं। समय, परिस्थितियाँ तथा देश की चिन्तनधारा में इनके अर्थ परिवर्तित हो जाते हैं। तिलक ने अपना जीवन एक उदारवादी के रूप में प्रारम्भ किया किन्तु कालान्तर में ब्रिटिश शासन के प्रति विरोध की बढ़ती हुई भावना ने उन्हें उग्रवादी बना दिया। समय के साथ-साथ उनका उग्रवादी चिन्तन उदारवाद में परिवर्तित होता गया और उनकी मृत्यु के समय उनके विचारों की तुलना में गांधीजी अधिक उग्रवादी दिखाई देते थे। जहाँ तिलक अपने जीवन के अंतिम दिनों में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत प्रगतिगामी स्वशासन एवं शासन से सहयोग की बात कर रहे थे वहाँ गांधीजी असहयोग-आन्दोलन

प्रारम्भ करने पर बाध्य थे। तात्पर्य यह है कि न तो कोई पूर्णतया उदारवादी ही रहा है और न उग्रवादी ही। उदारवादी शब्द का प्रयोग हम उन चिंतकों के लिए विशेषतः करते हैं जिन्होंने ब्रिटिश अथवा पाश्चात्य उदारवादी चिंतन से प्रभावित होकर तदनुरूप विचार भारत में व्यक्त किये और जिनका उद्देश्य अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत रह कर भारत को स्वशासन के योग्य बनाने का रहा। उग्रवादियों ने इससे भिन्न विचार एवं कार्यक्रम प्रस्तुत किये।

विचार की दृष्टि से उदारवाद पाश्चात्य चिंतन की देन रहा है। उदारवाद राजनीतिक व्यवस्था को व्यक्तिवाद पर प्रतिष्ठित करता है। प्रत्येक व्यक्ति की नैतिक उपादेयता को उदारवाद ने उभारा है। यूरोप में पुनर्जागरण के समय से यह विचारधारा विद्यमान रही है। उदारवाद विवेक, वैधानिक स्वतन्त्रता, सहिष्णुता, प्राकृतिक अधिकार, समानता तथा प्रगति में विश्वास आदि अवधारणाओं पर आधारित है।

उदारवादी विचारधारा से प्रभावित होकर दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, श्री निवास शास्त्री आदि ने जिन विचारों का प्रतिपादन किया उन्हें भारतीय मितवाद अथवा उदारवाद की संज्ञा दी जाती है। भारत में उदारवादियों ने अनेक सामाजिक संस्थाओं एवं रीति-रिवाजों में सामाजिक समानता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की स्थापना के लिए परिवर्तन का सुझाव दिया। वे भारत में प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं की स्थापना और नागरिक स्वतन्त्रता की मांग प्रस्तुत करते थे। राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए उदारवादियों ने संवैधानिक आन्दोलन का समर्थन किया। उनके द्वारा जिस राजनीतिक आन्दोलन का प्रारम्भ किया गया वह भारत की एकता, जातीय एवं साम्प्रदायिक समन्वय, आधुनिकीकरण, सामाजिक रूढ़िवादिता, एवं भेदभाव का विरोध, नवीन आर्थिक प्रगति तथा औद्योगीकरण का समर्थन करता था। उदारवादियों ने सेवाओं के भारतीयकरण, पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार, व्यवस्थापिका सभाओं में चुने हुए सदस्यों की संख्या में वृद्धि, विधि का शासन, स्वतन्त्रता के अधिकार का व्यापक प्रयोग आदि पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया।

भारत उदारवादियों का चिंतन पाश्चात्य उदारवादी विचारधारा से प्रेरित होते हुए भी कुछ अर्थों में भिन्नता रखता था। भारत के उदारवादी चिंतकों ने आर्थिक क्षेत्र में उन्मुक्त व्यापार की नीति के स्थान पर राज्य द्वारा देश के आर्थिक क्रियाकलापों को नियमित एवं संरक्षित करने का आग्रह किया। उदारवादियों ने राजनीतिक यथार्थ का सहारा लेकर भारत में राजनीतिक, आर्थिक, प्रशासनिक एवं न्यायिक सुधारों की मांग की। उदारवादियों ने भारत के ब्रिटिश शासकों को प्रसन्न रखते हुए उनकी दयालुता एवं न्यायप्रियता की दुहाई देकर स्वशासन की ओर बढ़ने का प्रयत्न किया। साहस व कष्ट सहन करने की क्षमता आदि के अभाव के कारण कारावास का जीवन उनके लिए असह्य था। वे अपने पद व्यवसाय तथा सामाजिक-स्तर को अक्षुण्ण रखते हुए भारत में स्वराज की स्थापना का स्वप्न देखते थे।

राष्ट्रवाद, अपने सैद्धांतिक अर्थ में, एक यूरोपीय विचारधारा के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित हुआ। यह उदारवाद एवं रूढ़िवाद के संमिश्रण का परिचायक था। भारत में राष्ट्रवाद अंग्रेजी शासन के प्रभाव में धीरे-धीरे मुखरित हुआ। भारतीय राष्ट्रीय

कांग्रेस का जन्म इस राष्ट्रवाद की भावना का प्रतीक बना। राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व प्रारम्भिक काल में दादाभाई नौरोजी, गोपाल कृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि देशभक्तों के हाथ में था। वे अंग्रेजी शासन के मार्गदर्शन में राष्ट्रीय भावना का विकास चाहते थे। अंग्रेजी शासन उनकी दृष्टि में एक ईश्वरीय वरदान था। वे पाश्चात्य उदारवादी विचारधारा से अनुप्राणित थे। कालान्तर में इस नेतृत्व को उदारवादिता की संज्ञा दी गयी। इसके विपरीत बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल तथा अरविंद घोष, जिन्हें उदारवादियों द्वारा उग्रवादी कह कर सम्बोधित किया गया, एक नव चेतना के प्रतीक बने। उन्होंने अंग्रेजी शासन को वरदान न मानकर अभिशाप माना। पाश्चात्य प्रभाव को बढ़ने से रोका गया तथा राष्ट्रवाद को संकीर्णता की परिधि से मुक्त कर एक नवीन स्वरूप उग्रवादियों द्वारा प्रदान किया गया। वैसे उदारवाद तथा उग्रवाद दोनों ही शब्द केवल सामयिकता के सूचक थे। उदारवादी अपने समय में उग्रवादी थे, उसी तरह उग्रवादी भविष्य में उदारवादियों की स्थिति में आ गये थे। फिर भी उग्रवादियों का राष्ट्रीय स्वतन्त्रता- संग्राम में विशेष योगदान रहा। राष्ट्रवाद को पाश्चात्य परिभाषा में न देखकर एक नवीन स्थिति में देखा गया। भौगोलिक तत्वों की प्रधानता गौण कर उसे वृहद् सांस्कृतिक अर्थ दिया गया। भौतिकता से राष्ट्रवाद के विचार को ऊपर उठाकर उसे आध्यात्मिक स्तर प्रदान किया गया। इस प्रकार राष्ट्रवाद की संस्थापना उदारवादियों के द्वारा की गयी किन्तु पाश्चात्य प्रभाव से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण जन-मानस में राष्ट्रीय चेतना का संचार वे न कर सके। यह कार्य उग्रवादियों के द्वारा ही सम्भव हो सका। यहां तक कि उग्रवादियों ने राष्ट्रवाद एवं स्वदेश-प्रेम को एकरस कर दिया।

पाश्चात्य दर्शन, पाश्चात्य संस्कृति, पाश्चात्य शिक्षा तथा अंग्रेजी शासन के पूर्ण प्रशंसक एवं अनुयायी होने के कारण उदारवादियों का राष्ट्रवाद पाश्चात्य प्रभाव में ही बना रहा। उग्रवादियों ने इस पाश्चात्य आवरण को हटाकर राष्ट्रवाद के मानवीय आदर्शों का अनुकरण करते हुए इसे भारतीय परिधान प्रदान किया। राष्ट्रवाद का भारतीयकरण एक अभूतपूर्व स्थिति का परिचायक था। जहां उदारवादियों का राष्ट्रवाद, पाश्चात्य परिभाषाओं में अभिव्यक्त होने के कारण, भारत की दलित एवं शोचनीय स्थिति का परिचायक मात्र रह गया वहां उग्रवादियों का राष्ट्रवाद भारत के गौरवपूर्ण प्राचीन महत्व का आधार पाकर जनमानस में एक नवीन आत्म-विश्वास एवं प्रेरणा का माध्यम बना। उग्रवादियों ने अंग्रेजी शासन के अराष्ट्रीय एवं दासतापूर्ण कृत्यों को चुनौती देकर भारत में पुनर्जागरण का मार्ग प्रशस्त किया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कार्य अत्यधिक महत्वपूर्ण था। दासता से स्नेह संबंध रखकर दासता से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती थी। अतः दासता से असहयोग एवं पूर्ण मुक्ति उग्रवादियों के आन्दोलन का आधार बनी। उग्रवादियों ने अंग्रेजों के कल्याणकारी एवं दार्शनिक शासन के नकली मुखौटे को उतार कर विदेशी शासन के कुरूप एवं विकृत रूप से जनता को परिचित कराया।

उग्रराष्ट्रवाद अंग्रेजों की उदारवादी नीति के मायाजाल से परिचित था। मिंटो, मोर्ले, कर्जन प्रभृति शासकों के प्रवंचनापूर्ण कार्यों ने विदेशी शासन के प्रति विश्वास समाप्त किया था। इस अविश्वास एवं निराशा के राजनीतिक तिमिर को दूर करने के लिए उग्रवादि-

न उनके राष्ट्रीय राजनीतिक कार्यक्रम—स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार एवं राष्ट्रीय शिक्षा में एक नवीन ज्योति प्रज्वलित की।

उदारवादी नेताओं की भविष्यवाणी की तार्किक परिणति में व्यस्त होने के कारण नरम प्रार्थना पत्रों द्वारा राष्ट्रवाद की मूकता एवं अधीरता दूर नहीं कर सके। शासन से लगाव की भावना ने उन्हें जनता के प्रति विरक्त बना दिया। सरकारी पद एवं मान-सम्मान के व्यामोह ने राष्ट्रवाद के कर्तव्य-पथ से उन्हें च्युत कर दिया। इसके विपरीत, व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि देकर, उग्रवादियों ने जनता की दृष्टि राजकीय भवनों से हटाकर राजनीतिक आत्मावलोकन पर स्थिर की। जनता, राष्ट्र, परमेश्वर एवं भारत के सनातन भविष्य में आस्था की पुनः स्थापना की।

उग्रवादियों ने राष्ट्रवाद को केवल नागरिक, आर्थिक एवं राजनीतिक आदर्श न मानकर एक पुनीत धर्म का स्वरूप दिया। धर्म समस्त आदर्शों का प्रस्फुटन इसी कारण से स्वाभाविक था। उनका राष्ट्रवाद यूरोप के राष्ट्रवाद सदृश स्वार्थपरायणता पर आधारित न रहा। देश के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने की धार्मिक प्रेरणा से इस राष्ट्रवाद को अनुप्राणित किया गया। तर्क के स्थान पर भावना एवं उपदेश के स्थान पर अनुभूति का इसमें प्राधान्य था। ज्ञान के स्थान पर भक्ति एवं कर्म को इसमें विशेष स्थिति स्वीकृत हुई थी।

स्वशासन-प्राप्ति हेतु, प्रार्थना एवं याचना की नीति में उग्रवादियों का विश्वास नहीं था। विदेशी शासन से सहयोग की स्थिति उन्हें मान्य नहीं थी। विदेशी शासन तथा भारतीय जनता के परस्पर विरोधी उद्देश्य थे, शासन के प्रति विद्रोह स्थापित करना आवश्यक था। उग्रवादियों को इसी कारण से शासक द्वारा स्वेच्छा से स्वराज्य प्रदान करने की स्थिति युक्तियुक्त नहीं लगी। वे स्वराज्य को स्वाधिकार मानते हुए उसे स्वयं प्राप्त करना चाहते थे। इस कार्य के लिए वे निर्भयता, पौरुष एवं यातना सहन करने की तत्परता के संदेशवाहक बने। श्रीमद्भगवद्गीता उनकी प्रेरणा का स्रोत बनी।

उग्रवादियों का राष्ट्रवाद उदारवादियों के राष्ट्रवाद से कई अर्थों में भिन्न था। उग्रराष्ट्रवाद समस्त भारतीय जनता को एकीकृत रूप में देखता था। हिन्दू तथा मुस्लिम शासकों का कार्यकाल गौरवपूर्ण अतीत के रूप में स्वीकृत किया गया था। यह स्वर्णिम अतीत पाश्चात्य संस्कृति को अंगीकृत करने का आधार नहीं बन सकता था। इसके विपरीत उदारवादियों का विश्वास अतीत को विस्मृत कर एक नये जीवन का प्रारम्भ करने में था। यह संभव नहीं था। भारत का इतिहास केवल अंग्रेजी शासन से ही प्रारम्भ नहीं किया जा सकता था। उग्रवादियों के अनुसार यदि भारत का प्राचीन इतिहास पूर्ण रूपेण गौरवपूर्ण न भी माना जाता तो भी वह भारत की पुरातनता का प्रतीक तो था ही। अतः उग्रवादी भारतीय इतिहास के माध्यम से भारत को एक राष्ट्र एवं उसके आत्मनिर्णय के अधिकार की स्थापना करना चाहते थे। पश्चिम का अंधानुकरण उन्हें रुचिकर न था। अंग्रेजों द्वारा निर्देशित योजना पर वे भावी भारत का भवन निर्मित करना नहीं चाहते थे। उनका आदर्श अतीत के खंडहरों को सजो कर रखने तथा उनके साथ साथ नवीन सृजन करने का था।

राजनीतिक समाज के नवनिर्माण की दृष्टि से भी उग्रवादियों तथा उदारवादियों

के विचारों में भिन्नता थी। उदारवादी पूर्णतया नवीन वातावरण में नव समाज की रचना करना चाहते थे। किन्तु उग्रराष्ट्रवाद न केवल वातावरण अपितु पैतृकता पर भी बल देता था। पैतृक प्रभाव से ही भारतीय समाज पूर्णतया भारतीय रह सकता था। प्रजातीय विभिन्नताएँ इस पैतृकता के तत्त्व से सम्बन्धित थी। प्राचीन भारतीय हिन्दू-संस्कृति एवं धर्म इसी प्रजातीय विभिन्नता का एक उदाहरण था।

उग्रराष्ट्रवाद द्वारा नवीन सभ्यता का सृजन न तो मात्र हिन्दू पुनर्जागरण पर आधारित था न अंग्रेजी सभ्यता के अन्ध रूप में। वे दोनों ही परिस्थितियों से मुक्ति चाहते थे। वे अतीत को वर्तमान से सम्बन्धित करने के पक्ष में थे ताकि वर्तमान में रहते हुए भारतीय हिन्दू समान रूप से मुसलमान, जैन, पारसी तथा ईसाइयों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकें वे एक ऐसी सभ्यता का सृजन करना चाहते थे जो बहुजातीय होने के साथ साथ नवीनता के तत्त्वों से भी आप्लावित हो। यह अतीत को भविष्य से सम्बन्धित करने की विचारधारा थी। इस प्रकार उग्रराष्ट्रवाद एक बहुजातीय समाज के निर्माण में विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयों की समाप्ति का पोषक नहीं था। उनका विचार विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयों के सम्मिलन में एक भारतीय महासंघ की स्थापना करने का था। वे किसी एक संस्कृति को दूसरे पर बलात् स्थापित करने के पक्षपाती न थे। इस प्रकार अग्रवादियों का आदर्श वह प्राचीन हिन्दु दार्शनिक विचारधारा थी जिसमें एकता में विभिन्नता एवं विभिन्नता में एकता के दर्शन किये गये थे। वे इसी कारण से स्वराज्य को केवल नकारात्मक अर्थ में न लेकर पूर्ण सकारात्मक अर्थ में आत्माभिव्यक्ति एवं राष्ट्राभिव्यक्ति का आधार मानते थे। राष्ट्रीयता तथा स्वराज्य दोनों का ही सम्मिश्रण उग्रराष्ट्रवाद का आधार था। वे देशोद्धार एवं राष्ट्रवाद की चरम परिणति के रूप में व्यक्ति का सार्वभौम से तादात्म्य स्थापित करना चाहते थे ताकि व्यक्तिगत आत्मा का राष्ट्रीय आत्मा से चिरंतन सम्बन्ध स्थापित हो सके।

उग्रराष्ट्रवाद मानसिक दृष्टि से दासता से उन्मुक्ति का पोषक था। दर्शन एवं साहित्य के क्षेत्र में भारतीयों के योगदान को किसी भी दृष्टि से हेय नहीं स्वीकार किया गया था। वेदों की प्राचीनता एवं उनमें निहित ज्ञान समस्त संसार के मार्गदर्शन का आधार माना गया था। मानसिक दासता से मुक्ति दिलाने के रचनात्मक प्रयास में उग्रवादियों ने उदारवादियों के "वंदेमातपितरौ" के रवैये के विपरीत "वंदेमातरम्" का सन्देश उद्घोषित किया।

इस प्रकार उग्रराष्ट्रवाद पूर्णतया भारतीय सन्दर्भ में विकसित राष्ट्रवाद था। जनता के हृदय को छूने की इसमें सामर्थ्य थी। इसी कारण उग्रराष्ट्रवादियों का चतुर्मुखी कार्यक्रम जन-आन्दोलन का आधार बना। गांधीजी ने यद्यपि गोखले को अपना राजनीतिक गुरु स्वीकार किया था किन्तु वास्तव में उग्रराष्ट्रवाद द्वारा तैयार किये मंच से ही उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ किया।

उग्रराष्ट्रवाद, विदेशी शासन का कोपभाजन होने के कारण, विदेशी शासन तथा भारतीय जनता के स्वार्थी तत्त्वों द्वारा रूढ़िवादिता एवं हिन्दू सम्प्रदायवाद का पोषक कहा गया। किन्तु यह कथन भ्रान्तिपूर्ण था। उग्रवादी सामाजिक सुधारों के उतने ही पक्षपाती थे जितने उदारवादी। वे राष्ट्रीय आधार पर सुधार चाहते थे।

उनमें तथा उदारवादियों में केवल यह अन्तर था कि सुधारों की योजना को वे पूर्णतया राष्ट्रीय स्वशासन की प्राप्ति के पश्चात् प्रभाव में लाना चाहते थे या फिर प्राचीन आदर्शों को पूर्णतया पोषित कर उन्हें नवीनता से सम्बन्धित करना चाहते थे। नवीनता या पाश्चात्य ज्ञान से शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था से उनका वैमनस्य नहीं था। केवल भारतीय दृष्टिकोण से ही वे नवीनता एवं वैज्ञानिक प्रगति को अपने कार्य में स्वीकृत करना चाहते थे।

राष्ट्रीयता की दृष्टि से उग्रवादी हिन्दू-राष्ट्रवाद के स्थान पर पूर्णराष्ट्रवाद के प्रणेता थे। सब धर्मों के प्रति समान व्यवहार एवं समादर की भावना उनमें विद्यमान थी। गीता से प्रेरणा प्राप्त करने तथा हिन्दूधर्म एवं संस्कृति के उद्धरण एवं दृष्टान्त देने का उनका कार्य स्वाभाविक ही था क्योंकि लाल-बाल-पाल तथा घोष चारों ही हिन्दू थे। किन्तु उनका हिन्दुत्व संकीर्णता वैमनस्य एवं साम्प्रदायिकता का प्रेरक नहीं था। यह अंग्रेजों की फूट डाल कर राज्य करने की नीति का प्रतिफल था कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला तथा उग्रराष्ट्रवाद को मुस्लिम-विरोधी मानकर उसे असफल करने के राजकीय प्रयास किये गये। अंग्रेजों के शासन की यह नीति ही मुस्लिम "द्वि-राष्ट्रवादी" सिद्धान्त की पोषक बनी। उग्रराष्ट्रवाद पृथकतावादी नीति का सर्वदा विरोधी रहा। पृथक् प्रतिनिधित्व की अंग्रेजी नीति का उग्रवादियों ने कभी समर्थन नहीं किया।

उग्रराष्ट्रवाद के आदर्शों पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जब तक चलती रही तब तक भारत की अखण्डता तथा मूलभूत एकता जीवित रही। जैसे ही इस धारणा में परिवर्तन आया देश की स्थिति जर्जरित हुई। भारत तथा पाकिस्तान का पृथक् राष्ट्रों के रूप में प्रादुर्भाव राष्ट्रवाद नहीं किन्तु उप-राष्ट्रवाद का प्रतीक था। यदि भारत के विभाजन को स्वीकार न किया गया होता तो सम्भवत अंग्रेजी शासन की अनुपस्थिति में एकता एवं सौहार्द का वातावरण बन सकता था किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त करने के दिन जैसे-जैसे समीप आते गये वैसे-वैसे राष्ट्रवाद का स्थान उपराष्ट्रवाद ग्रहण करता गया। बाद की क्रांति उपराष्ट्रवाद का ही परिणाम थी।

उग्रराष्ट्रवाद अधिकारों के स्थान पर कर्तव्य, व्यक्तिगत स्थिति की मान्यता के स्थान पर समष्टि, तथा राज्य के स्थान पर राष्ट्र का पुनीत पोषक बना। उनका यह कार्य पूर्ण प्रजातन्त्रीय था। स्वशासन प्राप्ति उनका मुख्य लक्ष्य था। अतः वे राजनीतिक वादों के विवाद में अपना समय नष्ट नहीं करना चाहते थे।

वर्तमान भारत उग्रराष्ट्रवाद से आज भी प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। आज की राजनीति में बढ़ते हुए प्रांतवाद, जातिवाद एवं साम्प्रदायिकता के उन्मूलन हेतु राष्ट्रवाद के उचित मूल्यों को समझने के लिए उग्रराष्ट्रवाद एक मार्गदर्शक के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है। आज उप-राष्ट्रवाद नहीं किन्तु राष्ट्रवाद एवं उग्र-राष्ट्रवाद की आवश्यकता है। राष्ट्रवाद के सहायक पोषक तत्वों के रूप में राष्ट्र का स्थायित्व आज भी उग्रवादियों के राजनीतिक कार्यक्रम स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार एवं राष्ट्रीयशिक्षा पर आधारित किया जा सकता है। भारत राष्ट्र की समृद्धि एवं उन्नति के लिए आज भी स्वराज्य का आध्यात्मिक पक्ष सम्पादित होना शेष है। राष्ट्र-प्रेम, राष्ट्रीय एकता, सार्वजनिक कार्यों में

निष्पक्षता एवं निर्लोभ तत्परता, व्यक्तिगत स्वार्थों के स्थान पर राष्ट्रीय हित की भावना आज भी देश में पूर्णतया प्राप्त नहीं है। देश में बढ़ती हुई पृथक्तावादी प्रवृत्ति, संकीर्ण भाषावादिता, विघटनकारी तत्वों की वृद्धि स्वराज्य के लक्ष्य की आध्यात्मिक पूर्ति का प्रतीक नहीं है।

स्वदेशी विचारधारा अभी पूर्णतया स्थापित नहीं हो पायी है। उग्रराष्ट्रवादियों का आर्थिक एवं राजनीतिक स्वदेशीकरण आज भी प्रेरणादायक है। आर्थिक दृष्टि से भारत की आत्मनिर्भरता एवं आर्थिक उन्नति पूर्ण स्वदेशीकरण से ही सम्भव है। विचारों के क्षेत्र में भी उग्रवादियों सदृश पूर्ण भारतीय संदर्भ में विचारने की आवश्यकता है। भारत की राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय नीति के निर्धारण में स्वदेश-हित, राष्ट्रसम्मान एवं भारत के गौरव की प्रतिष्ठा स्वदेशीकरण से ही सम्भव हो सकती है। उग्रराष्ट्रवादियों द्वारा निर्दिष्ट विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का कार्य आज भी पूरा होना शेष है। विदेशी वस्तुओं के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण राष्ट्र की आर्थिक जर्जरता का परिणाम बन सकता है। राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में भी उग्र-राष्ट्रवादियों का योगदान आज भी बहुत कुछ करने की प्रेरणा देता है। शिक्षण संस्थाओं में राष्ट्रीय विचारधारा का पूर्ण प्रचार देश की भावी पीढ़ी को राष्ट्रवाद से अभिभूत कर सकता है। पाश्चात्य ज्ञान के साथ-साथ भारतीय संस्कृति एवं भारत की विभिन्न क्षेत्रों में की गयी प्राचीन उपलब्धियाँ शिक्षा का आधार बन सकती हैं।

इस प्रकार उग्रराष्ट्रवाद एक चिरंतन प्रेरक के रूप में है। यह ऐसा राष्ट्रवाद है जो केवल राष्ट्रीयता के बंधन में ही किसी देश को आबद्ध नहीं करता अपितु अन्तरराष्ट्रीयता का भी मार्ग प्रशस्त करता है। दार्शनिक एवं आध्यात्मिक संबल मिलने से वह राष्ट्रों की संकीर्ण स्वार्थ-परायणता की प्रवृत्ति एवं परस्पर अविश्वास एवं घृणा की भावना को कम करता है। आज के विश्व में अंतरराष्ट्रीय सद्भावना एवं मैत्री संकीर्ण राष्ट्रवाद से ऊपर उठ कर ही प्राप्त की जा सकती है। उग्रराष्ट्रवाद समस्त मानवता के उचित संरक्षण, संभरण तथा परिवर्धन का नया आयाम प्रस्तुत करता है। □□

अध्याय 7

महादेव गोविन्द रानाडे (1842-1901)

महादेव गोविन्द रानाडे का जन्म जनवरी 18, 1842 को निफाड, जिला नासिक में हुआ था।[1] उनके प्रपितामह भास्कर पन्त सांगली रियासत के उच्च सैनिक अधिकारी एवं पूना के पेशवा दरबार में सांगली के जागीर के प्रतिनिधि थे। उनके पितामह ने अंग्रेजी सेना में प्रवेश किया और वे मामलतदार भी रहे। रानाडे के पिता सरकारी क्लर्क थे। वे कोल्हापुर राज्य की सेवा में भी रहे। कोल्हापुर उन दिनों अंग्रेजों के राजनीतिक प्रतिनिधि द्वारा शासित था। रानाडे के पिता अंग्रेजों के कृपा पात्र थे। राज्य में बगावत होने पर अंग्रेजी सेना ने रानाडे के पिता गोविन्दराव को सामंतों के कोपभाजन होने से बचाया। इस प्रकार रानाडे के बाल्यकाल में ही उनका परिवार मराठा शासन से अंग्रेजी शासन में परिवर्तन के अनुकूल हो चुका था। यह स्वाभाविक था कि उनका परिवार अंग्रेजों के प्रति श्रद्धावान होता। रानाडे पर इसका दो प्रकार से प्रभाव पड़ा। एक ओर उनका झुकाव प्रशासनिक दक्षता की ओर हुआ तो दूसरी ओर वे सुशासन को स्वशासन से अधिक महत्वपूर्ण मानने लगे।[2]

रानाडे की प्रारम्भिक शिक्षा कोल्हापुर के मराठी स्कूल में हुई। उनके पिता के अंग्रेज मित्र की सलाह पर उन्हें अंग्रेजी-स्कूल में भर्ती किया गया। उनकी माता को यह अच्छा नहीं लगा, क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि अंग्रेजी-शिक्षा से बच्चे नास्तिक एवं लापरवाह हो जाते हैं। उनके पिता अपने निर्णय पर दृढ़ रहे। उनकी माता ने विरोध-स्वरूप अन्न ग्रहण नहीं किया। पिता की विजय हुई और रानाडे को अंग्रेजी शिक्षा का अवसर मिला। रानाडे का पारिवारिक वातावरण अत्यन्त अनुशासित था। परिवार की सनातन हिन्दू-धर्म में दृढ़ आस्था थी। रानाडे ने अपनी स्कूल-शिक्षा पूरी करने के बाद स्वयं को उच्च अध्ययन के लिए बम्बई भेजने के लिए अपने पिता को किसी प्रकार प्रसन्न कर लिया। उन्हें बम्बई के एलफिन्स्टन स्कूल में 1856 में प्रवेश मिला। अपनी प्रखर बुद्धि के कारण वे अध्ययन में हमेशा प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे और नये कीर्तिमान स्थापित करते गये। वे बम्बई विश्वविद्यालय के प्रथम बी०ए०, प्रथम एम०ए० तथा प्रथम एल० एल० बी० छात्रों में से थे। 1865 में इतिहास में रानाडे ने एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की और 1866 में कानून की। इतिहास और अर्थशास्त्र उनके प्रिय विषय रहे। अध्ययन काल में रानाडे पर उन अंग्रेज अध्यापकों का विशेष प्रभाव पड़ा जो उदात्त अंग्रेजी गुणों से युक्त थे।[3] इस समय तक हिन्दू-धर्म एवं साहित्य के संबंध में रानाडे की धारणा अच्छी नहीं थी। उनके द्वारा इतिहास की परीक्षा में लिखे गये उत्तरों की श्रेष्ठता के कारण बम्बई-विश्वविद्यालय द्वारा वे उत्तर एडिनबरा विश्वविद्यालय के छात्रों के प्रेरणार्थ भेजे गये। वे बम्बई विश्वविद्यालय के प्रथम भारतीय फेलो नियुक्त हुए। शिक्षा समाप्त

कर लेने के पश्चात् उन्हें शिक्षा-विभाग में मराठी अनुवादकर्त्ता के रूप में नियुक्ति मिली। कुछ समय के लिए वे शोलापुर के पास किसी छोटी रियासत के प्रशासक भी रहे। 1867 में वे कोल्हापुर राज्य में न्यायाधीश नियुक्त किये गये। 1868 से 1871 तक वे एलफिन्सटन कालेज में अंग्रेजी साहित्य के प्रोफेसर रहे। 1871 में बम्बई के पुलिस मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए। इसके पश्चात् 1871 से 1878 तक पूना में उप-न्यायाधीश, नासिक तथा धुलिया में 1878 से 1881 तक विशेष उप-न्यायाधीश, 1881 में पूना के उप-न्यायाधीश, 1881 से 1884 तक डेक्कन रयोत रिलीफ एक्ट के अन्तर्गत उप-न्यायाधीश, पूना की छोटी अदालत में 1884 से 1885 तक न्यायाधीश, रिलीफ एक्ट के अंतर्गत 1885 से 1893 तक विशेष न्यायाधीश रहे। 1886 में उन्हें भारत-सरकार की वित्त-समिति का सदस्य बनाया गया। 1893 से 1901 में मृत्युपर्यन्त वे बम्बई उच्च-न्यायालय में न्यायाधीश रहे।[3]

उनका सार्वजनिक जीवन पहले ही प्रारम्भ हो गया था। 1859 से 1864 तक वे ज्ञान-प्रसारक सभा के सदस्य रहे और वहां समय-समय पर भाषण देते रहे। 1862 से 1863 तक वे सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक पत्रिका इन्दु-प्रकाश के अंग्रेजी सभाग के सम्पादक रहे। समाज-सुधार के कार्य में रानाडे का पहला प्रयास विधवा-विवाह आंदोलन से सम्बन्धित था। विष्णुशास्त्री पंडित तथा रानाडे के प्रयासों से यह आंदोलन प्रारम्भ हुआ। महाराष्ट्र में यह हलचल मचा देने वाली घटना थी। कट्टर सनातन-धर्मी हिन्दुओं ने इसका प्रबल विरोध किया। अन्त में शंकराचार्य ने दोनों गुटों की मध्यस्थता की और रानाडे के दल के विरुद्ध निर्णय देते हुए विधवा-विवाह को निषिद्ध घोषित किया। रानाडे और उनके सहयोगियों के लिए प्रायश्चित का विधान दिया किन्तु रानाडे ने प्रायश्चित करने से मना कर दिया और जाति-बहिष्कार के लिए अपने को प्रस्तुत किया। रानाडे के उच्चपद एवं महाराष्ट्र में नवीन प्रगतिशील विचारों के जागरण के कारण उनके विरुद्ध उठा यह विरोध शनैः शनैः शांत हो गया। वे 1867 में प्रार्थना-समाज के सदस्य बने। प्रार्थना-समाज के सिद्धान्त ब्रह्म-समाज जैसे ही थे। 1864 में केशवचन्द्र सेन की बम्बई यात्रा से प्रेरणा प्राप्त कर यह नया समाज स्थापित किया गया था। प्रार्थना-समाज भी एकेश्वरवादी एवं मूर्तिपूजा-विरोधी था। 1868 में रानाडे ने धर्म एवं तत्वमीमांसा का गूढ़ मंथन कर एकेश्वरवाद पर "ए थीईस्ट्स कानफेशन आफ फेथ" नामक निबन्ध लिखा। 1871 में रानाडे को बम्बई से पूना स्थानांतरित कर दिया गया। पूना में रानाडे ने निरन्तर सात वर्षों तक सार्वजनिक एवं रचनात्मक कार्यों के माध्यम से जन-सेवा की। पूना की महत्वपूर्ण संस्थाओं को रानाडे का मार्गदर्शन मिला। उनके द्वारा कई संस्थाएं स्थापित हुईं।[4]

महादेव गोविन्द रानाडे मराठों के इतिहास से अधिक प्रभावित हुए। अपने ग्रंथ दी राइज आफ मराठा पावर में रानाडे ने यह सिद्ध किया कि भारत में मराठों का उत्कर्ष संयोगवश नहीं हुआ था। वह महाराष्ट्र के हिन्दुओं का शौर्य प्रदर्शन मात्र न होकर एक स्थायी राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक था, जिसने दासता का प्रतिकार कर सम्मान सहित स्वतन्त्रता का पाठ सिखाया। यह भारत में राष्ट्रवाद का अभिनव प्रस्फुटन था। केवल शासकों, सामंतों अथवा ब्राह्मण तक सीमित न होकर जन साधारण को उद्वेलित

करने वाला यह आंदोलन सदियों से त्रस्त जनता का नवीन मनोभाव था।[5] इस प्रकार रानाडे ने भारतीय संस्कृति का पोषण करते हुए नवीन पाश्चात्य धारणाओं से उनका सम्बन्ध स्थापित किया। पाश्चात्य प्रभाव ने उन्हें सामाजिक सुधारों की ओर आकृष्ट किया। यद्यपि शासकीय सेवा में निरत रहने के कारण वे अधिक समय इस कार्य के लिए नहीं दे सकते थे फिर भी उनका यह संकल्प पूरा हुआ। शासकीय सेवा के नियमों की कठोरता उनके विचारों एवं कार्यों को नहीं बदल सकी। ब्रिटिश शासन की अप्रसन्नता पर भी वे अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करते रहे। शासन ने स्थानांतरण का कठोर प्रहार उन पर किया, फिर भी वे अविचलित रहे। उन्हीं के सद्प्रयत्नों से भारतीय सामाजिक सम्मेलन की स्थापना हुई। वैसे महाराष्ट्र में समाज-सुधार के कार्यों का प्रारंभ गणेश वासुदेव जोशी ने पूना की सार्वजनिक सभा की 1870 में स्थापना करके किया। जोशी को जन सामान्य "सार्वजनिक काका" के नाम से जानने लगे। उसी सार्वजनिक सभा के माध्यम से महादेव गोविंद रानाडे भी सामाजिक सुधार के क्षेत्र में चमक उठे। सभा के सक्रिय कार्यकर्ता होने के नाते रानाडे को ब्रिटिश शासन का समय-समय पर कोपभाजन बनना पड़ा किन्तु उनकी देशभक्ति निरंतर प्रगाढ़ होती गयी।

उनकी कानूनी दक्षता से प्रभावित होकर बम्बई के गवर्नर ने उन्हें 1885 में बम्बई-विधायी परिषद् का सदस्य नियुक्त किया। वे पुनः 1890 तथा 1893 में इस पद पर नियुक्त किये गये।

जब रानाडे 12 वर्ष के थे तभी उनका विवाह कर दिया गया था किन्तु उनकी पत्नी के निरंतर अस्वस्थ रहने के कारण उनका दाम्पत्य-जीवन सुखी नहीं रहा। अंत में उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। रानाडे पुनः विवाह करने को राजी नहीं थे। पत्नी वियोग में अत्यधिक दुखी थे। किन्तु उनके पिता रानाडे का पुनः विवाह कर देना चाहते थे। उन्हें यह चिंता थी कि रानाडे की युवावस्था देखते हुए उनका अविवाहित रहना ठीक नहीं था। उन्हें यह भय था कि कहीं रानाडे अपने समाज-सुधार आंदोलन के सहयोगियों के प्रभाव में किसी विधवा से विवाह न कर बैठें। उनके इन प्राचीन रूढ़िवादी विचारों से रानाडे बहुत दुःखी हुए। किन्तु वे विवश थे। वे पिता के जीवन पर्यन्त उनको आदर प्रकट करने के लिए उनके सामने खड़े ही रहते थे। केवल भोजन के समय को छोड़कर रानाडे अपने पिता की उपस्थिति में उनसे खड़े-खड़े ही बात करते थे। वे किसी भी दृष्टि से अपने पिता को कष्ट नहीं कर सकते थे। रानाडे के टालमटोल करने पर उनके पिता ने घर छोड़ कर अपने पैतृक ग्राम जाकर अकेले रहने की धमकी दी। रानाडे असमंजस में पड़ गये। अंत में एक आज्ञापालक पुत्र के नाते उन्होंने विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उनका विवाह रमाबाई के साथ सम्पन्न हुआ। रमाबाई उनसे उम्र में 11 वर्ष छोटी थी। यह रानाडे के जीवन में कठिन परीक्षा की घड़ी थी। उनके द्वारा समाज सुधार के लिए किये गये समस्त कार्यों पर पानी फिर रहा था। वे जानते थे कि पुनर्विवाह करना उनके विरोधियों द्वारा उनकी कथनी और करनी के अंतर पर कठोर आक्षेप का कारण बनेगा। किन्तु अपने पिता की आज्ञा को टालना उनके वश का काम नहीं था। अपने इस पारिवारिक अनुशासन की बलिवेदी पर उन्होंने अपना सार्वजनिक तथा सामाजिक जीवन बलि कर दिया।[6] यद्यपि

विवाह के बाद भी रानाडे समाज-सुधार का कार्य यथावत् करते रहे, किन्तु उनके प्रखर विरोधी लोकमान्य तिलक ने उन्हें इस त्रुटि के लिए सार्वजनिक जीवन में क्षमा नहीं किया।

रानाडे ने अर्थशास्त्र का गूढ़ अध्ययन किया था। 1872 में उन्होंने भारत के विदेश-व्यापार पर भाषण दिया। 1874 में उन्होंने भारत की राजस्व-व्यवस्था का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया। वे भारत के ग्रामीण अंचलों की निर्धनता एवं आर्थिक विवशता से द्रवित हुए। 1876 में पूना, नगर तथा शोलापुर जिलों में अकाल के कारण अपार जन हानि हुई थी। रानाडे ने इसके लिए शासन की राजस्वनीति को उत्तरदायी ठहराया। उनके अनुसार दुर्भिक्ष का कारण कम वर्षा नहीं अपितु कृषकों की आर्थिक विपन्नता थी।[7]

भारत में कांग्रेस की संस्थापना में रानाडे का भी विशेष योगदान रहा। वे कांग्रेस के उदारवादी विचारधारा के मार्गदर्शक रहे। उनका कांग्रेस के उग्रवादी आंदोलन से वैचारिक संघर्ष रहा। तिलक तथा उनके सहयोगियों ने रानाडे के सामाजिक सम्मेलन का कांग्रेस के मंच से अपने कार्यक्रम चलाने का विरोध किया। तिलक की लोकप्रियता के कारण रानाडे को झुकना पड़ा। 1895 में राष्ट्रीय कांग्रेस के पूना-अधिवेशन के समय सामाजिक सम्मेलन की कार्यवाही कांग्रेस-पंडाल से न हो पायी। रानाडे तिलक के व्यवहार से दुखी हुए किन्तु उनका मनोबल ऊंचा रहा और सुधार का उनका कार्यक्रम यथावत् चलता रहा। 1896 में रानाडे ने पूना में दक्षिण सभा की स्थापना की। सार्वजनिक सभा के साथ मतभेदों के कारण रानाडे ने इस सभा को गठित किया था। उनके व्यस्त न्यायिक जीवन के बावजूद वे सार्वजनिक कार्यों के लिए निरंतर समय देते रहे और अपने अगाध ज्ञान एवं परिपक्व अनुभव को सार्वजनिक सेवा के लिए अर्पित करते रहे। उनका स्वास्थ्य जर्जरित होने लगा और उन्हें हृदयरोग हो गया जिसके कारण उनके जीवन का प्रवाह क्षीण होता गया।[8]

जीवन के अंतिम सात वर्षों में रानाडे बम्बई में ही रहे। वहाँ वे बम्बई विश्वविद्यालय से सीनेट, सिंडिकेट एवं कला समाय के अधिष्ठाता के रूप में सम्बद्ध रहे। विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र के उनका योगदान प्रांतीय भाषाओं को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कराने में रहा। वे भारत के औद्योगिक विकास के लिये नौशेरवान जी जमशेद जी टाटा द्वारा दान में दिये गये तीन लाख रुपये के उपयोग संबंधी परामर्शदात्री समिति के सदस्य भी नियुक्त किये गये। इस समिति के सुझाव पर बंगलौर में औद्योगिक अन्वेषण प्रतिष्ठान स्थापित किया गया। इस प्रकार रानाडे का जीवन भारत की सेवा में व्यतीत हुआ। वे आँखों की व्याधि से जीवन-पर्यन्त दुखी रहे। गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण वे 1900 में लाहौर में होने वाले भारतीय सामाजिक सम्मेलन के अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हो सके जिसका उन्हें खेद रहा। अल्पसमय रोगग्रस्त रह कर वे जनवरी 16, 1901 को चिरनिद्रा में लीन हो गये।

रानाडे के राजनीतिक विचार

अन्य उदारवादियों के समान महादेव गोविंद रानाडे भी भारत में अंग्रेजी शासन को वरदान के रूप में मानते रहे। उनके अनुसार भारत में अंग्रेजी शासन भारतीयों को नागरिक एवं सार्वजनिक गतिविधियों का राजनीतिक शिक्षण देने की दृष्टि से उपयोगी

सिद्ध हुआ था।[9] उनका यह मत किसी भ्रामक विदेशी प्रचार पर आधारित नहीं था। उन्होंने भारतीय इतिहास का गूढ मथन करने के पश्चात् यह धारणा बनायी थी। रानाडे ने भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन के 1900 के लखनऊ-अधिवेशन के उद्घाटन भाषण मे यह व्यक्त किया कि भारत पर विदेशी आक्रमणकारियो द्वारा शासन विधाता की योजना का ही अग था। जितने भी विदेशी आक्रमण हुए उन्होने भारत को एकता के सूत्र मे निरतर पिरोने का प्रयत्न किया। भारतीय जातियो एव प्रजातियो की शक्ति तथा उनके चरित्र को दृढ करने की दृष्टि से ये आक्रमण वरदान सिद्ध हुए। हमारी कमजोरियो को दूर करने का हमे अवसर मिला। भारत पर मुस्लिम शासन स्थापित होने पर भी भारत के निवासियो का मनोबल कम नहीं हुआ। किन्तु हिन्दुओ एव मुसलमानो मे वैज्ञानिक क्रिया कलाप, नवीन शिक्षा तथा व्यवसायिक दृष्टिकोण की कमी होने के कारण प्रगति शिथिल होती गयी। अग्रेजो के आगमन ने यह स्थिति परिवर्तित कर दी। भारत को एक नवीन ज्योति दिखाई दी। आधुनिकीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ। अग्रेजों के सम्पर्क मे आने से हमे स्वतत्रता की महत्ता का आभास हुआ। सदियो की गुलामी एव जडता को पाश्चात्य प्रभाव ने समाप्त कर दिया। भारतीय नवजागरण प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार रानाडे ने अग्रेजी शासन को दैविक वरदान ही माना।[10] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि रानाडे परतन्त्रता के ही प्रशसक थे। उनके विचारों मे भारतीय नवजागरण का आभास मिलता है। वे भारतीयो की प्रबुद्धता की ओर इगित करते हुए भावी भारत के उज्ज्वल भविष्य का समर्थन कर रहे थे। वे जानते थे कि अग्रेजी शासन के पश्चात् भारतीय स्वशासन की स्थापना अवश्य होगी और भारत स्वतन्त्रता के युग में प्रवेश करेगा। इसी लक्ष्य को ध्यान मे रखते हुए देशभक्त रानाडे ने ब्रिटिश ससद के नाम एक याचिका भारतीयो द्वारा हस्ताक्षर कराके पूना की सार्वजनिक सभा के माध्यम से इगलैण्ड भेजी जिसमे यह सुझाव दिया गया था कि भारत मे यथाशीघ्र उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाये तथा ब्रिटिश ससद् मे भारतीयो को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाये।[11] भारतीय जनता को प्रतिनिधित्व मिलने से विधिनिर्माण के कार्य मे उनका ज्ञान बढेगा और कराधान सम्बन्धी क्रियाकलापो मे भी वे सह-भागी बन सकेंगे। वे स्वतत्रता को अतिव्यापक अर्थ मे देखते थे। उनके अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ था जनता पर अनुचित नियन्त्रणो का अभाव किन्तु शासन पर जनप्रतिनिधियो का पूर्ण नियन्त्रण। उनके ये विचार स्वय उनके द्वारा प्रतिपादित सामाजिक अवयवी एकता के विचार से मेल नही खाते। वे व्यक्तिवादी न होकर समष्टिवादी अधिक दिखाई देते हैं। मानवीय स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत अधिकारो का समर्थन करते हुए भी महादेव गोविंद रानाडे ने राज्य के हस्तक्षेप को कई दृष्टियो मे उचित ठहराया।[12] वे स्वतन्त्रता एव राज्य के सामाजिक पक्ष को अधिक महत्व देते थे। इस प्रकार उनके विचार ब्रिटिश उपयोगितावादी विचारको से भिन्न दिखाई देते हैं।

महादेव गोविंद रानाडे भारतीय राजनीतिक चिन्तको मे कई दृष्टियो से अग्रणी माने जा सकते हैं। उनकी इस अग्रगण्यता का एक ज्वलत प्रमाण उनके द्वारा राज्य की प्रकृति तथा उसके कार्यों का अध्ययन है। उनका यह विचार था कि राज्य अपनी सामूहिक क्षमता के अतर्गत अपने श्रेष्ठ नागरिको की शक्ति, विवेक, दया तथा परोपकारिता का

परिचायक है। वे आत्मिक रूप में राज्य की आत्मिक एकता के समर्थक थे[13] तथा इस कारण राज्य की महत्ता के प्रशंसक थे।[14] वे राज्य की धारणा को जर्मन आदर्शवाद के विचारकों के समान अपने समय के उच्च एवं निरपेक्ष विवेक का परिचायक मानते थे। किन्तु रानाडे जर्मन आदर्शवाद के सम्पूर्ण सिद्धांत में निष्ठा नहीं रखते थे। वे आदर्शवाद के विपरीत व्यक्तिवाद में अधिक निष्ठा रखने वाले विचारक थे। राज्य की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी उनकी यह धारणा थी कि व्यक्ति व राज्य दोनों में राज्य एक साधन और व्यक्ति साध्य के रूप में है। अपने व्यक्तिवादी विचारों में रानाडे ने व्यक्ति को समष्टि के रूप में देखा था न कि एक आणविक इकाई के रूप में। वे टी. एच. ग्रीन के समान राज्य को व्यक्ति के जीवन को और भी अधिक सुखी, सम्पन्न एवं महान बनाने के लिए उपयोगी मानते थे।[15] उनकी इस धारणा में स्वराज्य की भावना भी छिपी थी क्योंकि व्यक्ति का हित साधन करने वाला राज्य विदेशी नहीं हो सकता। राज्य को साधन मानते हुए भी राज्य पर अत्यधिक निर्भरता का उन्होंने हमेशा प्रतिकार किया तथा व्यक्ति को अपने भाग्य-निर्माण के लिए प्रयत्न करने का संदेश दिया। रानाडे का व्यक्तिवाद यूरोपीय व्यक्तिवाद की विचारधारा से भिन्न था। उनका व्यक्तिवाद लोक-कल्याण की भावना से अधिक मेल खाता था। राज्य के लोक-कल्याणकारी रूप की विवेचना प्रस्तुत कर रानाडे ने व्यक्ति के आर्थिक एवं नैतिक क्रियाकलाप में राज्य को अधिक सहकार प्रदान करने के लिए प्रेरित किया। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के पक्ष में उन्होंने नियन्त्रणकारी राज्य-व्यवस्था का प्रतिरोध प्रस्तुत किया। वे सीमित स्वतन्त्रता के विचार में विश्वास नहीं करते थे।[16] राजनीतिक विचारों की दृष्टि से रानाडे ने भारतीय जनमानस के राजनीतिक प्रशिक्षण को अधिक महत्त्व दिया। जन-जागरण के माध्यम से ही संवैधानिक आंदोलन का कार्य अधिक प्रभावी हो सकता था। जेम्स केलोग के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में होने वाले समस्त राजनीतिक आंदोलनों को रानाडे के प्रोत्साहित एवं नियमित करने वाले मस्तिष्क ने प्रेरणादायी शक्ति प्रदान की।[17] भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापकों में से होने के कारण रानाडे ने भारत के भावी भविष्य का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया।[18] स्वयं राष्ट्रीय कांग्रेस के जनक एलन आक्टेवियन ह्यूम ने महादेव गोविंद रानाडे को अपना "राजनीतिक गुरु" स्वीकार किया। रानाडे के लिए इससे अधिक राजनीतिक सम्मान का सूचक और क्या हो सकता था? इतना ही नहीं अपितु भारतीय देशभक्तों के राजकुमार गोपाल कृष्ण गोखले ने भी रानाडे के प्रति श्रद्धानत हो उन्हें अपने 'गुरु' के रूप में स्वीकार किया और उनके पदचिह्नों पर चलने का प्रयत्न किया। रानाडे स्वयं राजनीतिक गतिविधियों में अधिक सक्रिय न हो सके, किन्तु कांग्रेस के तत्कालीन प्रभावशाली सदस्यों ने किसी भी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न पर रानाडे की सम्मति लिये बिना कार्य नहीं किया। देशी भाषा-प्रेस-अधिनियम, शस्त्र-अधिनियम, प्रशासनिक सेवा-परीक्षाएँ, मध्य एशिया का प्रश्न सभी पर रानाडे की जोरदार करनी का प्रभाव पड़ा।[19] भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विषय-समिति की सदस्यता के माध्यम से रानाडे ने कांग्रेस की रीति-नीति को पग पग पर प्रभावित और प्रेरित किया। उन्होंने नये विचारों को प्रोत्साहित किया और लोकमत को राजनीतिक प्रबुद्धता का

रानाडे ने जहाँ राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध में वृहद् विवेचन किया है वहाँ सरकार के संगठन एवं प्रशासन को भी सीमित अर्थों में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। शासन की दृष्टि से रानाडे लोकतान्त्रिक शासन के पक्षपाती थे। वे शक्ति के विकेन्द्रीकरण में विश्वास रखते थे तथा स्थानीय स्वशासन को विकसित करने पर उनका विशेष जोर रहा। वे केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थानीय सरकार के कार्यों में हस्तक्षेप की नीति को स्वीकार नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि स्थानीय स्वशासित संस्थाओं को विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त होना चाहिए। इसके लिए उन्होंने यह सुझाव भी दिया कि स्थानीय संस्थाओं को केन्द्रीय संस्थाओं द्वारा कम ब्याज पर कर्ज के रूप में धनराशि उपलब्ध करायी जाये ताकि स्थानीय स्वशासित संस्थाएं ग्रामीण क्षेत्रों व शहरों में उद्योगों का विकास कर सकें। वे स्थानीय निकायों में वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव कराने के भी पक्ष में थे।[20] उनका यह विश्वास था कि इस प्रकार के निर्वाचन से स्थानीय स्तर पर राजनीतिक शिक्षण का प्रसार होगा तथा आत्म-विश्वास जागृत होगा।

सामाजिक एवं धार्मिक प्रश्नों पर उनके उदार विचारों ने राजनीतिक दृष्टि से उन्हें पूर्ण उदारवादी विचारक ही बनाये रखा। उनके उदारवादी विचारों ने उन्हें मानवीय गरिमा को बनाये रखने वाले विचारों एवं कार्यों से दूर नहीं होने दिया।[21] वे हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था के नियन्त्रणकारी नियमों को मानव-स्वतन्त्रता का प्रहार मानते थे। इस कार्य के लिए एक ओर जहाँ उन्होंने हिन्दू समाज के प्रगति-विरोधी तत्वों को ललकारा तो दूसरी ओर अंग्रेजी शासन को भी खरीखोटी सुनाने से पीछे नहीं रहे। भारतीय जनता का शोषण करने वाले ब्रिटिश सरकार के भूमि-विषयक कानूनों को उन्होंने आड़े हाथों लिया। भारत के केन्द्रीभूत प्रशासनिक ढाँचे को रानाडे ने स्थानीय शासन का शत्रु माना। वे शासन के विकेन्द्रीकरण एवं प्रादेशिक संरक्षण के पक्षपाती थे।[22]

रानाडे का यह मत था कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए नैतिक दृढ़ता आवश्यक है। राष्ट्र की शक्ति नैतिक गुणों पर आधारित है। यहाँ तक कि नैतिक गुणों के पूर्ण विकास के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता अर्थहीन है। समाज में लोकतान्त्रिक विचारों के प्रसार के लिए उन सामाजिक नियमों को परिवर्तित करना आवश्यक है जो प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करते हैं। सामाजिक समानता के बिना राजनीतिक समानता नहीं आ सकती। लोकतान्त्रिक शासन की स्थापना लोकतान्त्रिक समाज पर ही आधारित हो सकती है।[23] इसी सन्दर्भ में रानाडे के मराठा-शक्ति के उत्कर्ष सम्बन्धी विचारों को समझा जा सकता है। रानाडे ने शिवाजी के शासन की प्रशंसा करते हुए लिखा था कि उनका शासन नैतिक नियमों पर आधारित था।[24] उनके अनुसार शिवाजी सामाजिक समानता एवं एकता को राजनीति का आधार मानते थे। महाराष्ट्र में मराठा-शक्ति का उदय सामाजिक असमानता एवं दासता के विरुद्ध संघर्ष था। सन्त ज्ञानेश्वर, वामन पण्डित, तुकाराम नामदेव, एकनाथ आदि परम्परागत ब्राह्मणवाद एवं जातिगत कट्टरता के विरुद्ध थे। उन्होंने शूद्रों तथा दलितों की स्थिति को सुधारा और सामाजिक व्यवस्था को प्राचीन वेदों की शुद्ध पद्धति तक पहुँचाया। उनके द्वारा राष्ट्र-निर्माण का नवीन प्रयोग

किया गया था।[25]

रानाडे का राष्ट्रवादी दृष्टिकोण उनके द्वारा मराठा-इतिहास की नवीन व्याख्या में निहित है। उनका यह विचार था कि भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना के लिये अंग्रेजों ने मुगलों से सत्ता प्राप्त नहीं की थी। उन्हें सत्ता के लिए मराठों से संघर्ष करना पड़ा था और उन्हीं से सत्ता छीनी थी। हिन्दू-शासकों से ही अंग्रेजों ने सत्ता प्राप्त की थी। वे इससे यह सिद्ध करना चाहते थे कि राष्ट्रीय एकता एवं जागृति ने मुगलों को शनैः शनैः पददलित कर मराठा-शासन की स्थापना की।[26] अंग्रेजों ने चालाकी तथा कुशल कूटनीति के प्रयोग से भारतीय राष्ट्रीयता में विघटन के बीज बो कर भारत को पराधीन किया। उनका यह दृष्टिकोण भारत की स्वतन्त्रताप्रेमी जनता की सुप्त राष्ट्रीय भावना को पुनर्जागरण के लिए ललकारने वाला था। यह राष्ट्रवादी चेतना को परोक्ष रूप से जागृत करने वाला प्रयास था। रानाडे की अर्थ-नीति राष्ट्रवादी विचारों से अनुप्राणित थी। वे भारत में अंग्रेजी शासन की त्रुटिपूर्ण नीतियों के आलोचक थे।[27] उनके द्वारा वासुदेव बलवन्त फड़के के आन्दोलन को अप्रत्यक्ष समर्थन मिला था। शासन के विरुद्ध विद्रोह करने वालों के प्रति उन्हें सहानुभूति थी क्योंकि उनकी दृष्टि में विद्रोहियों का कार्य आर्थिक कारणों से अधिक प्रेरित था, राजनीतिक कारणों से कम। देश में व्याप्त निर्धनता एवं बेरोजगारी के लिए रानाडे ने शासन की त्रुटिपूर्ण एवं अदूरदर्शी नीतियों को उत्तरदायी ठहराया। उन्हें अंग्रेजों की जनता के उदारवादी पक्ष से सहानुभूति थी। वे इंग्लैण्ड के उदारवादी दल से ही भारत के प्रति उचित नीतियों के समर्थन की आशा करते थे।[28]

रानाडे का राजनीतिक चिन्तन पाश्चात्य दर्शन पर आधारित था।[29] पश्चिम में प्रचलित सामाजिक विज्ञानों की ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक पद्धतियों का वे अनुसरण कर रहे थे। वे काण्ट के दर्शन से सर्वाधिक प्रभावित हुए और उसी पर उनका धर्म, अन्तःकरण एवं स्वतन्त्रता सम्बन्धी दृष्टिकोण आधारित रहा।[30] वे पश्चिम के आदर्शवादी चिन्तन से अनुप्राणित थे। वे जर्मन आदर्शवादी काण्ट तथा हेगल से भिन्न इंग्लैण्ड के आदर्शवादी चिन्तक ग्रीन के विचारों के अधिक निकट थे।[31] उन्हें ग्रीन की प्रतिकृति भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि रानाडे ने अपने विचार ग्रीन से पहले किन्तु स्वतन्त्र रूप से विकसित किये थे। जहाँ ग्रीन के विचार परिष्कृत थे, रानाडे के विचारों में उतनी पूर्णता नहीं थी। ग्रीन के सदृश रानाडे ने उन्नीसवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के उपयोगितावादी व्यक्तिवाद का खण्डन किया।[32] वे बेंथम तथा मिल के पाश्चात्य भौतिकवादी दृष्टिकोण के विरोधी थे। इसी प्रकार से रानाडे का आदर्शवाद जो कि उनके राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विचारों की पृष्ठभूमि रहा पाश्चात्य प्रभाव से विकसित हुआ।[33] पश्चिम के एकेश्वरवाद तथा प्रोटेस्टेन्टवाद ने उनके आध्यात्मिक विचारों को अति प्रेरित किया।[34] किन्तु कालान्तर में हिन्दू-धर्म की महानता के अधिष्ठान ने उन्हें नवीन राष्ट्रवादी दृष्टिकोण प्रदान किया। वे कट्टर हिन्दू-राष्ट्रवाद के विचारक नहीं थे। वे सुधारवादी तथा वैधानिक क्रान्ति के अग्रदूत थे।

रानाडे के राजनीतिक विचारों में राज्य का कल्याणकारी रूप, व्यक्तियों का उत्तरदायित्व, व्यक्तिवाद तथा समष्टिवाद का सामंजस्य एवं स्वतन्त्रता राजनीतिक शिक्षा

महत्व रखते हैं।[35] वे स्वशासित भारत के लिए लिखित संविधान के पक्षपाती थे। भारतीय राज्यों की स्वायत्तता तथा उनके संघात्मक एकीकरण पर उन्होंने विचार व्यक्त किये। वे प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण के पक्ष में थे। भारतीय रजवाड़ों के शासकों के लिए उन्होंने इंगलैण्ड की लार्ड सभा के सदृश निकाय बनाने का सुझाव दिया। देशी रियासतों में भी संवैधानिक एवं लोकतांत्रिक सरकारों का गठन सुझाया।[36] तिलक ने भी, जो कि रानाडे के सुधारवादी आंदोलन के विरोधी थे, रानाडे के मौलिक राजनीतिक विचारों की प्रशंसा की है।[37]

रानाडे के सामाजिक विचार

महादेव गोविन्द रानाडे ने सामाजिक क्षेत्र में कई महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित किये। उन्होंने सामाजिक सुधार हेतु पाश्चात्य शिक्षा के विस्तार पर बल दिया। वे सामाजिक मान्यताओं के आधार पर समाज-सुधार के कार्य करना चाहते थे। समाज-सुधार के क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप को वे तब तक स्वीकार नहीं करते थे जब तक ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न न हो जायें जिनमें राज्य के हस्तक्षेप के बिना कोई चारा ही न रहे। सामाजिक परिवर्तन के लिए वे क्रांतिकारी उपायों का समर्थन नहीं करते थे। उन्होंने रचनात्मक परिवर्तनों को शांतिपूर्ण तरीकों से प्रभावी बनाने में विश्वास प्रकट किया। समाज-सुधार की दृष्टि से रानाडे ने स्वतन्त्रता, विवेकपूर्ण व्यवहार, संगठित प्रयास, सहिष्णुता व मानव की गरिमा को प्रमुख निर्धारकों के रूप में माना।[38] वे समाज-सुधार को राजनीतिक एवं आर्थिक स्थितियों के साथ भी जोड़ते थे। एक उच्च सामाजिक व्यवस्था ही राजनीतिक तथा आर्थिक उन्नति का साधन थी इसलिए वे समाज-सुधार के प्रश्न को धार्मिक सहिष्णुता तथा राजनीतिक एवं आर्थिक उन्नति के साथ जोड़ते थे। अंधविश्वासों, कुरीतियों एवं पुरातन-पन्थी विचारों के उन्मूलन के लिए वे राज्य की सहायता में विश्वास करते थे। रानाडे के इस विचार को अत्यधिक विरोध का सामना करना पड़ा। उनके समकालीन समाज-सुधारकों ने भारत की सामाजिक व धार्मिक मान्यताओं में अंग्रेजी शासन के हस्तक्षेप को उचित नहीं ठहराया। रानाडे द्वारा सुझाये गये सम्मति-आयु-विधेयक (1891) को इसी आधार पर चुनौती दी गयी कि सामाजिक व्यवस्थापन के क्षेत्र में अंग्रेजी शासन का हस्तक्षेप उचित नहीं है। तिलक ने इस विधेयक का पुरजोर विरोध किया तथा यह प्रकट किया कि किसी भी सुधार के स्थायी होने के लिए उसकी सामाजिक स्वीकृति आवश्यक है। तिलक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सरकार के इस प्रकार के हस्तक्षेप को उचित नहीं ठहराते थे। रानाडे तथा तिलक के विचारों में और भी कई भिन्नताएं थीं। जहां रानाडे सामाजिक सुधारों को राजनीतिक सुधारों के पहले प्राप्त करने के पक्षपाती थे वहां तिलक राजनीतिक सुधारों को सर्वाधिक प्रमुखता देते थे। तिलक का यह विश्वास था कि स्वराज्य प्राप्त करने के पश्चात् सामाजिक सुधार स्वतः स्वीकृति प्राप्त कर लेंगे। रानाडे तथा तिलक के विचारों में असमानताओं का दूसरा कारण यह था कि तिलक रानाडे के समान उपदेशक की भूमिका स्वीकार नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि सामाजिक सुधार करने वालों को स्वयं अपने चरित्र एवं सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन लाकर आदर्श उपस्थित करना चाहिए। इस सन्दर्भ में तिलक ने रानाडे के एक अल्पायु स्त्री से विवाह का अत्यधिक विरोध किया तथा रानाडे की कथनी व करनी

नाम मे धार्मिक एवं सामाजिक अध- पतन की स्वीकृति देने के इच्छुक नही थे। स्वतन्त्रता का अर्थ अन्य व्यक्तियो की समान स्वतन्त्रता का सम्मान करना होता है न कि स्वय की स्वतन्त्रता के लिए अन्य व्यक्तियो की स्वतन्त्रता का हनन करना। समाज-सुधार के व्यक्तिगत प्रयत्न चाहे कितने सतोषप्रद क्यों न हो, राज्य द्वारा किये गये प्रयत्नो के समान नही हो सकते। राज्य मे बुराइयों की रोकथाम करने की अद्भुत क्षमता होती है। राज्य अपनी सामूहिक क्षमता मे अपने श्रेष्ठ नागरिकों की विवेक, दया तथा परोपकारिता का प्रतीक है।[62] इसकी तुलना म व्यक्तिगत प्रयास धूमिल दिखाई देते हैं। जिस प्रकार राज्य अन्य लोकोपयोगी कार्यों का दक्षता से निष्पादन करता है, ठीक उसी प्रकार से राज्य द्वारा विवाह, विच्छेद, विधवाओ की स्थिति आदि के सम्बन्ध मे उचित नियमन किया जाना चाहिए। अल्पवयस्को की रक्षा व साथ-साथ विधवाओ का सरक्षण भी राष्ट्र की मानवीय प्रवृत्ति का द्योतक है। जिस प्रकार सती-प्रथा, बाल-वध आदि को रोकने के लिए राज्य को हस्तक्षेप करना पड़ा उसी प्रकार से अन्य सामाजिक कुरीतियो जैसे बहु-विवाह, बाल-विवाह, विधवा-प्रथा आदि को भी राज्य के हस्तक्षेप द्वारा नियन्त्रित करने की आवश्यकता है। विधवाओ की ओर से या सामाजिक यत्रणा भुगत रहे प्राणियो द्वारा राज्य को ज्ञापन दिया जाये और फिर राज्य द्वारा हस्तक्षेप किया जाये, यह कहा का न्याय है? रानाडे यह मानते थे कि समाज के ठेकेदार आतक एव दमन के द्वारा शोषितो की आवाज दबाये रखते हैं। राज्य ऐसी स्थिति मे केवल एक मूक दर्शक नहीं बना रह सकता। बच्चे तथा विधवा स्त्रिया स्वय अपनी रक्षा नहीं कर सकती और न कानून का स्वय सहारा लेने मे समर्थ हैं। ऐसी परिस्थिति मे राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह दलित एव शोषित वर्गों की ओर सहायता का हाथ बढ़ाये और उन्हे आश्रय एव सरक्षण प्रदान करे।[63]

रानाडे ने सुधारो की प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करने वाले तत्वो को आड़े हाथो लिया। यदि विदेशी सत्ता द्वारा सुधारो के कार्यों मे हस्तक्षेप सत्ता के प्रभाव को बनाये रखने तथा निहित स्वार्थों की पूर्ति करने वाला हो तब तो सशय करना उचित है अन्यथा विदेशी सत्ता पर समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियो का प्रभाव डालकर उचित कानूनो के माध्यम से सुधारो की योजना को क्रियान्वित करना दोष रहित ही होगा। यदि पारसी, खोजा मुसलमान तथा भारतीय ईसाइयो द्वारा शासन के माध्यम से सामाजिक व्यवस्थापन का लाभ उठाया जा सकता है तो फिर, रानाडे के अनुसार, हिन्दुओ को इस कार्य मे पीछे नही रहना चाहिए।[64]

रानाडे ने इस सदर्भ मे यह भी व्यक्त किया कि सुधारो की माग का अर्थ यह नही है कि हम अंग्रेजो की नकल करना चाहते हैं या पाश्चात्य तौर तरीके अपनाना चाहते हैं। रानाडे के अनुसार मूल उद्देश्य अपनी पुरानी स्थिति को पुन प्राप्त करने का है। यदि हम वैदिक आर्यसभ्यता के स्वस्थ मापदडो की पुनर्प्राप्ति के लिए ऐसा करते हैं तो इसमे दोष नही है। शास्त्रो ने जिन प्रतिबन्धो को स्थायी रूप देकर हमारे सामाजिक नियमो को जकड़ दिया है व वेदोक्त नियमो के विरुद्ध हैं।[65] इस जड़ता को दूर करने की आवश्यकता पर उन्होने बल दिया। रानाडे का यह भी मत था कि राज्य द्वारा पारित कानूनो की आवश्यकता का यह अर्थ नही है कि हम इनसे पहले किसी कानून के अन्तर्गत नही रहे।

हिन्दू-समाज को कानूनों ने प्रारम्भ से ही नियमित किया है और भविष्य में भी आवश्यक कानूनों द्वारा ऐसा किया जाना चाहिए। विवाह की आयु लड़कियों के लिए बारह वर्ष तथा लड़कों के लिए अठारह वर्ष निर्धारित होनी चाहिए।[46] इसके विपरीत किये गये विवाह मान्य नहीं होने चाहिए। यदि ऐसे विवाद न्यायालय द्वारा तय किये जायें तो न्यायालय को चाहिए कि उन्हें अवैध घोषित करें। विवाह के बाद पति-पत्नी के शारीरिक सम्बन्धों के स्थापित होने के पश्चात् ही विवाह को पूर्ण एवं अंतिम माना जाना चाहिए। रानाडे ने यह भी व्यक्त किया कि गोत्र, पिंड तथा सूतक का निर्णय भी विवाह के पूर्ण होने पर किया जाये। इससे बाल-विधवाओं के संकट का समाधान हो सकेगा।[47] पच्चीस वर्ष की आयु प्राप्त विधवाओं को स्वेच्छा से केशमुण्डन तथा अन्य नियन्त्रणों में बद्ध होने का नियम हो। विधवाओं को पुनर्विवाह करने पर उनके पूर्वपति की सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वंचित न किया जाये। पचास वर्ष से अधिक आयु के विधुर तथा चौदह वर्ष से कम उम्र की कन्या का विवाह पूर्णतया प्रतिबन्धित कर दिया जाये। इस प्रकार रानाडे ने समाज-सुधार का कार्यक्रम तथा तत्सम्बन्धी सुझाव प्रस्तुत किये। वे इन सुधारों को क्रमिक गति से प्रभावी करने में विश्वास करते थे। उनका उद्देश्य आमूल-चूल तात्कालिक परिवर्तन लाने का नहीं था। वे यह मानते थे कि सामाजिक व्यवस्थापन का कार्य सहज नहीं है। इसमें लम्बा समय लगना स्वाभाविक है किन्तु प्रारम्भ यथाशीघ्र होना चाहिए ताकि कालान्तर में इन्हें प्राप्त किया जा सके। रानाडे ने इस कार्य के लिए शासन द्वारा एक जांच-आयोग नियुक्त करने का सुझाव भी दिया, जिसमें भारतीय एवं यूरोपीयन्स दोनों को ही सदस्य बनाया जाये। इससे अनेक नवीन सुझाव प्राप्त हो सकेंगे तथा जांच के द्वारा उन हितों को संरक्षण प्राप्त हो सकेगा जिन्हें इसकी आवश्यकता है।[48]

रानाडे ने इलाहाबाद में आयोजित द्वितीय सामाजिक सम्मेलन के 1888 के अधिवेशन में यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि स्वैच्छिक सुधार-संगठनों को उनके अपने सदस्यों पर नियमों तथा दंडों का अनुपालन कराने की शक्ति दी जाये।[49] इस सम्बन्ध में उन्होंने कानून बनाने की भी मांग प्रस्तुत की। इससे पंजीकृत संगठनों द्वारा अपने सदस्य से उचित व्यवहार कराने सम्बन्धी नियन्त्रण होगा और समाज में सुधारों की गति तीव्र होगी। रानाडे ने इसी प्रकार 1891 के अपने नागपुर-भाषण में यह विचार व्यक्त किया कि सामाजिक सुधारों के लिए व्यवस्थापन को अंतिम अस्त्र के रूप में ही प्रयुक्त किया जाये।[50] जब तक अन्य पद्धतियाँ सुधारों के लिए उपलब्ध एवं कारगर हैं, तब तक व्यवस्थापन का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। रानाडे ने सुधार की चार पद्धतियाँ बतलायीं।[51] पहली पद्धति के अनुसार सुधारों को परम्पराओं पर आधारित किया गया था और शास्त्रों के निर्णयों को मान्यता दी गयी थी। इस में शास्त्रों की व्याख्या पर जोर दिया गया था और उन पर नवीन आवश्यकता का हल आधारित किया था। रानाडे के अनुसार इस पद्धति का अनुसरण डा० भण्डारकर तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया था। स्वामी दयानन्द ने प्राचीन शास्त्रों की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। इसी पद्धति का प्रयोग सामाजिक सम्मेलन (सोशल कान्फरेन्स) ने विधवा-विवाह के संदर्भ में किया था। रानाडे के अनुसार दूसरी पद्धति शास्त्रार्थ की थी। इसमें व्यक्तियों पर अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित, पाप-पुण्य आदि के सीधे-प्रभाव का प्रतिपादन किया गया था। इस

पद्धति के प्रयोगकर्ता सुधारक व्यक्तियों को उनके वचन एवं शर्तों से बांधने का प्रयास करते थे। सुधारकों द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली तीसरी पद्धति दंड की थी। यह दंड या तो जाति द्वारा निर्धारित था या राज्य द्वारा। इसमें चतुर व्यक्तियों द्वारा अज्ञानियों पर नियंत्रण सामान्यहित में स्थापित किया जाता था। इस पद्धति में गुण भी थे तथा दोष भी। ऐसे इस पद्धति का प्रयोग तभी सम्भव था जब पहले की दो पद्धतियाँ असफल हो जायें, क्योंकि तीसरी पद्धति सुधारात्मक अधिक थी। चौथी पद्धति अन्यों से सम्बन्ध विच्छेद कर अपना पृथक् अस्तित्व स्थापित करने की थी। रानाडे के अनुसार यह पद्धति अधिक दोषयुक्त है। इसके प्रयोग से निरंतरता भंग हो जाती है। सभी पद्धतियाँ एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हैं। चौथी पद्धति के अलावा शेष तीनों पद्धतियाँ सामाजिक सम्मेलन में स्वीकार करली गई। रानाडे ने यह स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत किया कि सम्मेलन के सम्बन्ध में यह भ्रांति कि यह कानून के द्वारा सुधार लाने वाली संस्था है, गलत है।[52] रानाडे के अनुसार कानून के द्वारा समाज-सुधार के कार्य की आवश्यकता वहीं समझी जानी चाहिए जहाँ अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हुई हो। उन्होंने उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हुए बतलाया कि मद्रास उच्च-न्यायालय ने विवाह में कन्या-विक्रय का समर्थन किया जबकि बम्बई तथा बंगाल उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय इसके विरुद्ध दिये।[53] रानाडे के अनुसार ऐसे मामलों में ही कानून बनाने की आवश्यकता प्रतीत होती है। कानून द्वारा समाज सुधार तभी प्रयोग में लाया जाये जब उपर्युक्त पद्धतियाँ असफल हो जायें।

रानाडे ने इसी प्रकार से मद्रास में हुए आठवें सामाजिक सम्मेलन (1894) में "समाज-सुधारों के पूर्वकालिक इतिहास" पर बोलते हुए कहा कि "समाज-सुधार का कार्य राज्य का कार्य नहीं हो सकता। इसका महत्त्व तभी है जबकि यह जनसामान्य द्वारा किया जाये।"[54]

सामाजिक चिंतन की दृष्टि से रानाडे पुनर्जागरणवादी नहीं थे। वे तिलक के पुनर्जागरणवादी विचारों के विरुद्ध थे। उग्रवादी चिंतकों में लाला लाजपतराय ने रानाडे के उन विचारों की आलोचना की, जो उन्होंने भारतीय सामाजिक सम्मेलन के अमरावती भाषण में व्यक्त किये थे।[55] रानाडे ने अपने अमरावती भाषण में व्यक्त किया था कि क्या पुनर्जागरणवादी भारत की जाति-व्यवस्था के भेद-भाव को जागृत करना चाहते हैं? क्या वे भारत के सवर्णों की मांस एवं मदिरा सेवन की घटनाओं को दोहराना चाहते हैं? क्या वे हमारे पुराणों में वर्णित मनुष्यों एवं देवताओं की विलासिता की कथाओं की पुनरावृत्ति करना चाहते हैं? क्या हम बारह प्रकार के विवाह तथा अवैध यौनाचार को पुनः प्रोत्साहन दें? क्या वे नियोग प्रथा द्वारा सन्तानोत्पत्ति चाहते हैं? क्या हम प्राचीन ऋषियों के कामातुर प्रसंगों को, गोमेध, नरमेध यज्ञों को, वाममार्गी शाक्तों की दुराचारी विधियों को, सती-प्रथा को तथा काशी-करवट, बहुपत्नी-प्रथा अथवा बहुपति-प्रथा को पुनर्जीवित चाहते हैं? पुनर्जागरण सम्भव नहीं है। रानाडे ने सुधारवाद को ही अंतिम लक्ष्य बतलाया।[56]

यद्यपि रानाडे के उपर्युक्त विचारों को पूर्ण तर्क-संगत नहीं माना जा सकता क्योंकि उनके विचार एकपक्षीय है फिर भी यह निश्चित है कि रानाडे अपने तर्कों के माध्यम से भारतीय सामाजिक व्यवस्था की भूतकालिक कमियों की ओर ध्यान आकर्षित कर हमारी

सामाजिक व्यवस्था को सुधारने का प्रयास कर रहे थे।[57]

रानाडे के धार्मिक विचार

रानाडे के धार्मिक विचार उनके सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों से जुड़े हुए हैं। उनका सामाजिक दर्शन उसी प्रकार धर्म से संयुक्त है, जिस प्रकार से उनका राजनीतिक दर्शन। रानाडे के धार्मिक विचारों के अध्ययन के बिना उनके राजनीतिक एवं सामाजिक विचार स्पष्ट नहीं हो सकते। स्वयं रानाडे ने इस संदर्भ में व्यक्त किया था कि तत्त्व-मीमांसा तथा समाजशास्त्र एक दूसरे से अत्यधिक सम्बन्धित हैं। मानव अस्तित्व के प्रश्न के निराकरण पर ही व्यक्तिगत एवं सामाजिक समृद्धि आधारित है। यही तत्त्वमीमांसा नैतिकता व्यवस्थापन तथा राष्ट्र-नीति को निर्धारित करती है।[58]

महादेव गोविन्द रानाडे अपने धार्मिक विचारों में अन्ध-विश्वास तथा असहिष्णुता का सदैव प्रतिकार करते रहे। वे बम्बई प्रार्थना-समाज के सदस्य बने तथा उन्होंने निराकार ब्रह्म की शिक्षा का जीवनपर्यन्त पालन किया। उनके धार्मिक विचारों पर महाराष्ट्र के सन्त विचारकों जैसे एकनाथ, तुकाराम आदि का विशेष प्रभाव पड़ा। वे अपनी दैनिक गति-विधियों में केवल भजन को ही ईश्वर-उपासना के रूप में मानते रहे। उनकी इस धार्मिक प्रवृत्ति ने उन्हें जातिवाद तथा धार्मिक संकीर्णता से सदैव अलग रखा। वे हिन्दू तथा मुसलमानों के साम्प्रदायिक विरोध का पक्ष नहीं लेते थे। वे समस्त अल्प संख्यकों के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनाने पर बल देते रहे। उनके इन धार्मिक विचारों पर भारत के प्राचीन धार्मिक गौरव का प्रभाव नहीं था। पाश्चात्य शिक्षा एवं साहित्य ने उन्हें अधिक उदारवादी बना दिया था, जिसके कारण वे हिन्दु-राष्ट्रवाद के रंग में नहीं रंगे। वे गुणों के विकास व चारित्रिक गठन पर अधिक बल देते थे। इसी कारण से वे पुनरभ्युदयवादी के स्थान पर सुधारवादी कहे जाने लगे। भारत की प्राचीन मान्यताओं को उन्होंने इसी आधार पर अस्वीकार कर दिया कि वेद व पुराणों की संस्कृति बदलते हुए समय के साथ नहीं चल सकती और इस कारण से हमें अपनी प्राचीन सभ्यता की हमेशा दुहाई नहीं देनी चाहिए। वे भारत में पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार व वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने का कार्यक्रम चलाना चाहते थे। इस प्रकार वे विवेक को अधिक महत्त्व देते थे। गोखले उनके धार्मिक प्रवचनों से अत्यधिक प्रभावित हुए थे।

रानाडे के धार्मिक विचारों का प्रवाह 1885 के बाद ही प्रारम्भ हुआ। 1878 तक रानाडे पाश्चात्य प्रभाव के कारण भारतीय विद्वता को हेय मानते रहे। किन्तु उनके विचारों में आकस्मिक परिवर्तन आया और बम्बई के प्रसिद्ध समाज-सुधारक दादोबा पांडुरंग के विचारों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने माना कि ईसाई धर्म में जीवन-मृत्यु की समस्याओं का उचित निराकरण नहीं मिलता। प्राचीन हिन्दूधर्म, दर्शन एवं रहस्यवाद दोनों में, ईसाई धर्म से श्रेष्ठ है।[59]

इससे पहले रानाडे ने प्रार्थना-समाज के माध्यम से धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में अपनी रुचि को परिष्कृत किया। प्रार्थना समाज के तीन प्रमुख सिद्धान्त थे, जो उसे सनातन हिन्दू धर्म से भिन्नता प्रदान करते थे :

1—ईश्वर एक है तथा निराकार है।

2—मूर्ति-पूजा अनुचित है अतः समाप्त की जानी चाहिए।

3—ईश्वर की उपासना ध्यान, प्रार्थना एवं सत्कार्यों के माध्यम से होनी चाहिए।[60]

इन सिद्धान्तों के अलावा प्रार्थना समाज के सदस्यों पर घर में अथवा मन्दिर में मूर्तिपूजा करना, जाति-भेद को मानना, बाल-विवाह, विधवा-प्रथा आदि को बढ़ावा देना निषिद्ध था। रानाडे ने इन्हीं विचारों को व्यवस्थित करने की दृष्टि से एक विस्तृत लेख "एथीइस्टिक कॉनफेशन आफ फेथ" 1868 में प्रकाशित किया। इस लेख में रानाडे ने धार्मिक ज्ञान, ईश्वर, परमात्मा तथा आत्मा का सम्बन्ध तथा पाप आदि का विवेचन किया।[61]

रानाडे ने नास्तिकतावादी विचारों की आलोचना करते हुए धार्मिक भावना का पूर्ण समर्थन किया। उनके विचार आगरकर से भिन्न थे। रानाडे ने धर्म के सम्बन्ध में कहा था, "हिन्दुओं के लिए धर्म उनके प्राणों से भी अधिक प्रिय है। मिल तथा स्पेन्सर के विचारों का इंग्लैण्ड के लिए कुछ भी महत्त्व हो, भारत के लिए उनका कोई उपयोग नहीं।"[62] उन्होंने शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षण का सुझाव भी दिया। हिन्दू-धर्म-शास्त्र का गूढ़ अध्ययन कर रानाडे ने स्त्रियों के अधिकारों का पक्ष समर्पित किया। 1886 में मद्रास में रानाडे ने "हिन्दू आइडियल्स आफ ड्यूटी" पर भाषण दिया और यह व्यक्त किया कि हिन्दुओं के सिवाय और कोई ऐसा समाज नहीं है जिसमें कर्त्तव्यों पर इतना अधिक बल दिया गया हो।[63] 1887 में रानाडे ने एक और महत्त्वपूर्ण धार्मिक विचार व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि ईसाइयों के धर्म से भिन्न हिन्दुओं का धर्म उन्हें रोटी के लिए प्रार्थना करना नहीं सिखाता। हमारा धर्म यह कहता है कि हम ईश्वर द्वारा इस संसार में सुख का उपभोग करने के लिए नहीं भेजे गये अपितु इस अभिप्राय से भेजे गये हैं कि हम आगे के जीवन की तैयारी कर सकें। उनके अनुसार हिन्दू-धर्म की श्रेष्ठता ही भारतीयों की प्रत्येक क्षेत्र में श्रेष्ठता का कारण है।[64] हिन्दू-धर्म की प्राचीनता और उसके निरंतर संघर्ष के दीर्घ इतिहास के आधार पर रानाडे ने हिन्दू-धर्म के उज्ज्वल भविष्य की अवश्यम्भाविता को पुष्ट किया। उनके अनुसार यदि अल्पसंख्यक यहूदियों को विस्मयकारी ईश्वरीय विधान बतलाया गया है तो फिर मानव-जाति के पांचवें भाग (हिन्दू) का विस्मयकारी अस्तित्व केवल संयोग मात्र नहीं है।[65]

रानाडे ईश्वरवादी थे। वे मानते थे कि ईश्वर द्वारा प्रकृति का निर्माण एवं नियमन किया जाता है। साथ-साथ उनका यह भी मत था कि ईश्वर के नियन्त्रण के बाहर मनुष्य का एक ऐसा भी पक्ष है, जिसमें वह अपने कार्यों के लिए स्वयं नैतिक रूप से उत्तरदायी है। इस ईश्वरवादी दृष्टिकोण का प्रमुख आधार निष्ठा या विश्वास है। विवेक भी ईश्वर का ज्ञान जाग्रत करता है। इस प्रकार रानाडे विवेक एवं निष्ठा दोनों को समान महत्व देते हैं। उनके द्वारा नियति एवं स्वतन्त्र इच्छा दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण प्रस्तुत किया गया है।[66] वे नैसर्गिक धर्म को स्वीकार करने वाले ईश्वरवादी थे। ऐसे कृपालु एवं व्यक्तिगत ईश्वर में उनकी निष्ठा थी जो विश्व का रचयिता, प्राकृतिक नियमों का नियन्त्रक तथा मानव की प्रसन्नता का हेतु है। पुरुष तथा प्रकृति से भिन्न किन्तु उनकी नियन्त्रक सर्वोच्च आत्मा ही ईश्वर है। ईश्वर जीवित प्राणियों के समान है तथा एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में है। वह सब कारणों का कारण, अकाल, अविनाशी, ब्रह्माण्ड का सर्वोच्चशासक, विवेक, अच्छाई, प्रेम, न्याय एवं पवित्रता में सर्वोच्च स्वामी, पिता, न्यायी तथा सर्वात्माओं का नैतिक पालक है।[67] रानाडे ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में सत्ता-मीमांसक, ब्रह्माण्डीय तथा

सोद्देश्यवादी तीनों ही प्रकार के मतों को स्वीकार करते हुए सोद्देश्यवादी मत को अधिक महत्व देते थे। वे इतिहास को ईश्वर के विधान का प्रतिफल मानते थे। ईश्वर की सत्ता को वे आत्मा की क्षमता का विकास करने वाली व्यवस्था मानते थे। वे द्वैतवादी थे क्योंकि उनकी दृष्टि में मानवीय आत्मा ईश्वर के सदृश नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा अमर है और भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। भक्ति-योग, कर्मयोग तथा ज्ञान योग दोनों ही से श्रेष्ठ है। व्यक्ति ईश्वर की बराबरी नहीं कर सकता। उसे ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित भाव रखना चाहिए। वे पुनर्जन्म के बारे में निश्चित धारणा नहीं रखते थे, किन्तु आत्मा की अमरता में उन्हें अटूट विश्वास था।[68] परमात्मा की नैतिक सत्ता तथा अंतःकरण की प्रेरणा उनकी आध्यात्मिक विचारधारा की धुरी थी।

रानाडे के आर्थिक विचार

भारत की शोचनीय आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में रानाडे के विचार विलियम डिग्बी तथा दादा भाई नौरोजी से भिन्न थे। रानाडे का विश्वास था कि भारत की गिरती हुई आर्थिक स्थिति के लिए निर्गम-सिद्धान्त उचित स्पष्टीकरण नहीं प्रस्तुत करता।[69] वास्तविक कारण भारत के घरेलू उद्योग-धन्धों का ह्रास तथा भारत की कृषि पर अत्यधिक निर्भरता को माना।[70] भारतीय कृषि की प्रकृति पर निर्भरता स्थिति को और भी कठिन बनाने वाली थी। वे भारत की आर्थिक समस्याओं का निराकरण चाहते थे। वे जनता की आर्थिक दरिद्रता के कारण पक्ष से भलीभांति परिचित थे। वे मानते थे कि भारत की अधिकांश जनता दुर्भिक्ष एवं अनिश्चित मृत्यु के कगार पर खड़ी थी। नवीन उद्योगों की स्थापना तथा औद्योगीकरण की मात्रा में वृद्धि ये दो मार्ग थे जिन पर चलकर भारत की निर्धनता को दूर किया जा सकता था किन्तु रानाडे इन दोनों मार्गों की कठिनाइयों से भी परिचित थे।[71] उनका यह विश्वास था कि पूंजी की कमी के कारण भारत का औद्योगिक विकास अवरुद्ध हो रहा था। ऋण देने की व्यवस्था भी इतनी पुरातनपंथी थी कि इसके कारण नये उद्योगों के लिये प्रचुर मात्रा में धन प्राप्त नहीं हो सकता था। और इन पर अंग्रेजी शासन की विरोधी नीति थी, जो भारतीयों को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनने के मार्ग में बाधक सिद्ध हो रही थी। उन्होंने इस विषम स्थिति का प्रतिकार करने के लिए 'इण्डस्ट्रियल एसोसिएशन ऑफ वेस्टर्न इण्डिया' गठित किया तथा 1890 में पूना में प्रथम औद्योगिक परिषद् आमन्त्रित की गयी। 1892 में पूना के डेक्कन कालेज में उन्होंने भारत की राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर भाषण दिया।[72]

आर्थिक क्षेत्र में रानाडे ने स्वतन्त्रवाद की भ्रान्त धारणाओं के विपरीत विचार व्यक्त किये। वे "अहस्तक्षेप" अर्थात् कम से कम हस्तक्षेप के सिद्धान्त के विरोधी थे। उनका यह विश्वास था कि सार्वजनिक अर्थ-व्यवस्था के हित में राज्य का तटस्थ रहना उपयुक्त नहीं है। वे भारत के सन्दर्भ में राज्य के कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने के पक्ष में थे। रानाडे ने दादाभाई नौरोजी से भिन्न विचार प्रतिपादित करते हुए व्यक्त किया कि भारत की आर्थिक विपन्नता 'निर्गम-सिद्धान्त' से स्पष्ट नहीं होती। वे भारत की निर्धनता के लिये भारत के अल्प औद्योगिक विकास तथा भारत की कृषि प्रधानता को दोषी मानते थे। उनके अनुसार भारत की आर्थिक दुर्दशा राज्य के कम से कम हस्तक्षेप के रहने के कारण नहीं सुधरी। उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन की अहस्तक्षेप की नीति का विरोध किया[73] और यह

सुझाया कि भारत की आर्थिक प्रगति के लिये शासन द्वारा सापेक्ष दृष्टिकोण अपनाया जाये। वे उन्मुक्त-व्यापार के समर्थक नहीं थे क्योंकि इस प्रकार के व्यापार में भारतीय उद्योगपतियों के लिए अंग्रेज उद्योगपतियों से स्पर्धा करना सम्भव नहीं था।[74] उनके अनुसार भारत की सहकारिता पर आधारित आर्थिक व्यवस्था मृत प्राय हो गयी थी। व्यक्तिगत व्यवसाय व क्रियाकलाप भी पूंजी की अल्पता के कारण समाप्त प्राय थे। अतः उन्होंने भारतकी आर्थिक प्रगति के लिए ब्रिटिश शासन से सहयोग प्राप्ति के कार्य को अधिक महत्व दिया। वे प्रसिद्ध जर्मन अर्थ शास्त्री प्रोफेसर लिस्ट के विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे।[75] लिस्ट के समान उनका भी यह मत था कि उद्योगों की प्रारम्भिक अवस्था में राज्य का संरक्षण अत्यावश्यक है। रानाडे ने भारत में उन्मुक्त-व्यापार समाप्त करने तथा भारत का औद्योगिक विकास करने के लिए ब्रिटिश शासन का ध्यान आकृष्ट किया।[76] उन्होंने सरकारी उद्योगों में लगने वाली सामग्री के भारतीय करण का सुझाव दिया। वे चाहते थे कि भारतीय रेल आदि विभाग अपने समस्त कल-पुर्जों की आवश्यकता की पूर्ति भारत में निर्मित माल से ही करें।[77] भारतीय शासन निजी व्यवसायियों को धन उपलब्ध कराये और कुशल कारीगरों की नियुक्ति कर उन्हें भारतीय तकनीकी संस्थानों में उच्च प्रशिक्षण दिया जाये। इस प्रकार रानाडे ने भारत के औद्योगीकरण के लिए राज्य के क्षेत्राधिकार का विस्तार स्वीकार किया। वे उत्पादित वस्तुओं के उचित वितरण में विश्वास करते थे और इस कारण उन्होंने उद्योगों के समुचित प्रबन्ध का सुझाव भी प्रस्तुत किया।

महादेव गोविन्द रानाडे भारतीय आर्थिक चिंतन के क्षेत्र में भारत की आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त करने वाले प्रथम अर्थशास्त्री थे। इस आर्थिक प्रगति के लिए रानाडे ने भावी नीतियों का समुचित प्रस्ताव प्रस्तुत किया। उनके द्वारा भारतीय आर्थिक जीवन का वर्गीकृत विवरण भावी अर्थशास्त्रियों का मार्गदर्शक बना।[78]

रानाडे का योगदान

महादेव गोविन्द रानाडे को भारत में "सार्वजनिक जीवन का पिता" कहा जाता है।[79] रानाडे ने शासकीय सेवा में होते हुए भी इतनी उपलब्धियां प्राप्त की, जो अपने आप में एक कीर्तिमान हैं। वे व्यक्तिगत उत्कर्ष अथवा यश के लिए लालायित नहीं रहे। गोखले के अनुसार रानाडे में अहम्मन्यता लेशमात्र भी न थी। पवित्र जीवन एवं उदारवाद उनके जीवन के स्तम्भ थे। उनका जीवन तथा कार्य उनके समकालीन दादाभाई नौरोजी, गोपालहरि देशमुख, फिरोजशाह मेहता, काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग, ज्योतिबा फूले, आगरकर, तिलक, मालाबारी आदि से भिन्न था। वे शान्ति एवं आत्मानुशासन के प्रतीक थे। उनका सन्त-सदृश व्यक्तित्व उनके भारत व्यापी सम्मान एवं श्रद्धा का कारक था। गोखले ने एक बार कहा था कि यदि रानाडे कुछ शताब्दियों पहले जन्मे होते तो उनका स्थान एकनाथ या सन्त तुकाराम के समान होता।[80]

रानाडे भारत में राष्ट्रवाद के युगद्रष्टा थे। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापकों में से थे और कांग्रेस की स्थापना से वर्षों पहले इन्दु-प्रकाश तथा सार्वजनिक सभा जर्नल के माध्यम से जनता के राजनीतिक शिक्षण का कार्य करते रहे। रानाडे राष्ट्रवादी थे, किन्तु उनका राष्ट्रवाद उग्र-राष्ट्रवाद या स्वतन्त्रता की मांग करने वाला

राष्ट्रवाद नहीं था। रानाडे का राष्ट्रवाद सांस्कृतिक एवं मानवीय राष्ट्रवाद था। उन्हें भारत के अतीत गौरव तथा भारत की प्राचीनता पर गर्व था।[81] एक दूरदर्शी राजनेता प्रखर चिन्तक, दृढ़ देशभक्त, समाज सुधारक चिन्तन पुरुष, मार्गदर्शक, विद्वान इतिहासविद, महान अर्थशास्त्री[82] रानाडे भारतवासियों के लिए विश्व पटल पर सम्मानपूर्ण स्थान के लिए प्रयत्नशील रहे। उन्हें भारत के उज्ज्वल भविष्य का पूर्वज्ञान प्राप्त हो गया था। रानाडे ने कहा था, "हमारा देश एक उदीयमान कर्मभूमि है। हमारी प्रजाति एक प्रतिष्ठित प्रजाति है। ईश्वर ने अकारण ही आर्यावर्त की इस प्राचीन भूमि पर अपने श्रेष्ठ वरदानों की वृष्टि नहीं की है। हम इतिहास में ईश्वर की कृति देख सकते हैं। अन्य देशों की तुलना में भारत को एक सभ्यता तथा धार्मिक एवं सामाजिक राज्य व्यवस्था विरासत में मिली है, जिसे समय की विशाल रंगशाला में अपने स्वतन्त्र विकास का अवसर मिला है। हमारे यहां कोई क्रांति नहीं हुई फिर भी पुरानी स्थितियां आत्मसात्करण की प्रक्रिया में सुधरती जा रही हैं। विश्व के महान धर्मों का यहां जन्म हुआ और अब वे बंधुओं की तरह मिल कर एक ऐसे उच्च विधान के स्वागत के लिए तत्पर हैं जो सब को एकाकार कर दे, सब में जीवन का संचार करदे। विश्व के समस्त देशों में भारत ही एक मात्र देश है जिस पर ऐसी कृपा हुई है और इस मनन से हम आन्तरिक अभिलाषा की शक्ति प्राप्त कर सकते हैं।"[83] □□

टिप्पणियां

1. टी. वी. पार्वते, महादेव गोविन्द रानाडे : ए बायोग्राफी, (एशिया, बम्बई, 1963) पृ. 1
2. पी. जे. जागीरदार, स्टडीज इन दी सोशल थॉट ऑफ एम. जी. रानाडे, (एशिया, बम्बई, 1963) पृ. 4
3. वही, पृ. 4-5
4. वही, पृ. 6-7
5. जी. ए. मानकर, ए स्केच ऑफ दी लाइफ एण्ड वर्क्स ऑफ रानाडे, भाग 2 (बम्बई, 1902) पृ. 35
6. रमा बाई रानाडे, रानाडे : हिज वाइफ्स रेमिनिसेन्सेज, (पब्लिकेशन्स डिवीजन, नई दिल्ली, 1963) पृ. 32
7. देखिए जागीरदार, पृ. 8-9
8. वही, पृ. 1
9. जेम्स केलोग, महादेव गोविन्द रानाडे : पैट्रियट एण्ड सोशल सर्वेन्ट (एसोसिएशन प्रेस, कलकत्ता, 1925) पृ. 120
10. दी मिसेलेनियस राइटिंग्स ऑफ एम. जी. रानाडे, (मनोरंजन प्रेस, बम्बई, 1915) पृ. 117
11. जागीरदार, पृ. 9
12. मिसेलेनियस राइटिंग्स, पृ. 78
13. कर्माकर द्वारा सम्पादित, महादेव गोविन्द रानाडे : रिलीजियस एण्ड सोशल रिफॉर्म (गणपत नारायण एण्ड कं. बम्बई, 1902) पृ. 103
14. वही, पृ. 26-27
15. मिसेलेनियस राइटिंग्स, पृ. 80
16. वही, पृ. 82
17. जेम्स केलोग, पृ. 111
18. जागीरदार, पृ. 12
19. जेम्स केलोग पृ. 111

20 जागीरदार, पृ 10
21 मिसलेनियस राइटिंग्स, पृ. 172
22. जागीरदार, पृ. 11-12
23. देखिये भीमराव अम्बेडकर, रानाडे, गांधी एण्ड जिन्ना, (थैकर एण्ड को , बम्बई, 1943) पृ. 32
24. महादेव गोविन्द रानाडे, राइज ऑफ दी मराठा पावर (पुनालेकर एण्ड को , बम्बई, 1900) पृ 57
25. वही, पृ. 171-172
26. वही, पृ. 4-7
27. जागीरदार, पृ. 10
28 वही
29. वही, पृ 97
30. वही
31 वही, पृ. 98
32. वही
33 वही
34. वही
35. पार्वते, पृ 221-225
36. वही, पृ 225
37. वही, पृ. 231
38 मिसलेनियस राइटिंग्स, पृ. 132
39. जागीरदार, पृ. 9
40. अप्पादोराय, डॉक्यूमेंट्स ऑन पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया, भाग 1, पृ. 110
41. वही, पृ. 111
42 वही,
43. वही, पृ. 112
44. वही, पृ. 113-114
45. वही, 116
46. वही, पृ. 117
47. वही, पृ. 118
48. वही, पृ. 118-119
49. वही, पृ 119
50. वही, पृ. 121
51. वही
52. वही
53 वही, पृ 122
54. वही
55. देखिये लाला लाजपत राय : दी मैन इन हिज वर्ड्स, (नटेसन, मद्रास, 1907) पृ. 126
56. मिसलेनियस राइटिंग्स, पृ. 180-197
57. जागीरदार, पृ. 31
58 रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ. 5
59. जागीरदार, पृ. 11
60 वही, पृ. 7
61. वही, पृ. 8
62. एन. आर. फाटक, रानाडे चरित्र, पृ. 371, जागीरदार द्वारा पृ. 12 पर उद्धृत

63. वही
64. वही
65. देखिये डी. एस. शर्मा, हिन्दूइज्म थ्रू दी एजेस, (विद्या-भवन, बम्बई, 1967) पृ. 87-88
66. रिलीजस एण्ड सोशल रिफार्म, पृ. 257-263
67. वही, पृ. 262-263
68. वही, पृ. 265-272
69. महादेव गोविन्द रानाडे, एसेज इन इण्डियन इकोनोमिक्स, पृ. 177
70. वही. पृ 174
71. वही, पृ. 176
72. वही, पृ. 166-167
73. जागीरदार, पृ. 13
74. वही, पृ 117
75. वही, पृ. 123
76. वही, पृ. 121
77. वही, पृ. 124-126
78. पार्वते, पृ. 183
79. वही, पृ. 310
80. वही
81. मिसेलेनियस राइटिंग्स, पृ. 89-90
82. डी. जी. कर्वे, रानाडे : दी प्रोफेट ऑफ लिबरेटेड इण्डिया (आर्यभूषण प्रेस, पूना 1942) पृ. 1
83. रानाडे पार्वते द्वारा उद्धृत, पृ. 222

□□

अध्याय 8

दादाभाई नौरोजी (1825-1917)

दादाभाई नौरोजी का जन्म 1825 ई० में गुजरात के नवसारी जिले मे हुआ था। बाल्यकाल मे ही पिता के देहावसान से उनकी शिक्षा का भार उनकी माता पर आ पड़ा। उनकी माता ने पारसी-समुदाय की आर्थिक सहायता से उन्हें यथा सम्भव शिक्षित करने का पूरा प्रयास किया। दादाभाई अत्यन्त मेधावी छात्र थे। अपनी अद्वितीय प्रतिभा के कारण वे प्रथम श्रेणी में निरन्तर उत्तीर्ण होते रहे और एक दिन वे एल्फिन्स्टन कॉलिज बम्बई मे गणित के व्याख्याता के पद पर नियुक्त हुए। वे इस पद पर बम्बई में नियुक्त होने वाले प्रथम भारतीय थे। शनैः शनैः दादाभाई नौरोजी ने समाज-सेवा एव देश की राजनीतिक चेतना का कार्य भी प्रारम्भ किया। 1853 में "बम्बई एसोसिएशन" के संस्थापकों मे से दादाभाई नौरोजी भी एक थे। गणित के व्याख्याता के पद पर दादाभाई नौरोजी अधिक समय तक नहीं रहे। अपने एक मित्र के आमन्त्रण पर दादाभाई नौरोजी ने इग्लैण्ड जाकर कामा एण्ड कम्पनी के साथ अपना व्यावसायिक जीवन प्रारम्भ किया। व्यवसाय की देखरेख के साथ साथ दादाभाई ने पत्रकारिता के माध्यम से भारत की आर्थिक दुर्दशा का गम्भीर विवेचन भी किया। उनकी प्रेरणा से 1867 मे लन्दन मे "ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन" की स्थापना हुई। दादाभाई नौरोजी लन्दन के पास एक उपनगर के छोटे से कमरे मे जीवन निर्वाह करते थे, जिसमें दादाभाई नौरोजी तथा उनकी किताबें एव अखबारों के अलावा कुछ भी नहीं था। अपने लन्दन प्रवास के दौरान दादाभाई नौरोजी ने भारतीय अर्थव्यवस्था का सागोपाग अध्ययन कर तत्सम्बद्ध एक नवीन दृष्टिकोण विकसित किया। उनकी भारतीय वित्त सम्बन्धी विद्वता के कारण उन्हें ब्रिटिश ससद की 'फासेट भारतीय वित्त-प्रवर-समिति" के समक्ष गवाही देने के लिए आमन्त्रित किया गया। दादाभाई नौरोजी ने इग्लैण्ड मे रह कर सेन्ट्रल फिन्सबरी-निर्वाचन-क्षेत्र से ब्रिटिश ससद के लिए चुनाव लड़ा और वे 1892 से 1895 तक ब्रिटिश ससद के सदस्य रहे।[1] किसी भारतीय के लिए ब्रिटिश ससद का सदस्य निर्वाचित होना उस समय की महान घटना थी। दादाभाई ने पुन: ससद् के लिए चुनाव लड़ा परन्तु पराजित हुए। 1897 मे उन्हें भारतीय वित्त-व्यय सम्बन्धी वेल्बी-कमीशन के समक्ष अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करने के लिए आमन्त्रित किया गया। 1901 में दादाभाई नौरोजी की प्रसिद्ध पुस्तक **पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया** लन्दन से प्रकाशित हुई, जिसमे उन्होंने अग्रेजो द्वारा भारत के शोषण का विस्तृत एव तर्कपूर्ण विवेचन किया। एक दृष्टि से उनका यह ग्रन्थ भारतीय राजनीतिक एव समाजवादी चिन्तन मे आर्थिक दृष्टिकोण का महाभाष्य माना गया। उनकी प्रेरणा से रोमेशचन्द्र दत्त तथा

गोखले ने भी आर्थिक "निर्गम-सिद्धान्त" (ड्रेन थियरी) का प्रयोग किया। दादाभाई नौरोजी की प्रतिभा तथा उनके असन्दिग्ध देशप्रेम के कारण उन्हें भारतीय श्रद्धा से "दि ग्रेन्ड ओल्ड मेन ग्राफ इण्डिया" कहा करते थे। उनकी लोकप्रियता इतनी अधिक रही कि वे तीन बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष मनोनीत किये गये।

राजनीतिक विचार

भारत की राजनीतिक एव आर्थिक उन्नति में पूर्णविश्वास रखने वाले दादाभाई नौरोजी अपने राजनीतिक विचारों के कारण उदारवादियो की श्रेणी में गिने जाते हैं। अपनी उदारवादी नीति के कारण वे अंग्रेजों के विवेक एव उनकी न्यायप्रियता के प्रशंसक थे। उनका विश्वास था कि अंग्रेजों के शासन के अन्तर्गत भारत का भविष्य सदैव उज्जवल रहेगा। वे रानी विक्टोरिया द्वारा की गयी 1858 की घोषणा से अत्यधिक प्रभावित हुए तथा मानने लगे कि इस घोषणा के क्रियान्वयन का कार्य शीघ्र पूरा होगा। उन्हें अंग्रेजो द्वारा भारत को सभ्य बनाये जाने वाले पुनीत कार्य में भी विश्वास था। उनकी यह धारणा थी कि अंग्रेजो का शासन भारत के चहुँमुखी विकास के लिए दैविक वरदान का कार्य करेगा।[2] जब कभी भी उन्हें अवसर मिला तब तब वे भारत पर किये गये अंग्रेजों के उपकार का वर्णन करने से पीछे नहीं रहे। अपने कलकत्ता कांग्रेस के सभापतित्व में उन्होंने यहां तक व्यक्त कर दिया कि अंग्रेजों का उस समय तक भारत में बने रहना आवश्यक है जब तक कि भारतीयों को वे स्वावलम्बी बनाने सम्बन्धी अपना न्यासिता का उद्देश्य पूरा नहीं कर लेते। उनका यह विश्वास था कि वह दिन दूर नहीं है जब कि विश्व के सामने इंग्लैण्ड भारतीयों के साथ समान मैत्री का उच्चादर्श प्रस्तुत करेगा। अपनी इसी धारणा के कारण दादाभाई नौरोजी ने इंग्लैंड तथा भारत के उद्देश्यों में विषमता के स्थान पर समानता के दर्शन किये। वह यह निरन्तर कहते थे कि यदि हम उचित मांगों को अंग्रेजी शासन के समक्ष प्रस्तुत करते हैं तो कोई कारण नहीं कि अंग्रेज उन्हें स्वीकार न करें। हमें अंग्रेजों की सत्यप्रियता में पूरा भरोसा होना चाहिए। इस प्रकार दादाभाई नौरोजी अंग्रेजी शासन तथा सभ्यता के महान् प्रशंसक रहे।

दादाभाई नौरोजी ने अपने उदारवादी या मितवादी दृष्टिकोण के कारण प्रार्थना एव याचिका का मार्ग अपनाया। उनकी दृष्टि में यह पद्धति तत्कालीन परिस्थितियों में अत्यन्त उपयोगी पद्धति थी तथा वे इस पद्धति को सशक्तप्रतिरोध से भी अधिक मूल्यवान समझते थे। शायद दादाभाई नौरोजी का यह विचार सत्य के अत्यधिक निकट था। उन दिनों में ब्रिटिश शासन अपने चरमोत्कर्ष पर था तथा भारत में राष्ट्रीय एकता स्थापित करने वाला तथा राष्ट्रीय चेतना जागृत करने वाला कोई संगठन विद्यमान नहीं था। कांग्रेस की स्थापना के बाद स्थिति में अन्तर आया फिर भी 1905 तक राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रचारित पक्ष उदारवादी अथवा मितवादी ही बना रहा। अत: दादाभाई भी अपने समय के अनुकूल उदारवादी रहे किन्तु उनका यह उदारवाद उनके समय के अन्य उदारवादियों से अधिक उग्र था। वे कहा करते थे कि अंग्रेजों को याचिकाएं प्रस्तुत करने का अर्थ कोई भिक्षा-वृत्ति नहीं है। उनके अनुसार जिस तरह औपचारिकता में 'विश्वासपात्र सेवक" प्रार्थना पत्रों पर लिखा जाता है उसी तरह से यह याचिकाएं भी औपचारिक शिष्टता के कारण अधिक नम्र भाषा में ही लिखी जा सकती है। किन्तु वे

याचिकाएं अधिकारों के लिए, न्याय के लिए तथा सुधारों के लिए थी ताकि ब्रिटिश संसद् यह जान सके कि भारतीयों की अभिलाषाएं क्या हैं तथा भारतीय जनता किस प्रकार से सोचती है। अपनी इसी वैचारिक स्वतन्त्रता व मौलिकता के कारण दादाभाई कहा करते थे कि स्वतन्त्रता ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहने वाले प्रत्येक भारतीय को जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में प्राप्त है। ब्रिटिश ध्वज के अन्तर्गत आने वाला प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है। किन्तु दादाभाई नौरोजी न तो भारतीयों के जन्मसिद्ध अधिकार की माग कर रहे थे जैसे कि बाद में लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य की मांग प्रस्तुत की और न दादाभाई प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तों की दुहाई देकर रूसों के समान स्वतन्त्रता की बात ही लाना चाहते थे। वे इन अधिकारों को अंग्रेजों की दयालुता एवं उनके चारित्रिक लक्षण पर निर्भर मानते थे।[3]

दादाभाई नौरोजी ने अपनी सुधारवादी वृत्ति के कारण समस्त प्रकार के सुधारों के लिए अंग्रेजी शासन का सहारा लेना उचित ठहराया। उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण सुधार-योजनाएं ब्रिटिश शासन के सम्मुख प्रस्तुत कीं। दादाभाई नौरोजी की एक मांग यह रही कि प्रशासनिक सेवाओं में अधिक से अधिक भारतीयों को नियुक्त किया जाये। उनका यह सुझाव कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। वे एक ओर अंग्रेजी शासन की असमानता व भेदभाव की नीति को चुनौती दे रहे थे तो दूसरी ओर वे सुशिक्षित एवं इंगलैण्ड में उच्च प्रशिक्षण-प्राप्त भारतीयों की रोजगार की समस्या का हल प्रस्तुत कर रहे थे। दादाभाई नौरोजी ने अपनी मांगों के अन्तर्गत एक मांग यह भी रखी थी कि भारत को शीघ्र ही प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं से युक्त किया जाये। उनका यह सुझाव उनकी दूरदर्शिता का परिचायक था। इस योजना के अन्तर्गत भारत सरलता से सुशासन की ओर बढ़ते हुए एक पूर्ण लोकतान्त्रिक राज्य बन सकता था। इसी प्रकार से दादाभाई नौरोजी भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए भी चिन्तित थे। वे चाहते थे कि इंग्लैण्ड तथा भारत के आर्थिक सम्बन्धों में मधुरता बनी रहे किन्तु साथ ही साथ इंगलैण्ड तथा भारत दोनों में ही समानता के आदर्श का पालन किया जाये। वे चाहते थे कि इंग्लैण्ड भारत को कच्चे माल की खान तथा तैयार माल की मण्डी मात्र न माने। इसके विपरीत अंग्रेजों का यह दायित्व है कि वे भारत की आर्थिक प्रगति के लिए उदार शर्तों पर आयात-निर्यात निर्धारित करें ताकि भारत की आर्थिक सम्पदा में वृद्धि हो तथा भारत की गरीबी तथा खाद्य-विपन्नता का निराकरण किया जा सके। वे भारत की समृद्धि के साथ ही साथ अंग्रेजों की समृद्धि को जुड़ा हुआ मानते थे।

दादाभाई नौरोजी का यह विश्वास था कि भारत की राजनीतिक दासता के लिए भारत की आर्थिक स्थिति उत्तरदायी है। वे इस आर्थिक संकट को भारत के नैतिक एवं भौतिक पतन का मूलकारण मानते थे। उनके अनुसार भारत में व्यापार करने वाले प्रत्येक यूरोपवासी ने तत्सम्बन्धी भारतीय को व्यापार से वंचित कर दिया। यही क्रम प्रशासनिक सेवाओं में भी चलता रहा। व्यवसाय तथा प्रशासन दोनों में ही प्रताड़ित एवं तिरस्कृत होकर भारतीयों ने स्वतन्त्र निर्णय की दक्षता एवं आत्मविश्वास की भावना खो दी। इस प्रकार विदेशी शासन ने भारतीयों को बुद्धि, वैभव एवं व्यवसाय तीनों से वंचित कर दिया।[4] दादाभाई नौरोजी का यह निरन्तर प्रयास रहा कि भारतीयों की

इन खोई हुई प्रतिभाओं को पुनः प्राप्त किया जाये। भारत के खोये हुए आत्मविश्वास को प्राप्त करने के लिए उन्होंने व्यवस्थापिकाओं के सुधार पर बल दिया ताकि अधिक से अधिक भारतीयों को प्रतिनिधि शासन का लाभ प्राप्त हो सके। इसी प्रकार वे भारत में होने वाले वित्तीय खर्च पर भारतीयों के नियन्त्रण का स्वप्न देखने लगे ताकि भारत में स्वशासन की स्थापना हो सके तथा भारतीय धन का इंग्लैण्ड निर्गमन न हो सके। अपने इन विचारों के समर्थन में दादाभाई नौरोजी ने यह स्पष्ट कर दिया कि अंग्रेजों का शासन भारत में इन सुधारों की माँग को अधिक दिन तक नहीं टाल सकता। यह कहना कि भारतीय पहले प्रतिनिधिशासन के लायक बन जायें इसके बाद उन्हें प्रतिनिध्यात्मक शासन से विभूषित किया जायेगा, उन्हें अतार्किक प्रतीत होता था। इस प्रकार दादाभाई नौरोजी एक उदारवादी से शनैः शनैः स्वराज्यवादी बनते चलते गये। 1906 के अपने अध्यक्षीय भाषण में कांग्रेस-अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए उन्होंने भारतीयों को स्वराज्य शब्द का मन्त्र पहली बार कांग्रेस-मंच से प्रदान किया और यह व्यक्त किया कि बदलते हुए समय के अनुसार अब भारतीय जनता केवल सुशासन तक ही सीमित नहीं रखी जा सकती किन्तु उसे स्वशासन की भी आवश्यकता है। यद्यपि यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 1906 के कलकत्ता-अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी द्वारा घोषित स्वराज्य शब्द कांग्रेस के उदारपन्थियों पर उग्रवादियों द्वारा थोपी गयी शर्त थी। उग्रवादियों को इस अधिवेशन के सभापतित्व से दूर रखने के लिए जहाँ एक ओर दादाभाई नौरोजी को सभापति चुना गया तो दूसरी ओर उनके मुँह से स्वराज्य शब्द का सिंहनाद कराकर उग्रवादियों के कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण पक्ष कांग्रेस ने निरोहित कर दिया।

दादाभाई नौरोजी के आर्थिक विचार

दादाभाई नौरोजी के चिन्तन का आर्थिक पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है। एक दृष्टि से उन्हें भारत के आर्थिक राष्ट्रवाद के उन्नायक का श्रेय दिया जाता है। पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया में दादाभाई नौरोजी ने भारतीय अर्थव्यवस्था की वृहत् व्याख्या की है। उन्होंने भारत से पूँजी के निर्गम-सिद्धान्त का प्रतिपादन कर अंग्रेजी साम्राज्यवाद के प्रति भारतीय जनमानस को सजग कर दिया। इसी निर्गम-सिद्धान्त के अन्तर्गत दादाभाई नौरोजी ने यह सिद्ध किया कि भारत की आर्थिक समृद्धि तब तक नहीं हो सकती जब तक इस निर्गम को नियन्त्रित नहीं किया जाता तथा भारतीय जनता को उनके प्राकृतिक अधिकारों से युक्त नहीं किया जाता। उन्होंने भारत तथा इंग्लैण्ड के वित्तीय सम्बन्धों पर कड़ा प्रहार किया तथा यह सिद्ध कर दिया कि इंग्लैण्ड ने भारत का वित्तीय शोषण किया है। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक का शीर्षक भी उनके आर्थिक विचारों को स्वतः स्पष्ट करने वाला था। उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन को अब्रिटिश कहा था। इसमें उनकी यह धारणा और भी पुष्ट हुई कि अंग्रेजों का इंग्लैण्ड में शासन नैतिकता तथा स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों पर आधारित था, किन्तु भारत में उनके शासन को उसी प्रकार उदार नहीं माना जा सकता था। अंग्रेज अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के विपरीत भारत में स्वतन्त्रता एवं समानता का दमन कर रहे थे। उनके विचार में भारत की ब्रिटिश सरकार दमनात्मक शासन-तन्त्र का प्रयोग कर रही थी जो कि इंग्लैण्ड की राजनीतिक परम्पराओं के लिए कलंक था।[7] उनकी इस

पुस्तक में उनके द्वारा भारत की आर्थिक व्यवस्था पर पढ़े गये भिन्न-भिन्न लेखों का संग्रह था। इस पुस्तक का उनका पहला लेख भारत की निर्धनता पर था, जिसमें उन्होंने यह प्रमाणित किया था कि भारत की प्रति व्यक्ति आय 40 शिलिंग के लगभग थी और इतनी अल्प आय एक जेल के बन्दी अपराधी का भी खर्चा पूरा नहीं कर सकती थी। बचत तथा अन्य सामाजिक पर्व व त्योहारों पर तो खर्च करने का सवाल ही नहीं उठता था। भारत की इस दयनीय आर्थिक स्थिति का रहस्योद्घाटन उन्होंने लन्दन के ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन की बम्बई-शाखा के समक्ष 1876 में किया था। दादाभाई नौरोजी ने भारत की निर्धनता के लिए अन्य विचारकों एवं आलोचकों द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्कों को जिसमें भारत की निर्धनता के लिए भारत की बढ़ती हुई आबादी को दोषी ठहराया था, अप्रमाण्य सिद्ध किया। अपने तर्क मे उन्होंने यह विचार प्रस्तुत किया कि भारत की निर्धनता के लिए भारत की जनसंख्या अथवा दोषपूर्ण आर्थिक नियमों को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। इसके लिए उन्होंने अंग्रेजो की क्रूर आर्थिक शोषण की नीति को उत्तरदायी ठहराया। वे यह मानते थे कि अंग्रेजो ने भारत को सम्पत्ति विहीन बना दिया था। वे भारत सरकार की व्यापार के असन्तुलन की नीति को भी दोष पूर्ण मानते थे, जिसमें आयात-निर्यात से कई गुना अधिक किया जाता रहा था। अपने निर्गम-सिद्धान्त मे दादाभाई ने यह बतलाया कि भारत से पूंजी कई तरह से निर्यात की जा रही थी। एक उदाहरण मे उन्होंने यह बतलाया कि भारत मे काम करने वाले अंग्रेजो द्वारा अपनी बचत खाते की बड़ी बड़ी रकम इग्लैंड भेज दी जाती थी तथा दूसरी ओर भारत-प्रशासन पर इग्लैण्ड मे गृह-सरकार पर किया जाने वाला खर्च भी भारत पर थोप दिया जाता था। सरकार भारत के प्रशासन पर किये जाने वाले खर्च को भी जनता से ही वसूल करती थी, जब कि इस खर्च का लाभ इग्लैण्ड की जनता को मिलता था। इतना ही नही भारत द्वारा इग्लैण्ड की सरकार को भारत मे लगी ब्रिटिश पूंजी के ब्याज को चुकाने के लिए भी बहुत बड़ी रकम इग्लैण्ड को देनी पड़ती थी। इसका स्वाभाविक परिणाम एक ओर भारत की गरीबी तथा दूसरी ओर इग्लैण्ड की सम्पन्नता के रूप में सामने आया। इतना ही नही किन्तु यह शोषण निरन्तर पुनरावृत्ति को प्राप्त हो रहा था जिसके अन्तर्गत भारत द्वारा प्रेषित राशि पुन: इग्लैण्ड द्वारा भारत मे नियोजित की जा रही थी। इससे भारत के आर्थिक क्षेत्र मे जहां ब्रिटिश पूंजी का निवेश बढ़ रहा था वहां भारतीयो की पूंजी व्यापार मे कम होती जा रही थी। इससे भारत की आर्थिक स्थिति मे घातक परिणाम हुए। अंग्रेजो साम्राज्य पर निर्भरता बढ़ती चली गयी। अंग्रेजो ने भारत मे व्यापार तथा वाणिज्य के क्षेत्र मे शनै शनै एकाधिकार प्राप्त कर लिया तथा शोषण की यह कहानी निरन्तर विद्यमान रही। उनके अकाट्य तर्कों से यह भी सिद्ध हुआ कि भारत मे यातायात के साधनो के विकास के रूप मे अंग्रेजो ने भारत म जिस एकीकरण का श्रेय प्राप्त करने का प्रयास किया था वह वास्तव म आर्थिक शोषण की कहानी थी। क्योंकि भारत की रेलो के विकास के लिए इग्लैण्ड की सरकार जो धनराशि व्यय कर रही थी उसका मुनाफा तथा उस राशि पर लगा ब्याज दोनो ही इग्लैण्ड के खजाने मे जमा हो रहा था। इसके उपचार के रूप मे दादाभाई नौरोजी का यह विचार था कि भारत मे भारत के व्यापारियो को व्यापार करने के लिए सुविधायें दी जायें तथा उन्मुक्त व्यापार की व्यवस्था स्थापित की जाये ताकि

भारतीय व्यापारी अंग्रेज व्यापारियों से प्रतिस्पर्धा कर सकें तथा विदेशी पूंजी के बढ़ते हुए प्रभाव को समाप्त कर सकें। इस प्रकार दादाभाई नौरोजी ने भारत में अंग्रेजी शासन के आर्थिक पक्ष के प्रति भारत को जागृत किया तथा अपने तर्कों से यह सिद्ध कर दिया कि यदि भारत अपनी निर्धनता दूर करना चाहता है तथा अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहता है तो उसे अंग्रेजों के शासन से लोहा लेना होगा। इस प्रकार दादाभाई नौरोजी ने अपने राजनीतिक विचारों में स्वराज्य को जितना स्पष्ट नहीं किया उतना उनकी आर्थिक विचारधारा ने आर्थिक साम्राज्यवाद का पर्दाफाश कर भारत में नवजागरण उत्पन्न किया। दादाभाई नौरोजी द्वारा 1876 में अंग्रेजों के आर्थिक साम्राज्यवाद की आलोचना उन्हें मार्क्स के विचारों का पूर्वगामी बना देती है। मार्क्स तथा दादाभाई दोनों समकालीन थे तथा समकालीन होने के साथ-साथ ही दोनों ब्रिटिश म्युजियम लाइब्रेरी में आर्थिक स्थिति का अध्ययन कर रहे थे। यह बात और भी अधिक विस्मयकारी है कि जिस ब्रिटिश म्युजियम वाचनालय से मार्क्स को पूंजीवाद की अन्तिम परिणति साम्राज्यवाद के रूप में कैसे हो सकती है पता नहीं चली, वह बात दादाभाई नौरोजी ने अपनी भारत की आर्थिक स्थिति के अध्ययन में प्रकट कर दी। मार्क्स के विचारों का यह पक्ष आगे जाकर लेनिन ने स्पष्ट किया और यह व्याख्या प्रस्तुत की कि साम्राज्यवाद ही पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था है। इस प्रकार दादाभाई नौरोजी अनायास ही में मार्क्सवाद-लेनिनवाद की विश्वव्यापी लोकप्रियता के पहले अपने समाजवादी विचार प्रकट कर सके। दादाभाई ने न तो मार्क्सवाद का ही वरण किया और न वे शुद्ध समाजवादी चिन्तक थे फिर भी समाजवाद में उनकी आस्था निरन्तर बढ़ती गयी और वे 1904 के एमस्टर्डम में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित हुए। उनका प्रयास केवल भारत की वित्तीय समस्याओं का हल करने का तथा भारत में मुक्त-व्यापार की स्थापना करना था। वे उदारवादी विचारक थे और इस कारण चाहते थे कि इस मुक्त-व्यापार को अंग्रेजी शासन की सहायता से ही कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है, विरोध करके नहीं। इस कार्य के लिए दादाभाई नौरोजी ने स्वदेशी का प्रचार आरम्भ किया। भारत की आर्थिक विपन्नता को भारतीयों द्वारा केवल स्वदेशी के माध्यम से ही दूर किया जा सकता था। उनके स्वदेशी-कार्यक्रम के साथ ही साथ स्वराज्य का पक्ष भी जुड़ गया।

अपने उग्र आर्थिक विचारों के कारण दादाभाई नौरोजी ने राष्ट्रवाद का अपने प्रकार से समर्थन किया। उदारवादी होते हुए भी बाद के समय में वे श्रीमती एनीबेसेन्ट के द्वारा चलाये गये होमरूल आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। उनकी आर्थिक योजनाओं ने उन्हें बाद के समय में इंग्लैण्ड की मजदूर सरकार के प्रति सहानुभूतिपूर्ण बना दिया तथा ब्रिटेन के कई समाजवादी नेताओं से उनके घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हुए।

दादाभाई नौरोजी के विचारों का धार्मिक एवं सामाजिक पक्ष अन्य कई विचारकों के समान गुप्त प्रायः ही रहा। अपने उदारवादी विचारों के कारण उन्होंने किसी भी धार्मिक मान्यता को प्रमुखता नहीं दी। वे समाजसुधार से भी अधिक सम्बन्धित नहीं रहे। इसके कई कारण थे—प्रथम, दादाभाई नौरोजी ने लम्बे समय तक विदेश में प्रवास किया और इस कारण वे भारत में चल रहे राजनीतिक एवं समाजसुधार कार्यक्रम से दूर रहे। द्वितीय, वे पारसी अल्पसंख्यक थे तथा इस कारण से उनके द्वारा किसी भी बहुसंख्यक

समुदाय के धार्मिक अथवा सामाजिक क्रियाकलाप में हस्तक्षेप करना अथवा उसमें सुधार सुझाना स्वीकार नहीं किया जाता। तृतीय, वे अपने विकसित राजनीतिक एवं आर्थिक विचारों के कारण धार्मिक आडम्बर व सकीर्णता के ऊपर थे। यही कारण था कि उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में राष्ट्र के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप की मान्यता प्रकट की। उनका राजनीति तथा धर्म को अलग मानना स्वाभाविक था। इस प्रकार सार्वजनिक रूप से उन्होंने धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में भाग नहीं लिया। किन्तु व्यक्तिगत रूप में अपने पारसी समुदाय के प्रति उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए वे बम्बई-प्रदेश के पारसियों के सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में अभिरुचि रखते थे। एक पारसी अल्पसंख्यक के रूप में उनका यह व्यक्तिगत दृष्टिकोण उनके राष्ट्रवादी विचार अथवा भारत-प्रेम को अवरुद्ध नहीं कर सका। इस प्रकार दादाभाई नौरोजी के रूप में भारत को एक महान् देशभक्त एवं आर्थिक विचारक प्राप्त हुआ।

दादाभाई नौरोजी ने भारत में अंग्रेजी राज्य की दासता के कारण उत्पन्न नैतिक दरिद्रता का उल्लेख करते हुए यह व्यक्त किया कि भारत के आर्थिक शोषण के कारण भारतीयों को उनके प्राकृतिक अधिकारों से वंचित रहना पड़ा था। उन्होंने भारत में नैतिक ह्रास के प्रति दुःख प्रकट करते हुए आर्थिक विपन्नता को बुद्धि तथा अनुभव की क्षीणता से सम्बन्धित माना। यूरोपियों के शासन के सभी विभागों में उच्च पदों पर आसीन रहने के कारण भारतीयों में हीनता की भावना का संचार होना स्वाभाविक ही था। नौरोजी के अनुसार यूरोपवासी भारत की सेवा में नियुक्त होकर एक ओर धन अर्जित करने का कार्य प्रारम्भ करते थे तो दूसरी ओर अनुभव तथा बुद्धि का भी अर्जन करते थे। सेवा निवृत्त होने के पश्चात् वे धन और अनुभव दोनों ही अपने साथ लेकर स्वदेश लौट जाते थे। इस प्रकार भारत को आर्थिक एवं नैतिक दोनों प्रकार की सम्पत्ति से रहित होना पड़ता था। इसका परिणाम यह हुआ है कि राष्ट्रीय तथा सामाजिक कार्य में बुद्धि तथा अनुभव से युक्त वयोवृद्ध व्यक्ति मिलने कठिन हो गये और देश को मार्ग दिखानेवालों की कमी का सामना करना पड़ा। उनके अनुसार "विदेशों से आकर भारत में काम करने वाले बौद्धिक, नैतिक अथवा सामाजिक सहयोग से कतराते हैं। न वे भारतीयों को समझने का प्रयास करते हैं और न भारतीय उनके बारे में अधिक ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। उनके कार्यों का महत्व अस्थायी प्रकृति का होता है जो कि उनके जाने के साथ ही समाप्त हो जाता है। यूरोपवासी भारतीयों को सही नेतृत्व नहीं दे सकते, क्योंकि वे भारतीयों के प्रति सद्भावना रहित व्यवहार करते हैं। भारतीयों को जानबूझकर हर प्रकार के सम्मान से दूर रखा जाता है, ताकि वे यूरोपवासियों के साथ घुल-मिलकर नहीं रह सकें। किसी भी प्रकार के राजनीतिक नेतृत्व की सुविधा न मिलने के कारण भारत की उभरती हुई पीढ़ी दिग्भ्रान्त हो चली है। इसके लिए ब्रिटिश शासन उत्तरदायी है। फिर भी शिक्षा के प्रसार द्वारा नवीन प्रभाव तथा चेतना भारतीयों में उभरने लगी है। किन्तु इस पर भी भारत के ब्रिटिश शासकों ने अनेक काले कानून पारित करके जन-भावनाओं को कुचलने का नियमित कुचक्र चला रखा है। विश्वविद्यालय से प्रतिवर्ष सहस्रों स्नातक निकलने लगे हैं। किन्तु उनका भविष्य अन्धकारमय दिखाई देता है। क्योंकि उन्हें अपने ही देश में किसी प्रकार के रोजगार की सुविधा मिलनी सम्भव नहीं है। रोजगार के सभी मार्ग विदेशियों ने अवरुद्ध कर

फिर मुकाबले के लिए खड़ा हो सकता है। किन्तु विदेशी शासनकारी के लिए तो एक दो पराजय भी घातक सिद्ध हो सकती है। भारतवासियों की प्रत्येक हार जो उनके भार को बढ़ाती है किन्तु उन्हे विदेशी जूड़ा उतार फेंकने के लिए और भी अधिक असंतुष्ट भी बनाती हैं। इतना ही नहीं, ब्रिटेन के अलावा यूरोप के ऐसे कई देश हैं जो भारत में अंग्रेजों की दुर्दशा देखने मे आनन्द का अनुभव करते हैं। यदि अंग्रेजों का राज्य तलवार के जोर पर भारत मे बना भी रहे तो उसे अत्याचारी तंत्र मे परिवर्तित होने मे देर नहीं लगेगी। शायद इंगलैण्ड की जनता ऐसे अत्याचारी शासन का भारत में समर्थन न करें। क्योंकि अंग्रेजो का चरित्र इतना गिरा हुआ नही हो सकता। यही कारण है कि भारतीयों के मन में अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अभी भी विश्वास शेष है।[8]

अंग्रेजों द्वारा भारतीयों के साथ अच्छा व्यवहार करने की नीति प्रारम्भ की जाये, फिर भी भारतीयों को प्रशासन में स्थान न मिले तो उसे परोपकारी निरंकुशवाद ही कहा जायेगा। भारतीयों ने शक्ति, सम्पत्ति, सभ्यता, शासन, कानून, साहित्य, कला आदि का जो ज्ञान अर्जित किया है उसकी इंगलैण्ड वाले कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार से भारतीयों ने कला तथा साहित्य मे जो विभिन्न उपलब्धियां प्राप्त की थी उन्हें देखते हुए क्या भारतीयो को हर समय शोषण का शिकार ही बनाया जाता रहेगा ? और क्या वे इसे इसी प्रकार सहन करते रहेंगे ? मूल बात यह है कि भारतीयो ने ब्रिटिश शासन को राजनीतिक एवम् बौद्धिक नवजागरण का सन्देशवाहक मानकर उसे समर्थन दिया है। इसी कारण से प्रेरित होकर भारतीयो ने अपना देश ब्रिटिश शासन की स्वामिभक्ति मे परिवर्तित कर दिया है। यदि भारत के अंग्रेज शासक इस बात को विस्मृत करते रहे तो हो सकता है कि भारतीयो का असंतोष उग्र से उग्रतर हो जाये।

दादाभाई नौरोजी के अनुसार शिक्षित बेरोजगार भारतीयों को उनकी प्रतिभा के अनुसार प्रशासन तथा अन्य सेवाओं म लिया जाये अथवा फिर अंग्रेज शक्ति के बल पर शासन चला लें। विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्य की सेवा म भारतीयो को भारत में ही उनकी परीक्षा लेकर प्रवेश दिया जाये। धर्म अथवा विश्वास का भेदभाव किये बिना भारतीयों को शासकीय सेवा में लिया जाये, चाहे प्रशिक्षण के लिए उन्हे इंगलैण्ड भेजने की व्यवस्था रख ली जाये। इसी प्रकार से सैनिक विभागों मे भी भारतीयो को प्रवेश दिया जाये जो कि पक्षपात रहित हो तथा भारतीयो को सेना मे उच्च पदो पर पदोन्नत करने की भी व्यवस्था की जाये। भारतीयो से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनम ब्रिटिश शासन के प्रति पूर्ण निष्ठा की भावना विद्यमान है। एक पूर्णतया भारतीय सेना का गठन भी आवश्यक है ताकि वह सेना भारतीय होने के नाते भारतीय हितो का सरक्षण करे और ब्रिटिश शासन के प्रति पूर्णतया कर्त्तव्यनिष्ठ रहे। भारत से निर्धनता को दूर करने के लिए इंगलैण्ड का यह उत्तरदायित्व होना चाहिए कि इंगलैण्ड ने जो पूंजी भारत से अर्जित की है वह पुन भारत मे निवेशित हो। इससे ब्रिटिश साम्राज्य की आय म कमी नहीं आयेगी, बल्कि भारत के विकास पर लगा धन उन्हें कई गुना अधिक लाभ प्रदान करेगा। यदि भारतीयो की आर्थिक स्थिति अच्छी रहती है तो इससे ब्रिटिश साम्राज्य की भी समृद्धि बढ़ेगी। इसके लिए यह आवश्यक है कि भारतीय मामलों म ब्रिटिश जनता को अधिक रुचि लेने के लिए तैयार किया जाये

ताकि ब्रिटिश जनता भारतीय शासन के प्रति दुर्भावनापूर्ण प्रचार का शिकार न बने। ब्रिटिश जनता को इस तथ्य का ज्ञान कराया जाय कि भारत ने ब्रिटेन की समृद्धि को बढ़ाया है। अत. उनका भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे भारत के प्रति अपने उत्तरदायित्व का ठीक से निर्वाह करें और भारत का प्रशासन चलाने वाले ब्रिटिश प्रतिनिधियों के कार्यों का सही लेखा-जोखा रखें। ब्रिटेन का यह उत्तरदायित्व है कि वे भारतीयों को उनके कष्ट की घड़ी मे सहानुभूति तथा सहायता का रवैया अपनाये। उड़ीसा के भीषण अकाल के समय (1866-67) इंगलैण्ड ने किसी प्रकार का सहायताकार्य नहीं किया, उन्होंने सारी जिम्मेदारी भारत सरकार पर छोड़ दी और उसका परिणाम यह हुआ कि सहस्रों भारतीय अकाल से कालकवलित हो गये। इसके लिए भारत सरकार को चाहिए कि वह अपने प्रशासन की कमियों को दूर करे और वह भारत मे सिंचाई तथा कृषि के लिए अन्य सुविधाएं उपलब्ध कराये ताकि भविष्य म दुर्भिक्ष का सामना नही करना पड़े। सरकार को अपनी कमियां दूर करनी चाहिए, न कि अपने प्रशासन की कमियों को जनता के मस्तिष्क पर थोपना चाहिए।[9]

इस प्रकार दादाभाई नौरोजी ने भारत के देशवासियों विशेषत शिक्षित भारतीयों की वफादारी को बनाये रखने तथा भविष्य के लिए और अधिक दृढ़ करने के लिए प्रशासन मे भारतीयों के उचित प्रतिनिधित्व का सुझाव प्रस्तुत किया। उनका यह विश्वास था कि भारतीयों को उनके देश के शासन मे प्रतिनिधिमूलक वाणी मिलने पर उनमें नैतिक हीनता की भावना कम होगी। दादाभाई नौरोजी भारतीय समाज के निम्न एवम् पिछड़े हुए वर्ग को प्रतिनिध्यात्मक शासन के प्रति सुषुप्त मानते हुए केवल शिक्षित भारतीयों के लिए ही प्रतिनिध्यात्मक व्यवस्था की माग प्रस्तुत कर रहे थे। सर चार्ल्स वुड के सुझाव पर भारतीयों का विधायी परिषदों मे प्रतिनिधित्व उनकी दृष्टि से इस बात का साक्ष्य था कि पढ़े-लिखे भारतीय शासन-कार्य में हाथ बटाने के लिए कितने उत्सुक हैं और ऐसी सुविधाओं का स्वागत करने के लिए कितने लालायित हैं। दादाभाई नौरोजी ब्रिटिश संसद मे भी भारतीयों का उचित प्रतिनिधित्व चाहते थे। उनका यह भी सुझाव था कि शहरी क्षेत्र के विधायक सरकार द्वारा मनोनीत न किये जाकर निर्वाचन के द्वारा चुने जाए। भारत के विभिन्न शहरों को निर्वाचन-क्षेत्रों में परिवर्तित कर दिया जाए ताकि भारत मे ब्रिटिश शासन की जड़े मजबूत हो तथा जनता की स्वामीभक्ति मे वृद्धि हो। वे भारत मे शिक्षा की प्रगति से भी असंतुष्ट थे और चाहते थे कि भारत मे अंग्रेजों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र मे किए गए कार्यों में निरन्तर प्रगति होती रहे और भारत राष्ट्रीय दृष्टि से ऊँचा उठते हुए ब्रिटिश शासन के प्रति आभार एवम् भक्ति प्रकट करता रहे। वे भारतीयों के प्रति शासन की ओर से पूर्ण मानवीय व्यवहार की अपेक्षा करते थे। वे चाहते थे कि भारतीयों को उपहास तथा प्रताड़ना का पात्र न समझा जाकर उनके साथ समानता का व्यवहार किया जाए। उनकी यह अभिलाषा थी कि ब्रिटिश शासन भारत में केवल ईमानदारी तथा निष्ठा से युक्त उच्च चरित्रवान् व्यक्तियों को भारत में भेजे ताकि उच्च नैतिकता एवम् बुद्धिमत्ता का जो प्रभाव अंग्रेजों ने भारतवासियों पर डाल रखा है वह बना रहे।[10]

□□

टिप्पणियाँ

1. देखिये दी इण्डियन नेशन बिल्डर्स, भाग 2, (गणेश एण्ड कं, मद्रास, तिथि रहित) पृ. 14-15
2. देखिये आर पी मसानी, दादाभाई नौरोजी दी ग्रैंड ओल्डमैन ऑफ इण्डिया, (लन्दन, 1939) पृ. 96
3. देखिये स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ दादाभाई नौरोजी, (नटेसन, मद्रास, 1911) पृ 671
4. दी इण्डियन नेशन बिल्डर्स, भाग 2, पृ 39-46, "इण्डिया मस्ट बि [illegible]", जुलाई 1, 1900 को [illegible] (इंग्लैंड) में दिया गया भाषण
5. देखिये दादाभाई नौरोजी, पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, (सोनेनशीन, लन्दन, 1901) पृ 465
6. पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया, पृ. 206-207
7. चुन्नीलाल लल्लूभाई पारिख (अनु), एसेज, स्पीचेज, एड्रेसेज एण्ड राइटिंग्स (आन इण्डियन पॉलिटिक्स) ऑफ दी आनरेबल दादाभाई नौरोजी (कैक्सटन, 1887), पृ 26
8. वही, पृ 27-28
9. वही, पृ. 42-45
10. वही

अध्याय 9

फिरोज़शाह मेहता (1845-1915.)

फिरोजशाह मेहता का जन्म 4 अगस्त 1845 को बम्बई के एक सम्पन्न परिवार में हुआ। एल्फिन्स्टन कालेज से उन्होंने स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की। अपनी प्रखर शैक्षिक योग्यता के कारण उन्हें उच्च अध्ययन हेतु छात्रवृत्ति प्राप्त हुई। इसी मध्य उन्होंने एम. ए परीक्षा पास की और वे कानून के अध्ययन के लिये इंगलैण्ड गये। इंगलैण्ड में फिरोजशाह दादाभाई नौरोजी के सम्पर्क में आये। इंगलैण्ड के उदारवादी चिन्तकों का उन पर प्रभाव पड़ा।[1] वे पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित हुये किन्तु साथ ही साथ उनमें रूढ़िवादिता का भी विकास हुआ। अपनी कानून की शिक्षा पूर्ण कर स्वदेश लौटे और अल्प समय में ही एक अच्छे कानून विशेषज्ञ की ख्याति अर्जित की। उन्होंने सार्वजनिक कार्यों में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया। उन्हें सरकार की ओर से न्यायिक पद पर नियुक्ति का प्रस्ताव प्राप्त हुआ, किन्तु सार्वजनिक कार्यों में रुचि के कारण उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। उन्हें सार्वजनिक जीवन की शिक्षा इंगलैण्ड में ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन से प्राप्त हुई। उन्होंने बम्बई-नगर-निगम के लिए सराहनीय काम किया जिसका ज्वलन्त प्रमाण बम्बई-नगर-निगम के बाहर उनकी विशाल प्रतिमा से पुष्ट होता है। वे बम्बई-विधानपरिषद तथा केन्द्रीय विधान परिषद् के भी सदस्य रहे। 1888 का बम्बई म्युनिसिपल एक्ट उनके सुझावों का ही प्रतिफल था।

फिरोजशाह मेहता ने लार्ड लिटन के वर्नाकुलर प्रेस अधिनियम का अत्यधिक विरोध किया। उन्होंने वाइसराय का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि वे प्रेस की स्वतन्त्रता को समाप्त न करें, अन्यथा शासन की उचित आलोचना न होने से भारत की राजनीति के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा तथा शासन की लोकप्रियता भी घटेगी। इसी प्रकार से इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षाएं भारत तथा इंगलैण्ड में कराने के लिए एवं उनमें भारतीयों की नियुक्ति के लिए भी उन्होंने निरन्तर प्रयास किया। फिरोजशाह मेहता का विधिज्ञान एवं प्रशासनिक अनुभव उनके द्वारा बम्बई-नगर-निगम की 35 वर्ष लम्बी सदस्यावधि में और भी मुखर हो उठा।[2] उन्हें 39 वर्ष की अल्प आयु में ही निगम का अध्यक्ष चुना गया और उसके बाद भी वे पुनः इस पद पर चुने गये। प्रिंस ऑफ वेल्स के बम्बई आगमन के समय बम्बई-नगर-निगम ने उन्हें पुनः अध्यक्ष बनाया। अपने नगर निगम के कार्य-काल के दौरान फिरोजशाह मेहता ने निगम की स्वायत्तता को अक्षुण्ण रखा तथा शासन के अनधिकृत हस्तक्षेप को असम्भव बनाये रखा। बम्बई-नगर-निगम में उन्होंने प्राथमिक शिक्षा, चिकित्सा-सुविधाएं, जल-निकास, जल-पूर्ति, पुलिस सम्बन्धी व्यय का निर्धारण एवं नगर के सौन्दर्यीकरण के लिये प्रशंसनीय

कार्य किया। फिरोजशाह मेहता ने एक विधायक के रूप में भी अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। वे 15 वर्ष तक बम्बई विधान परिषद् के सदस्य रहे। 1894 में वे केन्द्रीय विधान परिषद् में 3 वर्ष की अवधि के लिए सदस्य रहे। इस तीन वर्षों की अवधि में फिरोजशाह मेहता ने समयानुसार शासन की गलत नीतियों की तीव्र निन्दा की। उनकी वक्तृता प्रभावोत्पादक थी। उन्होंने केन्द्रीय विधान-परिषद् में वित्त, कृषि, संक्रामक रोग आयात, पुलिस विभाग, सैनिक व्यय, विनिमय आदि की समस्याओं पर समय-समय पर अपने विचार प्रकट किये और अपने संवैधानिक कानून के उच्च ज्ञान द्वारा सबका हृदय जीत लिया किन्तु इस सदस्यता के दौरान उनका स्वास्थ्य निरन्तर गिरता गया और 1896 में सदन की सदस्यता से उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया। कुछ समय बाद पुनः वे केन्द्रीय विधान परिषद् के लिए मनोनीत किए गए। किन्तु अस्वस्थ होने के कारण पुनः 1900 में इस कार्य से त्याग-पत्र दे दिया। उनके रिक्त स्थान की पूर्ति गोपालकृष्ण गोखले ने की।

फिरोजशाह मेहता की प्रसिद्धि 1882 में इल्बर्ट (बिल) विधेयक-विवाद के समय विशेष रूप से हुई। उन्होंने इल्बर्ट-विधेयक को निष्पक्ष न्याय की दृष्टि से उचित नीति के रूप में स्वीकार किया, क्योंकि इस विधेयक से भारत के ब्रिटिश शासन के इतिहास में पहली बार भारतीय दण्डनायकों एवं सत्र-न्यायाधीशों द्वारा अंग्रेजों के मुकदमे सुनने का अधिकार प्राप्त हुआ था। अंग्रेजों तथा आंग्लभारतीयों द्वारा इस विधेयक के विरोध में किया गया प्रचार फिरोजशाह मेहता को स्वीकार नहीं था, अतः उन्होंने इस विधेयक के समर्थन में अपनी आवाज बुलन्द की। 28 अप्रैल, 1883 को बम्बई की सार्वजनिक सभा में इल्बर्ट विधेयक के समर्थन में फिरोजशाह मेहता ने कहा कि जो शासन अपने उपनिवेशों पर शक्ति के बल पर शासन करना चाहता है वह अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो सकता। उन्होंने अपने वक्तव्य में इस भ्रम का खण्डन किया कि अंग्रेजों ने भारत को तलवार के बल पर जीता है। उनके अनुसार अंग्रेजों ने केवल तलवार के बल से भारत नहीं जीता किन्तु अपने नैतिक और भौतिक गुणों के द्वारा सफलताएं अर्जित की एवं शक्ति के दुष्प्रभावों से अपने शासन को बचाया। इस सन्दर्भ में उन्होंने तीन कारण प्रस्तुत किये जिनसे यह सिद्ध होता था कि तलवार के जोर से अंग्रेज भारत पर शासन नहीं कर सकते थे। प्रथम, इंग्लैण्ड यदि सेना के बल पर शासन करता तो यूरोप के विवादों में फँसने के कारण वह इंग्लैण्ड के लिए अधिक भार बन सकता था। चूँकि इंग्लैण्ड यूरोप के विवादों से अपने को अलग नहीं रख सकता था इस कारण वह भारत पर दमनात्मक शासन अधिक दिनों तक नहीं चला सकता था। द्वितीय, इंग्लैण्ड द्वारा शक्ति की नीति का पालन उसे भारत में विशाल अंग्रेजी सेना तथा अंग्रेजी प्रशासकों की नियुक्ति के लिए बाध्य करेगा। इतनी बड़ी संख्या में जब अंग्रेजों को इस निरंकुश कार्य में लगाया जायेगा तो वे स्वदेश लौटने पर इंग्लैण्ड की संवैधानिक एवं स्वतन्त्र परम्परा का स्वाभाविक विरोध करेंगे। इससे किसी दिन स्वयं अंग्रेजों की व्यवस्था लोकतन्त्र-विरोधी बन सकती है। तृतीय, अंग्रेजों द्वारा अपनायी गयी दमन की नीति उन्हें अपनी सेना तथा प्रशासन के खर्चे के लिए भारत का अधिक से अधिक शोषण के लिए बाध्य करेगी। इसका प्रभाव भारत तथा इंग्लैण्ड के मध्य होने वाले व्यापार पर भी पड़ेगा जिसे इंग्लैण्ड शायद कभी नहीं पसन्द करेगा। फिरोजशाह मेहता के अनुसार पूर्वकथित कारणों से भारत में दमनात्मक नीति का अनुसरण

अधिक समय तक नहीं किया जा सकता। अतः इंगलैण्ड को चाहिए कि रानी विक्टोरिया की घोषणा का अनुसरण करते हुए भारत में न्याय, समानता, रंग, जाति, विश्वास आदि की असमानताओं से रहित शासन की स्थापना करे और इसी दृष्टिकोण से इल्बर्ट-विधेयक सफल बनाने का प्रयास करे। इस प्रकार फिरोजशाह ने उपर्युक्त प्रभावपूर्ण तर्कों द्वारा इल्बर्ट-विधेयक के समर्थन में वातावरण निर्मित किया। यद्यपि यह विधेयक स्वीकृत नहीं हो सका, किन्तु इस विधेयक के समर्थन में फिरोजशाह मेहता द्वारा दिया हुआ भाषण उनकी भारतव्यापी लोकप्रियता का कारण बन गया।

फिरोजशाह मेहता ने केवल बम्बई-नगरनिगम, बम्बई विधान परिषद्, केन्द्रीय विधानपरिषद् को ही अपनी सेवाएं अर्पित नहीं की किन्तु बम्बई-विश्वविद्यालय को भी अपने अनुभवों से लाभान्वित किया। बम्बई-विश्वविद्यालय से उनका सम्बन्ध क्रमशः एक फैलो, सेनेटर, सिंडिक तथा कला-संकाय के डीन के रूप में रहा और इसकी चरम परिणति उनके बम्बई विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त होने में हुई। उन्हें सम्मान में डाक्टर आफ लॉज की उपाधि से सम्मानित किया गया। फिरोजशाह मेहता ने भारत में उच्च शिक्षा के लिए निरन्तर कार्य किया और शासन को शिक्षा हेतु अधिक से अधिक व्यय करने के लिए बाध्य किया। फिरोजशाह मेहता ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता कांग्रेस के प्रारम्भिक दिनों में ही ग्रहण कर ली थी। 1885 में कांग्रेस के पहले अधिवेशन में भारतीय प्रशासन की कार्य-प्रणाली की जांच के लिए नियुक्त समिति में अंग्रेजों के साथ-साथ भारतीय सदस्यों की नियुक्ति का प्रस्ताव अनुमोदित किया। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा बर्मा के हस्तान्तरण का विरोध किया और उसे भारत से अलग रखने का सुझाव दिया। 1889 में पुनः बम्बई में होने वाले कांग्रेस-अधिवेशन में फिरोजशाह मेहता को स्वागत-समिति का अध्यक्ष मनोनीत किया गया। उन्होंने अपने भाषण में कांग्रेस की राजभक्ति का पक्ष समर्थित किया। 1890 में वे कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कांग्रेस को भारतीय जनता का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था बताया। उन्होंने कांग्रेस द्वारा संवैधानिक तरीकों से काम करने की नीति की सराहना की और उन व्यक्तियों का खण्डन किया जो कांग्रेस को सूक्ष्म अल्पसंख्या का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था बताते थे। उन्होंने विधान परिषदों में भारतीयों द्वारा बजट सम्बन्धी वादविवाद में भाग लेने के अधिकार का समर्थन किया। 1904 के बम्बई के अधिवेशन में पुनः स्वागत समिति के अध्यक्ष बने और 1905 में बनारस-अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये। 1909 में पुनः कांग्रेस की अध्यक्षता करने का निमन्त्रण प्राप्त हुआ पर वे ऐसा न कर सके। वे कांग्रेस में उदारवादी दल के स्तम्भ थे। उन्हें उग्रवादियों से बहुत चिढ़ थी। उनके स्वभाव में दृढ़ता एवं हठधर्मी का संयोग था। वे अंग्रेजों की संस्कृति एवं सभ्यता के कायल थे। अपनी दैनिक कार्य-प्रणाली में पाश्चात्य संस्कृति के चलते फिरते प्रतिनिधि थे। उनका खानपान, रहन-सहन, बोल-चाल सभी विदेशी ढंग का होने के कारण उग्रवादियों ने उन्हें अपनी आलोचना का प्रमुख लक्ष्य बनाया और उन्हें भला-बुरा कहा। फिरोजशाह मेहता ने जब कांग्रेस में उग्रदल के बढ़ते हुए प्रभाव को देखा तो वे हतप्रभ हो गये। उन्होंने अपनी कांग्रेस की सदस्यता के अन्तिम दिनों तक उग्रवादियों की स्वराज्य, स्वदेशी और बहिष्कार की नीति को असफल

बनाने का प्रयास किया। इसी कारण से उग्रवादियों की लोकप्रियता के बढ़ने के साथ साथ फिरोजशाह मेहता की लोकप्रियता तिरोहित होती चली गई। कांग्रेस के सूरत-अधिवेशन में फिरोजशाह मेहता की भूमिका प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती है। उन्होंने कांग्रेस में अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए असंवैधानिक तरीकों का आश्रय लिया। कांग्रेस के नवोदित सदस्यों के प्रति उनका व्यवहार कठोर एवं दम्भपूर्ण था। इसका उदाहरण उस घटना में मिलता है कि उन्होंने कांग्रेस के मंच से पहली बार दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों के कष्ट के सम्बन्ध में बोलने के लिए खड़े हुए मोहनदास करमचन्द गांधी को यह कह कर कि इन बातों के लिए समय नहीं है स्टेज से उतार दिया। उन्हें सी. आई. ई., के सी आई ई की उपाधियों द्वारा सम्मानित किया था जो कि अंग्रेजी दासता की प्रतीक मानी जाती रही थी।

फिरोजशाह मेहता की अन्य गतिविधियों में उनके द्वारा स्थापित अंग्रेजी दैनिक दी बॉम्बे क्रॉनिकल (1913) बम्बई-प्रदेश के उदारदल का लोकप्रिय दैनिक पत्र था। 1911 में उन्होंने सेन्ट्रल बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना में सहयोग दिया। 1915 में वे कांग्रेस का अधिवेशन बम्बई में बुलाना चाहते थे किन्तु अधिवेशन के पहले ही उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई।

फिरोजशाह मेहता के राजनीतिक विचार

फिरोजशाह मेहता उचित न्यायवादी तथा ब्रिटेन के प्रति आस्थावान थे। उनके इस विश्वास ने उन्हें भारत में अंग्रेजों के शासन को ईश्वरीय विधान के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया। उनके विचारों में उदारवाद एवं रूढ़िवाद का सम्मिश्रण विद्यमान था। वे भारत में स्वशासन के क्रमिक विकास के पक्षपाती थे। उदारवाद के प्रभाव से वे स्वतन्त्रता एवं अधिकारों के समर्थक थे तथा दमन तथा निरंकुशता के घोर विरोधी थे। उनके स्वतन्त्रता-प्रेम का उदाहरण प्रेस की स्वतन्त्रता सम्बन्धी उनके विचारों से परिलक्षित होता है। 19 मार्च 1878 को उन्होंने वर्नाक्युलर प्रेस-अधिनियम के सम्बन्ध में टाइम्स ऑफ इंडिया के नाम पत्र में यह स्पष्ट किया कि दमन का प्रयोग उत्तरदायित्व में वृद्धि करता है। यदि वर्नाक्युलर प्रेस का कार्य शासन को अनुत्तरदायी दिखाई देता है तो यह अनुत्तरदायित्व सरकार के नियमन एवं एकीकरण द्वारा भी बना रह सकता है। प्रेस की स्वतन्त्रता का दमन भारत में अवलम्बित स्वतन्त्रता के विकास को अवरुद्ध कर देगा। इससे शासन को सचार के एक महत्त्वपूर्ण साधन से वंचित रहना पड़ेगा और उसे जन प्रतिक्रिया की सही जानकारी नहीं प्राप्त हो सकेगी। यदि प्रेस की स्वतन्त्रता का दमन किसी व्याप्त विरोध को दबाने में प्रयुक्त किया जाता है तो यह उचित नीति नहीं होगी। इसका तात्पर्य होगा किसी उबलते पदार्थ से भरे पात्र का ढक्कन बन्द करना और परिणाम एक विस्फोट के रूप में होता। उन्होंने भारत सरकार को आगाह किया कि वह ऐसी किसी भी नीति का अनुसरण नहीं करे।[4] वे निर्वाचन के अधिकार के समर्थक थे और इस कारण से उन्होंने मतदानात्मक पद्धति का अनुमोदन किया। वे कार्यपालिका को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाने की व्यवस्था का अनुमोदन करते थे। फिरोजशाह मेहता सुधारों के पक्षपाती थे। उनका यह दृढ़ राजनीतिक विश्वास रहा कि अंग्रेज राजनेता भारत में स्वशासन स्वीकृत करेंगे। वे भारत में अंग्रेजी शासन को

परोपकारी पक्ष के समर्थक थे। उन्हें ग्रेट-ब्रिटेन के साथ भारत के राजनीतिक सम्बन्धों पर विशेष आस्था थी और वे इसे ईश्वरीय वरदान के रूप में स्वीकार करते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास रहा कि अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत भारत पूर्ण राष्ट्रत्व को प्राप्त करेगा तथा भारत में स्वशासन की स्थापना होगी। वे विश्वास करते थे कि किसी दिन स्वयं अंग्रेज भारत की राष्ट्रीय मांगों को स्वीकार करेंगे। वे अंग्रेजों के सहयोग में भारत के राजनीतिक विकास का मार्ग ढूंढ रहे थे। उनका विश्वास था कि भारत शान्तिपूर्ण तरीकों से संवैधानिक पद्धति का अनुसरण करके ही अपने राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। वे ब्रिटेन तथा भारत के सम्बन्धों में विच्छेद स्वीकार नहीं करते थे और न वे इसकी कल्पना कर सकते थे कि भारत ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद कर भी सकता है। वे हिंसा की राजनीति के विरोधी थे तथा अंग्रेजों के न्यायप्रिय तथा उदार स्वभाव को प्रभावित करने में विश्वास करते थे ताकि अंग्रेजों का हृदय तथा मन परिवर्तित हो सके। फिरोजशाह मेहता इस कार्य के लिये इंग्लैण्ड में जनमत बनाने का कार्यक्रम चाहते थे ताकि भारत की समस्याओं के सम्बन्ध में सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाया जा सके।

फिरोजशाह मेहता ने यद्यपि राष्ट्रवादी विचारों को खुले रूप में प्रकट नहीं किया था, किन्तु उनके विचारों में राष्ट्रीयता की दबी आवाज कभी कभी बुलन्द हो उठती थी। उन्होंने अंग्रेज इतिहासकारों के इस दावे का खण्डन किया था कि अंग्रेजों ने भारत शक्ति के बल पर जीता था। लेकिन वे अंग्रेजी शासन से विरोध मोल लेकर जेल-यात्रा से घबराते थे। इसलिये अंग्रेजों के शक्ति द्वारा भारत विजय का खण्डन करते हुये भी उसी स्थान में उन्होंने इस विजय का श्रेय अंग्रेजों की न्यायप्रियता, सदाचारिता एवं बुद्धिमत्ता को दिया। यदि फिरोजशाह मेहता के स्थान पर कोई उग्रवादी विचारक होता तो वह अवश्य अंग्रेजों के छल-कपट, कूटनीति तथा कठोरता को उनकी भारत विजय का कारण मानता। इसमें दोष केवल फिरोजशाह मेहता के विचारों का ही नहीं है बल्कि उनके समान उन समस्त उदारवादी कांग्रेसजनों का है जो अंग्रेजों की कृपा पर भारतीय स्वशासन की आस को आधारित करते थे।

फिरोजशाह मेहता अपने राजनीतिक विचारों में राजनीति एवं नैतिकता को अलग करने में विश्वास नहीं करते थे। वे राजनीतिक शक्ति का आधार नैतिकता पर ही अवलम्बित करते थे क्योंकि राजनीतिक नैतिकता का ह्रास स्वयं इंग्लैण्ड के लिए कभी घातक सिद्ध हो सकता था। उनका अभिप्राय यह था कि इंग्लैण्ड भारत में दोहरी नीति का पालन न करे। फिरोजशाह स्थानीय स्वशासन की स्वायत्तता के पक्षपाती थे। वे सीमित सीमा तक सरकार के हस्तक्षेप को स्वीकार करते थे किन्तु उससे अधिक नहीं। वे स्थानीय स्वशासन में चुने हुये जन प्रतिनिधियों के प्रभाव को बढ़ाना चाहते थे ताकि इन निकायों द्वारा विनिश्चयों को अधिक लोकप्रिय बनाया जा सके। राजनीतिक विचारक की दृष्टि से फिरोजशाह मेहता भारतीय जनता के प्रबुद्ध एवं कुलीन वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। सामान्य जनता के विचारों एवं उनकी भावनात्मक परिस्थितियों का उन्हें बोध नहीं था। भारत की सामान्य जनता के जीवन-स्तर से वे अपरिचित ही रहे।

स्वशासी संस्थाओं में स्त्रियों के प्रतिनिधित्व का विरोध

फिरोजशाह मेहता ने स्त्रियों को बम्बई नगरनिगम के सदस्य के रूप में मनोनीत

किये जाने अथवा चुने जाने का विरोध किया था। जून 21, 1906 को बम्बई नगर-निगम की बैठक मे बोलते हुए उन्होने कहा कि स्त्रियो का स्थान घर पर है, घर के बाहर नहीं। उनके अनुसार यह पुरुषो का स्त्रियो से अधिक उच्च होना अथवा स्त्रियो के पुरुषो से अधिक श्रेष्ठ होने की बात नहीं है बल्कि वास्तविकता यह है कि मानवीय जीवन का मूल निर्देशक सिद्धान्त श्रम का विभाजन है। कार्य के विभाजन से समय तथा धन दोनो का सदुपयोग होता है। स्त्रियों मे कुछ विशिष्टताए एवम् क्षमताए ऐसी हैं जिनका प्रयोग वे निश्चित दिशा मे ही कर सकती है, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार से पुरुष अपनी योग्यताओ को अपने अनुकूल क्षेत्रो मे ही प्रयुक्त करते हैं। अत: मूल समस्या पुरुषो तथा स्त्रियो की उच्चता अथवा हीनता, क्षमता तथा अक्षमता, की नही है, मुख्य बात यह है कि क्या स्त्रियो को पुरुषों के कार्यक्षेत्र का उल्लघन करना चाहिए अथवा अपनी गतिविधियो के क्षेत्र तक ही अपने आपको सीमित रखना चाहिए। कुछ मामलो में स्त्रियाँ पुरुषो से अधिक योग्य एवम् प्रतिष्ठित पायी जाती है। पुरुषो तथा स्त्रियो के कार्य सर्वथा भिन्न हैं। मानवीय प्रकृति, मानवीय जीवन तथा मानवीय कार्यविधियो के अनुरूप ही है कि श्रम-विभाजन को स्वीकार किया जाय। क्या स्त्रियो के नगर-निगम मे उपस्थित होने से स्त्रियों के प्रति ध्यान नहीं बटेगा? स्त्रियो की उपस्थिति मे क्या पार्षद अपने आपको निगम के कार्य मे पूर्ण एकाग्रता से लगा पायेंगे? जो पार्षद अधिक बोलते हैं उन्हें स्त्री की सज्ञा दी जाती है। यदि स्त्रियाँ निगम की सदस्य बन गयीं तो फिर उनके बोलने की सीमा नही रहेगी और निगम मे समय के सदुपयोग का जो कार्य किया जाता है वह समाप्त हो जायेगा। अत प्रकृति की निर्माण योजना को ध्यान मे रखते हुए पुरुषो तथा स्त्रियो को अपनी क्षमताओ तथा विशिष्टताओ के अनुरूप पृथक् पर्यावरण में कार्य करना चाहिए। स्त्रियो को घर मे रह कर अपना कार्य सम्हालना चाहिए तथा पुरुषो को घर के बाहर का कार्य करना चाहिये। फिरोजशाह मेहता के उपर्युक्त विचार उनकी रूढ़िवादिता के परिचायक हैं। एक ओर स्त्रियो के समान अधिकारो की बात हो रही थी तो दूसरी ओर इस प्रकार की सकुचित मनोवृत्ति का उदाहरण मिल रहा था। महात्मा गांधी ने अपने असहयोग आन्दोलन मे स्त्रियो को सत्याग्रह करने के लिए प्रेरित कर उन्हें देश की स्वतन्त्रता के लिए पुरुषो के साथ कधे से कधा मिलाकर लडने के लिए जागृत किया किन्तु फिरोजशाह मेहता से और अधिक क्या आकाक्षा हो सकती थी।[5]

फिरोजशाह मेहता तथा स्थानीय स्वशासन

बम्बई नगरपालिका प्रशासन के सम्बन्ध मे फिरोजशाह मेहता के विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। उनके विचारो को 1872 के अधिनियम मे स्वीकृत कर सम्मिलित किया गया था। उनके अनुसार जस्टिसेज की बेंच को करदाताओ द्वारा समय-समय पर चुना जाना आवश्यक था, ताकि उनके माध्यम से एक परामर्शदात्री टाउन कौंसिल चुनी जा सके। यह कौंसिल सरकार द्वारा नियुक्त एक उत्तरदायी निष्पादन अधिकारी के अधीन हो। बेन्च के द्वारा एक लेखा नियत्रक की नियुक्ति की जाय जो नगरपालिका कमिश्नर को नियत्रण मे रखे। फिरोजशाह मेहता की यह दृढ धारणा थी कि पूर्वात्य मे स्थानीय स्वशासित सस्थाए उतनी ही पुरानी थी जितना पूर्वात्य प्रदेश। उनके अनुसार स्थानीय स्वशासन की सस्थाओ मे स्वतन्त्र प्रतिनिधित्व का श्री गणेश ही समस्या का समाधान था,

वे यह मानते थे कि भारत के इतिहास में समानता अथवा प्रजातीयता सम्बन्धी कोई ऐसी कमी नहीं रही जिसके कारण वे प्रतिनिधि संस्थाओं का उपयोग करने में असमर्थ माने जायें। ग्रामीण समुदायों में प्राचीन समय से स्वशासी संस्थाओं का प्रचलन रहा था। इन संस्थाओं ने इतना दक्षतापूर्ण कार्य किया कि अब यह कहना हास्यास्पद लगता है कि भारतवासियों के लिए प्रतिनिधि संस्थायें विदेशी हैं। भारत के प्राचीन इतिहास में शासकीय संस्थाओं का स्वशासी संस्थाओं के साथ इतना तालमेल बैठा हुआ था जितना शायद ही किसी और देश में रहा होगा। यह कहना सर्वथा अनुपयुक्त है कि भारत में माई-बाप सरकार ही रही है और जनता में स्वशासन के प्रति किसी भी प्रकार की जागृति नहीं रही। फिरोजशाह मेहता ने यह तर्क बम्बई में स्थानीय स्वशासित संस्थाओं को व्यापक प्रतिनिधित्व के आधार पर पुनर्गठित करने के लिए प्रस्तुत किये थे। यद्यपि फिरोजशाह मेहता जैसे उदारवादी पारसी विचारक के उपर्युक्त विचारों को तत्कालीन ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन के पदाधिकारियों ने इतना उग्र माना कि उनके वक्तव्य को त्रुटिपूर्ण तथा अनुपयुक्त करार देकर एसोसिएशन की कार्यवाही से उनके वक्तव्य को निकाल दिया गया, किन्तु फिरोजशाह का उत्साह कम नहीं हुआ। अन्त में उनके प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ कि भारत सरकार ने बम्बई नगरपालिका को पन्द्रह लाख का अनुदान स्वीकृत किया और 1872 में एक विधेयक पारित करके सीमित प्रतिनिधित्व के आधार पर सदस्यता का निर्धारण किया गया, किन्तु फिरोजशाह इससे सन्तुष्ट नहीं हुए।[6]

लार्ड रिपन के शासनकाल में बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन ने उनका अभिनन्दन किया और बम्बई नगरपालिका के संविधान सम्बन्धी मूल प्रश्न को रिपन के शासनकाल में उठाया गया। फिरोजशाह का इस सम्बन्ध में विचार था कि बम्बई नगरपालिका में मनोनीत सरकारी सदस्यों की संख्या कम की जाय और उनके स्थान पर निर्वाचित जन प्रतिनिधियों का अनुपात बढ़ाया जाय। वे चाहते थे कि स्वतन्त्र मताधिकार के आधार पर यह कार्य किया जाये ताकि सच्चे अर्थों में पूर्ण प्रतिनिध्यात्मक स्थानीय स्वशासन का बम्बई वासियों को अवसर प्राप्त हो सके। फिरोजशाह के सुझावों के परिणामस्वरूप एक समिति का गठन हुआ और सरकार ने स्वयं फिरोजशाह को इसका सदस्य नियुक्त किया। यह समिति 1888 के नगरपालिका अधिनियम को संशोधित करने के लिए बनायी गयी थी। फिरोजशाह ने लार्ड रिपन जैसे भारत में स्थानीय स्वशासन के पोषक के कार्यकाल में वृद्धि की मांग के आन्दोलन का भी समर्थन किया। फिरोजशाह मेहता का यह विचार था कि रिपन जैसे वायसराय के कार्यों को देखते हुए ऐसा लगता है कि भविष्य में रिपन के समान ही और कोई वायसराय आ जाये और वह रिपन जैसे उदार तथा निष्ठावान वायसराय के कार्यों पर पानी फेर दे। इस दृष्टि से वे रिपन के कार्यकाल में वृद्धि चाहते थे ताकि स्थानीय स्वशासन की योजना को और भी अधिक सफल बनाने में रिपन का और अधिक सहयोग प्राप्त हो सके। फिरोजशाह का यह निश्चित मत था कि नौकरशाही जनता के कार्यों का प्रशासन आत्मीयता की भावना से अधिक समय तक नहीं कर सकती। उनके अनुसार समय समय पर अर्द्धशासन में रहे उच्च भारतीयों से प्रशासकार्य में सहयोग की अपेक्षा करना और उन्हें सहयोग देने के लिए आमंत्रित करना सर्वथा अनुपयुक्त दिखाई देता है। फिरोजशाह ने अंग्रेज सरकार के द्वारा जन-प्रतिनिधियों की उपेक्षा को स्वशासन की दृष्टि से अत्यन्त घातक

बतलाया। वे इस नौकरशाही के बढ़ते हुए प्रभाव को सीमित कर सच्चे अर्थों में प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण स्थापित करना चाहते थे।[7] फिरोजशाह मेहता ने बम्बई नगरपालिका के अध्यक्ष की हैसियत से लार्ड रिपन को नगरपालिका-भवनों का शिलान्यास करने के लिए बम्बई आमन्त्रित किया तथा 19 दिसम्बर 1884 को लिखे गये अपने निमन्त्रण पत्र में लार्ड रिपन को भारत में स्थानीय स्वशासन के सिद्धान्तों के सच्चे विकास का अधिष्ठाता माना।[8]

1889 के कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन के अध्यक्ष के रूप में फिरोजशाह मेहता का चयन, कांग्रेस के उदारवादी खेमे की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं था। फिरोजशाह मेहता ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में पारसियों के योगदान को भ्रामक प्रचार द्वारा कम करने वालों के विरुद्ध यह कहा कि भारत का पारसी उतना ही अच्छा व सच्चा पारसी है जितना एक सच्चा मुसलमान अथवा एक सच्चा हिन्दू और वह अपनी जन्मभूमि के प्रति उतना ही लगाव रखता है और अन्य भूमिपुत्रों के प्रति उतना ही स्नेहमय व्यवहार रखता है जितना कोई अन्य रख सकता है। एक सामान्य शासन के अन्तर्गत पारस्परिक सम्बद्धता का पारसियों को उतना ही ज्ञान है जितना की अन्य किसी को हो सकता है।

फिरोजशाह ने अपने अध्यक्षीय भाषण में उन विचारकों की भर्त्सना की जो भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं की व्यापक स्थापना की मांग को इंग्लैण्ड के सदियों के प्रयासों के समक्ष समयावधि की दृष्टि से उचित नहीं मानते थे। फिरोजशाह के अनुसार प्रतिनिधि संस्थाओं की मांग भारत के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में ही की गई थी और वह किसी क्रान्तिकारी परिवेश में नहीं की गई थी। भारतीयों द्वारा अपने अधिकारों तथा अपने विशेषाधिकारों का जो ज्ञान शिक्षा के माध्यम से अर्जित किया गया है उसी सदर्भ में भारतीयों ने प्रतिनिधि संस्थाओं की मांग सामने रखी है। उन्होंने परोपजीवी नौकरशाही का उपहास करते हुए यह कहा कि भारतीयों के हितों को केवल जनप्रतिनिधियों के माध्यम से ही सुरक्षित किया जा सकता है, न कि प्रशासनिक सेवाओं के माध्यम से और उन्होंने अत्यन्त ओजस्वी वाणी में यह व्यक्त किया कि भारतीयों ने सीमित शिक्षा और प्रजातीय एवम् धार्मिक मनोमालिन्य के होते हुए भी यह सिद्ध कर दिया है कि उनके प्रतिनिधियों की अल्पसंख्या अपने देशवासियों की आवश्यकताओं एवम् भावनाओं का सही प्रतिनिधित्व कर सकती है, जबकि उनसे भी कम संख्या वाले सशक्त जिला अधिकारी, जिनका भारतीय भाषाओं का ज्ञान फ्रांस के होटल परिचारकों के अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के समान होता है, ऐसा नहीं कर सकते।[9]

फिरोजशाह मेहता ने अपने अध्यक्षीय भाषण में व्यवस्थापिका परिषदों के सुधार सम्बन्धी आन्दोलन का समर्थन करते हुए भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं के विस्तार की कामना की। उनके अनुसार सर हेनरी मेन तथा मिस्टर एलस्टे जैसे महान् विद्वानों ने भारत में स्वशासन की परम्परा को अत्यन्त प्राचीन माना था। उनके शब्दों में भारत के लोकतान्त्रिक शासन के प्रकारों की कमी कभी भी नहीं रही, किन्तु परिस्थितियों ने भारतीयों की इस प्रतिभा को महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्यों की ओर अग्रसर नहीं होने दिया। फिरोजशाह ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भारतीय जनमानस का व्यापक प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था सिद्ध किया। उन्होंने आंग्ल संस्कृति तथा आंग्ल सभ्यता के प्रति अपनी पूर्ण

निष्ठा व्यक्त करते हुए अंग्रेज राजनेताओं से भारत में भी प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास की कामना की।[10]

अक्टूबर 1892 में फिरोजशाह मेहता बम्बई प्रान्तीय कान्फ्रेंस के पूना सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में भारत में अवस्थापित सभाओं के विस्तार को प्रमुखता देते हुए इन विचारों का पुरजोर विरोध किया जिसमें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले भारतीयों के सामाजिक एवम् नैतिक सुधार तथा भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं की मांग को प्रकृति के नियम के विरुद्ध बतलाया गया था। फिरोजशाह मेहता ने यह स्वीकार किया कि जब तक भारत के पिछड़े हुए वर्ग के लोगों को प्रतिनिधित्व नहीं मिलता, तब तक प्रतिनिधित्व का कार्य पूर्ण नहीं माना जा सकता। स्वतन्त्रता समान रूप से सभी वर्गों को मिलनी चाहिए। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम अल्पसंख्यकों तथा अछूतों के अधिकारों को पूर्णतया स्वीकार न करने तक किसी प्रकार का कोई भी कार्य न करें और समस्त विकास को अवरुद्ध कर दें।[11]

फिरोजशाह मेहता ने अहमदाबाद में नवम्बर 1893 को आयोजित प्रान्तीय सम्मेलन में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक्करण की समस्या पर स्मरण पत्र प्रस्तुत करते हुए कहा कि कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का एक ही हाथ में केन्द्रीयकरण दोषपूर्ण व्यवस्था का परिचायक है। गाँवों में तथा कस्बे में प्रतिदिन जनता को राजस्व तथा न्यायिक अधिकारों के एक ही हाथों में एकीकरण के कारण अनेक कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। कानून तोड़ने वाले अपराधियों को इतनी मुसीबत नहीं झेलनी पड़ती, जितनी इस कुव्यवस्था के अन्तर्गत ईमानदार जनता को नमक, अफीम, आबकारी, वन तथा भू-राजस्व अधिनियमों के अन्तर्गत झेलनी पड़ती है। इन कानूनों को क्रियान्वित करने तथा इनके आधार पर दण्डित करने का कार्य एक ही व्यक्ति के हाथों में होने से सत्ता का दुरुपयोग अवश्यम्भावी है। जनता को दोहरी मार का शिकार होना पड़ता है और निरपराधी दोषी ठहराये जाते हैं। कार्यपालिका से सम्बन्धित अधिकारी इस दोषपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध कोई सुझाव नहीं देना चाहते क्योंकि जितनी शक्तियों का प्रयोग वे इस व्यवस्था के तहत कर रहे हैं, उनमें कमी आ जायेगी। नौकरशाही के भयपूर्ण शासन को सीमित करने का यही उपाय है कि उचित प्रशासनिक सुधारों के माध्यम से कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का विभाजन कर दिया जाये। फिरोजशाह मेहता के उपर्युक्त विचार प्रशासनिक सुधारों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे फिर भी सरकार ने इस पर ध्यान नहीं दिया। यह कार्य भारत को स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ही संविधान के नीति-निर्देशक तत्वों द्वारा प्रेरित किया गया। इस प्रकार फिरोजशाह मेहता के प्रशासनिक सुधार सम्बन्धी विचार अपने समय से बहुत आगे थे। उन्होंने स्थानीय स्वशासन तथा सामान्य प्रशासन के सम्बन्ध में अपने मौलिक चिन्तन का परिचय दिया और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अपने कुशाग्र बुद्धियुक्त सुझावों से मार्ग प्रदर्शित किया।[12]

सर होमी मोदी ने फिरोजशाह मेहता के जीवन चरित्र के अपने विशद् अध्ययन के समापन में लिखा है कि फिरोजशाह मेहता ने बहुत कम उम्र में परिपक्व चिन्तन प्रस्तुत किया था। उन्होंने शिक्षा की समस्याओं पर जो विचार व्यक्त किये वे इस प्रकार

का प्रमाण है। पच्चीस वर्ष की अल्प आयु में ही उन्होंने नगरपालिका प्रशासन के सम्बन्ध में जो मौलिक सुधारों की योजना प्रस्तुत की वह उनके अनुपम योगदान की प्रतीक है। उन्होंने भारतीय प्रशासनिक सेवा के सम्बन्ध में जो सुधारों की योजना प्रस्तुत की तथा भारत की दलीय राजनीति के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये वे भावी भारतीय पीढ़ी के लिए पथ-प्रदर्शक रहे हैं। एक दृष्टि से वे अपनी पीढ़ी के चिन्तन से बहुत आगे थे। उनके चिन्तन की प्रखरता, उनका क्रोधी स्वभाव तथा दबंग व्यक्तित्व उनके द्वारा देश के कई मूर्धन्य राजनेताओं से वैचारिक एवम् व्यक्तिगत संघर्ष का कारण बन गया था।[13]

□□

टिप्पणियां

1 एच. पी मोदी, सर फिरोजशाह मेहता, ए पोलिटिकल बायोग्रेफी, पृ. 18
2 नटेसन, फिरोजशाह मेहता · ए स्केच ऑफ हिज लाइफ एण्ड केरियर, पृ 34
3. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ सर फिरोजशाह मेहता, पृ. 813
4 सी. वाई. चिन्तामणी (सं), स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ दी ऑनरेबल सर फिरोजशाह एम. मेहता, पृ 139-40
5 सम अनपब्लिश्ड एण्ड लेटर स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ दी ऑनरेबल सर फिरोजशाह मेहता, (कॉमर्शियल प्रेस, बम्बई, 1918) पृ 182-183
6 देखिये एच पी. मोदी, सर फिरोजशाह मेहता · ए पोलीटिकल बायोग्रेफी, खण्ड I, पृ 64 75
7 वही, पृ 144-148
8 वही, पृ 158
9 वही, पृ 252-255
10. वही, पृ 256-259
11. वही, पृ. 280-281
12 वही, पृ 269-298
13 वही, खण्ड II, पृ 681

□□

अध्याय 10

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1848-1925)

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का जन्म कलकत्ता में हुआ था। उनके पिता डाक्टर थे। उन्हीं की प्रेरणा से वे स्नातक होने के पश्चात् आई० सी० एस० की परीक्षा की तैयारी के लिये लन्दन गये। आई० सी० एस० की परीक्षा में अन्ततः उत्तीर्ण होने के कारण उन्हें 1871 में सिलहट (बंगाल) में सहायक मजिस्ट्रेट के रूप में नियुक्त किया गया। किन्तु ब्रिटिश नौकरशाही के भारतीयों के प्रति भेदभाव के रवैये ने उन्हें चैन से नौकरी नहीं करने दी।[1] उनके विरुद्ध झूठे आरोप लगाकर उन्हें नौकरी से बरखास्त कर दिया गया। वे अपने पक्ष की पैरवी करने इंग्लैण्ड भी गये, किन्तु उनको सफलता न मिली। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने उन्हें अंग्रेजी के प्राध्यापक के रूप में कार्य करने के लिए अपने मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट में नियुक्त किया। 26 जुलाई, 1876 को सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आनन्द मोहन बोस तथा शिवनाथ शास्त्री ने मिलकर कलकत्ता में "इण्डियन एसोसियेशन" की स्थापना की। इस संस्था ने न केवल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को ही प्रेरणा दी, अपितु कांग्रेस की भावी सफलता के लिए पथ-निर्माण भी किया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व ने इस संस्था को भारत-व्यापी महत्व का बना दिया। इण्डियन एसोसियेशन के मूल सिद्धान्त थे :

1. भारत में जनमत की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए कार्य करना।
2. भारतीय जातियों एवं जनता को समान राजनीतिक हितों एवं महत्त्वों के आधार पर एकीकृत करना।
3. हिन्दुओं एवं मुसलमानों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध को प्रोत्साहित करना।
4. सार्वजनिक आन्दोलन में जन समुदाय को सम्मिलित करना।[2]

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने राजनीतिक आन्दोलन की प्रेरणा इटली के देशभक्त मैज़िनी के जीवन से प्राप्त की थी। वे मैज़िनी को अपना "राजनीतिक गुरु" मानने लगे थे। इण्डियन एसोसियेशन को भी उन्होंने मैज़िनी के विचारों के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। किन्तु इस कार्य में एक अन्तर अवश्य था कि उनके कार्यक्रम में मैज़िनी के समान हिंसात्मक क्रान्तिकारिता नहीं थी। बनर्जी का यह विश्वास था कि भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन सफल नहीं हो सकता। इस विश्वास ने उन्हें भारत में संवैधानिक आन्दोलन प्रारम्भ करने के लिए प्रेरित किया।

मेट्रोपोलिटन इंस्टीट्यूट से अलग होकर उन्होंने कुछ समय तक फ्री चर्च कालेज में प्राध्यापक के रूप में कार्य किया। इसके पश्चात् वे एक स्कूल से सम्बन्धित हो गये। उनके निर्देशन में वह स्कूल रिपन कालेज में परिवर्तित हो गया और शनैः शनैः यह संस्था कलकत्ता की प्रमुख संस्थाओं में गिनी जाने लगी। उन्होंने रिपन कालेज के लिए

शासकीय सहायता स्वीकार नहीं की और इस कारण से उसे सरकारी हस्तक्षेप से दूर रखे रहे। 1904 में उन्होंने रिपन कालेज एक ट्रस्ट को सौंप दिया और वे 1912 तक वहाँ अध्यापन कार्य करते रहे। फरवरी 1913 में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल में निर्वाचित होने के कारण उन्हें अध्यापन-कार्य छोड़ना पड़ा। अध्यापन-कार्य के प्रति अपनी आत्मकथा ए नेशन इन मेकिंग में उन्होंने यह उद्गार प्रकट किया :

"राजनीतिक कार्य यद्यपि अत्यधिक उपयोगी होते हुए भी अल्पाधिक रूप से क्षणभंगुर है। शैक्षिक कार्य स्वयं में स्थायी उपयोगिता का तत्व लिए हुए है। एक शिक्षक का साम्राज्य सदा विद्यमान रहने वाला साम्राज्य है जो कि भविष्य तक विस्तृत है। शिक्षक भविष्य के स्वामी हैं। मैं उनसे सिवाय अधिक सम्मानप्रद कार्य सोच ही नहीं सकता।"[3]

इंडियन एसोसिएशन की स्थापना में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपना सर्वस्व लगा दिया। जिस दिन इसकी स्थापना हुई उसी दिन प्रातःकाल बनर्जी के एक मात्र पुत्र का निधन हो चुका था। देश सेवा के कार्य में अपने व्यक्तिगत दुःख को भुलाकर बनर्जी ने इस संस्था को आगे बढ़ाया। इस संस्था के एक वर्ष के कार्यकाल में ही भारतीयों को, जो कि भिन्न-भिन्न विचारों, प्रदेशों एवं समुदायों के थे, एक समान राजनीतिक कार्य के मंच पर ला खड़ा किया। इसी मध्य ब्रिटिश सरकार ने इंडियन सिविल सर्विस परीक्षा में प्रवेशार्थियों की आयु सीमा 20 से घटाकर 19 वर्ष कर दी थी ताकि भारतीय अभ्यर्थियों को प्रविष्ट होने का अवसर न प्राप्त हो सके। किन्तु इंडियन एसोसिएशन ने एक राष्ट्रव्यापी आन्दोलन चलाने का संकल्प किया। कलकत्ता में विरोध स्वरूप एक विशाल सार्वजनिक सभा 24 मार्च, 1877 को आयोजित की गयी।[4] बनर्जी को समस्त भारत का दौरा कर जनता को जागृत करने के लिए नियुक्त किया गया। उनकी यह भारतव्यापी यात्रा राष्ट्रीयता के प्रचार एवं प्रसार की दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। स्वयं बनर्जी ने यह अनुभव किया कि भारतीय भाषा, धर्म, जाति एवं प्रदेशों की दृष्टि से भिन्नता क्यों न रखते हों, वे सब राजनीतिक उद्देश्यों के लिए एक हो सकते थे। भारत की अनेकता में एकता पर उनका विश्वास दृढ़ होता चला गया। इसी एकता के आह्वान ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना को बल दिया। बनर्जी द्वारा समर्थित आन्दोलन सफल हुआ और भारत की तत्कालीन सरकार ने सिविल सर्विस में भारतीयों की सीधी नियुक्ति के विशेषाधिकार का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया।[5]

इसी प्रकार इंडियन एसोसिएशन ने लार्ड लिटन द्वारा पारित वर्नाक्यूलर प्रेस-एक्ट तथा आर्म्स-एक्ट का भी विरोध किया। विरोध सफल रहा और पहले एक्ट को लार्ड रिपन ने निरस्त कर दिया और दूसरे एक्ट में आवश्यक परिवर्तन किये गये। इंडियन एसोसिएशन के प्रयत्नों से कलकत्ता में 1883 में भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें देश के दूर-दूर से आये सदस्यों ने भाग लिया। ऐसा ही सम्मेलन पुनः 1885 में कलकत्ते में आयोजित हुआ। ठीक इसी समय बम्बई में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रथम बैठक बुलाई गयी थी, जिसके कारण सुरेन्द्रनाथ बनर्जी कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में भाग नहीं ले सके। कांग्रेस की स्थापना के बाद भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन को इसमें मिला दिया गया। बनर्जी ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर उसे सफल बनाने में पूर्ण

सहयोग दिया।

एक पत्रकार के रूप में भी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का अनुपम योगदान रहा। वे बंगाली पत्र के 1879 से 1919 तक सम्पादक एवं नियामक रहे। उन्हीं के प्रयत्नों से इसे साप्ताहिक से दैनिक पत्र में परिवर्तित कर दिया गया। पत्रकारिता के माध्यम से बनर्जी की प्रथम सफलता इलबर्ट-बिल के विरोध से प्रारम्भ हुई। अंग्रेजों की आलोचना करने का एक अवसर ऐसा उपस्थित हुआ जिसने बनर्जी को रातों-रात जनता का बेताज बादशाह बना दिया। कलकत्ता के एक अंग्रेज जज ने किसी वाद में भगवान शालिग्राम की मूर्ति अदालत में प्रस्तुत करने की आज्ञा दी। इस बात को लेकर हिन्दुओं में बहुत रोष फैला। बनर्जी ने बंगाली के माध्यम से जज की भर्त्सना की, जिस पर उनके विरुद्ध अदालत की मानहानि का आरोप लगाया गया। उनके द्वारा क्षमायाचना करने पर भी न्यायाधीश ने उन्हें दो मास का साधारण कारावास दिया। इस पर भारतव्यापी जन-आन्दोलन एवं विरोध-प्रदर्शन हुआ। बनर्जी लोकनायक के रूप में उभर आये।[6]

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के जीवन में बंगाल की एक अन्य महत्वपूर्ण घटना का भी विशेष प्रभाव रहा। वह घटना थी बंगाल का 1905 में किया गया विभाजन। लार्ड कर्जन तथा बैमफील्ड फुलर द्वारा बंगाल का विभाजन भारत के निवासियों के साथ एक क्रूर उपहास था। यद्यपि ब्रिटिश शासन ने इस विभाजन को प्रशासनिक सुविधा के लिए आवश्यक बताया, किन्तु यह शासकीय स्पष्टीकरण एक धोखा था।[7] वास्तविकता यह थी कि लार्ड कर्जन भारत में राष्ट्रीयता के बढ़ते हुए प्रसार को रोकना चाहते थे। इसका सबसे सरल उपाय उनके द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली-फूट डालो और राज्य करो नीति-थी। बंगाल का विभाजन हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट के बीज बोकर बंगाल के राष्ट्रवादी आन्दोलन को समाप्त करने के लिए हुआ था। बनर्जी ऐसे समय कब शान्त बैठ सकते थे। उन्होंने इण्डियन एसोसिएशन के माध्यम से बंग-भंग विरोधी आन्दोलन आरम्भ किया। उन्हीं के नेतृत्व में बंगाल में स्वदेशी के प्रचार तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। शनैः शनैः यह स्वदेशी एवं बहिष्कार आन्दोलन सारे भारतवर्ष में फैल गया। पुनः विदेशी शासन ने अपनी हरकतों से भारत में राष्ट्रीयता की लहर पैदा की, जिसमें उदारवादी तथा उग्रवादी दोनों ही, कांग्रेस के तत्वावधान में, एकजुट होकर बंग-भंग विरोधी कार्यक्रम को सफल बनाने में लग गये। यद्यपि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने स्वदेशी तथा बहिष्कार की नीति का अनुसरण किया किन्तु वे हृदय से संवैधानिक पद्धति के ही उपासक थे। किन्तु स्वदेशी तथा बहिष्कार का यह आन्दोलन उग्रतर होता चला गया। एक ओर उग्रवादियों ने इसे संबल दिया तो दूसरी ओर बंगाल के तरुण क्रान्तिकारियों की एक नई टोली उठ खड़ी हुई। अन्त में इस आन्दोलन की सफलता परिलक्षित होने लगी। दिसम्बर 12, 1912 में लार्ड हार्डिंग द्वारा बंग-भंग को समाप्त कर दिया गया।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी 1876 से 1899 तक कलकत्ता-नगर निगम के सदस्य भी रहे। 1897 में इंग्लैण्ड में वैल्बी-आयोग के समक्ष उन्होंने अपना साक्ष्य दिया। वे निगम की ओर से बंगाली विधायी परिषद् के सदस्य भी रहे। वे पहले गैर-सरकारी भारतीय सदस्य के रूप में बंगाल की व्यवस्थापिकापरिषद् के लिए 1893 में चुने गये थे। वे

निरन्तर निर्वाचित होते रहे और 1901 तक इसके सदस्य बने रहे। उस समय तक ब्रिटिश सरकार के नियमों में सरकारी सेवा से पदच्युत व्यक्ति के लिए चुनाव लड़ना निषिद्ध नहीं था। किन्तु 1909 के भारत-परिषद्-अधिनियम में यह नियम भी जोड़ दिया गया जिसके कारण बनर्जी चुनाव नहीं लड़ सकते थे किन्तु तत्कालीन उप-राज्यपाल ने, जो कि बनर्जी को व्यक्तिगत रूप से जानते थे, यह नियम उनके लिए निरस्त कर दिया। बनर्जी ने इसका लाभ उठाने से इसलिए मना कर दिया कि वे बंगाल-विभाजन के विरोध स्वरूप विधायी परिषद् के लिए चुने जाना उचित नहीं मानते थे।[8] बाद में जब बंगाल का विभाजन समाप्त कर दिया गया, तब वे बंगाल की विधायी परिषद् तथा साम्राज्यीय विधायी परिषद् दोनों के 1913 के निर्वाचन में विजयी हुए। उन्होंने साम्राज्यीय विधायी परिषद् की सदस्यता ग्रहण की और उसके सदस्य 1916 तक बने रहे। 1916 के निर्वाचन में उन्हें पराजित होना पड़ा। उनके स्थान पर भूपेन्द्र नाथ बसु को सफलता मिली।[9] 1915 से 1918 के बीच होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों के प्रति बनर्जी की विशेष रुचि नहीं थी। वे होमरूल आन्दोलन से दूर रहे। कांग्रेस की महासमिति ने बम्बई की बैठक में निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रस्ताव जुलाई, 1917 में पारित किया जिसका बनर्जी ने विरोध किया। बनर्जी तथा देशबन्धु चित्तरंजनदास में राजनीतिक मतभेद का प्रारम्भ हुआ। बनर्जी ने लार्ड मोंटेग की 1917 की घोषणा का स्वागत किया तथा विधायी परिषदों के सुधार की माँग की। उदारवादियों एवं उग्रवादियों में वैचारिक मतभेद का एक और दौर प्रारम्भ हुआ। बनर्जी तथा उनके सहयोगी उदारवादियों ने 1918 के कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन का बहिष्कार किया। इससे पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मञ्च से सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अनेक ओजस्वी भाषणों तथा उदारवादी विचारों से जन सेवा का कार्य किया था। वे प्रायः धारासभाओं के सुधार पर अपने विचार व्यक्त किया करते थे। साथ साथ स्थानीय स्वशासन तथा भारतीय व्यक्तियों की अंग्रेजी सेवा में नियुक्ति उनके प्रिय विषय थे, जो कांग्रेस की गोष्ठियों में उनके द्वारा विचार-विमर्श के लिए प्रस्तुत किये जाते थे। कांग्रेस के 1895 के पूना तथा 1902 के अहमदाबाद अधिवेशन के वे अध्यक्ष रहे। वे कांग्रेस के प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के रूप में 1890 में इंग्लैण्ड भी गये और अपनी वक्तृता के द्वारा ब्रिटिश जनता को मन्त्रमुग्ध कर दिया। वहीं उनका भाषण आक्सफोर्ड यूनियन डिबेट के अन्तर्गत हुआ जो उनकी राष्ट्रभक्ति का प्रतीक था।[10] कांग्रेस में संवैधानिक आन्दोलन के पक्षपातियों में बनर्जी अग्रणी थे। उनके विचार लाला लाजपतराय तिलक, विपिनचन्द्र पाल जैसे उग्रवादियों से भिन्न थे। यही कारण था कि आगे जाकर बनर्जी तथा उग्रवादियों में मतभेद बढ़े। इन मतभेदों के कारण बनर्जी ने कांग्रेस छोड़ दी और एक आल इण्डिया लिबरल फेडरेशन नाम का दल गठित किया। इस दल की नीति पूर्ण उदारवादी तथा अंग्रेजों से सहयोग करने की थी। 1919 में भारतीय उदारवादियों के प्रतिनिधि मण्डल को लेकर वे पुनः इंग्लैण्ड गये। उनका उद्देश्य संसद द्वारा मोंटफोर्ड-नियमों को स्वीकृत कराना था, ताकि भावी अधिनियमों को बल मिले। भारत सरकार के 1919 के अधि-नियम के पारित हो जाने पर बनर्जी ने पूर्ण सहयोग की नीति का समर्थन किया। गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन का विरोध करने के कारण उनकी लोकप्रियता कम होती

गये। अन्त में बंगाल विधायी परिषद् के सदस्य निर्विरोध चुने गये। उन्हें 1921 में स्थानीय स्व-शासन एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य-मन्त्री का पद दिया गया। उन्हें 'सर' के खिताब से सम्मानित किया गया। द्वैधशासन के विरोध स्वरूप जब कांग्रेस ने चुनावों का बहिष्कार किया बनर्जी मन्त्री-पद पर शोभायमान रहे। उनकी प्रतिष्ठा इस कारण से गिरी। निन्दकों ने उन्हें पदलोलुप तथा देशद्रोही तक कहा। उनकी आलोचना के गुबार में उनके द्वारा मन्त्री की हैसियत से स्थानीय स्व-शासन के क्षेत्र में किये गये कार्यों को भुला दिया गया। उनके निर्वाचन-क्षेत्र में भी उनका अनादर किया गया। इससे भी अधिक आघात उनको 1923 के निर्वाचन में डा० विधानचन्द्र राय द्वारा पराजित होने पर हुआ।[11] उनके राजनीतिक एकाकीपन के इस जीवन का अन्तिम समय उन्होंने अपनी आत्मकथा ए नेशन इन मेकिंग पूरी करने में लगाया। अगस्त 6, 1925 में उनकी मृत्यु हुई। यद्यपि जीवन के अन्तिम दौर में उन्हें अपने विचारों एवं नीतियों के कारण कई कटु अनुभव हुए किन्तु भारत उनकी आधे शतक से अधिक काल तक की सार्वजनिक सेवा को नहीं भुला सकता। ऐसे समय में जब राजनीतिक आन्दोलन की बात करना दूभर था, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भारत में राजनीतिक चेतना का प्रवाह प्रारम्भ किया। वे जीवनपर्यन्त संवैधानिक सुधारों एवं उदारवादी विचारों पर अडिग रहे। यह उनके संवैधानिक सुधारों का विश्वास ही था जिसने उन्हें मन्त्री-पद स्वीकार करा कर जनता का कोपभाजन बनाया। यह उनकी पदलोलुपता न होकर आदर्शों के प्रति उनकी अनुदार श्रद्धा ही कही जा सकती है।

राजनीतिक विचार

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के राजनीतिक विचारों पर आंग्लप्रेमवाद का विशेष प्रभाव अंकित है।[12] वे मैकाले की उस भविष्यवाणी को चरितार्थ कर रहे थे जिसमें अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त भारतीय एक दिवस भारतीय रक्त तथा रंग के होते हुए भी रुचि, विचार, नैतिकता एवं बुद्धि में अंग्रेज सदृश होने वाले थे। यही कारण था कि बनर्जी जहाँ एक ओर भारत में स्व-शासन की माँग कर रहे थे तो दूसरी ओर उनका विचार ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही स्व-शासन प्राप्त करने का था। वे ब्रिटेन के मार्गदर्शन में भारत की प्रगति का स्वप्न देखते थे। भारत में राजनीतिक सुधारों की मांग प्रस्तुत करना तथा अंग्रेजी शासन से प्रार्थना एवं याचिकाओं के माध्यम से नवीन सुधारों को लागू करवाना उनका उद्देश्य रहा। ब्रिटेन के समर्थन एवं सहयोग के बिना स्व-शासन प्राप्त करना उनकी दृष्टि में असम्भव सा था। उनका विश्वास था कि ब्रिटेन का भारत में महान् उद्देश्य है। भारत को दासता, अंधकार एवं अज्ञान से बचाने का कार्य ब्रिटेन के माध्यम से ही हुआ है। भारत में एकता की स्थापना ब्रिटिश शासन का ही प्रतिफल है।[13]

पाश्चात्य प्रभाव में पूर्णतया रंगे हुए, वे पाश्चात्य साहित्य को भारतीय राष्ट्रवाद का प्रेरक मानते थे। भारत में स्वतन्त्रता एवं समानता के उच्च सिद्धान्तों का प्रवर्तन केवल वरदान रूप में प्राप्त ब्रिटिश शासन ही कर सकता था। भारत में निर्वाचन की सुविधा, राजनीतिक उत्तरदायित्व, संवैधानिक स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक दर्शन के प्रति चेतना सभी अंग्रेजों के सहयोग एवं आशीर्वाद से ही सुलभ हो सकती थी। अत. बनर्जी अंग्रेजी शासन को दासता का अभिशाप न मानकर विधाता का परम उपकारी विधान मानते थे।[14]

बनर्जी के अनुसार अंग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य शिक्षा ने भारत के करोड़ों निवासियों को एकता के सूत्र में पिरोने का सफल यत्न किया था। बहु भाषा-भाषी भारत में राष्ट्रीय एकता के बीज अंग्रेजी भाषा ने ही बोये थे। इससे पहले भारत प्रांतीयता के संकुचित विचार से ग्रस्त था। अंग्रेजी जानने वाले भारतीयों ने ही विभिन्न प्रांतों के समविचारक व्यक्तियों को एकत्रित कर राजनीतिक आंदोलन का प्रारम्भ किया था। शायद बनर्जी के इस अगाध अंग्रेजी-प्रेम एवं अदूरदर्शी विचारों ने ही उन्हें अपनी आत्मकथा का शीर्षक 'ए नेशन इन मेकिंग' रखने की प्रेरणा दी। वे यह भूल गये कि भारत में राष्ट्रीयता अंग्रेजों से विरासत में नहीं मिली थी और न ही भारत की बहुभाषा-भाषिता राष्ट्रीय एकता में बाधक सिद्ध हुई थी। भारत की एकता का रहस्य केवल भाषा न होकर भारतीय संस्कृति एवं धर्म था। किन्तु मेकाले के मानस-पुत्र इस तथ्य को स्वीकार करने से कतराते रहे और आज भी कतराते हैं।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी संवैधानिक विरोध के पक्षपाती थे। उन्हें इस पद्धति की अंतिम सफलता पर दृढ़ विश्वास था। वे भारत तथा इंग्लैण्ड की जनता को भारतीय मांगों के प्रति इसी विधि से आकर्षित कर अपने पक्ष में जनमत तैयार करने का विचार रखते थे। उन्हें अंग्रेजों की न्यायप्रियता एवं सदाचारिता पर पूरा भरोसा था। वे लम्बे समय तक इस संवैधानिक पद्धति के प्रयोग का पक्ष प्रतिपादित करते रहे। उन्हें विश्वास था कि चाहे अधिक समय ही क्यों न लगाना पड़े, संवैधानिक पद्धति से ही स्व-शासन प्राप्त होगा। उन पर मेकाले, बर्क, मिल, स्पेंसर, फाक्स, पिट, शेरीडन आदि ब्रिटिश विचारकों का प्रभाव स्पष्ट अंकित था। इटली के सुप्रसिद्ध देशभक्त मैजिनी का आत्म-बलिदान एवं आत्मविश्वास उनके प्रेरक थे। जिस प्रकार मैजिनी ने नैतिक एवं आध्यात्मिक चेतना के प्रसार को राजनीतिक क्रांति का आधार बताया था उसी तरह बनर्जी भी आध्यात्मिकता को राजनीति से विलग नहीं मानते थे। मैजिनी के समान वे राष्ट्रीयता की भावना का भी प्रचार करने के इच्छुक थे। वे उदारवादी व्यक्तिवाद एवं नैतिक आदर्शवाद को राजनीतिक विचारों की दृष्टि से प्रमुखता देते थे। इसी प्रकार ब्रिटिश संविधानवाद उनके विचारों का आधार स्तम्भ था। यही कारण था कि उनके द्वारा संवैधानिक सुधारों की मांग का आंदोलन अधिक तीव्रता से चलाया गया। संवैधानिकता के माध्यम से भारत में क्रमिक राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन लाने में विश्वास करते थे। उनके सामने ब्रिटेन का उदाहरण था जिसे वे भारत में फलीभूत करना चाहते थे।[15]

सैद्धांतिक दृष्टि से वे नैतिक आदर्शवाद के पक्षपाती थे। राजनीति में नैतिक आदर्शवाद का पुट देकर उन्होंने इस सैद्धांतिक धारणा को प्रयोगात्मक बनाया। वे गीता में भगवान श्री कृष्ण के कर्मयोगवाद से प्रभावित थे।[16] गांधीजी ने आगे चलकर राजनीति के अध्यात्मीकरण का जो प्रयोग किया वह बनर्जी के भाषणों में पहले से ही विद्यमान दिखाई देता है। किन्तु इसका पूर्ण श्रेय बनर्जी को नहीं मिल पाया क्योंकि वे व्यावहारिक राजनीति में इतने उलझे रहे कि अपने राजनीतिक सिद्धांतों की पूर्ण व्याख्या एवं तदनुसार राजनीतिक व्यवहार नियमित न कर पाये। इससे एक तथ्य अवश्य परिलक्षित होता है कि भारत के राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तन में आध्यात्मिकता का पुट विचारकों की बहुसंख्या द्वारा समर्थित रहा है। पाश्चात्य प्रभाव से पूर्णतया

निमज्जित होते हुए भी बनर्जी भारतीय संस्कृति एवं भारत की राष्ट्रीय धरोहर को भूल नहीं पाये थे। भारत के प्राचीन गौरव के प्रति वे आस्थावान थे। यही कारण है कि भारत में राष्ट्रीय जागरण के लिए उनके अनेक भाषणों का विषय भारत की गौरवपूर्ण परम्परा ही रही। भारत का प्राचीन इतिहास, भारतीय एकता, मत्सीनी, चैतन्य महाप्रभु तथा सिक्खों का कार्यकलाप उनके भाषणों के विषय रहे।[17] वे भारत मां की सेवा को ही सर्वोच्च धर्म मानते थे। उनके अनुसार इससे बड़ा और कोई बलिदान नहीं हो सकता कि व्यक्ति देश के काम आये।

अपने उदारवादी दृष्टिकोण के कारण बनर्जी ने रानी विक्टोरिया की नवम्बर 1, 1858 की घोषणा को महत्वपूर्ण मानते हुए यह व्यक्त किया कि भारत के निवासियों की प्रसन्नता ही भारत में अंग्रेजी शासन की सफलता की कसौटी है। यदि सरकार अपने उत्तरदायित्वों से च्युत हो जाती है तो वह जनता का सहयोग कदापि नहीं पा सकती।[18] बंगाल-विभाजन (1905) के संदर्भ में बनर्जी ने यह मत व्यक्त किया कि दमन का प्रयोग शासन के लिए घातक होता है। दमनकारी शासन को जनता का विश्वास पुन: प्राप्त करने के लिए वर्षों तक प्रयत्न करने होते हैं। 1857 की घटना के बाद भारत के निवासियों का हृदय ब्रिटिश शासन ने तुष्टीकरण की नीति द्वारा ही जीता था।[19]

बनर्जी सहयोग तथा असहयोग दोनों ही नीतियों के समर्थक थे। वे न तो पूर्णतया ब्रिटिश शासन से सहयोग की नीति पर चलना चाहते थे, क्योंकि ऐसा करना स्व-शासन की दृष्टि से लाभप्रद नहीं हो सकता था। इसी प्रकार पूर्ण असहयोग भारत में संवैधानिक सुधारों के आंदोलन में तालमेल नहीं खाता था। यही कारण है कि बनर्जी के प्रारम्भिक राजनीतिक जीवन में तथा बंगाल के विभाजन के समय उनके उद्गारों में जिस असहयोग का चित्रण मिलता है, वह उनके द्वारा मंत्री पद-ग्रहण करने तथा गांधी जी एवं उग्र-वादियों का विरोध करने सम्बन्धी उनके विचारों में नहीं मिलता। यदि शासन जनता द्वारा इच्छित नियमों के अनुसार चलने लग जाये तो फिर असहयोग की आवश्यकता ही क्या है ऐसा उनका मत था। उन्हें असहयोग का समस्त दर्शन नकारात्मक प्रतीत होता था। असहयोग, घृणा एवं अराजकता का प्रतीत दिखाई देता था। विचारवाद तथा व्यावहारिक राजनीति दोनों ही दृष्टियों से असहयोग उन्हें रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ।[20]

बनर्जी साम्राज्यवाद के उग्रतम विरोधी थे। वे साम्राज्यवाद को निरंकुश शासन का ही प्रतिरूप मानते थे। साम्राज्यवाद लोकप्रिय सत्ता का विरोधी होने के नाते एकतन्त्रात्मक था। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोधी थे, क्योंकि यह ब्रिटेन की स्वतन्त्रता की रक्षा तथा ब्रिटिश उपनिवेशों की दासता का पोषक था। इतिहास पर अपने विचारों को आधारित करते हुए उन्होंने बताया कि प्रदेशों का तथा शक्ति का विस्तार दोनों ही लोकप्रिय सरकारों के लिए घातक सिद्ध हुए हैं। ब्रिटिश साम्राज्य केवल अंग्रेजी भाषी एवं अंग्रेज रक्त के व्यक्तियों के संगठन का प्रतीक रहा है। भारतीय रक्त के व्यक्तियों के लिए केवल अंग्रेजों की सेवा करना ही अपने हिस्से में प्राप्त हुआ है। दक्षिणी अफ्रीका में नाटाल की रक्षा के लिए भारतीय सिपाहियों का प्रयोग किया गया, चीन में भारत के सिपाही भेजे गये और चीन की दीवार पर उन्होंने ब्रिटिश शासन के झंडे को फहराया फिर भी भारत के निवासियों के साथ भेदभाव किया गया।[21] वे

ग्लेडस्टन के उदारवादी कार्यक्रम का समर्थन करते हुए अनुदारवादी शासन को अनहित का विरोधी मानते थे। उन्हें भारत के ब्रिटिश शासकों की शान-शौकत एवं फिजूलखर्ची पसंद नहीं थी। एक ओर वैभव का प्रदर्शन हो रहा था तो दूसरी ओर असम के चाय बागानों के मजदूरों पर अत्याचार हो रहे थे। यही कारण था कि बनर्जी भारत में स्वतन्त्रता के संदेश को स्थायी बनाना चाहते थे। वे यह मानते थे कि स्वतन्त्रता की देवी अपने भक्तों से कठिन अर्चना एवं दृढ़ तथा दीर्घ उपासना मांगती है। उसे प्रसन्न करने के लिए धैर्य एवं आत्म-बलिदानी भक्ति की आवश्यकता है जिसे संवैधानिक कार्यक्रम के दूरगामी प्रयासों से ही प्राप्त किया जा सकता है।[22]

बनर्जी ने अपने स्व-शासन सम्बन्धी विचारों की विशद् व्याख्या प्रस्तुत की थी। वे स्व-शासन की प्राप्ति ब्रिटिश साम्राज्य के हित में, प्रशासन के हित में तथा आत्मसुरक्षा के हित में मानते थे। स्व-शासन के राष्ट्रीय लक्ष्यों में वे जनता की नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति को मानते थे। उन्होंने एक भविष्य द्रष्टा के रूप में यह व्यक्त किया था कि भारत को स्व-शासन देना स्वयं ब्रिटिश साम्राज्य के हित में होगा। उन्हें ऐसी संभावना प्रतीत हो रही थी कि विश्व कहीं पुनः महायुद्ध की स्थिति में न पहुंच जाये। यदि विश्व-युद्ध हुआ तो भारत इंगलैण्ड की सहायता स्व-शासित राष्ट्र के रूप में भलीभांति कर पायेगा और जर्मनी ने पुनः इंग्लैंड से युद्ध किया तो उसे मुंह की खानी पड़ेगी।[23] यद्यपि भारत में पूर्ण स्व-शासन की स्थापना तो विलंब से हुई किन्तु बनर्जी के उद्गार सत्य प्रतीत हुए और जर्मनी से लोहा लेने में तथा ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा में भारतीय धन एवं रक्त पानी की तरह बहाया गया। यदि भारत का सहयोग उस समय इंग्लैंड को न मिला होता तो विश्व का इतिहास कुछ और ही होता। वे प्रशासन की दृष्टि से स्व-शासन की मांग को इस कारण से हितकारी मानते थे कि स्व-शासन के अन्तर्गत प्रशासन को अशांति एवं हिंसा का सामना नहीं करना पड़ेगा। बंगाल में क्रांतिकारियों के हिंसात्मक रवैये के लिए उन्होंने ब्रिटिश शासन को उत्तरदायी ठहराया। वे मानते थे कि आर्थिक एवं औद्योगिक कारणों से हिंसात्मक आंदोलन को बल मिला है। उन्होंने यह वचन दिया था कि यदि भारत को स्व-शासन दे दिया गया तो छः वर्ष की अवधि में अराजकता पूर्णतया समाप्त हो जायेगी। वे सर हैनरी केम्पबेल बैनरमैन के शब्दों को प्रतिध्वनित कर रहे थे कि सु-शासन स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता।[24] जापान, टर्की, चीन आदि के उदाहरण से स्व-शासन का पक्ष पोषित करते हुए उन्होंने कहा कि यदि भारत को भी स्व-शासन दे दिया जाये तो अराजकता दूर की जा सकती है। स्व-शासन सु-शासन की स्थापना करता है। बनर्जी ने कहा था कि यदि वे स्व-शासित भारत के राष्ट्रपति बना दिये जाये तो वे सर्वप्रथम अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा के लिए नियम बनायेंगे। दूसरा कार्य वे कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के पृथक्करण का करेंगे। उच्चस्तरीय सरकारी सेवाओं में भारतीयकरण के माध्यम से वे इस लक्ष्य की प्राप्ति करना संभव मानते थे। इसी प्रकार वे नमक-कर, शस्त्र-अधिनियम, राष्ट्रीय सेना आदि के संबंध में कार्य करने को उत्सुक थे। यद्यपि बनर्जी को भारत की स्वतंत्रता तक जीवित रहने का सौभाग्य नहीं मिला, किन्तु उनके द्वारा भविष्य के स्व-शासित भारत में अनिवार्य कार्यों के निदेशक तत्त्वों को प्रेरित करने योग्य विचार अवश्य प्राप्त हुआ।[25]

इसी प्रकार बनर्जी ने स्व-शासन को आत्म-सुरक्षा का साधन भी सिद्ध किया। उनका यह तर्क था कि यदि भारत को स्व-शासन मिल गया तो उसे अपने प्रतिनिधियों के स्वतंत्र निर्वाचन का सुअवसर प्राप्त होगा और ब्रिटिश साम्राज्यीय परिषदों में उच्च भारतीय प्रतिनिधित्व का मार्ग प्रशस्त होगा। अंत में वे स्व-शासन को जनता की आध्यात्मिक एवं नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार राजनीतिक हीनता की भावना नैतिक पतन को जन्म देती है। एक परतंत्र व्यक्ति की आत्मा एवं बुद्धि स्वतंत्र व्यक्ति की आत्मा एवं बुद्धि के समान कदापि नहीं हो सकती। उनके अनुसार किसी परतंत्र राष्ट्र में पतंजलि, बुद्ध, वाल्मीकि उत्पन्न नहीं हो सकते। हम स्व-शासन प्राप्त करके ही अपना मस्तक ऊंचा उठा कर चल सकते हैं। बनर्जी ने स्व-शासन की मांग का पुरजोर समर्थन करते हुए यह भी व्यक्त किया कि भारत स्व-शासन केवल अपने लिए ही नहीं मांगता। वह स्व-शासन की मांग समस्त मानवता के लिए करता है। उनके अनुसार, "....भारत के वैदिक ऋषियों ने गंगा तथा यमुना के तट पर जिस प्रभात की वेला में, उन ऋचाओं का गान किया है जो नवजात मानवता द्वारा ईश्वरीय आदर्श के प्रति प्रथम उद्गार के रूप में सर्वज्ञात हैं। उच्च पर्वतों पर बसने वाली सनातन नगरी के निर्माण के पहले से ही भारत मानवता का अग्रणी रहा है। काशी का निर्माण हुआ। काशी देबीलोन के पहले से ही वैभवपूर्ण रही है।... जिन दिनों विश्व बर्बरता में डूबा हुआ था भारत विश्व मानवता का मार्गदर्शक एवं शिक्षक था। किन्तु आज हमारा उद्देश्य अधूरा पड़ा है। इसे पूरा करना है ताकि यूरोप को भौतिकता एवं युद्ध के उन्माद से बचाया जा सके। हमें पुनः मानवता का आध्यात्मिक मार्गदर्शक बनना है। किन्तु स्वयं स्वतंत्र हुए बिना हम यह कार्य कैसे पूरा कर सकते हैं। इस महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमें स्वतंत्रता चाहिए।"[25]

सामाजिक विचार

यद्यपि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी अपने व्यस्त राजनीतिक जीवन से सामाजिक सेवा अथवा सुधारों के लिए अधिक समय नहीं दे सके फिर भी उनके सामाजिक विचार उनकी सामान्य अभिलाषाओं के प्रतीक हैं। वे स्वयं कहा करते थे कि राजनीति से सन्यास लेने के पश्चात् वे सामाजिक सुधार के महान् भक्त ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा चलाये गए विधवा-उद्धार कार्यक्रम में अपना शेष जीवन लगा देंगे।[26] राजनीति ने उन्हें मुक्त नहीं किया और विद्यासागर के आंदोलन में वे अपना योगदान न दे पाये किन्तु उनका इस कार्य में लगाव उनकी अन्तःप्रेरणा का साक्षी रहा। बनर्जी पुरातन पंथी हिन्दू विचारधारा के अनुगामी नहीं थे। उनका सामाजिक दृष्टिकोण प्रगतिशील था। वे समाज में होने वाले परिवर्तन के प्रति जागृत थे। किन्तु क्रांतिकारिता एवं त्वरित परिवर्तन उनके स्वभाव में नहीं था। आधुनिक विज्ञान के पक्षपाती थे। पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित होने के बावजूद वे भारतीयता के प्रतीक ही माने जाने चाहिए। वेशभूषा, रहन-सहन तथा खानपान में वे विशुद्ध भारतीय थे। उनके इस स्वदेशी दृष्टिकोण का अंग्रेजों की नकल करने वाले भारतीयों पर प्रभाव न पड़ा हो, यह मानने योग्य कैसे हो सकता है। वे सामाजिक जीवन में चरित्र की शुद्धता के प्रतीक थे। उनके निष्कलंक चरित्र का प्रभाव भी युवकों पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। उनके निष्कलंक चरित्र का प्रभाव भी युवकों पर प्रभाव पड़े

बिना न रहा। उनके द्वारा विदेशयात्रा करने के कारण उन्हें उनके समाज ने प्रारंभ में निष्कासित माना, किंतु उनके देखते ही देखते इतना सामाजिक परिवर्तन आया कि वे एक सम्भ्रान्त व्यक्ति के रूप में माने जाने लगे। बनर्जी की यह धारणा थी कि समय के साथ धीरे धीरे परिवर्तन अधिक स्थायी हुआ करते हैं। बाल-विवाह, विधवा-विवाह,[28] अन्तर्जातीय विवाह तथा समुद्र-यात्रा संबंधी भारतीय पुरातन दृष्टिकोण में बनर्जी जैसे प्रगतिशील विचारकों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा और कालांतर में एक नया सामाजिक दृष्टिकोण बनने लगा।

बनर्जी समाज की अवयवी एकता में विश्वास करते थे। उनका यह दृष्टिकोण था कि *मानव-अस्तित्व अलग अलग विभागों में बंटा हुआ नहीं है। मानव-प्रयासों का* किसी एक दिशा में निदेशन अन्य गतिविधियों को भी निश्चित रूप में प्रभावित करता है। उनकी यह मान्यता थी कि सामाजिक सुधार का कार्य राजनीतिक गतिविधियों से से जुड़ा हुआ है। सामाजिक सुधार, औद्योगिक उन्नति, नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति सभी राष्ट्रीय जागृति के कार्यक्रम से गुंथे हुए हैं। उनके अनुसार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा केशवचन्द्र सेन द्वारा किये गये सुधारों का क्रिस्टोदास पाल तथा अन्य पर प्रभाव पड़ा और बंगाल की पाश्चात्य प्रभाव में उत्पन्न हुई नई राजनीतिक पीढ़ी ने शिक्षित एवं अशिक्षित सभी वर्गों पर प्रभाव डालते हुए उन्हें सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध किया। बनर्जी इस प्रकार से सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा नैतिक सुधारों को समान महत्व देते हुए उनके सम्मिलित क्रियान्वयन पर बल दे रहे थे।[29] उनकी दृष्टि में स्वदेशी तथा बहिष्कार का आंदोलन केवल राजनीतिक आंदोलन नहीं था। यह आंदोलन सामाजिक तथा आर्थिक भी था। सामाजिक दृष्टि से स्वदेशी एवं बहिष्कार की भावना ने, समाज में फैली हुई कुरीतियों को दूर करने की प्रेरणा दी। भारत में पाश्चात्य प्रभाव को सीमित कर राष्ट्रीय चेतना की वृद्धि में उससे पूर्ण सहायता प्राप्त हुई। वे हिंदू-समाज की रूढ़िवादिता का विरोध करते रहे और उसे दूर करने के लिए चैतन्य, ब्रह्म-समाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय, देवेन्द्र नाथ ठाकुर के विचारों को लोकप्रिय बनाने में अपना योगदान देते रहे। एक सच्चे ब्रह्म-समाजी के रूप में उनका सामाजिक पक्ष रूढ़िवादिता का विरोध एवं क्रमिक सुधारों का प्रतीक था।[30]

आर्थिक विचार

बनर्जी का अर्थ संबंधी दृष्टिकोण जॉन ब्राइट के इन विचारों से प्रभावित था कि आप किसी भी देश की वित्तीय स्थिति के बारे में पता लगाइये और आपको वहां के शासन और व्यक्तियों की जानकारी स्वतः मिल जायेगी।[31] अर्थात् वित्तीय स्थिति से ही देश की राजनीतिक स्थिरता आंकी जा सकती है। भारत की वित्तीय स्थिति पर बोलते हुए बनर्जी ने 1895 की पूना-कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में भारत में व्याप्त घाटे एवं ऋण की ओर ध्यान आकृष्ट किया। भारत के दिवालियेपन एवं जनता की गिरती हुई क्रय शक्ति के लिए उन्होंने शासन को उत्तरदायी बताया। उनको ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत की ब्रिटिश सरकार जनता की भावनाओं एवं कठिनाइयों के प्रति जागृत नहीं थी। सरकार के अयथार्थवादी तथा आशावादी दृष्टिकोण को उन्होंने पसंद नहीं किया। आर्थिक अवनति का कारण बतलाते हुए बनर्जी ने भारत-सरकार की आक्रामक सैन्य नीति

को इसके लिए दोषी ठहराया। रुपये के अवमूल्यन से गिरती हुई स्थिति को और भी गिराने का उत्तरदायी माना।[32]

जनता की राजनीतिक प्रगति के लिए जनता की आर्थिक समृद्धि को मूल मापदण्ड मानते हुए उन्होंने बतलाया कि भारत के उद्योगों का विकास एवं संरक्षण होना चाहिए। जब तक उद्योगों का उचित संरक्षण एवं संवर्धन नहीं होगा तब तक भारत में राष्ट्रीय जागृति बलवती नहीं हो सकती। बम्बई के कपड़ा-उद्योग, बंगाल के जूट-उद्योग, आसाम का चाय-उद्योग तथा मध्य प्रांत एवं दक्षिण भारत के कोयला एवं लोहा-उद्योगों को बढ़ाने की आवश्यकता पर बल दिया। वे तत्कालीन फैक्ट्री नियमों को उत्पादन घटाने तथा उत्पादन मूल्य बढ़ाने वाले मानते थे। भारत सचिव पर अंग्रेजी व्यापारियों द्वारा दबाव डाला जा रहा था कि वे ऐसे नियम बनायें जिससे भारत के व्यापारी तथा उत्पादक लाभान्वित न हो सकें। बनर्जी ने लंकाशायर के सूती कपड़ा-उद्योगपतियों को भारत के सूतीवस्त्र-उद्योग को शिथिल करने का दोषी पाया। स्काटलैंड में डण्डी के जूट-निर्माताओं ने भारत के जूट उद्योग को जर्जरित करने का प्रयास किया।[33]

बनर्जी ने बेरोजगारों की समस्या पर भी अपने विचार व्यक्त किये। वे भारतीय सरकारी सेवा में भारतीयों की नियुक्ति पर इस कारण से बल दे रहे थे कि यह उनकी दृष्टि में भारत की वित्तीय स्थिति को सुधारने वाला तत्व था। भारत की निर्धनता रोजगार के नये तरीकों के प्रयोग से और अधिक रोजगार प्रदान करने से दूर हो सकती थी। वे दादाभाई नौरोजी तथा रॉबर्ट नाइट के वित्त सम्बन्धी विचारों से सहमत थे और वित्तीय निर्गम को भारत की आर्थिक दुर्दशा का कारण मानते थे। भारत से पूंजी बाहर जाना भारत के लिए खतरनाक सिद्ध हो रहा था। उनके विचारों के अनुसार विदेशियों की भारतीय सेवाओं में नियुक्ति नैतिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण, आर्थिक दृष्टि से हानिप्रद तथा राजनीतिक दृष्टि से अव्यवहारिक थी। वे प्रतियोगी-परीक्षाओं में भारत के निवासियों को अधिक से अधिक संख्या में नियुक्त करने के पक्षपाती थे। प्रशासनिक सेवा, तकनीकी सेवा, पुलिस-सेवा, वन-सेवा सभी में भारतवासियों को उचित स्थान दिलाने के वे पृष्ठपोषक थे।[34] उन्हें इस बात का क्षोभ था कि भारत के निवासी अंग्रेजों की दृष्टि में प्रशासन के योग्य नहीं माने जाते थे। रंग, जाति, रक्त आदि के आधार पर किया गया भेदभाव उन्हें स्वीकार नहीं था। वे मानते थे कि हम भारतीय किसी भी दृष्टि से हीन नहीं हैं। हमें अपनी राष्ट्रीयता पर गर्व है। हम उस सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं जो मानव सभ्यता के उष काल में हमें संयुक्त करती है। बनर्जी इतने पर भी यह मानते थे कि अंग्रेजों के शासन में इंग्लैण्ड के नागरिकों के समान भारतीय भी स्वतन्त्रता एवं समानता के अधिकारों से अवश्य युक्त होंगे।[35]

बनर्जी भारत के निवासियों की सेना में उच्च पदों पर नियुक्ति के लिए भी प्रयत्नशील थे। भारत के शूरवीर ब्रिटिश सेना में सूबेदार-मेजर के पद से अधिक पदासीन नहीं किये जा रहे थे। वे मजाक में कहा करते थे कि अंग्रेजों के शासन में शिवाजी, हैदरअली, रणजीतसिंह, महादजी सिंधिया भी कर्नल के पद से ऊंचा पद भारतीय सेना में नहीं पा सकते थे।[36]

अपने अहमदाबाद-कांग्रेस के 1902 के अध्यक्षीय भाषण में बनर्जी ने कहा कि हमारे उद्योगों को संरक्षण की आवश्यकता है। उन्मुक्त व्यापार से भारत को हानियां उठानी पड़ी हैं। शासन को चाहिए था कि वह भारत की आर्थिक प्रगति के लिए नियम बनाता। यदि शासन ऐसा नहीं करता तो स्वयं भारतीयों को अपने समस्त योगक्षेम का उपयोग करते हुए आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा स्वदेशी को अंगीकार कर हम देश के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।[37] इसी भाषण में बनर्जी ने ब्रिटिश शासन को समितियों एवं आयोगों का शासन बतलाया। देश की वास्तविक परिस्थितियों का चित्रण इन आयोगों के द्वारा कराने में शासन झिझकता रहा है। भारत में पड़ने वाले अकाल इसके साक्षी हैं। बनर्जी का विश्वास था कि शासन द्वारा भारत की निर्धनता का यथार्थ चित्र प्राप्त करने के लिए गोपनीय जांच-पड़ताल से विशेष लाभ नहीं हुआ। लार्ड रिपन तथा लार्ड डफरिन दोनों के समय में यह जांच-पड़ताल हुई, किन्तु उनसे वास्तविकता को छिपाने तथा ब्रिटिश शासन की त्रुटियों पर पर्दा डालने का कार्य ही किया गया।[38] इस प्रकार सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने तत्कालीन आर्थिक समस्याओं पर जनमत जागृत करने की दृष्टि से अपने विचारों को विभिन्न माध्यमों से व्यक्त किया।

सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का योगदान

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने निरन्तर 50 वर्षों तक भारत की सार्वजनिक सेवा की। वे उदारवादी विचारक थे, अतः अंग्रेजीराज को भारत से समूल नष्ट करने का विचार उन्हें समीचीन प्रतीत नहीं हुआ। भारत के उग्रवादी विचारकों के समान उनकी ख्याति नहीं हुई, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि बनर्जी अन्य उदारवादी विचारकों के समान भारत के राष्ट्रीय क्षितिज पर शीघ्र तिरोहित हो गये। बनर्जी अन्य उदारवादियों से भिन्न थे। उन्हें शासन का समर्थन एवं विरोध करने का जो सुअवसर प्राप्त हुआ वह अन्य उदारवादियों से भिन्न था। अंग्रेजीशासन द्वारा कारावास एवं अपमान भुगतने वाले वे एकमात्र उदारवादी थे। इसी तरह भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में देशवासियों का नेतृत्व करने वालों में बनर्जी ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम मन्त्री पद सम्हाला। उनके जीवन का यह विरोधाभास उनके आलोचकों द्वारा उनके विरोध में खूब प्रयुक्त हुआ। किन्तु बनर्जी को साधारण पदलोलुप व्यक्तियों की श्रेणी के नहीं रखा जा सकता। वे राष्ट्रप्रेम तथा संवैधानिकता के अनन्य उपासक थे। आधुनिक भारत में जब राजनीतिक आन्दोलन अपनी बाल्यावस्था में था, बनर्जी ने अपने कार्यों एवं भाषणों से आन्दोलन को नया मार्ग दिखाया। भारत में कांग्रेस की सफलता उनके द्वारा किये गये प्रयासों का ही प्रतिफल थी। वे अन्याय का प्रतिकार करने वाले अजेय योद्धा थे। वे वास्तव में "सरेन्डर नोट बनर्जी" ही थे। यदि उनके द्वारा किये गये अन्य कार्यों को कुछ समय के लिए विस्मृत कर भी दिया जाये, तब भी उनका अप्रैल 1890 में आक्सफोर्ड यूनियन डिबेट[39] में दिया गया भाषण सदैव याद रखा जायेगा। इंग्लैण्ड में किसी भारतीय द्वारा ऐसा प्रखर एवं ओजस्वी वक्तव्य पहले नहीं दिया गया था। बनर्जी ने इस तर्क का कि अंग्रेजों के भारत-आगमन के पहले भारतीय बर्बर अथवा अर्द्ध-बर्बर थे—उत्तर देते हुए कहा कि "भारत के हिन्दू एक महान् एवं प्राचीनतम प्रजाति के हैं। ऐसे समय में जब कि अत्यधिक चेतन यूरोपीय राष्ट्रों के पूर्वज वनों एवं खोहड़ों में भटकते थे, हमारे

पूर्वजों ने महान् साम्राज्यों की स्थापना की, वैभवशाली नगर बसाये, और नीतिशास्त्र, धर्म तथा एक ऐसी महान् भाषा का विकास किया जो कि आज भी सभ्य विश्व द्वारा प्रशंसित है। स्व-शासित संस्थाएं आर्यसभ्यता की मुख्य विशेषता थी। स्वयं सर हेनरी मेन ने कहा है कि स्व-शासित संस्थाओं का सर्वप्रथम उदाहरण भारत के प्राच्य आलेखों से मिलता है। भारत के ग्रामीण समुदाय उतने ही प्राचीन हैं जितने पर्वत। अत भारत में स्व-शासित संस्थाओं की मांग भारत के बौद्धिक एवं वैचारिक स्तर के अनुरूप है।"[40] बनर्जी के ये उद्गार उनकी देशभक्ति तथा देशाभिमान के शाश्वत प्रतीक माने जाते रहेंगे। निस्संदेह "बनर्जी के बिना भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन की कल्पना असम्भव है।"[41]

□□

टिप्पणियाँ

1. सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, ए नेशन इन मेकिंग (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, रिप्रिंट, 1963) पृ 25-31
2. वही, पृ 39
3. वही, पृ. 35
4. वही, पृ 41
5. वही, पृ 50
6. वही, पृ 69-73
7. वही, पृ. 174 175
8. वही, पृ 238
9. वही, पृ 278
10. वही, पृ 107-108
11. एस के बोस, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, (पब्लिकेशन्स डिवीजन, इण्डिया, नई दिल्ली, रिप्रिंट, 1974), पृ. 173
12. डैनियल आरगोव, मॉडरेट्स एण्ड एक्सट्रीमिस्ट्स इन दी इण्डियन नेशनलिस्ट मूवमेंट, 1883-1920, (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1967) पृ. 1
13. नटेसन, बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी : दी मेन एण्ड हिज मिशन, (मद्रास 1917), पृ 19
14. ए नेशन इन मेकिंग, पृ 19
15. वही, पृ. 178
16. बनर्जी द्वारा दादाभाई नौरोजी पर दिया गया व्याख्यान, आर. के. प्रभु, एन एन्थोलोजी ऑफ मॉडर्न इण्डियन एलोक्वेन्स, (विद्याभवन, बम्बई, 1960) पृ 29
17. देखिये बोस, पृ 180
18. स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ ऑनरेबल सुरेन्द्रनाथ बनर्जी सेलेक्टेड बाई हिमसेल्फ, (नटेसन, मद्रास, 1920), पृ 119
19. वही पृ. 373
20. बोस, पृ 177
21. वही, पृ. 196-197
22. वही, पृ 198
23. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन (1916) में स्व शासन पर दिए गए भाषण से उद्धृत।

देखिये ए. अप्पादोराय, डोक्यूमेंट्स ऑन पोलोटिकल थॉट इन मोडर्न इण्डिया (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, 1973) पृ. 151-152

24 वही, पृ 153
25. वही, पृ. 153-154
26 वही, पृ. 154
27 ए नेशन इन मेकिंग, पृ 8, देखिये बोस, पृ 181
28 वही, पृ 93
29 वही, पृ 183
30 वही, पृ 366-368
31 देखिये बोस, पृ 185
32. वही
33 वही, पृ 187
34 वही, पृ 188-189
35 वही, पृ 189
36 वही
37 वही, पृ 195
38 वही, पृ 196
39 ए नेशन इन मेकिंग, पृ. 106-108
40. वही, पृ 107
41 दी इण्डियन नेशन बिल्डर्स, (मद्रास, 1921) पृ 56

□□

अध्याय **11**

गोपाल कृष्ण गोखले (1866-1915)

गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म 9 मई, 1866 में महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले में हुआ। गोखले का पारिवारिक जीवन धर्म-प्रधान था। जीवन के प्रारम्भिक दस वर्षों तक वे गाँव में रहे और वहीं उनकी शिक्षा हुई। जब वे 13 वर्ष के थे उनके पिता की मृत्यु हो गई और उन्हें परिवार के साथ दूसरे गाँव में जाना पड़ा जहाँ उनके बड़े भाई नौकरी करते थे। वे कोल्हापुर में हाई स्कूल परीक्षा के लिए अध्ययन करने गये। पिता की मृत्यु के बाद उनके बड़े भाई ने ही उनका पालन पोषण किया किन्तु उन्हें इतना कम वेतन मिलता था कि वे गोखले पर अधिक व्यय नहीं कर सकते थे। गोखले ने अपना प्रारम्भिक जीवन अत्यधिक आर्थिक कठिनाइयों में गुजारा।[1] पढ़ाई के दिनों में रोशनी का प्रबन्ध न कर पाने के कारण वे सड़क की बत्ती के नीचे बैठ कर अपना अध्ययन करते थे। 1881 में मैट्रिक-परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद गोखले ने कोल्हापुर के राजाराम कॉलिज, पूना के दक्षिण कॉलेज तथा बम्बई के एल्फिन्स्टन कॉलिज में विद्याभ्यास किया और बम्बई से 1884 में स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की। गोखले गणित विषय में विशेष योग्यता रखते थे। साथ साथ उन्हें अंग्रेजी साहित्य से अधिक लगाव था। उन्होंने एडमण्ड बर्क की रिफ्लैक्शन्स ऑन दी फ्रेंच रिवोल्यूशन पुस्तक कण्ठस्थ कर ली थी। बर्क अपने समय के माने हुए वक्ता थे और भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे अंग्रेजी रूढ़िवाद के प्रमुख विचारक भी थे। गोखले ने बर्क से केवल भाषण कला की प्रेरणा ही नहीं प्राप्त की अपितु बर्क के रूढ़िवाद को भी अपने विचारों में अपनाया। गोखले का उदारवादी चिन्तन तथा उनके क्रान्ति-विरोधी विचारों का सूत्र बर्क के विचारों से जुड़ा हुआ है।

गोखले ने अपना जीवन एक शिक्षक के रूप में आरम्भ किया। वे डेक्कन एजुकेशनल सोसायटी के आजीवन सदस्य बन गये। अत्यन्त अल्प वेतन पर लगातार 20 वर्षों तक उन्होंने इसकी सेवा की। पार्थिव वैभव तथा जीवन का सुख उन्होंने स्वयं ठुकराया था क्योंकि समाज की सेवा ही उन्हें जीवन का लक्ष्य दिखलाई देती थी। 1902 में वे सोसायटी से सेवा मुक्त हुए और इसके साथ ही उनके जीवन का दूसरा पक्ष प्रारम्भ हुआ। गोखले को फर्गुसन कालेज, पूना में नियुक्त किया गया। वहीं उनकी महादेव गोविन्द रानाडे से भेंट हुई। गोखले रानाडे से अत्यधिक प्रभावित थे। रानाडे के मार्ग दर्शन में गोखले ने अपना सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ किया। वे रानाडे को अपना "राजनीतिक गुरु" मानते थे। रानाडे के संरक्षण में गोखले ने संवैधानिक कार्य प्रणालियों को सीखा तथा सार्वजनिक कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हुए।[2] रानाडे ने उन्हें शासन के प्रति प्रार्थनाओं तथा अभियोगों का कार्यभार सौंपा जिसमें सार्वजनिक हितों को प्राप्त करने की मांग हुआ

करती थी। इस कठोर कार्य ने गोखले को भावी विधायी कार्यों को दक्षता से निभाने का प्रशिक्षण दिया।[3] वे पूना की सार्वजनिक सभा के सचिव बने। फर्गुसन कॉलेज के विस्तार के लिए धन एकत्रित करने के लिए उन्हें महाराष्ट्र का दौरा करना पड़ता था। इसलिए वे कई व्यक्तियों के सम्पर्क में आये। वे तिलक तथा आगरकर के सम्पर्क में फर्गुसन कॉलेज में ही एक सहधर्मी के रूप में आये। वे तिलक को अत्यधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे परन्तु उनके विचारों से सहमत नहीं थे।[4] वे आगरकर से ज्यादा प्रभावित थे और आगरकर द्वारा प्रकाशित सुधारक साप्ताहिक में लेख लिखा करते थे। आगरकर के विचार तिलक-विरोधी थे। आगरकर तथा तिलक के पारस्परिक वैचारिक भेद एवं मनोमालिन्य के कारण महाराष्ट्र में दो निश्चित गुट बन गये। आगरकर, रानाडे तथा गोखले एक गुट में थे तथा दूसरे में तिलक तथा उनके सहयोगी थे। तिलक मराठा एवं केसरी के माध्यम से अपने विचार प्रकट करते थे। उनकी शक्ति तथा प्रभाव में निरन्तर वृद्धि होती गई और 1896 में तिलक ने पूना की सार्वजनिक सभा पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया। गोखले ने सार्वजनिक सभा से त्यागपत्र दे दिया। रानाडे के सहयोग एवं मार्गदर्शन से गोखले ने डेक्कन सभा की स्थापना की।

गोखले ने विधायक के रूप में सार्वजनिक प्रश्नों पर जो विचार व्यक्त किये वे उनकी विलक्षणता, चातुर्य एवं अगाध ज्ञान के परिचायक हैं। वे सर्वप्रथम बम्बई विधायी परिषद् के सदस्य चुने गये। उन्होंने सरकार की भू-राजस्व सम्बन्धी नीति की आलोचना की और भूमि हस्तान्तरण विधेयक को सरकारी बहुमत से पारित किये जाने के विरोध में अन्य चुने हुए सदस्यों के साथ परिषद् से बहिर्गमन किया। बम्बई के शासन ने गोखले के विरोध का महत्त्व पहचाना तथा विधेयक को पारित करने के बाद उसको प्रभावी नहीं किया। जिला नगरपालिका अधिनियम में संशोधन के प्रस्ताव का भी गोखले ने विरोध किया और उसकी कमियों को दूर करने के सुझाव दिये। 1902 में गोखले सर्वोच्च विधायी परिषद् के सदस्य निर्वाचित हुए। वे वायसराय की विधायी परिषद् के सदस्य मनोनीत किये गये। परिषद् की सदस्यता का कार्य उनके जीवन के अन्तिम दिनों तक चला। अनेक देशव्यापी हितों एवं समस्याओं पर गोखले ने अपने विचारों से भारत में ब्रिटिश शासन का मार्ग दर्शन किया। बजट पर हुई बहसों के दौरान उनके भाषणों का विशेष महत्त्व माना जाता रहा है। उन्हें न केवल सदस्यों द्वारा अपितु शासकों द्वारा भी ध्यान से सुना जाता था और उनके विचारों तथा सुझावों पर निश्चित शासकीय प्रतिक्रिया भी होती थी।[5] लॉर्ड कर्जन के प्रतिक्रियावादी सुधारों का गोखले ने पूरा पूरा विरोध किया। उनके विरोध के बावजूद, भारतीय विश्वविद्यालय-अधिनियम, प्रेस-अधिनियम तथा शासकीय गोपनीयता-अधिनियम बने किन्तु लॉर्ड कर्जन ने भी गोखले की विधायी प्रतिभा की मुक्तकंठ से प्रशंसा की और उन्हें सी०आई०ई० का खिताब दिया।[6] गोखले की सफलता का रहस्य उनकी भाषणशैली, तथ्यों का चयन, मृदुभाषिता एवं विचारों की सौम्यता थी।

भारत की आर्थिक स्थिति तथा इंग्लैण्ड तथा भारत के आर्थिक सम्बन्धों की जाँच पड़ताल के लिए इंग्लैण्ड में नियुक्त वेल्बी कमीशन के सम्मुख गोखले ने लगातार दो दिन तक अपना वक्तव्य दिया। अपने वक्तव्य में गोखले ने भारत की गिरती हुई आर्थिक स्थिति

के लिए भारत सरकार द्वारा किये गये अत्यधिक धन के अपव्यय को उत्तरदायी ठहराया। गोखले का अर्थशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान गहन था। वे भारतीयों के द्वारा राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण रखे जाने के पक्ष में थे। वे प्रशासनिक सेवाओं के भारतीयकरण के पक्ष में थे। अपनी इंग्लैण्ड यात्रा के दौरान गोखले ने अनेक सार्वजनिक सभाओं को सम्बोधित किया। वे लार्ड मोर्ले से भी मिले और उनके विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुए। इंग्लैण्ड में प्रवास करते हुए गोखले को पूना के पत्रकारों द्वारा यह सूचना प्राप्त हुई कि बम्बई प्रशासन ने प्लेग को रोकथाम के लिए जो कदम उठाये थे उनके द्वारा जनमत उद्वेलित हो उठा था। पूना में दो अंग्रेज अधिकारियों की हत्या से यह स्पष्ट था कि प्लेग की रोकथाम करने वाले अधिकारियों के प्रति जनता में घृणा एवं अविश्वास फैल रहा था।[7] इस बीच गोखले को यह सूचना मिली कि प्लेग की रोकथाम के दौरान गोरे सिपाहियों ने महिलाओं का शील भंग किया जिससे उन महिलाओं ने आत्महत्या करली। गोखले का यह वक्तव्य इंग्लैण्ड के एक प्रमुख अंग्रेजी पत्र में छपा तथा ब्रिटिश संसद में इस पर प्रश्नों की बौछार शुरू हुई। किन्तु बम्बई की सरकार ने इस समाचार को असत्य बतलाया। भारत लौटने पर जब गोखले को उस समाचार की छानबीन कर उसके निराधार होने का पता लगा तो उन्होंने तुरन्त बम्बई के गवर्नर से लिखित क्षमायाचना की। इस क्षमायाचना की घटना ने गोखले के विरोधियों को उनकी आलोचना करने का अवसर प्रदान किया और उन्हें भीरु, अपरिपक्व एवं राष्ट्रविरोधी तक कहा गया। किन्तु गोखले ने क्षमायाचना से अपनी स्पष्टवादिता एवं सत्यनिष्ठा का अद्भुत परिचय दिया।[8] सार्वजनिक जीवन में सच्चाई तथा निर्भीकता का यह अनुकरणीय उदाहरण बन गया।[9]

गोखले ने 1905 में सर्वेन्ट्स ऑफ इन्डिया सोसायटी की स्थापना कर देशसेवा के निमित्त सर्वस्व अर्पण कर देने वाले देशभक्तों का नवीन संगठन प्रस्तुत किया। वे राजनीतिक सन्यासियों की ऐसी टोली तैयार करने में लग गये जो राष्ट्र-निर्माण के कार्य में समुचित योगदान दे सके। गोखले ने इस संस्था के माध्यम से अपने विचारों को मूर्तरूप दिया। इस संगठन के उद्देश्य भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन की प्राप्ति, भारत तथा ब्रिटेन के सम्बन्धों की अनिवार्यता, भारत में ब्रिटिश शासन को विधाता के वरदान रूप में स्वीकारोक्ति आदि थे। वे भारत के राजनीतिक तथा सार्वजनिक जीवन में ऐसे कार्यकर्ताओं को दक्ष करना चाहते थे जो धर्मनिष्ठ होकर जन सेवा का कार्य कर सकें। वे सदस्यों को स्वार्थरहित हो प्रेम एवं सद्भाव का वातावरण बनाने की प्रेरणा देते थे।[10] जनता के राजनीतिक शिक्षण, विभिन्न समुदायों में प्रेम एवं सहिष्णुता, स्त्रियों तथा दलितों की शिक्षा के विस्तार के साथ-साथ वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शिक्षा का प्रचार, भारत के औद्योगिक विकास के लिए प्रयत्न तथा संवैधानिक पद्धति से राष्ट्रीय हितों का संरक्षण आदि सोसायटी के प्रमुख कार्य थे। गोखले ने सोसायटी की सदस्यता प्राप्त करने वालों के लिए कठोर अनुशासनात्मक प्रतिज्ञा के अनुरूप जीवन जीने का नियम निर्धारित किया।[11] अत्यधिक अल्प भत्ते पर अपने तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करने वाले सच्चरित्र, उद्यमी एवं संयमशील व्यक्तियों को गोखले ने इस कार्य के लिए चुना। गोखले के पश्चात् सर्वेन्ट्स ऑफ इन्डिया सोसायटी का कार्यभार श्रीनिवासशास्त्री ने सभाला। भारत की सच्ची सेवा करने वाले अनेक मनीषियों का प्रशिक्षण यह अनुष्ठान इस संस्था

के माध्यम से हुआ।

कांग्रेस के प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य के रूप में गोखले ने लाला लाजपतराय के साथ 1905 में इंग्लैण्ड की पुनः यात्रा की। लगातार पचास दिनों तक ब्रिटेन की जनता को भारतीय हितों से अवगत कराने का यह कार्यक्रम चला। वहाँ से लौटने पर गोखले ने कांग्रेस के बनारस-अधिवेशन (1906) की अध्यक्षता की।

गोखले पुनः इंग्लैण्ड गये और भारत सचिव लार्ड मौर्ले से उन्होंने भारत में संवैधानिक सुधारों की प्रक्रिया को चलाये रखने की माँग की। गोखले ने भारत में प्रशासनिक सुधारों पर विचार करने के लिए नियुक्त हॉबहाउस कमीशन (1908) के समक्ष उपस्थित होकर अपना साक्ष्य दिया और प्रशासन में विकेन्द्रीकरण के लिए अनेक सुझाव दिये। गोखले संवैधानिक कार्यक्रम में विश्वास करते थे। उनकी नीति प्रार्थना एवं याचना की थी। वे भारत में अंग्रेजीराज के बने रहने में विधाता का हाथ मानते थे। अंग्रेजों का शासन वरदान रूप में मानते हुए गोखले ने तिलक लाजपतराय विपिनचन्द्रपाल के निष्क्रिय प्रतिरोध एवं स्वराज्य के कार्यक्रम को उचित नहीं माना। गोखले का उदारवाद 1905 के बंगाल-विभाजन के कारण आलोचना का विषय बना। पुनः 1907 की सूरत कांग्रेस में उदारवादियों तथा उग्रवादियों के संघर्ष ने कुछ समय के लिए उग्रवादियों की लोकप्रियता में वृद्धि अवश्य की किन्तु 1908 में सरकार के दमनचक्र ने उग्रवादियों की लोकप्रियता को क्षीण कर दिया। गोखले ने कांग्रेस में उदारवादियों के एकाधिपत्य का मार्ग प्रशस्त किया। गोखले के अथक प्रयत्नों से लार्ड मोर्ले द्वारा सुधारों को क्रियान्वित करने का कार्य शीघ्रता से प्रारम्भ हुआ। गोखले चाहते थे कि कांग्रेस में पुनः उग्रवादियों के प्रभाव को रोकने तथा राजनीति में हिंसा के बढ़ते हुए प्रभाव को समाप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार को भारत के उदारवादियों के हाथ मजबूत करने चाहिए। इसी दृष्टि से मिंटो-मोर्ले सुधारों की घोषणा हुई। किन्तु मिंटो-मोर्ले सुधार (1909) गोखले के विचारों के अनुकूल न थे। प्रेस की स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण, गोखले के प्रारम्भिक शिक्षा विधेयक की अस्वीकृति, नाटाल में बसे भारतीय श्रमिकों की स्थिति के प्रति उदासीनता आदि ऐसे प्रश्न थे जिनके कारण गोखले को इन सुधारों से निराशा ही हुई। सुधारों की नवीन योजना के साथ गोखले 1912 में पुनः इंग्लैण्ड गये। किन्तु उन्हें निराशा ही हाथ लगी। उनका शिक्षा सम्बन्धी विधेयक ब्रिटिश सरकार का समर्थन नहीं प्राप्त कर सका। ब्रिटिश सरकार ने गोखले की सेवाओं से प्रसन्न होकर उन्हें लार्ड इजलिंगटन की अध्यक्षता में नियुक्त पब्लिक सर्विसेज कमीशन का सदस्य मनोनीत किया। गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण गोखले इस कार्य को पूरा न कर पाये। वे 1912 में पुनः भारत लौट आये। इंग्लैण्ड से लौटते समय गोखले दक्षिण अफ्रीका गये और वहाँ गांधीजी के नेतृत्व में चल रहे आन्दोलन का समर्थन करते हुए दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार से उन्होंने मन्त्रणा की। गोखले ने दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार द्वारा भारतीय श्रमिकों के प्रति अपनाये गये भेदभावपूर्ण एवं बर्बर व्यवहार की समय-समय पर भारतीय विधायी परिषद् के समक्ष आलोचना प्रस्तुत की। गांधीजी के निमन्त्रण पर अपनी दक्षिणी अफ्रीका की यात्रा के दौरान गोखले को भारत सरकार का पूरा समर्थन प्राप्त हुआ। दक्षिणी अफ्रीका की गोरी सरकार ने गोखले के सुझावों पर गौर किया और प्रवासी भारतीयों की समस्या का समाधान स्वीकार

किया। उनके सद्-प्रयत्नों से दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों पर लगाये गये पंजीयन नियम एवं विशेष कर को सरकार ने समाप्त करने का आश्वासन दिया।[12] गोखले इजलिंगटन कमीशन की बैठक में भाग लेने के लिए पुनः 1913 में इंग्लैण्ड गये किन्तु उनका स्वास्थ्य निरन्तर गिरता गया। वे कमीशन का कार्य पूरा नहीं कर पाये और पुनः भारत लौट आये। जीवन के अन्तिम दिनों में पूना में ही रहे। बम्बई के गवर्नर लार्ड वेलिंगडन ने उन्हें भारत में भावी सुधारों की रूपरेखा तथा भारतीयों को सन्तुष्ट करने वाली न्यूनतम सुधारों की योजना का सुझाव देने का आग्रह किया।[13] किन्तु गोखले इतने अस्वस्थ थे कि वे पूना से बम्बई नहीं जा सकते थे। उनके आग्रह पर फिरोजशाह मेहता तथा आगाखाँ पूना पहुंचे और वहां गोखले ने अपना अन्तिम राजनीतिक वक्तव्य दिया जिसे "गोखले का राजनीतिक वसीयतनामा" कह कर पुकारा जाता है। इसमें गोखले ने भारत में प्रांतीय स्वायत्तता देने की पुरजोर सिफारिश की और अनेक ऐसे सुझाव प्रस्तुत किये जो आगे जाकर मोंटेग-चेम्सफर्ड सुधारों की योजना के प्रारूप बने। गोखले की यह अंतिम राजनीतिक प्रवृत्ति उनकी उदारवादी नीति तथा संवैधानिक पद्धति के अनुसरण की चरम परिणति थी। इन सुधारों का प्रारूप तैयार करने के दो दिनों पश्चात् ही गोखले ने फरवरी 19, 1915 को शरीर त्याग दिया।

गोखले के राजनीतिक विचार

गोखले के राजनीतिक विचारों पर उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवादी विचारों की स्पष्ट छाप मिलती है। गोखले ने भारतीय राष्ट्रीय जीवन में उदारवाद का प्रसार किया और जनजीवन को उदारवादी विचार-धारा के प्रति आकर्षित किया। गोखले अपने गुरु महादेव गोविन्द रानाडे के सदृश यह मानते थे कि भारत में अंग्रेजों का शासन विधाता की इच्छानुसार हुआ और वह भारतीयों की भलाई के लिए स्थापित किया गया था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि भारत में अंग्रेजी शासन भारतीय जनता को स्वशासन की ओर प्रवृत्त करेगा और कालांतर में भारतीय स्वयं अपना प्रशासन चलाने के योग्य हो जायेंगे। उदारवादी विचारधारा से ओत-प्रोत होने के कारण गोखले ने भारत में संविधानवाद का सहारा लिया। उनके अनुसार क्रमिक संवैधानिक विकास का मार्ग अपनाकर भारत अपनी राजनीतिक प्रगति कर सकता था। भारत को इंग्लैण्ड के मार्ग-दर्शन में रहकर अपनी राजनीतिक उन्नति करनी थी। वे भारत में पाश्चात्य शिक्षा एवं यूरोप सदृश राजनीतिक संस्थाओं का व्यापक प्रयोग करना चाहते थे। इस कार्य के लिए वे इंग्लैण्ड तथा भारत के मध्य मधुर सम्बन्धों की स्थापना करना चाहते थे ताकि भारत ब्रिटिश प्रशासन के अन्तर्गत प्रतिनिधि शासन-व्यवस्था स्थापित कर सके। गोखले के अनुसार भारत की जनता नैतिक उत्तरदायित्व की भावना के कारण अंग्रेजी शासन से बंधी थी। उनके अनुसार अंग्रेज भारत की सत्ता को नैतिक न्यास के रूप में रखे हुए थे।[14]

गोखले क्रमिक विकास के पक्षधर थे और भारत की प्रगति के प्रत्येक चरण को सोच समझकर आगे बढ़ाना चाहते थे। वे भारतीयों के राजनीतिक विशेषाधिकारों की पूर्ति के इच्छुक होते हुए भी यह जानते थे कि अंग्रेज इतनी आसानी और शीघ्रता से राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करेंगे। यही कारण था कि वे क्रमिक विकास पर बल

रहे थे। एक यथार्थवादी चिन्तक के रूप में वे वही करना चाहते थे जो सम्भव था। असम्भव को सम्भव बनाने की कठिनता को वे भलीभांति जानते थे। उनमें देश-प्रेम तथा उत्साह की कमी न थी किन्तु उनकी दृष्टि में देश की परिस्थिति ऐसी न थी कि वे अधिक उग्र विचार अथवा कार्यक्रम अपनाते।

यह गोखले का राजनीतिक यथार्थ ही था कि वे संवैधानिक आंदोलन द्वारा देश में आवश्यक एवं अनुकूल परिवर्तन लाना चाहते थे। एक ओर वे प्रार्थना, स्मरणपत्र, प्रतिनिधिमण्डल, बातचीत एवं शासन की रचनात्मक आलोचना का मार्ग अपना रहे थे तो दूसरी ओर उनके आन्दोलन में विद्रोह, हिंसा, क्रांति अथवा उग्र आन्दोलन का नितान्त अभाव था। वे अंग्रेजों को दबाव एवं भय दिखाकर उनसे राजनीतिक सुधारों की मांग नहीं करना चाहते थे। उनका उद्देश्य नैतिक अनुनय-विनय का था। वे शासन से सम्बन्ध विच्छेद कर, स्वतंत्र रूप से राजनीतिक लक्ष्य की प्राप्ति के कार्य को अस्वीकार करते थे।[15] वे शासन में सुधारों की मांग प्रस्तुत करना चाहते थे ताकि भारतीयों के साथ भेदभाव की नीति का प्रयोग कम से कम हो सके। ब्रिटिश नौकरशाही के उज्ज्वल पक्ष की प्रशंसा करने के साथ-साथ गोखले ने उसकी त्रुटियों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। ब्रिटिश प्रशासन ने दक्षता को मापदण्ड मानकर अच्छे प्रशासनिक प्रबन्ध का ही अपना अन्तिम लक्ष्य मान लिया था। गोखले इसे उचित नहीं मानते थे। उनके अनुसार भारत में अंग्रेजीराज का केवल यही उद्देश्य नहीं था। उनका मूल उद्देश्य, जिसके प्रति वे वचनबद्ध होने चाहिए थे, भारतीयों को पाश्चात्य उच्चस्तरीय स्वशासन के योग्य बनाना था। इस वचन को पूरा न करने की नीति अंग्रेजी शासन की विफलता का द्योतक थी। दक्षता का सामान्य स्तर भारतीय प्रशासन ने प्राप्त कर लिया था। इससे अधिक दक्षता की प्राप्ति केवल स्वशासन के अन्तर्गत ही हो सकती थी। उसे नौकरशाही की व्यवस्था से प्राप्त नहीं किया जा सकता था। गोखले ने ब्रिटिश नौकरशाही की तीन प्रमुख कमियां बतलाईं। प्रथम, सरकार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो जनता के हितों का प्रतीक होता। द्वितीय, शासन में पूर्ण केन्द्रीकरण के कारण सभी महत्वपूर्ण प्रस्ताव केन्द्र द्वारा प्रस्तुत किये जाते थे। तृतीय, केन्द्र में ऐसे व्यक्ति भरे हुए थे जो कि पांच वर्ष तक वहां रह कर पुनः लौट आते थे।

गोखले ने बहिष्कार की राजनीति का विरोध किया। शासन से असहयोग कर देश की उन्नति का मार्ग निर्मित करना उन्हें असम्भव सा प्रतीत होता था। औद्योगिक बहिष्कार की नीति से स्वदेशी का थोड़ा बहुत लाभ हो जाय किन्तु इसे स्थायी नीति के रूप में स्वीकार करने का यह अर्थ होगा कि दूसरों को हानि पहुँचाई जाय चाहे स्वयं को उससे कितनी भी हानि क्यों न हो। उनकी यह धारणा थी कि आर्थिक बहिष्कार की नीति द्वारा विदेशी राजनीतिक नियन्त्रण की मात्रा में कमी नहीं आ सकती। इसी प्रकार स्कूलों तथा कॉलेजों के बहिष्कार का कार्य भी राष्ट्रीय शिक्षा की वृद्धि के स्थान पर उसकी प्रगति को धीमा करेगा। सरकारी नौकरियों के बहिष्कार के संदर्भ में गोखले का यह विचार था कि नौकरियों का बहिष्कार तब सफल हो सकता था जबकि सरकारी काम के लिए एक भी व्यक्ति अपने आपको प्रस्तुत न करे। जहां शिक्षित बेकारों की इतनी बड़ी संख्या हो वहां नौकरियों का बहिष्कार सफल नहीं हो सकता था। विधान-परिषदों तथा

नगरपालिकाओं के सदस्यों द्वारा त्यागपत्र देकर बहिष्कार का मार्ग अपनाना भी उचित नहीं माना गया। गोखले के अनुसार अनेक ऐसे व्यक्ति थे जो नये चुनाव होने पर सदस्यता के लिए लालायित थे। गोखले ने सार्वजनिक जीवन के उत्तरदायित्वों को त्यागने का कार्यक्रम स्वीकार नहीं किया। उनका यह सुझाव था कि यदि निष्क्रिय प्रतिरोध के समर्थक राजनीतिक कार्यक्रम चलाना ही चाहते हैं तो उन्हें पूर्ण बहिष्कार के स्थान पर कर न देने का आन्दोलन चलाना चाहिए। कर न देने का आन्दोलन प्रत्येक आन्दोलनकारी को उसके कार्य के लिए उत्तरदायी बनाता है और इससे यह भी ज्ञात हो सकता है कि आन्दोलनकारियों के सच्चे समर्थक कितने हैं। गोखले के विचार से स्वराज्य-प्राप्ति के लिए इससे बढ़ कर निष्क्रिय प्रतिरोध का और कोई उपाय नहीं।[16]

उनके अनुसार ब्रिटिश शासन के लिए भारत की तीस करोड़ जनता को प्रभावित करने वाली समस्याओं को समझना आसान नहीं है। न वे उन समस्याओं को सुलझाने की स्थिति में है। जब वे लौट जाते हैं तो उनके स्थान पर नये व्यक्ति लिये जाते हैं और उन्हें भी उसी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। सिविल सर्विस भी शक्तिशाली होने के बावजूद कोई ठोस कदम इसलिए नहीं उठा पाती क्योंकि उसका प्रत्येक सदस्य व्यक्तिगत रूप में इतना महत्वपूर्ण नहीं है। वे जैसे ही सेवामुक्त होते हैं, पेंशन प्राप्त कर पुन इंगलैण्ड लौट जाते हैं। भारत उनके अनुभव का लाभ उठाने से वञ्चित रह जाता है। भारत में शिक्षित समुदाय को शक्ति से वञ्चित रखा गया है। यह शिक्षित वर्ग निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। उनका शासन से दूर रहना उनमें असंतोष बढ़ाता है और यह असंतोष जनमत के रूप में प्रकट होता है। ऐसी स्थिति में भारत में दक्षता की बात करना न्यायोचित नहीं है। भारत की अफसरशाही प्रत्येक कार्य को अपनी शक्ति के संदर्भ में देखती है। वे अपनी शक्ति के एकाधिपत्य की ईर्ष्या के कारण उचित निर्णय नहीं ले पाते। जनहित के स्थान पर उनके स्वार्थ ही सर्वत्र सुरक्षित रखे जाते हैं। भारत में सेना, गृह-विभाग तथा अंग्रेज अधिकारियों पर अनिव्यय राजस्व को निगल जाता है। प्रारम्भिक शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा आदि पर नगण्य राशि व्यय की जाती है। यह भी व्यापक असंतोष का कारण बन गया है। इन परिस्थितियों ने भारत में अंग्रेजी शासन के योगदान को विस्मृत करने के कारण उत्पन्न कर दिये हैं। गोखले ने उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह व्यक्त किया कि भारतीय नस्ल के व्यक्तियों को शासन से वञ्चित न रखा जाय तथा भारत के आर्थिक पराभव को रोकने के उपाय किये जायें। गोखले ने निरन्तर भारत में स्वशासन की स्थापना को ही उपर्युक्त समस्याओं का एक मात्र समाधान माना।[17]

गोखले भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठावान थे। उनकी शासन के प्रति स्वामि-भक्ति देशप्रेम का ही पर्यायवाची थी। वे इस कारण से अंग्रेजीराज के प्रति निष्ठावान नहीं थे कि वह विदेशी शासन था अपितु इस कारण से निष्ठा रखते थे कि वह व्यवस्थित शासन था। गोखले अव्यवस्था अथवा अराजकता के विरोधी थे। वे शासन को हानि अथवा शासन को कमजोर बनाने वाले किसी भी कार्य के लिए सहमत नहीं थे। वे स्वामिभक्ति से वशीभूत होकर शासन की सदैव रक्षा तथा सहायता करने के पक्षपाती थे। सरकारी अफसरों के कृपाभाजन बनने की दृष्टि से यह स्वामि-भक्ति प्रदर्शित नहीं की गई थी। उनका वास्तविक उद्देश्य जागृत आत्महित से प्रेरित था। वे ब्रिटिश जनमत

तथा भारत के अंग्रेजी शासन को भारत के विकास का सहभागी मानते थे। अंग्रेजों के सहयोग से भारत में जिस प्रकार से प्रशासन, शिक्षा एवं नागरिक चेतना का संचार हुआ था उसे देखते हुए गोखले शासन के विरुद्ध षड्यन्त्र अथवा असहयोग प्रदर्शित कर शासन को तनिक भी विकृत अथवा दुर्बल करने के पक्ष में नहीं थे।[18]

गोखले की अंग्रेजीराज के प्रति निष्ठा का यह तात्पर्य नहीं था कि वे भारतीय राष्ट्रीय गौरव एवं सम्मान के प्रति चेष्टावान न थे। उन्हें भारत की महानता तथा भारत के उज्जवल भविष्य पर उतना ही गर्व था जितना किसी अन्य को हो सकता था। किन्तु वे भारत के अतीत की दुहाई पर आश्रित रहने वालों में से न थे। उन्हें पुनरुत्थानवादियों से यह शिकायत थी कि वे अतीत को पुन: प्राप्त करने की चेष्टा में वर्तमान को सुधारने तथा नवीन उपलब्धियों के प्रति विमुख रहने का प्रयास कर रहे थे। उनका चिन्तन यथार्थ पर आधारित था। वे भारत में अंग्रेजी शासन के लाभ को विस्मृत कर सुधारों की प्रक्रिया का त्याग पसन्द नहीं करते थे। वे भारत के गौरवशाली अतीत को वर्तमान के कष्टसाध्य प्रयासों द्वारा भविष्य के लिए सुरक्षित रखना चाहते थे। उनका ध्यान वर्तमान तथा निकट भविष्य पर केन्द्रित था। वे भारत के राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं पुनर्जीवन के लिए क्रमिक विकास का सहारा लेना चाहते थे। "एक एक कदम आगे बढ़ना" उनके राजनीतिक यथार्थ का परिचायक था। पूर्ण स्वतन्त्रता अथवा स्वराज्य की तत्काल प्राप्ति के स्थान पर गोखले ने ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन की स्थापना को अपना ध्येय माना। उनके द्वारा विभिन्न सुधारों की मांग समय समय पर प्रस्तुत की गयी और उसके आशातीत परिणाम सामने आये। वे तत्कालिक प्रशासनिक ढांचे को सुधार कर भारत को उसकी महत्ता के अनुरूप स्थिति प्राप्त कराने के लिए उद्यत रहे। भारतीयों के लिए सार्वजनिक सेवाओं में उचित स्थान एवं समान व्यवहार की उनकी मांग का शासन पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। इसके अतिरिक्त भी कई सुधारों की मांग उनके द्वारा प्रस्तुत की गई जिसमें प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण, स्वस्थ वित्तीय नीति, जन-स्वास्थ्य की योजनाएँ, शासन पर अतिरिक्त एवं अनावश्यक खर्च में कटौती, शिक्षा का विस्तार, अकाल एवं महामारियों से सुरक्षा, उचित कृषि-नीति, नौकरशाही में सुधार, दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति का विरोध आदि ने शासन को अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग किया। गोखले सुधारवादी थे और इस कारण से शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के उपासक भी। वे उत्तेजनात्मक भाषणों तथा लेखों द्वारा जन-आन्दोलन प्रेरित कर जनता को शासन के क्रूर अत्याचारों का शिकार बनाना पसन्द नहीं करते थे। हिंसा अथवा बल-प्रयोग उनके चिन्तन का अंग नहीं बन पाया था। हिंसा से उत्पन्न प्रतिहिंसा, घृणा, विद्वेष तथा नरसंहार भारत की समस्याओं का स्थायी हल नहीं था। वे अंग्रेजों को उनकी न्यायप्रियता, संवैधानिकता एवं मानव-स्वतन्त्रता की उदारवादी परम्पराओं के अनुरूप व्यवहार करने का आग्रह कर भारत की समस्याओं का शान्तिपूर्ण निराकरण चाहते थे।[19]

गोखले की नैतिक एवं आध्यात्मिक आत्मचेतना उनके राजनीतिक विचारों की मूल प्रेरणा थी। उनका व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन समान रूप से नैतिक मापदण्डों पर आधारित रहा। राजनीति में नैतिकता को सर्वोपरि मानते हुए गोखले ने साधन तथा साध्य

की एकरूपता पर बल दिया। साधन की पवित्रता साध्य को भी पवित्र बना देती है। गोखले ने साधन-साध्य की नैतिकता के आधार को प्रस्तुत कर गांधीजी के लिए नया मार्ग प्रशस्त किया। गोखले भारत में उच्च नैतिक चरित्र के निर्माण तथा साधनों की महत्ता को साध्य से भी अधिक महत्त्व देने वाले विचारकों में से एक थे। स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रोन्नति से प्रेरित हो हर प्रकार के साधनों का प्रयोग उन्हें रुचिकर नहीं लगता था। उनका जीवन ऐसी घटनाओं से परिपूर्ण था जिसमें सत्य तथा नैतिक दायित्व की पूर्ति के लिए गोखले ने अपने राजनीतिक नेतृत्व तक की चिन्ता नहीं की। वे राजनीति में उन तत्त्वों के प्रेरक थे जिनके बिना राजनीति में आसुरी तत्त्वों की भरमार हो जाती है। उनका राजनीतिक उद्देश्य सत्ता तथा शक्ति प्राप्त करने का न होकर सेवाधर्म निभाने का था। सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी की स्थापना का उद्देश्य भी यही था। राजनीति को आध्यात्मिक मूल्यों से अभिभूत करने का उनका प्रयास इन्हीं कारणों से प्रेरित था।[20] उनकी दृष्टि में स्वतन्त्रता अथवा स्वराज्य का उतना महत्त्व नहीं था जितना भारतीयों में चारित्रिक मनोबल के उन्नयन का था। नैतिक मूल्यों का समुचित निर्वाह कर भारत स्वतः स्वराज्य की ओर बढ़ सकता था।

गोखले के राजनीतिक विचारों का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक उनके द्वारा भारत की राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्थिति को सुधारने सम्बन्धी उनके प्रमुख सुझावों पर दृष्टिपात न कर लिया जाय। गोखले ने शासन के विकेन्द्रीकरण की सम्भावनाओं का पता लगाने वाले हॉबहाउस कमीशन (1908)[21] के समक्ष अपने साक्ष्य में यह व्यक्त किया कि उच्च प्रशासनिक स्तर पर सत्ता का केन्द्रीकरण समाप्त होना चाहिए। प्रशासनिक सेवाओं की मनमानी रोक कर जनता को शासन से सम्बन्धित करने के लिए गोखले ने लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का सुझाव प्रस्तुत किया था। वे प्रान्तीय मामलों में प्रशासन पर जनता का उचित नियन्त्रण चाहते थे। उन्होंने तीन प्रमुख प्रशासनिक आवश्यकताओं पर बल दिया। प्रथम, सभी महत्त्वपूर्ण प्रान्तों में इंग्लैण्ड द्वारा मनोनीत गवर्नर नियुक्त किये जायें तथा उनकी सहायता के लिए ऐसी कार्यकारी परिषद् नियुक्त की जाय जिसके तीन या चार सदस्य हों। द्वितीय, प्रान्तीय विधायी परिषद् का विस्तार कर उसे अधिक से अधिक प्रतिनिधि मूलक बनाया जाय। सदस्यों को बजट पर विचार-विमर्श करने तथा संशोधन प्रस्तुत करने का अधिकार होना चाहिए। तृतीय, निर्वाचित सदस्यों की माँग पर परिषद् का विशेष अधिवेशन बुलाये जाने की व्यवस्था की जाय। इसके अलावा गोखले ने वित्तीय क्षेत्र में साम्राज्यीय एवं प्रान्तीय प्रश्नों को स्पष्ट करने तथा दोनों में आय-व्यय का समावेश करने का सुझाव दिया था। प्रान्तीय सरकारों को स्वतन्त्रता से राजस्व एकत्रित करने का अधिकार भी उन्होंने सुझाया। ऋण की व्यवस्था करने का दायित्व केवल केन्द्र पर छोड़ दिया और सामरिक प्रशासन पर भी केन्द्र का नियन्त्रण स्वीकार किया। किन्तु वे स्थानीय स्वशासन को बाह्य नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप से मुक्त रखना चाहते थे। वे केन्द्रीय सरकार का प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, मुद्रा, आबकारी, डाक-तार, रेल तथा कर एवं व्यवस्थापन का अधिकार सौंपकर अन्य विभागों का दायित्व प्रान्तीय सरकारों को सौंपने के पक्ष में थे। जिला स्तर पर गोखले ने प्रशासन में जन-प्रतिनिधियों को संयुक्त करने का सुझाव दिया। वे जिलाधीश की सर्वोच्च स्थिति के

आलोचक थे। जिलाधीश की सहायता के लिए जिलापरिषदों का निर्माण उन्होंने सुझाया। वे स्थानीय स्वशासन को पूर्ण स्वायत्तता देने के पक्ष में थे ताकि उनके कार्यों में प्रशासनिक तथा वित्तीय हस्तक्षेप न किया जाय। गोखले भारत में पंचायती राज-व्यवस्था की पुनः स्थापना के पक्ष में थे। वे पंचायतों को स्थानीय प्रशासन एवं साधारण न्यायिक कार्य सौंपना चाहते थे ताकि स्थानीय स्वायत्तता का बोध हो सके। पंचायतों को अपने आर्थिक साधन जुटाने के साथ-साथ तालुका बोर्ड से आर्थिक सहायता दी जाने का सुझाव भी उन्होंने दिया था। उनके अनुसार तालुका बोर्ड में अधिक से अधिक जनप्रतिनिधियों को मनोनीत करने तथा वित्तीय स्वायत्तता दी जानी थी। वे नगरपालिकाओं के स्वतन्त्र निर्वाचन कराये जाने के पक्षधर थे। जिला-बोर्ड की अध्यक्षता का एकमात्र अधिकार जिलाधीश में न रखकर गोखले ने उसके स्थान पर किसी सम्माननीय व्यक्ति की नियुक्ति का सुझाव दिया। यदि ऐसा व्यक्ति प्राप्त न हो सके तो फिर जिलाधीश को ही यह कार्य सौंपने का सुझाव दिया। वे जिलाबोर्ड में निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ाने के पक्ष में थे। वे जिला-प्रशासन से गोपनीयता, नौकरशाही की वृत्ति तथा विभागीय विलम्ब की मनोवृत्ति को दूर करवाना चाहते थे। वे इसके लिए जिला-परिषद् नियुक्त करने का सुझाव दे रहे थे जो जिलाधीश को सहायता तथा सुझाव दे सके। वे जिला-प्रशासन में जिलाधीश को लोकतांत्रिक तौर तरीके तथा समय के साथ परिवर्तित होने वाली विचारधारा से युक्त करना चाहते थे। प्रशासकों के मनमाने आचरण तथा एकतन्त्रवादी रवैये को परिवर्तित करने के लिए गोखले ने उपर्युक्त सुझावों के द्वारा लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण की बुनियाद रखी।[23]

लार्ड इजलिंगटन की अध्यक्षता में नियुक्त पब्लिक सर्विसेज कमीशन (1912) के सदस्य के रूप में गोखले ने लोक-सेवाओं में भारतीयों की सीधी भर्ती को तुरन्त क्रियान्वित करने पर बल दिया। वे चाहते थे कि भारत में शिक्षा के ऐसे प्रबन्ध किये जायें जिनसे भारतीयों को उच्च सेवा में नियुक्त होने में कठिनाइयों का सामना न करना पड़े। वे भारत तथा इंग्लैण्ड दोनों स्थानों पर नियुक्ति की व्यवस्था किये जाने के पक्ष में थे। वे भारतीयों की नियुक्ति की संख्या निश्चित कराने के पक्ष में थे ताकि यूरोपीयों तथा भारतीयों की नियुक्ति में समान स्थान प्राप्त हो सकें। वे अन्य सेवाओं में जहां प्रतियोगी परीक्षाओं का प्रावधान न था दो तिहाई स्थान सीधी भर्ती में तथा एक तिहाई वरिष्ठता के आधार पर देने के पक्ष में थे। वे सभी परीक्षाओं में प्रतियोगिता के आधार पर स्थान भरने के हामी थे। साम्प्रदायिक स्थिति के समाधान के लिए वे कुछ स्थान सुरक्षित रखने का भी विचार रखते थे। प्राविधिक एवं वैज्ञानिक सेवाओं में गोखले केवल भारतीयों की नियुक्ति चाहते थे। भारतीय प्रशासनिक सेवा से न्यायिक सेवा को अलग रखने के पक्ष में थे। इसी प्रकार से वे भारतीय पुलिस सेवा, भारतीय शिक्षा-सेवा तथा भारतीय न्यायिक सेवा, चिकित्सा-सेवा, तकनीकी सेवाओं आदि का भारतीयकरण करने के पक्ष में थे। यद्यपि उनके सुझावों को स्वीकृत नहीं किया गया फिर भी उनके द्वारा सुझाये गये विचार भारत की भावी प्रशासनिक व्यवस्था के आधार बने।[23]

इसी प्रकार से गोखले ने लॉर्ड विलिंग्डन के आग्रह पर भारत के भावी संवैधानिक सुधारों का सुझाव 1915 में प्रस्तुत किया जिसे प्रान्तीय स्वायत्तता का पुरोगामी माना

द्वारा प्रस्तावित राष्ट्रीय सभा में शासन की नीति को प्रभावित करने के लिए सभी विषयों पर प्रश्न पूछे जा सकते थे। वित्तीय मामलों में भारत-सचिव के नियन्त्रण को शिथिल करने का विचार सुझाया गया था। वे भारतसचिव की भारत-परिषद् को समाप्त करने के पक्ष में थे। भारतीयों को सेना के प्रत्येक अंग में उच्च पद दिलाने का सुझाव भी गोखले ने प्रस्तुत किया। आगाखां के सुझाव पर गोखले ने जर्मन ईस्ट अफ्रीका को भारतीयों के उपनिवेशीकरण के लिए सुरक्षित रखने का प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया।[25] गोखले राजनीतिक यथार्थवादी थे। उनके द्वारा सुझाये गये सुधारों को भारत सरकार ने क्रियान्वित चाहे न किया हो किन्तु उनमें गोखले की भविष्यद्रष्टा की स्थिति का बोध अवश्य होता है। गोखले के सुधारों की योजनाओं ने मिंटो-मोर्ले सुधारों तथा मोंटेग चेम्सफर्ड सुधारों की योजना को अत्यधिक प्रभावित किया। भारत में स्वशासन एवं नागरिक स्वतन्त्रता की मान्यता की दिशा में गोखले के प्रशासनिक सुधारों तथा राजनीतिक विचारों का वही महत्व माना जा सकता है जो [illegible] मार्गदर्शक अथवा मार्गनिर्धारक का हो सकता है।

सामाजिक विचार

गोखले का सामाजिक दर्शन विभिन्न समुदायों, जातियों एवं राष्ट्रीयताओं में समन्वय का प्रतीक था। गोखले ने यद्यपि समाज सुधार आन्दोलन में तिलक के समान सक्रिय भाग नहीं लिया किन्तु वे सच्चे समाज सुधारक थे। वे जातिवादिता के प्रबल विरोधी थे। भारत में प्रचलित जाति-व्यवस्था को गोखले ने प्रगति की प्रतिगामी विचारधारा माना था। वे भारत की दलित जातियों के उत्थान के प्रबल समर्थक थे। छुआछूत तथा भेदभाव की नीति का अन्त करने के लिए गोखले ने भारतीयों को सामाजिक संकीर्णता से बाहर निकलने का आह्वान किया। वे सामाजिक सहिष्णुता तथा सद्भावना के प्रतीक थे। केवल भारत में ही नहीं अपितु दक्षिण अफ्रीका की रंग-भेद नीति की भी उन्होंने तीव्र आलोचना की। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जातीय भेदभाव का अन्त करके भारत विश्व के राष्ट्रों में अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकता था। उनके अनुसार जब तक भारत में छुआछूत की समस्या का निवारण नहीं कर लिया जाता तब तक भारत द्वारा समान *अधिकारों की मांग अर्थहीन है।* दक्षिण अफ्रीका में भारतीय जिन अधिकारों की मांग कर रहे थे उन्हीं अधिकारों का प्रयोग भारत के सवर्ण पिछड़ी एवं दलित जातियों को देने में सकुचाते थे। इस प्रकार की दोहरी सामाजिक नीति से भारत भारत का हित नहीं हो सकता था।[26]

गोखले ने हिन्दुओं में व्याप्त सामाजिक संकीर्णता का विरोध किया। वे व्यापक दृष्टिकोण से सामाजिक समस्याओं का हल ढूंढ रहे थे। ऐसे समय जब कि महाराष्ट्र के पुरातनपंथी ब्राह्मणों द्वारा जाति-बहिष्कार के निर्णय लिये जाते थे और अवर्णों के साथ सामाजिक आदान-प्रदान पर प्रायश्चित करवाया जाता था, गोखले ने अवर्णों की समस्या को लेकर अद्भुत साहस का परिचय दिया। वे अपने आपको हिन्दू कहलाने के स्थान पर भारतीय कहलाना पसन्द करते थे। केवल हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था ही नहीं अपितु उनके द्वारा अन्य धर्मावलम्बियों के साथ किये गये व्यवहार को भी गोखले ने लताड़ा। वे धार्मिक सहिष्णुता को सामाजिक एकता का प्रमुख आधार मानते थे। हिन्दू तथा

मुसलमानों के मध्य मधुर सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना उनका ध्येय था। वे विभिन्न समुदायों में एकता की भावना का संचार कर उन्हें एक ही राष्ट्र के अन्तर्गत लाने के पक्षपाती थे। वे हिन्दू लीग तथा मुस्लिम लीग दोनों को ही राष्ट्र-विरोधी मानते थे। उनके विचारों का भारत-राष्ट्र न तो हिन्दू था न मुस्लिम। वे धर्मनिरपेक्षता तथा सहिष्णुता के उपासक थे। वे पृथक् प्रतिनिधित्व को महत्वहीन मानते थे। भारत में विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक समुदायों में किसी भी प्रकार के मनोमालिन्य अथवा अविश्वास के लिए स्थान नहीं था। सहिष्णुता के आदर्श को अपना कर एक जुट होने का संदेश भारत के निवासियों के लिए गोखले की सामाजिक विरासत थी। गोखले मानववादी थे। उनका किसी भी धार्मिक समुदाय अथवा राष्ट्रीयता के प्रति दुराव नहीं था। वे धार्मिक रूढ़िवाद से ऊपर उठकर सोचने में सक्षम थे। वे ईश्वर की सत्ता को मानव-प्रेम में उद्भासित मानते रहे। भारत के आध्यात्मिक गौरव एवं तत्व-ज्ञान की अभिव्यक्ति उनके सामाजिक विचारों का मूल थी।[27]

आर्थिक विचार

गोखले भारत की औद्योगिक क्षमता के विकास के लिए सदैव इच्छुक रहे। वे स्वदेशी वस्तुओं के प्रोत्साहन के समर्थक थे। किन्तु उनका स्वदेशी सम्बन्धी दृष्टिकोण उग्रवादियों से भिन्न था। वे बहिष्कार की नीति द्वारा स्वदेशी का विस्तार हितकारी नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में भारत के लिए स्वदेशी की नीति अपनाने के साथ पूंजी, आर्थिक उद्यम का चातुर्य तथा उद्योगों सम्बन्धी ज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक था। विदेशी उद्योगों की तुलना में भारतीय उद्योगों की स्थिति इतनी मजबूत न थी कि विदेशी वस्तुओं तथा औद्योगिक जानकारी का परित्याग कर हम अपना स्वतन्त्र आर्थिक अस्तित्व प्राप्त कर सकें। वे विभिन्न आर्थिक क्रियाकलापों की जानकारी, भारतीय उद्योगपतियों द्वारा उद्योगों में अधिक से अधिक पूंजी का विनियोजन, तकनीकी, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक शिक्षा का विस्तार तथा भारत के निवासियों में देश में उत्पादित वस्तुओं के अधिक से अधिक प्रयोग करने का विचार चाहते थे।[28] उचित मानसिक दृष्टिकोण का विकास करके ही विदेशी आयात पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता था। उपयोगी वस्तुओं का भारत में उत्पादन न होने तक विदेशी माल का बहिष्कार केवल नारों तक ही सीमित रहने वाला था। गोखले का यह दृष्टिकोण यथार्थवादी था। आज भी जब कि भारत ने अत्यधिक औद्योगिक विकास प्राप्त कर लिया है, विदेशी वस्तुओं के प्रति आकर्षण कम नहीं हुआ। तस्करी के माध्यम से विभिन्न वस्तुओं का चोरीछिपे भारत में आना यह सिद्ध करता है कि हमें अपनी मानसिक स्थिति का देशीकरण करने की नितान्त आवश्यकता है।

गोखले उदारवादी होते हुए भी उन्मुक्त व्यापार तथा कम से कम हस्तक्षेप की नीति के पक्षपाती नहीं थे। वे मानते थे कि उन्मुक्त व्यापार का समर्थन करने का अर्थ आर्थिक दृष्टि से निर्बल देशों के व्यापार को चौपट करना होगा। भारत जैसा देश जहां आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की आवश्यकता थी, उन्मुक्त व्यापार का शिकार बन अपने आर्थिक हितों का संरक्षण नहीं प्राप्त कर पायेगा। वे अंग्रेजों की भारत के प्रति दुराग्रहपूर्ण आर्थिक नीति के आलोचक थे। अंग्रेजों ने जिस प्रकार से भारत के कुटीर उद्योगों

पर कुठाराघात किया था उसके कारण भारत विदेशों से तैयार माल आयात करने के लिए विवश हुआ। भारत को केवल कृषि प्रधान देश बनाकर तैयार माल आयात करने वाली मण्डी बनाने का अंग्रेजों का कुचक्र गोखले द्वारा भलीभांति पहचाना गया। शासन की भारत के आर्थिक विकास में अरुचि भारत की प्रगति को अवरुद्ध करने वाली थी। भारत में उचित आर्थिक संरक्षण की नीति को अपनाने की आवश्यकता पर बल देते हुए गोखले ने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। किन्तु वे पूर्ण संरक्षण के पक्ष में नहीं थे। उनका उद्देश्य यह था कि भारतीय उद्योगों को उचित संरक्षण तो प्रदान किया जाय किन्तु यह कार्य प्रशासन की उन्मुक्त व्यापार की नीति के अनुरूप ही हो।[29] ऐसा होने पर भारत भी अपनी औद्योगिक क्षमता का स्वतन्त्रता पूर्वक विकास कर अन्य देशों के समान आर्थिक क्रियाकलाप कर सकता था। वे अनियमित व्यापार तथा अनुचित संरक्षण दोनों के विरुद्ध थे। वे अपने गुरु रानाडे के समान जर्मन अर्थशास्त्री फ्रेडेरिक लिस्ट से अत्यधिक प्रभावित थे। लिस्ट ने कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था के उद्योगीकरण का मार्ग दर्शाया था और गोखले ने भी उसी विचारधारा पर चल कर भारत की औद्योगिक क्षमता में वृद्धि का आग्रह किया। वे राष्ट्रीय शक्ति तथा स्वावलम्बन के विकास के साथ साथ शासकीय संरक्षण में भारत के नव-स्थापित उद्योगों को इतना विकसित देखना चाहते थे कि वे अन्य देशों से प्रतिस्पर्धा में मात न खा जांय।

गोखले के शिक्षा सम्बन्धी विचार

गोखले ने एक शिक्षक के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया था और इस कारण से वे भारत की शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में समय-समय पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट करते रहे। वे भारत में अंग्रेजी शासन द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया जाना उचित एवं वांछनीय समझते थे। उनके अनुसार शिक्षा का प्रसार नैतिक तथा आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से अनिवार्य था। बर्लिन के प्रोफेसर ट्रूज के विचारों को आधार मान कर गोखले ने शिक्षा के विस्तार को कृषि, छोटे उद्योगों, निर्माताओं तथा वाणिज्य द्वारा राष्ट्रीय आर्थिक उत्पादन में वृद्धि का कारण माना।[30] शिक्षा के विस्तार द्वारा श्रम से उत्पन्न लाभ का उचित वितरण किया जा सकता था। श्रम का बँटवारा सामाजिक शांति एवं सामान्य समृद्धि का द्योतक था। जनसामान्य का उचित शिक्षण समाजिक एवं आर्थिक विकास में अन्तरराष्ट्रीय आदान-प्रदान की वृद्धि का भी सूचक था। अतः शिक्षा के विस्तार को अत्यधिक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कर्तव्य मानते हुए गोखले ने भारत में शिक्षा तथा विशेषतौर से प्रारंभिक शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित करने का आह्वान किया। अन्य देशों में राज्य द्वारा शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया जाता था और शिक्षा के विस्तार के लिए धन का समुचित प्रबन्ध भी किया जाता था किन्तु भारत सरकार वित्तीय कठिनाइयों के नाम पर शिक्षा के प्रति विमुख थी। गोखले ने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया और उचित वित्तीय व्यवस्था द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया।[31]

गोखले शिक्षा को निःशुल्क एवं अनिवार्य किये जाने के पक्ष में थे। अपने जीवन के अनुभव से उन्होंने यह विचार व्यक्त किया था। अपनी बाल्यकाल की निर्धनता के दिनों में गोखले ने स्वयं शिक्षा प्राप्त करने के लिए अनेकों कष्ट झेले थे। यही कारण था कि

गोखले शिक्षा की अनिवार्यता के साथ उसके निःशुल्क होने पर अधिक बल दे रहे थे ताकि निर्धन वर्ग आर्थिक कठिनाइयों के कारण शिक्षा से वंचित न रह जाए।[32]

शिक्षा के विस्तार द्वारा व्यक्तियों के जीवन में नवीन चेतना का संचार अवश्यंभावी था। गोखले यह जानते थे कि शिक्षा के विस्तार मात्र से भारत अपनी समस्याओं तथा कठिनाइयों को हल नहीं कर सकता था। जीवन में संघर्ष, अपरिपक्वता, स्वार्थ तथा कष्टों का फिर भी सामना करना पड़ेगा। केवल शिक्षा से निर्धनता का अन्त भी सुलभ नहीं होगा। देशभक्ति एवं परमार्थ से प्रेरित सहायता कार्यों की आवश्यकता बनी रहेगी। इतना अवश्य होगा कि उचित शिक्षा द्वारा व्यक्तियों में जिस नवीन आत्मनिष्ठा का विकास होगा उससे वे आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण का प्रतिकार कर सकेंगे और मानवीय गरिमा के संरक्षण का उचित वातावरण बन सकेगा।[33] गोखले का यह विश्वास निरर्थक सिद्ध नहीं हुआ। उनके द्वारा भारत में पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार का समर्थन आगे चल कर भारतीयों को स्वशासन के कार्य में पाश्चात्य स्तर की दक्षता दिलाने में सहायक हुआ। अंग्रेजों ने भारत में पाश्चात्य शिक्षा तथा अंग्रेजी के पठन-पाठन पर जितना ध्यान केन्द्रित किया उसका लाभ भारत को अपनी विस्तृत राजनीतिक चेतना को जाग्रत करने के अर्थ में अवश्य प्राप्त हुआ।

योगदान

गोखले का जीवन सरलता सहृदयता, एवं सार्वजनिक सेवा की तत्परता से ओत-प्रोत था। उनके द्वारा संवैधानिक आन्दोलन का जिस प्रकार से संचालन एवं संवर्धन हुआ वह निरन्तर चलता रहा और भारत की स्वाधीनता के बाद भी उनकी सुधारों की प्रवृत्ति की स्पष्ट छाप भारत के संसदीय कार्यों पर बनी रही है। गोखले केवल उदारवादी ही नहीं थे। उनके जीवन का एक और पक्ष भी था और वह था उनके द्वारा उग्रवादियों को संरक्षण प्रदान करने का। पंजाब में लाला लाजपतराय के देशनिर्वासन के समय गोखलेने उनके बचाव के लिए जो कार्य किया[34] वह इस बात की पुष्टि करता है कि वे देश के स्वाधीनता-संग्राम के सेनानियों के प्रति अत्यधिक निष्ठावान एवं सहायक रहे। वैचारिक मतभेदों के बावजूद गोखले ने व्यक्तिगत रूप से उग्रवादियों के प्रति कभी ऐसा व्यवहार नहीं किया जिससे उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा अथवा सुरक्षा खतरे में पड़ती। गोखले ने लाला लाजपतराय का भगिनी निवेदिता से परिचय करवाया।[35] निवेदिता भारत में क्रांतिकारी आन्दोलन की सहायक थी। इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि गोखले हृदय से क्रांतिकारी आन्दोलन के शत्रु नहीं थे। स्वयं तिलक ने, जो कि उनके कट्टर राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी थे, गोखले की मृत्यु पर उन्हें भारत का हीरा[36] कहकर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। उनकी धार्मिक सहिष्णुता के कारण ही जिन्ना ने अपने आपको "मुस्लिम गोखले"[37] बनाने का उद्गार प्रकट किया। गांधी जी गोखले को अपना राजनीतिक गुरु[38] मानते थे। गोखले ने अपने प्रयासों से भारत को स्वराज्य-प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर किया और कांग्रेस संगठन को अतिवादियों के हाथ प्रतिबद्ध होने से बचाया।

□□

टिप्पणियां

1. आर. पी. परांजपे, गोपाल कृष्ण गोखले, (आर्य भूषण प्रेस, पूना, 1915) पृ. 3-4
2. टी के शाहनी, गोपाल कृष्ण गोखले : ए हिस्टोरिकल बायोग्राफी, (आर के मोदी, बम्बई, 1929) पृ. 59
3. जे एस होयलैण्ड, गोपाल कृष्ण गोखले, (वाई एम सी ए पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, 1933) पृ. 11
4. वी. एस श्रीनिवास शास्त्री, लाइफ ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, (दी बैंगलोर प्रेस, बैंगलोर, 1937) पृ 11
5. परांजपे, पृ. 41-45
6. वही, पृ. 81-82
7. टी. वी. पार्वते, गोपाल कृष्ण गोखले, (नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1959) पृ 72
8. श्रीनिवास शास्त्री, पृ 95
9. होयलैण्ड, पृ 59-60
10. डी के देवधर, दी सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी, (आर्य भूषण प्रेस, पूना, 1914) पृ 11
11. वी. एस. श्रीनिवास शास्त्री, माई मास्टर गोखले, (मॉडल पब्लिकेशन्स, मद्रास, 1946) पृ 87
12. एस ए वोलपर्ट, तिलक एण्ड गोखले, (कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, बर्कले, 1961) पृ 271
13. परांजपे, पृ 58-62
14. टी आर देवगिरिकर, गोपाल कृष्ण गोखले, (पब्लिकेशन्स डिवीजन, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1969, द्वितीय संस्करण) पृ 116
15. स्पीचेज ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, (नटेसन, मद्रास, 1920, द्वितीय संस्करण) पृ 951
16. वही, पृ. 954-956
17. वही, पृ. 942-945
18. पार्वते, पृ 255 तथा 457
19. देवगिरिकर, पृ 149-150
20. परांजपे, पृ. 64-70
21. वही, पृ 56
22. देखिये बी. बी मजूमदार, गोखले ए पोलिटिकल बायोग्राफी, (मानकटलाज, बम्बई, 1966) पृ. 58-64
23. वही, पृ 67-75
24. वही, पृ 430-431
25. वही, पृ 432-434
26. परांजपे, पृ. 27
27. वही, पृ. 26-28
28. वही, पृ 45
29. वही, पृ 45-46
30. स्पीचेज, पृ 49-50
31. वही, पृ. 53-54
32. वही, पृ 598-599
33. वही, पृ. 659
34. अलगूराय शास्त्री, लाला लाजपत राय : जीवनी, (लोक सेवक मण्डल, दिल्ली, 1957) पृ. 220
35. वही, पृ 105
36. डी. पी करमरकर, बाल गंगाधर तिलक : एक अध्ययन (पोपुलर बुक डिपो, बम्बई, 1956) पृ 246
37. हेक्टर बोलिथो, जिन्ना : दी क्रियेटर ऑफ पाकिस्तान, (जॉन मरे, लन्दन, 1954) पृ 55
38. गांधी, गोखले माई पोलिटिकल गुरु, (नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1955) पृ 37

अध्याय 12

वी. एस. श्रीनिवास शास्त्री (1869-1946)

श्रीनिवास शास्त्री का जन्म 22 सितम्बर, 1869 को तमिल नाडु में कुंभकोणम् के निकट वलंगैमन ग्राम में हुआ। उनके पिता का नाम शंकर नारायण शास्त्री तथा श्रीमती वालाम्बाल था।[1] श्रीनिवास जन्म से निर्धन थे किन्तु चरित्र के धनी थे। उनकी मेधा विलक्षण थी। उनके पिता ब्राह्मणवृत्ति से प्राप्त साधारण आय पर परिवार का भरणपोषण कर रहे थे। पिता दयालुता, सत्य एवं धार्मिक गुणों से भरपूर किन्तु क्रोधी स्वभाव के थे। श्रीनिवास ने बाल्यकाल से अपने भावातिरेक को नियमित कर अपने आप को अनुशासन के ढांचे में ढाल लिया था। पिता संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। माता पूर्ण धार्मिक प्रवृत्ति की थीं। घर का वातावरण पुरातन धर्मावलम्बी ब्राह्मण-परिवार का था किन्तु निर्धनता कष्टकारक थी। प्रायः कई बार भोजन भी दुर्लभ होता था। एक बार कहीं से उनकी माता को अचार में डालने के लिये कोई कच्चे आम भेंट में देने आया किन्तु उनकी माता के पास इतने पैसे भी नहीं थे जिनसे वे नमक खरीद लेतीं और आम का अचार डाल देतीं। अतः उन्होंने आम लेने से मना कर दिया चूंकि प्राचीन मान्यताओं के अनुसार आम भेंट करना उचित था किन्तु किसी को नमक देना वर्जित था। श्रीनिवास शास्त्री ने उनकी बाल्यकाल की निर्धनता का यह प्रसंग राज्यसभा में नमक कर कानून के विरोध में बोलते हुए मार्च 23, 1944 को सुनाया था।[2]

शास्त्री ने 1883 में कुंभकोणम्-हाईस्कूल से मैट्रिक-परीक्षा विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण की। 1885 में इंटर की परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। 1887 में बी. ए. परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी पाने के कारण उनकी फीस माफ होती रही और इससे उनका अध्ययन भी सुचारु रूप से चलता रहा। बी. ए. परीक्षा में उन्हें संस्कृत में पूरे मद्रास प्रान्त में सर्वाधिक अंक प्राप्त हुए। उन्हें 350 रुपये पुरस्कार के रूप में प्राप्त हुए और अंग्रेजी में विशेष योग्यता के लिए स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। उनके पिता ने प्रसन्नतावश घर पर भोज का आयोजन किया। अन्य विद्वान् ब्राह्मण आमंत्रित किये गये। श्लोकोच्चारण हुआ तब पर शास्त्री ने एक संस्कृत श्लोक में व्याकरण की अशुद्धि पर विद्वत् मण्डली को मनवाया। बुजुर्ग इसे कैसे स्वीकार करते। आखिर शास्त्री को पिता से ताड़ना मिली और भविष्य के लिये शास्त्री ने किसी की व्याकरण अथवा भाषा सम्बन्धी भूल की और किसी की अशुद्धि को न सुधारने का प्रण किया। किन्तु यह प्रण चलने वाला न था। शास्त्री तथा उनके मित्रों ने नेसफील्ड की अंग्रेजी व्याकरण की अशुद्धियां पकड़ीं। उस जमाने में किसी भारतीय द्वारा अंग्रेजी व्याकरणकर्ता की व्याकरण को अशुद्ध बतलाना एक सनसनी पैदा करने वाली घटना बन गयी। वे सदैव अंग्रेजी शब्दकोश जीवन पर्यन्त अपने साथ रखते रहे।

स्नातक होने के पश्चात् वे मायावरम् में स्कूल-शिक्षक नियुक्त हुए और अपने पिता को ब्राह्मणवृत्ति छोड़ने का आग्रह कर सारे परिवार का खर्च वहन करने लगे। 1891 में वे मद्रास-शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालय में प्रविष्ठ हुए। उन्हें 1893 में सेलम में सह-शिक्षक नियुक्त किया गया। वहाँ वे सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने लगे। उनका परिचय सी. विजयराघवाचारी से हुआ जिन्हें "सेलम हीरो" कहा जाता था। उनके साथ मद्रास-सरकार की आलोचना करने पर तथा हिन्दू में शासन विरोधी लेख लिखने के कारण उन्हें सरकार ने नौकरी समाप्त करने की धमकी दी। 1902 में शास्त्री हिन्दू-हाईस्कूल मद्रास के प्रधानाध्यापक बने। उन्होंने एजूकेशनल रिव्यू का सम्पादन किया तथा इंडियन रिव्यू की स्थापना के लिए अपने मित्र जी. ए. नटेसन को प्रेरित किया।

निजी स्कूलों के संचालन में उन दिनों भेदभाव अधिक होता था। ईसाई मिशनरियों के स्कूलों को अधिक अनुदान प्राप्त होता था। शास्त्री ने इस भेदभाव के विरुद्ध भाषण एवं लेखन दोनों माध्यम से प्रचार किया। वे स्कूलों में धार्मिक शिक्षा के विरुद्ध थे। उन्होंने ईसाई स्कूलों तथा कालेजों में "अन्त:करण-नियम" की सिफारिश की थी। शिक्षण संस्थाओं में धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के समर्थन के कारण उन्हें काकीनाड़ा के पीठापुरम राजास कालेज के प्राचार्य पद को अस्वीकार करना पड़ा।

शास्त्री ने ब्राह्मणों में विवाह-नियमों के सुधार का सामाजिक कार्य पूरे यत्न से किया। उनका विवाह चौदह वर्ष की आयु में ही उनके माता-पिता द्वारा कर दिया गया था जबकि स्कूल में वे प्रतिज्ञा ले चुके थे कि वे अट्ठारह वर्ष पहले विवाह नहीं करेंगे। शास्त्री ने समाज-सुधार के कार्य में हिन्दू-विवाह-संशोधन को प्रमुख विषय बनाया और काफी सफलता अर्जित की। मद्रास में शास्त्री ने सहकारिता-आन्दोलन प्रारम्भ किया। ट्रिप्लिकेन अरबन कोऑपरेटिव सोसायटी उन्हीं के परिश्रम से स्थापित हुई।

1906 में शास्त्री प्रथम बार गोखले के सम्पर्क में आये। 1907 में उन्हें सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी में सम्मिलित कर लिया गया। उन्होंने 1908 में मद्रास में जिला कांग्रेस-समितियाँ बनाने का सराहनीय कार्य किया। मद्रास-यूनिवर्सिटी ने 1910 में उन्हें फैलो चुना। वे 1911 में मद्रास प्रदेश कांग्रेस समिति के सचिव नियुक्त हुए। 1913 में उन्हें मद्रास विधायी परिषद् का सदस्य मनोनीत किया गया जहाँ उन्होंने वयस्क कन्याओं के विवाह सम्बन्धी विधेयक प्रस्तुत किया। 1914 में शास्त्री ने रॉयल कमीशन ऑन पब्लिक सर्विसेज के समक्ष साक्ष्य दिया। फरवरी 19, 1915 को गोखले की मृत्यु पर शास्त्री सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उसी वर्ष वे महात्मा गांधी तथा कस्तूरबा से मिले। उन्होंने कांग्रेस के दोनों दलों में तालमेल बैठाने तथा विरोध समाप्त करने का प्रयास भी किया। 1916 में वे साम्राज्यीय विधायी परिषद् के के लिए चुने गये। उन्होंने इस समय दो पैम्फलेट छपवाये—पहला था ब्रिटेन के झण्डे के अन्तर्गत स्वशासन तथा दूसरा था कांग्रेस-लीग योजना-एक विश्लेषण। 1917 में शास्त्री मोंटेग से मिले तथा उनकी घोषणा का स्वागत किया। वे बम्बई प्रादेशिक सभा के नासिक-अधिवेशन के अध्यक्ष बने। 1918 में उन्होंने रौलट-विधेयक के विरोध में साम्राज्यीय विधायी परिषद् में ओजस्वी भाषण दिया तथा सर्वेन्ट ऑफ इण्डिया का प्रकाशन प्रारम्भ किया। मोंटेग चेम्सफोर्ड-सुधार-प्रस्तावों को लेकर कांग्रेस में संघर्ष प्रारम्भ हो गया।

शास्त्री तथा सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी ने कांग्रेस से पृथक होने का निर्णय लिया तथा उदारवादियों के दल में सम्मिलित हो गये। वे लार्ड साउथबोरो की मताधिकार-समिति के सदस्य रहे। 1919 में वे उदारवादियों के प्रतिनिधिमण्डल के साथ इंग्लैंड गये। वहां वे ब्रिटिश संसद् की संयुक्त समिति के समक्ष सुधार प्रस्तावों पर साक्षी देने उपस्थित हुए। शास्त्री कांग्रेस से पृथक होकर प्रसन्न नहीं थे। 1920 में वे कांग्रेस के दिल्ली-अधिवेशन में उपस्थित हुए और कांग्रेस से सुधार-प्रस्तावों को स्वीकार कराने का उद्यम करते रहे। उन्हें सरकार ने एकवर्ष रेल्वे-समिति का सदस्य बनाया। वे निर्वाचन में खड़े हुए तथा राज्यसभा के सदस्य चुन गये। 1921 में लन्दन साम्राज्यीय सम्मेलन के लिए प्रतिनिधि के रूप में इंग्लैंड गये। राष्ट्र संघ में वे भारत-सरकार के प्रतिनिधि के रूप में भेजे गये। उन्हें प्रिवी कौंसिल का सदस्य बनाया गया। वे वाशिंगटन में होने वाले नौसैनिक निरस्त्रीकरण-सम्मेलन में ब्रिटिश साम्राज्यीय प्रतिनिधिमण्डल में सम्मिलित किये गये। बम्बई में हुए प्रान्तीय उदारवादी सम्मेलन की 1922 में उन्होंने अध्यक्षता की। आस्ट्रेलिया, कनाडा तथा न्यूजीलैंड के प्रधानमन्त्रियों के निमन्त्रण पर इन उपनिवेशों की यात्रा की। उपनिवेशों में रहने वाले भारतीयों के पूर्ण नागरिकता प्राप्त करने सम्बन्धी प्रस्तावों की सिफारिश के लिए यह यात्रा आयोजित की गई थी। 1923 में शास्त्री नागपुर में राष्ट्रीय उदारवादी संगठन के अध्यक्ष बने। वे केन्या में रहने वाले भारतीयों की नागरिकता एवं जातिगत समानता सम्बन्धी भारत-सरकार के प्रस्ताव को लेकर लन्दन के औपनिवेशिक मन्त्रालय में उपस्थित हुए। ब्रिटिश सरकार द्वारा इन प्रस्तावों के ठुकराये जाने के कारण उन्हें बहुत निराशा हुई। वे कुछ समय तक बीमार रहे। उन्होंने लन्दन में होने वाली साम्राज्यीय प्रदर्शनी के लिए यह प्रस्ताव किया कि भारत द्वारा इसका बहिष्कार किया जाये। श्रीमती एनी बीसेंट के साथ शास्त्री ने पुनः 1924 में इंग्लैंड की यात्रा की और भारत में राजनीतिक सुधारों की मांग वहां की जनता के समक्ष रखी। 1925 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के निमन्त्रण पर शास्त्री ने "भारतीय नागरिक तथा उसके अधिकार एवं कर्तव्य" विषय पर कमला व्याख्यानमाला के अन्तर्गत भाषण दिया। 1926 में केपटाउन में होने वाले भारत-दक्षिण अफ्रीका सम्मेलन में हबीबुल्ला प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य के रूप में दक्षिण अफ्रीका गये। 1927 में वे दक्षिण अफ्रीका में भारत के ऐजेन्ट-जनरल नियुक्त किये गये। वहां उनका कार्य अत्यन्त सराहनीय रहा। उनके प्रयत्नों से भारतीयों के साथ गोरों के व्यवहार में परिवर्तन आया तथा पारस्परिक सम्बन्धों में सुधार हुआ। वहीं डर्बन में इनके द्वारा शास्त्री कालेज स्थापित किया गया, जहां भारतीयों के लिए उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। 1928 में उन्हें के० सी० एस० आई० से सम्मानित किया जाना तय हुआ, किन्तु शास्त्री ने इसे अस्वीकार कर दिया। वे शाही श्रम-आयोग के सदस्य नियुक्त हुए। पूर्वी अफ्रीकी प्रदेशों की एकता के लिए नियुक्त हिल्टन-यंग शाही-आयोग के समक्ष उन्होंने भारत सरकार के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया। 1929 में उन्हें "कम्पेनियन ऑफ आनर" के खिताब से सम्मानित किया गया। 1930 में लन्दन-गोलमेज-सम्मेलन के सदस्य मनोनीत हुए और उन्होंने साम्राज्यिक संघ के प्रस्ताव को स्वीकार किया। 1931 में वे गांधी-इरविन-समझौते के सूत्रधार बने। पुनः द्वितीय गोलमेज-सम्मेलन में उपस्थित

हुए। उन्हें "फ्रीडम ऑफ दी सिटी ऑफ एडिनबरा" अर्पित की गई। 1932 में वे केपटाउन में होने वाले भारत-अफ्रीका सम्बन्धों के द्वितीय गोलमेज-सम्मेलन में उपस्थित हुए। उनकी द्वितीय धर्म-पत्नी का भी 1934 में देहान्त हो गया। 1935 में शास्त्री ने *मैसूर-विश्वविद्यालय भाषणमाला के अन्तर्गत गोखले* पर भाषण दिया। वे अन्नमलाई विश्वविद्यालय के उप-कुलपति नियुक्त हुए। उन्हें मद्रास में नये मन्त्रिमण्डल का गठन करने के लिये आमन्त्रित किया गया किन्तु उन्होंने अपनी अनिच्छा प्रकट की। 1936 में उन्हें *भारतीय प्रतिनिधि के रूप में मलाया के भारतीय श्रमिकों की कामकाजी हालत की* जाँचपड़ताल के लिए भेजा गया। 1937 में वे मद्रास विधायी परिषद् के सदस्य मनोनीत किये गये। 1940 में उन्होंने मैसूर विश्वविद्यालय में स्त्रियों की दशा पर भाषण दिया। तमिल साप्ताहिक स्वदेशमित्रन में 1941 में उनकी आत्मकथा के कुछ अंश प्रकाशित हुए। 1943 में उन्होंने फिरोजशाह मेहता पर भाषण दिया। 1944 में उनके पत्रों का संकलन प्रकाशित हुआ। उन्होंने रामायण पर भाषण दिये। 1945 में उनकी पुस्तक दी अदर हार्मनि प्रकाशित हुई। उन्होंने यह माग की कि द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर होने वाले शान्ति-सम्मेलन में महात्मा गांधी सम्मिलित हों। इस वर्ष, गांधीजी के साथ उन्होंने जिन्ना की भारत-विभाजन की मांग का पूर्ण विरोध किया। 1946 में उनके ग्रन्थ अनपनेल स्केचेज तथा माई मास्टर गोखले प्रकाशित हुए। जीवनपर्यन्त भारत की सेवा में रत रहने के कारण उनका स्वास्थ्य शनैः शनैः बिगड़ने लगा। गांधीजी उनको रुग्णावस्था में उनसे मिलने मद्रास आये। दक्षिण अफ्रीका में जनरल स्मट्स द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली रंगभेद की नीति की उन्होंने तीव्र आलोचना की। अप्रेल 17, 1946 को उनका देहान्त हुआ।[3] उनके साथ ही भारत के उदारवादी चिन्तकों का सूर्यास्त हो गया।

शास्त्री के राजनीतिक विचार :

श्रीनिवास शास्त्री भारत में उदारवादी चिंतन के अन्तिम स्तम्भ थे। उदारवादियों के प्रति उनका रुझान तथा अपने स्वयं के जीवन में उदारवादी विचारधारा का वरण शास्त्री ने उदारवादी चिन्तकों के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर किया था। शास्त्री पर *सर्वप्रथम सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के विचारों का प्रभाव पड़ा।* बनर्जी ने अपने मद्रास-भाषण में देशभक्ति का जो प्रचण्ड उद्घोष किया उससे शास्त्री प्रभावित हुए बिना न रहे। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि बनर्जी की प्रेरणा ने उन्हें मत्सीनी, केवूर, गैरीबाल्डी प्रभृति इतालवी *देशभक्तों के राष्ट्रीय विचारों से परिचय हुआ* और वे अभिभूत हो गये।[4] यह प्रभाव चिर-स्थायी रहा। इसी प्रकार गोखले से शास्त्री को संवैधानिक विचारों की प्रेरणा मिली। गोखले को शास्त्री ने अपना राजनीतिक गुरु[5] माना और उन्हीं के पदचिन्हों पर चलते हुए शास्त्री ने सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी की सदस्यता प्राप्त की।[6] गोखले के देहावसान के पश्चात् शास्त्री ने सोसायटी का कार्यभार सम्भाला और वे इसके जीवन पर्यन्त अध्यक्ष रहे। फिरोजशाह मेहता, दीनशाह वाचा, दादाभाई नौरोजी, वी० कृष्ण-स्वामी अय्यर आदि भी शास्त्री के प्रेरणा स्रोत रहे।[7] इस प्रकार शास्त्री के विचारों पर उदारवाद का विशेष प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उदारवादी विचारधारा के अन्तर्गत ही शास्त्री ने संवैधानिक आन्दोलन को प्रमुखता दी। उनका यह विश्वास था

कि भारत में स्व-शासन की स्थापना सवैधानिक आन्दोलन से ही सम्भव थी। वे भी अन्य उदारवादियों की भांति ब्रिटेन से भारत के सम्बन्धों को दैवी कृपा मानते थे। शास्त्री के अनुसार ब्रिटेन ने भारत का शासन अपने हाथों में लेकर भारतीयों को अज्ञान, अंध-विश्वास तथा पारस्परिक जातीय वैमनस्य से मुक्ति प्रदान कर भारत को आधुनिकता एवं प्रगतिशीलता का मार्ग दिखाया था। अंग्रेजी भाषा ने भारत को एक सूत्र में पिरोया तथा उनमें नव चेतना का विकास किया। शास्त्री आंग्ल प्रभाव के प्रशंसक थे किन्तु वे भारतीय संस्कृति के भी परम उपासक रहे। उनका यह समन्वयवादी दृष्टिकोण ही उनकी सफलता का रहस्य बना रहा। वे अंग्रेजीराज से सहयोग करने की नीति के सहगामी रहे। अपने जीवन के अधिकतम वर्ष शास्त्री ने अंग्रेजीराज की भक्ति एवं सेवा में ही व्यतीत किये। अंग्रेजों की उनपर विशेष कृपा रही और उन्हें ऐसे सम्मान एवं पदों से विभूषित किया जो अन्य अंग्रेज भक्त तथा अंग्रेजी परस्त भारतीयों के लिए ईर्ष्या का विषय बन गया।

सवैधानिक आन्दोलन को शास्त्री ने भारत में विदेशी प्रशासन का मार्गदर्शक एवं सचेतक माना था। उनका यह विश्वास था कि सवैधानिक कार्यक्रम एवं सुधारों की मांगों से भारतीय प्रशासन सचेत होकर अपने उत्तरदायित्वों की पूर्ति करेगा तथा क्रमिक सुधारों के माध्यम से एक दिन भारत-स्वराज की कल्पना साकार हो सकेगी। अपने इन विचारों के कारण शास्त्री गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन के विरोधी रहे। वे सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के उग्रतम विरोधी थे।[8] उनकी यह धारणा थी कि यदि भारतीयों को असहयोग एवं अवज्ञा का पाठ ही पढ़ाया जाता रहा तो एक दिन भारत के स्वतंत्र हो जाने पर जनता स्वयं द्वारा निर्वाचित शासन का भी इसी प्रकार विरोध करेगी। भविष्य में यह स्वयं भारतीयों के लिये पश्चाताप का कारण बन जायेगा।[9] शास्त्री के ये विचार ब्रिटिश शासन के प्रति उनके अदम्य सहयोग के प्रतीक थे। 1923 में शास्त्री ने भविष्यवाणी की थी कि असहयोग से स्वराज-प्राप्ति असम्भव है किन्तु सहयोग की नीति तथा सवैधानिक आन्दोलन के सहारे भारत अपना लक्ष्य पच्चीस वर्षों में पूरा कर लेगा। उनकी इस गणना के अनुसार भारत को आजादी 1948 में मिलनी चाहिए थी, किन्तु हमें आजादी 1947 में ही मिल गयी।[10] शास्त्री की भविष्यवाणी काल-गणना से अवश्य सत्य हुई किन्तु उनका यह कथन सत्य नहीं कहा जा सकता कि भारत सहयोग से स्वराज प्राप्त करेगा। भारत की आजादी असहयोग एवं उग्र-असहयोग का ही परिणाम थी।

गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन की आलोचना करते हुए शास्त्री ने कहा था कि यह आन्दोलन सार्वजनिक एवं निजी सम्पत्ति के विनाश के लिये उत्तरदायी था। इसके कारण एक ओर अनेकों व्यक्तियों की जानें गयीं तो दूसरी ओर लगभग 20,000 व्यक्तियों की स्वतंत्रता का हरण हुआ। इससे शासन की कठोरता एवं सैन्य शक्ति में वृद्धि हुई। पारस्परिक सद्भाव का वातावरण बनने के बजाय हिन्दुओं और मुसलमानों में भयंकर विरोध को प्रश्रय मिला। इसने हमारे देश की विदेशों में बनी शांतिप्रियता एवं अहिंसा की धारणा को हिला दिया। जनता ने जोश में अनेकों ऐसे कृत्य किये जिनसे बर्बरता एवं हिंसा का ही बोध होता है। इससे सिद्ध हुआ कि हमारी भोली-भाली, अशिक्षित एवं अल्प विवेकी जनता को गलत एवं भ्रामक प्रचार ने किस प्रकार दिशाहीन बना दिया। इसमें उन समझदार भारतीयों के कार्य को ठेस पहुंची जो भारत-निर्माण के कार्य में लगे हुये थे।

इससे कथनी और करनी का भेद भी प्रकट हुआ। एक ओर बहिष्कार की बात कही गयी तो दूसरी ओर हमारे ही व्यक्तियों ने इसे असफल बनाया। भारत के बाल, वृद्ध, स्त्रियों, युवकों को असहयोग का मार्ग दिखाकर उनमें निराशा का भाव पैदा किया गया। उनमें अकर्मण्यता की भावना में वृद्धि हुई। असहयोग ने शासन का विरोध करना और शासन को हानि पहुंचाने का मार्ग बतलाया किन्तु उसका परिणाम जनता को हानि पहुंचाने में ही हुआ। इस प्रकार शास्त्री ने असहयोग-आन्दोलन की कटु शब्दों में आलोचना की।[11] गांधीजी ने 1933 के आमरण अनशन करने से पहले शास्त्री से अनशन के बारे में उनके विचार जानने के लिए पत्र लिखा तो उसके उत्तर में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि गांधीजी की उपवास की राजनीति न तो शास्त्र सम्मत थी और न विवेक तथा मानवतावादी सिद्धान्तों पर आधारित। वे ऐसे प्रयास को नैतिक दबाव मानते थे।[12]

शास्त्री नागरिक-स्वतन्त्रताओं के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने अंग्रेजी शासन के हिमायती होते हुए भी रॉलट-एक्ट का तीव्र विरोध किया। जलियांवाला बाग हत्याकांड के संदर्भ में राज्य-परिषद् में 1919 में बोलते हुए जब उनके एक प्रस्ताव को गवर्नर जनरल ने स्वीकृति नहीं दी तो वे विरोध प्रदर्शन में सदन से बहिर्गमन कर गये। उनका प्रस्ताव था कि दमनकारी कानूनों की एक समिति द्वारा समीक्षा की जावे तथा आवश्यकतानुसार उनका संशोधन अथवा समापन कर दिया जावे। जब यही प्रस्ताव शास्त्री ने 1921 में मौंटेग संविधान के अन्तर्गत नवगठित राज्यपरिषद् में प्रथम गैरसरकारी प्रस्ताव के रूप में रखा तब उसे सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया।[13] भारतीय जनता के नागरिक अधिकारों के लिए वे निरन्तर तत्पर रहे। कलकत्ता में 1926 की कमला-व्याख्यानमाला के अन्तर्गत शास्त्री ने भारतीय नागरिकों के अधिकारों एवं कर्तव्यों पर भाषण दिये।[14] उनका यह दृष्टिकोण था कि राज्य नागरिकों के उच्चतम नैतिक कल्याण के लिए है। गांधीजी के विचारों को दोहराते हुए उन्होंने कहा कि राज्य का लक्ष्य नागरिकों की शक्तियों एवं क्षमताओं को उच्चतम स्तर तक विकसित करने का होना चाहिए।[15] वे स्त्रियों के लिए पुरुषों के समान अधिकारों के समर्थक थे। स्त्रियों को शिक्षा, व्यवसाय, सम्पत्ति, विवाह तथा तलाक में पुरुषों के समान अवसर प्राप्त हों, वे इसके पक्ष में थे। उन्होंने सह-शिक्षा का पुरजोर समर्थन करते हुए स्त्रियों के लिए पृथक् विद्यालयों एवं संस्थानों का विरोध किया।[16]

वे प्रजातीय समानता के पक्षधर थे। वे सभी प्रजातियों में, विशेषकर भारतीय एवं अंग्रेजी प्रजातियों में, समानता के लिए प्रयत्नशील रहे। 1921 के साम्राज्यिक सम्मेलन में शास्त्री ने ब्रिटिश उपनिवेशों में वैधानिक तरीके से अधिवासी भारतीयों के लिए नागरिकता के अधिकारों की मान्यता दिलाने के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत किया। दक्षिण अफ्रीका के अतिरिक्त सभी उपनिवेशों ने इस प्रस्ताव को स्वीकृत किया और कालान्तर में क्रियान्वित भी किया। शास्त्री के प्रयत्नों से बाद में दक्षिण अफ्रीका ने भी इसे सिद्धान्त रूप से केपटाउन समझौते के अंतर्गत स्वीकार कर लिया था किन्तु अंत में दक्षिण अफ्रीका पुनः रंगभेद नीति का अनुगामी बन गया।[17] शास्त्री के विचारों को सबसे अधिक धक्का केन्या की समस्या से लगा था। केन्या में भारतीयों को प्रतिनिधित्व दिलाने का जो कार्य शास्त्री ने हाथ में लिया था वह ब्रिटिश सरकार तथा केन्या के गोरों ने असफल

कर दिया। रंगभेद तथा प्रजातीय भेदभाव का यह ताण्डव देखकर शास्त्री इतने दुःखित हुए कि उनकी अंग्रेजीशासन के प्रति वह निष्ठा एवं श्रद्धा नहीं रही जो पहले थी।[18]

शास्त्री ने राष्ट्रमण्डलीय संगठन के सिद्धान्त को सैद्धान्तिक मान्यता दिलवाने का प्रयास किया। उनका यह विचार था कि प्रत्येक अधिराज्य को उत्प्रवासन एवं आप्रवासन नियन्त्रित करने का अधिकार है, किन्तु वे इस विचारधारा को स्वीकार नहीं करते थे कि अधिराज्यों को यह शक्ति राष्ट्रमण्डलीय देशों में पारस्परिक आदान-प्रदान को सङ्कुचित कर दे। उनका मुख्य लक्ष्य भारतीयों के साथ भेद-भाव की नीति का विरोध करना था। वे दक्षिण अफ्रीका के विरोधी रवैये से प्रसन्न नहीं थे। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से निसृत लाभकारी परिणामों को दृष्टि में रखते हुए शास्त्री ने भारत के राष्ट्रमण्डल में बने रहने के पक्ष को प्रबल समर्थन दिया। उनके विचारों में भारत राष्ट्रमण्डल के सदस्य के रूप में अपना अधिक विकास कर सकता था।[19]

भारत की भावी स्वतन्त्रता को दृष्टि में रखते हुए शास्त्री ने भारत के लिए अधि-राज्य-स्थिति की शीघ्र प्राप्ति पर जोर दिया। वे भारत के हित में तथा भारत की माँग पर कतिपय कार्यों पर ब्रिटिश नियन्त्रण स्वीकार करने के विरोधी नहीं थे। किन्तु वे अधिराज्य-स्थिति की क्रमिक प्रगति के विरोधी थे। उन्हें इस नीति में विश्वास नहीं था कि भारत में अधिराज्य की स्थापना समय-समय पर ब्रिटिश सरकार द्वारा की गयी समीक्षा पर आधारित की जावे। वे अधिराज्यीय शर्तों के प्रयोजन को क्रियान्वित करने के पहले अधिराज्य की स्थापना का क्रियान्वयन चाहते थे ताकि भारत को प्रतीक्षा न करनी पड़े।[20]

भारत की संवैधानिक स्थिति के विषय में भी शास्त्री ने अपने परिपक्व विचार प्रस्तुत किये। मॉण्टेग्यू की अगस्त 1917 की घोषणा के पहले तक उनका विचार भारत में अनुत्तरदायी शासन की स्थापना का था। वे इंग्लैण्ड की भाँति उत्तरदायी राज्य-व्यवस्था नहीं चाहते थे। वे चाहते थे कि कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका संविधान द्वारा निश्चित समय तक कार्यशील रहें। वे अमेरिका के नमूने पर अपने विचार आधारित करते हुए वहाँ के राष्ट्रपति तथा कांग्रेस के सम्बन्धों के सदृश व्यवस्था भारत के लिए उपयोगी मानते थे। वे चाहते थे कि असहमति उत्पन्न होने की स्थिति में कार्यपालिका द्वारा प्रति-निधि-व्यवस्थापिका के आदेशों का पालन किया जावे। वे ब्रिटेन की संसदात्मक व्यवस्था को दोषयुक्त मानते थे। वे नहीं चाहते थे कि स्वयं ब्रिटेन के लिए दोषयुक्त संसदीय प्रणाली को भारत में प्रयुक्त किया जावे। किन्तु शास्त्री के इन विचारों में मॉण्टेग्यू की घोषणा के बाद परिवर्तन आया। मॉण्टेग्यू ने अपनी सुप्रसिद्ध घोषणा के माध्यम से भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया जिसके कारण शास्त्री ने राजनीतिक यथार्थ एवं उपयोगितावादी उत्तरदायी शासन की धारणा को ही भावी संवैधानिक योजनाओं का आधार स्वीकार कर लिया। शास्त्री जानते थे कि भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना मूलतः अंग्रेजों की कृपा एवं स्वेच्छा पर ही सम्भव थी। ऐसी स्थिति में अंग्रेज अपने संसदीय गौरव से अभिभूत हो भारत में अन्य किसी व्यवस्था की स्थापना के इच्छुक न होंगे। वे इस कारण बाधा उत्पन्न करना उचित नहीं समझते थे। उन्हें भय था कि किसी अन्य शासन पद्धति का प्रचार भारत के विरोधियों द्वारा भारत की संवैधानिक प्रगति को शिथिल बनाने का कारण बन जावेगा। इस प्रकार वे अनुत्तरदायी शासन के स्थान पर

उत्तरदायीशासन के समर्थक बन गये।[21]

शास्त्री ने संवैधानिक संरचना के सम्बन्ध में भी अपने विचार व्यक्त किये। प्रारम्भ में उनके विचार भारत में एकात्मक संविधान की स्थापना के पक्षपाती थे। वे चाहते थे कि भारत में एकात्मक शासन, जिसके अन्तर्गत देशी-रियासतें तथा ब्रिटिश प्रान्त दोनों ही समाविष्ट थे, यथावत् चलता रहे। देशी रियासतों में ब्रिटिश प्रान्तों के समान लोकतन्त्रात्मक प्रयोग किये जायें। उनका यह सुझाव था कि उन्नत देशी रियासतें अपने वहां लोकतान्त्रिक संस्थाओं की स्थापना करें तथा शेष छोटी रियासतें जो कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं उन्नत रियासतों में मिला दी जायें। वे भारत के उस एकीकरण का स्वप्न देख रहे थे जो सरदार पटेल द्वारा भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के बाद पूरा हुआ। शास्त्री ने एक प्रमुख सुझाव यह प्रस्तुत किया कि भारत-सरकार ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों की जनता द्वारा चुनी हुई व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हो न कि ब्रिटेन की संसद् के प्रति। वे भारत-सरकार द्वारा देशी रियासतों पर पूर्ण प्रभुसत्ता की स्थापना चाहते थे। उन्हें यह स्वीकार नहीं था कि देशी रियासतों का ब्रिटिश सम्राट से सीधा सम्बन्ध रहे। वे राजनीतिक एवं संवैधानिक दृष्टि से भी इसे अनुपयुक्त मानते थे। किन्तु प्रथम गोलमेज-सम्मेलन के बाद शास्त्री के इन विचारों में आमूलचूल परिवर्तन दिखाई दिया। सम्मेलन के बाद देशी रियासतों के शासकों ने ब्रिटिश प्रान्तों के साथ मिलकर भारत-संघ की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। भारत में अधिराज्य स्थिति की स्थापना को भी रियासतों ने स्वीकार कर लिया जिसके द्वारा उनपर ब्रिटिश सर्वोच्चता समाप्त होने वाली थी। यद्यपि भारत-संघ की स्थापना कठिन थी और देशी रियासतों के शासकों ने अपने हितों की रक्षा के लिए अनेक अलोकतान्त्रिक प्रावधानों की मांग की थी फिर भी शास्त्री ने इस योजना का स्वागत किया। कालांतर में ब्रिटिश सरकार ने देशी रियासतों पर अपनी प्रभुसत्ता भारत-सरकार को सौंपने से अस्वीकार कर दिया। वह भारत की देशी रियासतों के शासकों की सहमति के बिना उन्हें भारत-सरकार के अधीन नहीं करना चाहती थी। भारत-सरकार केवल ब्रिटिश प्रान्तों के शासन के लिए उत्तरदायी रखी गयी। इसका एक कारण यह भी था कि देशी रियासतों के शासक ब्रिटेन की सर्वोच्चता को गांधी तथा नेहरू की कांग्रेस की सर्वोच्चता से अधिक अच्छा मानते थे। ऐसे हृदयविदारक वातावरण में भारत अधिराज्य की स्थापना असंभव सी थी। कांग्रेस की शक्ति को क्षीण करने के लिए देशी रियासतों ने अंग्रेजों के समर्थन में अपना कुचक्र प्रारम्भ कर दिया था। वे भारतीय व्यवस्थापिका के लिए अपने प्रतिनिधि स्वयं मनोनीत करना चाहते थे ताकि कांग्रेस को रियासतों में एक भी स्थान प्राप्त न हो सके और रियासतों के शासक अपने वहां लोकतन्त्र को जड़ से उखाड़ सकें। इतने पर भी शास्त्री अधिराज्य-स्थिति के लिये लालायित थे। वे इसके लिये संघ की स्थापना तथा देशी रियासतों की लोकतन्त्र विरोधी हरकतों को मानने के लिए भी तैयार थे। उनका यह विश्वास था कि एक बार भारत में अधिराज्य-स्थिति स्थापित होने के पश्चात् प्रजातन्त्र-विरोधी शक्तियां अपने आप क्षीण हो जायेंगी।[22]

शास्त्री भारत में भाषायी राज्यों की स्थापना तथा भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के विरुद्ध थे। वे मानते थे कि भारत राष्ट्र एक है और उसकी एकीकृत राज-

मौलिक संरचना है। भाषायी आधार पर भारत का विघटन देश को खोखला कर देगा। प्रान्तीय भाषाओं की पृथक् इकाइयाँ भारत के मूल स्रोत से पृथक् हो जायेंगी। एक प्रान्त के निवासी दूसरे प्रान्त वालों के लिए अपरिचित से हो जायेंगे। केन्द्रीय सरकार का खर्च बढ़ेगा और प्रान्त अपने संकीर्ण प्रान्तवाद एवं पिछड़े राजनीतिक उद्देश्यों को लेकर चलेंगे।[23] वे इसे राष्ट्रविरोधी मानते थे। वे भारत की एकता तथा अखण्डता के लिए अंग्रेजी भाषा की अनिवार्यता पर बल देते थे। आजादी के बाद भी 20 से 30 वर्ष तक अंग्रेजी शासन-कार्य में प्रयोग लायी जाने वाली थी।[24]

शास्त्री के राजनीतिक विचारों का विवरण उनके साम्प्रदायिक समस्या विषयक विचारों के विवेचन के बिना अपूर्ण माना जायेगा। यद्यपि शास्त्री का पारिवारिक वातावरण सनातनधर्म के सिद्धान्तों से आप्लावित था, किन्तु हिन्दू-धर्म की सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति श्रीनिवास शास्त्री अपने राजनीतिक जीवन में सदैव धर्मनिरपेक्षता के पुजारी रहे। वे हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सम्बन्धों को सौहार्द्रपूर्ण बनाने में विश्वास रखते थे। इसी मंतव्य से उन्होंने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को अस्थायी समाधान के रूप में स्वीकार किया। वे नहीं चाहते थे कि साम्प्रदायिकता का यह विषवृक्ष भारत के भावीजीवन को आच्छादित कर दे। उन्हें यह जानकर खेद होता था कि भारत के मुसलमान अंग्रेजों के इशारों पर इस मनोवैज्ञानिक बुराई से चिपके हुए थे। पंजाब के धर्मान्ध मुसलमानों द्वारा कोहाट के निरीह हिन्दुओं पर 1923 में किये गये अत्याचारों का चित्र उनके स्मृतिपटल पर स्पष्ट अंकित था। इस सम्बन्ध में वे गांधीजी से भी रुष्ट हुए थे। किन्तु इस साम्प्रदायिक समस्या का हल मुसलमानों की सहमति पर ही आधारित दिखाई देता था अतः वे उन्हें कुछ समय के लिए तुष्ट करने हेतु उनके लिए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार करने में पीछे नहीं रहे। वे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को केवल व्यवस्थापिका तक ही सीमित रखना चाहते थे। वे इसे नगरपालिकाओं, विश्वविद्यालयों एवं अन्य निर्वाचित संस्थाओं तक नहीं फैलने देना चाहते थे। उनका यह भी तर्क था कि साम्प्रदायिक मतदान अनिवार्य नहीं होना चाहिए। जो व्यक्ति साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्र से सामान्य निर्वाचन क्षेत्र में मतदान करने को इच्छुक हो, उन्हें इसकी स्वतन्त्रता दी जाये। उनका यह भी सुझाव था कि कुछ ऐसे सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र भी रखे जाय जिसमें सभी समुदाय एक साथ मतदान कर सकें। एक स्वस्थ विकल्प के रूप में उन्होंने यह भी सुझाया कि व्यवस्थापिकाओं में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के लिए सामान्य निर्वाचक-सूचियों द्वारा निर्वाचन किया जाये और यदि अ-साम्प्रदायिक निर्वाचन में मुसलमानों को निश्चित स्थान प्राप्त न हो सकें तो मुस्लिम निर्वाचन सूची के आधार पर मुसलमानों के लिए पूरक निर्वाचन किया जाय।[25]

शास्त्री ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को विवशता में स्वीकार किया, किन्तु वे पाकिस्तान की माग को किसी मूल्य पर स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। वे कांग्रेस से सम्बन्धित हो कर भी कांग्रेस द्वारा मुस्लिम लीग को तुष्ट करने की नीति के पक्षपाती नहीं थे। उन्हें इस बात का क्षोभ था कि कांग्रेस के चोटी के नेताओं ने जिन्ना जैसे पृथकतावादियों को बढ़ावा देकर मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की माग को बढ़ावा दिया। उनका विश्वास था कि हिन्दू-मुस्लिम तनाव के लिए ब्रिटेन को दोष देना व्यर्थ था। वे स्वयं 1930 में तथा 1931 के गोलमेज-सम्मेलनों में आगाखाँ, अली तथा जिन्ना के

अविवेकी पागलपन का दृश्य अपनी आँखों से देख चुके थे।[26] यही कारण था कि उन्होंने गांधीजी द्वारा मुस्लिम लीग को भारत की सत्ता सौंपने अथवा कांग्रेस तथा लीग में भारत को आधा आधा बाँटने के प्रस्तावों की भर्त्सना की। यदि वे भारत का विभाजन देखने के लिए जीवित रहते तो वे इस असह्य वेदना को सहन न कर पाते।[27] वे भारत का विभाजन स्वीकार करने सम्बन्धी सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी के निर्णय से इतने क्रुद्ध हुए कि उन्होंने अपनी सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। यद्यपि उनका त्यागपत्र स्वीकार नहीं किया गया और उनके प्रभाव से सोसायटी की नीति भी परिवर्तित हुई, किन्तु इससे स्पष्ट है कि शास्त्री के अलावा कांग्रेस में अन्य कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो कि विभाजन का इतना उग्र विरोधी रहा हो।[28] शास्त्री के जीवन का यह ऐसा पक्ष था जो उन्हें रानाडे तथा गोखले की परम्परा से दूर कर तिलक तथा लाजपतराय की उग्रवादी विचारधारा में मिला देता है। वे हर कीमत पर विभाजन का विरोध कर रहे थे। शायद गांधीजी के ढिलमिल विचारों को शास्त्री की सलाह ने ही ठीक किया और शास्त्री की मृत्यु के बाद वे ही अकेले कांग्रेसी थे, जिन्होंने विभाजन के विरोध में अपना ऐतिहासिक वक्तव्य दिया।

यद्यपि शास्त्री ने विभाजन का विरोध किया था, किन्तु वे विभाजन को रोकने के लिए असहयोग एवं अहिंसा का सहारा लेने वाले व्यक्ति नहीं थे। 75 वर्ष की आयु में शास्त्री कह रहे थे कि विभाजन को रोकने के लिये कांग्रेस के मन्त्रियों को शासन सम्हाल लेना चाहिए और पुलिस द्वारा शांति एवं सुरक्षा के प्रबन्ध को और भी पक्का करना चाहिए।[29] यदि उनकी सलाह मान ली गयी होती तो विभाजन के कारण अपार जन-धन की हानि एवं पाकिस्तान के निर्माण को रोका जा सकता था।

शास्त्री ने अन्त समय तक ब्रिटिश शासन से सहयोग की बात कही किन्तु इसका यह यह तात्पर्य नहीं कि वे अन्य उदारवादियों के समान ब्रिटिश शासन के अंध भक्त थे। वे सहयोग की बात इसलिए कह रहे थे कि ब्रिटेन के सहयोग के बिना भारत की स्वतन्त्रता सम्भव नहीं थी। यदि मुस्लिम लीग के मंसूबों पर पानी फेरना था तो वह भी ब्रिटेन की सहायता से ही सम्भव था। यह एक कटु सत्य था किन्तु गांधीजी तथा उनके सहयोगियों ने भी इसका ही सहारा लिया था। अन्तर यह था कि शास्त्री बिना लागलपेट के यह विचार प्रकट कर रहे थे जबकि गांधीजी, राजगोपालाचारी, नेहरू आदि हेमलेट की भांति द्विविधा के शिकार थे।[30]

शास्त्री ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए, द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान, अमेरिका द्वारा सिफारिश कराये जाने का भी विरोध किया था। वे जानते थे कि अमेरिका की बात चर्चिल नहीं मानेगा। किन्तु गांधीजी तथा जयकर राजी न हुए। हुआ भी ऐसा कि चर्चिल ने रूजवेल्ट की बात नहीं मानी और शास्त्री के विचार सत्य सिद्ध हुए। इसी प्रकार शास्त्री ने भारत-सचिव एमरी द्वारा लार्ड वैवल को गुमराह किये जाने सम्बन्धी मन्त्रणा के विरोध में वैवल को सचेत किया। एमरी चाहता था कि कांग्रेस द्वारा 'भारत छोड़ो आन्दोलन' वापस न लिए जाने तक उनसे कोई वार्ता न की जावे। इस पर शास्त्री ने एमरी, महात्मा गांधी तथा वैवल के नाम तीन "खुले पत्र" लिखे। अपने वैवल के नाम पत्र में शास्त्री ने लिखा कि भारत को ब्रिटेन, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया के समान अधिराज्य-स्थिति दी जावे। वे ब्रिटन को भी अन्य अधिराज्यों के समान स्तर पर रख

रहे थे।[31] उनके द्वारा बैंदल को मध्यस्थता करने का सुझाव भी दिया गया, ताकि भारत का विघटन कराने वाली शक्तियों को बल न मिले। उन्होंने स्पष्ट किया कि इंगलैण्ड, केन्या तथा उत्तरी आयरलैंड के मामले में अल्प सम्यको द्वारा सशस्त्र विरोध की धमकियों के डर से जो त्रुटियां कर बैठा है वही त्रुटियां भारत में न कर बैठे।[32]

शास्त्री भारत के संदर्भ में राष्ट्रीयताओं के आत्म-निर्णय सम्बन्धी अधिकार को उचित नहीं मानते थे। मुस्लिम-लीग की पाकिस्तान की मांग का विरोध करते हुए उन्होंने व्यक्त किया कि आज के विश्व में जो कि भौगोलिक दृष्टि से सिकुड़ता जा रहा है इस प्रकार के आत्म निर्णय का कोई स्थान नहीं। वे केवल सांस्कृतिक आत्म-निर्णय को मान्यता देने के पक्ष में थे। उनका कथन था कि भविष्य के अन्तर्राष्ट्रीय विश्व में सांस्कृतिक आत्मनिर्णय ही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का परिचायक होगा।[33]

शास्त्री के सामाजिक विचार

शास्त्री के सामाजिक विचारों में स्त्रियों की दशा को सुधारने एवं उनको पुरुषों के समान अधिकार एवं सामाजिक स्तर दिलाने का विशेष स्थान रहा। विवाह तथा मातृत्व तक ही स्त्रियों को सीमित रखना उन्हें रुचिकर नहीं लगा। स्त्रियों के अविवाहित रहने तथा उन्हें स्वेच्छा से व्यवसाय चुनने को वे बुरा नहीं मानते थे। वे स्त्रियों को आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र एवं स्वावलम्बी बनाने के पक्ष में थे। उन्हें सम्पत्ति का उत्तराधिकार पुरुषों के समान प्राप्त होना चाहिए था। शास्त्री सह-शिक्षा के प्रचारक थे। कुछ विषय जैसे संगीत तथा शिशु-परिचर्या स्त्रियों के लिए अलग से पढ़ाये जा सकते थे, किन्तु अन्य विषयों में लड़के तथा लड़कियों को समान ही माना जाना चाहिए था। स्त्रियों के लिए पृथक् विद्यालयों की मांग उन्हें स्वीकार नहीं थी। इसी कारण से शास्त्री ने कर्वे द्वारा स्थापित पूना के भारतीय महिला-विश्वविद्यालय के उप-कुलपति पद को स्वीकार नहीं किया था। वे महिलाओं को प्रशासन, अध्यापन तथा अन्य समस्त विभागों से सम्बन्धित देखना चाहते थे। भारत की स्त्रियों को बिना संघर्ष किये मताधिकार प्राप्त हुआ था, जबकि पश्चिम के देशों में स्त्रियों को इसे प्राप्त करने के लिये संघर्ष करना पड़ा था। अतः शास्त्री यह चाहते थे कि भारत में स्त्रियों द्वारा मताधिकार का उचित प्रयोग किया जायेगा तथा वे स्वतन्त्र रूप से अपने विचार रख सकेंगी।[34]

शास्त्री ने विवाह की संस्था के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किये। वे भारतीयों की और विशेष तौर पर हिन्दुओं की विवाह पद्धति को धर्म से इतनी ओत-प्रोत मानते थे कि उसके सम्बन्ध में विचार व्यक्त करना झगड़ों से भरा था। उनके अनुसार विवाह दासता का बंधन मात्र रह गया था। स्त्रियों को विवाह के पश्चात् पुरुष के आधिपत्य को पूर्णतया स्वीकार करना पड़ता था। इसे शास्त्री प्रगति तथा प्रसन्नता का विरोधी मानते थे। पश्चिम में जहां पारिवारिक स्वतन्त्रता के वातावरण में स्त्रियों का समान आदर होता है, वहां भी गृह-कलह होते हैं किन्तु तलाक की सुविधा ने वहां स्त्रियों की स्थिति को बिगड़ने से बचाया है। यद्यपि शास्त्री इसी प्रकार की स्वतन्त्रता भारत के लिए भी चाहते थे किन्तु वे तलाक के प्रश्न पर बहुत सतर्कता से विचार व्यक्त कर रहे थे ताकि प्राचीन भारतीय मान्यताओं को अधिक ठेस न पहुंचे। शास्त्री ने कन्या क्रय-विक्रय का विरोध किया। वे अवाहित तथा अन्य कारणों से विवाह के अयोग्य कन्याओं को

अनिवार्य वैवाहिक बन्धन में बाँधने को बुरा मानते थे। ऐसी कन्याओं के लिए माता-पिता के पास रहना ही श्रेयस्कर था ताकि उन्हें प्यार तथा सहानुभूति मिलती रहे अन्यथा पतिगृह में ऐसी कन्याओं को अमानुषिक व्यवहार का शिकार ही बनना पड़ेगा। वे ऐसे स्त्री-पुरुषों की अनिवार्य नसबन्दी चाहते थे, जो विकृत थे और जिनकी संतति भी विकृत हो सकती थी।[35]

शास्त्री ने दहेजप्रथा का जोरदार शब्दों में विरोध किया। "वर-दक्षिणा" की कुटिल प्रथा को वे समाप्त करना चाहते थे। मद्रास प्रान्त में यह दहेज बढ़ता ही जा रहा था और यदि होने वाला दामाद आई सी एस होता तो दहेज के दाम सर्वाधिक हुआ करते थे। शास्त्री ने सुझाव दिया था कि वर को दहेज में धन देने के स्थान पर वधू को वह धन दिया जाना चाहिए, ताकि मुसीबत के समय वह उस धन का प्रयोग कर सके और उसमें आत्म-सम्मान एवं आत्म-विश्वास जागृत हो सके। शास्त्री पुत्रियों को पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार दिलाने के पक्ष में थे। बढ़ती हुई आबादी को ध्यान में रखते हुए शास्त्री ने परिवार नियोजन पर भी अपने विचार व्यक्त किये। वे गर्भ-निरोध के साधनों का प्रयोग करने के लिए जन-जागृति चाहते थे।[36] उन्हें फिर भी यह सन्देह था कि भारत की स्त्रियाँ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की मनोस्थिति में नहीं हैं। वे परम संतोषी हैं और अच्छाई-बुराई को विधाता के विधान पर छोड़ देती हैं। यह स्थिति शास्त्री को स्वीकार नहीं थी। वे महिलाओं में जागृति का प्रसार चाहते थे ताकि उनका जीवन ऊंचा उठ सके और वे दमन तथा अन्याय का प्रतिकार कर सकें। वे भारत की नारियों को विश्व की समस्त नारियों से श्रेष्ठ मानते थे क्योंकि भारत की नारियाँ लोभ, लालच, वासना से ऊपर उठकर विवाह के बंधन की पवित्रता को जितना निभा सकती थी, वैसा उदाहरण विश्व में अन्यत्र मिलना असम्भव था।[37]

शास्त्री ने समाजसुधार का कार्य अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ से ही किया था। वे कन्याओं की, विशेषकर ब्राह्मण कन्याओं की विवाह आयु रजोदर्शन पर आधारित करना चाहते थे।[38] इस सम्बन्ध में वे मद्रास विधायी परिषद् में विधेयक भी पारित कराना चाहते थे। वे अपने परिवार में भी इस नियम का पालन कर रहे थे। किन्तु उन्हें अन्तर्जातीय विवाह पसन्द नहीं थे। वे जाति-व्यवस्था के विरोधी थे और थियोसोफिकल सोसायटी द्वारा जाति-व्यवस्था को उचित ठहराने तथा ब्राह्मण-विधवाओं के पुनर्विवाह का उन्होंने प्रतिकार भी किया था किन्तु वे इस सत्य को नहीं छिपाना चाहते थे कि वे स्वयं अन्तर्जातीय विवाह को अपने परिवार में प्रयुक्त नहीं करेंगे। वे इसका विरोध इसलिए नहीं कर रहे थे कि इस व्यवस्था में बुराई थी, अपितु इस कारण से विरोध कर रहे थे कि अन्तर्जातीय विवाह सामाजिक बहिष्कार तथा अन्य पारिवारिक संकट उत्पन्न करने वाला था जिसके लिए वे तैयार नहीं थे।[39] हिन्दुओं में अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्धी विधेयक भारतीय व्यवस्थापिका सभा में 1920 में एक गैर सरकारी विधेयक के रूप में लाया गया था और शास्त्री ने इस विधेयक का स्वागत किया था क्योंकि इसके द्वारा वैवाहिक स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त हो रहा था। यद्यपि इस विधेयक को अधिक समर्थन नहीं मिला और यह विधेयक न्यायालय की प्रामाण्यता की परिधि के बाहर रहा फिर भी शास्त्री द्वारा इसका समर्थन उनके सामाजहितकारी विचारों को दर्शाता था। वे इस बात

वे प्रसन्न थे कि भारत-सरकार, जोकि धर्म से ईसाई थी तथा जातिकी दृष्टि से विदेशी थी, भारत में सामाजिक सुधारों के बारे में विशेषतः हिन्दुओं के विवाह सम्बन्धी निजी मामलों में, तब तक हस्तक्षेप करने में निष्क्रिय थी जब तक कि बहुसंख्यक हिन्दू समाज ऐसे नियमों पर अपनी स्वीकृति की छाप न लगा दे और शासन द्वारा उनको व्यवस्थापन का जामा पहनाना केवल औपचारिकता ही रह जावे।[40]

अछूतों की समस्या के सम्बन्ध में शास्त्री के विचार रूढ़िवादिता से बद्ध थे। दक्षिण भारत के ब्राह्मणों की रूढ़िवादिता का सबसे अमानवीय पक्ष उनके द्वारा अछूतों से घृणा करने का था। शास्त्री इसके अपवाद नहीं थे। केवल एक बार शास्त्री ने एक अछूत को अपने घर में शरण दी और वह भी इसलिए कि महात्मा गांधी उस अछूत के बिना शास्त्री के मेहमान बनने को तैयार न थे। वे अछूतों को घर के निजी देवालय में प्रवेश करने के कट्टर विरोधी थे।[41] शास्त्री के जीवन का यह पक्ष दक्षिण भारत के ब्राह्मणों की पारिवारिक विरासत का परिणाम था। आलोचना में कुछ भी कहा जा सकता है किन्तु शास्त्री की महानता यह थी कि उन्होंने इस बात को कभी छिपाया नहीं। शास्त्री कट्टर ब्राह्मण-परिवार में उत्पन्न हुए थे, किन्तु समय एवं परिस्थितियों के प्रवाह में उन्होंने अपने आपको ढालने का पूरा प्रयास किया। फिर भी उनके सामाजिक जीवन के कतिपय पक्ष ऐसे थे जो कि उनकी रूढ़िवादिता की बरबस याद दिलाते थे।

शास्त्री का अध्यात्म सम्बन्धी दृष्टिकोण

शास्त्री ने धर्म तथा दर्शन के सम्बन्ध में व्यवस्थित शास्त्रीय विचार व्यक्त नहीं किये, फिर भी उनके स्फुट विचारों में धर्म एवं दर्शन का अनोखा पुट दिखाई देता है। शास्त्री का विश्वास था कि सत्य की व्यवस्था सर्वाधिकारवादी है जिसमें अपवाद नहीं होते। असत्य भाषण एवं असत्य व्यवहार जीवन की त्रुटियां हैं। सत्य शाश्वत है। विवेक की सीमाएं हैं और कई बार विवेक द्वारा सत्य के दर्शन नहीं होते। फिर भी विवेक से मुक्ति नहीं। विज्ञान द्वारा विवेक का प्रयोग अन्ततः सत्य तक पहुंचने का मार्ग है। विज्ञान को ही सभ्यता का एक मात्र शत्रु क्यों माना जावे। इतिहासकार, लेखक, राजनेता सभी असत्य का वरण कर सभ्यता के विनाश की ओर मानवता को धकेलते रहे हैं। राज्य की सत्ता की सीमाएं होनी चाहिए ताकि वह अपने निर्माणक तत्त्वों पर सर्वोपरि न हो जावे।[42]

शास्त्री आत्मा की अमरता को पूर्णतया स्वीकार नहीं करते थे। उनमें अज्ञेयवादी दर्शन एवं बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों का अपूर्व सम्मिश्रण दिखाई देता है। जीवन के अन्तिम पक्ष में वे गीता के कर्मवाद से प्रभावित रहे। गीता के भक्तियोग ने उनके हृदय पर अधिकार स्थापित किया किन्तु मस्तिष्क पर नहीं। विवेक तथा श्रद्धा के संघर्ष में विवेक की विजय रही। वे मृत्यु को जीवन का अंग मानने लगे। उनका विचार था कि अमरत्व का आविष्कार मृत्यु के भय से किया गया है। कर्मवाद का भी इसी कारण से प्रयोग किया गया किन्तु उनकी दृष्टि में वह विवेकयुक्त उत्तर नहीं था।[43]

शास्त्री वाल्मीकि कृत रामायण के परमभक्त थे। किन्तु वहां भी उनकी रामायण साधना एक साहित्यिक अनुरागी की ही रही। वे रामायण को धर्मनिरपेक्ष दृष्टि से देखते थे न कि धार्मिक तथा परम्परागत दृष्टि से।[44] वे इसे मानवीय ग्रन्थ मानते हुए उसकी

आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करना चाहते थे न कि धार्मिक ग्रंथ मानकर उस पर पवित्र एवं तर्करहित श्रद्धा का प्रदर्शन।[45] उनके रामायण पर भाषणों का लगभग 500 पृष्ठों का संग्रह उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। गांधी जी उनके रामायण संबंधी विचारों से प्रभावित थे यद्यपि गांधीजी का दृष्टिकोण शास्त्री से भिन्न था।

शास्त्री ने 1916 में रामायण पर अपने विचारों को प्रकट करते हुए राम को अवतार न मानकर एक श्रेष्ठ मानव के रूप में देखा। उनका विश्वास था कि राम को ईश्वर की तरह मानकर जो रामायण का अध्ययन करता है वह उससे कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यदि हम कथानक को मानवीय घटनाचक्र के रूप में देखा जाय तो पता चलेगा कि यह विवेक के बहुमूल्य खजाना से पूर्ण है।[46] शास्त्री के अनुसार, अलौकिक न होने हुए भी राम मानव की श्रेष्ठता के प्रतीक हैं। एक पुत्र, पति, शासक, समर्थक या अन्य के मित्र के रूप में व मानव की प्रकृति को श्रेष्ठता की ओर उठने की प्रेरणा देते हैं। शास्त्री पर रामायण का इतना चमत्कारिक प्रभाव था कि वे इसके सम्बन्ध में चर्चा करते करते भाव विह्वल हो उठते और उनके नेत्र अनायास अश्रुपूरित हो जाते। रामायण के पात्र उनके जीवन का अंग बन गये थे। वे मानते थे कि राम और सीता का चरित्र पढ़ कर ऐसी अनुभूति होती है जैसे कि हम मानव न होकर ईश्वरीय महिमा एवं उच्चता की ओर आकर्षित हो रहे हों।[47] शास्त्री ने इण्डियन रिव्यू (जनवरी, 1946) में अपने लेख "बुक्स देट इन्फ्लुएन्स्ड मी" में शेक्सपीयर, बर्क, स्कॉट, जॉर्ज इलियट, टिडाल, टी. एच हक्सले, हर्बर्ट स्पेन्सर, जॉन स्टुअर्ट मिल, मार्कस आरेलियस, टॉलस्टॉय, टॉमस हार्डी तथा विक्टर ह्यूगो का विवरण देकर रामायण की प्रशंसा में अपना उपसंहार लिखा। उन्होंने व्यक्त किया, "रामायण विश्व साहित्य में बेजोड़ है। कथानक की श्रेष्ठता को लें, या चरित्रों के वैविध्य को, इसके आदर्शवादी स्वर को लें अथवा श्रद्धालु हृदय के प्रति इसके आग्रह को, यह काव्यात्मक प्रतिभा के उच्चतम कीर्तिस्तम्भों में से है।"[48] शास्त्री रामायण की इस अमरता के संदेश-वाहक थे।[49]

शास्त्री का योगदान

श्रीनिवास शास्त्री भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक चिंतन के विस्मृत किन्तु अद्भुत विचारक माने जा सकते हैं। वे उदारवाद की परम्परा में पले तथा सार्वजनिक जीवन में उदारवादियों की भांति क्रियाशील हुए किन्तु समय एवं समस्याओं के व्यावहारिक निदान ने उनके विचारों में उदारवाद की आस्था को झकझोर दिया। केन्या में भारतीयों की समस्या का समाधान न होने पर उनके विचारों में विचित्र परिवर्तन दिखाई दिया। वेलेंटीन शिरोल ने इस सम्बन्ध में व्यक्त किया कि शास्त्री उदारवादी से स्वराज्यवादी होते जा रहे हैं और उनके विचारों में असहयोग की भावना तीव्र है।[50] यद्यपि शास्त्री पूर्ण असहयोगी कदापि नहीं रहे फिर भी उनकी देशभक्ति एवं भारतीयता में निष्ठा ने उन्हें समय समय पर अंग्रेजीराज की तीव्र आलोचना करने के लिए बाध्य किया।

शास्त्री गोखले की परम्परा के विचारक थे। गोखले ने रानाडे को अपना "गुरु" माना तथा शास्त्री ने एवं गांधीजी ने गोखले को "गुरु" बनाया। शास्त्री के विचार रानाडे के अधिक निकट थे। गोखले तथा शास्त्री के जीवन एवं विचारों में अनोखी

समानता थी। दोनों निर्धन उत्पन्न हुए थे, दोनों शिक्षक से राजनेता बने थे, दोनों ने भारत के संविधान के विकास में अपनी भूमिका निभायी, दोनों प्रान्तीय एवं केन्द्रीय धारा सभाओं के प्रभावशील सदस्य रहे; दोनों अनेक बार इंग्लैण्ड की यात्रा पर गये, दोनों दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की समस्या के समाधान में रत रहे, दोनों अपने देशवासियों की असंगत एवं तीव्र आलोचना के शिकार हुए तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा भी कई बार नगण्य समझे गये, दोनों ही राजनीतिक संघर्ष में संवैधानिक पद्धतियों के पक्षपाती तथा राष्ट्रमंडल के अन्तर्गत भारत की अधिराज्य स्थिति के इच्छुक रहे, दोनों व्यक्तिगत जीवन में महात्मा गांधी के अनन्यतम प्रशंसक रहे, किन्तु राजनीतिक जीवन में उनसे भिन्न विचारों के रहे, दोनों ने अपनी शोचनीय अस्वस्थता के क्षणों में महान् राजनीतिक कार्य संपादित किये। गोखले का मोर्ले के प्रति जो भाव रहा वही शास्त्री का मोंटेग के प्रति रहा। शास्त्री कतिपय विषयों में गोखले से भी आगे रहे। शास्त्री ने ब्रिटेन तथा दक्षिण अफ्रीका ही नहीं, अपितु समस्त अधिराज्यों की यात्रा कर प्रवासी भारतीयों के राजनीतिक अधिकारों के लिए प्रयत्न किया। वे राष्ट्र संघ की बैठक में भाग लेने जिनेवा गये तथा शस्त्रास्त्र नियन्त्रण सम्मेलन के लिए वाशिंगटन। जहां गोखले भारत में अधिराज्य की स्थापना को दूरगामी लक्ष्य मानते थे वहां शास्त्री ने अधिराज्य की तत्काल स्थापना की मांग की।[51]

शास्त्री ने गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन की और समय-समय पर गांधीजी के विचारों एवं कार्यों की तीव्र आलोचना की। गांधीजी के जीवन में उनके दो प्रिय आलोचक थे—एक लाला लाजपतराय तथा दूसरे शास्त्री। लाजपतराय के प्रति गांधीजी का भाव एक श्रद्धालु का था, जबकि शास्त्री के प्रति उनका मैत्रीभाव था। लाजपतराय की मृत्यु के बाद शास्त्री ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने गांधीजी को मार्गच्युत होने से बचाया और आलोचना के बावजूद दृढ़ समर्थन प्रदान किया। शास्त्री तथा गांधी में तीव्र वैचारिक भेद होते हुए भी उनका व्यक्तिगत मैत्री सम्बन्ध प्रगाढ़ होता गया। नेहरू द्वारा शास्त्री की आलोचना पर गांधीजी ने नेहरू को करारी झिड़की सुनाई। जब गांधीजी 1943 के आन्दोलन में यर्वदा-कारावास में एपेन्डिसाईटिस की शल्यक्रिया के लिए क्लोरोफार्म से बेहोश किये जा रहे थे, सर्जन द्वारा यह पूछे जाने पर कि वे अचेत होने के पहले किससे मिलना चाहेंगे, उन्होंने शास्त्री से मिलने की अभिलाषा व्यक्त की। उन दिनों क्लोरोफार्म के घातक प्रभाव पर नियन्त्रण नहीं किया गया था। इसी तरह शास्त्री जब अपनी मरणशैया पर थे, गांधीजी उनसे मिलने कई बार मद्रास गये। दोनों में रामायण पर भावभीनी चर्चा हुई और हार्दिक आदान-प्रदान हुआ।

शास्त्री "फोर्स बेन्च माइंड" कहे जाते थे अर्थात् वे अपने तर्कों से अनेकों बार अपने विरोधी को लाभ पहुँचाते थे। उनकी यह नैसर्गिक प्रवृत्ति उनके समर्थकों एवं मित्रों को दुविधाजनक लगती थी। किन्तु यही शास्त्री की महानता थी। राजनीतिक लाभ या स्वार्थ उनको नहीं जीत सका था। सत्य उनके जीवन का मार्गदर्शक था। एक वीतराग ब्राह्मण मनस्वी के समान वे लालच, मोह एवं तृष्णाओं से ऊपर थे। छिछली तथा मानवीय मूल्यों का अवमूल्यन करने वाली राजनीति से उन्हें घृणा थी। वे सच्चे मनस्वी थे। रामायण की महिमा से ओतप्रोत शास्त्री भारतीयता के सच्चे प्रतीक थे। उनकी

वेशभूषा, उनका खान-पान, स्वदेशी था। वे तमिल, संस्कृत एवं अंग्रेजी के प्रकाण्ड पंडित थे। इनकी स्मृति विलक्षण थी। अपने मैसूर विश्वविद्यालय के गोखले पर दिये व्याख्यान उन्होंने मौखिक रूप में दिये थे। भारतीय संस्कृति उनके जीवन के प्रत्येक पक्ष से झलकती थी। श्रीमती सरोजनी नायडू ने कहा था कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बाद शास्त्री ही विदेशों में भारतीय संस्कृति के महानतम राजदूत एवं व्याख्याकार थे।[52]

परम देशभक्त, भारतीय संस्कृति के प्रतीक, रामायण के व्याख्याकार एवं साहित्यिक उपासक श्रीनिवास शास्त्री अंग्रेजी के "मास्टर" थे। भारत में उनके सदृश्य अंग्रेजी पर अधिकार किसी अन्य का नहीं रहा। अंग्रेजी में उनके पत्र, उनके भाषण, उनका वार्तालाप सभी अंग्रेजी भाषा का उच्चतम प्रतिमान स्थापित करते हैं। अंग्रेज उन्हें "सिल्वर टंग शास्त्री" के नाम से पुकारते थे। लार्ड बाल्फर ने उन्हें शताब्दी के महानतम अंग्रेजी भाषणकर्ताओं में माना था। आक्सफोर्ड के ए० एच० स्मिथ ने कहा था कि शास्त्री को सुनने तक उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि अंग्रेजी भाषा इतनी सुन्दर है। लेडी लिटन ने उन्हें "शब्दों का कलाकार" कहा था और एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ने शास्त्री को "अपने समय के महानतम भारतीय भाषणकर्ता" स्वीकार किया[53]।

□□

टिप्पणियाँ

1 टी एन जगदीशन, वी एस श्रीनिवास शास्त्री, (पब्लिकेशन्स डिवीजन, नई दिल्ली, 1969) पृ 1
2 पी कोदण्ड राव, दी राइट ओनरेबल वी एस श्रीनिवास शास्त्री : ए पोलिटिकल बायोग्राफी, (एशिया, बम्बई, 1963) पृ 1
3 शास्त्री का जीवन परिचय उपरोक्त दोनों ग्रन्थों पर आधारित है।
4 रा के. प्रभु माडर्न इण्डियन एलोक्वेन्स, पृ 107 तथा जगदीशन, पृ. 6-7
5 श्रीनिवास शास्त्री, माई मास्टर गोखले, (मॉडल पब्लिकेशन्स, मद्रास, 1946) देखिये गांधीजी द्वारा लिखित प्राक्कथन
6 कोदण्ड राव, पृ 8
7 वही पृ 411-420
8 वही, पृ 456
9 वही
10 वही
11 स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ दी राइट ओन श्रीनिवास शास्त्री (नटेसन, मद्रास, तिथि रहित) पृ 210-215
12 जगदीशन, लेटर्स ऑफ श्रीनिवास शास्त्री, (रोच हाउस, मद्रास, 1944) पृ 115
13 कोदण्ड राव, पृ 456
14 श्रीनिवास शास्त्री, दी राइट्स एण्ड ड्यूटीज ऑफ दी इण्डियन सिटिजन (कमला लेक्चर्स फोर 1926 कलकत्ता यूनीवर्सिटी प्रेस, 1927) पृ 6
15. कोदण्ड राव, पृ 457
16 वही
17 वही, पृ 451

अध्याय 13

बाल गंगाधर तिलक (1856-1920)

बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई 1856 को महाराष्ट्र में रत्नागिरि स्थान पर हुआ था। उनके दादा केशवराव पेशवा राज्य में उच्च पद पर आसीन थे किन्तु पेशवा-राज्य का अंग्रेजों द्वारा विध्वंस कर देने के पश्चात् उनके परिवार की वह स्थिति न रही। तिलक के पिता गंगाधरपंत अध्यापक थे। उन्होंने बाल को संस्कृत, गणित और मराठी का अच्छा ज्ञान घर पर ही करा दिया था। वे 1866 में पूना नगर स्कूल में भर्ती हुए। उनकी स्मरण-शक्ति अद्भुत थी। संस्कृत के सहस्रों श्लोक उन्होंने कंठस्थ कर लिये थे। स्कूल में तिलक ने निर्भयता तथा सत्य का अनेक अवसरों पर परिचय दिया। उनकी अपने अध्यापकों से इसी कारण से अनबन रहती थी। 1871 में पन्द्रह वर्ष की आयु में ही उनका विवाह तापीबाई से हो गया। पिताजी की असामयिक मृत्यु के बाद उनके चाचा गोविन्द राव उनके अभिभावक बने। 1873 में तिलक ने देक्कन कॉलिज में प्रवेश लिया। यहाँ उन्हें अपनी शारीरिक दुर्बलता का आभास हुआ और वे व्यायाम आदि करने में इतने व्यस्त हो गये कि उनका शरीर तो बलिष्ठ हो गया किन्तु वे इन्टर परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गये। वे पढ़ने-लिखने में अधिक समय न लगाकर मित्रों के साथ बातचीत, व्यायाम तथा आमोद-प्रमोद में अधिक समय लगाया करते थे। किन्तु तिलक कट्टर सनातनी थे। वे घर के बाहर भोजन नहीं करते थे। वे सच्चरित्रता की प्रतिमूर्ति थे। कॉलिज के शेष जीवन में तिलक ने पढ़ने के क्रम का विस्तार किया। वे 1876 में प्रथम श्रेणी में बी० ए० में उत्तीर्ण हुए। 1879 में उन्होंने कानून की परीक्षा उत्तीर्ण की। दो बार वे एम० ए० परीक्षा में बैठे किन्तु दोनों बार उन्हें असफलता का ही सामना करना पड़ा।

तिलक ने पूना में रहकर अपना सार्वजनिक जीवन 1880 में प्रारम्भ किया। वासुदेव बलवन्त फड़के ने रामोशियों की सहायता से ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा फहरा दिया था। देशव्यापी अकाल से तथा लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति से भारत को लार्ड रिपन ने मुक्ति दिलाई। ऐसे समय में तिलक का राजनीति में प्रवेश हुआ। निश्चय ही तिलक इन घटनाओं से प्रभावित हुए। तिलक ने सर्वप्रथम शिक्षा के क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ किया। विष्णु शास्त्री चिपलूणकर तथा तिलक ने पूना में न्यू इंग्लिश स्कूल की 1880 में स्थापना की। 1881 में तिलक ने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। मराठा तथा **केसरी** का संचालन आगरकर, नामजोशी, चिपलूणकर तथा तिलक ने सम्मिलित रूप से आरम्भ कर दिया। इन पत्रों ने जन-जागरण के साथ-साथ देशी रियासतों का पक्ष भी प्रस्तुत किया। कोल्हापुर रियासत के प्रश्न को लेकर ब्रिटिश शासन की जो आलोचना इन पत्रों में प्रकाशित हुई उसके कारण मराठा के सम्पादक तिलक

तथा। केसरी के सम्पादक आगरकर के विरुद्ध कोल्हापुर के दीवान ने मुकदमा चलाया। तिलक तथा आगरकर को चार-चार मास का साधारण कारावास मिला। जब उन्हें जेल से रिहा किया तब अपार जन-समूह उनके स्वागत के लिए तैयार था। तिलक की बढ़ती हुई लोकप्रियता के दौरान 1884 में डैकन एजुकेशन सोसायटी की स्थापना हुई। विलियम वैडरबर्न इसके प्रेरक तत्त्व थे। 1885 में बम्बई के गवर्नर के नाम पर फर्ग्यूसन कालेज की स्थापना की गई। कुछ समय बाद आगरकर तथा तिलक में हिन्दुओं के रीति-रिवाजों तथा सामाजिक सम्बन्धों में सुधार के प्रश्न को लेकर मत-मुटाव पैदा हो गया। आगरकर इस संस्था से अलग हो गये। 1890 में तिलक ने भी सोसायटी की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। उनका त्यागपत्र देने का कारण संस्था में त्याग के स्थान पर लोभ-लालच का प्रभुत्व होना तथा आमदनी का सदस्यों में बटवारा करने की परम्परा का प्रचलन था। तिलक के त्यागपत्र के बाद गोखले इस सोसायटी के मंत्री बने।

तिलक ने 1888-1889 में शराब-बन्दी, नमक-कर-विरोध, क्राफोर्ड भ्रष्टाचार-काड के पर्दाफाश का तथा मामलातदारों के संरक्षण का अपने पत्र के माध्यम से कार्य किया। 1889 के अन्त में वे पूना की सार्वजनिक सभा द्वारा बम्बई कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि चुन लिये गये। बम्बई कांग्रेस (1889) में तिलक ने प्रान्तीय कौंसिलों के निर्वाचित सदस्यों द्वारा इम्पीरियल कौंसिल का चुनाव कराने सम्बन्धी प्रस्ताव पेश किया जिसका अनुमोदन गोखले ने किया। यह प्रथम तथा अन्तिम अवसर था जबकि गोखले तथा तिलक ने एक दूसरे का साथ दिया था। तिलक ने कांग्रेस के अधिवेशन में ठीक उदारवादियों जैसा ही व्यवहार किया था। अभी उनका ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति विरोध का भाव जागृत नहीं हुआ था।

1891 में सरकार द्वारा विवाह के बारे में स्वीकृति आयु-विधेयक पेश किया गया जिसका उद्देश्य बाल विवाह को रोकने तथा विवाह की आयु 10 वर्ष से बढ़ाकर 12 वर्ष की करने का था। किन्तु तिलक ने इसे जनता के सामाजिक अधिकारों पर राज्य का हस्तक्षेप माना और इसका विरोध किया। विरोध के बावजूद जब यह विधेयक कानून बन गया तब तिलक ने उसका पालन किया। इसके विपरीत कई समाज सुधारकों ने इसका चोरी छिपे उल्लंघन ही किया। इसी बीच एक और घटना घटी। तिलक, रानाडे आदि को पूना के किसी मिशन स्कूल ने भाषण के लिए आमन्त्रित किया। भाषण के बाद चाय पार्टी हुई। तिलक ने इसमें हिस्सा लिया जिसके कारण सनातनधर्मी हिन्दुओं ने तिलक के विरुद्ध व्यापक प्रचार किया। तिलक को विवश होकर न केवल प्रायश्चित ही करना पड़ा अपितु सनातनधर्मियों की इच्छानुसार काशी-स्नान भी करना पड़ा। किन्तु तिलक का राजनीतिक नेतृत्व दिन प्रतिदिन प्रभावशाली होता चला गया। 1890 की राजनीतिक कान्फ्रेन्स में तिलक ने शासन की आबकारी-नीति की आलोचना की। 1891 की नागपुर-कांग्रेस के अधिवेशन में तिलक ने शस्त्रास्त्र कानून पर भारतीयों को शस्त्र-मुक्त करने का प्रस्ताव रखा। 1893 की कांग्रेस में उन्होंने जनता की गरीबी की ओर शासन का ध्यान आकर्षित किया और शासन की भूमि सम्बन्धी नीतियों की आलोचना की तथा स्थायी भूमि व्यवस्था की मांग प्रस्तुत की।

बम्बई तथा पूना के हिन्दू-मुस्लिम दंगों (1893) के प्रति शासन की शिथिलता

देखकर तिलक ने हिन्दुओं को संगठित करना प्रारम्भ किया। उन्होंने महाराष्ट्र में गणपति-महोत्सव को पुनर्जीवित कर उसे लोकप्रिय त्यौहार बना दिया। तिलक ने अपने राजनीतिक नेतृत्व को सबल बनाने के लिए धर्म का आश्रय लिया। 1895 में तिलक ने शिवाजी-जयन्ती मनाना प्रारम्भ करवाया। महाराष्ट्र की देशी रियासतों ने तिलक को इस कार्य में सहयोग दिया। 1895 में तिलक ने कांग्रेस के पूना अधिवेशन में सुधारवादियों पर प्रहार किया और कांग्रेस को जन-आन्दोलन बनाने का सन्देश देकर भारतीय सामाजिक कान्फ्रेन्स को कांग्रेस के पंडाल में न होने दिया। रानाडे तथा उनके सहयोगी तिलक के इस कार्य से क्षुब्ध हो उठे। तिलक की विजय हुई और उन्होंने सार्वजनिक सभा पर एकाधिकार स्थापित कर रानाडे के वर्षों से चले आ रहे नेतृत्व को चुनौती दी। रानाडे तथा गोखले को पराजित होकर दक्कन सभा की स्थापना करनी पड़ी। 1897 के दुर्भिक्ष के समय तिलक ने महाराष्ट्र की जनता की तन-मन-धन से सेवा की। उन्होंने विद्यार्थियों का अध्ययन छोड़कर दुर्भिक्ष पीड़ित जनता की सहायता करने का आह्वान किया तथा लगान की जबरन वसूली के सरकारी आदेशों का उल्लंघन करने के लिए किसानों को उकसाया। सरकार ने तिलक के नेतृत्व वाली सार्वजनिक सभा की मान्यता समाप्त कर दी। तिलक ने इसकी परवाह किये बिना ग्रामीण जनता को लगान-बन्दी के लिए खुले आम प्रेरित किया। सरकारी विरोध के बावजूद तिलक दो बार (1895 तथा 1897) बम्बई विधान-परिषद् के सदस्य चुने गये। 1896 में बम्बई तथा पूना में प्लेग महामारी का प्रकोप हुआ। तिलक ने पूना में रहकर सहायता कार्य चलाया। सरकार ने प्लेग की रोकथाम के लिए रैंड को पूना का प्लेग कमिश्नर नियुक्त किया। प्लेग की रोकथाम के लिए सरकार ने जो तौरतरीके काम में लिये उससे जनता तिलमिला उठी। तिलक ने मराठा तथा केसरी में लेख लिखकर सरकार की आलोचना की। इसके बाद तिलक ने ब्रिटिश शासन पर करारा प्रहार अपने पत्रों के माध्यम से प्रारम्भ किया। शिवाजी द्वारा अफजलखां को मारना, श्रीकृष्ण का अर्जुन को अपने कुटुम्बियों के वध के लिए प्रेरित करना आदि आख्यान जनता को विद्रोह के लिए उकसाने वाले थे। इसी बीच चापेकर बन्धुओं ने रैंड तथा आयर्स्ट की हत्या कर दी। टाइम्स ऑफ इण्डिया जैसे विरोधी पत्रों ने तिलक का इस घटना में हाथ बतलाया। तिलक बन्दी बना लिये गये। उन पर चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट हॉवर्ड की अदालत में राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। उनकी जमानत अस्वीकार कर दी गयी। किन्तु उच्च न्यायालय में अर्जी दिये जाने पर जस्टिस तैयबजी ने तिलक को पचास हजार रुपये की जमानत तथा पच्चीस-पच्चीस हजार के दो मुचलकों पर छोड़ दिया। बम्बई के सेठ द्वारकादास धरमसी ने यह धनराशि प्रस्तुत कर तिलक को छुड़वा लिया। इसके बाद जस्टिस स्ट्रैची की अदालत में तिलक पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया और उन्हें अठारह महीने के कठोर कारावास का दण्ड मिला। तिलक को सजा मिलने के समाचार ने भारत को एक कोने से दूसरे कोने तक स्तम्भित कर दिया। भारतीय जनता तिलक को निर्दोष मानती थी। अंग्रेज न्यायाधीश ने तिलक के मुकदमे में आधे भारतीय जूरी नहीं रखे थे। फैसले में छह यूरोपीय जूरी तिलक को अपराधी करार देने और तीन भारतीय निर्दोष करार देने के पक्ष में थे। यह न्याय की सरासर हत्या थी।

कारागृह से मुक्त होकर तिलक पुनः सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट हुए। कांग्रेस के लखनऊ-अधिवेशन (1899) में तिलक ने बम्बई के गवर्नर लार्ड सैण्डहर्स्ट की अकाल के दिनों में बनी नीतियों की आलोचना की किन्तु नरम दल वालों के सामने तिलक की आवाज बुलन्द न हो सकी। विवश होकर तिलक ने पत्रों के माध्यम से देश के नेतृत्व की कायरता पर करारा प्रहार किया। 1900 में पुनः शिवाजी जयन्ती तिलक के नेतृत्व में धूमधाम से मनायी गयी। तिलक ने भारत राष्ट्र की धारणा को बलवती करने के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता का सन्देश दिया। मौलाना हसरत मोहानी उनसे इतने प्रभावित थे कि वे तिलक को अपना राजनीतिक गुरु मानने लगे।

तिलक केवल राजनेता ही न थे अपितु वैदिक साहित्य, ज्योतिष, पुरातत्व तथा भूगर्भशास्त्र के महान् विद्वान् भी थे। 1903 में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक **दि आर्कटिक होम इन दि वेदाज** प्रकाशित हुई। इसमे पहले उनकी पुस्तक **ओरियन** 1893 में प्रकाशित हो चुकी थी। वेदों से सम्बन्धित यह पुस्तक तिलक ने अपने कारावास के जीवन में लिखी थी। इनमें वेदकालीन भारतीयों के पूर्वज उत्तरी ध्रुव के निवासी बतलाये गये थे। **वैदिक क्रोनोलाजी एण्ड वेदांग ज्योतिष** में तिलक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ऋग्वेद का काल ईसा से चार हजार वर्ष पूर्व का था। उनके अकाट्य प्रमाणों ने विश्व भर के पुरातत्ववेत्ताओं तथा वैदिक साहित्य के अध्येताओं को चकित कर दिया।

1905 के स्वदेशी आन्दोलन में तिलक ने महाराष्ट्र की जनता को सोते से जगा दिया। बहिष्कार आन्दोलन ने महाराष्ट्र में जोर पकड़ा। स्वदेशी वस्तुओं के निर्माण एवं उपयोग का नया वातावरण पैदा हुआ। तिलक वर्षों से चले आ रहे "ताई महाराज काण्ड" के झूठ आरोपों से प्रिवि-कौंसिल द्वारा मुक्त कर दिये गये थे। उन्होंने अपनी पूरी शक्ति स्वदेशी के प्रचार में लगा दी। राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार किया गया। भारत की समस्त प्रान्तीय भाषाओं के लिए तिलक ने देवनागरी लिपि अपनाने का सुझाव दिया। उन्होंने देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सुझाव दिया। 1905 के कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में बंग-भंग के प्रश्न को लेकर उदारवादियों तथा उग्रवादियों में मनोमालिन्य पैदा हुआ। लाजपतराय, तिलक तथा विपिनचन्द्र पाल राष्ट्रवादी नेताओं के रूप में उभरे। कांग्रेस के 1906 के कलकत्ता अधिवेशन के लिए तिलक का नाम अध्यक्ष के लिए रखने का उग्रवादियों का विचार उदारवादियों द्वारा दादाभाई नौरोजी को अध्यक्ष बनाने से पूरा न हो सका। उदारवादियों तथा उग्रवादियों का संघर्ष 1906 में टल गया किन्तु 1907 के सूरत-अधिवेशन के समय पुनः उभरा और कांग्रेस दो दलों में विभाजित हो गयी। 1907 के सूरत अधिवेशन में तिलक ने लाला लाजपतराय को अध्यक्ष बनाना चाहा किन्तु गोखले, फिरोजशाह मेहता आदि ने डा० रास बिहारी घोष को अध्यक्ष बनाकर कांग्रेस की फूट का श्रीगणेश किया। परिणाम निश्चित था। उग्रवादी कांग्रेस से पृथक हो गये। तिलक ने सूरत फूट के बाद उदारवादियों की मोरुता का स्थान स्थान पर भण्डाफोड़ किया। अब उनका नारा था "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, मैं उसे लेकर ही रहूँगा।"

तिलक ने सरकार की आबकारी नीति के विरोध में शराब की दुकानों पर धरना देने का नशाबन्दी अभियान चलाया। धरने के विरुद्ध राजकीय अभियान में तिलक 1908

में गिरफ्तार कर लिये गये। तिलक की गिरफ्तारी का एक और कारण भी था और वह था मुजफ्फरपुर बम काण्ड जिसमें खुदीराम बोस तथा प्रफुल्ल चाकी ने किंग्सफोर्ड की गाड़ी पर बम फेंका। दोनों को फांसी दी गयी। यद्यपि तिलक ने इस बम काण्ड की निन्दा की किन्तु वे केसरी के माध्यम से क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन कर रहे थे। तिलक ने श्यामजीकृष्ण वर्मा तथा विनायक दामोदर सावरकर का मार्गदर्शन किया था। यह भी सत्य था कि तिलक ने रूस के क्रान्तिकारियों से भारतीयों को बम बनाने तथा छापामार युद्ध सिखाने के लिए बम्बई में रूस के व्यापार प्रतिनिधि से एक बार सम्पर्क भी स्थापित किया था। तिलक की क्रान्तिकारी आन्दोलन में रुचि छिपी न रही। सरकार ने उनके घर की तलाशी में बम बनाने सम्बन्धी पुस्तकों का विवरण प्राप्त किया। तिलक को मजिस्ट्रेट के सम्मुख पेश किया गया किन्तु उनकी जमानत नहीं हुई। उनके वकील मोहम्मद अली जिन्ना थे। जिन्ना ने उच्च न्यायालय में जमानत की अर्जी दी किन्तु जस्टिस डॉवर ने उनकी एक न सुनी। विचित्र संयोग यह था कि स्वयं डॉवर ने 1897 में तिलक के वकील के रूप में तिलक की जमानत के लिए एड़ी से चोटी तक का जोर लगाया था। वही डॉवर न्याय के पद पर आसीन हो तिलक की जमानत अस्वीकार कर रहा था। *लार्ड मिंटो तिलक को किसी भी प्रकार से शिकंजे में लेना चाहते थे।* तिलक ने अपनी पैरवी स्वयं करते हुए भाषण दिया जो इक्कीस घण्टे तक चला। फैसला तिलक के विरुद्ध हुआ। उन्हें 1908 में छः वर्ष के काले पानी का दण्ड मिला। तिलक का देश-निर्वासन भारतव्यापी प्रदर्शन एवं विरोध का कारण बना। जनता की दृष्टि में तिलक "शहीद" बन चुके थे। उन्हें माण्डले-जेल में रखा गया। माण्डले-जेल के अत्यधिक कष्टप्रद वातावरण में तिलक ने कारावास का समय बिना किसी शिकायत के साहस एवं धैर्य से पूरा किया। उनकी रिहाई के दो वर्ष पूर्व उनकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। किन्तु तिलक *विचलित न हुए। उनमें अदम्य साहस तथा कष्ट झेलने की क्षमता थी। सरकारी नीति से* उग्रदल छिन्नभिन्न हो गया। लाजपतराय ने राजनीति में मौन धारण कर लिया, विपिन चन्द्रपाल विदेश-यात्रा पर चले गये तथा अरविन्द घोष भारत छोड़कर पाण्डिचेरी पहुँच गये। गोखले का राजनीतिक सितारा चमकने लगा था।

तिलक ने माण्डले जेल में रहते हुए भी मराठी भाषा में 900 पृष्ठों की गीता पर टीका लिखी जो गीता रहस्य के नाम से प्रसिद्ध हुई। तिलक ने गीता के कर्मयोग को मानव-जीवन का परमात्मा में विलीनीकरण का मार्ग बताया। भक्ति तथा ज्ञान से भी उच्च, कर्म की स्थिति को मानते हुए सतत् कर्मरत रहने की प्रेरणा तिलक ने गीता से ही प्राप्त की थी। माण्डले जेल से 1914 में मुक्त किए जाने के बाद तिलक ने वेलेन्टीन शिरोल की पुस्तक इण्डियन अनरेस्ट में उनके विरुद्ध पूना के प्लेग कमिश्नर रैंड तथा नासिक के कलेक्टर जैक्सन की हत्या का झूठा आरोप लगाये जाने के विरुद्ध मानहानि का दावा दायर किया। तिलक पुनः राजनीति में सक्रिय हुए। वे श्रीमती एनी बीसेन्ट के "होमरूल" आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। कांग्रेस में तिलक के पुनः प्रवेश से उग्रवादियों पर प्रतिबंध हटा और उग्रवादियों ने उदारवादी कांग्रेस की कायापलट करना प्रारम्भ कर दिया। तिलक ने 1916 के कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में पूरे नौ वर्ष बाद हिस्सा लिया था। उनके सद्प्रयत्नों से कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग का अधिवेशन एक ही

पाडाल में साथ-साथ हुआ। लखनऊ पैक्ट तैयार हुआ जिसमें कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग ने मिलकर स्वराज्य की संयुक्त माग प्रस्तुत की। उन्होंने मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव एक अस्थायी व्यवस्था के रूप में ही स्वीकार किया था। "तिलक महाराज की जय" इस उद्घोष के साथ उनका स्थान-स्थान पर स्वागत हुआ। वे भारत में होमरूल आन्दोलन के प्रमुख स्तम्भ बन गये। भारत सचिव लार्ड मोंटेग ने उन्हें अंग्रेजों को प्रथम विश्वयुद्ध में सहायता देने का आग्रह किया। तिलक ने इसे स्वीकार नहीं किया। 1917 के कांग्रेस अधिवेशन में तिलक ने श्रीमती बीसेन्ट को कांग्रेस का अध्यक्ष निर्वाचित करवाया। तिलक ने भारत में स्वराज्य अथवा होमरूल की स्थापना का समर्थन किया और भारत सचिव द्वारा घोषित उत्तरदायी शासन की स्थापना को इसी अर्थ में स्वीकार करने को कहा जिसमें भारत की विधान-सभा का हर सदस्य चुना हुआ हो तथा प्रशासन पूर्णतया विधान-सभा के अधीन हो। वे गवर्नर का पद भी निर्वाचन पर आधारित करना चाहते थे। उन्होंने कांग्रेस मंच से शौकत अली तथा मौहम्मद अली की रिहाई की माग भी प्रस्तुत की। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान तिलक ने गांधीजी के विपरीत ब्रिटिश शासन द्वारा भारत में स्वशासन की स्थापना के आश्वासन की शर्त पर ही युद्ध में सहायता दिये जाने का प्रचार किया। सरकार को तिलक का असहयोग पसन्द नहीं आया। 1918 में दिल्ली में हुए युद्ध सम्मेलन में वाइसराय ने तिलक को आमंत्रित नहीं किया। गांधीजी को निमंत्रण दिया गया। गांधीजी ने सम्मेलन में भाग लिया। भारत-सचिव मोंटेग ने तिलक को सम्मेलन में न बुलाने के कार्य की निन्दा की क्योंकि वे तिलक को ही भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली नेता मानते थे। बम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंगडन की अध्यक्षता में हुए प्रान्तीय युद्ध सम्मेलन में तिलक आमन्त्रित किये गये किन्तु गवर्नर ने जिस प्रकार से सभा की कार्यवाही का संचालन किया उससे क्षुब्ध हो वे सभा से उठकर चले आये। उनके साथ ही होमरूल लीग के अन्य सदस्य भी उठकर आ गये। गवर्नर के व्यवहार की निन्दा के लिए गांधीजी के सभापतित्व में एक सार्वजनिक सभा बुलाई गयी जिसमें गांधीजी ने गवर्नर के व्यवहार की आलोचना की। तिलक ने पूना की एक सार्वजनिक सभा में अध्यक्ष पद से शासन के प्रति असहयोग की नीति अपनाने के वचन कहे। शासन ने उनके वक्तव्य को गंभीर चुनौती मानते हुए उनके भाषणों पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये। गांधीजी ब्रिटिश सेना में भारतीय रंगरूटों की भर्ती कराने में अन्त तक लगे रहे। तिलक ने गांधीजी को सहायता करने का आश्वासन दिया किन्तु इस शर्त के साथ कि सेना में भर्ती हुए भारतीयों को उच्च पद दिलाने का सरकारी आश्वासन दिया जाय। गांधीजी यह आश्वासन प्राप्त नहीं कर सके और तिलक ने सहयोग न देने का निर्णय कर लिया।

मोंटेग-चेम्सफर्ड सुधार-योजना की घोषणा का गांधीजी ने स्वागत किया किन्तु तिलक इसके पक्ष में नहीं थे। कांग्रेस का विशेष अधिवेशन 29 अगस्त, 1918 में बम्बई में आयोजित हुआ। तिलक का नाम अध्यक्ष पद के लिए प्रस्तुत किया गया किन्तु तिलक ने मना कर दिया ताकि वे अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त कर सकें। तिलक ने अधिवेशन में यह व्यक्त किया कि भारतीयों ने अठन्नी भर शासन मांगा था किन्तु शासन ने उन्हें केवल इकन्नी भर स्वशासन देने की बात कही। उन्होंने सुधारों की योजना को निराशाजनक बतलाया। इसी समय तिलक ने होमरूल लीग के सौजन्य से भारतीयों का

एक प्रतिनिधिमण्डल इंगलैण्ड भेजने का निर्णय लिया। तिलक, करंदीकर, केलकर, खापर्डे तथा विपिनचन्द्रपाल इस प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य थे। प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य भारत से विदा हुए किन्तु मार्ग में ही उन्हें उनके पासपोर्ट रद्द किये जाने की सूचना दी गयी। इस घटना के विरोधस्वरूप जिन्ना की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा बम्बई में बुलाई गयी और शासन की तीव्र आलोचना की गयी। बाद में तिलक ने चिरोल पर मानहानि के मुकदमे के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड जाने की अनुमति चाही। काफी सोच-विचार के बाद उन्हें इसकी अनुमति प्रदान की गयी किन्तु उनके द्वारा वहां किसी भी राजनीतिक आन्दोलन में भाग लिये जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। लन्दन पहुंच कर तिलक ने अपने ऊपर लगाये गये राजनीतिक प्रतिबन्धों को हटाने की अर्जी दी जिसे स्वीकार कर लिया गया। तिलक ने वहां होमरूल लीग की स्थापना की। कर्नल वेजवुड के सहयोग से उन्होंने अनेक सभाओं में भारत को स्वशासन देने की मांग दोहराई। वहां से उन्होंने हार्डीकर को लाला लाजपतराय के पास होमरूल लीग की स्थापना के कार्य में सहायता करने के लिए भेजा। इस कार्य के लिए तिलक ने भारत लौटने पर लाला लाजपतराय को धनराशि भी प्रेषित की। उधर चिरोल पर मानहानि का मुकदमा शुरु हुआ। तिलक के वकील सर जॉन साइमन थे। जूरी ने तिलक के विरुद्ध फैसला दिया और उन्हें चिरोल को हरजाना देने को कहा। ब्रिटिश न्यायपालिका के पक्षपातपूर्ण व्यवहार का एक और उदाहरण तिलक के सामने आया।

उनके स्वदेश लौटने के पहले कांग्रेस का जो अधिवेशन दिल्ली में 1918 में हुआ उसके वे अध्यक्ष चुने गये थे किन्तु उनकी अनुपस्थिति में मदनमोहन मालवीय अध्यक्ष बनाये गये। युद्ध की समाप्ति पर लंदन में होने वाले शांति-सम्मेलन में कांग्रेस ने गांधीजी, तिलक तथा हसन ईमाम को सम्मिलित किये जाने की सिफारिश की जिसे सरकार ने अस्वीकार कर दिया। उत्तरदायी शासन के स्थान पर रौलट एक्ट और जलियांवाला बाग हत्याकांड सामने आये। गांधीजी ने सत्याग्रह का मार्ग अपनाया। भारत लौटने पर बम्बई में तिलक का अभूतपूर्व स्वागत किया गया। तिलक ने अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन द्वारा उन्हें भारत में आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को समय आने पर लागू करने का जो लिखित आश्वासन दिया था उसका हवाला दिया। कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन (1919) में शासकीय सुधारों की 1919 की घोषणा को तिलक ने निराशाजनक बतलाया। वे पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना के उद्देश्य से ही इस कानून को स्वीकार करना चाहते थे। कांग्रेस का अमृतसर-अधिवेशन अन्तिम अधिवेशन था जिसमें तिलक ने भाग लिया। तिलक ने सुधारों की योजना को क्रियान्वित करने के लिए कांग्रेस डिमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की और चुनाव लड़ने के लिए प्रचार एवं साधन जुटाने प्रारम्भ किये। गांधीजी ने पंजाब के नरसंहार तथा खिलाफत के प्रश्न को लेकर सत्याग्रह करने का निश्चय किया। तिलक भी असहयोग आन्दोलन में विधायिका सभाओं का बहिष्कार करने को तैयार थे यदि अन्य दल भी वैसा करने को तैयार प्रतीत होते। गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन की घोषणा कर दी और भारतव्यापी असहयोग आन्दोलन चलाने के लिए 1 अगस्त, 1920 का दिन निर्धारित किया। ठीक एक अगस्त को लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का अल्प-रुग्णावस्था के बाद बम्बई में निधन हो

गया। देश के महान् नेता को श्रद्धांजली अर्पित करने तथा उनकी अन्तिम यात्रा में सम्मिलित होने के लिए ऐसा अपार जनसमूह बम्बई के इतिहास में कभी नहीं उमड़ा जैसा तिलक के स्वर्गवास के समय पर। तिलक का स्वर्गवास और उसी दिन गांधीजी के असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के काल-विभाजन का प्रतीक बन गया। तिलक युग के समाप्त होते ही गांधीयुग प्रारम्भ हुआ।[1]

तिलक के राजनीतिक विचार

तिलक के राजनीतिक विचारों का क्रम उनके द्वारा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की 1889 में सदस्यता-प्राप्त करने से प्रारम्भ होता है। उनके समकालीन लाजपतराय तथा विपिनचन्द्र पाल के समान तिलक भी प्रारम्भ में उदारवादी विचारधारा के थे। भारत की ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध उन्होंने अपने विचार प्रकट करना प्रारम्भ नहीं किया था। वे भी अन्य उदारवादियों के समान कांग्रेस के कार्यक्रम का समर्थन करते थे और अपनी कांग्रेस की प्रारम्भिक दिनों की सदस्यता में यह स्वीकार करते थे कि कांग्रेस ने अपनी संवैधानिक नीति तथा प्रस्तावित सुधारों की मांग से अनेक उपलब्धियां प्राप्त की थीं। वे भी सरकार से सुविधाओं की मांग तथा प्रार्थना पर विश्वास करते थे। इस सम्बन्ध में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन (1891) में उन्होंने कहा था कि उनका लक्ष्य शासन को दुर्बल बनाना नहीं है। वे शासन को मजबूत बनाना चाहते थे ताकि भारत की सरकार अपने बाह्य विरोधियों का सामना कर सके।[2] किन्तु तिलक की यह विचारधारा अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकी। भारत में ब्रिटिश सरकार के राष्ट्र-विरोधी कार्यों ने तथा उनके स्वयं के राष्ट्रवादी विचारों ने उन्हें सदा के लिए उदारवादियों से अलग कर दिया। 1895 में वे अंग्रेजों की न्यायप्रियता तथा उनकी दयालुता के झूठे दम्भ के विरोध में उठ खड़े हुए। वे मानने लगे कि भारतीयों के एवं ब्रिटिश शासकों के हित समान नहीं है। परिवर्तित विचारों के द्वारा वे उदारवादियों की प्रार्थना एवं याचिकाओं की नीति को भिक्षावृत्ति मानने लगे। उनके विचारों की उग्रता 1905 के बंगाल-विभाजन के समय और भी मुखर हो उठी।[3]

अपने राजनीतिक कार्यक्रम में तिलक ने स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा की नीति को अपनाया। यही विचारधारा आगे चलकर उग्रवादियों की प्रमुख नीति मानी गयी। तिलक ने स्वराज्य को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का राजनीतिक लक्ष्य चुना। वे स्वशासन की मांग को स्पष्ट शब्दों में तथा सार्वजनिक रूप से प्रकट करने लगे। भारत में ब्रिटिश प्रशासन की दमनपूर्ण नीति के विरोध में उन्होंने इस व्यवस्था की समाप्ति अथवा इसमें आमूल चूल परिवर्तन की मांग की। तिलक केवल राजनेता ही नहीं थे वरन् एक महान् विद्वान् तथा दार्शनिक भी थे। उनके प्रकाण्ड संस्कृत पाण्डित्य ने उन्हें आत्मा की वास्तविक प्रकृति को प्रकट करने के लिए विवश किया और वे सदैव स्वशासन को अथवा स्वराज्य को जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में प्रस्तुत करने लगे। उनकी स्वराज्य की जन्मसिद्ध मांग पर प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का प्रभाव नहीं था। उन्होंने यह मांग भारतीय दर्शन की परम्परागत शैली में प्रस्तुत की थी। वे स्वराज्य को धर्म अर्थात् कर्तव्य के रूप में देखते थे। वे राजनीतिक समुदाय से भी पहले स्वराज्य की स्थिति को स्वीकार करते थे क्योंकि स्वराज्य एक नैतिक आवश्यकता थी जिस पर व्यक्ति का सामुदायिक

जीवन आधारित था। इस सन्दर्भ में कतिपय लेखकों ने जो यह माना है कि तिलक की स्वराज्य की धारणा का वैदिक परम्परा के मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था, उचित प्रतीत नहीं होता। तिलक द्वारा वेद-वेदांगों का अध्ययन भारतीय लौकिक नीति तथा न्याय से सम्बन्धित था। गीता के मर्मज्ञ तिलक स्वराज्य की पाश्चात्य धारणा में विश्वास नहीं करते थे। महाराष्ट्र में शिवाजी-उत्सव ने जिस स्वराज्य की परम्परा का पुनरुद्धार किया था उसे देखते हुए भी यह कहा जा सकता है कि तिलक की स्वराज्य की धारणा उनके भारतीय संस्कारों का परिणाम थी। तिलक ने स्वराज्य की धारणा को क्रियान्वित करने के लिए, सार्वजनिक रूप में, क्रान्ति को उपयुक्त नहीं माना। किन्तु वे पूर्णतया अहिंसा के पुजारी भी नहीं थे।[4] वे अहिंसक प्रतिरोध की नीति को एक सुविधा के रूप में प्रयोग में लाते रहे। यह उनके जीवन की नीति नहीं रही। वे राष्ट्र में ऐसी शक्ति का संचार करना चाहते थे कि शासन का प्रतिरोध उग्र से उग्रतम होता चला जाये। इसके लिए तिलक ने प्रति-क्रियात्मक सहयोग की नीति का प्रयोग किया ताकि यथासम्भव शासकीय परिवर्तन लाया जाये। यदि परिवर्तन सम्भव न हो तो असहयोग का मार्ग अपनाया जाये। तिलक ने इसी कारण से उदारवादियों की संवैधानिक कार्यप्रणाली के स्थान पर निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति को अपनाया। उन्होंने इस सन्दर्भ में भारतीय जनता का आह्वान करते हुए यह विचार प्रकट किया कि भारत में ब्रिटिश शासन भारतीयों के सहयोग पर ही जीवित है। यदि भारतीय ब्रिटिश शासन को सहयोग देना बन्द कर दें तो यह शासन समाप्त हो सकता है। भारतीय जनता चाहे शस्त्र रहित हो किन्तु उसमें एक नवीन शक्ति विद्यमान है जो शस्त्र से भी अधिक महत्व रखती है तथा वह शक्ति है—बहिष्कार। यदि हम स्वतन्त्र होना चाहें तो स्वतन्त्र हो सकते हैं। किन्तु इस स्वतन्त्रता के लिए प्रतिरोध आवश्यक है।[5] इस प्रकार तिलक ने भारत में असहयोग की नीति का प्रारम्भ किया जो आगे आकर गांधीजी की योजनाओं का प्रमुख अंग बन गयी। महात्मा गांधी ने तिलक की इस विचारधारा को नवीन सन्दर्भों में तथा अपने स्वयं के विचारों के अनुरूप ढालकर एक नवीन राष्ट्रीय कार्यक्रम प्रस्तुत किया। तिलक ने बहिष्कार के साथ साथ स्वदेशी की मांग भी प्रस्तुत की। वे स्वयं स्वदेशी विचारधारा की जीवित प्रतिमा थे। मनसा-वाचा-कर्मणा तिलक पूर्णतया स्वदेशी थे। स्वदेशी की धारणा को आर्थिक कार्यक्रम के रूप में तिलक ने अधिक विस्तार से प्रयुक्त नहीं किया। फिर भी तिलक ने भारत में औद्योगिक विकास व भारतीय श्रमिकों की दशा में सुधार के लिए विचार प्रस्तुत किये।[6]

तिलक ने भारतीय राजनीति के तत्कालीन दलों पर प्रकाश डालते हुए उदारवादियों एवं उग्रवादियों के राजनीतिक उद्देश्यों तथा वैचारिक मतभेदों का सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया। जनवरी 2, 1907 को कलकत्ता में भाषण देते हुए उन्होंने नवीन दल (गरम दल) के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया। तिलक के अनुसार 'उदारवादी' एवं 'उग्रवादी' शब्द समय वाचक शब्द थे। उनका यह कथन कि "आज के उदारवादी कल उसी प्रकार से उग्रवादी हो जायेंगे जिस प्रकार से आज के उदारवादी कल के उग्रवादी थे" उनकी विलक्षण बुद्धि का प्रतीक है। एक ही वाक्य में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इन दो गुटों की मान्यताओं को स्पष्ट कर दिया। प्रारम्भ में दादाभाई नौरोजी ने जब कांग्रेस के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत किये तब उन्हें उग्रवादी की संज्ञा दी गयी थी किन्तु कालान्तर में उनका नाम

उदारवादियों के साथ लिया जाने लगा। तिलक ने उग्रवाद को प्रगतिशील विचारों का प्रतीक माना। वे यह भी मानते थे कि आज के उग्रवादियों को कल उनकी स्वयं की संतान उदारवादी कहेगी और स्वयं को उग्रवादी मानेगी। समय की परिवर्तनशीलता का उल्लेख करते हुए तिलक ने यह सम्भावना व्यक्त की कि कौन कह सकता है कि भविष्य के हजार वर्षों में श्वेतों की सभ्यता हिन्दुत्व में प्रविष्ट हो जाय।[7]

तिलक ने उग्रवादियों द्वारा भारत की ब्रिटिश सत्ता का विरोध स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया कि एक देश द्वारा दूसरे देश पर शासन असहनीय है। इस प्रकार का शासन स्थायी नहीं हो सकता। प्रारम्भ में भारतीयों को ऐसी अनुभूति कराई गयी कि अंग्रेजी शासन भारत को तैमूरलंग तथा चंगेजखां के आक्रमणों से मुक्त कराने के लिए स्थापित किया गया था। बाह्य आक्रमण ही नहीं अपितु भारत में व्याप्त आंतरिक अव्यवस्था एवं पारस्परिक विग्रह से अंग्रेजों ने मुक्ति दिलाई। किन्तु यह भ्रम अधिक दिनों तक नहीं चल सकता था। दादाभाई ने बतलाया कि अंग्रेजों ने हमें एक दूसरे का गला काटने से रोका ताकि अंग्रेज हमारा गला काट सकें। 'पक्स ब्रिटेनिका' के नारे ने भारत के शोषण का मार्ग खोल दिया। हमें शासन की परोपकारिता का पाठ पढ़ाया गया जबकि राजनीति में परोपकारिता नाम की वस्तु होती ही नहीं है। परोपकारिता एक बाह्य आवरण है जिसके अन्दर स्वार्थ एवं शोषण का कटु पदार्थ संचित होता है। अंग्रेजी शिक्षा, बढ़ता हुआ दारिद्रय तथा शासकों के उद्देश्यों का सूक्ष्म विवेचन भारतीय नेतृत्व को जागृत करने में सफल रहा। दादाभाई ने इस विदेशी शोषण एवं अन्याय के विरुद्ध प्रचार में अपना समस्त जीवन लगा दिया।[8]

तिलक ने उदारवादियों का उपहास करते हुए उनके सिरमौर गोखले को दादाभाई के पथ का अनुसरण करने को कहा। दादाभाई जीवन के अंतिम दिनों में ब्रिटिश शासन से बहुत निराश थे। तिलक गोखले को दादाभाई से प्रेरणा प्राप्त कर इंग्लैण्ड के उदारवादियों पर अधिक निर्भर न रहने की सलाह दे रहे थे। इस संदर्भ में तिलक ने ऐलन आक्टेवियन ह्यूम के 1893 में प्रकट किए गए विचार को, कि सरकार चाहे उदारवादी हो अथवा रूढ़िवादी, स्वेच्छा से कोई वस्तु नहीं देगी, तर्कसंगत मानते थे। इंग्लैण्ड के उदारवादियों का भारत में रूढ़िवादियों जैसा व्यवहार उनके साम्राज्यवादी हितों से प्रेरित था। इंग्लैण्ड के जनमत को भावना द्वारा तभी तक प्रभावित किया जा सकता था जब तक उनके हितों पर आंच नहीं आती। जैसे ही उनके आर्थिक हितों पर प्रभाव पड़ता दिखाई देता वे तुरन्त अपने असली रूप में आ जाते थे। इसी कारण से तिलक ने ब्रिटिश नौकरशाही को अपील करने का मार्ग स्वीकार नहीं किया। उदारवादियों एवं उग्रवादियों के कार्यक्रम का यही मुख्य अन्तर था कि जहां उदारवादी ब्रिटिश शासन को अपील करने तथा याचिका प्रस्तुत कर सुधारों की मांग कर रहे थे वहां उग्रवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में असहयोग एवं निष्क्रिय प्रतिरोध के माध्यम से अपना मार्ग निश्चित किया था। तिलक के अनुसार याचना का मार्ग निरर्थक था क्योंकि महारानी विक्टोरिया की घोषणा बिना मांगे की गयी थी। इसके बाद यह घोषणा लार्ड कर्जन द्वारा विस्मृत कर दी गयी। लार्ड मार्ले के निरर्थक आश्वासनों के प्रति तिलक ने रोष प्रकट किया। वे उग्रवादी दल के माध्यम से बहिष्कार की नीति का आह्वान करते हुए ब्रिटिश शासन का विरोध करना

चाहते थे। उनके अनुसार महाभारत का दृष्टान्त, जिसमें श्रीकृष्ण जब कौरवों तथा पांडवों के मध्य समझौता कराने का प्रयास कर रहे थे, दोनों ही पक्ष सैनिक दृष्टि से तैयारी कर रहे थे ताकि समझौता भंग होने पर स्थिति का सामना किया जा सके, अनुकरणीय था।[9]

तिलक ने उदारवादियों के राजनीतिक कार्यों की आलोचना करते हुए 1907 में केसरी में लिखे गये अपने लेखों में स्पष्ट किया कि संवैधानिक पद्धति पर आधारित कांग्रेस का आन्दोलन केवल समय का अपव्यय है। 'संवैधानिक' शब्द का निरन्तर प्रयोग जनता को वर्षों से गुमराह कर रहा है। वास्तविकता यह है कि संवैधानिकता का सही अर्थ उदारवादियों को ज्ञात ही नहीं। तिलक के अनुसार भारत के उदारवादी इंगलैण्ड की राजनीति में प्रयुक्त शब्दों का भारत के संदर्भ में निरर्थक प्रयोग कर रहे हैं। इंगलैण्ड में सत्तारूढ़ दल द्वारा पारित किसी भी अलोकप्रिय अधिनियम को जनता के मत द्वारा निरस्त किया जा सकता है। वहाँ की जनता को शासन में परिवर्तन करने का लोकतांत्रिक साधन प्राप्त है। यदि सरकार जनता के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह न करे तो उसे बदल दिया जाता है किन्तु भारत में विपरीत स्थिति है। गोखले और उनका उदारवादी दल भारत के किस संविधान की दुहाई देता है जो जनता को य अधिकार देता हो। भारत की सरकार इंगलैण्ड की संसद के प्रति उत्तरदायी है। जो भी भारत सरकार का विरोध करता है उसे भारतीय दण्ड संहिता के अन्तर्गत दण्डित किया जाता है। तिलक के अनुसार गोखले भारत के जिस संविधान की दुहाई देते हैं वह भारतीय दण्ड संहिता ही हो सकती है।[10]

तिलक के अनुसार संवैधानिक आन्दोलन की बात करना व्यर्थ है क्योंकि भारत का अपना कोई संविधान नहीं है। संवैधानिक आन्दोलन द्वारा ब्रिटिश संसद की विधि से स्थापित भारत सरकार के माध्यम से परिवर्तन लाना कोरी कल्पना है। भारतीय जनता को कानून बनाने का अधिकार नहीं दिया गया। सरकारी अफसरों को ही कानून बनाने और बदलने का अधिकार दिया गया है। यदि अफसरशाही चाहे तो सभी आन्दोलन समाप्त करवा कर रही सही स्वतन्त्रता भी छीन सकती है। भारत की नौकरशाही ने जिस निरंकुशतन्त्र की स्थापना कर रखी है उससे संघर्ष करने के लिए वैधानिक पद्धति की दुहाई देना हास्यास्पद प्रतीत होता है। तिलक कानून के स्थान पर न्याय, नैतिकता तथा औचित्य को आन्दोलन के मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में अपनाना चाहते हैं। विदेशी नौकरशाही के, जो कि निरंकुश शक्तियों से युक्त हैं, विरुद्ध संवैधानिक एवं विधि-निष्ठ पद्धतियों का प्रयोग राजनीतिक आत्महत्या है। अन्याय का विरोध करने वाला दण्डित किया जायगा किन्तु दण्ड की चिन्ता किये बिना नैतिकता विहीन कानून का प्रतिकार होना चाहिए।[11]

तिलक बहिष्कार को ऐसा राजनीतिक अस्त्र मानते थे जो भारतीयों के निःशस्त्र होते हुए भी अमोघ अस्त्र का काम कर सकता था। भारत में विदेशी शासन भारतीयों की सहायता से चलाया जा रहा था। भारतीय उपसेवाओं में कार्य कर रहे थे। विदेशी शासन ने भारतीयों को इस तथ्य से अंधकार में रखा था कि वे पारस्परिक सहयोग से स्व-शासन प्राप्त कर सकते थे। तिलक ने इस अज्ञान को दूर करते हुए संदेश दिया कि यदि भारतीय सक्रिय विरोध की शक्ति नहीं रखते तो उन्हें अवज्ञा अथवा असहयोग करने

से कौन रोक सकता है। वे इस पद्धति से भारतीय विदेशी सरकार को उन पर शासन करने से वंचित कर सकते हैं। बहिष्कार को राजनीतिक शस्त्र इसी कारण से माना गया है। उन्हें शांति बनाये रखने तथा राजस्व एकत्रित करने में सहायता न दी जाय। भारत की सीमाओं के बाहर भारतीय रक्त एवं धन के माध्यम से युद्ध करने में सहयोग न दें। उनके न्याय-प्रशासन में सहयोग न दिया जाय। जनता को अपनी अदालतें स्थापित की जायें और आवश्यकता उपस्थित होने पर भारतीयों द्वारा कर न देने का आह्वान किया जाय।[12]

तिलक के राजनीतिक विचारों में अहिंसा एवं हिंसा का मध्य अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट दिखाई देता है। उनका बाल्यकालीन पारिवारिक वातावरण विद्रोही स्वर से युक्त था। उनके परिवार ने वासुदेव बलवन्त फड़के का समर्थन किया था।[13] तिलक का उग्र राजनीतिक दृष्टिकोण प्रारम्भ में विदेशी दासता से मुक्ति के लिए सभी सम्भव उपायों का समर्थक था। उनकी लेखनी से जो शब्द निसृत हुए उनके द्वारा राजनीतिक हिंसा का वातावरण महाराष्ट्र में बना। श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा सावरकर जैसे क्रान्तिकारियों से उनका सीधा सम्बन्ध रहा। वे क्रांतिकारियों के प्रशंसक थे। उनके विरुद्ध लगाये गये राजद्रोह के अभियोग के समय तिलक ने यद्यपि अपने आपको हिंसा एवं क्रान्ति से विलग सिद्ध करने का प्रयास किया किन्तु वास्तविकता यह थी कि तिलक भारत में अंग्रेजीराज के प्रबलतम शत्रु थे।[14] यह उनकी विवशता थी कि वे निष्क्रिय प्रतिरोध की ओर अग्रसर हुए। उन्हें भारत की जनता की भीरुता तथा सशस्त्र विद्रोह की असमर्थता के कारण यह विचार व्यक्त करना पड़ा कि भारत में रूस की तरह क्रान्ति करने तथा बम का प्रयोग करने का उपयुक्त मौका नहीं था किन्तु आने वाला था।[15] एक बार तिलक ने व्यक्तिगत क्रान्ति के अन्तर्गत क्रान्तिकारियों द्वारा बम फेंकने तथा हत्याएँ करने की निन्दा की किन्तु साथ ही साथ वे भारत की जनता को निःशस्त्र रखने के लिए सरकार की भी आलोचना करने लगे। उनके द्वारा क्रांतिकारियों के कार्य की निन्दा केवल शासन को भुलावे में रखने की उनकी राजनीतिक चाल थी। 1905 में तिलक ने रूस के वाणिज्य प्रतिनिधि से बम्बई में भेंट कर कुछ भारतीयों को रूस में सैन्य प्रशिक्षण दिलाने के सम्बन्ध में उनसे सूचना मांगी थी। वे पूना के एक सैनिक अधिकारी माधव राव जाधव को इस कार्य के लिए रूस भेजना चाहते थे ताकि वे ब्रिटिश सेना से पलायन करने वाले भारतीय सैनिकों का नेतृत्व कर उन्हें सेना के रूप में संगठित कर सकें। रूसी अधिकारी द्वारा इस योजना को अत्यधिक खर्चीली बताने पर तिलक ने उनसे कहा था कि वे धन की चिन्ता न करें।[16] इससे यह प्रतीत होता है कि तिलक ने सुभाष बोस की आजाद हिन्द फौज के समान एक विशुद्ध भारतीय सैन्य दल बनाने की योजना और उसके लिए अपार धन राशि का प्रबन्ध कर रखा होगा किन्तु परिस्थितियों ने उन्हें समस्त योजना को त्यागने के लिये विवश किया होगा। ब्रिटिश शासन की उन पर कठोर दृष्टि थी और वे स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरण कर ऐसी योजनाओं को क्रियान्वित नहीं कर सके। तिलक की निराशा का कारण भारतीयों में पौरुष की कमी तथा अंग्रेजीराज के समर्थक सत्ता एवं धन लोलुप भारतीय सामन्त, व्यापारी तथा अधिकारी थे। तिलक ने हिंसक क्रांति की योजना अपने देश-निर्वासन (1908) के समय ही त्याग दी थी। वे उग्रवादी दल के निष्क्रिय प्रतिरोध

एवं अहिंसक असहयोग के समर्थक बन गये थे। बाद में वे स्वराज्य प्राप्ति के लिए संवैधानिक आन्दोलन की ओर आकृष्ट हुए। उनके द्वारा काँग्रेस लोकतान्त्रिक दल की स्थापना इसका प्रमाण थी। उनके विचारों की उग्रता कालान्तर में सशस्त्र क्रांति के स्थान पर अहिंसक संवैधानिक क्रांति में परिवर्तित होती हुई दिखाई दी।

तिलक ने निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति को विधि-सम्मत सिद्ध किया। 1907 में वे संवैधानिक आन्दोलन को हास्यास्पद मानते थे किन्तु 1917 में वे स्वयं संवैधानिक पद्धति की ओर झुक गये थे। वे पद्धतियों की चिंता छोड़कर इस बात पर विशेष जोर दे रहे थे कि प्रत्येक आन्दोलनकारी कानून तथा संविधान के दायरे में रहे। कानून और संविधान का अन्तर बतलाते हुए तिलक ने व्यक्त किया कि जब तक भारतीयों के हाथ में स्वयं कानून-निर्माण की शक्ति नहीं आती तब तक ऐसे कानून समय समय पर पारित हो सकते हैं जो नैतिकता एवं न्याय के विरुद्ध हों। ऐसे कानूनों का पालन न किया जाय। निष्क्रिय प्रतिरोध साध्य-प्राप्ति का साधन है अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं। निष्क्रिय प्रतिरोध किसी कानून का पालन करने से उत्पन्न लाभ तथा हानियों को संतुलित करने का माध्यम है, कानून का पालन नहीं। यदि विवेक द्वारा कानून की अवज्ञा अधिक लाभप्रद प्रतीत हो तो कानून का पालन नहीं किया जाय। लक्ष्य-प्राप्ति का संकल्प ही निष्क्रिय प्रतिरोध है। यदि मार्ग में बाधाएं उपस्थित हो रही हों तो संकल्प-प्राप्ति के लिए उनसे संघर्ष करना चाहिए। प्रत्येक कानून संवैधानिक नहीं कहा जा सकता। न्याय तथा नैतिकता के विरुद्ध बनाये गये कानून संवैधानिक नहीं होते। निष्क्रिय प्रतिरोध न्याय संगत एवं उच्च नैतिक आदर्श होने के नाते पूर्णतया संवैधानिक है।[17]

तिलक ने ब्रिटिश शासन से स्वराज्य प्राप्ति के संदर्भ में ब्रिटेन के सम्राट की स्थिति को ब्रह्म की तरह अपरिवर्तनशील माना और वास्तविक शासन को 'माया" की संज्ञा दी। जिस प्रकार से ब्रह्म की स्थिति को परिवर्तित नहीं किया जा सकता उसी प्रकार ब्रिटिश सम्राट् को परिवर्तित करने की आवश्यकता नहीं है। माया के परिवर्तनकारी स्वरूप को शासन के परिवर्तनों के सदृश माना जा सकता है। शासन में परिवर्तन का अर्थ है ऐसी सरकार की स्थापना जो जनहित में कार्य करे। नौकरशाही के हाथों से शासन लेकर जनता के प्रतिनिधियों को सौंप दिया जाय। स्वराज का यही अर्थ है कि भारत के शासन पर नौकरशाही का नियन्त्रण जनता को हस्तान्तरित कर दिया जाय। जिस प्रकार से इंग्लैण्ड में सम्राट् की स्थिति एक नाम मात्र के शासक की और समस्त कार्य मंत्रियों की सलाह पर होता है उसी तरह भारत में जन-प्रतिनिधियों के हाथों में वास्तविक सत्ता होनी चाहिए। ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन होते हैं और सत्ता बदलती है किन्तु भारत में अंग्रेजी नौकरशाही अपरिवर्तनशील है। इसे बदलने का प्रयास देशद्रोह माना जाता है। क्या इंग्लैण्ड में भी ऐसे प्रयासों को देशद्रोह की ही संज्ञा दी जा सकती है? सम्राट् की स्थिति को यथावत् बनाये रखते हुए भारत का शासन भारतीयों के हाथों होना ही स्वराज्य है। दुर्भाग्य से स्वराज्य का इंग्लैण्ड में उपभोग करने वाली अंग्रेजी सत्ता भारत में स्वराज्य की मांग को अस्वीकृत कर रही है। तिलक ने स्पष्ट किया कि स्वराज्य की मांग को देशद्रोह समझना व्यर्थ है। यह सम्राट् की सत्ता को चुनौती नहीं अपितु जनता से सम्बन्धित कार्यों पर जनता के नियन्त्रण की मांग है। तिलक ने यह भी व्यक्त किया

कि भारत में स्वशासन का अधिकार किसी भी दल को सौंपा जाय—चाहे उदारवादियों को अथवा उग्रवादियों को या पुलिस के सिपाही को ही यह अधिकार क्यों न दिया जाय—उन्हें कोई आपत्ति नहीं। मूल प्रश्न स्वराज्य का है अधिकारों का है।[18]

तिलक ने राज्य की प्रकृति तथा उद्देश्य के संदर्भ में बेंथम के उपयोगितावाद की आलोचना की है। वे सुखवाद के संख्यात्मक आधार 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिक से अधिक सुख' को उचित नहीं मानते। नैतिकता सम्बन्धी प्रश्नों का संख्यात्मक निर्णय त्रुटिपूर्ण होता है।[19] तिलक ने गीता-रहस्य में कौरवों तथा पाण्डवों का उदाहरण देते हुए यह विचारप्रश्न किया है कि क्या पाण्डवों की सेना संख्या में कौरवों की सेना से कम होने के कारण दोषी थी और पाण्डवों को हराने पर कौरवों को संख्यात्मक आधार पर अधिकतम सुख की प्राप्ति होती? साधारण जन मानस द्वारा जिस वस्तु को सुख उत्पन्न करने वाली माना जाता है उसे दूरद्रष्टा हानिप्रद बतलाते हैं।[20] उदाहरण के लिए सुकरात तथा यीशू अपने देशवासियों को कल्याणकारी उपदेश दे रहे थे किन्तु उनके देशवासियों ने उनकी भर्त्सना कर उन्हें समाज का शत्रु करार देकर मृत्युदण्ड दिया। तिलक के अनुसार नैतिक गणित का सिद्धान्त इस प्रश्न का कि सहस्त्रों व्यक्तियों का सुख किसमें है और उसकी प्राप्ति कैसे और किसके द्वारा हो सकती है, उचित समाधान प्रस्तुत नहीं करता। यह सिद्धान्त अत्यधिक यांत्रिक है और इसमें व्यक्ति के उद्देश्यों का समावेश नहीं किया गया है। इसी तरह उपयोगितावाद यह नहीं दर्शाता कि परहितवाद स्वार्थवाद से क्यों अच्छा है। यदि परहित का उद्देश्य यह है कि दूसरों के हित की रक्षा करने से स्वयं के हितों की रक्षा होती है और इस प्रकार अधिक से अधिक व्यक्तियों को अधिकतम लाभ हो सकता है तो यह उचित नहीं। मूल प्रश्न यह है कि हम अधिक से अधिक व्यक्तियों को कैसे सुखी बनायें। तिलक ने नैतिक प्रश्नों का भौतिकवादी समाधान स्वीकार नहीं किया। जीवन में भौतिक वस्तुओं की उपलब्धि ही सब कुछ नहीं। उच्च कार्यों तथा सद्विवेक एवं मस्तिष्कजन्य उपलब्धियों से मानव-कल्याण एवं सुख की प्राप्ति सर्वश्रेष्ठ है। इन्द्रियजन्य सुख निम्नकोटि का सुख है।[21]

तिलक ने राजनीतिक स्वतन्त्रता को ईश्वरीय गुण मानते हुए जनता को राष्ट्रवादी एवं लोकतान्त्रिक विचारों के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतिकार करने के लिए प्रेरित किया। तिलक ने राष्ट्रवादी विचारों की व्याख्या करते हुए राष्ट्रवाद को एक मनोवैज्ञानिक धारणा बतलाया।[22] उनके अनुसार राष्ट्र का निर्माण जनसमूह की परस्पर सम्बन्धगत एकता की भावना पर आधारित था। जहाँ अरविंद घोष तथा विपिन चन्द्र पाल ने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिकता का बाना पहनाया वहाँ तिलक ने राष्ट्रवाद को राजनीतिक अर्थ तक ही सीमित रखने का प्रयास किया। उनकी राष्ट्रवाद सम्बन्धी धारणा पर पश्चिम के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय-सिद्धान्त का विशेष प्रभाव अंकित था। वे आत्मा की शाश्वत स्वतन्त्रता में विश्वास करते हुए मानव विकास के लिए स्वराज्य एवं स्वराष्ट्र की कल्पना कर रहे थे। वे राष्ट्र की भावना को आध्यात्मिक स्फूर्ति एवं नैतिक बल से युक्त मानते थे। गीता तथा वेदों की प्रेरणा से तिलक ने भारत के अतीत के राष्ट्रीय गौरव एवं संस्कृति को उभारने का प्रयास किया था। तिलक इस अर्थ में पुनरुत्थानवादी थे। वे राष्ट्रवाद को उस प्राचीन नींव पर आधारित करना चाहते थे जिसे भारत ने अपनी

गौरवपूर्ण धरोहर के रूप में सजो रखा था। तिलक के अनुसार प्राचीन गौरव को तिरस्कार की दृष्टि से देखना अराष्ट्रीय कार्य है। हमारी सांस्कृतिक विरासत ही हमे भविष्य के भारत के निर्माण मे सहायक हो सकती है। वे भारतीयो द्वारा पाश्चात्य सभ्यता एव सस्कृति की नकल को भारत राष्ट्र के लिए अपमानजनक समझते थे। इन नवोदित राष्ट्रद्रोहियों से जनता को बचाने के लिए तिलक ने गणपति-उत्सव तथा शिवाजी-उत्सव का सहारा लिया। उनका मूल उद्देश्य वर्तमान को अतीत से सम्बधित करने का था ताकि आत्म-विश्वास तथा पौरुष की वर्तमान कमी को अतीत की ऐतिहासिक महत्ता के अनुमान से दूर किया जा सके।[23]

तिलक ने गणपति एव शिवाजी के उत्सवो का प्रारम्भ हिन्दुओं को सगठित करने की दृष्टि से किया था। वे सनातन हिन्दू धर्म के कट्टर समर्थक थे। अत. अपने प्रारम्भ के सार्वजनिक जीवन मे हिन्दू राष्ट्र की धारणा ने उन्हे अछूता नहीं रखा। तिलक कालान्तर मे साम्प्रदायिक समन्वय के समर्थक बन गये। उन्होने शिवाजी-उत्सव के सदर्भ मे कहा कि यह कोई मुस्लिम-विरोधी उत्सव नहीं है। शिवाजी ने मुसलमानो से जिस काल मे युद्ध किया उस समय मुसलमान विदेशी शासक के रूप मे आरूढ थे। अग्रेजो के शासन-काल मे मुसलमानो का विरोध करने का कोई प्रश्न ही नही था। ऐसे समय मे हिन्दुओ तथा मुसलमानो को एक होकर विदेशी दासता से मुक्ति प्राप्ति करने का सन्देश तिलक ने दिया।[24] बगाल के विभाजन से जनित आन्दोलन के समय तिलक ने साम्प्रदायिक समन्वय एव सहयोग की अपील की थी। तिलक व्यक्तिगत रूप से हिन्दू धर्म के अनुयायी थे किन्तु राजनीति मे उनका दृष्टिकोण व्यापक रहा। हिन्दुओ के "लोकमान्य" तिलक को जिन्ना, शौकत अली, हजरत मोहानी आदि ने अपना राजनीतिक गुरु माना। यह इस बात की पुष्टि करता है कि हिन्दुओ द्वारा समर्थित उनका नेतृत्व मुसलमानो के लिए भी उतना ही प्रेरणास्पद रहा। जकारिया, प्राइस तथा रजनी पाम दत्त द्वारा तिलक को हिन्दू-राष्ट्रवादी करार दिया जाना त्रुटिपूर्ण था। वे तिलक के व्यापक राजनीतिक उद्देश्यो एव आध्यात्मिक दर्शन से अनभिज्ञ रहकर ही अपनी आलोचना प्रस्तुत कर रहे थे। तिलक का राष्ट्रवाद अत्यन्त व्यापक राष्ट्रवाद था। वे राजनीतिक राष्ट्रवाद के विचार के साथ-साथ आर्थिक राष्ट्रवाद के भी समर्थक थे। दादाभाई नौरोजी, विलियम डिग्बी, गोखले तथा लाजपतराय के समान तिलक ने अग्रेजो द्वारा भारत के आर्थिक शोषण सम्बन्धी निर्गम-सिद्धान्त का समर्थन किया। वे स्वदेशी के परम उपासक थे। अग्रेज उद्योगपतियो द्वारा भारत के व्यापार एव वाणिज्य पर एकाधिकार का तिलक ने विरोध किया। आर्थिक बहिष्कार की नीति को तिलक ने इसी कारण से स्वीकार किया कि भारत मे स्वदेशी वस्तुओ का उत्पादन एव उपयोग बढ़े और भारतीय स्वय आयात की नीति पर नियत्रण रख सके। शासन से आर्थिक सरक्षण की माग करने के स्थान पर जनता को स्वावलम्बन के माध्यम से आर्थिक प्रगति करने का सन्देश तिलक ने दिया।

तिलक सकीर्ण राष्ट्रवादी नही थे। अपने सस्कृत पाडित्य के कारण वेदान्त के गूढ़ रहस्यो मे उनकी विशेष गति थी। वेदान्त की मानव एकता की धारणा को राष्ट्रवाद के माध्यम से प्राप्त कर विश्वबन्धुत्व की स्थापना तिलक का अन्तिम ध्येय था। वे अन्तर्राष्ट्रवाद को राष्ट्रवाद का ही उन्नत रूप मानते थे।

तिलक ने राजनीतिक यथार्थवाद का अवलम्बन लेकर पेरिस के शान्ति-सम्मेलन (1919) के अध्यक्ष क्लीमेंशों को स्मरण-पत्र प्रेषित करते हुए उसमें भारत की भावी अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता का चित्र प्रस्तुत किया। वे भारत के स्वशासन की समस्या के समाधान को विश्वशांति तथा अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व के लिए आवश्यक मानते थे। भारत एशिया तथा सम्पूर्ण विश्व के लिए शांति का प्रेरक हो सकता था। राष्ट्र संघ की सफलता एवं ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के हित में भारतीयों को स्वशासन देने की बात तिलक ने दोहरायी। भारत जैसे शांतिप्रिय एवं अन्य देशों की स्वतन्त्रता का समान रूप से सम्मान करने वाले देश को आत्म-निर्णय का अधिकार मिलना चाहिए था। उन्होंने स्मरण-पत्र में यह भी व्यक्त किया कि भारत की अंग्रेजी सरकार ने बीकानेर के महाराजा तथा लार्ड सिन्हा को भारत के प्रतिनिधियों के रूप में शांति-सम्मेलन में भेजकर अनुचित कार्य किया है। ये व्यक्ति भारत की जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते। कांग्रेस के मनोनीत प्रतिनिधियों (गांधी, तिलक एवं हसन ईमाम) को शान्ति-सम्मेलन में सम्मिलित किया जाना चाहिए था। उन्होंने यह भी व्यक्त किया कि भारत की प्रशासनिक क्षमता एवं योग्यता को जब इंग्लैण्ड के मजदूर दल ने भी स्वीकार किया तब भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता क्यों नहीं प्रदान की जा सकती। तिलक ने क्लीमेंशो से अपील की कि वे शान्ति-सम्मेलन द्वारा भारत को अन्य ब्रिटिश स्वशासी उपनिवेशों के समान राष्ट्रसंघ की सदस्यता के समस्त अधिकार प्रदान करवायें। भारत को आत्म-निर्णय का अधिकार देने की घोषणा की जाय ताकि भारत में लोकतांत्रिक जनप्रतिनिधियों की सरकार स्थापित हो सके। तिलक ने यह स्पष्ट किया कि उनका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य से भारत को पृथक करने का नहीं था। वे भारत सरकार की केन्द्रीय शासन-व्यवस्था को प्रतिरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध तथा सेना विभाग से मुक्त रखना चाहते थे। उनका उद्देश्य द्वैध शासन के स्थान पर प्रान्तों में पूर्ण स्वशासन तथा केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना का था। क्लीमेंशो को भेजे गये इस स्मरणपत्र की एक प्रति तिलक ने अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन को भी भेजी थी। विल्सन ने भी भारतीयों को स्वशासन देने में रुचि दिखाई। किन्तु वे भारत में आत्म-निर्णय का सिद्धान्त ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज के समक्ष रखने का साहस नहीं रखते थे।[54]

तिलक केवल स्वतन्त्रता सेनानी ही नहीं थे अपितु एक कर्मठ राजनेता भी थे। उनका प्रारम्भिक राजनीतिक जीवन अतिवादी रहा किन्तु समय एवं परिस्थिति की माँग को देखकर उनकी स्वशासन सम्बन्धी दृष्टिकोण भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति असहयोग से सहयोग में परिवर्तित हो गया। मोंटफर्ड सुधारों की योजना को क्रियान्वित करने के लिए उन्होंने जिस कांग्रेस लोकतांत्रिक दल की स्थापना की उसके चुनाव घोषणा पत्र (अप्रैल, 1920) में वर्णित शब्दावली उनके परिपक्व राजनीतिक चिंतन की प्रतीक थी। घोषणा-पत्र में तिलक ने कांग्रेस तथा लोकतंत्र दोनों के प्रति अपनी अविचल भक्ति का उल्लेख किया। उन्होंने भारत की समस्याओं के समाधान के लिए लोकतांत्रिक सिद्धान्तों को ही उपयुक्त मानते हुए भारत में शिक्षा तथा राजनीतिक मताधिकार के विस्तार को इस कार्य के दो प्रमुख शस्त्रों के रूप में माना। जाति अथवा रीति-रिवाजों पर आधारित समस्त नागरिक धर्मनिरपेक्ष अथवा सामाजिक अयोग्यताओं को वे दूर करने के पक्ष में

थे। धार्मिक सहिष्णुता, धर्म की व्यक्तिगत पवित्रता तथा राज्य द्वारा इसको बाह्य आक्रमण से रक्षित करने अधिकार एवं कर्त्तव्य में उनका पूरा-पूरा विश्वास था।[26]

तिलक ने घोषणा-पत्र में यह भी व्यक्त किया कि उनका दल भारत संघ को ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से संयुक्त करने के पक्ष में है ताकि मानवता एवं विश्व-बन्धुत्व का विकास हो सके। किन्तु इसके लिए वे भारत में पूर्ण स्वायत्तता तथा ग्रेट ब्रिटेन सहित ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्य सदस्य देशों से भारत के लिए समान स्तर की मांग कर रहे थे। उन्होंने विश्व-शान्ति, राज्यों की राष्ट्रीयता, राष्ट्रों एवं राष्ट्रीयताओं की स्वतन्त्रता तथा देशों में परस्पर शोषण की वृत्ति को समाप्त करने में राष्ट्रसंघ की भूमिका का स्वागत किया। वे भारत को उत्तरदायी शासन के पूर्ण योग्य मानते हुए उसके द्वारा स्वैच्छिक शासन का ढांचा स्वयं निर्धारित करने तथा संविधान बनाने के पृथक् अधिकार की मांग प्रस्तुत कर रहे थे। वे इस कार्य के लिए इंग्लैण्ड की संसद में, श्रमिक दल तथा सहानुभूति रखने वाले अन्य व्यक्तियों के सहयोग से, एक नया विधेयक प्रस्तुत करवाना चाहते थे। वे भारत तथा राष्ट्रसंघ के सदस्य देशों में इसके समर्थन में व्यापक अभियान चलाना चाहते थे।[27] इस कार्य के लिए तिलक ने "शिक्षा, आन्दोलन तथा संगठन" का मार्ग अपनाने को कहा। उनका दल मोंटेग सुधार-अधिनियम को क्रियान्वित करवाने के पक्ष में था ताकि भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना को तीव्र गति दी जाय। तिलक ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे इस कार्य के लिए शासन के प्रति सहयोग अथवा संवैधानिक विरोध जो भी उपयुक्त तथा लोकमत को संबल देने वाला होगा प्रस्तुत करेंगे।[28]

तिलक ने कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल के अन्य कार्यों में दमनात्मक व्यवस्थापन का अन्त, औद्योगिक एवं कृषि-श्रमिकों को उचित न्यूनतम वेतन, पूंजीपतियों एवं श्रमिकों के मध्य समानता के आधार पर सम्बन्धों की स्थापना, श्रमिक संगठनों को प्रोत्साहित करना, खाद्यान्नों तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं के निर्यात पर नियन्त्रण स्थापित कर कीमतें कम करना तथा आपूर्ति का संरक्षण करना, राज्य से आर्थिक सहायता तथा संरक्षणात्मक नियमों द्वारा तथा अन्य स्वीकृत साधनों द्वारा स्वदेशी उद्योगों का प्रोत्साहन एवं विस्तार, औद्योगिक विकास के लिए रेलों का राष्ट्रीयकरण तथा मालवाहन की राशि का नियमन, सेना पर किये जाने वाले व्यय में कटौती तथा समान वितरण को दृष्टि में रखकर क्रमिक करारोपण, नागरिक सेना का निर्माण, प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से सेवाओं के लिए नियुक्ति, भारत की राष्ट्रभाषा की स्थापना तथा अन्तर्साम्प्रदायिक सम्बन्धों में सुधार के द्वारा राष्ट्रीय एकता का विकास, भाषायी आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन आदि निर्धारित किये।[29]

उपर्युक्त विषयों का सम्बन्ध केन्द्रीय सरकार से होने के कारण तिलक ने प्रान्तों के लिए भी अन्य कार्यक्रम सुझाये। प्रान्तीय कार्यक्रम में तिलक ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा, लिंग-भेद रहित निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा, ग्राम-पंचायतों की शक्ति में वृद्धि, मद्य-निषेध तथा सार्वभौमिक मताधिकार का विस्तार आदि रखे।[30] तिलक द्वारा कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल के चुनाव घोषणा-पत्र में सम्मिलित कार्यक्रम को देखकर ऐसा आभास होता है जैसे स्वाधीन भारत के कांग्रेस दल का चुनाव घोषणा पत्र हो। स्वाधीनता के बाद कांग्रेस ने तिलक की उपर्युक्त योजना के अधिकांश विषयों को संविधान के

माध्यम से तथा अन्य शासकीय उपबन्धों द्वारा क्रियान्वित किया। तिलक अपने समय से अनेक दशक आगे थे।

तिलक के सामाजिक विचार

तिलक सामाजिक विचारों में सुधारवादी न होकर पुनःअभ्युदयवादी थे। वे रानाडे के विचारों के विपरीत भारतीय सभ्यता व संस्कृति के प्राचीन सफल सामाजिक प्रयोगों को वर्तमान भारत में पुनः स्थापित करने में विश्वास रखते थे। उनके द्वारा सामाजिक सुधारों के सन्दर्भ में भारत की प्राचीन मान्यताओं का समर्थन रूढ़िवाद से ग्रस्त नहीं था। प्राचीन मान्यता में कालान्तर में प्रक्षिप्त भ्रान्त विचारों एवं मान्यताओं को वे समाप्त करने के पक्ष में थे किन्तु भारत की प्राचीन धरोहर को एक ओर हटाकर पाश्चात्य शिक्षा व संस्कृति के अनुकूल भारत को नवीन सामाजिक संस्थाएं स्थापित करना उन्हें मान्य न था। वे भारत के उदारवादियों के समान सुधार को पाश्चात्य परम्परा का अनुसरण करना नहीं चाहते थे। उन्हें इसका क्षोभ था कि भारत की सम्भ्रान्त एवं शिक्षित पीढ़ी पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण द्वारा भारत की सभ्यता व संस्कृति की धरोहर को विस्मृत करने पर उतारू थी। वे पाश्चात्य संस्कृति की भौतिकतावादी परम्परा का विस्तार भारत में नहीं चाहते थे। इतना होने पर भी तिलक अंग्रेजी भाषा व साहित्य के अध्ययन तथा पाश्चात्य राजनीतिक मान्यताओं के ग्राह्य पक्ष को अपनाने से मना नहीं करते थे। वे स्वयं दक्षिणी शिक्षा समिति, पूना के प्रमुख कर्त्ताधर्ता के रूप में अंग्रेजी भाषा के अध्ययन को अनिवार्यता का समर्थन करते रहे। तिलक ने जहां एक ओर वेद, उपनिषद् व गीता आदि का गहन अध्ययन किया था वहां दूसरी ओर हेगल, कांट, स्पेन्सर, मिल, बेन्थम, वाल्टेयर व रूसो आदि के विचारों का भी अध्ययन किया था। वे पाश्चात्य साहित्य एवं संस्कृति के उच्चादर्शों से अनभिज्ञ नहीं थे। किन्तु एक राष्ट्रवादी भारतीय के रूप में वे भारत का वैचारिक पुनर्निर्माण पाश्चात्य विचारधारा पर आधारित करना नहीं चाहते थे।

तिलक ने समाज-सुधारों के क्षेत्र में उतनी उग्रवादी नीति का अनुसरण नहीं किया जितना कि राजनीतिक क्षेत्र में। समाज-सुधार की दृष्टि से तिलक सामाजिक सुधारों को राजनीतिक सुधारों के बाद ही लाना चाहते थे। समाजसुधार के क्षेत्र में वे यथास्थितिवादी थे। वे पहले स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे बाद में और कुछ। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि समाजसुधार को तिलक ने बिल्कुल महत्त्व नहीं दिया। वे प्रगतिशील सुधारकों के साथ कई मामलों में सम्बद्ध थे। उन्होंने रानाडे द्वारा प्रस्तावित कतिपय सुधारों का समर्थन भी किया। उदाहरणार्थ वे इस बात से सहमत थे कि लड़कों का विवाह 16, 18 व 20 वर्ष के पहले न किया जाये तथा लड़कियों का 10, 12, या 14 वर्ष के पहले। उन्होंने बहुपत्नी-प्रथा का विरोध किया तथा 60 वर्ष की आयु पर विवाह पर प्रतिबन्ध लगाने का समर्थन किया। रानाडे की सुधार-योजना में लड़के व लड़की के विवाह पर एक वर्ष से अधिक की आय न खर्च करने का प्रस्ताव भी स्वीकार किया। शराब पर प्रतिबन्ध तथा स्त्री-शिक्षा के विस्तार का भी उन्होंने समर्थन किया। यद्यपि तिलक ने "स्वीकृति आयु विधेयक' का विरोध किया था किन्तु यह विरोध राजनीतिक कारणों से था न कि सामाजिक कारणों से। विरोध का प्रमुख कारण यह था कि वे सामाजिक

व्यवस्थापन का कार्य ब्रिटिश सरकार के हाथो मे नही सौंपना चाहते थे। इसके माध्यम से वे भारत की विदेशी सरकार का विरोध कर रहे थे।[31] तिलक की दृष्टि से भारत का पाश्चात्य स्वरूप मे पुनर्निर्माण भारत की महानता के लिए घातक था और किसी भी प्रकार के सुधार को विदेशी शासन द्वारा जबरन थोपा जाना उस सुधार को अनैतिक बनाना था।[32]

तिलक ने सामाजिक सम्बन्धो के संदर्भ मे हिन्दु-समाज की कतिपय मान्यताओ को स्वीकार किया किन्तु वे हिन्दू-समाज की रूढियो से बधे हुए नहीं थे। चाय-पार्टी की घटना में तिलक ने रूढिवादियो का मन रखने के लिए प्रायश्चित आदि किया किन्तु व्यवहार मे छुआछूत का कोई स्थान नही था। वे सामाजिक सुधार के क्षेत्र मे अनेक समाजसुधारको से आगे थे। उन्होने विधवा-विवाह का समर्थन किया। प्रो० डी० के० कर्वे द्वारा विधवा-विवाह किये जाने पर उन्हें बधाई दी। उन्होंने स्वय अपनी पुत्रियो का विवाह पन्द्रह वर्ष की आयु के पश्चात् किया। शिवाजी तथा गणपति महोत्सव मे उन्होने अवर्णों को सवर्णों के साथ सम्मिलित किया तथा उनके साथ कुलीन हिन्दुओ जैसा व्यवहार किया। इस प्रकार तिलक ने समाज सुधारको के कथन तथा कार्य के भेद को अपने जीवन मे प्रविष्ट नहीं होने दिया। अन्तर केवल यह था कि तिलक सुधारो को कानून के माध्यम से क्रियान्वित करने के पक्ष मे न थे।[33] वे सामाजिक सुधारों को उचित सामाजिक शिक्षण के माध्यम से क्रियान्वित कराना चाहते थे। उचित लोकमत का निर्माण कर सुधारो को सुगमता से लाया जा सकता था। वे सामाजिक सुधारो के प्रति प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण नहीं रखते थे। न वे सुधारों की बाढ मे प्रवाहित हो जाना ही स्वीकार करते थे। वे भारत को प्राचीन सांस्कृतिक एव सामाजिक धरोहर को विच्छिन्न नहीं करना चाहते थे। भारत अपनी संस्कृति का त्याग करके आगे नही बढ सकता था। उनकी यह मान्यता थी कि भारत के गौरवपूर्ण अतीत को भुलाने के स्थान पर उन त्रुटियो को दूर किया जाय जिनके कारण कतिपय सामाजिक कुरीतियां पनप आई हैं। उन कुरीतियो, अध-विश्वासों एव रूढियो के अन्त के पश्चात् शेष को यथावत् बनाये रखा जाय। तिलक ने इस संदर्भ मे यह व्यक्त किया कि "जिस प्रकार से रूढिवादी मान्यताए तथा उनके पोषक पडित एकपक्षीय है उसी प्रकार से अग्रेजी शिक्षा प्राप्त सुधारक भी एकपक्षीय एव दकियानूसी है। पुराने शास्त्री तथा पडित नवीन परिस्थितियो से उसी प्रकार अपरिचित है जिस प्रकार से नवीन शिक्षा प्राप्त सुधारक हिन्दू धर्म की परम्पराओ एव दर्शन से। अत यह नितान्त आवश्यक है कि नवीन शिक्षा प्राप्त वर्ग को प्राचीन मान्यताओ तथा दर्शन का उचित ज्ञान कराया जाय तथा पुराने पडितो तथा शास्त्रियो को नवीन परिवर्तनो एव परिवर्तनशील परिस्थितियो की जानकारी दी जाय।"[34] तिलक का यह दृष्टिकोण परम्परा तथा आधुनिकता मे समन्वय का प्रतीक था।

तिलक का धर्म तथा अध्यात्म

बाल गगाधर तिलक की सनातन हिन्दू-धर्म मे पूर्ण निष्ठा थी। हिन्दू-धर्म की महानता, उदारता व सहिष्णुता के वे प्रबल प्रशसक थे। उन्होने हिन्दूधर्म से सम्बन्धित समस्त मान्यताओ, रीति-रिवाजो, धार्मिक ग्रन्थो आदि का विशद अध्ययन किया था। वे हिन्दूधर्म की अवतारवादी, अद्वैतवादी तथा ज्ञान-भक्ति-कर्म की त्रिवेणी से निस्सृत योग-

साधना की मान्यताओं के समर्थक थे। उन्होंने सनातनी होते हुए भी अनेक धार्मिक आडम्बरों का विरोध किया था। छुआछूत, विधवा-विवाह आदि ऐसी कुरीतियां थी जिनको तिलक ने धार्मिक दृष्टि से असंगत पाया। वे हिन्दुओं में सामाजिक सुधार के कार्य के विरुद्ध नहीं थे किन्तु वे समाज-सुधारकों की नास्तिकता अथवा धर्म के प्रति उदासीनता के विरोधी थे। समाजसुधारकों ने पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति के विदेशी प्रभाव में हिन्दू धर्म की मान्यताओं तथा हिन्दू-संस्कृति को तिरस्कृत करने का जो प्रयास किया था उसे तिलक ने राष्ट्रघाती बतलाया। वे प्राचीन मान्यताओं को आधुनिक परिस्थितियों में ढालना चाहते थे, न कि उनका त्याग करना। वे हिन्दू-धर्म की प्राचीनता को मानव जाति के समकालीन मानते थे। उनके अनुसार वेदों, उपनिषदों तथा वेदान्त की वैज्ञानिक धारणाओं में सन्देह नहीं किया जा सकता। उनमें भौतिकता का विरोध तथा आध्यात्मिकता का तार्किक समर्थन आधुनिक मानवता के मार्गदर्शन की सनातन क्षमता से युक्त है।[35]

तिलक ने हिन्दुओं की साम्प्रदायिक एकता पर बल दिया। वे हिन्दुओं के विभिन्न मत-मतान्तरों को समन्वित कर समस्त हिन्दू मतावलम्बियों को एक जुट होने का आह्वान कर रहे थे। तिलक ने कहा था, "धर्म, धृ धातु से बना बंधन का अर्थबोधक शब्द है-धारण करने, ग्रहण करने के अर्थ में आने वाला शब्द। एक साथ रखने या धारण करने के लिए क्या है? आत्मा को परमात्मा से जोड़ना, मनुष्य मनुष्य को जोड़ना या एक साथ रखना। धर्म से हमारे ईश्वर व मनुष्य के प्रति कर्त्तव्य का बोध होता है। वैदिक युग में भारत स्वावलम्बी देश था। वह एक महान् राष्ट्र की भांति संगठित था। वह संगठन और एकता छिन्न-भिन्न हो गयी है जिससे हमारा बहुत पतन हुआ है। हमारे नेताओं का कर्त्तव्य है कि वे इस एकता को पुनर्जीवित करें।"[36]

तिलक ने धर्म को अति व्यापक अर्थ में देखा था। वे धर्म को संघर्ष अथवा मतभेदों का जनक नहीं मानते थे। धर्म का उद्देश्य हिंसा, अपराध अथवा विध्वंस सिखाना नहीं हो सकता था। वे समाज में व्याप्त संकीर्ण साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिए धार्मिक शिक्षण पर जोर देते थे। तिलक ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों को अपने अपने धर्म की उचित शिक्षा दिलवाने का आग्रह किया ताकि वे परस्पर धार्मिक सहिष्णुता का ज्ञान प्राप्त करें। तिलक ने पण्डिता रमाबाई द्वारा संचालित "शारदा-सदन"[37] की गतिविधियों का भंडाफोड़ कर यह सिद्ध किया कि धर्म की आड़ में ईसाई मिशनरियों द्वारा किस प्रकार अबोध हिन्दू बालिकाओं को ईसाई धर्म में परिवर्तित किया जा रहा था। उन्हें इस बात का खेद था कि हिन्दुओं में अपने धर्म के प्रति स्वाभिमान घट रहा था क्योंकि वे स्वधर्म से अनभिज्ञ थे। तिलक के अनुसार "किसी को अपने धर्म पर अभिमान कैसे हो सकता है, यदि वह उससे अनभिज्ञ है? धार्मिक शिक्षा का अभाव ही इस बात का एक मात्र कारण है कि देश भर में मिशनरियों (ईसाई पादरियों) का प्रभाव बढ़ गया है।"[38]

किन्तु तिलक संकीर्ण हिन्दू राष्ट्रवादी नहीं थे। उनके द्वारा महाराष्ट्र में चलाये गये जन-आन्दोलनों में उन्हें सभी सम्प्रदायों का समर्थन प्राप्त होता रहा। 1916 के कांग्रेस के लखनऊ-अधिवेशन में तिलक ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों में साम्प्रदायिक समझौता करवाने का सफल प्रयास किया। उनके सहिष्णु दृष्टिकोण के कारण मुसलमानों को पृथक्

प्रतिनिधित्व देने का निर्णय कांग्रेस ने स्वीकार किया। मुसलमान नेताओं में उनके प्रति गहरी श्रद्धा थी। शौकत अली तथा मोहम्मद अली अपने आप को तिलक की पार्टी का ही मानते थे।[39] मौलाना हजरत मोहानी ने तिलक को अपना राजनीतिक गुरु माना था।[40] आसफ अली[41] तथा डा. अन्सारी ने[42] खिलाफत आन्दोलन के समस्त मुसलमानों के प्रति तिलक के सहानुभूतिपूर्ण समर्थन एवं सहयोग का उल्लेख किया था। इस प्रकार तिलक ने एक धर्मनिष्ठ सनातनी हिन्दू होते हुए भी अपने धार्मिक विश्वास का अन्य सम्प्रदायों के अहित में प्रयोग नहीं किया।

तिलक ने हिन्दू सनातन धर्म को लिंग तथा जाति भेद रहित मानव स्वतन्त्रता की समानता का पोषक माना। उन्होंने सनातन धर्म को स्त्री तथा पुरुष के सम्बन्धों को सामान्य आध्यात्मिक प्रगति की ओर अग्रसर करने वाला माना। वे वर्ण-व्यवस्था तथा धार्मिक विकास के कर्म-सिद्धांत को मानव की उर्ध्वगामी प्रगति का सूचक मानते थे। सनातन धर्म ने मोक्ष को जीवन का लक्ष्य मानकर अर्थ तथा काम की पिपासा सतुष्ट करने का अवसर दिया किन्तु उन्हें भी धर्म के नियमों की परिधि में रखा। वर्ण-व्यवस्था सामाजिक संगठन का निर्माण कर व्यक्ति की प्रकृति तथा उसकी प्रतिभाओं के अनुरूप उसे स्वतन्त्रता का अधिकार देती है।[43] धर्म के प्रति व्यक्ति की शिथिलता को दूर करने के लिए कर्म का सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है।[44] कर्म के अनुरूप चेतनामय जीवन मोक्ष प्रदायक है।[45] तिलक ने वर्णव्यवस्था को व्यक्तिगत एवं सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति का अत्यन्त विकसित उदाहरण बतलाया है। वे इस आलोचना का खंडन करते हैं कि वर्ण-व्यवस्था सामाजिक भेदभाव तथा अन्याय पर आधारित है। तिलक यह कहते हैं कि यदि ईश्वर भी अछूत प्रथा का समर्थन करे तो वे ऐसे ईश्वर को ईश्वर स्वीकार नहीं करेंगे। उनका यह विचार है कि वर्ण-व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सबकी स्वतन्त्रता में परिवर्तित कर देती है। वे वर्ण-व्यवस्था को जाति-व्यवस्था से सर्वथा भिन्न मानते हुए, जाति व्यवस्था को अत्यन्त दोषपूर्ण मानते हैं। वे खान-पान में छुआ-छूत तथा अछूतप्रथा को सनातन-धर्म जनित न मान कर ऐसी व्याधि मानते हैं जिसे सनातन-धर्मी पुरातनपंथियों ने आमन्त्रित किया है। इस व्याधि से छुटकारा पाने के लिए सनातन धर्म का त्याग करने के स्थान पर उन रूढ़िवादियों से मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है। वे सनातन धर्म की श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए उसे विश्व-धर्म की संज्ञा देते हैं। विश्व में कोई अन्य धर्म ऐसा नहीं है जो शाश्वत सत्य तथा परब्रह्म की सत्ता का इतना स्थायी एवं निर्मल विचार प्रस्तुत करता हो।[46] वे सनातन धर्म को भेदभाव रहित किन्तु प्रभावपूर्ण एकता का प्रोत्साहक मानते हैं।

तिलक ने गीता-रहस्य के माध्यम से अपने आध्यात्मिक विचार प्रस्तुत किये हैं। वे यह मानते थे कि परब्रह्म के साक्षात्कार के अनेक मार्गों में कर्म का मार्ग प्रधान है। ज्ञानयोग तथा भक्तियोग ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करने की श्रेष्ठता रखते हुए भी कर्म से विमुक्त नहीं हैं। व्यक्ति को ज्ञान तथा भक्ति में पूर्णता प्राप्त करके भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्म का सहवरण करना होता है। उनके अनुसार प्रकृति, पुरुष एवं ईश्वर में परस्पर अन्योन्याश्रितता है। मनुष्य का ईश्वर के साथ एकाकार होना उसे कर्म से मुक्त करने की प्रेरणा देता है। स्वयं ईश्वर भी कर्म के बंधन से मुक्त नहीं। प्रकृति तथा पुरुष की

एकरूपता कर्म से ही स्थापित हो सकती है और इसके बाद पुरुष तथा ईश्वर का एकीकरण भी कर्म प्रेरित है। सृष्टि का क्रम ईश्वरेच्छा पर आधारित होने के कारण, पुरुष का कर्म भी ईश्वरीय विधान का अनुगामी है। कर्म द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ है मानव सेवा कर ऐहिक बन्धनों से मुक्ति तथा चिरंतन सत्य के साथ एक रूपता। जीवन के संघर्ष से दूर रह कर एकांत ईश्वर साधना कर्म से पलायन होने के कारण एकांगी है। कर्म का कुरुक्षेत्र मानव क्रियाकलापों को चुनौती देता है। कर्म के रण-प्रांगण में विजय-प्राप्ति ही मोक्ष का प्रतीक है। इस प्रकार तिलक ने मानव तथा ईश्वर को एकीकृत कर अद्वैतवाद का समर्थन किया है।[47]

गीता-रहस्य में कर्मयोग की विशद व्याख्या करते हुए तिलक ने यह बतलाया है कि कर्म, अकर्म और विकर्म में कर्म का अर्थ सात्विक कर्म, अकर्म का अर्थ राजसिक कर्म तथा विकर्म का अर्थ भ्रान्तिवश किये गये कार्य हैं। योग ब्रह्माण्ड की सृजनात्मक शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कर्मयोग इस दृष्टि से ब्रह्माण्ड की सृजनात्मक शक्ति का विवेकपूर्ण एवं संतुलित उपयोग है। यह प्रवृत्ति-मार्ग है जो निष्काम कर्म की प्रेरणा को जीवनोपयोगी बनाता है। तिलक ने आचारनीति की समस्याओं का आध्यात्मिक विवेचन श्रेष्ठ मानते हुए सुखवाद, परार्थवाद एवं उपयोगितावाद की आलोचना प्रस्तुत की है। वे नैतिक गुणों को निरपेक्ष तत्त्व के रूप में मानते हुए उसे आधिदैविक एवं आधिभौतिक दृष्टिकोण से दूर रख उसकी तत्त्वशास्त्रीय व्याख्या पर जोर देते हैं। तिलक ने मनुष्य में स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों ही प्रवृत्तियों का दर्शन किया है। परमार्थ की स्वार्थ पर विजय ही नैतिक मूल्यों द्वारा व्यक्ति के चरमोत्कर्ष का मार्ग है। जीवन में आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपना कर मानव आत्मा की शक्तियों का साक्षात्कार मनुष्य को सुख और दु:ख के अनित्य से मुक्त कर उसे धर्म की नित्यता का संदेश देते है। ऐन्द्रिक एवं भौतिक सुखों से बढ़कर आध्यात्मिक परमसुख की प्राप्ति ही श्रेष्ठ है। आध्यात्मिक अन्तश्चेतना के जागृत होने के पश्चात् सदासद निरूपक विवेक-शक्ति सक्रिय होती है। इसके बिना अन्त:करण की ध्वनि नैतिक मूल्यों पर आश्रित नहीं होती। सात्विक, राजसिक एवं तामसिक कर्मों में मानवीय संकल्प का प्राधान्य बतलाते हुए तिलक ने सत्य की सार्वभौमिकता के आध्यात्मिक निरूपण पर कर्म की गति निर्धारित की है।[48]

तिलक ने परब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप की कल्पना को आध्यात्मिक चिंतन की महत्तम उपलब्धि बतलाया है। वे ऋग्वेद में वर्णित परब्रह्म के इस प्रत्ययात्मक निरूपण के सम्बन्ध में आदिशंकराचार्य के विचारों से सहमत हैं। तिलक और शंकर दोनों ही अद्वैतवादी हैं। वेदान्त में व्यक्त परब्रह्म की दृश्यमान अभिव्यक्ति को ईश्वर के रूप में तिलक ने स्वीकार किया है। आध्यात्मिक साधना के प्रथम चरण में ईश्वर की उपासना श्रेष्ठ है। इसके पश्चात् ध्यानावस्था की चरम परिणति निर्विकल्प समाधि है जिसमें निराकार परब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति होती है। इस प्रकार तिलक ने सांख्य दर्शन के अनीश्वरवादी परब्रह्म तथा श्रीकृष्ण के ईश्वरीय अस्तित्व के वेदान्ती दृष्टिकोण का गीता में अतीव सुंदर समन्वय अनुभूत किया है। इतना ही नहीं गीता में विश्व को ब्रह्ममय मानकर माया अर्थात् कर्म को ब्रह्म का विधान माना है। मनुष्य की परब्रह्म प्राप्ति की लालसा उसके संकल्पों की स्वतन्त्रता का प्रतीक है। आध्यात्मिक साधना की

स्वतन्त्रता का प्रयोग कर व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मोक्षार्थी को कर्म त्यागने के स्थान पर अहंकार तथा स्वार्थ का त्याग करना होता है। तिलक ने गीता में अवतारवाद को स्वीकार करते हुए ईश्वर द्वारा धर्म तथा प्राणियों की रक्षा के लिए बारबार पृथ्वी पर अवतरित होने को निष्काम कर्म का जीवन उदाहरण माना है। गीता ने पलायनवादी धारणा को प्रश्रय नहीं दिया। कर्महीन जीवन की कोई उपादेयता नहीं। क्रोध, मद, मोह से विमुक्त मानव अपने अन्तराल में विरक्ति एवं निरासक्ति धारण कर जन-सेवा के कार्य में लगा रह सकता है। यही निष्काम कर्म मोक्ष प्राप्ति का भी मार्ग है। ज्ञान से उत्पन्न वैराग्य अथवा सन्यास में भी कर्म की स्थिति बनी रहती है। दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सन्यासी को भी विचरण करना होता है फिर कर्म से मुक्ति कहां सम्भव है।[19]

तिलक के अनुसार गीता में मानसिक अहिंसा का उपदेश दिया गया है। आपद्धर्म आत्मरक्षा के लिए प्रेरित करता है। दुष्ट तथा पापात्माओं से परिरक्षण का प्राकृतिक अधिकार आध्यात्मसम्मत है। आध्यात्मिक चेतना के विकास में भक्ति साधन रूप में है। साध्य रूप में ज्ञान तथा कर्म को ही स्वीकार किया गया है। ईश्वर आराधना में भक्ति का अपना महत्त्व है। भक्ति परब्रह्म की चेतना की ओर प्राणिमात्र को प्रेरित कर अन्त में उसे स्थितप्रज्ञ की स्थिति प्रदान करती है। गीता के सम्पूर्ण अवगाहन के पश्चात् तिलक ने निष्कर्ष रूप में यह व्यक्त किया है कि गीता ज्ञानभक्ति समन्वित कर्मयोग का मार्ग प्रशस्त करती है।[20]

तिलक का आध्यात्मिक दृष्टिकोण निष्काम कर्म को लोकसंग्रह अर्थात् जनसेवा में प्रयुक्त करने का रहा है। जीवन में मन और बुद्धि की शुद्धता रखकर सभी कर्मजन्य फलों को कृष्णार्पण कर देना ही उन्हें श्रेयस्कर प्रतीत हुआ है। साम्ययोग अर्थात् सिद्धान्त तथा व्यवहार में सन्तुलन बनाये रखने का उपक्रम मनुष्य को आध्यात्मिक सत्ता तथा सामाजिक यथार्थवाद में समन्वय स्थापित करने का अवसर देता है। गीता को आधुनिक जीवन की मार्गदर्शिका मानते हुए भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में निर्भयता, स्वतन्त्रता, बलिदान तथा सेवा की प्रेरणा तिलक ने गीता से ही प्राप्त की है।[21] उनका साध्य तथा वेदान्त-ज्ञान उन्हें संकीर्ण सम्प्रदायवादी हिन्दू न बनाकर सार्वभौमिक मानव के रूप में परिवर्तित करने में सहायक रहा है।

तिलक के आर्थिक विचार

तिलक के राष्ट्रवादी विचारों की मूल प्रेरणा के साथ भारत की आर्थिक उन्नति का चिन्तन सदैव जुड़ा हुआ रहा। 1897 में उन्होंने भारत की गिरती हुई आर्थिक स्थिति पर विचार व्यक्त किये और भारत की आर्थिक आत्मनिर्भरता के ह्रास पर दुःख प्रकट किया। उनके अनुसार पहले निर्मित उपभोक्ता-वस्तुओं के सम्बन्ध में भारत न केवल आत्मनिर्भर था अपितु उनका निर्यात भी करता था। किन्तु शनैः शनैः स्थिति बदलती गयी और भारत अनाज का निर्यात करने लगा। भारत अनाज का निर्यात कर वहां से निर्मित उपभोक्ता-वस्तुओं का आयात करने लगा। यह कहना कि भारत का विदेशी व्यापार बढ़ रहा था, केवल भ्रम था। रेल, डाकतार एवं सड़कों के विकास के नाम पर करोड़ों रुपये विदेशी जेबों में जा रहे थे। विदेशी ऋण का भुगतान तथा तत्सम्बन्धी ब्याज

भारत की आर्थिक स्थिति के खोखलेपन का कारण बना। कुटीर-उद्योगों तथा अन्य प्राचीन उद्योगों का पतन प्रारम्भ हुआ। इस स्थिति का सामना करने के लिए तिलक ने स्वदेशी का उपदेश दिया। वे स्वयं स्वदेशी की प्रतिमूर्ति थे। बंग-भंग आन्दोलन के समर्थन में स्वदेशी एवं बहिष्कार का प्रचार तथा प्रसार कर तिलक ने महाराष्ट्र में नवीन स्फूर्ति का संचार किया। स्वदेशी-आन्दोलन को तिलक ने ब्रिटिश दासता से मुक्ति तथा ब्रिटिश नागरिकता की सम्मान पूर्ण स्थिति प्राप्त करने का मार्ग बतलाया।[52] बहिष्कार द्वारा स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग बढ़ने की सम्भावना थी अतः विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया। तिलक की यह मान्यता थी कि भारतीय दक्षिण अफ्रीका के समान "बोअर युद्ध" करने की क्षमता नहीं रखते किन्तु वे ब्रिटेन में निर्मित वस्तुओं का बहिष्कार कर इसका राजनीतिक अस्त्र के रूप में प्रयोग कर सकते हैं।[53]

स्वदेशी-आन्दोलन के कर्णधार पंजाब के कूका सम्प्रदाय के सरदार रामसिंह ने 1870 में अंग्रेजों के विरुद्ध इसी बहिष्कार की नीति का प्रयोग प्रारम्भ किया था। महाराष्ट्र में यह आन्दोलन वासुदेव बलवंत फड़के ने तीव्र किया। तिलक को स्वदेशी की प्रेरणा फड़के से ही प्राप्त हुई। 1870 में महाराष्ट्र के कृषक-विद्रोह ने उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिए बाध्य किया।[54] फड़के को तिलक का वास्तविक राजनीतिक गुरु माना जा सकता है। उनके द्वारा क्रान्ति का सन्देश महाराष्ट्र की आर्थिक दुर्दशा के कारण जन-आन्दोलन का प्रतीक बन गया। 1876 से ही महाराष्ट्र में युवापीढ़ी ने एक ओर ब्रिटिश शासन की शोषक राजस्व-नीति के विरोध में चल रहे कृषक-आन्दोलन का समर्थन किया तथा दूसरी ओर मारवाड़ी, गुजराती तथा पारसी व्यापारियों की शोषण की परम्परा का तीव्र प्रतिकार किया। तिलक इस वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। वे पत्रकारिता के माध्यम से इस कार्य में लग गये। केसरी तथा मराठा उनके सदेश-वाहक बने। लंकाशायर के उद्योगपतियों द्वारा बम्बई के सूती वस्त्र-उद्योग को नष्ट करने के षड्यन्त्रों एवं ब्रिटिश शासन की उनसे साठगांठ का तिलक ने मराठा के माध्यम से विरोध किया। वे पूंजीवादजनित महाराष्ट्र के आर्थिक शोषण का विरोध कर समस्त भारत की आर्थिक स्थिति को परिवर्तित करने के प्रतीक बन गये। 1881 में केसरी ने भारत की कमजोर जनता के आर्थिक निष्पेषण का चित्रण प्रस्तुत किया।[55] भारत के राष्ट्रीय उद्योगों को पनपाने एवं भारतीय उद्योगपतियों को संरक्षण देने की नीति का तिलक ने जीवन-पर्यन्त समर्थन किया।

तिलक ने 1887 के कांग्रेस के मद्रास-अधिवेशन के समय मराठा में यह मत प्रकट किया कि भारत में तकनीकी शिक्षा का प्रसार किया जाय। भारत की जनता से निर्धनता का अन्त केवल प्रतिनिधि संस्थाओं की स्थापना से नहीं हो सकता, इसके लिए भारत में स्थायी बन्दोबस्त किया जाय ताकि सरकारी जमींदारों के द्वारा शोषण का अन्त हो सके। वे देश में उद्योग-धन्धों की स्थापना तथा आन्तरिक व्यापार का विस्तार करने के पक्ष में थे।[56] उनका सुझाव था कि किसानों पर ऋण का भार कम किया जाय तथा राष्ट्रीय उद्योगों की स्थापना की जाय। तिलक ने भारतीय सूदखोरों के विरुद्ध बोलते हुए 1896-97 के अकाल के समय पूना के खाद्यान्न विक्रेताओं को कीमतें घटाने के लिए विवश किया। वे भारत के कुटीर उद्योगों तथा अन्य आर्थिक क्रियाकलापों के लिए

साधनों का प्रोत्साहन आवश्यक मानते थे। कृषि की पैदावार बढ़ाने के लिए तिलक ने सिंचाई के साधनों को बढ़ाने का सुझाव दिया। वे चाहते थे कि भारत में उद्योगीकरण की गति तीव्र की जाय ताकि भारत को आर्थिक निर्गम एवं दरिद्रता से बचाया जा सके।[57]

तिलक ने सदैव श्रमजीवी वर्ग का हित सर्वोपरि रखा। उनके स्वदेशी-आन्दोलन में किये कार्य को सराहा गया। स्वदेशी के प्रसार द्वारा तिलक भारत की श्रमजीवी जनता का भविष्य सुनिश्चित कर रहे थे। बम्बई में श्रमिकों की हड़ताल के पीछे तिलक की ही प्रेरणा थी।[58] 1908 में तिलक की गिरफ्तारी तथा उनके देश-निर्वासन के विरोध में श्रमिकों तथा व्यापारियों ने विरोध प्रदर्शन किया। श्रमिकों ने आम हड़ताल तथा तोड़फोड़ की कार्यवाही की। लेनिन ने तिलक के समर्थन में श्रमिकों के प्रदर्शन एवं हड़ताल को भारत में सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक चेतना का उदय माना।[59]

तिलक ने मई-जून 1908 में केसरी में अनेक लेख लिख कर यह सिद्ध किया कि भारत में ब्रिटिश शासन एक विदेशी शासन होने के कारण केवल राजनीतिक शक्ति का ही उपभोग नहीं कर रहा था, बल्कि उनका उद्देश्य भारत के उद्योगधन्धों को जबरन हथियाने तथा स्वहित में न होने पर नष्ट करने का भी था। जनता को कर भार से इतना दबा दिया गया था कि जीवन दूभर हो गया था। उनके अनुसार प्राचीन स्वराज्य नष्ट हो गया था, उद्योगव्यवसाय चौपट होते जा रहे थे, व्यावसायिक कुशलता तथा साहस का ह्रास हो रहा था। नवीन शिक्षा का अभाव था, अधिकारों एवं जनमत का हनन हो रहा था और वैभव एवं संतोष की समाप्ति हो गयी थी। तिलक के अनुसार भारत में ब्रिटिश शासन ने "दारिद्र्य", "दुष्काल", "द्रव्यशोष"—इन तीन "द" को जनता के बलात् दबाव के लिए प्रयुक्त किया था।[60] तिलक ने शोषण के विरुद्ध बम्बई में श्रमिकों को प्रोत्साहित किया क्योंकि उन्हें यह विश्वास था कि भारत की स्वाधीनता में श्रमिकों की भूमिका हरावल की रहेगी। यद्यपि तिलक समाजवादी विचारों का प्रसार नहीं कर रहे थे किन्तु समाजवादी कार्यक्रम का मानवीय पक्ष उनके भाषणों तथा लेखों से स्वतः निसृत हो रहा था।[61] वे रूस के श्रमिकों द्वारा 1905-1907 में की गई आम हड़ताल से प्रेरणा प्राप्त कर श्रमिकों को जागृत कर रहे थे।[62] अतः उनके निर्वासन के समय श्रमिकों द्वारा विरोध-प्रदर्शन तथा बम्बई शहर में आम-हड़ताल का कार्य स्वाभाविक था क्योंकि श्रमिक वर्ग उन्हें अपना शुभचिन्तक मानता था।[63]

तिलक का आर्थिक चिंतन प्रारम्भ में पूंजीवादी- सामंतवादी व्यवस्था का विरोधी नहीं था। कालांतर में उनके आर्थिक विचारों में परिवर्तन आया। वे भूमिहीन कृषकों तथा श्रमिकों की दयनीय स्थिति की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था की आलोचना की, किन्तु यह आलोचना एक पक्षीय थी। वे जहां अंग्रेज पूंजीपतियों का विरोध कर रहे थे वहां अन्य उग्रवादियों के समान भारतीय पूंजीपतियों के संवर्धन के लिए स्वदेशी-आन्दोलन का संचालन कर रहे थे। तिलक ने शायद अपने आर्थिक चिंतन के इस पक्ष की ओर ध्यान नहीं दिया। उनकी बढ़ती हुई लोकप्रियता एवं जन साधारण को राजनीतिक आन्दोलन के लिए प्रेरित करने वाला उनका प्रभावशाली नेतृत्व उन्हें जन साधारण की आर्थिक समस्याओं के मध्य ले आये। उन्होंने बम्बई के कामगारों, मजदूरों तथा अन्य प्रकार के व्यवसायियों के हितसंचय का पूरा-पूरा

प्रयास किया। वे समाजवाद के सैद्धान्तिक व्याख्याकार न थे किन्तु उन्होंने सहकारिता के माध्यम से कार्य करने की प्रेरणा दी। तिलक का जागृत मस्तिष्क समय-परिवर्तन का आभास प्राप्त करने लगा। बोल्शेविज्म से आतंकित प्रश्नकर्ता को उनका उत्तर था कि 'भारत को बोल्शेविज्म से भयभीत नहीं होना चाहिए क्योंकि उसके सिद्धान्त तो शाश्वत सिद्धान्त है। गीता मे भी कहा गया है कि यदि किसी के पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति है तो वह दूसरो के हितार्थ धरोहर के समान है। उन्होंने आगे कहा था कि हिन्दू शास्त्रो के अनुसार जो व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक संचय करता है, वह पापी है। प्राचीन भारत के इतिहास से उन्होंने उन राजाओ व समृद्धिशाली व्यक्तियो के कई उदाहरण दिये जिन्होने अपनी सम्पत्ति गरीबो को बाट दी थी।'[64]

योगदान

लोकमान्य तिलक भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक चिंतन के अद्वितीय विचारक थे। शिरोल ने उन्हें 'भारत म असंतोष के जनक' के रूप मे सम्बोधित करके भारतीयो की सेवा ही की थी। तिलक ने न केवल भारतीयों को शासन के रवैये के प्रति ही असंतुष्ट बनाया अपितु उन्हें अपने आपके विकास के प्रति भी संतुष्ट होकर नहीं बैठने दिया। दासता मे संतोष कर बैठने वाले भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का संचालन नही कर सकते थे। तिलक ने उन्हें नया जीवन, नई प्रेरणाएं दी। उन्होंने अपना वर्तमान भारत के सुखद स्वप्निल भविष्य के लिए देश को अर्पित कर दिया। तिलक ने न केवल राजनीति सिखाई, न केवल धर्म का उपदेश दिया बल्कि देश के लिए सहर्ष यातनाएं सहन करने का मार्ग भी दिखाया। सुख समृद्धि, परिवार तथा महत्त्वाकांक्षाओं का परित्याग कर तिलक ने वह मार्ग अपनाया जो शहीदो के निमित्त था। राजद्रोह के भयंकर अभियोग द्वारा शासन ने उनका मनोबल झकझोरना चाहा किन्तु वे चट्टान की तरह अडिग रहे।

तिलक ने स्वराज्य की मान्यता को सैद्धान्तिक शब्दावलि से लाकर भारतीयो के होठों पर ला बिठाया। स्वराज्य को सनातन धर्म के साथ संयुक्त कर तिलक ने स्वराज्य की शाश्वतता सिद्ध की। राष्ट्रवाद की सुरसरी को भगीरथ के समान जनमानस के स्मृति-पटल पर अवतरित कर तिलक ने भारत को पुनः एकता का सन्देश दिया। वे अनेकता मे एकता का दर्शन करने वाले सहिष्णु तथा धर्मनिरपेक्ष मानव के रूप मे उपस्थित हुए। गीता का अमर-सन्देश देकर भारतीयो के मानस मे सुषुप्त अर्जुन का कर्म-मार्ग के प्रति प्रेरित किया। स्वराज्य, स्वदेशी, स्वधर्म, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के पंचकोणात्मक कार्यक्रम का सफलता पूर्वक संचालित कर तिलक ने विदेशी शासन की नींव हिला दी। पत्रकारिता में निर्भयता का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत कर तिलक ने हमे प्रकाश की ओर बढ़ाया। राजनीति को लोकनीति मे परिवर्तित करने का श्रेय प्राप्त कर तिलक ने जन जन को राजनीतिक आन्दोलन में समाहित किया। उदारवादियों की भीरुता तथा पर-जीवी मनोवृत्ति का विरोध कर तिलक ने पौरुष, आत्मबल तथा स्वाभिमान का संचार किया।

एक कुशल एवं दूरदर्शी राजनेता के रूप में तिलक ने समयानुसार परिवर्तन एवं संघर्ष का मार्ग अपनाया। स्वराज्य को असहयोग से प्रतिक्रियात्मक सहयोग पर आधारित किया। निष्क्रिय प्रतिरोध को संवैधानिक आन्दोलन में परिवर्तित किया।

स्वधर्म को धर्मनिरपेक्षता एवं साम्प्रदायिक समन्वय के सह-अस्तित्व में प्रस्तुत किया। स्वराज्य प्राप्ति की लालसा उनमें जीवनपर्यन्त बनी रही। वे युग द्रष्टा थे। हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने वाले तिलक ने गांधी जैसे उत्तराधिकारी को भी पहचान लिया था। गांधी उनके मानसपुत्र थे। गांधी ने गोखले को गुरु माना किन्तु जन सामान्य उनके क्रियाकलापों में तिलक का ही दर्शन करता रहा। नाकाबन्दी, बहिष्कार, मद्यनिषेध, स्वदेशी, असहयोग आदि समस्त कार्यक्रम प्रस्तुत कर तिलक ने भविष्य के राजनीतिक आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया।

तिलक में राजनीति एवं विद्वत्ता का अभूतपूर्व संगम उनकी महानता एवं यशगाथा को द्विगुणित करने वाला था। उनके ग्रंथों में अगाध पांडित्य के साथ साथ उनकी राष्ट्रीय भावनाएँ प्रकट हुई हैं। आर्यजाति के इतिहास की प्राचीनता सिद्ध कर तिलक ने भारतीयों के मन की सांस्कृतिक हीनता को सदा के लिए समाप्त कर दिया। पाश्चात्यीकरण के प्रबल झंझावात में तिलक ने भारतीय संस्कृति को टेक देकर भारतीयता के विनाश को रोका। सामाजिक सुधारों के शासकीय भ्रमजाल में फंसने के स्थान पर बुराइयों को स्वविवेक से समाप्त करने का आह्वान कर तिलक ने भारत में अंग्रेजी शासन को सामाजिक क्षेत्र में प्रविष्ट होने से रोका। तिलक ने असहयोग का पाठ सिखाकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्त की घोषणा कर दी थी। यही असहयोग कालांतर में गांधी के पूर्ण-स्वराज का संबल बना।

श्री मा० कृ० केलकर के अनुसार "लोकमान्य तिलक का राजनीतिक नेतृत्व दो राजनीतिक सिद्धान्तों पर आधारित था, पहला यह कि जनता को उसके अधिकारों के प्रति सचेत कर उसमें नैतिक प्रतिकार की शक्ति जागृत की जाय। दूसरा सिद्धान्त यह है कि जनता की छोटी-छोटी शिकायतों को लेकर उसमें अंग्रेजों की सत्ता के विरुद्ध असंतोष का निर्माण किया जाये और अंग्रेजों पर लोकमत का दबाव डाला जाय। उनका यह आग्रह था कि स्वराज्य के लिए आवश्यक जन-इच्छा शक्ति का निर्माण होना चाहिए। पुरानी पीढ़ी की विचारधारा यह थी कि अंग्रेजों के साथ सशस्त्र युद्ध किया जाय। तिलक, विशाल नींव पर आधारित क्रान्ति करना चाहते थे और वह भी लोगों को प्रबुद्ध करके। तिलक स्वयं क्रांतिकारी थे परन्तु उनकी क्रान्ति व्यापक थी। तिलक का मत यह था कि यह क्रान्ति स्वराज्य-प्राप्ति के लिए निश्चयात्मक शक्ति का निर्माण हुए बिना नहीं हो सकेगी। तिलक ने एक बार कहा था कि यदि स्वराज्य पाना हो तो नींव पर आधारित होना चाहिए। यह लोकतान्त्रिक क्रान्ति का तत्वज्ञान है।

लोकमान्य के जीवन-कार्य का दूसरा अंग उनके सांस्कृतिक विचारों का है। तिलक के काल में अंग्रेजी सत्ता के साथ राजनीतिक संघर्ष शुरु हो चुका था। वैसे तो, पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से उत्पन्न हुए सांस्कृतिक मूल्यों से भी भारतीय संस्कृति का संघर्ष शुरु हो गया था। बहुधा तिलक को सामाजिक दृष्टि से प्रतिगामी कहा जाता है, परन्तु तिलक ने उस काल में सुधारवादियों से जो प्रश्न पूछे थे उनका उत्तर आज भी नहीं मिल रहा है। तिलक के दो प्रश्न थे। पहला प्रश्न यह था कि भारत में धर्म ने समाज को अनुशासित किया है। यदि भारत की इस धर्मसत्ता को हटाकर समाज-सुधार करना हो तो ऐसा सुधार समाज के अंतस्थ से ही किया जाना चाहिए क्योंकि विदेशी सत्ता की

अपेक्षा स्वराज्य की सरकार द्वारा किया गया सुधार अधिक स्वीकार्य सिद्ध होगा। दूसरा प्रश्न यह था कि भारत की अपनी जीवन पद्धति है। उसे बदलते समय शास्त्रोक्त विचार किया जाना चाहिए। अंधानुकरण काम नहीं देगा। पाश्चात्य संस्कृति का मुख्य आधार सुखवाद है। इस पर आधारित समाजसुधार को स्वीकार न करते हुए अपनी जीवन-पद्धति के अनुकूल सुधार किया जाना चाहिए। तिलक ने गीतारहस्य लिखकर समाज के जीवन, धर्म और नीति सम्बन्धी हिन्दू तत्त्व ज्ञान को समग्रतः प्रतिपादित किया और यह विचार रखा कि भारत के इस प्राचीन नीतिशास्त्र को स्वीकार किया जाना चाहिए। उनका यह विचार आज के समाजिक सुधार के विचार की अपेक्षा अधिक मौलिक था।

तिलक आधुनिक भारतीय लोकतन्त्र के प्रणेता है। जन शक्ति ही उनकी उपासना की देवी थी। इसी कारण उनकी राजनीति लोकतन्त्र की राजनीति हुई। उन्होंने व्यक्ति की महिमा को बढ़ावा नहीं दिया। इसके विपरीत सामूहिक विचार, सामूहिक आचार तथा सामूहिक आन्दोलन ही उनकी युद्धकला का तंत्र था। यही कारण है कि तिलक भारतीय लोकशक्ति की गंगोत्री है। यही कारण है कि अंग्रेजों ने तिलक को साम्राज्यवाद का कट्टर शत्रु माना था। तिलक ने पाश्चात्य राजनीतिक आन्दोलन के माध्यम का प्रभावी उपयोग किया। लार्ड सिडनहम ने जो बम्बई के तत्कालीन गवर्नर थे, ब्रिटिश सरकार को 1908 में लिखे अपने एक गुप्त पत्र में कहा था कि 'तिलक ही ब्रिटिश साम्राज्य को उलट देने वाले षड्यंत्र के मुख्य सूत्रधार हैं।'

तिलक के राष्ट्रवाद की एक अन्य विशेषता उनकी सब समुदायों कि एकता है। हिन्दू-मुस्लिम सबंध, जाति-भेद, राजनीतिक दृष्टि से एकात्म भारतीय राष्ट्रवाद की मुख्य बाधा थी।"

तिलक "आधुनिक भारत के हरक्यूलीज तथा प्रोमेथियस"[65] ही नहीं अपितु "भारतीय राष्ट्रवाद के पिता थे।"[66]

□□

टिप्पणियाँ

1. जीवन-परिचय रामगोपाल कृत लोकमान्य तिलक, (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1965) पर आधारित।
2. वही, पृ. 43
3. एम. ए. बुच, राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ मिलिटेन्ट नेशनलिज्म, (गुड कम्पेनियन्स, बड़ौदा, 1940) पृ 45
4. बाल गंगाधर तिलक : हिज राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, (गणेश एण्ड को. मद्रास, 1922, तृतीय संस्करण) पृ. 170
5. वही, पृ. 65
6. देखिये ग्रैंथम तथा रोथरमंड (सं.), तिलक एण्ड दी स्ट्रगल फोर फ्रीडम, (पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1966) पृ. 318-415
7. देखिये एन एन्थोलोजी ऑफ मोडर्न इण्डियन एलोक्वेन्स, पृ. 51-52
8. वही, पृ. 52-53
9. वही, पृ. 53-57
10. डी. वी. ताह्मनकर, लोकमान्य तिलक : फादर ऑफ इण्डियन अनरेस्ट एण्ड दी मेकर ऑफ मोडर्न इण्डिया (जान मरे, लन्दन 1956) पृ. 128-130

50. वही, पृ 375-394
51. पी नागराजा राव, कोन्टेम्पोरेरि इण्डियन फिलोसोफी, पृ. 51
52. रामगोपाल, पृ. 235
53. तहमानकर, पृ 107
54. देखिये रीजनर तथा गोल्डबर्ग, पृ. 11
55. वही, पृ 36-38
56. वही, पृ 45-46
57. वही, पृ 47-48
58. वही, पृ. 467
59. वही, पृ. 470
60. वही, पृ 454-455
61. टी. वी. पार्वते, बाल गंगाधर तिलक, (नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1958) पृ. 222
62. तहमानकर, पृ. 184-185
63. रीजनर एण्ड गोल्डबर्ग, पृ. 590-591
64. रामगोपाल, पृ. 236-237
65. देखिये एस. एल. करन्दीकर, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक . दी हरक्यूलीज एण्ड प्रोमेथियस आफ मोडर्न इण्डिया, (एस. एल. करन्दीकर, पूना, 1957)
66. जवाहरलाल नेहरू, दुथर्ड डीडम (दी जॉन डे कम्पनी. न्यूयार्क, 1942) पृ. 35 तथा 85

□□

अध्याय 14

लाला लाजपतराय (1865-1928)

लाला लाजपतराय का जन्म 28 जनवरी, 1865 को पंजाब के फिरोजपुर जिले के ढूडीके नामक स्थान पर हुआ। उनका परिवार जगरांव में रहता था। उनके पिता मुंशी राधाकृष्ण फारसी के अध्यापक थे। वे सर सैयद अहमद खां के विचारों से प्रभावित थे। उन्होंने जीवन में कई बार इस्लाम धर्म स्वीकारना चाहा किन्तु लाजपतराय की माता गुलाबदेवी के प्रभाव से वे अपना धर्म परिवर्तन न कर पाये। लाजपतराय के बाल्यकाल में उनके पिता उन्हें कुरान पढ़ कर सुनाते और रमजान के दिनों में उनसे भी व्रत रखवाते और नमाज पढ़वाते। 1879 में लाजपतराय ने लुधियाना के मिशन स्कूल में प्रवेश लिया। मौलवी मोहम्मद हुसैन की दो पुस्तकों कसिसे हिन्द तथा वाकियाते हिन्द का उन पर प्रभाव पड़ा। मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर किये जाने वाले अत्याचारों तथा राजपूतों की शौर्यगाथा का वर्णन इन पुस्तकों में पढ़कर लाजपतराय इस्लाम से घृणा करने लगे। लुधियाना से वे लाहौर चले गये और वहां के गवर्नमेन्ट कालेज से उन्होंने एण्ट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण कर 1882 में मुख्तार (कनिष्ठ वकील) बन गये।

लाजपतराय का लाहौर में प्रवास उनके विचारों का निर्माणकाल था। उनके कालेज के सहपाठी पण्डित गुरुदत्त तथा लाला हंसराज ने उनको अत्यधिक प्रभावित किया। वे हिन्दू राष्ट्रवादी विचारधारा की ओर आकृष्ट हुए। 1882 में पंजाब के हिन्दी-उर्दू विवाद में लाजपतराय तथा उनके सहपाठियों ने हिन्दी को भारतीय राष्ट्र-भाषा के रूप में अंगीकार किया। पंजाब में उन दिनों उर्दू तथा फारसी आदि का बोल-बाला था। लाजपतराय स्वयं उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे किन्तु राष्ट्रहित में उन्होंने हिन्दी का पक्ष लिया और इसके प्रचार एवं प्रसार के लिये प्रयत्न किया। 1881-1882 में उन्होंने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के भाषणों का अध्ययन किया। वे बनर्जी के मत्सेनी पर दिये गये भाषण से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने मत्सेनी को अपना गुरु मान लिया। मत्सेनी, गैरीबॉल्डी तथा कैवूर के जीवन तथा कार्यों का उन्होंने विशद अध्ययन किया और उनसे अपने राजनीतिक जीवन का मार्ग निर्धारित किया।

लाजपतराय ने पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री के प्रभाव में ब्रह्मसमाज की गतिविधियों में सम्मिलित होना प्रारम्भ किया। बाद में पण्डित गुरुदत्त, लाला हंसराज तथा लाला साईंदास ने उन्हें आर्य समाज की ओर आकृष्ट कर लिया। आर्य समाज की सदस्यता ने लाजपतराय के विचारों में आमूलचूल परिवर्तन ला दिया। आर्य समाज से उन्होंने सार्वजनिक जीवन का पाठ सीखा। आर्यों की महानता के सन्देश ने उनमें राष्ट्रवाद की भावना का संचार किया। उन्हें देशभक्ति की प्रेरणा भी आर्य समाज से मिली। स्वामी दयानन्द सरस्वती के उपदेशों का उनपर इतना प्रभाव पड़ा कि वे उन्हें युग-प्रवर्तक

तथा भारत के गौरवपूर्ण अतीत का सन्देशवाहक मानने लगे। स्वामी दयानन्द की मृत्यु पर लाहौर के आर्यसमाज द्वारा आयोजित शोकसभा में उनके उक्त उद्गार प्रकट हुए। लाजपतराय आर्यसमाज के ओजस्वी वक्ताओं में गिने जाने लगे। वे लाहौर से जगरांव तथा वहां से रोहतक चले गये और रोहतक में उन्होंने अपनी वकालत के साथ-साथ रोहतक आर्यसमाज का कार्य भी देखना प्रारम्भ किया। वे लाहौर में दयानन्द एंग्लोवैदिक कालेज की स्थापना के लिये धन एकत्र करने लगे। 1886 में वे मुख्तार से वकील बन गये और उन्होंने हिसार में अपनी वकालत प्रारम्भ की। वे 1892 तक हिसार में रहे और वहां वकालत से अपनी धनराशि अर्जित की। वे हिसार की म्युनिसिपल कमेटी के अवैतनिक सचिव भी बनाये गये।

लाजपतराय ने 1888 के कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया। जार्ज यूल की अध्यक्षता में इलाहाबाद में सम्पन्न यह अधिवेशन लाजपतराय के राजनीतिक जीवन का शुभारम्भ था। अधिवेशन के पहले लाजपतराय ने सर सैयद अहमद खां की कांग्रेस-विरोधी नीति तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता के विपरीत मुस्लिम हितपरकता की धारणा को 'खुले पत्रों' के माध्यम से कटु आलोचना का विषय बनाया। सर सैयद की राजनीतिक कलाबाजी का [illegible] के कारण लाजपतराय कांग्रेसजनों में अत्यधिक लोकप्रिय हो गये। बाद में स्वयं ए० ओ० ह्यूम ने लाजपतराय के उन खुले पत्रों को प्रकाशित करवाकर बंटवाया। इलाहाबाद अधिवेशन में उन्होंने विधायी परिषदों के विस्तार एवं उनके सुधार पर अपने विचार व्यक्त किये। 1889 में कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में लाजपतराय ने तिलक के एक संशोधन का समर्थन किया। यहीं उनका तिलक, गोखले तथा विपिन चन्द्र पाल से व्यक्तिगत परिचय हुआ।

पंजाब में आर्य समाज के कांग्रेस-विरोधी दृष्टिकोण के कारण लाजपतराय ने भी 1889 से 1892 तक कांग्रेस के कार्य में रुचि नहीं दर्शाई। पंजाब के आर्यसमाजियों का यह तर्क था कि कांग्रेस की स्थापना भारत में ब्रिटिश शासन को मजबूत बनाने के उद्देश्य से की गई थी। उनकी यह भी धारणा थी कि कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत हिन्दू-मुस्लिम एकता का विचार हिन्दुओं को राजनीतिक दृष्टि से दुर्बल बना सकता था। वे भारत के पड़ोसी देशों में इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति के समक्ष भारत के हिन्दुओं की असंगठित स्थिति से चिन्तित थे। लाजपतराय ने पंजाब आर्य समाज के उपरोक्त रवैये का समर्थन किया था। आर्य समाज को गैर-राजनीतिक संस्था के रूप में उभारने का प्रयास किया जा रहा था ताकि पंजाब में आर्य समाज की बढ़ती हुई लोकप्रियता सरकार की आंख की किरकिरी न बन जाये। उस समय अनेक सरकारी कर्मचारी आर्यसमाज के सदस्य थे। यदि सरकार का रुख आर्यसमाज विरोधी बन जाता तो इन राजकीय कर्मचारियों को आर्यसमाज से अपना सम्बन्ध तोड़ना पड़ता जो कि स्वयं आर्यसमाज की लोकप्रियता एवं सदस्य संख्या घटने का कारण बन जाता। इस प्रकार लाजपतराय तथा उनके सहयोगी आर्यसमाजियों ने अपने आपको कांग्रेस की राजनीति से कुछ समय के लिये पृथक रखा।

1892 में लाजपतराय लाहौर में आकर बस गये और वहीं वकालत करने लगे। वकालत के साथ-साथ वे आर्यसमाज के कार्यों में पूरी रुचि लेते रहे। पंजाब में आर्यसमाज में सामिष-निरामिष भोजन तथा संस्कृत-अंग्रेजी माध्यम को लेकर जो विवाद-छिड़ा, उससे

आर्यसमाज में दो गुट बन गये। एक गुट लाला मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के नेतृत्व में शुद्ध शाकाहारी भोजन तथा शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल-पद्धति तथा संस्कृत को शिक्षा का माध्यम बनाने का समर्थक था, तो दूसरी ओर लाला हंसराज आदि का गुट था जो मांसाहार, अंग्रेजी के पठन-पाठन तथा शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रखने के पक्ष में था। लाजपतराय दूसरे गुट से सम्बन्धित थे। यद्यपि लाजपतराय लाहौर आर्यसमाज के सचिव के रूप में इन दोनों गुटों के प्रति तटस्थ रहना चाहते थे किन्तु अधिक समय तक तटस्थ नहीं रह सके। उनके विचार लाला हंसराज के गुट से मिलते थे। लाला लाजपतराय तथा लाला हंसराज आदि के प्रयासों से ही पंजाब में डी० ए० वी० शिक्षण संस्थाओं का जाल बिछ गया था। उन्होंने 1886 में डी० ए० वी० कालेज, लाहौर की स्थापना की थी। आर्यसमाज का यह कालेज-गुट स्वामी श्रद्धानन्द के गुट से अलग हो गया और इस गुट ने 1893 में आर्यसमाज का अनारकली, लाहौर में पृथक कार्यालय स्थापित कर दिया। लाला लाजपतराय अनारकली आर्यसमाज के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उन्होंने डी० ए० वी० कालेज समिति के महासचिव के रूप में स्थान-स्थान का भ्रमण कर कालेज के लिए धन एकत्रित किया। उन्होंने दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालेज समाचार का सम्पादन किया और लाला हंसराज के साथ आर्यसमाज गजट का सह-सम्पादन किया। 1897 में आर्यसमाज के प्रचारक पण्डित लेखराज की किसी मुसलमान द्वारा हत्या कर दी गयी। इस हत्याकाण्ड ने आर्यसमाज के दोनों गुटों को एक होने के लिये प्रेरित किया। लाजपतराय ने हत्यारे को पकड़वाने का आर्यसमाज की ओर से प्रयास किया किन्तु लाहौर के मुसलमान रईसों तथा मौलवियों ने हत्यारे को संरक्षण देकर उसे भगने का अवसर दे दिया और आर्यसमाज के सभी प्रयत्न विफल कर दिये।

1897-98 में लाजपतराय ने मध्य प्रान्त में फैले अकाल के समय आर्यसमाज की ओर से सहायता कार्य किया और सैकड़ों दुर्भिक्षपीड़ित अनाथ बच्चों को ईसाई मिशनरियों के हाथ पड़ने से बचाया। 1899-1900 में पुन: दुर्भिक्ष का भयंकर दौर फैला। इस बार दुर्भिक्ष ने पंजाब, मध्य प्रान्त, राजपुताना तथा संयुक्त प्रान्त में अपना नग्न ताण्डव दिखाया। लाजपतराय ने आर्यसमाज की ओर से हजारों अबोध अनाथों को ईसाइयों से बचाया और अकाल-पीड़ित क्षेत्र में धन, अन्न तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का प्रचुर मात्रा में वितरण किया। भारत सरकार द्वारा गठित दुर्भिक्ष आयोग (1901) के समक्ष लाजपतराय ने साक्ष्य दिया और सरकार ने उनका दिया यह सुझाव स्वीकार किया कि दुर्भिक्ष के समय अनाथ एवं निराश्रित बच्चों को तब तक अन्य संस्थाओं एवं धर्मावलम्बियों के सुपुर्द न किया जाय, जब तक उनके स्वयं के धर्म से सम्बन्धित संस्था उन्हें अपने संरक्षण में लेने में असफल सिद्ध न हो जाय। भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक परिषद् के कलकत्ता अधिवेशन (1901) में हिन्दुओं को अकालपीड़ित अनाथों की सहायता में ईसाई मिशनरियों से पीछे रहने के लिये लाजपतराय ने लताड़ा।

1896-1898 के मध्य लाजपतराय ने उर्दू में मज्जेनी, गैरीबाल्डी, शिवाजी, दयानन्द तथा श्रीकृष्ण की जीवनियां लिखीं। 1896 में उत्तर भारत में फैले अकाल के समय तथा 1899 के राजपुताना दुर्भिक्ष में लाजपतराय ने स्मरणीय सेवा की और अनाथ बालकों को ईसाई मिशनरियों के हाथ बिकने से बचाया। इसके पूर्व 1895 में लाजपतराय

ने पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना में सहयोग दिया। कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन (1900) ने लाजपतराय को पुनः कांग्रेस की ओर आकृष्ट किया। इस अधिवेशन में उन्होंने शिक्षा तथा औद्योगिक विषयों पर विचार विमर्श करने के लिए कम से कम आधा दिन निर्धारित करने का प्रस्ताव रखा। कांग्रेस ने इस कार्य के लिये दो समितियाँ बनाई—एक औद्योगिक समिति तथा दूसरी शैक्षिक समिति। पहली समिति में लाजपतराय, फिरोजशाह, मदनमोहन मालवीय व दीनशा वाचा सदस्य बनाये गये और दूसरी समिति में लाजपतराय, तिलक, गोखले तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को सदस्य बनाया गया। इस अधिवेशन में लाजपतराय तथा तिलक अत्यधिक निकट आये और उनकी घनिष्ठता आगे जाकर कांग्रेस की 'लाल-बाल-पाल' की त्रिमूर्ति में प्रकट हुई। लाजपतराय ने कांग्रेस के संवैधानिक आन्दोलन की आलोचना की। वे व्यापक राजनीतिक आन्दोलन चलाने के पक्ष में थे। पंजाब में जनमत जागृत करने के लिए उन्होंने अंग्रेजी में पंजाबी अर्द्धसाप्ताहिक का 1904 में प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्र के सम्पादक के० के० अथावले को तिलक की सिफारिश पर नियुक्त किया गया था। कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन (1904) में इंग्लैंड में आम-चुनावों के समय भारत-समर्थक जनमत जागृत करने के लिये एक प्रतिनिधिमण्डल भेजने का निर्णय लिया गया। गोखले तथा लाजपतराय इसके सदस्य बनाये गये। 1905 के मध्य में गोखले तथा लाजपतराय ने इंगलैंड के अनेक स्थानों पर श्रमिकों तथा मध्यमवर्गीय जनसभाओं के समक्ष भाषण दिये। लाजपतराय प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा के साथ इंडिया हाउस, लन्दन में ठहरे। श्यामजी ने उनका परिचय हैनरी मेयर्स हाइडमैन से करवाया। हाइडमैन इंगलैन्ड के ख्यातिप्राप्त उग्र समाजवादी नेता तथा इंगलैण्ड के प्रथम समाजवादी दल सोशल डिमोक्रेटिक फैडरेशन के संस्थापक थे। उनकी यह मैत्री महत्वपूर्ण सिद्ध हुई-क्योंकि लाजपतराय के समाजवादी विचारों का यहीं से प्रारम्भ हुआ। लाजपतराय का इंगलैण्ड के जिन अन्य समाजवादी विचारकों से घनिष्ठ परिचय रहा वे थे कीरहार्डी, जोसिया वेजवुड, सेन्सबरी, कॉटनों तथा रैमसे मैकडोनाल्ड। लाजपतराय को ब्रिटेन के श्रमिकदल तथा मार्क्सिस्ट नेताओं से भारत में स्वशासन की स्थापना के लिये अधिक सहयोग की आशा थी। वे ब्रिटिश उदारवादियों के भारत के प्रति दृष्टिकोण से अधिक आशान्वित न थे। इंगलैंड में लाजपतराय ने लंकाशायर, केटरिंग तथा लिंकनशायर में भारत के प्रति भाषण दिये। वे एक महीने के लिये इंगलैण्ड से अमेरिका भी गये। वहाँ न्यूयार्क, फिलेडेल्फिया तथा बोस्टन में उन्होंने अमेरिका निवासियों के समक्ष भाषण दिये। भारत की गिरती हुई आर्थिक स्थिति के लिए अंग्रेजी शासन को उत्तरदायी ठहराते हुये लाजपतराय ने शासन की तीव्र निन्दा की। उनके बोस्टन में दिये गये भाषण को भारत सरकार के गुप्तचर विभाग ने 'घोर राजविद्रोहक' बतलाया।

स्वदेश लौटकर लाजपतराय ने लाहौर में आर्यसमाज द्वारा आमंत्रित जनसमुदाय को सम्बोधित करते हुए भारतीयों को अपने बलिदान की देन को रक्त तथा त्याग से सिंचित करने का आह्वान किया। इसी वर्ष लाजपतराय ने लाहौर में 'वंदेमातरम्' दैनिक-पत्र का उर्दू में प्रकाशन आरम्भ किया। 1905 का वर्ष लाल-बाल-पाल की त्रिमूर्ति की व्यापक लोकप्रियता का वर्ष था। इसी वर्ष लार्ड कर्जन की राष्ट्रघाती नीति ने बंगाल का विभाजन कर भारतियों के जनमानस को उद्वेलित कर दिया। सरकार के दमनचक्र ने

कांग्रेस के उग्रवादी नेतृत्व को उभारा। लाजपतराय ने बंग-भंग-आन्दोलन के समय जनता को जागृत किया और ब्रिटिश शासन की मनमानी एवं दमनकारी नीति को रूस की जारशाही के समान बताया। स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार एवं राष्ट्रीय शिक्षा का देश-व्यापी कार्यक्रम उग्रवादियों की ही देन थी। लाजपतराय ने बहिष्कार को जनता का बौद्धिक शस्त्र माना। उन्होंने सरकार की साम्प्रदायिक नीति का विरोध कर हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार किया। कांग्रेस के बनारस अधिवेशन (1905) में लाजपतराय ने उदारवादियों की 'प्रार्थना तथा याचिकाओं' की नीति का विरोध करते हुये कांग्रेस के मंच से 'निष्क्रिय प्रतिरोध' की नीति अपनाने का आग्रह किया। लाजपतराय ने उदारवादियों को भीरुता का त्याग कर देश के लिये कष्ट उठाने को ललकारा। तिलक ने लाजपतराय का समर्थन किया। तिलक द्वारा 'निष्क्रिय प्रतिरोध' का शब्द लाजपतराय के उद्गारों के एक वर्ष पश्चात् कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन (1906) मे प्रयोग मे लाया गया था। इस अर्थ मे लाजपतराय तिलक के अग्रणी थे।

1906 में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के समय तिलक लाजपतराय को अध्यक्ष निर्वाचित कराना चाहते थे। उदारवादियों ने इसे उग्रवादियों द्वारा कांग्रेस पर एकाधिकार करने की योजना का अंग माना और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने दादाभाई नौरोजी को इंगलैण्ड से तार द्वारा कलकत्ता बुलाया ताकि वे अध्यक्ष-पद सम्हालकर कांग्रेस को उग्रवादियों से बचायें। कलकत्ता अधिवेशन में बंगाल के उग्रवादी नेता विपिन चन्द्र पाल, तिलक तथा लाजपतराय के प्रभाव के कारण दादाभाई नौरोजी ने स्वराज शब्द का प्रथम बार प्रयोग कर उग्रवादियों के विरोध को शांत करने का प्रयास किया। लाजपतराय ने कलकत्ता से लौटकर पंजाब सरकार के लैंड एलीयनेशन तथा कोलोनाइजेशन कानूनों के विरुद्ध किसानों का जनमत तैयार किया। पंजाब के किसानों मे व्याप्त असंतोष को सही नेतृत्व मिला और पंजाब मे व्यापक प्रदर्शन हुये। अंग्रेजी शासन हिल उठा। पंजाब के इस असंतुष्ट प्रदेश से भारतीय सेना में सिपाहियों की भर्ती सर्वाधिक की जाती थी। शासन भयभीत हुआ, क्योंकि विद्रोह की यह आग सेना मे भी फैल सकती थी। दमनचक्र प्रारम्भ हुआ और लाजपतराय तथा किसान नेता अजीतसिंह (शहीदे आजम भगतसिंह के चाचा) को बंगाल रेग्यूलेशन एक्ट (1818) के अन्तर्गत, भारत के सम्राट के प्रदेशों मे खलबली मचाने के आरोप में, देश निकाला दे दिया गया। दोनों को बिना मुकदमा चलाये बर्मा के माण्डले नामक स्थान पर दुर्ग मे बन्दी रखा गया; किन्तु उनके देश-निकाले को लेकर ब्रिटिश संसद, भारतीय प्रशासन तथा जनसामान्य मे जो तीव्र प्रतिक्रिया हुई, वह अपने आप मे ऐतिहासिक थी। विवश होकर लार्ड मिन्टो ने लार्ड मोर्ले के दबाव में पंजाब के काले कानूनों को रद्द किया और लाजपतराय विजेता के रूप में माण्डले से लाहौर पहुंचे। उनके लाहौर पहुंचने पर सारे शहर मे दीपावली मनाई गई।

कांग्रेस के सूरत अधिवेशन (1907) में तिलक ने लाजपतराय को पुन. अध्यक्ष बनाना चाहा किन्तु फिरोजशाह मेहता के विरोध के कारण ऐसा नहीं हो सका। इस पर अरविन्दघोष ने सूरत कांग्रेस को छिन्न-भिन्न करवा दिया और अब कांग्रेस दो दलों मे स्पष्टत: विभक्त हो चुकी थी। लाजपतराय ने दोनों दलों मे समझौता कराने का प्रयास किया, किन्तु दोनों ही दल हठधर्मिता का मार्ग अपनाये हुये थे। ब्रिटिश शासन का दमनचक्र

उग्रवादियों पर चलना प्रारम्भ हुआ। अरविन्दघोष, तिलक तथा बिपिनचन्द्र पाल बन्दी बना लिये गये। लाजपतराय ने देश का वातावरण देखते हुये विदेश चले जाना श्रेयस्कर समझा। एक वर्ष बाद लौटने पर लाजपतराय ने राजनीतिक गतिविधियों को शिथिल कर अपना 1911 से 1913 का समय अछूतोद्धार तथा हिन्दुओं को संगठित करने में लगा दिया। 1913 में लाजपतराय ने कांग्रेस के कराची अधिवेशन में दक्षिण-अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की समस्या पर अत्यन्त ओजस्वी भाषण दिया जिसकी तुलना सी० वाई० चिन्तामणि ने लॉयड जॉर्ज के सर्वश्रेष्ठ भाषणों से की। लार्ड हार्डिंग पर बम फेंकने की घटना से सम्बन्धित व्यक्तियों का उनसे सम्बन्ध होने के कारण वे पुनः विदेश जाने की तैयारी करने लगे। सरकार उनके विरुद्ध तथ्य न जुटा पाई और लाजपतराय कांग्रेस के प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य के रूप में इंगलैण्ड भेजे गये। इंगलैण्ड में उनका विचार केवल कुछ माह रुकने का था, किन्तु इसी बीच प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया। युद्ध के समय भारत के जाने-माने व्यक्तियों द्वारा ब्रिटिश शासन का तन-मन-धन से समर्थन उन्हें रुचिकर न लगा। वे पुनः भारत लौटना चाहते थे, किन्तु युद्ध के कारण विचार बदल दिया और वे इंगलैण्ड से अमेरिका चले गये। अमेरिका में लाजपतराय ने अपने अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की। वे कुछ समय के लिये जापान भी गये और प्रसिद्ध क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस को उन्होंने सुरक्षा दिलवाई। जापान से पुनः अमेरिका लौटने पर लाजपतराय ने अमेरिका में इण्डियन होम रूल लीग की स्थापना की। "यंग इण्डिया" पत्रिका निकाली और उसका सम्पादन भी किया। उनके सहयोग तथा सुश्रुषा के लिये हार्डीकर, जो कि बाद में राष्ट्रीय स्वयंसेवक दल के संस्थापक बने, विद्यमान थे। अपने अमेरिका प्रवास के दौरान लाजपत राय ने मानवेन्द्रनाथ राय को आर्थिक सहायता देकर उनको भावी योगदान के लिए प्रेरित किया। लाजपतराय ने विदेशों में कार्यरत भारतीय क्रांतिकारियों द्वारा की गयी अनियमितताओं की भर्त्सना की। अमेरिका में गदर पार्टी द्वारा जर्मनी से आर्थिक तथा सैन्य सहायता प्राप्त कर भारत को स्वतन्त्र कराने की योजना बनायी जा रही थी और गदर पार्टी के कार्यकर्ता लाजपतराय का समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे, किन्तु लाजपत राय ने उनका साथ नहीं दिया। लाजपतराय ने गदरपार्टी के सदस्यों को जर्मनी से प्राप्त धन का अपने मौज-शौक के लिये प्रयोग करने के लिए लताड़ा और विदेशों में भारत की स्थिति को हास्यास्पद बनाने का दोषी ठहराया। लाजपतराय ने स्वयं अपने प्रयत्नों से संवैधानिक तरीकों से भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति का व्यापक कार्यक्रम चलाया। अमेरिका की प्रबुद्ध जनता ने लाजपतराय का अपूर्व सम्मान किया और उन्हें अपना यथासम्भव सहयोग दिया। युद्ध की समाप्ति पर लाजपतराय इंगलैंड होते हुये भारत लौटना चाहते थे, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने उन्हें पासपोर्ट देने से मना कर दिया। ब्रिटिश संसद में श्रमिक-दल के दबाव के कारण उन्हें भारत लौटने की अनुमति प्राप्त हुई।

1920 में भारत लौटने पर लाजपतराय का देशव्यापी स्वागत किया गया। उनका नाम 1920 के कांग्रेस के कलकत्ता में होने वाले विशेष अधिवेशन के अध्यक्ष पद के लिए प्रस्तुत किया गया। लाजपतराय को 1907 में सूरत अधिवेशन की अध्यक्षता का तिलक का प्रस्ताव अनिच्छा से अस्वीकार करना पड़ा। 1914 में मद्रास अधिवेशन की अध्यक्षता का प्रस्ताव भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया, किन्तु 1920 के कांग्रेस अधिवेशन की

अध्यक्षता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी। सितम्बर 1920 का कांग्रेस अधिवेशन ऐतिहासिक माना गया। इसी अधिवेशन में गांधी जी का असहयोग का प्रस्ताव कांग्रेस ने पारित किया और इसके बाद गांधीजी भारत के राष्ट्रीय जीवन पर छा गये। लाजपतराय ने अपने अध्यक्षीय भाषण में पंजाब के जलियांवाला बाग हत्याकांड के लिये जनरल डायर तथा उपराज्यपाल माइकेल ओडायर पर खुले आरोप लगाये तथा उनकी बर्खास्तगी के साथ साथ तत्कालीन वायसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड को उक्त कांड का सहभागी होने के कारण पदत्याग करने का सुझाव दिया। लाजपतराय गांधीजी के सत्याग्रह-आन्दोलन के प्रशंसक होते हुये भी पूर्णतः अनुगामी नहीं थे। लाजपतराय, मोतीलाल नेहरू, चितरंजनदास, श्रीमती एनी बेसेन्ट आदि कांग्रेस के चोटी के नेताओं ने गांधीजी के असहयोग प्रस्ताव को गिराने का विचार किया था, किन्तु गांधीजी ने अपार धन तथा जनसमर्थन अपने कार्यक्रम की सफलता के लिए जुटा लिया था। उसी वर्ष दिसम्बर के नागपुर अधिवेशन में लाजपतराय, मोतीलाल नेहरू तथा चितरंजनदास ने गांधीजी के कार्यक्रम का समर्थन कर दिया। 1920 में लाजपतराय ने न्यूयार्क के रैण्ड स्कूल के समान 'तिलक स्कूल आफ पॉलिटिक्स' की लाहौर में स्थापना की।1922 में उन्होंने गोखले का अनुसरण करते हुए सर्वेन्ट्स आफ पीपुल सोसाइटी लाहौर में स्थापित की। इस संस्था ने आगे चलकर भारत के अनेक कर्मठ राजनेताओं को समाज-सेवा के कार्य में प्रशिक्षित किया। लालबहादुर शास्त्री भी इसी संस्था की देन थे। असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित छात्रों को राष्ट्रीय कार्य में प्रशिक्षित करने के लिए लाजपतराय ने 'तिलकवर्तन आश्रम' की स्थापना की। 1921 में लाजपतराय असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित हुए और उन्हें अठ्ठारह महीने का कारावास दिया गया। उनके विरुद्ध अभियोग सिद्ध नहीं हुआ, अतः वे मुक्त कर दिये गये किन्तु जेल से निकलते ही उन्हें अन्य आरोप में गिरफ्तार कर पुनः दंडित किया गया। इस बार उन्हें दो वर्ष का कारावास दिया गया। गांधीजी द्वारा चौरीचौरा कांड के कारण असहयोग आन्दोलन सहसा समाप्त करने का लाजपतराय ने तीव्र विरोध किया। गांधीजी के अहिंसक आन्दोलन को लाजपतराय नीति के रूप में ही स्वीकार करते थे, वे अपने आपको गांधीवाद से प्रतिबद्ध करना स्वीकार नहीं करते थे। लाजपतराय तथा गांधीजी के मध्य वैचारिक अन्तर की खाई बढ़ती गई। खिलाफत के प्रश्न पर भी वे गांधीजी के विरोध में रहे। उन्हें राजनीति में धर्म का प्रयोग उचित नहीं लगता था। जनता का सही मार्ग-दर्शन करने की दृष्टि से लाजपतराय ने लाहौर से अंग्रेजी साप्ताहिक 'दी पीपुल' का सम्पादन एवं प्रकाशन 5 जुलाई 1925 को आरम्भ किया।

1925 में लाजपतराय ने स्वराज्य दल के समर्थन पर चुनाव लड़ा और वे केन्द्रीय धारासभा के सदस्य निर्वाचित हुये। इसी वर्ष लाजपतराय ने पंडित मदनमोहन मालवीय के साथ हिन्दू महासभा का गठन किया जिसका पहला अधिवेशन बनारस में सम्पन्न हुआ। लाजपतराय कांग्रेस में रहकर हिन्दुओं को संगठित करने की नीति के विरोधी न थे। ब्रिटिश शासन द्वारा मुसलमानों को तुष्ट करने की नीति पंजाब तथा बंगाल की हिन्दू जनता को अनाथ एवं मुसलमानों की हिंसा का शिकार बना रही थी। लाजपतराय हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा धर्मनिरपेक्षता के कट्टर समर्थक थे, किन्तु वे हिन्दुओं को संगठित करने के कार्य में पीछे नहीं रहना चाहते थे। उनके अनुसार धर्मनिरपेक्षता का अर्थ किसी हिन्दू

द्वारा अपने हिन्दू बने रहने के अस्तित्व को मिटाना नहीं था। उनके नेतृत्व ने हिन्दू महासभा ने सामाजिक सुधारों का मार्ग लिया और अपने आपको राजनीतिक कार्यक्रम से दूर रखा। लाजपतराय ने बाद में स्वराज्यदल से त्यागपत्र दे दिया, क्योंकि मोतीलाल नेहरू का हठधर्मितापूर्ण व्यवहार उन्हें उचित नहीं लगा। उन्होंने एक स्वतंत्र दल मालवीयजी के साथ मिलकर स्थापित किया और स्वराज्यदल को निर्वाचन में करारी मात दी। साम्प्रदायिक राजनीति के अनुपम अध्येता लाजपतराय ने 1923 में मुसलमानों की पृथकतावादी नीति को देखते हुये भारत के विभाजन का पूर्वाभास किया जिसमें पंजाब, बंगाल, तथा सिंध को पृथक मुस्लिम राज्यों के रूप में दर्शाया गया था। यह लाजपतराय की दूरदृष्टि एवं परिपक्व राजनीतिक दूरदर्शिता का ही प्रतीक था कि 1947 में होने वाले भारत-विभाजन का उन्होंने इतने वर्ष पहले पूर्वाभास प्राप्त कर भारतीयों को इस विभाजन को रोकने की चेतावनी दी थी, किन्तु उस समय भारत के शिखर नेताओं ने इस प्रश्न की गहराई तक जाने का प्रयास नहीं किया और बाद में इसके भयंकर परिणाम हमारे सामने आये।

लाजपतराय ने 1926 में जिनेवा में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सम्मेलन में भाग लिया। उन्होंने अफ्रीका तथा अमेरिका में मजदूरों की स्थिति की जांच करवाने तथा भारत में सम्मेलन द्वारा एक संवाददाता नियुक्त करने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने 'पूर्व में मजदूरों की स्थिति' पर भाषण दिया और भारत में राज्यों तथा रियासतों में बेगार प्रथा की ओर सम्मेलन का ध्यान आकर्षित किया। वहां से लाजपतराय वर्ल्ड लाइबरल कांग्रेस में भाग लेने के लिए इंग्लैंड गये और वहां उन्होंने भारतीय प्रतिनिधि के रूप में रंग-भेद की समस्या पर भाषण दिया। वे जिनेवा की वर्ल्ड पार्लियामेन्ट्स यूनियन से भी सम्बद्ध रहे। इससे पूर्व लाजपतराय भारत में 'आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना में सहयोगी रहे। वे इसके बम्बई में होने वाले प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष भी रहे। उनका भारत के श्रमिक-आन्दोलन को अनुपम योगदान रहा। एक ओर जहां उनका केन्द्रीय धारा-सभा का कार्यकाल अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर ब्रिटिश शासन की तीव्र आलोचना से ओतप्रोत रहा वहीं उन्होंने साइमन कमीशन के बहिष्कार-सम्बन्धी अपने प्रस्ताव को केन्द्रीय धारा सभा से पारित करवा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। 30 अक्टूबर 1928 को साइमन आयोग के विरुद्ध लाहौर में शांतिपूर्ण प्रदर्शन करते हुए पुलिस के लाठीवार से लाजपतराय को छाती पर गंभीर चोटें लगीं। वस्तुतः ब्रिटिश शासन जैसे लाजपतराय को अपने मार्ग से हटाने के प्रयास में लगा हुआ था। लाजपतराय ने इस घटना के दिन शाम को लाहौर की सभा में ओजस्वी भाषण देते हुए कहा था "हमारे शरीर पर पड़ी हुई एक-एक चोट ब्रिटिश साम्राज्य के कफन में एक-एक कील सिद्ध होगी।...यदि मैं मर गया और उन नवयुवकों ने जिनको मैंने काबू में रखा हुआ था, कोई अन्य मार्ग ग्रहण करने का निश्चय किया, तो मेरी आत्मा उनके कार्य को आशीर्वाद देगी।" इन्हीं प्राणान्तिक चोटों के कारण लाजपतराय का 17 नवम्बर, 1928 को निधन हो गया। उनकी मृत्यु के ठीक एक महीना पूरा होते ही चन्द्रशेखर आजाद के नेतृत्व में भगतसिंह ने लाजपतराय पर लाठी प्रहार करने वाले अंग्रेज पुलिस अधिकारी सॉण्डर्स की पुलिस कार्यालय के सामने हत्या कर दी। देश के वयोवृद्ध लोकप्रिय नेता के अपमान का बदला चुका लिया गया।[1]

जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "भगतसिंह, केवल अपने आतंकवादी कार्य से प्रसिद्ध नहीं हुये, अपितु इसीलिये हुये कि उन्होंने लाला लाजपतराय के सम्मान तथा उनके माध्यम से राष्ट्र का बदला लिया था।"[2]

राजनीतिक विचार

लाला लाजपतराय ने कांग्रेस में एक उदार दलीय के रूप में प्रवेश लिया। उन दिनों विपिनचन्द्र पाल तथा बाल गंगाधर तिलक भी अपने विचारों में उदारवादियों के समान ही थे। किन्तु कांग्रेस के कर्णधारों के ब्रिटिश शासन के प्रति असीम भक्ति-भाव ने उन्हें कांग्रेस की राजनीति के प्रति नवीन दृष्टिकोण अपनाने के लिये बाध्य किया। लाजपतराय का राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा उनकी आंतरिक देशभक्ति ने उन्हें ब्रिटिश शासन का कटुतम विरोधी बना दिया और अपने विद्रोही स्वर को व्यक्त करते हुये वे उदारवादियों की भिक्षावृत्ति के विरोधी बन गये। उनका ब्रिटिश शासन के 'न्याय एवं सद्व्यवहार' में विश्वास नहीं रहा। वे 'प्रार्थना तथा याचना' की नीति के बजाय आत्मविश्वास, स्वावलम्बन तथा स्वराज्य से प्रेरित हुये। उग्रराष्ट्रवादियों ने भारत के जनमानस की शक्ति का आभास लिया। वे भारत के निवासियों की मौलिक एकता, उनके स्वर्णिम अतीत तथा उज्ज्वल भविष्य का संदेश देने लगे।[3] लाजपतराय का यह उग्रवाद उनके द्वारा की गई उदारवादियों की कटुतम आलोचना में व्यक्त हुआ। वे उन भारतीयों के विरोधी थे जो 'साम्राज्य दिवस' मनाते थे और जो शासकीय पद प्राप्त करने के लिये अंग्रेजों की चाटुकारिता में लगे रहते थे। इन परजीवी रोगाणुओं को वे राष्ट्ररूपी देह में विकृति उत्पन्न करने वाला मानते थे।[4]

प्रारम्भ में लाजपतराय की यह धारणा थी कि भारत को स्वतन्त्रता तभी मिल सकती है जब भारत हिंसक राजनीति के उथल-पुथल के दौर से गुजरे। लाजपतराय भारत के उग्रवादी नेताओं में प्रथम उग्रराष्ट्रवादी थे। वे तिलक से भी पहले भारत में निष्क्रिय प्रतिरोध के पक्षधर बने। यद्यपि वे पूर्ण स्वतन्त्रता के समर्थक नहीं थे जैसे कि विपिनचन्द्र पाल तथा श्रीअरविन्द थे, फिर भी वे ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने कांग्रेस के मंच से सर्वप्रथम निष्क्रिय प्रतिरोध का कार्यक्रम कांग्रेस के 1905 के बनारस अधिवेशन में प्रस्तुत किया।[5] जहाँ तिलक अपने राजनीतिक जीवन के सन्ध्याकाल में ब्रिटिश प्रशासन से सहयोग की भावना व्यक्त करने लगे, विपिनचन्द्र पाल अंग्रेजों के सहयोग से एक साम्राज्यीय संघ की स्थापना का सुझाव प्रचारित करने में लग गये और श्रीअरविन्द ने पांडिचेरी में योगसाधना प्रारम्भ कर राजनीति से सन्यास ग्रहण कर लिया, वहाँ लाजपतराय निरन्तर ब्रिटिश शासन के विरोधी बने रहे और जीवन के अन्त तक ब्रिटिश शासन का विरोध करते करते उन्होंने अपने प्राण त्यागे।

लाजपतराय का राजनीतिक उग्रवाद अन्य उग्रवादियों से पृथक् प्रकृति का था। एक ओर विपिनचन्द्र पाल तथा श्री अरविन्द राष्ट्रवाद को धार्मिक रहस्यवादी बाना पहनाने में व्यस्त थे, तो दूसरी ओर तिलक गणपति उत्सव तथा शिवाजी उत्सव के माध्यम से राजनीति को धार्मिक कलेवर दे रहे थे। लाजपतराय ने आर्यसमाज के तत्त्वावधान में अपना राजनीतिक जीवन प्रारम्भ करके भी राष्ट्रवाद को रहस्यवादी प्रश्नों से दूर रखने का प्रयास किया। उनका गीता के उपदेशों में विश्वास था और वे राष्ट्रवाद को राजनीतिक

कर्मवाद में परिवर्तित करना चाहते थे। उनकी आस्था भक्ति में थी और वह अपनी आस्था देशभक्ति में ही व्यक्त कर रहे थे।[6]

लाजपतराय ने भारत के राजनीतिक आन्दोलन को नया मोड़ दिया। वे ब्रिटिश शासन के विरोध में जनता को जागृत करने के लिये ऐसे नेतृत्व की कामना करते थे जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को त्याग कर सार्वजनिक कर्तव्यों की पूर्ति में लग जाय। वे जानते थे कि अंग्रेज भारत पर प्रभुत्व बनाये रखने के लिए केवल वे ही सुविधाएँ भारतीयों को दे सकते थे जिनसे उनका स्वार्थ सिद्ध होने में बाधा न पहुंचे। इससे अधिक की शासकों से अपेक्षा करना ही व्यर्थ था। इसी कारण उन्होंने उदारवादियों के संवैधानिक आंदोलन की आलोचना की और ब्रिटिश शासन को दैवी वरदान मानने से अस्वीकार किया। वे अंग्रेजों को दुकानदारों का देश मानते थे जो कि अपने आर्थिक स्वार्थ को कभी नहीं छोड़ सकता था। उन्हें भारतवासियों के राजनीतिक ज्ञान पर भरोसा था। वे अपने अमेरिका, जापान तथा इंगलैण्ड के प्रवास के अनुभवों के आधार पर यह व्यक्त कर रहे थे कि भारतीय प्रतिनिध्यात्मक शासन के पूर्ण योग्य हैं। उनमें तथा उनके समान पाश्चात्य देशों के निवासियों में कोई अन्तर नहीं है। लाजपतराय के अनुसार कांग्रेस के प्रारम्भ के नेतृत्व ने भारतीयों के मन से इस हीन भावना को, कि उनमें वे गुण नहीं हैं जो पाश्चात्य देशों में है, निकालने का भी कभी प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने कांग्रेस के उदारवादी नेतृत्व को इसका दोषी ठहराया।[7]

राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए लाजपतराय ने स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के बहुमुखी कार्यक्रम को अंगीकार किया। वे उदारवादियों के विपरीत स्वराज्य की स्थापना क्रमिक रूप में नहीं चाहते थे। वे ब्रिटिश सत्ता की समाप्ति के पक्ष में थे। वे अंग्रेजों के साथ एक मित्र की भाँति सहयोग करने के विरुद्ध नहीं थे, किन्तु वे अंग्रेजों को शासक के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहते थे। उनका उद्देश्य इंगलैण्ड के समान भारत में स्वशासन की स्थापना करने का था। वे भारत की आर्थिक स्वतन्त्रता को भी सुदृढ़ करना चाहते थे। वे औद्योगीकरण के पक्ष में थे ताकि भारतीय जनता इससे लाभान्वित हो सके। उन्होंने इस कार्य के लिये स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। बहिष्कार को वे स्वदेशी का सहयोगी तत्त्व मानते थे। बहिष्कार की भावना से भारतीयों में विदेशी सत्ता के प्रतिकार का भाव उत्पन्न हो रहा था। लाजपतराय इसे स्वराज्य-प्राप्ति के संघर्ष का आधार बनाना चाहते थे। उनका यह विश्वास था कि स्वदेशी वस्तुओं के निर्माण एवं उपयोग के लिये बहिष्कार-आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने की आवश्यकता थी। एक आर्थिक अस्त्र के रूप में बहिष्कार का प्रयोग अंग्रेजों के लिये न्याय एवं औचित्य के तर्क से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हो सकता था।[8]

लाजपतराय के अनुसार राष्ट्रवाद की भावना को जागृत करने के लिए शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व देने की आवश्यकता थी। उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा की योजना प्रस्तुत करते हुये यह सुझाव दिया कि भारतीयों को सदैव अपनी भारतीयता को बनाये रखने का पाठ सिखाया जाय।[9] अभारतीयों के साथ भारतीयों के व्यवहार में यह बात बताना आवश्यक है कि वे राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में अपना पृथक् उदाहरण रखते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं था कि लाजपतराय बाह्य प्रभावों की उपेक्षा कर रहे थे। उन्होंने यह

भलीभांति स्वीकार किया कि भारतीय राष्ट्रवाद को बाह्य प्रभावों का भी योगदान रहा। यूरोप के राष्ट्रवादी विचार ने भारतीय राष्ट्रवाद को प्रेरित किया। भारतीय जनता ने इंगलैण्ड के सर्वहारा वर्ग के संघर्षों एवं उनकी सफलताओं का अवगाहन किया। फ्रांस की राज्य-क्रांति की पीड़ा तथा विजय ने उन्हें प्रेरणा दी। इतालवी जनता के प्रयासों ने उन्हें प्रेरित किया। रूस, पोलैण्ड, फिनलैण्ड, हंगरी तथा अन्य यूरोपवासियों के संघर्ष ने उनके राष्ट्रवादी विचारों को उद्वेलित किया। लाजपतराय के अनुसार न केवल विश्व की घटनाओं ने ही भारतीय राष्ट्रवादियों को प्रभावित किया, अपितु देशभक्त वाशिंगटन, केवूर, मत्सीनी, बिस्मार्क, कोसूथ, एमेट, पार्नेल ने भी उन पर अपना प्रभाव अंकित किया। भारत के महान देशभक्त राणा प्रताप, शिवाजी, गुरुगोविन्दसिंह, टीपू सुल्तान तथा झांसी की रानी ने भी उन्हें अत्यधिक प्रेरित एवं प्रभावित किया।[10] 1905 में जापान की रूस पर विजय ने एशिया की यूरोप पर विजय स्थापित कर एशिया में नवराष्ट्रवाद को पल्लवित किया। भारत, चीन तथा जापान के सम्बन्धों की मूलभूत एकता को पाश्चात्य प्रभाव छिन्न-भिन्न नहीं कर सका। उपर्युक्त कारणों ने भारतीय जनता में एकता का भाव संचारित किया। अंग्रेजीशासन द्वारा दमनात्मक नीति का अनुसरण करने के बावजूद भारतीय जनता भारत की राजनीतिक मुक्ति के कार्य में जुटी हुई थी। लाजपतराय ने व्यक्त किया कि स्वतन्त्रता की भावना शहीदों के खून से सचित होती है, इस कारण कितना भी दमन विदेशी सत्ता द्वारा प्रयोग में क्यों न लाया जाय, अंतिम रूप में भारतीयों की विजय निश्चित है। उनके शब्दों में "भारतीय राष्ट्रवाद की लहर उठ चुकी है। वायसराय अथवा उप राज्यपालों के मीठे भाषण, सम्मान, उपाधियां अथवा व्यक्तिगत पुरस्कार, एक समुदाय की तुलना में दूसरे समुदाय को लाभ पहुंचाने की प्रवृति, नहर-निर्माण अथवा रेलों का विस्तार—कोई भी इस उठते हुए राष्ट्रवाद के ज्वार को नहीं रोक सकता।"[11] अपने राजनीतिक गुरु मत्सीनी से राष्ट्रवाद की प्रेरणा प्राप्त कर लाजपतराय ने भारत के पुनर्जागरण को राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक संदर्भों में देखते हुये भारत के उज्जवल भविष्य में अपना अगाध विश्वास प्रकट किया।[12]

भारत की जनता तथा स्वयं भारत की महानता में अगाध श्रद्धा प्रदर्शित करते हुये लाजपतराय ने अपनी यह धारणा प्रस्तुत की कि राष्ट्र राज्य से भी अधिक शक्तिशाली एवं उच्च होता है। उन्होंने व्यक्त किया कि "राज्य की सर्वोच्चता के जर्मन सिद्धांत का खंडन करना चाहिये और भविष्य में नागरिक को यह सोचने के लिये प्रशिक्षित किया जाना चाहिये कि राष्ट्र राज्य से उच्च है और हर प्रकार से राज्य का स्वामी है। राष्ट्र ही राज्य के प्रकार को निर्धारित करता है और उसे परिवर्तित करने के लिये स्वतन्त्र है। अपनी संयुक्त क्षमता एवं संयुक्त इच्छा के अनुरूप परिवर्तित करने के लिये स्वतन्त्र है।"[13] लाजपतराय द्वारा राष्ट्र की सर्वोच्चता का विचार उनकी भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीय एकता की भावना से अभिभूत था। वे भारत को एकीकृत एवं संगठित रूप में देखना चाहते थे। वे साम्प्रदायिक एवं धार्मिक भेदभावों रहित भारत की तस्वीर स्मृति में संजोये हुये थे। वे संकीर्ण स्वार्थवाद, प्रांतवाद एवं व्यक्तिगत स्वार्थवृत्ति के विरुद्ध थे। वे राष्ट्रवाद का भाव बनाये रखने के लिये देश-भक्ति को आवश्यक तत्व मानते थे। उनके लम्बे विदेश प्रवासकाल में उन्हें यह बात अखरती थी कि भारतीयों

में देश-भक्ति की भावना निर्बल थी। इसी कारण से प्रेरित हो उन्होंने यह व्यक्त किया कि हमें सच्ची देश-भक्ति के अलावा और कोई वस्तु मृत्यु तथा विनाश से नहीं बचा सकती। सच्ची देश-भक्ति में पद तथा शक्ति प्राप्त करने की लोलुपता को जन-कल्याण के पारिश्रमिक रहित कार्य के लिये तिलांजलि देनी पड़ती है। उनके अनुसार देश के हित सच्ची एवं निःस्वार्थ भक्ति ही हमारा धर्म होना चाहिये। यह हमारे जीवन का एकमात्र ध्येय है। देश-सेवा के पुनीत कार्य में हमें अपना धन तथा जीवन अर्पित कर देना चाहिये। इस प्रकार लाजपतराय के विचारों में राष्ट्रवाद ही सच्चा धर्म है।[14]

लाजपतराय राष्ट्रवाद को संकीर्णता से मुक्त कराने में विश्वास करते थे। उन्होंने इस संदर्भ में यह व्यक्त किया कि भारतीय राष्ट्रवादियों को ऐसे किसी आक्रामक राष्ट्रवाद की आवश्यकता नहीं है। यह धारणा कि स्वदेश-प्रेम अनिवार्य रूप से अन्य देशों के प्रति घृणा अथवा शेष मानवता के लिये उदासीनता से युक्त है, सर्वथा अनुचित एवं उच्छृंखल है। इसका पूर्णतया खंडन किया जाना चाहिये। हम अपने देश से इसलिये प्रेम करते हैं कि यह हमें मानवता के उच्चतम शिखर तक पहुंचा सके। लाजपतराय की दृष्टि से राष्ट्रवाद सकारात्मक शब्द है, न कि नकारात्मक। यह अन्याय का प्रतीक न होकर, शालीनता का उच्चतम आदर्श है।

राजनीतिक स्वतंत्रता जनता के सर्वहितकारी सम्प्रभु राष्ट्र में निबद्ध होने की शक्ति पर आधारित है। स्वतंत्रता का लक्ष्य है सभी समुदायों का राष्ट्र में निमज्जन और यही मानव-जाति के कल्याण का मार्ग है। उन्होंने अपने राजनीतिक उद्देश्यों में स्वतंत्रता को सर्वोपरि माना है। अपनी स्वयं की स्वीकारोक्ति के अनुरूप जीवन जीने की स्वतंत्रता है जिसमें स्वयं के आदर्शों का अनुसरण, सभ्यता का विकास तथा उस ध्येय की एकता का साक्षात्कार समाविष्ट है। अन्य राष्ट्रों से पृथक् अस्तित्व प्रदान करते हुये हमारी स्वतंत्रता, हमारा सम्मान, हमारी आंतरिक सुरक्षा तथा हमारे कार्यों में बाह्य हस्तक्षेप का अभाव ही सच्ची स्वतंत्रता है।[15] लाजपतराय के इस कथन का यही आशय है कि वे भारत के लिये एक लोकतांत्रिक सम्प्रभुतासम्पन्न राष्ट्रीय राज्य की स्थापना का उद्देश्य लेकर चल रहे थे। उनका यह विश्वास था कि भारत की स्वतंत्रता की मांग इस कारण से भी उचित है कि प्रत्येक राष्ट्र को आत्म-निर्णय का अधिकार है। उन्होंने ये विचार राष्ट्र संघ की स्थापना के समय व्यक्त किये थे। यह उनकी सम-सामाजिकता का प्रमाण है कि वे तत्कालीन विश्व-जनमत को भारत की समस्याओं से युक्त कर रहे थे। वे जनता की सहमति पर आधारित शासन को ही सच्चा शासन मानते थे।[16]

लाजपतराय ने 'राष्ट्र' शब्द की सामाजिक परिभाषा को अपने विचारों में स्वीकृति दी। उन्होंने एन ओपन लेटर टु दी राइट ऑनरेबल डेविड लायड जोर्ज में यह व्यक्त किया कि ब्रिटिश सरकार का यह मंतव्य कि भारत में राष्ट्रवादियों का बहुमत एक ही प्रकार के धर्म का अनुसरण करता है एक ही भाषा का प्रयोग करता है तथा एक ही प्रजाति का है। उन्होंने यह घोषणा की कि वे किसी भी तरह यह स्वीकार नहीं करते कि भारत राष्ट्रवादी नहीं है।[17] उन्होंने स्वप्नलोक के विश्वबन्धुत्व को व्यर्थ माना। उनके अनुसार ऐसा विश्वबन्धुत्व का विचार राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने में रत जन समुदाय को उसके देशप्रेम सम्बन्धी कर्त्तव्यों से विचलित करता है। लाजपतराय के अनुसार भारतीयों को देश-भक्त

बनना चाहिये। देश-भक्ति के बाद ही विश्व-बन्धुत्व का सच्चा स्वरूप प्राप्त हो सकता है। उन्होंने मैज़िनी के इस कथन को कि दृढ़ एवं एकनिष्ठ स्वदेश-प्रेम मानवता के प्रति प्रेम का सहगामी है, स्वीकार किया। वे सहकारिता पर आधारित देशभक्ति तथा शिथिल विश्वबन्धुत्व के विशेषणात्मक शब्दों के प्रति सबको सजग रखना चाहते थे। इस प्रकार लाजपतराय के विचारों में देशभक्ति अथवा राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद से जुड़े हुए थे।[18]

लाजपतराय द्वारा प्रचारित एवं विश्लेषित देशभक्ति का विचार भारतीय राष्ट्रीय जीवन के शारीरिक तथा धार्मिक पक्ष को समाहित किये हुये था। विभिन्न धार्मिक मान्यताओं एवं जातियों में बटे हुये भारत को राष्ट्र प्रेम का संदेश देकर लाजपतराय ने प्रान्तवाद तथा उप-राष्ट्रवाद का खंडन किया। उन्होंने द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त का भी विरोध किया। उनकी मान्यता थी कि भारत मूल में एक ही राष्ट्र है। वे जाति, रंग, सम्प्रदाय आदि के नाम पर प्रस्तुत किये गये विभेदों को स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने भारत में किसी भी प्रकार के प्रजातीय मतभेद को अमान्य ठहराते हुये यह सिद्ध किया कि भारत के हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई सभी प्रजातीय मिश्रण के प्रतीक हैं। यद्यपि उन्होंने सम्भावित साम्प्रदायिक वैमनस्य को अस्वीकार नहीं किया फिर भी उनकी यह मान्यता रही कि भारत में धार्मिक राष्ट्रवाद तथा साम्प्रदायिक लगाव वास्तविक न होकर कृत्रिम है। इसे स्वार्थी तत्वों द्वारा निर्मित किया गया है। यदि कोई वैमनस्य है भी, तो वह भ्रान्ति पर ही आधारित है। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता को भारतीय राष्ट्रवाद की कसौटी मानते हुये अपने राष्ट्रवादी विचारों को इन शब्दों में व्यक्त किया. "यदि भारतमाता को नानक पर गर्व है, अशोक पर गर्व है, तो अकबर भी उसी का है। उसके चैतन्य के साथ-साथ कबीर भी हैं। उसे खुसरो, फैजी, गालिब पर भी उसी प्रकार गर्व है जिस तरह वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास पर। यहां तक कि हम आधुनिक भारतीय हाली, इकबाल, मोहानी पर उसी प्रकार गर्व कर सकते हैं जिस प्रकार से हमें ठाकुर, राय तथा हरिश्चन्द्र पर गर्व है। हमें सैयद अहमद खां पर उसी प्रकार गर्व है जिस प्रकार राममोहन राय तथा दयानन्द पर।"[19]

राष्ट्रवाद सम्बन्धी लाजपतराय के विचारों में भारतीयपन पर अधिक जोर दिया गया है। वे किसी भी प्रकार के सामाजिक बन्धन से राष्ट्रवाद का मार्ग अवरुद्ध होता नहीं देख सकते थे। साम्प्रदायिकता को उन्होंने इसी कारण से व्यक्तिगत मान्यता के क्षेत्र तक ही सीमित माना, ताकि भारतीय राष्ट्र का स्वरूप विकृत न होने पाये। उनकी राष्ट्रीय एकता की धारणा केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता तक ही सीमित नहीं थी। वे इसके साथ-साथ सिक्ख, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी आदि को भी राष्ट्रीय एकता में समान्वित करना चाहते थे। उनकी कल्पना का भारत-राष्ट्र न तो हिन्दू-राष्ट्र था, और न मुस्लिम, ईसाई या सिक्ख राष्ट्र। वे सभी सम्प्रदायों को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में पिरोकर स्वराज्य की स्थापना की कामना कर रहे थे।[20] लाजपतराय के विचारों के अनुसार भारत की स्वतन्त्रता भारतीय जनता की विभिन्नता पर आधारित थी, न कि किसी कृत्रिम एकता की भावना पर, जो कि शक्ति अथवा नियन्त्रण द्वारा स्थापित की गयी हो। भारत में स्वशासन स्थापित करने की आवश्यकता पर बल देते हुये भी उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि स्वराज का स्वरूप प्राप्ति के समय तथा उसकी प्रकृति पर निर्भर

करेगा। भारत राष्ट्र की नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति तथा राजनीतिक विचारों को व्यवहार में परिवर्तित करने की योग्यता एवं क्षमता पर निर्भर करेगा कि भारत में किस प्रकार का स्वराज्य स्थापित किया जाय। तत्कालीन विश्व की स्थिति का भी इस पर प्रभाव पड़ेगा। बीस वर्षों में प्राप्त होने वाले स्वराज्य से एक वर्ष में प्राप्त होने वाले स्वराज्य की प्रकृति नितान्त भिन्न होगी। उन्होंने इस संदर्भ में व्यक्त किया है 1930 में स्थापित होने वाला स्वराज्य स्वाभाविक रूप से 1923 में स्थापित होने वाले स्वराज्य से भिन्न है। अतः हमें राष्ट्र के पूर्ण परिपक्व होने के पहले किसी भविष्य की मनमानी योजना का निर्माण नहीं करना चाहिये। हमें अपने सिद्धान्तों की स्थापना कर उनके अनुसार जनता को शिक्षित करना चाहिये ताकि समय आने पर परिस्थितियों का पूर्ण सदुपयोग किया जा सके। इस प्रकार लाजपतराय ने स्वराज्य एवं स्वशासन में अन्तर प्रकट करते हुये कोरी घोषणाओं में समय नष्ट करने के राजनीतिक कार्यक्रमों को आड़े हाथों लिया और हमें राजनीतिक यथार्थ की साधना का संदेश दिया।[21]

स्वशासन के संदर्भ में लाजपतराय पाश्चात्यीकरण के समर्थक नहीं थे। वे चाहते थे कि हमें पाश्चात्य देशों की केवल उन राजनीतिक संस्थाओं एवं मान्यताओं का वरण करना चाहिये जिन्हें भारत में प्रयुक्त किया जा सके। वे पश्चिम के तिरस्कृत नमूनों को भारत में प्रयुक्त करना नहीं चाहते थे। उनके अनुसार ब्रिटिश संविधान राजनीति में अंतिम शब्द नहीं है तथा पाश्चात्य सभ्यता सभ्यताओं में एकमात्र नहीं है। यद्यपि भारतीयों को बाह्य प्रेरणाओं को सर्वथा त्यागना भी नहीं चाहिये किन्तु उनमें स्वावलम्बन की भी आवश्यकता है।[22]

लाजपतराय भारत में लोकतान्त्रिक संस्थाओं की स्थापना के पक्ष में थे। उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि भारत के लिये लोकतंत्र अपरिचित नहीं था। यद्यपि भारत में उस प्रकार की लोकतान्त्रिक संस्थायें नहीं रही जैसी आधुनिक यूरोप में हैं, फिर भी भारत में लोकतान्त्रिक शासन प्रणालियां प्राचीन समय में उपलब्ध थीं। उनके अनुसार लोकतान्त्रिक संस्थायें जनता द्वारा परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में अपनी इच्छाओं को व्यक्त करने के अधिकार पर आधारित थीं ताकि वे पद्धतियों अथवा प्रक्रियाओं में न उलझ कर अपने कार्यों का संचालन कर सकें। उनके अनुसार इस प्रकार की लोकतान्त्रिक व्यवस्था भारत में सदैव प्रचलित रही थी। उनके अनुसार भारत में अत्यन्त निरंकुश एकतन्त्र के अन्तर्गत भी जनता का बहुत बड़ा भाग अपने सामूहिक कार्यों का स्वयं संचालन करता रहा। उन्होंने विद्यालयों की स्थापना तथा उसका प्रबन्ध, सफाई व्यवस्था, सार्वजनिक निर्माण कार्य, जन-सुरक्षा, न्याय-प्रशासन आदि कार्यों का संचालन किया और उनके लिये स्वयं राजस्व एकत्रित कर उसे लोकतान्त्रिक पद्धति से व्यय किया। इस प्रकार उपर्युक्त आधार पर लाजपतराय ने भारत में लोकतन्त्र की स्थापना का समर्थन किया। भारत में प्रतिनिध्यात्मक शासन की स्थापना का पक्ष समर्थित करते हुये उन्होंने व्यक्त किया कि भारतीयों को, जिन्हें स्वशासन का दीर्घकालिक अनुभव रहा है, शक्ति द्वारा संचालित व्यवस्था का अभ्यस्त मान लेना त्रुटिपूर्ण है। लोकतन्त्र भारत के लिये कोई विदेशज पौधा नहीं है जिसके कार्य को समझने के लिये भारत को शताब्दियां लग जायें। भारत में लोकतन्त्र भारत की मौलिक राजनीतिक मान्यताओं की निरन्तरता का द्योतक

ही रहेगा।[23]

लाजपतराय ने अब्राहम लिंकन की लोकतन्त्र की परिभाषा 'जनता का", "जनता के लिये और 'जनता द्वारा' शासन को स्वीकार किया। शासन के संविधान के सम्बन्ध में उनकी कोई निश्चित धारणा नहीं थी। वे मानते थे कि लिंग, विश्वास, रंग तथा प्रजाति के भेद रहित समानता के अधिकार को प्रदान करना ही लोकतन्त्र की कसौटी है। उनके अनुसार यूरोप तथा अमेरिका में भी अल्प लोकतन्त्र है। आधी जनसंख्या लिंग के आधार पर राजनीतिक शक्ति से वंचित रखी गयी है और शेष जनसमुदाय का वृहद् भाग आर्थिक स्तर के अभाव में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता। लाजपतराय ऐसे लोकतन्त्र की भारत में स्थापना के इच्छुक नहीं थे जो कि जनता के किसी भी वर्ग को शासन की प्रक्रिया से वंचित रखने का षड्यन्त्र करता हो। वे राजनीतिक शक्ति को किसी का एकाधिकार नहीं मानते थे। उनके अनुसार समाज में नेतृत्व का प्रकार परिवर्तित ऐतिहासिक परिस्थितियों का प्रतिफल होता है। वे भारत में ऐसा नेतृत्व नहीं चाहते थे जो उदारवादियों के समान अवसरवादिता एवं सूझबूझ से निर्देशित होने वाला हो और जिसके अन्तर्गत व्यक्तिगत सुरक्षा तथा व्यक्तिगत कल्याण का ही ध्यान रखा जाय। वे उग्रवादियों के नेतृत्व के भी आलोचक थे क्योंकि उनके नेतृत्व में वक्तृता, हठधर्मी तथा अहंकार की भावना अधिक थी। लाजपतराय के अनुसार भारत को ऐसे समर्पित राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं के नेतृत्व की आवश्यकता थी जो साधारण व्यक्तियों की तरह रहकर श्रमजीवी बनें तथा सामान्य जन के विचारों, उनकी कठिनाइयों एवं उनकी चिन्ताओं के सहभागी बनें। *उनका नेतृत्व-मापदण्ड उनकी लोकतान्त्रिक निष्ठा का* प्रतीक था। वे ऐसा नेतृत्व चाहते थे जो "सत्ता द्वारा दण्डित किये जाने पर अपनी रक्षा में मिथ्या अथवा संदेहात्मक व्यवहार करने लगे। हमें ऐसा निर्भीक नेतृत्व चाहिये जो भारतवासियों में सम्पत्तिवाद, शक्तिशाली एवं विशिष्ठ वर्ग की आलोचना उतनी ही निर्भीकता एवं कठोरता से कर सके जितनी कि हम विदेशी शोषकों की करते हैं। उन्हें इस तथ्य का साक्षात्कार एवं प्रचार करना है कि वे देश में सच्चा लोकतन्त्र स्थापित करने के लिये दृढ़-संकल्प हैं।"[24]

लाजपतराय ने शक्ति के विकेन्द्रीयकरण का समर्थन किया। देश में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता के निवारण के लिये उन्होंने विकेन्द्रीयकरण को उपयुक्त माना। उनके अनुसार शक्ति का केन्द्रीयकरण दो धारवाली तलवार के समान है। यह शक्ति के विकेन्द्रीयकरण से अधिक भ्रष्ट एवं अनैतिक है। केन्द्रीयकरण अहंकार, संकुचित दृष्टिकोण, स्वार्थपरायणता तथा असहाय स्थिति को जन्म देता है, जबकि विकेन्द्रीयकरण नम्रता, सहिष्णुता, निरन्तर सतर्कता एवं त्याग का शिक्षण देता है। उनके अनुसार शक्ति के विसरण मात्र से समस्याओं का अन्त नहीं होता। वर्गों एवं जनसमुदायों द्वारा शासन के निर्माण एवं समान अधिकारों की मान्यता के पश्चात् भी मध्यमवर्गीय बुर्जुआ विद्यमान रहेंगे। ऐसी स्थिति में जनता की वास्तविक सरकार स्थापित होने में समय लगेगा। लोकतन्त्र की वास्तविकता तभी सम्भव है जबकि यूरोपीय लोकतन्त्र के भौतिकवादी दृष्टिकोण का त्याग किया जाय। इस तरह भारत को यूरोप के अनेक आर्थिक संघर्षों से बचाया जा सकता है। वे ब्रिटेन के प्रतिनिध्यात्मक शासन के आदर्श को भारत के लिये उपयुक्त नहीं मानते

थे। उनकी दृष्टि से सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना ही भारत को भावी विपत्तियों से बचा सकती थी। वे लोकतन्त्र तथा समाजवाद का समन्वय चाहते थे।[25]

लाजपतराय ने भारत सरकार के अनुपस्थित मुस्वामित्व की आलोचना की। व ब्रिटिश सरकार की वित्तीय नीति की भर्त्सना कर रहे थे। ब्रिटेन की वित्तीय नीति ने भारत की जनता का शोषण कर इंग्लैण्ड के हितों का संरक्षण किया था और भारतीय जनता को संवैधानिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा था। उन्हें प्रथम विश्व महायुद्ध के समय विश्व को लोकतन्त्र के लिये सुरक्षित रखने की घोषणा में विश्वास नहीं था। उनके अनुसार ब्रिटिश सरकार तथा मित्र राष्ट्रों ने जिस जर्मन एकतन्त्र, नौकरशाही, सैन्यवाद तथा युद्धोन्माद का प्रतिरोध किया था, वे सारी दानवीय स्थितियां स्वयं ब्रिटेन ने भारत में बना रखी थीं। विश्व में लोकतन्त्र की रक्षा का दम्भ भरने वाला ब्रिटेन स्वयं भारत में लोकतन्त्र का गला घोंट रहा था। उनके अनुसार भारतीय जनता सरकारी नौकरियों तथा परिषदों में कतिपय स्थान दिये जाने से सन्तुष्ट होने वाली नहीं थी। भारतीय जनता अपने अधिकारों की तथा स्वतन्त्रता की मांग कर रही थी। वे चाहते थे कि भविष्य के संवैधानिक सुधारों का कार्य भारतीयों पर छोड़ने की आवश्यकता थी ताकि वे स्वयं निर्णय कर सकें कि उन्हें किस प्रकार की व्यवस्था स्थापित करनी है। लाजपतराय लोकसम्प्रभुता के अनन्य उपासक थे।[26]

1917 में उत्तरदायी शासन की स्थापना की घोषणा के सन्दर्भ में लाजपतराय ने कतिपय प्रशासनिक सुधारों की योजना प्रस्तुत की। उन्होंने प्रशासनिक सुधारों की तत्कालीन तीन प्रस्तावित योजनाओं—कांग्रेस-लीग योजना (दिसम्बर 1915), गोखले योजना (फरवरी, 1915) तथा लार्ड इर्जलिंग्टन योजना (जुलाई, 1917) से अधिक उन्नत एवं उत्तरदायी शासन की स्थापना की पूर्व-आवश्यकता के रूप में अपनी योजना प्रस्तुत की। भारत सरकार के गठन के सम्बन्ध में लाजपतराय ने यह सुझाव दिया कि भारत सचिव के निषेधाधिकार का अन्त कर दिया जाय, वायसराय की परिषद् के सरकारी सदस्यों का पद समाप्त कर दिया जाय, गैर-सरकारी भारतीय सदस्यों का बहुमत व्यवस्थापिका में स्थापित किया जाय ताकि भारतीय विधायकों को वित्तीय स्वायत्तता प्राप्त हो सके तथा ब्रिटिश सरकार के भय के निवारण के लिये शासन का केवल यह सुविधा दी जाय कि साम्राज्यिक कार्यों के लिये इंग्लैण्ड की समक्ष भारत द्वारा देय वित्तीय धनराशि निर्धारित कर दे और उसमें कटौती का अधिकार भारतीय व्यवस्थापिका के क्षेत्राधिकार से बाहर रखा जाय। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के रक्षार्थ किये जाने वाले भारत के सैनिक व्यय में कटौती का सुझाव देते हुए, देश में प्रशिक्षित भारतीयों के राष्ट्रीय सैन्य दल की स्थापना, ब्रिटिश सिपाहियों की संख्या में कटौती, भारतीय नौ सेना के विकास तथा देश की सुरक्षा के लिए भारतीयों को सेना में नियुक्त किये जाने के अवसरों की वृद्धि पर भी बल दिया। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यिक सेना के खर्च पर भारतीय व्यय को इंग्लैण्ड की संसद द्वारा निर्धारित किये जाने के साथ-साथ उस व्यय का वहन ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों द्वारा किये जाने का सुझाव भी दिया ताकि देशी रियासतों पर भी आनुपातिक प्रभाव बढ़ाया जा सके। लाजपतराय का यह सुझाव कि ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों में भारतीयों को राज्यपाल के पद पर नियुक्त किया जाय, अत्यन्त महत्वपूर्ण था। उनका यह तर्क था कि जब देशी

रियासतों का प्रशासन भारतीयों द्वारा चलाया जा सकता है, तब ब्रिटिशप्रान्तों का प्रशासन भारतीय क्यों नहीं चला सकते ? वे ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों में कार्यकारिणी परिषद् का समय प्रान्तीय विधायी परिषद् के समकालीन रखना चाहते थे। भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के सम्बन्ध में भी उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण एवं मौलिक सुझाव दिये। उन्होंने नौकरशाही के तरीकों को सुधारने पर बल दिया। लाजपतराय का यह सुझाव कम महत्वपूर्ण नहीं था कि सरकारी सेवाओं में नियुक्ति प्रतियोगी परिक्षाओं के आधार पर की जाये। ऐसे विभागों जैसे वित्त, अभियान्त्रिकी, चिकित्सा, शिक्षा विभाग आदि, जिसमें विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है, के लिए लाजपतराय ने केवल अल्पावधि के लिये नियुक्ति का सुझाव दिया ताकि नये व्यक्ति तथा उदीयमान प्रतिभाओं की सेवायें प्राप्त हो सकें। उन्होंने विभागाध्यक्षों की नियुक्ति वरिष्ठता के आधार पर न की जाकर योग्यता के आधार पर किये जाने का सुझाव दिया। इनका चयन स्थायी सेवाओं में से न किये जाने का सुझाव भी उन्होंने दिया। उनका यह भी विचार था कि प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को तकनीकी विभागों में नियुक्त न किया जाय। प्रशासन में भ्रष्टाचार के निवारण के लिये लाजपतराय का यह सुझाव था कि भारतीयों को उनके निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से स्वशासन का अवसर दिया जाय ताकि भ्रष्ट अधिकारियों के कार्यों का भण्डाफोड़ किया जा सके। उनके अनुसार परिवहन, सेना-रसद, चिकित्सा, रेल्वे तथा सार्वजनिक निर्माण विभाग भ्रष्टाचार के केन्द्र थे। भ्रष्ट अंग्रेज अधिकारियों को दण्डित करने में भारत की अंग्रेज सरकार अपनी प्रतिष्ठा की अवमानना समझती थी। लाजपतराय ने, इस प्रकार, विदेशी प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार का अन्त करने का आग्रह किया।[27]

आपने प्रशासनिक सुधारों की अपनी योजना के अन्तर्गत यह सुझाव भी दिया कि भारत में स्वशासन की स्थापना ऊपर के स्तर से लागू की जाय। उन्होंने पंचायती राज की स्थापना का इस कारण विरोध किया कि ब्रिटिश सरकार की कुटिल नीति के कारण इन स्थानीय स्वशासित संस्थाओं को इतना कुचल दिया था कि उनकी पुनः स्थापना सम्भव न थी। उनको फिर से स्थापित करने का अर्थ था पार्थक्य एवं स्थानीयकरण। उनके अनुसार जीवन की बदली हुई स्थितियों, आवागमन की त्वरितता, बाह्य-जीवन पर निर्भरता आदि कुछ ऐसे कारण थे जिनसे ग्रामसमितियों को अपनी प्राचीन स्थितियों में पुनर्जीवित करना असम्भव था। वे केवल ऐसी ग्राम-समितियों की स्थापना के पक्ष में थे जो गांवों में सफाई की व्यवस्था कर सकें तथा गावों का बाह्य सम्पर्क की दृष्टि से प्रतिनिधित्व कर सकें। लाजपतराय के पंचायतराज सम्बन्धी विचार विदेशी शासन के सन्दर्भ में प्रकट किये गये थे। उन्होंने मद्यनिषेध का भी सुझाव दिया ताकि जनता की नैतिक एवं आर्थिक स्थिति पर इसका उचित प्रभाव पड़ सके। वे सरकार द्वारा नशीले द्रव्यों से उत्पन्न राजस्व को जन-हितकारी नहीं मानते थे। उन्होंने कृषिभूमि-कर में कटौती करने का भी सुझाव दिया। उनका सुझाव था कि जमीन जोतने वाले खेतीहर मजदूरों एवं किसानों को उनके श्रम का उचित पारिश्रमिक मिले। भूमिहीन श्रमिकों की स्थिति को सुधारने का भी उनका आग्रह रहा। वे जमींदारी-व्यवस्था के आलोचक थे।[28]

लाजपतराय ने भारत में स्वशासन की स्थापना के लिये हिंसात्मक कार्यक्रम को

अनुपयुक्त न मानकर असंभव अवश्य माना। एक समय स्वयं लाजपतराय भारतीय क्रांतिकारियों के आराध्य एव अत्यन्त विश्वसनीय सहयोगी रहे थे। मानवेन्द्रनाथ राय, पंजाब की सरलादेवी, रासबिहारी बोस, भगिनी निवेदिता तथा श्यामजीकृष्ण के निकट सम्पर्क में आये। अमेरिका तथा जापान-प्रवास में लाजपतराय को प्रवासी भारतीयों द्वारा भारत में सशस्त्र आन्दोलन से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के प्रयासों का विवरण प्राप्त होता है। यद्यपि लाजपतराय पूर्णतया हिंसक आन्दोलन में विश्वास नहीं करते थे, फिर भी भारतीय क्रांतिकारियों का उनसे निकट का सम्पर्क यह सिद्ध करता है कि उनकी क्रांतिकारी आन्दोलनकारियों के प्रति पूर्ण सहानुभूति थी। साइमन आयोग के विरोध में उनपर किये गये घातक लाठी चार्ज का बदला चन्द्रशेखर आजाद के नेतृत्व में ही लिया गया। शहीदे आजम भगतसिंह ने लाजपतराय की मृत्यु का बदला उस अंग्रेज पुलिस अधिकारी की हत्या करके लिया जिसने लाजपतराय पर वार किया था। उपर्युक्त तथ्यों से उनका भारतीय क्रांतिकारी आन्दोलन से परोक्ष सम्बन्ध अवश्य स्थापित होता है।[29] फिर भी लाजपतराय ने यह अनुभव किया कि भारत के जनसमुदाय की राजनीतिक शिथिलता, उनका अहिंसा के प्रति लगाव, उनकी आग्नेय अस्त्रों की अनभिज्ञता की विवशता तथा आर्थिक लाभ के लिये सरकारी पदों को प्राप्त करने की लोलुपता आदि ऐसे कारण थे जिनसे भारतीयों ने क्रांतिकारियों का समर्थन नहीं किया और क्रांति की सफलता धूमिल होती चली गयी। लाजपतराय ने यह भी अनुभव किया कि भारतीयों में देशभक्ति की भावना का अभाव होने के कारण ब्रिटिश शासन की ओर से गुप्तचरी करने वाले भारतीयों ने क्रांतिकारियों की गतिविधियों की पूर्व-सूचना देकर इस आन्दोलन को धक्का पहुंचाया। इतना ही नहीं, उनके अनुसार कतिपय पेशेवर क्रांतिकारियों ने यूरोप में जर्मनी आदि से बहुत बड़ी मात्रा में धन भारत में सशस्त्र क्रांति कराने के नाम पर एकत्रित कर उसका व्यक्तिगत ऐशो-आराम के लिये दुरुपयोग किया। ऐसे छद्मवेशी क्रांतिकारियों ने विदेशों में जहां भारत की प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचाया, वहीं देश के प्रति उन्होंने गद्दारी का भी प्रदर्शन किया।[30]

इन अनेकानेक कारणों से लाजपतराय शनैः शनैः गांधीजी के अहिंसक आन्दोलन की ओर आकृष्ट हुये। उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए गांधीजी के अहिंसक असहयोग आन्दोलन का समर्थन भी किया।[31]

लाजपतराय ने गांधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन को समर्थन दिया और असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित होने पर उन्हें कारावास का भी अनेक बार दंड मिला। इतने पर भी लाजपतराय गांधीजी के सत्याग्रह एव अहिंसा के विचारों से पूर्णतया सहमत नहीं हुये। लाजपतराय एक योद्धा थे, न कि सत्याग्रही।[32] उन्होंने गांधीजी का साथ दिया किन्तु एक वरिष्ठ राजनेता के नाते उन्होंने गांधीजी को समय-समय पर त्रुटियों का बोध भी कराया और उनका साहस के साथ विरोध भी किया। लाजपतराय तथा लोकमान्य तिलक, ये दो ही ऐसे भारतीय दिग्गज थे जिन्होंने गांधीजी के राजनीतिक कार्यक्रमों को उचित सीमा में बने रहने को बाध्य किया। तिलक की मृत्यु के बाद केवल लाजपतराय ने ही गांधीजी के समक्ष अपनी निर्भीक शैली का परिचय देकर गांधीजी का मार्गदर्शन किया और साथ ही साथ स्वयं गांधीजी के कार्यक्रम को समय-असमय सबल प्रदान किया।

लाजपतराय राजनीति में अहिंसा को एक नीति के रूप में स्वीकार करते थे,

सिद्धान्त के रूप मे नही ।[33] लाजपतराय ने गांधीजी के निष्क्रिय प्रतिरोध को भी सहर्ष स्वीकार किया यद्यपि उनके निष्क्रिय प्रतिरोध सम्बन्धी स्वयं के मौलिक विचार गांधीजी से भिन्नता रखते थे । गांधीजी तथा लाजपतराय के विचारो मे उस समय मतभेद उत्पन्न हो गया, जब गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन अचानक समाप्त करने की घोषणा की । गांधी जी के नाम लाजपतराय ने जेल से 70 पृष्ठों के एक पत्र मे अपना विरोध व्यक्त करते हुए लिखा कि "राजनीति मे भावुकता अथवा अतिआदर्शवादिता का कोई स्थान नहीं होता । हम लम्बे समय से ऐसे प्रयोग की योजना बना रहे हैं जो मानवीय स्वभाव मे आमूलचूल परिवर्तन किये बिना सफल नही हो सकते । राजनीति राष्ट्रीय जीवन के तथ्यों से सम्बन्धित होती है और इसकी प्रगति उन्ही के आधार पर सम्भव हुआ करती है बन्दूक की नोक पर आरोपित विदेशी शासन के अन्तर्गत राजनीतिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन नहीं किया जा सकता । इसके प्रयत्न असफल ही होते हैं और उनकी परिणति भयावह होती है ।"[34]

इसी प्रकार लाजपतराय ने असहयोग आन्दोलन मे खिलाफत का समावेश भी अनुचित माना । उनकी दृष्टि से असहयोग आन्दोलन कार्यक्रम में धर्म का समावेश उचित नही ठहराया जा सकता था । उन्होने व्यक्त किया कि वे अहिंसा को सिद्धान्त रूप में स्वीकार नही करते । केवल परिस्थितिजन्य नीति के रूप मे ही अहिंसा को स्वीकार किया जा सकता था । विदेशी शासको के प्रति असहयोग परतन्त्र जनता का एकमात्र आधार है, किन्तु असहयोग का कठोर कार्यक्रम भारत जैसे बृहद् राष्ट्र के लिए जिसमे इतनी विभिन्नतायें हो, सफल नही हो सकता । हमे सहयोग अथवा असहयोग से बचने के स्थान पर वही करना चाहिये जो श्रेष्ठ, व्यावहारिक एवं परिस्थितियो के अनुकूल हो । लाजपतराय का अहिंसा आन्दोलन के प्रति अनासक्त दृष्टिकोण जीवन-पर्यन्त बना रहा ।[35]

राजनीति मे यथार्थवाद के उपासक लाजपतराय ने अपनी मृत्यु के एक महीने पहले यह व्यक्त किया कि 'भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग करनी चाहिए ।' उन्हे भारत की स्वतन्त्रता का मार्ग लम्बा दिखाई दिया । उन्होंने व्यक्त किया कि 'यद्यपि अधिशासी राज्य की स्थापना से भारत मे तुरन्त स्वतन्त्रता की स्थापना तो नहीं होगी किन्तु इससे भारत को ब्रिटिश राष्ट्रकुल में रहने अथवा उसे त्यागने का अधिकार प्राप्त होगा । राष्ट्रकुल के सदस्यो के समर्थन द्वारा भारत के साथ प्रजातीय भेदभाव भी टाला जा सकता था । यदि इसके विपरीत भारत के साथ प्रजातीय कारणो से भेदभाव किया भी जाय तो भारत राष्ट्रकुल छोड़ सकता था ।' लाजपतराय के उपर्युक्त विचार सत्य थे । स्वतन्त्र भारत की स्थापना के समय राष्ट्रकुल की सदस्यता स्वीकार करते समय उपर्युक्त तर्क भारतीय नेताओ द्वारा पुन. विचार-विमर्श के दौरान काम में लाये गये । लाजपतराय ने पूर्ण स्वाधीनता की माग को 1928 मे प्रस्तुत न करने के अनेक विवेकयुक्त कारण व्यक्त किये । उनके अनुसार कांग्रेस द्वारा तत्काल लक्ष्य के रूप मे स्वाधीनता की अपरिपक्व मांग भारत की देशी रियासतों को सन्देहास्पद एवं प्रतिगामी बना सकती थी । भारतीय नेतृत्व के समक्ष तत्काल लक्ष्य यह होना चाहिये था कि वे पहले भारतीय रियासतो को अपनी ओर जीतने की कोशिश करें क्योंकि ब्रिटिश सरकार तथा भारतीय देशी रियासतो का मिश्रण भारत की राजनीतिक प्रगति एवं स्वतन्त्रता के लिये घातक सिद्ध हो सकता था । उनकी यह भी मान्यता थी कि भारत की पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता की मांग जनता को रचनात्मक

राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यों से विमुख करती है। यह देश में राष्ट्र-निर्माण के विभागों के लिये बाधक सिद्ध हो सकती है। अतः देश की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थितियों को देखते हुए लाजपतराय ने पूर्ण स्वाधीनता की मांग के किसी कार्यक्रम को आरम्भ करने का समर्थन नहीं किया। उनकी यह मान्यता रही है कि केवल नारेबाजी एवं प्रस्तावों के पारित करने मात्र से पूर्ण स्वाधीनता की स्थापना नहीं हो सकती। इसके लिए एक दीर्घकालीन संघर्ष की आवश्यकता थी। वे अहिंसा के समर्थकों से अधिक आशान्वित नहीं थे जब तक कि वे कोई और अधिक प्रभावशाली कदम नहीं उठाते।[35]

लाजपतराय ने भावी शासन की संरचना पर समय नष्ट न करने का विचार भी प्रस्तुत किया। उनके अनुसार भविष्य के भारतीय संविधान के संघात्मक अथवा एकात्मक होने के सम्बन्ध में कोई विवाद उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं थी। उन्हें साम्प्रदायिक मुसलमानों की यह बात स्वीकार नहीं थी कि प्रान्तों को अवशिष्ट शक्तियों से युक्त स्वायत्तता दे दी जाय। आगाखाँ तथा मोहम्मद अली के तर्कों के विपरीत लाजपतराय ने यह व्यक्त किया कि 'ऐसे समूह जो किसी राज्य में अल्पसंख्या में थे, संघात्मक शासन के अन्तर्गत अपने राज्य से भी अधिक उपयोगी कार्य कर सकते थे यदि उन्हें केन्द्रीय शासन में पूर्ण प्रतिनिधित्व देने के लिये एकीकृत होने की सुविधा दी जाती।' उनके अनुसार विश्व के किसी संघात्मक संविधान में, चाहे वह केन्द्रीयकरण अथवा विकेन्द्रीयकरण पर आधारित हो, ऐसे प्रयोग कभी नहीं किये गये, फिर भी उनकी यह राय थी कि ऐसा अपूर्व प्रयोग भारत के लिये विचारणीय था। उनके अनुसार विश्व में भारत ही ऐसा देश था जहाँ बहुसंख्यक अथवा अल्पसंख्यक का निर्णय धार्मिक आधार पर किया जाता था। यह कुटिल परम्परा अंग्रेजी भारत में ही प्रचलित थी।[37]

लाजपतराय ने भारत की समस्याओं को केवल राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही नहीं, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भी देखा। उन्होंने भारत के राष्ट्रवादियों से अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचने-विचारने का आग्रह किया। उनके अनुसार 'भारत को शेष विश्व से पृथक् रखने के लिए अंग्रेजी शासन चाहे जितना भी प्रयास क्यों न करले, यह असम्भव ही है। यदि भारत की सन्तानें ऐसा करती हैं तो वे अपनी बेड़ियों को ही मजबूत करेंगी और देश उनके बोझ से दबा ही रहेगा।'[38] उन्हें 1918 के बाद का विश्व अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर अग्रसर होता हुआ दिखाई दिया जिसमें संकीर्ण राष्ट्रवाद तिरोहित हो रहा था। उन्होंने प्रथम विश्व महायुद्ध को प्रजातियों एवं राष्ट्रों, धर्मों एवं भाषाओं के सामाजिक सम्मिश्रण द्वारा पारस्परिक विनाश का अभूतपूर्व उदाहरण माना। प्रथम महायुद्ध ने रूस में क्रांति को जन्म दिया तथा बोल्शेविकवाद ने अन्तर्राष्ट्रवाद का नवीन उदाहरण प्रस्तुत किया। इनके अनुसार बोल्शेविकवाद का यह विस्तार भारत की तत्कालीन स्थितियों में परिवर्तन करके ही रोका जा सकता था। भारत की अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता का विश्लेषण करते हुये लाजपतराय ने मत व्यक्त किया कि भारत पूर्व एवं सुदूरपूर्व के निकट होने के कारण विश्व व्यापार का मध्यगृह है। इसके द्वारा यूरोपीय जातियों तथा पीली प्रजातियों में सन्तुलन बना हुआ है। यदि श्वेत एवं पीत प्रजातियों में कोई संघर्ष हुआ तो भारतीय जनता की इसमें निर्णायक भूमिका होगी। शांति के कार्यों में भारत की भूमिका समन्वय-कारक सिद्ध होगी।[39] लाजपतराय ने भारत में स्वतन्त्र एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था की

स्थापना को भू-राजनीति के विवेचन पर आधारित करते हुये व्यक्त किया कि 'भारत के उत्तर-पूर्व मे गणवादी चीन, उत्तर-दक्षिण मे सवैधानिक फारस तथा निकट उत्तर मे बोल्शेविक रूस के होते हुये भारत को निरकुशता से शासित करना अत्यन्त मूर्खतापूर्ण होगा। विश्व शांति, अन्तर्राष्ट्रीय समन्वय एव सद्-इच्छा, ब्रिटिश राष्ट्रकुल का सुनाम एव ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा भारत मे लोकतन्त्र की प्रस्तावना एव उसके विकास की माग करती है'[40] और भारत मे लोकतन्त्र की स्थापना का अर्थ था भारत की स्वतन्त्रता।

उन्होने राष्ट्र-सघ की स्थापना को केवल एक कूटनीतिक तमाशा मानते हुये भी उसे सफल बनाने का आह्वान किया। वे चाहते थे कि भारत राष्ट्र सघ के सदस्य के रूप में उपयोगी भूमिका निभाये। वे चाहते थे कि भारत की स्वाधीनता के लिये विश्व-जनमत तैयार किया जाय। उन्हें भारत की स्वतन्त्रता के लिये अन्य राष्ट्रो का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं था। विदेशी राजनीतिक अथवा सैनिक सहायता उन्हें पसन्द नहीं थी।[41] वे भारत के लिये अन्य राष्ट्रो का नैतिक समर्थन मात्र चाहते थे। लाजपतराय ने विदेशो मे भारत के समर्थन मे प्रचार करने के लिए पाच सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उनके अनुसार (1) सूचना ब्यूरो, (2) प्रचार ब्यूरो, (3) किताबें, (4) समाचार ऐजेंसियां तथा (5) प्रोफेसरो का विनिमय करके भारत के सम्बन्ध मे विदेशों में फैली भ्रान्ति को दूर किया जा सकता था। लाजपतराय ने विदेशो मे भारत की स्वाधीनता के समर्थन मे स्वस्थ प्रचार की आवश्यकता पर इस कारण भी अधिक बल दिया कि अमेरिका, जर्मनी तथा जापान में कार्यरत भारतीय क्रांतिकारियो ने भारत के भविष्य के सम्बन्ध में अनेक सदेह एव भ्रम उत्पन्न कर रखे थे। विदेशो में प्रचार किया जा रहा था कि भारतीय जनता जर्मनी के सहयोग से भारत की सशक्त मुक्ति का प्रयास कर रही थी। लाजपतराय क्रांतिकारियो के ऐसे भ्रामक प्रचार का शमन करना चाहते थे।[42]

लाजपतराय ने एक भविष्यद्रष्टा की भाति व्यक्त किया कि ब्रिटिश साम्राज्य अपनी साम्राज्यवादी नीतियों के सहारे अधिक समय तक नहीं बना रह सकता। उनका यह आग्रह था कि पहले भारत को ब्रिटिश राष्ट्रकुल मे राजनीतिक समानता का स्तर प्रदान किया जाय। तत्पश्चात् भारत विश्व राष्ट्रो मे इसे स्वत प्राप्त कर लेगा। वे ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्धों मे उन राजनेताओ एव राजनीतिज्ञो को, विचारको तथा कार्यकर्ताओं को सहयोग देना चाहते थे जो मानते थे कि यदि ब्रिटिश साम्राज्य को ब्रिटिश राष्ट्रकुल मे परिवर्तित नहीं किया गया तो ब्रिटिश साम्राज्य उसी तरह नष्ट हो जायेगा जिस प्रकार अन्य साम्राज्य।[43]

लाजपतराय ने स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया कि 'लोकतन्त्र के लिए विश्व तब तक सुरक्षित नहीं हो सकता, जब तक भारत पराधीन है। विश्व शांति भी भारत की स्वतन्त्रता के बिना पूर्णतया स्थापित नहीं हो सकती।' उनके अनुसार 'समस्त विश्व एक परिवार के रूप मे परिवर्तित हो रहा है। जो कोई इस प्रक्रिया अथवा योजना का मार्ग अवरुद्ध करना चाहेगा, वह न केवल अपने देश के प्रति, अपितु समस्त मानवता के लिए विश्वासघाती होगा।'[44]

लाजपतराय ने समस्त विश्व की एकता का आभास प्राप्त करते हुये व्यक्त किया कि 'मूलभूत मानवीय प्रकृति सर्वत्र समान है। सामाजिक, भाषायी एव जलवायु सम्बन्धी

अन्तरों को छोड़कर शेष मानवता को प्रजातीय अन्तरों के कारण पृथक्त्व की संज्ञा देना अतिरंजना-युक्त है। भाषायी एवं जलवायु सम्बन्धी अन्तर तो रहेंगे किन्तु सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अन्तरों का लोप हो जायेगा।' उनके अनुसार विश्व में एकता का यह अर्थ नहीं है कि सभी राष्ट्र एकरचना में आबद्ध हों। विश्व की विभिन्नता एवं अनेकता मोहक है। यही अनेकता एकता को जन्म देगी। विभेदों को दूर कर सद्गत तत्त्वों को पुष्ट किया जाना वांछनीय है।[45] इस सदर्भ में एशिया के अभ्युदय की आकांक्षा से अभिभूत होकर उन्होंने एक भविष्यद्रष्टा की तरह यह व्यक्त किया कि 'अब समय आ गया है जबकि अरब, ईरानी, हिन्दू, चीनी तथा जापानी मिलकर उन तथ्यों पर विचार-विमर्श करें जो उनमें निकटता उत्पन्न करते हों। एशिया की एकता यूरोप तथा यूरोपीय चिन्तन को सगठित करेगी और एशिया के प्रति भयभीत होकर तथा एशिया के एकता सूत्र में बन्धन पर विश्व-एकता स्थापित होगी। अमेरिका चूंकि यूरोप का शिशु है और अफ्रीका एशिया का शिशु, दोनों ही विश्व में समन्वय, एकता एवं आत्मसात्करण की प्रक्रिया में सहायता देंगे। विश्व युद्ध (अथवा युद्धों) द्वारा विश्व एकता का उदय होगा।'[46]

इस प्रकार लाजपतराय राष्ट्रवादी विचारक होकर भी विश्व-एकता को राष्ट्रीय जागरण का उन्नत स्वरूप मानते रहे।

सामाजिक विचार

लाजपतराय के सामाजिक विचारों पर उनके प्रारम्भिक सम्पर्कों का विशेष प्रभाव रहा। उनकी सामाजिक गतिविधियों का प्रारम्भ आर्यसमाज के प्रभाव में हुआ था। आर्यसमाज ने उनके राष्ट्रीय एवं राजनीतिक विचारों को भी प्रभावित किया था। सिडनी वेब ने लाजपतराय-रचित आर्यसमाज की प्रस्तावना में लिखा था कि आर्यसमाज ने हिन्दू धर्म की रूढ़िवादिता को परिष्कृत कर जीवन के सामान्यीकरण एवं भारतीय बौद्धिक चिन्तन के परिवर्द्धन का सुधारवादी तथा पुनर्जागरणवादी कार्य सम्पादित किया। आर्य समाज ने सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध विद्रोह किया।[47] हिन्दुओं के सामाजिक नवनिर्माण-कार्य में आर्यसमाज की भूमिका ने लाजपतराय को भी प्रभावित किया। वे सामाजिक सुधारों के कार्य में जुट गये। आर्यसमाज ने जिस प्रकार से जाति-व्यवस्था का विरोध, बालविवाह की भर्त्सना, विधवाओं की दयनीय स्थिति का प्रतिकार तथा दलितवर्गों एवं अछूतों के उद्धार का महान् कार्यक्रम चलाया, उससे लाजपतराय अछूते न रहे। उन्होंने आर्यसमाज से प्रभावित होकर अपने सामाजिक विचारों को तदनुरूप बनाया और स्वयं आर्यसमाज को नवीन दिशा बोध दिया। उनके नेतृत्व में आर्यसमाज को आन्दोलन से सयुक्त कर दिया गया। उनके अनुसार समाज-सुधार का कार्य राष्ट्रीय समृद्धि की कुंजी था।[48]

दयानन्द सरस्वती से भिन्न लाजपतराय विचारों में सुधारवादी दृष्टि से समान लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते थे। उनके अनुसार बालविवाह, स्त्रियों की शिक्षा, दलित जातियों के उद्धार, विदेश यात्रा, उपजाति व्यवस्था आदि विवादास्पद विषयों पर भी सुधारवादियों एवं पुनर्जागरणवादियों के रवैये में कोई मौलिक अन्तर नहीं था। केवल विधवा-विवाह को लेकर कुछ मनोमालिन्य अवश्य था, अन्यथा दोनों ही दल समान राष्ट्रीय कार्यक्रम को लेकर चल रहे थे। लाजपतराय के मतानुसार रानाडे-समर्थित सुधारवादियों

का 'विवेक के आधार' पर सुधारों का आविर्भाव तथा आर्य समाज एवं तिलक के समर्थक सुधारवादियों का 'राष्ट्रीय सुधारों का कार्यक्रम' दोनों ही उपयोगी थे। समाजसुधार का कार्यक्रम विवेक एवं राष्ट्रीयता पर ही आधारित होना चाहिये था। 'सुधार' एवं 'पुनर्जागरण' दोनों के मौलिक अन्तरों को स्पष्ट करते हुये लाजपतराय ने व्यक्त किया कि जहां सुधारवादी विवेक एवं यूरोपीय समाज से प्रेरणा प्राप्त कर रहे थे, वहां पुनर्जागरणवादियों के प्रेरणा स्रोत उनके शास्त्र तथा उनकी भूतकालिक ऐतिहासिक धरोहर, जनता की मान्यतायें तथा वे प्राचीन संस्थायें थीं, जबकि भारत राष्ट्र अपने उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर पर था। दोनों ही मतों से प्रभावित होकर लाजपतराय ने सुधार एवं पुनर्जागरणवाद में समन्वय स्थापित किया।[49] वे न तो प्राच्य प्रभावों के विरुद्ध थे और न पाश्चात्य प्रभाव के विरोधी ही थे। लाजपतराय के अनुसार प्राचीन हिन्दुओं को किसी भी दृष्टिकोण से विश्व की शेष जनता से हीन नहीं माना जा सकता था। फिर भी वे भारत के समस्त अतीत का पुनर्जागरण असम्भव मानते थे। इसी प्रकार उन्हें पश्चिम का अंधानुकरण स्वीकार नहीं था। रानाडे-समर्थक सुधारवादियों को लाजपतराय ने चुनौती देते हुये यह पूछा कि 'सुधारवादी किस प्रकार का सुधार चाहते हैं? क्या वे हमें अंग्रेजों अथवा फ्रांसिसियों के समान सुधारना चाहते हैं? क्या वे हमें ईसाई समाज के विवाह-विच्छेद नियम अथवा फ्रांस तथा अमेरिका में प्रचलित अस्थायी विवाह पद्धति स्वीकार करना चाहते हैं? क्या वे हमारी स्त्रियों में से पुरुषोचित सम्बन्ध स्थापित कराना चाहते हैं जो प्रकृति के विपरीत है? क्या हमारा समाज ऐसी यूरोपीय बुराइयों को ग्रहण करलें?'[50] इस प्रकार लाजपतराय ने सामाजिक सुधारों के अपने 'स्वदेशी' कार्यक्रम को मूर्त रूप देते हुये पश्चिम के अंधानुकरण की प्रवृत्ति वाले भारतीय सुधारवादियों को आड़े हाथों लिया।

लाजपतराय ने यह व्यक्त किया कि भारतीयों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना एवं जागृति के संचार की आवश्यकता है। वे राज्य के कल्याणकारी कार्यों में व्यक्ति के सामाजिक दायित्व को आवश्यक तत्व के रूप में मानते थे। राज्य द्वारा व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास का प्रयास तभी सम्भव हो सकता था जबकि व्यक्ति स्वयं इसके प्रति जागरूक हो। वे पश्चिमी देशों की लोक-हितकारी व्यवस्थापन प्रणाली के प्रशंसक थे। शिशुओं के लिए पौष्टिक आहार, निर्धन व्यक्तियों के लिए उचित आवास, जन स्वास्थ्य एवं उपचारात्मक सुविधायें, शोषण से बालकों की सुरक्षा, स्त्री-उद्धार, उन्नत विवाह नियम, वृद्ध एवं अपाहिजों के लिए सुविधायें एवं समुचित वेतन आदि के प्रयोजन के लिये पाश्चात्य प्रणाली के वे पक्षपाती थे। यद्यपि उनके समय में शासन का कार्यक्षेत्र इतना व्यापक नहीं था, फिर भी उन्होंने भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना के विचार उपर्युक्त आधारों पर व्यक्त किये।[51]

पश्चिम के देशों में सामाजिक सुधारों को जिस प्रकार का राजनीतिक समर्थन प्राप्त हो रहा था वैसा भारत में सम्भव न था। लाजपतराय ने इसके लिए ब्रिटिश शासन तथा जनता में व्याप्त उदासीनता को दोषी ठहराया। उनके अनुसार भारत में शासक तथा शासित दोनों ही भीरुता का परिचय दे रहे थे। शासकदल नीति एवं नियम का सहारा लेकर अपनी असमर्थता प्रकट कर रहा था तो शासित जनता उनके घरेलू मामलों में शासकीय हस्तक्षेप के भय से त्रस्त थी। उन्हें इस बात का क्षोभ था कि भारत में सुधार-

वादियों को न केवल अज्ञान एवं ईर्ष्या का ही सामना करना पड़ रहा था, अपितु राज्य द्वारा उन्हें समुचित समर्थन भी नहीं मिल पा रहा था जिसकी सुधारवादियों को आवश्यकता थी। राज्य के समर्थन के बिना पुराने सामाजिक ढांचे को नहीं बदला जा सकता था। उनके अनुसार धर्म तथा सामाजिक जीवन के सम्मिश्रण ने भारत में राजनीतिक एवं समाज सुधार के मध्य गहरा अन्तर उत्पन्न कर दिया था। इसके कारण सामाजिक सुधार की गति धीमी होना स्वाभाविक था।

लाजपतराय के अनुसार धर्म का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता था। सामाजिक सुधारों पर धर्म का प्रभाव अपरिहार्य था। विरोधाभास प्रतीत होते हुये भी यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं था कि 'भारत में धर्म की सत्ता के कारण ही सामाजिक सुधार सम्भव हुए।' इस दृष्टि से लाजपतराय के विचार स्वामी विवेकानन्द के सदृश लगते हैं। वे ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज, सनातन धर्म तथा सर सैयद अहमद खां द्वारा चलाये गये समाजसुधार कार्यों को धर्म पर आधारित मानते थे। धर्म-प्रधान भारत में धर्म का सहारा लिये बिना कोई भी महत्त्वपूर्ण सामाजिक सुधार क्रियान्वित नहीं किया जा सकता था। उनके अनुसार धर्म के साथ-साथ बुद्धिवाद, विवेक तथा विज्ञान को भी सामाजिक अंधविश्वास एवं द्वेष के निवारणार्थ प्रयुक्त किया गया था।[52] रूढ़िवादिता को समाप्त करने में धर्म तथा विज्ञान का सम्मिश्रण लाजपतराय की अनुपम दृष्टि का परिचायक है।

लाजपतराय ने अछूतों की समस्या के निवारण के लिए अनेक उपयोगी विचारों एवं कार्यों सहित अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया। वे अछूतों की दयनीय स्थिति के लिए हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था को दोषी मानते थे। वे जाति-व्यवस्था के बन्धनों को दूर करने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहे। हिन्दुओं के बौद्धिक एवं नैतिक स्तर को तब तक ऊंचा उठा हुआ मानने को वे तैयार नहीं थे, जब तक समाज में दलित वर्ग की स्थिति सुधार नहीं ली जाती। वे दलित वर्ग को सामाजिक प्रतिष्ठा में अन्य वर्गों के समान बनाना चाहते थे ताकि उनके साथ सामाजिक अन्याय तथा भेदभाव न बरता जाय। वे हिन्दू समाज के इस कलंक को दूर करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ रहे। स्वयं महात्मा गांधी ने 4 जनवरी, 1934 के 'हरिजन' में लाजपतराय के योगदान का विवरण देते हुये लिखा कि 'हिन्दू भारत जब हरिजनों के प्रति कर्त्तव्यों की ओर जागृत भी नहीं हुआ था, तब लाला लाजपतराय ने त्रुटि-रहित प्रभावशाली भाषा में उद्घोषणा की कि छुआछूत की बुराई हिन्दू-धर्म का कलंक थी। यदि लाला जी ने जीवनपर्यन्त और कोई भी कार्य नहीं किया होता, तब भी हम हिन्दू उनके द्वारा छुआछूत के विरुद्ध घोषित युद्ध के लिये उनकी पवित्र स्मृति में श्रद्धावनत रहते।'

छुआछूत की समस्या के निवारण के लिये लाजपतराय ने वेदों का उदाहरण देते हुये कहा कि प्राचीन जाति-व्यवस्था परिवर्तनशील थी। आर्यों के समाज में कोई भी व्यक्ति अपने गुणों पर उच्च स्थान प्राप्त कर सकता था। शास्त्रों के आधार पर निम्न वर्ग के प्रति दुर्व्यवहार उचित नहीं ठहराया जा सकता था। उन्होंने भारत की राजनीतिक एकता एवं आर्थिक समृद्धि के लिये अछूतोद्धार को आवश्यक माना। उन्होंने भारत के पाश्चात्य शिक्षण में पले बुद्धिजीवियों को उनके दलितवर्ग के प्रति घृणास्पद व्यवहार को दुत्कारा, क्योंकि सम्भ्रान्तवर्ग स्वतन्त्रता एवं समानता की बातें तो करता था, किन्तु अछूतों एवं

दलित समुदाय के साथ बैठने अथवा भोजन करने में उसे संकोच होता था। लाजपतराय को यह स्थिति शोचनीय लगती थी, क्योंकि दलितवर्ग जातियों के साथ हिन्दू सवर्णों का यह व्यवहार उन्हें किसी दिन धर्म-परिवर्तन के लिए विवश कर सकता था। इसकी संभावना और भी प्रबल इस आधार पर थी कि ईसाई धर्म, जो कि धर्म परिवर्तन का जन्मसिद्ध आन्दोलन भारत में चलाये हुये था, इन दलित समुदायों पर अपनी दृष्टि जमाये हुये था। अतः लाजपतराय ने हिन्दुओं को हिन्दूकरण का बोध कराकर हरिजनों को समाज का अविभाज्य अंग माना और स्वयं का उदाहरण प्रस्तुत कर सहस्रों हरिजनों को यज्ञोपवीत धारण करवाया, उन्हें सवर्णों का दर्जा दिया और उनके साथ बैठकर भोजन-पानी ग्रहण किया। उन्होंने हरिजनोद्धार के लिए सवर्णों से समस्त देवालयों के द्वार खोलने का आग्रह किया। उनसे शिक्षा के प्रचार को व्यापक अभियान के रूप में चलाने का आग्रह किया ताकि वे स्वयं अपने सामाजिक स्तर को उच्च करने के प्रति जागरूक बनें।[53] लाजपतराय ने लाहौर में अपनी स्वयं की भूमि का बहुत बड़ा भाग हरिजनों के स्वस्थ आवास के लिये दान में दे दिया।

शिक्षा के सुधार का कार्य करके लाजपतराय ने सामाजिक चिन्तन को नया मोड़ दिया। वे पब्लिक स्कूल शिक्षा-पद्धति के प्रबल विरोधी थे। उनके अनुसार अमेरिका का उदाहरण, जहां गरीब तथा धनकुबेर दोनों के बच्चों की समान शिक्षा की व्यवस्था थी, ब्रिटेन के कुलीनतन्त्रीय एवं धार्मिक भेदभावपूर्ण शिक्षाक्रम से अधिक अच्छा था।[54] वे चाहते थे कि भारत में शिक्षा के क्षेत्र में पूर्ण समानता का व्यवहार कर सभी को समान स्तर की शिक्षा प्रदान की जाय। लाजपतराय ने विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में भी अनेक कार्य किये। उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के महत्व को स्वीकार कर ऐसे विद्यालयों की स्थापना का आह्वान किया जो भारतीयों में राष्ट्रीयता का पूर्ण बोध एवं समावेश कर सकें। वे शिक्षा को साम्प्रदायिक बन्धनों से भी मुक्त रखना चाहते थे तथा शिक्षा को प्रगति का तथा प्रगति को स्वतन्त्रता का सूचक मानते थे। उन्हें भारतीय समाज में व्याप्त त्याग एवं जीवन में नकारात्मकता की भावना भारतीय संस्कृति के त्रुटिपूर्ण अध्ययन का परिणाम प्रतीत हुई। भारतीय संस्कृति में त्याग की आध्यात्मिक भावना भौतिक उपलब्धियों के परित्याग की सूचक नहीं थी। जीवन को नीरस, दुःखमय एवं बोझिल बनाने वाले साम्प्रदायिक व धार्मिक दृष्टिकोण उन्हें स्वीकार नहीं थे। वे प्रत्येक भारतीय में जिंदादिली देखना चाहते थे ताकि भारत अपने राष्ट्रीय गौरव का उदाहरण प्रस्तुत कर सके। उनका कथन था कि भारत के ऋषि-मुनि एकान्त में आश्रम स्थापित कर साहित्य-साधना अथवा शोध-कार्य में लगे रह कर सामाजिक लक्ष्यों को प्रशस्त करते थे। वे मोक्ष प्राप्ति के लिये ही साधना नहीं करते थे, अपितु समस्त मानव जीवन की समस्याओं का हल ढूंढते थे। उनका यह कार्य हमने भुला दिया और हम त्याग को ही जीवन का सर्वोच्च आदर्श मानने लगे। लाजपतराय के अनुसार जीवन का उद्देश्य इच्छाओं का दमन करना अथवा भवबन्धन से मुक्ति पाना ही नहीं था। जीवन में सकारात्मक लक्ष्यों का पालन कर चुनौतियों का सामना करने की आवश्यकता थी, न कि साधुवादी प्रवृत्ति की।[55]

लाजपतराय ने भावी भारत के निर्माण के लिये बच्चों के उचित लालनपालन तथा उनके बौद्धिक विकास के लिए स्कूल तथा कॉलिज-शिक्षा ग्रहण करने वाले लड़के एवं लड़कियों

को सहशिक्षा का अवसर देने की आवश्यकता प्रतिपादित की। वे हर स्तर पर सह-शिक्षा के समर्थक थे ताकि युवक एवं युवतियां अपने भविष्य का स्वयं निर्माण कर सकें। लाजपतराय ने इस दृष्टि से हमारे सम्पूर्ण नैतिक दृष्टिकोण को परिवर्तित करने की सलाह दी ताकि हम लड़के लड़कियों को हिल-मिलकर स्वतन्त्र, स्पष्ट एवं आत्मविश्वास का जीवन जीना सिखावें। वे शिक्षकों से यह चाहते थे कि वे विद्यार्थियों को हाथ की मिट्टी समझ कर स्वेच्छानुसार उन्हें ढालने का प्रयास न करें। विद्यार्थियों को उनकी स्वयं की प्रकृति के अनुसार जीवन बनाने का अवसर दिया जाय। विद्यार्थियों का जीवन, प्रकृति वंशानुगतता एवं पर्यावरण की उपज है, न कि शिक्षकों की आज्ञा एवं सत्ता के दासत्व का। उनके अनुसार छात्रों को निरन्तर दबाव में रखने से उनके पुरुषोचित तथा स्त्रियोचित गुणों का विकास नहीं होता। माता-पिता तथा अध्यापकों को बालकों की इज्जत करनी चाहिये। उन्होंने इस सदर्भ में जापान का उदाहरण दिया और व्यक्त किया कि जापान में बच्चों को प्रताड़ना नहीं दी जाती, फिर भी उनके बालक विवेक के उदाहरण हैं।[56] इस प्रकार उन्होंने बाल-मनोविज्ञान के नूतनतम पक्षों का विवेचन करते हुये बच्चों के स्वाभाविक विकास के मानवीय पहलू को स्पष्ट किया।

शिक्षा के क्षेत्र में लाजपतराय ने प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति की आलोचना की और उसके दोषों के निवारणार्थ अधिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की सलाह दी। वे भारतीयों को उन्नत एवं प्रगतिशील राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे। उनके अनुसार यूरोपीय भाषाओं, साहित्य एवं विज्ञान के अध्ययन को तिरस्कृत नहीं समझा जाना चाहिये। उनके शब्दों में, "क्या हम पाश्चात्य विज्ञान एवं दर्शन को अस्वीकार कर दें क्योंकि विज्ञान के आविष्कर्ता एवं दार्शनिक अभारतीय हैं? क्या हम शेक्सपीयर, बेकन, गेटे, शैली, एमर्सन, व्हिटमैन का इस कारण अध्ययन न करें कि वे भारतीय नहीं थे? क्या हम औषध, शल्य, रोगविज्ञान, स्वास्थ्य, यांत्रिकी (नगर, प्रविधि, विद्युत, कृषि, खनन) वनस्पतिशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, प्राणीशास्त्र आदि का इस कारण अध्ययन न करें कि हमारे यहां इन विषयों पर उपलब्ध साहित्य पाश्चात्य साहित्य की तुलना में अल्प है? क्या हम जहाजरानी, वाणिज्य, बैंकिंग-बीमा," राजनीति, समाजशास्त्र आदि का आधुनिक अध्ययन न करें? कौटिल्य के अर्थशास्त्र की महत्ता को स्वीकार करके भी क्या हम आधुनिक अर्थशास्त्र के अध्ययन से स्वयं को वंचित रखें?" इस प्रकार लाजपतराय ने अत्याधुनिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा दी। वे नहीं चाहते थे कि आयुर्वेदिक तथा यूनानी पद्धतियों को हम आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के मूल्य पर पुनर्जीवित करने का प्रयास करें। आधुनिक चिकित्सा, शिशु एवं मातृत्व विज्ञान का इस कारण त्याग नहीं किया जा सकता कि हम अधिक राष्ट्रीय होने के नाम पर अपने पुरुषों और स्त्रियों को इस विश्व में लाकर प्राचीन पद्धतियों के नाम पर उन्हें मृत्यों की कक्षा में मरने के लिये छोड़ दें। इसी प्रकार लाजपतराय को धर्म शास्त्र तथा मनु, नारद, याज्ञवल्क्य आदि की संहिताओं के समक्ष आधुनिक व्यवस्थापिकाओं द्वारा पारित संहिताओं को त्यागने में बुद्धिमत्ता नहीं दिखाई देती थी। उन्होंने शस्त्र-विद्या के आधुनिकतम प्रयोगों एवं उपकरणों को अपनाने तथा युद्ध-कौशल की नवीन पद्धतियों को तीर कमान, तलवार तथा भाले की तुलना में राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी मानने का आग्रह रखा।[57] इस प्रकार लाजपतराय के विचारों में

सामाजिक परम्पराओं के साथ-साथ आधुनिकता का पूर्ण समावेश था। वे आधुनिक दृष्टिकोण की आवश्यकता को भारत के उत्कर्ष के लिए सन्निहित मानते थे।

उनके सामाजिक विचारों में आधुनिकीकरण की झलक इस तथ्य से भी स्पष्ट होती है कि वे भारतीय स्त्रियों को पुरुषों के समान समस्त अधिकार दिलाने के भी प्रेरक थे। उनके अनुसार प्राचीन समय से प्रचलित यौन नैतिकता को परिवर्तित करने की आवश्यकता थी। स्त्रियों को केवल बच्चे उत्पन्न करने वाली मशीनें नहीं माना जा सकता था। शारीरिक दृष्टि से पुरुषों एवं स्त्रियों के अन्तर को स्वीकार करते हुये भी लाजपतराय यह मानते थे कि स्त्रियों को सामाजिक दृष्टि से सुरक्षित, सम्मानित एवं शिक्षित करने की आवश्यकता थी। वे विवाह के पूर्व लड़कियों को उनकी सम्मति तथा अपने भावी पति के साथ वार्तालाप का अवसर देना चाहते थे ताकि वैवाहिक जीवन के भावी शारीरिक, भावनात्मक एवं आर्थिक पक्ष में असन्तोष न उत्पन्न हो। वे अन्तर्जातीय विवाहों के भी पक्ष में थे। वे वर्णाश्रम धर्म की पुरानी मान्यताओं को परिवर्तित कर अन्तर्जातीय सम्बन्धों पर बल दे रहे थे। स्त्रियों को उच्चतम शिक्षा देने के समस्त साधन प्रस्तुत करने के साथ-साथ उनका यह भी सुझाव था कि स्त्रियों के स्वास्थ्य के लिये भारत में नारी-व्यायामशालायें एवं स्वास्थ्य-केन्द्र स्थापित किये जायें।[58]

आर्थिक विचार

लाजपतराय अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ से ही विदेशी पूंजी के प्रतिगामी आर्थिक प्रभावों का परिणाम देख रहे थे। उन्होंने भारत में आर्थिक विकास के अनेक महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये। 1891 में उन्होंने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सुधार के लिए हड्डियों के निर्यात एवं कृषि की पैदावार बढ़ाने के लिए खाद के रूप में उसके प्रयोग पर लेख लिखा।[59] उन्हीं के आर्थिक विचारों के परिणामस्वरूप 1900 में कांग्रेस ने आर्थिक एवं औद्योगिक समस्याओं पर विचार करने का समय अधिवेशनों के लिए निश्चित किया। कांग्रेस द्वारा नियुक्त प्रथम औद्योगिक समिति के सदस्य के रूप में लाजपतराय ने स्वदेशी वस्तुओं के निर्माण एवं उनके उपयोग का विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उन्हीं के सद्प्रयासों से कांग्रेस अधिवेशन के साथ-साथ प्रतिवर्ष औद्योगिक प्रदर्शनी लगायी जाने लगी जिसमें भारतीयों द्वारा उत्पादित स्वदेशी वस्तुओं का प्रदर्शन प्रारम्भ हुआ।[60]

लाजपतराय ने दादाभाई नौरोजी तथा विलियम डिग्बी के विचारों का समर्थन करते हुए भारत की आर्थिक विपन्नता के लिये अंग्रेजी शासन को उत्तरदायी ठहराया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक इग्लैण्ड्स् डेट टु इण्डिया में लाजपतराय ने व्यक्त किया कि अंग्रेजों के शासन के पहले भारत पर आक्रमण करने वाली प्रजातियों ने भारत की सम्पदा भारत में ही बनाये रखी। मुगल शासन को देशी शासन की संज्ञा देकर उन्होंने सिद्ध किया कि मुगल-शासन में फारस अथवा अरब देशों में कोई "इण्डिया आफिस" नहीं खुला और न किसी मेनचेस्टर तथा लंकाशायर की ही वहां सृष्टि की गई। उन्होंने भारत के धन को भारत में रखा। एक-दो विदेशी आक्रमणकारियों के अलावा शेष ने भारत को ही अपना वतन स्वीकार किया, किन्तु अंग्रेजी शासन ने भारत का बौद्धिक, राजनीतिक एवं आर्थिक शोषण कर भारत की आर्थिक सम्पदा का अपने देश के उद्योगों पर नियोजन किया।

उनके अनुसार इंग्लैण्ड की आर्थिक समृद्धि एवं उसकी औद्योगिक क्रांति भारतीय धन पर आधारित थी। भारत के उद्योगों को चौपट कर इंग्लैण्ड ने अपने यहाँ भारतीय धन से बड़े-बड़े उद्योग एवं महानगर स्थापित किये। भारत की बढ़ती हुई निर्धनता के साथ-साथ इंग्लैण्ड की समृद्धि बढ़ती गई। शोषण की इस दर्दनाक गाथा का लाजपतराय ने सजीव चित्रण प्रस्तुत कर भारत के आर्थिक राष्ट्रवाद को सम्बल प्रदान किया।[61]

अपनी इंग्लैण्ड यात्रा (1905) के दौरान लाजपतराय वहाँ के सुप्रसिद्ध समाजवादी श्रमिक नेताओं के सम्पर्क में आये। श्रमिक-दल के कीयर हार्डी, रैमजे मैकडोनेल्ड, सिडनी तथा बीट्रिस वेब, जोसिया वैजवुड तथा जॉर्ज लेन्सबरी के विचारों का उन पर प्रभाव पड़ा। 1907 में पंजाब के कृषक-आन्दोलन का समर्थन एवं नेतृत्व करने के कारण लाजपतराय को माण्डले निर्वासित कर दिया गया किन्तु उन्होंने श्रमिकों, किसानों तथा निर्धन वर्ग की समस्याओं को अपने जीवन-कार्य का अंग बना लिया। श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिए लाजपतराय ने व्यापक अभियान चलाया। उन्हीं के प्रयत्नों से भारत में पहली बार इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इन्टक) की स्थापना हुई। वे भारतीय श्रमिकों की स्थिति को सुधारने तथा भारत की आर्थिक समृद्धि के लिये प्रयत्नशील रहे। वे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (आई० एल० ओ०) में भारतीय श्रमिक दल के प्रतिनिधि के रूप में जिनेवा गये और वहाँ भारतीय श्रमिकों की दशा को सुधारने का तथा ब्रिटेन की शोषण नीति को समाप्त करने का प्रचार किया। उनके अनुसार प्रत्येक श्रमिक को उचित वेतन, आवास तथा आजीविका की सुरक्षा का समान अधिकार मिलना चाहिये, चाहे वह खेतीहर श्रमिक हो अथवा औद्योगिक श्रमिक।[62]

लाजपतराय साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद के प्रबलतम विरोधी थे। वे साम्राज्यवादी शोषण को विश्व-मानवता का अभिशाप मानते हुये उसे व्यक्ति के गले में बँधा हुआ चक्की का पाट मानते थे। शोषण से मुक्ति प्राप्त करने के लिए पूँजीवाद एवं पश्चिम की भौतिक प्रवृत्ति का उन्होंने पुरजोर विरोध किया। वे अहस्तक्षेप अर्थात् कम से कम हस्तक्षेप की व्यक्तिवादी पूँजीवादी विचारधारा के विरोधी थे। उनके मतानुसार राज्य को जनता की आर्थिक उन्नति के लिये सकारात्मक भूमिका निभानी चाहिये थी। वे समाज के आर्थिक ढाँचे को अनुचित एवं शोषण पर आधारित मानते हुये उसे बदलना चाहते थे। उनका विचार ऐसे लोक-कल्याणकारी शासन की स्थापना का था, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को पौष्टिक आहार, स्वास्थ्यवर्द्धक आवास तथा उचित परिधान प्राप्त हो सके। वे प्रत्येक माँ के शिशु को, चाहे वह वैध सन्तान हो अथवा अवैध, भोजन एवं वस्त्र के साथ-साथ शिक्षा तथा विकास के समुचित अवसर प्रदान करने के इच्छुक थे। प्रत्येक वयस्क द्वारा राष्ट्रीय जीवन में योगदान, प्रत्येक व्यक्ति को विश्राम तथा मनोरंजन की सुविधाएँ, सामाजिक सहायता, परिवार के लिये भूमि, वायु, पानी तथा अन्य भौतिक सुविधाओं की आवश्यक एवं उचित उपलब्धि, बेगार-प्रथा का अन्त, समान राजनीतिक स्तर की प्राप्ति, समुदायों एवं वर्गों की सदस्यता का स्वतन्त्र अधिकार, स्त्रियों तथा पुरुषों में अधिकारों की समानता आदि शासन के कर्तव्य उन्होंने प्रस्तुत किये। लाजपतराय द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त शासकीय कर्तव्य वर्तमान भारतीय जनता के मौलिक अधिकारों के समान प्रतीत होते हैं।[63]

लाजपतराय ने सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के अधिकार को समाजवादी दृष्टिकोण से देखा। वे यह मानते थे कि यदि कोई व्यक्ति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति करता हुआ अधिक सम्पत्ति अर्जित करता है अथवा वह सम्पत्ति पसीने की कमाई से प्राप्त करता है, तो उसे निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार होना चाहिये बशर्ते वह उस सम्पत्ति से अन्य व्यक्तियों का शोषण अथवा उनका व्यक्तिगत या सामाजिक ह्रास न करता हो। इस प्रकार उन्होंने सम्पत्ति के सीमित अधिकार को मान्यता दी। वे भूमिहीन किसानों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए भूस्वामित्व की जमींदारी प्रथा के विरुद्ध थे। उनका यह सुझाव था कि भूमि की अधिकार सीमा निर्धारित की जाय और स्वयं अपने हाथों से खेती करने वालों को ही भूमि का स्वामित्व प्रदान किया जाय। वे भूमि हीनों को अतिरिक्त भूमि वितरित करने के समर्थक थे और उन्हें विदेशी पूंजीपतियों तथा भारतीय पूंजीपतियों-जमींदारों के शोषण से बचाना चाहते थे।[64]

आर्थिक समानता का समर्थन एवं शोषण का प्रतिकार करते हुये भी लाजपतराय हिंसा के द्वारा आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तन लाने के पक्ष में न थे। वे विकास के द्वारा आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन लाना चाहते थे। भारतीय उद्योगों के विकास द्वारा भारत की आर्थिक स्थिति को सुधारने, रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध करने तथा उत्पादन के साथ-साथ उपभोग की स्थिति को सुधारने का उनका विचार समाजवादी होते हुये भी मार्क्सवादी-साम्यवादी व्यवस्था के अनुरूप नहीं था। लाजपतराय भारत के उन मनीषियों में से थे जिन्हें मार्क्स के विचारों से परिचित होने का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ। वे पहले भारतीय थे जिन्होंने रूस की साम्यवादी क्रांति (1917) का स्वागत किया। उन्हीं के सहयोग एवं आर्थिक सहायता से भारत को विश्व-प्रसिद्ध मार्क्सवादी-मानवतावादी विचारक मानवेन्द्रनाथ राय के रूप में देखने को मिला। वे भारत के श्रमिक-आन्दोलन के प्राण थे। फिर भी उन्हें साम्यवादी-मार्क्सवादी पद्धतियों के प्रति मोह नहीं था। उनके अनुसार भारत में मार्क्सवाद के लिये कोई स्थान नहीं था। वे भारतीय स्थितियों में लोकतान्त्रिक समाजवाद को ही उचित मानते थे ताकि भारतीय उद्योगपतियों तथा श्रमिकों एवं किसानों को एक ही मंच पर समानता के अधिकार-सहित लाया जा सके। उन्होंने मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा के नारों तथा कार्यक्रमों को विश्व-मानवता का परित्राण करने में बाधक माना। वे रूस की नीतियों से भलीभांति परिचित होते हुये यह चाहते थे कि भारत में हिंसा तथा राजकीय पूंजीवाद को सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन का आधार न बनाया जाय। लाजपतराय सिद्धान्तवादी समाजवादी नहीं थे। वर्ग-संघर्ष तथा सर्वहारा के अधिनायकतन्त्र आदि के प्रति रुचि न दिखा कर लाजपतराय ने कहा कि भारत में भारतीय दृष्टिकोण अपनाकर ही आर्थिक समस्याओं का निवारण किया जा सकता है। पश्चिम के अंधानुकरण की प्रवृत्ति भारत के लिए हानिप्रद सिद्ध होगी।[65]

सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए लाजपतराय ने निर्धनता तथा शोषण के अन्त का आह्वान किया। उनके अनुसार भारत की जनता का दमन एवं शोषण यथावत् रहा तो "हिमालय भी भारत में बोल्शेविकवाद के प्रवेश को नहीं रोक सकेगा"।[66] मानवीय गरिमा एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समर्थक लाजपतराय ने मार्क्सवाद का विरोध किया। वे विचारवाद के दास नहीं थे अपितु भारतीय राष्ट्र के निर्माण में व्यस्त एक

याने भयंकर दुर्भिक्षों के समय 'आर्य अकाल सहायता आन्दोलन' चलाये और सहस्रों अनाथ बालक-बालिकाओं को ईसाई मिशनरियों के चंगुल से बचाया तथा अनेक प्रकार की सेवाएं अकाल पीड़ित क्षेत्रों में दीं।[70]

कालान्तर में लाजपतराय के विचारों के अनेक परिवर्तन आये। उनके विदेश-प्रवासों तथा राष्ट्रव्यापी राजनीतिक आन्दोलन से उनके सम्बन्धित होने के कारण उनका दृष्टिकोण अन्य आर्यसमाजियों जैसा न रहा। वे आर्य समाज, हिन्दू संगठन तथा हिन्दी के अत्यधिक प्रचार को मुस्लिम पृथक्तावादी प्रवृत्ति को और भी अधिक भड़काने वाले कारण मानने लगे थे। लाजपतराय ने स्वामी दयानन्द द्वारा अन्य धर्मों की आलोचना को दोषपूर्ण ठहराया। इस प्रकार लाजपतराय ने धार्मिक सहिष्णुता का उदाहरण प्रस्तुत करते हुये अन्य धर्मों की आलोचना तथा उनके संस्थापकों के प्रति अभद्रता का व्यवहार उचित नहीं ठहराया। लाजपतराय ने दयानन्द सरस्वती के मन्तव्य को अन्तिम वाक्य नहीं माना।[71] आर्यसमाज में स्वामी श्रद्धानन्द की गुरुकुल शाखा का उन्होंने समर्थन नहीं किया। इसी प्रकार उन्होंने आर्यसमाज में शाकाहारी तथा मांसाहारी समुदायों के मध्य विवाद में मांसाहार का समर्थन किया। इस प्रकार आर्यसमाजी होते हुये भी लाजपतराय का दृष्टिकोण प्रगतिशील एवं सहिष्णुता से पूर्ण था।

वे साम्प्रदायिक सद्भाव एवं सहिष्णुता के लिये कार्य करना चाहते थे। कांग्रेस द्वारा मुस्लिम साम्प्रदायिकता को तुष्ट करने के लिये पृथक् प्रतिनिधित्व स्वीकार करने का उन्होंने विरोध किया। उन्होंने ब्रिटिश शासन को भारत में साम्प्रदायिक मनोमालिन्य फैलाने के लिये उत्तरदायी ठहराया।[72] गांधी जी द्वारा खिलाफत एवं असहयोग आन्दोलन में उन्होंने असहयोग को अपने विचारों के अनुरूप माना क्योंकि वे जीवन पर्यन्त शासन के प्रति असहयोगी बने रहे, किन्तु वे खिलाफत में धार्मिक विवाद को राजनीतिक आन्दोलन से मिलाने के मुद्दे पर गांधी के प्रबल विरोधी रहे। मुस्लिम साम्प्रदायिकता की बढ़ती हुई पृथकत्व की नीति तथा साम्प्रदायिक दंगों को मुस्लिम नेताओं के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष समर्थन ने उन्हें चिन्तित कर दिया। उन्हें भारत में लोकतांत्रिक पद्धति में स्वराज्य की स्थापना मुसलमानों की अपनी संख्या के अनुपात से अधिक स्थानों पर प्रतिनिधित्व की मांग के समक्ष धूमिल होती दिखाई दी।[73] उन्होंने राष्ट्रीय समझौता करने में भी सहयोगी भूमिका निभाई और सदैव इस मत का समर्थन किया कि भारत में अत्यधिक धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार दिया जाय किन्तु राज्य धर्म निरपेक्ष रहे। फिर भी मुस्लिम नेताओं ने खिलाफत के प्रश्न को लेकर साम्प्रदायिक विषवमन करने में कोई कमी न रखी। मोहम्मदअली तथा शौकतअली तो गांधी जी को भी इस्लाम धर्म में परिवर्तित करने के स्वप्न देख रहे थे।[74] ऐसे वातावरण में किसी भी साम्प्रदायिक पक्ष की धार्मिक मान्यता को पूर्ण अधिकार (एबसोल्यूट राइट) कैसे दिया जा सकता था?[75]

लाजपतराय ने मुसलमानों की हठधर्मिता को देखते हुए शुद्धि एवं संगठन के कार्यक्रम को उचित माना। वे मुसलमानों के आक्रामक रवैये को देखते हुये हिन्दुओं के संगठित होने का समर्थन करने लगे। यद्यपि लाजपतराय ने हिन्दुओं को संगठित होने का आह्वान किया, तथापि उनके विचार धार्मिक असहिष्णुता के विरोधी रहे। उन्होंने यह माना कि विभिन्न भाषा-भाषियों तथा धर्मों के देश भारत में किसी भी एक समुदाय द्वारा

अन्य समुदायों को अपने अधीन करने अथवा उनपर दबाव डालने का अधिकार स्वीकार नहीं किया जा सकता था। वे भारत की एकता को बनाये रखने के लिए हर सम्भव प्रयास करने को उद्यत थे। वे राजनीति को धार्मिक संकीर्णता से दूर रखना चाहते थे।[76] हिन्दू मुस्लिम दंगों को उन्होंने धर्म के प्रति अज्ञानता की संज्ञा दी। उनके अनुसार साम्प्रदायिक दंगे धर्म की कमी के कारण हो रहे थे, न कि धर्म के आधिक्य के कारण। उनकी मान्यता थी कि कोई भी धर्म, चाहे वह हिन्दू धर्म हो अथवा इस्लाम, हिंसा पर आधारित नहीं हो सकता।

लाजपतराय ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों के साम्प्रदायिक सम्बन्धों का विवेचन करते हुए प्रकट किया कि भारतीय मुसलमानों को, जिनमें से अधिकांश धर्म-परिवर्तन के कारण हिन्दुओं से मुसलमान बने थे, पृथक् राष्ट्रीयता से अपने आपको संयुक्त करने का प्रयास नहीं करना चाहिये था। वे सर्व-इस्लामवाद (पैन-इस्लामिज्म) के भ्रामक प्रचार के शिकार थे। उनके अनुसार सर आगाखां अथवा जिन्ना कितने मुसलमान थे? वे केवल अपने राजनीतिक नेतृत्व के लिये मुसलमानों को भड़काना चाहते थे। उनका कहना था कि अंग्रेजों की फूट डाल कर राज्य करने की नीति उनके द्वारा आर्थिक प्रलोभनों तथा सरकारी सेवाओं में मुसलमानों के लिए अधिक स्थान देने के उद्देश्य से प्रयुक्त की गयी थी ताकि भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन शिथिल हो जाय और भारतीय परस्पर लड़ते हुये राजनीतिक स्वतंत्रता की मांग न करें। लाजपतराय ने कांग्रेस संगठन को हिन्दुओं का संगठन बताने वाले विरोधियों की आलोचना की और यह मत व्यक्त किया कि भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन को किसी सम्प्रदाय-विशेष द्वारा चलाया गया आन्दोलन समझना त्रुटिपूर्ण था।[77]

उधर मुसलमानों का जिन्ना-समर्थक समुदाय हिन्दू-मुस्लिम एकता के स्थान पर पृथकत्व में अधिक विश्वास रखता था। कांग्रेस के नेताओं की मुस्लिम-सम्प्रदायवाद को तुष्ट करने की नीति लाजपतराय को उचित नहीं दिखाई दी। वे कांग्रेस-लीग के लखनऊ समझौते को पंजाब के अल्पसंख्यक हिन्दुओं पर करारा प्रहार मानते थे, क्योंकि जहां मुस्लिम लीग ने अपनी चातुरी से मुस्लिम अल्पसंख्यक प्रान्तों में मुसलमानों के हितों को सुरक्षित करने के प्रबन्ध कर लिये थे, वहां कांग्रेस की नीति के कारण हिन्दू अल्पसंख्यक प्रान्त पंजाब में हिन्दुओं के हितों को सुरक्षित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। लाजपतराय ने समय की मांग को देख कर पंजाब के हिन्दुओं के हितों को सुरक्षित करने का कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने 1924 में जिन्ना द्वारा मुसलमानों के लिये 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व' एवं संख्या से अधिक स्थान प्राप्त करने की मांग में भारत के विभाजन के बीज देखे। 1924 में सिवाय लाजपतराय के और कोई भी भारतीय नेता यह सोच भी नहीं सका कि एक दिन साम्प्रदायिक राजनीति भारत का विभाजन करवा देगी। लाजपतराय ने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया कि "जिन्ना का प्रस्ताव संयुक्त भारत राष्ट्र की अवमानना था। यह भारत के दो भागों-एक मुस्लिम भारत तथा दूसरा गैर-मुस्लिम भारत-में पूर्ण विभाजन का प्रतीक था।[78] 1925 में लाजपतराय ने व्यक्त किया कि "मौलाना हसरत मोहानी के वक्तव्यों के अनुसार मुसलमान अफगानों के अन्तर्गत भारत की अधिराज्य स्थिति को कभी भी स्वीकार नहीं करेंगे। उनका उद्देश्य भारत में पृथक मुस्लिम राज्यों

की स्थापना का है जो राष्ट्रीय संघात्मक शासन के अन्तर्गत हिन्दू राज्यों से जुड़े हुये हों। उनका उद्देश्य हिन्दू तथा मुसलमानों की घनी आबादी वाले छोटे राज्यों की स्थापना का है। यदि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के अन्तर्गत पृथक निर्वाचन क्षेत्रों के सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाय तब तो मौलाना हसरत की छोटे प्रान्तों की योजना ही एक मात्र क्रियाशील प्रस्ताव है। मेरी योजना के अनुसार मुसलमानों को चार मुस्लिम राज्य प्राप्त होंगे — (1) पठान प्रान्त अर्थात् उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त, (2) पश्चिमी पंजाब, (3) सिन्ध, तथा (4) पूर्वी बंगाल। यदि भारत के किसी अन्य भाग में घनी मुस्लिम आबादी हो—एक प्रान्त बनाने जितनी विस्तृत—तो उसे भी इसी प्रकार संगठित किया जायेगा, किन्तु यह स्पष्टतया समझा जाना चाहिये कि वह संयुक्त भारत नहीं होगा। इसका अर्थ है भारत का मुस्लिम-भारत तथा गैर-मुस्लिम भारत में स्पष्ट विभाजन।"[79]

यद्यपि लाजपतराय ने भारत के विभाजन की रूपरेखा स्पष्ट बतलायी और 1947 में दैवयोगात् भारत का विभाजन लगभग इसी प्रकार हुआ, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि लाजपतराय उपर्युक्त योजना को स्वयं स्वीकार करते थे। वे संयुक्त भारत की स्वतन्त्रता में निष्ठा रखते थे। उन्होंने विभाजन की योजना का पूर्वाभास प्राप्त कर मुसलमानों की पृथकतावादी माँग की चरम परिणति हमारे समक्ष प्रस्तुत की। उनकी इस भविष्यदृष्टा की स्थिति का मुस्लिम नेताओं ने अतिशय लाभ उठाया और जिन्ना, खलीकुज्जमाँ या रहमत अली आदि ने पाकिस्तान के निर्माण (1947) के समय यह दोहराया कि पंजाब के नेता लाला लाजपतराय ने भारत के विभाजन का सुझाव पहले ही से दे दिया था। वास्तविकता यह थी कि लाजपतराय विभाजन टालने का प्रयास कर रहे थे। उन्होंने इसी कारण से 'हिन्दू राष्ट्र' के समर्थकों को कभी प्रोत्साहित नहीं किया। वे एक धर्म-निरपेक्ष भारत-राष्ट्र की स्थापना के सदैव इच्छुक रहे। उन्होंने मुसलमानों के संगठित विरोध-स्वरूप ही हिन्दू महासभा से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। उनके नेतृत्व में हिन्दू महासभा को साम्प्रदायिक तनावों से दूर रहने और देश की प्रमुख राजनीतिक समस्याओं पर हिन्दुओं का जनमत संगठित करने का अवसर मिला। हिन्दू महासभा के कट्टर नेताओं को लाजपतराय का यह सुझाव कि महासभा को हिन्दुओं के सामाजिक संगठन का कार्य ही करना चाहिये और राजनीतिक प्रश्नों से दूर रहना चाहिये, उचित प्रतीत नहीं हुआ।[80] उनके नेतृत्व के कारण ही हिन्दू महासभा ने कांग्रेस के विरुद्ध चुनाव न लड़ने का निर्णय लिया। इस प्रकार वे संकीर्ण हिन्दू राष्ट्रवादी नेता न होकर भारत की एकता एवं सहिष्णुता पर आधारित सबलता के पक्षधर रहे। लाजपतराय हिन्दुओं के उचित हितों के संरक्षक होकर भी 'हिन्दू-राज' की स्थापना भारत में करने के समर्थक न थे।[81] वे अंग्रेजों तथा मुसलमानों की इस नीति के—कि पंजाब के हिन्दू अल्पसंख्यक सदैव अल्पसंख्यक ही रहें जबकि अन्य प्रान्तों में मुस्लिम अल्पसंख्यकों को हिन्दू बहुसंख्या के समान अधिकार दिये जायं—सदैव विरोधी रहे। इस पर भी नेहरू रिपोर्ट का उन्होंने हृदय से स्वागत किया और मुसलमानों में भय एवं असुरक्षा के भ्रामक प्रचार के निवारण के लिये दस वर्षों के लिए मुस्लिम साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार किया। जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने इन शब्दों में

'हिन्दू-राष्ट्रवाद' शब्द का विरोध किया। उन्हें एक ही शब्द प्रिय था और वह था भारतराष्ट्र।[82]

नवम्बर 22, 1928 को गांधीजी ने यंग इण्डिया में लिखा : "मेरे मुस्लिम मित्रों के प्रति सम्पूर्ण आदर भाव रखते हुये, मैं दृढ़ता से यह कहना चाहता हूँ कि वे (लाजपतराय) इस्लाम के शत्रु नहीं थे। उनकी हिन्दू धर्म को संगठित तथा शुद्ध करने की अभिलाषा को मुसलमानों अथवा इस्लाम के प्रति घृणा नहीं समझना चाहिये। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ाने तथा प्राप्त करने के सच्चे इच्छुक थे। वे हिन्दू राज नहीं चाहते थे, बल्कि वे भारतीय राज के अभिलाषी थे, वे उन सबको, जो अपने आपको भारतीय कहते थे, पूर्ण समानता प्राप्त कराने के इच्छुक थे।"

मूल्यांकन

लाजपतराय ने भारत की स्वाधीनता के लिए अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया। वे भारत में स्वराज्य अथवा उत्तरदायी शासन की स्थापना क्रमिक स्तरों के बजाय एक ही बार में चाहते थे। उत्तरदायी शासन को किश्तों में स्थापित करने के तर्क को वे मात्र धोखा मानते थे। उनके अनुसार दासता शनैः-शनैः स्थापित की जा सकती है, किन्तु स्वतन्त्रता की स्थापना एकदम की जाती है।[83] उन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग प्रस्तुत नहीं की और वे अधिराज्य स्तर की मांग ही प्रस्तुत करते रहे क्योंकि उनकी दृष्टि में भारत को लम्बे संघर्ष के लिये तैयार रहना था। वे ऐसे स्वप्नों के राजनीतिज्ञ नहीं थे जो "एक वर्ष में स्वराज्य" अथवा "पूर्ण स्वतन्त्रता" के नारे लगाकर भारतीय जनता को वास्तविकता से अनभिज्ञ रखते। उनका यह अनुमान भी सत्य सिद्ध हुआ कि पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थापना के पहले भारतीय नेतृत्व द्वारा देशी रियासतों को अपने पक्ष में करना होगा अन्यथा वे स्वतन्त्रता की वेला में भारत की एकता के लिए विदेशी शासकों से भी अधिक भयंकर सिद्ध होंगी। ठीक यही समस्या भारत के समक्ष 1947 के बाद उपस्थित हुई। यदि वल्लभभाई पटेल ने इसका सही उपचार न किया होता तो स्थिति की भयावहता की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

लाजपतराय ने भारत में वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना का प्रचार किया। वे लोकतान्त्रिक पद्धति के प्रति पूर्ण निष्ठावान् बने रहे। वे भारत की पूर्ण सम्प्रभुता के पक्ष में थे और साथ ही साथ यह भी मानते थे कि भारत को ब्रिटिश राष्ट्रकुल से पृथक् न होकर उसका प्रभावशाली सदस्य बनना होगा। प्रारम्भ में नेहरू ने इसकी आलोचना की थी किन्तु स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने भारत को राष्ट्रमंडल का सदस्य बनाने में ही श्रेय समझा। इसी प्रकार लाजपतराय ने स्पष्ट रूप से व्यक्त किया था कि ' "भारत राष्ट्रसंघ की सदस्यता अथवा वाशिंगटन-कान्फ्रेंस में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने से स्वतन्त्र नहीं होगा। भारत तभी स्वतन्त्र होगा जबकि भारतीय जनता अपनी इच्छानुसार शासन चलाने में समर्थ होगी। दस हजार 'राइट ऑनरेबल्स' भी भारत को तब तक स्वतन्त्रता नहीं दिला सकते, जब तक भारत की जनता स्वयं सम्प्रभु राष्ट्र में निबद्ध होकर एक ऐसा राज्य स्थापित न करे जो कि भारत राष्ट्र की सत्ता के अधीन हो।"[84]

लाजपतराय ने राष्ट्र को राज्य से अधिक महत्व दिया और यह माना कि राष्ट्र ही राज्य को नियन्त्रित करता है। वे राष्ट्र की सामूहिक स्वतन्त्रता के पक्षधर थे, किन्तु समष्टिवादी नहीं थे। उन्होंने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अवमूल्यन नहीं किया। यही कारण था कि उन्होंने भारत के उदारवादी नेतृत्व की आलोचना की और यह व्यक्त किया कि "हम नीचे से विकास चाहते हैं, जबकि हमारे विरोधी ऊपर से वरदान प्राप्त करना चाहते हैं। तथ्य यह है कि उदारवादी कदापि लोकतान्त्रिक नहीं हैं। वे जनता की परवाह नहीं करते। वे केवल कुछ व्यक्तियों के लिए शक्ति के इच्छुक हैं•• •।"[85] लाजपतराय स्वयं राष्ट्रवाद तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद के पक्ष मे थे। उन्होंने सदैव उग्र-राष्ट्रवाद[86] की भर्त्सना की और जनता को उच्च राष्ट्रीय आदर्शों के अनुकूल चलने की प्रेरणा दी। यही कारण था कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के वे तीव्र आलोचक रहे और निरन्तर संगठित भारत के प्रेरक रहे। उनका राष्ट्रवाद भी संकीर्ण राष्ट्रवाद नहीं था। वे विश्व-बन्धुत्व के अनन्य उपासक थे। प्रसिद्ध समाजवादी जोसिया वेजवुड ने लाजपतराय की प्रशंसा मे लिखा था कि 'वे रचनात्मक राष्ट्रवाद के पक्ष में थे और उन्होंने अन्याय एवं दमन का ऐसा विरोध किया जिसके कारण युगों-युगों तक उदारवाद उन पर गर्व करेगा।'[87] लाजपतराय ने अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की स्थापना तथा मानवीय प्रगति के उत्थान के लिए एक विश्व-संगठन की कल्पना की[88] जो बाद में संयुक्त राष्ट्र के रूप में साकार हुई।

सामाजिक चिन्तन की दृष्टि मे लाजपतराय ने दलित एवं पिछड़ी जातियों के प्रति सवर्ण हिन्दुओं के व्यवहार की भर्त्सना की तथा स्वयं के कार्यों द्वारा उनकी अपूर्व सेवा कर भारत में छुआछूत की समस्या के निराकरण का आदर्श प्रस्तुत किया। उन्होंने स्त्रियों, युवाओं तथा बालकों की उन्नति के लिए अनेक सुझाव तथा कार्य प्रस्तुत किये तथा उन्हें शोषण से मुक्ति दिलाने का अभियान चलाया। आर्यसमाज के समाज-सुधार कार्यों की बागडोर सम्भाल कर लाजपतराय ने देश में व्याप्त अनेकानेक कुरीतियों को दूर करने का हर सम्भव प्रयास किया। सामाजिक न्याय तथा निर्भयता के आर्यसमाजी सेनानी लाजपतराय की रोमां रोलां ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[89]

यद्यपि लाजपतराय ने सामान्यतः अभ्युदयवादी के रूप मे अपना सामाजिक जीवन प्रारम्भ किया था किन्तु विचारों की परिपक्वता के साथ वे सुधार एवं पुनरभ्युदय में अद्‌भुत समन्वय स्थापित करने मे सफल हुये। सामाजिक सुधारों के प्रति उनके विचार रूढ़िवादी अथवा संकीर्णता-युक्त कदापि न रहे। उग्र राष्ट्रवादी विचारक के नाते पुनरभ्युदय का समर्थन करके भी लाजपतराय ने सामाजिक सुधारों द्वारा समाज के समस्त समूहों को लाभान्वित करने तथा आधुनिक भारत का निर्माण करने में अपना अपूर्व योगदान दिया।[90] वे सामाजिक प्रतिक्रियावादी तत्वों को अक्षुण्ण बनाये रखने का प्रयास कर रहे थे। वे संकीर्ण हिन्दू पुनरभ्युदयवादी न होकर भारतीय जनता को आगे बढ़ाना चाहते थे, न कि पीछे, यथार्थवादी बनाना चाहते थे, न कि अस्पष्ट एवं प्रभावहीन आदर्शवादी।[91] वे न तो तिलक के समान राजनीतिक स्वतन्त्रता को सामाजिक सुधारों से प्राथमिकता देने के पक्ष में थे और न महादेव गोविन्द रानाडे तथा गोखले के समान पाश्चात्य प्रभावों से युक्त मात्र सामाजिक सुधारों के पक्षपाती थे। उनका दृष्टिकोण

राष्ट्र के उन्नयन एव सामाजिक सुधारो को समन्वित करने का था। वे आधुनिक राष्ट्रवादी एव विवेकशील प्रगतिवादी थे।

भारत के आर्थिक चिंतन मे भी लाजपतराय का स्मरणीय योगदान रहा। वे साम्राज्यवाद तथा पूंजीवाद के कट्टर शत्रु थे। उन्होंने भारत मे लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। वे भारत की निर्धनता के निवारण के लिए स्वावलम्बन द्वारा भारतीय स्वदेशी उद्योगो की स्थापना के पक्षपाती रहे। रूस की क्रांति के प्रथम प्रशसक[82] होकर भी लाजपतराय ने मार्क्सवाद अथवा साम्यवाद को भारत के लिये उपयुक्त नहीं माना। वे सामाजिक एव आर्थिक न्याय की स्थापना के पक्ष में थे। उन्होंने भारत मे श्रमिक-आन्दोलन का नेतृत्व केवल राजनीतिक स्वार्थ के वशीभूत होकर नहीं किया। वे मानवीय आधारो पर श्रमिको की कठिनाइयो का निवारण चाहते थे। उन्हे वर्ग-सघर्ष म विश्वास नही था। वे मानवतावादी समाजवादी थे। उन्हे भारत के प्रथम समाजवादी की उपमा दी गयी थी।[83] वे पजाब समाजवादी दल के प्रेरक रहे। प्रमुख उद्योगपति घनश्यामदास बिडला को राजनीति म लाने की प्रेरणा देकर भी वे भारतीय श्रमिकों के अग्रणी शुभचिंतक रहे। यह विरोधाभास न होकर उन्हीं के शब्दो म "आदर्शात्मक व्यावहारिकता"[84] का उदाहरण था। ह्यू ग टिंकर के अनुसार 'निर्धन एव साधनहीन भारतीय जनता जिस प्रकार परम्परागत सत्ताधारियों के हाथो से शक्ति छीनने की नवीन परिस्थितियो का अन्वेषण कर रही है, उनसे उत्पन्न समस्याओं का निदान लाजपतराय ने आज के तीस या चालीस वर्ष पहले ही ज्ञात कर लिया था'।[85]

लाजपतराय उग्रवाद एव सविधानवाद को राष्ट्रवाद के साथ समन्वित करने वाले विचारक थे। वे गाधीजी के प्रशसक भी थे एव आलोचक भी। वे निष्क्रिय प्रतिरोध के प्रथम उद्घोषक होकर भी गाधीजी के अहिंसा सम्बन्धी स्वप्नलोकी दृष्टिकोण के आलोचक थे। गाधीजी आदर्शवादी सुधारक थे, किन्तु लाला लाजपतराय अपने समग्र जीवन में व्यावहारिक व्यक्ति बने रहे। वे राष्ट्रवादी थे, किन्तु यथार्थवाद से उनका चिन्तन दूर नहीं था। वे हिन्दुओ के उचित एव न्याय-सगत अधिकारो के समर्थक होते हुए भी मुसलमानों के न्यायोचित अधिकारा के विरोधी नहीं थे। यदि उन्होंने मुसलमाना की धार्मिक मतांधता की आलोचना की, तो वे हिन्दुओं की जाति एव अस्पृश्यता सम्बन्धी बुराइयो के भी प्रबल आलोचक रहे। भारत मे साम्प्रदायिक राजनीति की अन्तिम नियति का पूर्वाभास प्राप्त कर उन्होंने भारत के विभाजन का चित्र प्रस्तुत किया। वे साम्प्रदायिकता के विषवृक्ष को भारत से समूल नष्ट करना चाहते थ।[86] उनके अनुसार साम्प्रदायिक समस्या के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाने के स्थान पर दृढ़ता एव निर्भयता से इसका निराकरण करने की आवश्यकता थी।

इस प्रकार, लाजपतराय ने धर्म-निरपेक्षता, लोकतन्त्र तथा समाजवाद को राष्ट्रीय जीवन का मूल आधार स्वीकार कर पृथकत्व, धर्मान्धता एव दलबन्दी से भारतीय राष्ट्रीय चिन्तन को मुक्त रखने का आह्वान किया।

लाजपतराय की स्वाभिमानी देशभक्ति तथा उनका भारत राष्ट्र के लिये जीवनोत्सर्ग सदैव प्रेरणास्पद रहेंगे। भारत माता के सच्चे 'लाल' लाजपतराय ने मिस कैथेरीन मेयो

द्वारा लिखित मदर इण्डिया, जिसे गांधीजी ने 'गटर इन्स्पेक्टर्स रिपोर्ट' कहा था, के उत्तर में अनहैपी इण्डिया[97] की रचना कर भारतीयों के सामाजिक एवं नैतिक जीवन पर कीचड़ उछालने वालों को मुंहतोड़ जवाब दिया। लालाजी की मृत्यु पर रोमां रोलां ने लिखा, "लाजपतराय ने अपनी बलिदानी भूमि की रक्षा में पुकारा 'दुःखी भारत' किन्तु मैं कहता हूं 'सुखी भारत' जिसने, दुर्बल चरित्र एवं साधारण गुणों वाले आधुनिक यूरोप की तुलना में, ऐसी पवित्र भक्ति का निर्माण किया है और जिसने अपनी पवित्र कोख से अनेक महा-पुरुषों–दयानन्द, विवेकानन्द, गांधी तथा पंजाब के इस शेर लाजपतराय को जन्म दिया है।"[98] सुभाषचन्द्र बोस के अनुसार लाजपतराय 'कांग्रेस के अग्रणी बौद्धिक दिग्गज'[99] थे। महात्मा गांधी ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए व्यक्त किया, 'लाला लाजपतराय का देहावसान हो गया है। लाला जी अमर रहें! जब तक भारत के आकाश में सूर्य देदीप्यमान है, लालाजी जैसे व्यक्ति की मृत्यु नहीं हो सकती है... ।'[100]

टिप्पणियां

1. जीवन परिचय डा. पुरुषोत्तम नागर, लाला लाजपतराय : दी मैन एण्ड हिज आइडियाज (मनोहर बुक सर्विस, दिल्ली, 1977) पर आधारित
2. जवाहर लाल नेहरू, एन आटोबायोग्राफी, पृ 175
3. एम. ए. बुच, राइज एण्ड ग्रोथ ऑफ इण्डियन मिलिटेन्ट नेशनलिज्म, पृ 91 तथा 101
4. इण्डियन रिव्यू, जनवरी, 1907
5. लाजपत राय के भाषण के लिए देखिये रिपोर्ट ऑफ दी ट्वेन्टी फर्स्ट इण्डियन नेशनल कांग्रेस, बनारस, 1905, पृ 73-75
6. लाजपत राय, दी मैसेज ऑफ दी भगवद्गीता, (इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, 1908) पृ. 12-13
7. लाजपत राय, यंग इण्डिया एन इन्टरप्रिटेशन एण्ड हिस्ट्री ऑफ दी नेशनलिस्ट मूवमेन्ट फ्रोम विदिन, (बी. डब्ल्यू ह्यूबश, न्यूयार्क, 1916) पृ. 169-170 तथा 138-139
8. मोडर्न रिव्यू, मार्च 1907
9. लाजपतराय, दी प्रोब्लम ऑफ नेशनल एजूकेशन इन इण्डिया (पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली, 1966) पृ. 61
10. लाजपतराय, यंग इण्डिया, पृ 221
11. वही, पृ. 233
12. लाला लाजपतराय जी की आत्मकथा, (नवयुग प्रेस, लाहौर, 1932) पृ 147
13. दी प्रोब्लम ऑफ नेशनल एजूकेशन इन इण्डिया, पृ. 63
14. लाजपतराय : दी कॉल टु यंग इण्डिया, (एस. गणेशन, मद्रास, 1920) पृ. 52
15. लाजपतराय, दी पोलीटिकल फ्यूचर ऑफ इण्डिया, (बी डब्ल्यू ह्यूबश, न्यूयार्क, 1919) पृ. 197
16. वही, पृ. 30
17. लाजपतराय ने यह 'ओपन लेटर' न्यूयार्क से जून 13, 1917 को प्रसारित किया था। इस पत्र पर भारत सरकार ने भारत में वितरण एवं प्रकाशन पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।
18. प्रोब्लम ऑफ नेशनल एजूकेशन इन इण्डिया, पृ. 58
19 वही, पृ. 62
20. लाजपतराय - आइडियल्स ऑफ नॉन-कोओपरेशन एण्ड अदर एसेज, (एस गणेशन, मद्रास, 1924) पृ. 75
21. वही, पृ. 78

22. वही, पृ 79-80
23. दी पोलिटिकल फ्यूचर ऑफ इण्डिया, पृ 17 तथा 29
24 दी काल टु यंग इण्डिया, पृ 81 82
25 लाला लाजपतराय, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड II, (यूनिवर्सिटी पब्लिशर्स, दिल्ली, 1966) पृ 118-168
26 लाला लाजपतराय, एन ओपन लेटर टु एडविन मॉन्टेग, दिसम्बर 15, 1917, न्यूयार्क
27. देखिए पुरुषोत्तम नागर, "लाला लाजपतराय ऑन दी करेक्टर ऑफ एजूकेशन इन ब्रिटिश इण्डिया", एडमिनिस्ट्रेटिव चेन्ज, जनवरी-जून, 1975, पृ 179-182
28 वही
29 देखिये आर. सी. मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ दी फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया, खण्ड II, पृ 304, बिमान बिहारी मजूमदार, मिलिटेन्ट नेशनलिज्म इन इण्डिया, पृ 130, सोम मेटोरियल फोर ए हिस्ट्री ऑफ दी फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया, खण्ड II, पृ. 395
30 देखिए लाला लाजपतराय की निजी डायरी (जून 6, 1919, न्यूयार्क) नेशनल आरकाइव्ज ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली
31. लाला लाजपतराय इण्डियाज विल टु फ्रीडम, (गणेश एण्ड को मद्रास, 1921) पृ 62
32 पट्टाभि सीतारमैया, हिस्ट्री ऑफ दी इण्डियन नेशनल कांग्रेस, खण्ड I, पृ 103
33 दी पीपुल (लाहौर), जुलाई 26 1925
34 वही, जुलाई 5, 1925
35 वही, जुलाई 26, 1925
36 वही, अक्टूबर 11, 1928
37 वही, अक्टूबर 25 तथा नवम्बर, 1928
38. लाजपतराय, यंग इण्डिया, पृ. 224
39 दी पोलिटिकल फ्यूचर ऑफ इण्डिया, पृ 206
40. वही, पृ 207
41. दी कॉल टु यंग इण्डिया, पृ 121-131
42. इण्डियाज विल टु फ्रीडम, पृ. 42-53
43 वही, पृ 86-87
44 दी प्रोब्लम ऑफ नेशनल एजूकेशन इन इण्डिया, पृ 31
45 वही पृ 31-32
46. वही, पृ 33
47. लाजपतराय, दी आर्य समाज, (लॉगमेन्स, ग्रीन एण्ड को लन्दन 1915) पृ. 12
48 आत्मकथा, पृ 44
49 लाला लाजपतराय दी मैन इन हिज वर्ड, (नटेसन, मद्रास, 1907) पृ. 114-128
50. वही, पृ 126
51 दी मॉडर्न रिव्यू मार्च 1908
52 दी इण्डियन रिव्यू, दिसम्बर 1908
53 दी मॉडर्न रिव्यू, जुलाई 1909
54 लाजपतराय, दी यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका : ए हिन्दूज इम्प्रेशन्स एंड ए स्टडी, (आर. चटर्जी, कलकत्ता 1919) पृ 88
55 दी प्रोब्लम ऑफ नेशनल एजूकेशन इन इण्डिया, पृ 1-28
56 वही
57 वही, पृ 29 30
58 दी मॉडर्न रिव्यू जनवरी तथा फरवरी, 1920

59 दी ट्रिब्यून फरवरी 5 तथा 19, 1891
60 देखिये रिपोर्ट ऑफ दी सिक्सटीन्थ इण्डियन नेशनल कांग्रेस, लाहौर, 1900, पृ 3-5 तथा 79
61. लाजपतराय, इंगलैण्डस डेट टु इण्डिया, (बी डब्ल्यू ह्यूबश, न्यूयार्क, 1917), पृ 327
62 दी कॉल टु यंग इण्डिया, पृ 86
63 वही, पृ 83-85
64. वही, पृ 85-86
65 आईडियल्स ऑफ नॉन-कोऑपरेशन एण्ड अदर एसेज, पृ 32 86, दी पोलिटिकल फ्यूचर ऑफ इण्डिया, पृ. 202, दी कॉल टु यंग इण्डिया, पृ 83
66 दी पॉलिटिकल फ्यूचर ऑफ इण्डिया, पृ 203
67. देखिये ट्रिब्यून, जनवरी 31, 1965
68 आत्मकथा, पृ. 22-41
69. वही, पृ 44
70. लाला लाजपतराय : दी मैन इन हिज वर्ड, पृ 1-38
71. दी आर्यसमाज, पृ. 253
72 आईडियल्स ऑफ नॉन-कोऑपरेशन एण्ड अदर एसेज, पृ. 69
73. लाजपतराय द्वारा दिसम्बर, 1922 में देशबन्धु चितरंजनदास को लिखा पत्र देखिए दी पीपुल, अप्रैल 13, 1929, जिन्ना ने लाजपतराय के उक्त पत्र को मुस्लिम लीग के 1940 के लाहौर अधिवेशन में पढ़कर अपने कांग्रेस विरोधी रवैये का आधार बताया देखिए वी. वी. नागरकर, जेनेसिस ऑफ पाकिस्तान (अलाइड पब्लिशर्स, बम्बई 1975) पृ 490
74 देखिये वी. वी नागरकर, पृ 160
75 दी ट्रिब्यून, नवम्बर 28, 1924
76. वही, दिसम्बर 9, 1923
77 वही, नवम्बर 30, 1924 से दिसम्बर 13, 1924
78 वही, दिसम्बर 14, 1924
79. वही चौधरी खलीकुज्जमा के अनुसार लाजपतराय द्वारा सुझाये गए मुस्लिम राज्यों की योजना में बलूचिस्तान का नाम चौधरी रहमत अली के द्वारा जोड़ दिया गया और नवम्बर-दिसम्बर 1930 में प्रथम गोलमेज सम्मेलन में आये मुस्लिम नेताओं से रहमत अली ने लन्दन में मिलकर भारत के विभाजन की योजना प्रस्तुत की तथा पाकिस्तान का नामकरण किया। देखिए पाथवे टु पाकिस्तान (लांगमैन्स, लाहौर, 1961) पृ 228
80 देखिए इन्द्र प्रकाश, हिन्दू महासभा : इट्स कॉन्ट्रीब्यूशन टु इण्डियाज पोलिटिक्स, पृ 27-28 तथा 36। प्रभा दीक्षित, कम्यूनलिज्म—ए स्ट्रगल फॉर पावर, (ओरियेन्ट लोंगमैन, नई दिल्ली, 1974) पृ. 161
81 दी पीपुल, नवम्बर 1, 1928
82 वही
83 आइडियल्स ऑफ नॉन कोऑपरेशन एण्ड अदर एसेज, पृ. 98
84. वही, पृ. 94
85. वही, पृ. 115 तथा 117
86. देखिए वी. सी. रामामूर्ति, "नेशनलिज्म एण्ड सेक्युलरिज्म इन कन्टेम्पोरेरी इण्डिया" [illegible], जनवरी-मार्च, 1968, पृ 33-37
87. देखिये आमुख, यंग इण्डिया (लाहौर संस्करण, 1927) पृ 2
88 देखिये जे. एस. ग्रेवाल, "लाजपतराय एण्ड रोल ऑफ हिन्दू आइडियाज", पंजाब युनिवर्सिटी, चण्डीगढ़ सेमिनार, नवम्बर 17-19, 1972 (मिमियोग्राफ)

89. रोमाँ रोलाँ, गान्धे, (एल्बिन मिशेल, पेरिस, 1960) पृ 106
90. चार्ल्स हीमसाथ, इण्डियन नेशनलिज्म एण्ड हिन्दू सोशियल रिफार्म, (प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1964) पृ 309
91. डॉ. जाकिर हुसैन, अनुवाद, दी प्रोब्लम ऑफ नेशनल एजूकेशन इन इण्डिया (भारतीय संस्करण) पृ. 11
92. देखिये लिन्क, जनवरी 31, 1965
93. एच एन. ब्रैल्सफोर्ड, सब्जेक्ट इण्डिया, (वोरा एण्ड को., बम्बई, 1946) पृ 24
94. दी ट्रिब्यून, दिसम्बर 14, 1927
95. देखिये आमुख, डेनियल आर्गोव, मोडरेट्स एण्ड एक्स्ट्रीमिस्ट्स इन दी इण्डियन नेशनलिस्ट मूवमेन्ट, (एशिया, बम्बई, 1967) पृ. 8
96. फिरोज चन्द "दन लाजपतराय इण्डिया सॉन्ट हर विजन" सर्वेन्ट्स ऑफ दी पीपुल सोसाइटी, गोल्डन जुबिली सुवेनर, दिसम्बर, 1972 (लाजपत भवन, नई दिल्ली) पृ 29-34
97. लाजपतराय, अनहैप्पी इण्डिया, (बन्ना पब्लिशिंग को., कलकत्ता, 1928)
98 दी पीपुल, दिसम्बर 5, 1929
99. सुभाषचन्द्र बोस, दी इण्डियन स्ट्रगल, खण्ड II, (थैकर, स्पिंक एण्ड को., कलकत्ता, 1948) पृ 91
100. यंग इण्डिया, नवम्बर 22, 1928

अध्याय 15

विपिनचन्द्र पाल (1858-1932)

विपिनचन्द्र पाल का जन्म 7 नवम्बर 1858 को सिलहट जिले के एक गांव मे हुआ। उनका वयस्क जीवन कटक के एक स्कूल म प्रधानाध्यापक के रूप मे प्रारम्भ हुआ। वे सिलहट म रहने लगे और वहां एक हाई स्कूल की स्थापना की। वहीं उन्होंने पत्रकारिता का कार्य भी 1880 में प्रारम्भ किया। वे बंगाली साप्ताहिक परिदर्शक के सम्पादक रहे। कुछ समय बंगलोर मे हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक रह कर वे पुन कलकत्ता लौटे और वहां नगर पुस्तकालय के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। उन्होंने ट्रिब्यून, न्यू इण्डिया, वन्देमातरम्, स्वराज, हिन्दू रिव्यू का भी सम्पादन किया। वे इन्डिपेन्डेन्ट, डिमोक्रेट तथा बंगाली के भी सम्पादक रहे। देश की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख छपते रहे। वे एक ओजस्वी वक्ता तथा राष्ट्रवाद के उग्र उन्नायक थे। भारत के पुनर्जागरण में उनका अनुपम योगदान रहा। वे देश के एक कोने से दूसरे कोने तक तथा इंग्लैण्ड मे भी भारत की स्वतन्त्रता के लिए जागृति उत्पन्न करने का समय समय पर प्रयास करते रहे। उनके ओजस्वी भाषणों की प्रशंसा श्रीनिवास शास्त्री ने मुक्त कण्ठ से की है।[1]

पाल का पारिवारिक जीवन अनेक संघर्षों की कहानी है। बाल्यकाल में उनके पिता ने उन पर पूर्ण अनुशासन रखा। जब वे कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कालेज मे शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, उनके विचारों का विद्रोही स्वर प्रकट हुआ। वे अपने पिता की इच्छा के विपरीत ब्रह्मसमाज के सदस्य बन गये। उनके पिता इस अवज्ञा से इतने क्रुद्ध हुए कि उन्होंने पाल को न केवल अध्ययन के लिए धन भेजना ही बन्द किया अपितु उन्हें अपनी वसीयत से भी वंचित कर दिया। समाज ने उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया। इन विपरीत परिस्थितियों म पाल को अपना अध्ययन त्याग देना पड़ा। पाल को ब्रह्मसमाज की ओर आकृष्ट करने वाले व्यक्ति शिवनाथ शास्त्री थे। उनकी सहायता से ही पाल को बंगलोर मे प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया था। शिवनाथ शास्त्री ने उनका परिचय एक बाल-विधवा से करवाया और बाद म पाल ने उनसे विवाह कर लिया। पाल का यह विवाह उनके पिता को इतना खला कि पाल ने बम्बई के प्रार्थना समाज में जाकर विवाह की रस्म पूरी करवायी। किन्तु भाग्य पुन पलटा और 1882 मे उनके पिता ने अपनी मृत्यु-शैया पर अपनी वसीयत मे पुन सम्पत्ति का समस्त उत्तराधिकार पाल को सौंप दिया।[2]

कांग्रेस के मद्रास-अधिवेशन (1886) मे पहलीबार पाल सम्मिलित हुए और सरकार के शस्त्र-अधिनियम के विरोध मे विचार प्रस्तुत किये। प्रारम्भ में पाल भी उदारवादियों के समान ब्रिटिश शासन के प्रशंसक थे किन्तु लाला लाजपतराय एवं बाल

गंगाधर तिलक के साथ मिलकर लाल-बाल-पाल का राष्ट्रवादी स्वर मुखरित होने लगा। 1907 की सूरत फूट ने पाल को कांग्रेस छोड़ने के लिए विवश किया। 1916 में वे पुनः तिलक आदि के साथ कांग्रेस में सम्मिलित हुए। वे होमरूल आन्दोलन में सम्मिलित हुए और होमरूल लीग के प्रतिनिधिमण्डल के साथ इंग्लैण्ड जाकर मॉंटेग-चेम्सफर्ड सुधार सम्बन्धी संसदीय समिति के समक्ष उपस्थित हुए।

पाल के विचारों की उग्रता स्वदेशी आन्दोलन के दिनों में उद्भासित हुई। 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में तथा 1907 में मद्रास में दिये गये उनके भाषणों ने भारत की अंग्रेजी सरकार को सशंकित कर दिया। वे भारत में पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थापना चाहते थे। निष्क्रिय प्रतिरोध के माध्यम से स्वराज प्राप्ति का उनका विचार शासन द्वारा उत्तेजनाजनक माना गया। जब 1907 में अलीपुर बम-काण्ड के सम्बन्ध में श्रीअरविन्द की गिरफ्तारी हुई तो पाल को साक्ष्य के लिए अदालत द्वारा आमन्त्रित किया गया। पाल ने अन्तःकरण की प्रेरणा के कारण साथ देने से मना कर दिया। उन्हें अदालत की मानहानि के आरोप में छः महीने का कारावास दिया गया। वे कलकत्ता एवं बक्सर जेल में रहे।[3] किन्तु वे हिंसात्मक आन्दोलन के पक्ष में नहीं थे। भारत सरकार ने उन्हें देश से निर्वासित करने का प्रयास भी किया। लार्ड मिन्टो ने सारे प्रयत्न कर लिये किन्तु वे कानूनी तौर पर ऐसा करने में असफल रहे। पाल ने राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए स्वयं भारत से बाहर रहना ही उचित समझा और वे 1908 से 1911 तक इंग्लैण्ड में ही रहे और वहाँ से स्वराज पाक्षिक प्रकाशित करते रहे। इंग्लैण्ड में रहते हुए पाल के विचारों में परिवर्तन आया और वे राष्ट्रवाद से अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर झुके। वे एक ब्रिटिश साम्राज्यीय संघ की स्थापना तथा उसमें भारत को अन्य उपनिवेशों के समान सम्मानपूर्ण सदस्यता दिलाने का प्रचार करने लगे। भारत की पूर्ण स्वाधीनता के स्थान पर उसकी अधिशासी गणराज्य की स्थिति उन्हें अधिक युक्तिसंगत दिखाई दी। वे ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के विचार के अग्रदूत थे।

भारत लौटने पर पाल ने भारत में सघात्मक सरकार की वास्तविक स्थापना एवं संघात्मक राष्ट्र के विचार पर जोर दिया।[4] वे सर्व-इस्लामवाद को भारत की राष्ट्रीयता का शत्रु मानते थे। वे 1916 से 1920 तक तिलक के साथ मिलकर कांग्रेस के कार्य में लगे रहे। किन्तु तिलक की मृत्यु के पश्चात् गांधीजी के नेतृत्व को पाल ने स्वीकार नहीं किया। वे गांधीजी के धर्म एवं राजनीति के समन्वयवादी विचारों के आलोचक थे। इसी कारण से गांधीजी के द्वारा चलाये गये बहिष्कार एवं असहयोग-आन्दोलन को पाल का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। वे धारासभाओं के बहिष्कार की नीति को प्रगति के लिए घातक मानते थे। गांधीजी के कार्यक्रम का विरोध करने के कारण उन्हें देश की राजनीति से दूर होना पड़ा। वे बाद के दिनों में भारत की व्यवस्थापिकासभा के सदस्य भी रहे। डा० विधान चन्द्र रॉय के अनुसार पाल के जीवन के अन्तिम दिनों की त्रासदी उनके ही जीवन की नियति नहीं अपितु सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वालों की विश्व-व्यापी नियति रही है। पाल ने सत्य, ईश्वर तथा देश के लिए अनेक कष्ट सहे। जीवन के अन्तिम दिनों में भी अपने इष्ट मित्रों एवं सम्बन्धियों से अपनी दृढ़ निष्ठाओं के कारण अलग रह कर भी उन्होंने शानदार जीवन भोगा।[5]

जीवन के उत्तरार्द्ध मे पाल सनातन धर्मी बन गये। वैष्णव सम्प्रदाय मे उनका मन रम गया। वे चैतन्य महाप्रभु तथा वैष्णव सम्प्रदाय की भक्ति परम्परा के प्रशंसक बन गये। भगवान श्री कृष्ण के दिव्य जीवन ने उन्हे अत्यधिक प्रभावित किया। लाजपतराय तथा तिलक की भांति ही श्री कृष्ण पर उनका ग्रन्थ हिन्दू-धर्म-दर्शन को अनुपम देन है। उनके द्वारा लिखित दी सोल आफ इण्डिया तथा दी स्टडि ऑफ हिन्दुइज्म भारत की आध्यात्मिक धरोहर एवं हिन्दू-धर्म की गौरव-गाथा के प्रमाण हैं। राष्ट्रवाद पर उनके विचार इसी आध्यात्मिक प्रेरणा से अनुप्राणित हैं। उनकी दी स्पिरिट ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म एवं नेशनलिटि एण्ड एम्पायर भारत की राष्ट्रीय विचारधारा को जन-जन तक सम्प्रेषित करने वाली पुस्तकें हैं। लार्ड रोनाल्डशे ने दी हार्ट ऑफ आर्यावर्त मे पाल के सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अरविन्द घोष ने पाल को "राष्ट्रवाद का सशक्त अग्रदूत" कहा। सर वैलेन्टीन शिरोल ने इण्डियन अनरेस्ट मे पाल के मद्रास-भाषणों को सविस्तार उद्धृत कर उन्हें उच्च भारतीय राजनीतिक चिन्तन का अत्यधिक साधिकृत कार्यक्रम बतलाया।[6]

बिपिन चन्द्र पाल के राजनीतिक विचार

अपने अन्य उग्रवादी समूह के विचारकों के समान ही बिपिन चन्द्र पाल प्रारम्भ मे उदारवादी एवं ब्रिटिश शासन के प्रशंसक के रूप मे कांग्रेस मे सम्मिलित हुए।[7] 1887 के कांग्रेस के मद्रास-अधिवेशन मे उन्होंने "शस्त्र अधिनियम" के विरोध मे भाषण दिया था।[8] उन्हें इस बात से प्रसन्नता हुई थी कि अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत कांग्रेस के संगठन के माध्यम से मराठा, पंजाबी, पठान, पारसी, बंगाली, मद्रासी एक ही मंच पर एकत्रित हो प्रसन्नता एवं सौहार्द्रपूर्ण वातावरण मे विचार विनिमय कर रहे थे।[9] अंग्रेजी शासन भारत मे विधाता की अनुपम देन के रूप मे उभरा था और पाल इसके लिए ईश्वर के प्रति आभार व्यक्त करने से नहीं हिचकिचाये। वे अंग्रेजी शासन को भारत की मुक्ति का कारण मानते थे। उन्होंने अपने आपको ब्रिटिश शासन का वफादार घोषित किया क्योंकि उनकी दृष्टि मे ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार होने का अर्थ था भारत तथा भारत की जनता के प्रति वफादार होना। वे अपनी वफादारी इस कारण से भी प्रकट कर रहे थे कि वे ब्रिटिश शासन को स्वराज का पर्यायवाची मानते थे।[10] अपने भाषण मे उन्होंने यह भी व्यक्त किया कि वे उग्रविचारवादी एवं लोकतन्त्रनिष्ठ होकर भी ब्रिटिश शासन के प्रशंसक थे।[11] उन्हे इसमे कोई विरोधाभास नहीं प्रतीत होता था। इन्हीं विचारों से वे शस्त्र-अधिनियम का विरोध कर रहे थे। उनकी यह मान्यता थी कि शासन द्वारा शस्त्र-अधिनियम को यथावत् बनाये रखना उचित नहीं था। वे चाहते थे कि शासन इस विषय को प्रतिष्ठा का प्रश्न न बनाये। शासन की प्रतिष्ठा इसमें है कि वह जनता को प्रसन्न रखे। इसके विपरीत कार्य शासन की निर्बलता ही परिलक्षित करेंगे। अपने वक्तव्य के समर्थन मे उनके द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि यदि हैदराबाद का निजाम ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए साठ लाख रुपयों के स्थान पर साठ करोड़ भी देने को तैयार हो और शासन चाहे कितना भी प्रचार भारत की जनता की वफादारी दर्शाने को क्यों न करे जनता का निःशस्त्र रहना शासन के प्रति सन्देह की वृद्धि ही करेगा।[12]

1907 के अपने मद्रास-भाषण मे बिपिनचन्द्र पाल ने ब्रिटिश शासन की भर्त्सना

करते हुए व्यक्त किया कि उनका ब्रिटिश शासन में विश्वास समाप्त हो चुका है। उनका यह उद्गार उनके 1887 के कांग्रेस भाषण से पूर्णतया विपरीत था। उनका ब्रिटिश राष्ट्र, लॉर्ड रिपन तथा लॉर्ड मैकाले सम्बन्धी प्रशंसात्मक दृष्टिकोण बदल चुका था।[13] वे यह मानने लगे थे कि बदलते हुए घटनाचक्र ने उनकी मान्यताओं को भी परिवर्तित कर दिया था। शस्त्र-विहीन भारत अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्ष कैसे कर सकता था। जनता इससे परेशान थी किन्तु ब्रिटिश नौकरशाही इस की आड़ में अपने आपको सुरक्षित समझती थी इसी कारण से शासन ने शस्त्र-अधिनियम को भंग करने से मना कर दिया था। भारतीयों की असहाय स्थिति ने पाल को ब्रिटिश शासन का विरोधी बना दिया था।[14] वे यह मानने लगे कि भारत में ब्रिटिश शासन ईश्वरीय वरदान न होकर जनता का शोषक है। शस्त्र-अधिनियम ने भारतीय जनता के प्रति अविश्वास प्रकट किया अतः ब्रिटिश शासन के प्रति वफादारी दिखाने का भारतीयों का रवैया व्यर्थ सिद्ध हुआ। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति भक्ति के भी विरोधी थे।[15]

वे अंग्रेजी राज्य के परोपकारी पक्ष के समर्थक थे। किन्तु 1904 में बंगाल की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन के साथ ही उनके विचारों में परिवर्तन आ गया और वे लगभग आन्दोलन के पथप्रदर्शक उग्रवादी विचारक बन गये। 1908 तक उनकी लेखनी से जो साहित्य निसृत हुआ उसे बंगाल के नवराष्ट्रवाद का प्रेरक साहित्य माना जाता है। इसी समय वे तिलक व लाजपत राय के सम्पर्क में भी आये तथा इन तीनों महान् नेताओं ने मिलकर लाल, पाल, बाल की त्रिमूर्ति के रूप में भारतीय जनता का हृदय जीत लिया। किन्तु 1908 के बाद उनके विचारों में पुनः उतार आया तथा वे "साम्राज्यीय संघ"[16] (इम्पीरियल फेडरेशन) के विचार को आगे बढ़ाने में लग गये। इसी कारण से 1912 के बाद में जनता ने उन्हें विस्मृत सा कर दिया।

बंगाल-विभाजन के समय पाल के प्रकाशित लेखों एवं ग्रन्थों से उनके राजनीतिक विचारों को समझने में सहायता मिलती है। अपने उग्रवादी विचारों में पाल ने उदारवादियों को राजनीतिक उच्छृंखलतावादियों की संज्ञा दी। वे स्वराज्य, स्वदेशी, बहिष्कार व राष्ट्रीय शिक्षा के कार्यक्रम को आगे बढ़ा रहे थे। पाल, तिलक व लाला लाजपतराय दोनों से स्वराज्य की माँग में एक कदम आगे थे। वे पूर्ण स्वराज्य की माँग के समर्थक थे। अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए पाल ने बताया कि स्वराज्य की धारणा का आध्यात्मिक स्वरूप है। यह वेदांत की उस धारणा पर निर्भर है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने आपको सार्वभौमिक सत्ता के साथ एकाकार करने की लालसा व्यक्त करता है। वे स्वराज्य की धारणा को केवल बन्धनों से मुक्ति का साधन ही नहीं मानते थे किन्तु विश्व की अन्य वस्तुओं के साथ तादात्म्य स्थापित करने वाली धारणा मानते थे। उन्होंने संस्कृत शब्द स्वराज्य तथा अंग्रेजी के शब्द स्वतन्त्रता (फ्रीडम) के मध्य अन्तर बतलाते हुए यह स्पष्ट किया कि पहला शब्द सकारात्मकता का बोधक था और दूसरा शब्द नकारात्मकता का। वे स्वराज्य की धारणा को निर्बाध स्वतन्त्रता के रूप में नहीं देखते थे। वे स्वराज्य को स्वयं पर शासन के रूप में मानते थे जिसमें व्यक्ति स्वयं को स्वयं के नियन्त्रण में रख सके। वे स्वराज्य को आत्मशासन का ही रूप मानते थे जिसके अन्तर्गत आत्मन् को परमात्मन् का अंग माना गया था। यह एक ऐसी शासन की विधि थी जिसमें व्यक्ति

सार्वभौमिक सत्ता के नियन्त्रण में रहता है। वे इस धारणा को भारतीय संस्कृति के विकास का प्रतिफल मानते थे। इस प्रकार पाल ने स्वराज्य की धारणा पाश्चात्य विचारों पर आधारित न कर भारतीय मौलिक चिंतन पर अवस्थित की। उनके स्वदेशी सम्बन्धी विचारों में स्वदेशी तथा बहिष्कार दोनों समाविष्ट हो गये थे। वे बहिष्कार को केवल विदेशी वस्तुओं के त्याग तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे। वे बहिष्कार को विदेशी निरंकुशवाद के प्रति पूर्ण असहयोग की नीति मानते थे।[17] उनका असहयोग का मार्ग हिंसक नीति पर आधारित नहीं था। उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध का मार्ग अपनाया जो कि रचनात्मक प्रतिरोध के रूप में स्पष्ट किया गया। उनका कहना था कि हम कानून के अन्तर्गत रहकर ही कार्य करें तथा कानून का सम्मान करें। जब तक शासन द्वारा हमारे अधिकारों पर हाथ न डाला जाये तब तक हम शान्त रहना है। यदि अंग्रेजी शासन भारतीयों के जीवन, उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व सम्पत्ति को हानि पहुँचाने पर उद्यत हो तो ऐसी स्थिति में निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति से भिन्न मार्ग भी अपनाया जा सकता है।

बिपिन चन्द्र पाल का राजनीतिक विचारों व दृष्टिकोण में योगदान उनके राष्ट्र सम्बन्धी चिन्तन से आंका जाता है। उनके विचारों में राष्ट्रवाद की धारणा केवल राजनीतिक ही नहीं थी किन्तु धर्म-निरपेक्ष भी थी। वे राष्ट्र की धारणा को पवित्र तथा धर्म-निरपेक्ष दोनों ही मानते थे। इस सन्दर्भ में उनके विचार महत्वपूर्ण हैं। उनका यह कहना था कि पवित्र तथा धर्म-निरपेक्ष दोनों ही तत्व मिले हुए होते हैं। उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। धर्म राजनीति में विलीन हो जाता है। राजनीति नागरिकता में तथा धर्म निरपेक्षता पवित्रता में विलीन हो जाती है।[18] इस प्रकार के तालमेल से उन शाश्वत नियमों की विवेकपूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है जो व्यक्ति को उन्नति के पथ पर अग्रसर करते हैं। वे भगवान श्री कृष्ण[19] को ब्रह्म एवं परमात्मा दोनों के गुणों से युक्त निरपेक्ष तत्व, भारत की आत्मा[20] के प्रतीक एवं आध्यात्मिक सांस्कृतिक तत्वों से युक्त भारतीय संघ के अधिष्ठाता मानते हैं। श्रीकृष्ण का दिव्य चरित्र पाल के लिए राजनीति के अध्यात्मीकरण का प्रेरक प्रसंग है। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा था कि भारत की स्वतन्त्रता का आन्दोलन एक आध्यात्मिक आन्दोलन है। इसका दर्शन महानतत्व की अभिव्यक्ति है जिसमें व्यक्ति के सामाजिक एवं नागरिक जीवन का प्रस्फुटन हुआ है। राष्ट्र भौगोलिक एकता या जातीय परम्परा पर आधारित नहीं है। राष्ट्र एक आध्यात्मिक भावना है। उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता के लिए भारत-माता की अर्चना को एक नवीन शक्ति का उद्बोधक माना। इसी प्रकार से उन्होंने नव वेदान्तवाद को भारतीय चिन्तन में नवीन भावना का संचार करने का प्रेरक तत्व माना। वे राष्ट्र को केवल विचार के रूप में ही नहीं मानते थे। राष्ट्र ऐतिहासिक एकता जनित सिद्धान्त एवं प्रयोग दोनों ही था। उनकी राष्ट्रवादी धारणा नकारात्मक नहीं थी क्योंकि वे राष्ट्रवाद के साथ साथ अन्तर्राष्ट्रवाद के भी समर्थक थे। राष्ट्रवाद से ही अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर प्रवृत्त हुआ जा सकता है ऐसा उनका विचार था। वे राष्ट्रीय विचार धारा एवं देशभक्ति के नवीन आदर्श को सार्वभौमिक मानवता से सम्बद्ध मानते हुए उसे विष्णु अथवा नारायण की जगत्स्थिता स्थिति का प्रतीक मानते थे।[21]

इसी आधार का पाल ने यह व्यक्त किया कि राजनीतिक सुधारों की मांग के साथ धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों की भी आवश्यकता है। भारत का उदाहरण देते हुए उन्होंने यह प्रकट किया कि जहां धर्म भेद-भाव सिखाता हो, ऊंच-नीच को बढ़ावा देता हो वहां राजनीतिक सुधारों की स्वीकृति अथवा स्वशासित संस्थाओं की स्थापना खतरे में पड़ सकती है। वे मद्रास में पेरियाओं के साथ किये गये दुर्व्यवहार को दर्शाते हुए यह सिद्ध कर रहे थे कि भारत में जब तक छुआछूत, जातिभेद, धर्मान्धता समाप्त नहीं हो जाती और जब तक नवीन धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण विकसित नहीं होता तब तक राजनीतिक सुधारों का कानून लागू कर भी दिया जाय, तब भी वे सफल नहीं हो सकते। इसका यह अर्थ नहीं था कि पाल राजनीतिक सुधारों को सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों का अनुगामी बनाना चाहते थे। उनका दृष्टिकोण जीवन के सभी विभागों में समान एवं सर्वव्यापी विकास को प्राप्त करने का था। राजनीतिक सुधार एवं धार्मिक सुधार साथ साथ होने चाहिए ताकि दोनों की प्रगति, दोनों का सामंजस्य जनहित में प्रयुक्त किया जा सके। पाल ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भी इन्हीं आधारों पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया। वे चाहते थे कि कांग्रेस द्वारा जातिवाद, पुरोहित-वाद तथा सामाजिक सत्ता के कठिन बंधनों के विरुद्ध कार्य किया जाना चाहिए। कांग्रेस को धर्म, समाज तथा राजनीति—तीनों का ही परिष्कार करना है। वे शान्ति द्वारा सामाजिक तथा राजनीतिक सुधारों के पक्षपाती नहीं थे। उनका दृष्टिकोण मध्यम मार्ग अपनाने का था ताकि समस्त समाज को तथा भारतीयों के आन्तरिक जीवन को अधिकार एवं कर्तव्यों के प्रति जागृत किया जा सके। नव-संगठित सामाजिक जीवन में ही भारत की भावी प्रगति संभव है। राजनीतिक प्रगति एवं राजनीतिक सुधारों की मांग तथा उनकी उपलब्धियां उन्हीं समस्याओं के समाधान में अन्तर्निहित है।[26]

विपिन चन्द्र पाल के राजनीतिक विचारों में उनके द्वारा की गई राष्ट्र की व्याख्या महत्वपूर्ण है। 1904 में पाल ने राष्ट्र की तुलना गृह-निर्माण से की। जिस प्रकार गृह-निर्माण में सही योजना की आवश्यकता होती है उसी प्रकार से राष्ट्र-निर्माण का कार्य भी योजनाबद्ध तरीके से किया जा सकता है। वे राष्ट्र को आंगिक इकाई मानते थे। राष्ट्र की संरचना में भूतकालिक इतिहास तथा वर्तमान जीवन की वास्तविकता परिलक्षित होती है। राष्ट्र की ईश्वरीय योजना को विचारों तथा संस्थाओं के माध्यम से पूर्ण करना देशभक्ति का सर्वोच्च कार्य है।[27] वे एक ऐसे भारत राष्ट्र की कल्पना कर रहे थे जो आधुनिक मानवता रूपी महासंघ में समानता का स्तर प्राप्त कर सके। भारत का इतिहास उनकी दृष्टि में भारतीयों के साथ ईश्वर का साक्षात्कार था। भारत की राष्ट्रीयता को वे इसी आध्यात्मिक प्रेरणा पर आधारित करना चाहते थे। पुनर्जागरणवाद से ही सब कुछ प्राप्त नहीं हो सकता था। हमें अपने अतीत के प्राचीन एवं मध्ययुगीन जीवन से बहुत कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता थी। आधुनिक भारत में राष्ट्र-निर्माण का कार्य केवल प्राचीन भारतीय परम्पराओं एवं संस्कृति के अनुरूप ही नहीं होना चाहिए बल्कि नवीन परिस्थितियों में नवीन आदर्शों को अपनाना भी आवश्यक है। हमें भूत एवं भविष्य दोनों को वर्तमान से जोड़ना है ताकि भारत राष्ट्र को यथार्थ के धरातल पर अवस्थित किया जा सके।[28]

पाल ने आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया कि आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य स्थापित करना भारत की विशेषता रही है। केवल आत्मा तक सीमित रहने में सकीर्णता बढ़ती है। नवीन भारतीय राष्ट्र का निर्माण आत्मा, प्रकृति तथा समाज के सन्दर्भ मे निर्धारित किया जाय। आत्मा की सर्वोच्चता सदैव मान्य होनी चाहिए अन्यथा आर्थिक गतिविधियो का प्रसार, समाज का पुनर्निर्माण तथा नागरिकता के गुणो मे अभिवृद्धि सभी कुछ शिथिल हो सकती है।[29] नवीन आधुनिक राज्य की स्थापना मे हमारा जातीय गौरव एव उसके प्रति चेतना हमेशा विद्यमान रहनी चाहिए। आर्थिक उन्नति एव राजनीतिक जागरण दोनों म साम्य आवश्यक है। ये दोनो न्यूनाधिक रूप मे विद्यमान रहे किन्तु इन्हे साध्य न मान लिया जाय। आत्मा के प्रति चेतना हमारे इतिहास का महत्त्वपूर्ण अध्याय रहा है। इसे भुला देना अपने भाग्य को विस्मृत कर देने के समान होगा। भारतीय राष्ट्र का आधार हमारी आध्यात्मिक चेतना ही है।[30] इसके साथ-साथ यह भी ध्यान रखना है कि भारत मे पाच महत्त्वपूर्ण विश्व-संस्कृतियो का सगम हुआ है। इन संस्कृतियो की विशिष्टताओ को बनाये रखना आवश्यक है। हमारी राष्ट्रीय एकता का यह अभिप्राय नहीं कि हम विविधताओ को एकता के नाम पर बलि कर दें। विविधता मे एकता विद्यमान रहनी चाहिए। हिन्दू, पारसी, बौद्ध, मुस्लिम तथा ईसाई संस्कृतियां को राष्ट्रीय-चेतना एव राष्ट्र के विकास मे प्रयुक्त करना है। विभिन्न संस्कृतियों म वैमनस्य उत्पन्न होने के स्थान पर सामञ्जस्य होना चाहिए। प्रत्येक सभ्यता मानव-मस्तिष्क की उपज है। मानव मात्र मे एकता एव समानता को स्वीकार कर लेने पर विभिन्न संस्कृतियो मे अन्तर्निहित एकता के दर्शन हो सकते हैं। भारत राष्ट्र की आधारशिला इसी पर आधारित होनी चाहिए। पारस्परिक सहयोग से ही यह सम्भव है। भारत मे बसने वाली विभिन्न प्रजातियां का व्यवहार-वैभिन्य मार्ग-अवरोधक न बने इसके लिए आवश्यक है कि उन्हे सहयोग एव सगठन के माध्यम से पृथकत्व की भावना से दूर रखा जाय। समान आर्थिक एव राजनीतिक जीवन म उन्हे सहभागी बनाया जाय। तभी एक शक्तिशाली, सगठित तथा महान् भारत-राष्ट्र का निर्माण सम्भव है।[31]

पाल ने राष्ट्र-निर्माण में भौतिक तत्त्वो की आवश्यकता पर भी बल दिया। जिस प्रकार से व्यक्तिगत जीवन म शारीरिक स्वास्थ्य एव शक्ति का महत्त्व है उसी प्रकार से राष्ट्रीय जीवन मे भी शक्ति-सचार होना चाहिए। विदेशियों ने भारत की बौद्धिक क्षमता की उच्चता को स्वीकार किया है किन्तु वे हमारी शारीरिक क्षमता तथा हमारे नैतिक गुणों की उच्चता को स्वीकार नहीं करते। हम अपने राष्ट्रीय जीवन म इन कमियो को दूर करना है। ऐसे शक्तिशाली व्यक्तियो का राष्ट्र हमे बनाना है जो अन्य के साथ तुलना में हेय नहीं कहे जायें। नवयुवको एव विद्यार्थियो मे प्राचीन ब्रह्मचर्याश्रम जैसा अनुशासन आवश्यक है ताकि उनके स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण हमारे राष्ट्र को ऊंचा उठा सके। जीवन में सादगी का पाठ सिखलाना भी आवश्यक है। पाश्चात्य संस्कृति की नकल करने से हमारा राष्ट्रीय पतन ही होगा। पाश्चात्य राष्ट्रो के आधुनिक विलासितापूर्ण जीवन का भारत में अनुकरण अनुचित है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारत में निवास करने वाले इतने सादगी का जीवन जीयें कि उनमे जिजीविषा ही न रहे।

अच्छा भोजन तथा रहन-सहन का उचित स्तर आवश्यक है ताकि जीवन सुखमय बना रहे।[32]

पाल ने भारत राष्ट्र की अवधारणा को भारतीय इतिहास की विरासत से संयुक्त करते हुए बतलाया कि हिन्दुओं का जीवन आध्यात्मिकता, सर्वभौमिकता एवं शाश्वतता की भावना से जुड़ा हुआ है। उनकी मान्यता थी कि हिन्दुओं का सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन सदैव (प्रागैतिहासिक काल से) सवैधानिक स्वतन्त्रता से अभिभूत रहा है। भारतीयों के विश्व-इतिहास पटल पर अवतरित होने के समय से हिन्दू-शासन-पद्धति, निरंकुश तन्त्र पर आधारित न होकर लोकतांत्रिक विचारों पर आधारित रही है। सवैधानिक राजतन्त्र भारत की विशिष्टता थी। व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका का कार्य पृथक्करण हमारी सवैधानिक स्वतन्त्रता का मूल आधार रहा था। राजा राज्य की कार्यपालिका का प्रमुख था। ब्रह्म सभा बृहत्तर परिषद् के माध्यम से व्यवस्थापिका की सत्ता का प्रतिनिधित्व करती थी। धार्मिक राज्य व्यवस्था के कारण राजा तथा समितियों में संघर्ष नहीं होता था। अन्य देशों में भी सवैधानिक स्वतन्त्रता का इसी प्रकार से विकास हुआ था। भारत में परतन्त्रता के लम्बे अन्धकार-युग में भी हिन्दुओं ने ग्राम-सभाओं एवं जातिगत सगठनों में इस सवैधानिक स्वतन्त्रता को सजीवित रखा था।[33]

पाल की धारणा थी कि हिन्दुओं का सामाजिक सगठन पितृसत्तात्मक होते हुए भी वैसा सर्वाधिकारवादी नहीं था जैसा कि अरबों तथा यहूदियों में था। सामाजिक सत्ता का प्रयोग एक व्यक्ति के हाथों में न होकर बृहत्-परिषद् को सौंपा जाता था। भारत में लोकतन्त्र का आधुनिक स्वरूप विकसित न होने का कारण भी यही था कि हमारे यहाँ व्यक्ति को महत्त्व न दिया जाकर परिवार को सामाजिक एवं नागरिक सगठनों का मूल आधार स्वीकार किया गया था। पाल ने इन्हीं दो तत्त्वों—सवैधानिक स्वतन्त्रता तथा आध्यात्मिक चेतना—को भारत राष्ट्र का मूलाधार माना। आध्यात्मिकता एवं स्वतन्त्रता में पहली आदर्श साध्य और दूसरी अनिवार्य पथ की द्योतक है।[34]

पाल ने भारत-राष्ट्र को न तो हिन्दू-राष्ट्र माना था और न मुस्लिम राष्ट्र। वे भारत को हिन्दुओं तथा मुसलमानों का राष्ट्र भी नहीं मानते थे। और भी राष्ट्रीयताएँ भारत में निवास करती थी, अतः भारतीय राष्ट्र विभिन्न राष्ट्रीयताओं का समन्वित रूप था। हिन्दुओं तथा मुसलमानों में सघर्ष का कोई कारण नहीं होना चाहिए। दोनों को एक दूसरे की सांस्कृतिक महानता एवं सभ्यता को समझने का प्रयास करना चाहिए।[35] पाल ने हिन्दू-धर्म के योग एवं वैराग्य का उदाहरण इस्लाम की शिक्षाओं में भी देखा। उनका कहना था कि योग एवं समाधि जैसी आध्यात्मिक स्थितियां इस्लाम के संस्थापकों एवं फकीरों में अद्भुत रूप से विद्यमान थीं। वे हिन्दू-धर्म तथा इस्लाम को समान आध्यात्मिक धरातल पर देखते थे। इसी को वे दोनों सम्प्रदायों में परस्पर आदान-प्रदान का आधार बनाना चाहते थे।[36]

पाल ने भारत में इस्लाम के राजनीतिक योगदान पर प्रकाश डालते हुए यह व्यक्त किया कि भारत में राष्ट्रवाद का उदय पाश्चात्य प्रभाव के कारण न होकर मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के कारण हुआ। भारत को एकीकृत करने का कार्य मुगल-शासन के अन्तर्गत सम्पन्न हुआ। अंग्रेजों को इसका श्रेय नहीं दिया जा सकता। पाल के अनुसार

मुगल-साम्राज्य के अन्तर्गत भारतीयों को समान स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त था। हथियार रखने पर कोई मनाही नहीं थी। यदि कोई भेद-भाव अथवा मन-मुटाव था तो वह केवल धार्मिक स्तर तक ही सीमित था। राजनीतिक दृष्टि से मुगलों तथा हिन्दुओं में भेद-भाव नहीं किया गया। न्याय की समानता तथा विधि के सम्मुख समता जो कि राष्ट्रीयता के विकास का महत्त्वपूर्ण आधार है सर्व प्रथम मुगल-शासकों द्वारा प्रदान की गयी। इससे पहले हिन्दुओं में न्याय का आधार व्यक्तिगत प्रतिष्ठा एवं जाति को माना गया था। पाल यह बताने का प्रयत्न कर रहे थे कि भारत में राजनीतिक अधिकार की प्राप्ति मुगल-शासन के अन्तर्गत ही हुई थी। लोकतान्त्रिक लक्षणों का वास्तविक विकास तब तक नहीं हो सकता था जब तक जातिगत भेद-भाव बना हुआ था। वे मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन को भी इस्लाम के प्रभाव का उदात्त उदाहरण मानते थे।[37]

आधुनिक भारत में राष्ट्र-निर्माण का कार्य, पाल के अनुसार, विशिष्टता युक्त होगा। अन्य राष्ट्र प्रजातीय सगठनों के विकसित रूप हैं जब कि भारत में प्रजातीय सगठनों के स्थान पर पूर्णतया विकसित संस्कृतियों का समूह विद्यमान है। इन संस्कृतियों का अपना पूर्व इतिहास रहा है। इन्हें समान राजनीतिक चेतना के सूत्र में पिरो कर भारत राष्ट्र की स्थापना करनी होगी। संघात्मक आधार पर प्रत्येक राष्ट्रीयता के व्यक्तिगत गुणों को बनाये रखना होगा। भविष्य का भारत राष्ट्र किसी धर्म विशेष को मान्यता नहीं देगा। वह पूर्णतया धर्मनिरपेक्षता पर आधारित होना चाहिये। भावी राष्ट्र किसी एक सामाजिक कानून की मान्यता पर भी आधारित नहीं होगा। यह समझना निरर्थक है कि भावी भारत में अल्पसंख्यकों की स्थिति असुरक्षित होगी। भारत के विभिन्न धर्मावलम्बियों को समान सुरक्षा प्राप्त होगी ताकि वे अपने योगक्षेम का राष्ट्रहित में प्रयोग कर सकें।[38]

विपिनचन्द्र पाल के जीवन पर श्रीकृष्ण के दिव्यरूप की अमिट छाप थी। वे श्रीकृष्ण को उदारता एवं सामञ्जस्य का अग्रदूत मानते थे। उनकी धारणा थी कि श्रीकृष्ण का उल्लेख वेदों में भी अंगिरस ऋषि के शिष्य के रूप में मिलता है। श्रीकृष्ण के अनार्य युगपुरुष होते हुए भी आर्यों द्वारा अत्यन्त सम्मानप्रद स्थान उन्हें दिया गया है। इस प्रकार श्रीकृष्ण आर्यों तथा अनार्यों में समन्वय के महान् आधार माने जा सकते हैं। महाभारत में श्रीकृष्ण केवल पारिवारिक वैमनस्य के सन्दर्भ में ही नहीं अपितु एक प्रजातीय संघर्ष में प्रमुख भूमिका निभाते दिखाई पड़ते हैं। गीता उनके उच्चतम उपदेशों एवं समन्वयकारी विचारों का जीता जागता उदाहरण है। वर्तमान युग की प्रजातीय समन्वय की आवश्यकताओं को देखते हुए श्रीकृष्ण का जीवन और भी अधिक महत्त्व प्राप्त करता हुआ प्रतीत होता है। भारत को राष्ट्रीय जागरण एवं एकीकरण का सदेश गीता से प्राप्त हो रहा है।[39]

पाल ने हिन्दुओं की आध्यात्मिक प्रतिभा में मौलिक एकता को विशेष महत्त्व दिया। एकता की भावना समस्त विकासात्मक अतीत का आधार रही। कुछ दार्शनिकों ने एकता की भावना को इतना अधिक विस्तृत रूप प्रदान किया कि उसमें व्यक्ति का सामाजिक जीवन केवल माया दिखाई देने लगा। उन चिन्तकों ने वास्तविक जीवन के विवादों एवं वैमनस्य को दूर करने के लिए यह हल प्रस्तुत किया था। अन्य विचारकों ने इस एकता की भावना में विभिन्नता को अन्तिम सत्य का ही स्वरूप देखा और उसे ईश्वर लीला के

रूप में स्वीकार किया। दोनों ही परिस्थितियों में मानसिक एवं सामाजिक जीवन से सम्बन्धित संघर्षों, द्वन्द्वों एवं वैभिन्न्य को अन्तिम एकता के लक्ष्य से एकरस कर दिया गया था। पाल के अनुसार यह मौलिक एकता ही भारतीय हिन्दू-दर्शन का सार है। हिन्दू-दर्शन में अनेक द्रष्टव्य हैं किन्तु वास्तविकता एक ही है।[40] अनेक देवी-देवताओं के होते हुए भी एक ही सर्वोच्च ईश्वर को ही स्वीकार किया गया है। अनेक जातियों के होते हुए भी एक सामाजिक पूर्णता के विचार को माना गया है। विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों एवं प्रजातियों को हिन्दू-दर्शन उस सर्वोच्च एकता के विभिन्न रूप मानता है। हिन्दू-दर्शन समन्वयकारी है। पृथक्त्व तथा महूसत्यता दोनों से हिन्दू-दर्शन दूर रहा है। प्रत्येक वस्तु ईश्वरमय है। विशिष्ट एवं सार्वभौमिक में गूढ़ सम्बन्ध है।[41]

पाल ने मत्सीनी द्वारा दी गयी राष्ट्रीयता की परिभाषा का उल्लेख किया जिसमें राष्ट्रीयता को जनता की व्यक्तित्वता बताया गया। हिन्दू धर्म में अद्वैतवाद ने इसे जनता का व्यक्तित्व माना है। यूरोप में व्यक्तित्वता अधिकारों से जुड़ी हुई है जिसमें पृथकता एवं संघर्ष अवश्यभावी है। पाल के अनुसार फ्रांस की राज्यक्रान्ति के जनक इन व्यक्तित्वता की संकुचित सीमा से परिचित थे। इसी कारण से उन्होंने समानता एवं स्वतन्त्रता के आदर्शों के साथ-साथ भ्रातृत्व को सम्बद्ध किया, किन्तु उनकी स्वतन्त्रता तथा समानता के साथ भ्रातृत्व का तालमेल नहीं बैठ सका।[42] मत्सीनी ने भी इसी आधार पर फ्रांस की राज्य-क्रान्ति की आलोचना की। पाल के अनुसार मत्सीनी भी राष्ट्रवाद की उस उच्चता तक नहीं पहुंच पाये जो समानता एवं स्वतन्त्रता के पृथक्तावादी विष का शमन कर सके। यूरोप का राष्ट्रवादी दर्शन व्यक्तिवाद से प्रभावित है। इसकी परिणति विलियम मौरिस तथा नीत्शे के दार्शनिक अराजकतावाद में हुई है।[43] प्रेम की ईसाई भावना के स्थान पर देशभक्तिजन्य ईर्ष्या बढ़ती जाती है और मानवता तथा सभ्यता के नाम पर वृहत् मानव-परिवार में कमजोर तथा नवोदित सदस्य देशों को समाप्त किया जाता है।[44]

हिन्दू-संस्कृति ने यूरोप की व्यक्तित्वता से भिन्न मार्ग चुना है। हिन्दू-राष्ट्रीयता का आदर्श यूरोप से श्रेष्ठतर है। हिन्दू-संस्कृति व्यक्तित्वता को नियन्त्रित करती है। सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन में व्यक्तित्वता सबसे बड़ी बाधा है। यह मनुष्य को पेटू स्वार्थी एवं निष्क्रिय बनाती है। आर्थिक प्रतियोगिता, सहयोग की कमी तथा सम्पन्न व्यक्तियों का शासन व्यक्तिवाद जनित दोष है जिनसे हिन्दू-संस्कृति ने दूर रहने का आग्रह किया है। यूरोपवासी "पैगन" संस्कृति कह कर जिन यूनान तथा रोम सभ्यताओं की आलोचना करते थे वहां भी व्यक्ति को सामाजिक पूर्णता के अन्तर्गत माना गया था। समाज पूर्ण था और व्यक्ति उसका अंश। व्यक्ति को समाज से स्वतन्त्र व्यवहार करने का अधिकार नहीं था। किन्तु हिन्दू-संस्कृति एक चरण और आगे है। जहां यूनान तथा रोम की सभ्यताएं सामाजिक मान्यता को यथावत् सुरक्षित रखना चाहती थीं, वहां भारत की हिन्दू लोकनीति व्यक्ति की पूर्णता को महत्त्व देती थी।[45]

हिन्दू लोकनीति का आदर्श एक सर्वोच्च सामाजिक राज्य की स्थापना करने का है। यद्यपि व्यक्ति को सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण नियन्त्रण में रखा गया है फिर भी विश्व का किसी भी सामाजिक विचारधारा में चाहे वह प्राचीन काल से सम्बन्धित हो रही हो अथवा आधुनिक काल से, सर्वोच्च सामाजिक राज्य का ऐसा आदर्श कहीं नहीं

दिखाई देगा जैसा कि हिन्दू-विचारों में परिलक्षित होता है।[46] इस व्यवस्था में व्यक्ति को सामाजिक उत्तरदायित्वों से मुक्त होकर स्वतन्त्र जीवन जीने का अवसर प्राप्त है। प्रत्येक व्यक्ति जीवन में स्वयं अपने द्वारा निर्धारित नियम का अनुसरण करता हुआ नियन्त्रण से स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होता है। हिन्दुओं की आश्रम-व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए पाल ने यह बतलाया कि ब्रह्मचर्याश्रम से सन्यास की ओर बढ़ता हुआ जीवन इसी क्रम का साक्षी है। सन्यास की स्थिति में जाति, समाज तथा अन्य बन्धन नहीं रहते। यह समाजोपरि अवस्था है जिसका उदाहरण अन्यत्र मिलना कठिन है।[47]

पाल के अनुसार राष्ट्रीयता का वास्तविक अर्थ है मानवीय समुदाय की भावना न कि प्रजाति अथवा वंश विशेष का आग्रह। जिस प्रकार से परिवार व्यक्ति से, प्रजाति परिवार से, वंश प्रजाति से अधिक व्यापक है उसी प्रकार से राष्ट्र भी वंश से अधिक व्यापक है। सामाजिक विकास का मूल लक्ष्य मानवीय व्यक्तित्व को पूर्णता प्राप्त करवाना है। यह पूर्णता व्यक्तिगत पृथक्त्व में प्राप्त न होकर सामाजिक तादात्म्य से प्राप्त होती है। ये सामाजिक समुदाय मानवीय हितों की अभिवृद्धि करते हैं तथा व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठ कर चलना सिखाते हैं। व्यक्ति अपने आप तक सीमित रहने में पशुवत् है। उसका जैविक इकाई से अधिक महत्त्व नहीं। किन्तु परिवार के सदस्य के रूप में वह एक संगठित इकाई का भाग है। परिवार का सामूहिक स्वरूप जो व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करता है, व्यक्ति के विकास की आवश्यक शर्त है। पारस्परिक वैमनस्य और कलह भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारने में सहयोग देते हैं। राष्ट्र का जटिल संगठन व्यक्ति के विकास का एक और आयाम है। व्यक्ति उपर्युक्त समस्त संगठनात्मक निकायों से अनुभव प्राप्त करता हुआ अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने में समर्थ है।[48]

पाल ने स्वतन्त्रता को नकारात्मक अवधारणा के रूप में स्वीकार किया है। बन्धनों का अभाव ही स्वतन्त्रता का द्योतक है। यूरोप में स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता का तात्त्विक अन्तर स्पष्ट नहीं मिलता। बहुत कुछ व्यक्तिगत मान्यताओं पर निर्भर करता है। जैसे किसी के विचार दूसरे से मेल खाते हैं तो वह प्रगतिशील है और यदि दूसरा पहले के विचारों से सहमत न हो तो वह पहले वाले की दृष्टि में प्रतिक्रियावादी एवं रूढ़िवादी है। इसी प्रकार से यूरोप में स्वतन्त्रता का अर्थ भी व्यक्तिगत दृष्टिकोण से जोड़ दिया गया है। चूंकि कोई ऐसा विवेक का सर्वोच्च न्यायालय आज तक नहीं बना जो यह अन्तर स्थापित कर सके अतः पाशविक शक्ति ही इन बातों में निर्णायक सिद्ध हुई है। राष्ट्रों में परस्पर शान्ति एवं सहयोग तब तक सम्भव नहीं जब तक स्वतन्त्रता सम्बन्धी मान्यता में आमूलचूल परिवर्तन न हो जाय।[49] किन्तु यूरोप की विचारधारा के विपरीत हिन्दू विचारधारा में स्वतन्त्रता को सकारात्मक अर्थ में लिया गया है। हम इसे स्वाधीनता कह कर पुकारते हैं न कि अनाधीनता। इसका अर्थ है स्वयं का स्वयं पर नियन्त्रण, नियमन एवं अधीनस्थ। स्वाधीनता का उच्चादर्श है सार्वभौमिक तत्त्व की अधीनता। व्यक्ति का सार्वभौम के साथ एकाकार होना ही सच्ची स्वाधीनता है।[50]

पाल ने स्वराज के वास्तविक अर्थ पर भी प्रकाश डाला। वे स्वराज को, उपनिषदों की व्याख्या के अनुसार, सर्वोच्च आध्यात्मिक अवस्था मानते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में

यह बतलाया गया है कि आत्मा जब आत्मा को देखने और जानने लग जाय अर्थात् जब आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाय तभी स्वराज प्राप्त होता है। वेदों में वामदेव द्वारा स्वराज-प्राप्ति का ऐसा उदाहरण मिलता है जबकि वामदेव सार्वभौमिक तत्त्व से एकाकार हो कह उठता है—"मैं सूर्य हूं, मैं मनु था"।[51] देवत्व प्राप्त करने का यही मार्ग है। मानवत्व एवं देवत्व एक ही हैं। एकता हिन्दू-दर्शन का आधारभूत तत्त्व है। केवल हिन्दू-धर्म में मानवता एवं देवत्व को प्रकट करने में एक ही शब्द का प्रयोग मिलता है और वह शब्द है नारायण। नारायण मानवीय व्यक्तियों के अन्तराल में निवास करते हैं। नारायण मानवता के सामूहिक जीवन में भी निवसित हैं। वे समस्त सामाजिक एवं ऐतिहासिक आन्दोलनों के निदेशक हैं। भारत में नरनारायण का आदर्श सर्वोच्च माना गया है। नारायण समस्त मानवता का प्रतीक है। नारायण पूर्ण हैं, विभिन्न राष्ट्र उस पूर्णता के ही अंश हैं। नारायण या मानवता एक सावयव है, विभिन्न प्रजातियां, नस्ल तथा राष्ट्रीयताएं उस सावयव के अवयव हैं। इस प्रकार नारायण अथवा सार्वभौमिक मानवता प्रत्येक प्रजाति, नस्ल एवं राष्ट्र में व्याप्त है। जीवन नारायणमय है। पूर्ण सामाजिक पृथक्त्व अथवा दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ तथा स्वतन्त्र रहने का विचार नारायण के आत्म-दर्शन के विरुद्ध है। यही राष्ट्रवाद का दर्शन है जिसे उच्चतमहिन्दू-दर्शन द्वारा आत्मसात किया गया है।[52]

पाल ने सभ्यता की आरोही प्रक्रिया का वर्णन करते हुए व्यक्तिगत स्वार्थ के स्थान पर सर्वजनहिताय विचारक्रम को महत्त्व दिया है। परिवार, प्रजाति, समाज तथा राष्ट्र के संकीर्ण दायरे में बंधकर केवल अपने समुदाय विशेष का हित-संचय बर्बरता का प्रतीक एवं सच्चे राष्ट्रवाद का शत्रु है। राष्ट्रवाद का हनन सभ्यता का हनन है। मानवीय सम्बन्धों के वृहत्तर क्षेत्र के निर्माण की आवश्यकता पर बल देते हुए पाल ने राष्ट्र के विचार को सर्वोपरि रखा है। राष्ट्र संकुचित धारणा न होकर विश्व बन्धुत्व का प्रतीक है। राष्ट्रवाद ही सामाजिक विकास की सर्वोच्च परिणति नहीं। राष्ट्रवाद से अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर प्रवृत्ति बीसवीं शताब्दी की मांग है। कोई भी राष्ट्र इस अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर से विमुख नहीं रह सकता। वर्तमान युग के समस्त आर्थिक एवं राजनीतिक क्रियाकलापों में अन्तर्राष्ट्रवाद के चिह्न स्पष्ट रूप से परिलक्षित हैं। समाजवाद आज के अर्थशास्त्र का उन्नत विचार है और प्राच्य नहीं तो पाश्चात्य विश्व के भावी विकास का साधन। यूरोप में पूंजीवाद का विरोध करने वाला यह विचारवाद एक नवीन प्रकार का अन्तर्राष्ट्रवाद लायेगा।[53]

समाजवाद ही नहीं अपितु आधुनिक साम्राज्यवाद भी अन्तर्राष्ट्रीयता का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। नव-साम्राज्यवाद एकाधिकारवादी न होकर लोकतान्त्रिक है। कई छोटे सार्वभौम राज्यों का एक संगठन के अन्तर्गत गठित होकर स्व-शासन या अधिशासन बनाये रखना नव-साम्राज्यवाद का उदाहरण है। ब्रिटिश साम्राज्य इसी प्रकार के अन्त-र्राष्ट्रवाद का प्रतीक बन रहा है। पाल का यह विचार भावी ब्रिटिश राष्ट्रमंडल की स्थापना की ओर इंगित करता है।[54] वे समात्मक अन्तर्राष्ट्रवाद के समर्थक थे। उन्हें यह विश्वास हो गया था कि केवल मात्र राष्ट्रीय इकाइयां सफल नहीं हो पायेंगी। राष्ट्रीय इकाइयों को अधिक सहयोग एवं सहिष्णुता का प्रयोग करना है। भारत में राष्ट्रवादी चिन्तन को केवल स्वतन्त्रता तक ही सीमित नहीं रहना है। हमें अपने राष्ट्र, अपनी

संस्कृति एवं अपनी सभ्यता के चरित्र का इस प्रकार विकास करना है कि वह सार्वभौमिक मानवता का पालन करते हुए ब्रिटेन से भारत के सम्बन्धों को बनाये रखने में सहयोगी हो। ब्रिटेन से भारत के संघात्मक सम्बन्ध हमारे राष्ट्रवादी चिन्तन के विपरित सिद्ध नहीं होंगे। हमें ब्रिटेन से हमारे राष्ट्रीय जीवन के विकास में पूर्ण सहायता प्राप्त करनी है। यही हमारी राष्ट्रीयता को एक दिन सार्वभौम मानवीय परिसंघ में ईश्वर द्वारा निर्धारित स्थान प्रदान करेगा। इसी में नारायण के जीवन एवं स्नेह का पृथ्वी पर अवतरण होगा।[55]

पाल के अनुसार राष्ट्रवाद मार्गदर्शक सिद्धान्त के रूप में उसी प्रकार से ऋणात्मक नहीं जिस प्रकार से आत्मानुभूति का सिद्धान्त। इसका धनात्मक मूल्य अधिक महत्वपूर्ण है। आत्मानुभूति का सिद्धान्त व्यक्ति को यह नहीं दर्शाता कि उसे अपने अन्तराल में विद्यमान किस स्वत्व की अनुभूति करनी है और एक सूचना-पट्ट के समान वह व्यक्ति को उन प्रवृत्तियों के प्रति सचेत करता है जो उसके मार्ग में बाधक सिद्ध हों। किन्तु राष्ट्रवाद की धारणा राष्ट्र को यह बतलाती है कि उसे वर्तमान जीवन में किन तत्वों का विकास करना है तथा किन का दमन। वह उस सही दिशा का बोध कराता है जो राष्ट्र की मेधा के अनुकूल हो।[56] यह मानना उचित नहीं कि व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनों के सन्दर्भ में आत्म चेतना वैचारिक एवं व्यावहारिक समस्याओं के सुधारण के मार्ग में बाधक है। व्यक्ति के सम्बन्ध में यह चाहे सत्य सिद्ध हो किन्तु राष्ट्र के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। राष्ट्र जानते बूझते भी गलत मार्ग का अनुसरण नहीं करता। सच्चे राष्ट्रीय आन्दोलन सर्वदा स्व-चालित होते हैं। समूह का सचालन स्वचालित एवं अवचेतनात्मक होता है। सामाजिक आन्दोलन सामाजिक शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का फल है न कि व्यक्तियों द्वारा निर्धारित या विनिश्चित विकल्प।[57] जब तक व्यक्ति अपने विवेक से पूर्णतया सचालित होने की स्थिति में नहीं आता तब तक वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रों तथा मानवीय समुदायों का व्यवहार सवेग एवं अचेतन द्वारा सचालित रहेगा। पाल ने इसे राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के मनोविज्ञान की संज्ञा दी है।[58]

पाल के अनुसार राष्ट्रवाद धनात्मक मूल्यों से युक्त है। भारत के सन्दर्भ में उन्होंने प्रतिपादित किया कि यहां विभिन्न सभ्यताओं के संघर्ष में भारत अपनी प्राचीन संस्कृति तथा विशिष्टीकृत संस्थाओं एवं आदर्शों को वहन कर रहा है। अंग्रेजी सभ्यता का भारतीय सभ्यता से संघर्ष नवीन परिस्थितियां उत्पन्न करता है। साहचर्य हिन्दूधर्म की विशेषता है जब कि वैधानिकता ईसाई धर्म की। समाजवाद या समष्टिवाद हमारे सामाजिक सगठनों का मूल है जबकि व्यक्तिवाद यूरोपीय सभ्यता का केन्द्र बिन्दु। सहयोग हमारे आर्थिक जीवन की विशेषता है जबकि यूरोप का आदर्श है प्रतिद्वन्द्विता। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में भारतीयों के सामने नवीन प्रलोभन उत्पन्न हुआ है किन्तु भारत को अपनी सभ्यता छोड़ने की आवश्यकता नहीं। यूरोप की सभ्यता मनुष्य की विलासिता एवं इन्द्रिय-सुख की प्रवृत्ति की पोषक है जबकि भारतीय सभ्यता जीवन में विवेक एवं आध्यात्मिकता पर अधिक बल देती है। यदि हमने अपनी सभ्यता के इन तत्वों को भुला दिया तो हम राष्ट्र के रूप में अपना अस्तित्व खो देंगे। विदेशी प्रभावों से अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को हमें बचाना है।[59]

राष्ट्रवाद रूढ़िवादिता से भिन्न है। राष्ट्रवाद विकास के सिद्धान्त पर आधारित

विचार है। रूढ़िवादिता परिवर्तन-विरोधी होती है किन्तु विकासवाद परिवर्तन पर ही आधारित है। राष्ट्रवाद अतीत से विच्छेदित हुए बिना निरन्तरता बनाए रख सकता है। विकास निरन्तरता का बोध कराता है। परिवर्तन एवं स्थायित्व दोनों में समन्वय विकास की प्रक्रिया के आवश्यक तत्व हैं। राष्ट्रवाद रूढ़िवादिता एवं क्रान्ति दोनों से भिन्न मार्ग का द्योतक है। राष्ट्रवाद नवीन राष्ट्रीयताओं को अंकुरित होने से नहीं रोकता किन्तु नवीन राष्ट्रीयताओं की वर्णसंकर पद्धति से अंकुरित होने में मौलिकता समाप्त हो सकती है। वर्णसंकर राष्ट्रवाद एक बुराई है जो घुन की तरह सब कुछ नष्ट कर देती है।[60] वर्णसंकर राष्ट्रवाद के स्थान पर स्वस्थ सांस्कृतिक एवं प्रजातीय सम्बन्धों की स्थापना नवीन राष्ट्रीयता के लिए हितकर है। राष्ट्र के मूल प्रवाह में अनुकूल नवीन राष्ट्रीयताओं को आत्मसात किया जा सकता है। आधुनिक समय में अमेरिका, इंगलैंड, कनाडा तथा अफ्रीका आदि देशों में वाणिज्य, उपनिवेशन एवं अन्य कारणों से एक प्रकार की नवीन राष्ट्रीयता एवं संस्कृति विकसित हुई है। उनकी समान संस्कृति, धारणाएं एवं राज्य के प्रति समान भक्ति ने नवीन राष्ट्रीयता को जन्म दिया है। इस प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय मिश्रण राष्ट्रवाद के लिए घातक सिद्ध न होकर सहायक ही सिद्ध हो रहा है। सामाजिक विकास में नवीन प्रयोग राष्ट्रवाद की धनात्मक उपयोगिता के प्रतीक हैं।[61]

पाल ने दैवी लोकतन्त्र का प्रतिपादन किया। वे ऐसे लोकतन्त्र का चिन्तन कर रहे थे जिसमें वर्गजनित वैमनस्य एवं संघर्ष न हो और सभी के हितों को संरक्षण प्राप्त हो सके।[62] अधिकारों को मैसीनी के विचारों के अनुरूप कर्त्तव्यों में परिवर्तित कर दिया जाय। ऐसा वातावरण तैयार किया जाय जहां प्रतियोगिता का स्थान स्नेह तथा सहयोग ले ले। उनकी दृष्टि में लोकतान्त्रिक आन्दोलन का यह आदर्श साध्य होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वयं की स्वार्थसिद्धि छोड़कर सबके हित में अपना हित विचार करे। राष्ट्रों तथा व्यक्तियों के मध्य संघर्ष समाप्त हो जाय तभी विश्व में सच्चा लोकतन्त्र स्थापित हो सकता है। पाल के अनुसार भारत में सदियों से ही इसी प्रकार के दैवी लोकतन्त्र की स्थापना का प्रयास चलता रहा। आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति का यह मार्ग भारत के स्वतन्त्र राष्ट्रीय जीवन की मांग का आधार है। भारतीय प्रान्तों में बंगाल इस प्रकार के लोकतन्त्र की स्थापना का उपयुक्त उदाहरण है। मगध में शताब्दियों पूर्व बुद्ध के समय में इसी प्रकार का प्रयास किया गया था। साम्प्रदायिक एवं प्रान्तीय महत्वाकांक्षाएं राष्ट्रीय लोकतन्त्र के लिए घातक रही हैं। ऐतिहासिक अतीत का पुनरुत्थान इसी प्रकार की भावना फैलाता है किन्तु बंगाल में ऐसी भावना नहीं रही। स्वदेशी आन्दोलन के दौरान बंगाल में प्रतापादित्य का आह्वान नहीं किया गया जैसा कि अन्यत्र में शिवाजी, गुरुगोविन्दसिंह या पेशवाओं का अन्य प्रान्तों में हुआ। क्षुद्र प्रान्तीय भावनाओं को पुनः उभारने की आवश्यकता नहीं है। बंगाल में राष्ट्रीय चेतना अंग्रेजी शासन के कारण जागृत हुई और बंगालियों ने अपने आदर्शवाद एवं अपनी संस्कृति से राष्ट्रीय आन्दोलन को सबल दिया। अतः बंगाल का आन्दोलन इस कारण से भी अनुकरणीय है कि वहां सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में स्वतन्त्रता के अंकुर विद्यमान हैं। वहां के राजनीतिक जीवन को राजा राममोहन राय से रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक नवीन दिशाएँ प्राप्त हुई हैं। अंग्रेजों के प्रभाव से राममोहन राय ने अपना सामाजिक सुधार-आन्दोलन प्रारम्भ

किया, यह धारणा भ्रममूलक है। राजा राममोहन राय ने जब अपना सामाजिक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ किया था उस समय उन्हें अंग्रेजी अक्षरों का ज्ञान भी नहीं था। प्रारम्भ में बंगाल का स्वतन्त्रता-आन्दोलन हिन्दू-पुनर्जागरणवादी रहा हो किन्तु बाद में अंग्रेजों के प्रति आक्रोश एवं घृणा ने सही राष्ट्रीय चिन्तन को ही दबा दिया।[63]

सामाजिक विचार

विपिन चन्द्र पाल ने हिन्दू जाति-व्यवस्था का विरोध किया है। वे यूरोप के सामाजिक दर्शन में व्याप्त भाई-चारे की भावना के पक्षपाती हैं। सामाजिक अर्थ-व्यवस्था में व्याप्त भेद-भाव दूर करना इतना सरल नहीं जितना जातिगत भेद-भाव दूर करना। जाति-भेद का कारण अज्ञान रहा है। भूतकाल के भारत में ऐसे उदाहरण मिले हैं जिनमें ब्राह्मणों ने शूद्रों को अपना गुरु माना था। पाल इस प्रकार की जाति-भेद की नीति को केवल नैतिक आधार पर उचित मानते हैं जिसमें व्यक्ति की खान-पान एवं कामवासना को जातिगत नियमों से नियन्त्रित किया गया है। जाति-व्यवस्था ने नैतिक जीवन को नियन्त्रित करने में सहायता दी है किन्तु अन्य आधारों पर जाति-भेद स्वीकार करने योग्य नहीं है। वे यूरोप के आर्थिक वर्ग-भेद को जाति-भेद तुल्य हानिकारक मानते हैं। भारत की प्राचीन व्यवस्था में निर्धन होना अपराध नहीं था किन्तु अंग्रेजों के आगमन एवं पाश्चात्य प्रभाव ने नये समाज में निर्धन की स्थिति तुच्छ कर दी है। धन-सम्पन्न व्यक्तियों का समाज के निर्धन वर्ग पर अत्याचार उसी प्रकार फैल रहा है और उनके पापों पर उसी तरह से पर्दा डाल दिया जाता है जिस प्रकार से भूतकाल में भ्रष्ट ब्राह्मण के अपराधों को क्षम्य मान लिया जाता था। वास्तव में जातिभेद एवं वर्ग-भेद दोनों ही अनुचित हैं। हमारी धर्म-प्रधान आर्थिक व्यवस्था उतनी ही अपूर्ण है जितनी आधुनिक लोकतान्त्रिक अर्थ-नीतियां। मानवता सर्वत्र समान रूप में विद्यमान है। जातिगत भेद-भाव, प्रजातीय जनतीय सभी निरर्थक हैं।[64]

पाल ने बंगाल के सामाजिक आंदोलनों एवं तज्जनित सुधारों को अपने लेखन एवं भाषणों में प्रतिध्वनित किया है। उनके अनुसार बंगाल में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा मानवतावाद प्रारम्भ से ही मान्य रहा है। इसी कारण से अंग्रेजी शासन का बंगाल पर अधिक प्रभाव दिखाई देता है क्योंकि बंगालियों की समानता एवं स्वतन्त्रता में निष्ठा अंग्रेजी शिक्षा तथा प्रशासन के अनुकूल है।[65] तान्त्रिक, शाक्त एवं वैष्णव सभी मतावलम्बियों ने जातिगत भेद-भाव को दूर करने में सहायता दी है। बंगाल में ऐसे कई हिन्दू सम्प्रदाय हैं जिनमें जाति-भेद कभी नहीं रहा। बंगाल में धर्म-गुरुओं की वैसी परम्परा नहीं रही जैसी की गुजरात में वल्लभाचार्य सम्प्रदाय की अथवा दक्षिण में शंकराचार्यों की रही है। बंगाल में वेश्या अथवा शूद्रों की भी स्थिति औरों के बराबर है। चांडालों को भी मन्दिर में प्रवेश प्राप्त है। यह स्थिति मद्रास में नहीं रही।[66] इस प्रकार पाल ने अनेक दृष्टान्तों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बंगाल में सामाजिक समानता एवं सौहार्द का अनुकरणीय उदाहरण प्राप्त है। यद्यपि पाल के इन विचारों में सत्य की मात्रा अधिक है तब भी यह नहीं माना जा सकता कि बंगाल में सामाजिक भेदभाव अथवा जातिप्रथा की बुराइयां विद्यमान नहीं हैं। पाल ने बंगाल प्रान्त की विशिष्टता को कुछ बढ़ा-चढ़ा कर ही प्रस्तुत किया है।

पाल ने हिन्दुओं के सामाजिक संस्कारों एवं प्रयोगों का समर्थन किया है। महालय अथवा श्राद्धकर्म की प्रशंसा करते हुए उन्होंने प्रकट किया कि हिन्दुओं की प्रथाएं आधुनिक समाजशास्त्रियों द्वारा ठीक से नहीं आंकी गई। यूरोपीय समाजशास्त्र के अत्यधिक प्रभाव में भारत का सामाजिक अध्ययन समीचीन नहीं। हिन्दुओं की सामाजिक संरचनाएं आधुनिकता के सन्दर्भ में भी सामाजिक पुनर्निर्माण का आधार हैं। हिन्दुओं की आत्मा के अमरत्व में आस्था उनकी सामाजिक परिपाटियों की जड़ है। मृत्यु को मनुष्य तथा मनुष्य के भेद को मिटाने वाले तत्व के रूप में माना गया है। यह मानवजीवन से सभी सम्बन्धों को सार्वभौमिकता में परिवर्तित कर देती है। हिन्दुओं की श्राद्धप्रथा व्यक्तिगत मानवीय जीवन को शाश्वत मानवजीवन से जोड़ती है। मनुष्य के अन्तहीन मानवीय सम्बन्ध तथा सम्पूर्ण मानव-जाति से उसकी एकता हिन्दुओं के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का आधार है क्योंकि वे समस्त विश्व को अपना परिवार मानते हैं। समस्त जगत नारायणमय है।[67]

धार्मिक विचार

पाल के धार्मिक विचारों पर हिन्दू-धर्म-दर्शन का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। पाल के हिन्दू-धर्मविषयक विचार उनकी पुस्तक दी सोल ऑफ हिन्दुइज्म (1908) में प्रतिपादित किये गये हैं। पाल के अनुसार हिन्दुओं ने आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य के माध्यम से प्रत्येक वस्तु को देखा था। उनके लिए प्रकृति केवल प्राकृतिक नहीं थी और मनुष्य केवल मानवीय नहीं था। प्राकृतिक पदार्थ एवं अभिव्यक्तियां आत्मा के रूप में मानी गयी थीं। अग्नि, जल, आकाश, वायुमण्डल, सूर्य, चन्द्र नक्षत्र, आदि सब भूमण्डलीय अथवा आकाशीय तत्व आत्मायुक्त माने गये थे। ऋग्वेद में इन पदार्थों का अत्यन्त वास्तविक वर्णन उपलब्ध है। किन्तु वास्तविकता भौतिकता के रूप में नहीं मानी गयी। प्रत्येक में आत्मा का निवास माना गया है। ऋग्वेद का काव्य हेगल के वर्गीकरण को नकारता है। ऋग्वेद की अर्द्ध आध्यात्मिकता उपनिषदों की अमूर्त आध्यात्मिकता में विकसित हुई है। ऋग्वेद में प्रकृति का मानवीकरण किया गया है। यह विवरण जीववादी न होकर मानवतारूपी है। इसमें जीव और आत्मा का अद्भुत सम्मिश्रण है। उपनिषदों में अद्वैत के दर्शन होते हैं। यहाँ प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व न होकर उसे ब्रह्ममय दर्शाया गया है। ब्रह्म विश्व का भौतिक कारण है। उपनिषदों के बाद के साहित्य में मायावाद के दर्शन होते हैं। यह विराट् पुरुष के स्थान पर प्रकृति तथा आध्यात्म का विभाजन है।[68]

पाल के अनुसार हिन्दुधर्म साधारण अर्थ में धर्ममात्र नहीं है। यह व्यक्तिगत धर्म न होकर धर्मों का ऐसा परिवार या समूह है जिसमें कुछ निम्न, कुछ उच्च और कुछ विकास के उच्चतर स्तर पर हैं। हिन्दूधर्म जीवित धर्म है। हिन्दुओं के धार्मिक अनुभवों में विश्व के समस्त धर्मों का रहस्य विद्यमान है। यह सब धर्मों की कुंजी है। पाश्चात्य विश्व की समस्याओं का समाधान भी इसमें विद्यमान है। हिन्दू-धर्म ईसाई चिन्तन को व्यापक बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है। यद्यपि मैक्समूलर ने हिन्दू-धर्म का अन्वेषण करने का प्रयास किया किन्तु वह सफल नहीं हो पाया। वह हिन्दू साहित्य के शब्दार्थ तक ही पहुँच सका है। इसका भावार्थ और गूढ़ार्थ किसी पाश्चात्य विद्वान् द्वारा आज तक ग्राह्य नहीं हुआ है। विदेशियों का अध्ययन केवल सतही माना जा सकता है।[69] हिन्दू-धर्म

को समझने के लिए पहले हिन्दुओं के आदिकालीन जीवन का अध्ययन आवश्यक है ताकि उनके विशेष इतिहास एवं संस्कृति के विकास का विकासक्रम विचार अन्वेषित हो सके। इसके बाद उन विकासक्रम विचार के विभिन्न स्तरों का तथा समय समय पर होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन भी आवश्यक है जिससे प्रजातीय एवं ऐतिहासिक घटनाओं का परिवर्तनकारी प्रभाव समझा जा सके।[70]

पाल ने हिन्दुओं की पौराणिक गाथाओं को मिथक अथवा असत्य के रूप में नहीं देखा। मिथक वह है जिसमें असत्य एवं अवास्तविकता हो। पाल के अनुसार हिन्दू अपने देवी-देवताओं को असत्य या अवास्तविक नहीं मानते। अतः हिन्दूधर्म के सम्बन्ध में माइथोलोजी शब्द का प्रयोग सर्वथा अनुचित है। पाश्चात्य विचारधारा ने देवी-देवताओं के पूजन को मानसिक एवं सामाजिक विकास की निम्न अवस्था माना है। मध्य अमरीका, फीजी, ग्रीस, रोम आदि में देव-पूजन की मान्यता रही है। चीन में पुरखों की पूजा होती थी और भारत में भी ऐसी परम्परा रही है। किन्तु यूरोप के विचारकों ने उपर्युक्त सभी देशों को एक ही श्रेणी में रख दिया है। यूरोप के विचारकों ने अपने संकीर्ण अनुभवों की परिधि से निकल कर गम्भीर विचार नहीं किया। उनका सीमित ज्ञान भ्रान्ति फैलाता रहा है।[71] भारत में वेदों तथा पुराणों में वर्णित देवी-देवताओं के नामों में साम्य होते हुए भी दोनों में बहुत अन्तर है। भारत में धार्मिक विकास के तीन स्तर रहे हैं।[72] पहला अनुभवात्मक स्तर, दूसरा विचारात्मक स्तर तथा तीसरा कल्पनात्मक स्तर रहा है। वैदिक देवताओं को प्रथम स्तर पर रखा जा सकता है। दूसरे स्तर पर उपनिषदों की ईश्वरीय धारणा है और तीसरा स्तर पुराणों में वर्णित देवी-देवताओं के चित्रण में द्रष्टव्य है। पुराणों में वर्णित गाथाएं, त्रुटिपूर्ण व्याख्याओं के बावजूद, उच्च कोटि की हैं और हिन्दुओं के धार्मिक जीवन की उपनिषदों से भी अधिक सन्देशवाहक हैं। अतः पौराणिक गाथाओं को वैदिक देवताओं अथवा पिछड़ी संस्कृति के समकक्ष रखना सर्वथा विवेकरहित है। पौराणिक गाथाओं का विकास ऐसे समय में हुआ है जब हिन्दुओं ने उपनिषदों के विचारात्मक धर्म का स्तर पार कर लिया था।[73] पाल ने सरस्वती का उदाहरण देते हुए यह बतलाया कि सरस्वती वैदिक काल में नदी के रूप में मान्य थी। उसका वैदिक समय में मानवीकरण हुआ और उसके बाद सरस्वती को विद्या की देवी के रूप में पूजा गया। इतना ही नहीं सरस्वती में समस्त देवियों का आह्वान कर सरस्वती को उमा, पार्वती, तारा, विद्या, महाविद्या, लक्ष्मी आदि अनेक रूपों में स्वीकार किया गया। भगवती का यह वर्णन प्रतीकात्मक है। कोई कितना भी विवेकपूर्ण एवं मूर्तिपूजा का विरोधी क्यों न हो, वह हिन्दुओं के देवी-देवताओं को निम्नस्तर की कुवस्तु नहीं कह सकता। जहाँ इन धार्मिक कृत्यों का वास्तविक अर्थ एवं अभिप्राय समझ में नहीं आता वहाँ धर्मान्धता का अज्ञान इसे आलोचना का विषय भले ही बना दे अन्यथा हिन्दुओं की पौराणिक गाथाओं एवं पौराणिक पात्रों व प्रतीकों के माध्यम से जिस उच्च स्तरीय कल्पनात्मक स्तर की अनुभूति की गयी है वह श्रेष्ठता एवं धार्मिक विकास के चरम शिखर पर है।[74]

पाल ने यह स्पष्ट किया कि मनुष्य का धर्म उसके अस्तित्व का अभिन्नतम अंग है। जन्म से मृत्युपर्यन्त धर्म का पालन एवं प्रभाव दिखाई देता है। [illegible], [illegible],

नास्तिकता आदि विभिन्न तर्क-वितर्कों के माध्यम से धर्म-सम्बन्धी अनुभूतियाँ मानव के पराचेतन में व्याप्त रहती है। संशयवाद एवं नास्तिकता एक ही वस्तु के दो पहलू है।[75] आधुनिक हिन्दू-धर्म धार्मिक विकास की चरम परिणति है। हिन्दुओं की मूर्तिपूजा केवल मूर्तिपूजा न होकर आदर्शों की आराधना है। यह मूर्तियों की पूजा न होकर उन आदर्शों या विचारों का अर्चन है जो उच्चतम एवं पवित्रतम धार्मिक कल्पना के बाह्य प्रतीकों के माध्यम से निसृत हुए हैं। दुर्गा-पूजा का आधुनिक रूप इसी पर आधारित है। बंगाल की दुर्गा अथवा शक्ति-पूजा के पीछे हिन्दू-धर्म-दर्शन की पुरुष एवं प्रकृति की मान्यता जुड़ी हुई है। पुरुष ईश्वर रूप में है और प्रकृति पुरुष से सम्बन्धित है। प्रकृति पुरुष की शक्ति है जो उत्पन्न करती है, भरणपोषण करती है और संहार करती है। प्रकृति ब्रह्माण्ड की माता अर्थात् जगदम्बा है। हिन्दुओं की दुर्गा ईसाइयों के क्राइस्ट के समान है। दुर्गा मुक्तिदायिनी है। दुर्गा महामाया है। आत्मा के ब्रह्म अर्थात् अन्तिम सत्य के साथ सम्बन्ध के विषय में अज्ञान अथवा अविद्या ही माया है। यह अज्ञान 'निर्माण' की प्रक्रिया की विविधता के कारण उत्पन्न होता है जिसमें 'ब्रह्म एक है दूसरा नहीं' (एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति)। ब्रह्म से एकाकार होने से इस भ्रान्ति का समाप्त होना अनिवार्य है। प्रकृति बन्धन का प्रमुख कारण है। प्रकृति के माध्यम से ही बन्धन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। शक्ति की आराधना इसी कारण से मुक्तिदायिनी मानी गयी है। अज्ञान रूपी तिमिर को हरने वाली दुर्गा या महामाया अन्धविश्वास तथा धार्मिक आडम्बरों का नाश कर मनुष्य को आध्यात्मिकता के उच्च धरातल पर पहुँचा देती है। पाल ने दुर्गापूजा के इस नवीन विवेचन के माध्यम से भारत में राष्ट्रवादजनित राजनीतिक स्वतन्त्रता एवं देशभक्ति को जागृत करने का प्रयास किया है।[76]

विपिनचन्द्र पाल के धार्मिक विचारों में उनका इस्लाम के प्रति दृष्टिकोण विवेचनीय है। सर्व-इस्लामवाद (पैन-इस्लामिज्म) के सम्बन्ध में पाल ने 1913 में यह व्यक्त किया कि भारत के सामाजिक एवं राजनीतिक विकास पर इसका प्रभाव निश्चित है। इस्लाम के अनुयायी अपने संख्यात्मक बहुमत एवं अपनी संगठनात्मक शक्ति का प्रयोग विश्व-राजनीति को अपने हित में परिवर्तित करने के लिए कर सकते हैं। एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप में इस्लाम का बढ़ता हुआ आक्रामक प्रचार उनके लिए चिन्ता का विषय था। सैनिक शक्ति से इस्लाम के प्रभाव में वृद्धि के आसार अब नहीं के तुल्य थे किन्तु धर्म-परिवर्तन का व्यापार अब उन्हें दिखाई देने लगा था। इस्लाम की यह मान्यता कि ईश्वर एक है और मोहम्मद उसका अग्रदूत है—अत्यन्त प्रभावशील प्रचार का माध्यम बन सकती है। इस्लाम की एकप्राणता (सॉलिडैरिटी) अनुकरणीय है यदि इसका प्रयोग विश्व-शान्ति के लिए किया जाए। तुर्की साम्राज्य का विखण्डन इस सर्व-इस्लामवाद का प्रवर्तक है। भारत में इसे व्यापक समर्थन मिल रहा है। भारत के मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति घृणा का भाव सर्व-इस्लामवाद के कारण अपनी जड़ें मजबूत कर रहा है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा समर्थित स्वदेशी-आन्दोलन हिन्दुओं के बढ़ते हुए राजनीतिक प्रभाव का कारण माना जाता है। यदि भारत के मुसलमानों ने स्वदेशी-आन्दोलन का समर्थन किया होता तो यह स्थिति उनके अनुकूल भी बन सकती थी। स्वदेशी-आन्दोलन राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से और अधिक व्यापक बन सकता था। किन्तु मुसलमानों

की कांग्रेस के प्रति तिरस्कार की भावना ने उन्हें राष्ट्रीय जीवन से अलग-थलग कर दिया। वे स्वदेशी-आन्दोलन का खुला विरोध करने लगे। इससे हिन्दुओं का आन्दोलन पर प्रभाव बढ़ा। पाल ने हिन्दुओं के बढ़ते हुए प्रभाव एवं हिन्दू-राष्ट्र की भावना का स्वागत किया है। उन्हें इस बात से प्रसन्नता हुई कि हिन्दुओं में जिस जागृति एवं एकता की कमी थी वह किसी तरह प्राप्त हो सकी है। इससे हिन्दू संघात्मक राष्ट्र की स्थापना कर सकेंगे और विभिन्न संस्कृतियों एवं धर्मावलम्बियों को विकास का उचित अवसर मिल सकेगा। पाल को हिन्दू-आन्दोलन या हिन्दू-राष्ट्रवाद के बढ़ते हुए प्रभाव से कोई चिन्ता न थी। न उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर रहना क्यों चाहते थे। उन्हें चिन्ता केवल मुसलमानों के विरोधी रुख के कारण थी। भारतीय मुसलमानों ने एक समानान्तर मुस्लिम आन्दोलन छेड़ रखा था तथा सर्व-इस्लामवाद एवं लार्ड मिन्टो उनके प्रेरणास्रोत थे। सैयद अमीर अली तथा अन्य मुसलमानों का क्रिया-कलाप सर्व-इस्लामवाद के आन्दोलन का राजनीतिक होना सिद्ध करता था।[77]

पाल ने तुर्की के ऑटोमन साम्राज्य के प्रश्न को, जिससे सर्व-इस्लामवादी आन्दोलन जुड़ा हुआ है, केवल राजनीतिक माना था। तुर्की ने भारतीय मुसलमानों से धर्म-निरपेक्ष एवं राजनीतिक समर्थन मांगा था किन्तु भारतीय मुसलमानों ने, अपने आपको पहले मुसलमान और बाद में भारतीय मानते हुए, अपनी पृथकता का धार्मिक नाटक इस नये आन्दोलन के नाम पर प्रारम्भ कर दिया। उनका राज्यक्षेत्रातीत दृष्टिकोण संगठित राष्ट्र के निर्माण में बाधक सिद्ध हो सकता है। संघात्मक राष्ट्र सभी धर्मों को समान मान्यता देकर राज्य की कृत्रिम सीमाओं को दूर कर देता है किन्तु उसमें भी राज्य की आन्तरिक एकता एवं राज्य का स्वतंत्र जीवन सुरक्षित रहना चाहिए। राज्यक्षेत्रातीत भावना किसी भी राज्य का विध्वंस कर सकती है। राष्ट्र धार्मिक जीवन का पर्यायवाची शब्द नहीं है। भारत के मुसलमान मुस्लिम भाईचारे की बात करें या भारत के हिन्दू हिन्दू भाईचारे का नारा लगायें वह उचित है किन्तु भारत की परिस्थितियों में मुस्लिम राष्ट्र की बात करना अनुचित है। हिन्दू राष्ट्र का विचार उचित है क्योंकि भारत के सभी हिन्दुओं का सामान्य भौगोलिक क्षेत्र है और वे समान रूप में एक राज्य की सत्ता के अन्तर्गत हैं और एक ही राज्य संगठन के निवासी हैं।[78] यदि चीन, जापान, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमेरिका में हिन्दुओं की आबादी हो तो हम वहाँ हिन्दू-राष्ट्र शब्द का प्रयोग नहीं कर सकेंगे जैसा कि हम भारत में करते हैं। पाल ने इस सन्दर्भ में जमींदार पत्र के सम्पादक जफरअली खां के विचारों को विस्तार से उद्धृत कर दर्शाया कि सर्व-इस्लामवाद के पीछे भारतीय मुसलमानों की राजनीतिक महत्वाकांक्षा प्रकट होती थी।[79]

सर्व-इस्लामवाद का ईसाई धर्म विरोध उसके धार्मिक पक्ष को स्पष्ट करता है और उसमें कोई बुराई नहीं। यदि मुसलमानों का धर्म काफिरों को मुसलमान बनाने का कर्तव्य दर्शाता है तो ईसाई धर्म में भी विधर्मी को ईसाई बनाना पुनीत कार्य माना गया है। मुसलमानों को ईसाई धर्म के प्रति अपनी सैनिक प्रतिबद्धता का प्रयोग करना चाहिए ताकि उनकी संस्कृति एवं कुरान, मक्का एवं मदीना का उनका साम्राज्य सुरक्षित रहे। इस्लाम मृत नहीं है। उसमें अद्भुत जीवनी शक्ति है। इस्लाम मूल रूप में लोकतान्त्रिक एवं आर्थिक दृष्टि से समाजवादी है। ईसाई साम्राज्य का इस्लाम द्वारा निर्मोचन विश्व-

मानवता के हित में ही होगा। सर्व-इस्लामवाद का नैतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष सर्वथा सहानुभूति योग्य है किन्तु उसका राजनीतिक पक्ष खतरनाक है। उसका राजनीतिक प्रचार प्रत्येक गैर-मुस्लिम राज्य के लिए आतंक का सूचक है। यह विश्व-शान्ति तथा उन देशों की जनता के लिए जहाँ गैर-मुसलमानों के साथ-साथ मुसलमान भी बसते हैं, भयावह है।[80]

पाल ने सर्व-इस्लामवाद को कृत्रिम नहीं अपितु वास्तविक खतरा बतलाया। हिन्दुओं और मुसलमानों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों एवं आदान-प्रदान का वर्णन करते हुए उन्होंने बतलाया कि बंगाल में दीर्घकाल से मुसलमान हिन्दू देवी-देवताओं को हिन्दू पुजारियों के माध्यम से चढ़ावा चढ़ाते थे और हिन्दू मुसलमान पीरों तथा दरगाहों की मान्यता मानते थे किन्तु सर्व-इस्लामवाद के प्रभाव से मुसलमानों का सुधारवादी नेतृत्व इस सौहार्दपूर्ण वातावरण को विषमय करने में लग गया। वे मुसलमानों को धर्मान्ध एवं हिंसक कार्यों के लिए प्रेरित करने लगे। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से यह परिवर्तन आया। प्रारम्भ में सर सैयद साम्प्रदायिक समन्वय के प्रतीक थे किन्तु बाद में वे भी साम्प्रदायिक राजनीति के शिकार हो गये। अंग्रेज नौकरशाही को इसका दोष दिया जा सकता है किन्तु मुख्य रूप से मुसलमानों का दकियानूसी धार्मिक नेतृत्व इसके लिए अधिक उत्तरदायी रहा है। मुस्लिम राष्ट्र का प्रयोग ईरान अथवा अफगानिस्तान के सन्दर्भ में किया जा सकता है, किन्तु भारत में जहाँ जन-संख्या, शिक्षा एवं सम्पत्ति की दृष्टि से मुसलमान हिन्दुओं से पिछड़े हुए हैं वे मुस्लिम राष्ट्र का स्वप्न नहीं देख सकते। यह तथ्य मुसलमान नेताओं को अखरता है। वे मुगल साम्राज्य के प्राचीन वैभव एवं वर्चस्व पर जीवित रहना चाहते हैं। अंग्रेजी नौकरशाही ने उनमें यह भ्रम पैदा कर रखा है कि वे भारत के भूतपूर्व शासक रहे हैं अर्थात् अंग्रेजों ने भारत का साम्राज्य मुसलमानों से छीना है। वास्तविकता यह है कि अंग्रेजों को भारत का शासन प्राप्त करने के लिए सिख तथा मराठा शक्तियों से लोहा लेना पड़ा है। यदि अंग्रेज नहीं होते तो भारत का साम्राज्य सिख तथा मराठों में बटा हुआ मिलता। किन्तु इन ऐतिहासिक तथ्यों की चिन्ता न कर अंग्रेजों ने भारत के मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काया है। इसका परिणाम सर्व-इस्लामवाद के भारतीय राष्ट्रवाद विरोधी होने के रूप में हुआ है। पाल ने इसके लिए भारत के राष्ट्रीय नेतृत्व को भी *लताड़ा है। यदि भारतीय राष्ट्रवादी नेता सिख और मराठों के शासन का इतना बढ़ा-चढ़ा कर* वर्णन न करते और पुनर्जागरण का आन्दोलन प्रारम्भ न करते तो यह स्थिति टाली जा सकती थी। यद्यपि पुनर्जागरण भारतीय राष्ट्रवाद के उन्नयन में सहायक सिद्ध हुआ और इससे भारतीयों को नवीन राजनीतिक स्फूर्ति प्राप्त हुई किन्तु इसके कई प्रचारकों ने भारत में स्वराज के स्थान पर हिन्दूराज्य की भावना को उकसाया। यह धार्मिक विचार भी मुसलमानों के हिन्दू-विरोधी रवैये तथा उनके सर्व-इस्लामवाद के प्रति झुकाव के लिए उत्तरदायी था।[81]

साम्प्रदायिक वैमनस्य का ऐतिहासिक अथवा मनोवैज्ञानिक आधार जो कुछ भी रहा हो, पाल राजनीतिक सर्व-इस्लामवाद के प्रति सचेत रहने का आह्वान करते हैं। वे सर सैयद तथा सैयद अमीर अली के इन विचारों को कि भारत के मुसलमान मुसलमान पहले हैं, भारतीय बाद में—वैचारिक भ्रांति की संज्ञा देते हैं। पाल के अनुसार 'भारतीय' शब्द *भौगोलिक अथवा राजनीतिक शब्द है। भारतीय के रूप में व्यक्ति या तो भारत का*

निवासी है या भारत सरकार की प्रजा है। इससे भिन्न भारतीय शब्द का कोई धार्मिक, प्रजातीय अथवा वंश सम्बन्धी अर्थ नहीं हो सकता। इसके विपरीत मुसलमान शब्द केवल धार्मिक तथ्य है। इससे भौगोलिकता अथवा राजनीतिक सम्बन्धों और कर्त्तव्यों का बोध नहीं होता। जब कोई व्यक्ति अपने को मुसलमान पहले और भारतीय बाद में मानता है तो इसका अर्थ है कि उसके धार्मिक सम्बन्ध एवं कर्त्तव्य राजनीतिक सम्बन्धों एवं कर्त्तव्यों के अग्रगामी हैं। अन्य शब्दों में गैर-मुस्लिम राज्य जिसका कि वह निवासी अथवा नागरिक है उसके प्रति उसकी राजभक्ति विश्व के मुसलमानों तथा मुस्लिम शासकों के प्रति उसकी निष्ठा के सामने नगण्य है विशेषतः जब दोनों निष्ठाएं संघर्ष में हों। यही राजनीतिक सर्व-इस्लामावाद का तर्क है जो कि मुस्लिम लीग, अमीर अली आदि द्वारा समर्थित है। इस रूप में यह भारतीय राष्ट्रवाद का शत्रु है। इस शरारत पूर्ण धार्मिक-राजनीतिक आन्दोलन का उपचार, विशेषत. भारत तथा मिस्र के सन्दर्भ में, यही है कि एक सच्चे राष्ट्रवादी आदर्श एवं संघात्मक भारतीय सरकार के संविधान को विकसित किया जाय जो एक बृहद् ब्रिटिश साम्राज्यीय संघ का समानता के आधार पर अंग बन सके।[82]

आर्थिक विचार

पाल के आर्थिक विचारों में भारत की आर्थिक समस्याओं का समाधान झलकता है। वे भारत में व्याप्त निर्धनता एवं आर्थिक शोषण के प्रति सजग थे। वे भारत की आर्थिक समस्याओं का समाधान उद्योगीकरण के माध्यम से प्राप्त करने के समर्थक नहीं थे। यूरोप के औद्योगिक अनुभव ने उनकी दृष्टि से अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया था। उद्योगीकरण संस्कृति एवं नैतिकता का शत्रु माना गया था। वे इसे राष्ट्रीय जीवन का शत्रु एवं सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों का नाशक मानते थे। उन्हें यह भय था कि यदि भारत का पाश्चात्य देशों की भांति उद्योगीकरण किया गया तो भारत की आध्यात्मिकता एवं सांस्कृतिक धरोहर समाप्त हो जायगी। हम भारतीय के रूप में अपना अस्तित्व खोकर पाश्चात्य देशों की भाँति भौतिकवाद के झंझावात में फंस जायेंगे। भारतीय शांति एवं नैतिक गुणों के विकास के लिए आर्थिक जीवन को नकारा नहीं जा सकता किन्तु यह हमारी गौरवपूर्ण परम्पराओं के अनुरूप होना चाहिए। विदेशों की नकल कर भारत में ऐसे आर्थिक प्रयोग करना जो कि हमारी मान्यताओं को झकझोर दे और हमें पश्चिम की मानसिक दासता में बद्ध कर दे उनके लिए असह्य था।[83]

पाल ने भारत के आर्थिक उत्थान के लिए कुटीर-उद्योगों के विकास पर बल दिया। वे स्वदेशी-आन्दोलन से सम्बन्धित थे अतः भारतीयों द्वारा भारत में उत्पादित वस्तुओं के प्रयोग पर बल देते थे। वे भारत की निर्धनता को दूर करने के लिए भारत के प्रशासन में आवश्यक परिवर्तन करने के इच्छुक थे। प्रारम्भ में उनके आर्थिक विचार अहस्तक्षेप (लेसे फेर) की नीति का समर्थन करते थे। उन्हें भय था कि अंग्रेजों का परोपकारी आर्थिक प्रयास भारत पर अंग्रेजों के आततायी शासन को और भी अधिक सशक्त बनाने में सहायक होगा। अतः वे स्वावलम्बन तथा स्वदेशी के पक्ष में थे ताकि हम अपनी आर्थिक प्रगति अपने आप कर सकें। शासन केवल जनता की सुरक्षा के प्रबन्ध तक ही सीमित रहे। वे अंग्रेजी शासन के बढ़ते हुए आर्थिक प्रयासों को भारत में क्षुधा-पीड़ित यूरोपीय समाजवाद के आगमन का सूचक मानते थे।[84] किन्तु बाद में उनके आर्थिक विचारों

मे नवीन परिवर्तन आया और वे समाजवाद के प्रशंसक बन गये।[85] स्पष्ट समाजवादी चिंतक न होते हुए भी पाल के विचारों की प्रगतिशीलता सराहनीय थी।

पाल ने पूंजीवाद का विरोध किया। वे इसे भारत की प्राचीन जाति-व्यवस्था का नया रूप मानते थे। जाति-व्यवस्था में व्यक्ति का जन्म और उसकी आनुवांशिकता को महत्त्व दिया जाता था। उसी प्रकार आधुनिक समय के पूंजीवाद में धन के आधार पर व्यक्ति का सामाजिक स्तर आंका जाने लगा। वे दोनो ही स्थितियों को शोषण एवं अन्याय की प्रतीक मानते हुए इनकी समाप्ति के इच्छुक थे। भारत की प्राचीन ग्रामीण व्यवस्था जिसमें श्रम की प्रधानता एवं विकेन्द्रीकरण का बाहुल्य था, उन्हें पुनर्जीवित करने योग्य प्रतीत हुई थी। छोटे उद्योगों के माध्यम से बड़े पूंजीपतियों की उत्पत्ति रोकी जा सकती थी।[86] उनका पूंजीवाद-विरोधी चिन्तन रूस की बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता के सन्दर्भ में और भी प्रखर हो उठा। उन्होंने रूस की सफल क्रान्ति का जयघोष किया और उसमें जारशाही तथा जर्मन सैन्यवाद के विनाश में त्रस्त मानवता के उद्धार का मार्ग देखा। प्रथम विश्वयुद्ध की विजेता महाशक्तियों की भर्त्सना करते हुए पाल ने उन्हें विश्व की निरीह एवं आर्थिक दृष्टि से विपन्न मानवता का शोषक माना।[87] रूस का प्रयोग उन्हें गरीब जनता के शोषणरहित नवीन जीवन को उद्घोषित करने वाला दिखाई दिया।[88]

पाल ने भारत में श्रमिक आन्दोलन की गति त्वरित करने तथा ब्रिटेन के मजदूर-दल से इस सम्बन्ध मे सहयोग प्राप्त करने पर बल दिया। किन्तु ब्रिटिश मजदूर-दल के साम्राज्य-पोषक दृष्टिकोण से उन्हें निराशा हुई। इसलिए भारत की स्वतन्त्रता एवं श्रमिकों की दशा सुधारने के कार्य को स्वयं भारतीयों द्वारा सम्पादित करने की प्रेरणा उन्होंने दी।[89] वे राज्य की सहायता से आर्थिक प्रगति प्राप्त करने के विचार से सहमत हो गये। वे चाहते थे कि भारतीयों द्वारा ऐसी मांगे प्रस्तुत की जाँय जिससे जनता का आर्थिक शोषण रुक सके। इस सन्दर्भ में उनका यह विचार था कि सरकार अतिरिक्त मुनाफे को अपने अधिकार मे ले ले। इस प्रकार से प्राप्त अतिरिक्त धन को सार्वजनिक हित में खर्च किया जाय। सफाई एवं स्वास्थ्य, शिक्षा एवं रोजगार के लिए इस धन का प्रयोग जनता की कठिनाइयों का निराकरण कर उन्हें श्रेष्ठ जीवन जीने योग्य बना सके। वे श्रमिको की आर्थिक दुर्दशा से परिचित थे। उनके लिए काम करने का समय निश्चित करने तथा उन्हें अधिक पारिश्रमिक दिलाने का सुझाव भी पाल ने प्रस्तुत किया।[90] पाल के उपर्युक्त विचार उनके समाजवादी दृष्टिकोण के परिचायक हैं। किन्तु उनका समाजवाद यहीं तक सीमित नहीं था। वे आर्थिक समाजवाद के साथ साथ नैतिक एवं सामाजिक साम्य भी चाहते थे ताकि जीवन के सभी पक्ष पूर्णतया समान स्तर पर लाये जा सकें। मार्क्स के विचारो से भिन्न उनका यह आध्यात्मिक समाजवाद "हिन्दू समाजवाद" के नाम से प्रस्तुत किया गया था क्योंकि वे हिन्दुओं के सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन मे समाजवाद का आदर्श अन्तर्निहित मानते थे।[91] पाल का यह विश्वास था कि आर्थिक विषमताओं एवं शोषण की प्रवृत्ति का निराकरण करने के लिए व्यक्ति की इच्छाओं को आत्मसंयम द्वारा सीमित किया जाना चाहिए। हिन्दू-धर्म में इस प्रकार के आत्मसंयम को सर्वोच्च मान्यता प्राप्त थी और इसी कारण से पाल ने हिन्दू-समाजवाद शब्द का प्रयोग कर आत्मसंयम की इस भावना को मार्क्स के समाजवादी विचारों से भी अधिक समाजवादी माना। एक अर्थ

में वे समाजवाद के आधुनिक आदर्श को हिन्दू धर्म की मान्यताओं के अनुकूल सिद्ध कर एक ओर हिन्दूधर्म की आधुनिकता तथा दूसरी ओर समाजवाद की अवश्यम्भाविता प्रकट कर रहे थे।

विपिनचन्द्र पाल भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तन के प्रमुख चिन्तकों की गणना में आते हैं। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। स्वराज्य एवं स्वदेशी के निर्भीक प्रचार से लेकर साम्राज्यीय संघ की अवधारणा तक उनका समस्त चिन्तन प्रेरणास्पद माना गया है। लेखन, भाषण एवं चिन्तन तीनों विधाओं में उनका समान अधिकार रहा है। समय के साथ परिवर्तित उनकी विचारधारा ने अनेक आलोचकों को आमन्त्रित किया फिर भी उनकी निर्भीक शैली यथावत् बनी रही। स्वदेशी-आन्दोलन के समय उनका चिन्तन और भी प्रखर हो उठा था। राजनीति में अध्यात्म का प्रयोग कर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि मानवता का कल्याण केवल भौतिक उपलब्धियों से प्राप्त नहीं होगा। इसके लिए हमें अपनी आध्यात्मिक धरोहर का पुनरान्वेषण करना पड़ेगा। वे हिन्दूधर्म के सार्वभौमिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण कर उनके माध्यम से भारत एवं विश्व की विविध समस्याओं का निराकरण प्रस्तुत कर रहे थे। उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं था। उन्हें भारत की महत्ता का सन्देशवाहक कहा जा सकता है। वे भारत की स्वतन्त्रता में विश्व की दासता-पीड़ित मानवता की मुक्ति का दर्शन कर रहे थे। आर्थिक शोषण के विरुद्ध प्रतिपादित उनके विचार मार्क्सवादी मुखौटे की कृत्रिमता दर्शाते हैं। आर्थिक प्रलोभनों से उन्मुक्त उनके अन्तराल का मानव लोकतन्त्र एवं मानवीय गरिमा का जागृत प्रहरी है। राज्य अथवा दल जनित नौकरशाही के आर्थिक नियोजन का दम्भ उनके द्वारा प्रतिपादित विचारों के समक्ष धूमिल दिखाई देता है। शोषण का निराकरण बाह्य जगत् में नहीं अपितु अपने अन्तराल में छिपी शोषण की प्रवृत्ति में विद्यमान है। आत्म-निग्रह ही मानवीय दुर्बलताओं का एक मात्र हल है। यही विपिनचन्द्र पाल का शाश्वत सन्देश है। □□

टिप्पणियाँ

1 देखिये इण्डियन राइटिंग इन इंगलिश, पृ 541-542
2. टी. वी पार्वते, मेकर्स आफ मोडर्न इण्डिया, (यूनीवर्सिटी पब्लिकेशन्स, जलंधर, 1964) पृ. 79
3 वही, पृ. 84
4. देखिये स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ बी. सी पाल (गणेश एण्ड को, मद्रास) पृ 151
5 पार्वते पृ 83-84
6 वही, पृ. 80-81
7. विपिनचन्द्र पाल, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड I, (युगयात्री, कलकत्ता, 1958) पृ 3
8 वही, पृ. 1-7
9 वही, पृ 3
10. वही, पृ 4
11 वही,
12. वही, पृ 6
13. विपिनचन्द्र पाल : स्वदेशी एण्ड स्वराज, (युगयात्री प्रकाशन, कलकत्ता, 1954) पृ 124-127

14. वही, पृ 171-172
15 बी सी पाल : दी न्यू स्पिरिट (सिन्हा सर्वाधिकारी एण्ड को., कलकत्ता, 1907) पृ. 222
16 पाल, रेस्पोन्सिबल गवर्नमेन्ट, (बनर्जी, दास एण्ड को., कलकत्ता, 1917) पृ 41
17 मुखर्जी, हरिदास एण्ड मुखर्जी, उमा, बिपिनचन्द्र पाल एंड इण्डियाज स्ट्रगल फोर स्वराज, (मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1958) पृ 6-12, 30
18 दी स्पिरिट आफ इण्डियन नेशनलिज्म, पृ. 11
19 पाल, श्रीकृष्ण (टैगोर एण्ड को., मद्रास) पृ 3, 165, 166
20 पाल, दी सोल आफ इण्डिया, (चौधरी, कलकत्ता 1911) पृ. 124
21 वही, पृ 135-143
22. पाल, स्वदेशी एंड स्वराज, पृ. 161-167
23 पाल, दी स्पिरिट आफ इण्डियन नेशनलिज्म पृ 39
24. पाल, राइटिंग्स एंड स्पीचेज, पृ. 11-13
25 वही, पृ. 14
26. वही, पृ. 21-24
27. वही, पृ 25
28 वही, पृ. 27-28
29. वही, पृ. 28-29
30 वही, पृ 30
31 वही, पृ 30-33
32. वही, पृ 34-36
33 वही, पृ 39
34 वही, पृ 41
35. वही, पृ 46
36 वही, पृ 48-50
37. वही, पृ 51-54
38 वही, पृ. 55-57
39. वही, पृ 61-63
40. वही, पृ 66-67
41. वही
42 वही, पृ 68
43. वही, पृ 69
44 वही
45 वही, पृ 69-71
46. वही, पृ 71-72
47. वही, पृ 72
48 वही, पृ 73-75
49. वही, पृ 75-76
50 वही, पृ 76
51. वही, पृ 77
52 वही, पृ 79-80
53 वही, पृ 82-83
54. वही, पृ 83
55 वही, पृ 87 89

56 वही, पृ 145-146
57. वही, पृ. 147
58. वही, पृ 146
59 वही, पृ. 151
60. वही, पृ. 163
61. वही, पृ. 166-67
62. पाल, मेमोरीज् आफ माई लाइफ एंड टाइम्स, भाग 1, (मोडर्न बुक एजेन्सी, कलकत्ता 1932), पृ. 355
63. राइटिंग्स एंड स्पीचेज, पृ. 168-175
64. वही, पृ 151-155
65 वही, पृ 186
66. वही, पृ. 186-187
67. वही, पृ. 192-199
68 विपिनचन्द्र पाल, दी स्टडी आफ हिन्दूइज्म, (युगयात्री प्रकाशक लि, कलकत्ता, 1951, द्वितीय संस्करण) पृ. IV-VII
69 वही, पृ 2-21
70. वही, पृ. 209
71 राइटिंग्स एंड स्पीचेज, पृ 91-92
72. वही, पृ 93
73. वही, पृ. 94
74. वही, पृ. 110
75. वही पृ 101
76 वही, पृ. 104-111
77. वही, पृ. 116-126
78 वही, पृ. 126-131 तथा 132
79. वही, पृ. 132-133
80. वही, पृ 133-138
81. वही, पृ. 138-142
82 वही, पृ. 142-144
83. स्वराज, दी गोल एण्ड दी वे, (1921), पृ. 103-104
84 विपिनचन्द्र पाल, नेशनलिटि एण्ड एम्पायर, (थैकर, स्पिंक एण्ड को., कलकत्ता, 1916) पृ 252
85. वही, पृ. 85-86
86 स्वराज, दी गोल एण्ड दी वे, पृ 106
87. दी वर्ल्ड सिचुएशन एण्ड अवरसेल्व्स (कलकत्ता, 1919) पृ 4
88 वही, पृ. 22-23
89. वही, पृ 41-42
90 वही, पृ 44-45
91. नेशनलिटी एंड एम्पायर, पृ. 28, 85-86

□□

अध्याय 16

हिन्दू राष्ट्रवाद : विनायक दामोदर सावरकर (1883-1966)

विनायक दामोदर सावरकर का जन्म मई 28, 1883 को महाराष्ट्र मे नासिक के निकट भागुर नामक ग्राम में हुआ। वे प्रसिद्ध चितपावन ब्राह्मणवंश के थे। उनका बाल्यकाल महाभारत-रामायण की कथाओं एवं प्रताप, शिवाजी तथा पेशवाओं की कहानियों के श्रवण से ओत-प्रोत रहा। *बाल्यकाल में इन्हें कविता लिखने का शौक था।* चापेकर-बन्धुओं के ऐतिहासिक बलिदान ने सावरकर को अत्यधिक प्रेरित किया। एक दिन रात्रि में माता दुर्गा की प्रतिमा के सामने सावरकर ने देश को अंग्रेजों से मुक्त कराने का संकल्प किया। उस समय उनकी आयु केवल सोलह वर्ष की थी। 1900 में सावरकर ने 'मित्र मेला' नामक गुप्त संगठन की स्थापना की। यही संगठन आगे जाकर अभिनव समाज के रूप में 1904 में परिवर्तित हुआ। यह संस्था सारे पश्चिम तथा मध्य भारत में तथा इसके पश्चात् गदरपार्टी के रूप में इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका, हांगकांग, सिंगापुर, बर्मा आदि में सक्रिय रही। इसका उद्देश्य भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दिलाना था और इसके लिए यह संस्था सशस्त्र विद्रोह मे विश्वास करती थी। इस संस्था ने नवयुवकों में जिस स्फूर्ति तथा राष्ट्र-प्रेम का संचार किया वह भारतीय इतिहास की स्वर्णिम कड़ी बन चुकी है। सावरकर ने अपने प्रारम्भिक राजनीतिक जीवन मे जाति-प्रथा के उन्मूलन का व्यक्तिगत उदाहरण प्रस्तुत किया तथा अपना समस्त जीवन हिन्दुओं की एकता के लिए न्यौछावर कर दिया। अपने कालेज जीवन मे भवभूति तथा कालिदास का विस्तार से अध्ययन किया। इसी प्रकार अंग्रेजी के शेक्सपीयर, स्कॉट तथा मिल्टन की रचनाओं से भी वे प्रभावित हुए। उनकी *साहित्यिक रुचि का परिणाम यह निकला कि उन्होंने मराठी भाषा की अपनी कविताओं* में 'मुक्त छंद' का प्रयोग प्रारंभ किया।

तिलक के सम्पर्क मे सावरकर को स्वदेशी व स्वराज्य का नया दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। बंग-भंग-आन्दोलन के दौरान सावरकर ने पूना मे विदेशी वस्त्रों की होली जलाई। तिलक की सिफारिश पर सावरकर को श्यामजी कृष्णवर्मा ने लन्दन बुलाया। सावरकर ने श्यामजी कृष्णवर्मा के इण्डिया हाउस मे रहते हुए बैरिस्ट्री का अध्ययन प्रारम्भ किया। लन्दन में सावरकर ने फ्री इण्डिया सोसाइटी गठित की। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी भाई परमानन्द, लाला हरदयाल, मदनलाल धींगड़ा, मैडम कामा, सेनापति बापट आदि से सावरकर का सम्पर्क हुआ। सावरकर ने अल्पायु मे ही सारे क्रान्तिकारियों पर अपने देश-भक्त विचारों की अमिट छाप कायम कर दी। उनके नेतृत्व में बम, पिस्तौल तथा राजनीतिक हत्याओं का कार्यक्रम बनाया गया। उनकी प्रेरणा से मदनलाल धींगड़ा ने कर्जन वायली को गोली मारी। उन्हें फांसी हुई किन्तु उनके बलिदान से एक नया जोश फैला। सावरकर की

गतिविधियों को रोकने के लिए पुलिस ने जाल बिछाया। इन्डिया हाउस बन्द कर दिया गया। सावरकर अपनी गतिविधियाँ लन्दन में नहीं चला सकते थे अतः उन्हें पेरिस जाना पड़ा तथा वहां से उनका भारत की स्वाधीनता के लिए सशस्त्र कार्यक्रम चलता रहा।

इस बीच नासिक-षड्यन्त्र में सावरकर के बड़े भाई बाबाराव सावरकर को आजन्म कारावास का दण्ड दिया गया। बाबाराव को दण्डित करने में जिम्मेदार नासिक के कलेक्टर जैक्सन को अनन्त कान्हरे नामक युवक ने गोली मार दी। विनायक दामोदर सावरकर ने जो पिस्तौल चुपचाप भारत भेजे थे उन्हीं में से एक का प्रयोग इस हत्या में किया गया साबित हुआ। तुरन्त सावरकर पर बम्बई के गवर्नर ने मुकद्दमा चलाया तथा उनके विरुद्ध गिरफ्तारी का वारन्ट जारी किया गया। सावरकर लन्दन में गिरफ्तार किये गये तथा उन्हें भारत सरकार को सौंप दिया गया। भारत सरकार के अंग्रेज पदाधिकारियों ने उन्हें एक स्टीमर से भारत भेजा। वे बन्दी के रूप में एक विशेष पहरे के अन्तर्गत जहाज में अलग रखे गये थे। जहाज के फ्रान्सिसी बन्दरगाह मार्सेलीज के निकट पहुँचने पर वे जहाज से कूद कर बच निकले तथा फ्रान्स की भूमि पर पहुँच गये। वे अपने आपको फ्रान्स की सरकार के समक्ष उपस्थित करना चाहते थे ताकि उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत राजनीतिक शरण प्राप्त हो सके किन्तु फ्रान्स के पुलिसमैन की लापरवाही से वे पुनः अंग्रेज अधिकारियों द्वारा पकड़कर बन्दी बना दिये गये तथा जहाज में बैठा कर भारत लाये गये। वीर सावरकर का यह मामला बाद में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, हेग में उठाया गया जिसमें फ्रान्स की सरकार ने इंग्लैण्ड की सरकार पर उनके राजनीतिक शरण में आये सावरकर को जबरन फ्रान्स की भूमि पर अनधिकृत प्रवेश कर ले जाने का मुकदमा चलाया। अन्त में न्यायालय ने निर्णय दिया कि फ्रान्स सरकार की लापरवाही से सावरकर को पुनः अंग्रेजी सरकार को सौंप दिया गया था अतः उन्होंने स्वयं अपनी सम्प्रभुता को क्षीण किया तथा इस कारण से सावरकर तो उन्हें पुनः नहीं सौंपे जा सकते थे, पर न्यायालय ने इंगलैण्ड से फ्रान्स सरकार के नाम इस घटना के लिए क्षमा मांगने का आदेश दिया। इंग्लैण्ड ने फ्रान्स से क्षमा मांगी। विनायक दामोदर सावरकर के 'केस' ने उन्हें रातोंरात अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में विश्व प्रसिद्ध बना दिया।

भारत पहुँचने पर सावरकर को सम्राट् के विरुद्ध युद्ध करने तथा अंग्रेजी राज्य का तख्ता पलटने के आरोप में कुल मिला कर पचास वर्ष का आजीवन कारावास दिया गया। उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई। उन्हें बैरिस्टर की मान्यता नहीं मिली तथा बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त उनकी बी० ए० की उपाधि भी पुनः लेकर रद्द कर दी गई। वे अण्डमान (कालेपानी) की बदनाम जेल में भेज दिये गये। वहाँ सावरकर के बड़े भाई बाबाराव सावरकर भी पहिले से सजा काट रहे थे। सावरकर को अनगिनत यातनाएं दी गयीं किन्तु उन्होंने अपने देश-प्रेम तथा अंग्रेजों के शासन के प्रति घृणा में लेशमात्र अन्तर नहीं आने दिया। उन्हें कोल्हू में तेल निकालने के लिए बैल की तरह जुतना पड़ा। खड़ी हथकड़ियों में लटकाया गया। अपमानित किया गया। तथापि उन्होंने सब कुछ आजादी के दीवानों की तरह सहन किया। जेल में इन्हें पढ़ने व लिखने की सख्त मनाही थी फिर भी विनायक दामोदर सावरकर ने कंकड़ व कांटों की सहायता से अपनी कविताएं लिखना जारी रखा जो कि उनकी रिहाई के बाद प्रकाशित हुई। इस तरह सावरकर ने सिद्ध कर

दिया कि बिना कागज कलम के भी वैदिक ऋषियों की भाँति महान् रचनाएं स्मृति के आधार पर सजोयी जा सकती थीं। जेल मे कैदियो का परस्पर मिलना मना था। उन्हें केवल भोजन के समय अथवा शारीरिक परिश्रम के समय साथ रखा जाता था। अपने विचारो का आदान-प्रदान करने के लिए सावरकर ने हिन्दी भाषा मे ऐसा 'कोड' तैयार किया जिससे अण्डमान की जेल के कैदी रात मे हथकड़ियो से ध्वनि निकालते हुए 'कोड' से बात करते थे। 1921 मे अण्डमान से सावरकर तथा उनके बड़े भाई दोनो भारत लाये गये। सावरकर को रत्नागिरि जेल में रखा गया। उनकी रिहाई के लिए आन्दोलन हुआ जिसके परिणामस्वरूप उन्हें 1937 मे जेल से रिहा किया गया। इस तरह उनका सत्ताईस वर्ष का जेल-जीवन पूर्ण हुआ।

जेल-मुक्त होने के पश्चात् सावरकर ने अपनी सारी शक्ति हिन्दू-महासभा को अर्पित कर दी। हिन्दुओं को सगठित करने में सावरकर ने अछूतो की समस्या का समाधान, उनके लिए समान शिक्षा का प्रबन्ध, दलित हिन्दू जातियो के उद्धार, अन्तर्जातीय विवाह आदि पर जी-जान से कार्य किया। जब 1947 मे भारत का विभाजन हुआ तो उनकी व्यथा अकथनीय थी। वे अन्त तक विभाजन का विरोध करते रहे। उनको हिन्दू-विचार-धारा के कारण उन्हें भारत के स्वतन्त्रता समारोह मे भी आमन्त्रित नहीं किया गया। गांधीजी की हत्या के षड्यन्त्र में सावरकर को गांधीजी विरोधी तथा राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ का हितैषी होने के नाते गिरफ्तार किया गया किन्तु वे लाल किले में लगाई गयी गांधी हत्याकाण्ड विशेष अदालत द्वारा (जिसमे गोडसे तथा आप्टे को फांसी की सजा सुनायी गयी) साफ बरी घोषित कर दिये गये। वे हिन्दुओं को सैन्य बल मे देखना चाहते थे। उनकी विचारधारा से राजनेता सहमत नहीं थे, किन्तु चीन तथा पाकिस्तान के आक्रमण ने सिद्ध कर दिया कि भारत को अपना सैन्य बल बढ़ाना होगा तथा केवल पचशील तथा शान्ति के नाम पर देश की अखण्डता की रक्षा नहीं होगी। सावरकर को स्वतन्त्र भारत में सहायता के लिए पेन्शन दी गयी किन्तु उनकी सम्पत्ति जो अंग्रेजी सरकार ने उन्हें आजीवन कारावास देते समय जब्त कर ली थी वह पुनः नहीं लौटायी गयी। सावरकर ने कभी भी पद-लोलुपता के वश सत्ता की कामना नहीं की। वे एक महान् देशभक्त थे। उनकी जीवन-गाथा भारतवासियो के लिए सदैव प्रेरणा का स्रोत रहेगी।[1]

सावरकर तथा हिन्दू-राष्ट्र की अवधारणा

विनायक दामोदर सावरकर हिन्दू-राष्ट्रवाद तथा हिन्दू-पुनरुत्थान के अद्वितीय विचारक थे। वे हिन्दुओं की सांस्कृतिक महत्ता को स्वीकार करते हुए राष्ट्र को पूर्ण एकता का प्रतीक मानते थे। उनके विचारो में हिन्दुओ को विभाजित करने वाले धार्मिक आन्दोलनो के स्थान पर उनके राजनीतिक एव सामाजिक एकीकरण की अधिक आवश्यकता थी। उन्होंने हिन्दुओ के समान हितो पर बल देते हुए उनको सगठित होने के लिए आह्वान किया। उनका यह परम विश्वास था कि एक राष्ट्र की दृष्टि से हिन्दुओ मे भाषा, इतिहास, संस्कृति, देश, धर्म आदि समस्त तत्त्वो की समानता विद्यमान थी। इस आधार पर हिन्दुओं को राष्ट्र के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।[2]

उन्होंने हिन्दुत्व की परिभाषा व्यक्त करते हुए कहा कि जो व्यक्ति सिन्धु नदी से समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण भारत को अपनी पितृभूमि तथा पुण्य-भूमि मानता है वही हिन्दू है।

हिन्दू राजनीतिक विचारधारा की दृष्टि से हिन्दुत्व की यह परिभाषा एक क्रान्तिकारी प्रयोग था। इसके माध्यम से उन्होंने हिन्दू-राष्ट्रवाद की धारणा को सम्बन्धित किया। सावरकर द्वारा प्रतिपादित हिन्दूत्व की धारणा ने एक अवयवी सामाजिक राजनीतिक योग्यता के साथ एक ऐसा कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसमें हिन्दुओं को पृथक करने वाले समस्त तत्त्वों को अस्वीकार किया गया। वे हिन्दुओं में अन्तरजातीय तथा अन्तर-उपजातीय विवाह आदि आदान-प्रदान के समर्थक थे। वे मुसलमानों को प्रसन्न करने वाली नीति के उपासक नहीं थे। उनके अनुसार यदि भारतीय मुसलमान स्वराज्य-प्राप्ति में सहयोग नहीं देना चाहते थे तो उनसे अनुनय-विनय करने की आवश्यकता नहीं थी। मुसलमानों के बिना भी हिन्दू अपनी स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करने में समर्थ थे।

सावरकर ने हिन्दू राष्ट्र की अवयवी एवं सांस्कृतिक एकता को स्वीकार करते हुए हिन्दुत्व के तीन लक्षण बतलाये। उनके अनुसार पहला लक्षण राष्ट्र-प्रेम एवं प्रादेशिक एकता तथा अखण्डता में विश्वास था। उनके अनुसार दूसरा लक्षण जातीय तथा रक्त सम्बन्ध था। वे हिन्दू-रक्त को हिन्दूत्व के महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में मानते थे। तीसरा लक्षण हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति में गर्व अनुभव करने से सम्बन्धित था। इस प्रकार राष्ट्र, जाति तथा संस्कृति हिन्दूत्व के प्रमुख लक्षण थे। सावरकर द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त हिन्दूत्व की धारणा हिन्दूवाद के विचार से कहीं अधिक व्यापक है। हिन्दूवाद जिसका अनेक भारतीय विचारकों ने समर्थन एवं प्रतिपादन किया है केवल संकीर्ण विचार ही प्रस्तुत करता है। इसमें केवल हिन्दुओं के धर्म, विद्या, धार्मिक अनुष्ठान, रीतिरिवाज तथा क्रियाकलाप आदि सम्मिलित किये जाते हैं। किन्तु हिन्दुत्व शब्द हिन्दूओं की राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक आदि समस्त विशेषताओं को लिये हुए हैं। इतना होने पर भी हिन्दूत्व की धारणा मानवतावाद तथा सार्वभौमवाद के प्रतिकूल नहीं है। सावरकर ने इसे एक बौद्धिक तथा वैज्ञानिक धरातल पर प्रस्तुत किया है ताकि उसमें संकीर्णता का प्रवेश न होने पाये।[3]

सावरकर ने हिन्दू पुनरुत्थानवाद तथा दार्शनिक आदर्शवाद का भी समीचीन निर्वाह किया है। वे हिन्दू अध्यात्मवाद तथा नीति-शास्त्र के मूल भूत सिद्धान्तों में निष्ठा रखते थे। *गीता* के कर्मयोग ने उन्हें यथार्थ में कर्मयोगी बना दिया। उनका राजनीतिक जीवन इसका साक्षी है। वे हिन्दूत्व के विश्व-दर्शन में विश्वास रखते थे तथा हिन्दू-समाज-व्यवस्था में क्रमिक परिवर्तन के अनुयायी थे। वे हिन्दू-वर्णाश्रम-व्यवस्था के स्थान पर हिन्दू-वर्णाश्रमधर्म का समर्थन करते थे। समाजवादी सिद्धान्तों की अनुपासना उनका लक्ष्य नहीं था क्योंकि राजनीतिक वादविवाद में अपना समय नष्ट करने के स्थान पर देश की स्वतन्त्रता व राष्ट्रीयता के संचार में अधिक व्यस्त थे। वे प्रतिक्रियावादी पुरातनपन्थी नहीं थे। यथार्थ में उनकी पूर्ण निष्ठा थी। मुसलमानों द्वारा अंग्रेजों का समर्थन एक ऐसी स्थिति थी जिससे वे हिन्दू संगठनवादी बने। बहुसंख्यक समाज की विचारधारा के अनुसार नीति-निर्माण का पक्ष लेते हुए अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण का उन्होंने विरोध किया। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे धार्मिक असहिष्णुता में विश्वास करते थे। उन्होंने अपने विचार दर्शन में अन्याय का प्रतिकार किया तथा हिन्दू-धर्म की सहृदयता, दयालुता

तथा सहिष्णुता का पूरा पूरा परिचय दिया। उनके विचारों का विरोध मुसलमानों व अंग्रेजों के द्वारा इसलिए नहीं हुआ कि वे हिन्दुत्व के प्रचारक थे अपितु इस कारण अधिक हुआ कि वे एक विदेशी सत्ता के उग्रतम विरोधी थे।[4]

हिन्दू-राष्ट्र के बारे में सावरकर का यह मत था कि भारत में केवल हिन्दू ही राष्ट्र के रूप में थे तथा अन्य व्यक्ति अल्पसंख्यकों के रूप में। हिन्दुओं का अतीत तथा वर्तमान इतिहास समान था। उन्होंने समान शत्रुओं का सामना किया। उनकी इस एकता ने इन्हें एक विशिष्ट राष्ट्र में परिवर्तित कर दिया। हिन्दुओं के सांस्कृतिक त्योहार व रीतिरिवाज समान रहे। उन्होंने वैदिक ऋषियों, पाणिनि तथा पतञ्जलि जैसे वैयाकरणों, भवभूति तथा कालिदास जैसे कवि, राम तथा कृष्ण जैसे युग-पुरुषों, शिवाजी व प्रताप जैसे स्वतन्त्रता सेनानियों से समान रूप में प्रेरणा प्राप्त की। उनकी प्राचीन पवित्र भाषा संस्कृत ने समान रूप से नागरी लिपि द्वारा समस्त लेखन को प्रभावित किया तथा उनके विचार से गंगा तथा मिसीसीपी नदियों के पानी में कोई अन्तर नहीं था। इसलिए प्रश्न यह उठता था कि गंगा जैसी नदी भारत के अलावा है ही नहीं, इसीलिए हम भारत को अद्वितीय देश मान लें। इस देश के हिन्दुओं के इतिहास तथा उनके पूर्वजों की यह जन्मभूमि तथा कर्मभूमि रहा है, इसलिए हम इससे अधिक लगाव है।[5]

सावरकर ने भारतीय राष्ट्रवाद के सिद्धान्त को कांग्रेस के राष्ट्रवाद के सिद्धान्त से अलग होकर देखा। उनका कहना था कि विभिन्न जातियों के द्वारा अन्य जातियों से पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर किसी देशविशेष में निवास करना राष्ट्रवाद का परिचायक नहीं है। उनके अनुसार कांग्रेस ने यही भूल की कि वह हर एक को भारतीय राष्ट्रवाद का अंग मानती रही। सावरकर के अनुसार कांग्रेस की विचारधारा भारतीय राज्य की प्रतीक थी न कि भारतीय राष्ट्र की। हिन्दुओं द्वारा अन्य जातियों से सम्बन्ध स्थापित करना भारतीय राज्य का निर्माण कहा जा सकता है, राष्ट्र का नहीं। उनके विचार में विश्व के समस्त मुसलमान तथा विशेषकर भारतीय मुसलमान धार्मिक मतान्धता से ऊपर उठे हुए नहीं हैं, वे अपनी धार्मिक राजनीति में विश्व को दो भागों में बटा पाते हैं—एक मुस्लिम देश तथा दूसरे शत्रु देश। उन्हें केवल मुस्लिम देश के प्रति निष्ठावान होना सिखाया जाता है न कि ऐसे देश के प्रति जहां वे अल्पसंख्या में हैं। उन्हें इसी बात का खेद था कि भारतीय मुसलमान खिलाफत की आड में देश छोड़ने को तैयार थे परन्तु भारत को अपना देश नहीं समझते थे। जो मुसलमान, चीन, पोलैण्ड, हंगरी आदि में रहने लगे हैं वे वहां की बहु-संख्यक जाति के सामने मुंह तक नहीं खोलते, क्योंकि ऐसा करने का उन्हें अवसर ही नहीं दिया जाता। इस कारण वे स्वतः वहां के निवासियों में घुल-मिल गये हैं। किन्तु भारतीय मुसलमानों की स्थिति विचित्र थी। उनके विचार में इस देश के प्रति हिन्दुओं के अलावा और कोई वफादार नहीं था। स्वतन्त्र भारतीय राज्य की आधार-शिला हिन्दू ही हो सकते थे। यही कारण है कि उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता के लिए पहल ही नहीं की अपितु सर्वाधिक योगदान भी दिया है तथा दे रहे हैं। हिन्दुओं को अपना एक स्वतंत्र देश चाहिए जहां वे अपने पूर्वजों के समान अपनी महान् परम्परा का निर्वाह कर सकें। इस कारण से उनको संगठन, एकता एवं शक्ति के लिए प्रयास करना चाहिए। सावरकर ने इस सन्दर्भ में शुद्धि-आन्दोलन को धार्मिक ही नहीं वरन् राजनीतिक, राष्ट्रीय व धर्म-निरपेक्ष सन्दर्भ में

देखा। उनके अनुसार यदि हिन्दुओं की जनसंख्या कम होती है और अल्पसंख्यक संख्या में अधिक हो जाते हैं तो हिन्दुस्तान का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। हिन्दू जाति में वे समस्त गुण मौजूद है जिससे वह आज तक जीवित रही है तथा आगे भी वह श्रेष्ठतम रहेगी।[6]

सावरकर हिन्दू-राष्ट्र की भावना को संकीर्ण नहीं बतलाते थे। उनका विचार था कि यदि उनमे संकीर्णता होती तो भारतवासी भारत के अलावा अन्य के लिए क्यों लड़ने को जाते। भारत से प्रेम करने वाला ही तो भारत के लिए लड़ेगा। औरंगजेब या टीपू-सुल्तान को सावरकर क्षेत्रीय दृष्टि से भारतीय अवश्य मानते थे किन्तु उनकी हिन्दू-राजाओं से शत्रुता अराष्ट्रीय थी। इसी कारण से प्रताप, शिवाजी, गुरुगोविन्द सिंह तथा पेशवाओं ने हिन्दू-स्वराज्य की स्थापना करने के लिए मुसलमानों के आधिपत्य के विरुद्ध संघर्ष किया। सावरकर यह मानते थे कि देश-भक्ति संकीर्ण एवं सामुदायिक हुआ करती है तथा मानवता के इतिहास में देश-भक्ति की धारणा ने भीषण युद्ध कराये हैं। किन्तु सावरकर के अनुसार अच्छाई व बुराई का अन्तर प्रयोजन के परीक्षण से हो सकता है। उनका यह विचार था कि जब तक कोई राष्ट्र या समुदाय अपनी न्यायपूर्ण मांगों तथा अधिकारों के लिए विदेशी अन्यायपूर्ण आक्रमणकारियों से लड़ता है तथा दूसरों के समान स्वतन्त्रता का हनन करने का प्रयोजन नहीं रखता तो ऐसा राष्ट्र तथा उसके देशभक्त मानवता के शत्रु नहीं माने जा सकते। राष्ट्रवाद आक्रामक होने पर उसी प्रकार घातक सिद्ध होता है जिस प्रकार सम्प्रदायवाद किन्तु रक्षात्मक सम्प्रदायवाद तथा न्यायोचित राष्ट्रवाद मानवीय तथा न्यायसंगत है।[7]

सावरकर के अनुसार हिन्दुओं ने दूसरों के मानवीय अधिकारों का अतिक्रमण नहीं किया। वे अपने लिए विशेषाधिकारों की मांग नहीं कर रहे थे। उनका उद्देश्य केवल यह था कि वे अन्य समुदायों के हाथ शोषित न हों। सावरकर हिन्दू-मुस्लिम-एकता के पक्ष में थे। वे शिवाजी व औरंगजेब के संघर्ष की पुनरावृत्ति नहीं चाहते थे। किन्तु उन्होंने राजपूत, सिक्ख तथा मराठों द्वारा मुगल शासन को समाप्त करने वाले संघर्ष को उचित ठहराया तथा इसी आधार पर वे मुसलमानों के प्रभुत्व तथा उनके द्वारा भारत के विभाजन की मांग को स्वीकार नहीं करते थे। वे एक व्यक्ति एक मत का सिद्धान्त चाहते थे। इस प्रकार सावरकर, गोखले, फिरोजशाह मेहता, एनीबेसेन्ट, अम्बेडकर आदि के विचारों के निकट थे। केवल अन्तर यह था कि सावरकर अल्पसंख्यकों को तुष्ट करने तथा बहुसंख्यकों द्वारा उनके सामने घुटने टेक देने के पक्ष में नहीं थे। सावरकर यह भी नहीं मानते थे कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता को भंग करने के लिए अंग्रेज दोषी ठहराये जायें। उनका विश्वास था कि मुसलमानों की कुटिलनीति ने ही हिन्दू-मुस्लिम-एकता को भंग किया है। उनके अनुसार और भी अल्पसंख्यक भारत में हैं पर वे मुसलमानों की तरह नहीं। वे पारसियों को, ईसाइयों को तथा यहूदियों को भारतीय राज्य का सहगामी मानते थे। इस प्रकार उनके विचारों में अल्पसंख्यकों की समस्या केवल एक अल्पसंख्यक अर्थात् मुस्लिम अल्पसंख्यकों की समस्या थी। भारतीय मुसलमानों के लिए सावरकर वे सारी सुविधायें देने के पक्ष में थे जो किसी भी नागरिक को भाषा, धर्म तथा संस्कृति के आधार पर मिल सकती है। किन्तु वे उन्हें उनकी अभारतीय वृत्ति के कारण कुछ वर्षों के लिए एक अविश्वसनीय

मित्र के समान रखना चाहते थे।[8]

सावरकर सापेक्ष अहिंसा के पक्ष में थे। वे हिंसा तथा शक्ति को भी देश-रक्षा के लिए अनिवार्य मानते थे। उनके अनुसार भारत शक्ति का प्रयोग केवल अपने अस्तित्व को बनाये रखने तथा अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए ही चाहता है। विक्रमादित्य तथा शालिवाहन ही भारतीय सभ्यता व संस्कृति का रक्षण कर सके। महात्मा बुद्ध तथा गीता के उपदेशों के अनुसार ही हिन्दुओं का आचरण रहा है तथा रहेगा। किन्तु बुद्ध के आदर्शों पर चलकर अहिंसा को अपना लक्ष्य बनाने पर वही स्थिति होगी जो शक तथा हूणों से की। इसलिए पूर्ण अहिंसा के स्थान पर सापेक्ष अहिंसा ही राष्ट्र की मूल होनी चाहिए।[9]

सावरकर की हिन्दू-विचारधारा का मूल यह था कि ब्रिटिश भारत में होने वाले समस्त चुनावों में हिन्दू केवल उन्हीं हिन्दुओं को अपना मत दें जो प्रत्यक्ष में हिन्दू-राष्ट्र का समर्थन करें। उनके अनुसार कांग्रेस की नीति पूर्णतया मुस्लिम समर्थक थी। यहाँ तक कि एक कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने हिन्दुओं को मोहर्रम के दिनों में संगीत का कार्यक्रम करने की मनाही की थी। कांग्रेस के मन्त्री इस बात में गर्व महसूस करते थे कि वे मुसलमानों को हर तरह की सुविधा देना चाहते हैं तथा मुसलमानों को खुश करने के लिए हिन्दुओं के हितों का बलिदान भी कर सकते हैं। सावरकर के अनुसार यही कारण है कि मुसलमान दिन पर दिन सिर पर चढ़ते गये तथा हिन्दुओं के विरुद्ध अधिक से अधिक आक्रामक होते गये।[10]

सावरकर ने भारत की स्वतन्त्रता व अखण्डता को सदैव अपने राजनीतिक जीवन का लक्ष्य रखा। हिन्दू-महासभा के वे मूर्धन्य नेता रहे। हिन्दू-महासभा के अहमदाबाद (कर्णावती) अधिवेशन (1937) की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने कहा कि वे कांग्रेस की नीति का विरोध मुस्लिम तुष्टीकरण, साम्प्रदायिक घोषणा, साइमन कमीशन जनगणना, राष्ट्रीय लिपि, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रगीत आदि अनेक मुद्दों पर करते थे। जब मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन (1940) में पृथक् राज्य की माँग रखी तब सावरकर को मुसलमानों की निष्ठा के प्रति सन्देह हुआ। अपने हिन्दू-महासभा के मदुरा अधिवेशन (1940) के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने भारत को सैनिक दृष्टि से प्रबल बनाने की बात कही। वे हिन्दुओं में सैन्यीकरण का आन्दोलन चलाना चाहते थे। 1941 में भारत की जनगणना के समय सावरकर ने विचार प्रकट किया कि भारत के समस्त हिन्दू चाहे वे आदिवासी भील हों, संथाल हों अथवा अन्य अपने आपको हिन्दू लिखवायें। उन्होंने यह भी अपील की कि आर्यसमाजी, लिंगायत आदि समस्त अपने को आर्य (हिन्दू), सिक्ख (हिन्दू) जैन (हिन्दू) आदि के रूप में अंकित करायें। उन्होंने हिन्दू-महासभा के माध्यम से इसका राष्ट्रव्यापी प्रचार किया कि हिन्दू जनगणना के समय जागरूक व सक्रिय रहें। वे चाहते थे कि जनगणना के समय हिन्दुओं द्वारा सरकार से यह आश्वासन प्राप्त किया जाये कि ईसाई व एंग्लो इण्डियन महिला निरीक्षकों के द्वारा मुस्लिम स्त्रियों की संख्या की जाँच की जायेगी। किन्तु सावरकर की बात पर कांग्रेस ने ध्यान नहीं दिया और 1921, 1931 की भाँति 1941 की जनगणना का भी बहिष्कार किया। कांग्रेस के महासचिव आचार्य कृपलानी ने जनगणना का इसलिए बहिष्कार किया कि यह एक साम्प्रदायिक

प्रश्न था। सावरकर ने इस पर व्यंग करते हुए व्यक्त किया कि यदि जनगणना साम्प्रदायिक है तो फिर निर्वाचन् के समय कांग्रेस साम्प्रदायिक निर्वाचकों से मतों की भीख क्यों मांगती है और वे स्वयं नामांकन पत्र भरते समय जाति व धर्म का उल्लेख क्यों करते हैं ? सावरकर की बात कांग्रेस के समर्थक हिन्दुओं ने नहीं मानी तथा परिणाम यह निकला कि जहाँ पंजाब में 1881 में हिन्दू 53 प्र०श० थे वहाँ 1921 में 49 प्र०श० तथा 1931 में 48 प्र०श० तथा 1941 में 47 प्र०श० रह गये। इसी प्रकार से बंगाल में भी मुस्लिम लीग की चालबाजी से हिन्दुओं को जनगणना में अल्पमत में बताया गया। बंगाल की 14 प्र०श० हिन्दू जनजातियों की जनगणना ही नहीं हुई। इस प्रकार भारत के विभाजन के लिए जनगणना का जो आधार बताया गया उसे सावरकर ने एक झूठी चाल माना तथा उसे अस्वीकार किया। जिन्ना द्वारा हिन्दू-महासभा की आलोचना किये जाने पर सावरकर ने कहा कि जिन्ना यदि यह समझता है कि वह विश्व इस्लामी समुदाय के समर्थन से पाकिस्तान बना लेगा तो हिन्दू भी एक हिन्दू-बौद्ध संगठन बनाकर जम्मू से जापान तक उसका विरोध करेंगे। उनका कहना था कि जिस तरह मराठों ने मुगल शासन का अन्त किया उसी तरह से एक दिन जिन्ना का यह पाकिस्तान यदि बन भी गया तो उसी प्रकार से छिन्न-भिन्न हो जायेगा। उन्होंने यह भी कहा कि पाकिस्तान बने या समाप्त हो जाये पर हिन्दुस्तान तो हमेशा ही रहेगा। सावरकर का विचार था कि भारत के मुसलमानों का भविष्य इसी में सुरक्षित है कि वे हृदय से भारत के स्वामिभक्त बने तथा भारत की स्वतन्त्रता व अविभाज्यता को मानते हुए जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व स्वीकार करें। योग्यता के आधार पर सरकारी सेवाओं में नियुक्त होना स्वीकार करें तथा समान मौलिक अधिकार प्राप्त करें। सावरकर ने अपनी 59वीं वर्षगांठ पर राष्ट्र को यह सन्देश दिया कि राजनीति का हिन्दूकरण हो तथा हिन्दू-राज्य का सैन्यकरण। सावरकर ने समय-समय पर हिन्दुओं में व्याप्त अछूता की समस्या का निराकरण करने के लिए जाति विरोधी आन्दोलन संचालित किया। वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रशंसक एवं संरक्षक थे।[11]

सावरकर ने अपनी हिन्दू-राष्ट्र की अवधारणा में सदैव निष्ठा रखी तथा भारत के विभाजन की मांग को भी स्वीकार नहीं किया। उनका यह स्पष्ट विचार था कि कोई भी कांग्रेस-लीग समझौता हिन्दुओं को नहीं बांध सकता। यदि यह हिन्दू विरोधी हुआ तो हिन्दू महासभा उसका विरोध करेगी। सावरकर ने क्रिप्स-मिशन के सामने उपस्थित होकर क्रिप्स को इस अकाट्य तर्क से कि भारत एक संगठित राष्ट्र है तथा इसी कारण उसे आत्मनिर्णय का अधिकार है स्तब्ध कर दिया। क्रिप्स ने जब यह कहा कि भारत संगठित राष्ट्र नहीं है तो सावरकर ने जवाब दिया कि हिन्दुओं का यह विश्वास रहा है कि भारत जो कि उनकी मातृभूमि तथा पवित्र भूमि रहा है एक सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय इकाई है और इस कारण से अविभाज्य भी है। उनका यह तर्क था कि प्रशासनिक दृष्टि से ब्रिटिश सरकार भी भारत सरकार को भारत की सरकार तथा सेना और नौ सेना को भारतीय सेना तथा भारतीय नौ सेना मानती है। बम्बई व बंगाल को प्रान्त माना जाता है न कि पृथक राज्य। इससे सिद्ध होता है कि भारत एक अविभाज्य केन्द्रीभूत राष्ट्र व राज्य है। उन्होंने आगे कहा कि आत्मनिर्णय का अधिकार एक राष्ट्र का अधिकार है और यह भार

राष्ट्र को मिलना चाहिए न कि किसी एक भाग को। क्रिप्स जो कि अपनी कूटनीति के लिए प्रसिद्ध था, जिसने रूस को द्वितीय विश्व युद्ध मे जर्मनी के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार किया तथा नेहरू के विचारों पर छाया रहा, वही क्रिप्स सावरकर के अकाट्य तर्कों के सामने निरुत्तर हो गया। वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री ने इस घटना से प्रसन्न होकर सारे देश के नाम अपील जारी की कि भारत की एकता मे विश्वास रखने वाले समस्त हिन्दुओं को हिन्दू-महासभा का समर्थन करना चाहिए।[12]

पाकिस्तान की स्थापना ने सावरकर की विचारधारा को झकझोर दिया। वे यह देखकर हतप्रभ रह गये कि कांग्रेस, समाजवादी दल, आर्य-समाज तथा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ किसी ने भी भारत के विभाजन का विरोध नही किया। भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई किन्तु सावरकर तथा हिन्दू महासभा दोनों को ही विस्मृत कर दिया गया। सावरकर ने आजादी की वेला मे हिन्दू महासभा का गेरुआ झण्डा जिसमे कुण्डलिनी (भारतीय योग दर्शन का प्रतीक) तथा कृपाण (शक्ति का प्रतीक) अंकित थे, फहराया। साथ ही साथ तिरंगे झण्डे को भी फहराया। उनके अनुसार पहला राष्ट्रीय ध्वज के रूप मे हिन्दू-राष्ट्र का प्रतीक था तथा दूसरा भारतीय राष्ट्र के प्रतीक के रूप मे था। सावरकर ने हिन्दू-राष्ट्र के सिद्धान्त को नहीं छोड़ा। उन्होंने हिन्दुओं का आह्वान किया कि वे उसी प्रकार से हिन्दू-राष्ट्र के लिए लड़ते रहे जिस प्रकार अंग्रेजों से स्वतन्त्रता के लिए लड़ते रहे।[13]

सावरकर भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के महान् सेनानी थे। नेहरू तथा मानवेन्द्रनाथ राय के राजनीति मे प्रवेश करने से पहिले उन्होंने धर्म-निरपेक्षता तथा आधुनिकता का सन्देश दिया। किन्तु उनके विरोधियों ने उन्हें संकीर्ण सम्प्रदायवादी तथा पुरातनपंथी कहने मे कसर नहीं छोड़ी। सावरकर पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 1909 मे प्रकाशित अपने ग्रन्थ **दी इण्डियन वार आफ इण्डिपेन्डेन्स** मे यह सिद्ध किया कि 1857 का युद्ध भारत का प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम था जो भारत से ब्रिटिश शासन को निकाल फेंकने का हिन्दू-मुस्लिम सशस्त्र प्रयास था। इसी प्रकार से अपने ग्रन्थ **भारतीय इतिहास के छ: स्वर्णिम पृष्ठ** मे सावरकर ने यह सिद्ध किया कि "आक्रामक यवन, शक, कुशाण व हूण के कुस्वप्न को विफल करने के लिए चन्द्रगुप्त, पुष्यमित्र, विक्रमादित्य एवं यशोवर्मा की पौरुषपूर्ण विजय तथा तत्कालीन परिस्थितियों का सत्य भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों मे से है। उनके शौर्य के सम्मुख सिकन्दर जैसा तथाकथित 'महान्' एवं विश्व-विजेता भी अपनी कल्पना साकार नही कर सका तथा नतमस्तक हुआ।" सावरकर का हिन्दुत्व-दर्शन तथा हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का अभियान महान् कार्य थे। अपने 27 वर्ष के जेल जीवन मे जो कठिन योगसाधना उन्होंने की तथा जो मौलिक चिन्तन किया वह किसी पद, प्रतिष्ठा या व्यक्तिगत लाभ के लिए नही था। उनका जीवन प्रारम्भ से अन्त तक राष्ट्र के लिए समर्पित रहा। हिन्दू जाति के उन्नायकों मे उनका महान् स्थान रहेगा। सावरकर की यह धारणा कि भारत को सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ रहना चाहिए याद रखी जायेगी। उनकी एक हार्दिक अभिलाषा रही कि भारत अपने राष्ट्रीय बहुमत की संस्कृति का प्रतीक बने। वे हिन्दुओं को एक राष्ट्र के रूप मे सदैव देखते रहे। अपने भावुक क्षणों मे एक बार सावरकर ने यह व्यक्त किया कि यदि हिन्दू राष्ट्र को गौरव प्राप्त करना है तो हिन्दुओं को हिन्दू ध्वज के नीचे अपने राज्य की स्थापना करनी होगी। उनका कहना था कि यदि यह नही

हुआ तो यह उनका दिवास्वप्न होगा। यदि यह स्वप्न पूरा होता है तो उन्हें ऐसे राष्ट्र का भविष्यवक्ता माना जायेगा। यही उनकी हार्दिक अभिलाषा थी जो सावरकर ने अपने शब्दों में व्यक्त की थी।[14]

सावरकर का चिंतन

सावरकर ने अपने राष्ट्रवादी विचारों को मानवतावादी दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष में प्रस्तुत किया है। वे एक सर्वमानव राज्य के पक्ष में हैं न कि संकीर्ण राष्ट्रवाद के उपासक। उनका अन्तिम लक्ष्य विश्व राज्य की कल्पना को साकार करने का है। किन्तु मानव राज्य की कल्पना को वे हिन्दू राष्ट्रवाद के नाम से प्राप्त करना चाहते हैं। जब तक हिन्दू एक राष्ट्र के रूप में संगठित होकर अपने आपको सशक्त नहीं बना लेते तब तक *विश्व संगठन* की कल्पना साकार नहीं हो सकती। उनके अनुसार राजनीति विज्ञान तथा कला दोनों का आदर्श मानवीय राज्य की स्थापना ही है। पृथ्वी हमारी मातृभूमि है और समस्त विश्व मानवता हमारा राष्ट्र और अधिकार तथा कर्त्तव्यों की समानता पर आधारित एक मानवीय सरकार हमारा अन्तिम लक्ष्य है। सावरकर ने हिन्दुओं को हिन्दुत्व से परिचित कराते हुए कहा है कि विकासवाद का सिद्धान्त यह मानता है कि दुर्बल तथा डरपोक हमेशा से शक्तिशाली एवम् शौर्यवानों के शिकार रहे हैं। उनके अनुसार जब तक विश्व में राष्ट्रीय एवम् प्रजातीय अन्तर विद्यमान है तब तक भारतीयों को भी अपनी राष्ट्रीय एवम् प्रजातीय एकता को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहना होगा। उन्होंने हिन्दुओं को सार्वभौमवाद एवम् अहिंसा से सजग रहने का सुझाव दिया है ताकि वे अपरिपक्व विश्व एकता के बने रहते अपने शत्रुओं के शिकार न बन जायें। हमें अपने शत्रुओं का सामना करने में समर्थ बनना होगा और अन्याय का प्रतिकार करने के लिए विरोध के अधिकार से युक्त होना होगा। उन्होंने इस संदर्भ में बौद्ध धर्म की असफलता का उल्लेख किया है और कहा है कि एक विश्वव्यापी धर्म होकर भी बौद्ध धर्म असत्य एवम् अन्याय की मार नहीं सह सका। इस प्रकार सावरकर ने राष्ट्रवाद, मानवतावाद तथा सार्वभौमवाद को दृष्टि में रखकर यह व्यक्त किया है कि हिन्दुओं को हिन्दू राष्ट्रीयता को बलवती बनाना है। हमें गैरहिन्दुओं के प्रति आक्रामक रवैया नहीं अपनाना है किन्तु अपनी आत्म रक्षार्थ हमें हर पल तैयार रहना है ताकि किसी भी आकस्मिक आक्रमण का साहसपूर्ण सामना कर सकें।[15]

सावरकर ने हिन्दुओं को शांतिपूर्ण समृद्धि की ओर बढ़ाने का दर्शन प्रदान किया है। उन्होंने सापेक्ष अहिंसा को स्वीकार किया है किन्तु पूर्ण अहिंसा को पापपूर्ण माना है। उनका विश्वास है कि हिन्दू प्राणी मात्र में आत्मवत समानता के दर्शन करते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम पूर्ण अहिंसा को स्वीकार कर अपनी कायरता का परिचय दें। *उनके अनुसार हम अहिंसा का इसलिये त्याग नहीं करते कि हम कम साधुवृत्ति के हैं* बल्कि इसलिए करते हैं कि हम अधिक बुद्धिमान हैं। उनके अनुसार अहिंसा के उपदेश देने वालों ने भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् हैदराबाद, कश्मीर तथा अन्य प्रदेशों में जो कुछ किया है वह उनके उपदेशों से मेल नहीं खाता। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि पूर्ण अहिंसा के स्थान पर सापेक्ष अहिंसा को ही व्यावहारिक जीवन में स्वीकार किया जाय। सावरकर शक्ति तथा पौरुष के प्रतीक रहे हैं। वे आवश्यकता पड़ने पर अहिंसक उपाय

अपनाने के विरोधी नहीं है। उनके अनुसार दुष्ट व्यक्ति की दुष्टता का अंत करने में बुराई नहीं है। यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करने पर उतारू है तो उसे ऐसे आततायी के प्रति कदापि दया नहीं करनी चाहिये।[16]

सावरकर ने क्रांति के संबंध में अपने स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत किये हैं। वे क्रान्ति को छलांगें मारने वाला विकासवाद मानते हैं। क्रांतियाँ निश्चित नियमों के आधार पर नहीं होती। क्रान्ति में अनिश्चितता के लिए कोई स्थान नहीं है। शत्रु को किसी भी प्रकार का समय तथा अवसर देना क्रान्ति के लिए घातक होता है। जिस क्रान्ति के द्वारा अन्याय तथा दमन को नष्ट किया जाता है वह पवित्र होती है। किन्तु जब क्रान्ति एक प्रकार के अन्याय तथा दमन को दबाकर दूसरे प्रकार का अन्याय तथा दमन प्रारम्भ कर देती है तो वह अपने आप में अपने विनाश के बीज लिए हुए ही होती है। विदेशी शासन से क्रांति द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् जनता के बहुमत द्वारा निर्मित संविधान तत्काल लागू कर सभी को उसके प्रति आदर भाव दिखलाना चाहिए। इस प्रकार सावरकर ने बाहर क्रांति तथा घर में संविधान, बाहर अशांति तथा घर में शांति, बाहर शक्ति का प्रदर्शन तो घर में कानून की मान्यता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।[17]

सावरकर ने जिस भावी भारत का आदर्श स्वरूप चित्रित किया है वह आधुनिक समय के भारत की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डालने तथा समस्याओं का निवारण करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। सावरकर का भावी स्वप्न इस प्रकार से है—

1. सावरकर के भारत में जाति, धर्म, नस्ल अथवा विश्वास के भेदभाव के बिना उन सभी नागरिकों के समान अधिकार एवम् कर्त्तव्य होंगे जो भारत के प्रति पूर्णतः राजभक्त होंगे।
2. सभी अल्पसंख्यकों को उनकी भाषा, धर्म, संस्कृति आदि की सुरक्षा का अधिकार दिया जायगा किन्तु किसी को भी एक राज्य के अन्तर्गत नवीन राज्य का निर्माण करने अथवा बहुमत के वैधानिक अधिकारों का हनन करने का अधिकार नहीं दिया जायगा।
3. भाषण, विश्वास, अर्चना संगठन आदि की स्वतन्त्रता से संबंधित मौलिक अधिकार सभी नागरिकों को समान रूप से प्राप्त होंगे, सार्वजनिक शान्ति एवम् व्यवस्था के हित में अथवा राष्ट्रीय आपातकाल के समय उन पर जो कुछ प्रतिबंध लगाये जायेंगे वे किसी धार्मिक अथवा प्रजातीय उद्देश्य से प्रेरित न होकर समान राष्ट्रीय धारणा पर आधारित होंगे।
4. जाति, विश्वास, प्रजाति अथवा धर्म के भेदभाव के बिना प्रति व्यक्ति एक मत सामान्य नियम होगा।
5. संयुक्त प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की जाएगी।
6. प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क एवम् अनिवार्य होगी।
7. सेवाओं में केवल योग्यता के आधार पर नियुक्तियां की जाएंगी।
8. भाषाई अल्पसंख्यकों को अपने बालकों को अपनी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने के लिए पृथक विद्यालयों की स्थापना का अधिकार होगा, उनकी धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थायें इस कार्य के लिए सरकार द्वारा सहायता प्राप्त

करेंगी किन्तु यह सहायता उनके द्वारा शासन को दिए गए कर के अनुपात में होगी।

9. अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार में निहित होंगी।
10. नागरी लिपि राष्ट्रीय लिपि होगी, राष्ट्रभाषा हिन्दी होगी तथा संस्कृत भारत की देवभाषा होगी।[18]

उपर्युक्त सुझावों के अतिरिक्त सावरकर ने भावी भारत की कल्पना करते हुए उसके आर्थिक पक्ष पर भी विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार भारत की जनता मशीन युग का स्वागत करेगी। हस्तशिल्प तथा हाथ करघा को भी बढ़ावा दिया जायेगा किन्तु राष्ट्रीय उत्पादन मशीनों द्वारा भारी मात्रा में किया जाएगा। किसान तथा श्रमिक राष्ट्र की सम्पदा, स्वास्थ्य एवं शान्ति के प्रमुख स्रोत होंगे अतः उनके विकास के सभी प्रयत्न किये जायेंगे और ग्रामीण क्षेत्र का पूर्ण विकास किया जाएगा। किसानों तथा श्रमिकों को पूंजी के वितरण का उतना साझा प्राप्त होगा जिसके कारण वे निर्धनता की निम्नतम सीमा में न रहकर आरामदायक जीवन के सामान्य स्तर को प्राप्त कर सकें। उन्हें राष्ट्र का अविभाज्य अंग मानते हुए सभी प्रकार के कर्तव्यों एवं दायित्वों से युक्त किया जाएगा ताकि राष्ट्रीय उद्योगों, सम्पत्ति के सामान्य विकास एवं सुरक्षा के अनुपात में उन्हें अपना लाभ प्राप्त हो। राष्ट्रीय पूंजी व्यक्तिगत प्रकृति की होने के कारण राष्ट्रीय उद्योगों के विकास में अनवरत रूप से उसी प्रकार लगी रहे इसके लिए पूंजी के व्यक्तिगत स्वामित्व को प्रोत्साहन एवं संरक्षण प्राप्त होगा। पूंजी तथा श्रम दोनों के हित राष्ट्र की आवश्यकताओं के अधीन रहेंगे। यदि कोई उद्योग अत्यधिक मुनाफा कमा रहा हो तो उस लाभ को अनुपात से श्रमिकों में बांट दिया जाएगा किन्तु उसके विपरीत स्थिति होने में पूंजीपति तथा श्रमिक दोनों को घाटे की स्थिति समान रूप से झेलने के लिए तत्पर रहना होगा ताकि राष्ट्रीय उद्योग पूंजीपति अथवा श्रमिकों के निहित स्वार्थों द्वारा हानि न उठायें। राज्य द्वारा ऐसे कदम उठाये जायेंगे जिससे राष्ट्रीय उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से सुरक्षा प्रदान की जा सके। यदि राष्ट्रीय सरकार चाहे तो वह सभी प्रमुख उद्योगों अथवा उत्पादनों को राष्ट्रीयकृत कर सकेगी और उन्हें निजी उद्योगों से भी अधिक दक्षता से चला सकेगी। यही सिद्धान्त कृषि के क्षेत्र में भी प्रयुक्त होगा। सरकार के द्वारा भूमि अधिग्रहण की जाकर स्वयं खेती की जा सकेगी। इससे किसानों को बड़ी मशीनों के प्रयोग में प्रशिक्षित किया जायेगा और अधिक व्यापक एवं वैज्ञानिक स्तर पर उत्पादन किया जा सकेगा। सभी उद्योगों में हड़ताल तथा तालाबंदी के मामले जो कि उद्योगों को विफल करने तथा आर्थिक विकास को रोकने वाले होंगे वे सब पूर्णतः राजकीय पंच फैसले को सौंपे जाएंगे तथा तय किये जाएंगे। गम्भीर मामलों को कठोरता से निपटाया जाएगा। निजी सम्पत्ति सामान्य रूप से मान्य होगी। राज्य द्वारा समुचित मुआवजे की रकम दिये बिना किसी भी सम्पत्ति को हस्तांतरित कदापि नहीं किया जाएगा।[19]

इस प्रकार सावरकर ने आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे किसी परम्परागत मान्यता से मेल नहीं खाते हैं। वे समाजवाद के पिसे-पिटे नारे में विश्वास नहीं रखते और न इतिहास की आर्थिक व्याख्या को अंतिम मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति केवल खाने के लिए नहीं जीता है। उसकी और भी कई आकांक्षाएं होती

है। केवल आर्थिक कार्यक्रम से देश की सभी समस्याओं का हल नहीं निकाला जा सकता। वे राष्ट्रवादी अर्थव्यवस्था के समर्थक हैं और वर्ग संघर्ष के स्थान पर राष्ट्रीय सहयोग के पक्षपाती हैं। वे विभिन्न हितों को सामुदायिक एकता मे बद्ध करना चाहते हैं ताकि आर्थिक हितो मे टकराहट न हो तथा शोषण से भी बचा जा सके।[20]

सावरकर का योगदान

विनायक दामोदर सावरकर ने हिन्दू राष्ट्रवाद अथवा हिन्दू संगठन आन्दोलन का आधुनिक भारतीय चिंतन में प्रतिपादन किया है। हिन्दू राष्ट्रवाद की भावना कोई नवीन विचार नहीं है। सावरकर के पहले स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा लाला हरदयाल ने हिन्दू राष्ट्रवाद के विचार को अपने अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया था। सावरकर ने हिन्दू राष्ट्रवाद के बिखरे हुए सूत्रों को एक निश्चित विचारवाद के रूप मे संकलित किया तथा उसे सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन का आधुनिक बाना पहनाया। भाई परमानन्द तथा स्वामी श्रद्धानन्द ने भी हिन्दू राष्ट्र का विचार प्रस्तुत किया था किन्तु सावरकर ने जिस प्रकार से हिन्दुओं को गौरवान्वित करने तथा आधुनिकता के साथ हिन्दू परम्परागत चिंतन को समन्वित करने का प्रयास किया वह अत्यन्त मौलिक एवं प्रभावोत्पादक था। हिन्दू-मुस्लिम समस्या के प्रति सावरकर के विचारों ने देश मे चिन्तन का एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया। उनके विदेश नीति तथा अहिंसा सम्बन्धी विचार भी वैचारिक दृष्टि से गरिमायुक्त थे। सामाजिक क्रांति, राष्ट्रीयता, आर्थिक नीति, राष्ट्रभावना तथा विश्व संगठन सम्बन्धी उनके विचार एक हिन्दू घोषणापत्र का सृजन करते हैं। सावरकर ने भारतभूमि पर बसने वाले प्रत्येक व्यक्ति को हिन्दू की संज्ञा दी थी। उनकी हिन्दुत्व सम्बन्धी व्याख्या हिन्दू संगठन आन्दोलन का दर्शन बनी। भाई परमानन्द तथा स्वामी श्रद्धानन्द ने सावरकर के हिन्दुत्व सम्बन्धी चिंतन को हिन्दू नवप्रभात का प्रतीक माना था। सावरकर भारत में केवल हिन्दुओ को राष्ट्र मानते थे तथा अन्य समुदायो को अल्पसंख्यक की संज्ञा देते थे। सावरकर का राष्ट्रवाद आक्रामक राष्ट्रवाद नहीं था और न उनका उद्देश्य अल्पसंख्यको को पूर्णत: कुचल देने का था। उनका विश्वास था कि भारतवर्ष मे हिन्दुओ का दृष्टिकोण किसी से कुछ छीनने का नहीं है और न वे विशेषाधिकारो की माग करते हैं। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्ष में थे। किन्तु साथ ही साथ वे मुगल शासन को देश से उखाड फेंकने के राजपूत, सिक्ख तथा मराठो के इतिहास को भारतीय राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक मानते थे। वे एक ऐसे भारतीय राज्य का विचार प्रतिपादित कर रहे थे जिसमे बिना किसी भेदभाव के सभी सुख से रह सकें। उन्होने मुसलमानो की भारत के विभाजन की योजना का तीव्र विरोध किया था। वे अल्पसंख्यको को तुष्ट करने की नीति के समर्थक नहीं थे। उन्होने हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर प्रकाश डालते हुए तीसरे गुट के रूप मे अंग्रेजो के हस्तक्षेप का तर्क कि अंग्रेजो की वजह से हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित नहीं हो पा रही थी, अतार्किक बतलाया। उनके अनुसार मोहम्मद बिन कासिम, मोहम्मद गजनी तथा औरंगजेब को भारत मे भीषण नरसंहार तथा तोड़फोड़ करने की प्रेरणा किसने दी थी? क्या उन्हें अंग्रेजो ने प्रेरित किया था? सावरकर की यह मान्यता थी कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रचारक यह भूल जाते हैं कि मुसलमान भारत को हिन्दू राष्ट्र के रूप मे देखना अपमान पूर्ण मानते हैं और उनका प्रयास हमेशा हिन्दुओ से

वैमनस्यता रखने, उन्हें नीचा दिखाने तथा उन पर हावी रहने का रहा है। सावरकर के अनुसार पारसी भारत में अल्पसंख्यकों के रूप में हैं किन्तु उनका दृष्टिकोण हिन्दुओं के इतने अधिक निकट हैं कि वे पूर्णतया भारत से गुंथे हुए हैं। पारसियों ने दादा भाई नौरोजी तथा श्रीमती कामा जैसे महान देशभक्त पैदा किये हैं। ऐसे में पारसियों को भारतीय राज्य में समान अधिकारों के साथ सम्मिलित करने में कोई हिचक नहीं हो सकती। भारतीय ईसाई भी सहिष्णुता तथा सहयोग की भावना रखते हुए हिन्दुओं के प्रति विरोध नहीं रखते। केवल ईसाई बनाने का उनका कार्य कुछ हद तक दोषपूर्ण है जिसके निवारण के पश्चात् ईसाइयों के प्रति हिन्दुओं को कोई शिकायत नहीं हो सकती। भारत में अल्पसंख्यकों के नाम से समस्या केवल मुस्लिम अल्पसंख्यकों की ही है।[21]

सावरकर का भारत ऐसे लोकतान्त्रिक राज्य का चित्र प्रस्तुत करता है जिसमें देश के विभिन्न धर्मावलम्बियों तथा विभिन्न प्रजातियों को पूर्ण समानता के धरातल पर रखा गया है और सभी को स्वतन्त्र नागरिक का समान अधिकार प्रदान किया गया है। इसके लिये प्रत्येक अपने समान उत्तरदायित्वों का वहन करते हुए पूर्ण रूप से राज्य के प्रति निष्ठावान होने चाहिये। सावरकर के अनुसार हिन्दुस्तान जो कि हिन्दुओं की मातृभूमि एवम् पुण्यभूमि है वह सिंधु से समुद्र पर्यन्त एक अविभाज्य अहिंसक राज्य होगा। इस भारत भूमि को भारत अथवा हिन्दुस्तान के नाम से पुकारा जायेगा। सावरकर के भारत में कोई भी धोखे अथवा बल के आधार पर हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन नहीं कर सकेगा। सर्वत्र भारतीयों को एक महान राष्ट्र के नागरिक के रूप में सम्मान दिया जायेगा। ऐसे भारत में सापेक्ष अहिंसा को एक गुण माना जायेगा। हिन्दू एक जाति विहीन समाज के रूप में होंगे और वे एक आधुनिक, सगठित तथा प्रगतिशील राष्ट्र बनेंगे। उनके वैवाहिक रीति-रिवाज धर्मनिरपेक्ष होंगे। स्वैच्छिक अन्तर्जातिय विवाह स्वतन्त्रता पूर्वक सम्पन्न होंगे। हिन्दुओं का अन्तिम संस्कार विद्युत शवदाहगृहों में होगा। सावरकर के भारत में विज्ञान भौतिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त करेगा और सभी प्रकार के अन्ध-विश्वासों को समाप्त कर देगा। जमींदारी प्रथा का पूर्णतः उन्मूलन कर दिया जायेगा। शनैः शनैः समस्त भूमि राज्य के स्वामित्व में आ जाएगी। सभी प्रमुख उद्योग राष्ट्रीयकृत कर दिये जायेंगे। कृषि का यान्त्रिकीकरण होगा। भारत खाद्यान्न, वस्त्र, आवास तथा प्रतिरक्षा में पूर्णतः आत्मनिर्भर होगा। सावरकर के स्वप्नों का भारत विश्व संगठनों में पूर्ण निष्ठा रखेगा क्योंकि सावरकर के अनुसार पृथ्वी हमारी समान माता है और मानवतावाद मानव का देश प्रेम है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में सावरकर का भारत विश्व शान्ति एवम् समृद्धि में अपना योगदान देगा। सावरकर ने अपने राजनीतिक दर्शन के अनुसार भावी भारत का जो ध्वज हिन्दुओं के लिए तैयार किया है उसमें कुण्डलिनी को ओंकार तथा कृपाण के साथ चित्रित किया गया है। सावरकर ने राष्ट्रीय ध्वज में कुण्डलिनि को इस कारण स्थान दिया है कि वे हिन्दुओं को योगविद्या में निष्णात मानते हैं। वे योगविज्ञान को मानवीय जीवन का सर्वोच्च वरदान मानते हुए इसे मानवता को हिन्दुओं का सर्वोच्च योगदान माना है। सावरकर के अनुसार जागृत कुण्डलिनि के माध्यम से प्राप्त परचेतन आनन्द हिन्दू अथवा गैर-हिन्दू सभी मानवों के लिए उच्चतम आदर्श है।[22]

□□

टिप्पणियाँ

1 देखिये धनंजय कीर, वीर सावरकर, (पोपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1966)
2. विनायक दामोदर सावरकर, हिन्दुत्व (पूना, 1942, द्वितीय संस्करण) पृ 111
3 वही, पृ 72-73। देखिये वी. डी सावरकर : हिस्टोरिक स्टेटमेन्ट्स (पोपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1967) पृ 214-217)
4. देखिये सावरकर, भारतीय इतिहास के छः स्वर्णिम पृष्ठ, 3 भाग, (राष्ट्रधर्म पुस्तक प्रकाशन, लखनऊ, 1965-66)
5. देखिये धनंजय कीर, वीर सावरकर, पृ 261-262
6. वही
7. सावरकर, दी इण्डियन वॉर आफ इन्डिपेन्डेन्स 1857, (राजधानी ग्रन्थागार, नई दिल्ली, 1970, आठवां संस्करण) पृ 5-10, 273-274
8 देखिये धनंजय कीर, वीर सावरकर, पृ 271-280
9 वही, पृ 265 268
10 देखिये सावरकर हिस्टोरिक स्टेटमेन्ट्स, पृ. 21-22, 174
11. वही, पृ 1-2, 4-7
12 वही, पृ 39-40
13 वही, पृ 201-206
14 देखिये धनंजय कीर, वीर सावरकर, पृ 284-285
15 वही, पृ 265-268
16 वही, पृ. 271-279
17. वही, पृ 279-280
18 वही, पृ 281-285
19 वही
20 वही, पृ 280-281
21. वही, पृ 261-262
22 वही, पृ. 281-285

अध्याय **17**

मुस्लिम राष्ट्रवाद : सर सैयद अहमद खां (1817-1898)

सर सैयद अहमद खां भारतीय मुसलमानों के उन्नीसवीं शताब्दी के सर्वोच्च नेता थे। लगभग पांच दशकों तक वे भारत में मुस्लिम सम्प्रदाय के समस्त राजनीतिक एवं सामाजिक क्रिया-कलापों का एकछत्र मार्ग-दर्शन करते रहे। उनके प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व, चमत्कारिक लेखन तथा ओजस्वी वक्तृत्व के कारण उनकी लोकप्रियता निरंतर बढ़ती गई। उर्दू भाषा में गद्यशैली का प्रवर्तन एवं प्रचलन कर उन्होंने उर्दू साहित्य को नवीन जीवन प्रदान किया। वे प्राच्य-विद्याओं में निष्णात थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य पद्धति के अनुसार न होकर पूर्णतया प्राच्य मुस्लिम परम्परा में हुई थी। वे अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं से अनभिज्ञ होते हुए भी कालान्तर में पाश्चात्य प्रभाव से आच्छादित हो गये। उन्होंने ब्रिटिश संविधान तथा पाश्चात्य विधिशास्त्र का गहन अध्ययन कर उसे आत्मसात् किया। अपने सह-धर्मियों से परंपरागत मुस्लिम विद्याओं में निष्णात होने के साथ ही उन्होंने स्वाध्याय से अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य में भी उच्च विद्वत्ता अर्जित की। भारतीय मुसलमानों के उत्थान के लिए उन्होंने भारत में अंग्रेजी के प्रचलन तथा प्रयोग को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। मुसलमानों के शिक्षा सम्बन्धी पुरातन दृष्टिकोण एवं सामाजिक व्यवहार को नवीन दिशा देकर सर सैयद ने उन्हें एक सुसंगठित राजनीतिक शक्ति के रूप में उभारा। उनके प्रारंभिक विचारों में परिवर्तन आया। वे हिन्दुओं तथा मुसलमानों की एकता तथा भारतीय राष्ट्रवाद में निष्ठा व्यक्त करने के स्थान पर पृथक् मुस्लिम राष्ट्रवाद के अनुयायी बन गये। उनके द्वारा प्रारम्भ में कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रदत्त समर्थन कालान्तर में अंग्रेजों की अंध-भक्ति में परिवर्तित हो गया। उनकी इस राजनीतिक कलाबाजी के कारण गैर-मुस्लिम भारतीय जनता में उनकी प्रतिष्ठा जाती रही।

जीवनपरिचय

हजरत हुसैन के वंशज सर सैयद अहमद का जन्म 17 अप्रैल 1817 को दिल्ली में हुआ।[1] शाहजहां के काल से बहादुरशाह जफर तक उनका परिवार मुगल शासन की सेवा में रत रहा। सर सैयद के पिता की मृत्यु उनकी अल्प आयु में ही हो गई थी। अत: परिवार के भरण-पोषण का भार उनकी माता की आय पर निर्भर हो गया। उनकी माता अजीजुन्नीसा बेगम विदुषी एवं सम्भ्रान्त परिवार की थी। अत: सर सैयद अहमद की शिक्षा-दीक्षा उन्हीं की देख-रेख में घर पर ही हुई। इसका एक लाभ यह हुआ कि सैयद मुस्लिम समाज में व्याप्त तत्कालीन रूढ़िवाद तथा अन्धविश्वास से अछूते रहे और भविष्य में वह मुस्लिम-समाज-सुधार का कार्य सम्पादित कर सके। सर सैयद अरबी, फारसी, मुस्लिमधर्म-शास्त्र एवं विधि तथा तत्कालीन इतिहास के अच्छे ज्ञाता थे। युवावस्था में वह ईस्ट इंडिया कम्पनी में नौकर हो गये। 1839 में वह आगरा के कमिश्नर के नायब मीर मुंशी नियुक्त

हुये। इसके पश्चात् मुसफी-परीक्षा पासकर 1841 में मैनपुरी के मुंसिफ नियुक्त किये गये। उनके कार्य से प्रभावित होकर मुगल-सम्राट् ने उन्हें उनका पारिवारिक खिताब नवाब जवादुद्दौला दिया। 1846 से 1854 तक वह दिल्ली में सदर अमीन रहे। यहाँ उन्होंने दिल्ली के पुरातत्व पर असारे-सनदीद ग्रन्थ लिखा। 1855 में उन्हें बिजनौर स्थानान्तरित कर दिया गया जहाँ उन्होंने अबुलफज़लकृत 'आईने अकबरी' का सम्पादन किया। 1857 की क्रांति के समय वह बिजनौर में ही थे। उन्होंने क्रांति के समय अंग्रेजों की खूब सेवा की और अनेकानेक अंग्रेजों के प्राणों की रक्षा की। क्रांति के पश्चात् भारत में अंग्रेजी शासन की विधिवत् स्थापना ने मुगल शासन को समाप्त कर दिया। सर सैयद इससे खिन्न थे। मुसलमानों का पराभव उन्हें स्वीकार नहीं था, अतः वे मुसलमानों के पुनरुत्थान में लग गये। 1858 में उनकी पुस्तिका "काजेज आफ दी इण्डियन रिवोल्ट" निकली जिसे उर्दू से अंग्रेजी में सर आकलैंड कोल्विन ने अनूदित किया। 1861 से 1865 तक सर सैयद ने भारतीय मुसलमानों के धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों का कार्य किया। वे मुसलमानों की शिक्षा के लिए प्रयत्नशील रहे और उन्हें कला तथा विज्ञान में पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति वरण करने के लिए प्रोत्साहित करते रहे। 1863 में उन्होंने एक साहित्यिक एवं वैज्ञानिक सभा की स्थापना की और अनेक अंग्रेजी ग्रन्थों का उर्दू में अनुवाद किया। उन्होंने मुरादाबाद में एक इंग्लिश स्कूल स्थापित किया। अंग्रेजों के प्रति अपनी स्वामिभक्ति का परिचय देते हुए उन्होंने 1866 में 'ब्रिटिश इण्डियन असोसिएशन' की स्थापना की। 1873 में बंगाल के नवाब के आमन्त्रण पर उन्होंने कलकत्ता में बंगाली मुसलमानों के समक्ष अंग्रेजी की शिक्षा के लाभों पर व्याख्यान दिया।[2]

सर सैयद 1869 में इंग्लैंड की यात्रा पर गये और वहा पर उन्होंने "असेज ऑन दी लाइफ आफ मोहम्मद" पुस्तक प्रकाशित की। भारत लौटने पर उन्होंने उर्दू में 'तहज़ीबुलअख़लाक' नामक मासिक पत्र प्रारम्भ किया। इस पत्र में सर सैयद के अलावा नवाब मोहसिन-उल-मुल्क, विकार-उल-मुल्क तथा मौलवी चिराग अली आदि की रचनाएं भी प्रकाशित होती रहती थी। इसके पश्चात् सर सैयद ने मुसलमानों की पृथक् शिक्षा के लिए मोहम्मडन एंग्लो-ओरियन्टल स्कूल की अलीगढ़ में स्थापना की जो कि 2 वर्ष पश्चात् 1875 में कालेज में परिवर्तित हो गया। लार्ड लिटन ने कालेज की नई इमारत का शिलान्यास किया और वे सर सैयद से इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें 1878 में साम्राज्यिक विधान परिषद् का सदस्य नियुक्त कर दिया। 1881 में लार्ड रिपन ने उन्हें परिषद् में पुनर्नियुक्त किया। इस प्रकार वे पूरे पांच वर्ष परिषद् के सदस्य रहे। वे पहले भारतीय सदस्य थे जिन्हें निजी विधेयक प्रस्तुत करने की स्वीकृति प्रदान की गई। विधान परिषद् में उन्होंने 1883 में भारत में स्वतन्त्र निर्वाचन प्रारम्भ करने का विरोध किया और मुसलमानो के लिए पृथक् निर्वाचन की मांग की। इस प्रकार वे उस पृथकतावादी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के कर्णधार बन गये जिसे अंग्रेजों ने 'फूट डालो तथा राज्य करो' की नीति का आधार बनाया। उन्होंने इलबर्ट विधेयक का समर्थन किया। वे कुछ समय तक शिक्षा आयोग के सदस्य भी रहे। 1884 में वे पंजाब के भ्रमण पर निकले और अलीगढ़ महाविद्यालय के लिए उन्होंने धन संगृहीत किया। कांग्रेस के राष्ट्रवादी कार्यक्रम को शिथिल करने की अंग्रेजी नीति के प्रभाव में सर सैयद ने मोहम्मडन एजुकेशनल कान्फ्रेन्स

की 1886 में स्थापना की। 1887 में लार्ड डफरिन ने उन्हें लोक सेवा आयोग का सदस्य नियुक्त किया। सर सैयद ने इस पद के माध्यम से मुस्लिम समुदाय की खूब सेवा की। 1887 में सर सैयद खुले आम भारतीय मुसलमानों द्वारा कांग्रेस में सम्मिलित न होने का प्रचार करने लगे। उन्होंने निरन्तर यही कामना की कि भारत में अंग्रेजी शासन कभी भी समाप्त न हो। इनकी सेवाओं से प्रभावित होकर अंग्रेजी शासन ने उन्हें के० सी० एस० आई० से सम्मानित किया। 1898 में उनकी मृत्यु हुई।[3]

सर सैयद के राजनीतिक विचार

सर सैयद के विचारों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम 1846 से 1857 तक के उनके राजनीतिक विचार तथा द्वितीय 1857 से 1898 तक का उनका राजनीतिक चिन्तन। प्रारम्भ में सर सैयद के विचार राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत रहे। वे अंग्रेजों द्वारा भारत में मुगलिया सल्तनत के अन्त को कष्टदायक मानते रहे। अंग्रेजों के प्रति उनकी भावना प्रारम्भ में घृणा एवं तिरस्कार का भाव लिए हुए थी किन्तु 1857 में पासा पलट गया और सर सैयद भी इसके साथ बदले हुए दिखाई दिये।[4] वायु के वेग के साथ चलने की नीति का अनुसरण करते हुए सर सैयद ने अंग्रेजों की भक्ति में ही अपना श्रेय समझा। शनैः शनैः समस्त मुस्लिम समाज की सेवा का भाव उनके मन में हिलोरें मारने लगा। वे मुसलमानों के एकछत्र नेतृत्व के लिए लालायित रहने लगे। अंग्रेजों की कृपा उन पर पूरी रही और उनका वह स्वप्न भी साकार हो गया। उलेमाओं तथा मौलवियों के एकाधिकार को समाप्त कर सर सैयद ने राजनीति को धर्म के साथ मिला दिया और धार्मिक ग्रन्थों को अपने मनमाने ढंग से प्रतिपादित किया। सन् 1858 के पश्चात् सर सैयद ने भारतीय मुसलमानों के सम्बन्ध में संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाते हुवे उनके भविष्य को सुरक्षित करने का उपाय खोज निकाला। अब वे अंग्रेजों का विश्वास-पात्र बनने का हर सम्भव प्रयास करने लगे। वे भारत में अंग्रेजी शासन के बने रहने तथा मुसलमानों द्वारा अंग्रेजी शासन का समर्थन कराने में प्रयत्नशील रहे। उन्होंने इस कार्य के लिए मुसलमानों को हिन्दुओं से पृथक् करने तथा उनमें हिन्दुओं के प्रति घृणा फैलाने का कार्य आरम्भ किया। यद्यपि सर सैयद ने केवल मुस्लिम कुलीन वर्ग के हितचिन्तन तक ही अपने आपको सीमित रखा किन्तु अंग्रेजों ने सर सैयद के समर्थन का लाभ उठाकर ऐसा प्रचार किया जैसे वे समस्त मुस्लिम सम्प्रदाय के एकमात्र उन्नायक हों। भारत के अनपढ़ एवं संकीर्ण मुसलमानों ने उनका साथ दिया और वे इनके प्रचार-प्रवाह में बहने लगे। फिर भी जागृत एवं प्रगतिशील मुसलमानों ने कांग्रेस को अपना समर्थन देकर सर सैयद की राष्ट्रविरोधी एवं भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को शिथिल करने की नीति का समर्थन नहीं किया।[5]

सर सैयद ने भारतीय मुसलमानों में पृथक्ता का भाव उत्पन्न करने की दृष्टि से यह भ्रामक प्रचार किया कि वे भारत को अपना वतन न मानें क्योंकि उनके पूर्वज भारत के बाहर से आये थे और उन्होंने भारत पर तलवार के जोर से शासन स्थापित किया था। भारतीय मुसलमान उस जाति के वंशज हैं जो एक समय भारत पर राज्य करती थी। लखनऊ में 1887 के एक भाषण में उन्होंने कहा "........हम वह हैं जिन्होंने भारत पर 6 या 7 शताब्दियों तक राज्य किया है"......."हमारी कौम उन लोगों के खून से बनी है, जिनसे न केवल अरब वरन् एशिया और यूरोप भी कांपते थे। हमारी कौम ने अपनी

तलवार से समस्त भारत को जीता था, यद्यपि यहाँ के लोग एक ही धर्म को मानने वाले थे।"[6] इसी प्रकार मेरठ में 1888 में उन्होंने कहा—"मेरे भाई मुसलमानो, मैं तुमको फिर याद दिलाना चाहता हूँ कि तुमने विभिन्न कौमों पर राज्य किया है और कई मुल्कों को शताब्दियों तक अपने अधीन रखा है। भारत में सात सौ वर्षों तक तुमने राज्य किया है। तुम जानते हो राज्य करना क्या होता है ?"[7]

मेरठ में 14 मार्च 1888 को अपने एक भाषण में सर सैयद ने व्यक्त किया कि 'भारत में ब्रिटिश शासन केवल चन्द वर्षों के लिए ही नहीं, अपितु सदा के लिए बना रहना चाहिए।' उन्होंने अपने तर्क के समर्थन में यह कहा कि यदि अंग्रेज भारत छोड़ कर चले जायें और साथ में अपनी तोपें तथा अपनी अन्य सैन्य सामग्री, सेना आदि भी ले जायें, तब भारत पर शासन कौन करेगा ? ऐसी स्थिति में क्या हिन्दू तथा मुस्लिम राष्ट्र एक ही सिंहासन पर बैठ कर शासन चलायेंगे ? उनके अनुसार ऐसा सम्भवतः न होगा। इसका यह परिणाम होगा कि एक राष्ट्रीयता दूसरे पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन बना लेगी। अंग्रेजों की अनुपस्थिति में यूरोप के किसी भी राष्ट्र-जैसे फ्रांस, जर्मनी, पुर्तगाल अथवा रूस-की बन आयेगी और वह भारत पर आक्रमण कर देगा। यूरोप के इन राष्ट्रों के विषय में सभी जानते हैं कि उनकी सरकार ब्रिटिश सरकार से निम्नतर कोटि की है; अतः भारत में शान्ति बनाये रखने के लिए यहाँ ब्रिटिश शासन हमेशा-हमेशा के लिए बना रहना चाहिए।[8] उन्होंने ब्रिटिश शासन के माध्यम से शिक्षा का प्रसार करने तथा अधिक से अधिक सरकारी पद प्राप्त करने के लिए अंग्रेजों का विश्वास जीतने का आह्वान किया। उन्होंने बंगाल के राजनीतिक आन्दोलनकारियों से मुसलमानों को दूर रहने की सलाह दी ताकि वे अंग्रेजों के प्रति अपनी निष्ठा में कमी न आने दें। वे मानते थे कि भारत की अंग्रेज सरकार मुसलमानों पर अपनी पूर्ण दृष्टि लगाये हुए थी क्योंकि भारतीय मुसलमान, सर सैयद के अनुसार, लड़ाकू, बहादुर तथा अच्छे योद्धा थे।[9]

सैयद ने निर्वाचन तथा विभिन्न हितों के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि प्रतिनिधित्व की व्यवस्था का अर्थ है जनता के बहुसंख्यक वर्ग के हितों एवं विचारों को संरक्षण प्रदान करना। जिस देश में जनसमुदाय एक ही नस्ल तथा विश्वास से हो, वहाँ के लिए तो यह श्रेष्ठ व्यवस्था है किन्तु, सैयद के अनुसार, भारत जैसे देश में जहाँ जातिगत भेदभाव, धार्मिक मनमुटाव तथा शिक्षा की कमी है, वहाँ निर्वाचन के सिद्धान्त का प्रारम्भ करना सर्वथा अनुचित तथा अलाभकारी होगा। स्थानीय निकायों के सन्दर्भ में यह और भी महत्त्वपूर्ण है। बहुसंख्यक जनसमुदाय अल्पसंख्यकों के हितों पर छा जायेगा और अशिक्षित जनता शासन को भेदभाव का उत्तरदायी ठहरायेगी। अतः निर्वाचन के बजाय स्थानीय निकायों में एक तिहाई सदस्यों का मनोनयन ही श्रेष्ठ उपाय है ताकि शासकीय संरक्षण में अल्पसंख्यक समुदाय के हितों को आश्वस्त रखा रखा जा सके।[10]

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा सुझाये गये वायसराय की परिषद् के कुछ सदस्यों को निर्वाचित करने के विचार को सर सैयद ने स्वीकार नहीं किया। उन्हें यह स्वीकार नहीं था कि कांग्रेस भारत में ब्रिटिश लार्ड सभा तथा कामन्स सभा जैसी संस्थाओं की स्थापना की माँग करे। उन्हें यह भय था कि यदि यहाँ सार्वभौमिक मताधिकार दे दिया

तथा तो हिन्दू संख्या में अधिक होने के कारण मुसलमानों पर आधिपत्य स्थापित कर लेंगे। हिन्दुओं को मुसलमानों की तुलना में चार गुना अधिक लाभ मिलेगा। निर्वाचन के लिए सम्पत्ति की अर्हता को भी उन्होंने अमान्य घोषित किया क्योंकि वे मानते थे कि मुसलमानों की तुलना में हिन्दू अधिक सम्पन्न होने के कारण शासन से लाभ प्राप्त करते रहेंगे। उनकी राय थी कि वायसराय की परिषद् का गठन हिन्दुओं तथा मुसलमानों में बराबर के स्थान निश्चित करके ही किया जाय। निर्वाचन पृथकता के आधार पर कराये जाय, अर्थात् मुसलमान मुसलमानों को निर्वाचित करें तथा हिन्दू हिन्दुओं को। उन्होंने अत्यन्त दुःखी मन से व्यक्त किया कि सारे भारत में इन कार्यों के लिए हिन्दुओं के मुकाबिले अन्य कोई जाति नहीं है।[11] इस प्रकार सर सैयद आधुनिक भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीति तथा पृथकत्व के प्रवर्तक थे। जिन्ना ने सच्चे अर्थों में सर सैयद का ही अनुसरण किया था जिसका परिणाम भारत के विभाजन के रूप में सामने आया।[12]

सर सैयद का एकमात्र उद्देश्य भारतीय मुसलमानों को अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान् बनाने का था। उनका शिक्षा के क्षेत्र में किया गया कार्य भी इसी उद्देश्य से प्रेरित था। वे ऐसे शिक्षित मुसलमान तैयार करना चाहते थे जो अंग्रेजी शासन के लाभकारी पदों को प्राप्त कर अंग्रेजी शासन की बुनियाद बन जाय, उनके प्रति स्वामिभक्त बने रहें तथा हिन्दुओं का सर्वत्र प्रतिकार करें। सर सैयद ने इस कार्य के सम्पादन के लिए कुरान तथा हदीस का मनमाना भाषानुवाद एवं भावार्थ प्रस्तुत किया और यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत दारुल इस्लाम (वह देश जहाँ सत्ता मुसलमानों के अन्तर्गत हो) तथा दारुल हर्ब (वह देश जहाँ सत्ता गैर मुसलमान के नियंत्रण में हो) दोनों ही था। वे अंग्रेजों के प्रति मुसलमानों की रही सही घृणा को निकाल फेंकने का प्रयास करते रहे। यहाँ तक कि वे ईसाइयों को मुसलमानों का घनिष्ठ मित्र मानने लगे।[13]

सर सैयद ने सरकार के कार्यक्षेत्र को सीमित रखने में अपनी निष्ठा प्रकट की। उनके अनुसार सरकार का विस्तृत कार्य-क्षेत्राधिकार सरकार को आलोचना का केन्द्र बिन्दु बना देगा और मुसलमान शासकीय हस्तक्षेप अथवा शिथिलता का विरोध करना प्रारम्भ कर देंगे। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में मुसलमानों द्वारा स्वयं अपने अनुकूल शिक्षाव्यवस्था की व्यवस्था का समर्थन किया जो कि शासकीय नियंत्रण अथवा संरक्षण से पृथक् था। उनका उद्देश्य धर्मनिरपेक्षता का न होकर ऐसी शिक्षा-पद्धति का विस्तार करना था जिसमें मुसलमानों को शेष जनसमुदाय से पृथक् रखा जा सके। यद्यपि उन्होंने अलीगढ़-आन्दोलन का सूत्रपात शासकीय हस्तक्षेप से विलग रह कर स्वयं के प्रयासों से शिक्षा-कार्य करने के लिए किया था, किन्तु सर सैयद का यह कार्य बेमानी सिद्ध हुआ। अलीगढ़ विश्वविद्यालय अंग्रेजों की फूट डाल कर राज्य करने की नीति की प्रयोगशाला बन गई। वहाँ के अंग्रेज आचार्यों ने पृथकता एवं साम्प्रदायिकता की जड़ें ही सिंचित की। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के लिए भवन-निर्माण किये जाते समय भारत के अनेक हिन्दू सनातनी राजाओं ने अपार धनराशि दान में दी। इस तरह सर सैयद का यह कथन कि वे स्वयं के प्रयासों से सब कुछ कर रहे थे, सत्य नहीं था।

सर सैयद ने मुसलमानों के उच्चकुलीन वर्ग के हित-साधन के लिए यह विचार प्रस्तुत किया कि उच्च पदों पर नियुक्ति के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं के स्थान पर केवल

जन्म के आधार पर ही नियुक्तियाँ की जाय। उनका मूल उद्देश्य यह था कि उच्च कुलीन मुसलमानों को अंग्रेजी शासन में वही प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाय, जो उन्हें मध्यकालीन भारत में प्राप्त थी। उन्होंने उच्च पदों पर नियुक्ति के लिए निर्धारित परीक्षा की आलोचना की और वह भी उस समय जबकि इंडियन सिविल सर्विस परीक्षा के लिए अभ्यर्थियों की आयु सीमा 21 से घटा कर 19 वर्ष कर दी गयी। सर सैयद जानते थे कि शिक्षा तथा अध्यवसाय में हिन्दू अभ्यर्थियों की तुलना में मुसलमान अभ्यर्थियों का स्तर नीचा था, अत वे हिन्दुओं के अनुपात में उपर्युक्त परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकते थे। सर सैयद ने मुसलमानों के शैक्षिक स्तर को उठाने के स्थान पर सारा दोष इंडियन सिविल सर्विस परीक्षा पर ही मढ़ा और यह व्यक्त किया कि परीक्षा की यह पद्धति देश तथा सरकार दोनों के लिए हानिकारक थी। उनके अनुसार परीक्षाओं के माध्यम . भर्ती का परिणाम यह हो रहा था कि उच्च कुलों तथा साधारण वर्ग के लोगों को एक ही स्तर पर रखा जा रहा था। उच्चकुलीन व्यक्ति सामान्य स्तर के व्यक्ति के साथ घुलना-मिलना कैसे पसन्द कर सकता था। उनके अनुसार जब तक भारत की समस्त जातियाँ एक न हो जाय अथवा उनमें शैक्षिक स्तर की समानता जब तक स्थापित न हो जाय, त तक मुसलमानों के साथ न्याय नहीं हो सकता। उन्होंने बंगाल के अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त हिन्दुओं को प्रशासनिक सेवाओं में सफल होते देख कर अपनी संकीर्ण साम्प्रदायिक शैली में कहा कि भारत के मुसलमान तथा राजपूत अपने ऊपर उन डरपोक बंगालियों का शासन कभी स्वीकार नहीं करेंगे जो कि तलवार तो क्या, छुरी देख कर ही मेज के नीचे छिप जाते हैं। सैयद के अनुसार भारत की भूतपूर्व शासकीय शक्तियों को जब तक सरकारी सेवाओं में सम्मानित पदों पर बिना परीक्षा के ही नियुक्त नहीं किया जाता, तब तक भारत में शान्ति नहीं हो सकती।[18]

सर सैयद ने उन समस्त शासकीय अधिनियमों का विरोध किया जो किसी न किसी प्रकार से भारत में लोकतांत्रिक एवं प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं के पोषक बन सकते थे। उन्होंने वर्नाक्यूलर प्रेस अधिनियम का समर्थन किया जिसके अन्तर्गत अंग्रेजी शासन के विरुद्ध मत व्यक्त करना दण्डनीय था। वे समाचार पत्रों पर नियंत्रण के पक्ष में थे ताकि अंग्रेजी शासन की नींवें मजबूत रहें और मुसलमानों की अवसरवादिता को चुनौती न दी जा सके। वे सुप्रसिद्ध इलबर्टबिल पर विचार के समय भी विधेयक के विरोध में रहे और अपनी संकीर्णता का परिचय दिया। उन्हें यह भय था कि कहीं भारतीय न्यायाधीशों द्वारा अंग्रेजों के मुकदमों की सुनवाई के कारण मुसलमानों के प्रति सरकार आशंकित न हो जाय, क्योंकि अनेक भारतीय न्यायाधीश मुसलमान थे। वे हर प्रकार से राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी रहे। स्वराज्य एवं स्वदेशी आन्दोलनों में भी उनका वही रवैया रहा। उन्हें भारत की स्वतन्त्रता की लेशमात्र चिन्ता न थी। वे स्वदेशी वस्तुओं के स्थान पर आयातित विदेशी वस्तुओं को अपनाने का प्रचार कर भारतीय उद्योगों को हानि पहुँचाने का कार्य कर रहे थे, ताकि भारतीय हिन्दू उद्योगपतियों को पनपने का अवसर न मिले। उनकी अंग्रेजों के प्रति अग्रभक्ति इस विचार से भी स्पष्ट होती है कि वे ब्रिटेन की उदारदलीय सरकार की तुलना में अनुदार दल की सरकार के प्रशंसक थे। यह सर्वविदित है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को उदारदलीय सरकार से स्वराज्य प्राप्ति के कार्य में सहयोग

प्राप्त होने की आशा थी, जबकि अनुदार दल से भारत स्वशासन प्राप्त करने की कभी भी आशा नहीं कर सकता था, किन्तु सर सैयद वही राग अलापते थे जो भारत की स्वाधीनता एवं समृद्धि के विरुद्ध हो और जिससे भारत की गुलामी का अन्त न हो। वे अंग्रेजों के प्रति भक्ति को अपना धार्मिक कर्तव्य समझने लगे थे।[15]

सर सैयद ने कांग्रेस का विरोध करने के साथ-साथ भारत में प्रतिनिधित्व प्रणाली लागू करने का भी विरोध किया। मुसलमानों के हितों के संरक्षण के नाम पर सैयद ने 1883 में मोहम्मडन पोलिटिकल एसोसिएशन की स्थापना की। यह संस्था सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा स्थापित इण्डियन नेशनल कान्फ्रेन्स के प्रत्युत्तर में बनायी गयी थी। इसके उद्देश्य थे :

1. ब्रिटिश राज्य के हितों को ध्यान में रखते हुए मुसलमानों के अभ्युदय तथा वृद्धि के लिए प्रयत्न करना तथा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रत्येक साधन जुटाना;
2. विभिन्न विधि-प्रस्तावों पर (जो व्यवस्थापिका सभा में भारतीयों की भलाई के लिये प्रस्तुत किये जाते थे) विचार करना और आवश्यकतानुसार उनको सरकार के समक्ष अत्यन्त आज्ञाकारिता के साथ व्यक्त करना,
3. मुसलमानों की आवश्यकताओं-अधिकारों को तथा देश की भलाई और उन्नति की योजनाओं को अत्यन्त विनीत रूप से सरकार के समक्ष प्रस्तुत करना, तथा
4. ऐसे कार्यों के विषय में सरकार को सूचना देना जो देश की उन्नति में बाधक हों।[16]

सर सैयद द्वारा स्थापित यह संस्था अधिक दिनों तक प्रभावशाली नहीं रही, क्योंकि इस संस्था में साधारण स्थिति वाले मुसलमानों के हितों को प्रतिनिधित्व मिलने के स्थान पर बड़े-बड़े मुस्लिम रईसों तथा जमींदारों द्वारा अपना हित-संचय करने का ध्येय प्रमुख था। सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् सर सैयद ने भारतीय मुसलमानों को कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर रखने के लिये इण्डियन पैट्रियाटिक एसोसिएशन की स्थापना की जिसके उद्देश्य थे :

1. इण्डियन नेशनल कांग्रेस के समर्थकों द्वारा किये गये उन समस्त प्रयासों को ध्वस्त करना जिनसे इंगलैण्ड की जनता को यह आश्वासन दिलाने का प्रयत्न किया गया था कि समस्त जनता कांग्रेस के उद्देश्यों से सहमत थी,
2. भारतीय मुसलमानों के विचारों तथा कांग्रेस-विरोधी हिन्दुओं के विचारों से ब्रिटिश सरकार के सदस्यों को अवगत कराना, तथा
3. अंग्रेजी राज्य को दृढ़ बनाना तथा भारत में शान्ति सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना।[17]

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सर सैयद ने कतिपय हिन्दू राजाओं एवं सामन्तों का भी समर्थन प्राप्त किया; किन्तु यह संस्था भी मुसलमानों के राजनीतिक हितों को संरक्षण देने की दृष्टि से अपर्याप्त सिद्ध हुई। सर सैयद ने 1893 में मोहम्मडन एंग्लो-ओरियण्टल डिफेन्स एसोसिएशन की स्थापना कर डाली। इस संस्था की स्थापना के

कारणो मे पहला कारण तो कांग्रेस की तुलना मे मुसलमानो के हितो को प्रतिनिधित्व देने का था और दूसरा कारण मुस्लिम युवाशक्ति को कांग्रेस के राष्ट्रीय मच से दूर रख कर इस एसोसिएशन के अन्तर्गत एकत्रित करने का था। सर सैयद इस संस्था के माध्यम से भारतीय मुसलमानो को एक राजनीतिक शक्ति के रूप मे प्रस्तुत कर अंग्रेजी राज्य से उनके लिये अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयास कर रहे थे। इस संस्था के उद्देश्य थे

1. भारत सरकार तथा इंग्लैण्ड की जनता के समक्ष मुसलमानो के राजनीतिक हितो की उन्नति के लिये प्रयत्न करना;
2. मुसलमानो मे व्यापक राजनीतिक आन्दोलन के उभार को रोकना,
3. अंग्रेजी सरकार तथा साम्राज्य की सुरक्षा और स्थायित्व को बढावा देने वाली योजनाओ को समर्थन देना तथा
4. भारत मे शान्ति स्थापित रखने का प्रयत्न करना और सामान्य जनता मे निष्ठा और भक्ति की भावना को प्रोत्साहित करना।[18]

इस तरह मोहम्मडन डिफेन्स असोशिएशन ने मुसलमानो के हितो का पिष्ट-पेषण कर उसे एक प्रकार से मुस्लिम लीग (1906) का पूर्वगामी बना दिया। असोसिएशन द्वारा मुसलमानो को बिना किसी प्रवेश-परीक्षा के तकनीकी शिक्षा संस्थानो मे प्रवेश, व्यवस्थापिका सभा तथा अन्य स्थानीय स्वशासी निकायो मे मुसलमानो के समुचित प्रतिनिधित्व तथा साम्प्रदायिक प्रणाली के आधार पर पृथक् निर्वाचन-पद्धति की स्थापना की माग की गई, इन मागो के लिए प्रस्तुत आधारभूत सिद्धान्त थे (1) जिन नगरो मे मुस्लिम जन संख्या 15 प्रतिशत तक थी, वहाँ कम मे कम एक मुस्लिम सदस्य अवश्य होना चाहिए, (2) जिन नगरो मे मुस्लिम जन संख्या 15 प्रतिशत से 25 प्रतिशत तक थी, वहाँ मुसलमान सदस्यो की संख्या यथासम्भव आधी होनी चाहिए तथा (3) जिन नगरो मे मुस्लिम जन संख्या 25 प्रतिशत मे अधिक थी, आधे सदस्य अवश्य मुसलमान होने चाहिए।[19]

सर सैयद ने अंग्रेजो को प्रसन्न करने की दृष्टि से मुसलमानो को सर्व-इस्लाम वाद से दूर रखने का प्रयास किया। उन दिनो इंग्लैण्ड ने रूस-तुर्की का विरोध किया था और अंग्रेजो को भय था कि भारत के मुसलमान तुर्की के मुसलमानो का, क्योंकि तुर्की का सुल्तान इस्लाम का खलीफा माना जाता था, पक्ष लेंगे। सर सैयद अंग्रेजो की उस विश्वसनीयता को खोना नहीं चाहते थे जो अत्यन्त कठिनाई से अर्जित की थी। अतः उन्होने खलीफा के नेतृत्व को चुनौती देने मे विलम्ब नहीं किया और यह प्रचार किया कि भारत के मुसलमानो का तुर्की के सुलतान से कोई लेना-देना नही है। सर सैयद का यह प्रयास आगे चलकर स्वयं मुसलमानो द्वारा विफल कर दिया गया जबकि उन्होने गाधीजी ने असहयोग आन्दोलन के दौरान खिलाफत के प्रश्न को उठाकर अंग्रेजो का विरोध आरम्भ कर दिया। सर सैयद अंग्रेजो को यह विश्वास दिलाना चाहते थे कि "भारत के मुसलमानो का तुर्की के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध था जैसा पृथ्वी के रहने वालो का चन्द्रमा के निवासियो के साथ था।"[20] इस प्रकार सर सैयद ने तुर्की के प्रश्न पर अपना विरोध प्रकट कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारतीय मुसलमानो का सर्व-इस्लामवाद मे कोई विश्वास नही था। वे राजनीतिक

प्रश्नों को धार्मिक समस्याओं से दूर रखने का प्रयास करते हुए यह सिद्ध करना चाहते थे कि तुर्की के खलीफा के साथ भारत के मुसलमानों का कोई राजनीतिक सम्बन्ध नहीं था। सर सैयद की यह चाल मात्र अंग्रेजों की भक्ति तथा राजनीतिक हितों को सुरक्षित करने की दृष्टि से चली गयी थी। उनका यह विचार हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों पर व्यक्त उनके साम्प्रदायिक विचारों से मेल नहीं खाता था। यह उनके द्वारा अंग्रेजों की चाटुकारिता का ही प्रमाण था। उन्होंने न केवल तुर्की के सम्बन्ध में अपितु प्रथम अफगान युद्ध के समय भी अंग्रेज वायसराय लार्ड लिटन को बधाई दी और बाद में इंग्लैण्ड द्वारा मिस्र पर किये गये सफल आक्रमण की भी प्रशंसा कर अंग्रेजी शासन के प्रति स्वामिभक्ति का परिचय दिया।

सर सैयद ने भारत में साम्प्रदायिक राजनीति का श्रीगणेश किया और अपनी राजनीति का आधार धर्म के आदेशों को बनाया। वे राजनीतिक दलों को धार्मिक आधार पर संगठित करना उचित मानते थे। मुसलमानों के ऐतिहासिक महत्त्व का बार-बार बखान कर वे हिन्दुओं तथा मुसलमानों में भेदभाव गहरा करना चाहते थे ताकि मुसलमानों को पृथकत्व की राजनीति का पाठ सिखाया जा सके। अपने मेरठ भाषण में सर सैयद ने कहा था, "इन प्रान्तों के हिन्दू हमारा साथ छोड़कर बंगालियों के साथ मिल गये हैं। तब हम उस कौम के साथ मिल जाना चाहिये जिसके साथ हम मिल सकते हैं कोई मुसलमान इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि ईश्वर ने कहा है कि ईसाइयों के अतिरिक्त किसी धर्म के अनुयायी मुसलमानों के मित्र नहीं हो सकते। जिसने कुरान पढ़ा है और जो इस पर यकीन रखता है, वह जान सकता है कि हमारी कौम किसी अन्य कौम से मित्रता और हमदर्दी की भी आशा नहीं रख सकती। हमें ईश्वर की आज्ञाओं के अनुसार ईसाइयों के प्रति निष्ठावान् और मित्रतापूर्ण बने रहना चाहिये।"[21]

सर सैयद ने हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं पर प्रहार करते हुये यह माना कि "हिन्दू धर्म में सिद्धान्तों के अध्ययन की अपेक्षा पुराने प्रचलित रीति-रिवाजों का पालन अधिक है। हिन्दू किन्हीं धर्मसूत्रों तथा नियमों को अथवा अन्तः करण और हृदय से अभ्यर्थना को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका धर्म इन चीजों को स्वीकार नहीं करता है। इसलिए वे (हिन्दू) दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में अत्यधिक निरुत्साही हैं। वे अपनी पुरानी परम्पराओं के कठोर पालन तथा अपने खाने-पीने के साधनों के अतिरिक्त किसी भी वस्तु पर बल नहीं देते हैं। ऐसी रस्मों और परम्पराओं को जिन्हें वे आवश्यक समझते हैं दूसरे व्यक्तियों द्वारा अवहेलना एवं तिरस्कार से उन्हें कोई परेशानी अथवा कष्ट भी नहीं होता है। इसके विपरीत मुसलमान अपने धर्म के सिद्धान्तों का पालन मोक्ष के लिए आवश्यक और उनका तिरस्कार नरकवास के लिए उत्तरदायी समझते हैं, और इसलिए उनसे भलीभांति परिचित होते हैं। वे अपने धार्मिक सिद्धान्तों को ईश्वर का आदेश मानते हैं।"[22] सन् 1887 में सर सैयद ने व्यक्त किया, "कांग्रेस में हिन्दू बंगालियों के साथ मिलकर अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे जिससे वे मुसलमानों के धर्म-विरोधी कार्यों को दबा सकें।"[23] इन विचारों के आधार पर यह समझना कठिन नहीं था कि वे हिन्दुओं से सहयोग की बात तभी करना चाहते थे जब उन्हें अलीगढ़-आन्दोलन से सम्बन्धित संस्थाओं के लिये आर्थिक सहायता की आवश्यकता होती थी। ऐसे समय में उनकी उक्ति होती थी—"भारत में दो कौमें हैं—हिन्दू और मुसलमान। इनमें से यदि एक कौम उन्नति करे और दूसरी कौम

अवनति में पड़ी रहे तो इसका (भारत का) सुन्दर मुखड़ा काना ही रहेगा। इस दुल्हन के सुन्दर चेहरे की खूबसूरती इसी में है कि इसकी दोनों आँखें पूरी तरह स्वस्थ हों।"[24] इसके पश्चात् वे पुनः अपने वास्तविक रंग में आकर हिन्दुओं को धमकियाँ देने से नहीं चूकते थे। उनकी दलील थी कि भारत के बहुसंख्यक हिन्दुओं को मुस्लिम अल्पसंख्यकों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने चाहिये अन्यथा शक्ति के जोर पर मुसलमान उनका जीवन कठिन बना देंगे। उनके शब्दों में, "मुसलमान यद्यपि संख्या और अंग्रेजी शिक्षा में कम हैं, लेकिन वे अपनी स्थिति सुरक्षित रख सकेंगे। मान लीजिये ऐसा नहीं हो तब उनके मुसलमान पठान भाई पहाड़ी दर्रों से टिड्डी दलों की भाँति आयेंगे और उत्तर से बंगाल के अंत तक खून की नदियाँ बहा देंगे।"[25]

एम० एम० जैन के अनुसार "सर सैयद अत्यन्त बुद्धिमान् एवं दूरदर्शी नेता थे जो यह समझते थे कि मुसलमानों की प्रगति किस प्रकार हो सकती थी। हिन्दुओं से सहयोग लेकर (यदि हो सके) अथवा मुसलमानों की पृथक्ता की दुहाई देकर (यदि आवश्यक हो) वे मुसलमानों को पुनः प्रगति के लिए संगठित कर देना चाहते थे।' "1887 में उन्होंने मुसलमानों के पिछड़े होने के सम्बन्ध में लिखा था, 'जितना अनुभव और जितना विचार किया जाता है, सबका निर्णय यह निकलता है कि अब भारत के मुसलमानों को भारत की अन्य कौमों से समानता कर पाना असम्भव सा लगता है। बंगाली तो अब इतना आगे बढ़ गये हैं कि यदि बंगाल, हिन्दुस्तान और पंजाब के मुसलमान पर लगाकर भी उड़ें तो उनको पकड़ नहीं सकते। भारत की हिन्दू कौमों ने भी उन्नति करके मैदान में मुसलमानों को बहुत पीछे छोड़ दिया है। यदि मुसलमान दौड़कर भी चलें तो भी उनको पकड़ नहीं सकते।' वे सदा इस बात से चिन्तित रहते थे कि भारत में एक कौम (हिन्दुओं) ने अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर लिया था और जो समय आने वाला था उसको भली भाँति समझकर अपने-आपको उसके योग्य बना लिया था, मगर जो कौम पीछे पड़ी रह गई थी, 'वह हमारी कौम है जो मुसलमान कहलाती है और जिसको इस्लाम ने एक कौम बना दिया है।"[26]

इस प्रकार से सैयद अहमद खाँ ने भारत के सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन में, साम्प्रदायिक राजनीति का आधार रखा। मुसलमानों के हितों को सुरक्षित रखने के लिये सर सैयद ने उन उपायों एवं वक्तव्यों का सहारा लिया जो राष्ट्रीय जीवन के मार्ग को अवरुद्ध करने वाले सिद्ध हुए। मुसलमानों के अत्यन्त प्रतिष्ठित नेता एवं मार्गदर्शक बनने का श्रेय सर सैयद को अवश्य प्राप्त हुआ, फिर भी उनकी संकीर्ण "कौमियत" की नीति ने अनेकों प्रबुद्ध भारतीय मुसलमानों को कांग्रेस की ओर आकर्षित किया। सर सैयद मुसलमानों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिये कटिबद्ध रहे। उन्होंने आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक एवं राजनीतिक दृष्टि से मुसलमानों को आगे बढ़ाने के अनेक कार्य किये। उनके द्वारा चलाया गया अलीगढ़-आन्दोलन भारतीय मुसलमानों में जागृति का सन्देशवाहक बना। अंग्रेजों का विश्वास जीतने के लिये सर सैयद ने ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में जीवित रखने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया और वे निरन्तर इसी प्रयास में रहे कि यहाँ स्वायत्त शासन तथा प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं का स्वतन्त्र विकास न हो सके। मुसलमानों में साम्प्रदायिक भावना का पुनः संचार कर सर सैयद ने पृथक्

अध्याय 18

शेख मोहम्मद इकबाल (1877-1938)

मोहम्मद इकबाल का जन्म 1877 मे सियालकोट में हुआ था। उनके पूर्वज कश्मीरी ब्राह्मण थे।[1] इस्लाम धर्म स्वीकार करने के पश्चात् भी उनके परिवार मे सूफीवाद का प्रभाव निरन्तर बना रहा। लाहौर म उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें इतिहास एव दर्शनशास्त्र में व्याख्याता के पद पर नियुक्त किया गया। वे गवर्नमेन्ट कालेज लाहौर में अग्रेजी तथा दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक भी रहे। उन्हें कविता लिखने का शौक था। प्रारम्भ में परम्परागत पद्य रचनाओ के पश्चात् वे भारत की एकता तथा स्वतन्त्रता के लिये देशभक्तिपूर्ण रचनाए करने लगे और उनकी लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। 1905 मे वे यूरोप गये और कैम्ब्रिज मे उन्होंने ब्रिटिश दार्शनिक चिन्तन का गूढ़ अध्ययन किया। वहाँ से जर्मनी पहुचे और म्यूनिख विश्वविद्यालय से फारसी तत्त्वशास्त्र के विकास पर उन्हें डाक्टर आफ फिलासफी की उपाधि प्राप्त हुई। वहा से लौटकर लदन म उन्होने बैरिस्टरी के लिये योग्यता प्राप्त की। कुछ समय लदन स्कूल आफ इकोनोमिक्स म शिक्षा प्राप्त कर वे तीन महीने के लिये लदन विश्वविद्यालय मे अरबी भाषा के प्रोफेसर भी रहे। सन् 1908 में इकबाल लाहौर लौटे और वकालत करने लगे।

इकबाल ने अनेक प्रसिद्ध रचनाए उर्दू के माध्यम से प्रस्तुत की हैं जिसके कारण वे आधुनिक उर्दू-जगत् मे अत्यन्त लोकप्रिय कवि माने गये हैं। उनके द्वारा लिखित असरार-ए-खुदी उनकी सर्वश्रेष्ठ पद्यात्मक कृति है जिसमें इकबाल को दार्शनिक उड़ान के दर्शन होते है। उन्होने कविताओ के अलावा दार्शनिक चितन में भी पूर्ण रुचि दिखाई। उनके भाषणो तथा लेखों मे उनके चितन की झलक मिलती है। इकबाल को आधुनिक भारतीय मुस्लिम चितन का दार्शनिक कहा जा सकता है। आक्सफोर्ड में दिये गये उनके व्याख्यानो का सग्रह 'रिकान्स्ट्रक्शन आफ फिलासफी इन इस्लाम' के रूप मे प्रकाशित हुआ। इकबाल की प्रारम्भिक रचनाओं पर सूफी चिन्तन का प्रभाव रहा। उनकी कृति 'जावेदनामा' पर रूमी की स्पष्ट छाप रही। यहाँ तक कि उन्होने फारसी मे महाकवि रूमी की शैली तथा उसके शब्द-विन्यास को अपनी कृतियों मे पुन ध्वनित किया है। इकबाल के चिन्तन पर यूरोप में प्रसिद्ध विचारको बर्गसाँ तथा नीत्शे का भी प्रभाव पड़ा। उनकी रचनाओ बाल-ए-जब्रील तथा जर्ब-ए-कलीम पर बर्गसाँ का प्रभाव देखा जा सकता है। नीत्शे के अतिमानव के सिद्धान्त को इकबाल ने महत्त्व का बतलाया और उसे जीवनदायिनी, सृजनात्मक एव क्रियाशील मानवशक्ति का उद्घोषक माना।[2] इकबाल के विचारों पर इस्लाम धर्म की अमिट छाप थी। इकबाल ने कुरान की शिक्षाओ को आत्मसात् करते हुए स्वामी दयानन्द के 'पुन वेदो की ओर जाने' के सदेश के समान 'कुरान की ओर पुन जाने' की बात कही। वे पूर्णतया कुरान को ही एक मात्र वैचारिक आधार मानते हों, ऐसी बात नही थी। उन्होने अनेक

स्वलों एवं विचारों में कुरान से हटकर अपने स्वतन्त्र विचार भी व्यक्त किये, किन्तु उनकी यह वैचारिक क्रान्ति उनके जीवन के मध्याह्न तक ही रही। जीवन के उत्तरार्द्ध में इकबाल पर रूढ़िवादिता का रंग चढ़ता चला गया और वे भारतीय मुसलमानों की पृथकता एवं सर्व-इस्लामवाद (पैन-इस्लामिज्म) की ओर मुड़ गये।[3]

एक राजनीतिज्ञ के रूप में उनका जीवन 1927 में प्रारम्भ हुआ जब वे पंजाब के मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र से प्रांतीय विधान परिषद् के सदस्य चुने गये। 1930 में उन्हें मुस्लिम लीग का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। लंदन में आयोजित द्वितीय एवं तृतीय गोलमेज सम्मेलन (1930-1931) में उन्होंने भी भाग लिया। इकबाल भारतीय मुसलमानों को अपना पृथक् राज्य स्थापित करने की प्रेरणा देने लगे। वे भारतीय मुसलमानों को एक पृथक् राष्ट्रीयता के रूप में स्वीकार करने लगे। उनकी दृष्टि में मुसलमान अल्पसंख्यकों पर हिन्दू बहुसंख्यकों का शासन उचित नहीं था।[4] उन्हें अविभाजित भारत में मुसलमानों के हितों की असुरक्षा का अंदेशा था, अतः वे भारत के विभाजन का स्वप्न देखने लगे। वे भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग में पृथक् मुस्लिम राज्य की स्थापना का समर्थन कर रहे थे। इकबाल ने मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए यही व्यक्त किया था कि भारत में ब्रिटेन की लोकतांत्रिक पद्धति को लागू करना निरर्थक होगा, क्योंकि इससे भारत के हिन्दुओं एवं मुसलमानों में गृहयुद्ध भड़क उठेगा। वे भारत को अनेक राष्ट्रीयताओं वाला देश मानते हुए भारत की समस्या को राष्ट्रीय न मान कर अन्तर्राष्ट्रीय मानते थे।[5]

एन. एन. वैन के अनुसार, "इकबाल का एक विशेष मन्तव्य यह था कि उन्होंने मुसलमानों की कौमियत का आधार भूमि के स्थान पर इस्लाम को बताया। उन्होंने मुसलमानों को मिल्लत के माध्यम से ही संगठित माना था। 'वतन' अथवा भूमि के आधार पर कौमियत की कल्पना का उन्होंने विरोध किया था और इस प्रकार मुसलमानों को भारतीय कौमियत में विलय होने से रोक दिया था। साधारणतया इकबाल को उनके तराना-ए-हिन्दी (1904) से जाना जाता है जिसमें उन्होंने कहा था :

> "सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा,
> हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलिस्ताँ हमारा,
> मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना,
> हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा।"
>
> (बांग-ए-दरा, पृ. 77-78)

"उपर्युक्त कविता से उनके देशप्रेम का अर्थ लगाया जाना स्वाभाविक ही है। किन्तु इस कविता का अर्थ इकबाल के लेखों की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए। 'वतन' का अर्थ उस समय महत्त्वपूर्ण होता है, जब 'वतन' को कौम का आधार मान लिया जाता है—अर्थात् एक वतन के रहने वाले एक कौम के सदस्य बनते जायें। इस कविता का देशप्रेम के सन्दर्भ में कोई अर्थ नहीं रहता है, यदि इकबाल का अभिप्राय एक "हिन्दी" (हिन्दुस्तान में रहने वालों की) कौम से नहीं था।

"इकबाल ने 1938 में भी, जबकि वे मुसलमानों के पृथक् राज्य के विचार का प्रतिपादन कर चुके थे, यह लिखा कि 'हम सब हिन्दी हैं और हिन्दी कहलाते हैं क्योंकि हम

सब भूमि के उस भाग में रहते हैं जिसे हिन्द (भारत) के नाम से पुकारते हैं 'वतन' शब्द केवल एक भौगोलिक प्रयोग है और इस स्थिति में इसका इस्लाम से संघर्ष नहीं होता है ' इन अर्थों में प्रत्येक मनुष्य प्राकृतिक रूप से अपनी जन्मभूमि से प्रेम रखता है...किन्तु आधुनिक साहित्य में 'वतन' का अर्थ केवल भौगोलिक ही नहीं बल्कि 'वतन' मनुष्यों के संगठित अस्तित्व का एक सिद्धान्त बन जाता है और इस दृष्टि से एक राजनीतिक कल्पना है। चूंकि इस्लाम में मनुष्यों के संगठित अस्तित्व का एक नियम है, इसलिए जब वतन को एक राजनीतिक प्रत्यय के रूप में प्रयोग किया जाये तो वह इस्लाम विरोधी है।"

"आधुनिक युग में कौमों का केवल वतन के आधार पर गठन करना और भारतीय मुसलमानों को यह सुझाव देना कि वे इसे स्वीकार करें, इक़बाल के लिये असह्य था। इक़बाल ने बताया था कि वे वतनियत के ऐसे दृष्टिकोण की आलोचना उस समय से कर रहे थे जबकि इस्लामी-जगत् और भारत में इस दृष्टिकोण की कोई विशेष चर्चा भी नहीं थी।'[6]

इसी सन्दर्भ में जवाहरलाल नेहरू[7] तथा एडवर्ड टॉमसन[8] के इन विचारों को कि इक़बाल प्रारम्भ में पाकिस्तान के विचार के समर्थक रहे किन्तु बाद में उन्होंने भारत के विभाजन को हिन्दुओं, मुसलमानों तथा अंग्रेजों के लिये विनाशकारी माना', 'इक़बाल ने पाकिस्तान की मांग का समर्थन इसलिए किया कि वे मुस्लिम लीग के अध्यक्ष थे'-अस्वीकार करते हुए एस. एम. जैन ने लिखा है कि "यह (उपर्युक्त) तर्क तथ्यों के अभाव में शायद स्वीकार भी हो जाता, किन्तु इक़बाल ने अपने अन्तिम दिनों में अपनी इस योजना का इतना स्पष्ट रूप प्रस्तुत किया था, जितना कि शायद 1930 के अध्यक्षीय भाषण में भी नहीं किया था। अपने 20 मार्च, 1937 के पत्र में उन्होंने जिन्ना पर इस बात के लिए दबाव डालने का प्रयत्न किया था कि वे जवाहरलाल नेहरू की मुस्लिम सम्पर्क योजना का उचित उत्तर दें और एक पृथक् एवं निश्चित राजनीतिक इकाई के रूप में भारतीय मुसलमानों के उद्देश्य को स्पष्ट करें। 28 मई, 1937 को पुनः आपने लिखा —"प्रश्न यह है कि मुस्लिम निर्धनता की समस्या को किस प्रकार हल किया जाय? इस्लामी विधि प्रणाली का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूँ कि यदि इन नियमों को ठीक प्रकार से समझा जाये तथा लागू किया जाये तो प्रत्येक व्यक्ति (मुसलमान) को जीवन निर्वाह के साधन उपलब्ध हो सकते हैं किन्तु इस देश में इस्लामी शरियत (विधि प्रणाली) को उस समय तक लागू नहीं किया जा सकता जब तक कि एक या एक से अधिक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य न हों ' भारत में शान्ति स्थापित रखने का यही एक साधन है। यदि यह असम्भव है, तब एक मात्र विकल्प गृह-युद्ध है, जो वास्तव में कुछ समय से मुस्लिम उपद्रवों के रूप में चल रहा है...यह आवश्यक है कि भारत का नये सिरे से विभाजन हो और एक या एक से अधिक ऐसे राज्य स्थापित किये जाय जहाँ मुसलमानों का पूर्ण बहुमत हो। क्या आप अनुभव नहीं करते हैं कि इस प्रकार की मांग प्रस्तुत करने का समय आ चुका है?"

"इक़बाल ने अपने 21 जून, 1937 के पत्र में पुनः (जिन्ना को) लिखा था 'ऐसी स्थिति में यह पूरी तरह स्पष्ट है कि भारत में शान्ति स्थापित रखने का एक मात्र उपाय यह है कि देश को धार्मिक, जातीय और भाषायी सिद्धान्तों के अनुसार विभाजित कर दिया जाय। बहुत से अंग्रेज राजनीतिज्ञ भी इस बात को अनुभव कर रहे हैं। मुझे याद

है कि इंग्लैण्ड में लार्ड लोथियन ने मुझ से कहा था कि मेरी योजना भारत की समस्याओं का एक मात्र हल थी""उत्तर-पश्चिमी भारत और बंगाल के मुसलमानों को पृथक् कौमें क्यों न समझा जाय जिन्हें आत्मनिर्णय का उसी प्रकार अधिकार उपलब्ध हो जिस प्रकार भारत में और भारत के बाहर अन्य कौमों को उपलब्ध है।"[9]

इकबाल द्वारा पाकिस्तान की स्थापना की माग ने उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व को बहुसंख्यक समुदाय की दृष्टि में अलोकप्रिय बना दिया। साम्प्रदायिक राजनीति के झंझावात में इकबाल ने मानव-एकता के धर्म को त्याग कर केवल समुदाय-विशेष के हितों को प्रश्रय दिया। 1935 से 1938 तक वे जिन्ना से विशेष सम्पर्क बनाये रहे। अनेक शारीरिक व्याधियों के कारण उनका स्वास्थ्य गिरता गया और 21 अप्रेल, 1938 को उनकी मृत्यु हो गई।

इकबाल के राजनीतिक एवं धार्मिक विचार

इकबाल ने मुस्लिम कौम (राष्ट्र) को सगठित करने के राजनीतिक उद्देश्य का प्रतिपादन करते हुए मुस्लिम राष्ट्रीयता का आधार भूमि के स्थान पर इस्लाम धर्म को बतलाया। वे मुसलमानों को किसी भूमि-विशेष से जोड़ने के स्थान पर धर्म से जुड़ा हुआ मानते थे। मुसलमानों को किसी निश्चित भौगोलिक सीमा में न बाधने का उनका उद्देश्य यह था कि वे नहीं चाहते थे कि यहाँ के मुसलमान भारतदेश को अपना वतन मानें। उनकी दृष्टि से मुसलमानों की प्रेरणास्थली केवल मक्का-मदीना ही हो सकती थी। वे इस्लाम धर्म का पुनः उत्थान करने के पक्षपाती थे। उनकी पुस्तक सिक्स लेक्चर्स ऑन दी रिकॉन्स्ट्रक्शन ऑफ रिलीजियस थॉट इन इस्लाम इसी दृष्टिकोण का प्रतिपादन करती है।[10] इकबाल के अनुसार कोई भी कौम अपने अतीत का परित्याग नहीं कर सकती, क्योंकि कौमियत का अतीत ही उसके विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण करता है। वे परम्परागत मुस्लिम चिन्तन के उग्र विरोध में नहीं थे, क्योंकि ऐसा करने का उनमें साहस न था। फिर भी उन्होंने इस्लाम के नव-निर्माण का नाम लेकर परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल इस्लाम की मान्यताओं को ढालने का सुझाव दिया।

इकबाल के चिन्तन पर जर्मन दार्शनिक नीत्शे के विचारों का अतिशय प्रभाव था। वे नीत्शे के अतिमानव से प्रभावित थे, किन्तु नीत्शे का अनीश्वरवादी पक्ष उनका प्रेरक नहीं रहा। इस्लाम में उनकी पूर्वासक्ति ने उनके चिन्तन को धार्मिकता का बाना पहना दिया। वे प्रत्येक समस्या का समाधान धर्म में ढूंढ़ने लगे। उनके अनुसार मानव जाति का विकास आध्यात्मिकता द्वारा ही हो सकता था। धर्म को प्रगति का प्रेरक मानते हुये इकबाल ने पाश्चात्य भौतिकवादी चिन्तन, पूंजीवाद तथा अनीश्वरवादी समाजवाद का विरोध किया।[11] वे विवेक के स्थान पर विश्वास को अधिक महत्त्व देते हुये ऐतिहासिक विरासत एव धर्मजन्य संस्कृति को ही श्रेष्ठ मानते थे। उनका लोकतन्त्र, लोकप्रिय सम्प्रभुता, लोक-शक्ति आदि राजनीतिक अवधारणाओं में विश्वास नहीं था। वे राजनीति को धर्म से अविच्छिन्न मानते हुये धर्मतन्त्र में पूर्ण निष्ठा रखते थे। उनके अनुसार जीवन का प्रत्येक पक्ष धर्म तत्व से आलोकित था। इकबाल ने इस्लाम के धार्मिक आदेशों के अनुसार "शरियत" में व्यक्त ईश्वरीय सत्ता की सर्वोच्चता के समक्ष मानवीय सत्ता को नगण्य माना। वे इस्लाम के अद्वैत का प्रतिपादन करते हुये यह दर्शाना चाहते थे कि

इस्लाम कोई धर्म-संघ न होकर सविधानजनित अवयवो के रूप मे कल्पित एक राज्य है जिसका अपना स्वयं का नैतिक-आध्यात्मिक जीवन है ।[12]

मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुये 29 दिसम्बर, 1930 को इकबाल ने कहा :

"*भारत मे तथा अन्य स्थानो पर समाज के रूप मे इस्लाम की सरचना इस्लाम* की एक निश्चित नैतिक आदर्श पर आधारित संस्कृति से सम्बन्धित है। मेरा तात्पर्य यह है कि मुस्लिम समाज अद्भुत सजातीयता एव आंतरिक एकता के कारण इस्लामी संस्कृति से सम्बद्ध वैधिक नियमों एव संस्थाओ के दबाव मे विकसित हुआ है। यूरोप के राजनीतिक चिन्तन से निसृत विचारो ने भारत के तथा भारत के बाहर के वर्तमान मुसलमानो को शीघ्रता से परिवर्तित करना प्रारम्भ कर दिया है। हमारे युवाओं ने उन विचारो से प्रभावित होकर उनके अनुरूप जीवन ढालने का प्रयास किया है। उन्होने यूरोप मे विकसित होने वाले उन विचारो को आलोचनात्मक दृष्टिकोण से परखने का प्रयास नही किया। यूरोप मे ईसाई धर्म प्रारम्भ मे केवल मठविषयक माना गया था किन्तु वही कालांतर मे विशाल चर्च-संगठन के रूप मे विकसित हुआ। लूथर ने इस विशाल चर्च-संगठन के विरुद्ध आवाज उठायी ताकि किसी धर्म-निरपेक्ष प्रकृति की राजनीति स्थापित हो सके क्योकि उस समय ईसाई धर्म के साथ ऐसी कोई राजनीति संयुक्त नहीं थी। रूसो तथा लूथर द्वारा प्रभावित बौद्धिक आन्दोलनो ने मानवीय विचारधाराओ को राष्ट्रीय विचार मे परिवर्तित करने का प्रयास किया जिसमे भूमिविशेष के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए राजनीतिक शक्ति के विकास को बल मिला। यदि धर्म को जीवनेतर मान लिया जाय, तब तो ईसाई धर्म के साथ यूरोप मे जो कुछ हुआ, वह पूर्णत प्राकृतिक है। ईसा का सार्वभौमिक नीतिशास्त्र नैतिक एव राजनीतिक राष्ट्रीय व्यवस्थाओ द्वारा अपदस्थ कर दिया गया है। यूरोप जिस निष्कर्ष पर पहुँचा है, उसका अभिप्राय है कि धर्म व्यक्ति का निजी क्रियाकलाप है और उसका मानव की भौतिक जीवन की एकता से कोई लेना-देना नहीं है, किन्तु इस्लाम मानव की एकता को आत्मा तथा पदार्थ की समन्वय-विहीन द्वैधता मे विभाजित नहीं करता। इस्लाम मे ईश्वर तथा ब्रह्माण्ड, आत्मा तथा पदार्थ, चर्च तथा राज्य आंगिक एकता के सूत्र मे बधे हुये हैं। मानव ऐसे अपवित्र विश्व का नागरिक नहीं है जिसे अन्यत्र उपलब्ध आध्यात्मिक विश्व के हित मे नकारा जा सके। इस्लाम के अनुसार पदार्थ अंतरिक्ष एवं समय से अनुभूत आत्मा है। मेनिशियन चिन्तन के अनुसार ही यूरोप मे आत्मा तथा पदार्थ की द्वैधता को बिना आलोचना के स्वीकार किया है। आज यूरोप के श्रेष्ठ चिन्तक भी इस त्रुटि को स्वीकार करते हैं किन्तु उनके राजनेता अप्रत्यक्ष रूप से विश्व को इस विचारधारा के निर्विरोध स्वीकारने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनकी इस आध्यात्मिकता एव भौतिकता के विभेद की मान्यता के कारण ही ईसाई धर्म यूरोपीय राज्यो के जीवन से अलग-थलग हो गया है। उसका परिणाम यह हुआ है कि यूरोप के संकुचित राज्य मानवीय उद्देश्यो के स्थान पर राष्ट्रीय हितो से नियमित हैं। ये राज्य ईसाई धर्म की नैतिकता एव मान्यताओ को पैरो तले रौंदकर सघात्मक यूरोप की स्थापना की आवश्यकता अनुभव कर रहे है। ईसाई चर्च-संगठनो द्वारा प्राप्त एकता को ईसा के मानवीय बन्धुत्व के कार्य के अनुरूप पुनर्गठित करने के स्थान प[र] [लू]थर की

प्रेरणा के अन्तर्गत नष्ट करने का प्रयास जारी है। इस्लाम के विश्व में लूथर की उपस्थिति असंभव है क्योंकि इस्लाम में मध्ययुगीन ईसाई धर्म जैसा कोई चर्च-संगठन नहीं जिससे किसी सुधारक को निमंत्रण मिले......।"[13]

इकबाल ने साम्प्रदायिकता के महत्व को दर्शाते हुए व्यक्त किया, "यह सिद्धांत कि प्रत्येक समूह अपने स्वतन्त्र विकास का अधिकारी है, किसी संकीर्ण सम्प्रदाय की भावना से प्रभावित नहीं है। चारों ओर सम्प्रदायवाद ही सम्प्रदायवाद है। ऐसा समुदाय जो अन्य समुदायों के प्रति बुराई की भावना से प्रेरित हो निम्न एवं अधम है। मैं अन्य समुदायों के रीति-रिवाजों, कानूनों, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं के प्रति उच्चतम सम्मान रखता हूँ। नहीं, कुरान की शिक्षा के अनुसार यह मेरा कर्तव्य है कि मैं आवश्यकता पड़ने पर उनके आराधना-स्थलों की रक्षा करूँ। फिर भी मैं साम्प्रदायिक समूह से प्रेम करता हूँ क्योंकि वह मेरे जीवन एवं व्यवहार का स्रोत है और उसने मुझे वह बनाया है जो मैं आज हूँ; उसने मुझे धर्म, साहित्य-चिन्तन, संस्कृति दी है और उसके माध्यम से समस्त अतीत मेरी वर्तमानकालिक चेतना के समक्ष पुनः जीवित हो उठा है। नेहरू रिपोर्ट के निर्माताओं ने भी सम्प्रदायवाद के उच्च आदर्श के मूल्य को स्वीकार किया है। सिन्ध को पृथक् करने का उल्लेख करते हुये उन्होंने कहा है कि राष्ट्रवाद के व्यापक अर्थों की दृष्टि से यह कथन कि साम्प्रदायिक प्रान्तों का निर्माण न किया जाय, एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अनुसार इस तर्क के समकक्ष है कि पृथक् राष्ट्रों का अस्तित्व ही न हो। दोनों ही कथनों में सत्य का अंश है। किन्तु कट्टरतम अन्तर्राष्ट्रवादी यह स्वीकार करता है कि सम्पूर्ण राष्ट्रीय स्वायत्तता के बिना अन्तर्राष्ट्रीय राज्य का निर्माण असमान्य रूप से कठिन है। इसी प्रकार से सम्पूर्ण सांस्कृतिक स्वायत्तता के बिना, तथा सम्प्रदायवाद जो कि अपने अच्छे पक्ष में संस्कृति ही है, एक समन्वयकारी राष्ट्र का निर्माण करना असम्भव हो जायगा।"[14]

इकबाल ने इस्लाम को राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद दोनों से भिन्न श्रेणी में रखते हुये उसे एक कौमी संघ की संज्ञा दी। उन्होंने इस्लाम को मानवीय एकता का प्रतीक बतलाते हुए आदि इस्लाम की ओर पुनः जाने की प्रेरणा दी। उन्होंने इस्लाम में अन्तर्निहित *समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्व की भावना को इस्लामी मिल्लत का आधार* माना। मिल्लत अर्थात् मुस्लिम विश्वबन्धुत्व में पूर्ण निष्ठा प्रकट करते हुए इकबाल ने सर्व-इस्लामवाद से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया। उनके अनुसार सर्व-इस्लामवाद का यह अर्थ नहीं था कि विश्व के सभी मुसलमानों को एक ही राजनीतिक संगठन में आबद्ध कर दिया जाय। वे इसे ऐसा आदर्श मानते थे जिसके अन्तर्गत जातीयता, राष्ट्रीयता एवं भौगोलिक पृथकता का अंश लेशमात्र भी न हो। उनके अनुसार मिल्लत का सर्वोच्च आदर्श हजरत मोहम्मद के प्रति अगाध श्रद्धार्पित है। वे मानवीय विधान की अप्रमान्यता तथा ईश्वरीय विधान की महत्मन्यता में विश्वास करते थे।[15]

इकबाल ने पूंजीवाद को ईश्वरीय विधान के विरुद्ध बतलाया। वे सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर ईश्वर को समस्त भौतिक सम्पदा का स्वामी मानते थे। उनके अनुसार सम्पत्ति का निजी अधिकार शोषण का प्रतीक था। उन्होंने इस सन्दर्भ में न्यासिता के विचार को ग्रहण करते हुए व्यक्ति को सम्पत्ति के न्यासी के रूप में माना। वे

भूस्वामियों के शोषण का प्रतिकार करते थे। उनके अनुसार बड़े-बड़े जमींदारों द्वारा जमीन पर अपना एकाधिकार जताने का कोई अधिकार नहीं था क्योंकि पृथ्वी केवल ईश्वर के निमित्त है। इसके विपरीत आचरण करने का अर्थ ईश्वरीय विधान में अनधिकार चेष्टा है। उनके उपर्युक्त विचारों का यह अर्थ नहीं है कि इकबाल समाजवादी थे। समाजवाद का शास्त्रोक्त अध्ययन करने की उन्होंने चेष्टा नहीं की। किन्तु एक मानवतावादी के नाते शोषण का प्रतिकार करते हुये इकबाल ने पूंजीवाद की समाप्ति का स्वप्न देखा। इकबाल का समाजवादी विचार इस्लाम की मान्यताओं पर आधारित था। वे भौतिकवाद के चकाचौंध कर देने वाले वैभव से दूर रहना चाहते थे। उनकी रचनाओं में निर्धन, दीन, दुखी मानव के प्रति संवेदना एवं सहानुभूति का स्वर गुंजित हुआ। वे निर्धनता, शोषण तथा अन्याय का विरोध करने में समाजवादी दिखाई देते थे, अन्यथा उनका चिंतन अनेक स्थितियों में समाजवाद के विपरीत था। उदाहरणार्थ, इकबाल ने भौतिक वस्तुओं के समुचित वितरण को मृग-तृष्णा माना। उनकी मान्यता थी कि ऐहिक सुख एवं समृद्धि की प्रतीक कोई भी व्यवस्था मानव स्वभाव को भ्रष्ट करने वाली थी। वे भौतिक उन्नति के स्थान पर आत्मिक उन्नति में विश्वास करते थे। वे पाश्चात्य देशों द्वारा प्राप्त वैज्ञानिक उपलब्धियों को लोभ एवं अहंकारिता का प्रतीक मानते थे। साम्राज्यवाद का विरोध करते हुये इकबाल ने उसे आधुनिक सभ्यता का कलंक बतलाया। वे व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण अथवा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर जमाये गये आधिपत्य के विरोधी थे। पूंजीवाद को साम्राज्यवाद की क्षणभंगुरता पर आधारित मानते हुये इकबाल ने न केवल साम्राज्यवाद का ही विरोध किया, अपितु वे राष्ट्रवाद को भी हेय दृष्टि से देखते थे।[16] वे कार्लमार्क्स के धर्म विरोधी एवं नास्तिकतावादी विचारों के आलोचक थे। वे समस्त विश्व में ईश्वर की सत्ता का दर्शन करते थे।

प्रारम्भ में सर्वव्यापी ब्रह्म में विश्वास रखने वाले इकबाल शनैः शनैः वैयक्तिक ईश्वरवादी बन गये। वे इस्लाम धर्म को अपना केन्द्र बिन्दु मानकर कुरान की आयतों में खो गये। उनका सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण एकेश्वरवाद में परिवर्तित हो गया। वे आध्यात्मिक चिन्तन की तुलना में साम्प्रदायिक मान्यताओं से अधिक प्रभावित होते गये। वे ईश्वर की सत्ता को सर्वोच्च मानते हुये मानव इतिहास में ईश्वरीय सत्ता के उद्देश्यवाद को ढूंढने लगे। वे मानते थे कि परमसत्ता शाश्वत उद्देश्यपूर्ण एवं सृजनात्मक थी जिसका आध्यात्मिक विश्वदर्शन था। इकबाल भौतिकवादियों के कटु आलोचक थे। उन्हें यह स्वीकार नहीं था कि दृश्यजगत् की स्थूलता को स्वीकार किया जाय। वे भौतिक विज्ञान के पदार्थ ज्ञान को सीमित एवं अज्ञानपूर्ण बतलाते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में भौतिक शक्तियों ने केवल पदार्थ की संरचना का ही ज्ञान प्राप्त किया था, न कि पदार्थ के कारण—अर्थात् पदार्थ उत्पन्न करने वाली शाश्वत शक्ति का बोध। वे ईश्वरीय सत्ता को प्राणवान् एवं चैतन्य मानते थे। ईश्वर को परम मैं मानते हुये इकबाल ने व्यक्तिगत 'मैं' का परमसत्ता के व्यक्तित्व में विलीन होना स्वीकार नहीं किया। वे परम सत्ता को व्यक्ति मात्र के लिये दिशा निर्देश देने वाला तत्त्व मानते हैं।[17]

विश्व को निरन्तर गतिमान सृजनात्मक सम्भावनाओं से युक्त मानते हुये उन्होंने जड़ता एवं भाग्यवादिता का खण्डन किया। वे समय की गति तथा घटनाओं को चक्र के

समान पुनरावृत्त होने की धारणाओं में निष्ठा नहीं रखते थे। उनकी दृष्टि में देश तदकाल तथा समयातीत आत्मानुभूति में यही अन्तर था कि पहली स्थिति सीमाओं से आच्छादित थी, तो दूसरी नियन्त्रण-विहीन शाश्वतता का बोध कराती थी। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये क्रमबद्ध काल का उपयोग करता है। आध्यात्मिक सत्ता के कारण व्यक्ति विश्व की वृद्धि का अनुभव करते हुए नवीन सम्भावनाओं के परिवेश में पूर्णत्व को प्राप्त करता है। व्यक्ति का आदि अवश्य है किन्तु उसका कोई अन्त नहीं। पार्थिव अस्तित्व समाप्त हो जाने पर भी व्यक्तित्व का लोप नहीं होता। व्यक्ति द्वारा अपने कर्त्तव्य की पूर्ति, आत्मनियन्त्रण तथा स्वयं के विकास की सम्भावनाओं का पूर्ण उपयोग किया जाता है। आत्मानुभूति के लिये व्यक्ति को संघर्ष तथा तनाव के वातावरण में रहना पड़ता है। संघर्ष व्यक्ति की स्वतन्त्रता की महत्ता का बोध कराता है। व्यक्तित्व की अनुभूति, सामाजिक जीवन का अनुभव तथा ईश्वरीय शक्ति का बोध व्यक्ति को ईश्वरीय गुणों से विभूषित कर ईश्वर के सदृश ऊपर उठने की प्रेरणा है। कर्मविहीन व्यक्ति का जीवन नेष्ट है। अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु आत्मिक विकास की ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर अमरत्व सदृश स्थिति में पहुंचा देती है।[18]

इकबाल ने नीत्शे के प्रभाव में अतिमानव की स्थिति को स्वीकार किया है किन्तु उनके विचारों का अतिमानव नीत्शे के अतिमानव से भिन्न है। इकबाल ऐसा अतिमानव चाहते हैं जो आत्म-नियन्त्रण रखता हो एवं ईश्वर की आज्ञाओं के अनुरूप कार्य करने की स्थिति में हो। अतिमानव की स्थिति को समस्त समाज द्वारा स्वीकृत करना ही होता है, क्योंकि वह ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में होता है। ईश्वर अतिमानव के माध्यम से अपना सन्देश एवं अपनी इच्छाओं को व्यक्त करते हुये मानव कल्याण के लिये उसे प्रेरित करता है। इकबाल ने तत्वशास्त्रीय चिन्तन का विरोध किया है। वे चाहते हैं कि चिन्तन एवं पारलौकिक सन्दर्भों के भ्रम से दूर रह कर व्यक्ति को लौकिक जीवन के उत्तरदायित्व का निर्वहन करना है। वे सामूहिक जीवन के महत्त्व पर बल देते हुये इस्लाम की सामूहिक प्रार्थना की पद्धति एवं भाईचारे की भावना को न केवल धार्मिक दृष्टि से अपितु राजनीतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इकबाल ने साथ ही साथ व्यक्तिवाद का भी प्रतिपादन किया है जिसके अन्तर्गत वे ऐसे व्यक्तियों को समाज के दिशाबोध के लिये आवश्यक मानते है जो आत्मिक शक्ति के प्रस्फुरण से समस्त समाज को आलोकित करते हैं।[19] इकबाल ने यूनान के उच्च दार्शनिक चिन्तन का विरोध किया है। वे सूफियों के चिन्तन के भी विरुद्ध हैं। उनका कर्मयोग में विश्वास दिखाई देता है। भगवान श्रीकृष्ण के कर्मयोग का इकबाल पर अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है। उन्होंने हैगल के द्वन्द्वात्मक आध्यात्मिकवाद के विस्तृत विचारों के अनुरूप अवयवी निरपेक्ष स्वत्व को स्वीकार किया है।

इकबाल ने सृजनात्मक जीवन की शाश्वतता में पूर्ण निष्ठा प्रकट करते हुए नियतिवाद एवं परलोकवाद की धारणाओं पर कठोर प्रहार किया है। वे आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के परम उपासक हैं। उन्होंने तकदीर एवं तदबीर दोनों को ही स्वीकार किया है। तदबीर द्वारा सृजन की असीमित शक्ति मानव को प्राप्त होती है, जबकि इस बात के अनुसार तकदीर भाग्य मात्र न होकर शाश्वत काल का रूप है जिसे व्यक्ति अपने आत्म-विकास के लिए प्रयुक्त करने की स्वतन्त्रता रखता है। तकदीर व्यक्तित्व के विकास का अवसर

उपलब्ध कराती है। उनकी यह धारणा आध्यात्मिक लोकतन्त्र का पोषण करती है जिसमें व्यक्ति के विकास की सम्भावनाओं का अन्त नहीं है। फिर भी इकबाल ने इस्लाम की मान्य शिक्षाओं के अनुरूप अपने-आपको लोकतन्त्र से दूर रखने का प्रयास किया है ताकि वे लौकिक सत्ता एवं आध्यात्मिक सत्ता के द्वन्द्व में न पड़ें। वे व्यक्तित्व के विकास को महत्व देकर भी लोकप्रिय सम्प्रभुता से दूर हैं। लोकतान्त्रिक संस्थाओं के व्यावहारिक व्यवहार का वे स्वीकार नहीं करते। वे धार्मिक उपदेशों अथवा कुरान की शिक्षाओं के अनुरूप समाज चाहते हैं जिसमें आध्यात्मिक सत्ता को चुनौती नहीं दी जा सकती।[20] लौकिक उद्देश्यों के निर्वाह के लिये ईश्वरीय सत्ता का प्रयोग कैसे होगा, इसका उत्तर इकबाल के पास नहीं है। व्यक्तित्व के प्रभुत्व को चुनौती देने के स्थान पर उसके पूर्ण दास दिखाई देते हैं। वे लौकिक नेतृत्व को साम्प्रदायिक नेतृत्व के समक्ष बलि देकर पुरातनपन्थी विचारों को पुनर्जीवित करते दिखाई देते हैं। उनके विचारों में लोकतन्त्र के प्रति व्यक्त दुर्भावनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि वे फासीवादी दृष्टिकोण का पोषण कर रहे हैं तथा धर्मान्धता को बढ़ावा देकर व्यक्ति को अज्ञात आध्यात्मिक अतिमानव के वशीभूत करना चाहते हैं। यह धारणा उनकी दार्शनिकता का दिग्दर्शन प्रस्तुत करती है। उनके विचारों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का नितान्त अभाव है क्योंकि उनके विचार अनेक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त रहे हैं।

समीक्षा

सर मोहम्मद इकबाल के चिन्तन से यह स्पष्ट है कि वे भारत के प्रति देशप्रेम की भावना से अभिभूत नहीं थे। वे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से परिचित होकर भी इस्लाम की इस मान्यता में विश्वास रखते थे कि यदि इस्लाम में विश्वास रखने वाले किसी व्यक्ति को इस्लामी जीवन व्यतीत करने में कठिनाई अनुभव होती हो तो उसे हजरत मोहम्मद की तरह वह देश छोड़कर अन्यत्र चल जाना चाहिये। वे मदीना को मुसलमानों का एकमात्र आश्रयस्थल मानते हुये इस्लाम की कौमियत को किसी भूमि-विशेष से जोड़ना पसन्द नहीं करते थे। उन्होंने रमूज-ए-बेखुदी (1918) में व्यक्त किया कि इस्लाम में विश्वास रखने वाला हजरत मोहम्मद को अन्तिम पैगम्बर मानते हुये अपने को किसी भी देश से जुड़ा हुआ नहीं मानता, वह तो ईश्वर की एकता में विश्वास रखता है। वे कौमियत को राज्य की सीमाओं में सीमित रखने के विरोधी थे। उनका कहना था कि भारत में एक कौमियत (राष्ट्रीयता) की बात करना व्यर्थ था क्योंकि जिस प्रकार अधिक आवाज करने वाली मुर्गी अधिक अण्डे नहीं देती, उसी प्रकार इस शब्द से भी कोई परिणाम नहीं निकल सकता ... मेरे विचार में एक कौम होना अच्छा नहीं है'।'[21]

इकबाल ने भारत के मुस्लिम अल्पसंख्यकों के लिये स्वतन्त्र राज्य प्राप्त करने की बात कही। उन्हें यह डर था कि यदि मुसलमानों ने यहीं हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता से अपने-आपको जोड़ दिया तो इस्लाम उनके लिये केवल निजी क्षेत्र तक ही सीमित रह जायगा। वे इस्लाम को सुरक्षित रखने तथा मुसलमानों को शक्तिशाली बनाने का आह्वान इस कारण कर रहे थे कि इसके माध्यम से मुसलमानों का पृथक राजनीतिक अस्तित्व कायम हो सके। वे मुसलमानों में जाति-प्रथा का विरोध करते रहे और मुस्लिम समाज पर पड़ने वाले हिन्दू-प्रभावों को दूर करने का उन्होंने निरन्तर प्रयास किया ताकि

मुसलमानों का शुद्धीकरण होता रहे। वे मुसलमानों को दृढनिष्ठ मुसलमान देखना चाहते थे और "मिल्लत" के आधार पर उन्हें संगठित करना चाहते थे। वे सर्वइस्लामवाद के समर्थक थे। वे इस्लाम के विश्व-व्यापी महत्व को दर्शाते हुये भारत के मुसलमानों को अन्य समुदायों से पृथक् रखना चाहते थे किन्तु इकबाल का उद्देश्य सीमित था। वे विश्व के समस्त मुसलमानों को एकीकृत करने के स्थान पर भारतीय मुसलमानों को संगठित करने में रुचि रखते थे। यही कारण था कि इकबाल ने खिलाफत आन्दोलन का विरोध किया था। उन्हें एक ओर टर्की के खलीफा में रुचि नहीं थी तो दूसरी ओर वे खिलाफत के कारण उत्पन्न हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक सद्भाव के विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि यदि यह साम्प्रदायिक सद्भाव बना रहा तो भारत के मुसलमानों की पृथक्ता का नाटक अधिक समय नहीं चल पायेगा। अतः इकबाल ने वतनियत तथा कौमियत के राजनीतिक सिद्धान्तों को इस्लाम की एकरूपता के सिद्धान्त का विरोधी घोषित कर अस्वीकार कर दिया ताकि भारत के मुस्लिम अल्पसंख्यकों के हितों को सुरक्षा मिलती रहे।

इकबाल ने भारत में पश्चिमी लोकतान्त्रिक प्रणाली लागू करने का भी विरोध किया। वे लोकतान्त्रिक प्रणाली को एकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था से कम निरंकुश नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में लोकतान्त्रिक शासन भ्रष्टाचार एवं दुर्बलताओं का प्रतीक था।[22] इकबाल की लोकतन्त्र के प्रति अनिच्छा का कारण स्पष्ट था। वे भारत में मुसलमानों को संख्या से अधिक प्रतिनिधित्व दिलाने के समर्थक थे। विशेषतः पंजाब में मुसलमानों की बहुसंख्या बनाये रखने की उन्हें विशेष चिन्ता थी। ऐसी स्थिति में लोकतन्त्रात्मक पद्धति में उनका अविश्वास आश्चर्य का कारण कैसे हो सकता था ! इस पर भी इकबाल ने यह बहाना बनाया था कि वे लोकतन्त्र की आड़ में किसी भी एक धार्मिक सम्प्रदाय के आधिपत्य से बचना चाहते थे। मुसलमानों के पृथक अस्तित्व की दुहाई देते हुये इकबाल ने कहा कि "भारत में कई कौमें रहती हैं। इसलिए पश्चिमी ढंग का प्रजातन्त्र भारत के लिये उस समय तक अनुचित है जब तक कि एक इस्लामी भारत न स्थापित कर दिया जाय'।"[23] इकबाल ने मुस्लिम राष्ट्रीयता का महत्व बतलाते हुये कहा कि "भारत में यदि कोई कौम रहती है तो वह मुसलमान ही है, हिन्दुओं को वह एकता प्राप्त नहीं हुई जो एक कौम बनने के लिए आवश्यक है।"[24] इकबाल ने कहा कि "भारत एशिया का सूक्ष्म रूप है। भारत विभिन्न मानवीय समुदायों का ऐसा देश है जहाँ भिन्न-भिन्न जातियाँ भाषायें तथा धर्म हैं।"[25] इस प्रकार इकबाल ने भारत की सामाजिक एकता का विरोध किया और यह इच्छा व्यक्त की कि "पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, सिन्ध और बलूचिस्तान को एक ही राज्य में मिला दिया जाये, चाहे यह राज्य अंग्रेजी साम्राज्य के भीतर स्वायत्तता प्राप्त करे अथवा उसके बाहर ... मैं केवल भारत और इस्लाम की भलाई के विचार से एक संगठित इस्लामी राज्य की स्थापना की मांग कर रहा हूँ। इससे भारत में शक्ति-सन्तुलन हो जाने से शान्ति स्थापित रहेगी... भारत के मतभेदों को देखते हुये ऐसे स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर दी जाये जो भाषा, जाति, इतिहास, धर्म और आर्थिक लाभ के आधार पर स्थापित हों।"[26] अपने इन उद्गारों से इकबाल पाकिस्तान राज्य के निर्माता बन गये।

इकबाल के चिन्तन की सीमाओं तथा दुर्बलताओं का यह अर्थ नहीं है कि मुस्लिम राजनीतिक तथा सामाजिक विचारधाराओं के अध्ययन की दृष्टि से उनके विचारों का

कोई महत्व नही। इकबाल ने मुस्लिम चिन्तन को गरिमामय वाणी दी है। कविता एव दार्शनिक चिन्तन दोनो के माध्यम से इकबाल ने इस्लामी सस्कृति, धर्म तथा राजनीति की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। इकबाल के चिन्तन मे शक्ति को प्रेम से, अह को सौन्दर्य से तथा विवेक को रहस्यवाद से जीतने का प्रयास किया गया है।[27] उन्होंने जिजीविषा को जीवन का आधार मान कर पलायनवादी प्रवृत्ति का विरोध किया है। वे व्यक्ति के व्यक्तित्व को उन्नति एव विकास के उस धरातल पर पहुचाना चाहते हैं जहाँ ईश्वर के सान्निध्य मे पारस्परिक समानता का वातावरण उपस्थित हो सके। □□

टिप्पणियाँ

1. देखिये एमिनेन्ट मुसलमान्स . बायोग्रैफिकल एण्ड क्रिटिकल स्केचेज, पृ. 386
2. दी डेवलपमेन्ट आफ मेटाफिजिक्स इन पर्शिया, (लुजाक एण्ड को लन्दन, 1908)
3. शमलू (सं.), स्पीचेज एण्ड स्टेटमेन्ट्स ऑफ इकबाल (अल-मनार अकादमी, लाहौर, 1945) पृ. 73-76
4. वही, पृ 74
5. रजिया फरहत बानु, खुतबात-ए इकबाल (देहली, 1946), पृ. 36
6. आधुनिक भारत में मुस्लिम राजनीतिक विचारक, पृ 102-103
7. देखिये डिस्कवरी ऑफ इण्डिया, पृ 372
8. देखिये एनलिस्ट इण्डिया फोर फ्रीडम, (1940) पृ. 50
9. आधुनिक भारत में मुस्लिम राजनीतिक विचारक, पृ. 125-126
10. सिक्स लेक्चर्स आन दी रीकन्स्ट्रक्शन ऑफ रिलीजियस थोट इन इस्लाम (कपूर आर्ट प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर, 1930) पृ. 218-220
11. वही, पृ. 207
12. वही, पृ. 82 तथा 216
13. स्पीचेज, पृ. 4-6
14. वही, पृ. 11-12
15. वही, पृ. 187-235
16. वही, पृ. 38
17. सिक्स लेक्चर्स, पृ. 82
18. वही, पृ. 23-31
19. वही, पृ. 212 तथा पृ. 232
20. वही, पृ. 23-31 तथा 67
21. स्पीचेज, पृ. 96-98
22. वही, पृ. 186
23. खुतबात ए-इकबाल, पृ 36-37
24. वही, पृ 55
25. देखिये एफ. के. के. दुर्रानी, दी मीनिंग ऑफ पाकिस्तान (शेख मोहम्मद अशरफ, लाहौर, 1946) पृ 156
26. मोहम्मद नोमान, मुस्लिम इण्डिया, (इलाहाबाद 1944) में उद्धृत, पृ. 312
27. नरवाने, माडर्न इण्डियन थाट, पृ. 294-295

□□

अध्याय 19

मोहम्मद अली जिन्ना (1876-1948)

मोहम्मद अली जिन्ना का जन्म खोजा मुस्लिम परिवार मे 25 दिसम्बर 1876 को करांची मे हुआ था।[1] 11 वर्ष की उम्र मे ही उनका विवाह काठियावाड़ की अमाई बाई से हुआ। 1892 मे वे कानून का उच्च अध्ययन करने इंग्लैण्ड गये। वहीं उनको अपनी पत्नी की मृत्यु का समाचार मिला। वे 1896 में बैरिस्टर बन कर करांची लौटे। तत्पश्चात् 1906 में वे दादाभाई नौरोजी के सचिव के रूप में कांग्रेस के कलकत्ता-अधिवेशन में सम्मिलित हुए। यहीं से उनका राजनीतिक जीवन प्रारम्भ होता है। 1910 मे बम्बई के मुसलमानों के प्रतिनिधि के रूप मे वे सामाजिक विधायी परिषद् के सदस्य चुने गये। 1914 मे वे मुस्लिम लीग मे सम्मिलित हो गये। 1918 मे उन्होंने अपना विवाह अपने पारसी मित्र सर दीनशाह पेटिट की पुत्री रतनबाई (रत्ती) पेटिट से मुस्लिम प्रथा के अनुसार किया जो कि उनसे उम्र मे 24 वर्ष छोटी थी। कांग्रेस के दिसम्बर 1920 के नागपुर अधिवेशन के पश्चात् उन्होंने कांग्रेस की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया। 1929 में रत्ती जिन्ना की भी मृत्यु हो गई। 1930 मे उन्होंने लंदन के गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया। 1940 मे लाहौर मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशन की उन्होंने अध्यक्षता की। इसी अधिवेशन मे पाकिस्तान का प्रस्ताव पारित किया गया था। इसी वर्ष उनकी 64वीं वर्षगांठ पर उन्हें 'कायदे-आजम' का खिताब दिया गया। 1944 मे उनकी गांधीजी के साथ वार्ता हुई जिसमें गांधीजी ने उनको पृथक् मुस्लिम राज्य की मांग को कतिपय शर्तों के साथ कांग्रेस के सम्मुख स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करने का आश्वासन दिया। जिन्ना ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया और वार्ता असफल हो गयी। 1945 मे जिन्ना ने ब्रिटिश सरकार तथा कांग्रेस को चेतावनी दी कि यदि वे भारत की स्वतन्त्रता को यथाशीघ्र चाहते हैं तो उन्हें पाकिस्तान बनाने की मांग को स्वीकार कर लेना चाहिये। 1946 में लीग ने संविधान निर्मात्री सभा के 76 मुस्लिम स्थानों पर अधिकार कर लिया और कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। लीग ने पाकिस्तान की मांग को लेकर "सीधी कार्यवाही" की स्वीकृति दी जिसके कारण सैकड़ों की संख्या में हिन्दुओं को दंगों मे जन-हानि उठानी पड़ी। 1947 मे लार्ड माउन्टबेटन ने घोषणा की कि मई में भारत का विभाजन कर दिया जायगा। अगस्त 1947 में ही पाकिस्तान बनने पर जिन्ना पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर-जनरल बने। 1948 में जिन्ना की क्षयरोग से करांची में मृत्यु हुई।[2]

जिन्ना के राजनीतिक विचार

मोहम्मद अली जिन्ना ने प्रच्छन्न रूप से सर सैयद अहमद खां के साम्प्रदायिक विचारों का अक्षरशः पालन ही नहीं किया, अपितु उन पर चल कर भारत के मुसलमानों के एकमेव नेता बनने में सफलता भी अर्जित की। जिन्ना के कट्टर मुस्लिम लीगी बनने के पश्चात् उनके भाषणों में न केवल सर सैयद की मांगों को दोहराया गया, अपितु कहीं-कहीं वैसी की वैसी ही शब्दावली का प्रयोग किया गया जैसी कि सर सैयद ने प्रयुक्त की थी।[3] यह कहना कि जिन्ना अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ में हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक थे किन्तु बाद में वे मुस्लिम लीग के नेता के रूप में मुसलमानों के ही पक्षधर बन गये, तथ्यों के आधार पर स्वीकार करने योग्य नहीं है। जिन्ना ने प्रारम्भ से ही अपनी साम्प्रदायिक संकीर्णता का परिचय दिया जो दिन प्रतिदिन उग्र से उग्रतर होता चला गया। 1911 में मुस्लिम व्यक्तिगत कानून के सम्बन्ध में प्रिवी काउन्सिल के किसी निर्णय के विरुद्ध इण्डियन लेजिस्लेटिव काउन्सिल में बोलते हुए जिन्ना ने व्यक्त किया था "इस्लामी विधि प्रणाली में लोकनीति का कोई स्थान नहीं"। मैं किसी भी ऐसे प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए सहमत नहीं हूं जो मुसलमानों के व्यक्तिगत नियमों का उल्लंघन करे। मेरे हिन्दू मित्र मुझ से इस बात में सहानुभूति करेंगे कि मैं अपनी विधि-प्रणाली से इस सीमा तक बंधा हुआ हूं कि मैं उसे बदलने में असमर्थ हूं।'[4]

जिन्ना ने मुसलमानों के हितों को लाभ पहुंचाने का कार्य करने की कमी नहीं रखी। वे अन्य मुसलमान नेताओं से पीछे नहीं रहना चाहते थे। उनकी छद्मवेशी राजनीति से अनेक वर्षों तक यह पता न चल सका कि जिन्ना के राजनीतिक विचारों का वास्तविक आधार क्या है? वे कब धर्म-निरपेक्षता के समर्थक बन गये और कैसे गोखले ने उन्हें हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये कार्य करने के योग्य माना तथा जिन्ना की 'मुस्लिम गोखले'[5] बनने की अभिलाषा में सत्यता का कितना अंश था? इन सभी प्रश्नों का उत्तर जिन्ना के बाद के जीवन से स्वतः प्राप्त होने लगा। जिन्ना का कायापलट अत्यधिक महत्वपूर्ण था। उन्होंने अपना राजनीतिक जीवन "मुस्लिम गोखले" बनने की आशा से प्रारम्भ किया और उनकी परिणति "मुस्लिम महात्मा" में हुई। वे महात्मा को नापसन्द करते थे किन्तु उनके समान महत्ता प्राप्त करने के अवसर को नहीं।[6]

कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन (1915) के समय जिन्ना द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास[7] तथा कांग्रेस-लीग संयुक्त अधिवेशन का सुझाव केवल अंग्रेजों को आतंकित कर उनसे मुसलमानों के लिये अधिक से अधिक रियायतें प्राप्त करना था। बम्बई की प्रांतीय कान्फ्रेन्स (1916) में मुसलमानों के लिये पृथक् प्रतिनिधित्व की चर्चा करते हुए जिन्ना ने इस मांग को मुसलमानों की रक्षाशिक्षा के रूप में प्रस्तुत किया। मुसलमानों के पृथक् राजनीतिक संगठन के रूप में मुस्लिम लीग की आवश्यकता एवं उपादेयता को दर्शाते हुये जिन्ना ने कहा कि मुसलमानों की सुरक्षा तभी हो सकती है जबकि 'उनके सम्प्रदाय व राजनीतिक अस्तित्व को प्रभावशाली सुरक्षात्मक व्यवस्था के साथ जोड़ दिया जाय।"[8] अपने मुस्लिम लीग के अध्यक्षीय भाषण (दिसम्बर 1916) में जिन्ना ने यह भी व्यक्त किया कि लीग को यह नहीं दर्शाना चाहिये था कि मुसलमान केवल अपने सम्प्रदाय के स्वार्थों एवं लाभों को प्राप्त करना ही अपना फर्ज समझते थे। जिन्ना के अनुसार भारत तथा इंग्लैण्ड में मुसलमानों के प्रति सहानुभूति का वातावरण बनाये रखने के लिए

आवश्यक था कि वे हिन्दू-मुस्लिम एकता की दुहाई भी साथ-साथ देते रहें।[9]

जिन्ना ने भारतीय मुसलमानों को संगठित होकर पूर्ण मनोबल से अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करने का आह्वान किया। उनके अनुसार मुसलमान एक अल्पसंख्यक वर्ग मात्र न होकर एक पृथक् कौम (राष्ट्रीयता) थे। वे मुसलमानों को पृथक् राष्ट्रीयता का दर्जा देना चाहते थे ताकि हिन्दुओं तथा मुसलमानों में बराबरी की स्थिति मानी जा सके। लखनऊ के कांग्रेस-लीग समझौते में मुसलमानों के लिये पृथक् प्रतिनिधित्व की बात मनवाकर मुस्लिम लीग के नेताओं ने विशेष ख्याति अर्जित कर ली थी। कांग्रेस ने यह कार्य मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करने की दृष्टि से किया था, किन्तु जिन्ना जैसे मुस्लिम नेता इसे अपनी विजय मानते हुये भविष्य में इसी प्रकार से दबाव डाल तथा कांग्रेस से इच्छानुसार रियायतें स्वीकार कराने का मार्ग अपनाना चाहते थे। जिन्ना का यह रवैया निरन्तर बढ़ता गया। 1925 में कांग्रेस की सर्वदल सम्मेलन से सम्बन्धित समिति में जिन्ना ने लखनऊ समझौते को अपर्याप्त एवं अस्थायी बतलाते हुये पंजाब तथा बंगाल प्रान्त में जहाँ कि मुसलमानों की संख्या अधिक थी, मुसलमानों को प्रांतीय व्यवस्थापिका में बहुमत दिलवाने की मांग प्रस्तुत की।[10] उन्होंने यह प्रचार भी किया कि भारत के मुसलमानों को हिन्दुओं में विश्वास नहीं रहा, अतः वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी मांगों को मनवाने का प्रयास करते रहेंगे। चूंकि समय पूर्णतया जिन्ना के अनुकूल न था और स्वयं मुसलमानों में उलेमाओं, मौलानाओं, मौलवियों तथा प्रांतीय नेताओं का बोल-बाला था, अतः जिन्ना ने समय-समय पर हिन्दुओं तथा कांग्रेस से सहयोग की बात कही ताकि दोनों दल एवं सम्प्रदाय मिलकर अंग्रेजों से भारत में उत्तरदायी शासन तथा सेवाओं में भारतीयकरण की मांग मनवा सकें।[11]

कांग्रेस द्वारा उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांग जैसे-जैसे बलवती होती गयी, जिन्ना द्वारा मुस्लिम हितों के संरक्षण की दलील भी विस्तृत होने लगी। मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तों के गठन का ध्येय लेकर जिन्ना ने सिन्ध को बम्बई प्रान्त से अलग करने तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा बलूचिस्तान में अन्य प्रान्तों के समान उत्तरदायी शासन की स्थापना करने की मांग प्रस्तुत की। मुसलमानों की हठधर्मिता को देखकर ही लाला लाजपतराय ने भारत के विभाजन का पूर्वाभास दिया था।[12] जिन्ना ने लाजपतराय के उस कथन को लाहौर में होने वाले मुस्लिम लीग के अधिवेशन (1940) में तोड़-मरोड़ कर दोहराया और कहा कि यदि भारत के शासन को मुसलमानों की मांग के कारण लोकतांत्रिक आधार पर नहीं चलाया जा सकता, तो मुसलमान भी बहुसंख्यकों के शासन के अन्तर्गत रहना पसन्द नहीं करेंगे।[13]

इससे पहले जिन्ना ने 1926 के मुस्लिम लीग अधिवेशन में यह प्रस्ताव रखा कि—

1. देश की प्रत्येक निर्वाचित सभा में अल्पसंख्यकों को पर्याप्त तथा प्रभावशाली प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये तथा किसी भी बहुमत को अल्पमत अथवा समानता में नहीं बदला जाना चाहिये।
2. साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली प्रचलित रहनी चाहिये।
3. देश में प्रान्तीय पुनर्गठन करते समय पंजाब, बंगाल और उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त में मुस्लिम बहुमत कम नहीं होना चाहिये।

4 सब सम्प्रदायों को धर्म तथा शिक्षा की स्वतन्त्रता उपलब्ध होनी चाहिये।
5. किसी सम्प्रदाय के तीन-चौथाई निर्वाचित सदस्यों के विरोध के पश्चात् कोई भी ऐसा विधेयक, जिससे उनके साम्प्रदायिक हितों को हानि पहुचती हो, पारित नहीं किया जायगा।[14]

ब्रिटिश शासन द्वारा साइमन आयोग की नियुक्ति एव उसके भारत-आगमन के समय मुस्लिम लीग के सदस्यों ने अपनी शिकायतें आयोग के समक्ष प्रस्तुत करते हुये मुस्लिम अल्पसंख्यकों के समुचित सरक्षण की माग की। काग्रेस द्वारा नियुक्त नेहरू समिति के प्रतिवेदन पर विचार करने के लिये 1928 मे एक सर्वदल सम्मेलन कलकत्ता मे आयोजित किया गया जिसमे जिन्ना ने नेहरू प्रतिवेदन के प्रति अपनी असहमति प्रकट करते हुये यह व्यक्त किया कि वे किसी भी भावी सविधान की योजना का प्रस्ताव तब तक स्वीकार नही कर सकते, जब तक मुसलमानों को एक स्वतन्त्र इकाई के रूप मे पृथक् अस्तित्व रखने की सुविधा प्रदान न की जाय। जिन्ना ने अपने आपको भारत के सात करोड़ मुसलमानों का प्रतिनिधि मानते हुये उनकी ओर से एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इसे 'जिन्ना के चौदह सूत्रों' की सज्ञा दी गई। जिन्ना ने निम्नलिखित प्रस्तावों को भावी हिन्दू-मुस्लिम समझौतों की पूर्व-आवश्यकता के रूप मे प्रस्तुत किया

1 भविष्य मे बनने वाले सविधान की संरचना सघात्मक होनी चाहिये तथा अवशिष्ट शक्तियां प्रान्तो के पास रहनी चाहिये।
2 प्रान्तो को समान स्वायत्तता प्रदान की जाय।
3 देश की समस्त व्यवस्थापिका और निर्वाचित सभाओं का गठन इस आधार पर हो कि प्रत्येक प्रान्त मे बहुमत को अल्पमत अथवा समानता मे परिवर्तित न किया जाय।
4 केन्द्रीय व्यवस्थापिका में मुस्लिम प्रतिनिधित्व एक तिहाई से कम नही होना चाहिये।
5. साम्प्रदायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व पृथक् निर्वाचन प्रणाली के अधीन ही होना चाहिये, तथापि किसी भी वर्ग को यह अधिकार उपलब्ध होगा कि वह इस प्रणाली को छोड़कर सम्मिलित निर्वाचन प्रणाली अपना सके।
6 किसी भी भावी क्षेत्रीय परिवर्तन मे बगाल, पजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त मे मुस्लिम बहुमत को कम नहीं किया जाय।
7. सब सम्प्रदायों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता उपलब्ध होनी चाहिये।
8 किसी भी सम्प्रदाय के तीन-चौथाई सदस्यों के विरोध के पश्चात् कोई प्रस्ताव पारित नही किया जाय यदि वह प्रस्ताव उस सम्प्रदाय के हितो के विरुद्ध हो।
9 सिन्ध प्रान्त को बम्बई प्रान्त से अलग कर दिया जाय।
10 उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त तथा बलूचिस्तान मे अन्य प्रान्तो की भांति सुधार किये जाने चाहिये।
11. भावी सविधान में इस बात का निश्चित प्रावधान किया जाय कि राज्य-

सेवाओं में तथा स्थानीय संस्थाओं में मुसलमानों को उचित अनुपात में स्थान दिये जायेंगे।

12. मुस्लिम संस्कृति, शिक्षा, भाषा, धर्म, व्यक्तिगत नियमों और राज्य से उपलब्ध अनुदान को सुरक्षित रखने के लिए पर्याप्त सुरक्षा की व्यवस्था की जाय।
13. केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों में एक तिहाई स्थान मुस्लिम मन्त्रियों के लिये सुरक्षित रखे जाय।
14. केन्द्रीय व्यवस्थापिका के संविधान में राज्यों की स्वीकृति के बिना कोई परिवर्तन न किया जाय।[15]

जिन्ना के इन चौदह सूत्रों का महत्व तब सामने आया जब रैमजे मैकडोनल्ड की सरकार ने साम्प्रदायिक पंचाट (1932) में उन्हें पूर्ण मान्यता प्रदान कर दी।[16] इस मध्य जिन्ना ने भारत को 'डोमिनियन स्टेटस' दिलाने की मांग की ताकि कांग्रेस द्वारा पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग कमजोर पड़ जाय। इंग्लैण्ड की सरकार ने गोलमेज सम्मेलन बुलाया। जिन्ना की आवाज कुछ समय के लिये अनसुनी कर दी गई, क्योंकि कांग्रेस को समर्थन देने वाले मुस्लिम नेताओं तथा अन्य मुसलमान नेताओं के समक्ष जिन्ना का नेतृत्व फीका पड़ गया था। जिन्ना ने कुछ समय के लिये राजनीति से पलायन कर वकालत में अपना ध्यान लगाया। साम्प्रदायिक पंचाट की घोषणा के बाद जिन्ना पुन. राजनीति में कूद पड़े। अंग्रेजी शासन ने साम्प्रदायिक पंचाट के द्वारा हिन्दुओं के साथ घोर अन्याय किया था। बंगाल में जहां मुसलमानों की आबादी 54 8 प्रतिशत तथा हिन्दुओं की आबादी 44·8 प्रतिशत थी वहां मुसलमानों को प्रान्तीय व्यवस्थापिका के 250 स्थानों में से 119 स्थान दिये गये जबकि हिन्दुओं को केवल 80 स्थान ही मिले। पंजाब में हिन्दू तथा सिक्ख अल्पसंख्या में थे। वहां भी उन्हें वे सुविधायें नहीं दी गई जो भारत के अन्य प्रान्तों ने मुस्लिम अल्पसंख्यकों को दी गई थी। इससे भी अधिक शरारत जिन्ना द्वारा 1935 के अधिनियम की संघीय व्यवस्था को केन्द्रीय विधान परिषद् द्वारा अमान्य ठहरा कर की गई। 1936 में जिन्ना ने मुस्लिम लीग को भारतव्यापी स्तर पर संगठित कर निर्वाचनों में भाग लेने का निर्णय किया। निर्वाचन में कांग्रेस को अधिकतर प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। जिन्ना ने कांग्रेस की विजय देखकर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों पर यह आरोप लगाया कि वे मुसलमानों के हितों के विपरीत कार्य कर रहे थे तथा मुसलमानों को उनकी मान्यताओं के विपरीत 'वन्दे मातरम्' गान, हिन्दी भाषा को प्रोत्साहन तथा कांग्रेसी ध्वज को सम्मान देने के लिये विवश कर रहे थे। जिन्ना द्वारा जवाहरलाल नेहरू के साथ पत्र-व्यवहार से भी यह स्पष्ट होता है कि जिन्ना की हठधर्मिता बढ़ती जा रही थी। वे चाहते थे कि कांग्रेस का समर्थन करने वाले मुस्लिम नेताओं की ओर ध्यान न दिया जाय, बल्कि मुस्लिम लीग को ही मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि स्वीकार किया जाय। नेहरू को यह स्वीकार नहीं था कि मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा खान अब्दुल गफ्फार खां जैसे राष्ट्रवादी मुस्लिमों की तुलना में जिन्ना को महत्व दिया जाता। वे मुस्लिम लीग को इसी प्रकार का साम्प्रदायिक संगठन मानते थे, जैसे की हिन्दू महासभा को। मुस्लिम लीग के अलावा

भी मुसलमानों के अन्य संगठन थे जैसे पंजाब में सिकन्दर हयात खां की यूनियनिस्ट, पार्टी आदि। ऐसी स्थिति में मुस्लिम लीग को भारत के मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था कैसे माना जा सकता था? स्वयं कांग्रेस में अनेक मुसलमानों का विश्वास था और वे मानते थे कि कांग्रेस दल कोई हिन्दू संगठन नहीं था, किन्तु जिन्ना इस बात से चिढ़े हुये थे कि कांग्रेस धर्म-निरपेक्षता की नीति अपना कर मुसलमानों को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी। वे सैयद के समान समस्त मुसलमानों को कांग्रेस से पृथक् रखना चाहते थे ताकि वे अपना उल्लू सीधा कर सकें।

जिन्ना ने अपना पुराना तर्क दोहराना प्रारम्भ किया कि भविष्य में साम्प्रदायिक समस्या के निवारण के लिए अंग्रेजी सरकार, ब्रिटिश भारतीय राज्य, हिन्दू तथा मुसलमान मिलकर बातचीत करें तभी कोई हल सम्भव है, अन्यथा नहीं। मुस्लिम लीग के पटना अधिवेशन (1938) के अपने अध्यक्षीय भाषण में जिन्ना ने कांग्रेस की आलोचना करते हुये उसे हिन्दू संगठन की संज्ञा दी। वे कांग्रेस के राष्ट्रवादी आन्दोलन के कटु आलोचक थे।[17] 5 फरवरी, 1938 को अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी यूनियन के समक्ष बोलते हुये जिन्ना ने व्यक्त किया कि 'संसदीय लोकतन्त्र भारत के लिए अनुपयुक्त है।' उन्होंने भारत के संविधान को इस प्रकार से संशोधित करने का सुझाव दिया ताकि मुसलमानों के उचित अधिकारों की सुरक्षा हो सके तथा मुस्लिम भारत को शेष भारत से विभाजित किया जा सके। जिन्ना के अनुसार भारत में स्थायी हिन्दू बहुमत के समक्ष मुस्लिम अल्पसंख्यकों को कभी भी बहुमत प्राप्त नहीं हो सकता था। बहुमत यदि असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण अपना भी ले, तब भी वह मूल रूप से हिन्दू ही बना रहता। अतः अल्पसंख्यकों के लिए संगठित होने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। ऐसी शक्ति प्राप्त किये बिना कोई भी संविधान भारत के लिये मान्य नहीं ठहराया जा सकता था।[18]

1937 में कांग्रेस द्वारा राज्यों में मन्त्रिमण्डल बनाये जाने के समय तत्कालीन कांग्रेसाध्यक्ष नेहरू ने मुसलमानों से सहयोग की मांग की, किन्तु मुस्लिम लीग ने असहयोग का मार्ग अपनाया तथा पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त, सिन्ध, काश्मीर बलुचिस्तान के पृथक् महासंघ बनाये जाने की मांग प्रस्तुत की। मुसलमानों द्वारा पृथक् प्रदेश बनाने की यह मांग दिनों दिन बलवती होती गयी। डा० मोहम्मद इकबाल तथा रहमत अली इस कार्य के लिये प्रयत्नशील थे कि येनकेनप्रकारेण मुसलमानों को कांग्रेस के आन्दोलन से पूर्णतया विमुख कर दिया जाय। जिन्ना ने हिन्दू-बहुमत से मुक्त होने का आन्दोलन चलाया।[19] पंजाब के मुख्यमन्त्री सिकन्दर हयात खां के साथ जिन्ना ने समझौता कर मुस्लिम लीग के लिए सहयोग प्राप्त कर लिया और पृथक् एवं स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य की स्थापना का कार्यक्रम घोषित किया। सुभाषचन्द्र बोस ने कांग्रेस अध्यक्ष की हैसियत से जिन्ना से पत्र व्यवहार किया किन्तु जिन्ना कांग्रेस से बातचीत करने के पहले मुस्लिम लीग को पूर्ण मान्यता दिलवाने पर अड़े रहे। नेहरू द्वारा भी जिन्ना से पत्र व्यवहार किया गया जिस पर जिन्ना ने कांग्रेस के समक्ष ग्यारह मांगें प्रस्तुत कीं। उनमें कांग्रेस से साम्प्रदायिक पंचाट का विरोध न करने, वन्दे मातरम् गीत का त्याग करने, गोहत्या पर विरोध न करने तथा मुस्लिम लीग को भारतीय मुसलमानों का एकमात्र साधिकृत एवं प्रतिनिधि संगठन स्वीकार करने की मांग की गई।[20] कांग्रेस द्वारा इन मांगों को

स्वीकार करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। स्वयं गांधीजी द्वारा जिन्ना को समझाने का प्रयत्न भी विफल सिद्ध हुआ। 10 अक्टूबर 1938 को सिन्ध प्रान्तीय मुस्लिम लीग की अध्यक्षता करते हुये जिन्ना ने मुस्लिम लीग को एक ऐसे संविधान बनाने का उत्तरदायित्व सौंप दिया जिससे भारत के मुसलमानों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके।[21] 1939 में प्रान्तों में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों द्वारा त्यागपत्र दिये जाने पर जिन्ना ने भारत के मुसलमानों को 22 दिसम्बर 1939 को 'मुक्ति दिवस' के रूप में मनाये जाने की अपील की।[22] रहमत अली ने खुले आम कहना प्रारम्भ किया कि "हम मुसलमान हैं न कि हिन्दू, पाकिस्तानी हैं, न कि हिन्दुस्तानी; एशियावासी हैं, न कि भारतीय।"[23] जिन्ना इस बात के लिये प्रयत्नशील थे कि भारत के मुस्लिम समुदाय के सभी वर्ग मुस्लिम लीग के नेतृत्व को स्वीकार करने के लिये बाध्य किये जायं।

मेनचेस्टर गार्जियन में छपे जिन्ना के वक्तव्य (1939-40) के अनुसार मुसलमान भारत में प्रतिनिधि शासन की स्थापना के प्रति सदैव भय-मिश्रित प्रतिक्रिया व्यक्त करते रहे थे। उन्होंने कांग्रेस को एक सत्तालोलुप तथा फासीवादी संगठन बतलाते हुए भारत के 1935 के संविधान को रद्द करने की मांग की। जिन्ना ने यह तर्क दिया कि दक्षिण अफ्रीका में बोअर्स तथा ब्रिटिश समुदाय के मतभेदों के कारण जिस प्रकार से प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र नहीं चल सकता था, उसी प्रकार से हिन्दुओं तथा मुसलमानों में मूलभूत भिन्नता होने के कारण यह और भी कठिन था। लार्ड मोर्ले के तर्क को उद्धरित करते हुये जिन्ना ने कहा कि कनाडा का 'फरकोट' भारत के उष्णकटिबन्धीय जलवायु में उपयोगी नहीं होगा।"[24]

टाइम एण्ड टाइड में 19 जनवरी 1940 को छपे लेख में जिन्ना ने यह कहा कि इंगलैण्ड जैसे सजातीय राष्ट्र के लिए उपयोगी लोकतान्त्रिक व्यवस्थायें भारत जैसे विजातीय देश में प्रयुक्त नहीं हो सकतीं। उन्होंने हिन्दू धर्म तथा इस्लाम को दो भिन्न सभ्यताओं का प्रतीक बतलाते हुये दोनों में समन्वय असंभव बतलाया। द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये जिन्ना ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भारत के दोनों धर्म निश्चित सामाजिक नियमों के माध्यम से न केवल व्यक्ति के ईश्वर के साथ सम्बन्धों को ही निश्चित करते हैं, अपितु व्यक्ति के पड़ोसी के प्रति व्यवहार को भी नियन्त्रित करते हैं। वे केवल कानून तथा संस्कृति तक ही सीमित नहीं, क्योंकि उनका क्षेत्र सामाजिक जीवन के साथ-साथ व्यक्ति के समस्त क्रिया-कलापों पर व्याप्त है। पाश्चात्य लोकतन्त्र को भारत के लिये अनुपयुक्त बतलाते हुये जिन्ना ने उसके आरोपण को राज्य की रुग्णता का प्रतीक बतलाया।[25]

मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन (मार्च 1940) की अध्यक्षता करते हुये जिन्ना ने कहा कि 'हिन्दू तथा मुसलमान दो भिन्न राष्ट्र हैं।' उनके द्वारा यह प्रस्ताव पारित किया गया कि भावी संवैधानिक योजना को मुसलमानों द्वारा तब तक स्वीकार नहीं किया जायेगा, जब तक उस योजना में, भौगोलिक दृष्टि से निरन्तरता रखने वाले उन प्रदेशों को, जहां मुसलमान बहुसंख्या में है—जैसे भारत के उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी क्षेत्र, 'स्वतन्त्र राज्यों' के रूप में पूर्ण स्वायत्तता एवं सम्प्रभुता प्रदान नहीं कर दी जाती। जिन्ना ने यह भी दोहराया कि हिन्दू तथा मुसलमान उभय राष्ट्रीयता का विकास नहीं कर सकते।

खान-पान, आचार-विचार तथा व्यवहार में पूर्ण भिन्नता एवं विलोम स्थिति रखने के कारण हिन्दुओं का मुसलमानों के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में दो भिन्न राष्ट्रों को एक राज्य के अन्तर्गत लाने का प्रयास, और वह भी एक ओर अल्पसंख्यक तथा दूसरी ओर पूर्ण बहुसंख्यक समुदाय के होते हुये, विनाश का ही कारण बन सकता है, निर्माण का नहीं। जिन्ना के अनुसार विश्व के अनेक राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयताओं के आधार पर हुआ है। बाल्कन प्रदेशों में ही सात अथवा आठ स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ है। पुर्तगाल, स्पेन, इंगलैण्ड, आयरलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि का उदाहरण देते हुये जिन्ना ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि भारत गत बारह सौ वर्षों से 'हिन्दू भारत' तथा 'मुस्लिम भारत' में बटा हुआ रहा है। उनके अनुसार मुसलमान हिन्दू राज की स्थापना को सहन नहीं कर सकते। यदि राज्यों में पुनः कांग्रेस शासन की पुनरावृत्ति हुई तो भारत में गृह-युद्ध छिड़ जायेगा तथा निजी सैन्यदल गठित किये जायेंगे।[26] महात्मा गांधी को 17 सितम्बर 1944 को लिखे पत्र में भी जिन्ना ने यही दोहराया कि मुसलमान तथा हिन्दू दो प्रमुख कौमें (राष्ट्र) हैं। जिन्ना ने दावा किया कि 'मुसलमान सतरह करोड़ की आबादी वाली कौम है जिसकी अपनी संस्कृति, सभ्यता, भाषा, साहित्य, कला, स्थापत्य, नाम, पारिभाषिक शब्दावली, मूल्य एवं गुणात्मक बोध, वैधिक नियम, नैतिक संहिता, रीति-रिवाज, पंचांग, इतिहास, रूढ़ियां, मनोवृत्ति एवं अभिलाषायें हैं। जीवन के प्रति उनकी अपनी स्पष्ट धारणाएं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि की समस्त मान्यताओं के अनुसार हम एक कौम (राष्ट्र) हैं।[27]

मुस्लिम लीग के (मई, 1940) बम्बई प्रादेशिक अधिवेशन के नाम अपने संदेश में जिन्ना ने कहा, "अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने भारत के मुसलमानों को सही दिशा दिखा दी है। उसने उन्हें एक उत्तम कार्यक्रम, एक नीति, एक मंच और एक ध्वज प्रदान किया है भारतीय राष्ट्र केवल कांग्रेस हाई कमाण्ड के मस्तिष्क में विद्यमान है।"[28]

लाहौर के मुस्लिम लीग अधिवेशन (मार्च, 1940) में यद्यपि जिन्ना ने पाकिस्तान का प्रस्ताव पारित करवा लिया था किन्तु इस पाकिस्तान-योजना के निर्माण में जिन्ना का स्वयं का योगदान नगण्य था। सर मोहम्मद इकबाल ने मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन (1930) में एक पृथक मुस्लिम राज्य की विधिवत् मांग प्रस्तुत की थी। 1933 में चौधरी रहमत अली ने 'पाकिस्तान' शब्द का निर्माण किया। उन्होंने पंजाब का 'पी', अफगानिस्तान का 'ए', काश्मीर का 'के', सिन्ध का 'एस' तथा बलूचिस्तान का 'तान' मिलाकर 'पाकिस्तान' शब्द का प्रचलन प्रारम्भ किया।[29] बाद में जाकर इस योजना में जिन्ना ने संशोधन किया।

कौमियत के आधार पर मुसलमानों को पृथक् पाकिस्तान राज्य दिलाने की मांग को जिन्ना ने यहूदियों को फिलस्तीन में बसाये जाने की मांग के समकक्ष रखा। इस पृथकता के प्रचार ने भारत के अनेक मुसलमानों के हृदय में हिन्दुओं के प्रति अकल्पनीय घृणा का संचार किया। जिन्ना ने कांग्रेस को हिन्दू संगठन बतलाकर यह बतलाने का प्रयास किया कि मुसलमानों को पृथक् राज्य प्राप्त करने के लिये अंग्रेजों के बजाय कांग्रेस से संघर्ष करना था। जिन्ना ने सदैव अंग्रेजों को समर्थन देने की बात कही। यदि उन्होंने अंग्रेजों

का विरोध किया भी तो उस समय जबकि उन्हें अंग्रेजों का रवैया कांग्रेस समर्थक प्रतीत हुआ। जिन्ना ने नवम्बर 1940में कहा, "हम इंगलैण्ड से अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहते हैं। यही कारण है कि हमने प्रारम्भ से ही इंगलैण्ड के मार्ग में रुकावटें नहीं डालीं। उदाहरणार्थ, यद्यपि पाकिस्तान हमारी नौका का लक्ष्य है, फिर भी हमने ब्रिटिश सरकार के समर्थन के लिये पाकिस्तान की मांग को पूर्व शर्त के रूप में नहीं रखा। हमने केवल यह आश्वासन चाहा कि इंगलैण्ड सरकार कांग्रेस से कोई स्थायी या अस्थायी समझौता करके हमारा साथ न छोड़ दे।"[30]

मुस्लिम लीग की विशेष उपसमिति में भी पाकिस्तान-योजना के अधीन समस्त मुस्लिम समुदाय के लिये पृथक देश की मांग की गई। इस योजना में जनसंख्या के हस्तान्तरण का कोई प्रावधान नहीं था। इसके अन्तर्गत डेढ़ करोड़ व्यक्तियों को छोड़कर भारत के एक तिहाई प्रदेश को सम्मिलित किया गया था। पाकिस्तान की मांग में जिन प्रदेशों को सम्मिलित किया गया था वे थे—सिन्ध, बलुचिस्तान, पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त, दिल्ली प्रान्त, उत्तर प्रदेश के कुछ जिले, बंगाल (दो जिलों को छोड़कर) आसाम, हैदराबाद दक्षिण, कश्मीर तथा मद्रास के कतिपय जिले। इनमें प्रत्येक क्षेत्र एक पृथक इकाई के रूप में माना गया था जो कि प्रत्येक सामान्य क्षेत्रीय राज्य के प्रति निष्ठावान रखा गया था। कुछ हिन्दू राज्यों से समझौता करने तथा संघीय व्यवस्था स्थापित करने का भी प्रावधान रखा गया था। प्रत्येक राज्य को ब्रिटिश सरकार से सीधा सम्बन्ध रखने की स्वतन्त्रता थी। जिन्ना ने 11 अक्टूबर 1942 को पाकिस्तान की स्थापना को जीवन तथा मरण का प्रश्न माना। न्यूयार्क टाइम्स के संवाददाता हर्बर्ट मैथ्यूज को दिये गये साक्षात्कार में जिन्ना ने 6 फरवरी 1943 को स्पष्ट किया कि पाकिस्तान के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश को उत्तर-पूर्वी प्रदेशों से मिलाने के लिए उत्तरी भारत में उत्तर प्रदेश तथा बिहार में से गलियारे की स्थापना की जायगी।

जिन्ना द्वारा प्रस्तुत पाकिस्तान की मांग को क्रिप्स योजना में स्वीकारोक्ति प्राप्त हो गई। मुस्लिम लीग ने पृथकतावादी आन्दोलन को और भी तेज कर दिया। महात्मा गांधी द्वारा चलाये गये "भारत छोड़ो" आन्दोलन को लीग ने समर्थन नहीं दिया। जिन्ना के प्रयत्नों से 'शिमला सम्मेलन" में हुई वार्ताओं में सार-रूप में मुस्लिम लीग को कांग्रेस के समकक्ष मान्यता प्राप्त हो गई। ब्रिटिश शासन की मिलीभगत के कारण कैबिनेट मिशन योजना ने प्रान्तों को केन्द्र से अलग अस्तित्व बनाये रखने का सुझाव प्रस्तुत किया। भारत के विभाजन का मार्ग बनने लगा और जिन्ना का पाकिस्तान बनाने का स्वप्न साकार होता दिखाई दिया। जिन्ना ने अवसर का लाभ उठाकर मुस्लिम लीग को "सीधी कार्यवाही" करने की स्वीकृति देदी। भारत-व्यापी साम्प्रदायिक दंगों का दौर फिर से शुरू हुआ। लीग ने 'लड़ के लेंगे पाकिस्तान, बट के रहेगा हिन्दुस्तान' का नारा लगाना शुरू किया। बंगाल के भ्रष्ट मुख्यमन्त्री सुहरावर्दी के शासन में गुण्डों द्वारा हिन्दुओं पर अत्याचार हुये। जिन्ना ने अन्तरिम सरकार के मार्ग में रोड़े अटकाये तथा भारत की संविधान निर्मात्री सभा का बहिष्कार किया। अन्त में "कायदे-आजम" जिन्ना भारत का विभाजन कराने में सफल हो ही गये और उन्हें पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर जनरल बनने का शुभवसर मिला।

जिन्ना ने पाकिस्तान की स्थापना पर अपनी हठ पूरी की, किन्तु नव स्थापित पाकिस्तान उनके लिये नवीन चुनौतियों का कारण बन गया। जीवन भर विरोधी स्वर अलापने के कारण देश निर्माण का कार्य उनके बस का रोग नहीं था। वे कहीं 'इस्लामिक समाजवाद'[31] की बात कहते, तो कहीं पाकिस्तान की जनता को देश-प्रेम का उपदेश देते। जिन्ना का अन्तिम समय अनेक शारीरिक एवं मानसिक कष्टों में बीता। पाकिस्तान की अस्थिर राजनीति, बंगलादेश का निर्माण, लोकतान्त्रिक परम्परा का अभाव, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक शून्यता तथा सामान्य जनता की दयनीय स्थिति "कायदे आजम" जिन्ना की ही विरासत है।

□□

टिप्पणियाँ

1. नटेसन, एमिनेन्ट मुसलमान्स, पृ. 433
2. कोलिन्स तथा लेपियेरे, फ्रीडम एट मिडनाइट, (विकास, दिल्ली, 1975) पृ. 203
3. देखिये रफीक जकारिया, राइज ऑफ मुस्लिम्स इन इण्डियन पोलिटिक्स, प्राक्कथन, पृ. XII
4. जमील अहमद, स्पीचेज एण्ड स्टेटमेन्ट्स आफ जिन्ना, (अशरफ, लाहौर, 1956) पृ. 21-22
5. देखिये हैक्टर बोलिथो, जिन्ना क्रियेटर आफ पाकिस्तान (जान मरे, लन्दन, 1954) पृ. 55
6. बी. बी. कुलकर्णी, दी इण्डियन ट्रियमविरेट, (भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1969) पृ. 111
7. देखिये एम. ए. जिन्ना, स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स (1912-1917), (नटेसन एण्ड को., मद्रास, 1917) पृ. 124-127
8. स्पीचेज एण्ड स्टेटमेन्ट्स आफ जिन्ना, पृ. 57
9. वही, पृ. 63
10. के. बी. सागरकर, जेनेसिस आफ पाकिस्तान (एलाइड पब्लिशर्स, बम्बई, 1975) पृ. 172-173
11. एम. आर. जयकर, दी स्टोरी आफ माई लाइफ, खण्ड 2, (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1958) पृ. 535 तथा 539
12. देखिये दी ट्रिब्यून, दिसम्बर 14, 1924
13. देखिये सागरकर, जेनेसिस आफ पाकिस्तान, पृ. 490
14. स्पीचेज एण्ड स्टेटमेन्ट्स आफ जिन्ना, पृ. 248
15. राजेन्द्र प्रसाद, इण्डिया डिवाइडेड (हिन्द किताब्स, बम्बई, 1946) पृ. 131-132
16. वही, पृ. 132
17. देखिये सी. एच. फिलिप्स, दी इवोल्यूशन आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, (ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1962) पृ. 351
18. जमीलुद्दीन अहमद (सं.), सम रीसेन्ट स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ मि. जिन्ना, (मोहम्मद अशरफ, लाहौर, 1942) पृ. 41
19. वही, पृ. 30-38
20. देखिये अशोक मेहता एण्ड अच्युत पटवर्धन, दी कम्यूनल ट्रायंगल इन इण्डिया, पृ. 199
21. ए. एच. अलबिरूनी, मेकर्स आफ पाकिस्तान एण्ड मोडर्न मुस्लिम इण्डिया, (मोहम्मद अशरफ, लाहौर, 1950) पृ. 218, देखिये खलीकुज्जमां, पाथवे टु पाकिस्तान, पृ. 204-209
22. देखिये सी. एच. फिलिप्स, पृ. 352-353
23. रहमत अली, दी मिल्लत आफ इस्लाम एण्ड दी मिनेस आफ इंडियनिज्म, (हैफर एण्ड सन्स, कैम्ब्रिज, 1940) पृ. 7

24 सम रीसेन्ट स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ मि. जिन्ना पृ 86 87
25 वही, पृ 111-113
26 वही, पृ. 153-154
27. गांधी-जिन्ना टॉक्स, जुलाई-अक्टूबर 1944, (हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, 1944) पृ. 16
28 आधुनिक भारत में मुस्लिम राजनीतिक विचारक में उद्धृत, पृ. 162
29. देखिए खान ए. अहमद, दी फाउन्डर आफ पाकिस्तान, (हैफर, कैम्ब्रिज, 1942) पृ 3
30 आधुनिक भारत में मुस्लिम राजनीतिक विचारक म उद्धृत, पृ 162
31, देखिए ' जिन्ना इन पाकिस्तान", दी इलस्ट्रेटेड वीकली आफ इण्डिया दिसम्बर 26, 1976

□□

खण्ड 2

अध्याय 20

मोहनदास करमचन्द गांधी (1869-1948)

गांधीजी का जन्म 2 अक्टोबर, 1869 को पोरबंदर, गुजरात में हुआ। उनके पिता तथा पितामह अपनी ईमानदारी के लिये काठियावाड़ की छोटी रियासतों में प्रसिद्ध थे। इनके पिता पोरबंदर, राजकोट तथा वाकानेर रियासतों के दीवान रहे। 1876 में वे अपने माता-पिता के साथ राजकोट चले गये और वहां उनकी प्राथमिक शिक्षा हुई। यहीं उनकी सगाई कस्तूरबाई के साथ होगयी। 1881 में उन्होंने हाईस्कूल में प्रवेश किया। दो वर्ष पश्चात् उनका कस्तूरबाई से विवाह होगया। 1884-1885में कुसंगति में पड़ कर उन्होंने चोरी छुपे मांस-भक्षण किया किन्तु वे अपने माता-पिता से यह छुपा न सके और अन्त में उन्होंने क्षमायाचना कर अपने दोषों का प्रायश्चित किया। गांधी परिवार पुष्टिमार्गीय वैष्णव परम्परा से प्रभीभूत था। खान-पान, रहन-सहन में वैष्णव सम्प्रदाय की पवित्रता एवं सादगी उनके जीवन का अंग थी। ऐसे परिवार में मांस-भक्षण अत्यन्त कुत्सित कार्य था। गांधीजी ने असत्य का त्याग कर सत्य का वरण किया और पिता के समक्ष अपनी त्रुटि स्वीकार कर सत्य का महान पाठ सीखा।

गांधीजी ने 1887 में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की और भावनगर के सामलदास महाविद्यालय में प्रवेश लिया। किन्तु उन्होंने अध्ययन पूर्ण करने के पहले ही अपने परिवार की आर्थिक स्थिति को सुधारने तथा प्रशासनीय सेवा की पारिवारिक परम्परा का निर्वाह करने की दृष्टि से कानून का अध्ययन करने के लिये इंग्लैण्ड को प्रस्थान किया। इंग्लैण्ड में उन्होंने शाकाहारी भोजन का नियम बनाये रखा। अपने आपको इंग्लैण्ड की सभ्यता में ढालने के लिये वस्त्र, संगीत, नृत्य आदि की पाश्चात्य शैली का अनुकरण किया। किन्तु उनकी अन्तरात्मा ने उन्हें भारतीय परम्पराओं से विलग नहीं होने दिया। वे शनैः शनैः सादगी की ओर प्रवृत्त हुए और पहले से आधे व्यय पर अपनी दिनचर्या चलाने लगे। यहीं उन्होंने गीता का अध्ययन किया और इस अध्ययन से इतने प्रभावित हुए कि वे गीता को जीवनपर्यंत अपनी मार्गदर्शिका तथा माता के रूप में मानते रहे।

1891 में बैरिस्टर होकर वे भारत लौटे। राजकोट तथा बम्बई में उन्होंने वकालात की किन्तु उन्हें विफलता का ही सामना करना पड़ा। न्यायालय में एक बार वे झेंप के कारण ठीक से बहस भी नहीं कर पाये और उन्हें मुकदमा हारना पड़ा। पोरबंदर रियासत का न्यायिक कार्य उन्हें पारिवारिक प्रभाव के कारण मिला किन्तु वहां की ब्रिटिश राजनीतिक प्रतिनिधि के असभ्य व्यवहार के कारण उनके हृदय को आघात लगा। वे छोटी रियासतों के प्रशासनीय कार्य में प्रयुक्त चाटुकारिता एवं षड्यन्त्र की रीति-नीति को नैतिक दृष्टि से असह्य मानते थे। अन्त में दादा अब्दुल्ला एण्ड कम्पनी

नाम की एक मुस्लिम व्यापारिक संस्था के दक्षिण अफ्रीका के कानूनी कार्यों की देखरेख के लिये उन्हें नियुक्ति मिली और वे 1893 में डर्बन पहुंचे।

दक्षिण अफ्रीका में नाटाल के सर्वोच्च न्यायालय में अधिवक्ता के रूप में पंजीकृत किये जाने वाले वे प्रथम भारतीय थे। वे 1914 तक दक्षिण अफ्रीका में रहे। यह प्रवास उनके आध्यात्मिक विकास का उष काल था। वे प्रवासी भारतीय समुदाय के अग्रगण्य नेता के रूप में प्रतिष्ठित हुए। डर्बन में आते ही उनके साथ ऐसी घटना घटित हुई कि उनका जीवन ही परिवर्तित होगया। वे एक बार रेल द्वारा प्रिटोरिया की यात्रा कर रहे थे जबकि उनके साथ यात्रा कर रहे एक दक्षिण अफ्रीकी श्वेत ने उन्हें यान खाली कर सामान ले जाने वाले यान में जाने को कहा। अफ्रीका की रंगभेद नीति का उन्हें उस दिन व्यक्तिगत अनुभव हुआ। वे यान खाली करने के स्थान पर ट्रेन से उतर पड़े और उन्होंने अपनी यात्रा स्थगित कर दी। गांधीजी ने उस दिन से दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार के दमन एवं भेदभाव का विरोध प्रारंभ कर दिया। प्रवासी भारतीयों को संगठित कर उन्होंने सत्याग्रह आंदोलन छेड़ दिया। मई 1894 में गांधीजी ने नाटाल इंडियन कांग्रेस की स्थापना की। 1896 में भारत आकर दक्षिणी अफ्रीकी भारतीयों के लिए आंदोलन शुरू किया। उसी वर्ष वे अपने परिवार के साथ पुनः दक्षिण अफ्रीका पहुंचे। डर्बन पहुंचने पर दक्षिण अफ्रीकी श्वेतों ने उनके द्वारा भारत में दक्षिण अफ्रीका के बंधक भारतीय मजदूरों के साथ होनेवाले दुर्व्यवहार पर दिये गये वक्तव्यों को लेकर दुर्व्यवहार किया। किन्तु गांधीजी इससे लेशमात्र भी विचलित नहीं हुए। वे निरन्तर आठ वर्षों तक दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार के विरुद्ध संघर्ष रत रहे। उन्होंने अनिवार्य पंजीकरण तथा हस्तमुद्रण, अन्तःप्रांतीय आप्रवास पर प्रतिबंध, बंधक मजदूरों पर लगाये गये कर तथा ईसाई विवाहों के अतिरिक्त अन्य सभी विवाहों को अमान्य ठहराने वाले कानूनों आदि का विरोध किया। वहीं उन्होंने 1899 में बोअर-युद्ध के समय इंडियन ऐम्बुलेंस कोर का गठन किया जिसने युद्ध में उल्लेखनीय सेवा कार्य किया और इसके उपलक्ष में उन्हें बोअर-युद्ध पदक प्रदान किया गया। 1901 में वे पुनः भारत लौटे। किन्तु 1902 में उन्हें ट्रांसवाल के एशियावासियों विरोधी व्यवस्थापन का विरोध करने हेतु प्रवासी भारतीयों के निमंत्रण पर पुनः दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा। वे ट्रांसवाल के सर्वोच्च न्यायालय में अधिवक्ता के रूप में पंजीकृत हुए और ट्रांसवाल ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन की उन्होंने स्थापना की। 1904 में गांधीजी ने रस्किन की पुस्तक अन्टु दिस लास्ट का अध्ययन किया। फीनिक्स फार्म की स्थापना कर उन्होंने आंदोलनकारियों के समुदाय संगठित किये एवं उनके आश्रय का प्रबन्ध किया। वहीं से 'इंडियन ओपीनियन' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया जो पूर्णतः सहकारिता एवं श्रमदान के नियम पर सचालित होता था। जोहन्नीजबर्ग में फैले प्लेग के समय वहाँ अस्पताल की स्थापना की। उसी वर्ष गांधीजी ने आहार-विज्ञान पर अनेकों लेख गुजराती में लिखे जो हिन्दी में आरोग्य दर्शन नामक पुस्तक में संकलित हो प्रकाशित हुए। 1906 में गांधीजी ने जुलु विद्रोह के समय इंडियन स्ट्रेचर-बेयरर कोर की स्थापना की। उसी वर्ष उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने का व्रत लिया।

जोहन्नीजबर्ग में ट्रांसवाल एशियाटिक ला अमेन्डमेन्ट ऑर्डिनेन्स के विरोध में

भारतीयों की विशाल सभा आयोजित कर गांधीजी ने उनसे इस काले कानून के विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोध (सत्याग्रह) करने की शपथ दिलवाई। वे प्रतिनिधि मण्डल लेकर इंगलैण्ड भी गये और उपनिवेशन मन्त्री के समक्ष प्रवासी भारतीयों के साथ किये गये अन्याय का विवरण प्रस्तुत किया। 1907 में उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध आंदोलन चलाया और सार्वजनिक सेवा के लिये अपना जीवन अर्पित करते हुए वकालत छोड़ दी। सत्याग्रह आंदोलन के कारण उन्हें 10 जनवरी, 1908 को दो महिने के कारावास की सजा दी गयी। जनरल स्मट्स की सरकार द्वारा समझौता वार्ता के लिये उन्हें आमन्त्रित किया गया और समझौता होने पर गांधीजी को जेल से मुक्त कर दिया गया। किन्तु प्रवासी भारतीय पठानों ने इस समझौते को भारतीय हितों के विरुद्ध विश्वासघात माना और उन्होंने गांधीजी पर प्राणघातक हमला किया। भाग्य से गांधीजी बच गये फिर भी उन्होंने हमलावरों के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही नहीं की। जनरल स्मट्स द्वारा समझौते की शर्तों के साथ विश्वासघात करने के कारण गांधीजी ने पुन: सत्याग्रह प्रारम्भ किया। उन्हें दो महिने का कठोर कारावास दिया गया। कारावास की अवधि पूरी करने के एक माह के अन्दर सत्याग्रह करने पर पुन: गिरफ्तार किया गया। इस बार गांधीजी को तीन माह की सजा दी गयी।

1909 में गांधीजी पुन: शिष्ट मंडल लेकर इंगलैण्ड गये और वहां से दक्षिण अफ्रीका लौटते समय जहाज में हिन्द स्वराज की रचना की। 1910 में उन्होंने जोहनीज़बर्ग के निकट टालस्टाय फार्म की स्थापना की। उन्होंने पाश्चात्य वेशभूषा तथा दूध का परित्याग कर दिया। अब वे केवल ताजा फलों तथा सूखे मेवों का आहार के रूप में प्रयोग करने लगे। इसी बीच उन्होंने एथिकल रिलीजन नामक पुस्तिका लिखी। गांधीजी ने उपवास का प्रयोग भी प्रारम्भ किया।1913 में फीनिक्स फार्म के दो आश्रमवासियों के दोष के सिलसिले में उन्होंने प्रायश्चित स्वरूप एक सप्ताह का उपवास किया। बाद में उन्होंने साढ़े चार महिनों के लिये एक ही समय भोजन किया। नवम्बर 1913 में दक्षिण अफ्रीका की संघीय सरकार द्वारा तीन पौंड के पोल-टैक्स को निरस्त न करने के विरोध में सत्याग्रह किया। गांधीजी ने 2037 पुरुषों, 127 स्त्रियों तथा 57 बालकों के जुलूस का नेतृत्व करते हुए ट्रांसवाल में प्रवेश किया। उन्हें गिरफ्तार कर जमानत पर रिहा किया गया। दो दिन बाद पुन: गिरफ्तार किया गया और जमानत पर रिहा किया गया। एक दिवस पश्चात् पुन: गिरफ्तार कर डंडी ले जाये गये और वहां उन्हें नौ महिने तथा तीन महिने की सश्रम कैद की सजा दी गयी। सरकार ने समझौता वार्ता करने के लिये उन्हें 18 दिसम्बर को बिना शर्त रिहा कर दिया। जनरल स्मट्स के साथ हुए समझौते के कारण गांधीजी ने सत्याग्रह आंदोलन समाप्त कर दिया। वे इंगलैण्ड गये और प्रथम विश्व महायुद्ध के समय उन्होंने लंदन में इंडियन ऐम्बुलेंस कोर संगठित की। इस समय तक गांधीजी ब्रिटिश सरकार के प्रति सहयोगी के रूप में ही प्रस्तुत हुए।

गांधीजी द्वारा 1915 में भारत लौटने पर उन्हें ब्रिटिश सरकार की ओर से 'कैसरे हिन्द स्वर्ण पदक' प्रदान किया गया। इसी वर्ष अहमदाबाद में साबरमती नदी के किनारे उन्होंने सत्याग्रह आश्रम (बाद में साबरमती आश्रम के नाम से प्रसिद्ध) की स्थापना की। उन्होंने रेल्वे की तृतीय श्रेणी में भारत तथा बर्मा की यात्रा की। 1917 में गांधीजी ने भारतीय मजदूरों को बधुआ बनाकर श्रम करने के लिए देश के बाहर भेजने की नीति

का विरोध किया। वे चर्खे द्वारा हाथ से बनाये गये वस्त्र के भारी मात्रा में उत्पादन के विचार में लीन रहने लगे। अप्रेल में वे नील बागानों में काम करने वाले श्रमिकों की दशा की जांच करने के लिये चम्पारन (बिहार) गये। चम्पारन के सत्याग्रह ने बीस लाख से अधिक किसानों को प्रभावित किया। यह सत्याग्रह का अत्यन्त व्यापक प्रयोग था जिसमें एक शताब्दी से चले आने वाले अन्याय का अहिंसक सत्याग्रह द्वारा निवारण हुआ। वहां मोतीहारी जिला छोड़ने का सरकारी नोटिस मिला। इसकी अवज्ञा करने पर गिरफ्तार कर उन पर मुकदमा चलाया गया किन्तु सरकार ने सजा देने के स्थान पर मुकदमा वापस ले लिया। बिहार सरकार ने उन्हें रैयत में व्याप्त असंतोष की जांच के लिये गठित समिति का सदस्य नियुक्त किया।

जनवरी-मार्च 1918 में गांधीजी ने अहमदाबाद के सूती कपड़ा मिलों के श्रमिकों की मांगों को लेकर उपवास किया। उनका यह प्रस्ताव था कि मिल-मजदूर समझौता होने तक अपनी हड़ताल जारी न रखें। गांधीजी के तीन दिन के उपवास में ही समझौता हो गया। उन्होंने बम्बई प्रदेश के खेड़ा जिले में फसल नष्ट होने के कारण लगान वसूली निरस्त करने की मांग को लेकर सत्याग्रह किया। अप्रैल में गांधीजी वायसराय की युद्ध परिषद् में भाग लेने के लिये दिल्ली गये तथा हिन्दी भाषा के माध्यम से अपने विचार प्रकट किये। उन्होंने खेड़ा जिले का दौरा किया और सेना में भर्ती करने के लिये रंगरूटों को तैयार किया। 1919 के फरवरी मास में रौलट विधेयकों के विरोध में उन्होंने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा की। 6 अप्रैल, 1919 को देश व्यापी हड़ताल हुई तथा भारत व्यापी सत्याग्रह आंदोलन छेड़ दिया गया। पंजाब में उनके प्रवेश पर लगाये गये प्रतिबन्ध को तोड़ने पर उन्हें दिल्ली पहुंचने के पहले ही गिरफ्तार कर लिया गया और पुनः बम्बई ले जाकर छोड़ दिया गया। देश के कई भागों में तोड़-फोड़ तथा हिंसा की अनेकों घटनाएं हुई। 13 अप्रैल को उन्होंने साबरमती आश्रम के निकट सत्याग्रह आंदोलन के दौरान नडियाद में रेल की पटरी उखाड़ने के प्रयत्न के प्रायश्चित स्वरूप तीन दिन का उपवास किया। उसी दिन अमृतसर के जलियांवाला बाग में अंग्रेजों ने भयंकर नरसंहार किया जिसमें 400 व्यक्तियों की जानें गयीं। नडियाद में उन्होंने सत्याग्रह के सम्बन्ध में अपनी 'हिमालय सदृश भूल' को स्वीकार किया और 18 अप्रैल को सत्याग्रह आंदोलन स्थगित कर दिया।

गांधीजी ने 'नवजीवन' गुजराती मासिक का सम्पादन अपने हाथ में ले लिया। बाद में वह हिन्दी साप्ताहिक के रूप में भी प्रकाशित होने लगा। साथ साथ उन्होंने 'यंग इन्डिया' अंग्रेजी साप्ताहिक का सम्पादन भी सम्हाल लिया। इसी बीच पंजाब में मार्शल ला प्रशासन में हुई ज्यादतियों की जांच के लिये गैर सरकारी समिति की सदस्यता ग्रहण की। दिल्ली में आयोजित अखिल भारतीय खिलाफत कान्फ्रेंस की अध्यक्षता की। अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने मांटेग्यू-चेम्सफर्ड सुधारों को स्वीकार करने की सलाह दी। जनवरी, 1920 में वे वायसराय के पास एक शिष्ट मंडल लेकर उपस्थित हुए जिसमें टर्की के सुल्तान (मुसलमानों के खलीफा) को इस्लाम के पवित्र स्थानों पर अपने अधिकार से वंचित न करने सम्बन्धी दबाव ब्रिटिश सरकार पर डालने की मांग की गयी। 1 अगस्त को गांधीजी ने वायसराय के नाम पत्र लिखकर कैसरे-हिन्द पदक, जुलु-युद्ध पदक तथा

बोअर-युद्ध पदक वापस लौटा दिये। सितम्बर में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस के कलकत्ता विशेष अधिवेशन में गांधीजी ने पंजाब की घटनाओं तथा खिलाफत के समर्थन में असहयोग कार्यक्रम के लिये स्वीकृति प्राप्त करली। नवम्बर में उन्होंने अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ की स्थापना की। बाद में नागपुर में हुए कांग्रेस के नियमित अधिवेशन में गांधीजी ने सभी वैधानिक एवं शांतिपूर्ण उपायों से भारतीयों द्वारा स्वराजप्राप्ति को कांग्रेस का लक्ष्य निर्धारित किया।

अप्रैल, 1921 में गांधीजी ने कांग्रेस सदस्यता अभियान का लक्ष्य एक करोड़ सदस्यों का रखा। एक करोड़ रुपया एकत्रित करने तथा देश में बीस लाख चरखों की स्थापना का उद्देश्य भी प्रस्तुत किया गया। उन्होंने बम्बई में विदेशी वस्त्रों के पूर्ण बहिष्कार के आंदोलन का नेतृत्व किया और विदेशी वस्त्रों की होली जलाई। कांग्रेस ने उन्हें अधिनायक के पूर्ण अधिकारों से युक्त कर दिया। नवम्बर, 1921 में प्रिंस ऑफ वेल्स के बम्बई आगमन के अवसर पर हुए हिंसात्मक दंगों के प्रायश्चित स्वरूप गांधीजी ने पांच दिन का उपवास किया। फरवरी, 1922 में गुजरात के बारदोली स्थान पर सत्याग्रह करने के अपने निर्णय के लिये वायसराय को ज्ञापन दिया। किन्तु उत्तर प्रदेश के चौरी-चौरा स्थान पर क्रुद्ध भीड़ द्वारा एक थानेदार तथा इक्कीस पुलिस के सिपाहियों को जीवित जला देने की घटना का समाचार प्राप्त कर गांधीजी ने पांच दिन का प्रायश्चित स्वरूप उपवास किया तथा सत्याग्रह आंदोलन की योजना रद्द कर दी।

10 मार्च 1922 को गांधीजी द्वारा 'यंगइण्डिया' में लिखे गये तीन लेखों के कारण उन पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया और उन्हें 6 वर्ष की कैद की सजा दी गयी। उन्हें यरवदा जेल में रखा गया जहां उनका अपेन्डिसाईटिस का आपरेशन हुआ। रोगग्रस्त रहने के कारण उन्हें 5 फरवरी, 1924 को रिहा कर दिया गया। इसी मध्य कोहाट में हुए साम्प्रदायिक दंगों के कारण दुःखी हो गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये इक्कीस दिन का उपवास किया। कोहाट में जिस प्रकार से मुसलमानों ने हिन्दुओं पर अत्याचार किये उनसे द्रवित हो गांधीजी ने कोहाट के हिन्दुओं को यह संदेश दिया था कि उन्हें अपने स्त्रियों के सम्मान तथा मन्दिरों की रक्षा के लिए वहां से भागने के स्थान पर संघर्ष करते हुए अपना जीवन बलिदान कर देना चाहिये था। इन साम्प्रदायिक दंगों में मोहम्मदअली तथा शौकतअली ने मुस्लिम समर्थक रवैया अपनाया। वी एस श्रीनिवास शास्त्री तथा लाला लाजपतराय ने गांधीजी के अली बंधुओं के प्रति उदार रवैये की आलोचना भी की। दिसम्बर में गांधीजी ने कांग्रेस के बेलगाव अधिवेशन की अध्यक्षता की।

1925 में गांधीजी ने अखिल भारतीय हाथ चर्खा संगठन की स्थापना की। साबरमती के आश्रमवासियों की भूल के कारण भी उन्होंने सात दिवस का उपवास किया। इसी वर्ष उन्होंने अपनी आत्मकथा दी स्टोरी आफ माई एक्सपेरिमेन्ट्स विद ट्रुथ लिखना प्रारम्भ किया। कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने 1929 तक अधिराज्य स्थिति न मिलने पर पूर्ण स्वतन्त्रता के समर्थन में प्रस्ताव प्रस्तुत किया। उन्हीं की प्रेरणा से दिसम्बर, 1929 के कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस के स्वराज के लक्ष्य का अर्थ पूर्ण स्वराज्य स्वीकार किया गया। फरवरी, 1930 में कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने के लिये

गांधीजी को कांग्रेस का अधिनायक (डिक्टेटर) नियुक्त किया। 2 मार्च को वायसराय को लिखे पत्र में उन्होंने कांग्रेस की मांगें स्वीकार न करने की स्थिति में नमक-कानून तोड़ने का निश्चय प्रकट किया। 12 मार्च को उन्होंने दांडी कूच किया और दांडी 6 अप्रैल को नमक-कानून तोड़ा। किन्तु उन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया। बाद में 3 मई की रात को कराडी में उन्हें 1827 के रेग्युलेशन 25 के अन्तर्गत मुकदमा चलाये बिना गिरफ्तार कर यरवदा जेल में बन्द कर दिया गया। सरकार के इस कार्य के विरोध में भारत व्यापी प्रदर्शन एवम् हड़तालें हुई। लगभग एक लाख व्यक्ति जेलों में ठूंस दिये गये। सरकार ने उन्हें 26 जनवरी, 1931 को गांधी-इर्विन समझौते के लिये बिना शर्त रिहा कर दिया। गांधी-इर्विन वार्ता प्रारम्भ हुई। गांधीजी ने गोलमेज परिषद् में भाग लेना स्वीकार कर लिया। कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में वे लन्दन में आयोजित गोलमेज परिषद में सम्मिलित हुए। ब्रिटिश सरकार के रवैये में कोई परिवर्तन नहीं आया अत गांधीजी ने पुन 31 दिसम्बर, 1931 को सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया। 14 जनवरी, 1932 को बम्बई में गांधीजी तथा सरदार पटेल को 1818 के रेग्युलेशन 3 के अन्तर्गत बिना मुकदमा चलाये गिरफ्तार कर लिया गया। यरवदा जेल में मैकडोनाल्ड के साम्प्रदायिक पचाट, जिसमें हरिजनों को हिन्दुओं से पृथक करने के लिये पृथक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था, के विरोध में 20 सितम्बर 1932 को आमरण अनशन प्रारम्भ किया। किन्तु सरकार द्वारा गांधीजी की मांगें पूरा करने के निर्णय के पश्चात् उन्होंने अनशन त्याग दिया। यरवदा जेल में ही अप्पासाहब पटवर्धन द्वारा जेल में भंगी का काम करने की मांग अस्वीकृत होने के कारण उनके उपवास की सहानुभूति में गांधीजी ने उपवास किया। सरकार द्वारा आश्वासन मिलने पर उपवास छोड़ा। 11 फरवरी, 1933 को गांधीजी ने "हरिजन" साप्ताहिक की स्थापना की जो हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में प्रकाशित होने लगा। 8 मई 1933 को गांधीजी ने इक्कीस दिन का हरिजन-उपवास प्रारम्भ किया। सरकार ने उसी दिन गांधीजी को बिना शर्त जेल से रिहा कर दिया। पूना में "पर्णकुटी" नामक स्थान पर गांधीजी ने 29 मई को अपना उपवास पूरा किया।

30 जुलाई, 1933 को गांधीजी ने बम्बई की सरकार को अपने तैंतीस सहयोगियों सहित अहमदाबाद से रास तक कूच करने के व्यक्तिगत सत्याग्रह से अवगत कराया। 31 जुलाई को व्यक्तिगत सत्याग्रह के कारण उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और 4 अगस्त को नियन्त्रण के अधीन छोड़ दिया गया। किन्तु गांधीजी ने उसी दिन नियन्त्रण को सविनय भंग किया अत उन्हें पुन बन्दी बना लिया गया और एक वर्ष की सजा दी गयी। यरवदा जेल में गांधीजी ने हरिजनोद्धार का कार्य संचालित करने की छूट प्राप्त करने के लिये उपवास किया। 20 अगस्त को उनकी हालत खराब होने पर उन्हें सासून अस्पताल में भर्ती किया गया। 23 अगस्त को उनकी शारीरिक स्थिति गम्भीर होने के कारण बिना शर्त जेल से रिहा कर दिया गया। गांधीजी ने 4 अगस्त, 1934 तक केवल अस्पृश्यता-विरोधी कार्य करने का ही व्रत लिया। 17 सितम्बर, 1934 को गांधीजी ने राजनीति से सन्यास लेकर ग्रामोद्योग के विकास, हरिजन संघ तथा बुनियादी शिक्षा के लिये कार्य करने की घोषणा की। उन्होंने अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ की स्थापना की।

1936-1937 में गांधीजी ने वर्धा के सेवाग्राम को अपना मुख्यालय बनाया।

यहां उन्होंने बुनियादी शिक्षा पर कार्य करने के लिए एक शिक्षा-सम्मेलन भी आयोजित किया। उनकी 'शिक्षा की वर्धा योजना" में मूलभूत हस्तकलाओं के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने का विचार प्रस्तुत किया गया। 3 मार्च, 1939 को राजकोट रियासत के शासक द्वारा प्रशासन में सुधार करने का वचन भंग करने पर गांधीजी ने आमरण अनशन शुरू किया। वायसराय द्वारा 7 मार्च को सर मारिस ग्वायर को विवाद निपटाने के लिये पंच के रूप में नियुक्त करने पर अनशन का त्याग किया। द्वितीय महायुद्ध से उत्पन्न गम्भीर संकट के समय वायसराय के निमन्त्रण पर गांधीजी ने युद्ध की स्थिति पर जुलाई-सितम्बर, 1940 में वायसराय से बातचीत की। भारत में अंग्रेजी शासन के रवैये में भारतीयों की स्वाधीनता के प्रति अनिच्छा देखते हुए गांधीजी ने अक्टूबर, 1940 में व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने का निर्णय किया। युद्ध के दौरान सरकार द्वारा प्रेस पर लगाये गये पूर्व-सेन्सर कराने के नियमों के विरोध में गांधीजी ने अपने साप्ताहिक पत्र छापने बन्द कर दिये। 30 दिसम्बर, 1941 को गांधीजी के आग्रह पर कांग्रेस ने उन्हें नेतृत्व से निवृत्त कर दिया। जनवरी, 1942 में गांधीजी ने हरिजन साप्ताहिक तथा अन्य पत्र छापने पुनः प्रारम्भ किये। मार्च 27 को गांधीजी सर स्टैफर्ड क्रिप्स से दिल्ली में मिले। उन्होंने क्रिप्स प्रस्तावों को 'पिछली तारीख में दिये गये चैक' की संज्ञा दी। मई में उन्होंने ब्रिटिश सरकार को भारत छोड़ने का आग्रह किया।

गांधीजी कांग्रेस से मतभेद होने के कारण उसके नेतृत्व से हट चुके थे फिर भी कांग्रेस महासमिति ने गांधीजी की अहिंसा को प्रभावी मानते हुए उनसे निवेदन किया कि वे इस संघर्ष का नेतृत्व करें। 8 अगस्त को गांधीजी ने बम्बई में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के समक्ष 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। 9 अगस्त, 1942 को गांधीजी ने बम्बई में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का श्रीगणेश किया। 'करो या मरो' के गांधीजी के आह्वान पर "1942 की अगस्त क्रांति" भारत की आजादी की लड़ाई का चरमोत्कर्ष थी। 9 अगस्त को सुबह ही गांधीजी और कांग्रेस के प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी के बाद देश भर में आग लग गयी। लोगों के पास कोई निश्चित कार्यक्रम न था। 8 अगस्त को भारत छोड़ो का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास हुआ। 9 अगस्त को कांग्रेस महासमिति देश को संघर्ष का कार्यक्रम देने के लिए बैठनेवाली थी। 7 अगस्त को महासमिति की पहली बैठक में गांधीजी ने एक गोपनीय दस्तावेज के रूप में संघर्ष का अपना कार्यक्रम प्रस्तुत किया था। इसमें एक पूरी क्रांति की कल्पना की गयी थी। लोगों को पूरी हड़ताल के लिए आह्वान किया गया था। सरकारी कर्मचारियों और फौज से उम्मीद की गयी थी कि वे विदेशी सरकार के दमनकारी आदेशों को मानने से इन्कार कर देंगे। 16 साल से ऊपर के छात्रों से कहा गया था कि वे अपने स्कूल और कालेज छोड़ें और आजादी के लिये निर्णायक क्षण तक शिक्षा संस्थाओं में वापस न जायें। सब से महत्वपूर्ण था किसानों का आह्वान कि वे सरकार को लगान न दें। इससे पहले ऐसी कोई लड़ाई नहीं हुई थी जिसमें गांधीजी या अन्य नेताओं ने जनता से सरकार को पूरी तरह अमान्य कर देने को कहा हो। इस अर्थ में यह पहली सिविल नाफरमानी थी। लगान पर गांधीजी ने कहा था "जमीन उसकी है जो उसे जोतता है। और सरकार को लगान वह इसलिए देता है कि वह सरकार की सत्ता को स्वीकार कर रहा है। अब हम इस विदेशी

हुकूमत को एक क्षण के लिए भी स्वीकार करने को तैयार नहीं। इसलिए इसे किसी तरह का कोई राजस्व नहीं दिया जाना चाहिये।"

"देश के नाम सिविल नाफरमानी का यह आह्वान बाहर आये, इसके पहले कांग्रेस के सभी प्रमुख नेता बन्दी बना लिये गये। जिस रूप में गांधीजी ने इस क्रांति की कल्पना की थी, क्या गांधीजी और कांग्रेस के अन्य नेताओं की गिरफ्तारी के कारण यह ठीक उसी रूप में चल पायी? इसका कोई जवाब खोजने के वास्ते यह जानना जरूरी है कि भारत छोड़ो आंदोलन गांधीजी ने किस मन स्थिति और किस परिस्थिति में छेड़ा था। भारत छोड़ो आंदोलन से पहले क्रिप्स मिशन यहां आया था जिसका उद्देश्य मात्र इतना था कि किसी प्रकार इस आंदोलन को टाला जाय। वह संभव नहीं था। कांग्रेस अलबत्ता थोड़ी दिग्भ्रमित थी। नेहरू यह सोचते थे कि जर्मनी और जापान, रूस और चीन पर काफी आगे जा चुके हैं। तब क्या इस वक्त अंग्रेजों से युद्ध करना बेहतर होगा। यही विचार भावना के भी थे। इसलिए जब क्रिप्स मिशन यहां आया तो नेहरूजी उससे अपेक्षया अधिक आशा के साथ मिले। गांधीजी को कुछ ज्यादा आशा नहीं थी। क्रिप्स मिशन को असफल होना था, असफल होकर यहां से चला गया। लुई फिशर को भेंटवार्ता देते समय यह बात उन्होंने कही थी 'जब क्रिप्स मिशन चला गया तब मुझे लगा कि इस कूटनीति का कोई बड़ा जवाब उनको देना चाहिये और तभी भारत छोड़ो के इस तरह की लड़ाई की कल्पना मेरे दिमाग में आयी। मेरे भीतर आग दहक रही थी।"

गांधीजी को गिरफ्तार कर पूना के आगाखां महल में नजरबन्द कर दिया गया। उनका भारत सरकार तथा वायसराय से देश व्यापी दंगों के संबंध में पत्र व्यवहार हुआ। तत्कालीन वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने गांधीजी पर यह दोष मढा कि छिपे तौर पर जापानी शत्रु को सहायता देने के लिए भारत छोड़ो आंदोलन चलाया गया था। सरकारी आक्षेपों के विरुद्ध गांधीजी ने 10 फरवरी, 1943 को तीन सप्ताह का उपवास शुरू किया। 3 मार्च को उपवास तोड़ा। 22 फरवरी 1944 को नजरबन्दी के दौरान कस्तूरबा गांधी का आगाखां महल में देहावसान हो गया। शासनतन्त्र की लापरवाही तथा कठोरता के कारण गांधीजी कस्तूरबा की बीमारी में ठीक से देखभाल न कर सके। गांधीजी मन में अत्यन्त व्यथित हुए। 'भारत छोड़ो' की लड़ाई छिड़ने के थोड़े ही दिन बाद कांग्रेस के कुछ लोगों ने खासतौर पर समाजवादी विचारधारा के लोगों ने—देश भर में तोड़-फोड़ का तरीका अख्तियार किया। जिसके विरुद्ध गांधीजी ने जेल में और बाहर आकर भी अपना मत प्रकट किया कि यह हिंसा ही थी, उसे अहिंसक संघर्ष नहीं कहा जा सकता। (7 सितम्बर, 1945 को हुई अपनी बैठक में कांग्रेस कार्यसमिति ने भी अपने एक प्रस्ताव में इस नीति का निषेध किया था।)

लार्ड वेवल के भारत आने के पश्चात् भी सरकारी रवैये में परिवर्तन नहीं आया। चर्चिल की प्रतिक्रियात्मक नीति के कारण भारत सरकार भी पुरानी नीति पर ही चल रही थी। वेवल का कांग्रेस विरोधी रुख स्पष्ट था। गांधीजी अस्वस्थता के कारण 5 मई, 1944 को रिहा कर दिये गये। गांधीजी ने वायसराय से मिलने की इच्छा व्यक्त की किन्तु उसे अस्वीकार कर दिया गया। जिन्ना ने कांग्रेस आंदोलन की गिरती हुई स्थिति

का लाभ उठाया और 'भारत छोड़ो' के नारे के साथ साथ मुस्लिम लीग का 'भारत का विभाजन करो और चले जाओ' का नारा बुलन्द किया। गांधीजी देश के विभाजन की मांग से चिंतित हुए और उन्होंने बम्बई में 18 दिन तक जिन्ना से इस विषय में वार्त्ता की। गांधीजी ने जिन्ना के इस दृष्टिकोण को कि भारतीय मुसलमान एक पृथक राष्ट्र है, स्वीकार नहीं किया। जिन्ना की हठधर्मिता बनी रही और साम्प्रदायिकता की आग को बढ़ाने में उसने कोई कमी नहीं रखी। इसी मध्य ब्रिटेन की सरकार में परिवर्तन हुआ। लार्ड एटली ब्रिटेन के प्रधान मंत्री बने। भारत की स्वतंत्रता के प्रश्न पर विचार हुआ। आजाद हिन्द फौज के तीन अफसरों पर लालकिले में मुकदमा चलाया गया जिन्हें जनमत के दबाव पर रिहा करना पड़ा। बम्बई में नौसैनिक विद्रोह हुआ। ब्रिटिश सरकार ने संसदीय शिष्टमंडल भारत की यात्रा पर भेजा। उसके बाद केबिनेट मिशन भारत आया और केबिनेट मिशनयोजना प्रस्तुत की गयी।

मुस्लिम लीग ने धमकियाँ देना प्रारम्भ कर दिया। नौआखली (बंगाल) में भीषण साम्प्रदायिक आग की ज्वाला धधकने लगी। गांधीजी ने नौआखली में अपने जीवन की तनिक भी परवाह न कर साम्प्रदायिकता को शांत करने तथा हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव स्थापित करने में सफलता अर्जित की। देश के अनेकों स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे हुए। सरकार ने स्थिति अपने नियंत्रण से बाहर होते देख कर उत्तरदायी सरकार की स्थापना का निर्णय लिया। अंतरिम सरकार बनी किन्तु जिन्ना नेहरू के साथ सरकार बनाने को राजी न हुआ। मुस्लिम लीग पर वायसराय ने अंतरिम सरकार में सम्मिलित होने का दबाव डाला। स्वार्थवश लीग सम्मिलित हुई। ब्रिटिश सरकार ने सत्ता हस्तांतरण की तैयारी की। लार्ड माउंटबेटन भारत के नये वायसराय नियुक्त हुए। संविधान निर्मात्री सभा ने संविधान निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया। विभाजन की योजना को नेहरू तथा सरदार पटेल ने उचित ठहराया। गांधीजी विभाजन के विरुद्ध थे किन्तु नेहरू तथा पटेल ने उनके विचारों की अवहेलना प्रारम्भ कर दी थी। विभाजन हुआ और भयंकर नर-संहार भी। भारत स्वतन्त्र हुआ। गांधीजी का मन हिंसक घटनाओं से व्यथित रहा। किन्तु वे अपने आपको मूक दर्शक से अधिक नहीं मानते थे। नेहरू की अड़ंगेवाली नीति के कारण आचार्य कृपलानी ने कांग्रेस अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया। गांधीजी आचार्य नरेन्द्र देव को कांग्रेस अध्यक्ष बनाना चाहते थे किन्तु नेहरू तथा पटेल ने डा० राजेन्द्र प्रसाद को अध्यक्ष पद के लिये प्रस्तुत किया। गांधीजी अन्यमनस्क होकर यह सब सहन करते गये। दिल्ली के मुसलमानों ने गांधीजी को अपनी कठिनाइयां बतलायी तथा अपनी सुरक्षा की मांग की। गांधीजी ने 12 जनवरी, 1948 को दिल्ली में साम्प्रदायिक सद्-भाव स्थापित करने के उद्देश्य को लेकर आमरण अनशन की घोषणा की। वे समाज के पापों का प्रायश्चित कर रहे थे। उन्होंने कहा कि तलवार के स्थान पर, जो स्वयं की हो अथवा अन्य की, अनशन ही सत्याग्रही का अंतिम आश्रय है। गांधीजी का अनशन सफल रहा और दिल्ली के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों ने गांधीजी को सद्भाव एवं शांति बनाये रखने का वचन दिया। गांधीजी ने अनशन त्याग दिया। किन्तु यह गांधीजी का अंतिम सत्याग्रह था। अहिंसा के पुजारी को हिंसक मानव ने अपनी बर्बरता का शिकार बनाया। शुक्रवार 30 जनवरी, 1948 को प्रार्थना सभा में जाते

हुए वे हत्यारे की गोलियों के लक्ष्य बने। 'हे राम' के अंतिम शब्दों के साथ मानवता का महान उपासक सदा के लिये चिरनिद्रा में सो गया। गांधीजी के लिये इससे अधिक सुन्दर मृत्यु का वरण और क्या हो सकता था? गांधीजी अमर है। भारत ही नहीं वरन् सारा विश्व उनके समक्ष श्रद्धावनत है। हमारे राष्ट्रपिता के रूप में उनकी दिव्य आत्मा भारत की सदैव मार्गदर्शक रहेगी।

गांधीजी का दर्शन : पाश्चात्य प्रभाव

गांधीजी जो कि अहिंसा तथा धार्मिक निष्ठा के वातावरण में पले थे, अपने इंग्लैंड प्रवास के दौरान पाश्चात्य चिंतन के प्रत्यक्ष प्रभाव में आये। गांधीजी धर्म को अत्यन्त विस्तृत अर्थ में लेते थे और सभी धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण, केवल अपने राजकोट के अनुभव के कारण ईसाई धर्म को छोड़कर, सहिष्णुता का था। किन्तु ईसाई धर्म के प्रति उनका विचार सर्वथा परिवर्तित हो गया जब उन्होंने जोशिया ओल्डफील्ड के परामर्श पर बाइबिल का अध्ययन किया। वे 'सर्मन ऑन दी माउन्ट' से अत्यधिक भाव-विह्वल हुए। गांधीजी को ऐसा अनुभव हुआ कि उनके अपने धार्मिक विचारों तथा विश्वास में बाइबिल के विचार मिलते-जुलते थे। उन्होंने 'सर्मन ऑन दी माउन्ट' की गीता से तुलना की। त्याग को धर्म का सर्वोत्कृष्ट रूप जानकर वे अत्यधिक प्रभावित हुए।[1] उनके लिये गीता तथा न्यू टेस्टामेन्ट दोनों ही शाश्वत प्रेरणा के स्रोत थे। यद्यपि वे दोनों को समान महत्व नहीं देते थे। गांधीजी ने एक बार कहा था कि हिन्दू धर्म से उनको पूर्ण आत्मिक शांति मिलती है और भगवद्गीता तथा उपनिषदों में जिस संतुष्टि का बोध उन्हें होता है, वह 'सर्मन ऑन दी माउन्ट' से नहीं होता। जब उनके मन में संशय उत्पन्न होता है तो वे गीता के श्लोक पढ़ते हैं और दूसरे ही क्षण उनका विषाद उल्लास में परिवर्तित हो जाता है। उनके अनुसार गीता ने उनको बाह्य दुःखों के कारण टूटने से बचाया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि गांधीजी ने गीता तथा 'सर्मन ऑन दी माउन्ट' में कोई अन्तर देखा है। 'सर्मन ऑन दी माउन्ट' में जो बात चित्रित की गयी है, वही बात गीता में वैज्ञानिक फार्मूले के रूप में व्यक्त की गयी है। गीता ने प्रेम के नियम को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। चूँकि गीता तथा सर्मन के उपदेशों में कोई संघर्ष अथवा विरोधाभास नहीं है, वे दोनों ही एक कोमल एकता में समाहित हो जाते हैं।[2]

इस प्रकार इंग्लैंड में गांधीजी ने केवल कानून तथा अंग्रेजी रीति-नीति का ही ज्ञान प्राप्त नहीं किया, अपितु ईसा के संदेश तथा ईसाई धर्म का भी उन्होंने अध्ययन किया। दक्षिण अफ्रीका में वकालत प्रारम्भ करने के पश्चात् उन्हें अनेक महान् ग्रन्थों के अवगाहन का अवसर प्राप्त हुआ। विनसेन्ट शीयान ने उन अनेक प्रभावों का उल्लेख किया है जो गांधीजी के अहिंसा-सम्बन्धी विचारों के विकास में सहायक रहे हैं। शीयान के अनुसार गांधीजी पर ईसाई प्रभाव, जो कि 'सर्मन ऑन दी माउन्ट' के माध्यम से प्रकट हुआ, 1888-1889 में इंग्लैंड में जबकि वे बीस वर्ष के थे, स्पष्ट दिखाई देता है। यह शक्तिशाली प्रभाव उनके दक्षिण अफ्रीका अनुभव के दिनों में निरन्तर बना रहा। गीता ने, जिसका प्रभाव उतना ही पुराना था, गांधीजी को तीस वर्षों पश्चात् और भी अधिक प्रभावित किया जब उन्होंने संस्कृत में इसका अध्ययन किया। हिन्दू धर्म के हजारों वर्षों से उत्पन्न गीता की अमिट छाप गांधीजी पर थी। वृद्धावस्था में गीता से उन्हें जब सभी की

तुलना में और अधिक प्रेम हो गया था और वे यीशु के उपदेशों को गीता के माध्यम से देखने लगे थे।[3]

गांधीजी के चिंतन पर अनेक पाश्चात्य मनीषियों की छाप अंकित थी। उन्होंने विश्व की अनेक कृतियों से विचार-मुक्ता एकत्र कर अपनी चिंतनमाला में उन्हें पिरोया। उनके विचारों की यह समन्वयवादी विशेषता ही उनकी मौलिकता थी। यद्यपि उन्होंने सर्वथा नवीन चिंतन प्रदान नहीं किया, किन्तु अन्य चिंतकों की वैचारिक अभिव्यक्ति पर अपनी विलक्षण विवेचना प्रस्तुत कर वे स्वयं अग्रणी चिंतकों में सम्मिलित कर लिये गये। गांधीजी के लेखों में जिन पाश्चात्य चिंतकों का बारम्बार उल्लेख हुआ है वे मूलतः तीन हैं- रस्किन, थोरू तथा टालस्टाय।

गांधीजी ने रस्किन के विचारों से अनेक महत्वपूर्ण विचार अपने जीवन में उतारे। रस्किन की पुस्तक अन्टु दिस लास्ट से गांधीजी ने (1904 में) यह सीखा कि व्यक्ति की भलाई सब की भलाई में निहित है। रस्किन ने एक वकील के कार्य को एक नाई के कार्य के समान मूल्यवान मानते हुये यह व्यक्त किया कि सबको काम से जीविकोपार्जन का समान अधिकार है। गांधीजी ने श्रम का मूल्य इस विचार से पहचाना। इसी तरह रस्किन का यह विचार कि श्रम का जीवन अर्थात् जमीन जोतनेवाले तथा हस्तशिल्पी का जीवन ही जीने योग्य जीवन है, गांधीजी का प्रेरणा स्रोत बना। गांधीजी रस्किन के उपर्युक्त प्रथम विचार से परिचित थे तथा द्वितीय विचार की उन्हें धूमिल अनुभूति हुई थी किन्तु तीसरा तथा अन्तिम विचार का अवगाहन कर उन्हें प्रतीत हुआ कि रस्किन के प्रथम विचार में ही द्वितीय तथा तृतीय विचार अन्तर्निहित था।[4] गांधीजी ने रस्किन की पुस्तक का गुजराती में अनुवाद कर उसे 'सर्वोदय' नाम से प्रकाशित किया।[5] गांधीजी रस्किन से इस कारण प्रभावित नहीं हुए थे कि वे उन विचारों के सम्बन्ध में सर्वथा अनभिज्ञ थे। उनके प्रभावित होने का कारण यह था कि स्वयं गांधीजी के विचार रस्किन की रचना के माध्यम से उभर कर प्रतिबिम्बित हो रहे थे। इतना ही नहीं, गांधीजी ने रस्किन के विचारों को अपने शब्दों में व्यक्त नहीं किये, किन्तु गांधीजी के स्वयं के विचार रस्किन द्वारा व्यक्त थे।[6]

गांधीजी ने थोरू के असे ऑन सिविल डिसओबीडियेन्स को 1908 में उस समय पढ़ा जब वे दक्षिण अफ्रीका में अपने प्रथम कारावास का दंड भुगत रहे थे। थोरू द्वारा राज्य-नियमों की अवज्ञा के उदाहरण ने गांधीजी के स्वयं के निष्क्रिय प्रतिरोध के विचारों को सबल प्रदान किया। गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में राज्य के नियमों की अवज्ञा का प्रचंड आन्दोलन चला रखा था। थोरू की पुस्तक दक्षिण अफ्रीका के भारतीय सत्याग्रहियों की मार्गदर्शिका बन गयी। थोरू का अराजकतावाद तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सम्बन्धी प्रेम गांधीजी के लिए प्रेरणादायक सिद्ध हुआ। उन्हें थोरू में मानव के मानव प्रति अन्याय से जूझने की सहानुभूतिपूर्ण भावना प्राप्त हुई। किन्तु गांधीजी ने सविनय अवज्ञा का विचार थोरू से ग्रहण नहीं किया था। उनके सत्याग्रह सम्बन्धी दक्षिण अफ्रीका तथा भारत में किये प्रयोगों से स्पष्ट हो जाता है कि गांधीजी ने थोरू से स्वतन्त्र रूप में अपने सत्याग्रह-दर्शन का विकास किया था। अपने एक पत्र में गांधीजी ने व्यक्त किया था कि जब उन्हें थोरू के सविनय अवज्ञा सम्बन्धी निबन्ध की प्रति प्राप्त हुई, तब तक दक्षिण अफ्रीका में सत्ता का विरोध काफी प्रगति पर चुका था। थोरू के निबंध से 'सिविल डिसओबीडियेन्स' शब्द

उन्होंने ग्रहण किया ताकि अंग्रेजी पाठकों को वे अपने आन्दोलन से परिचित करा सकें। बाद में उन्हें यह शब्द भी आन्दोलन के समुचित अर्थ को समझाने में अपूर्ण दिखाई दिया। अतः उन्होंने 'सिविल रेजिस्टेन्स' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। यह शब्द भी उन्हें अधूरा लगा तब उन्होंने गुजराती आन्दोलनकारियों के लिये सत्याग्रह शब्द का सृजन किया।[7]

इस प्रकार थोरू का गांधीजी पर प्रभाव वैसा ही था जैसा अन्य लेखकों का—वे गांधीजी के विचारों तथा प्रयोगों से मेल खाते थे। उनके विचार किसी एक लेखक अथवा विचारक से ग्रहण किये हुये नहीं थे—चाहे उन पर उस स्रोत का कितना भी प्रभाव क्यों न दिखलाई दे। गांधीजी ने विभिन्न स्रोतों से विचार ग्रहण कर उन्हें अपने विचारों के अनुरूप ढाल दिया। अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट करने तथा अपनी धारणाओं को अपरिचितों तक पहुंचाने के लिये गांधीजी ने न केवल धार्मिक पुस्तकों का किन्तु रस्किन, थोरू तथा टालस्टाय जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों की रचनाओं का भी प्रभावशाली उपयोग किया।

टालस्टाय की दी किंगडम आफ गाड इज विदिन यू ने गांधीजी को भाव-विभोर कर दिया। इस पुस्तक का उन पर स्थायी प्रभाव पड़ा। ऐसे समय में जब कि दक्षिणी अफ्रीका के ईसाईयों द्वारा भारतीयों की मांग के औचित्य पर कटाक्ष किये जा रहे थे, टालस्टाय के विचारों से गांधीजी को सत्याग्रह संघर्ष के लिये सबल प्राप्त हुआ। कुछ वर्षों के बाद गांधीजी ने यह स्वीकार किया कि अहिंसा में उनकी निष्ठा टालस्टाय की उपर्युक्त पुस्तक से जाग्रत हुई थी। टालस्टाय के विचारों को पढ़कर काफी वर्ष के बाद अहिंसा के औचित्य पर भ्रमजाल में फंसे गांधीजी को पुन नवीन प्रकाश दिखाई दिया और वे अहिंसा के प्रति पुन पूर्ण निष्ठावान् बने। गांधीजी के अनुसार टालस्टाय के जीवन से वे अत्यधिक प्रभावित इस कारण हुये कि उन्हें टालस्टाय में सिद्धान्त तथा व्यवहार का लेशमात्र अन्तर नहीं मिला। जैसा उन्होंने कहा ठीक उसी तरह उसका पालन भी किया। टालस्टाय ने सत्य के अनुगमन में सब वस्तुओं को गौण माना। वैसे, गांधीजी का टालस्टाय से वैचारिक परिचय बहुत पुराना था। 1890 में टालस्टाय ने पेरिस के ईफेल टावर को मनुष्य की मूर्खता का स्मारक कहा था। गांधीजी ने पेरिस में टावर को देखकर टालस्टाय के समान ही निष्कर्ष निकाला। टालस्टाय ने ईसा की अमर वाणी की व्याख्या करते हुए राज्य की भर्त्सना की और शासन के हिंसक ढांचे को अस्वीकार किया। वे प्रेम के सार्वभौमिक एवम् असीमित क्षेत्र को प्रकट करते थे। गांधीजी ने टालस्टाय के अहिंसा पर व्यक्त विचारों को अपने जीवन का आदर्श बना लिया। दोनों के मध्य इस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार भी हुआ।[8]

किन्तु गांधीजी सैद्धान्तिक वाद-विवाद में निष्ठा नहीं रखते थे। वे जीवन के लिये व्यावहारिक विचारों में अधिक रूचि रखते थे। जब कभी उन्हें किसी पुस्तक अथवा विचारक से प्रेरणा नहीं मिलती थी तो वे उसके विचारों को नजरंदाज कर जाते थे। जो उन्हें रुचिकर नहीं प्रतीत होता था, उसे वे विस्मृत कर देते थे और जो रुचिकर लगता था, उसे व्यवहार में लाने का प्रयास करते थे।[9]

गांधीजी ने एमर्सन के निबन्धों को पढ़ने योग्य बतलाया था। उनके अनुसार एमर्सन के निबन्धों में भारतीय ज्ञान पाश्चात्य गुरू के माध्यम से प्रकट हुआ था।[10] किन्तु, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि गांधीजी पाश्चात्य विचारों की प्रतिच्छाया पुस्तकों में देखते थे

तथा जिनमें उन्हें यह प्रतिच्छाया सर्वाधिक परिलक्षित होती थी, वे उनसे अपने को 'प्रभावित' मानने लगते थे। अतः पूर्ण पाश्चात्य प्रभाव जैसी कोई वस्तु गांधीजी के चिंतन में स्पष्ट परिलक्षित नहीं होती। छुआ-छूत तथा बाल-विवाह को नकारना अथवा राष्ट्रवाद का समर्थन आदि ऐसे विचार हैं जो पाश्चात्य प्रभाव में विकसित हुए, किन्तु गांधीजी ने ये विचार अपने पाश्चात्य चिंतन के अध्ययन से ग्रहण किये अथवा उन भारतीयों के प्रभाव में स्वीकार किये जो स्वयं पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित थे, कहना कठिन है। ये प्रगतिशील विचार भारत के बौद्धिक वातावरण में व्याप्त थे और यदि गांधीजी इनसे प्रभावित हुए तो कोई आश्चर्य नहीं है।

गांधीजी टालस्टाय की भांति दार्शनिक अराजकतावादी कहे जा सकते हैं। उन्होंने औद्योगिकवाद का विरोध किया। वे आधुनिक अथवा पाश्चात्य सभ्यता के भी विरोधी थे। उन्हें शारीरिक श्रम के प्राचीन एवम् सरल तरीके प्रिय थे। मानव की अन्तःकरण की शक्ति जागृत कर ईश्वर से साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करना तथा आध्यात्मिक सत्ता से प्रेरणा प्राप्त कर लौकिक शासन का प्रतिकार करना उन्हें श्रेयस्कर प्रतीत हुआ।[11] वे पुरातनवादी थे। उनकी रचनाओं में आधुनिक सभ्यता के समस्त उपकरण जैसे रेल, डाक-तार, चिकित्सा, विधि, शिक्षा, छापाखाना आदि आलोचना के लक्ष्य बने। हिन्द स्वराज में गांधीजी पर हिन्दू धर्म से प्रेरित साधुवाद की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।[12] उनका पुरातनवाद पाश्चात्य प्रभावों का प्रतिफल नहीं था। जीवन में सादगी, आवश्यकताओं को सीमित करने का विचार तथा स्वेच्छिक त्याग की भावना सभी भारतीय चिंतन से अभिभूत दिखाई देते हैं।[13]

गांधीजी के विचारों का रामराज्य वाल्मीकि रामायण से प्रेरित न होकर तुलसीदास की रामायण पर आधारित दिखाई देता है। वाल्मीकि रामायण में जिस सभ्यता का चित्रण किया गया है, वह ग्रामीण एवम् कृषि-प्रधान न होकर शहरी सभ्यता का बोध कराती है, जबकि गांधीजी का रामराज्य ग्रामीण एवम् कृषि-प्रधान व्यवस्था का परिचायक है। गांधीजी के विचारों का रामराज्य रूसो के विचारों से मेल खाता है। जिस प्रकार रूसो ने कला तथा विज्ञान के विकास को नैतिक बुराइयों तथा असमानता का जनक माना है, उसी प्रकार गांधीजी भी आधुनिक सभ्यता के कटु आलोचक हैं। यदि रूसो ने स्वर्णिम अतीत की कल्पना को पुनर्जागृत करने का प्रयास किया है, तो गांधीजी वर्तमान जीवन में स्वर्णिम अतीत के विचारों को व्यावहारिक उपयोग में लाने के इच्छुक प्रतीत होते हैं। गांधीजी पाश्चात्य सभ्यता की शरीरसाध्य विलासितापूर्ण संस्कृति के प्रखर आलोचक रहे हैं। उनका स्वर्णिम अतीत प्रागैतिहासिक अतीत न होकर पूर्व-औद्योगिक अतीत है जिसमें व्यक्ति सादगीपूर्ण श्रम के जीवन को जीता हुआ हर दृष्टि से आत्म निर्भर है। उन्होंने आधुनिक सभ्यता की वैज्ञानिक उपलब्धियों को मानव में अनैतिक तथा परोपजीवी वृत्तियों को प्रेरित करने वाली माना है। उन्हें गर्व है कि भारत में अभी भी वैसे ही हल से खेत जोते जाते हैं जैसे सहस्रों वर्ष पूर्व उपलब्ध थे, वैसी ही झोंपड़ियां और वैसी ही शिक्षा आज भी विद्यमान है। भारत औद्योगिक होड़ में पूर्णतः सम्मिलित नहीं हुआ। जीवन को लील जानेवाली प्रतिद्वन्द्विता भारत का आदर्श नहीं रही। उनके अनुसार भारतीय सभ्यता नैतिक जीवन के उत्थान की प्रतीक है जबकि पाश्चात्य सभ्यता ने अनैतिकता का प्रचार किया है।[14]

दार्शनिक तत्व

गांधीजी में ईश्वर-भजन के प्रति आस्था उनके परिवार की वैष्णव साधना एवं उपासना का प्रतिफल थी। उनके द्वारा ईश्वर में दृढ़ आस्था का भाव वैष्णव सम्प्रदाय के प्रभाव से जागृत हुआ। उनका जिज्ञासु मन वेद, उपनिषद्, गीता, वेदान्त एवं धार्मिक ग्रन्थों से प्रेरणा प्राप्त करते हुए जगत की यथार्थता एवं ईश्वर की उपासना में रम गया। उन्होंने रामनाम की महत्ता बताई। उनके राम ऐतिहासिक पुरुष न होकर नित्य, अनादि एवं अद्वितीय ईश्वर थे। गांधीजी ने इस प्रकार अनेक शाश्वत सत्य बिना किसी शास्त्रीय अध्ययन अथवा अभिज्ञता के विश्व के महान् सन्तों एवं मनीषियों की वाणी से सीखे। सूरदास, तुलसीदास, मीरा, नरसी मेहता जैसे वैष्णव भक्तों की भक्ति पूर्ण रचनाएँ, ईसाई तथा मुस्लिम धर्म के भक्तिपूर्ण उपदेश उन्हें अत्यन्त प्रिय थे। नरसी मेहता की अमर कृति "वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे" उन्हें अतीव प्रिय थी। आश्रम-जीवन में तथा अन्य गोष्ठियों में उनके द्वारा भजनों का आयोजन उनकी ईश्वरीय परमतत्व के सान्निध्य रहने की निरन्तर प्रक्रिया थी जिसे गांधीजी ने अपने जीवन का अभिन्न अंग बना दिया था। उनके अनुसार भगवत्-कृपा से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता था। ईश्वर के प्रति समर्पित भाव रखे बिना पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती था। गांधीजी भाग्यवादी नहीं थे। किन्तु वे ईश्वर की कृपा को जीवन की अनिवार्यता मानते थे। वे क्षणभंगुर संसार की स्थिति को बोधगम्य कर दरिद्र एवं असहाय की सेवा में जीवन व्यतीत करना संसार की यथार्थता का कारण मानते थे। उनका जगत् सत्य एवं तेजोमय था। मिथ्या की अव-धारणा से उत्पन्न पलायनवाद अथवा एकान्त ब्रह्म साधना का मार्ग उन्हें रुचिकर नहीं लगा।

गांधीजी ने साकार एवं सगुण ईश्वर का खंडन किया था किन्तु वे अवतारवाद में विश्वास रखते थे। यह मानकर कि ईश्वर सगुण एवं साकार नहीं है, वे मनुष्य रूप में ईश्वर का पृथ्वी पर अवतार स्वीकार कर लेने अवतारी पुरुष को ईश्वर के अत्यन्त समीप देखते थे। उनके मस्तिष्क पर अद्वैत का प्रभाव अंकित था फिर भी वे ईश्वर को सृष्टि का रचयिता मानते थे। सृष्टि को ईश्वर की अभिव्यक्ति मानते हुये भी गांधीजी ने ईश्वर की सत्ता को व्यापक अर्थों में लेकर उसे विश्वव्यापी के साथ-साथ विश्वातीत भी बतलाया। जैन दर्शन के अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की तरह गांधीजी ने सत्य की सापेक्षता का अनुभव करते हुये यह व्यक्त किया कि "मैं ईश्वर को सर्जनशील मानता भी हूँ और नहीं भी मानता। जैन दृष्टि से विचार करने पर मैं ईश्वर की सर्जनशीलता का प्रश्न ही नहीं उठने दूँगा किन्तु रामानुज के दृष्टिकोण से उसे मैं स्वीकार करता हूँ। असल बात तो यह है कि हम अज्ञात और अज्ञेय ब्रह्म को जानना चाहते हैं और इसीलिए हमारी वाणी असमर्थ हो जाती है और अक्सर आत्मविरोधपूर्ण जैसी लगती है। इसीलिए वेदों में ब्रह्म को 'नेति-नेति' कहा गया है। वह एक है, फिर भी अनेक है, वह अणु से भी सूक्ष्म है, किन्तु आकाश से भी महान है।"[15]

गांधीजी का यह कथन अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता एवं आदरभाव की दृष्टि से उपयुक्त था। वे सत्य और अहिंसा का सहारा लेकर सत्य के अनन्त रूपों के प्रति श्रद्धा रखते हुए अपने विरोधियों के प्रति क्रुद्ध होने के बजाय उनको उन्हीं की दृष्टि से समझते

का प्रयास करते थे। साम्प्रदायिक सद्भाव की दृष्टि से उनका यह सहिष्णु दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

गांधीजी ने ईश्वर को सर्वव्यापक, सर्वाधार, साकार, निराकार सभी माना है। ईश्वर के विराट् स्वरूप की कल्पना से वे भाव-विभोर हो उठते हैं, किन्तु उनके विवेचन की यह विशेषता है कि वे ईश्वर के सौम्य रूप के साथ-साथ उसके संहारक रूप को भी दृष्टि से ओझल नही करते। ईश्वर मे आरोपित शुभ-अशुभ के तत्त्व को अपने विवेचन में सम्मिलित कर गांधीजी ने यथार्थवाद को अंगीकार किया है। वैष्णव परम्परा के अनुरूप जहां गांधीजी ने ईश्वर की अनुकम्पा को पूर्ण समर्पण की भावना से प्राप्त किया है, वहीं उनका बुद्धिवादी मानस उन्हें अशुभ की वास्तविकता से विलग नही होने देता, किन्तु उनका विवेक उनकी ईश्वर मे आस्था को निर्बल नही बनाता अपितु कर्मवाद के पापपुण्य के विवेचन की ओर बरबस खींच लेता है। वे अशुभ को मानवीय दुष्कर्मों का परिणाम मानते हैं। वे ईश्वर को धीरता एवम् दुःख की प्रतिमूर्ति मानते है क्योंकि ईश्वर अशुभ का अस्तित्व इस संसार में बनाये हुये है, किन्तु साथ-साथ वह यह भी व्यक्त करते हैं कि ईश्वर संसार मे सर्वाधिक लोकतान्त्रिक व्यक्ति हैं क्योंकि वह हमे शुभ या अशुभ कर्म करने के लिये पूर्णत स्वतन्त्र रखता है। यह गांधीजी की ईश्वर के प्रति अटूट आस्था का ही परिणाम है कि उनको ईश्वर के उपकारी अस्तित्व मे कोई संशय नही।

गांधीजी के जीवन में ईश्वर की धारणा का महत्व रहा है। उन्होंने ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति कर उसके अस्तित्व को स्वीकार किया है और उसे अधिक विवेकयुक्त आधार पर प्रस्तुत करने के लिये सत्य को ईश्वर माना है। गांधीजी का यह प्रयास निरीश्वरवादियों को भी सन्तुष्ट करता है और ईश्वर-सम्बन्धी संकीर्ण धार्मिक कल्पनाओं का निराकरण भी। गांधीजी ने सत्य को ईश्वर मानकर अपने सक्रिय राजनीतिक जीवन मे सभी प्रकार के धर्मावलम्बियो का समर्थन प्राप्त करने में सफलता अर्जित की। उनके अनुसार "जो ईश्वर को प्रेम के रूप मे मानते हैं, उनके साथ मैं भी ईश्वर को प्रेम मानूंगा, किन्तु मेरे अन्तराल मे यह बात बैठ गई है कि ईश्वर चाहे जो कुछ भी हो, ईश्वर सत्य है। किन्तु दो वर्षों बाद एक कदम और भी आगे जाकर मैंने कहा कि 'सत्य ही ईश्वर है'। सत्य-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन प्रेम ही है। मैंने यह भी पाया कि आंग्लभाषा मे प्रेम के अनेक अर्थ हैं। वासना के अर्थ मे पार्थिव प्रेम हमारे पतन का भी द्योतक हो सकता है। अहिंसा के अर्थ मे प्रेम को मानने वाले बहुत ही कम व्यक्ति है, किन्तु सत्य हमेशा एक ही अर्थ मे प्रयुक्त होता आया है। यहां तक की निरीश्वरवादियो को भी सत्य की शक्ति मे विश्वास है। सत्यान्वेषण के भावावेश मे निरीश्वरवादियो ने सत्य के लिए ईश्वर के अस्तित्व को भी अस्वीकार कर दिया, और यही कारण था कि मैंने 'ईश्वर सत्य है' की अपेक्षा 'सत्य ही ईश्वर है' कहना अधिक उचित समझा।"[16]

उपर्युक्त सत्य का निर्वचन गांधीजी की ईश्वरीय अस्तित्व में आस्था का अनुगामी है। इससे कोई विरोधाभास उनके विचारो मे आरोपित नही किया जा सकता, क्योंकि वे सभी धर्म-दर्शनों के मथन के पश्चात् ही अपनी ईश्वर-सम्बन्धी धारणा प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार, यदि हमारा अस्तित्व है और हमारे पिता का और फिर उनके पिता, पितामह, और प्रपितामह आदि का अस्तित्व है, तो फिर हमे सम्पूर्ण जगत्पिता के अस्तित्व को भी

स्वीकार करना ही होगा। विश्व में एक व्यवस्था है, एक अखण्डनीय नियम है जो सबका नियमन और निर्धारण करता है। यह कोई जड़ या अचेतन नियम नहीं है। जड़ नियम चेतन जीवन के आचरण और जीवन का नियमन नहीं कर सकता है। जो नियम सम्पूर्ण प्राणियों के जीवन का निर्धारण और सचालन करता है, वह ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। नियम और नियम-निर्धारक दोनों ही हैं।... ... ईश्वर के विषय में श्रुति-वचन सभी देशों एवम् सभी सम्प्रदायों में उनके ऋषि-मुनियों की अविच्छिन्न परम्परायें और उनकी धार्मिक अनुभूतियों में मिलते हैं। मैं उन करोड़ों बुद्धिमान व्यक्तियों में हूँ जो ईश्वर में विश्वास रखते हैं। एक अवर्णनीय रहस्यमय शक्ति सब जगह व्याप्त है। मैं उसको देखता नहीं हूँ, किन्तु उसका अनुभव करता हूँ। वह एक अदृश्य शक्ति है, जिसकी सत्ता का हम सभी अनुभव करते है, फिर भी वह सभी प्रमाणों से परे है; क्योंकि वह उन सबों से भिन्न है, जिनको हम इन्द्रियों से प्रत्यक्ष करते हैं। वह इन्द्रियातीत है।"[17] पुनश्च, "जो केवल बुद्धि को तुष्ट करे वह ईश्वर नहीं है। ईश्वर तो हृदय का सम्राट है और वह उसको प्रभावित करता है। सृष्टि की हर महानता में हमें उसके दर्शन होते हैं। जो व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण चाहे, उसे वह ईश्वर के प्रति जीवित विश्वास में मिलेगा। चूंकि विश्वास का कोई बाहरी प्रमाण नहीं हो सकता है, इसलिए सबसे सुन्दर बात तो यही है कि हम विश्व की नैतिक व्यवस्था में विश्वास रखते हुये सत्य और प्रेम आदि नैतिक नियमों की श्रेष्ठता को स्वीकार करें।"[18]

धर्म

गांधीजी ने सभी धर्मों के प्रति समभाव रखने का आग्रह किया है। वे धर्म को व्यक्तिगत वस्तु मानते हैं। उनके अनुसार सभी धर्म सच्चे हैं। कर्मकाण्ड तथा अंधविश्वासों के कारण सभी धर्मों में थोड़ी-बहुत बुराइयाँ विद्यमान हैं; अतः आवश्यकतानुसार बुद्धि का प्रयोग कर धर्म की अच्छाइयों को स्वीकार करना तथा बुराइयों का त्याग करना चाहिये। वे हिन्दू धर्म को अपनत्व की दृष्टि से देखते हुये भी अन्य धर्मों के प्रति भ्रातृत्व का ही उद्देश्य प्रस्तुत करते हैं। उन्हें धर्म-परिवर्तन के विचार से अरुचि है। वे हृदय-परिवर्तन के बिना धर्म-परिवर्तन का प्रयास व्यर्थ ही मानते हैं। ईसाई धर्म-प्रचारकों के द्वारा भारत में धर्म-परिवर्तन के किये प्रयासों के सम्बन्ध में उन्होंने यह कहा कि ईसाई धर्म-प्रचारक भारत में हिन्दुओं को अच्छे हिन्दू तथा अच्छे मानव बनायें। उनके अनुसार धार्मिक सहिष्णुता एवम् मैत्री भाव का यही लक्ष्य होना चाहिये कि किस प्रकार एक हिन्दू को अच्छा हिन्दू, एक मुसलमान को अच्छा मुसलमान तथा एक ईसाई को अच्छा ईसाई बनाया जाय।

गांधीजी ने ईश्वर की आकार सत्ता को स्वीकार करते हुए प्रत्येक के अन्तःकरण में ईश्वर का वास माना है। उनके अनुसार ईश्वर को जीवन में स्वीकार करना ही सच्चा धर्म है। धर्म का सार नैतिकता में विद्यमान है। सच्ची नैतिकता और सच्चा धर्म एक दूसरे के साथ इस प्रकार से गुंथे हुये हैं कि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। धर्म नैतिकता की अनिवार्य शर्त है। नैतिकता पुनः धर्म की सहयोगी है। भगवद् साधना में धर्म की आत्मा निहित है। ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव रखना तथा प्रार्थना द्वारा आत्म विश्लेषण तथा आत्म निरीक्षण करते हुये ईश्वर से मार्ग दर्शन प्राप्त किया जा सकता है। वे निष्काम कर्म से मोक्ष प्राप्ति के मार्ग का अवलम्बन करना चाहते हैं। उनके अनुसार सच्चा मोक्ष

सासारिक यथार्थ से पलायन करना नही, अपितु स्वार्थ एव निम्न स्तर के मनोभावो से मुक्त होने में है। उनके अनुसार सभी धर्मो का एक समान नैतिक आधार है जिसे हम विश्वधर्म कह सकते हैं। धर्मो की आधारभूत एकता की अनुभूति एव एक सामान्य निरपेक्ष सत्य का दर्शन करने के पश्चात् साम्प्रदायिक धर्मों की उलझन से ऊपर उठा जा सकता है। वे हिन्दू धर्म की सहिष्णुता एव मानव प्रेम सम्बन्धी अच्छाइयो को स्वीकार करते हुए भी हिन्दू धर्म में अन्तर्निहित दोषो का निवारण करने के लिए कृत सकल्प हैं। यद्यपि हिन्दू धर्म एक विराट् शक्तिशाली प्राचीन वृक्ष के समान अनेकानेक शाखाओं एवम् उप-शाखाओ का समूह है, फिर भी वह किसी रूढ़ि विशेष से बधा हुआ नही है। गांधीजी हिन्दू धर्म को उन्मुक्त एव विकासमान धर्म मानते हुये उसे समय के साथ सुधारो द्वारा परिष्कृत करने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। उनका हिन्दू धर्म के प्रति विशेष मनोवैज्ञानिक आकर्षण उनके सामाजिक एव सास्कृतिक परिवेश के औचित्य निर्धारण के विचार से मेल खाता है। प्रत्येक व्यक्ति का मानस आनुवंशिक गुणो एव पर्यावरण सम्बन्धी तत्वो के मध्य विकसित होता है। गाधीजी के आध्यात्मिक विचारो का उद्गम भारतीय परिवेश है। गीता, उपनिषद् तथा तुलसीकृत रामचरित मानस से प्रेरणा प्राप्त कर उन्होंने अपने आध्यात्मिक विचारो को इतना पुष्ट किया है कि वे सकीर्णता एव देश-काल के बधन से मुक्त हो मानव-धर्म की सीमा में प्रविष्ट हो चुके है।

प्रकृति प्रेम

गांधीजी ने प्रकृति में ईश्वर का दर्शन कर अपने आपको प्रकृति से अत्यधिक निकट रखने का प्रयास किया है। वे प्रकृति में व्याप्त ईश्वर का विराट् स्वरूप देखते हुये मन तथा प्राण का सुन्दर समन्वय सौन्दर्य बोध में पाते हैं। प्रकृति से मानव का काव्यगत सौन्दर्य प्रस्फुटित हुआ है। प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर सुरम्य हिन्दू तीर्थ-स्थलो को देखकर गांधीजी ने व्यक्त किया कि "प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अपने पूर्वजो की सवेदनशीलता तथा सौन्दर्य के साथ धार्मिक भावना जोडने की दूर-दृष्टि का अनुमान कर सचमुच मैं उनके सामने श्रद्धा से नतमस्तक हो गया।" गाधीजी की प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति मे अपनी अटूट आस्था भी प्रकृति के प्रति उनके अनन्य प्रेम की परिचायक है। उन्होंने आरोग्य दर्शन मे प्राकृतिक आहार-विहार के सम्बन्ध मे उनके अनुभवो का वर्णन किया है। वे मानव को प्रकृति की ओर लौटाना चाहते हैं ताकि *मिथ्या आहार-विहार का त्याग कर* प्रकृति-प्रदत्त स्वास्थ्य प्राप्त किया जा सके। वे प्रकृति की नियमबद्धता के कायल है। प्रकृति के प्रखण्ड नियमो से सचालित मानव जगत उन्हें समस्त व्यवस्था के पार्श्व मे ईश्वरीय शक्ति का बोध कराता है। प्रकृति के नियमो को तोडना दण्ड का कारण बन जाता है। उन्होंने बिहार में आये भयकर भूकम्प को समाज मे व्याप्त अस्पृश्यता का ईश्वरीय दण्ड-विधान माना। उनके शब्दो में 'मैं उस हद तक अधविश्वास स्वीकार करता हू जिसके अनुसार मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि राष्ट्र को अपने सारे पापो का फल स्थूल रूप से भोगना पडता है। हमारी यह दासता हमारे सारे सचित पापो का ही दण्ड है।" वे व्यक्ति को प्राकृतिक नियमो के अनुसार जीवन-यापन करते देखना चाहते हैं ताकि व्यक्ति सदैव सुखी, समृद्ध एव स्वस्थ रह सके। प्रकृति के नियमो को मनुष्य-प्रेम तथा विवेक के अपने आन्तरिक भावो से जानते हुये ईश्वर के सान्निध्य का आभास प्राप्त कर सकता है। प्रकृति

की अवर्णनीय एवम् रहस्यमय घटनाओं का समाधान विवेक अथवा विज्ञान से सम्भव नहीं। गांधीजी प्रकृति के गूढ़ रहस्य को ईश्वर की माया का ही प्रतिरूप मानते हैं।

जीवन तथा ब्रह्म

गांधीजी ने अद्वैतवादी विचारधारा के अनुरूप चिन्तन प्रस्तुत करते हुये भी अपने आपको शंकराचार्य के मायावाद से दूर रखा है। उनका अद्वैतवाद उनके पारिवारिक प्रभावों के कारण वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत के काफी निकट दिखाई देता है। वे ईश्वर को प्रभु एवं भक्त को ईश्वर का दास मानते हैं। वे जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं। वे अवतारवाद को भी स्वीकार करते हैं। ईश्वर को एक मानते हुये समस्त मानवता की आधारभूत एकता में पूर्ण निष्ठा प्रकट करते हैं। वे कहते हैं "हमारे शरीर अलग-अलग हैं किन्तु हमारी आत्मा तो एक है। यह ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार सूर्य की रश्मियां अपवर्तन के प्रभाव से विभिन्न रंगों की दिखती हैं किन्तु वास्तव में उन सबों का स्रोत एक ही है।"

गांधीजी ने भाग्यवादिता में विश्वास न कर यह माना है कि ईश्वर ने मानव को संकल्प-स्वातंत्र्य दिया है। व्यक्ति अपने विवेक तथा बुद्धिबल का प्रयोग कर आगे बढ़ने का प्रयास कर सकता है। वे मानते हैं कि मानव का समस्त पुरुषार्थ उसके उत्कर्ष के लिए है, न कि अपकर्ष के लिये। व्यक्ति सत्य का अनादर, अन्तरात्मा की उपेक्षा एवं इन्द्रिय सुख-वासनाओं का शिकार बनकर पशुवत् आचरण करने लग जाता है। आत्मसंयम पशु तथा मनुष्य में अन्तर का प्रतीक है। मनुष्य आत्म-संयम, प्रेम तथा अच्छाई का अनुकरण कर कैवल्य प्राप्त कर सकता है। मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता है। यदि व्यक्ति अपनी बुद्धि, अपने अन्तर्विवेक अथवा अन्तरात्मा की आवाज के अनुसार अपना जीवन निर्धारित कर बंधुत्व की भावना से जीवन व्यतीत करे, तो उसे इसी धरा पर ईश्वर का साक्षात्कार हो सकता है। ईश्वर-भक्ति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति मानव सेवा ही है। यह कर्म द्वारा सत्य की साधना है। ईश्वर साक्षात्कार के लिए हम ईश्वर को उसी की सृष्टि में खोजकर उससे तादात्म्य स्थापित करें। आत्मा तथा मानवता में ईश्वर का दर्शन ब्रह्म-साधना का श्रेष्ठ मार्ग है।

गांधीजी के चिन्तन का नैतिक आधार

गांधीजी ने नैतिकता को जीवन के मूल आधार के रूप में स्वीकार किया है। व्यक्ति ईश्वर को अन्यत्र नहीं, किन्तु अपने आपमें पा सकता है। व्यक्ति स्वयं दैवी गुणों से युक्त है। सत्यान्वेषण, तपस्या, आत्म-संयम तथा इन्द्रिय-निग्रह से व्यक्ति बुराइयों के ऊपर उठकर अपना चरम विकास प्राप्त कर सकता है। आत्म-विजय प्राप्त करने के लिए सामान्य व्यक्ति को किसी उच्च आदर्श की ओर प्रवृत्त होना आवश्यक है, अन्यथा उसका जीवन नीरस एवं क्लान्त हो जायेगा। इस कार्य के लिए मनुष्य को भौतिक एवं नैतिक प्रगति का समन्वय करना होता है। व्यक्तिगत एवं सामाजिक हित का समन्वय सर्वभूतहित अर्थात् सभी के कल्याण की प्रेरणा प्रस्तुत करता है तथा मानव को ईश्वरतुल्य बना देता है। मनुष्य जब तक ईश्वरतुल्य नहीं बन जाता, तब तक उसे शान्ति नहीं मिल सकती। इस स्थिति की प्राप्ति का प्रयास ही सर्वोच्च एवं एकमेव महत्त्वाकांक्षा है।[19] इस प्रकार मानव की नैतिक प्रवृत्ति प्रयोजन से प्राप्ति तथा सम्भावना से वास्तविकता की ओर सतत परिवर्तन की परिचायिका है। धर्म भी नैतिक नियम का पर्यायवाची है। धार्मिक व्यक्ति

यही है जो नैतिकता के मनुष्य जीवन जीता है।

गांधीजी ने नैतिकता को आन्तरिक स्वीकृति पर आधारित माना है। नैतिक लक्ष्यों से प्रेरित मानव स्वेच्छा से अपने स्वधर्म का पालन करता है। वह बाह्य पुरस्कार अथवा भौतिक उपलब्धियों के लिए ऐसा नहीं करता। उसकी आत्मा उसे कर्तव्य पूरा करने के लिए प्रेरित करती है। उनके अनुसार व्यक्तिगत तथा सामाजिक हित में कोई भेद नहीं है। मानव जब तक केवल अपने सुख के लिए जीता है वह बर्बर से भी अधिक बुरा है। जब वह परिवार के कल्याण के लिए कार्य प्रारम्भ करता है तब वह बर्बरता से ऊपर उठने लगता है। जब वह सारे समाज तथा समुदाय को अपना परिवार समझने लगता है तब वह और भी आगे बढ़ जाता है। वह अत्यधिक आगे बढ़कर बर्बर कही जाने वाली जातियों को भी अपने परिवार के समान स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार व्यक्ति अपने समाज के कल्याण के लिए किये गए कार्यों के अनुपात में महान् बनता है।[10]

अहिंसा

नैतिकता के विषय में गांधीजी ने अहिंसा को अत्यधिक महत्त्व दिया है। अहिंसा सर्वोच्च धर्म तथा सर्वोच्च नैतिकता है। ईश्वर और सत्य को समझने और प्राप्त करने के लिये प्रेम सबसे बड़ा साधन है। अहिंसा को भावात्मक रूप से हम प्रेम भी कह सकते हैं। प्रेम के माध्यम से ही जीवात्मा अपने क्षुद्र स्वार्थ को छोड़ता जाता है। यह मेरे-तेरे का भेद मिटाता है और व्यक्ति को त्याग और परोपकार की ओर अधिक से अधिक ले जाकर अंत में सर्वव्यापी ईश्वर के समीप ला देता है। मानव के अन्दर प्रेम सचमुच एक दैवी नियम है। मानो, प्रेम के रूप में परमात्मा का ही मानव हृदय में निवास होता है। इस ईश्वरीय गुण के बिना मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थों में ही लीन रहता है। जो शक्ति प्रेम में है वह और किसी में नहीं। इसलिये जो काम बड़े से बड़े तर्क और बल प्रयोग से नहीं हो सकता वह सहज ही प्रेम के द्वारा सिद्ध हो सकता है। अपने मानव बन्धुओं के प्रति हमारे कर्त्तव्य के मूल में भी प्रेम ही है। प्रेम भावना के कारण हमारा कर्त्तव्य पालन भी सुखद हो जाता है। प्रेम का हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश है। यह हमारा जीवन रागमय और संगीतमय बना देता है।

ज्ञान

गांधीजी ने नैतिकता की साधना के लिये ज्ञान को भी स्वीकार किया है। ज्ञान के बिना नैतिकता के नियमों का पालन अंधानुकरण मात्र रह जाता है। ज्ञान द्वारा आत्म-विश्लेषण का विकास होता है। स्वार्थ तथा परमार्थ का अंतर करने में सहायता मिलती है। आत्म-शुद्धि के लिये भी ज्ञान की आवश्यकता रहती है, किन्तु केवल आत्म-विश्लेषण पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। मनुष्य को अपने बारे में उस तरह से भी देखना और सोचना चाहिये जैसा दूसरे लोग उस मनुष्य के बारे में सोचते हैं। इस प्रकार नैतिकता में मनुष्य का चेतन मस्तिष्क कार्य करता है। ज्ञान के प्रयोग के बिना बाह्य अनिवार्यता से किया गया कार्य नैतिक नहीं होता। गांधीजी के अनुसार 'कोई काम तभी नैतिक कहा जा सकता है जब हम उसे सोच-समझकर कर्त्तव्य-भावना से करते हैं। जो काम भय या बल-प्रयोग के कारण होता है वह कदापि नैतिक नहीं कहा जा सकता।'

से चरखा कातने, शिक्षण सबंधी कार्य करने तथा अन्य उपयोगी सामाजिक तथा राजनीतिक कार्य करने की अनुशासित दीक्षा इन आश्रमवासियों को दी गयी। गांधीजी ने इस प्रकार से आश्रमवासियों को सामाजिक सेवा का प्रशिक्षण देकर उन्हें स्वावलम्बन, सादगी तथा पवित्रता का आगार बना दिया ताकि वे दम्भ ईर्ष्या, विलासिता तथा ऐश्वर्य से दूर रहकर भारत के निर्धन से निर्धन व्यक्ति की सेवा करने के लिये तत्पर रहें। गांधीजी ने एक सरदार के रूप में अपनी कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं आने दिया। वे स्वयं कुष्ठ रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करने तथा रोगियों के घाव धोने आदि कार्यों से भी नहीं हिचकिचाये।

आश्रमवासियों के लिए गांधीजी ने निम्न प्रतिज्ञायें निर्धारित की

1 सत्य

गांधीजी सत्य को जीवन के शाश्वत नियम के रूप में अंगीकार करते है। भक्त प्रह्लाद जिसने सत्य की रक्षार्थ अपने पिता का विरोध किया, गांधीजी की प्रेरणा का स्रोत है। प्रह्लाद ने सत्य के लिये अपने पिता द्वारा दी गयी नृशंस यातनाओं को शांत भाव से सहन किया। अंत में सत्य की ही विजय हुई। प्रह्लाद ने न जीवन का मोह किया, न मृत्यु की चिंता। वह सत्य से विचलित नहीं हुआ। गांधीजी इसी प्रकार के सत्याग्रह का अनुगमन चाहते हैं। वे आश्रमवासियों को यह शिक्षा देते हैं कि जब हम 'नहीं' कह दें तो फिर उस पर भी अडिग रहें, चाहे उसके कुछ भी परिणाम क्यों न हों।

2 अहिंसा

गांधीजी के लिये अहिंसा का अर्थ केवल हिंसा न करने तक ही सीमित नहीं है। उनके अनुसार अहिंसा का अर्थ है मनसा, वाचा, कर्मणा किसी के प्रति बुराई का भाव न रखना। अहिंसक व्यक्ति की किसी से शत्रुता नहीं होती। कुछ ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं जो फिर भी उस अहिंसक व्यक्ति के प्रति शत्रुता का भाव रखते हों। ऐसे व्यक्तियों के लिए भी कोई बुराई की भावना नहीं होनी चाहिये। यदि चोट करनेवाले पर चोट की जाय, तो फिर अहिंसा कहां होगी? इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अहिंसा में विश्वास रखनेवाला भीरुता के कारण आत्म-समर्पण कर दे। यद्यपि अहिंसा का जीवन में प्रयोग इतना सरल नहीं है जितना दिखाई देता है। यह एक लक्ष्य है जिसे जीवन में प्राप्त करना चाहिये। इस लक्ष्य की प्राप्ति के पश्चात् सारा विश्व व्यक्ति के चरणों में आ जाता है। आततायियों से अन्यों की रक्षा करने के स्थान पर स्वयं आततायियों के समक्ष जीवन अर्पित कर देना चाहिये। जीवन की इस अहिंसक योजना में देशभक्ति के नाम पर यूरोप में होने वाले युद्धों का कोई स्थान नहीं होगा।

3. ब्रह्मचर्य

गांधीजी के अनुसार जो व्यक्ति राष्ट्रीय सेवा करना चाहते हों, आध्यात्मिक जीवन जीना चाहते हों, उन्हें पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये चाहे वे विवाहित हों अथवा अविवाहित। विवाह केवल स्त्री को पुरुष के निकट लाने की स्थिति है जिसमें वे एक विशेष अर्थ में मित्र बन जाते हैं। यह मैत्री इस जीवन में तथा उसके बाद भी कभी टूटती नहीं है। विवाह की धारणा में कहीं भी भोग-विलास को प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिये। स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ही स्थापित

होने चाहिये, न कि भोग-विलास के लिये। इस प्रकार गांधीजी ने विवाह की पवित्रता को सुरक्षित कर स्त्री-पुरुष को ब्रह्मचर्य का पालन करने का आह्वान किया है। आश्रमवासियों के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना एक अनिवार्य प्रतिज्ञा है।

4 रसना पर नियंत्रण

गांधीजी ने सादा भोजन करने का सुझाव दिया है ताकि भोजन का उद्देश्य शरीर को स्वस्थ रखने के लिये हो, न कि रसना के सुख के लिये। उन्होंने इसके लिये उपवास का भी सुझाव दिया है। वे ऐसा अनुशासन चाहते है जिससे मन का शरीर पर नियन्त्रण रहे और हम स्वयं उन वस्तुओं के प्रति विरक्त हो जो शरीर के लिये उपयोगी नहीं हैं। भोजन में सादगी के लिये गांधीजी ने फलाहार तथा दूध का प्रयोग सुझाया है। वे प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति में विश्वास रखते है। अतः आहार पर उनका विशेष ध्यान रहा है। वे मांसाहार को शरीर के लिये उचित नहीं बतलाते। शुद्ध शाकाहारी सादा भोजन का उन्होंने समर्थन किया है।

5. अभय

गांधीजी ने सत्य तथा अहिंसा के निमित्त अभय को महत्वपूर्ण माना है। भय असत्य तथा हिंसा का मूल है। कायरता भी भय की उपज है। सत्य और अहिंसा का प्रयोग निर्भीक व्यक्ति ही कर सकता है। पाशविक शक्ति ही बल का प्रतीक नहीं होती। सच्ची शक्ति निर्भीक होने में है। अभय आत्मशुद्धि का मार्ग है। स्वराज्य का वास्तविक आधार भयरहित जीवन है। जब तक भारतवासियों में दासता की वृत्ति रहेगी और आत्मविश्वास की कमी रहेगी, तब तक स्वराज्य की स्थापना नहीं हो सकती; अतः गांधीजी ने भय से मुक्त होने पर विशेष जोर दिया है। अभय का अर्थ है सभी प्रकार के बाह्य भय से मुक्ति। रोग, प्रहार, मृत्यु, सम्पत्ति-नाश, अपमान आदि से भयमुक्त होना सच्ची निर्भीकता है। शरीर के प्रति मोह न रखने से भयरहित हुआ जा सकता है। हमें अपनी तृष्णाओं पर नियन्त्रण करना चाहिये। इन्द्रिय-निग्रह करके स्थितप्रज्ञ की स्थिति प्राप्त करना हमारा लक्ष्य होना चाहिये। आत्मा की सच्ची अनुभूति के बिना यह संभव नहीं। अन्तःकरण की प्रेरणा के अनुसार जीवन को ढालना तथा प्रार्थना के माध्यम से ईश्वर की ओर प्रवृत्त होना निर्भयता का ही मार्ग है।

6 अस्तेय

अस्तेय व्रत का आधार है चोरी न करना तथा जब तक कोई वस्तु किसी के द्वारा हमको दी न जाय, उसे नहीं लेना। सत्य तथा मानव-प्रेम के प्रति आसक्त व्यक्ति को अस्तेय का पालन करना चाहिए। गांधीजी ने इसे एक नया अर्थ दिया है और माना है कि अस्तेय केवल चोरी न करने अथवा किसी की वस्तु को न हड़पने तक ही सीमित नहीं है। अस्तेय का अर्थ है ऐसी वस्तु का त्याग जिसे व्यक्ति आवश्यकता न होते हुए भी प्राप्त कर रहा है। उनके अनुसार पिता द्वारा चोरी छिपे किसी वस्तु को खाना, अपने बालकों से छिपकर कोई कार्य करना, अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना, दूसरों की सम्पत्ति पर कुदृष्टि रखना, भविष्य में प्राप्त होने वाली वस्तुओं के लिये मंसूबे बनाना, दूसरे की वस्तु को अपनी बतलाना आदि ऐसे शारीरिक एवं मानसिक अपराध है जो अस्तेय व्रत के सर्वथा विरुद्ध है।

7 अपरिग्रह

अपरिग्रह अस्तेय का ही व्यापक रूप है। अनावश्यक रूप से कोई वस्तु लेना या रखना भी चोरी ही है। चुरायी हुई नहीं भी हो तब भी अनावश्यक वस्तु का परिग्रह बुरा है। इस व्रत का आदर्श है दैनिक उपयोग की वस्तुओं का अनुचित संग्रह रोकना तथा आज की जो जरूरत हो उतना ही संग्रह करना। अपरिग्रह भौतिक वस्तुओं पर निर्भर न रहने की स्थिति का बोध कराता है। गांधीजी के अनुसार अहिंसा तथा परिग्रह दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। यद्यपि पूर्ण अपरिग्रह एक आदर्श है और उस आदर्श तक पहुंचना असंभव दिखाई देता है, फिर भी हमें निरंतर इस आदर्श की ओर बढ़ना चाहिये। प्रारंभ में परिग्रह का त्याग शरीर से वस्त्र उतारने के समान नहीं, अपितु शरीर की अस्थियों पर से मांस उतारने के समान लगता है किन्तु अपरिग्रह का निरन्तर प्रयास पृथ्वी पर समानता की स्थापना करने का निश्चित मार्ग है। गांधीजी के अनुसार "सिद्धान्त रूप से, जब अहिंसा पूर्ण हो सकती है तो अपरिग्रह भी पूर्ण होगा। हमारा यह शरीर, अंतिम परिग्रह है। इसीलिये जो व्यक्ति पूर्ण अहिंसा की साधना करेगा, उसे मानव-सेवा के लिए अपना अंतिम बलिदान करने के लिए और मृत्यु का वरण करने के लिए भी तैयार रहना होगा।" यद्यपि गांधीजी ने स्वीकार किया है कि शारीरिक तथा सांस्कृतिक सुख की कुछ मात्रा सत्याग्रही के नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक है, किन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति एक निश्चित सीमा का अतिक्रमण करनेवाली न हो अन्यथा यह शारीरिक एवम् बौद्धिक लोलुपता में परिवर्तित हो जायगी और सत्याग्रही के लिए समाज सेवा के मार्ग में बाधक सिद्ध होगी। गांधीजी सत्य एवम् अहिंसात्मक पद्धतियों से व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था को ही समाप्त कर देना चाहते हैं, लेकिन उचित परिस्थितियों के अभाव में वे सम्पत्ति का अधिकार सर्वजनहिताय सम्पत्ति के न्यासी के रूप में प्रयुक्त करने पर उचित मानते हैं।

गांधीजी ने अपरिग्रहव्रत का पालन इस कारण नहीं सुझाया कि वे निर्धनता के आदर्श अथवा साधुवृत्ति को थापना चाहते हैं। अपरिग्रह से उनका वास्तविक तात्पर्य स्वैच्छिक निर्धनता से है। एक निर्धन व्यक्ति स्वैच्छिक निर्धनता का पालन करने की सामर्थ्य नहीं रखता, किन्तु धनाढ्य व्यक्ति के लिये स्वैच्छिक निर्धनता आदर्श है। इसके माध्यम से वह समाज में आर्थिक समानता स्थापित करने में सहायक बन सकता है। सामान्य व्यक्ति के लिये अपरिग्रह दैनिक उपभोग की वस्तुओं तथा विलासिता पर नियन्त्रण एवं अपनी आवश्यकताओं को कम करके सादगीपूर्ण जीवन जीने का आदर्श है। स्वयं गांधीजी ने अपरिग्रह का जीवन-पर्यन्त पालन किया और अत्यन्त सादगीपूर्ण जीवन जीया। वे भारत की गरीब जनता के समकक्ष रहकर उनकी सेवा करना चाहते थे। सत्याग्रही के लिये अपरिग्रह की दोहरी आवश्यकता है क्योंकि अपनी इच्छाओं तथा संग्रह की प्रवृत्ति का त्याग किये बिना जन-सेवा का व्रत पूरा नहीं हो सकता। अतः गांधीजी के अपरिग्रह की धारणा आत्मशक्ति का स्रोत है। आत्मिक एकता तब तक अनुभव नहीं होती, जब तक देह की तृष्णाओं पर नियन्त्रण तथा उनका विसर्जन न कर लिया जाय। उनके अनुसार परिग्रह वस्तुतः भविष्य की दृष्टि से किया जाता है। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। वह अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को दिन-प्रतिदिन उत्पन्न करता है। अतः ईश्वर पर विश्वास रखने

वाले व्यक्ति को यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि ईश्वर हमें आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करता को है और निरन्तर प्रदान करता रहेगा। अतः परिग्रह करने का विचार ईश्वर को नम्रता चुनौती है। सभी वस्तुएँ ईश्वर की दी हुई हैं। व्यक्ति का कुछ भी नहीं है, उसका स्वयं का शरीर भी उसका अपना नहीं है। व्यक्ति को सदा ईश्वर के प्रति समर्पण-भाव रखना है। परिग्रह असत्य एवं हिंसा का मूल है। भौतिक सम्पत्ति का संग्रह व्यक्ति को आत्मिक दृष्टि से गिराता है और अपनी सम्पत्ति की रक्षार्थ हिंसक उद्वेगों की ओर प्रवृत्त करता है। गांधीजी की मान्यता है कि मनुष्य ईश्वर तथा कुबेर की एक साथ आराधना नहीं कर सकता। सत्य तथा अहिंसा का पूर्ण पालन अपरिग्रह के बिना असम्भव है।

8 कायिक श्रम

कायिक श्रम अथवा रोटी-रोजी का श्रम गांधीजी ने अस्तेय के सिद्धान्त के अनुरूप तथा अपरिग्रह की अनुभूति का साधन माना है। रोटी-रोजी (ब्रेड-लेबर) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम एक रूसी लेखक बोन्डेरिफ ने किया और बाद में टालस्टाय तथा रस्किन के द्वारा इसका व्यापक प्रचार किया गया। गांधीजी ने टालस्टाय तथा रस्किन से प्रभावित होकर इसका आश्रमवासियों के लिये प्रयोग किया। गांधीजी स्वयं नियमित रूप से चर्खा कातते थे और कायिक श्रम से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। कायिक श्रम का आधार-भूत सत्य है स्वयं के शरीर द्वारा श्रम के माध्यम से अपनी आजीविका कमाना। रोटी व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं की प्रतीक है। दूसरों के श्रम से आर्थिक लाभ प्राप्त करना चोरी है। जो कायिक श्रम नहीं करते, वे गरीब व्यक्तियों के श्रम का अनुचित लाभ उठाते हैं और उन्हें शोषण के रूप में प्रयुक्त करते हैं। भोजन व्यक्ति की प्राथमिक आवश्यकता है, अतः गांधीजी ने कृषि को कायिक श्रम का आदर्श रूप माना है। यदि कृषि का कार्य सम्भव न हो तो व्यक्ति अन्य प्रकार के कायिक श्रम का पालन कर उत्पादक शारीरिक श्रम करे जैसे-कातना, बुनना, बढ़ईगिरी, लुहारी का काम आदि। गांधीजी ने चर्खे का प्रयोग इसी कारण किया है कि कताई कृषि से भी अधिक लोकप्रिय बनाई जा सकती है। सत्या-ग्रही के लिये चर्खा कातना स्वैच्छिक कायिक श्रम है। कताई का महत्व गांधीजी ने इस कारण भी माना है कि चर्खे द्वारा ग्रामीण भारत की जनता न्यूनतम धन से अधिक से अधिक संख्या में लाभान्वित हो सकती है। चर्खा करोड़ों भारतीयों की आजीविका का सहारा बन सकता है और प्रत्येक के जेब तक धन पहुँच सकता है। गांधीजी ने भारतीय राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आंदोलन में चर्खे को लोकप्रिय बनाकर उसे अहिंसा का भी प्रतीक बना दिया है। चर्खा शोषण नहीं करता तथा आबालवृद्ध का आर्थिक सहारा बनता है। कायिक श्रम में बौद्धिक श्रम को सम्मिलित नहीं किया गया। देह की आवश्यकतायें देह से ही पूरी होनी चाहिये। केवल बौद्धिक श्रम आत्मा के आनन्द के लिये है, अतः इसे पारिश्रमिक-अर्जन का साधन नहीं मानना चाहिये। कायिक तथा मानसिक श्रम दोनों ही प्रेम की भावना से समाज-हित में प्रयुक्त किये जाने चाहिये। गांधीजी इनके माध्यम से अपरिग्रह की साधना सुलभ मानते हैं। कायिक श्रम बड़ी मात्रा में उत्पादन करने के दोषों से मुक्ति दिलाता है। किन्तु गांधीजी कायिक श्रम को स्वैच्छिक रखना चाहते हैं, न कि अनिवार्य। अनिवार्य कायिक श्रम व्यक्ति के जीवन को नीरस बनाकर उसके उदात्त भावों को लील जाता है और निर्धनता, रोग तथा असन्तोष को जन्म देता है। अधिक कायिक

ताकि सहिष्णुता एवं निज धर्म का सामंजस्य विकृत न हो जाय।

11 तेजस्विनी नम्रता

गांधीजी ने सत्याग्रही के लिये नम्रता को जीवन में आत्मसात् करने का सन्देश दिया है। नम्रता के लिए उपाय करने का प्रयास दम्भपूर्ण माने में आता है। नम्रता स्वयं विकसित होती है यदि हम सत्य तथा सेवा की भावना से जीवन को आत्मसात् कर लें। ईश्वर के प्रति स्वयं का सेवामय जीवन समर्पित करने पर अभिमान की समाप्ति हो जाती है। अभिमान रहित होने पर ही तेजस्विनी नम्रता का उदय होता है। स्वार्थ परमार्थ में रूपान्तरित होकर निःस्वार्थ कर्म की ओर प्रेरित करता है। गांधीजी के अनुसार सत्याग्रही में विनम्रता का अभाव उसे आग्रह की ओर प्रवृत्त नहीं होने देगा। मन अपने आपको शून्यमय पाकर ही सम्पूर्ण सत्ता का बोध कर पाता है। गांधीजी के अनुसार "सेवामय जीवन नम्रता से भरा होता है। सच्ची नम्रता सम्पूर्ण रचनात्मक भावना से किया गया पूर्ण कर्मठता एवं निरन्तर कर्मयोग है। ईश्वर अविराम कर्मरत है। इसलिए यदि हम उसकी भक्ति करना चाहें अथवा उसमें विलीन हो जाना चाहें तो हमें भी निरन्तर कर्म की साधना करनी होगी।" अतः सच्ची विनम्रता का अर्थ है मानवता की सेवा के निमित्त की गई कठोर एवं निरन्तर साधना।

साधन तथा साध्य

गांधीजी ने हिन्द स्वराज में साधन तथा साध्य की विवेचना करते हुए लिखा है कि साधन यदि बीज माना जाय तो साध्य वृक्ष के समान है। जिस प्रकार से साधन एवं साध्य के मध्य अन्तःसम्बन्ध है, उसी प्रकार का सम्बन्ध वृक्ष तथा बीज के मध्य है। शैतान की साधना करके ईश्वर की आराधना का फल प्राप्त नहीं हो सकता। हम जैसा बोते हैं, वैसा ही पाते हैं। साधन केवल साधन मात्र नहीं, अपितु सर्वस्व है। हिंसक साधना से हिंसक स्वराज ही प्राप्त होगा। ऐसा स्वराज न केवल भारत अपितु समस्त विश्व के लिये खतरनाक सिद्ध होगा। भारत ने अपनी स्वतन्त्रता अहिंसक साधना से प्राप्त की थी। वह आज भी हिंसात्मक साधनों का मूल्य चुका रहा है। साधन तथा साध्य के मध्य विभाजन की कोई दीवार नहीं है। विधाता ने हमें साधनों पर सीमित नियन्त्रण प्रदान किया है किन्तु साध्य हमारे नियन्त्रण से परे है। साध्य की प्राप्ति साधना के अनुपात में ही होती है। इस प्रतिपादन का कोई अपवाद नहीं है। यही कारण है कि भारत में शान्तिपूर्ण एवं वैधानिक साधन पर इतना जोर दिया गया है। गांधीजी अपने जीवन-दर्शन में साधन तथा साध्य को एक दूसरे का पूरक मानते हैं। यह कहना सरल है कि हम पाप से घृणा करनी चाहिये, न कि पापी से, किन्तु व्यवहार में इसका प्रयोग करना कठिन है। किसी व्यवस्था का विरोध करना आसान है किन्तु उस व्यवस्था के निर्माता का विरोध करना अपना स्वयं के विरोध के समान है। चूंकि हम सभी एक ही स्रष्टा की कृतियाँ हैं हममें दैवी शक्ति समाहित है। किसी व्यक्ति को दुःख पहुँचाकर हम उस व्यक्ति को ही हानि नहीं पहुँचाते अपितु समस्त विश्व को हानि पहुँचाने का कार्य करते हैं।[22]

सत्याग्रह

गांधीजी के अनुसार सत्याग्रह करनेवाला व्यक्ति निर्भीक होता है। उसके मस्तिष्क में भय का लेशमात्र न होने के कारण वह किसी अन्य की दासता में नहीं रह सकता।

वह दूसरों के मनमाने कार्य का विरोध करना है। आवश्यकता पड़ने पर सत्याग्रह का प्रयोग न केवल शासन के विरुद्ध ही अपितु समाज के विरुद्ध भी किया जा सकता है। कई बार समाज भी शासन के समान त्रुटिपूर्ण कार्य करने पर उतारू हो जाता है। ऐसे मे व्यक्ति का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह समाज के विरुद्ध सत्याग्रह करे। स्वयं ब्रोन ने दास-व्यापार के विरुद्ध सत्याग्रह किया था क्योंकि उनके विचार से दासों के व्यापार मे लिप्त उनका समाज एक अनैतिक कार्य कर रहा था। अत वे स्वयं अपने ही समाज के विरुद्ध उठ खड़े हुए। मार्टिन लूथर ने भी जर्मनी में अपने समाज के प्रति विद्रोह किया और अपने स्वतन्त्र विचारों के कारण देश को नया मार्ग दिखलाया। गैलीलियो ने भी समाज का विरोध कर सत्य का दर्शन किया और अपने समाज की असत्य धारणाओं का प्रतिकार कर वैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन किया। कोलम्बस ने भी अपने विचारों तथा कर्त्तव्यों का दृढ़ता से पालन कर अपने ही साथियों के विद्रोह का सामना किया और अंत में उसे अमेरिका की खोज का श्रेय प्राप्त हुआ। इस प्रकार सत्याग्रह को चमत्कारिक उपचार के रूप में माना जा सकता है, क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति को भय-रहित होकर स्वतन्त्र जीवन जीने की प्रेरणा प्राप्त होती है।[23]

गांधीजी ने साधन तथा साध्य की अन्तरनिर्भरता पर जोर दिया था। शक्ति से प्राप्त वस्तु शक्ति के बल पर ही बनी रह सकती थी। प्रेम से प्राप्त वस्तु प्रेम पर अवलम्बित था। इसी प्रकार से सत्याग्रह से प्राप्त उपलब्धियां सत्याग्रह के माध्यम से ही बनी रह सकती हैं। सत्याग्रह का त्याग कर देने पर सत्याग्रह से प्राप्त सब कुछ समाप्त हो सकता है। इन उदाहरणों का अभिप्राय यह सिद्ध करना है कि सत्याग्रह मस्तिष्क की एक स्थिति है। *जो मस्तिष्क की सत्याग्रह सम्बन्धी स्थिति प्राप्त कर लेता है,* वह सर्वदा समस्त परिस्थितियों एवं कालों में विजयी बना रह सकता है। वह शासन अथवा व्यक्तियों का विरोध करके भी सत्याग्रह के बल पर हमेशा विजयी रहेगा। भारत में सत्याग्रह की भावना का अभाव होने के कारण ही जनता शासन के समक्ष तथा अपने सामाजिक सम्बन्धों में अन्याय एवं पाप का विरोध करने में भीरुता का परिचय देती रही है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने आपको सार्वभौमिक सत्ता का अंग मानकर मानवीय गरिमा के लिए निरन्तर संघर्ष करें तथा ऐसे किसी व्यवस्थापन अथवा नियम को स्वीकार न करें जो हमारे सत्य-असत्य, अन्तःकरण तथा धर्म के विवेचन के विपरीत हो। हम स्वयं शारीरिक बल का प्रयोग ही नहीं करते हैं अपितु हमें व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित शास्तियों को स्वीकार करते हुए दण्ड के लिए अपने आपको प्रस्तुत कर देना है। यह कानून को भंग करना नहीं माना जाना चाहिये क्योंकि व्यक्ति के लिये इससे अधिक सम्मानपूर्ण दृष्टिकोण क्या हो सकता है? हमारा उद्देश्य शासन को हानि पहुंचाना नहीं है। वास्तविक उद्देश्य मात्र यह है कि हम संघर्ष के माध्यम से यह परीक्षा करना चाहते हैं कि यदि विरोधी पक्ष सत्य पर चल रहा है तो उसकी विजय होगी अन्यथा इसके विपरीत परिणाम सामने आयेंगे। यह मूल रूप में सत्य की परीक्षा का मार्ग है।[24]

गांधीजी ने सत्याग्रह को यथार्थ शिक्षण की प्रक्रिया कहा है। सत्याग्रह का प्रयोग अधिकारों की मांग मनवाने के लिये ही नहीं किया जाता क्योंकि अधिकारों की प्राप्ति केवल परिणाम की द्योतक है। सत्याग्रह का प्रयोग परिणामों की परवाह किये बिना

भी किया जा सकता है। सत्याग्रह तथा अन्य कार्यों में मौलिक अन्तर है। अन्य कार्यों के परिणाम प्राप्त न होने पर उन्हें व्यर्थ का समझा जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की सम्पत्ति हड़पने के लिये उसकी हत्या करना चाहता है और वह न तो उसकी हत्या कर पाता है और न सम्पत्ति ही प्राप्त करता है तो उसे अत्यधिक निराश होना पड़ता है तथा स्वयं को मृत्यु के लिये प्रस्तुत करना पड़ता है, किन्तु सत्याग्रह में परिणाम प्राप्त हुआ अथवा नहीं, इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। असफल होने पर निराश होने की भी स्थिति नहीं है। यही कारण है कि सत्याग्रह यथार्थ शिक्षण कहा गया है। यदि कोई किसी विशेष उद्देश्य को लेकर शिक्षाभ्यास करता है, जैसे कि उदर-भरण का उद्देश्य और उस उदर-भरण के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती, तब भी उस व्यक्ति का शिक्षण व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार से सत्य पर डटे रहने की स्थिति जो कि हमारी दृढ़ इच्छा शक्ति का कष्ट सहन करने के प्रशिक्षण का परिणाम है, उसका अमूल्य शिक्षण व्यर्थ नहीं जाता। सत्याग्रही के लिये उसका अनुभव एवं प्रशिक्षण सर्वकालिक एवं सर्वव्यापक है। यदि परिणाम पर ध्यान केन्द्रित किया जाय तब भी यही कहा जायगा कि सत्याग्रह के परिणाम हमेशा समान एवं प्रायः अच्छे ही होते हैं। यदि इसके विपरीत परिणाम सामने आयें तो उसका कारण सत्याग्रह की अपरिपक्वता न होकर सत्याग्रह करने वाले व्यक्ति की त्रुटियाँ ही होंगी।[25]

सत्याग्रह सम्बन्धी ट्रान्सवाल (दक्षिण अफ्रीका) के अनुभवों (1908) के आधार पर गांधीजी ने यह सिद्ध किया कि सत्याग्रह में पराजय का कोई स्थान नहीं है। इसके अनुसार सैन्य युद्ध में दो दलों में से किसी एक को सफलता प्राप्त होती है तो उसकी सफलता के अनेक कारण होते हैं। हारा हुआ दल भी केवल शक्ति दौर्बल्य से नहीं हारता, अन्य अनेक कारणों से हारता है जो कि उसके नियन्त्रण से बाहर होते हैं, किन्तु सत्याग्रह में पराजय का कारण केवल सत्याग्रही की व्यक्तिगत कमी होती है। इसी प्रकार से युद्ध में हारनेवाले दल की हार का अर्थ होता है उस दल के समस्त समर्थकों की हार चाहे वे स्वयं युद्ध लड़े हों अथवा नहीं किन्तु सत्याग्रह में स्थिति इसके ठीक विपरीत होती है।[26] सत्याग्रही सत्य के सहारे आगे बढ़ता है। वह किसी भी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र से लैस हुये बिना भी निर्भय होकर अन्त तक प्रतिकार करता है। सत्याग्रह करने वाले को शारीरिक शक्ति के प्रयोगकर्त्ता की तुलना में अधिक साहस की आवश्यकता होती है।[27]

गांधीजी के अनुसार सत्याग्रही को धन के प्रति आसक्त नहीं होना चाहिये। धन तथा सत्य दोनों परस्पर रूप में विरोधी हैं। धन के प्रति आसक्ति रखनेवाले सत्य के प्रति निष्ठावान् नहीं होते। इसका अर्थ यह है कि सत्याग्रही अनिवार्यतः सम्पत्तिहीन हो। वह सम्पत्तिशाली हो सकता है, किन्तु उसे सम्पत्ति को अपना देवता नहीं मान लेना चाहिये। सत्य पर डटे रहते यदि सम्पत्ति अर्जित की जाय तो उसमें कोई बुराई नहीं है। यदि ऐसा न हो तो व्यक्ति को धन-सम्पत्ति का उस क्षण त्याग कर देना चाहिये। यदि यह दृष्टिकोण नहीं है तो व्यक्ति सत्याग्रह के मार्ग पर नहीं चल सकता। शासकों के विरुद्ध सत्याग्रह करनेवालों के समक्ष यह चुनौती प्रायः आती है कि शासन का विरोध करनेवाला सम्पत्ति का अर्जन नहीं कर सकता। किसी व्यक्ति के विरुद्ध शासन की शक्ति

कम महत्वपूर्ण हो सकती है किन्तु व्यक्ति की सम्पत्ति को वह समाप्त कर सकती है अथवा व्यक्ति में सम्पत्ति खोने का भय जागृत कर सकती है। सम्पत्ति को खोने का भय व्यक्ति को झुकने के लिये विवश कर सकता है। निरंकुशवादी शासकों के राज्य में वे ही व्यक्ति धन-दौलत रख सकते हैं अथवा संचित कर सकते हैं जो निरंकुशवाद का समर्थन करते हों। चूंकि सत्याग्रही निरंकुशतंत्र का सहभागी नहीं हो सकता, अतः उसे दरिद्रता में ही अपने आपको समृद्ध मानना चाहिये। यदि उसे सम्पत्ति की कामना है तो वह किसी अन्य देश में अपनी सम्पत्ति रखे।[28]

सत्याग्रह के लिये सत्याग्रही को अपने परिवार का मोह त्यागना पड़ता है। यद्यपि यह अत्यन्त कठिन कार्य है, फिर भी उसे ऐसा करना पड़ता है। सत्याग्रह तलवार की धार पर चलने के समान कठिन मार्ग है। कालान्तर में यह सत्याग्रही के परिवार के लिये भी हितकर ही सिद्ध होगा, क्योंकि सत्याग्रही के परिवार के सदस्य सत्याग्रह की महत्ता को जान पायेंगे और उनमें नवीन जागरण का उदय होने से उनकी कोई तृष्णा शेष न रहेगी। सत्याग्रही को यातनाओं से कभी भी विचलित नहीं होना चाहिये। सम्पत्ति का नाश अथवा कारावास कोई भी कारण उसे परिवार के प्रति चिंतित नहीं करेगा, क्योंकि सच्चा सत्याग्रही ईश्वर के इस विधान में विश्वास करता है कि जिसने व्यक्ति को दांत दिये हैं, वही उन्हें खाने को अन्न भी देगा। वास्तविकता यह है कि हम मुट्ठी भर अनाज के लिये नहीं, अपितु जिह्वा के स्वाद के लिये, तन ढकने के वस्त्र के लिये नहीं, अपितु सुन्दर परिधानों के लिये लालायित रहते हैं। यदि ऐसी क्षुद्र इच्छाओं का त्याग कर दिया जाय तो किसी को अपने परिवार के भरण-पोषण की चिन्ता नहीं सतायेगी। केवल सत्याग्रह के लिए ही नहीं अपितु सशस्त्र संघर्ष करने वाले को भी इन इच्छाओं का त्याग करना पड़ता है। भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी, परिवार का बिछोह तथा आर्थिक कष्ट सभी झेलने पड़ते हैं। बोअर-युद्ध में श्वेत अधिवासिनियों ने इसका उदाहरण प्रस्तुत किया था। सशस्त्र विद्रोह तथा सत्याग्रह में एक प्रमुख अन्तर यह है कि जहां सशस्त्र विद्रोह व्यक्ति को अहंकारी तथा निर्दयी बनाता है, सत्याग्रह में इसका लेशमात्र भी नहीं होता। सत्याग्रही विजयी होकर भी आततायी नहीं बनता।[29]

सत्याग्रही की धर्म में पूर्ण आस्था होनी चाहिये। 'मुख में राम बगल में छुरी' की कहावत चरितार्थ नहीं होनी चाहिये। व्यवहार एवं उपदेश का अन्तर धर्म का आदर्श नहीं है। गांधीजी के अनुसार ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण-भाव रखने वाला संसार में कभी परा-जित नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति पराजित कहे जाने पर भी पराजित नहीं माना जा सकता और विजयी कहे जाने पर विजयी भी नहीं होता—जब तक व्यक्ति स्वयं अपने आपको आविष्कृत न कर ले। यही सत्याग्रह की वास्तविक प्रकृति है। सत्याग्रह में तर्क अथवा विचार के स्थान पर विश्वास को अधिक महत्व दिया गया है। सत्याग्रह में संलग्न हुआ व्यक्ति संतोषी होता है। संतोष ही वास्तविक सुख है। इसमें अन्य मृगतृष्णा है।[30] आत्मा को शरीर से पृथक् मानने की आवश्यकता है। आत्मा अविनाशी है। बौद्धिक विचार-विमर्श की अपेक्षा विश्वास के दृढ़ आधार पर आत्मा की स्थिति को स्वीकार करने की आवश्यकता है।[31] आत्मा की शक्ति शारीरिक शक्ति से भी उच्च है। जीसस क्राइस्ट, डेनियल तथा सुकरात ने इसी आत्मिक शक्ति या निष्क्रिय प्रतिरोध का उदाहरण प्रस्तुत

किया है। टालस्टाय ने अपने जीवन तथा दर्शन में इसे शब्दशः उतारा है।[32]

निष्क्रिय प्रतिरोध

गांधीजी ने निष्क्रिय प्रतिरोध को अहिंसा के शाश्वत सिद्धान्त पर आधारित माना है। हिंसा को आत्मिक शक्ति का विरोधी मानते हैं। निष्क्रिय प्रतिरोध के अहिंसक उपायों में व्यक्ति अथवा समुदाय सभी सम्मिलित हो सकते हैं। इसका स्थायित्व एवं अपराजित स्वरूप इसके विश्वव्यापी प्रयोग का साक्षी है। यह दुर्बल का अस्त्र नहीं है। इस शब्द के अंग्रेजी पर्याय के कारण ही अधिक भ्रांतियां फैली हैं। अंग्रेजी के शब्द 'पैसिव रेजिस्टेन्स' से ऐसा प्रतीत होता है कि यह हिंसा के अभाव में निर्बल द्वारा किया गया असहाय प्रतिरोध है। किन्तु गांधीजी निष्क्रिय प्रतिरोध को सत्य की शक्ति के रूप में देखते हैं।[33] वे निष्क्रिय प्रतिरोध को दूसरों की रक्षा का ही नहीं, अपितु आत्मरक्षा का शस्त्र भी मानते हैं। इसका उपयोग व्यक्ति स्वयमेव में बिना अन्य की सहायता के भी कर सकता है। आत्मा द्वारा जनित इस शक्ति को प्रकृति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में माना जा सकता है। पाशविक शक्ति से निर्बल की रक्षा नहीं होती। उससे निर्बल और भी अधिक निर्बल हो जाता है, क्योंकि वह अपने संरक्षकों पर निर्भर करने लगता है। दूसरी ओर आत्मिक शक्ति न केवल उनको जिनके लिये शक्ति का प्रयोग किया गया है, अपितु उनको भी जिनके द्वारा शक्ति प्रयुक्त हुई है, सबल बनाती है।[34]

गांधीजी ने निष्क्रिय प्रतिरोध को जीवन का अंग बनाने पर जोर दिया है। वे इसे सामाजिक आदर्शों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का जनक मानते हैं। विश्व में सैन्यतन्त्र की बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोकने का सफल साधन भी इसमें विद्यमान है। यह श्रेष्ठ प्रकार की शिक्षा है। बालकों को विद्याध्ययन प्रारम्भ करने के पहले निष्क्रिय प्रतिरोध की शिक्षा दी जानी चाहिये। अक्षर ज्ञान प्राप्त करने से पहले आत्मा, सत्य, प्रेम आदि का ज्ञान कराया जाना चाहिये। बच्चों को इस बात की शिक्षा प्रारम्भ से ही मिलनी चाहिये कि वे जीवन-संग्राम में किस प्रकार घृणा को प्रेम से, असत्य को सत्य से तथा हिंसा को स्वयं कष्ट भेलकर जीत सकते हैं।[35]

सत्याग्रह अहिंसा का ही मार्ग है। हिंसा का सभी धर्मों ने प्रतिकार किया है। हिंसा का शस्त्रास्त्र के रूप में प्रयोग करने वाले भी हिंसा पर प्रतिबंध लगाने की बात करते हैं, *किन्तु सत्याग्रह की कोई सीमा नहीं है।* केवल सत्याग्रह द्वारा अपनी सत्याग्रह-सम्बन्धी तपश्चर्या की क्षमता पर ही सत्याग्रह की सीमा अंकित की जा सकती है। सत्याग्रह के लिये वैधानिकता का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। सत्याग्रही स्वयं अपना निर्णय लेता है। किसी की अप्रसन्नता से सत्याग्रह नहीं रोका जा सकता। सत्याग्रह को प्रारम्भ करने का कोई गणितीय नियम नहीं है। ऐसा व्यक्ति जो जय-पराजय की स्थिति को तौलकर अपनी विजय को सुनिश्चित मानते हुए सत्याग्रह करने का निर्णय लेता है, वह कुशल राजनीतिज्ञ अथवा बुद्धिमान व्यक्ति अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु उसे सत्याग्रही कदापि नहीं माना जा सकता। सत्याग्रही तत्क्षण निर्णय लेता है।[36]

सत्याग्रह तथा शस्त्रास्त्र दोनों का ही आदि काल से प्रयोग चला आ रहा है। प्राचीन धार्मिक साहित्य में इनका उल्लेख मिलता है। सत्याग्रह को दैवीय तथा हिंसा को आसुरी लक्षणों से युक्त माना है। प्राचीन भारत में सत्याग्रह को ही अधिक मान्यता मिली

और आज भी उसे अधिक महत्त्व दिया जाता है, किन्तु दूसरों ने मानुषी प्रवृत्ति को ही समर्थन दिया है। यद्यपि उपर्युक्त दोनों ही निष्कर्ष अथवा धारणाएँ अपने में अच्छे हैं। दैवीय अथवा मानुषी शक्ति के बिना स्वराज्य की स्थापना नहीं हो सकती। राजनीतिक जन-चेतना के उत्थान के लिये शक्ति तथा पौरुष की आवश्यकता होती है। सत्याग्रह को मान्यता न मिलने पर हिंसा का मार्ग स्वतः प्रभुता प्राप्त कर लेता है। हिंसा जंगली पेड़-पौधों के समान है जो जहाँ-तहाँ उग आते हैं, किन्तु सत्याग्रह की फसल के लिये स्वयं की प्रेरणा अथवा आत्म-प्रवृत्ति रूपी खाद की आवश्यकता होती है। सत्याग्रह के नवांकुरों को हिंसा के जंगली पेड़-पौधों से अलग रखने की आवश्यकता होती है। सत्याग्रह की सहायता से उन व्यक्तियों के मन को भी जीता जा सकता है जो शासन की निरंकुश नीति के कारण हिंसा के मार्ग पर अग्रसर हुए हैं। ऐसे व्यक्तियों को सत्याग्रह के मार्ग पर चलने का आग्रह दैवीय सम्पदा से अभिवृद्धि का स्रोत बन सकता है।[3]

गांधीजी के अनुसार इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति के दो मार्ग हैं—सत्यनिष्ठ तथा सत्य-रहित। सत्याग्रह में सत्य पर अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। सत्य का किसी भी मूल्य पर त्याग नहीं किया जा सकता। अपने देश के लिए भी नहीं। अंतिम विजय सत्य की सुनिश्चित है। व्यक्ति आत्मा की प्रेम रूपी शक्ति से शत्रु पर विजय प्राप्त करता है। मित्र के साथ प्रेम करना सरल है किन्तु शत्रु के प्रति प्रेम का व्यवहार वास्तविक शौर्य का प्रतीक है। यह साहसपूर्ण कार्य है। शासन के प्रति प्रेम के माध्यम से शासन के अच्छे एवं बुरे कार्यों को इंगित किया जा सकता है। प्रेम भय पर आधारित नहीं होता। कायर व्यक्ति प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता, प्रेम बहादुर व्यक्ति का एकाधिकार है। शक्ति के मद में व्यक्ति अपनी त्रुटियों को पहचानने में असफल सिद्ध होता है। इस स्थिति में निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोगकर्ता सविनय अवज्ञा का मार्ग अपना कर कानून का विरोध करता है तथा स्वयं सभी प्रकार की यातनाएँ सहर्ष झेलता है। इस प्रकार से व्यक्ति की आत्मा अनुशासित होती है। सविनय अवज्ञा व्यर्थ नहीं जाती। शासक जब यह जान लेता है कि सत्याग्रही पर बल प्रयोग का कोई प्रभाव नहीं हो रहा, तभी स्व-राज्य एवं पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रादुर्भाव होता है। नीरो जैसा अत्याचारी शासक भी प्रेम के सामने नम्र बन जाता है। यह तथ्य बीजगणित के प्रमेयों के समान सत्य है। यही सत्याग्रह भारतीयों का विशिष्ट अस्त्र है। यह सर्वव्यापी है एवं इसका प्रयोग सभी काल और परिस्थितियों में किया जा सकता है। इसके लिए कारतूसी लाइसेन्स की आवश्यकता नहीं है। जो इसकी शक्ति को पहचानता है वह इसके प्रयोग में देरी नहीं करता। जिस प्रकार से आँख की पलकें आँखों की रक्षा करती हैं, उसी प्रकार स्वतः प्रेरित सत्याग्रह आत्मा की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है। ठीक इसके विपरीत सत्य रहित मार्ग है। पाशविक बल का प्रयोग करने वाला साधनों के औचित्य की चिंता नहीं करता। वह केवल साध्य की चिंता करता है। यह अधर्म का मार्ग है। पाशविक बल का सहारा लेकर चलने वाला कोल्हू के बैल के समान चक्कर लगाता है। इसमें गति अवश्य है, किन्तु प्रगति नहीं। सत्य-मार्ग का पथिक सदैव प्रगति करता है।[4]

सत्याग्रही स्वभाव से कानून का पालन करने वाला होता है। यही कारण है कि वह अन्तःकरण की आवाज में सर्वोच्च कानून का पूरी तरह पालन करता है।

उसके द्वारा सविनय अवज्ञा द्वारा कतिपय कानूनों का विरोध केवल देखने मात्र की अवज्ञा है। प्रत्येक कानून व्यक्ति को विकल्प प्रदान करता है। यदि व्यक्ति मूल शास्ती को नही मानता तो उसके लिए द्वितीय स्तर की शास्ती का चरण विद्यमान है जिसमे वह सहर्ष दंड प्राप्ति के लिये अपने आपको प्रस्तुत करता है। इस प्रकार वह कानून का पालन ही करता है। वह साधारण अपराधी की तरह कानून तोड़कर दंड से बचने का प्रयास नही करता।[39]

यह कहना उचित नही कि सत्याग्रह बोल्शेविकवाद के भय को त्वरित गति दे सकता है। तथ्य यह है कि बोल्शेविकवाद का प्रतिकार सत्याग्रह आंदोलन से ही सम्भव है। बोल्शेविकवाद भौतिक सभ्यता की उपज है। भौतिक समृद्धि बोल्शेविकवाद को *प्रवृत्ति का मार्ग बना देती है, जबकि सत्याग्रह द्वारा प्रदर्शित आत्म नियन्त्रण निवृत्ति का* मार्ग है। सत्याग्रह पदार्थ पर आत्मा की विजय का प्रतीक है। यह कोई नवीन सिद्धान्त *नही है। भारत की प्राचीन मान्यताओं पर आधारित यह सिद्धान्त बोल्शेविकवाद से* मुक्ति दिलाकर सत्य तथा प्रेम के शाश्वत सिद्धान्तों को सबल प्रदान करता है।[40]

गांधीजी ने सत्याग्रह के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसे सत्य के प्रति आग्रह तथा इस प्रकार के आग्रह से उत्पन्न शक्ति माना है। रौलट विधेयक के विरुद्ध इस शक्ति का प्रयोग कर गांधीजी ने इसकी मान्यता स्थापित की है। उनके अनुसार सत्य से बढ़कर कोई धर्म नही है। प्रेम ही धर्म है। अतः सत्य प्रेम है और प्रेम सत्य। सत्य का आचरण प्रेम की भावना के बिना नही हो सकता। कुटिल कार्य करने वाले को कुटिलता से नही जीता जा सकता। बुराई को प्रेम से जीतना चाहिये। हमारे सहस्रों कार्यों को प्रेरित करने वाली शक्ति प्रेम ही है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, तथा हमारे समस्त पारिवारिक सम्बन्ध प्रेम अथवा सत्य पर आधारित होते हैं। अतः हम जाने-अनजाने मे इन सम्बन्धों को सत्याग्रह से ही नियमित करते हैं। हमारे सम्बन्धों मे अधिकतम सत्य का ही समावेश होता है। असत्य का प्रयोग ही, क्रोध एवं संघर्ष का कारण बनता है। सत्याग्रह का अनुसरण करते हुये इसे परिवार से ग्राम तथा ग्राम से प्रान्त एवं देश तक विस्तीर्ण करने की आवश्यकता है। घृणा के स्थान पर प्रेम द्वारा हमारे राष्ट्रीय सम्बन्धों को नियमित करने की आवश्यकता है। हिन्दुस्तान म भाईचारे की भावना द्वारा ही बर्बरता की प्रकृति का शमन किया जा सकता है। आधुनिक समय म कोई भी राष्ट्र अपनी सीमाओं से बाहर सत्याग्रह का प्रयोग करता दिखाई नही देता। जब तक सत्याग्रह का प्रयोग राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों मे नही होगा, *तब तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों मे कटुता एवं* वैमनस्य बना रहेगा। समस्त धार्मिक मत एवं सम्प्रदाय, चर्च तथा मन्दिर तभी तक *उपयोगी हैं, जब तक* ये सत्याग्रह की सार्वभौमिकता को पहचानने मे सहायक होते है। भारत मे अनादि काल से यह धारणा बलवती रही है कि हम सारे ब्रह्मांड को अपना परिवार माने। राष्ट्रीय जीवन की सार्थकता इसी मे है कि सत्याग्रह को पूर्णतया जीवन मे उतारा जाय। जो राष्ट्र अन्य किसी राष्ट्र से युद्ध करता है वह जीवन के इस महत्त्व-पूर्ण नियम का उल्लंघन करता है।[41]

सत्याग्रह की सीमाओं की चर्चा करते हुए गांधीजी ने तीन प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा की है। प्रथम, सत्याग्रह करनेवाला को अपनी मूल माग को नहीं बढ़ाना चाहिये,

द्वितीय, सत्याग्रह से प्राप्त सफलता सत्याग्रह द्वारा ही बनी रह सकती है तथा तृतीय, सत्याग्रह में जो कुछ प्राप्ति सम्भव है, वह निश्चित रूप से प्राप्त होगी, पराजय का सत्याग्रह में कोई स्थान नहीं। उपर्युक्त तीनों सिद्धान्त सत्याग्रह की सीमाओं का बोध कराते हैं। सत्याग्रह सत्य का मार्ग है और सत्य से मेल नहीं खाने वाले साध्य इसके द्वारा पूरे नहीं हो सकते।[42]

सत्याग्रह के द्वारा ही भारत की आर्थिक, राजनीतिक एवं आध्यात्मिक मुक्ति सम्भव है। थोरू के विचारों को उद्धरित करते हुये गांधीजी ने माना है कि व्यक्ति पहले है, प्रजा बाद में। हमें कानून के प्रति श्रद्धा को बढ़ाने के स्थान पर अधिकारों के प्रति श्रद्धावान बनना चाहिये। हमें अन्तःकरण के अधिकारों की रक्षा के लिये हिंसा के स्थान पर सविनय अवज्ञा को प्रयोग में लाने की आवश्यकता है। हमें अवज्ञा के परिणामों को भुगतने के लिये तैयार रहना चाहिये। डेनियल ने जिस प्रकार से मीडस एवं फारसी कानूनों की अवज्ञा की, जॉन बनयान ने जिस प्रकार अवज्ञा प्रस्तुत की और भारत की प्रजा जिस प्रकार से अवज्ञा करती आयी है, उसी आदर्श को बनाये रखने की आवश्यकता है। हिंसा हमारे में अन्तर्निहित पशुता का कानून है। नागरिक प्रतिरोध हमारे अन्तराल में विद्यमान मानव का कानून है। सुव्यवस्थित राज्य में नागरिक प्रतिरोध के अवसर उपस्थित नहीं होते। यदि हो जायें तो व्यक्ति को अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिये उसे कर्त्तव्य मानकर करना ही चाहिये।[43]

गांधीजी के अनुसार सत्याग्रह शब्द की उत्पत्ति पवित्रता के विचार में निहित है। सत्याग्रह का अर्थ केवल कानून की सविनय अवज्ञा तक ही सीमित नहीं है। कई बार सत्याग्रह का वास्तविक अर्थ अवज्ञा न करने पर ही प्रकट होता है। न केवल सरकार के विरुद्ध अपितु परिवार में भी सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया जा सकता है। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, मित्र तथा मित्र के मध्य इसका प्रयोग हो सकता है। किसी भी क्षेत्र में सुधारों के लिये इसका प्रयोग सम्भव है। यदि पिता के क्रूर व्यवहार को पुत्र अनुचित मानता है तो वह पिता द्वारा दी गयी समस्त प्रताड़नाओं को सहन करते हुए अन्त में पिता पर विजय प्राप्त कर लेता है। गांधीजी ने टालस्टाय से प्रेरणा प्राप्त कर सत्याग्रह को पारिवारिक जीवन की चहारदीवारी से बाहर निकालकर सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में इसका प्रयोग प्रारम्भ किया।[44]

सत्याग्रह एवं निष्क्रिय प्रतिरोध में इतना ही अन्तर है जितना उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव में। निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बल व्यक्ति का अस्त्र है। इसमें हिंसा अथवा शारीरिक बल का प्रयोग भी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किया जा सकता है, किन्तु सत्याग्रह बलवान का शस्त्र है और इसमें हिंसा का किसी भी रूप में समावेश सम्भव नहीं। गांधीजी के शब्दों में 'सत्याग्रह' शब्द उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में निर्मित किया। इस शब्द का निर्माण करने के पीछे गांधीजी का मूल विचार इसे निष्क्रिय प्रतिरोध के नाम से इंगलैण्ड तथा दक्षिण अफ्रीका में चलाये जाने वाले आन्दोलनों से भिन्न स्तर पर रखने का था। गांधीजी सत्याग्रह आन्दोलन के द्वारा सत्य की स्थापना करना चाहते थे। विरोधी पर प्रहार करने अथवा उसे दुःख पहुंचाने के स्थान पर स्वयं को कष्ट देने की धारणा को उन्होंने स्थापित किया। वे सत्याग्रह को सविनय अवज्ञा के रूप में लोकप्रिय बनाना चाहते थे। इनके अनुसार

सिविल' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया था कि सत्याग्रह 'क्रिमिनल' प्रतिरोध नहीं था।[45]

गांधीजी ने जोसेफ बेपटिस्टा के इस विचार को कि स्वदेशी तथा बायकाट पर्याय-वाची है, स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार स्वदेशी एक रचनात्मक कार्यक्रम है। इसका मूल उद्देश्य भारतीय उद्योग-व्यापार को संरक्षित एवं संवर्धित करने का है, जबकि बहिष्कार नकारात्मक कार्य है जिसके अंतर्गत अंग्रेजों को आर्थिक हानि पहुंचाने का सीमित कार्यक्रम सम्मिलित है। बहिष्कार में दबाव डालने का प्रयास किया जाता है। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार केवल अंग्रेजों द्वारा निर्मित वस्तुओं के बहिष्कार तक ही सीमित है। जापान तथा अमेरिका के माल का बहिष्कार इसमें सम्मिलित नहीं किया गया। गांधीजी के अनुसार बहिष्कार को प्रभावशील बनाने के लिये आवश्यक है कि इसको सर्वव्यापक बनाया जाय। वे बहिष्कार को अंग्रेजों के प्रति घृणा एवं क्रोध की भावना का प्रतीक मानते हैं। बहिष्कार के स्थान पर गांधीजी असहयोग को अधिक उचित उपाय मानते हैं। उनके अनुसार बहिष्कार समस्त देश में एक साथ लागू किया जाने पर ही सफल हो सकता है, अन्यथा नहीं। यदि ब्रिटेन में उत्पादित वस्तुओं का बहिष्कार कर भी दिया जाय तब भी जापान अथवा अन्य देश के माध्यम से ब्रिटेन का माल भारत आता रहेगा जैसा कि जर्मनी ने इंगलैण्ड के माध्यम से भारत में अपने उत्पादन को बेचा। वे चाहते है कि हम स्वदेशी को यदि विशेष महत्व दें तो स्वदेशी का हमारा मंत्र स्वतः विदेशी वस्तुओं से मुक्ति दिला सकता है। स्वदेशी धर्म का पालन कर बड़े-बड़े संकट से बचा जा सकता है।[46]

गांधीजी ने लोकमान्य तिलक के इन विचारों को कि राजनीति में जो कुछ किया जाय ठीक ही होता है, स्वीकार नहीं किया। वे तिलक के इस उद्धरण 'शठं प्रति शाठ्यम' को उचित नहीं मानते। गांधीजी के अनुसार दुष्ट के प्रति दुष्टता करने का उपदेश न्याय-पूर्ण नहीं है। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में घृणा को प्रेम तथा असत्य को सत्य से जीतने का अनमोल वचन कहा है। वास्तव में 'शठं प्रति शाठ्यम्' के स्थान पर 'शठ प्रत्यपि सत्यम्' की भावना को स्वीकार किया जाना चाहिये।[47] सत्याग्रह का यही आधार है। इसके विपरीत स्थिति दुराग्रह की प्रतीक होगी। सत्याग्रही बुराई एवं बुरे विरोधी के प्रति निर्भय होकर चलता है। यदि विरोधी द्वारा बीस बार धोखा किया जाय तब भी सत्याग्रही इक्कीसवीं बार उस पर विश्वास कर सकता है। सत्याग्रही मानवीय प्रकृति में पूर्णनिष्ठा रख कर आगे बढ़ता है।[48] सारा विश्व सत्य पर टिका हुआ है। असत्य का अर्थ है अस्तित्वविहीनता। जब असत्य का अस्तित्व ही नहीं है तो उसकी विजय का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। सत्य कभी नष्ट नहीं होता। यही सत्या-ग्रह के सिद्धांत का साराणभूत मूल आदर्श है।[49]

सत्याग्रह में न तो कोई नेता होता है और न कोई पिछलग्गू प्रजा। सभी नेता है, और सब ही मार्ग के समान अनुगामी। आत्मनिर्भरता सत्याग्रह की विशेषता है। इतिहास में सामूहिक सत्याग्रह का दृष्टान्त ढूंढना व्यर्थ है। ट्रान्सवाल में किये गये सामूहिक सत्या-ग्रह के उदाहरण को टालस्टाय ने अभूतपूर्व माना है। यह अपने आप में एक उदाहरण है। अच्छे कार्य का प्रारम्भ कभी भी किया जा सकता है। इसके लिए समर्थन प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति स्वयं सत्याग्रह की महिमा की ओर आकृष्ट होंगे। प्रचार

की आवश्यकता के बिना भी सत्याग्रह में स्वयं सेवा, आत्मोत्सर्ग एवं ईश्वर में पूर्ण निष्ठा को ही आधार माना गया है। इस आंदोलन के फल स्वयं आंदोलन में अन्तर्निहित हैं। अंधकार से प्रकाश की उत्पत्ति होकर घृणा पर प्रेम की विजय सुनिश्चित है।[50]

सत्याग्रह एवं निष्क्रिय प्रतिरोध के अंतर को गांधीजी ने बार-बार स्पष्ट किया है। वे निष्क्रिय प्रतिरोध को सत्याग्रह से पूर्णतया पृथक् रखना चाहते हैं। निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बलता का प्रतीक माना गया है। सत्याग्रह शक्ति का प्रतीक है। यदि हम अपने को सशक्त मानते हैं तो हमारी शक्ति दिनों दिन बढ़ती ही जायेगी। निष्क्रिय प्रतिरोध में प्रेम का कोई स्थान नहीं है। सत्याग्रह प्रेम के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। इसी तरह निष्क्रिय प्रतिरोध में हिंसा की तैयारी की बू आती है, जबकि सत्याग्रह हिंसा-विहीन है। सत्याग्रह का प्रयोग निकटतम एवं प्रियतम के विरुद्ध हो सकता है, जबकि निष्क्रिय प्रतिरोध निकटवालों पर तब तक नहीं होता जब तक कि उनके प्रति प्रेम घृणा में परिवर्तित न हो जाय। निष्क्रिय प्रतिरोध में विपक्षी को पीड़ित करने का लक्ष्य सन्निहित है, जबकि सत्याग्रह में विरोधी को हानि पहुंचाने का सूक्ष्मतम अंश भी विद्यमान नहीं होता। सत्याग्रही स्वयं को कष्ट पहुंचाकर अपने विरोधी पर विजय प्राप्त करता है। जीसस क्राइस्ट को निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रतीक मानना मिथ्यापूर्ण है। उनका उदाहरण सत्याग्रह का प्रतीक है। ईसाई धर्म के प्रारम्भ के दिनों में हजारों ईसाइयों द्वारा उठाये गये कष्ट सत्याग्रह के ही उदाहरण हैं। उन्हें निष्क्रिय प्रतिरोध की श्रेणी में नहीं रखा जाना चाहिये।[51]

सत्याग्रह प्रगतिशील है। जिस प्रकार से गंगा आगे बढ़ती है और अनेक नदी-नाले इसमें मिलते जाते हैं, जिसके कारण इसका पाट इतना विस्तृत हो जाता है कि मुहाने पर इसके किनारों को देख पाना अथवा यह जान पाना कि कहाँ नदी समाप्त हुई है वहां से समुद्र शुरू होता है, अत्यन्त कठिन है। यही बात सत्याग्रह संघर्ष पर भी लागू होती है। सत्याग्रह में न्यूनतम भी अधिकतम है। चूंकि इसमें न्यूनतम लोपविहीन है, पलायन की इसमें गुंजाइश नहीं। यह प्रगति के नियम पर आधारित है। जिस प्रकार से गंगा अपनी सहायक नदियों के लिये अपना मार्ग नहीं बदलती, उसी प्रकार सत्याग्रही भी अपना मार्ग नहीं छोड़ता, चाहे वह तलवार की धार के समान ही क्यों न हो। सत्याग्रह का संघर्ष दीर्घकालिक होता है। विरोधी द्वारा संघर्ष छोड़ा जा सकता है किन्तु सत्याग्रही तब तक संघर्ष का त्याग नहीं करता जब तक उसे विजय प्राप्त न हो जाय। इस तरह लक्ष्य-प्राप्ति के पश्चात् सत्याग्रह समाप्त हो जाता है। नये-नये उद्देश्यों को जोड़कर संघर्ष को बढ़ावा देना उचित नहीं है। नवीन उद्देश्य को लेकर नया सत्याग्रह छेड़ा जाना चाहिये। विरोधी सत्याग्रही नहीं होता क्योंकि सत्याग्रह के विरुद्ध सत्याग्रह असम्भव है।[52]

गांधीजी के अनुसार व्यक्तिगत हितों की प्राप्ति के लिये सत्याग्रह नहीं किया जा सकता। निजी हितों की रक्षा के लिये उपवास, धरना आदि निषिद्ध होने चाहिये, अन्यथा यह धमकी देने के समान होकर बुरे व्यक्तियों का अस्त्र बन जायेगा। सत्याग्रह का प्रयोग दूसरों के हितार्थ किया जाता है। सत्याग्रही को इसके लिये शारीरिक एवं आर्थिक कष्ट उठाने के लिये तैयार रहना होता है। किसी विरोधी के विरुद्ध उपवास द्वारा सत्याग्रह का

प्रयोग नही होना चाहिये। उपवास का प्रयोग अपने प्रियतम एवम् निकटतम व्यक्ति के विरुद्ध और वह भी उसकी भलाई के उद्देश्य से किया जाना चाहिये। भारत जैसे देश मे जहाँ परमार्थ एवं दानशीलता के उदाहरणो की कमी नही, वहाँ किसी को उधार दिये गये रुपया की वसूली के लिये भूख-हड़ताल करना न्याय संगत नही है। यदि किसी व्यक्ति का भूख-हड़ताल द्वारा ऐसे निजी कार्यों मे सफलता मिल भी जाय तो उसे सत्याग्रह की सफलता नही माना जायेगा। ऐसे कार्य को सत्याग्रह की सज्ञा न दी जाकर दुराग्रह अथवा हिंसा की सज्ञा दी जायेगी। सत्याग्रह की विजय मे जीवन भी न्योछावर किया जा सकता है। सत्याग्रही लक्ष्य की प्राप्ति के प्रति अनासक्त रहता है, किन्तु व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से किया गया कार्य लक्ष्य साधारण की दृष्टि से किया जाता है। अत व्यक्तिगत लाभ के लिये की गई भूख-हड़ताल एक धमकी है। इसे केवल अज्ञान की उपज ही मानना चाहिये।[63]

गाँधीजी ने सत्याग्रह का प्रत्यक्ष कार्यवाही का सर्वाधिक शक्तिशाली माध्यम मानते हुये सत्याग्रह करने के पहले अन्य उपायो को प्रयुक्त करने की सलाह दी है। जब सारे ही उपाय विफल हो जाय तभी सत्याग्रह किया जाना चाहिये। सत्याग्रह करने से पूर्व सत्याग्रही गठित सत्ता से निरन्तर एव निर्बाध सम्पर्क साधन करेगा, वह लोकमत को अवगत करायेगा, लोकमत को शिक्षित करेगा, अपने पक्ष को शान्ति एव ठंडे दिमाग से उन सबके सामने प्रस्तुत करेगा जो उसकी बात को सुनने मे रुचि रखते हो और जब सब प्रकार के मार्गों का टटोलने के बाद भी उसका उद्देश्य पूरा नही होगा, तब वह सत्याग्रह प्रारम्भ करेगा। लेकिन एक बार जब वह अपनी अन्त करण की आवाज के अनुसार सत्याग्रह छेड़ देता है उसके बाद वह पीछे नही मुड़ता।[64]

सत्याग्रह मे आत्मानुशासन, आत्मनियन्त्रण, आत्म-पवित्रता तथा सत्याग्रही के अन्य सामाजिक स्तर की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। सत्याग्रही के लिए बुराई तथा बुराई करने वालो के मध्य अन्तर स्पष्ट रूप से ध्यान मे रखने की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। बुराई करने वाले के प्रति किसी भी प्रकार की कटुता न रखने पर जोर दिया गया है। बुरे शब्दो का प्रयोग भी वर्जित है क्योकि बुरे से बुरा व्यक्ति भी प्रेम से परि-वर्तित किया जा सकता है। सत्याग्रही अपने हृदय को टटोलने मे विश्वास करता है ताकि जिन बुराइयो के विरुद्ध वह सघर्ष कर रहा है, वे बुराइयाँ उसमे विद्यमान न हो। आत्मशुद्धि एव प्रायश्चित द्वारा सत्याग्रही अपनी आधी लड़ाई स्वय जीत जाता है।[65] वह समझौते के लिये हर समय तैयार रहता है यदि समझौता, सम्मानपूर्ण आधार पर हो, अन्यथा वह असफलता की स्थिति मे भी सघर्ष नही छोड़ता। उसे किसी पूर्व तैयारी की आवश्यकता नही होती, क्योकि वह अपने पत्ते मेज पर खुले रखे हुये है। सत्याग्रह का सघर्ष समाप्त कर दिया जाय अथवा जारी रहे इससे वह विचलित नही होता। वह विरोधियो के प्रति भी मित्रता का हाथ बढ़ाये रखता है ताकि आवश्यता पड़ने पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो मे रुकावट न आये।[66]

सत्याग्रही के लिये योग्यतायें निर्धारित करते हुए गाँधीजी ने व्यक्त किया है कि सत्याग्रही के लिए रचनात्मक कार्य करना आवश्यक है। उसे चरखा खादी, छुआछूत का अन्त, मद्य-निषेध, हिन्दू तथा मुसलमानो के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो के रचनात्मक कार्य का

अनुभव एव प्रशिक्षण होना आवश्यक है। सेवा तथा प्रेम की भावना के बिना सत्याग्रह की स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकती। प्रकृति से अहिंसक एव सत्याग्रही व्यक्तियों के लिए जिनके जीवन मे सदैव सत्य का ही काम रहा है, उनके लिये सलाह देना सम्भव भी नहीं है, किन्तु क्रोधी अहंकारी एव भावुक व्यक्ति के लिये सत्याग्रह का मार्ग निषिद्ध है। इन बुराइयो को दूर किये बिना वह सत्याग्रही नहीं बन सकता।[57] सत्याग्रह विनम्रता का प्रतीक है, यह क्षति नहीं पहुंचाता। यह बाध्यकारिता का विलोम है और हिंसा का विकल्प भी।[58]

गांधीजी के अनुसार आमरण अनशन सत्याग्रही का अन्तिम शस्त्र है। यह अहिंसा के अनुरूप है। आमरण अनशन करने वाला ईश्वर की प्रार्थना कर उस तक अपनी बात पहुँचाना चाहता है। यदि ईश्वर उसकी बात पर ध्यान नही देता तो वह प्राणोत्सर्ग कर अपने सिद्धान्त की रक्षा करता है। यद्यपि ईश्वर के लिए जीवन एव मृत्यु एक ही है किन्तु विश्व में जो कुछ भी पवित्र एव शुभ है, उसके लिये अनेक अनजाने वीरो एव वीरांगनाओं ने अपने जीवन की आहुति दी है। व्यक्ति में विश्वास करना एक नाशवान स्थिति का द्योतक है। वह व्यक्ति जिसके प्रति जनता ने निष्ठा प्रकट की है, यदि जनता की निगाह से उतर जाता है तो उसके प्रति श्रद्धा धुयें के समान लुप्त हो जाती है। ऐसे निराशा के समय मे किसी सिद्धान्त मे दृढ निष्ठा से ही साहस तथा आशा का संचार होता है।[59] सत्याग्रही आत्मरक्षा के अधिकार का त्याग कर देता है। राज्यो मे सुधारो की माग करने वालों को अपनी सुरक्षा मे छोटी उंगली भी न उठाकर गोलियां खाने के लिये तैयार रहना चाहिये। सत्याग्रही अपने जीवन की सुरक्षा की तनिक भी चिन्ता नहीं करता।[60]

सत्याग्रह के सम्बन्ध मे गांधीजी ने यह भी व्यक्त किया है कि सत्याग्रह उन्हीं व्यक्तियों द्वारा किया जाना चाहिये जो पीडित हैं। सहानुभूति मे अन्य व्यक्तियो द्वारा किया गया सत्याग्रह भी न्याय सगत है। बुरे कार्य करने वाले को परिवर्तित करने, उसमें न्याय की भावना जागृत करने, उसे यह अनुभव कराने कि उसके द्वारा किया गया अनर्थ सताये गये व्यक्ति के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सहयोग के बिना सम्भव न होता, सत्याग्रह में अन्तर्निहित विचार हैं। यदि व्यक्ति स्वयं अपने उद्देश्यो के लिये कष्ट उठाने को तैयार न हो तो सत्याग्रह के रूप मे किसी भी बाह्य सहायता द्वारा मुक्ति प्राप्त नही हो सकती।[61]

सत्याग्रही द्वारा किसी भी प्रकार की त्रुटि हो जाने पर तत्काल त्रुटि का निवारण करना चाहिये ताकि भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति न हो। सत्याग्रही के व्यवहार में कृत्रिमता नहीं होनी चाहिये। वह स्वाभाविक रूप से व्यवहार करता हुआ अपने आन्तरिक विश्वास के अनुसार चलता है। सत्याग्रही के लिये जो आनन्द संघर्ष मे है, वह सफलता मे नहीं। सफलता संघर्ष मे ही अन्तर्निहित है।

पंच फैसला : सत्याग्रह की पूर्व प्रक्रिया

मानवीय जीवन मे अहिंसा के महत्व की मौलिक धारणा का समर्थन करते हुये गांधीजी ने सत्याग्रह की पूर्व प्रक्रिया के रूप मे पंच फैसले के विचार को प्रस्तुत किया है। राजनीति मे भिन्न-भिन्न विचार रखने वाले व्यक्ति अपने-अपने विचारो के प्रति दृढनिष्ठा रख कर भी संघर्ष की स्थिति को पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा दूर कर सकते हैं ताकि वैमनस्य एव घृणा के स्थान पर सहयोग एव प्रेम का वातावरण बना रहे। यही दृष्टि-

कोण आर्थिक क्षेत्र में भी अपनाया जा सकता है जिसके अन्तर्गत पारस्परिक बातचीत से अंशानिक हितों की रक्षा हो सके। यदि उपर्युक्त दोना ही क्षेत्रों में विचार-विमर्श तथा बातचीत से समस्या का हल नहीं निकले तब ऐसे विवाद को पंच फैसले के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। पंच फैसले की अस्वीकृति पर ही सत्याग्रह प्रारम्भ किया जा सकता है। पंच फैसला विवादों को निपटाने का शांतिपूर्ण प्रयास है जबकि सत्याग्रह अहिंसा की उग्र अभिव्यक्ति माना जा सकता है। यदि पारस्परिक वार्तालाप अथवा विचार-विमर्श पंच फैसले का पूर्वगामी है, तो पंच फैसला सत्याग्रह की पूर्व प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है। तीनों का एक ही उद्देश्य है—विरोध का शमन। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पंच फैसले को वरीयता इस कारण से दी गयी है कि इसमें दोनों ही पक्षों को समानता की स्वीकृति प्राप्त होती है।[62]

गांधीजी ने साम्प्रदायिक विवादों के निपटारे के लिए पंच फैसले के महत्व को दर्शाते हुए व्यक्त किया है कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों-दोनों को ही यह निश्चित कर लेना है कि वे *कानून को अपने हाथ में न लें तथा विवादों का निर्णय पंच फैसले अथवा न्याया-लय से प्राप्त करें।* जिस प्रकार नागरिक प्रश्नों का निर्णय एक दूसरे के सिर को तोड़ने से प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार से धार्मिक विवादों का समाधान भी कलह से नहीं हो सकता। पंच फैसले को लोकप्रिय एवं अनिवार्य बनाकर झगड़ों को असम्भव बनाया जा सकता है।[63] मत वैभिन्न्य हमेशा रहेगा, और इसीलिए इसके कारण होने वाले विवादों का शांतिपूर्ण समाधान आवश्यक है। गांधीजी के अनुसार भारत के लिये एक ही विकल्प है—पंच फैसलों के द्वारा साम्प्रदायिक झगड़ों का निवारण। ब्रिटिश नौकरशाही के पंजे में जकड़े अपने विवादों का निर्णय पंच फैसले से कर लेना चाहिये या फिर बहादुर, बर्बर व्यक्तियों के समान युद्ध करके फैसला कर लेना चाहिये किन्तु किसी भी मूल्य पर ब्रिटिश न्याय अथवा संगीनों का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करना है।[64]

गांधीजी के अनुसार हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ही अपनी-अपनी मांगों को मनवाने की सामर्थ्य रखते हैं। यदि वे चाहें तो अपनी बात लड़कर भी मनवा सकते हैं, किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि वे अपनी मांगों को मनवाने के लिये बल प्रयोग करने के स्थान पर पंच फैसले से विवादों का निपटारा करें। उन्होंने सितम्बर 1939 में हिटलर से यह अपील की कि वह अमेरिका के राष्ट्रपति की शिकायतों की जांच करवाये और सभी विवाद ऐसे मध्यस्थों से, जिनकी नियुक्ति में हिटलर की इच्छाओं का भी ध्यान रखा जायगा, निपटाये जायें।[65] भारत-ब्रिटिश समस्या को भी वे इस प्रकार हल करने का सुझाव देते हैं। गांधीजी ने 1946 की अंतरिम सरकार के प्रति मुस्लिम लीग के रवैये की निंदा करते हुए उसे इस्लाम के विरुद्ध माना है। वे मुस्लिम लीग द्वारा अंग्रेजों तथा हिन्दुओं को शत्रु घोषित करने तथा उनके विरुद्ध 'सीधी कार्यवाही' करने की धमकी को निन्दनीय मानते हुये, उन्हें भी मध्यस्थता द्वारा सभी प्रकार के मनोमालिन्य को दूर करने का आग्रह करने से पीछे नहीं रहे। गांधीजी ने इसी आधार पर जूनागढ़ के भारत अथवा पाकिस्तान में विलय को निष्पक्ष पंच फैसले द्वारा निपटाने का आग्रह किया।[66]

गांधीजी का सत्याग्रह कार्यक्रम तथा अतिवादी विचार धाराएं

गांधीजी का सत्याग्रह कार्यक्रम तथा माओवादी-मार्क्सवादी अतिवाद सामाजिक

अनुसंधान के क्षेत्र मे विचार विमर्श का विषय रहा है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया मे सरसनात्मक अनुकूलन की विकृति अग्निवादी विचारधारा को जन्म देती है। गांधीजी ने ऐसी समाजिक व्यवस्था के सदर्भ मे अपने विचार प्रकट किये हैं जिसमे अहिंसा के नैतिक एव सामाजिक विचार बिन्दुओ को सन्यागत कर दिया गया है। उनकी सामाजिक व्यवस्था मे कल्याणकारी कार्यों, अवसर की समानताओ तथा विस्तृत मानवतावाद को सामाजिक परिवर्तन के उपायो के रूप मे स्वीकृति मिली है। गांधीजी ने व्यक्तिगत जीवन मे सादगी, बौद्धिक एव शारीरिक श्रम की समानता, ग्रामीण तथा शहरी इलाको की समानता, सत्ता का विकेन्द्रीयकरण तथा नौकरशाही का परिसीमन, युवको तथा जनता की बहुसख्या को राजनीतिक तथा सामाजिक आदोलन से सम्बन्धित करना, साधन-साध्य की पवित्रता, हिंसा का विरोध आदि कार्यक्रम प्रस्तुत किये हैं। उनके ये विचार माओवादियो से मेल नही खाते। माओ ने हिंसा का मार्ग अपनाया। सामाजिक क्रांति की दृष्टि से माओ ने साधन की पवित्रता को महत्व नही दिया। माओ की राजनीति का सत्तात्मक पक्ष गांधीजी की सेवावादी राजनीति से भिन्न है। माओ अधिनायकतन्त्रीय प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर चीन के राजनीतिक तथा सामाजिक पटल पर छाया रहा है। उसके द्वारा सांस्कृतिक क्रान्ति का अभियान केवल विरोधियो को समाप्त करने तथा सत्ता से चिपके रहने का उपक्रम दिखाई देता है। माओ तथा गांधीजी को एक धरातल पर नही रखा जा सकता। माओवाद गांधीवादी साध्य पवित्रता, सच्चाई तथा नैतिकता का प्रबल शत्रु है। दलीय अधिनायकतन्त्र [illegible] चीन के विस्तारवादी साम्राज्यवादी नीति का प्रवर्तक माओ गांधीजी के मानववाद की धूलि भी नहीं है। भारत के भावी चिंतन की दृष्टि से माओवाद-मार्क्सवाद गांधीजी के प्रभाव की तुलना मे नगण्य-सा प्रतीत होता है। समाज में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था तथा लोकतान्त्रिक शक्तियो की सत्ता मे व्यापक ऐसे तत्व हैं जिनसे माओवादी समाजवाद की भारत को आवश्यकता ही प्रतीत न हो।

असहयोग : सिद्धान्त एवं व्यवहार

गांधीजी ने थोरू के विचारो से प्रेरणा प्राप्त कर शासन न करनेवाली सरकार को ही आदर्श सरकार के रूप मे माना है। समाज की आदर्श अवस्था ऐसी होगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सही विचार रखेगा तथा स्वेच्छा से, बिना किसी मार्गदर्शन तथा बाह्य हस्तक्षेप के, सही कार्य करेगा। किन्तु हमारे समाज की स्थिति पूर्णता से बहुत दूर है और बुराई की थोड़ी-बहुत मात्रा इसमें विद्यमान है, अत: व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का कुछ अश देकर बदले मे राज्य के सहयोगी के रूप मे कतिपय स्फुट लाभ प्राप्त करता है। इस प्रकार से राज्य रूपी सस्था अस्तित्व मे आती है।[67]

व्यक्ति का राज्य के साथ सम्बन्ध पूर्णत ऐच्छिक विषय है और यह भी स्पष्ट है कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के कल्याण मे वृद्धि करने के कारण है। व्यक्ति राज्य के प्रति इसी धारणा से बधा हुआ है। जैसे ही राज्य व्यक्ति के कल्याण को त्यागकर जनहित एव अन्त करण के विरुद्ध नियम पारित करने तथा कानून बनाने का कार्य करता है, वैसे ही राज्य व्यक्तियो की निष्ठा से हाथ धो बैठता है। ऐसे मे यह केवल अधिकारिता ही नही, अपितु व्यक्ति का धार्मिक कर्तव्य हो जाता है कि वह राज्य को समर्थन देना बन्द कर दे और अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करे।[68]

सैद्धान्तिक दृष्टि से यद्यपि राज्य की सदस्यता व्यक्ति के लिए ऐच्छिक है और होनी भी चाहिये, किन्तु राज्य निरकुशता एव दमन का, सगठित हिंसा तथा लूटपाट का अत्यधिक शक्तिशाली यत्र बन गया है। राज्य मे कुछ व्यक्ति शासन करते है और अनेक का शोषण करते है। रूसो ने ठीक ही कहा है कि 'व्यक्ति स्वतत्र जन्मा है किन्तु वह सर्वत्र जजीरो म जकडा हुआ है।' जहा तक दृष्टि दौडाये यही दु खपूर्ण दृश्य दिखाई देता है। इस बुराई के निवारण के लिए प्रयुक्त सभी साधन न केवल विफल हो चुके हैं, अपितु उनके द्वारा यह बुराई और अधिक तीव्र हो गयी है। लोकतन्त्र जिसे एक समय समस्त सामाजिक बुराइयो को दूर करने वाली रामबाण औषधि माना जाता था, मध्ययुगीन अराजक सामती शासन से भी अधिक बुरा सिद्ध हुआ है। इसने केवल मध्ययुगीन सामतो की विलासिता पूरी करने वाले शोषण के स्थान पर आधुनिक पूजीवादी राज्य ने शात एव सार्वभौमिक सगठित लूट-पाट को प्रस्तुत किया है जो और भी खतरनाक है, क्योंकि यह व्यक्तियो को सुरक्षा के झूठे बोध के अन्तर्गत सुला कर पिशाच की भाति उनका खून चूसती है और केवल सामती निरकुशता के समान शरीर को ही दास नही बनाती, अपितु उससे भी अधिक अपनी दौलत के विष से आत्मा को भी रोगयुक्त कर नष्ट कर देती है।[69]

गाधीजी के अनुसार उपर्युक्त बुराई को दूर करने के लिए अभी तक दो उपायो का प्रयोग किया गया है— (1) वे उपाय जो सुधार के सिद्धान्त पर आधारित हैं तथा (2) व उपाय जो हिंसा के सिद्धान्त पर आधारित हैं। ये दोनो ही विफल सिद्ध हुये है। सुधारो की नीति इस कारण असफल रही है कि इसमे बुराई के साथ समझौता एव सहयोग अन्तर्निहित है। अब राज्य केवल पाशविक हिंसा पर आधारित न होकर अपने अधीन अच्छे व्यक्तियो के नैतिक समर्थन पर अस्तित्व मे बना रहता है। बुराई अपने आपमे निष्फल है, यह अच्छाई के सहारे जीवित और पल्लवित होती है। अधूरे सुधारो की स्वीकारोक्ति सुधारक के पैर उखाड देती है। अत बुराई पर विजय प्राप्त करने के लिये बुराई से दूर निश्चित धरातल पर मिश्रण रहित अच्छाई पर बने रहना आवश्यक है। इसी प्रकार से हिंसा की पद्धति भी असफल ही नही हुई, अपितु विपरीत प्रभाव उत्पन्न करने वाली रही है। एक बार शारीरिक बल का प्रयोग करने के पश्चात् उससे अधिक शारीरिक बल से ही उसे दबाया जा सकता है। बल प्रयोग की मात्रा मे वृद्धि के अनुसार हिंसा भी बढती जाती है। यह दोषपूर्ण स्थिति है, क्योंकि बुराई को बुराई से नही भलाई से ही जीता जा सकता है। गीता मे भगवान श्री कृष्ण ने स्वय के पापो से स्वय का नाश दर्शाते हुए महाकाल की स्थिति का बोध कराया है। शैले के 'प्रोमेथ्यूस अन बाउन्ड' मे ज्यूस अपने ही पापो के बोझ से महाकाल क्रोनोस द्वारा अपदस्थ कर दिया गया है। अत उपर्युक्त दोनो ही उपाय विफल हुए हैं, क्योंकि ये समस्या के बाह्य आवरण को टटोलते हैं, बुराई की जड को समाप्त नही करते। राज्य से सम्बन्धित सस्थाओं के सुधार से समाज के कष्टो का निवारण नही होता। राज्यरूपी बुराई कारण नही, अपितु सामाजिक बुराई का परिणाम है। इसका यही निवारण है कि रोग के कारणो को समाप्त कर दिया जाय। व्यक्ति अपने आपको पवित्र बनाये और राज्य की बुराई की अप्रत्यक्ष साझेदारी में सम्मिलित न हो तो यह बुराई स्वत लुप्त हो जायेगी।[70]

इस प्रकार आत्मशुद्धि, न कि हिंसा अथवा सुधार, ही वास्तविक उपचार है। राज्यों से सहयोग का निवर्तन कर आत्मशुद्धि की जा सकती है। यही असहयोग का महान सिद्धान्त है।

असहयोग का अर्थ अराजकता अथवा अव्यवस्था कदापि नहीं होता। राज्य के साथ असहयोग का अर्थ है व्यक्तियों में परस्पर अपने-आपसे सहयोग। इस प्रकार असहयोग विकास की प्रक्रिया है। इसे विकासात्मक-क्रान्ति के रूप में ठीक ही वर्णित किया गया है।

यहां यह प्रश्न स्वाभाविक है कि वे कौनसी पद्धतियां हैं जिनके द्वारा राज्य व्यक्तियों पर हावी रहता है? सारांश में ये चार हैं —

1 अभिभ्रांत—यह राज्य को एक पवित्र तथा विघटनहीन स्थिति में प्रस्तुत करने तथा इसके विपरीत विचार रखने पर दंड भुगतने को प्रस्तुत करने का उपाय है। राज्य न्यायालयों तथा परिषदों के माध्यम से यह कार्य संपादित करता है। परिषदें न्यायालयों को ऐसी सत्ता से सम्पन्न कर देती हैं जिनका राज्यहित में प्रयोग न्यायालयों द्वारा खुलकर किया जाता है। परिषदों के माध्यम से कभी वास्तविक सुधार नहीं लाये जाते क्योंकि शासक दल अपनी शक्ति को क्षीण बनाने वाले किसी भी नियम को पारित होने से रोकने में समर्थ है। यदि कोई व्यक्ति अथवा समुदाय का भाग अधिक शोरगुल मचाये तथा कष्ट उत्पन्न करे तो उन्हें भी जनता की लूट का भागीदार बना दिया जाता है और शोषण की प्रक्रिया यथावत् बनी रहती है। इसे सुधार कहा जाता है।

2 भ्रष्टाचार—इसके अन्तर्गत हैं अफसरों को वेतन देने के लिये कामगारों पर कर लगाना ताकि अफसर राज्य को जनता के शोषण की प्रक्रिया के रूप में बनाये रख सकें तथा अलंकरण, सम्मान एवं सम्भ्रान्त पदों द्वारा अपने समर्थकों को पुरस्कृत करना।

3 सम्मोहन—राज्य से अनुदान प्राप्त तथा राज्य-नियंत्रित पाठशालाओं एवं महाविद्यालयों के माध्यम से बालकों को यह सिखाना कि राज्य के प्रति उनकी निष्ठा उनकी अन्तरात्मा से भी बढ़कर है और उन्हें देशभक्ति तथा अपने से वरिष्ठ की आज्ञा मानने के कर्तव्य के भ्रामक सिद्धान्त से ग्रस्त कर राज्यरूपी निर्दय यंत्र के सम्मोहन का शिकार बनाना।

4 सैन्य तन्त्र—उपर्युक्त तीन पद्धतियों से दास बनाये गये व्यक्तियों में से चयन कर वर्दी, कवायद, बैरकों तथा संगीत आदि से उनकी अन्तरात्मा को तब तक भयभीत करना जब तक वे मनुष्य न होकर आज्ञापालन के यंत्र न बन जायें।[71]

भ्रष्ट राज्य के शिकंजे से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राज्य की बुराई के कार्य में सहभागी न होना। जैसे —

1. वकीलों द्वारा वकालत छोड़ देना, जनता द्वारा न्यायालयों का परित्याग एवं निजी पंच फैसलों से विवादों का निपटारा, ग्राम समितियों एवम् पंचायत को संगठित करना।
2. जनता द्वारा शासन के अपवित्र हाथों से अलंकरण, सम्मान, सवैतनिक पद अथवा कोई अन्य लाभ स्वीकार न करना।
3 राजकीय पाठशालाओं तथा महाविद्यालयों का बहिष्कार कर अपने बालकों को बौद्धिक पतन के वातावरण से मुक्ति दिलाना तथा राष्ट्रीय विद्यालयों की

स्थापना कर उन्हे राष्ट्रीय एवं धार्मिक प्रशिक्षण के साथ-साथ आत्म-सम्मान एवं अन्तःकरण के अनुसार कार्य करने की आदत में डालना।

4. सेना तथा पुलिस मे भर्ती न होना तथा हिंसा का हर प्रकार से त्याग करना ताकि सेना की आवश्यकता ही न रहे।

उपर्युक्त स्थितियो को पूरा करने के पश्चात् कर देने की आवश्यकता स्वतः लुप्त हो जायेगी। जनता कर देने से मना कर दे और संयमपूर्वक परिणामो को झेले। यही असहयोग के सिद्धान्त का सारांश है। अन्तःकरण की प्रेरणा पर शासन से असहयोग करने के जनता के पवित्र, मूलभूत एवं अपरिहार्य अधिकार को सभी युगो के चिंतनशील मस्तिष्को ने स्वीकार किया है। यहा तक कि 'संविधान' के मसीहा टैनीसन ने भी इसके प्रति अपनी श्रद्धांजलि व्यक्त की है।

असहयोग की सफलता के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि जनता मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा का पूर्ण त्याग करे। हिंसा का थोड़ा सा प्रयत्न भी सारे कार्य पर पानी फेर देगा। इससे जनता की शात एवं स्वच्छ कष्ट सहन की शक्ति अन्तःकरण की विकृति से छिन जायगी और शासन द्वारा बदले की भावना से कार्य करने की प्रवृति को दमनचक्र चलाने का बहाना मिल जायगा। आवश्यकता इस बात की है कि जनता स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर पवित्र आत्म-त्याग तथा शांति से कष्ट सहन करने का चढ़ावा लेकर आये। भड़काने वाले कार्य तथा दमन के द्वारा उनकी सहनशीलता की परीक्षा होगी। इस तरह उन्हें सच्ची स्वतन्त्रता तथा सच्चा स्वराज्य प्राप्त होगा।[72]

सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, निष्क्रिय प्रतिरोध, असहयोग

गांधीजी ने उपर्युक्त शब्दो को सही रूप मे परिभाषित करने की असमर्थता प्रकट करते हुये उनके सम्बन्ध मे सार रूप स्पष्टीकरण दिये है जो इस प्रकार है—

सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है सत्य के प्रति आग्रह और इस कारण इसे सत्य शक्ति' कह सकते हैं। सत्य आत्मा है, अतः यह आत्म-शक्ति के रूप मे सर्व विदित है। यह हिंसा के प्रयोग को पृथक् रखती है क्योंकि मानव पूर्ण सत्य को जानने की क्षमता नही रखता, अतः दंड देने की क्षमता भी नही रखता। यह शब्द प्रथम बार दक्षिण अफ्रीका म प्रयुक्त किया गया था ताकि दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो के अहिंसक आन्दोलन को समकालीन 'निष्क्रिय प्रतिरोध' तथा अन्य आन्दोलनो से पृथक् रूप मे जाना जा सके। इसे दुर्बल के अस्त्र क रूप मे प्रस्तुत नही किया गया।

निष्क्रिय प्रतिरोध को प्राचीन अंग्रेजी अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है और यह शब्द मताधिकार आंदोलन एवं नास्तिको के आंदोलन मे प्रयुक्त हुआ है। निष्क्रिय प्रतिरोध दुर्बल का अस्त्र माना गया है। इसमे हिंसा से बचा जाता है, क्योंकि दुर्बल उसका प्रयोग नही कर सकता, किन्तु यह हिंसा के प्रयोग को अस्वीकार नही करता यदि समय पर उसका प्रयोग आवश्यक हो जाय। तथापि इसे सशस्त्र विरोध से भिन्न माना गया है और इसका प्रयोग एक समय केवल ईसाई शहीदो द्वारा ही किया जाता था।

सविनय अवज्ञा नैतिक दृष्टि से शून्य संवैधानिक कानूनो को तोड़ने का शिष्ट प्रयोग है। इस शब्द को थोरू ने सर्वप्रथम प्रयुक्त किया था। थोरू ने सविनय अवज्ञा पर एक अद्भुत ग्रन्थ भी रचा है। फिर भी थोरू अहिंसा का पुजारी नहीं था। थोरू ने संवैधानिक

अहिंसा से बुराई करने वाले के समक्ष नम्र आत्म-समर्पण का उद्देश्य नहीं होता, कि अहिंसा का अर्थ है आततायी की इच्छा के विरोध में अपनी समस्त आत्मशक्ति का ग। अहिंसा के सिद्धान्त के अन्तर्गत अकेला एक व्यक्ति भी अपने सम्मान, अपने धर्म, ी आत्मा की रक्षार्थ बड़े से बड़े साम्राज्य की नींवें हिला देता है। आत्मा की अमरता ान प्राप्त कर समस्त पार्थिव बुराइयों को अहिंसा के माध्यम से जीता जा सकता है।[76]

गांधीजी ने अहिंसा को कायरता का पर्याय मानने वालों को बार-बार आड़े हाथों । है। वे कायरता के स्थान पर हिंसा को अधिक अच्छा समझते हैं। कायरता का ान पूर्ण जीवन जीने से हिंसात्मक मार्ग ही श्रेष्ठ है, क्योंकि हिंसा के द्वारा व्यक्ति कम से अपने सम्मान की रक्षा का उद्यम तो करता है।[77] वे अहिंसा को प्रेम एवं सहिष्णुता पर नम्बित मानते हुये भी बुराई करने वाले के प्रति निष्क्रियता अथवा आज्ञाकारिता को ार नहीं करते। अत्याचारी से सम्बन्ध तोड़कर अत्याचार का प्रतिकार करना उन्होंने न माना है।[78] वे दुःख अथवा दर्द तथा हिंसा का अन्तर भी स्पष्ट करते हैं। उनके ार कोई चिकित्सक किसी रोगी पर शल्य-क्रिया करता है, उसे कड़वी औषधि देता तो वह रोगी को दर्द अवश्य पहुँचाता है किन्तु हिंसा नहीं करता। रोगी इसके लिये ित्सक को धन्यवाद ही देता है। यदि कोई व्यक्ति अपने अफसर के बुरे व्यवहार के ण सेवा से त्यागपत्र देता है, तो वह त्याग-पत्र असहयोग माना जाकर दुःख पहुँचा ा है, न कि हिंसा का कारण। यदि इसके विपरीत कोई जोर-जबरदस्ती से न्याय ्र करने का प्रयास करे तो उसे हिंसा द्वारा प्राप्त न्याय ही माना जायेगा।[79] हिंसा कोई भी कार्य अहिंसा के समक्ष कम प्रभावपूर्ण तथा कम महत्ता का है। हिंसा के मार्ग अनुसरण करने वाले क्रान्तिकारियों के समक्ष अहिंसा का प्रयोग करने वाला भी उतने र्व के साथ खड़ा हो सकता है, क्योंकि अहिंसक कार्य बेगुनाह व्यक्तियों के खून से रंगा नहीं होता। किसी बेगुनाह व्यक्ति का आत्म-बलिदान उन लाखों व्यक्तियों के बलिदान जो अन्य व्यक्तियों को मारने में शहीद हुये, लाखों गुना अधिक प्रभावशाली है। निर्दोष क द्वारा अपना बलिदान ईश्वर अथवा व्यक्ति-कृत निरंकुशता का शान्ति पूर्ण त्तर है।[80]

गांधीजी ने क्रान्तिकारियों के हिंसात्मक कार्य के विरोध में यह व्यक्त किया है कि अहिंसा को धीमी गति वाली दीर्घकालिक प्रक्रिया न मानें। वे अहिंसा को विश्व सर्वाधिक गतिशील प्रक्रिया मानते हैं, क्योंकि इसमें सफलता सुनिश्चित है।[81] सा में संघर्ष की स्थिति अधिक सक्रिय एवं वास्तविक होती है। आततायी के विरुद्ध ं में बदले की भावना का प्रयोग किया जाय तो उसकी क्रूरता और भी बढ़ेगी, किन्तु का मानसिक एवं नैतिक विरोध उसे आगे बढ़ने से रोकेगा। गांधीजी के अनुसार ाचारी की तलवार की धार को मोटी करने के लिए तेज धारवाले हथियार की ावश्यकता न होकर उसकी इस आकांक्षा को कि कोई उससे शारीरिक प्रतिरोध करेगा, ाश करने की आवश्यकता है। आत्मा का प्रतिरोध उस व्यक्ति को हतप्रभ कर सकता यद्यपि यह एक आदर्श है, फिर भी इस आदर्श में उतनी ही सत्यता है जितनी यूक्लिड ज्यामिति सम्बन्धी परिभाषाओं में।[82]

अहिंसा का सिद्धान्त राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी उतना ही कल्याणकारी

है, जितना कि व्यक्ति तथा व्यक्ति के सम्बन्धों में। गांधीजी के अनुसार युद्धोन्माद स्वार्थ तथा आर्थिक शोषण का प्रेरक है। निःशस्त्रीकरण का वरण कर यदि राष्ट्र अपने ऊपर बड़ा संकट उठाने को तैयार हो, तो वह न केवल अनुकरणीय होगा अपितु समस्त विश्व में अहिंसा की प्रेरणा का स्रोत बन जायगा।[83] सैन्य शक्ति का आत्मा की शक्ति के समक्ष नगण्य स्थान है। भय, निर्बल का शोषण, अनैतिक लाभ, सांसारिक सुख भोग की तृष्णा सभी आत्मा की शक्ति से असंगत हैं। शांति का मार्ग ही सत्य का मार्ग है। सच्चाई शांति से भी अधिक आवश्यक है। असत्य हिंसा की जननी है। सत्यवादी मनुष्य अधिक समय तक हिंसक नहीं रह सकता। वह अन्त में हिंसा का पूर्ण त्याग कर देगा। सत्य तथा अहिंसा एवं असत्य तथा हिंसा में तालमेल नहीं हो सकता। हम मनसा, वाचा, कर्मणा पूर्ण अहिंसक न भी हों, तब भी अहिंसा को लक्ष्य बनाकर शनैः शनैः उस ओर बढ़ सकते हैं। क्योंकि, राष्ट्र अथवा विश्व के लिये स्वतंत्रता की प्राप्ति अहिंसा के मापदण्ड पर ही आधारित होनी चाहिये। कुछ व्यक्तियों का सत्य भी महत्त्व रखता है, जब कि करोड़ों का असत्य हवा के तेज झोंके में भूसे के समान विलुप्त हो जाता है।[84]

अहिंसा में आक्रमण करने की क्षमता पूर्ण-आवश्यकता के रूप में है। अहिंसा स्वेच्छा से जानबूझकर प्रतिरोध का एक प्रतीक है जबकि सेना का भाव बलवान माना गया है। प्रतिशोध का विचार शक्ति के वास्तविक अथवा काल्पनिक भय के कारण उत्पन्न होता है। कुत्ता भयभीत होने पर भौंकता है तथा काटने लगता है। ऐसा व्यक्ति जो पृथ्वी पर किसी से भी नहीं डरता, वह पीड़ा पहुंचाने वाले अपने शत्रु के विरुद्ध भी क्रोध का तनिक भी भाव ही नहीं रखता।[85] अहिंसा समाज के हित में स्वेच्छा से अपने-आप पर लगाया गया नियंत्रण है। यह पवित्र करनेवाली आंतरिक शक्ति है। आर्थिक क्षति उठा कर भी व्यक्ति इसका पालन करता है। शुद्ध आत्मिक शक्ति को पहचानने एवं आत्म त्याग की भावना को विकसित करने के लिए उचित प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इसके द्वारा जीवन का दृष्टिकोण ही बदल जाता है, जीवन के मूल्य परिवर्तित हो जाते हैं तथा स्वार्थ के पूर्वानुमान ध्वस्त हो जाते हैं। यदि हर व्यक्ति इसका प्रयोग न भी करे तब भी किसी एक व्यक्ति के पूर्ण अहिंसक होने पर सभी उसी प्रकार अनुशासित हो सकते हैं जैसे कि एक ही सेनानायक द्वारा समस्त सेना की शक्ति का नियमन एवं संचालन किया जाता है।[86]

गांधीजी के अनुसार अहिंसा को केवल वध न करने के अर्थ में नहीं लेना चाहिये। स्वार्थ अथवा क्रोधवश किसी का जीवन हरने या दुःखी करने का नाम हिंसा है। ऐसे कार्य करने से अपने-आपको रोकना अहिंसा है। अहिंसा निःस्वार्थ है। निःस्वार्थ होकर अपने शरीर की चिंता किये बिना सत्य को पहचानना तथा अन्य व्यक्तियों को सुरक्षा प्रदान करना अहिंसा है। दुर्बलता अथवा कायरता को दूर रखने की आवश्यकता पर बल देते हुए गांधीजी ने व्यक्त किया है कि एक हिंसक व्यक्ति किसी दिन अहिंसक बन सकता है किन्तु कायर में अहिंसा का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। यदि हम स्वयं अपनी स्त्रियों तथा धार्मिक स्थानों की अहिंसा के द्वारा रक्षा करना नहीं जानते तो हमें, यदि हम पुरुष हैं, लड़ते हुए उनकी रक्षा करनी चाहिये।[87]

अहिंसा असहयोग का अभिन्न अंग है। सब प्रकार से असफल होने के बाद भी अहिंसा द्वारा संघर्ष जारी रह सकता है। अहिंसा का त्याग करने पर पराजय निश्चित है।

हिंसा शासन का मूल आधार है। व्यक्ति हिंसा से हिंसा को नहीं जीत सकता। अहिंसा का प्रारंभ मन या मस्तिष्क से होता है। मन में घृणा का भाव विद्यमान रहते अहिंसा का प्रयोग आत्मघाती है। यदि व्यक्ति मन से शुद्ध होकर अहिंसक बना रहता है तो वह हिंसा का सहभागी नहीं कहा जा सकता। गांधीजी ने बोअर युद्ध, यूरोपीय महायुद्ध तथा जुलु युद्ध में स्वयं सेवक के रूप में अपने शान्तिपूर्ण कार्यों की सफाई देते हुये व्यक्त किया है कि उनका कार्य युद्ध में सम्मिलित होने वालों के समान हिंसक दिखाई देते हुये भी अहिंसक रहा है। यद्यपि गांधीजी युद्ध में शस्त्र उठाने वाले तथा रेडक्रास का कार्य करने वाले दोनों को समान रूप से युद्ध का दोषी मानते हैं, किन्तु अपने कार्य को गांधीजी ने इस कारण अहिंसक माना है कि वे स्वयं मन से हिंसा में विश्वास नहीं करते थे अपितु विवशतावश उन्होंने युद्ध के दिनों में सेवा-कार्य किया। बाद में गांधीजी ने अहिंसा के मार्ग का अनुसरण करते हुये अपने सिद्धान्तों के प्रति स्पष्ट विचार तथा अनुभव का उपयोग कर अहिंसा के प्रति अपनी निष्ठा में अधिकतम दृढ़ता प्रदान की।[88]

अहिंसा के सिद्धान्त तथा व्यवहार की व्याख्या करते हुये महादेव देसाई ने व्यक्त किया है कि अहिंसा में छल, छद्म, प्रपंच आदि का कोई स्थान नहीं होता। सभी कार्य खुले तौर पर किये जाते हैं। सत्य को गोपनीय रखने की आवश्यकता नहीं होती। सत्य तथा अहिंसा का वरण करने वाला पराजय शब्द को स्वीकार ही नहीं करता। अहिंसा अत्यन्त गत्यात्मक प्रक्रिया है। युद्ध के भयंकर संहारक अस्त्रों से सुसज्जित व्यक्ति अपने शत्रुओं का नाश करने के लिए उद्यत रहते हुये भी चौबीस घंटों में कुछ समय के लिये शस्त्र रखकर आराम करने की आवश्यकता अनुभव करता है। इस प्रकार वह दिन के कुछ समय के लिए क्रियाहीन रहता है, किन्तु सत्य एवम् अहिंसा का समर्थक कभी क्रियाहीन नहीं होता, क्योंकि वह बाह्य शस्त्रों पर निर्भर नहीं करता। उसके अस्त्र-शस्त्र उसके मन में निवास करते हैं और वह अहोरात्र काम करता रहता है। व्यक्ति चाहे सोता हो अथवा जागता हो, घूम रहा हो अथवा खेल रहा हो, आन्तरिक प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। गांधीजी ने अहिंसा का महत्व दर्शाते हुये यह कामना की है कि व्यक्ति को सैन्य शक्ति पर आधारित राज्य का समर्थन नहीं करना चाहिये। यदि सेना में भर्ती होने की अनिवार्यता सामने आये तो उसका भी प्रतिकार कर दंड के लिये अपने आपको प्रस्तुत करना ही उचित है। वे रेडक्रॉस जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को युद्ध के समय सेवार्थ अर्पित करने के स्थान पर विश्व-व्यापी सेवा-कार्य करने की प्रेरणा देते हैं ताकि पीड़ित मानवता को सहारा मिल सके। वे युद्ध की स्थिति को बर्बरता का प्रतीक मानते हैं। वे राज्यों की कृत्रिम सीमाओं को समाप्त करने के इच्छुक हैं ताकि सभी भाईचारे की भावना से रहें और युद्ध के समस्त कारणों को समाप्त कर दें। उनके अनुसार राज्यों की सीमायें ईश्वरकृत नहीं हैं। स्वीटजरलैंड जैसे देश को जो स्थायी तटस्थता का उदाहरण है, सेना की आवश्यकता नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य निरस्त्रीकृत होकर आक्रामक के हाथों अपना विनाश होता देखता रहे। गांधीजी ने ऐसे समय में अहिंसा के सिपाहियों की भूमिका पर प्रकाश डाला है। वे चाहते हैं कि सर्वप्रथम आक्रमणकारी सेना को सभी प्रकार की सहायता तत्काल बंद कर दी जाय। इसके पश्चात् थर्मोपली के युद्ध क्षेत्र के समान सभी पुरुष, स्त्री तथा बालक एक मानवीय दीवार के रूप में खड़े हो जायें और आक्रमणकारियों को अपने मृत शरीरों के

5—अहिंसा में अन्ततः विजय सुनिश्चित है—यदि विजय जैसे शब्द का अहिंसा के लिये प्रयोग किया ही जाय। वास्तव में जहां पराजय का कोई स्थान ही न हो, वहां विजय का कोई अर्थ ही नहीं होता।[93]

अहिंसा की मान्यता सर्वव्यापी होती है। व्यक्ति किसी एक कार्य के बारे में अहिंसा तथा दूसरे के बारे में हिंसा का अनुमोदन नहीं कर सकता। ऐसा होने पर अहिंसा एक नीति मात्र रह जायगी न कि जीवन-शक्ति।[94] मानवीय प्रकृति के ईश्वरीय गुण उसे स्थायी शांति की ओर ही ले जाते हैं। यदि ईमानदारी से विश्व में शांति स्थापित करने के प्रयास किये जाय तो महाभयंकर शस्त्रों को सदा के लिये समाप्त किया जा सकता है। जीवित ईश्वर में निष्ठा की कमी ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत में फैली अविश्वास की भावना का मूल कारण है। ईसामसीह को शांति का राजकुमार मानने वाले राष्ट्र भी व्यवहार में शांति स्थापित करने से कतराते हैं।[95]

गांधीजी ने अहिंसा की सफलता के निम्न आधार प्रस्तुत किये हैं —

1—अहिंसा मानव प्रजाति का नियम है और हर दृष्टि से पाशविक शक्ति से श्रेष्ठ है।

2—प्रेम-रूपी ईश्वर में विश्वास नहीं रखने वालों को अहिंसा की उपलब्धियां प्राप्त नहीं होती।

3—अहिंसा से आत्मसम्मान एवम् गौरव की रक्षा होती है किन्तु इसके द्वारा चल-सम्पत्ति तथा भूमि की सुरक्षा प्रायः नहीं हो पाती। सशस्त्र रक्षकों को रखने के बजाय अहिंसा का स्वभावतः प्रयोग फिर भी उपयोगी है। अनुचित उपायों से प्राप्त धन तथा अनैतिक कृत्यों की रक्षा के लिए अहिंसा का सहारा नहीं लिया जा सकता।

4—व्यक्ति अथवा राष्ट्र को अहिंसा के प्रयोग में सम्मान के अलावा अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार रहना चाहिये। आधुनिक साम्राज्यवाद, जो कि बल पर आधारित है, अहिंसा के साथ मेल नहीं खा सकता।

5—ईश्वर तथा प्रेम में निष्ठा रखने वाला व्यक्ति चाहे वह बालक, युवा, स्त्री अथवा वृद्ध ही क्यों न हो, अहिंसा-रूपी शक्ति से युक्त होता है। अहिंसा को जीवन-धर्म मान लेने के पश्चात् समस्त जीवन अहिंसामय हो जाना चाहिये।

6—यह मानना सर्वथा भ्रामक है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिये लाभकारी है, मानव समुदाय के लिये नहीं।[96]

सत्य तथा अहिंसा कोई प्रतिबन्धित गुण नहीं है बल्कि इनका प्रयोग विधान-मंडलों तथा बाजार में समान रूप से हो सकता है। केवल व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं, अपितु समूहों, समुदायों एवम् राष्ट्रों के व्यवहार में भी सत्य तथा अहिंसा का प्रयोग किया जा सकता है। यदि अहिंसा का जीवन के समस्त क्षेत्रों में उपयोग न हो तो इसकी व्यावहारिक विशेषता ही समाप्त हो जायेगी। व्यक्तिगत मोक्ष की कामना करने वालों के लिए सत्य तथा अहिंसा का उतना महत्व नहीं जितना दिन प्रतिदिन के कार्यों, राजनीति एवम् दुनिया-दारी के संदर्भ में इनका महत्व है।[97]

अहिंसा में विश्वास तब तक जाग्रत नहीं होता जब तक व्यक्ति ईश्वर में पूर्ण आस्था

नहीं रखता। ईश्वर में पूर्ण आस्था रखनेवाला व्यक्ति अपने विरोधियों के जीवन का उतना ही सम्मान करता है जितना स्वयं के जीवन का। ईश्वर में आस्था रखे बिना अहिंसा के पथ पर विचरण नहीं हो सकता। ईश्वर की उपस्थिति तथा सभी के हृदय में ईश्वर के दर्शन व्यक्ति को सर्वोच्च बलिदान की प्रेरणा देते हैं। आस्था को विकसित किया जा सकता है। व्यक्ति हिंसा की भावना के माध्यम से विकसित नहीं कर सकता किन्तु आस्था बिना भावना के विकसित नहीं होती। अहिंसा तभी सफल होती है जब हम ईश्वर में जीवित आस्था रखते हैं।[98] अहिंसक संघर्ष में दूसरा पक्ष बदले का भाव नहीं रखता और शत्रु भी मित्र में बदल जाते हैं। यह मेडिसिन के समान है जिसकी सूक्ष्म मात्रा भी ज्वर के ताप को धीरे धीरे स्वस्थ बना देती है। इसी प्रकार सच्ची अहिंसा का अंश भी सम्पूर्ण एवं ज्ञान रूप से सम्पूर्ण समाज का परिष्कार करता है।[99]

विरोधी एवं उग्र वातावरण के मध्य अहिंसा का वास्तविक प्रभाव होता है। उग्र विरोध से अहिंसा सीमित नहीं होती। यदि अहिंसा सत्ताधारियों की कृपा पर निर्भर करे तो वह खोखली अहिंसा होगी। सम्पूर्ण समाज का संगठन अहिंसा पर आधारित किया जाना चाहिए। परिवार में यदि अहिंसा का आधार मान्य है तो समाज, जो परिवार का ही विस्तृत रूप है, अहिंसा पर आधारित क्यों नहीं हो सकता? नाम मात्र के लिये लोकतान्त्रिक बने रहने वाले राज्यों के सामने यही विकल्प है कि या तो वे सर्वाधिकारवादी राज्य बन जायें या वे अहिंसा को अपना कर पूर्ण लोकतान्त्रिक राज्य कहलायें। यह कहना निरर्थक है कि व्यक्ति अहिंसक हो सकता किन्तु राज्य, जो व्यक्तियों द्वारा निर्मित होता है अहिंसक नहीं बन सकता।[100] व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में अहिंसा का नियम मान्य होना चाहिए। यदि हम साधन का ध्यान रखें तो साध्य स्वयमेव प्राप्त होगा। अहिंसा साधन के रूप में है और साध्य है प्रत्येक राष्ट्र की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता। अहिंसा का पालन करने पर कोई भी राष्ट्र अपने को छोटा या बड़ा अनुभव नहीं करेगा।[101]

इतिहास साक्षी है कि व्यक्ति अहिंसा की ओर निरन्तर बढ़ रहा है। हमारे आदि पूर्वज नरभक्षी थे। बाद में वे नरभक्षी होने के स्थान पर पशुओं के शिकार पर निर्भर रहने लगे। शिकारी जीवन से तंग आकर वे कृषि करने के लिए एक स्थान पर रहने को उद्यत हुए। घुमक्कड़ जीवन का त्याग कर उन्होंने ग्राम, नगर तथा सभ्यताओं की स्थापना की। उनकी हिंसा कम होती गई और वे अहिंसा की ओर बढ़ते गये। यदि ऐसा न हुआ होता तो आज मानव-नस्ल लुप्तप्राय होती जैसे कि अन्य पशु-नस्लें लुप्त हो गईं। महापुरुषों एवं अवतारी पुरुषों ने भी अहिंसा का ही सन्देश दिया। किसी ने हिंसा का उपदेश नहीं दिया। हिंसा को सिखाने की आवश्यकता ही नहीं है। मनुष्य का अन्तरात्मा जागृत होने पर वह हिंसक नहीं बना रह सकता। हिंसा में लिप्त रहने का अर्थ है सर्वनाश। अहिंसा की ओर मानवता की प्रगति बनी हुई है और भविष्य में भी मानव अहिंसा की ओर बढ़ता जायेगा।[102]

अहिंसक आन्दोलन को सफल बनाने के लिए अनशन का महत्वपूर्ण योगदान है। सत्ता का विरोध करने तथा स्वयं की जनता को अनुचित कार्यों तथा उपद्रव करने से रोकने के लिए अनशन का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है। धार्मिक चिन्तकों

में तो अनशन का महत्व स्वीकार कर लिया गया है किन्तु कई व्यक्ति राजनीतिक संघर्ष में इसके प्रयोग पर टीका-टिप्पणी करते हुये दिखाई देते हैं। वास्तविकता यह है कि सांसारिक कार्यों के लिए अनशन का प्रयोग इसके वास्तविक मूल्य को पहचानने में सहायक रहा है। यह पृथ्वी पर स्वर्ग उतरने के समान है। इस विश्व के अलावा और कोई विश्व नहीं है। गुफा में रहकर अहिंसा का प्रयोग करने वाले तथा इस जीवन के पश्चात् अगले जीवन में स्वर्ग की कामना करने वालों तक अहिंसा को सीमित नहीं किया जा सकता। राजनीतिक जीवन में अहिंसा तथा अनशन की उपादेयता को सहानुभूतिपूर्वक स्वीकारने की आवश्यकता है। केवल जेलों में शासनाधिकारियों की ज्यादतियों के विरुद्ध शासन तथा राष्ट्र का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में अनशन से सफलता प्राप्त होती है किन्तु व्यापक राष्ट्रीय हित में दूसरा प्रयोग ही वास्तविक अहिंसा का प्रतीक है।[103]

गांधीजी के अनुसार अनशन करना अहिंसा का पालन करने वाले के शस्त्रागार का अंतिम शस्त्र है। जब मानवीय समझ-बूझ विफल हो जाय तब अनशन प्रारंभ होता है। अनशन की क्रिया आध्यात्मिक है, अतः अनशन करनेवाला ईश्वर की प्रार्थना कर अपने-आपको ईश्वर के सुपुर्द कर देता है। अनशन के द्वारा अन्य व्यक्तियों की सुषुप्त अन्तरात्मा जागृत होती है। सत्य के लिये सही कदम उठाने से विचलित नहीं होना चाहिये। अनशन व्यक्ति की अन्तरात्मा की आवाज का पालन करने के उद्देश्य से किया जाता है।[104]

सर्वोदय

पाश्चात्य विचारकों ने अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख को बढ़ावा देना व्यक्तियों का कर्त्तव्य माना है। आर्थिक सम्पन्नता को ही सुख का आधार माना गया है। यदि इस सुख की प्राप्ति में नैतिक नियमों का उल्लंघन हो तब भी कोई बात नहीं। अल्पसंख्यकों को हानि पहुंचा कर भी अधिकतम व्यक्तियों का सुख प्राप्त किया जा सके तो उसमें भी उन्हें कोई बुराई नहीं दिखाई देती। यह पाश्चात्य विचारधारा, जो कि उपयोगितावाद के नाम से जानी गयी है पाश्चात्य देशों में अधिक लोकप्रिय रही है, किन्तु गांधीजी ने रस्किन के विचारों से प्रेरणा प्राप्त कर सर्वोदय-सभी की प्रगति की धारणा-को प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य प्रभाव की आलोचना करते हुए गांधीजी ने व्यक्त किया है कि पाश्चात्य सभ्यता केवल सौ वर्ष पुरानी है। इतने कम समय में ही पाश्चात्य जन सांस्कृतिक अराजकता की स्थिति में पहुंच गये हैं। गांधीजी नहीं चाहते हैं कि भारत भी यूरोप के समान इस स्तर तक गिर जाय। पाश्चात्य देशों की शक्ति-पिपासा तथा उपनिवेशवाद की भूख ने उनके जीवन को नाटकीय बना देने की स्थिति उत्पन्न कर दी है। बड़े-बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों ने पाश्चात्य जगत् का नैतिक अवमूल्यन किया है किन्तु गांधीजी भारत में नैतिक साधन से स्वराज्य की स्थापना चाहते हैं। उन्होंने बड़े-बड़े उद्योग धन्धों का विरोध किया है। *वे सत्य एवं अहिंसा में सबका हित* देखते हैं।[105]

गांधीजी ने रस्किन की पुस्तक अन्टु दिस लास्ट को गुजराती में अनुवादित कर उसे सर्वोदय का शीर्षक दिया। वहीं से यह शब्द भारत में प्रचलित हुआ। गांधीजी सर्वोदय के स्तम्भ हैं। उनके अनुसार सर्वोदय का अर्थ है :—

1. व्यक्ति की भलाई सभी की भलाई में निहित है।
2. एक व्यक्ति का कार्य उतना ही मूल्यवान् है जितना नाई का, क्योंकि सभी को अपने कार्य से जीविकोपार्जन का समान अधिकार प्राप्त है।

3. श्रम का जीवन अर्थात् खेती करने वाले किसान तथा हस्तशिल्पी का जीवन जीने योग्य जीवन है।[106]

सर्वोदय की धारणा को स्पष्ट करते हुये गांधीजी ने इसे उपयोगितावाद से भिन्न बतलाया है। उनके अनुसार अहिंसा में विश्वास रखने वाला उपयोगितावादी नहीं हो सकता। वह सभी के कल्याण के लिये कार्य करेगा और इसी आदर्श की प्राप्ति के लिये अपना जीवन भी अर्पित कर देगा। वह अपना जीवन अर्पित करने को तैयार है ताकि अन्य व्यक्ति जीवित रह सकें। सर्वोदय अथवा सभी व्यक्तियों के अधिकतम सुख का विचार अधिकतम व्यक्तियों के सुख से युक्त है। इस दृष्टि से उपयोगितावाद तथा सर्वोदय दोनों में समानता है, किन्तु इसके पश्चात् दोनों ही परस्पर विरोधी विचार बन जाते हैं। उपयोगितावादी कभी त्याग करने को उद्यत नहीं होगा। उपयोगिता को आधार मान कर ही किसी भी कृत्य को उचित ठहराने का प्रयास किया जायेगा। अंग्रेजों ने जालियांवाला बाग-हत्याकाण्ड को उपयोगिता के आधार पर उचित ठहराया है किन्तु सर्वोदय अर्थात् सभी के सर्वाधिक कल्याण का विचार ऐसे कृत्य को कभी उचित नहीं ठहरा सकता।[107]

सर्वोदय बनाम लोकतन्त्र

गांधीजी के अनुसार बीस व्यक्तियों के केन्द्र में बैठ जाने से सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना नहीं होगी। उसे नीचे से प्रारम्भ करना होगा ताकि प्रत्येक गांव का व्यक्ति भाग ले सके।[108] लोकतन्त्र के कार्य का प्रारम्भ गांवों से हो। गांवों से निर्मित सामाजिक संरचना में सदैव विस्तृत होने वाले वृत्त होंगे, न कि एक वृत्त दूसरे वृत्त से ऊपर। जीवन पिरामिड की तरह नहीं होगा जिसमें नीचे का भाग शिखर का भार-वहन करें। वह एक सामुद्रिक वृत्त की तरह होगा जिसका केन्द्र व्यक्ति में निहित होगा तथा व्यक्ति गांव के लिए, गांव अनेक गांवों के वृत्त के लिए और अन्त में सभी व्यक्ति एक जीव होकर रहेंगे तथा दम्भजन्य आक्रामक व्यवहार का त्याग करेंगे। इस तरह उस सामुद्रिक वृत्त की महत्ता के सहभागी बनेंगे जिसके वे अभिन्न अंग हैं। इस प्रकार से बाह्य वृत्त आन्तरिक वृत्त को कुचलने में शक्ति का प्रयोग नहीं करेगा किन्तु अपने अन्तर्गत सभी को शक्ति प्रदान करते हुये स्वयं भी शक्ति प्राप्त करेगा। गांधीजी के अनुसार व्यंग्य की दृष्टि से इस योजना को स्वप्नलोकी भले ही कहा जाय, किन्तु यूक्लिड के बिन्दु के समान इस योजना का भी अस्तित्व है। भारत को इसके अनुरूप रहने की आवश्यकता है। यद्यपि यह योजना पूर्णतः प्राप्त नहीं की जा सकती, फिर भी साध्य-वस्तु की तस्वीर सामने रखने से उससे मिलता-जुलता लक्ष्य तो प्राप्त हो ही सकता है। भारत में प्रत्येक गांव के गणराज्य बनने के पश्चात् यह आदर्श सामने आयेगा जिसमें अन्तिम और प्रथम सभी गांव समान होंगे, अथवा अन्य शब्दों में, न कोई प्रथम रहेगा और न कोई अन्तिम।[109]

गांधीजी तथा लोकतन्त्र

गांधीजी के राजनीतिक विचारों में लोकतन्त्र के प्रति उनकी निष्ठा सर्वत्र विद्यमान है। लोकतन्त्र में समाज के पिछड़े वर्ग को राजनीतिक अधिकारों तथा व्यवस्था के

विनिश्चयों को प्रभावित करने की शक्ति से युक्त करने की माग सतत होती रही है। गांधीजी ने भी लोकतन्त्र के सामाजिक उत्थान के पक्ष को महत्व दिया है। वे अभिजात-तंत्रीय लोकतन्त्र तथा पंचवर्षीय मतदान की प्रणाली वाले औपचारिक लोकतन्त्र के पक्ष मे नही है। उनके लोकतन्त्र में एक ओर समाज के दलित वर्गों द्वारा कुलीन तथा पूंजीपति वर्गों के नियन्त्रण के विरुद्ध राजनीतिक आन्दोलन की प्रेरणा मिलती है, तो दूसरी ओर ऐसे आदर्श समाज की माग जिसमें व्यक्ति को स्वशासन का पूर्ण अवसर प्राप्त हो सके। गांधीजी के सर्वोदयी उदारवादी लोकतन्त्र मे दलविहीन राजनीति के दर्शन होते है। लोकतंत्र के स्वतन्त्र विकास में राजनीतिक दलों ने अनेक बाधाएँ उत्पन्न कर दी है। गांधीजी सर्वोदय तथा अन्त्योदय की दृष्टि से ऐसे समतावादी समाज के उन्नायक हैं, जिसमे नेता तथा जनता एक ही धरातल पर आदर्श एवं संयम से जन-सेवा का कार्य करते रहे। उन्होंने उद्योगवाद से रहित ऐसे समाज की नींव रखी है जिसमें स्वावलम्बन द्वारा व्यक्ति अपनी आजीविका तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। हिंसा-विहीन राजनीति का सूत्रपात कर गांधीजी ने स्वतन्त्रता, समानता तथा परोपकारिता के आदर्शों को सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया है। वे राज्य के अवलम्बन से व्यक्ति को मुक्त कर जन-जीवन मे ऐसी जागृति उत्पन्न करना चाहते है जिससे बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक विद्रोह की स्थिति ही उत्पन्न न हो। सविनय अवज्ञा तथा सत्याग्रह द्वारा लोकतान्त्रिक मूल्यों की रक्षा करते हुए गांधीजी ने राजनीति से गठबंधनों एवं जोड़तोड़ की सौदेबाजी को समाप्त कर वैयक्तिक निर्णयों की शुद्धता एवं विवेकयुक्त सत्यनिष्ठा को महत्व दिया है।

गांधीजी लोकतंत्र को "मिलावट-विहीन अहिंसा का शासन" मानते है। लोकतंत्र अर्थात् अहिंसा व्यक्ति की आत्मशुद्धि या नैतिक उत्थान को लिये हुये है। राजनीतिक स्वशासन, जिसमें अनेक पुरुषों तथा स्त्रियों का स्वशासन अन्तर्निहित है, व्यक्तिगत स्वशासन से बढ़कर नहीं हो सकता। वे पाश्चात्य देशों के लोकतान्त्रिक उदाहरणों से सन्तुष्ट नहीं है, क्योंकि वहां शस्त्रास्त्र की होड़, साम्राज्यवाद, शोषण, पूंजीवाद, राजनीतिक अस्थिरता, राजनीतिक भ्रष्टाचार तथा नेतृत्व के अभाव ने अच्छे लोकतान्त्रिक मूल्यों को भुला दिया है। राज्य का अधिक कार्यों में हस्तक्षेप राज्य शक्ति के बढ़ते हुये दायरे का प्रतीक बन व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को निगलने के लिए मुंह बाये खड़ा है। ऐसे भयावह राज्य से मुक्ति प्राप्त करने के लिए उचित नियन्त्रण तथा सन्तुलन ढूंढने की आवश्यकता है।

गांधीजी ने हिन्द स्वराज्य में संसद की जननी ब्रिटेन की तुलना "बांझ स्त्री" से करते हुये उसकी तीव्र आलोचना की है। उनके अनुसार ब्रिटेन की संसद ने एक भी अच्छा कार्य अपने आप नहीं किया। प्रबुद्ध मतदाताओं द्वारा चुनी गई संसद यदि अच्छे व्यक्तियों से युक्त है तो दबाव अथवा मांगपत्र की आवश्यकता क्यों होती है? सत्य यह है कि सदस्यों का स्वार्थ एवं दम्भ उनके चिन्तन को संकीर्ण बना देता है। वे भय बिना कार्य नहीं करते। मन्त्रियों के प्रति भी संसद की निष्ठा अस्थिर एवं परिवर्तनशील होती है। संसद के विनिश्चय सुनिश्चित नहीं होते। आज का निर्णय कल के निर्णय द्वारा बदल दिया जा सकता है। महत्वपूर्ण प्रश्नों पर होने वाली बहसों मे भी संसद के सदस्य ऊंघते तथा आराम करते दिखाई देते है। कार्लाइल ने संसद को "विश्व की बकबक करने वाली

दुकान" कहा है। सांसद अपने दल के लिये बिना सोचे-समझे मतदान करते हैं। गांधीजी प्रधानमंत्री के नेतृत्व से भी सन्तुष्ट नहीं हैं। प्रधानमंत्री अपनी शक्ति की अधिक चिन्ता रखता है न कि संसद के कल्याण की। उसकी दृष्टि में अपने दलीय हितों के समक्ष शेष कार्यों का महत्त्व नहीं है। अपना नेतृत्व बनाये रखने के लिये प्रधानमंत्री रिश्वत नहीं लेता, पर रिश्वत अवश्य देता है। व्यक्तियों को सम्मानित करना तथा अपने स्वार्थ की पूर्ति करना रिश्वत देना ही है। ऐसे व्यक्तियों को न तो देशभक्त माना जा सकता है और न ईमानदार तथा अन्तःकरण से प्रेरित ही कहा जा सकता है।

संसदीय लोकतन्त्र की आलोचना करते हुए गांधीजी ने मतदाताओं को भी आड़े हाथों लिया है। उनके अनुसार मतदाता समाचार-पत्रों से, जो कि अधिकतर बेईमान होते हैं अपना मत बनाते हैं। मतदाता भी संसद के समान परिवर्तनशील एवं अस्थिर चित्त के होते हैं। उनके विचार घड़ी के लोलक के समान इधर-उधर झूलते हैं। मतदाताओं द्वारा ओजपूर्ण वक्तृता अथवा दावत-सत्कार करने वाले व्यक्ति का अनुगमन किया जाता है। इन सब त्रुटियों के कारण पाश्चात्य लोकतान्त्रिक संस्थायें अलोकतान्त्रिक बन गई हैं। जनता का शासन केवल संसदीय अभिजनों का शासन रह गया है। संसद दासता का प्रतीक तथा राष्ट्र का खर्चीला खिलौना है—खर्चीला इस कारण कि उसमें समय तथा धन दोनों का अपव्यय होता है। गांधीजी ने केवल संस्थात्मक अपूर्णताओं के कारण लोकतन्त्र की आलोचना नहीं की। उनकी आलोचना का मुख्य आधार पाश्चात्य लोकतन्त्र में व्याप्त हिंसा तथा असत्य की मनोवृत्ति है।

गांधीजी ने अहिंसा के सिद्धान्त पर आधारित स्वराज्य की कल्पना में राज्य का स्वरूप सत्य तथा अहिंसा से ओतप्रोत लोकतान्त्रिक राज्य का माना है। वे भ्रष्टाचार तथा दम्भपूर्ण व्यवहार को समूल नष्ट करना चाहते हैं। उन्होंने महत्त्वाकांक्षा के स्थान पर सेवा तथा त्याग की भावना से युक्त समानता का आदर्श स्वीकार किया है। गांधीजी की दृढ़ धारणा है कि लोकतन्त्र को जबरन् विकसित नहीं किया जा सकता। लोकतन्त्र की भावना बाहर से थोपी नहीं जा सकती, इसे अंतराल से बाहर आना है। गांधीजी निर्वाचन तथा प्रतिनिधित्व के विरुद्ध नहीं हैं। वे वयस्क मताधिकार द्वारा भारतीय नागरिकों को भाग्य संस्कार का सृजन करने का अवसर चाहते हैं। मतदाताओं के लिए वे राज्य की कायिक श्रम से सेवा करना अनिवार्य शर्त मानते हैं। विकेन्द्रीय सत्ता को सार्वभौमिक मताधिकार से युक्त अनुशासित एवं राजनीतिक दृष्टि से बुद्धिमान निर्वाचकों द्वारा निर्वाचित कराना चाहते हैं।

उनकी स्वयं की मान्यता कुछ चुने हुये जन-प्रतिनिधियों द्वारा, जो जनता की इच्छा पर हटाये भी जा सकें, लोकतान्त्रिक राज्य को प्रशासित करने की है। राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता के पूर्ण विकेन्द्रीयकरण द्वारा वे जन-प्रतिनिधियों की संख्या कम करना चाहते हैं। अहिंसक राज्य की स्थापना के पश्चात् राज्य के कार्य सीमित हो जायेंगे और स्वयं-सेवी संगठनों की महत्ता बढ़ेगी। ऐसे में अधिक जन-प्रतिनिधियों को चुनकर भेजने की व्यवस्था नहीं करनी पड़ेगी। गांधीजी ने गोलमेज सम्मेलन में ग्राम-पंचायतों द्वारा अप्रत्यक्ष निर्वाचन कराने का सुझाव भी दिया था। 1942 में उन्होंने पुनः अप्रत्यक्ष निर्वाचन की बात दोहराई। उनका सुझाव था कि भारत के सात लाख गांवों को मत देने वाले नागरिकों के इच्छानुरूप संगठित किया जायेगा। प्रत्येक गांव का एक मत होगा और वे जिला

प्रशासन को चुनेंगे। जिला प्रशासन प्रांतीय प्रशासन के एक अध्यक्ष का चुनाव करेंगे जो राष्ट्रीय मुख्य कार्यपालिका होगा। इससे सत्ता ग्राम यूनिटों में शक्ति विकेन्द्रित हो जायगी। इन गांवों में स्वेच्छिक सहयोग होगा जिससे वास्तविक स्वतन्त्रता का उद्भव होगा। ग्राम पंचायत जो गांव का शासन चलायेगा, गांव के वयस्क स्त्रियों तथा पुरुषों द्वारा प्रति वर्ष चुने गये पांच व्यक्तियों द्वारा निर्मित होगी। पंचायत व्यवस्थापिका, कार्य-पालिका तथा न्यायपालिका के कार्यों से युक्त होगी। यह ग्राम लोकतन्त्र व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आधारित होगा और सारे विश्व की सत्ता का सामना करने में समर्थ होगा क्योंकि व्यक्ति तथा गांव दोनों ही अहिंसा के नियम द्वारा शासित होंगे।

गांधीजी की अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति अलोकतान्त्रिक नहीं है। इस पद्धति में निर्वाचन के दौरान भड़काने, रिश्वत देने, भ्रष्टाचार फैलाने तथा हिंसक कार्य करने का अवसर ही नहीं रहेगा। विकेन्द्रीकरण तथा राज्य के सीमित कार्यों के सन्दर्भ में अप्रत्यक्ष निर्वाचन का सही मूल्यांकन होगा। गांधीजी ने व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन तथा हितों के विशेष प्रतिनिधित्व का भी विरोध किया है और इन्हें अप्रजातान्त्रिक बतलाया है। उन व्यक्तियों के लिए जो चुनाव लड़ना चाहते हैं, गांधीजी व्यक्तिगत स्वराज्य-प्राप्ति आवश्यक मानते हैं। व्यक्तिगत स्वराज्य से तात्पर्य है निःस्वार्थ, योग्य एवं निर्विकार होना। चयन के इच्छुक व्यक्ति को पदलोलुपता, आत्मप्रशंसा, विपक्ष को अपमानित करने तथा मतदाताओं का मनोवैज्ञानिक शोषण करने की वर्तमान निर्वाचन की बुराइयों से मुक्त होना होगा। उम्मीदवारों को प्रचार के कारण मत नहीं मिलने चाहिये अपितु अर्पित सेवा के गुण हेतु मत प्राप्त हों। व्यक्तिगत लाभ की भावना के विपरीत सभी सार्वजनिक पद सेवा की भावना से ग्रहण किये जायें। गांधीजी का यह दृष्टान्त है कि यदि एक व्यक्ति सामान्य जीवन में पच्चीस रुपये मासिक से सन्तुष्ट है तो उसे यह अधिकार नहीं है कि वह मन्त्री पद अथवा अन्य सरकारी पद ग्रहण कर दो सौ पचास रुपये की कामना करें। सत्याग्रही को, जो सेवा तथा मानव-प्रेम के कारण ही पदग्रहण करता है, इन प्रलोभनों से दूर रहना है।

गांधीजी के अनुसार मतदाता के लिए मताधिकार की योग्यता न तो सम्पत्ति पर आधारित होनी चाहिये और न पद पर। शैक्षिक अथवा सम्पत्ति की योग्यता प्रवचनापूर्ण है। कायिक श्रम की योग्यता ही सच्ची योग्यता का आधार है क्योंकि कायिक श्रम शासन तथा राज्य की भलाई में कार्य करने के अवसर सबके लिये प्रस्तुत करता है। श्रम पर आधारित मताधिकार राजनीति में रोटी-रोजी-सिद्धांत के आदर्श को क्रियान्वित करता है। इससे व्यक्ति में स्वावलम्बन, आत्मविश्वास तथा अभय के गुणों की अभिवृद्धि होती है। रोटी-रोजी के आदर्श का बुद्धिमत्तापूर्ण एवं जागृत प्रयोग मतदाता को राजनीतिज्ञों के हाथ का मोहरा नहीं बनने देगा। सार्वजनिक पद पर कार्य करने वाले व्यक्ति को भी उतना ही वेतन मिलेगा जिससे न तो सार्वजनिक सेवा करने से व्यक्ति कतरायें और न वेतन के लोभ में व्यक्ति सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट हों। रोटी-रोजी के आदर्श का पालन करने वाली जनता सत्ता के दुरुपयोग को चुनौती देने की क्षमता से युक्त होगी और वह शोषण करने वाले स्वार्थी शासकों के छोटे वर्ग तथा निष्क्रिय, विचारहीन आज्ञा पालन करने वाली शोषित जनता के बड़े वर्ग में राज्य को विभाजित नहीं होने देगी। गांधीजी का अहिंसक

राज्य इस प्रकार एक 'आध्यात्मिक प्रजातन्त्र' पर आधारित होगा।

धर्म तथा राजनीति

गांधीजी ने धर्म के सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट करते हुये बतलाया है कि वे धर्म के प्रति पूर्वाग्रह से मुक्त हैं। उनकी दृष्टि में हिन्दू धर्म से ही, जिसे वे अन्य धर्मों से ऊपर रखते हैं, उनका धर्म-सम्बन्धी तात्पर्य नहीं है। जिस धर्म का वे साथ उल्लेख करते हैं, वह धर्म हिन्दू धर्म को भी आच्छन्न कर लेता है, वह मानवीय प्रकृति को परिवर्तित कर देता है, जो व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा के सत्य से आबद्ध करता है, एवं उसका आन्तरिक शुद्धिकरण करता है। धर्म मानवीय प्रकृति का स्थायी तत्व है जो पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करने में कोई कमी नहीं रखता और तब तक आत्मा को चैन नहीं लेने देता जब तक आत्मा को स्रष्टा का ज्ञान नहीं हो जाता और स्रष्टा तथा आत्मा का वास्तविक सम्बन्ध आत्मसात् नहीं कर लिया जाता।[110] देश तथा मानवता की अविराम सेवा में ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। प्रत्येक जीवित वस्तु के साथ तादात्म्य स्थापित करने की आवश्यकता है। गीता के अनुसार मित्र एवं शत्रु दोनों के साथ शांति से रहने की आवश्यकता है। सनातन स्वतन्त्रता एवं शांति के देश की यात्रा में देशभक्ति एक क्रम है। इस प्रकार गांधीजी के विचारों में राजनीति धर्म-विहीन नहीं है। राजनीति धर्म की अनुगामिनी है। उनके अनुसार धर्म-विहीन राजनीति मृत्युपाश है क्योंकि यह आत्मा का हनन करती है।[111]

समुचित अध्ययन एवं अनुभव के पश्चात् गांधीजी ने धर्म के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकाला है कि (1) सभी धर्म सत्य हैं, (2) सभी धर्मों में कुछ त्रुटियां हैं, (3) सभी धर्म उनके उतने ही निकट हैं जितना हिन्दू धर्म, उसी तरह जिस तरह किसी व्यक्ति को अपने सम्बन्धियों की तरह ही सभी प्रिय होने चाहिये। गांधीजी के अनुसार उनका अन्य धर्मों के प्रति उतना ही आदर है जितना स्वयं के धर्म के प्रति, अतः धर्म-परिवर्तन असम्भव है। सद्भाव का लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह एक हिन्दू को अच्छा हिन्दू, मुसलमान को अच्छा मुसलमान, ईसाई को अच्छा ईसाई बनाने में सहायक हो। अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव में सहिष्णुता का उतना महत्त्व नहीं, जितना व्यक्तिगत व्यवहार में। सर्वदा मित्रों के लिये यह प्रार्थना करें कि वे अच्छे व्यक्ति बनें, चाहे उनका धर्म कुछ भी क्यों न हो।[112]

गांधीजी के अनुसार सहिष्णुता शब्द उन्हें अच्छा नहीं लगता यद्यपि उनके अलावा और कोई उपयुक्त शब्द भी नहीं है। सहिष्णुता का अर्थ है दूसरे धर्मों को अपने धर्म से हीन मानना; जबकि अहिंसा हमें यह सिखाती है कि हम अन्य धर्मों के प्रति वैसा ही आदरभाव रखें जैसा कि अपने धर्म के प्रति। सत्य में विश्वास रखनेवाला इस तथ्य की स्वीकारोक्ति शीघ्र कर लेता है। सत्य का पूर्ण दर्शन करने वाला व्यक्ति ईश्वर के साथ एकाकार हो जाता है क्योंकि सत्य ही ईश्वर है, किन्तु सत्यान्वेषण करने वाला अपनी अपूर्णता के प्रति जागरूक होता है और स्वयं की अपूर्णता धर्म की अपूर्णता को भी परिचायक है। धर्म विकास की प्रक्रिया में होगा तभी ईश्वर एवं सत्य की ओर प्रगति होगी। सभी धर्मों में अपूर्णता है और अन्य धर्मों के प्रति श्रद्धा का यह अर्थ नहीं कि हम इस अपूर्णता से आंख मूंद लें। हमें अपने धर्म के दोषों का निवारण करने के लिए भी

जागृत रहना चाहिये। सभी धर्मों के प्रति समदृष्टि रखने का यह लाभ है कि इससे अन्य धर्मों की अनुकरणीय विशेषताओं को अपने धर्म में समाविष्ट किया जा सकता है।[113]

धर्म वृक्ष के समान है। जैसे वृक्ष की अनेक शाखायें होती है, उसी तरह धर्म के अनेक मत-मतान्तर हैं, किन्तु मूलतः धर्म एक ही है। वह धर्म हमारी वाणी से परे है। अपूर्ण व्यक्तियों द्वारा भाषाओं के माध्यम से उस धर्म को व्यक्त करने का प्रयास किया जाता है। सब अपनी व्याख्या को सही मानते हैं और यह भी संभव नहीं कि सब गलत हों। इस कारण से सहिष्णुता की आवश्यकता होती है जिसका अर्थ स्वयं के धर्म के प्रति अरुचि अथवा अश्रद्धा नहीं, अपितु उसके लिये अधिक विवेकपूर्ण एवं शुद्ध प्रेम है। सहिष्णुता से जो आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि विकसित होती है, वह धर्मांधता से उतनी ही दूर है जितनी दोनों ध्रुवों की दूरी। धर्म का वास्तविक ज्ञान विभिन्न सम्प्रदायों के मध्य अवरोधों को समाप्त कर देता है।[114]

सत्य से बढ़कर और कोई ईश्वर नहीं है। सत्य की अनुभूति अहिंसा से ही होती है। सत्य की भावना का साक्षात्कार होने के पश्चात् प्राणी तथा प्राणी में अन्तर करने की वृत्ति समाप्त हो जाती है। प्राणीमात्र के प्रति प्रेम की भावना उमड़ने लगती है। ऐसा व्यक्ति जो सत्य के मार्ग का पथिक है, वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकता। गांधीजी ने स्वयं के राजनीति में प्रवेश को इसी आधार पर स्पष्ट किया है। उनके अनुसार वे व्यक्ति जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई सरोकार नहीं, धर्म का अर्थ नहीं समझते।[115]

धर्म व्यक्ति का निजी मामला है। हमें अपनी-अपनी समझ के अनुसार धर्म का जीवन जीना चाहिये और दूसरों के साथ सौहार्द का भाव रखना चाहिये। यही ईश्वर को प्राप्त करने के मानवीय प्रयासों का सारांश है।[116] इस्लाम के अल्लाह, ईसाई धर्म के परमेश्वर तथा हिन्दुओं के ईश्वर में साम्य है। जिस प्रकार हिन्दू-धर्म में ईश्वर के अनेक नाम हैं, उसी प्रकार इस्लाम में भी परमात्मा के अनेक नाम हैं। ये नाम ईश्वर के व्यक्तित्व को नहीं दर्शाते, अपितु उसके गुणों का वर्णन करते हैं। अकिंचन मानव ने ईश्वर को अनेक गुणों से युक्त माना है। वास्तव में ईश्वर गुणातीत, अगम्य, अपार एवं अकथनीय है। ईश्वर में पूर्ण निष्ठा का अर्थ है मानवता में भ्रातृत्व की भावना को स्वीकार करना। इसका अर्थ है सभी धर्मों के प्रति आदर की भावना। अपने धर्म को दूसरे से श्रेष्ठ मानना तथा दूसरों को अपने धर्म में परिवर्तित करने के स्वयं के प्रयासों की दुहाई देना घोर असहिष्णुता का परिणाम है। असहिष्णुता हिंसा का ही एक रूप है।[117] वास्तव में जितने व्यक्ति हैं, उतने ही प्रकार के धर्म भी हैं। विभिन्न धर्म एक ही बिन्दु पर मिलनेवाले भिन्न भिन्न पथ हैं। एक ही लक्ष्य है, पथ अनेक हैं।[118]

गांधीजी ने भारत सचिव मांटेग को कहा था कि राजनीति में उनका प्रवेश उनके धार्मिक जीवन का ही एक अंग है। वे इसे अपनी सामाजिक गतिविधियों का विस्तार मानते थे। उनके अनुसार सम्पूर्ण मानवता से तादात्म्य स्थापित किये बिना वे धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकते और ऐसा वे तब तक नहीं कर सकते जब तक वे राजनीति में हिस्सा न लें। गांधीजी की यह धारणा है कि आज के मानव की समस्त गतिविधियों का क्षेत्र एक अविभाज्य पूर्ण के समान है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा पूर्णतया

धार्मिक कार्य को पृथक्-पृथक् विभागों में नहीं बांटा जा सकता। मानवीय कार्य से पृथक् कोई धर्म नहीं है। यही सब गतिविधियों को नैतिक आधार प्रदान करता है।[119]

गांधीजी ने राज्य द्वारा धार्मिक शिक्षण की व्यवस्था का विरोध किया है। इनके अनुसार धार्मिक शिक्षण का कार्य धार्मिक संगठनों पर छोड़ देना चाहिये। धर्म तथा आचार-शास्त्र को मिलाने की आवश्यकता नहीं है। मूलभूत आचारशास्त्र सभी धर्मों में समान हैं और इस दृष्टि से आचार शास्त्र का शिक्षण राज्य द्वारा निःसंदेह किया जा सकता है, जबकि धर्म शब्द का राजकीय संरक्षण में प्रयोग मौलिक आचार शास्त्र नहीं, अपितु सम्प्रदायवाद का प्रतीक है। हमने राज्य द्वारा सहायता प्राप्त धर्म एवं राजकीय चर्च के कारण अनेक कष्ट उठाये हैं। वह समाज अथवा समूह जो अपने धर्म के अस्तित्व के लिये राज्य की सहायता पर पूर्णतः अथवा आंशिक रूप में निर्भर करता है, धर्म नाम की वस्तु के योग्य नहीं है।[120] चाहे सारे समुदाय का धर्म एक ही क्यों न हो, गांधीजी राजकीय धर्म में विश्वास नहीं करते। राज्य का हस्तक्षेप सर्वदा बुरा माना जायेगा। धर्म व्यक्ति का निजी मामला है।[121] यदि धर्म को व्यक्तिगत स्तर तक रखने में सफलता मिल जाय तो हमारे राजनीतिक जीवन में सब कुछ ठीक हो सकता है।[122]

गांधीजी की शक्ति सम्बन्धी अवधारणा

प्रो० वी० वी० रमण मूर्ति के अनुसार गांधीजी ने राजनीतिक शक्ति के अस्तित्व को न तो अस्वीकार किया है और न शक्ति की अवधारणा को असंगत ही बतलाया है। वे शक्ति के ऐसे वैकल्पिक केन्द्रों की खोज में हैं जो अहिंसा की धारणा के अनुकूल हों। शक्ति के लिये होने वाले संघर्ष में एक पक्ष की दूसरे पक्ष पर विजय सुनिश्चित होती है। गांधीजी संघर्ष की स्थिति को इस प्रकार से सुलझाना चाहते हैं कि दोनों में से किसी भी पक्ष को पराजय न देखनी पड़े और दोनों ही प्रेम-भावना से एक दूसरे को समझने का प्रयास करें। गांधीजी ने जीवन पर्यन्त ब्रिटिश शासन के हाथों से शक्ति छीन कर भारतीय जनता के हाथ में शक्ति सौंपने का संघर्ष किया, किन्तु उन्होंने 'शक्ति' को राजनीतिक परिवर्तन अथवा राष्ट्रीय विकास के लिए प्रयुक्त करना अस्वीकार कर दिया। गांधीजी ने अहिंसा का प्रयोग शक्ति के विकल्प के रूप में किया। उनका उद्देश्य किसी एक समूह की शक्ति को दूसरे समूह पर लादने का नहीं था। वे सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन के पक्षपाती थे। उन्होंने व्यक्ति-विशेष की भर्त्सना करने के स्थान पर व्यवस्था का विरोध एवं उसे अहिंसक पद्धति से समाप्त करने का प्रयास किया। वे ब्रिटिश शासन व्यवस्था के शत्रु थे लेकिन ब्रिटिश जनता के नहीं, वे पूंजीवाद के विरोधी थे, पूंजीपतियों के नहीं। वे व्यवस्था को समाप्त करना चाहते थे ताकि व्यक्ति स्वयं परिवर्तित हो जाय। इस कार्य के लिये वे शक्ति का प्रयोग न कर केवल अहिंसक आन्दोलन का ही सहारा लेना चाहते थे। साम्प्रदायिकता का निवारण भी वे राज्यशक्ति के स्थान पर अहिंसा के माध्यम से करना चाहते थे। गांधीजी की सफलता का रहस्य यह था कि वे राज्य का प्रमुखता न देकर समाज की महत्ता को स्वीकार करते थे। उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि यदि समाज अपने कर्तव्यों तथा अधिकारों के प्रति जागरूक रहे तो वह राज्य को अपने नियंत्रण में रख सकता है। राज्य की त्रुटियों को समाज ही सुधार सकता है। राज्य के निरंकुशवाद पर समाज का नियंत्रण आवश्यक है। गांधीजी ने शक्ति के विघटनकारी एवं भ्रष्ट प्रभाव से बचने-

आपको दूर रखा। वे शक्ति से दूर रहना चाहते थे। शक्ति के प्रभाव से मुक्त होने को ही वे मुक्ति का मार्ग मानते थे। यही कारण है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने कांग्रेस को परिष्कृत करने की दृष्टि से उसे शक्ति तथा सत्ता की होड़ से विलग हो जाने का आग्रह किया। कांग्रेस के नेताओं को गांधीजी का सुझाव अरुचिकर लगा और वे सत्ता से चिपके रहे। परिणाम यह हुआ कि कालान्तर में कांग्रेस भ्रष्टाचार का पर्यायवाची बन गयी।

गांधीजी तथा अराजकतावाद

गांधीजी को उनके राज्यविषयक विचारों के कारण अराजकतावादी की संज्ञा दी गई है। यद्यपि उन्होंने अराजकतावादियों के समान राज्य के तिरोहित होने की सम्भावना व्यक्त की है और वैकल्पिक आदर्श के रूप में सामाजिक व्यवस्था का चित्रण भी किया है, फिर भी उन्हें अराजकतावादी नहीं कहा जा सकता। अराजकतावादियों के समान गांधीजी ने राज्य की बढ़ती हुई शक्ति में मानवीय स्वतन्त्रता के हनन के दर्शन किये हैं, किन्तु उनमें तथा अराजकतावादियों में मौलिक अन्तर है। गांधीजी का व्यक्ति अराजकतावादियों के व्यक्ति से सर्वथा भिन्न है। उनका व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और वह समाज से पूर्णतः जुड़ा हुआ है जबकि अराजकतावादियों का व्यक्ति एकाकी व्यक्ति है जो समाज से पारस्परिक आदान-प्रदान की उपेक्षा करता है। अराजकतावादी हिंसा के माध्यम से व्यक्ति की गरिमा तथा उसके वैयक्तिक अधिकारों की रक्षा करना चाहते हैं। वे राज्य को हिंसा का प्रतीक मानकर भी हिंसा से राज्य को नष्ट करना चाहते हैं। गांधीजी ने व्यक्ति के समष्टिगत भाव को बनाये रखा है साथ ही साथ, व्यक्ति के स्वविवेक से निर्णय के अधिकार को भी सुरक्षित रखा है। वे हिंसा को व्यक्ति तथा राज्य दोनों के लिये वर्जनीय मानते हैं। उनका उद्देश्य क्रमिक गति से तथा अहिंसा के माध्यम का प्रयोग कर राजनीतिक संस्थाओं को समाजसेवी संस्थाओं में परिवर्तित करने का है। वे राज्य को सर्वथा समाप्त करने के स्थान पर उसके आवश्यकतानुसार प्रयोग पर बल देते हैं। राज्य को लोक-कल्याणकारी कार्यों में प्रयुक्त करने की उनकी धारणा इसका प्रमाण है कि वे राज्य शक्ति को सीमित करने के साथ-साथ उसकी उपयोगिता को विस्मृत नहीं करते। वे राज्य तथा समाज के मध्य निश्चित अन्तर एवं दूरी को बनाये रखना चाहते हैं। गांधीजी ने यह विचार प्रकट किया है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को राजनीतिक शक्ति से मुक्त नहीं किया जा सकता। जनता को राजनीतिक कार्यों में भाग लेने की सुविधा होनी चाहिये किन्तु ऐसा वे कर्त्तव्य की भावना से ही करेंगे। वे सत्याग्रह में दीक्षित कतिपय ऐसे सामाजिक कार्यकर्त्ता तैयार करना चाहते हैं जो राज्य के कार्यों पर नियन्त्रण रख सकें तथा राज्यशक्ति को समाज के अधीन रख सकें। इस प्रकार गांधीजी ने न राज्य का प्रतिकार किया है, न राजनीति का। वे सामाजिक जन जागृति से राज्य को नियन्त्रित करना चाहते हैं। वे राजनीतिक शक्ति को साध्य न मानकर उसे सामाजिक कल्याण में प्रयुक्त करना चाहते हैं। अराजकतावादियों ने राज्य को नष्ट कर उसके स्थान पर अन्य राजनीतिक संस्था का विचार नहीं किया, अर्थात् गांधीजी राज्य के सम्पूर्ण ढाँचे को बदलकर नवीन अहिंसक राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं जो सच्चे अर्थों में "रामराज्य" की कल्पना को साकार कर सके।

व्यक्ति तथा राज्य

गांधीजी राज्य को व्यक्तित्व के विकास का साधन मानते हैं। वे व्यक्ति को सर्वोच्च महत्ता देते हैं ताकि मानवीय गुणों को ठीक से विकसित किया जा सके और मानव को शोषण से मुक्त रखा जा सके,[123] किन्तु राज्य का आवश्यकता से अधिक हस्तक्षेप वे उचित नहीं मानते। उनके अनुसार राज्य का हस्तक्षेप व्यक्तित्व को कुंठित कर देता है।[124] स्वशासन का अर्थ है शासन के नियंत्रण से स्वतन्त्र होने का निरन्तर प्रयास, चाहे शासन विदेशी हो अथवा राष्ट्रीय। स्वराज्य शासन निराशाजनक प्रतीत होगा यदि व्यक्ति जीवन के प्रत्येक कार्य को नियमित करने के लिये शासन का मुंह ताकता रहे।[125] गांधीजी के अनुसार वह सरकार अच्छी है जो कम से कम शासन करती है। राजनीतिक शक्ति साध्य नहीं, अपितु व्यक्तियों के जीवन को सुखमय बनाने का एक साधन है। राजनीतिक शक्ति राष्ट्रीय प्रतिनिधियों के माध्यम से राष्ट्रीय जीवन को नियमित करने की क्षमता का नाम है। यदि राष्ट्रीय जीवन इतना परिपक्व हो जाय कि उसे नियमित करने की आवश्यकता न हो, तो प्रतिनिधित्व की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। यह स्थिति प्रबुद्ध अराजकता की है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वयं का शासक है। वह इस प्रकार अपने को शासित करता है कि अपने पड़ोसियों के मार्ग को अवरुद्ध नहीं करता। ऐसी आदर्श व्यवस्था में कोई राजनीतिक शक्ति नहीं होती, क्योंकि वहां राज्य का अस्तित्व ही नहीं है। चूंकि यह आदर्श असाध्य है, अतः थोरो का यह वाक्य कि 'वही सरकार अच्छी है जो कम से कम शासन करे' याद रखने योग्य है।[126] मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह व्यक्तिवाद को सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल कर ही अपनी वर्तमान स्थिति में पहुंचा है। अमर्यादित व्यक्तिवाद जंगल के पशुओं का नियम है। हमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक नियंत्रण में सामंजस्य स्थापित करना है। समाज के हित में स्वेच्छा से सामाजिक बन्धनों को स्वीकार करना व्यक्ति तथा उसके समाज के लिए श्रेयस्कर है।[127]

गांधीजी का आदर्श राज्य

गांधीजी ने आदर्श समाज की कल्पना को क्रियान्वित करने के लिये एक आदर्श राज्य का स्वरूप चित्रित किया है। उनके विचार से पूर्ण स्वराज्य के ध्येय की प्राप्ति के लिए जनसंप्रभुता का नैतिक सत्ता पर आधारित होना आवश्यक है। यद्यपि आदर्श राज्य की प्राप्ति कठिन है क्योंकि आदर्श राज्य के लिये आदर्श व्यक्तियों की आवश्यकता होगी, फिर भी आदर्श की कल्पना मानव के ऊर्ध्वगामी विकास का लक्ष्य अवश्य निर्धारित करेगी। गांधीजी द्वारा आदर्श राज्यव्यवस्था को 'रामराज्य' शब्द से सम्बोधित किया गया है। उनके अनुसार, "धार्मिक दृष्टि से रामराज्य का अर्थ है पृथ्वी पर भगवान का राज्य, राजनीतिक दृष्टि से यह पूर्ण प्रजातन्त्र है जिसमें गरीबी और अमीरी, रंग और मत-मतान्तर के आधार पर स्थापित असमानताओं का सर्वथा अन्त हो जाता है। रामराज्य में भूमि और राज्य जनता का होता है। न्याय शीघ्र, पूर्ण और सस्ता होता है और इस लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने तरीके से पूजा-प्रार्थना, स्वतन्त्र विचाराभिव्यक्ति और संगठन की स्वतन्त्रता होती है। नैतिक प्रतिबन्ध के स्वेच्छया आरोपित कानून के राज्य के कारण ही यह सब होता है।' मेरा स्वराज्य केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता तक ही सीमित नहीं है। मैं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्मराज के, सत्य और अहिंसा के शासन को स्थापित

हुआ देखना चाहता हूं। दासता की जंजीरों में जकड़े रहना मनुष्य के गौरव के विरुद्ध है मेरे लिये देशभक्ति वही है, जो कि मानवता के कल्याण में समर्थ है। मेरी जीवन-योजना में साम्राज्यवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। राज्यों का लक्ष्य निरपेक्ष स्वतन्त्रता नहीं है। यह तो ऐच्छिक परस्पराश्रितता है। मैं अद्वैत में विश्वास रखता हूं। मैं मानव की ही नहीं, समस्त जीवित प्राणियों की एकता में विश्वास रखता हूं। मेरा ऐसा विश्वास है कि अगर एक व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से ऊपर उठता है तो समस्त संसार को इससे लाभ पहुंचता है, और अगर एक व्यक्ति का नैतिक अधः पतन होता है तो उस सीमा तक सारे संसार का अधः पतन होता है। मैं तो एक ऐसे भारत के निर्माण के लिये कार्यरत रहूंगा, जिसमें गरीब से गरीब व्यक्ति भी यह अनुभव करे कि यह उसका अपना देश है, जिसके निर्माण में उसकी प्रभावशाली आवाज है—एक ऐसा भारत जिसमें जनता का कोई उच्च वर्ग और कोई नीच वर्ग नहीं होगा, ऐसा भारत जिसमें सब जातियां पारस्परिक एकता और सद्भावना के स्नेह-सूत्र में बंधी हुई मिलजुलकर रहेंगी। ऐसे सुन्दर भारत में अस्पृश्यता, मद्यपान और नशीली वस्तुओं के सेवन के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। महिलाओं को भी वही अधिकार प्राप्त होंगे, जो पुरुषों को। मेरे स्वप्नों के भारत का यही रूप है।"[128]

गांधीजी के रामराज्य को 'अहिंसक राज्य' की संज्ञा नहीं दी गयी है। राज्य को शक्ति पर आधारित मानने का अर्थ होगा अहिंसा का विरोध, किन्तु पूर्ण अहिंसक राज्य राज्य नहीं रह सकता। इसका अर्थ यह होगा कि अहिंसक राज्य राज्य विहीन समाज में परिवर्तित हो जाय। समाज तभी राज्य-विहीन हो सकता है, जब राज्य रूपी अस्तित्व समाप्त हो जाय। यह आदर्श विचार है, अतः आवश्यक नहीं कि इसकी क्रियान्विति हो। हो सकता है कि अहिंसा-प्रधान राज्य की स्थापना हो जाय, फिर भी राज्य-विहीन स्थिति प्राप्त न हो।[129] गांधीजी की आदर्श राज्य-विषयक धारणा को पूर्ण विकसित नहीं किया गया। उनके सत्याग्रह तथा अहिंसा सम्बन्धी प्रयोगों के समान राज्य का विचार भी प्रयोग की प्रारम्भिक स्थिति में है। इतना निश्चित है कि अहिंसक राज्य सत्याग्रह के सिद्धान्त पर आधारित होगा। जनता स्वयं अपनी वरीयता तथा नैतिक स्तर के आधार पर अहिंसक राज्य की विस्तृत योजना बना लेगी। गांधीजी ने भविष्य के अहिंसक राज्य की सविस्तार संस्थागत योजना को प्रस्तुत नहीं किया, क्योंकि ऐसा करने को वे अवैज्ञानिक तथा अपरिपक्व मानते हैं। उनके शब्दों में, "अहिंसा पर आधारित समाज में शासन की प्रकृति को मैंने सोद्देश्य वर्णित नहीं किया जब समाज स्वेच्छा से अहिंसा के नियम के अनुसार निर्मित किया जाता है, उसकी संरचना आज के समाज से भिन्न तत्त्वों पर होगी, किन्तु मैं यह अग्रिम रूप से नहीं कह सकता कि पूर्णतः अहिंसा पर आधारित शासन कैसा होगा।"

गांधीजी का 'एक कदम मेरे लिये पर्याप्त है' का सिद्धान्त उनके द्वारा साधन-साध्य की विवेचना से स्पष्ट होता है। यदि साधन हिंसक होंगे तो राज्य न तो अहिंसक होगा और न लोकतांत्रिक ही बनेगा। समर्थ व्यक्ति निर्बलों का शोषण करने लग जायेंगे। अतः अहिंसक समाज में अहिंसा को 'केवल नीति' मानकर नहीं चला जायेगा। अहिंसा ऐसे समाज की मूल निष्ठा रहेगी। वे स्वराज्य से पहले अहिंसा की पूर्ण मान्यता की स्थापना करना चाहते हैं। अहिंसक राज्य के विकास में निर्धारक तत्त्व होगी आत्म शक्ति

सामाजिक व्यवस्था के विकास में इससे सहायता मिल सकती है। उनके अनुसार वर्ण का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को रोटी-रोजी के लिये कायिक श्रम अवश्य करना चाहिये। अपनी रोटी-रोजी जुटाने के बाद किया गया श्रम सामान्य हित में किया गया प्रेम का श्रम माना जाय जिसका कोई पारिश्रमिक न हो। इस प्रकार गांधीजी की सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक सेवा के उस कार्य में रत रहने की, जिसमें उसकी विशेष दक्षता है, पूर्ण स्वतन्त्रता है। रोटी-रोजी का सिद्धान्त स्वत: अपरिग्रह तथा आर्थिक समानता, जो कि अहिंसा के ही अंग हैं, की ओर प्रवृत्त करता है। पूर्ण-प्रेम पूर्ण-अपरिग्रह में ही परिलक्षित होगा। प्रेम तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति साथ-साथ नहीं चल सकते। इस प्रकार गांधीजी ने पूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक समानता की स्थापना के लिये वर्ण व्यवस्था, रोटी-रोजी-सिद्धान्त तथा अपरिग्रह की धारणा का अवलम्बन किया है।

गांधीजी की अपरिग्रह-सम्बन्धी धारणा तथा उनका रोटी-रोजी-सिद्धान्त हस्तकला पर निर्भर कृषि-प्रधान ग्रामीण सभ्यता के प्रतीक है। ऐसे समाज में शोषण, जमींदारी-प्रथा तथा पूंजीवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वयं का स्वामी होगा और कोई भी अन्य के लिए अपना श्रम नहीं बेचेगा। गांधीजी न मशीनीकरण के पूर्ण विरोध में न होते हुए भी कुटीर उद्योगों को पनपाने के लिये केन्द्रीयकृत वृहद् उत्पादन तथा लाभ की प्रवृत्ति का विरोध किया है। केन्द्रीयकृत उत्पादन शक्ति के केन्द्रीयकरण, बड़े बाजारों के नियन्त्रण, कच्चे माल की अधिकता आदि के कारण शोषण की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है। अहिंसक सभ्यता फैक्टरी-व्यवस्था में विकसित नहीं हो सकती। यह तो केवल आत्मनिर्भर गांवों पर ही आधारित हो सकती है। गांधीजी ने कुटीर उद्योगों के लिए सरल उपकरण, औजार तथा ऐसी मशीनरी का स्वागत किया है जो व्यक्तिगत श्रम की बचत कर सके तथा कुटीर उद्योगों में लगे लाखों लोगों के भार को हलका कर सके। किन्तु वे किसी भी मूल्य पर मशीनरी द्वारा मानवीय श्रम का स्थान लिये जाने के विरुद्ध हैं। वे ऐसी मशीनें चाहते हैं जिन्हें गांवों में तैयार किया जा सके और वे वहीं प्रयुक्त भी हों। ऐसे लोकतान्त्रिक समाज में जो कि स्वावलम्बी गांवों से निर्मित होगा और पूर्णत: स्वदेशी के आदर्श पर कार्य करेगा, अन्तर्राष्ट्रीय, अन्तर्राज्यीय तथा अन्तर्जिलास्तरीय वाणिज्य के लिये कोई स्थान नहीं होगा।

गांधीजी के आदर्श समाज में भारी वाहनों, न्यायालयों, वकीलों, आधुनिक चिकित्सा-पद्धतियों तथा महानगरों की विसंगतियों के लिये कोई स्थान नहीं रहेगा। अहिंसक समाज में भारी उद्योगों तथा सैन्य सञ्चालन की आवश्यकता न रहने के कारण भारी वाहनों का भी उपयोग नहीं होगा। अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य तथा व्यापार की स्थिति न होने के कारण औद्योगीकरण के सभी उपकरण त्याज्य होंगे। अहिंसक जनता में पारस्परिक विवादों की कमी के कारण न्यायालयों तथा वकीलों की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। आपसी विवादों का निपटारा जनता स्वयं विचार-विमर्श, समझ-बूझ तथा पंच फैसलों द्वारा कर लेगी। यदि इन युक्तियों से काम नहीं चलेगा तो प्रेम के सिद्धान्त द्वारा आत्मपीडन से इनका निराकरण किया जायेगा। रोटी-रोजी के विचार से व्यावसायिक चिकित्सकों की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। दवाओं तथा चिकित्सा के उपकरणों को बड़े

उद्योगों द्वारा भारी संख्या में उत्पादित करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। व्यक्ति द्वारा अपने आन्तरिक इन्द्रिय-निग्रह के कारण सामान्य रोगों से मुक्ति प्राप्त की जा सकेगी। अन्य व्याधियाँ जो आधुनिक जीवन की प्रतिद्वन्द्विता तथा असुरक्षा की चिन्ता से होती हैं, कायिक श्रम द्वारा स्वत दूर हो जायेंगी। यौगिक क्रियाओं द्वारा मानसिक, नैतिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा हो सकती है। अन्य बीमारियाँ प्राकृतिक चिकित्सा से ठीक की जा सकती हैं। इस प्रकार गाँधीजी के आदर्श लोकतन्त्र में डाक्टरों की धन-लोलुपता तथा खर्चीली चिकित्सा लुप्त हो जायेगी। इसका समाज पर कुप्रभाव नहीं होगा क्योंकि बीमारियों को आत्म-नियन्त्रण से दूर रखा जायेगा।

गाँधीजी ने समाज को एक परिवार के समान माना है। वे व्यक्ति तथा समाज में किसी प्रकार का विरोधाभास नहीं देखते, अत व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक दायित्व में निकट की अन्तर्निर्भरता है। वे व्यक्तिवाद के विरुद्ध हैं और साथ ही साथ व्यक्ति की गरिमा की भी रक्षा करना चाहते हैं। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक दायित्वों की पूर्ति करनी चाहिये और अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भी रक्षा करनी चाहिये। व्यक्तिगत स्वराज्य की प्राप्ति के बिना सामाजिक स्वराज्य का मूल्य नहीं रहेगा। व्यक्ति तथा समाज में जो भी नियमों का अतिक्रमण करे, उसका विरोध अहिंसक उपायों से होना चाहिये। धर्म व्यक्ति को सही स्थिति में रखता है और उसे शुद्ध सामाजिक आचरण के लिये प्रेरित करता है। यहाँ धर्म को गाँधीजी ने संस्कृति तथा अनुशासन के अर्थों में प्रयुक्त किया है। यह न तो अन्तरात्मा का नैतिक नियन्त्रण है, और न ही राज्य के कानूनों की तरह बाह्य नियन्त्रणकारी तत्व। धर्म जीवन्त आत्मा है जो सामाजिक विकास के साथ संयुक्त है। धर्म सामाजिक व्यवस्था तथा व्यक्तिगत व्यवहार को बाँधने अथवा धारण करने वाला तत्त्व है। इससे आत्म-निरीक्षण की क्षमता में वृद्धि होती है। अहिंसक समाज में कानून की पूर्ति धर्म के द्वारा ही होगी। बच्चों को प्रारम्भ से धार्मिक नैतिकता का पाठ सिखाया जायेगा। सामाजिक शान्ति तथा व्यवस्था धर्म पर आधारित होगी। गाँधीजी ने यह बतलाने का भी प्रयास किया है कि आधुनिक समाज में भी हम केवल कानून अथवा शक्ति के भय से शुद्ध आचरण नहीं करते, अपितु बाध्यकारी आन्तरिक प्रेरणाओं से अपना जीवन क्रम चलाते हैं। प्राचीन भारत में ग्रामीण व्यवस्था का चित्रण करते हुये गाँधीजी ने स्पष्ट किया है कि वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुये प्राचीन भारत सुख-शान्ति से पूर्ण था। राज्य धर्म को संशोधित नहीं कर सकता था। कानून के बाध्यकारी प्रभाव के स्थान पर नैतिक दबाव सामाजिक बन्धनों को बनाये रखता था। व्यक्ति यदि समाज के नियम भंग करता था तो उसके साथ समस्त सामाजिक अथवा आर्थिक सम्बन्ध तोड़ दिये जाते थे। यद्यपि यह एक प्रकार का असारोरिक हिंसा का ही उदाहरण था, किन्तु गाँधीजी इसे राज्य की संगठित हिंसा से अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। स्वतन्त्र समाज में यह स्थिति अहिंसा का ही प्रतीक मानी जायेगी।

गाँधीजी प्राचीन भारत के ग्रामीण समुदायों की व्यवस्था एवं जीवन-पद्धति से इतने प्रभावित हैं कि उनकी अहिंसक समाज अथवा राज्य की कल्पना में उसका प्रतिबिम्ब पग-पग पर दिखाई देता है। उन्होंने स्वीकार भी किया है कि भारत के ग्रामीण जनपद अहिंसा पर आधारित सभ्यता के विचार के अत्यन्त निकट हैं। वे यह भी मानते हैं कि

प्राचीन व्यवस्था अधिक परिष्कृत नही थी और उसमें उनकी धारणानुसार अहिंसा की स्थिति भी विद्यमान नही थी, फिर भी गांधीजी प्राचीन ग्रामीण जनपदों में भावी अहिंसक समाज के अंकुर स्पष्ट देखते हैं। 1916 में मद्रास में मिशनरी परिषद् के समक्ष बोलते हुये गांधीजी ने कहा था कि भारत की प्राचीन संस्थायें तथा ग्राम पंचायतें उनकी स्वदेशी की धारणा के अनुरूप उन्हें मोह लेती हैं। भारत वास्तव में एक गणतन्त्रात्मक देश रहा है। राजा तथा अत्याचारी शासक, चाहे वे भारतीय रहे हों अथवा विदेशी आक्रमणकारी, किसी ने भी ग्रामीण समाज को नहीं छुआ। वे केवल राजस्व की वसूली तक ही सीमित रहे। ग्रामीण भारतीयों ने भी शासक को देय राशि देकर अपनी स्वतन्त्रता तथा कार्य-पद्धति को यथावत् बनाये रखा। जाति के व्यापक संगठन ने केवल समुदाय की धार्मिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं की, अपितु उसके राजनीतिक विश्वास का भी समाधान किया। गांवों ने जाति-व्यवस्था द्वारा अपने आन्तरिक कार्यों का संचालन करते हुये शासकीय शक्ति अथवा शक्तियों के दमन का सामना किया। इस प्रकार गांधीजी ने अहिंसा द्वारा अहिंसक समाज में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व के मध्य सामंजस्य प्राप्त करने की स्थिति का बोध कराया है जिसमें व्यक्ति सबके अधिकतम भले के लिये कार्य करेगा और समाज व्यक्ति को इसके लिये अधिकतम अवसर उपलब्ध करायेगा।

गोपीनाथ धवन के अनुसार राज्य-विहीन अहिंसक समाज का आदर्श, जिसमें न पुलिस होगी और न सेना, न न्यायालय, न डाक्टर, न भारी वाहन तथा केन्द्रीयकृत उत्पादन होगा—एक प्रेरणादायी आदर्श ही है, न कि शीघ्र प्राप्त किया जाने वाला लक्ष्य। उनके अनुसार गोडविन, टॉमस होजस्किन तथा प्रोधों जैसे अराजकतावादी विचारकों ने किसी ऐसे समाज की स्थापना का विचार नहीं किया जिसमें राज्य पूर्णत समाप्त कर दिया जायेगा। दूसरी ओर, बाकुनिन, जोसिया वारेन, बेन्जामिन टकर तथा क्रोपोटकिन तथा अन्य कई अराजकतावादियों ने यह विचार प्रकट किया है कि राज्यविहीन समाज का विकास किया जा सकता है। मार्क्स तथा लेनिन ने भी यह विश्वास प्रकट किया है कि सर्वहारा राज्य तिरोहित हो जायेगा और जनता सामाजिक अवस्थिति की अर्हताओं का बिना दमन तथा दासता के पालन करने के लिए अभ्यस्त हो जायगी।[130] समाज तभी राज्यविहीन हो सकता है जब मानव पूर्ण व्यक्तिगत स्वराज्य को प्राप्त करले और राज्य सत्ता के दबाव बिना भी अपने सामाजिक दायित्वों का पालन करने लग जाय। चूंकि जनता इस कठिन आदर्शवाद के अनुरूप जागृत नहीं हो सकती, अत गांधीजी फिलहाल अस्पतालों, न्यायालयों, रेल तथा कारखानों को आवश्यक बुराई मानते हुये भी नष्ट करने को उत्सुक नहीं हैं। वे इनके स्वत नष्ट हो जाने की कामना करते हुये अपनी व्यक्तिगत क्षमता में आदर्श समाज की स्थापना के लिए कार्यरत हैं जिसमें उपर्युक्त स्थितियों की आवश्यकता ही न रहे।

वास्तव में गांधीजी का यह विश्वास है कि आदर्श समाज सदैव ही एक ऐसा आदर्श रहेगा जो न कभी पूर्णत प्राप्त हुआ है, और न होगा। उनका यह दृष्टिकोण समस्त आदर्शों के प्रति रहा है। 1940 में शान्ति निकेतन में हुये एक वार्तालाप के दौरान यह पूछे जाने पर कि 'क्या राज्य केवल अहिंसा के आधार पर चलाया जा सकता है?,' गांधीजी ने कहा कि सरकार पूर्णत अहिंसक बनने में सफलता प्राप्त नहीं कर सकती क्योंकि वह

सभी व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। गांधीजी ने कहा कि वे ऐसे स्वर्णयुग की आज कल्पना नहीं करते, फिर भी उनकी यह मान्यता है कि एक अहिंसा-प्रधान समाज सम्भव है और वे इसके लिए प्रयत्नशील हैं।[131] गांधीजी का अहिंसक समाज का आदर्श मानव की अपूर्णता के कारण असम्भव है, फिर भी यह दिशा का बोध कराता है न कि लक्ष्य का, प्रक्रिया का प्रतीक है, न कि प्राप्ति का। ऐसे समाज में राज्य की संरचना, जो अहिंसक क्रान्ति के बाद उपस्थित होगी, समझौते पर आधारित होगी—अहिंसक समाज तथा मानवीय प्रकृति के तथ्यों के बीच का मार्ग ग्रहण करेगी। यह उस आदर्श की प्राप्ति पर गांधीजी के 'मध्यम मार्ग' का उदाहरण होगी। यह इस पर भी निर्भर होगी कि औसत व्यक्ति ने अहिंसा की गुणात्मक मात्रा कितनी विकसित की है। अहिंसा तथा लोकतन्त्र दोनों ही मानव की आध्यात्मिक समानता पर आधारित हैं। यदि राजनीतिक शक्ति दुर्बल व्यक्ति को अहिंसा द्वारा प्राप्त होती है तो इसके द्वारा स्थापित राज्य केवल राजनीतिक लोकतन्त्र अथवा लोकतन्त्र कहलायेगा। संविधान लोकतान्त्रिक दिखाई देगा किन्तु शोषण रहेगा, क्योंकि दुर्बल व्यक्ति की अहिंसा में हिंसा की स्वीकृति मिलेगी। यदि इसके विपरीत बलवान की अहिंसा को विकसित होने का अवसर मिला तो उससे स्थापित होने वाला राज्य सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना करेगा जिसमें शोषण तथा दमन नाममात्र का रहेगा।

गांधीजी का वर्तमान सत्याग्रही राज्य

देश में सत्याग्रह की पूर्ण स्वीकृति न हो राज्य तथा समाज अहिंसा-प्रधान अर्थात् लोकतान्त्रिक बनेंगे। राज्य बिना किसी इच्छा के इस कारण बना रहेगा कि बाह्य-नियन्त्रणकारी शक्ति के अभाव में कुछ व्यक्ति अथवा समूह असामाजिक गतिविधियों द्वारा अराजकता पैदा कर सकते हैं।

सत्याग्रही राज्य अन्य राज्यों के समान होगा तथा अपने कार्यों को करने में पूर्ण स्वतन्त्र रहेगा। ऐसे राज्य में स्वराज्य त्रुटियों की स्वतन्त्रता तथा उन्हें सुधारने के कर्त्तव्य का बोध कराता है। स्वतन्त्रता सत्य का ही अंग है, अतः जब तक राष्ट्र स्वतन्त्र नहीं होता, सत्य की आराधना नहीं कर सकता। अतः न केवल सत्याग्रही राष्ट्र की अपितु समस्त राष्ट्रों को शासन की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। किसी देश की स्वतन्त्रता केवल अपने लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं होती, वह दूसरे देश की प्रगति में भी सहायक होती है। एक राज्य का दूसरे राज्य पर नियन्त्रण साम्राज्यवादी देश में लोकतन्त्र को नष्ट करने वाला तथा अन्तर्राष्ट्रीय संकटों एवं युद्धों का कारण बनता है। अतः गांधीजी पार्थक्यवादी स्वतन्त्रता के पक्ष में नहीं हैं। उनका राष्ट्रवाद भी न तो संकुचित है, न ही किसी राष्ट्र अथवा व्यक्ति को हानि पहुंचाने वाला है।

गांधीजी का सत्याग्रही राज्य अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय जीवन में स्वतन्त्रता एवं समानता के आदर्शों का पालन करेगा। राज्य लोकतान्त्रिक होगा क्योंकि अहिंसक क्रान्ति में भाग लेने वाली जनता राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करेगी। गांधीजी के लिए स्वराज्य का अर्थ है देश के छोटे से छोटे व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता। वे ऐसे स्वराज्य की कामना करते हैं जिसमें अन्तिम सत्ता किसान तथा श्रमिक के हाथों में हो। वे शक्ति का हस्तान्तरण अंग्रेज लोकसेवकों के हाथों में से तथाकथित सार्वजनिक सेवकों के हाथों में नहीं करना चाहते। उनके अनुसार लोकतन्त्र का अर्थ है विकेन्द्रीकरण। विकेन्द्रीकरण सत्ता के दुरुपयोग तथा

शोषण के विरुद्ध बचाव है। राज्य अथवा राजनीतिक शक्ति को गांधीजी ने साध्य न मानकर जनता के जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नति का साधन माना है। गांधीजी का राज्य न तो हेगल अथवा मुसोलिनी के विचारों का राज्य है, न अरस्तू, ग्रीन तथा बोसांके के विचारों-सदृश समुदायों का समुदाय। उनके अनुसार राज्य सबके अधिकतम कल्याण के साधनों में से एक साधन है। राज्य के विषय में कोई पवित्रता जैसी बात नहीं। राज्य मानवीय दुर्बलता से उत्पन्न सुविधा है, अतः व्यक्ति जितना अधिक राज्य के बिना काम चलाये, उतनी ही उसकी स्वतन्त्रता वास्तविक होती चली जायेगी। वे राज्य में अविश्वास प्रकट करते हैं और सत्याग्रह के माध्यम से जनता में राज्य सत्ता के दुरुपयोग के विरुद्ध प्रतिकार करने की क्षमता विकसित करना चाहते हैं। उनके अनुसार वास्तविक स्वराज्य की तब स्थापना होगी जब सत्ता चन्द व्यक्तियों के हाथ में न होकर उन सब व्यक्तियों के हाथ में आ जायगी जो सत्ता के दुरुपयोग का प्रतिकार कर सकें। वास्तविक स्वशासन वह है जहाँ सत्याग्रह जनता का मार्गदर्शक हो—अन्य कोई भी शासन विदेशी शासन है।

गांधीजी, बहुलवादियों तथा अराजकतावादियों के समान राज्य की पूर्ण सम्प्रभुता के विरुद्ध हैं जो कि व्यक्ति पर राज्य के कानून के प्रति बाध्यकारी आज्ञापालन का कर्त्तव्य निर्धारित करती है। उनका विश्वास शुद्ध नैतिक सत्ता पर आधारित लोकसम्प्रभुता में है। व्यक्ति को अन्य संगठनों के समान राज्य के प्रति सीमित एवं सापेक्ष निष्ठा रखनी चाहिये। उनके अनुसार यह निष्ठा व्यक्ति के अन्तःकरण को प्रभावित करने वाले राज्य अथवा अन्य संगठनों के विनिश्चयों पर निर्भर करती है। यह अराजकता की निरन्तर धमकी की सूचक अवश्य है, फिर भी राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध यही समुचित सुरक्षा है। यद्यपि गांधीजी व्यक्ति की नैतिक धारणाओं को हानि पहुँचाने वाले कानूनों की अवमान्यता को नागरिक का अधिकार तथा कर्त्तव्य मानते हैं, फिर भी उन्होंने अराजकता की रोकथाम के लिये सभ्य एवं अहिंसक अवज्ञा का सुरक्षात्मक उपाय सुझाया है।

अहिंसक राज्य के राजनीतिक संविधान के संदर्भ में गांधीजी के विचार इंगलैण्ड की संसदात्मक शासन-पद्धति को अपनाने के पक्ष में नहीं हैं। गांधीजी ने 1908 में ही इंगलैण्ड में प्रचलित संसदात्मक शासन-पद्धति की आलोचना प्रारम्भ कर दी थी। वे संसदात्मक लोकतन्त्र के पक्ष में थे किन्तु वे इसे आधुनिक अर्थों में प्रयुक्त करना चाहते थे यद्यपि 1942 में लुई फिशर के साथ बातचीत के दौरान गांधीजी ने कहा था कि वे संसदीय प्रतिनिधित्व तथा सार्वभौमिक मताधिकार वाली पश्चिमी लोकतान्त्रिक पद्धति को स्वीकार नहीं करते। गांधीजी के इन परस्पर विरोधी विचारों का यह तात्पर्य नहीं है कि उनका राजनीतिक दृष्टिकोण स्थिरता नहीं रखता। वास्तविकता यह है कि गांधीजी ने संविधान की मूल आत्मा को विशेष महत्व दिया है, उसके बाह्य आचरण को नहीं। गांधीजी के अनुसार प्रतिनिध्यात्मक शासन न तो भारत के लिए नया है और न अनुपयुक्त ही। उनका अभिप्राय केवल यह है कि भारत को पाश्चात्य संस्थाओं की नकल नहीं करनी चाहिये। उनकी लोकतन्त्र-सम्बन्धी मान्यता भी पाश्चात्य विचार धारा से भिन्नता रखती है। गांधीजी के अनुसार लोकतन्त्र का अर्थ है मिलावटविहीन अहिंसा का शासन। अहिंसक क्रान्ति द्वारा स्थापित राज्य 'आध्यात्मिक लोकतन्त्र' कहलायेगा। ऐसे लोकतन्त्र में सामान्यतः बहुमत द्वारा ही निर्णय लिये जायेंगे लेकिन बहुमत के नियम को हमेशा के लिये स्वीकार नहीं

किया जायेगा। राज्य के अन्तर्गत किसी धार्मिक अथवा सांस्कृतिक समूह से सम्बन्धित समस्याओं का निर्वहन उस समूह के द्वारा स्वयं किया जायेगा। महत्वपूर्ण समस्याओं पर अल्पमत की असहमति पर विस्तार से विचार किया जायेगा और बहुमत को उसकी अवहेलना करने का अवसर नहीं दिया जायेगा। गांधीजी के अनुसार अन्तःकरण से सम्बन्धित मामलों में बहुमत का नियम कोई स्थान नहीं रखता। बहुमत का नियम संकीर्ण है, क्योंकि विस्तृत व्याख्या करते समय प्रत्येक को बहुमत के समक्ष झुकना पड़ता है, किन्तु बहुमत से इस प्रकार बंधे रहने का अर्थ होगा दासता। वे ऐसे लोकतन्त्र को नहीं चाहते जिसमें जनता भेड़चाल चले। बहुमत के शासन का यह अर्थ नहीं होना चाहिये कि व्यक्तिगत राय को निरर्थक ही समझा जाय। यदि किसी व्यक्ति के विचार गरिमापूर्ण हैं तो उन पर ध्यान दिया जाना चाहिये। गांधीजी का वास्तविक लोकतन्त्र यही है। असहमतिपूर्ण अल्पसंख्यकों को बहुमत की इच्छा द्वारा दबाने का प्रयास अहिंसा का हनन है और अल्पसंख्यक सत्याग्रहियों द्वारा विरोध किया जाना चाहिये। समझौते तथा आत्म-पीड़न का उदाहरण प्रस्तुत कर अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों के विचारों के अनुरूप बनाने का प्रयास होना चाहिये।

इस प्रकार अहिंसक लोकतन्त्र में बहुमत की निरंकुशता को मान्यता नहीं मिलेगी। गांधीजी बहुमत को उदारतापूर्ण व्यवहार करने की प्रेरणा देते हैं, किन्तु वे साथ ही साथ यह विचार भी व्यक्त करते हैं कि सामाजिक जीवन तथा स्वशासन को दृष्टि में रखकर अल्पमत को, उनकी नैतिक धारणा को ठेस पहुंचने वाले निर्णयों के अपवाद को छोड़कर, बहुमत के निर्णयों के समक्ष झुकने का कर्त्तव्य पालन करना चाहिये। अहिंसक लोकतन्त्र की स्थापना में राज्य के उच्चतम स्तर को प्राप्त किया जा सकता है यदि व्यक्ति समाज-सेवा की भावना से प्रेरित होकर कार्य करे। इसके लिये आदर्शों की एकता की आवश्यकता है। अहिंसक राज्य में नैतिक वातावरण का सृजन करना ही अहिंसक क्रान्ति का मूल उद्देश्य होगा। राज्य साधन है, स्वयमेव साध्य नहीं। राज्य को जन-सेवा का आदर्श अपने समक्ष रखना होगा। स्वराज्य शासन का अर्थ है कम से कम शासन करने वाली सरकार। राज्य पर अधिक निर्भर नहीं रहना है।

गांधीजी के अहिंसक राज्य में राज्य के कार्यों को शनैः शनैः स्वयंसेवी संगठनों को हस्तान्तरित करने पर जोर दिया गया है। वे राज्य-विहीन विचार के प्रति शास्त्रीय दृष्टिकोण के कायल नहीं हैं। वे प्रत्येक समस्या पर अलग से विचार करना चाहते हैं। यदि कोई ऐसा कल्याणकारी कार्य है जो राज्य के बिना नहीं हो सकता, तो ऐसे कार्य को वे राज्य द्वारा संपादित करवाना चाहेंगे। राज्य का प्रमुख कार्य जनता की सेवा करना है। राज्य अपने कार्यों में दमन का कम से कम उपयोग करेगा। आतंरिक प्रशासन में अपराधों की रोकथाम के लिये राज्य द्वारा विशिष्ट कार्य किया जायेगा। गांधीजी अपराधों को व्यक्तिगत बुराई न मानकर सामाजिक बुराई मानते हैं। उनकी मान्यता है कि समाज में न्याय, समानता तथा बन्धुत्व का वातावरण होना चाहिये ताकि अपराध तथा दमन दोनों की मात्रा कम हो सके। अपराध की स्थिति फिर भी बनी रहेगी, क्योंकि सभी व्यक्ति आदर्श व्यक्ति नहीं होंगे। कुछ समाज-विरोधी तत्त्व अवश्य होंगे जो आत्म-नियन्त्रण के अभाव में हिंसा द्वारा कानून को तोड़ने का कार्य करें। कुछ ऐसे संगठन भी हो सकते हैं जो हिंसा द्वारा

अहिंसक शासन को उलटने का प्रयास करें। गांधीजी के अनुसार कोई भी शासन निजी सैन्य संगठनों को सार्वजनिक शांति भंग करने की अनुमति नहीं दे सकता। सत्याग्रही राज्य में न तो अपराधों को सहन किया जायगा और न नागरिक स्वतंत्रता को अपराध की स्वतंत्रता में परिवर्तित करने का लाइसेन्स ही प्राप्त होगा। हिंसा को भड़काने वाली कार्यवाही करने पर किसी को क्षमा नहीं किया जायेगा। अपराधों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, क्योंकि अपराध हिंसा को भड़काते हैं तथा व्यवस्थित समाज के शत्रु हैं। कोई भी शासन अराजकता की स्थिति का स्वीकार नहीं करेगा। गांधीजी ने अहिंसक क्रान्ति के पश्चात् स्थापित होने वाले सत्याग्रही राज्य की संरचना पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, 'स्वतंत्र भारतीय राज्य व्यक्तिगत तथा नागरिक स्वतंत्रता एवं सांस्कृतिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करेगा किन्तु संविधान निर्मात्री सभा के माध्यम से भारतीय जनता द्वारा निर्मित संविधान को हिंसा से पलटने की स्वतंत्रता नहीं होगी।"

गांधीजी हिंसात्मक कार्य करनेवाले अपराधियों को कारावास का दंड देने के पक्ष में नहीं है। तथ्य यह है कि वे सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत अपराधों के लिए दंड की व्यवस्था को उचित नहीं ठहराते। उनके अनुसार सत्याग्रही नागरिक अपराधियों को अहिंसक तरीके से सुधारेंगे। गांधीजी का बस चले तो वे हत्यारों का भी जेल के दरवाजे खुलवाकर बाहर निकलने देंगे, किन्तु ऐसा समाज की वर्तमान स्थितियों में संभव नहीं है। गांधीजी ने दंड-व्यवस्था का विकल्प नहीं प्राप्त किया, अतः वे दंड देने की व्यवस्था को बनाये रखते हुये भी दंड को अहिंसक रखेंगे। सत्याग्रही राज्य में दंड के लिये कम से कम बल प्रयोग किया जायेगा। दंड के लिये राज्य का उद्देश्य न तो वितरणात्मक होगा और न निवारक ही, क्योंकि दोनों स्थितियाँ अपराधी की सामाजिकता को समाप्त कर समाज तथा अपराधी दोनों के लिये हानिकारक हैं। सत्याग्रही राज्य में दंड का स्वरूप सुधारात्मक होगा। अहिंसक दंड में धमकाने, अपमानित करने, शारीरिक यातना पहुँचाने एवं भय उत्पन्न करने की स्थितियों का अंत हो जायेगा, मृत्यु-दंड नहीं दिया जायेगा क्योंकि मृत्युदंड अहिंसा के विरुद्ध है। हत्यारे को भी जेल भेजकर सुधरने का अवसर प्रदान किया जायेगा। अन्य प्रकार के दंड दिये जा सकते हैं किन्तु दंडित निरपराधी को हर्जाना दिया जायगा। अपराधियों को सुधारने तथा शिक्षित करने के लिये सभी अहिंसक उपाय काम में लिये जायेंगे। मनोचिकित्सकों द्वारा अपराधियों की जाँच तथा उनका इलाज किया जायेगा। उन्हें शिक्षा दी जायगी और दस्तकारी सिखायी जायेगी। पेरोल पर रिहा किये जाने तथा उनकी शिकायतों का निराकरण करने की व्यवस्था होगी। जेल तथा कारावास की व्यवस्था बनी रहेगी जेलों तथा जेल-जीवन को सुधारने के लिए गांधीजी ने विस्तृत योजना प्रस्तुत की है। उन्होंने कहा है कि जेल को समाज द्वारा अपराध का प्रतिशोध लेने की संस्था न माना जाय, अपितु एक सुधारगृह चिकित्सालय तथा पाठशाला में परिवर्तित कर दिया जाय ताकि त्रुटिकर्त्ता को अहिंसक जीवन जीने का अवसर मिले। खादी के निर्माण एवं प्रचार के लिये गांधीजी ने जेलों को चुना है ताकि कारावास से मुक्त हुआ व्यक्ति खादी का सन्देश जन-जन तक पहुँचाये और वह राज्य का आदर्श नागरिक बन सके। गांधीजी ने कारावास को भी दंड का ही स्वरूप मान कर उसे दमनात्मक बतलाया है। अहिंसक कारावास अथवा जेल अहिंसक राज्य के समान एवं

विरोधाभास है। जब तक कारागृह रहेंगे तब तक राज्य तथा समाज के दमनकारी रूप की ही याद ताजा रहेगी। गांधीजी इस दमन को भी हटाना चाहेंगे।

गांधीजी के अहिंसक राज्य में नागरिक उपद्रवों की संख्या भी कम हो जायेगी। जनसमूहों में पारस्परिक संघर्ष की घटनाएँ कम होंगी। जनता हिंसात्मक घटनाओं पर अहिंसक नियंत्रण कायम करेगी। अहिंसा से जन-जीवन ओतप्रोत होने पर हिंसा की वारदातें स्वतः सीमित हो जायेंगी। अहिंसक राज्य में साम्प्रदायिक दंगों तथा गंभीर श्रम-संकटों की स्थिति नहीं रहेगी। लेकिन गांधीजी अहिंसक राज्य में पुलिस-व्यवस्था को बनाये रखना पसंद करेंगे। पुलिस को हिंसात्मक तरीके अपनाने की छूट नहीं होगी। पुलिस के सिपाहियों की भर्ती के समय उनकी वही योग्यताएँ निर्धारित की जायेंगी जो शान्ति-सेना के स्वयंसेवकों के लिए हैं। वर्तमान पुलिस-बल के स्थान पर सर्वथा नवीन प्रणाली से ऐसे व्यक्तियों को पुलिस में भर्ती किया जायेगा जो अहिंसा में पूर्ण निष्ठा रखते हों। वे जनता के साथ स्वामियों जैसा बर्ताव न कर जन-सेवकों जैसा व्यवहार करेंगे। जनता उन्हें सहयोग देगी और परस्पर सहयोग से वे निरन्तर घटनेवाले उपद्रवों का सामना करेंगे। पुलिस के पास हथियार रहे भी तो वे उनका यदा-कदा ही प्रयोग करेंगे। पुलिस सुधारक की भूमिका अदा करेगी। उसका मुख्य कार्य डकैतों तथा लुटेरों से निपटने का रहेगा। पुलिस को हथियार रखने की सुविधा गांधीजी इस कारण से देना चाहते हैं कि पुलिस को अपराध करने वालों को गिरफ्तार करने तथा उन्हें अहिंसक उपचार के लिये कारागृह में भेजने का कार्य करना होगा। पुलिस को शारीरिक बल प्रयोग भी करना पड़ सकता है यदि वे किसी पागल को हत्या करने पर आमादा देखें। गांधीजी ने अपराध रोकने के लिये अश्रु गैस के प्रयोग की छूट दी है, यद्यपि वे इसे अहिंसक आदर्श के अनुरूप नहीं मानते। गांधीजी पुलिस के विरुद्ध नहीं हैं किन्तु वे पुलिस-व्यवस्था के हिंसात्मक पक्ष को समाप्त करना चाहते हैं। के. जी. मशरूवाला के अनुसार गांधीजी ने पुलिस का वास्तविक कार्य अपराध की रोकथाम करना माना है, न कि अपराध के बाद अपराधी की खोज, जाँच-पड़ताल तथा गिरफ्तारी, जैसा कि वर्तमान पुलिस-व्यवस्था में हो रहा है।

गांधीजी ने पूर्ण-स्वराज्य की स्थिति प्राप्त होने तक सेना को बनाये रखने का विचार प्रकट किया है। यह विचार उन्होंने गांधी-इर्विन समझौते के बाद व्यक्त किया था। बाद में (1937) उन्होंने नागरिक स्वतन्त्रता तथा आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के लिए सेना के प्रयोग को अस्वीकृत कर दिया। वे विदेशी आक्रमण के समय भी सेना के प्रयोग के पक्ष में नहीं हैं। सत्याग्रही राज्य में पुलिस तथा सेना का प्रयोग नहीं होना चाहिए। गांधीजी विशेषतः सेना के प्रयोग के विरुद्ध हैं। पुलिस को वे सुधारने के पक्ष में हैं किन्तु सेना को वे अहिंसा के विचारों के प्रतिकूल मानते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना की दृष्टि से सैन्यबल मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। उनके मतानुसार यदि पूर्ण निःशस्त्रीकरण स्वीकार कर लिया जाय तो सेना की आवश्यकता ही नहीं है।

गांधीजी ने राज्य द्वारा न्यायिक कार्य करने की स्थिति को आंशिक रूप में स्वीकार किया है। वे चाहते हैं कि अहिंसक राज्य में न्यायालयों का कार्य पंचायतें करें। गांधीजी वर्तमान न्यायिक प्रणाली के ह्रास में पूर्णतः परिचित होने के कारण

वकीलों तथा न्यायाधीशों-दोनों-के विरुद्ध हैं। वकील तथा न्यायाधीश को गांधीजी ने चचेरे भाई माना है। जो बात वकीलों पर लागू होती है, वही न्यायाधीशों पर भी लागू है। उनके अनुसार न्यायिक व्यवस्था अनैतिकता सिखाती है। वकील झगड़ों को समाप्त करने के स्थान पर उन्हें बढ़ावा देते हैं। उनका हित इसी में है कि झगड़े बढ़ते जाय। गांधीजी वकीलों को मजदूरों से अधिक फीस दिलाने के पक्ष में नहीं हैं। हिन्दू-मुस्लिम दंगों के बारे में गांधीजी ने 1908 में कहा था कि दंगा का कारण वकीलों का हस्तक्षेप था। वे वकीलों को विदेशी शासन का शिकंजा मजबूत करने में सहायक मानते थे। उनके अनुसार वकीलों के बिना न्यायालयों की स्थापना नहीं होती और न्यायालयों के अभाव में अंग्रेज भारत पर हुकूमत नहीं कर सकते थे। वे न्यायालयों को जनहितकारी नहीं मानते। जो अपनी शक्ति को बनाये रखना चाहते हैं वे ही न्यायालय का सहारा लेते हैं। न्यायालयों का लक्ष्य उस शासन की सत्ता को स्थायित्व देना होता है जिसका कि वे प्रतिनिधित्व करते हैं। तीसरे पक्ष द्वारा निर्णय हमेशा सही नहीं होता। दोनों पक्ष ही जानते हैं कि कौन सही है। उनकी मान्यता है कि हम अपने अज्ञान तथा सादगीवश यह मान लेते हैं कि एक अजनबी [वकील या न्यायालय] हमसे धन लेकर हमें न्याय दे सकता है।

गांधीजी ने उपर्युक्त कारणों से न्याय दिलाने की प्रक्रिया को सस्ता करने, पंचायतों द्वारा पंच फैसले करने तथा मध्यवर्ती न्यायालयों की बहुलता समाप्त करने का सुझाव दिया। वे वकीलों का पेशा समाप्त नहीं करना चाहते, पर उन्हें अपने व्यवसाय की उच्चता का दम न भरने की बात कहते हैं। वकीलों का वास्तविक कार्य झगड़ने वाले दो दलों को मिलाने का है। इस प्रकार गांधीजी राज्य के न्यायिक कार्य को भी न्यूनतम करना चाहते हैं। उनकी कल्पना के नवीन राज्य में अपराध तथा झगड़े कम होंगे। जनता न्यायालयों को छोड़कर आपसी समझौतों अथवा पंच-फैसला से झगड़ों का निपटारा करायेगी। कुछ मुकदमे जो राज्य के न्यायालयों में जायेंगे, उनके लिए न्याय सस्ता, शीघ्र तथा दक्ष होगा।

गांधीजी के अहिंसक राज्य में सामाजिक तथा आर्थिक संरचनायें ऐसी होंगी जिनसे राज्य जनता की आर्थिक स्थितियों को समानता प्रदान कर सामाजिक न्याय तथा आर्थिक स्वतन्त्रता की स्थापना कर सके। राज्यविहीन समाज का सामाजिक-आर्थिक ढांचा नागरिकों की नैतिक क्षमता पर निर्भर करेगा। जब तक अहिंसक राज्य की स्थापना नहीं हो जाती, तब तक सामाजिक समानता, अस्पृश्यता का अंत, जाति-प्रथा की कठोरता की समाप्ति तथा दस्तकारी पर आधारित सरल-आर्थिक जीवन स्थापित हो जाना चाहिये। राज्य-विहीन समाज की वर्ण-व्यवस्था से भिन्न अहिंसक राज्य की अर्थ व्यवस्था उत्पादन नीति में ढिलाई करेगी और बड़े स्तर पर उत्पादन तथा भारी वाहनों के प्रयोग की अनुमति देगी। फिर भी गांधीजी लघु-उद्योगों तथा स्वावलम्बी गांवों पर अहिंसा को आधारित करना चाहते हैं। वे मानव को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हैं। कोई भी परिवर्तन बलात् नहीं लाना चाहते हैं। वे केन्द्रित उत्पादन तथा भारी वाहनों को सही प्रकार के जीवन-मार्ग में बाधा मानते हैं। फिर भी गांधीजी यह अच्छी तरह जानते हैं कि जनता यातायात के आधुनिक साधनों तथा उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को पूरा करने

वाली भारी मशीनों को नहीं त्याग सकती। जो कार्य मानवीय श्रम से नहीं हो सकता, उस कार्य के लिये भारी मशीनों की उपयोगिता को स्वीकार किया जाना चाहिये। अतः गांधीजी भी चाहते हैं कि जनता उद्योगवाद से छुटकारा पाना सीख ले तो उसके द्वारा वाष्प तथा विद्युत् का प्रयोग हानिप्रद नहीं होगा। उद्योगवाद के केन्द्रित उत्पादन तथा मुनाफे की वृत्ति दोनों के प्रति गांधीजी चिंतित हैं। वे कुछ सीमा तक केन्द्रित उद्योग को छूट देने को तैयार हैं किन्तु मुनाफे की प्रवृत्ति उन्हें स्वीकार नहीं है।

सीमित मात्रा में केन्द्रित उत्पादन की छूट में गांधीजी ने उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व की अनुमति दी है यदि पूंजीपति श्रमिक के स्तर को अपनी पूंजी का समान भागीदार बनाने तथा श्रम एवं पूंजी को उपभोक्ता के न्यासी एवं न्यासिता के रूप में स्वीकार करने को तैयार हों। यदि ऐसा न हो तो राज्य का स्वामित्व ही सर्वत्र श्रेयस्कर रहेगा। राष्ट्रीयकृत तथा राज्य नियन्त्रित कारखानों में उत्पादन मुनाफे की दृष्टि से नहीं किया जायेगा बल्कि मानवता के उपयोग के लिये होगा। व्यक्ति के श्रम को बचाने का उद्देश्य मानवीय आधारों पर होना चाहिये, न कि मुनाफा बनाने के लालच पर। राज्य के स्वामित्व के अंतर्गत आने वाले उद्योगों में श्रमिकों को उनके चुनिन्दा प्रतिनिधियों के माध्यम से व्यवस्थापन करने में प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा। उन्हें शासकीय प्रतिनिधियों के साथ व्यवस्थापन की समान साझेदारी मिलेगी। गांधीजी खाद्य पदार्थ तथा वस्त्रों के भारी उद्योगों के पक्ष में नहीं हैं। इन वस्तुओं के उत्पादन साधन जनता के हाथों में रहने चाहिये और ये वस्तुएँ उसी प्रकार सुगमता से उपलब्ध होनी चाहिये जैसे ईश्वर-प्रदत्त हवा तथा पानी। यदि गाँव इस दिशा में स्वावलम्बी बनना चाहें तो गांधीजी उन्हें छोटी मशीनों तथा उपकरणों को स्वयं बनाने तथा प्रयुक्त करने की पूर्ण अनुमति देते हैं। किन्तु इनमें दूसरों का शोषण नहीं होना चाहिये। वे विकेन्द्रित कुटीर उद्योगों में आधुनिक तकनीकी सुविधाओं के उपयोग के विरुद्ध नहीं हैं। यदि गावों में बिजली उपलब्ध है तो गांधीजी ग्रामीणों द्वारा अपने यंत्र तथा उपकरणों को बिजली से चलाये जाने का विरोध नहीं करेंगे। लेकिन शर्त यह है कि विद्युत-घरों पर स्वामित्व राज्य अथवा ग्राम समुदायों का होगा, ठीक उसी तरह जैसे उनके चरागाह होते हैं। फिर भी गांधीजी उद्योगवाद के प्रति निरन्तर शंकित हैं। वे नहीं चाहते कि विद्युत-चालित मशीनों द्वारा भारी मात्रा में उत्पादन किया जाय। ऐसे उद्योग राज्य के स्वामित्व में हों तब भी निरर्थक ही रहेंगे, क्योंकि भारी-भरकम मशीनों में खतरा बना ही रहेगा।

जमींदारी प्रथा के सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा है कि यदि जमींदार किसानों के साथ न्यासियों जैसा बर्ताव नहीं करें तो राज्य के कानून द्वारा उनकी भूमि छीन ली जायेगी। उनके अनुसार किसी भी व्यक्ति के पास उसकी सम्यक् उदर पूर्ति से अधिक की भूमि नहीं होनी चाहिये। गांधीजी सम्पत्ति का निजी स्वामित्व स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके लिये न्यासिता की शर्त अनिवार्य है। यदि न्यासिता न मानी जाये तो राज्य का स्वामित्व आवश्यक है। फिर भी राज्य के स्वामित्व को वे न्यूनतम रखना चाहेंगे। राज्य शक्ति का प्रतीक एवं प्रयोगकर्ता होने के कारण व्यक्ति की सम्पत्ति छीन सकता है किन्तु ऐसा तब ही हो जब और कोई मार्ग न हो और वह भी कम से कम शक्ति के प्रयोग से किया जाय। इस प्रकार गांधीजी के अहिंसक राज्य में सामाजिक तथा आर्थिक

ढांचे को सामाजिक न्याय तथा समता पर निर्भर बनाने में राज्य की विशेष भूमिका मानी गई है। राज्य लघु उद्योगों को प्रोत्साहन देगा, वनों, खनिजों, शक्ति के स्रोतों तथा संचार के साधनों को राज्य जनहित में स्वयं नियमित करेगा, जमींदार तथा पूंजीपतियों द्वारा स्वामित्व के अनुरूप जीवन न जीने पर राज्य जमींदारी के विभिन्न प्रकार समाप्त कर देगा और केन्द्रित उद्योगों को स्वयं के अधिकार में लेकर श्रमिकों की साझेदारी में उद्योगों का व्यवस्थापन करेगा। इस तरह इन साधनों का अधिग्रहण राज्य न्यूनतम हिंसा के साथ करेगा। गांधीजी द्वारा आर्थिक स्थितियों को समानता के स्तर पर लाने के कार्य में राज्य द्वारा अधिग्रहण करने का कार्य अर्द्धमन से दी गई सुविधा ही है। राज्य में उनकी निष्ठा नहीं है, अतः वे निजी स्वामित्व की हिंसा को राज्य की हिंसा से कम हानिकारक मानते हैं। एक बार अहिंसक राज्य की स्थापना होने तथा सामाजिक एवं आर्थिक ढांचे में आवश्यक परिवर्तन होने के पश्चात् आर्थिक जीवन स्वयं नियमित हो जायेगा और राज्य द्वारा नियमित करने की आवश्यकता शनैः शनैः कम हो जायेगी।

गांधीजी ने राजस्व-व्यवस्था को सुधारने का सुझाव भी दिया है ताकि निर्धन व्यक्ति की भलाई राज्य का प्रारंभिक कार्य बन जाये। कराधान का स्वस्थ प्रकार करदाता को दस गुना सेवायें अर्पित करने में है। यह भार रूप नहीं होना चाहिये। लेकिन अहिंसक राज्य व्यक्तियों को उनके नैतिक, मानसिक तथा शारीरिक भ्रष्टाचार के लिए कर देने को विवश नहीं करेगा। पाप की कमाई राज्य नहीं लेगा। घुड़दौड़ के जुए से राज्य का कानूनी संरक्षण हटा लिया जायेगा और इससे सम्बन्धित आय भी राज्य छोड़ देगा। राज्य वेश्यालयों को चलाने के लाइसेंस नहीं देगा। राज्य तथा स्वयंसेवी संस्थाओं की सहायता से उपर्युक्त बुराइयों के विरुद्ध ऐसा प्रचार किया जायेगा ताकि जनमत शिक्षित होकर इन बुराइयों से मुक्त हो। नैतिक आधारों पर गांधीजी ने मद्य एवं अन्य नशीले द्रव्यों पर राजस्व पूर्णतः समाप्त करने के लिए दृढ़ विचार प्रस्तुत किया है। मद्यनिषेध गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम का प्रमुख स्तम्भ रहा है। गांधीजी इसके लिए राज्य तथा स्वयंसेवी संगठनों से समान रूप में कार्य करने की आकांक्षा रखते हैं। मद्य की दुकानें बन्द करने का कार्य नकारात्मक है, किन्तु एक प्रकार की राष्ट्रीय प्रौढ़-शिक्षा द्वारा इसका हल सकारात्मक है। मद्य-निषेध के प्रचारार्थ शांति-पूर्ण धरना तथा मद्यपों से निकट का व्यक्तिगत सम्पर्क सुझाया गया है। गांधीजी ने मद्य-निषेध से उत्पन्न राजस्व के संकट तथा अन्य अपराधों की चिंता किये बिना मद्य-निषेध को लागू करने में रुचि दिखाई है। उनके अनुसार मनुष्य न कि राजस्व मूल धारणा है।

गांधीजी ने कर देने की प्रणाली के बारे में नवीन विचार प्रस्तुत किये हैं। वे मुद्रा के स्थान पर श्रम द्वारा कर देने का सुझाव देते हैं। समाज के सेवार्थ जहां जनता स्वेच्छा से श्रम करे, वहां धन का विनिमय आवश्यक नहीं है। कर एकत्रित करने तथा उसका हिसाब रखने का श्रम भी बच जायेगा और परिणाम भी अच्छे ही रहेंगे। श्रम द्वारा कर देने में उस क्षेत्र की भलाई के लिए, जहां से कर एकत्रित किया है, कर का उपयोग अन्तर्निहित है।

इस प्रकार राज्य के कार्यों में गांधीजी 'कम से कम शासन' के नियम का पालन करवाना चाहते हैं और राज्य द्वारा कम से कम शक्ति का प्रयोग ही उचित ठहराते हैं।

फिर भी गांधीजी का यह आदर्श शास्त्रीय दृष्टिकोण पर आधारित नहीं है। वे अवसर उपस्थित होने पर राज्य द्वारा सम्पत्ति का अधिग्रहण करने, सार्वभौम शिक्षा के लिये अनिवार्य सेवा का प्रावधान रखने, अनिवार्य नशाबंदी करने तथा आवश्यक वस्तुओं के केंद्रित उत्पादन के राष्ट्रीयकरण का समर्थन भी करते हैं। इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि जनता द्वारा विकसित अहिंसक दृष्टिकोण कई दृष्टियों से तत्काल हल की जानेवाली समस्याओं से निपटने में असमर्थ है, किन्तु गांधीजी ने राज्य द्वारा हिंसा तथा दबाव का कम से कम उपयोग करने का विचार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार विकेन्द्रीकरण स्वयंसेवी संगठनों के महत्त्व, राज्य की लोकतांत्रिक संरचना तथा अहिंसक प्रतिरोध की दृढ़ परम्परा द्वारा राज्य के दमनकारी स्वरूप से मुक्ति दिलाई जा सकती है।

गांधीजी का 'कम शासन' का विचार पुलिस राज्य के नकारात्मक कार्यों के सदृश नहीं है। अहिंसक राज्य पुलिस राज्य नहीं है। अहिंसक राज्य में पुलिस तथा सेना का महत्त्व नगण्य रहेगा। गांधीजी ने लोक-कल्याण के लिए कुछ ऐसे कार्य भी रखे हैं, जो समाजवादी अथवा साम्यवादी प्रकृति के हैं, जिनके द्वारा राज्य का हस्तक्षेप जन-कल्याण में वृद्धि कर सके। गांधीजी न तो 'अहस्तक्षेप' श्रेणी के व्यक्तिवादी हैं, और न वे समाजवादी अथवा साम्यवादी विचारधारा के प्रति निष्ठावान् ही हैं, क्योंकि वे अहिंसक साधनों, हस्तकला-सम्पन्न आदर्शपूर्ण जीवन तथा विकेन्द्रीकरण के कट्टर उपासक हैं। सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के लिए गांधीजी ने मौलिक अधिकारों की व्यवस्था को स्वीकार किया है। कांग्रेस के कराची अधिवेशन (अगस्त 1931) में पारित मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित प्रस्ताव को गांधीजी ने पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। वे कतिपय संशोधन करने के पक्ष में हैं: जैसे मत-मताधिकार, शस्त्र रखने तथा शस्त्र लेकर चलने की स्वतंत्रता, (गांधीजी की मान्यता है कि किसी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विपरीत अहिंसक बनाने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता), सेना तथा सैनिक प्रशिक्षण का अंत, रोजगार का अधिकार आदि। गांधीजी ने अधिकार तथा कर्त्तव्यों के संबंध में सम्यक मार्ग अपनाया है।

अधिकार तथा कर्त्तव्य

गांधीजी ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले तथा बाद में यह बात बार-बार दोहराई कि व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करना चाहिए न कि अधिकारों की चिंता। अधिकार कर्त्तव्यों की पूर्ति के अनुगामी हैं। अधिकारों का वास्तविक स्रोत कर्त्तव्यों में निहित है। कर्त्तव्यों को छोड़कर अधिकारों के पीछे भागना मृग-मरीचिका के समान है। अधिकारों के पीछे जितना दौड़ेंगे, उतने ही अधिकार दूर होते जायेंगे।[122] गांधीजी के लिए सर्वोच्च धर्म ही सर्वोच्च राजनीति है। वे धर्म की चर्चा में राजनीति का ही अभिप्राय प्रकट करते हैं। उनके अनुसार राज्य व्यक्तियों द्वारा किए गये त्याग का सामूहिक रूप है। ऐसा राज्य जिसमें व्यक्तियों का समुदाय राज्य से अधिक से अधिक प्राप्त करने का प्रयास करता है तथा उसके एवज में कम से कम योगदान करने की इच्छा रखता है, नष्ट हो जाता है। गीता की भाषा में ऐसे व्यक्तियों को चोरों की संज्ञा दी गई है। जनता के राजनीतिक स्वास्थ्य के लिए परमार्थ-चिंतन आवश्यक है।[123]

राज्य द्वारा सत्ता के दुरुपयोग को नियंत्रित करने की दृष्टि से अधिकारों का महत्त्व गांधीजी ने स्वीकार किया है। गांधीजी की सहमति पर कराची कांग्रेस अधिवेशन में मूल-

भूत अधिकारों का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था, किन्तु गांधीजी ने अधिकारों की स्थिति को व्यक्तियों की क्षमता के अनुसार निर्धारित करने पर बल दिया है। गांधीजी ने श्रम के आधार पर मताधिकार देने की बात कही है। वे शस्त्र रखने तथा शस्त्र लेकर चलने के अधिकार को अहिंसा का विरोधी मानते हैं। चूंकि व्यक्ति स्वेच्छा से अहिंसक नहीं बन सकता, अत: कानून की स्वीकृति द्वारा शस्त्र रखने का अधिकार दिया जा सकता है। अहिंसक राज्य में सेना तथा सैन्य प्रशिक्षण के लिये कोई स्थान नहीं है। श्रमिकों तथा किसानों के न्यूनतम आर्थिक वेतन के अधिकार को स्वीकृति दी गयी है। गांधीजी ने रोजगार के अधिकार को शिक्षा के साथ जोड़ दिया है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि सब को रोजगार की सुविधा उपलब्ध कराये। फिर भी गांधीजी कर्त्तव्यों को अधिक महत्व देते हैं। अधिकारों से आत्मानुभूति होती है किन्तु सच्ची आत्मानुभूति कर्त्तव्यों के माध्यम से ही हो सकती है। प्रत्येक अधिकार अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करने का अधिकार है। इसमें सभी प्रकार के वैधानिक अधिकार निहित हैं। यदि अधिकार की मांग करनेवाला तदनुरूप कर्त्तव्य-क्षमता नहीं रखता तो ऐसे अधिकार का महत्व स्वत: समाप्त हो जायेगा।[134]

गांधीजी ने अपने जीवन के अनुभवों के संदर्भ में यह व्यक्त किया कि युवावस्था में वे अधिकारों को जताने का प्रयास करते थे किन्तु उन्हें यह ज्ञात करने में विलम्ब नहीं हुआ कि उन्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं है—अपनी पत्नी पर भी नहीं। अत: उन्होंने अपनी पत्नी, संतान, मित्रों, सहयोगियों तथा समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को जानने तथा पूरा करने का कार्य प्रारंभ किया और यह अनुभव किया कि उन्हें कहीं अधिक अधिकार प्राप्त हैं। उनके अनुसार अनेक लोकतांत्रिक राज्यों में मत देने का अधिकार जनता के लिए भार रूप सिद्ध हुआ है, क्योंकि वह अधिकार शारीरिक शक्ति अथवा धमकियों द्वारा प्राप्त किया गया है, न कि उसके अनुरूप योग्यता प्राप्त करके। वे श्रीकृष्ण के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के अमृत-वाक्य को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अधिकार शब्द का प्रयोग केवल राज्य के संदर्भ में ही नहीं किया जाना चाहिये। व्यापक दृष्टि से देखने पर अधिकार सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को समाहित किये हुये हैं।[135]

सत्य तथा अहिंसा का पालन करने से उत्पन्न दक्षता के द्वारा व्यक्ति स्वयं अधिकारों का सृजन करता है। अधिकार राज्य अथवा अन्य किसी समुदाय द्वारा प्रदत्त नहीं हैं। गांधीजी की यह भी धारणा है कि राज्य अथवा समुदाय केवल अधिकारों को मान्यता ही प्रदान करते हैं। अहिंसा के प्राप्त स्तर के अनुपात में व्यक्तियों को अधिकार प्राप्त होते हैं। प्रत्येक की नैतिक क्षमता एक जैसी नहीं होती। व्यक्ति को अधिकार पर होने वाले प्रहार को रोकने की उपचारात्मक स्थिति अहिंसक असहयोग के रूप में प्राप्त है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति सामाजिक हित की दृष्टि से प्रत्येक कार्य करे। इस प्रकार गांधीजी ने अधिकारों को व्यक्तिगत सम्पत्ति न बनाकर उनके माध्यम से समाज-सेवा करने के कार्य को वरीयता दी है। उनका अधिकार-विषयक सिद्धांत सामाजिक कल्याण का पोषक है। वे आत्मनिर्भरता तथा आत्मावलोकन पर अधिक बल देते हैं। अधिकारों से वंचित व्यक्ति स्वयं दोषी है। यदि वह कर्त्तव्य में रत रहे तो अधिकारों की

प्राप्ति स्वत कर लेगा तथा उनके दुरुपयोग की अथवा उनके माध्यम से शोषण की प्रवृत्ति उसमें नहीं रहेगी।[136]

गांधीजी के आर्थिक विचार

गांधीजी के विचारों का वास्तविक अर्थशास्त्र यह है कि धन-संग्रह प्रगति के मार्ग में बाधक है। वे अर्थशास्त्र की आधुनिक पाठ्य-पुस्तकों की तुलना में विश्व की धार्मिक कृतियों को अर्थशास्त्र के नियमों की अधिक सुरक्षापूर्ण एवं ठोस कृतियां मानते हैं। उनके अनुसार आज की आर्थिक चुनौतियां जीसस क्राइस्ट के समय में भी थीं। क्राइस्ट ने कहा था कि 'एक ऊँट का सुई की आंख से निकल जाना सरल है किन्तु धनी व्यक्ति के लिए ईश्वर के राज्य में प्रविष्ट होना कठिन है।' क्राइस्ट, मोहम्मद, बुद्ध, नानक, कबीर, चैतन्य, शंकर, दयानन्द, रामकृष्ण सभी महापुरुषों ने अपनी उपस्थिति से विश्व को सम्पन्न बनाया, किन्तु उन्होंने स्वेच्छा से निर्धनता को अपनी नियति के रूप में अंगीकार किया। हमने आधुनिक भौतिक सभ्यता को अपना लक्ष्य बनाकर प्रगति के मार्ग को नहीं चुना। वास्तविक उन्नति कुछ और ही है। प्राचीन आदर्श के अनुसार पूंजी को बढ़ाने वाली गतिविधियों को सीमित करने की आवश्यकता है। इससे सब प्रकार की भौतिक आकांक्षाओं की समाप्ति नहीं होती। पूंजी बनाने वाले अपने कार्य में फिर भी व्यस्त रहेंगे, किन्तु ईश्वर तथा कुबेर की एक साथ सेवा नहीं की जा सकती। यह आर्थिक सत्य है। गांधीजी के अनुसार 'भारत को अमेरिका तथा यूरोप के देशों के समान भौतिकवादी दौड़ में नैतिकता का अन्त नहीं करना है।' वे पुरुषों, स्त्रियों तथा बालकों की मृतदेहों पर खड़ी होने वाली दैत्याकार चिमनियों तथा फैक्ट्रियों को पसन्द नहीं करते। उनके अनुसार देश की आर्थिक समृद्धि बढ़ने के साथ-साथ नैतिकता का स्तर दिनों-दिन घटता जा रहा है।[137]

गांधीजी के अनुसार 'भारत का आर्थिक ढांचा अथवा समस्त विश्व का आर्थिक आधार ऐसा होना चाहिये जिसमें कोई भी व्यक्ति अन्न तथा वस्त्र से विपन्न न हो। प्रत्येक व्यक्ति को इतना काम मिलना चाहिये कि वह अपनी दैनिक आवश्यकताओं की न्यूनतम पूर्ति अवश्य कर सके। यह तभी सम्भव है जबकि जीवन से सम्बन्धित मूलभूत आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन जनता के नियन्त्रण में हो। दैनिक उपयोग की वस्तुयें उसी प्रकार उपलब्ध हों जैसे ईश्वर द्वारा प्रदत्त हवा एवं पानी। शोषण की अर्थव्यवस्था को तिलांजलि दे दी जाय। आर्थिक साधनों का एकाधिपत्य न किसी देश के हाथ में रहे, न राष्ट्र के हाथों में और न किसी व्यक्ति समूह में। इस साधारण सिद्धान्त की अवहेलना का अर्थ विनाशकारी हो सकता है।'[138] यद्यपि गांधीजी समान वितरण के आदर्श के पक्षपाती हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से वे समान वितरण के स्थान पर न्याय संगत वितरण को स्वीकार करते हैं।[139]

असमानता की उत्पत्ति की विवेचना करते हुये गांधीजी ने अपरिग्रह को अस्तेय से सम्बद्ध किया है। उनके अनुसार यदि कोई वस्तु किसी के पास अनावश्यक होते हुये भी संगृहीत है तो उसे चोरी न मानते हुये भी चुराई गई सम्पत्ति के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाना चाहिये। संग्रह का उद्देश्य भविष्य के लिये व्यवस्था करना है। सत्यमार्ग का पथिक तथा प्रेम के नियम का अनुयायी कभी भी आनेवाले कल की चिन्ता नहीं करता। ईश्वर कल के लिए संगृहीत नहीं करता। वह तत्काल की आवश्यकता-पूर्ति से अधिक

निर्माण नही करता। अत ईश्वर मे पूर्ण आस्था रखते हुये हमे इस विश्वास के साथ जीवन व्यतीत करना चाहिये कि ईश्वर हमे प्रतिदिन रोटी देगा—हमे सब कुछ प्राप्त होता रहेगा। महापुरुषो एव भक्तो ने यह तथ्य अनुभव किया है। इस दैवी कानून के प्रति हमारे अज्ञान अथवा लापरवाही ने ही हमारे मध्य असमानता तथा उससे सम्बन्धित कष्टो को उत्पन्न किया है। अमीरो के पास ऐसी वस्तुओ का भण्डार है जिनकी उन्हें आवश्यकता नही, और इस कारण वे वस्तुयें व्यर्थ पड़ी रहती हैं, जबकि करोड़ो व्यक्ति भूख के मारे काल-कवलित हो जाते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार ही वस्तुओं का सग्रह करे, तो कोई भी व्यक्ति भूखा नही रहेगा और सब अमन चैन से जीवन-यापन करेंगे। अन्यथा अमीर मे भी उतना ही असन्तोष है जितना निर्धन मे। निर्धन लखपति बनने की कामना करता है, तो लखपति करोड़पति बनने की। धनी व्यक्ति को अपरिग्रह के मामले मे पहल करनी होगी ताकि सन्तुष्टि का विश्वव्यापी परावर्तन हो सके। उन्हें अपनी सम्पत्ति को सामान्य स्तर पर लाना होगा ताकि क्षुधा-पीड़ितो को भोजन मिल सके और वे अमीरो के साथ सन्तोष से जीवन-यापन कर सकें।[140] यदि सभी व्यक्ति सेवा की भावना से काम करने लग जाय तो पूंजी का सग्रह ही नही हो और पूंजी-जन्य असमानतायें समाप्त होने के साथ-साथ दुर्भिक्ष अथवा भुखमरी भी समाप्त हो जाय।[141]

गांधीजी ने समानता के आदर्श को स्पष्ट करते हुये कहा है कि सामाजिक दृष्टि से सब समान उत्पन्न हुये हैं—अर्थात् सबको अवसर की समानता का अधिकार प्राप्त है, किन्तु सब मे समान क्षमताएँ नही होती। प्रकृति से ही इस प्रकार की असमानता होती है। सभी एक ही ऊचाई, रग, बुद्धि आदि के नही होते, कुछ अधिक कमाने की योग्यता रखते हैं, अन्य कम। योग्यता सम्पन्न व्यक्ति अधिक अर्जन करेंगे और वे अपनी दक्षता का इसके लिये प्रयोग भी करेंगें। यदि ऐसे व्यक्ति अपनी योग्यता का उदारता से प्रयोग करें तो वे राज्य के कार्य का निष्पादन कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति न्यासी के रूप मे विद्यमान रहते हैं। बौद्धिक प्रतिभाशाला व्यक्ति यदि अधिक आय प्राप्त करता है तो उसकी बुद्धि को कुठित करने की आवश्यकता नही है, किन्तु ऐसे व्यक्ति की आय का बड़ा भाग राज्य के हित में उसी तरह प्रयुक्त किया जाना चाहिये जैसे कि सयुक्त परिवार मे पिता के कमाने वाले पुत्रो की आय। वे न्यासी के रूप मे ही अपनी आमदनी को रखें।[142]

न्यासिता के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए गांधीजी ने व्यक्त किया है कि वे न्यासिता की स्थापना केवल अनुरोध ही नही अपितु असहयोग द्वारा करना चाहते हैं। कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति का अधिक सचय व्यक्तियो के स्वेच्छिक अथवा बलात् सहयोग के बिना नही कर सकता। गांधीजी पूँजी के मालिको को आढ़त अथवा बट्टा देने के पक्ष मे हैं। उन्हे आढ़त इसलिए दी जायगी कि धन उनके स्वाधिकार मे है। पूजीपतियो से न्यासी बनने का आग्रह किया जायेगा। गांधीजी ने इसे स्पष्ट करते हुये कहा है कि यदि किसी व्यक्ति के पास सौ रुपये हैं तो उसे पचास रुपये अपने पास रखने को कहा जायगा तथा शेष पचास रुपये कामगारो को देने के लिए कहा जायगा जिनके शोषण से वह राशि उत्पन्न हुई है किन्तु ऐसे व्यक्ति को जिसके पास एक करोड़ रुपये हैं, उसे केवल एक प्रतिशत धन अपने पास बट्टे के रूप मे रखने को कहा जायेगा तथा शेष राशि वही स्वेच्छा से समाज-हित मे अर्पित कर देगा।[143]

निजी सम्पत्ति के विषय पर गांधीजी ने निर्मल कुमार बोस के साथ हुई बातचीत में बतलाया कि "प्रेम तथा निजी सम्पत्ति साथ-साथ नहीं चल सकते। सैद्धान्तिक दृष्टि से पूरा प्रेम तभी सम्भव है, जब पूर्ण अपरिग्रह हो। हमारी देह ही हमारी अन्तिम सम्पत्ति है। पूर्ण प्रेम तथा अपरिग्रह तभी सम्भव है जब कि मानवीय सेवा में अपने शरीर को अर्पित करने के लिए तैयार हो जांय"। व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं। मानव की अपूर्णता के कारण इस लक्ष्य की प्राप्ति कठिन है, फिर भी इसे एक आदर्श साध्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। जिनके पास पैसा है वे न्यासी के रूप में कार्य करें तो समानता लाई जा सकती है। राज्य द्वारा हिंसा के प्रयोग से पूंजीवाद का दमन करना उचित नहीं है। एक बार हिंसा का चक्र प्रारम्भ हो गया तो फिर अहिंसा की स्थापना नहीं हो पायेगी। राज्य हिंसा का केन्द्रीय एवं संगठित प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति में आत्मा है किन्तु राज्य आत्माविहीन मशीन है। हिंसा पर आधारित होने के कारण राज्य हिंसा-रहित नहीं हो सकता। यही कारण है कि न्यासिता का सिद्धान्त अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता है।[144]

गांधीजी राज्य को न्यूनतम सम्पत्तियुक्त बनाना चाहते हैं। राज्य में शक्ति का अत्यधिक केन्द्रीयकरण भयावह है। निजी स्वामित्व राज्य के सम्पत्ति के स्वामित्व से कम हिंसात्मक है। यदि व्यक्ति स्वेच्छा से न्यासी बनने को तैयार न हो, तो ऐसी स्थिति में राज्य द्वारा कम से कम हिंसा का प्रयोग कर ऐसे व्यक्ति की सम्पत्ति को न्यास में परिवर्तित कर लेना उचित रहेगा। व्यक्ति अपनी आदतों के अनुसार चलता है, किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि वह अपनी इच्छा के अनुरूप चले। व्यक्ति अपनी इच्छाओं को इतना विकसित कर ले कि वह शोषण को न्यूनतम कर सके। राज्य की शक्ति का विस्तार अत्यन्त भयानक है क्योंकि राज्य शोषण का अन्त करने का कार्य करते हुये शनैः शनैः व्यक्ति के व्यक्तित्व को समाप्त कर देता है। व्यक्तित्व की हानि प्रगति विरोधी है। व्यक्ति न्यासी बन सकता है किन्तु राज्य रूपी मशीन गरीबों का हित नहीं कर सकती। राज्य का संगठन शक्ति पर आधारित है।[145]

गांधीजी के आर्थिक विचारों का आधार रोटी-रोजी सिद्धान्त है। टालस्टाय से गांधीजी ने यह प्रेरणा प्राप्त की है कि जीवित रहने के लिये मनुष्य को कार्य करना चाहिये। रस्किन के विचारों ने भी उनको इस दिशा में प्रवृत्त किया। रूसी लेखक टी एम. बोन्डारेफ ने सर्वप्रथम यह विचार प्रकट किया कि मनुष्य अपनी रोटी स्वयं अपने हाथों से काम करके कमाये। टालस्टाय ने इसी विचार को व्यापक रूप से प्रचारित किया। गीता के तृतीय अध्याय में भी यही विचार व्यक्त किया गया है कि बिना कष्ट के प्राप्त भोजन चुराये हुये भोजन के समान है। यही रोटी-रोजी सिद्धान्त का आधार है। श्रम किये बिना व्यक्ति को भोजन करने का अधिकार नहीं है। पूंजी तथा श्रम के मध्य विश्वव्यापी संघर्ष छिड़ा हुआ है। निर्धन व्यक्ति पूंजीपति से ईर्ष्या करता है। यदि सब व्यक्ति अपनी रोटी के लिये काम करें, वर्ग-भेद स्वतः मिट जायेगा। धनी व्यक्ति फिर भी होंगे किन्तु वे अपने को अपनी सम्पत्ति का न्यासी समझेंगे और इसका प्रयोग वे मुख्यतया सार्वजनिक हित में करेंगे।[146]

रोटी-रोजी का सिद्धान्त उन व्यक्तियों के लिये जो अहिंसा का पालन करते हैं,

सत्य की अर्चना करते हैं तथा ब्रह्मचर्य का स्वाभाविक रूप से पालन करते हैं, वरदान स्वरूप है। श्रम का प्रयोग वास्तव में कृषि से ही सम्बन्धित हो सकता है। चूंकि सभी यह कार्य नहीं कर सकते, अत व्यक्तियों को कताई अथवा बुनाई, बढ़ईगिरी अथवा लुहारी आदि कार्य कृषि के स्थान पर करने चाहिये और कृषि को अपना आदर्श स्वीकार करना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्वयं का महतर होना चाहिये। अपना मैला खुद उठाना चाहिये। सफाई करने का कार्य समाज के किसी वर्ग-विशेष को सौंप दिया जाना न्याय-संगत नहीं है। बाल्यकाल से ही हमारे मस्तिष्क पर यह विचार कि 'हम सब महतर हैं' अंकित कर देना चाहिये और सफाई के कार्य को रोटी-रोजी के साथ जोड़ देना चाहिये। ऐसा करने से मानव की समानता का सही मूल्यांकन हो सकेगा।[147] सभी के लिये प्रचुर मात्रा में खाद्य सामग्री तथा समुचित विश्राम की सुविधाएँ उपलब्ध हो सकेंगी। जनसंख्या का दबाव, रुग्णता तथा निर्धनता भी नहीं रहेगी। जनहित में अनेक प्रकार के हुनर व्यवसाय आदि विकसित होंगे। ऊंच-नीच के भेद नहीं रहेंगे। न कोई निर्धन होगा, न कोई धनाढ्य, न कोई सवर्ण होगा, न कोई अछूत।[148]

गांधीजी ने रोटी-रोजी के सिद्धान्त को आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया। असाध्य दिखाई देते हुये भी, इस सिद्धान्त का दैनिक शारीरिक परिश्रम द्वारा सधारण संभव है। हमारी दैनिक आवश्यकताओं को सीमित करने तथा सादा भोजन करने की वृत्ति हमें 'जीने के लिये खाने' के न कि 'खाने के लिये जीने' की प्रेरणा देती है। बौद्धिक श्रम के द्वारा अर्जित आजीविका उचित नहीं है। शरीर की आवश्यकतायें शारीरिक परिश्रम द्वारा ही पूरी की जा सकती है। बौद्धिक श्रम केवल आत्मा की परितुष्टि के लिये है। आय के लिये इसका उपयोग नहीं होना चाहिये। आदर्श राज्य में चिकित्सक, वकील तथा अन्य केवल समाज के हित के लिये कार्य करेंगे, अपने स्वार्थ के लिये नहीं। रोटी-रोजी के नियम के प्रति आज्ञापालन समाज की संरचना में अवाक् क्रान्ति लायेगी। अस्तित्व के लिये संघर्ष के *स्थान पर पारस्परिक सेवा के आदर्श में ही मानव की विजय सन्निहित है। प्राकृतिक* कानून को मानवीय कानून में परिवर्तित करना है। स्वेच्छा से गांवों की ओर अभिमुख होना है। गांवों में बसनेवालों की निर्धनता का कारण स्वैच्छिक आज्ञा पालन की क्षमता में कमी का सूचक है। शारीरिक श्रम से विमुख होने के कारण ही गांवों से शहरों की ओर पलायन की स्थिति उत्पन्न हुई है। अनिवार्य आज्ञापालन दासता है। रोटी-रोजी नियम के प्रति अनिवार्य आज्ञापालन की स्थिति, निर्धनता, रोग एवं असंतोष उत्पन्न करती है। स्वेच्छा से आज्ञापालन की प्रवृत्ति संतोष तथा स्वास्थ्य प्रदान करती है। जिस प्रकार से पुत्र स्वेच्छा से पिता की आज्ञा का पालन करता है, उसी प्रकार व्यक्ति को रोटी-रोजी के लिये स्वैच्छिक श्रम करना है। गांवों में उद्योगों का विकास कर स्वैच्छिक श्रम का सूत्रपात किया जा सकता है।[149]

गांधीजी ने पूंजी तथा श्रम को परस्पर न्यासी के रूप में माना है। दक्षिण अफ्रीका, चम्पारन एवं अहमदाबाद में अहिंसा का प्रयोग कर गांधीजी ने बंधक मजदूरों तथा अन्य प्रकार के श्रमिकों की समस्या का निदान प्रस्तुत किया है। अहिंसा द्वारा श्रम की समस्याओं का निराकरण स्थायी है क्योंकि अहिंसा श्रमिक में यह अनुभूति जागृत करती है कि उसका श्रम उसी प्रकार पूंजी है जिस प्रकार धातु। उन्हें अपनी आन्तरिक शक्ति को पहचानना

है ताकि वे अपनी संगठनात्मक शक्ति का सही प्रयोग कर शोषण का अंत कर सकें। श्रमिकों की स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि वे शोषणमुक्त होने पर अहिंसा का त्याग कर दें। यदि ऐसा किया गया तो वे स्वयं पूंजीपतियों के समान दुष्ट एवं शोषणकारी बन जायेंगे। अहिंसक बने रहने पर वे पूंजी को सहयोग प्रदान करते हुये उसका सही उपयोग करवा सकेंगे। मिल तथा मशीन को वे शोषण के प्रतिनिधि न मानकर उत्पादन के अपने उपकरण स्वीकार करेंगे। उनकी वे उसी प्रकार रक्षा करेंगे जैसे वह उनकी स्वयं की सम्पत्ति हो। वे न तो उन्हें हानि पहुंचायेंगे और न चोरी करेंगे अपितु अधिक से अधिक उत्पादन बढ़ायेंगे। पूंजी तथा श्रम परस्पर न्यासी बन कर उपभोक्ताओं के भी न्यासी बन जायेंगे। न्यासिता का सिद्धान्त एकतरफा नहीं है। इसमें न्यासी की उच्चता को स्वीकार नहीं किया गया—सभी एक दूसरे के पूरक, सहायक एव समान हैं। विश्व में देवताओं की कोई पृथक् प्रजाति नहीं है, किन्तु वे सब देवता हैं जो उत्पादन की शक्ति रखते हैं तथा उस शक्ति का प्रयोग समाज के हित में करते हैं—श्रमिक तथा पूंजीपति दोनों ही।[130]

आर्थिक विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से समान वितरण की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए गांधीजी ने व्यक्त किया है कि सब व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति होनी चाहिये और आवश्यकता से अधिक किसी के पास नहीं होना चाहिये। उदाहरण के लिये, यदि किसी व्यक्ति की भूख कम है और वह पाव भर आटे में अपना पेट भर सकता है और दूसरे को उससे चार गुने आटे की आवश्यकता है, तो दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये। इसके लिये समाज की संरचना में परिवर्तन करना होगा। अहिंसा द्वारा यह परिवर्तन लाया जा सकता है। व्यक्ति को अपने निजी जीवन में परिवर्तन लाना होगा। उसे भारत की निर्धनता को ध्यान में रखते हुये अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम करना होगा। उसकी आमदनी बेईमानी-रहित होनी चाहिये। उसे भविष्य की चिंता छोड़नी होगी। उसे जीवन के हर क्षेत्र में अपने ऊपर नियंत्रण लगाना होगा। जब व्यक्ति अपने जीवन में यह सुधार ले तभी अपने मित्रों तथा पड़ोसियों को इस आदर्श का उपदेश दिया जा सकता है। समान वितरण की धारणा पर ही न्यासिता का सिद्धान्त आधारित है। धनी व्यक्तियों को अपने पड़ोसियों से अधिक धन नहीं रखना है। अतिरिक्त धन को न्यासी के रूप में समाज के लिये प्रयुक्त करें। न्यासी की ईमानदारी पर सब कुछ निर्भर करेगा। यदि न्यासी ने निर्धनों के संकट का निवारण नहीं किया तो फिर सविनय अवज्ञा तथा अहिंसक असहयोग का मार्ग अपनाया जायगा। निर्धन व्यक्तियों के सहयोग के बिना धनी व्यक्ति धन एकत्र नहीं कर सकता यह बात निर्धनों को समझाई जावे तो वे एक जुट हो अहिंसा द्वारा समाज में व्याप्त विषम असमानता का अंत कर भुखमरी से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।[131]

न्यासी के सम्बन्ध में गांधीजी ने बतलाया कि न्यासी से परोपकारी अथवा धर्मात्मा का अर्थ नहीं लेना चाहिये। न्यासिता का विचार स्थापित होने के पश्चात् परोपकारियों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। न्यासी का उत्तराधिकारी व्यक्ति-विशेष नहीं होता, अपितु समस्त जनता होती है। अहिंसा पर आधारित राज्य में न्यासियों का कमीशन निर्धारित होगा। राजा-महाराजा एवं जमींदार सभी अन्य पूंजीपतियों के समान स्तर पर न्यासी ही माने जायेंगे।[132] वर्तमान न्यासी अपने उत्तराधिकारी का कानूनन नामांकन कर सकेगा

यद्यपि सम्पत्ति जन हित में प्रयुक्त होगी।[153]

समानता के आदर्श की व्याख्या करते हुए गांधीजी ने व्यक्त किया है कि वर्ग-भेद किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये। अमीर तथा गरीब की खाई इतनी बढ़ी हुई है कि सारा दृश्य हृदय-विदारक लगता है। निर्धन ग्रामीण को दुतरफा शोषण का शिकार बनाया गया है—एक ओर विदेशी सरकार तो दूसरी ओर शहर के निवासी—दोनों ही उसका शोषण करते हैं। वे अन्न उपजाते है, फिर भी भूखे रहते हैं। वे दुग्ध उत्पादन करते हैं, फिर भी उनके बच्चों को दूध पीने को नहीं मिलता है। यह शर्मनाक बात है। प्रत्येक व्यक्ति को सतुलित आहार मिलना चाहिये साफ सुथरा मकान मिलना चाहिये, बच्चों की पढ़ाई की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये और चिकित्सा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। यही आर्थिक समानता का चित्र है। गांधीजी आवश्यक वस्तुओं के अलावा उत्पादन को प्रतिबंधित नहीं करना चाहते किन्तु इतना अवश्य चाहते हैं कि अन्य सभी उत्पादन निर्धन व्यक्ति की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूरा करने के पश्चात् किया जाय।[154]

न्यासिता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में गांधीजी ने एक ड्राफ्ट फार्मूला तैयार किया था किन्तु वह गांधीजी के जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो पाया। बाद में प्यारेलाल ने इस फार्मूला को प्रकाशित करवाया। न्यासिता के बारे में प्यारेलाल के गांधीजी से हुये वार्तालापों से अनेक नये तथ्य प्रकाश में आये हैं। प्यारेलाल ने जो प्रमुख प्रश्न प्रस्तुत किये हैं उनमें कतिपय महत्व के है। एक प्रमुख चुनौती जो कि गांधीजी के न्यासिता सिद्धान्त के संदर्भ में प्रस्तुत की गई है, यह है कि यदि अहिंसा के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए आत्मोत्सर्ग अथवा आत्मदाह भी करना पड़े और इसके द्वारा विरोधी पर उसका प्रभाव डाला जाय तो फिर पूंजीपतियों को शोषण से प्राप्त अपनी अथाह सम्पत्ति त्यागने को विवश क्यों नहीं किया जा सकता? न्यासिता की ही क्या आवश्यकता है? अनेक व्यक्ति इसे कोरी गप्प मानते है। क्या अहिंसा की शक्ति सीमित है? गांधीजी सुधारवाद की राजनीति को क्रान्ति का हनन करने वाली मानते हैं। क्या यही बात सामाजिक क्रान्ति के सम्बन्ध में लागू नहीं होती? उपर्युक्त शंकाओं का निवारण प्रस्तुत करते हुये गांधीजी ने व्यक्त किया है कि प्रश्नकर्त्ता के मस्तिष्क में रूस का उदाहरण है। धनाढ्य वर्ग की सम्पत्ति को जब्त कर उसे जनता में वितरित कर दिया जाना असाधारण क्रान्तिकारी उत्साह का जनक है, किन्तु न्यासिता की योजना में जनता न केवल पूंजीपतियों की सम्पत्ति का ही उपयोग करती है अपितु पूंजीपति की योग्यता, जानकारी तथा अनुभव का भी उपयोग कर सकती है। यह और भी बृहत् क्रान्ति है। हम पूंजीपतियों के व्यावसायिक अनुभव तथा योग्यता को जो कि उन्होंने पीढ़ियों के विशिष्टीकरण से प्राप्त की है, नकार नहीं सकते। जब तक हम शक्ति सम्पन्न न हो जायें, परिवर्तन ही हमारा अस्त्र है, किन्तु शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् हम परिवर्तन को स्वैच्छिक शस्त्र के रूप में काम में लेंगे। परिवर्तन व्यवस्थापन के पहले किया जाना चाहिये। अन्यथा व्यवस्थापन निर्जीव मात्र रहेगा। उदाहरण के तौर पर हमें सफाई के नियमों को लागू करने की शक्ति प्राप्त है किन्तु हम इससे कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि जनता इसके लिये तैयार नहीं है।[155]

पूंजीपति यदि स्वेच्छा से न्यासी बनने को तैयार न हो तो जनमत के दबाव से ऐसा किया जा सकता है, किन्तु इसके लिए जनमत को संगठित करने की आवश्यकता है। जनमत की मत अभिव्यक्त करने की शक्ति को इतना विस्तृत करने की आवश्यकता है कि बहुमत की इच्छा को प्रभावी किया जा सके। केवल समझौतात्मक कार्यवाही से जनता को शक्ति प्राप्त नहीं होगी। अहिंसक असहयोग ही जनता की वास्तविक शक्ति है। अहिंसा का यह तात्पर्य नहीं कि हम शक्ति पर कब्जा करलें क्योंकि यह अहिंसा का लक्ष्य नहीं हो सकता। शासन की मशीनरी को कब्जे में किये बिना भी अहिंसा द्वारा शक्ति को नियन्त्रित एवं निर्देशित किया जा सकता है। शासन केवल हिंसा से ही नहीं चलाया जा सकता। शक्ति का प्रयोग फूल के समान हल्का होना चाहिये ताकि किसी को भी उसका वजन न अनुभव हो। गांधीजी के अनुसार, "जनता ने कांग्रेस की सत्ता को स्वेच्छा से स्वीकार किया था। एक से अधिक बार मुझे डिक्टेटर की पूर्ण शक्ति से विभूषित किया। किन्तु हर व्यक्ति यह जानता था कि मेरी शक्ति उनकी स्वैच्छिक स्वीकृति पर निर्भर करती थी। वे मुझे कभी भी अलग कर सकते थे तथा मैं भी बिना किसी नानुकर के हट जाता। खिलाफत के दिनों में मेरी सत्ता और कांग्रेस की सत्ता से किसी को परेशानी नहीं हुई। अली बंधु मुझे 'सरकार' कह कर पुकारते थे। हालांकि वे मुझे जानते थे कि वे मुझे अपनी जेब में रखते थे। जो कुछ उस समय मेरे बारे में अथवा कांग्रेस के बारे में सत्य था, वह शासन के बारे में सत्य हो सकता है।"[158]

सिद्धान्त में अहिंसक राज्य की स्थापना अथवा अहिंसक तानाशाही सम्भव है, किन्तु उसके लिये आत्मानुशासन, आत्मत्याग एवं तपस्या की आवश्यकता है। भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध (अध्याय) में अहिंसक राज्याध्यक्ष का वर्णन मिलता है। वह ऐसा व्यक्ति है जिसने समस्त पारिवारिक सम्बन्धों का त्याग कर दिया है, भय, पक्षपात, क्रोध, मोह सबसे निर्लिप्त है। अपने लिए किसी बात की कामना न करते हुये—न शक्ति की, न गौरव और न प्रसिद्धि की—वह विनय एवं आत्मत्याग की अभिव्यक्ति है। सतत अनुशासन से वह ऋतुओं, अपमान तथा हानि के कष्टों से निर्मुक्त हो जाता है। यदि उसकी आत्मा बलवान होते हुये भी शरीर निर्बल हो जाय तो ऐसा व्यक्ति आत्मदाह कर शरीर त्याग देगा। ऐसा ही व्यक्ति अहिंसा के अनुरूप शासन कार्य कर सकता है। मुक्ति का मार्ग सुगम नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि ईसामसीह, मोहम्मद अथवा बुद्ध जैसे दिव्य पुरुष ही यह कार्य कर सकते हैं। महापुरुषों का अवतरण कभी-कभी ही होता है। किन्तु साधारण व्यक्ति भी अहिंसा को आत्मसात् कर सारे समाज को मुक्ति दिला सकता है। ईसा द्वारा दर्शाये गये मार्ग का ईसा के बारह शिष्यों ने ईसा की उपस्थिति के बिना अनुसरण किया। विद्युत् का आविष्कार करने में वैज्ञानिकों की अनेक पीढ़ियाँ निकल गईं, किन्तु आज साधारण में साधारण व्यक्ति, यहाँ तक कि बालक भी विद्युतीय शक्ति का दैनिक जीवन में उपयोग करता है। इसी प्रकार से आदर्श राज्य का प्रशासन चलाने के लिये पूर्ण पुरुष की हर समय आवश्यकता नहीं होती। एक बार शासन स्थापित होने के पश्चात् शासन स्वतः सुचारु रूप से चलता रहेगा। सामाजिक जागृति की पहले आवश्यकता है, शेष बातें अपने आप हो जायेंगी। श्रमिकों को यह बताना आवश्यक है कि सच्ची पूंजी कोई सोना-चाँदी नहीं, अपितु उनके हाथों एवं मस्तिष्क द्वारा किया गया श्रम है। एक बार जनता को

अहिंसक असहयोग और उसकी शक्ति के प्रति जागृत कर देने के पश्चात् न्यासिता का विचार अपने आप व्यवहार मे आने लगेगा।[157]

गांधीजी की न्यासिता का प्रारूप (ड्राफ्ट) इस प्रकार है —

1 न्यासिता समाज की वर्तमान पूजीवादी व्यवस्था को समतावादी व्यवस्था मे परिवर्तित करती है। यह पूजीवाद का समर्थन नही करती बल्कि उसे सुधारने का अवसर प्रदान करती है। यह उस विश्वास पर आधारित है कि मानवीय प्रकृति मे सुधार सम्भव है।

2 यह व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार को केवल समाज द्वारा अपने कल्याण मे दी गयी अनुमति के अलावा स्वीकार नही करती।

3 पूजी के स्वामित्व एव उपयोग पर व्यवस्थापन-नियमो को यह पृथक् नही करती।

4 इस प्रकार राज्य द्वारा सचालित न्यासिता मे व्यक्ति स्वार्थसिद्धि के लिए अथवा सामाजिक हित की अवमान्यता पर सम्पत्ति रखने अथवा उसका उपभोग करने मे स्वतन्त्र नही होगा।

5 जिस प्रकार से न्यूनतम पारिश्रमिक निर्धारित करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जाता है, उसी प्रकार से समाज मे व्यक्ति की अधिकतम आय की सीमा भी निश्चित की जायेगी। ऐसी न्यूनतम एव अधिकतम आय का अन्तर विवेक-सगत, समतापरक एव समय-समय पर परिवर्तनशील होगा, ताकि अन्तर को कम से कम करने की प्रवृत्ति बनी रहे।

6 गांधीवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन की प्रकृति सामाजिक आवश्यकता द्वारा निर्धारित की जायेगी, न कि व्यक्तिगत इच्छा अथवा लोभ द्वारा।[158]

यद्यपि गांधीजी द्वारा स्वीकृत न्यासिता का उपर्युक्त प्रारूप गांधीजी के जीवन काल मे न तो प्रकाशित ही हो सका और न प्रयुक्त ही, क्योंकि गांधीजी ने यह प्रारूप अपने किसी धनाढ्य मित्र को सहमति के लिये भेजा था और वे सज्जन स्वय न्यासिता के इच्छुक होने पर भी अन्य पूजीपतियो का समर्थन न जुटा पाये, फिर भी इसकी आधुनिक समय मे सार्थकता विनोबा भावे के सर्वोदय कार्यक्रम से स्वत स्पष्ट है। अहिंसक क्रान्ति का दौर प्रारम्भ हो चुका है।

समाजवादी कौन ?

गांधीजी के अनुसार समाजवाद सुन्दर शब्द है। समाजवाद मे समाज के सभी सदस्य समान है—न कोई नीचा, न कोई ऊचा। व्यक्ति के शरीर मे सिर इसलिये ऊचा नही कि वह शरीर के ऊपर है, न पैर के तलवे इस कारण नीचे हैं कि वे जमीन को छूते हैं। जैसे शरीर के अग समान हैं वैसे ही समाज के सदस्य भी। यही समाजवाद है। उसमे राजा तथा रक, अमीर तथा गरीब, मालिक तथा मजदूर सभी समान स्तर पर है। धार्मिक शब्दावली मे 'समाजवाद मे द्वैत' नही है, केवल एकता है; जबकि विश्व के सभी समाज द्वैत अथवा बहुलता ही दर्शाते हैं। एकता का नितान्त अभाव है। अनेक जातियो की अनेकानेक उपजातियां बनी हुई हैं, किन्तु अनेकता को एकता मे परिणत करने के लिये हिंसा की आवश्यकता नही है। केवल सत्यप्रिय, अहिंसक एव शुद्ध मन वाले समाजवादी ही भारत तथा विश्व मे समाजवादी समाज की स्थापना कर सकेंगे। इस दृष्टि से विश्व का कोई भी देश पूर्णत समाजवादी नही कहा जा सकता।[159]

बोल्शेविकवाद के संबंध में अपने सीमित ज्ञान का उल्लेख करते हुए गांधीजी ने यह बतलाया है कि यह निजी सम्पत्ति के उन्मूलन में विश्वास करता है। एक प्रकार से यह सिद्धान्त अपरिग्रह के नैतिक आदर्श का अर्थशास्त्र के क्षेत्र में किया गया प्रयोग है। यदि स्वेच्छा एवं शांतिपूर्वक अपरिग्रह को स्वीकार कर लिया जाय तो अत्युत्तम है। बोल्शेविकवाद हिंसा का प्रयोग कर निजी सम्पत्ति को जब्त करने तथा सामूहिक राष्ट्रीयकरण की नीति को बनाये रखने का आह्वान करता है। अपने वर्तमान रूप में बोल्शेविकवाद अधिक दिनों तक चल नहीं सकता। हिंसा पर आधारित कोई भी विचार अधिक दिन नहीं टिकता। इसमें सन्देह नहीं कि बोल्शेविकवाद को स्थापित करने में सैकड़ों नर-नारियों ने बलिदान दिया है और इस आदर्श की रक्षा करने में सब कुछ न्योछावर किया है। लेनिन जैसे महापुरुषों के त्याग एवं समर्थन वाला यह आदर्श व्यर्थ नहीं जा सकता। उनका यह आदर्श भावी पीढ़ी के लिए प्रेरणास्पद है।[160]

गांधीजी ने वर्ग-संघर्ष के मार्क्सवादी विचार को स्वीकार नहीं किया। वे पूंजी तथा श्रम में कोई नैसर्गिक विरोध नहीं मानते। वे श्रम तथा पूंजी को समान स्तर पर रखने की आवश्यकता पर बल देते हैं। दोनों वर्गों को एक दूसरे के पूरक के रूप में कार्य करना है। पूंजीपतियों को केवल श्रमिकों की भौतिक आवश्यकता का ही ध्यान नहीं रखना है, अपितु उनका नैतिक कल्याण भी करना है। वे न्यासी के रूप में श्रमिकों के हित का पालन करें। लड़ाई पूंजी से नहीं, अपितु पूंजीवाद से है। यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अधिक धनवान है तो कोई चिंता नहीं, किन्तु धनवान व्यक्ति निर्धन का शोषण करें तथा निर्धन व्यक्ति धनवान से ईर्ष्या रखे तो स्थिति विस्फोटक बन जाती है। संघर्ष एवं वैमनस्य का अंत कर पूंजी तथा श्रम में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध विकसित करने चाहिये।[161] गांधीजी के अनुसार सम्पत्ति के निजी स्वामित्व को नष्ट करने के स्थान पर उसके उपभोग पर नियंत्रण लगाने की आवश्यकता है ताकि अमीर एवं गरीब के बीच की खाई को मिटाया जा सके।[162]

गांधीजी ने वर्ग-संघर्ष को समाप्त करने का दावा किया है यदि जनता उनके द्वारा दर्शाये अहिंसक मार्ग का अनुसरण करने को तैयार हो। अहिंसा को जीवन का आधारभूत सिद्धान्त बना लेने पर वर्ग-संघर्ष असम्भव हो जायेगा। इसके द्वारा पूंजीपति को नष्ट करने के स्थान पर पूंजीवाद को समाप्त करने का मार्ग प्रशस्त होता है। पूंजीपति न्यासी के रूप में पूंजी का उत्पादन, संग्रह एवं संवर्द्धन करने के लिये आमन्त्रित हैं। श्रमिकों को पूंजीपतियों के हृदय-परिवर्तन की प्रतीक्षा नहीं करनी है। यदि पूंजी शक्ति है तो श्रम भी। दोनों ही शक्तियां रचनात्मक अथवा विध्वंसात्मक कार्य में प्रयुक्त हो सकती हैं। दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। श्रमिकों में अपनी शक्ति का बोध जाग्रत होते ही वे पूंजी की साझेदारी की बात सोचेंगे, न कि पूंजीपतियों के दास बने रहने की। यदि श्रमिकों ने पूंजी के सम्पूर्ण स्वामित्व की बात सोची तो वह सोने के अंडेवाली मुर्गी को मारने के समान होगी। बुद्धि एवं अवसर की असमानता का अन्त होना कठिन है। नदी के किनारे बसने वाले के लिए रेगिस्तान में रहनेवाले की तुलना में खेती करने के अधिक अवसर उपलब्ध हैं, किन्तु असमानता के होते हुये भी समानता के उपलब्ध सूत्रों को नहीं खोना है। प्रत्येक मनुष्य को जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने का समान अधिकार

प्राप्त है। अधिकार कर्त्तव्यों से युक्त होते हैं। श्रमिकों को अपने शरीर से श्रम करने के कर्त्तव्य का निर्वाह करना है और उन व्यक्तियों से असहयोग करना है जो श्रम का शोषण करते हैं। मूलभूत समानता में विश्वास रखते हुये पूंजीपति एवं श्रमिक को एक ही धरातल पर देखना है। पूंजीपति को नष्ट करने के स्थान पर उसका हृदय परिवर्तन करना है।[163]

पूंजीपतियों एवं श्रमिकों के संबंधों का एक और पक्ष भी है। यह कहना उचित नहीं कि यदि पूंजीपति श्रमिकों को हिंसा द्वारा दबा कर रखना चाहते हैं तो श्रमिकों को हिंसा द्वारा अपने अधिकारों को प्राप्त करने का अधिकार है। गांधीजी के अनुसार श्रमिकों को पूर्ण दृढ़ता के साथ 'नहीं' कहना सीखना चाहिये। अश्रुगैस तथा गोलियों को सहन करते हुये भी उन्हें अपने 'नहीं' पर डटे रहना है न कि पत्थर का जवाब पत्थर से देने का प्रयास अपेक्षित है। परेशानी यह है कि श्रमिक पूंजीपति को निष्क्रिय बनाने के स्थान पर पूंजी पर कब्जा करने तथा स्वयं पूंजीपति बनने की कामना करता है। पूंजीपति जो कि संगठित एवं पहले से पैर जमाये हुए है, अपने धन का कुछ भाग श्रमिकों को दबाने में उपयोग करता है। गांधीजी ने दावे के साथ कहा है कि यदि उनकी योजना पर अमल किया जाय तो प्रत्येक श्रमिक स्त्री तथा पुरुष सफल हो सकता है। श्रमिक को अहिंसा की योजना के अन्तर्गत रह कर कार्य करने का जो सुझाव दिया गया है, वह कोई अतिमानवीय विचार नहीं, अपितु सुगमता से क्रियान्वित किया जा सकने वाला सुझाव है। वे चाहते हैं कि श्रमिक सैनिक की भांति शौर्यवान तो हो किन्तु सैनिक की तरह हिंसात्मक नहीं। निःशस्त्र श्रमिक का अहिंसात्मक आन्दोलन में बलिदान एक पूर्णतः शस्त्र सुसज्जित व्यक्ति के शौर्य से अत्यधिक उच्च है।[164] पूंजी के सम्मोहन ने व्यक्ति को इतना चमत्कृत कर रखा है कि वह पूंजी को ही सब कुछ मान बैठा है, किन्तु एक क्षण के चिन्तन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि पूंजी श्रम के अधीन है। रस्किन ने भी कहा कि श्रम के पास अतुलनीय अवसर है। सर डेनियल हैमिल्टन के विचारों को उद्धृत करते हुये गांधीजी ने बतलाया है कि यह सोचना व्यर्थ है कि एक धातु का टुकड़ा पूंजी का निर्माणक है। उत्पादित वस्तु भी पूंजी नहीं है। यदि समस्या के मूल में जाय तो पता चलेगा कि श्रम ही पूंजी है और यह जीवित पूंजी अक्षय है।[165]

वर्ग-संघर्ष तथा निजी सम्पत्ति के अधिकार के संदर्भ में गांधीजी ने कहा है कि वर्ग-संघर्ष भारत की उस मूल प्रतिभा के लिए विदेशी है जो कि समान न्याय के सबके मौलिक अधिकारों पर आधारित साम्यवाद को विकसित करने की क्षमता रखती है। गांधीजी के स्वप्नों का रामराज्य राजा तथा रंक सभी को समान अधिकार की सुरक्षा प्रदान करता है। पाश्चात्य समाजवाद एवं साम्यवाद ऐसी अव-धारणाओं पर आधारित है जो हमारे विचारों से मौलिक भिन्नता रखती है। ऐसी ही एक अवधारणा है मानवीय स्वभाव की अनिवार्य स्वार्थपरायणता में उनका विश्वास। गांधीजी इस धारणा को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार मनुष्य तथा जंगली व्यक्ति में अंतर है। मनुष्य आत्मा की ध्वनि के अनुरूप कार्य करते हुये स्वार्थ एवं हिंसा से ऊपर उठ सकता है, किन्तु जंगली व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकते। भारत में हिन्दू धर्म ने सदियों की तपस्या एवं त्याग पर आधारित इस सत्य को प्रस्तुत किया है। अतः भारत में समाज-वाद एवं साम्यवाद अहिंसा तथा श्रम एवं पूंजी, जमींदार व रैयत के मैत्रीपूर्ण सहयोग पर ही आधारित होना चाहिये। राष्ट्रीयकरण से भयभीत नहीं होना चाहिये। राष्ट्र

स्वयं सम्पत्ति का स्वामी नहीं बन सकता। वह तो केवल सम्पत्ति को व्यक्तियों के सुपुर्द करता है ताकि सम्पत्ति का उचित एवं समतापूर्ण उपयोग हो सके और उसका दुरुपयोग रोका जा सके। यदि पूंजीपति तथा जमींदार श्रमिकों एवं रैयत के हित में अपनी सम्पत्ति का उपयोग करें तो समाज में वर्ग-संघर्ष के स्थान पर शांति एवं स्वतंत्रता का वातावरण निर्मित हो सकता है।[166]

गांधीजी ने वर्ग-संघर्ष के सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए दर्शाया है कि शोषक एवं शोषित में तब तक कोई सहयोग की संभावना नहीं, जब तक शोषण तथा शोषण करने की भावना विद्यमान है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि पूंजीपतियों तथा जमींदारों को जन्मजात शोषक मान लिया जाय और यह विचारा जाय कि उनके तथा जनता के मध्य मौलिक वैमनस्य है। मूलतः सभी प्रकार का शोषण इच्छित एवं अनैच्छिक सहयोग पर आधारित होता है। यदि शोषित होने वाले शोषक की आज्ञा का पालन न करें तो शोषण होगा ही नहीं किन्तु स्वार्थवश हम बेड़ियों से बंधे रहना स्वीकार करते हैं। यह समाप्त हो जाना चाहिये। जमींदार एवं पूंजीपति को समाप्त करने के स्थान पर शेष जन के साथ उनके सम्बन्धों को परिवर्तित करने की आवश्यकता है। भारत में वर्ग-संघर्ष अवश्यम्भावी नहीं है। इसे अहिंसा के द्वारा दूर ही रखने की आवश्यकता है। जो व्यक्ति वर्ग-संघर्ष की अवश्यम्भाविता की बात करते हैं, वे अहिंसा के प्रभाव को नहीं समझ पाये हैं। न्यासिता के द्वारा संघर्ष की स्थिति टाली जा सकती है। वर्ग-भेद अवश्य रहेगा किन्तु वह क्षितिजाकार होगा न कि लम्बवत्। हमें पश्चिम से आयातित नारों तथा दलीलों के मोहपाश में नहीं फंसना चाहिये। हमारा स्वयं का सामाजिक आदर्श इतना विस्तृत एवं व्यापक है कि हम वैज्ञानिक गवेषणा की भावना द्वारा एक सच्चा समाजवाद एवं साम्यवाद विकसित कर सकेंगे जिसकी विश्व में किसी ने कल्पना भी नहीं की होगी। यह सोचना नितान्त त्रुटिपूर्ण है कि पाश्चात्य समाजवाद अथवा साम्यवाद जनसमुदाय की निर्धनता के प्रश्न पर अंतिम वाक्य है।[167] हमारे पूर्वजों ने यह कहकर 'सबै भूमि गोपाल की यामे अटक कहा' हमें सच्चे समाजवाद की धरोहर दी है। गांधीजी के अनुसार गोपाल का शाब्दिक अर्थ चरवाहा है, इसका अर्थ ईश्वर भी है। आधुनिक शब्दावलि में गोपाल का अर्थ है राज्य अर्थात् जनता। यह सत्य है कि आज भूमि पर जनता का स्वामित्व नहीं है, किन्तु यह दोष कहावत का नहीं है। दोष हममें है कि हम उसके अनुरूप नहीं रहे।[168]

गांधीजी की यह दृढ़ धारणा है कि समाजवाद, यहां तक कि साम्यवाद भी, ईशोपनिषद के प्रथम श्लोक में परिलक्षित है। पूंजीपति द्वारा पूंजी के दुरुपयोग के आविष्कार के साथ समाजवाद का जन्म नहीं हुआ है। सत्य यह है कि जब कुछ सुधारकों ने मत-परिवर्तन की पद्धति में विश्वास खो दिया, तब वैज्ञानिक समाजवाद के तकनीक का जन्म हुआ। अहिंसा द्वारा उन सभी समस्याओं का निराकरण प्राप्त हो सकता है जो वैज्ञानिक समाजवादियों ने अनुभव की है।[169] साम्यवादियों का वर्गविहीन समाज का आदर्श अनुकरणीय है, किन्तु हिंसा द्वारा इसे प्राप्त करने का उद्देश्य त्रुटिपूर्ण है। हम सब समान उत्पन्न हुए हैं। फिर भी हमने सदियों से ईश्वर की इच्छा का विरोध किया है। असमानता का विचार पाप है किन्तु मनुष्य के हृदय से पाप को संगीन की नोक से नहीं निकाला जा सकता है। मानव-हृदय उस साधन को स्वीकार नहीं करता।[170]

श्रमिक के लिये कार्यकौशल का वही महत्व है जो पूंजीपति के लिये धन का। श्रमिक का चातुर्य ही उसकी पूंजी है। जिस प्रकार से पूंजीपति श्रमिकों के सहयोग के बिना पूंजी नहीं बना सकता, उसी प्रकार श्रमिक भी पूंजीपतियों के सहयोग के बिना अपने श्रम का सही उपयोग नहीं कर सकता। यदि दोनों ही बुद्धिमान हैं और एक दूसरे से उचित व्यवहार प्राप्त करने को आश्वस्त हैं तो वे एक ही उद्यम के साझेदार बन सकते हैं। उन्हें एक दूसरे का जन्मजात शत्रु नहीं मानना है। गांधीजी को चिंता इस बात की है कि जहां पूंजीपति अपनी जड़ें जमाये हुए और सगठित भी हैं, वहां श्रमिकों की स्थिति ठीक विपरीत है। श्रम करने वाले व्यक्ति की बुद्धि उसके आत्मविहीन तथा यांत्रिक अध्यवसाय ने कुंठित कर दी है जिससे वह अपने मस्तिष्क का ठीक से विकास नहीं कर पाता। अपने स्तर का गौरव एवं उसकी शक्ति को पहचानने का उसे अवसर नहीं मिलता। उसे यह शिक्षा दी जाती रही है कि उसका पारिश्रमिक पूंजीपति द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है, उसकी अपनी मांग द्वारा नहीं। श्रमिक को इस चुनौती का सामना करने के लिए अनेक हुनर सीखने दिये जांय तथा अपनी बुद्धि का विकास करने का अवसर उसे मिले ताकि वह गौरव से मस्तक ऊंचा उठाकर चल सके और आजीविका रहित होने के भय से मुक्त हो सके।[171]

गांधीजी ने वर्ग संघर्ष के अस्तित्व को कभी अस्वीकार नहीं किया। वे केवल वर्ग-संघर्ष को भड़काने एवं बनाये रखने के विरुद्ध हैं। उन्हें विश्वास है कि वर्ग-संघर्ष टाला जा सकता है। इसे भड़काने में जितनी भलाई नहीं है, उतनी इसे रोकने में है। धनी वर्ग तथा श्रमिकों के मध्य संघर्ष केवल नाममात्र का है। श्रमिकों द्वारा एकजुट होकर कार्य करने के बाद उनका भी उतना ही प्रभाव होगा जितना कि धनीवर्ग का रहा है। वास्तविक संघर्ष बुद्धिमानी एवं निर्बुद्धि में है। ऐसे संघर्ष को बनाये रखना मूर्खता ही होगी। निर्बुद्धि को दूर करने की आवश्यकता है। धनी वर्ग अत्यन्त अल्पसंख्या में है। यदि श्रमिकों ने उचित रूप से संगठित व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया तो पूंजीपतियों को भी झुकना पड़ेगा। श्रमिकों को पूंजीपतियों के विरुद्ध भड़काने का अर्थ होगा वर्ग-घृणा बनाये रखना जो किसी भी दृष्टि से कल्याणकारी नहीं होगा। यह कुचक्र दूर रहना चाहिये। यह दुर्बलता एवं हीनता की भावना का परिचायक है। जैसे ही श्रमिक अपनी प्रतिष्ठा को पहचानने लगेगा, धन को सही स्थान प्राप्त हो जायेगा; अर्थात् धन श्रमिक हेतु न्यास के अधीन रहेगा। श्रम धन से अधिक मूल्यवान् है।[172] पूंजी अपने आपमें कोई बुराई नहीं है, बुराई पूंजी के दुरुपयोग में है। किसी न किसी रूप में पूंजी की आवश्यकता सदैव रहेगी।[173]

रूस द्वारा प्राप्त औद्योगीकरण की उपलब्धियों के संदर्भ में गांधीजी ने व्यक्त किया है कि वे रूस के जीवन से प्रभावित नहीं हैं। बाईबल की इस उक्ति से कि 'मनुष्य को इससे क्या प्राप्त होगा कि वह सारे विश्व को प्राप्त कर ले और अपनी आत्मा खो बैठे ?' गांधीजी प्रभावित हैं। उन्हें व्यक्ति द्वारा स्वयं के व्यक्तित्व को खो बैठना तथा मशीन का पुर्जा मात्र बन जाना मानवीय गरिमा का अधःपतन दिखाई देता है। वे प्रत्येक व्यक्ति को समाज के उत्साही एवं पूर्ण विकसित सदस्य के रूप में देखना चाहते हैं।[174] यह पूछे जाने पर आर्थिक समानता के लक्ष्य को प्राप्त करने की उनकी तकनीक तथा समाजवादियों एवं साम्यवादियों की तकनीक में क्या अंतर है, गांधीजी ने व्यक्त किया है कि 'समाजवादी

तथा साम्यवादी यह कहते हैं कि वे आर्थिक समानता लाने के लिए आज कुछ नहीं कर सकते। वे इसके पक्ष में प्रचार करते रहेंगे और अन्त में उनके अनुसार घृणा उत्पन्न होगी और बढ़ेगी। वे कहते हैं कि जब उनको राज्य पर नियन्त्रण प्राप्त हो जायेगा, वे समानता लागू करेंगे। मेरी योजना के अनुसार, राज्य व्यक्ति की आकांक्षा की पूर्ति के लिये रहेगा, न कि उनको अपने निर्देशों के अनुसार कार्य करने अथवा बाध्य करने के लिये। मैं अहिंसा द्वारा आर्थिक समानता की स्थापना करूंगा, जनता को अपने विचारों के अनुरूप परिवर्तित करूंगा, घृणा के स्थान पर प्रेम की शक्ति का उपयोग करूंगा। मेरे विचारों के अनुरूप समाज को बनाने तक मैं प्रतीक्षा नहीं करूंगा, अपितु मैं स्वयं से ही इसका प्रारम्भ कर दूंगा। यदि मैं पचास मोटरकारों अथवा दस बीघा जमीन का भी मालिक हूं तो यह सत्य है कि मैं अपने विचारों की आर्थिक समानता नहीं ला सकता। इसके लिये मुझे स्वयं को निर्धन से निर्धनतम स्तर तक अपने आपको घटाना होगा। मैं गत पचास वर्षों से यही करने का प्रयास कर रहा हूं और इस कारण से मैं अपने आपको अग्रणी साम्यवादी कहने का दावा करता हूं, हालांकि मैं धनिकों द्वारा प्रस्तुत कार एवं अन्य सुविधाओं का उपयोग करता हूं। उनका मेरे पर प्रभाव नहीं है और जनहित की मांग पर मैं उन्हें एक क्षण में त्याग सकता हूं।"[175]

गांधीजी की अपरिग्रह अवधारणा के धर्म-निरपेक्ष तत्त्व

गांधीजी की अपरिग्रह-सम्बन्धी विचारधारा को धार्मिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास उचित नहीं है। उनके विचार निश्चित राजनीतिक धारणा पर अवलम्बित हैं। 'अपरिग्रह' को आर्थिक आधारों पर देखने तथा परखने की आवश्यकता है। आध्यात्मिकता का पुट जोड़ देने से गांधीजी के अपरिग्रह-संबंधी विचारों की स्पष्टता धूमिल हो जाती है। जिस प्रकार से एरिक फ्रोम ने मार्क्स के अभौतिक दर्शन को प्रकट कर मार्क्सवाद की समीक्षा को नया आयाम प्रदान किया है, उसी प्रकार से गांधीवाद को आध्यात्मिकता की जकड़ से परे देखने पर नवीन आर्थिक दृष्टि प्राप्त हो सकती है। गांधीजी की अपरिग्रह की अवधारणा का आध्यात्मिक विवेचन उसे प्रवृत्ति तथा आर्थिक आवश्यकताओं से निवृत्ति के मार्ग की ओर ले जाता है, किन्तु धर्म-निरपेक्ष विवेचन से अपरिग्रह की अवधारणा अर्थ के सामाजिक परिणामों की प्रतीक बन जाती है। मशीनीकरण के दुष्परिणाम स्वरूप मानव की भौतिक वस्तुओं की लालसा असीमित हो गई है। सम्पत्ति को अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त करने का प्रयास सामाजिक शांति तथा समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व को आत्मसात् करने में बाधक है। इससे मानवीय मूल्यों का भंजन हुआ है तथा पारस्परिक मानवीय संबंधों में कटुता आई है। एक दृष्टि से गांधीजी के दृष्टिकोण में दोनों ही तत्त्व—आध्यात्मिक तथा भौतिक—विद्यमान हैं। इन दोनों के मिश्रण से आध्यात्मिक उन्नति तथा सामाजिक सद्भाव की स्थिति उत्पन्न होती है, किन्तु धर्म-निरपेक्षता-वादी तत्त्व अधिक प्रबल दिखाई देता है। गांधीजी मशीनीकरण का इस कारण से विरोध नहीं करते कि वे सम्पत्ति के अधिक संग्रह के विरुद्ध हैं, अपितु वे सम्पत्ति के संग्रह के विरुद्ध इस कारण से हैं कि सम्पत्ति का आधिक्य मशीनीकरण का भय उत्पन्न करता है।

अपरिग्रह की अवधारणा गांधीजी द्वारा मशीनीकरण के विरोध-स्वरूप उभरी है। सर्वोदय में व्यक्त उनकी विचारधारा इसका प्रमाण है कि वे परम्परागत चिन्तन में

पश्चिम के विवेकवादी-मानवतावादी मूल्यों को जोड़कर ऐसी प्रगतिशील विचारधारा प्रस्तुत कर रहे थे जिसमें सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं का समीचीन विवेचन हो सके। गांधीजी ने अपरिग्रह की धारणा के माध्यम से मशीन के बुरे सामाजिक प्रभावों तथा मशीन द्वारा सम्पत्ति के अधिक से अधिक अर्जित करने की लालसा—दोनों—के प्रति गहरी चिन्ता व्यक्त की है। वे मानवीय भावना से प्रेरित दिखाई देते हैं।

मार्क्स ने पूंजी तथा मशीनीकरण-जन्य इस आर्थिक स्थिति को अन्यसंक्रमण (एलियनेशन) कहा है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने-आपसे तथा समाज से कटा-कटा-सा रहता है। मार्क्स ने अन्यसंक्रमण की चार स्थितियां बतलायी हैं—श्रमिक का अपने श्रम से अन्यसंक्रमण, श्रमिक का उत्पादन की प्रक्रिया से अन्यसंक्रमण, श्रमिक का अपने आपसे अन्यसंक्रमण तथा मानव का मानवों से अन्यसंक्रमण। यद्यपि गांधीजी ने अन्यसंक्रमण शब्द का प्रयोग नहीं किया, फिर भी उनके विचारों में मार्क्स-सदृश मशीन के मानव तथा समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का सुन्दर विवेचन समाहित है। उनके द्वारा बार-बार श्रम के विभाजन पर आधारित मशीनी उत्पादन के क्रूर एवं आत्मविहीन पक्ष तथा सृजनात्मकता के ह्रास का विवेचन श्रम तथा श्रमिक के मध्य उत्पन्न होने वाले अन्यसंक्रमण के प्रति उनकी चेतना का परिचायक है। मशीनीयुग में मानव के अमानवीयकरण के प्रति उनके विचार मानव के मानव से अन्यसंक्रमण के द्योतक हैं। गांधीजी ने मशीनीकरण के कारण मानव के नैसर्गिक परोपकारी पक्ष की अवनति को दर्शाकर मानव तथा समाज के मध्य अन्यसंक्रमण की स्थिति को प्रकट किया है। मार्क्स तथा गांधीजी में अन्यसंक्रमण सम्बन्धी विचारों का साम्य गांधीजी पर मार्क्सवादी प्रभाव का स्पष्ट परिचायक है।

तथापि, मार्क्स तथा गांधीजी में अन्यसंक्रमण का स्रोत समान नहीं है। मार्क्स ने अन्यसंक्रमण को पूंजीवादी व्यवस्था का परिणाम माना है जबकि गांधीजी अन्यसंक्रमण को मशीनीकरण से उत्पन्न विकार मानते हैं। मार्क्स ने पूंजीवाद के विनाश में अन्यसंक्रमण का उपचार सुझाया है, जबकि गांधीजी मशीनीकरण के अन्त में ही शोषण का अंत ढूंढते हैं। वे पूंजीवादी व्यवस्था को इसका उत्तरदायी नहीं मानते। इस प्रकार गांधीजी के आर्थिक विचार भौतिक उन्नति के बाधक नहीं हैं। वे भौतिक साधनों के उचित प्रयोग तथा उसके साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था में शांतिपूर्ण नियमन को स्वीकार करते हैं। वे पूंजी को सामाजिक व्यवस्था का शत्रु नहीं बनने देना चाहते। उनका दृष्टिकोण व्यक्ति की मोक्ष-प्राप्ति तक सीमित नहीं है। वे सामाजिक व्यवस्था में न्याय, स्वतन्त्रता तथा समन्वय के लिये व्यक्तिगत दृष्टिकोण में समवेत स्वर की गूंज देखना चाहते हैं ताकि व्यक्ति तथा समाज में अंतर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न न हो। वे स्वर्ग की कल्पना से दूर पृथ्वी पर दरिद्रनारायण की सेवा में अपना सर्वस्व अर्पित करते हैं।

शिक्षा

गांधीजी के शिक्षा सम्बन्धी विचार उनकी रचनात्मक विचार-पद्धति के अनुरूप राष्ट्र के नवयुवकों के नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान से प्रेरित है। शिक्षा का उद्देश्य बच्चों तथा युवाओं को समाज तथा राष्ट्र का उपयुक्त नागरिक बनाना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये देश की संस्कृति एवं समय की आवश्यकताओं को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। गांधीजी के शिक्षा-विषयक विचारों की मूल धारणा यह है कि वे

पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली को भारत के लिए उपयोगी नहीं मानते। पाश्चात्य शिक्षा साम्राज्यवाद, अहम्मन्यता एवं शोषण की प्रवृत्ति का ही अंग है। भारत की ग्रामप्रधान सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप शिक्षा ही भारत के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है। गांधीजी की बुनियादी शिक्षा-प्रणाली इसी ध्येय को लेकर चलती है। इसमें वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा के स्थान पर सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति को विशेष महत्व दिया जाता है। गांधीजी की बुनियादी शिक्षा-योजना में प्राथमिक शालाओं को स्वावलम्बी बनाया गया है। अहिंसा की धारणा पर आधारित यह योजना अहिंसक लोकतंत्रीय सामाजिक व्यवस्था का अभिन्न अंग मानी गई है। गांधीजी की इस योजना में बच्चों की शिक्षा किसी उपयोगी हुनर के माध्यम से कराई जाती है ताकि रोटी-रोजी का आदर्श शिक्षा से संयुक्त किया जा सके। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रखने तथा अन्य सर्व विषयों की शिक्षा को उत्पादन की क्षमता से युक्त हुनर का अभिन्न अंग बनाने का उद्देश्य इस योजना में अन्तर्निहित है। विद्यार्थी स्वयं के श्रम से उत्पादित वस्तुओं से प्राप्त पारिश्रमिक द्वारा अपनी फीस वगैरह का प्रबंध करेंगे। वे कार्य, अध्ययन एवं जीवन के मध्य उचित समन्वय स्थापित कर अच्छे नागरिक के रूप में विकसित हो सकेंगे।

गांधीजी ने प्राथमिक शिक्षा को सात से चौदह वर्ष तक के बच्चों के लिये निःशुल्क रखने का विचार प्रस्तुत किया है। वे लड़के तथा लड़कियों को सात वर्ष की प्राथमिक शिक्षा के पश्चात् उनके द्वारा सीखे गये व्यवसायों में राज्य द्वारा उन्हें रोजगार की सुरक्षा दिलवाने अथवा उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं को राज्य द्वारा निर्धारित मूल्यों पर क्रय करने की सुविधा के पक्ष में हैं। इस प्रकार सभी विद्यालय आत्मनिर्भर हो जायेंगे क्योंकि विद्यार्थियों द्वारा उत्पादन के माध्यम से अपनी फीस का प्रबन्ध किया जायेगा। इससे राज्य को एक महत्वपूर्ण कार्य करने का अवसर प्राप्त होगा। राज्य छात्रों के अभिभावकों को उनके बच्चों को विद्यालयों में भेजने के लिये विवश कर सकेगा। राज्य इन विद्यालयों के निरीक्षण, संयोजन एवं मार्गदर्शन का उत्तरदायित्व वहन करेगा। वह इन विद्यालयों में उत्पादित वस्तुओं के विक्रय का प्रबन्ध करेगा। इस कार्य के लिए भूमि, भवन तथा उपकरणों की व्यवस्था विद्यार्थियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं से प्राप्त धन के द्वारा नहीं होगी, किन्तु राज्य तथा स्थानीय निकायों को खर्च का वहन करना होगा। युवाओं द्वारा अपना व्यावसायिक जीवन प्रारम्भ करने के पहले उन्हें एक वर्ष के लिए अपनी सेवायें अनिवार्य रूप से इस कार्य के लिये अर्पित करनी होगी ताकि शिक्षा पर होने वाले व्यय को कम से कम किया जा सके। उन युवाओं को देश के आर्थिक स्तर को ध्यान में रखकर उतना वेतन भी दिया जा सकता है जितना उनके जीवन निर्वाह पर होने वाले व्यय से अधिक न हो।

गांधीजी की उपर्युक्त योजना में आर्थिक क्षमता तथा शैक्षिक क्षमता को समन्वित किया गया है। किन्तु यदि कोई शिक्षण संस्थान आत्मनिर्भरता का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पायेगा, तो वह आर्थिक क्षमता विकसित करने के उद्यम की ओर अग्रसर होगा। शिक्षा की दृष्टि से यह उचित नहीं होगा। आत्मनिर्भरता को इतना अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिये। केवल शैक्षिक क्षमता को विकसित करने का ही उद्देश्य मूल होना चाहिये। गांधीजी की शिक्षा योजना के विरुद्ध यह भी कहा गया है कि विद्यालयों में उत्पादित वस्तुओं का विक्रय राज्य द्वारा किये जाने का अर्थ यह होगा कि उद्योगों का व्यापक

स्तर पर समाजीकरण किया जाय। किंतु इस आलोचना के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि गांधीजी विकेन्द्रीयकरण तथा स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से यह कार्य करवाना चाहते हैं, अतः समाजीकरण हस्तशिल्प से जुड़ा रहे, न कि उसे केन्द्रीय उत्पादन से सम्बद्ध किया जाय। इस योजना से हस्त-शिल्पियों को कोई हानि नहीं होगी। इससे उनका समाज में सम्मान बढ़ेगा तथा श्रम की प्रतिष्ठा स्थापित होगी। श्रम की नैतिक शक्ति को मान्यता मिलेगी ताकि सिद्धान्त तथा व्यवहार में होने वाला अन्तर दूर किया जा सके।

गांधीजी की शिक्षा-योजना का वास्तविक उद्देश्य बालक के हाथ, उसका मस्तिष्क तथा उसकी आत्मा का समन्वित विकास करना है। अन्य शिक्षा योजनाओं में बालक के हाथों का महत्त्व नहीं और उसकी आत्मा को भी दृष्टि से ओझल कर दिया गया है। गांधीजी ने कार्य के द्वारा शिक्षण की योजना के सम्बन्ध में लिखा है कि "मस्तिष्क की सच्ची शिक्षा के लिए भी शारीरिक अवयवों का समुचित उपयोग आवश्यक है। शारीरिक शक्ति एवं कर्मेन्द्रियों के बुद्धिपूर्वक उपयोग से सुन्दर से सुन्दर और शीघ्र से शीघ्र मानसिक विकास सम्भव हो सकता है।" उनका यह प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से भी एक नवीन सामाजिक क्रान्ति का जनक है। गांधीजी ने लिखा है, "मैं यह मानता हूं कि शिक्षा की इस पद्धति से व्यक्ति का सबसे अधिक मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास हो सकता है। इसमें उद्योग भी आज की तरह यांत्रिक ढंग से नहीं, बल्कि वैज्ञानिक ढंग से सिखाये जायेंगे ताकि बालक प्रत्येक प्रक्रिया के मूल की जानकारी प्राप्त कर सके।' इसके द्वारा शहर तथा गांव के मध्य स्वस्थ एवं नैतिक सम्बन्धों की स्थापना की जायेगी ताकि सामाजिक असुरक्षा एवं वर्गों के मध्य विषाक्त सम्बन्धों को दूर करने में सफलता मिल सके। इसके द्वारा गांवों का निरन्तर होने वाला ह्रास नियन्त्रित किया जा सकेगा और ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जा सकेगी जिसमें गरीब तथा अमीर का भेदभाव न रहे। प्रत्येक को समुचित पारिश्रमिक एवं स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त होगा। फिर, न तो मालिकों और मजदूरों के मध्य भयानक वर्ग संघर्ष होगा और न सम्पूर्ण भारत में स्थापित करने के लिए वृहत् उद्योगों में लगने वाली विपुल पूंजी की आवश्यकता होगी। विदेशों से मिलने वाली मशीनों अथवा तकनीकी जानकारी पर निर्भरता भी समाप्त हो जायेगी। उच्चस्तरीय तकनीकी चातुर्य पर निर्भरता भी समाप्त हो जाने से जनसमुदाय का भविष्य स्वयं उनके हाथों में सुरक्षित होगा।'

गांधीजी ने विश्वविद्यालय स्तरीय शिक्षा में भी क्रांतिकारी परिवर्तन का सुझाव प्रस्तुत किया है। उनके शब्दों में "मैं उच्च शिक्षा का दुश्मन नहीं हूं। मेरी योजना में तो अधिक से अधिक और सुन्दर से सुन्दर पुस्तकालय, प्रयोगशालायें और शोध संस्थान रहेंगे। उनसे जो ज्ञान मिलेगा, वह जनता की सम्पत्ति होगी और जनता को उसका लाभ मिलेगा।" वे निजी क्षेत्र को उच्च शिक्षा का भार सौंपना चाहते हैं। आपने प्राविधिक, व्यावसायिक एवं वाणिज्य-सम्बन्धी महाविद्यालयों को व्यापारी एवं औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा चलाये जाने का उत्तरदायित्व सुझाया है। कला, कृषि एवं आयुर्विज्ञान महाविद्यालयों को आत्म-निर्भर रखने अथवा स्वैच्छिक चंदे से चलाये जाने का सुझाव गांधीजी ने दिया है। वे राजकीय विश्वविद्यालयों को केवल परीक्षा लेने तक ही सीमित रखना चाहते हैं

और उन्हें परीक्षा-शुल्क द्वारा आत्म-निर्भर बनाना चाहते हैं।

गांधीजी विभिन्न विज्ञानों की शिक्षा को मूल्यवान मानते हैं, किन्तु वे नहीं चाहते कि हमारे विद्यार्थी रसायनशास्त्र तथा भौतिकशास्त्र में ही उलझे रहें। उनकी मानसिक योग्यता के अनुसार पहले वे उपकरणों का प्रयोग सीखेंगे, बाद में लेखन का कार्य। आंखें पहले अक्षरों के चित्र पढेंगी तथा जीवन का ज्ञान प्राप्त करेंगी, कान वस्तुओं तथा व्यक्तियों के नाम तथा उनके अर्थ का बोध करेंगे। समस्त प्रशिक्षण प्राकृतिक तथा प्रतिक्रियात्मक होगा और त्वरित तथा सस्ता भी। इस प्रकार गांधीजी की शिक्षा-योजना में व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी गुणों की अभिव्यक्ति समाविष्ट है। गांधीजी पाठशालाओं में नैतिक शिक्षण के पक्ष में हैं। उनके अनुसार सभी धर्मों की आधारभूत नैतिकता में कोई अन्तर नहीं है। चरित्र-निर्माण, साहस, सद्‌गुण तथा महान् आदर्शों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति का नैतिक शिक्षण परमावश्यक है। वे कला तथा संगीत के साथ-साथ शारीरिक प्रशिक्षण को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके विचारों के अनुसार सत्य तथा करुणा के माध्यम से व्यक्ति समाज तथा मानवता की सच्ची सेवा कर सकता है। वे भारत की प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर के साथ-साथ आधुनिकता का भी जीवन में समावेश चाहते हैं। वे रूढ़िवादी नहीं हैं। उनके आदर्शों के अनुरूप स्थापित गुजरात विद्यापीठ के सम्बन्ध में उनके विचार इसके प्रमाण हैं। उन्होंने कहा था, "विद्यापीठ केवल प्राचीन संस्कृति का अन्धानुकरण नहीं करेगा। इसका उद्देश्य प्राचीन परम्पराओं और नवीन अनुभूतियों का समन्वय कर एक नयी संस्कृति का निर्माण करना होगा। इसलिए यह विभिन्न भारतीय संस्कृतियों का समन्वय करेगा जिन्होंने भारतीय जन जीवन को प्रभावित किया है और स्वयं उनसे प्रभावित भी हुए हैं।"

गांधीजी : एक शान्तिवादी (पैसीफिस्ट) के रूप में

गांधीजी को शान्तिवादियों की दृष्टि से विश्व में अग्रगण्य कहा जा सकता है। यूरोप में चलने वाले शान्ति-आन्दोलन के समर्थकों ने युद्ध की विभीषिका से बचने के लिए समय-समय पर आंदोलन चलाये हैं, किन्तु गांधीजी का सत्याग्रह इन सबसे भिन्न तथा अनुपम कहा जा सकता है। शांतिवाद (पैसीफिज्म) नकारात्मक है। यह निष्क्रिय प्रतिरोध का ही एक रूप है। शांतिवादी युद्ध में स्वयं सम्मिलित नहीं होता तथा अनिवार्य सेना का विरोधी है, जबकि गांधीजी ने इस प्रकार के कार्य को अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध को समर्थित करना ही कहा है। युद्ध का विरोध तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति युद्ध करने वाली स्वयं की सरकार के साथ पूर्ण असहयोग करे। जब तक व्यक्ति कर देता है तथा शासन की अन्य आज्ञाओं का पालन करता है, तब तक उसे शान्तिवादी नहीं माना जा सकता किन्तु गांधीजी का सत्याग्रह का प्रयास उन्हें शांतिवादी कहे जाने के उपयुक्त नहीं है। गांधीजी शांतिवादी के स्थान पर सत्याग्रही अधिक हैं।[176] 'सत्याग्रही' शब्द अत्यन्त व्यापक है और उसमें गांधीजी की एक अहिंसक योद्धा की स्थिति स्पष्ट होती है। वे सभी प्रकार की हिंसा का विरोध करते हुये सत्य के लिए अहिंसक संघर्ष को ही एकमात्र मार्ग मानते हैं जिससे युद्ध रोके जा सकें। 1940 के बाद के गांधीजी के समस्त विचार इस ओर इंगित करते हैं। गांधीजी से पहले भी शान्ति एवं सद्‌भाव को विश्वव्यापी स्तर पर स्थापित करने के प्रयास हुये हैं। टालस्टाय तथा गैरीसन ने गांधीजी के पहले शांति का संदेश दिया है, किन्तु उनमें

तथा गांधीजी में मूलभूत अन्तर यह है कि जहाँ अन्य मनीषियों ने निष्क्रिय प्रतिरोध का समर्थन किया है, वहाँ गांधीजी ने अहिंसा को संघर्ष के सक्रिय साधन के रूप में प्रयुक्त कर दिखाया है। यूरोप में शांतिवादियों के विचार एवं निश्चित दर्शन के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं कर पाये हैं, क्योंकि सिद्धान्त की दृष्टि से उनमें युद्धोन्माद को रोकने के लिए कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं दिखाई देता। इस तरह गांधीजी अहिंसक शांतिवादियों में अग्रणी हैं। गांधीजी ने यूरोपीय आलोचकों के इस आरोप को कि उनका अहिंसक असहयोग अहिंसक नहीं कहा जा सकता[177]—यद्यपि स्वीकार किया है, फिर भी उनका अहिंसक आंदोलन अहिंसा के सिद्धान्त की निश्चित धारणा प्रस्तुत करता है।

राष्ट्रवाद बनाम अन्तर्राष्ट्रवाद

गांधीजी के अनुसार राष्ट्रवादी बनने के पहले अन्तर्राष्ट्रवादी बनना असम्भव है। राष्ट्रवादी बनने का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति में संकुचित देशभक्ति की भावना बनी रहे और वह अपने देश की तुलना में अन्य देशों को हेय समझे। स्वयं के उदाहरण द्वारा गांधीजी ने बताया है कि वे केवल भारत का ही कल्याण नहीं चाहते, वरन् समस्त विश्व के कल्याण के इच्छुक हैं। हम अपने देश के प्रति निष्ठावान बने रहें, साथ ही साथ किसी अन्य देश को हानि नहीं पहुँचायें। अन्तर्राष्ट्रवाद तभी सम्भव है जब राष्ट्रवाद पूरी तरह स्थापित हो जाय, अर्थात् जनता एकजुट होकर रहने लग जाय। इसके पश्चात् सभी राष्ट्रीयतायें एक साथ संगठित होकर एवं व्यक्ति के समान व्यवहार करने लग जाय, तभी सच्चा अन्तर्राष्ट्रवाद स्थापित हो सकता है। जब तक राष्ट्रों में परस्पर वैमनस्य एवं प्रतिद्वन्द्विता का अन्त नहीं होता, तब तक अन्तर्राष्ट्रवाद की कामना नहीं की जा सकती। राष्ट्रवाद का सही रूप में निर्वाह करने वाला व्यक्ति मानवता का शत्रु नहीं, अपितु सेवक है। अपने देश की सेवाभक्ति करना तब तक अनुचित नहीं, जब तक देशभक्ति दूसरे राष्ट्र को हानि पहुँचाने के कार्य के लिये विवश न करे।[178]

इस प्रकार गांधीजी की देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता की भावना संकीर्ण नहीं है। वे मानव-प्रेम को विश्वप्रेम का प्रेरक मानते हैं। वे ऐसा आदर्श मानव विकसित करना चाहते हैं जो सम्पूर्ण मानवता से प्रेम करता हो। गांधीजी ने स्वावलम्बी ग्रामीण प्रजातन्त्रों की स्थापना पर इसी उद्देश्य से जोर दिया है। राजनीतिक प्रबुद्धता के साथ-साथ गांवों में परस्पर आर्थिक एवं सांस्कृतिक सहयोग भी होना चाहिये। ग्रामीण स्तर पर सामाजिक एवं नैतिक चेतना का विकास समस्त राष्ट्रीय चिन्तन धारा को परिवर्तित कर सकता है और मानव मात्र के प्रति प्रेम की भावना का संचार करने में सहायक हो सकता है। ऐसी चेतना के पश्चात् संकीर्ण भौगोलिक एवं राष्ट्रीय सीमायें स्वतः टूट जायेंगी। भारत का अतीत राष्ट्रीय एकता एवं विश्व-बन्धुत्व का प्रतीक रहा है। अंग्रेजों से मुक्ति प्राप्त करने के पीछे भी स्वतन्त्रता का भाव है, न कि घृणा का। गांधीजी के शब्दों में, "पूर्ण स्वराज्य की मेरी कल्पना का अर्थ यह नहीं है कि हमारा देश सबसे अलग रह कर स्वतन्त्रता का उपभोग करे, बल्कि विश्व के राष्ट्रमण्डल में उसका एक दूसरे से स्वस्थ एवं सम्मानपूर्ण सहयोग रहे। हमारी स्वतन्त्रता किसी दूसरे राष्ट्र के लिए कोई खतरा नहीं बनेगी। जिस प्रकार हम अपना शोषण नहीं होने देंगे, ठीक उसी प्रकार हम किसी दूसरे का शोषण भी नहीं करेंगे। अतः हम अपने स्वराज्य के द्वारा सम्पूर्ण विश्व की सेवा करेंगे।"[179]

गाँधीजी ने अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने तथा विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय को महत्त्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के पृथक् रहने से विश्व का सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध हो जायेगा। उनकी देशभक्ति में अन्य देशों के लिए वैर की भावना नहीं है। वे पश्चिम के भौतिकवादी चिन्तन से दूर रहना चाहते हुये भी पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की श्रेष्ठ वस्तु ग्रहण करने में संकोच नहीं करते। उन्होंने पश्चिम के जन-स्वास्थ्य के विज्ञान को भारतीयों द्वारा ग्रहण कर लिये जाने का आग्रह किया है। इस प्रकार वे पाश्चात्य सभ्यता की अच्छाइयों को स्वीकार करने तथा बुराइयों से दूर रहने का विचार प्रस्तुत करते हैं।

गाँधीजी के अनुसार पृथकत्व को जन्म देने वाली स्वतन्त्रता को विश्व राज्यों का लक्ष्य नहीं माना जा सकता। स्वैच्छिक अन्तर्निर्भरता ही वास्तविक लक्ष्य है। अन्तर्निर्भरता के साथ-साथ आत्मनिर्भरता की भी आवश्यकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक अन्तः सम्बन्धों के बिना न तो वह सार्वभौम के साथ अपनी एकता की अनुभूति कर सकता है, न अपनी स्वार्थ-परायणता का दमन। उसका सामाजिक पक्ष ही उसे यथार्थ के निकट रखता है। उसके बिना व्यक्ति विश्व के लिये समस्या बन जायेगा। समाज पर निर्भरता मानव को मानवता की शिक्षा देती है। परिवार तथा समाज की सहायता के बिना व्यक्ति अकेले अपने आप कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। समस्त विश्व को परिवार मानकर वह लक्ष्य अत्यन्त विस्तृत हो जाता है। मानव-मात्र में मूलभूत एकता के दर्शन के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति का उत्थान एवं पतन समस्त विश्व के उत्थान व पतन से जुड़ जाता है। ईश्वर की दृष्टि में सभी मानव समान हैं। सब एक ही प्रकार के नैतिक नियम से बंधे हैं। गाँधीजी के अनुसार उनका ध्येय केवल भारतीय मानवता एवं भ्रातृत्व तक ही सीमित नहीं है। वे सम्पूर्ण मानवता में भ्रातृत्व-भाव देखना चाहते हैं। वे केवल भारत की स्वाधीनता से ही सन्तुष्ट नहीं, अपितु इसके माध्यम से सम्पूर्ण विश्व को स्वतन्त्र देखना चाहते हैं। उनकी देशभक्ति संकीर्ण नहीं है। वे ऐसी देशभक्ति के पक्षधर नहीं जो अन्य राष्ट्रों को भयभीत अथवा उनका शोषण करने वाली हो। उनकी देशभक्ति तथा उनका धर्म सम्पूर्ण जीव-जगत् को आत्मसात् करने वाला है। वे सभी चराचर प्राणियों में आत्मीयता का दर्शन करते हैं। ईश्वर ने पृथ्वी पर रेंगने वाले जीवों से लेकर मानव तक सभी का सृजन किया है। अतः उस परमात्मा की सृष्टि के वैभिन्य में भी मूलभूत एकता है। इस प्रकार गाँधीजी का संदेश विश्वव्यापी है।[110]

समाज सुधार तथा हरिजनोद्धार

गाँधीजी ने समाज-सुधार के क्षेत्र में जो कार्य किया है, वह राष्ट्र के जीवन के पुनर्निर्माण की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। उनका समस्त रचनात्मक कार्यक्रम एक प्रकार से समाज-सुधार कार्यों पर केन्द्रित रहा है। 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत जब कांग्रेस ने मन्त्रीपद ग्रहण किया, उन्होंने सभी कार्यकर्ताओं को रचनात्मक कार्यक्रम में लगे रहने का आह्वान किया था। गाँधीजी राजनीति से अधिक समाज-सुधार के कार्यों में रुचि लेते थे। सामाजिक सुधार की दृष्टि से गाँधीजी का सबसे बड़ा कार्य हरिजनोद्धार था। हिन्दू समाज में ही इस सुधार की आवश्यकता नहीं थी, अपितु अन्य धार्मिक समुदायों में भी इसकी आवश्यकता थी। छुआछूत की भावना से मानवीय गरिमा

को इतना गिरा दिया था कि हिन्दू समाज की दृष्टि से इसका निराकरण एक राष्ट्रीय समस्या बन गई थी। छुआछूत की भावना ने कुछ आर्थिक समस्यायें भी खड़ी कर दी थीं। चूंकि हरिजनों का बहुमत आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था और उनके रोजगार के अवसर अत्यन्त सीमित थे, अतः उन्हें गांव तथा शहरों से बाहर अत्यन्त दयनीय स्थिति में तथा अस्वास्थ्य वातावरण में रहने को विवश होना पड़ता था। हिन्दू होते हुए भी उन्हें हिन्दू-मन्दिरों में प्रवेश नहीं मिलता था, उनके लिए सभी सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश वर्जित था। गांधीजी ने हरिजनोद्धार के कार्य को अन्याय तथा दमन के विरुद्ध महान् संघर्ष मानकर भारत के जन-जीवन में एक नवीन विचार उत्पन्न किया। उनके हरिजनोद्धार-आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने इस आन्दोलन में हरिजनों को सम्मिलित नहीं किया। हरिजनोद्धार का कार्य सवर्ण कहे जाने वाले भारतीयों द्वारा किया जाना था। इस संदर्भ में गांधीजी का यह विचार था कि हरिजन इतने गिरे हुये हैं कि वे अपने अधिकारों की मांग करने में अपने आपको सामर्थ्य-विहीन मानते हैं, अतः उनके प्रति होने वाले अन्याय का विरोध उन्हीं के द्वारा होना चाहिये जो अन्याय करने वाले समूह के सदस्य हैं। गांधीजी ने एक ओर सवर्णों के हृदय में हरिजनों के प्रति घृणा की भावना को मिटाने का अथक प्रयास किया, तो दूसरी ओर उन्होंने हरिजनों के मन से हीनता तथा दासता का भाव निकालकर पुनः नया आत्मविश्वास दिलाया। गांधीजी ने हरिजनोद्धार कार्य के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि सदियों से हमारे पूर्वजों ने हिन्दू-समाज के एक अंग पर जो अत्याचार किये थे, उसका हमारे द्वारा ही प्रायश्चित किया जाना आवश्यक था। बिना किसी बाहरी दबाव के जनमत को शिक्षित कर स्वेच्छा से छुआछूत की भावना का अन्त करना आधुनिक भारत की एक श्रेष्ठ उपलब्धि माना जा सकता है।

गांधीजी द्वारा त्रावणकोर में 'वाइकोम सत्याग्रह' चलाया जाना हरिजन-उद्धार की दृष्टि से भारत के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना का प्रारम्भ था। त्रावणकोर के महाराजा ने गांधीजी के सत्याग्रह की नैतिक विजय को स्वीकार करते हुये हरिजनों के मंदिर-प्रवेश की आज्ञा जारी की। इसी प्रकार से राजस्थान के झालावाड़ प्रान्त के नरेश ने राजस्थान में पहली बार गांधीजी के हरिजन-उद्धार कार्यक्रम का प्रारम्भ किया। वे अपने ही द्वारा संचालित मंदिर में हरिजन-प्रवेश के प्रश्न पर जन-विरोध के कारण स्वयं मंदिर के आन्तरिक प्रकोष्ठ में दर्शन करने कभी नहीं गये। उन्होंने उसी स्थान से दर्शन करने का नियम निभाया जहाँ तक हरिजनों को दर्शन करने का अधिकार दिया गया था। वहीं से वे दर्शन करते रहे। गांधीजी ने अपने ही समय में छुआछूत की भावना के दो हजार वर्षों से चले आ रहे रूढ़िवादी विचार को परिवर्तित कर एक महान् सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। बाद में भारत सरकार ने इस संबंध में कानून बनाकर छुआछूत की प्रथा का अन्त करने का प्रयत्न किया। गांधीजी ने कानून का सहारा लिये बिना ही यह सब कुछ किया था। उनके स्थान पर कोई अन्य व्यक्ति होता तो सदियों से चली आ रही इस रूढ़िवादिता को मिटा नहीं पाता। आधुनिक शिक्षा एवं कानूनी व्यवस्था के द्वारा, संचार एवं यातायात के साधनों के विकास के साथ-साथ जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित बुराइयाँ कम होती गई हैं। गांधीजी की यह मान्यता थी कि हिन्दू धर्म में छुआछूत की भावना को स्वीकार नहीं किया गया। गांधीजी ने जहां छुआछूत की भावना

का विरोध किया, वहीं वे जाति व्यवस्था के विरुद्ध व्यापक अभियान नहीं चला पाये। शायद उनका यह विचार था कि छुआछूत की भावना के समाप्त होने के पश्चात् जाति व्यवस्था के बन्धन स्वयं शिथिल हो जायेंगे। गांधीजी हिन्दू धर्म की सभी बुराइयों पर एक साथ प्रहार करना इसलिये भी उचित नहीं समझते थे कि कहीं उन्हें विचारों से विदेशी न समझ लिया जाये। उन्होंने हिन्दू धर्म की संरचना में निष्ठा प्रकट करते हुये एक सुधारवादी के रूप में छुआछूत का विरोध किया यद्यपि वे संकीर्ण विचारों वाले हिन्दू नहीं थे।

गांधीजी ने अपने-आपको सनातन हिन्दू मानते हुये हिन्दू धर्म की अपनी मौलिक व्याख्या प्रस्तुत की जो इस कारण चल निकली कि हिन्दू धर्म किसी एक धर्म-पुस्तक की सत्ता के अधीन नहीं था। उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदों की सर्वोच्चता क विचार को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने वर्णाश्रमधर्म के जातीय स्पष्टीकरण को अपने नवीन दृष्टिकोण से देखा। वे जानबूझकर वेदों तथा स्मृतियों को अपौरुषेय नहीं मानते थे। ऐसा करने में उन्हें सनातन धर्म की अपनी पृथक व्याख्या करने का स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त हुआ। यदि वे वेदों की अपौरुषेयता को मानकर चलते तो उन्हें अपने सामाजिक कार्यक्रम में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। स्वामी दयानन्द ने यद्यपि वेदों का सहारा लेते हुये छुआछूत का विरोध वेदसम्मत बतलाया और हरिजनों को यज्ञोपवीत धारण करने का समान अधिकार प्रदर्शित किया, किन्तु गैर-हिन्दुओं के बारे में उनके विचार संकीर्ण ही रहे, जबकि गांधीजी ने हरिजनों के साथ-साथ गैर-हिन्दुओं के प्रति भी बिना किसी दुर्भावना के समतापूर्ण व्यवहार दर्शाया। गांधीजी ने न केवल वेदों को अपितु बाइबिल, कुरान, जिन्दअवेस्ता को समान रूप से ईश्वरीय माना। वे हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में पूर्ण श्रद्धा रखते हुये भी उनके प्रत्येक शब्द को ईश्वरीय वाक्य नहीं मानते थे। गांधीजी ने जाति व्यवस्था के संबंध में अन्तर्जातीय विवाह को स्वीकार किया। बाद में उन्होंने अन्तर्धर्मीय विवाह को भी प्रचलित करने पर जोर दिया। गांधीजी के समय में जाति-व्यवस्था के विरोध में इतने प्रगतिशील विचार रखने वाले व्यक्ति नगण्य थे, अतः गांधीजी का यह प्रयास क्रान्तिकारी माना गया। हिन्दुओं के दार्शनिक चिन्तन में सभी धर्मों में एकता का विचार मिलता है किन्तु हिन्दुओं के सामाजिक विचार में इतनी उदारता नहीं रह गई थी कि वे अपने विधर्मियों को स्वीकार कर लेते। गांधीजी द्वारा धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार-प्रसार एक ऐतिहासिक घटना थी। गांधीजी ने भारत में साम्प्रदायिकता का पुरजोर विरोध किया। उन्होंने बिना किसी कानून अथवा राजकीय संरक्षण के इस कार्य को आगे बढ़ाया और हिन्दू-मुस्लिम एकता का मार्ग प्रशस्त किया।

सामाजिक क्षेत्र में गांधीजी ने मातृभाषा के प्रयोग को पूर्ण समर्थन प्रदान किया। वे ऐसी शिक्षा पद्धति चाहते थे जिसमें मातृभाषा के माध्यम से ही शिक्षा दी जाये। वे प्रान्तीय भाषा को मातृभाषा से एकरूप रखना चाहते थे ताकि शासित एवं शासक में अन्तर्विरोध न हो तथा जनता द्वारा शासकीय कार्य में सहभागी होने की परम्परा का निर्वाह होता रहे। उन्होंने देश में अंग्रेजी की मानसिक दासता का वातावरण समाप्त कर हिन्दी भाषा को भारत की राष्ट्रभाषा का गौरव-पूर्ण स्थान दिलाया। वे भावी भारत के द्रष्टा थे। भाषायी प्रान्तों का निर्माण तथा प्रान्तीय भाषाओं को सार्वजनिक एवं निजी प्रयोग में

लाने का विचार उन्होंने लोकप्रिय बनाया।

गांधीजी ने भारत की ग्रामीण जनता मे सामूहिक कार्यवाही को लोकप्रिय बनाया और सदियो से दमन का शिकार बनी ग्रामीण जनता मे निर्भीकता पैदा की। वे आधुनिक भारत के प्रथम राजनेता थे जिन्होंने भारत के ग्रामीण जन-समुदाय को सक्रिय राजनीतिक गतिविधियों से सम्बन्धित किया। गांधीजी सच्चे अर्थों मे भारत की जनता के पूर्ण प्रतिनिधि थे क्योंकि वे भारत के जन-जन से परिचित थे और उन्हे अत्यधिक बारीकी से समझने की क्षमता रखते थे। यही कारण है कि भारत की जनता ने जितना सम्मान एव सहयोग गांधीजी को प्रदान किया, उतना अन्य किसी को प्राप्त नहीं हुआ। यही गांधीजी का वास्तविक चमत्कार था। गांधीजी के इस चमत्कार का रहस्य यह था कि वे जनता के समक्ष ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत करते रहे और लोगो को निर्भीक बनाने मे सहायक हुये। ब्रिटिश राज्य ने भारतीय जनता को डरा-धमकाकर इतना पगु बना दिया था कि लोग खुले-आम बोल भी नहीं सकते थे। सेना, पुलिस गुप्तचरी शासक वर्ग, कानून, जेल, जमीदार, साहूकार आदि सभी से भयभीत भारतीय जनता को गांधीजी ने ललकारा और उसमे निर्भीकता का संदेश सचारित किया। बुराई का प्रतिकार निर्भीकता से करने का जो साहस गांधीजी ने दिखाया, उससे अहिंसा मे विश्वास नही रखने वाले भी अहिंसा के समर्थक बन गये। उन्होने सत्य के लिए अहिंसा को भी दूसरे स्तर पर रखा। वे कायरता को अहिंसा से भी बुरा मानते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे कायरता तथा हिंसा के मध्य विकल्प उपस्थित होने पर हिंसा को उचित ठहराते। बुराई के साथ असहयोग करने का प्रचार कर गांधीजी ने असहयोग को कर्त्तव्य के रूप में स्थापित किया। उनकी दृष्टि मे अच्छाई के साथ सहयोग करने मे उतना ही कर्त्तव्य निहित था जितना कि बुराई के साथ असहयोग करने में। अहिंसक असहयोग का विचार विदेशी दासता के बन्धन से मुक्त होने का प्रभावपूर्ण प्रयोग था।

गांधीजी ने भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए अपने राजनीतिक कार्यक्रम मे स्वतन्त्रता को ही लक्ष्य माना। वे अन्तर्राष्ट्रवाद का झूठा दम्भ नहीं भरते थे। वे चाहते थे कि भारतवासी अपनी स्वतन्त्रता के सघर्ष मे बिना किसी विदेशी सहायता के सफल हो। उनके अनुसार कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्रो की नकल कर राष्ट्र नही कहला सकता। यदि अंग्रेजों के पास बाइबिल का साधिकृत सस्करण नहीं होता तो उनकी दशा दयनीय हो जाती। उनके विचारो मे चैतन्य, कबीर, नानक, गुरु गोविन्द सिंह, शिवाजी तथा प्रताप, राममोहनराय एवं तिलक से अधिक महान् थे। परिणामो को देखते हुये उन्होने यह व्यक्त किया था कि उपर्युक्त सभी का भारतीय जनमानस पर राममोहन अथवा तिलक की तुलना में अधिक प्रभाव रहा। उनका यह विश्वास था कि स्वतन्त्रता एव स्वस्थ चिन्तन मे अंग्रेजी भाषा की अपरिहार्यता को स्वीकार करना सबसे बडा अंधविश्वास था।

गांधीजी ने विदेशी वस्त्रो की होली जलाकर यह सिद्ध किया कि स्वदेशी आन्दोलन के विस्तार एव सचालन के लिए विदेशी वस्तुओ के बहिष्कार की नीति का पालन आवश्यक है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विदेशी वस्त्रों की होली जलाने का विरोध यह कह कर किया था कि 'जहाँ असख्य भारतीयो के पास तन ढकने के लिए कपडा तक नही है, वहां वस्त्रो की होली जलाना कहां तक औचित्यपूर्ण है'? प्रत्युत्तर मे गांधीजी ने कहा था कि वस्त्रो की

होली में जनता ने स्वयं के ही वस्त्र जलाये हैं, गरीबों अथवा अन्य व्यक्तियों के नहीं। यदि किसी अन्य व्यक्ति के वस्त्र छीनकर जलाये जाते तो वे ऐसा न होने देते। गांधीजी का तर्क उचित था। उनके आन्दोलन के माध्यम से विदेशी वस्त्रों का उपयोग करनेवाले भारतीयों के मन में देश-प्रेम की भावना जाग्रत हुई और उन्होंने विदेशी वस्त्रों का प्रयोग छोड़कर भारत में निर्मित वस्त्रों का प्रयोग प्रारम्भ किया। इसका यह लाभ हुआ कि भारत का वस्त्र-उद्योग चमक उठा और अनेक व्यक्तियों को सूती वस्त्र-उद्योग में रोजगार प्राप्त हुआ। इस प्रकार गांधीजी ने बिना राजकीय सहायता के भारत के चहुं और आर्थिक नाकेबंदी करने में सफलता प्राप्त की। वे भारत की राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के उन्नायक थे। ऐसा अर्थशास्त्र जो दूसरों को अपना शिकार बनाये, अनैतिक एवं पापपूर्ण होता है। बहिष्कार के आर्थिक उपकरण का प्रयोग कर गांधीजी ने देशभक्ति की भावना को प्रबल करने का राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

गांधीजी प्रजातीय भेदभाव के तीव्र विरोध में थे। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में जातीय एवं रंग-भेद की नीति का सफल विरोध किया था। यद्यपि दक्षिण अफ्रीका ने अपनी रंग-भेद की नीति का अभी तक त्याग नहीं किया, फिर भी गांधीजी की सफलता इस अर्थ में आंकी जा सकती है कि उन्होंने गोरी जाति के व्यक्तियों को रंग-भेद की नीति की कुटिलता के प्रति जाग्रत किया। सत्याग्रह द्वारा अपने विरोधी को उनके द्वारा उठाये गये दोषपूर्ण कदमों के प्रति आगाह करना गांधीजी का कार्यक्रम हुआ करता था। उनके नेतृत्व में व्यापक जन विद्रोह हुये, किन्तु यह सब शांतिपूर्ण तरीके से किया गया। निष्क्रय प्रतिरोध एवं अहिंसक असहयोग के माध्यम से उन्होंने बुराई का प्रतीकार किया।

भारत में देशी रियासतों के शासकों ने अंग्रेजों की दासता स्वीकार कर रियासतों में स्वराज्य आन्दोलन को शिथिल बनाने का जो प्रयास किया, उसका गांधीजी ने तीव्र विरोध किया। 1916 में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारोह में भाषण देते हुए गांधीजी ने मंच पर बैठे बहुमूल्य रत्नों से विभूषित राजाओं तथा महाराजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि "ये सम्पन्न भारतीय जब तक अपने बहुमूल्य रत्न-आभूषण धारण करना बन्द नहीं करते और यह सम्पदा भारत की जनता को सुपुर्द नहीं करते, तब तक भारत का उद्धार नहीं होगा।" उन्होंने उन बहुमूल्य रत्नों को भारतीय किसान के शोषण की कमाई का प्रतीक बताया। समारोह के आयोजकों ने गांधीजी को आगे नहीं बोलने दिया, लेकिन गांधीजी के इस वक्तव्य ने उपस्थित जनसमुदाय पर—विशेषतया युवा वर्ग पर—आश्चर्यजनक प्रभाव डाला। श्रोताओं ने वैसा क्रान्तिकारी वक्तव्य पहले कभी नहीं सुना था। गांधीजी ने अपनी निर्भीकता का परिचय देकर सत्ता तथा सम्पत्ति के प्रतीकों को आड़े हाथों लिया। इसके पश्चात् गांधीजी ने निरन्तर सामन्तशाही तथा राजशाही का भारत में विरोध किया। इस कार्य के लिए गांधीजी ने रियासतों में प्रजामण्डलों की स्थापना की।

गांधीजी के समकालीन भारतीय उदारवादी चिन्तकों ने पाश्चात्य उदारवादी परम्परा का सहारा लिया, किन्तु उनकी कथनी और करनी में अन्तर था। प्रतिष्ठित उदारवादी भारतीय नेताओं में से अनेक रियासतों में दीवान थे। वे रियासतों में मनमाना

शासन चलाते थे तथा अंग्रेजों की चाटुकारिता से पीछे नहीं रहते थे। गांधीजी इनसे सर्वथा भिन्न थे। यही कारण है कि भारत की देशी रियासतों के शासकों ने गांधीजी को अपना शत्रु मान लिया था। उन्होंने गांधीजी के किसी भी रचनात्मक कार्यक्रम में वित्तीय सहयोग नहीं दिया। राजनीतिक मामलों में उन्होंने गांधीजी तथा उनके अनुयायियों को कोसों दूर रखा। अनेक बार गांधीजी के नेतृत्व में चलाये जाने वाले आन्दोलनों को देशी रियासतों के राजाओं ने अपने क्षेत्रों में अंग्रेज-सरकार से भी अधिक क्रूरता से दबाया। देशी रियासतों के राजा भारत के प्रशासनिक एवं राजनीतिक जीवन के पिछड़ेपन के ही प्रतीक रहे। भारत के एक तिहाई भाग पर उनका शासन था और वंश परम्परा के आधार पर उन्होंने अपने शासन को चलाते हुये अपनी प्रजा को साधारण अधिकारों तक से वंचित रखा। वे भारतीय जनता की प्रगति के मार्ग में रुकावट बने रहे, किन्तु वे भारतीय जनता में हमेशा ही यह स्वांग रचते रहे कि वे हृदय से देशभक्तिपूर्ण थे और उन्हें भारतीयता से अत्यधिक लगाव था। अपने इस छद्मपूर्ण व्यवहार को उन्होंने शैक्षिक एवं अन्य गतिविधियों के लिए उदार आर्थिक सहायता देकर जन-साधारण के समक्ष छिपाने का प्रयास किया। गांधीजी इस प्रकार के भुलावे में आनेवाले नहीं थे। उन्होंने इन देशी शासकों के आर्थिक एवं सामाजिक शक्ति-प्रदर्शन का मुंहतोड़ जवाब दिया। 1916 में सामन्तशाही के विरुद्ध गांधीजी का वक्तव्य अत्यन्त क्रान्तिकारी था क्योंकि उस समय सामन्तशाही का पूरा दबदबा भारत में फैला हुआ था। उन्हें ब्रिटिश सरकार का भी पूरा समर्थन प्राप्त था और वे अपनी रियासतों में अधिनायकों से कम नहीं थे। गांधीजी तथा उनके अनुयायियों ने अत्याचारी सामन्तों के गढ़ में भारतीय स्वराज्य का आन्दोलन किस तरह संचालित किया होगा, उसकी कल्पना भी रोंगटे खड़े कर देने वाली है।

मद्य-निषेध

जीवन में सादगी तथा नैतिक स्वास्थ्य के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य को बनाये रखने की दृष्टि से गांधीजी ने नशीली वस्तुओं तथा द्रव्यों का विरोध किया। उन्होंने पश्चिमी सभ्यता के अन्धानुकरण से प्रेरित मद्यपान की आदत को बुरा माना। वे नशीले द्रव्यों के सेवन को व्यक्ति की नैतिक दुर्बलता का प्रतीक मानते थे। भारत के निर्धन तथा निम्न वर्ग के लोगों में मद्यसेवन की प्रथा उनके जीवन को जिस प्रकार से खोखला बना रही थी, उससे गांधीजी अत्यन्त चिन्तित हुये। निर्धन व्यक्ति के लिए बुरी आदतों से बचना अत्यन्त कठिन था। आर्थिक दृष्टि से भी मद्यपान के खर्च को समाज का निम्न वर्ग सहन नहीं कर सकता था। अपने परिवार का जीवन-स्तर बढ़ाने तथा अपने बच्चों के सही लालन-पालन में अपनी आय खर्च करने के स्थान पर नशा करने वाले नशे में ही सारा पैसा झोंक देते थे। यह बात गांधीजी अच्छी तरह से समझते थे। उन्होंने परिवार-कल्याण की दृष्टि से मद्यनिषेध को अपने सामाजिक रचनात्मक कार्यक्रम का अंग बनाया। यही कारण था कि गांधीजी भारत को मद्यरहित करना चाहते थे। गांधीजी की यह मान्यता थी कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति भी अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को तिलांजलि नहीं दे सकते। यदि सम्पन्न वर्ग के लोग मद्यनिषेध का विरोध करें तो समाज को उन्हें ऐसा करने से रोकने का अधिकार है। भारत जैसे निर्धन देश में जहां करोड़ों व्यक्ति पेट भर भोजन नहीं पाते, वहां अमीरों की विलासिता सहन नहीं की जा सकती। सम्पन्न

व्यक्तियों का यह सामाजिक कर्तव्य है कि वे स्वयं अपने से नीचे वर्गों को सही राह दिखलायें और उन्हें उचित शिक्षण देकर बुराइयों से दूर रखने का आदर्श स्वयं प्रस्तुत करें।

गांधीजी ने व्यक्तिगत अधिकार तथा स्वतन्त्रता को सार्वजनिक कल्याण से पृथक स्थिति में नहीं माना। उनकी यह मान्यता थी कि सरकार नागरिकों के निजी व्यवहार को नियमित करने का अधिकार रखती है। ऐसी स्थिति में सामाजिक कल्याण की दृष्टि से आवश्यक नियमों को कठोरता से लागू किया जा सकता है। उनके अनुसार यदि लोकतान्त्रिक दृष्टि से भी निर्णय किया जाये तो जनता का बहुमत मद्य की दुकानों को अपने पड़ोस में खुलने का विरोध करेगा। उनके अनुसार जो व्यक्ति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की बात करते हैं, वे भारत को अच्छी तरह से नहीं जानते। भारत की नैतिक मान्यता में मद्य-पान को अधिकार के रूप में मानने की बात असम्भव-सी लगती है। पाश्चात्य देशों के समान यहां शराबखानों तथा वेश्यालयों की माग जनता द्वारा राज्य से की जाती है, उतनी दुर्गति भारत की नहीं हुई है। गांधीजी अच्छी तरह से समझते थे कि भारत अमेरिका नहीं है जहां कानून द्वारा शराबबन्दी असफल हो जाये। अमेरिका में मद्यसेवन वहां के जीवन का अंग है। यदि वहां भी कुछ गिने हुये लोग मद्य-निषेध का कानून बनाने में सफल हुए, तो उसके बाद की उनकी असफलता को भी सफलता ही मानना चाहिये। भारत की स्थिति इससे भिन्न है, क्योंकि भारत में मद्य-पान को एक बुराई के रूप में माना जाता रहा है। बहुत कम लोग मद्य-सेवन करते हैं और ऐसे करोड़ों व्यक्ति होंगे जिन्हें मद्य का स्वाद भी सम्भवतः पता नहीं। ऐसी स्थिति में भारत में मद्य-निषेध सुगमता से लागू किया जा सकता है। इस्लाम, जैन-धर्म तथा वैष्णव धर्म सभी मद्य-सेवन को धार्मिक दृष्टि से वर्जित मानते हैं। राज्य सरकारों को मद्य-निषेध में केवल राजस्व अर्जन करने के लिए शिथिलता लाने की इजाजत देना उचित नहीं है। प्रशासनिक खर्चों पर बढ़ते हुए व्यय को रोककर राजस्व का सही उपयोग किया जा सकता है। राजस्व का प्रश्न उठाना और इसके नाम पर मद्य-निषेध का विरोध करना तर्कसंगत नहीं है। सरकारों को यह सोचना चाहिये कि यदि व्यक्ति अपनी आय का दुरुपयोग मद्य-सेवन में नहीं करेगा तो वह उस आय को अन्य वस्तुओं के खरीदने में लगायेगा। भारत में माचिस से लेकर मोटरकार तक प्रत्येक वस्तु कर-युक्त है। ऐसी स्थिति में राजस्व-अर्जन की कोई कमी नहीं है। मद्य-निषेध लागू करने से राजस्व की आय अधिक कम नहीं होगी। गांधीजी ने नैतिक दृष्टि से आबकारी राजस्व को सबसे निम्न श्रेणी का करारोपण माना है। वही कर उपयुक्त होता है जो करदाता को दस गुनी अधिक आवश्यक सेवायें उपलब्ध कराये। आबकारी कर व्यक्तियों के अधःपतन की कीमत है। इसे उचित नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने मन्त्रियों द्वारा बनिये की भावना से मद्य-निषेध के कार्यक्रम बनाने की इच्छा नहीं माना। उन्हें यह बात बुरी लगती थी कि मन्त्री जन-स्वास्थ्य की चिन्ता किये बिना राजस्व के घाटे से अधिक चिन्तित थे। उन्होंने यह व्यंग किया था कि शराब पीने वाले तथा अफीम खानेवाले यदि शराब तथा अफीम साथ-साथ छोड़ दें तो फिर राजस्व के घाटे की पूर्ति कैसे होगी? क्या उस स्थिति में सरकारें अपना काम नहीं चलायेंगी। यदि वे काम चला सकती हैं तो उन्हें बिना किसी बाह्यकारी दबाव के स्वेच्छा से मद्य-निषेध लागू करना चाहिये। भारत में बाढ़ तथा अकाल से करोड़ों

व्यक्तियों को हानि उठानी पड़ती है और राज्य का राजस्व कम हो जाता है। क्या ऐसी स्थिति में राज्य सरकार कार्य करना बन्द कर देती है? तो फिर राजस्व के नाम पर मद्य-निषेध लागू न करना कहाँ तक उचित है? गांधीजी ने मद्य-निषेध कार्यक्रम को कानून तथा पुलिस के भरोसे छोड़ने को उचित नहीं ठहराया। वे इसके लिए जनमत जागृत करना चाहते थे। उनके अनुसार चिकित्सक इस कार्य में अच्छा योगदान दे सकते थे और वे नशा करने वालों को उचित इलाज से सुधार सकते थे।

स्त्री-सुधार

स्त्रियों के स्तर को गरिमापूर्ण बनाने के लिए गांधीजी ने रचनात्मक सामाजिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये। गांधीजी ने अपने असहयोग आन्दोलन में भारत के आबाल वृद्ध स्त्री-पुरुषों का सहयोग देने का आह्वान किया था। उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों के समान स्तर पर रखते हुये उन्हें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में देश-सेवा के लिए आगे बढ़ने को आमन्त्रित किया। उनके सत्याग्रह-आन्दोलन में विदेशी वस्त्रों तथा वस्तुओं के बहिष्कार में स्त्रियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। विदेशी वस्तुओं की दुकानों पर धरना देने का कार्य स्त्रियों ने बखूबी निभाया। सहस्रों स्त्रियों ने गांधीजी के कार्यक्रम में अपने परिवार की चिन्ता किये बिना जेल-यात्रा की और जेल में असह्य कष्ट सहे। गांधीजी भारतीय नारियों के इस योगदान से अत्यन्त प्रवित हुये। उन्होंने अपने आश्रमों में स्त्रियों को पुरुषों के समान सम्मान प्रदान कर उन्हें सामाजिक दृष्टि से अन्याय तथा शोषण के विरुद्ध जागृत किया और इस प्रकार का राजनीतिक प्रशिक्षण दिया कि जिससे स्त्रियाँ शारीरिक दृष्टि से पुरुषों से निर्बल होते हुये भी अपनी बौद्धिक क्षमता का विकास कर सबला बन सकें। गांधीजी की यह मान्यता थी कि जिस प्रकार से वैदिक समय में स्त्रियों को प्रत्येक कार्य में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे उसी प्रकार आज भी उनको अधिकार मिलने चाहिए। उन्होंने मनुस्मृति के इस नियम को कि स्त्रियों को पुरुषों के अधीन मानकर सीमित स्वतन्त्रता दी जाय, मान्य नहीं ठहराया। उनके अनुसार भारत के प्राचीन साहित्य में स्त्रियों के लिए जिन सम्माननीय शब्दों—अर्द्धांगिनी, सहधर्मिणी आदि—का प्रयोग मिलता है, वह इस बात का सूचक है कि मनु के नियमों के विपरीत भारत में स्त्रियों को सम्मानप्रद स्थान प्राप्त था किन्तु बाद में स्त्रियों को पुरुषों से हेय समझा जाने लगा और उन्हें सभी प्रकार की सुविधाओं तथा अधिकारों से वंचित कर दिया गया। गांधीजी ने स्त्रियों को पुनः उनकी प्राचीन सम्माननीय स्थिति दिलाने का भरसक प्रयास किया और अपने आन्दोलनों के माध्यम से इस सम्बन्ध में जनमत जागृत किया। गांधीजी बाल-विवाह के तीव्र विरोध में थे। उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन किया—विशेषकर बाल विधवाओं के लिए। वे कहा करते थे कि हम गोरक्षा की बात करते हैं और इसके लिए धर्म की दुहाई देते हैं किन्तु बाल-विधवा के रूप में साक्षात् मानवीय गौ को तिरस्कृत करने में नहीं सकुचाते। धर्म में बल-प्रयोग का विरोध करते हुए भी हम धर्म के नाम पर बलात्-विधवा-प्रथा लागू करते हैं। उन्होंने बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए अथक प्रयास किया। वे चाहते थे कि 15 वर्ष की आयु के पहले लड़कियों का विवाह न किया जाये। उनकी दृष्टि में बालिकायें विवाह-योग्य नहीं मानी जा सकतीं, अतः बाल-विधवाओं को अविवाहित ही मानते हुए उन्हें विवाह का फिर

अवसर देना धर्म-संगत है। गांधीजी ने विधवा-विवाह के मार्ग में आनेवाली सामाजिक तथा धार्मिक बाधाओं को दूर करने का प्रयास किया। वे उन वयस्क विधवाओं के जिनके बाल-बच्चे थे—पुनर्विवाह के पक्ष में नहीं थे, किन्तु इसके लिए वे चाहते थे कि वयस्क विधुर भी पुनर्विवाह न करें। उनके अनुसार यदि कोई वयस्क विधवा पुनर्विवाह करने को इच्छुक हो तो उसे इसकी सामाजिक अनुमति दी जाये और समाज ऐसी विधवाओं को तिरस्कार की दृष्टि से न देखे। वे शास्त्र तथा हिन्दुओं के उन रीति-रिवाजों के विरुद्ध थे जो समाज में स्त्रियों की दासता को बनाये रखने की दुहाई देते थे। गांधीजी ने पर्दा-प्रथा का विरोध कर स्त्रियों की दशा को सुधारने का नवीन कार्य किया। पर्दा-प्रथा स्त्रियों के विकास तथा उनके द्वारा उपयोगी सामाजिक कार्य से उन्हें वंचित करती थी। गांधीजी ने खुले आम पर्दा-प्रथा का विरोध किया और इस कार्य के लिए वे किसी के यहाँ भी आमन्त्रण पर जाते थे तो स्त्रियों के सुरक्षित कमरों में जाकर यह देखना चाहते थे कि उन्हें पर्दे में तो नहीं रखा जाता। गांधीजी को ऐसा करने से रोकने की हिम्मत किसी में नहीं होती थी। स्त्रियां भी गांधीजी के दर्शन के लिए लालायित रहती थीं। इस प्रकार गांधीजी ने व्यावहारिक रूप में पर्दा-प्रथा दूर करने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। गांधीजी ने मुस्लिम परिवारों में भी पर्दानशीन महिलाओं से वार्त्तालाप करने में संकोच नहीं किया और इस प्रकार उन्हें भी पर्दा-प्रथा छोड़ने के लिए उकसाया। गांधीजी द्वारा पर्दा-प्रथा का विरोध जिस मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया था, वह यह था कि स्त्रियों को पर्दे में रखकर उन पर पवित्रता लादी नहीं जा सकती। पवित्रता की भावना हृदय से निसृत होती है। यदि स्त्रियों को पुरुषों के समक्ष उपस्थित होने में लज्जा अनुभव हो, तो वे इससे अधिक निर्बल ही बनती जायेंगी। जिस प्रकार से स्त्रियां अपने पति में विश्वास व्यक्त करती हैं, उसी प्रकार से पुरुषों को भी स्त्रियों में विश्वास व्यक्त करने की आवश्यकता है। उन्होंने सीता तथा द्रौपदी का उदाहरण देकर यह बतलाने का प्रयास किया कि स्त्री स्वातन्त्र्य उतना ही आवश्यक है जितना कि पुरुषों की स्वतन्त्रता का भाव।

गांधीजी ने स्त्रियों के प्रति अविश्वास की भावना तथा उनमें अविश्वसनीयता के सामाजिक दम्भ के विरोध में स्त्रियों को आगे बढ़ने के लिए ललकारा। वे स्त्रियों को ही अपने सचिव का कार्य सौंपते थे और उन्हें खतरे से भरे हुए कार्यों में लगाने से संकोच नहीं करते थे। वे उन्हें अबला कहे जाने के विरोध में थे। गांधीजी ने स्त्री-सुधार कार्यक्रम में दहेज-प्रथा का भी विरोध किया। दहेज-प्रथा ने भारत के मध्यमवर्गीय तथा निम्न आयवाले परिवारों को नारकीय जीवन बिताने के लिऐ विवश कर दिया था। परिवार में कन्या-जन्म विपत्ति के रूप में माना जाता था, जबकि लड़के का जन्म हर्षोल्लास से मनाया जाता था। गांधीजी ने स्त्रियों के साथ किये गये घृणित भेदभाव को बहुत बड़ी बुराई माना। वे लड़के-लड़कियों को परिवार में समान स्थिति पर माने जाने के समर्थक थे। उनके समान लालन-पालन के बिना उनके द्वारा भविष्य के उत्तरदायित्वपूर्ण क्रिया-कलापों को समान रूप से निर्वाह करने की आकांक्षा नहीं की जा सकती थी। उन्होंने विवाह की रस्म को सरल बनाने तथा विवाह के समय जाति-भोज वगैरह पर धन के अपव्यय को रोकने में रुचि ली। उन्होंने आश्रम में आश्रमवासियों के मध्य विवाहों में ऐसी ही सादगी का उदाहरण प्रस्तुत किया। आश्रम में होने वाले विवाह आश्रम की सामान्य प्रार्थना तथा

गांधीजी के आशीर्वाद से सम्पन्न होते थे और अन्त मे गांधीजी नव-दम्पति को गीता की प्रति भेंट करते थे। गांधीजी के इस अनुकरणीय उदाहरण ने अनेक धनाढ्य परिवारों को सादगी-पूर्ण विवाह की रस्म पूरी करने के लिए प्रेरित किया। सेठ जमनालाल बजाज ने वर्धा के गांधी-आश्रम मे अपनी लड़कियो का विवाह ऐसी ही सादगी से किया था।

गांधीजी ने अपने सत्याग्रह आन्दोलन मे स्त्रियो को केवल इस कारण ही आमन्त्रित नहीं किया कि वे स्त्रियो को पुरुषो के समान समझते थे, अपितु इस कारण भी किया कि वे स्त्रियों को कई मामलो में पुरुषो से अधिक श्रेष्ठ मानते थे। उनके अनुसार अहिंसक संघर्ष मे स्त्रियोचित धैर्य, सहिष्णुता एवं कष्ट सहन की मूक क्षमता ऐसे गुण थे जिनके कारण स्त्रियां सत्याग्रह-आन्दोलन को पुरुषो से अधिक सफलता-पूर्वक संचालित कर सकती थीं। वे स्त्री को अहिंसा का अवतार मानते थे। अहिंसा जो कि अनन्त प्रेम तथा कष्ट-सहन की अनन्त क्षमता की परिचायक है, स्त्रियो मे स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है। माता के रूप मे स्त्रियो द्वारा सन्तानोत्पत्ति के समय सहन किये गये कष्ट तथा उसके बाद बच्चो के लालन-पालन मे स्त्रियों के योगदान को अतुलनीय मानते हुये वे स्त्रियो को मानवीयता का सर्वोच्च आदर्श मानते थे। स्त्रियो को वासना का पात्र न मानकर उन्हे समाज मे सर्वोच्च प्रतिष्ठा दिलाने का कार्य गांधीजी ने किया। यही कारण था कि गांधीजी के आन्दोलन मे उच्च से उच्च कुलीन परिवारो की महिलाओं ने भी अपना उतना ही योगदान दिया, जितना सामान्य परिवार की महिलाओ ने दिया था। गांधीजी के नेतृत्व मे चलाये जाने वाले अहिंसक आन्दोलन मे उनकी पूर्ण निष्ठा थी क्योंकि वे गांधीजी के नेतृत्व मे अपनी मान-मर्यादा को सुरक्षित पाती थीं। गांधीजी ने स्त्रियो को बहुमूल्य आभूषण अथवा वस्त्र धारण न करने की सलाह दी। वे प्रसाधन एवं शृंगार के साधनो के प्रयोग के विरुद्ध थे। स्त्रियो को तड़क-भड़क से दूर रखने का उनका यह तात्पर्य था कि स्त्रियां पुरुषो के हाथ का खिलौना अथवा उनके मनोरंजन का साधन ही न बनी रहें। सादा तथा सौम्य जीवन ही स्त्रियो को सम्मान पूर्ण स्थिति दिलाने मे सहायक हो सकता है। गांधीजी ने स्त्रियो के प्रति सम्मान की भावना अपने स्वयं के अनुभवो से सीखी थी। प्रारम्भ मे वे भी अपनी पत्नी कस्तूरबा के प्रति कठोर व्यवहार के दोषी रहे, किन्तु जैसे-जैसे वे स्वयं अपने आपको कस्तूरबा की स्थिति मे रखकर सोचने लगे, उन्हें अपने व्यवहार के प्रति ग्लानि हुई और उसके बाद उनका सारा व्यवहार बदल गया। यही कारण था कि गांधीजी ने स्त्रियो की दशा सुधारने की दृष्टि से जो कुछ व्यक्त किया, वह गहन अध्ययन एवं अनुभव पर आधारित था। वे नारी जाति के उन महान् उपासको मे गिने जा सकते हैं, जिन्होंने पुरुष होकर भी स्त्रियो की दुःख-दुविधाओ के दारुण अनुभवो को अपने जीवन का अनुभव मानकर उनकी दशा सुधारने के लिए कार्य किया। गांधीजी के विचारो से प्रेरित होकर कस्तूरबा ने गांधीजी के कार्यक्रम मे अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। कस्तूरबा सादगी तथा सौम्यता की प्रतिमूर्ति थी। गांधीजी का प्रत्येक विचार कस्तूरबा के जीवन मे झलकता था। भारत की स्वतंत्रता के लिए छेड़े गये अहिंसक संघर्ष का कार्य अधूरा ही रह जाता यदि गांधीजी को कस्तूरबा तथा भारत के स्त्री-समाज का सहयोग प्राप्त न हुआ होता। असहयोग-आन्दोलन के कारण भारतीय स्त्रियो मे पुरुषो के समान अधिकार प्राप्त करने के लिए कोई पृथक् संघर्ष नही किया। उन्हें वे सुविधायें गांधीजी के आन्दोलन मे स्वत

प्राप्त हो गई। विश्व के अन्य विकसित राष्ट्रों में भी स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना पड़ा है। आज भी विश्व में अनेक ऐसे सभ्य सुसंस्कृत राष्ट्र हैं जहाँ स्त्रियों को पुरुषों के समान नहीं माना जाता। भारत का प्रधानमन्त्री पद स्त्री-द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु अमेरिका में राष्ट्रपति पद किसी स्त्री को प्राप्त हो जाये, यह असम्भव है। पाश्चात्य देशों में अभी भी स्त्रियों को घर का कार्य तथा सामाजिक कार्य तक ही सीमित रखने की मनोवृत्ति बनी हुई है, किन्तु गांधीजी ने स्त्रियों को भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रेरित कर एक मूक सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। उनके मार्गदर्शन में सरोजनी नायडू, कमला नेहरू, अमृत कौर, प्रभावती, अनुसूया बेन, मीरा बेन आदि ने स्त्री-जाति को गौरवान्वित कर भारत की आजादी की मशाल को पुरुषों के समान प्रज्ज्वलित रखा। न केवल भारत में अपितु दक्षिण एशिया तथा अफ्रीका में भी जहाँ-जहाँ गांधीजी का प्रभाव फैला, स्त्रियों ने गांधीजी से प्रेरणा प्राप्त कर अपने धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक अस्तित्व को बनाये रखने का संघर्ष किया। गांधीजी के प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में ऐसा सामाजिक परिवर्तन आया कि बिना किसी कानूनी सुधार के भारतीय समाज ने स्त्रियों को समानता तथा स्वतंत्रता का पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किया।

गांधीजी : क्रांतिकारी विचारक के रूप में

गांधीजी के विचारों को पुरातनवादी कहकर अनेक चिन्तकों ने इन्हें महत्त्वहीन सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु संतुलित दृष्टिकोण से परखने पर उनकी नीतियाँ तथा उनके कार्यक्रम भावी भारत का भी मार्गदर्शन करने में समर्थ प्रतीत होते हैं। गांधीजी ने सत्य तथा अहिंसा के माध्यम से भारत के भावी लोकतन्त्र के शासकीय ढाँचे को स्थायी आधार प्रदान किया है। उन्होंने शासकीय शक्ति के विकेन्द्रीयकरण का जो विचार प्रस्तुत किया है, उसे ग्रामीण स्तर पर क्रियान्वित करने का प्रयास शेष है। वर्तमान समय में जिस लोकतन्त्र का प्रचलन है, वह निर्वाचन पर अधिक जोर देता है; किन्तु निर्वाचन का स्वतन्त्र एवं शान्तिपूर्ण प्रयोग जब तक सफल नहीं होता, तब तक इसे लोकतान्त्रिक निर्वाचन नहीं कहा जा सकता। सत्य एवं अहिंसा का अनुसरण करने पर निर्वाचन-संबंधी समस्त दोषों का निवारण नहीं हो सकता। यदि सत्ताधारी दल शासकीय शक्ति का उपयोग मत प्राप्त करने के लिए करे तो यह सत्य का उल्लंघन माना जायेगा। यदि कोई प्रत्याशी अथवा दल चुनाव में धन का प्रलोभन देता है तो इसमें भी सत्य का उल्लंघन होता है। इसी प्रकार से जाति तथा साम्प्रदायिक भावनाओं को उभारने का प्रयास भी निर्वाचन की दृष्टि से वर्जनीय है। इस पर यदि निर्वाचन के समय हिंसा का प्रयोग किया जाये तो वह भ्रष्टतम उपाय ही माना जायेगा क्योंकि शांति भंग करके सच्चे अर्थों में निष्पक्ष चुनाव सम्भव नहीं। हमने भारत में केवल नवीन संविधान का निर्माण ही नहीं किया है, अपितु सच्चे राजनीतिक एवं वैधानिक अर्थों में कतिपय नैतिक सिद्धान्तों को भी स्वीकार किया है। ये नैतिक सिद्धान्त लोकतन्त्र के सहगामी हैं और देश के आंतरिक मामलों का निष्पादन करने के लिए हमारे मार्गदर्शक भी।

गांधीजी ने जिस शांति का पाठ हमें सिखाया है, मात्र वही आधुनिक विश्व की आणविक शस्त्रीकरण की नीति से बचाव प्रस्तुत करता है। विश्व की महाशक्तियाँ हिंसा के जोर पर

अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र बनाने में जुटी हुई हैं, किन्तु यह समस्त प्रयास न केवल उन महाशक्तियों के लिए अपितु समस्त विश्व के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। आणविक युद्ध विजेता तथा विजित दोनों को लील जायेगा। आज सभी देशों के बुद्धिमान् राजनेता शांति के महत्व को समझने लगे हैं और राजनीति में सत्य एवं शांति के गांधीजी के उपदेशों का अनुसरण करने के लिए बाध्य हैं। यही नहीं, राजनय में भी सत्य का अनुसरण करना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की दृष्टि से आवश्यक प्रतीत होने लगा है। अन्तर्राष्ट्रीय गुप्तचरी के द्वारा अविश्वास की भावना का जिस प्रकार से संचार हुआ है, उसे रोके बिना विश्व शांति की कामना करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। अतः खुले राजनय की आवश्यकता बलवती होती जा रही है। इस दृष्टि से भी गांधीजी का सत्य-अहिंसा का उपदेश आज की परिस्थिति में भी उतना ही तर्क-संगत है जितना स्वयं गांधीजी के समय में रहा है।

गांधीजी ने भारत की दरिद्र जनता की शोषण-मुक्ति के लिए जो विचार प्रस्तुत किये थे, वे पूंजीवादी, समाजवादी अथवा साम्यवादी विचारवादों से बद्ध नहीं थे। वे भारत की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुये ऐसे आर्थिक प्रयोजन प्रस्तुत कर रहे थे जिसके माध्यम से देश की जनता को बेरोजगारी का सामना न करना पड़े। इस अर्थ में गांधीजी ने राष्ट्र की अपव्यय होने वाली शक्ति को राष्ट्रीय सम्पदा में परिवर्तित करने का प्रयास किया। भारत के पास पूंजी-निवेश की सीमित सुविधा होने के कारण बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना करके बेरोजगारों तथा अर्द्ध-बेरोजगारों को रोजगार की सुविधा प्रदान करना सम्भव नहीं था। उद्योगों के यन्त्रीकरण में प्रयुक्त प्रचुर धन के अभाव में औद्योगीकरण का मार्ग अधिक लाभकारी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसके लिये विदेशी ऋण तथा सहायता पर निर्भरता बढ़ती थी। अतः गांधीजी ने कुटीर उद्योगों पर अधिक बल दिया ताकि बड़े उद्योगों में श्रम करने के लिए ग्रामीण जनता को अपने गांव की जमीन छोड़कर शहरों की ओर उन्मुख न होना पड़े। गांधीजी को भारतीय गांवों की वस्तु स्थिति का जितना बोध था, उतना अन्यत्र ढूंढ पाना कठिन है। उन्होंने ग्रामीण जनता को अपनी झोंपड़ी, अपना परिवार तथा उसके ईर्द-गिर्द भूमि के छोटे से हिस्से को बनाये रखने का यत्न किया ताकि ग्रामीण किसान अपने घर में रहते हुये अपने सीमित साधनों के बावजूद आजीविका के स्रोतों में वृद्धि कर सके। गांधीजी यह नहीं चाहते थे कि गांव का किसान स्वावलम्बन का मार्ग छोड़कर शहरी कारखानों में रोजगार पाने के लिए भटकता रहे और उसका अपने गांव से मूलोच्छेद हो जाय। बृहत् औद्योगीकरण का जो दुष्परिणाम गांधीजी ने देखा था, वह यह था कि उत्पादन में वृद्धि के साथ उत्पादित वस्तुओं को बाजार तक पहुँचाने के लिए केवल देश की सीमा में ही नहीं रहा जा सकता था। इस कार्य के लिए विदेशी मण्डियों की तलाश तथा सस्ते मूल्य पर कच्चा माल प्राप्त करने की भूख बढ़ती जाती थी जो अन्ततः साम्राज्यवाद में परिणत होती है। उनके अनुसार केवल लाभ के लिए उत्पादन करना उतना महत्वपूर्ण नहीं था जितना आवश्यकता के अनुसार उत्पादन करना। वे अर्थतन्त्र को सीमित रखने के पक्षपाती थे ताकि पूंजी का विनाशक स्वरूप शोषण तथा भ्रष्टाचार का जाल न फैला सके। गांधीजी ने यन्त्रीकरण का विरोध किया था क्योंकि वे मशीनों द्वारा मानवीय श्रम का ह्रास उचित नहीं मानते थे। उनके अनुसार स्वचालित मशीनों ने 90 फीसदी मानवीय

श्रम को निरस्त करने का कुचक्र चलाया था। भारत की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये स्वचालित यन्त्रों के द्वारा बेरोजगारी का समाधान नहीं हो सकता था। श्रम को बचाने के स्थान पर अधिक से अधिक श्रम को उत्पादन कार्यों मे लगाने की आवश्यकता थी ताकि बेरोजगारी की समस्या का उन्मूलन हो सके। वे श्रम को ही पूंजी मानते थे और इसी दृष्टिकोण से उन्होंने चरखा, हाथ करघा एव ग्रामीण उद्योगों की स्थापना का प्रयोग किया ताकि उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण की योजना चल सके। उन्होंने भारत की दरिद्र जनता को अपने श्रम के अपव्यय से उबार कर उसे रोटी-रोजी दिलाने का प्रयत्न किया। वे चरखे की व्यवस्था को उप-उद्योग ही मानते थे। उनका यह प्रयास कदापि नही रहा कि जो अधिक पारिश्रमक प्राप्त करने वाला कार्य कर रहा है, वह अपना कार्य छोड़कर चरखा कातने लगे। वे भारत के सम्पन्न वर्ग को चरखा कातने के कार्य मे लगाना चाहते थे और उनके लिए शारीरिक श्रम को एक फैशन के रूप मे लोकप्रिय बनाना चाहते थे ताकि भारत के धनाढ्य वर्ग को जन-साधारण के निकट आने का अवसर प्राप्त हो सके। यदि गांधीजी को ग्रामीण क्षेत्रो मे सस्ती विद्युत् उपलब्ध कराने का तथा उत्पादन के लिए छोटी मशीनो का उपयोग सम्भव दिखाई देता तो वे अवश्य ही स्वयं इसका प्रचार करते, किन्तु विदेशी शासन के अन्तर्गत ऐसा करना उनकी क्षमता के बाहर था।

उद्योगो का विकेन्द्रीयकरण आधुनिक समय की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। सामाजिक अन्याय को रोकने के लिए तथा पूंजी के एकाधिकार एव संग्रह को केवल इने-गिने हाथों में सीमित होने से बचाने के लिए औद्योगिक विकेन्द्रीयकरण ही एकमात्र उपाय दिखाई देता है। औद्योगिक विकेन्द्रीयकरण स्वप्न मात्र नही है। आधुनिक जापान इसका उदाहरण है। जापान का प्रत्येक ग्रामीण घर प्रचुर मात्रा मे विद्युत प्राप्त करता है और उससे घर-घर मे छोटे उद्योग लगे हुये हैं। बड़े उद्योगों मे भी कई छोटे-मोटे कल-पुर्जे बनाने की व्यवस्था होती है जिन्हें सम्मिलित करके बड़ी मशीनो का उत्पादन किया जाता है। बड़े उद्योगपति यह कार्य अपने कारखानो मे करवाकर और भी अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। यदि ये छोटे कल-पुर्जे औद्योगिक विकेन्द्रीयकरण के द्वारा गांवो मे घर-घर उत्पादित किये जा सकें, तो बड़े उद्योगो का मनचाहा प्रसार रुकेगा और ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी दूर होने के साथ-साथ ग्रामीणो की आय भी बढ़ेगी। इनसे उत्पादन की क्षमता बढ़ेगी और उत्पादित वस्तुओ का मूल्य भी बड़े उद्योगों की तुलना म कम होगा। बड़े उद्योगो मे होने वाले श्रम-संगठनो से श्रम के अपव्यय की हानि नहीं होगी और ग्रामीण क्षेत्रो में प्रत्येक व्यक्ति को स्वावलम्बी बनने का अवसर प्राप्त होगा। जापान का उदाहरण भारत के लिए उचित दृष्टांत प्रस्तुत करता है। वहां लोहा, कोयला, रूई तथा श्रम का अभाव होते हुये भी इन समस्त वस्तुओ का आयात कर जापान ने जिस प्रकार से उद्योगो का विकास किया है, वही उदाहरण भारत में पंजाब के कुछ भागों मे आशातीत सफलता के साथ प्रयुक्त हुआ है।

गांधीजी द्वारा चरखा, हाथ करघा, ग्रामीण तथा कुटीर उद्योगो की चर्चा को अनेक अर्थशास्त्रियो ने उपहासात्मक दृष्टि से लिया। इन अर्थशास्त्रियो ने पाश्चात्य लेखकों द्वारा लिखित अर्थशास्त्र की पुस्तकों मे अर्थशास्त्र का पाठ सीखा था। वे लेखक अपने

देशों के अनुभवों के आधारों पर नियम निर्धारित करते थे। उनके अनुभव पाश्चात्य देशों की औद्योगिक क्रांति के पश्चात् विज्ञान की प्रगति द्वारा प्रदत्त औद्योगिक एवं भौतिक सम्पदा में वृद्धि के अनुभव थे। पाश्चात्य देशों ने उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद का अवलम्बन लेकर सस्ते मूल्य पर कच्चा माल प्राप्त किया और अपने यहां वस्तुओं का उत्पादन कर कई गुना लाभ अर्जित करने के लिए उन वस्तुओं का निर्यात किया था, किन्तु भारत में वे स्थितियां कभी भी नहीं रहीं। अर्थशास्त्रियों ने सम्भवत अर्थशास्त्र के नियमों को लौह-नियम मानने की भूल की थी, क्योंकि वे पाश्चात्य अनुभवों पर भारत की आर्थिक समस्याओं का निर्वचन करना चाहते थे। कोई भी एक देश अपने आर्थिक अनुभवों को दूसरे देशों के मार्गदर्शन का आधार नहीं बना सकता, क्योंकि प्रत्येक देश की परिस्थितियां अपनी विशिष्टतायें रखती हैं। भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं प्रकृति-जन्य वैभिन्न्य के कारण आर्थिक अनुभवों में विभिन्नता स्वत सिद्ध होती है। गांधीजी ने अर्थशास्त्रियों की आलोचना की तनिक भी परवाह न कर अपने तथा अपने देशवासियों के अनुभवों का लाभ उठाते हुये एक विशिष्ट आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया जो आज भी युक्ति सगत प्रतीत होता है। गांधीजी ने समय-समय पर मशीनों, व्यापक उत्पादन तथा विज्ञान के बारे में जो सामान्य विचार प्रस्तुत किये थे, वे अनेक बार विरोधाभास उत्पन्न करने वाले थे। इससे भारत के बुद्धिजीवियों को गांधीजी के विचार अतार्किक दिखाई देते थे, किन्तु वास्तविकता यह थी कि इन प्रश्नों पर गांधीजी से प्रत्यक्ष पूछे जाने पर जो उत्तर गांधीजी ने दिया था, वह विरोधाभास का शमन करने वाला होता था। उदाहरण स्वरूप, गांधीजी से यह पूछे जाने पर कि 'क्या वे बड़ी मात्रा में उत्पादन के विरुद्ध हैं?' उन्होंने कहा कि वे ऐसा कोई विचार नहीं रखते। उनके अनुसार वे उन वस्तुओं के बड़े पैमाने पर उत्पादन के विरुद्ध थे, जो ग्रामीण स्वयं बिना किसी परेशानी के उत्पन्न कर सकते हैं। मशीनों के बारे में गांधीजी ने कहा था कि जब मानवीय शरीर स्वयं एक समुन्नत मशीन है तो यह जानकर भी वे मशीनों का विरोध कैसे कर सकते हैं। उनके अनुसार वे मशीनों की सनक के विरुद्ध थे। श्रम बचाने वाली मशीनों की जो सनक लोगों पर सवार थी, वे उसके विरुद्ध थे, क्योंकि इस सनक का परिणाम हजारों व्यक्तियों को रोटी से वंचित कर उन्हें सड़कों पर भूखों मरने के लिए विवश करने वाला था। उन्होंने कहा था कि वे विद्युत्, जहाज-निर्माण, लोहे तथा मशीन के कारखानों को ग्रामीण उद्योगों के साथ-साथ खड़ा होते देखना चाहते हैं, किन्तु वे प्रारम्भ ग्रामीण उद्योगों से करना चाहते हैं। औद्योगीकरण ने गांवों तथा ग्रामीण हस्तशिल्प को योजनाबद्ध तरीके से नष्ट किया है, किन्तु गांधीजी भविष्य के राज्य में औद्योगीकरण का गांवों में ग्रामीण शिल्प के विकास के लिए प्रयोग करना चाहते हैं। वे राष्ट्रीयकरण के द्वारा जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के समाजवादी विचार में विश्वास नहीं रखते थे। उनके अनुसार राज्य द्वारा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण एवं स्वामित्व पूंजीवादी-व्यवस्था से भी अधिक घातक है क्योंकि उनके अनुसार पूंजीपति के आत्मा होती है, किन्तु राज्य आत्माविहीन मशीन है।

गांधीजी ने सामाजिक क्षेत्र में अत्यधिक रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किया था। छुआछूत के उन्मूलन एवं शराबबन्दी के लिए देश उनका सदा ऋणी रहेगा। यद्यपि

गांधीजी के प्रयत्नों के बावजूद आज भी गांव में छुआछूत की भावना के कारण अनेक जघन्य अपराध होते रहते हैं और भारत में शराबन्दी पूर्णतया लागू नहीं हो पाई है, फिर भी गांधीजी के इन कार्यक्रमों को सुधारवादी भावना-सहित की गई सेवा के माध्यम से पूरा किया जा सकता है। हम राजनीति में इतने उलझे हुये रहे हैं कि हमारे राजनेताओं ने गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम को भुला-सा दिया है। आज गांधीजी के दर्शन सामाजिक सुधार के कार्य को हाथ में लेने का अर्थ कई व्यक्तियों द्वारा पूर्वाग्रह, दिखावा अथवा सनकीपन का प्रतीक माना जाता है। इसका कारण स्पष्ट है कि हम गांधीजी के कार्य को ठीक से समझ नहीं सके हैं। गांधीजी का वास्तविक विचार यह था कि वे सारे समाज को एक आंगिक इकाई के रूप में मानते थे जिसमें समाज के विभिन्न भाग पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। समाज का धनी वर्ग समाज सेवी बन सकता था। यदि समाज संगठित नहीं होता और अराजकता का बोलबाला रहता तो न तो पूंजी का निर्माण ही हो सकता था और न उसका अधिग्रहण ही हो सकता था। गांधीजी समाज के सम्पन्न वर्ग को इसी कारण से सामान्य व्यक्ति के समक्ष अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करने की प्रेरणा देते थे। गांधीजी ने स्वयं चरखा काता तथा अन्य नेताओं को भी ऐसा करने के लिए कहा, क्योंकि वे दूसरों के लिए उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते थे और प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति के लिए शारीरिक श्रम की आवश्यकता को आवश्यक सिद्ध करना चाहते थे। चरखा कातने का यह अर्थ नहीं था कि वे अपने लिए चरखे से स्वयं ही वस्त्र बना लेते हैं। यह तो मात्र एक सामाजिक नियम था। मद्य सेवन के सम्बन्ध में गांधीजी ने मद्य-निषेध कार्यक्रम निर्धन परिवारों को दृष्टि में रखकर ही बनाया था। अधिकतर निम्न वर्ग के व्यक्ति ही नशीले द्रव्यों के शिकार होते हैं और वे अपने परिवार को भी इसके लपेट में ले लेते हैं। धनिक वर्ग के लिए शराब का उपयोग जितना घातक नहीं होता है उतना गरीब परिवारों के लिए होता है। लेकिन अमीरों को देखकर गरीब भी उनकी नकल करते हुए बुरी आदतें सीख लेते हैं। पुलिस की अकर्मण्यता तथा प्रशासन की शिथिलता के कारण मद्य निषेध विफल होता रहा है। यदि इसे ठीक से लागू किया जाय तो भारत में मद्य-निषेध कार्यक्रम जितना सफल हो सकता है, उतना विश्व के किसी भी भाग में नहीं हो सकता। गांधीजी ने भारत को वास्तविक अर्थों में स्वतन्त्र करने के लिए हमारे राष्ट्रीय चरित्र निर्माण पर अधिक ध्यान दिया था। वे राष्ट्रीय जीवन में आदर्शों तथा अनुशासन लाना चाहते थे। आज का सम्पन्न वर्ग जिस प्रकार से अपनी आर्थिक सम्पन्नता का भोंडा प्रदर्शन करता है, वह गांधीजी के विचारों से सर्वथा विपरीत था। हमें इस अर्थ में बहुत कुछ सीखना है और अपनी रुचियों को रचनात्मक बनाने के साथ-साथ जीवन में अनुशासन का प्रयोग निरन्तर करना है। आज हमारा देश गांधीवादी मूल्यों का त्याग करके हर प्रकार की कठिनाइयां देख रहा है। गांधीजी के सिद्धान्त हर दृष्टि से मूल्यवान् हैं क्योंकि उनमें सभी धर्मों तथा जीवन के सभी मूल्यवान् अनुभवों को समाहित किया गया है। यदि गांधीजी के विचारों के अनुरूप भारत का पुनर्निर्माण किया जाये तो आज भी हमारे अनुशासित भावी जीवन के लिए गांधीवादी चिन्तन उतना ही प्रेरणास्पद दिखाई देगा जितना कि पहले रहा है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम गांधीजी का अक्षरशः अनुपालन करें। हम उनकी योजनाओं तथा पद्धतियों को उनके

विचारो की मूल आत्मा के अनुरूप ग्रहण करते हुये भारत की निर्धन जनता के लिए कुछ ठोस कार्य कर सकें, तो गांधीजी के मार्ग का पालन सही दृष्टि से कर सकते हैं। उन्होने सामाजिक क्षेत्र मे जिस नई शिक्षा पद्धति का प्रचार किया, वह अपने आप मे अत्यन्त वैज्ञानिक प्रयोग था। उनकी शिक्षा पद्धति मे विद्यार्थी 'सीखो कमाओ' के आधार पर शिक्षा प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार गांधीजी के समस्त विचार चाहे वे राजनीतिक हो, आर्थिक हो, सामाजिक हों, शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक हो, एक दूसरे से पूर्णतया गुथे हुये हैं। गांधीजी ने राष्ट्रीय जीवन को तथा मानवीय जीवन को एक पूर्ण इकाई के रूप मे माना है जिसमे विभिन्नता में भी एकता है। वे राष्ट्र की आत्मा को इतना स्वच्छ कर देना चाहते थे कि जीवन का कोई भी पक्ष अस्वच्छ न रहे। गांधीजी का चिन्तन आज भी उतना ही व्यावहारिक है। एक दृष्टि से विनोबा तथा जयप्रकाश नारायण का वर्तमान कार्यक्रम गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने का उदाहरण ही है। सर्वोदय, अन्त्योदय तथा समग्र क्रान्ति सभी गांधीवादी चिन्तन के समुन्नत आयाम हैं। वे गांधीजी के चिन्तन की क्रान्तिकारिता के प्रतीक हैं। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक जीवन मे गांधीजी के विचारों का अनुसरण करते हुये हम राष्ट्रीय जीवन को एकदम नवीन जीवन दे सकते हैं। □□

टिप्पणियाँ

1. गांधी, ऑटोबायोग्रेफी, पृ. 92
2. यंग इण्डिया, अगस्त 6, 1925 तथा सितम्बर 22, 1927
3. विन्सेन्ट शीयान, लीड काइण्डली लाइट, पृ. 55-56
4. ऑटोबायोग्रेफी, पृ. 365
5. वही, पृ. 364-365
6. लुई फिशर, लाइफ ऑफ महात्मा गांधी, पृ. 83
7. वही, पृ. 87
8. ऑटोबायोग्रेफी, पृ. 198, 178 तथा 108
9. हरिजन, 17-11-1946
10. लुई फिशर, पृ. 93
11. दत्तिवार, ए. आर. दी फिलोसोफी ऑफ गांधी, (मैसूर, 1958) पृ. 17
12. गांधी, हिन्द-स्वराज, पृ. 32
13. रोनेल्ड डंकन, सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी, पृ. 28
14. हिन्द-स्वराज, पृ. 32-46
15. यंग इण्डिया, जनवरी 21, 1926
16. वही, 31-12-1931
17. वही, 11-10-1928
18. वही
19. गांधी, गीता की माता, पृ. 65
20. गांधी, एथिकल रिलीजन, पृ. 58
21. धीरेन्द्र मोहन दत्त कृत महात्मा गांधी का दर्शन में उद्धृत, पृ. 64
22. हिन्द-स्वराज, पृ. 48

2[illegible] महात्मा गांधी : दी कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 8, पृ. 91-92
[illegible]. वही पृ. 458-459
25. वही, खण्ड 9, पृ. 84
26 वही, पृ 224
27. वही, पृ 225
28. वही, पृ. 225-226
29. वही, पृ 226-227
30. वही, पृ. 227
31. वही, पृ. 244
32. वही, पृ 243
33. गांधी : दी स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, पृ 112-114
34. दी कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 9, पृ 129
35. दी स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, पृ. 115
36 दी कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 13, पृ. 518
37. वही, पृ. 519
38. दी स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, (चतुर्थ संस्करण), पृ. 417-420
39 दी कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 15, पृ. 167
40. वही, पृ. 168-169
41. वही, पृ. 248-250
42. वही, खण्ड 12, पृ. 350-351
43. वही, खण्ड 16, पृ 50-51
44 वही, पृ 123-124
45. वही, पृ. 368-369
46. वही, पृ 440-482
47 वही, पृ 490-491
48 गांधी, सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका, पृ. 159
49. वही, पृ. 285
50 वही, पृ. 182-183, 187-188
51. वही, पृ 113-115
52. वही, पृ. 208-210
53 यंग इंडिया, 1924-26, पृ 1182-1184
54. यंग इंडिया, 20-10-1927
55. वही, 8-8-1929
56. वही, 16-4-1931
57. हरिजन, 3-10-1953
58. वही, 15-4-1933
59. वही, 18-2-1933 तथा 4-3-1933
60 वही, 9-7-1933
61. वही, 10-12-1938
62. गांधी, दी कम्युनल यूनिटी, पृ 47-48
63. वही, पृ. 48-49
64. वही, पृ. 142-143
65. हरिजन, 2-9-1939

66 दी [illegible], पृ 363-364 तथा 862
67, यंग इण्डिया, 23-2-1921
68, वही
69 वही
70. वही, पृ. 59-60
71. वही, पृ 60
72. वही, पृ. 61
73. वही, 23-3-1931
74. दी स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, पृ 346-347
75 यंग इण्डिया, 11-8-1920
76 वही
77. वही
78, वही, 25-8-1920
79. वही, 1924-1926, पृ 874-875
80 वही, 12-2-1925
81. वही, 30-4-1925
82. वही, 8-10-1925
83, वही
84 वही, 20-5-1926
85. वही, 12-8-1926
86. वही, 23-9-1926
87 वही, 16-6-1927
88 वही, 13-9-1928
89. वही, 31-12-1931
90. गांधी, यरवदा मन्दिर, पृ 8-9
91 वही, पृ. 5
92. बोस, सिलेक्शन्स फ्रोम गांधी, पृ. 195-196
93. हरिजन, 12-10-1935
94, वही
95. वही, 16-5-1935
96. वही, 16-9-1936
97. बोस, सिलेक्शन्स फ्रोम गांधी, पृ 33
98. हरिजन, 18-6-1938 तथा 28-1-1939
99. वही, 12-11-1938
100 वही, 10-12-1938
101. वही, 11-2-1939
102. वही, 11-8-1940
103 वही, 26-7-1942
104. वही, 21-12-1947
105. दी कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 8, पृ. 239 तथा 375
106. आटोबायोग्राफी, खण्ड 2, पृ. 108
107. यंग इण्डिया, 1924-1926, पृ. 956-957
108. हरिजन, 28-7-1946

109. वही, 18-1-1948
110. यंग इण्डिया, 12-5-1920
111. एन्ड्रूज, सी एफ गांधी, हिज ओन स्टोरी, पृ 338
112. बोस, सेलेक्शन्स फ्रोम गांधी, पृ. 222-227
113. वही, पृ 225
114 वही, पृ 226
115 ऑटोबायोग्राफी, खण्ड 2, पृ 540-591
116 हरिजन, 28-11-1936
117. वही, 14-5-1938
118 हिन्द-स्वराज, पृ 63 तथा 65
119. हरिजन 24-12-1938
120 वही, 23-3-1947
121. वही, 16-3-1947
122 वही, 31-8-1947
123. यंग इण्डिया, 13-11-1924
124 निर्मल कुमार बोस, 'एन इंटरव्यू विथ महात्मा गांधी', मोडर्न रिव्यू, जून-दिसम्बर पृ. 410-413
125 यंग इण्डिया, 6-8-1925
126 वही, 12-7-1931
127. सर्वोदय, पृ 52
128 पट्टाभी सीतारमैया, गांधी और गांधीवाद, पृ 113
129 गोपीनाथ धवन, दी पोलोटिकल फिलोसोफी ऑफ महात्मा गांधी, पृ. 263
130. वही, पृ 273
131. वही, पृ. 274
132. यंग इण्डिया, 8-12-1925
133. चन्द्रशेखर शुक्ल, गांधीज व्यू ऑफ लाईफ, पृ. 144
134. धवन, पृ 303-304
135 वही, पृ 304-305
136 वही, पृ. 305-306
137. दी कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड 13, पृ 313, 316
138 यंग इण्डिया, 15-11-1928
139. वही, 17-3-1927
140. यरवदा मन्दिर, पृ 23-24
141. एथिकल रिलीजन, पृ. 58
142. यंग इण्डिया, 26-11-1931
143 वही
144. मोडर्न रिव्यू पृ 412
145 वही, पृ. 413
146 यरवदा मन्दिर, पृ. 51-52
147. वही, पृ. 53-54
148 हरिजन, 29-6-1935
149. वही
150. वही, 25-6-1938
151 वही, 25-8-1940

152. वही, 12-4-1942
153. वही, 23-2-1947
154. वही, 31-3-1946
155. वही, 25-10-1952
156 वही
157. वही
158 वही
159. वही, 13-7-1947
160. यंग इण्डिया, 15-11-1928
161. वही, 7 10-1926
162 वही, 21-11-1929
163. वही, 26-3-1931
164. गांधी, हिज ओन स्टोरी, पृ. 394-395
165. वही, पृ. 393
166. बोस, सेलेक्शन्स फ्रोम गांधी, पृ 88-90
167. वही, पृ. 90-93
168. हरिजन, 2-1-1937
169. वही, 20-2-1937
170 वही, 13-3-1937
171. वही, 3-7-1937
172. वही, 16-10-1935
173. वही, 28-7-1940
174 वही, 25-1-1939
175. बोस, सेलेक्शन्स फ्रोम गांधी, पृ. 37-38
176 महादेवन, रोबर्ट्स तथा मार्श (सं), सिविल डिफेंस, पृ. 15-52
177 हरिजन, 31-8-1947
178 यंग इण्डिया, 1924-1926, पृ 1292
179 वही, 26-3-1931
180. प्रभु तथा राव, दी माइंड ऑफ महात्मा गांधी, पृ 135-137

अध्याय 21

अरविन्द घोष (1872-1950)

देशबन्धु चित्तरंजनदास ने अलीपुर-षड्यन्त्र-काड (1909) मे श्रीअरविन्द के बचाव मे बहस करते हुए कहा था कि एक दिन श्रीअरविन्द को देशभक्ति का कवि, राष्ट्रवाद का अग्रदूत तथा मानव प्रेमी के रूप मे याद किया जायगा। न केवल भारत मे अपितु दूर दूर देशो तक उनके शब्द गुंजायमान होंगे।[1] दास के ये विचार सत्य सिद्ध हुए। 'ओरोवील' की स्थापना ने दुनिया को श्रीअरविन्द के विचारो से ओतप्रोत कर दिया। उनका मानव-एकता का आदर्श सत्य होता दिखाई दे रहा है।

श्रीअरविन्द भारतीय राष्ट्रीय चिंतन मे पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षधर के रूप मे सदैव याद किये जाते रहेंगे। 15 अगस्त, 1872 को श्रीअरविन्द का जन्म हुआ। उनके पिता कृष्णधन घोष एक सफल चिकित्सक थे और पाश्चात्य प्रभाव मे पूर्णतया रंगे होने के कारण श्रीअरविन्द को भी वे भाषा, रहन-सहन और विचारो मे अंग्रेजी बनाना चाहते थे। उन्होंने श्री अरविन्द को लोरेटो कान्वेंट स्कूल, दार्जीलिंग मे पढने भेजा। उस समय उनकी उम्र पांच वर्ष की थी। जब वे सात वर्ष के हुए तब उनके माता-पिता उन्हें लेकर इंग्लैंड गये और उन्हें एक अंग्रेज परिवार की देखरेख मे रखा ताकि वे अंग्रेजी तौर-तरीकों से पूर्णतया परिचित हो जांय और भारतीय भाषा, संस्कृति एवं धर्म का उन पर लेशमात्र प्रभाव भी न रहे। श्रीअरविन्द चौदह वर्ष तक इंग्लैंड में रहे। वहां मेनचेस्टर, लंदन तथा कैम्ब्रिज में उनकी शिक्षा हुई। वे अंग्रेजी भाषा मे निष्णात हुए और अंग्रेजी के साथ साथ फ्रांसीसी, ग्रीक, लेटिन तथा जर्मन भाषा मे भी उन्होंने विशेष योग्यता प्राप्त की। उन्होंने इन समस्त भाषाओ के पूर्ण वाङ्मय का अध्ययन किया। इतिहास, गद्य, पद्य, दर्शन तथा समस्त महान् कृतियों का मौलिक भाषा मे अध्ययन कर वे पाश्चात्य साहित्य मे पूर्णत: पारंगत हो गये। वे इन भाषाओ मे कविता भी लिखने लगे थे। अंग्रेजी भाषा में उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त था। उनके पिता की इच्छानुसार उन्हें इंडियन सिविल सर्विस परीक्षा मे बैठना पड़ा। लिखित परीक्षा में वे अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुए। ग्रीक तथा लेटिन में विशेष योग्यता अंक प्राप्त हुए। किन्तु वे घुड़सवारी की परीक्षा मे जानबूझकर विफल हो गये। श्रीअरविन्द मन से प्रशासनिक सेवा अथवा राजकीय सेवा करने के इच्छुक नहीं थे।

श्रीअरविन्द और उनके साथ अन्य भाई जो उनके साथ ही इंग्लैंड मे विद्याध्ययन कर रहे थे, श्रीअरविन्द की प्रतियोगी परीक्षा में असफलता के कारण संकट के भागी बने। उनके पिता ने उन्हें धन भेजना शनै. शनै. बंद कर दिया। जीवन-यापन का संघर्ष प्रारम्भ हुआ। उनका दिवास्वप्न भंग हुआ। उन्हें यह जानते विलंब नहीं हुआ कि उनको अपनी मातृ भाषा तथा भारतीय संस्कृति से दूर रख कर अराष्ट्रीय बना दिया गया है। इस

अन्तश्चेतना ने उन्हें भारतभूमि की सेवा में अपना जीवन अर्पण करने के लिए प्रेरित किया। वे चाहते तो उन्हें कोई भी उच्च वैतनिक प्रशासनिक पद प्राप्त हो सकता था। किन्तु उनके विचारों में परिवर्तन आ चुका था। वे अंग्रेजों के दास बने रहना नहीं चाहते थे अपितु अपनी तथा समस्त भारत देश की दासता को समाप्त करना चाहते थे। 1893 में जब वे स्वदेश लौटे तब वे अंग्रेजियत के उदाहरण न होकर एक राष्ट्रभक्त भारतीय बन चुके थे। उन्हें बड़ौदा-नरेश गायकवाड़ ने अपने यहां उचित पारिश्रमिक पर सेवा में रखा वे बन्दोबस्त, राजस्व, सचिवालय आदि के सलाहकार एवं गायकवाड़ के निजी सचिव के रूप में काम करते रहे किन्तु यहां भी उनका मन नहीं लगा। वे अन्त में बड़ौदा-महाविद्यालय में फ्रांसीसी भाषा के व्याख्याता नियुक्त किये गये। बाद में उन्होंने अंग्रेजी के प्राध्यापक एवं उप-आचार्य के रूप में भी कार्य किया।

श्रीअरविन्द का बड़ौदा का कार्यकाल उनके जीवन का नव-निर्माणकाल था। बड़ौदा में उन्हें संस्कृत का गहन अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। वे प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक गौरव के समीप आये। भारतीय दर्शन को समझने एवं उस पर मनन-चिंतन करने का उन्हें अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने भारतीय भाषाओं के साहित्य का भी अध्ययन किया। गुजराती, बंगाली, मराठी आदि भाषाओं को सीखा। संस्कृत के महान् रचनाकारों के मौलिक ग्रन्थों का पठन-पाठन किया। पाश्चात्य प्रभाव की धूल हटनी शुरू हुई और भारतीयता का नैसर्गिक धरातल उन्हें दिखाई देने लगा। उनका पुनर्भारतीयकरण प्रारम्भ हुआ और वे सनातन-धर्म के प्रभाव-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। योगाभ्यास भी प्रारम्भ किया। उनके योगगुरु विष्णु भास्कर लेले ने उन्हें यौगिक क्रियाओं में प्रवृत्त किया। उन पर योग का प्रभाव बढ़ता चला गया। वे राजनीतिक जीवन में एक योगी की तरह प्रविष्ट हुए। आध्यात्मिक राजनीति या राजनीति का अध्यात्मीकरण श्रीअरविन्द की भारतीय चिंतन को अनुपम देन है। राजनीति के घिनौने वातावरण को परिशुद्ध कर श्रीअरविन्द ने नैतिक एवं राष्ट्रीय जागरण का नवसंदेश देते हुए बंगाल की जनता का राजनीतिक परिष्कार किया। उनकी राजनीति वैयक्तिक, राष्ट्रीय एवं सार्वभौमिक आत्मिक विकास की चरम परिणति है।

बड़ौदा में श्रीअरविन्द ने अपना राजनीतिक क्रियाकलाप प्रारम्भ किया। उनके राजनीतिक जीवन का श्रीगणेश यहीं से माना जाना चाहिए। यद्यपि राज्य-सेवक के रूप में वे खुले तौर पर राजनीतिक कार्य नहीं कर सकते थे किन्तु परोक्षतः राजनीतिक गतिविधियों से स्वयं को सम्बन्धित करके उन्होंने अपने भावी राजनीतिक जीवन का पूर्वाभ्यास किया। इस अवधि में वे अपनी लेखनी का विशेष प्रयोग करते रहे। इन्दु प्रकाश में उनके लेख छपते रहते थे। इन लेखों में सर्वाधिक चर्चित लेख था "न्यू लैम्प्स फोर ओल्ड" जिसमें श्रीअरविन्द ने तत्कालीन राजनीतिक आंदोलन के शिथिल प्रयासों की भर्त्सना की थी और भावी आंदोलन में उग्रवादिता की आवश्यकता पर बल दिया था। उनके इस विचारोत्तेजक लेख के कारण महादेव गोविन्द रानाडे इतने चिंतित हुए कि उन्होंने इन्दु प्रकाश के संचालक को भविष्य में ऐसे लेख न छापने की चेतावनी दी। पत्र के संचालक ने श्रीअरविन्द को भविष्य में अपने विचारों को इतने उग्र रूप में प्रकट न करने का आग्रह किया तथा इस पर वे सहमत भी हो गये। इसके पश्चात् उनके लेखन की

अगली श्रृंखला में उन्होंने बंकिम चन्द्र चटर्जी पर लेख लिखे और उनके माध्यम से रचनात्मक राजनीतिक कार्यक्रम की भूमिका प्रस्तुत की। श्रीअरविन्द के लेखों का प्रबुद्ध भारतीयों पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। भारत की युवा पीढ़ी को, विशेषतौर पर बंगाल की युवापीढ़ी को, उनसे विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई। इस प्रेरणा का एक रहस्य यह भी था कि श्रीअरविन्द का राजनीतिक कार्य केवल सौम्य उदारवाद पर आधारित नहीं था। उनके विचारों में दुर्दम उग्रता थी जिसके कारण उन्होंने बंगाल में क्रांतिकारी आन्दोलन का प्रारम्भ किया। गुप्त संस्थाओं के माध्यम से उन्होंने नवयुवकों को बम बनाने, हथियार प्राप्त करने तथा राजनीतिक हत्याएं करने का मार्ग दिखाया। बड़ौदा की सेना में नियुक्त जतीन बनर्जी को उन्होंने क्रांतिकारी गुप्त संस्थाओं में नवयुवकों को प्रशिक्षण देने के लिए भेजा। गांव-गांव तथा नगर-नगर में वे इन संस्थाओं का जाल बिछा देना चाहते थे। उन्होंने अपने भाई बारीन्द्र कुमार घोष को भी इस कार्य के लिए बंगाल भेजा। क्रांति तथा गीता का संदेश प्रचारित किया गया। स्वदेशी-आन्दोलन को तेज करने के लिए प्रेरणाप्रद साहित्य तैयार करवा कर उसका वितरण किया गया।

श्रीअरविन्द ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की गतिविधियों को निकट से देखा। कांग्रेस के 1902 के अहमदाबाद-अधिवेशन में उन्होंने भाग लिया। इसके पश्चात् 1904 के बम्बई-अधिवेशन में भी वे उपस्थित रहे। बनारस के 1905 के अधिवेशन में भी वे सम्मिलित हुए। इस अधिवेशन में लाला लाजपतराय ने निष्क्रिय प्रतिरोध के कार्यक्रम के लिए कांग्रेस को प्रेरित किया। तिलक ने भी लाला लाजपतराय के विचारों का समर्थन किया। तब तक श्रीअरविन्द द्वारा कांग्रेस के कार्य से अपने आपको सम्बन्धित करने अथवा कांग्रेस को अपने विचारों के अनुसार ढालने का प्रयास प्रारम्भ नहीं किया गया था। वे केवल दर्शक मात्र ही थे। लाजपतराय तथा तिलक के उग्रवादी विचारों ने ही कांग्रेस को नवीन दिशा दी थी। श्रीअरविन्द का सक्रिय कार्य कलाप 1906 में प्रारंभ हुआ था। 1906 में बड़ौदा नरेश की सेवा के तेरह वर्ष का कार्यकाल पूरा कर वे बंगाल चले गये और वहां 1906 में वे बरीसाल सम्मेलन में सम्मिलित हुए। बंगाल-विभाजन की घटना से समस्त बंगाल उद्वेलित था। स्वदेशी-आंदोलन ने उत्तेजना फैला रखी थी। श्रीअरविन्द का वहां पहुंचना स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन को उचित नेतृत्व मिलने की दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त माना जा सकता था। वहां पहुंचते ही उन्हें नव स्थापित राष्ट्रीय महाविद्यालय का आचार्य नियुक्त किया गया। स्वराज्य, स्वदेशी, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा नव राष्ट्रवाद के चार आधारभूत कार्यक्रम थे। श्रीअरविन्द ने इन चारों कार्यक्रमों को अपना सर्वस्व देकर आगे बढ़ाया।

कांग्रेस के 1906 के कलकत्ता-अधिवेशन में श्रीअरविन्द ने सक्रिय भाग लिया। बिपिन चन्द्र पाल के नेतृत्व में स्वराज सम्बन्धी प्रस्ताव को स्वीकृत कराने में श्रीअरविन्द और उनके सहयोगियों का योगदान रहा। मिदनापुर के बंगाल प्रांतीय सम्मेलन में श्रीअरविन्द ने कांग्रेस में राष्ट्रीय तत्वों को सशक्त बनाने का प्रयत्न किया। लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक तथा श्रीअरविन्द ने कांग्रेस का अगला अधिवेशन नागपुर से हटाकर सूरत में करने के उदारवादियों के प्रयासों की भर्त्सना की। 1907 के सूरत-अधिवेशन में उदारवादियों ने उग्रवादियों को कांग्रेस से निकाल ने की योजना

बनायी थी। डा० रासबिहारी घोष को कांग्रेस का अध्यक्ष चुना। तिलक तथा श्रीअरविन्द लाजपतराय को सूरत कांग्रेस का अध्यक्ष मनोनीत करना चाहते थे। सूरत मे उदारवादियों का पलड़ा भारी था। श्रीअरविन्द बंगाल से दलबल सहित सूरत पहुचे। आम धारणा यह है कि तिलक ने अपने महाराष्ट्रीय समर्थकों के माध्यम से सूरत-अधिवेशन (1907) को सफल नहीं होने दिया। गोखले ने भी तिलक को इसका दोषी ठहराया। किन्तु सत्य यह है कि सूरत-अधिवेशन मे उदारवादियो के प्रयासो को निष्फल करने का कार्य श्रीअरविन्द की पूर्व-निर्धारित योजना का फल था। श्रीअरविन्द ने स्वय यह व्यक्त किया कि उन्हीं के आदेशो से उनके समर्थकों ने सूरत मे उदारवादियो को हतप्रभ कर दिया और उग्रवादियो ने अपनी अलग सभा का आयोजन किया।[2]

श्री अरविन्द ने बगाल के प्रमुख पत्र वन्देमातरम् का सह-सम्पादन 1906 मे प्रारम्भ किया था। यह पत्र विपिन चन्द्र पाल ने स्थापित किया था। इस पत्र के माध्यम से स्वदेशी एवं स्वराज्य की भावना का जो भीषण प्रचार-अभियान बगाल मे प्रारम्भ हुआ वह धीरे धीरे सारे देश म फैल गया। बगला राष्ट्रवाद का यह प्रमुख पत्र था। उग्रवादियो के कार्यक्रम को भी इस पत्र से अतीव सबल प्राप्त हुआ। वन्देमातरम् पत्र के माध्यम से क्रांतिकारी विचारो का प्रचार प्रारम्भ हुआ। शासन की कुदृष्टि से कब तक बचा जा सकता था। आखिरकार कानूनी कार्यवाही प्रारम्भ हुई किन्तु श्रीअरविन्द इससे साफ बच गये। परन्तु शासन उन्हें सन्देह की दृष्टि से देख रहा था। आखिरकार सरकारी गुप्तचरो ने अलीपुर मे बम बनाने के कारखाने पर छापा मारा और श्रीअरविन्द के भाई बारिन्द्रकुमार घोष को गिरफ्तार कर लिया। श्रीअरविन्द को भी सन्देह मे गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें जमानत पर नहीं छोड़ा गया और वे अलीपुर जेल मे बन्द कर दिये गये। अदालती कार्यवाही एक वर्ष तक चली और देशबन्धु चित्तरंजनदास की पैरवी से उन्हें निरपराध घोषित किया गया। वे जेल से मुक्त कर दिये गये। एक वर्ष तक जेल मे रहकर उनके विचारों मे भारी परिवर्तन दिखाई दिया। वे योग-साधना एव ईश्वरोपासना मे तल्लीन रहने लगे। जेल से छूटने के बाद भी वे राष्ट्रीय चेतना के उन्नयन में लगे रहे किन्तु पहले की भांति जन-उत्साह उन्हें दिखाई नहीं दिया। कर्मयोगी तथा धर्म ये दो साप्ताहिक पत्र उन्होंने प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। वे अपने आपको राजनीतिक आन्दोलन मे अकेला अनुभव करने लगे। विपिनचन्द्र पाल तथा लाजपतराय शासन की नीति के शिकार होकर राजनीतिक जीवन मे सक्रिय नही थे। तिलक को देश-निर्वासिन मिला हुआ था। श्रीअरविन्द पर शासन की कड़ी निगरानी थी। इससे पहले कि उन्हें देशनिर्वासित किया जाता या अन्य कानूनी कार्यवाही की गिरफ्त मे लिया जाता व ब्रिटिश भारत छोड़कर चन्द्रनगर चले गये। चन्द्रनगर फ्रांस के अधिकार मे था। वहा से वे 4 अप्रेल 1910 को पाडिचेरी पहुच गये। अब वे अंग्रेजो के शिकजे के बाहर थे।

पांडिचेरी को गमन श्रीअरविन्द के जीवन का नया अध्याय था। राजनीतिक आंदोलन से मुक्त हो वे आध्यात्मिक जीवन में प्रविष्ट हो चुके थे। वे पूर्णतया राजनीति से सन्यास ले चुके थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें भारतीय सस्कृति एव सभ्यता का मसीहा कहा। वे मानते थे कि श्रीअरविन्द के माध्यम से भारत की वाणी समस्त विश्व मे सुनी जायगी।[3]

रोमां रोलां ने कहा था कि श्रीअरविन्द एशिया तथा यूरोप की प्रतिभा के पूर्णतम समन्वय थे। अनेक महान् युगद्रष्टाओं ने कहा था कि पश्चिम की भौतिकता-प्रधान जीवन-पद्धति आध्यात्मिक उन्नति का आधार नहीं बन सकती किन्तु श्रीअरविन्द ने एक अद्भुत विचार प्रस्तुत किया और कहा कि भौतिक प्रगति भी ईश्वर की अवस्थिति का ज्ञान कराती है। मुक्ति से कोई वस्तु विलग नहीं है। अचेतन पक्ष भी किसी दिन ईश्वरीय चेतना के प्रकाश से जगमगा उठेगा। यही अरविन्द की आध्यात्मिक उपलब्धियों का सार है।

श्रीअरविन्द मानवीय सम्बन्धों की वर्तमान स्थिति को विकासात्मक संकट के रूप में देखते थे। उनका विश्वास था कि मानव, जीवन के इन संकटों से मुक्ति तब तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक वह आध्यात्मिकता का बोध नहीं कर लेता। राजनीतिक, नैतिक एवं धार्मिक संकीर्णताओं ने मानवीय चिन्तन को प्रतिबद्ध एवं अवरुद्ध कर रखा है। मानसिक चेतना ने चिन्तन की स्वतन्त्रता को समाप्त प्रायः कर दिया है। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अपने मस्तिष्क की सीमाओं को लांघकर पराचेतन मस्तिष्क की स्थिति को प्राप्त करे अन्यथा मानवता का अस्तित्व समाप्त हो जायगा। श्रीअरविन्द के समग्र योग का सिद्धान्त इसी पर आधारित है। पराचेतन ही सत्य है। सत्य ही जीवन है।

श्रीअरविन्द भारत के लिए एक क्रांतिकारी के रूप में अधिक पहचाने जाते हैं। उनके द्वारा आध्यात्मिक क्षेत्र में लायी गयी क्रांति कम महत्वपूर्ण नहीं किन्तु इससे भी अधिक उनके द्वारा भारत की स्वतन्त्रता के लिए किये गये क्रांतिकारी प्रयासों का महत्व है जो उन्होंने पाण्डिचेरी में योग-साधना प्रारम्भ करने के पहले किये थे। श्रीअरविन्द प्रथम भारतीय राष्ट्रवादी थे जिन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति को भारत के राष्ट्रीय एवं राजनीतिक संघर्ष का उद्देश्य माना था। वे ऐसे मनीषी थे जिन्होंने साधारण व्यक्ति को राजनीतिक स्वतन्त्रता से ओतप्रोत करने का उद्देश्य प्रस्तुत किया और भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम को कोटि-कोटि जन-जन से सम्बन्धित कर दिया। बम्बई में प्रकाशित इन्दु-प्रकाश के 1893 के अंक में उन्होंने लिखा कि ऐसे काल में जब लोकतन्त्र तथा इनसे मिलते अन्य महत्वपूर्ण शब्द हमारी जिह्वा से निसृत होते हैं, कांग्रेस जो जनता का प्रतिनिधित्व न कर केवल एक छोटे से वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है राष्ट्रीय नहीं कही जा सकती। वे भारत के राजनीतिक चिन्तन को क्रांतिकारी विचारों से अनुप्राणित करना चाहते थे। उनके सम्बन्ध में नेताजी सुभाषचन्द्र ने लिखा था कि वे कांग्रेस के वामपंथ के समर्थक थे। ऐसे समय में जब कि अधिकतर भारतीय नेता साम्राज्यीय स्व-शासन के पक्ष में थे श्रीअरविन्द ने भारत को स्वतन्त्रता का सन्देश दिया। उन्होंने क्रांतिकारी कार्यों की ओर कदम बढ़ाया था। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह की योजना बनाई थी। इस योजना को वे असम्भव नहीं मानते थे क्योंकि उनका यह दृष्टिकोण था कि जिन दिनों श्रीअरविन्द ने क्रांतिकारी आन्दोलन का नेतृत्व किया था उन दिनों अंग्रेजों का सैन्य संगठन इतना मजबूत नहीं था जितना बाद के दिनों में हो गया था। पहले बन्दूक ही युद्ध में निर्णायक होती थी किन्तु बाद में वायुयानों के बढ़ते हुए प्रयोग तथा तोपों की विस्तृत मार करने की बढ़ी हुई क्षमता ने क्रान्तिकारी कार्यों को कठिन बना दिया।

प्रारम्भ के दिनों में श्रीअरविन्द की यह योजना थी कि उचित संगठनों के माध्यम

से तथा बाह्य सहायता द्वारा भारत की नगण्य ब्रिटिश सेना से गुरिल्ला युद्ध किया जा सकता था। जनता द्वारा विद्रोह का समर्थन तथा स्वयं जनता द्वारा सशस्त्र विरोध प्रभावपूर्ण हो सकता था। भारतीय सेना द्वारा सामूहिक विद्रोह की सम्भावना भी बनी हुई थी अत: सैन्य प्रतिरोध की सम्भावना कम न थी। श्रीअरविन्द ने ब्रिटिश जनता के विचारों एवं स्वभाव का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला था कि मूलत: ब्रिटिश जनता भारतीयों द्वारा स्वतन्त्रता-प्राप्ति का विरोध करेगी और केवल कतिपय सुधारों को ही प्रारम्भ करेगी ताकि उनके साम्राज्य को हानि न पहुंचे किन्तु अन्त तक वह भारत के बारे में निर्दय नहीं बनी रह सकती। जब उन्हें यह प्रतीत होने लगेगा कि विद्रोह तथा हिंसात्मक विरोध नियन्त्रित नहीं किया जा सकता तब वे समझौते के लिए तैयार हो जायेंगे ताकि साम्राज्य के हित में जो भी अवशिष्ट लाभ मिल सकें प्राप्त कर लें। वे कभी नहीं चाहेंगे कि उनसे भारत का शासन छीन लिया जाय, इसलिए वे अवसर आने पर भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा को श्रेयस्कर समझेंगे। श्रीअरविन्द के ये विचार आगे जाकर सत्य हुए। भारत ने 1947 में स्वतन्त्रता इन्हीं परिस्थितियों में प्राप्त की।

श्रीअरविन्द के राजनीतिक विचार

श्रीअरविन्द के राजनीतिक विचारों का मूल आधार उनकी आध्यात्मिक धारणा है। राजनीति के आध्यात्मीकरण का उनका प्रयास उनकी अन्त:करण की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ। उन्हें ऐसा सत्यज्ञान प्राप्त हो चुका था जिसमें उन्हें स्वयं ईश्वर द्वारा दिशा-निर्देश की अनुभूति होती थी और वे उसी निर्देशित दिशा में कार्य करते थे। उनके विचारों को विवेक के माध्यम से अथवा वैज्ञानिक कसौटी से नहीं परखा जा सकता। इसके लिए आस्था एवं श्रद्धा की आवश्यकता है। श्रीअरविन्द ने ईश्वरीय अन्त:प्रवृत्ति एवं अतिमानवीयता को, जो कि बौद्धिक धरातल से ऊपर उठ कर ही पहचानी जा सकती है अपनी प्रेरणा का आधार माना है। वे प्राचीन भारतीय महानता के पुनरभ्युदय के पक्षपाती हैं। किन्तु उनके विचारों में पृथक्त्व के स्थान पर सम्मिश्रण पर अधिक बल दिखाई देता है। वे यूरोप की बौद्धिक प्रगति का भारत की आध्यात्मिक चेतना में सम्मिश्रित करना चाहते हैं। भारत की अन्तर्मुखी चेतना को पश्चिम की बहिर्मुखी उन्नति से मिला कर एक नवीन संश्लिष्ट विचारधारा का प्रवाह उनका लक्ष्य था।

श्रीअरविन्द ईश्वर को संहारक एवं पालनकर्ता दोनों ही रूप में देखते थे। वे विश्व इतिहास एवं विश्व-राजनीति को सार्वभौमिक सत्ता द्वारा नियन्त्रित प्रकृति के विधान अथवा ईश्वरी इच्छा का प्रतिफल मानते थे। ईश्वरीय तत्व की प्रधानता के कारण उनके विचारों में रहस्यवाद का ऐसा पुट है जिससे उनके विचारों को साधारण दृष्टि से समझने में कठिनाई उत्पन्न होती है। उनके विचार आत्मनिष्ठ अन्त:प्रेरणात्मक एवं अध्यात्मपरक थे। यौगिक अनुभूतियों द्वारा प्रभावित उनका चिन्तन स्वीकार करने योग्य नहीं है क्योंकि वह अतिआदर्शवादी है। फिर भी वैचारिक विशिष्टता के कारण श्रीअरविन्द के चिन्तन का कई दृष्टियों से अपना विशिष्ट महत्त्व है। वे ऐसे रहस्यवादी चिन्तक हैं जो वेदान्त के अन्तिम सत्य का पुनरुद्घाटन करते हैं। उनमें हेगल की भाँति विश्व की अतिरंजना है जो सत् असत् दोनों ही पक्षों को लिये हुए है और जिसमें युद्ध, घृणा, क्षोभ आदि को नीत्शे के अतिमानव को आध्यात्मिकता द्वारा ऐतिहासिक क्रम का अंग माना गया है।

परिष्कृत कर नवीन स्थितप्रज्ञ भाव में प्रस्तुत करते हैं। चैतन्य के समान जगत् को ब्रह्मलीला मानते हैं तथा तान्त्रिक प्रभाव के अन्तर्गत भारतमाता का कालिका रूपी रौद्र रूप भी वे प्रस्तुत करते हैं। उनमें उपर्युक्त समस्त प्रभावों को सन्निविष्ट करने की अपूर्व क्षमता थी। परब्रह्म को जगत् के साथ, जीव को आत्मा के साथ, रहस्यवाद को राजनीति के साथ एकाकार कर श्रीअरविन्द ने शाश्वत आध्यात्मिक मूल्यों को क्षणिक किन्तु महत्वपूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता एवं सामाजिक कल्याणकारिता के मूल्यों से जोड़ दिया। श्रीअरविन्द ने अलबर्ट स्वीटज़र के समान संस्कृति को नैतिक तत्त्वों पर आधारित माना। ऐश्वर्य, विलासिता एवं आर्थिक सर्वोपरिता की होड़ में राष्ट्र तथा व्यक्ति दोनों को नैतिक शक्तियों का बोध नहीं रहा। इसे सर्वनाश की प्रवृत्ति कहा जा सकता है। इससे बचने का रास्ता नैतिक गुणों के विकास में ही अन्तर्निहित है। श्रीअरविन्द भारतवासियों को इसी नैतिक मार्ग पर चलाना चाहते हैं।

श्री अरविन्द उग्रवादी विचारक थे। उन्हें उदारवादियों की प्रार्थना एवं याचिका की नीति पसन्द नहीं थी। वे भारत की स्वाधीनता के इच्छुक थे।[4] इससे कम राजनीतिक लक्ष्य भारत की महानता के विपरीत था। प्रत्येक राष्ट्र को स्वाधीन रहने का अधिकार है फिर भारत को पराधीनता में जकड़े रखना और एक घटिया प्रकार की सभ्यता में परिवर्तित करने का विदेशी प्रयास कैसे सहन किया जा सकता है।[5] श्री अरविन्द ने भारतीयों के अंग्रेजों के साथ सम्बन्धों को ईश्वरीय वरदान नहीं माना था। वे तो उनसे पूर्ण मुक्ति चाहते थे।[6] उदारवादियों की ब्रिटिश न्यायप्रियता में निष्ठा उन्हें नहीं सुहाती थी। वे निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति द्वारा भारत की स्वाधीनता का उपदेश दे रहे थे। निष्क्रिय प्रतिरोध में उनका तात्पर्य किसी अहिंसक आंदोलन से नहीं था।[7] उनका विश्वास था कि राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए हिंसा का मार्ग भी अपना सकता है। यह इस पर निर्भर करेगा कि तत्कालीन परिस्थितियाँ क्या राष्ट्र को अन्य किसी नीति का पालन करने के लिए बाध्य करती हैं। स्पष्ट है कि गांधीजी की नैतिक धारणा में उनका विश्वास नहीं था।[8] वे राष्ट्र की स्वतन्त्रता को सर्वोपरि मानते थे। वे इसके लिये गीता के क्षात्रधर्म का अनुसरण ही उचित मानते थे। राजनीति में अहिंसा की अथवा शांति की नीति को उन्होंने उचित नहीं ठहराया। आवश्यकता होने पर राष्ट्रीय शत्रुओं का संहार करना धर्मयुद्ध माना गया है। श्री कृष्ण के संदेश को वे अक्षरशः स्वीकार करते थे। वे साधुवृत्ति एवं त्याग पर राजनीति को आधारित करना कर्मकायरता का चिह्न मानते थे।[9] सशस्त्र विद्रोह एवं असहयोग को श्री अरविन्द ने सर्वाधिक उपयुक्त राजनीतिक पद्धति माना था। यह पद्धति अत्यन्त त्वरित एवं उपयुक्त फल देने वाली थी। असहिष्णुता, यातना एवं बलिदान इसमें लेशमात्र ही करना पड़ सकता था।[10]

श्री अरविन्द के विचारों का राष्ट्रवाद एवं मानवीय एकता का आदर्श ऋग्वेद एवं उपनिषदों के उपदेशों पर आधारित है। वे सनातन धर्म को राष्ट्रवाद ही मानते हैं। उनका कहना था कि हिन्दू राष्ट्र सनातन धर्म के साथ उत्पन्न हुआ था। उसी के साथ यह चलायमान एवं वर्धित है। जब सनातन धर्म का ह्रास होगा तभी हिन्दू राष्ट्र की अवनति की ओर बढ़ेगा। यदि सनातन धर्म नहीं होता तो हिन्दू राष्ट्र भी जीवित नहीं रहता।[11] राष्ट्र के रूप में भगवान का अवतार होता है।[12] राष्ट्र अमर है। भारत के

तीस करोड़ निवासी ईश्वर है। इसे धन, भू-भाग तथा जनसंख्या से नही नापा जा सकता।[13] किन्तु श्री अरविन्द ने यह भी स्पष्ट किया कि हमारा देशभक्ति का आदर्श प्रेम एवं विश्वबन्धुत्व पर आधारित है। हम अपने राष्ट्र के संकीर्ण दायरे मे नही रहना चाहते। हमारी एकता का आदर्श सम्पूर्ण विश्व की एकता का आदर्श है। समस्त मानवता का एकीकरण हमारा उद्देश्य है।[14] यह एकता आध्यात्मिकता से उत्पन्न होगी न कि राजनीतिक और प्रशासनिक उपायो से।[15]

पाश्चात्य प्रभावो के अन्तर्गत उनके द्वारा राष्ट्र की आत्मा का विचार भी प्रस्तुत किया गया है। हीगल के प्रभाव मे श्री अरविन्द ने राष्ट्र की आत्मा का आदर्श प्रस्तुत करते हुए उसकी स्पन्दनशीलता एवं मानवीय आत्मा से उसका प्रत्यक्ष तादात्म्य स्थापित किया है। रेनान के समान श्री अरविन्द भी राष्ट्र को एक मनोवैज्ञानिक इकाई मानते हैं। फिक्टे तथा श्री अरविन्द दोनो ही राष्ट्र की अमरता का संदेश देते है। बर्क के प्रभाव मे श्री अरविन्द ने न्याय के प्रति आसक्ति, स्वशासन तथा समाज के धार्मिक आधार को स्वीकार किया।

श्री अरविन्द राष्ट्रवाद के मसीहा थे। वे राष्ट्र तथा राज्य को पृथक्-पृथक् रखने मे विश्वास करते थे। राष्ट्र को आध्यात्मिकता का अंश पूर्णतः मानते थे जब कि राज्य को वे यंत्रवत् ही स्वीकार करते थे। वे राष्ट्र के सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा सामाजिक विकास मे शासकीय हस्तक्षेप को उचित नही मानते थे। उनके विचार जर्मन आदर्शवादियो से भिन्नता रखते हैं। वे राष्ट्र को अतिमानवीय बनाने के पक्ष मे नही है। राष्ट्रवाद उनकी दृष्टि मे पूर्णतया राजनीतिक अथवा आर्थिक अवस्थिति नही है। भारतवर्ष केवल भौगोलिक प्रदेश मात्र नही है, वह तो माता सदृश है। राष्ट्रवाद सात्विक धर्म है। स्वदेशी एवं स्वराज्य द्वारा राजनीतिक एवं आर्थिक कार्यों को नियमित किया गया है। श्री अरविन्द की राष्ट्रवादी धारणा प्रतिक्रियावादी न होते हुए भी आध्यात्मिक एवं नैतिक आदर्शवाद पर आधारित है। राष्ट्रवाद को मानवीय एकता के अंतिम लक्ष्य से मिश्रित कर दिया गया है। राष्ट्र एक मनोवैज्ञानिक इकाई है। राष्ट्र के लिए राजनीतिक एकता आवश्यक नही है। राष्ट्र एक जीवित समूह एवं समष्टिगत मानवता है।[16] रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा लार्ड ऐक्टन के समान राष्ट्रवाद की आलोचना करने वालो के लिए श्री अरविन्द का दर्शन उचित समाधान प्रस्तुत करता है। वे व्यक्ति को पूर्णतया राष्ट्र के समर्पित करने के विचार से सहमत नही है। वे राष्ट्रवाद को मानवीय प्रगति का एक सोपान मानते हैं, अंतिम लक्ष्य नही। मानव के सामाजिक एवं राजनीतिक विकास मे राष्ट्रवाद सहायक तत्व के रूप मे है। उनका मानवीय एकता का आदर्श एक विश्व-संघ की स्थापना का आदर्श ही है। वे प्रारंभ मे विश्व संघ की स्थापना परिसंघ के माध्यम से प्राप्त करना चाहते थे किन्तु बाद मे उनका विचार केवल संघात्मक आधार पर स्वतंत्र राष्ट्रीयताओ के संघ बनाने का रहा।

श्री अरविन्द ने पुनर्जागरणवाद के विचार द्वारा भारत के राष्ट्रीय गौरव तथा हिन्दू धर्म की महानता का संदेश दिया। वे भारत की प्राचीन आत्मा, आदर्शों एवं पद्धतियो का पुनर्जागरण चाहते थे।[17] पश्चिम के अंधानुकरण की नीति उन्हे प्रिय नही थी। किन्तु वे ऐसे पुनर्जागरणवादी भी नही थे जो रूढ़िवाद से बद्ध हो। उन्हे पश्चिम

से ग्रहण करने योग्य विचारों को अपनाने में कोई आपत्ति नहीं थी। उनका आग्रह केवल यही था कि हम ईश्वर के विधान में निष्ठा रखते हुए भारतीय बने रहें।[18] यूरोप की हवा में बह न जायें। हम जो भी पश्चिम से ग्रहण करें वह एक भारतीय के रूप में ही करें। अपना अस्तित्व विस्मृत न कर बैठें।[19] उनके ये विचार उनकी राष्ट्रभक्ति के प्रतीक हैं। संकीर्ण दृष्टिकोण से देखने पर उनका यह प्रयास केवल आक्रामक हिन्दू राष्ट्रवाद कहा गया है। विवेकानन्द तथा भगिनी निवेदिता के विचारों की भी इसी आधार पर आलोचना की गई है किन्तु इस प्रकार की आलोचना का राष्ट्रीय चेतना के महान लक्ष्य की पूर्ति के प्रयास में इनकी उपयोगिता के समक्ष महत्त्व नहीं रहता। राष्ट्रीय चेतना उन्हीं तत्त्वों तथा कारकों से उद्दीप्त एवं जागृत की जा सकती है जिन तत्त्वों को बहुसंख्यक जन-समुदाय का समर्थन प्राप्त हो। केवल धर्मनिरपेक्षता के अधुनातन की दृष्टि से रख कर इन मनीषियों की आलोचना-प्रत्यालोचना सदर्भहीन दृष्टि का ही परिणाम हो सकती है।

श्री अरविन्द ने राष्ट्रवाद को केवल राजनीतिक कार्यक्रम न मान कर धर्म के रूप में स्वीकार किया। वे राष्ट्रवाद को ईश्वर-प्रदत्त धर्म मानते थे। केवल बौद्धिक धारणा के रूप में अपने आपको राष्ट्रवादी कहलाने वालों के प्रति उनका दृष्टिकोण तीखा था। राष्ट्रवादी होने का मापदंड धार्मिक चेतना से ओतप्रोत होना माना गया था। वे राष्ट्रीय क्रियाकलाप को निष्काम कर्म मानते हुए भारतीय स्वातंत्र्य-आन्दोलन से व्यक्तिगत आत्मोन्नति नहीं अपितु सार्वभौमिक आत्मिक अनुभूति का आनन्द सवाहित कर रहे थे। राष्ट्रवाद का धर्म के साथ अटूट सम्बन्ध स्थापित कर श्री अरविन्द ने ईश्वरीय कृपा से निसृत अभय का मार्ग दिखाया। वे यूरोपीय संदर्भ में राष्ट्रवाद की चर्चा को भौतिक परिवर्तन तक ही सीमित मानते थे। विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए अधिकारी स्तर की प्राप्ति अथवा स्व-शासन की स्थापना तब तक निरर्थक है जब तक हम अपने राष्ट्र को विशिष्टता प्रदान नहीं करते और जनता को वास्तविक स्वतंत्रता तथा सुख नहीं दिलाते।[20] इस प्रकार श्री अरविन्द राष्ट्रवाद को देशभक्ति से अधिक व्यापक अवधारणा के रूप में मानते रहे। उनका दृष्टिकोण केवल राजनीतिक न होकर आध्यात्मिक था। किन्तु राष्ट्रवाद का धर्म के साथ संयोजन अथवा आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का विचार संकीर्ण पुनर्जागरणवादी विचार नहीं था। वे अन्तर्राष्ट्रीयता के धरातल पर राष्ट्रवाद को प्रस्तुत करना चाहते थे। उनका राष्ट्रवाद केवल हिन्दू-राष्ट्रवाद नहीं था। वे भारत के अल्प-संख्यकों का समुचित समर्थन प्राप्त करने के लिए सदैव लालायित रहे। वे भारतीय राष्ट्रवाद के उन्नयन में हिन्दूधर्म तथा इस्लाम दोनों को राजनीतिक जीवन के लिए जागृत करना चाहते हैं। उनका राष्ट्रवाद किसी भी वर्ग अथवा सम्प्रदाय को पहुँचना नहीं चाहता। वे 'पैन-इस्लामवाद' से भयभीत नहीं होते। किसी भी प्रकार की चेतना का नव जागरण राष्ट्रवाद के लिए बाधक नहीं अपितु सहायक ही है। उनकी उपर्युक्त भावना उन्हें संकीर्ण राष्ट्रवाद की श्रेणी में न रख कर राष्ट्रवाद के नवीन वेदान्तवादी एवं उदारवादी राष्ट्रवादी विचारक के रूप में प्रस्तुत करती है।[21]

श्री अरविन्द राष्ट्रवादी विचारक होते हुए भी विश्व-एकता के आदर्श के प्रतिपादक थे। वे विश्व-शान्ति के वैचारिक मतभेदों, विश्वयुद्ध के कुटिल परिणामों, आर्थिक अस्त-व्यस्तों की होड़ के उपरान्त यह मानते थे कि किसी दिन विश्व-संगठन का

आदर्श यथार्थ बनेगा। वे विश्व एकता की स्थापना के लिए कई कारणों को उत्तरदायी मानते थे। उनके अनुसार प्राकृतिक कारणों से, परिस्थितियों के दबाव से तथा मानवमात्र की वर्तमान एवं भविष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करने की आकांक्षा से प्रेरित हो विश्व एकता की स्थापना अवश्यमेव होगी। मानवीय समाज में वृहत् मानव-समूहों का निर्माण एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। मनुष्यों की परस्पर निर्भरता एवं उनके पारस्परिक हित तथा सम्बन्ध उन्हें बड़े-बड़े समूहों में परिवर्तित कर सकते हैं ताकि छोटे समुदायों की संकीर्णता से उत्पन्न कठिनाइयों एवं समस्याओं को दूर किया जा सके। उनका यह दृष्टिकोण था कि भूतकाल में राष्ट्रीय राज्यों एवं साम्राज्यों की स्थापना तथा विकास के लिए यही कारण उत्तरदायी रहा है। इसी प्रकार से बाह्य आक्रमण के भय का निवारण करने के लिए भी मानवीय समुदायों में एकता की भावना उपजना तथा तज्जनित संघों की स्थापना का होना सम्भाव्य है। एकता की भावना के विकास के लिए सामान्य हितों की समान सुरक्षा आवश्यक है। यह आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-संगठन का अनुगामी है। जब तक विश्व में शांतिपूर्ण उद्देश्यों को लेकर किसी ऐसे राजनीतिक संगठन की स्थापना नहीं होती तब तक असुरक्षा एवं पारस्परिक संदेह की स्थिति को दूर नहीं किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की पूर्वापेक्षा इस कारण से भी है कि विश्व में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विकास मानव-संहार के स्थान पर मानव-कल्याण एवं युद्धरहित वातावरण की प्राप्ति के लिए किया गया है। विश्व-युद्ध की संभावनाओं को कम कर विश्व में जन-सामान्य के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाना आज के युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। विश्व में स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व का वातावरण मानवतावादी उद्देश्यों की प्राप्ति के साथ साथ सामान्य चेतना का निर्माण करता है। प्राचीन धार्मिक मान्यताओं को नवीन वैचारिक क्रांति द्वारा परिवर्तित कर सहिष्णुता का ऐसा वातावरण स्थापित होना चाहिये जिसमें जाति, धर्म, रंग, राष्ट्र, सामाजिक अथवा राजनीतिक प्रगति तथा प्रतिष्ठा के नाम किसी प्रकार का भेदभाव नहीं बरता जाय।

श्रीअरविन्द की राज्य सम्बन्धी विचारधारा विकासवादी है। वे विवेक को मानव के सामाजिक एवं राजनीतिक विकास का कारण मानते हैं। मानव-विकास का प्रथम स्तर मूलभूत विवेक है। द्वितीय स्तर पर विवेक का युग प्रारम्भ होता है जिसमें केवल विवेक के आधार पर ही समस्त क्रियाकलाप निष्पादित होते हैं। तीसरी स्थिति भविष्य की अति-विवेकी मानवपरक चेतना होगी जिसके द्वारा मानव का पूर्ण विकास होकर उसके जीवन में आमूलचूल परिवर्तन दिखाई देगा। समाज में ईश्वरीय पूर्णता के दर्शन होने लगेंगे। वे राज्य को केवल मात्र यान्त्रिक इकाई ही मानते थे। राज्य की धारणा निरन्तर एकाधिकार प्राप्त करने के लिए उद्यत है। यह प्रचण्ड यान्त्रिक वेग से बढ़ती चली जा रही है और अपने पहियों के नीचे हर प्रकार का विरोध एवं अन्य मानवीय चेष्टाओं को कुचलने के लिए तैयार है।[22] उनकी विचारधारा में राज्य को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। वे समष्टिवादी नहीं है। व्यक्तिवाद उनके विचारों का प्रमुख आधार था। किन्तु यह संकीर्ण व्यक्तिवाद न होकर मानव-गरिमा को संरक्षित एवं सुरक्षित रखने वाला व्यक्तिवाद है। उनके व्यक्तिवाद में दंभ का कोई स्थान नहीं। अहं को समष्टि के समर्पित कर दिया गया है। स्वतन्त्रता तथा समानता, स्वतन्त्रता तथा सत्ता, स्वतन्त्रता एवं संगठन क्षमता तब तक

एक दूसरे की पूरक नहीं हो सकती, जब तक मनुष्य, व्यक्ति एवं समाज, अहंकार द्वारा ही जीना चाहते हैं। जब तक उनमें मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक परिवर्तन नहीं आ जाते तब तक वे साम्प्रदायिक सगठनों से ऊपर नहीं उठ सकते। उन्हें तीसरे ही लक्ष्य को प्राप्त करना है और वह लक्ष्य है बन्धुत्व का आदर्श, आन्तरिक एकीकरण का आदर्श।[23]

उनकी यह धारणा नहीं रही कि राज्य श्रेष्ठ मस्तिष्कों का प्रतिनिधित्व करता है या राज्य श्रेष्ठ और आदर्श राष्ट्रवाद का प्रतीक है। राज्य एक भौतिक आवश्यकता है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अवश्य ही श्रीअरविन्द की राज्य-विषयक धारणा में परिवर्तन आया। वे राज्य को बुद्धि एवं नैतिकता दोनों ही दृष्टियों से श्रेष्ठ तथा आवश्यक मानने लगे।

श्रीअरविन्द ने राज्य के आंगिक सिद्धान्त की आलोचना की है। वे केवल समाज के सदर्भ में आंगिक समतुलना प्रस्तुत करते हैं। वे राज्य को जीव सदृश न मानकर केवल एक यन्त्र मानते हैं—ऐसा यन्त्र जिसके द्वारा मानव-मस्तिष्क पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। राज्य द्वारा नियन्त्रित शिक्षा भी राज्य के इसी लक्षण का प्रतीक है। श्रीअरविन्द ने यह व्यक्त किया था कि हमारे सामान्य विकास के लिए राज्य एक सुविधा है। यह एक बड़ी सुविधा है किन्तु इसे अपने आप में साध्य कदापि नहीं बनने देना चाहिए। श्रीअरविन्द के चिन्तन में जहाँ राज्य केवल यन्त्रमात्र है और समाज सम्पूर्ण जीवन न होकर केवल जीवन का एक पक्ष है वहाँ सर्वोच्च महत्त्व सत्य, आत्मा एवं ईश्वर का है जो सर्वव्यापी है।[24]

राज्य के कार्यों के बारे में श्रीअरविन्द के विचार अधिक उदारवादी नहीं थे। वे राज्य-कार्य को सीमित करने के पक्षपाती हैं।[25] राज्य का कार्य केवल बाधाओं को दूर करना तथा अन्याय को रोकना आदि है।[26] स्पेन्सर तथा श्रीअरविन्द के विचारों में काफी साम्य है। दोनों की यह धारणा है कि राज्य द्वारा न तो शिक्षण-कार्य किया जाना चाहिए और न राज्य द्वारा किसी धर्म अथवा धर्म विशेष का पालन कराया जाना चाहिए। ये विचार श्रीअरविन्द को व्यक्तिवादियों की श्रेणी में ला खड़ा करते हैं। किन्तु श्रीअरविन्द आर्थिक व्यक्तिवाद के समर्थक नहीं थे। वे ग्रीन की भाँति व्यक्ति के सर्वांगीण विकास तथा आत्म-विकास के पक्षपाती थे। वे समाजवादी दर्शन के सर्वहितकारी आर्थिक कार्यक्रम से प्रभावित थे। सर्वजनहिताय समाजवादी विचारधारा का उद्देश्य उन्हें स्वीकार्य था किन्तु वे इसके अन्तर्गत व्यक्ति तथा राज्य के उद्देश्यों को समान मानने को तैयार न थे। व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य परमानन्द की चेतना एवं मोक्ष-प्राप्ति है। इसके विपरीत राज्य का उद्देश्य सामाजिक एवं आर्थिक आदर्शों की प्राप्ति है।[27]

श्रीअरविन्द ने वास्तविक स्वतन्त्रता को मानव द्वारा स्वीकृत कानूनों का पालन माना है। पर्यावरण से मानव का तादात्म्य तभी स्थापित हो सकता है जब कि प्रत्येक प्राणी अपना स्वयं का नैसर्गिक विकास प्राप्त कर सके।[28] जब तक यह स्थिति प्राप्त न हो तब तक कानून द्वारा स्थापित बाह्य नियन्त्रणों को मानना उचित है। नियन्त्रण स्थापित करने वाले कानून स्थायी नहीं माने जाने चाहिए। वे केवल उद्देश्य-प्राप्ति तक ही स्वीकृत किये जाने तत्पश्चात् सच्चे कानून की स्थापना जो कि अन्तरात्मा द्वारा होगी बाह्य दमनकारी कानून का स्वतः स्थान ले लेगी। वास्तविक स्वतन्त्रता स्वनियन्त्रित आन्तरिक स्वतन्त्रता

है। यह बाह्य लौकिक स्वतन्त्रता से भी अधिक वास्तविक है। आन्तरिक स्वतन्त्रता एवं आत्मिक स्वाधीनता जीवन का सार है।[29]

श्रीअरविन्द के अनुसार समाज की आत्मिक एकता पर ही राज्य की एकता आधारित है। स्वस्थ समाज द्वारा स्वस्थ राज्य की स्थापना सम्भव है और राज्य की शक्ति पर ही समाज की एकता का आदर्श अवस्थित है। यदि राज्य विदेशी तथा अनात्मिक है तो समुदाय का आत्मिक जीवन सम्भव नहीं हो सकता। अतः पराधीन जनता के लिए यह अपरिहार्य है कि प्रथम राज्य की प्राप्ति की जाय। राज्य के बिना पराधीन देश की जनता सामाजिक एवं बौद्धिक दृष्टि से जागृत नहीं हो सकती। मत्सीनी ने इटली की जनता को सम्बोधित करते हुए यही कहा था कि साहित्य और कला को तिलांजलि देकर राष्ट्रीय संग्राम में जूझना आवश्यक है ताकि व्यक्तियों की समाधियों पर इटली की कला संवर्धित हो सके। कोई भी समुदाय तब तक महान् कार्य नहीं कर सकता जब तक उसमें केन्द्रीय सत्ता न हो अथवा शक्ति केन्द्रित न हो। राजनीतिक स्वतन्त्रता से विमुख सामाजिक सुधारों की माँग केवल प्रवंचना है। नैतिक पुनरुत्थान के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता आवश्यक है। स्वतन्त्रता पुनरुत्थान की अग्रगामी होनी चाहिए।

स्वराज्य की प्राप्ति ही भारतीयों का प्रथम उद्देश्य होना चाहिए। यदि भारतीय चेतना का विकास सही दृष्टि से सम्भव है तो केवल इसी धारणा द्वारा कि स्वतन्त्रता तुरन्त प्राप्त की जाय। राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए समस्त साधन एवं शक्ति जुटा दी जाय। सामाजिक सुधार एवं नैतिक पुनरुत्थान की बात बाद में की जाय अन्यथा लक्ष्य भ्रष्ट होने की सम्भावना बढ़ती जायगी। बंगाल के विभाजन के समय उत्पन्न हुई राजनीतिक चेतना को बनाये रखने की आवश्यकता पर बल देते हुए श्रीअरविन्द ने यह प्रकट किया कि भारत की स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में जीवित रहने की आवश्यकता को पूर्ण प्राथमिकता मिलनी चाहिए। इसके पश्चात् अच्छी तरह से जीवित रहने की चिन्ता की जाय। इस दृष्टिकोण से सामाजिक सुधारों का राजनीतिक सुधारों के पश्चात् ही लागू किया जाना उचित ठहराया गया है।[30]

श्रीअरविन्द ने स्वावलम्बन तथा निष्क्रिय प्रतिरोध को पराधीन जनता की स्वतन्त्रता-प्राप्ति का मार्ग बतलाया। उन्होंने प्रकट किया कि स्वराज्य की प्राप्ति के लिए अन्य राष्ट्रों के प्रति घृणा की आवश्यकता नहीं है। विदेशी प्रशासन को लोकतान्त्रिक बनाने की आवश्यकता है। विदेशी शासन को स्वदेशी शासन में परिवर्तित करना है। विदेशी नियन्त्रण को भारतीय बनाना है। वे हिंसा एवं घृणा को त्यागने का आह्वान कर रहे थे। उनकी दृष्टि में देशभक्ति का आदर्श प्रेम एवं मानव मात्र में एकता के विचार पर आधारित था। किन्तु वे भारतीय रक्त एवं वंश के व्यक्तियों के पृथक् अस्तित्व की स्थापना चाहते थे। वे ऐसी मानव-एकता में विश्वास करते थे जिसमें शासक और शासित को एक ही स्तर पर रखा गया हो। वे शोषण एवं दासता रहित बृहत् विश्वव्यापी समाज की स्थापना चाहते थे।

स्वावलम्बन एवं निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति के माध्यम से भारतीयों को संगठित होकर उद्योगों का विकास, विवादों तथा सार्वजनिक समस्याओं का निराकरण, रोग-निवारण स्वच्छता तथा अकाल सहायता का कार्य, बौद्धिक जागरण तथा शिक्षा की

समुचित विकास अपेक्षित था। श्रीअरविन्द इन कार्यों के अलावा स्व-शासन की स्थापना के लिए विदेशी शासन के प्रति असहयोग की नीति का मार्ग भी प्रशस्त कर रहे थे। अमेरिकावासियों की 'प्रतिनिधित्व नहीं, तो कर भी नहीं' की नीति के अनुसार वे "नियन्त्रण नहीं, तो सहयोग भी नहीं" का नारा प्रस्तुत कर रहे थे। बहिष्कार की पद्धति द्वारा शासन से अपनी बात मनवाने का प्रयास उचित माना गया था। बहिष्कार द्वारा स्वदेशी के उत्थान एवं विस्तार का मार्ग भी प्रशस्त होना था। भारतीय उद्योगों, शिक्षण-संस्थानों एवं न्यायालयों में स्वदेशी तत्व की वृद्धि एवं विकास के लिए बहिष्कार से ही नवीन शक्ति प्राप्त हुई थी।[31]

निष्क्रिय प्रतिरोध द्वारा राष्ट्रीय प्रगति एवं स्वराज्य-प्राप्ति के लिए श्रीअरविन्द ने तीन प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति को प्राथमिकता दी। प्रथम वे निर्बाध बौद्धिक विकास एवं चेतना का संचार करना चाहते थे ताकि भारत में व्याप्त पराश्रय एवं किंकर्तव्य-विमूढ़ता का निराकरण हो सके। द्वितीय, वे राष्ट्रीय आत्म-प्रेरणा को विकसित करना चाहते थे ताकि भारत में स्वतन्त्र केन्द्रीय सत्ता की स्थापना की जा सके। तृतीय वे संगठित विरोध प्रस्तुत करना चाहते थे ताकि एक वास्तविक लोकप्रिय शासन की स्थापना हो सके। उनके अनुसार राष्ट्र के स्वतन्त्र राजनीतिक अस्तित्व के लिए अनेक मार्ग उपलब्ध थे। सशस्त्र सैन्य-विद्रोह, संगठित आक्रामक प्रतिरोध तथा निष्क्रिय प्रतिरोध इन तीनों में से किसी भी मार्ग का अनुसरण किया जा सकता था। जहाँ प्रत्यक्ष आक्रामक प्रतिरोध अन्यायी व्यवस्था के विध्वंस का उपाय था वहाँ निष्क्रिय प्रतिरोध द्वारा आततायी व्यवस्था एवं अन्याय को प्रभावहीन बनाने के लिए असहयोग का प्रयोग किया जा सकता था। इन उपायों में श्रीअरविन्द ने निष्क्रिय प्रतिरोध को ही प्राथमिकता दी। निष्क्रिय प्रतिरोध द्वारा शांतिपूर्ण उपायों से विदेशी सत्ता के औचित्यविहीन शासन को चुनौती दी जा सकती थी। अहिंसक असहयोग पर आधारित निष्क्रिय प्रतिरोध यातनाओं को सहर्ष सहने की प्रेरणा देने वाला था। श्रीअरविन्द के अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध के अन्तर्गत गलत कानूनों की अवमानना केवल न्यायोचित ही नहीं अपितु कर्तव्य प्रेरक है। इसी प्रकार से शासन के अनुचित आदेशों का विरोध करना भी कर्तव्यपूर्ण है। ऐसे व्यक्तियों का, जो राष्ट्रविरोधी गतिविधियों में लगे हुए हैं, सामाजिक बहिष्कार सर्वथा उचित है।[32] निष्क्रिय प्रतिरोध नकारात्मक होते हुए भी राष्ट्रीय जीवन को स्पन्दित करने वाला कार्यक्रम है। वे इसे साधना का ही मार्ग मानते हैं। श्रीअरविन्द सात्विक क्रान्ति लाना चाहते हैं ताकि समस्त जीवनधारा में नवजीवन का संचार हो सके। वे भारत की पूर्ण स्वाधीनता के लिए संघर्ष का आह्वान करते हैं। उनका निष्क्रिय प्रतिरोध केवल मात्र प्रतिरक्षात्मक विरोध ही नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर वह आक्रामक प्रतिरोध का स्वरूप भी ग्रहण कर सकता है।[33] उनके स्वयं के जीवन के उदाहरण से स्पष्ट होता है कि वे क्रान्तिकारियों के कार्यों का समर्थन करते रहे थे।

श्रीअरविन्द तथा जर्मन आदर्शवादी चिंतन में समानता के दर्शन होते हैं। किन्तु हेगल के समान श्रीअरविंद का आध्यात्मिक रूप से स्वच्छन्द मानव सामाजिक एवं नैतिक संस्थाओं के प्रति उत्तरदायी नहीं है। वह केवल अपने अन्तर्मन में विद्यमान आत्मा के प्रति उत्तरदायी है। हेगल तथा फिक्टे का जर्मन आदर्शवाद राज्य का ईश्वरीकरण करने का

प्रयास करता है किन्तु श्रीअरविन्द राज्य के प्रति कठोर दृष्टिकोण अपना कर चलते हैं। वे राष्ट्र के प्रति अधिक आशावान हैं।

श्रीअरविन्द आध्यात्मिक आदर्शवाद एवं व्यक्ति की राजनीतिक गरिमा का समन्वय चाहते हैं। वे यौगिक पद्धतियों से व्यक्ति को परिवर्तित करने का विचार प्रस्तुत करते हैं। व्यक्ति के अधिकारों के प्रति उनकी गहरी आस्था है। अधिकार राज्य द्वारा दिये हुए नहीं हैं अपितु वे व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय परिस्थितियों के फल हैं। व्यक्ति का स्वभाव एवं स्वधर्म उसके अधिकारों का जन्मदाता है। अधिकारों के माध्यम से व्यक्ति समुदाय में आध्यात्मिक सत्य का दर्शन करता है। व्यक्ति की नैतिक एवं आध्यात्मिक स्थिति ही उसकी उन्नति की सूचक है। राज्य व्यक्ति से बढ़ कर नहीं है। व्यक्ति के जीवन को श्रेष्ठतर बनाना चाहिए क्योंकि जीवन में सुख तथा सार्थकता की अनुभूति ही मोक्ष का मार्ग है। वे मानव जीवन को अधिक आध्यात्ममय बनाना चाहते हैं किन्तु श्रीअरविन्द आध्यात्मिक अराजकतावाद के प्रतीक नहीं कहे जा सकते। वे व्यक्ति तथा समष्टि दोनों ही को ईश्वरोन्मुख करना चाहते हैं। वे प्राचीन भारतीय स्वर्णिम युग के आदर्श की पुनः व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सत्य-युग का आदर्श हमारे सामने रखते हैं जो कि हिंसक अराजकतावाद का विलोम है। वे गाँधी तथा टॉलस्टॉय के आध्यात्मिक अराजकतावाद से सहमत नहीं हैं। गाँधीजी राज्य को एक आत्माविहीन मशीन मानते थे। वे राज्य को शक्ति का समुच्चय मानते हुए व्यक्ति के स्वातंत्र्य को केवल अहिंसा के वातावरण में ही सुलभ मानते थे। उनका रामराज्य अथवा जन-सम्प्रभुता का आधार नैतिक सत्ता पर आधारित माना गया था। किन्तु श्रीअरविन्द मानव को आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के लाभ से वंचित रखना नहीं चाहते। अतः उनके विचारों में भारतीय आदर्श तथा पाश्चात्य प्रगति का सुन्दर सम्मिश्रण विद्यमान है।

श्रीअरविन्द ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को राष्ट्रीय विकास के लिए आवश्यक बतलाया है। उनके अनुसार स्वतंत्रताएँ तीन प्रकार की होती हैं। प्रथम राष्ट्रीय स्वतंत्रता है जिसे विदेशी नियंत्रण से मुक्ति कह सकते हैं। द्वितीय आन्तरिक स्वतंत्रता है जिसमें किसी व्यक्ति के निरंकुशवाद अथवा किसी वर्ग या वर्गों के सामूहिक नियंत्रण से मुक्त हो स्व-शासन प्राप्त करना सम्मिलित है। तृतीय व्यक्तिगत स्वतंत्रता है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के समाज अथवा शासन के अनावश्यक तथा स्वेच्छाचारी नियंत्रण से मुक्त होने का अभिप्राय सन्निहित है। शासन चाहे राजतंत्रात्मक हो अथवा लोकतंत्रात्मक, अभिजाततंत्रीय हो अथवा नौकरशाही का व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा आवश्यक है। शासन का उद्देश्य व्यक्ति एवं समष्टि दोनों का ही विकास होना चाहिए। व्यक्ति स्वयं अपना विकास नहीं कर सकता। उसे अपने समूह के अन्तर्गत विकास प्राप्त करना है। समूह भी किसी संगठन के माध्यम से शांति एवं सुरक्षा के वातावरण में शारीरिक, नैतिक एवं बौद्धिक विकास प्राप्त करता है। समूह अथवा राष्ट्र व्यक्तियों के समान एकांगी विकास प्राप्त कर सफल नहीं हो सकता। कार्थेज, स्पार्टा, इटली के यूनानी उपनिवेश, पेरू का साम्राज्य आदि ऐसे उदाहरण हैं जिनमें राष्ट्र के एकांगी विकास ने उन्हें नष्टभ्रष्ट कर दिया। सरकार द्वारा राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के पूर्ण अवसर उपलब्ध किये जाने चाहिए। विदेशी शासन इसी कारण से राष्ट्र के सर्वांगीण विकास में बाधक माना गया है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के बिना राष्ट्रीय

उन्नति एव प्रगति असम्भव है।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अस्तित्व से राष्ट्र की सर्वांगीण प्रगति सुगम हो जाती है। राष्ट्रीय शक्ति की स्व-शासन मे अभिवृद्धि होती है। स्वशासन का व्यापक प्रयोग आवश्यक है। केवल किसी वर्ग विशेष को स्वशासन की सुविधाओं का एकाधिकार प्राप्त होने से राष्ट्रीय शक्ति मे वृद्धि नही होती। श्रीअरविन्द ने भारत के प्राचीन इतिहास का उदाहरण देते हुए यह सिद्ध किया कि मुगलों या अग्रेजों ने भारत की जनता से भारत का शासन नहीं जीता अपितु एक छोटे से विशिष्ट वर्ग से भारत का शासन अपने हाथ मे ले लिया। अठारहवीं शताब्दि मे शिवाजी तथा गुरु गोविन्दसिंह ने जनता को प्रेरित कर उसे शासन से सम्बन्धित किया किन्तु उनके उत्तराधिकारियों ने पुन इस नीति को त्याग कर एक वर्ग विशिष्ट के हाथो मे सत्ता निहित मानी। परिणाम वही हुआ जो पहले हुआ था—भारत पुन गुलाम बन गया। श्रीअरविन्द ने यह उदाहरण इस अर्थ मे प्रस्तुत किया है कि जब तक जनसाधारण मे राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना जागृत नही की जाती तब तक देश का उद्धार नहीं हो सकता। केवल मुट्ठी भर शासकीय वर्ग द्वारा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का रक्षण हानिप्रद ही माना जायगा। अत. विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि जनसमूह मे राष्ट्रीय आत्म-चेतना का सचार किया जाय। विदेशी शासन स्वय कभी नही चाहेगा कि वह व्यक्तियो मे राष्ट्रीय चेतना का विकास होने दे। स्वराज्य की प्राप्ति के लिए स्वतत्र रूप से कार्य करना आवश्यक है। विदेशी शासन के अतर्गत एव विदेशियो के मार्गदर्शन मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति मिथ्या है।[34]

श्रीअरविन्द ने लोकतन्त्र की धारणा को आर्थिक एव राजनीतिक व्यक्तिवाद का प्रतिफल माना है। व्यक्ति के आर्थिक एव राजनीतिक हितो का सरक्षण लोकतन्त्र का मूल उद्देश्य रहा है। किन्तु लोकतांत्रिक धारणा ने असमानता, सम्भ्रांत वर्ग का शासन, वर्ग-भेद तथा शोषण को जन्म दिया है। श्रीअरविन्द ने लोकतन्त्र की त्रुटियो को सूक्ष्मदृष्टि से देखा है। वे लोकतन्त्र को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पोषक नही मानते। व्यक्ति का समष्टि-करण उसके व्यक्तित्व को दबा देता है। जनता के शासन के नाम पर केवल कतिपय धनी एव कुलीन व्यक्तियो का शासन ही स्थापित हुआ है। प्राकृतिक स्वतन्त्रता एव समानता केवल नारेबाजी तक ही सीमित रह गयी है। लोकतांत्रिक सरचना के पार्श्व मे एक शक्तिशाली अल्प सख्यक नेतृत्व पनपा है जो पूरे शासन पर छाया रहता है। आधुनिक प्रतिनिधिमूलक लोकतन्त्र केवल एक मिथक है। विधायको अथवा सांसदो द्वारा जन-प्रतिनिधित्व का आदर्श दभपूर्ण है। जन-प्रतिनिधित्व के स्थान पर केवल कुछ एक व्यावसायिक हितो एव समूहो का हित सरक्षित किया जाता है। ऐसे लोकतांत्रिक उपकरण से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की कामना श्रीअरविन्द को रुचिकर प्रतीत नहीं हुई। बहुसख्यक दल का शासन व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा न कर उसे स्वार्थपूर्ति का साधन बनाता रहा है। राजनीतिक नेतृत्व ने जनसमूह को अपनी सकीर्णता के यंत्रीकरण से बाँध दिया है। वे लोकतन्त्र के इन दोषो के निवारण के लिए पुन सामूहिक जीवन को जागृत करना चाहते हैं। उन्हें आधुनिक लोकतन्त्र की केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति सर्वाधिक दोषयुक्त लगती है। उनके अनुसार राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण के स्थान पर विकेन्द्रीकरण की स्थापना कर लोकतन्त्र के दोषो से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।[35]

श्रीअरविन्द ने पश्चिम के उपयोगितावाद तथा पूंजीवाद की भी भर्त्सना की है। वे समाजवाद को व्यक्तिवाद, राष्ट्रवाद तथा विश्व-बन्धुत्व का प्रतीक मानते है। शोषित श्रमिकों को नवजीवन प्रदान करने मे समाजवाद का जो महत्व रहा है उसे श्रीअरविन्द ने सराहा है किन्तु वे समाजवादी विचारधारा मे सन्निहित राज्य शक्ति के केन्द्रीकरण के पक्ष मे नही है। वे समाजवाद के सामाजिक एव आर्थिक पक्ष का समर्थन करते हुए भी उसके सर्वाधिकारवादी पक्ष के समर्थक नही रहे। समाज का राजनीतिक एव सामाजिक पक्ष एकीकृत नही किये जाने चाहिए। वे सामाजिक एव राजनीतिक क्रियाकलाप को पृथक् पृथक् रखने के पक्षपाती हैं। समाजवाद व्यक्ति के सामाजिक क्रियाकलापो मे राजकीय हस्तक्षेप का मार्ग प्रशस्त करता है जिसे श्रीअरविन्द उचित नही मानते। वे समाजवाद के साम्राज्यवाद मे परिवर्तित होने की सभावना के प्रति भी समान रूप से चिंतित हैं। इसी प्रकार श्रीअरविन्द ने पूंजीवाद एव साम्यवाद मे सघर्ष की सभावना भी व्यक्त की है। द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् विश्व राजनीति के ध्रुवीकरण को ध्यान मे रखते हुए श्री अरविन्द ने यह व्यक्त किया कि अमेरिका की राष्ट्रवादी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति तथा रूस का शक्ति-प्रदर्शन दोनो मे पारस्परिक सघर्ष एव मनोमालिन्य का कारण बन सकता है। साथ ही साथ श्रीअरविन्द ने यह भी व्यक्त किया है कि सभवत साम्यवाद एव पूंजीवाद मे समझौता भी हो सकता है। समाजवादी राज्य मे पूंजी पर शासकीय नियन्त्रण एव राज्य द्वारा आर्थिक क्रियाकलाप का निदेशन एव नियन्त्रण राजकीय पूंजीवाद को जन्म देता है। अत पूंजीवाद के बदलते हुए स्वरूप का समाजवाद से एकाकार होना सम्भव है।

श्री अरविन्द ने साम्यवाद को मानवीय सभ्यता के विखडनकारी तत्व के रूप मे नही माना। वे साम्यवाद को पूंजीवादी समाज-विरोधी गतिविधियो का शत्रु अवश्य मानते हैं और वह उचित भी है। उनकी यह धारणा है कि विश्व मे पूर्ण साम्यवाद की कोई सभावना नही है। वे साम्यवाद के आधुनिक आदर्श को राज्य समाजवाद की ही सज्ञा देते हैं। उनके अनुसार समाजवाद तथा पूंजीवाद दोनो ही व्यवस्थाए विश्व मे बनी रहेंगी। केवल समाजवादी व्यवस्था ही समस्त विश्व पर छा जाय ऐसा आभास श्री अरविन्द के विचारो मे नही मिलता। श्री अरविन्द ने समाजवाद के सामाजिक बन्धुत्व तथा राजकीय नियन्त्रण को असगत बतलाया है। वे समाजवाद को आध्यात्मिक बन्धुत्व का सदेश देकर व्यक्तिवाद एव साम्यवाद मे समन्वय का स्वप्न देखते हैं। आत्मिक बन्धुत्व पर आधारित साम्यवाद ही मानव एकता एव मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।[36]

साम्राज्यवाद के उग्रतम विरोधी होने के कारण श्री अरविन्द ने प्रथम विश्वयुद्ध के समय प्रचारित राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को पूर्ण समर्थन प्रदान किया है। उनके अनुसार राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का नियम स्वतन्त्रता एव कानून का नया कीर्तिमान स्थापित करता है।[37] यह एक उच्चादर्श का प्रतीक है। इस विचार से प्रेरणा प्राप्त कर अतर्राष्ट्रीय एकता की स्थापना बलवती हो सकती है।[38] किन्तु श्री अरविन्द ने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को युद्ध एव क्रांति का पूर्ण शमनकर्ता नही माना। राज्यो की पारस्परिक कलह एव नियन्त्रण प्राप्त करने की नीति के कारण युद्ध एव साम्राज्यवाद को निर्मूल नही किया जा सकता। साम्राज्यवाद का अत करने के लिए विश्व-सगठन की स्थापना आवश्यक है। दो

स्तरों पर विश्व-संगठन की स्थापना सम्भव है। पहले स्तर पर स्वतंत्र राष्ट्रों को स्वयं संगठित होने की आवश्यकता है। इसके पश्चात् संगठित राष्ट्रों को पारस्परिक मतभेद एवं स्वार्थ मिटा कर अन्तर्राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण विकसित करना है। इन दोनों स्तरों को पार करके ही एक सच्चा सार्वभौम धर्म स्थापित हो सकता है जो मानवीय एकता का आदर्श स्थापित कर सके। राष्ट्रवाद मानवीय एकता की एक माध्यमिक इकाई है। राष्ट्रवाद से विश्व-एकता के आदर्श की ओर अग्रसर होना है। केवल राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक संगठनों की स्थापना मात्र से विश्व एकता अनुभूत नहीं होती। राष्ट्र-संघ अथवा संयुक्त राष्ट्र की स्थापना से मानवीय धर्म विकसित नहीं होगा। इसके लिए प्रयास किया जाना चाहिए। वर्गहित तथा राष्ट्रीय स्वार्थों को प्रेम एवं बन्धुत्व से जीतना है। मानवधर्म की स्थापना से ही मानव मात्र में एक ही आत्मा का बोध प्राप्त कर विभाजन परक स्वार्थ से मुक्ति मिल सकती है।[39]

किन्तु मानवधर्म की स्थापना की श्रीअरविन्द का आदर्श मानवतावाद से मेल नहीं खाता। वे बीसवीं शताब्दी के मानवतावादी आंदोलन के इस कथन को कि 'मानव ही सब वस्तुओं का नियामक है', स्वीकार नहीं करते। श्रीअरविन्द की वैचारिक योजना में मनुष्य अन्तिम तत्व नहीं है। मनुष्य का जो कुछ भी महत्त्व है वह इसी कारण से है कि वह ईश्वर की अभिव्यक्ति है। परमात्मा ने ही मनुष्य को महत्ता दी है अतः परमात्मा ही परम सत्य है।[40]

निष्कर्ष

श्रीअरविन्द ने भारत के आदर्शवादी चिंतन की परम्परा को नवीन ऊँचाई प्रदान की है। वे भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के अद्भुत व्याख्याकार के रूप में सदैव याद किये जाते रहेंगे। उनकी वैचारिक महत्ता इस कारण से भी मानी जाती है कि वे पूर्व तथा पश्चिम की नैतिक, आध्यात्मिक एवं सौन्दर्यमय परम्पराओं के महान समन्वयकर्त्ता थे। उनका धार्मिक एवं रहस्यवादी दृष्टिकोण मौलिक एवं मर्मस्पर्शी था। वेद, वेदान्त, उपनिषद्, गीता आदि पर उनके लेख, उनकी चमत्कारी शैली एवं मानवातीत ज्ञान के जीवंत प्रमाण हैं। उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों का सार सावित्री एवं दी लाइफ डिवाइन में प्रस्फुरण उतरा है। गीता के पश्चात् भारतीय रहस्यवादी साहित्य में यदि सावित्री को रखा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। श्रीअरविन्द ने इस ग्रंथ की रचना संस्कृत अथवा किसी भारतीय भाषा में की होती तो जन-मानस को इस ग्रंथ के रसास्वादन का अधिक आनंद प्राप्त होता। श्रीअरविन्द को स्वयं यह चुभन हमेशा बनी रही कि वे अंग्रेजी में ही अपना साहित्य-सृजन कर भारतीय जन साधारण तक नहीं पहुंच पाये। भारतीय जन-मानस पर उनका प्रभाव उनकी पत्रकारिता के माध्यम से अधिक पड़ा। बंगाल में नवचेतना के संदेशवाहक के रूप में उनका चिरस्मरणीय योगदान रहा। भारतीय राजनीतिक उग्रवादी चिंतन के वे प्रमुख स्तंभ थे।

राजनीतिक चिंतन की दृष्टि से श्रीअरविंद का योगदान राजनीति के आध्यात्मीकरण से जुड़ा हुआ है। वे राष्ट्रवाद, विश्व-एकता, मानव-स्वतंत्रता आदि के सफल व्याख्याकार थे। जीवन के पूर्वार्द्ध में श्रीअरविन्द ने राष्ट्रवाद, लोकतंत्र, समाजवाद, उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद, साम्यवाद आदि पर अपने उद्गार प्रकट किये, किन्तु जीवन के उत्तरार्द्ध में

उनकी कृतियाँ योग, दर्शन, रहस्यवाद एवं आध्यात्मिक चेतना से ओत प्रोत रहीं। एक महान् योगी के रूप में श्रीअरविन्द ने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में प्रवेश किया। वे महर्षि थे। उनकी आध्यात्मिक साधना तथा तपस्या ने उन्हें परमतत्व के साथ एकाकार कर दिया। किसी राजनीतिक चिंतक का ऐसा आत्मोत्कर्ष और कहीं उदाहरण के रूप में भी प्राप्य नहीं है।

श्रीअरविन्द ने राष्ट्रवाद को संकीर्ण वैचारिक वीथी से निकाल कर सार्वभौम सत्य दे उसे परिष्कृत किया। तपस्या, ज्ञान तथा शक्ति के साथ राष्ट्र का समन्वय कर उसे मानवीय एकता के शाश्वत मूल्यों के साथ जोड़ दिया। वे मानवमात्र में एकता एवं बन्धुत्व के दर्शन करते थे। 1907 में भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग प्रस्तुत कर उन्होंने सबको स्तंभित कर दिया। ऐसे समय में जब कि साम्राज्यवाद विश्व पर छाया हुआ था, श्रीअरविन्द ने मानवीय स्वतन्त्रता का उद्घोष कर फासीवाद, सर्वाधिकारवाद तथा तानाशाही को चुनौती दी। वे मानव को इतना ऊपर उठाना चाहते थे कि शोषण एवं परतन्त्रता उस न छू सकें। इस संदर्भ में मानवीय गरिमा के रक्षार्थ उन्होंने अपना 'अतिमानव' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनका यह सिद्धान्त नीत्से के अतिमानवीय स्वरूप से भिन्न था। जहाँ नीत्से ने सर्वभक्षी दानवीय अतिमानव की कल्पना की थी वहाँ श्रीअरविन्द का अतिमानव गीता के कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ मानव का सौम्य चित्रण था।[14] मानव की गरिमा को आध्यात्मिक तत्वों से अभिमंडित कर श्रीअरविन्द ने शोषण तथा यातनाओं के विरुद्ध नवीन वैचारिक क्रान्ति का शंखनाद किया था। □□

टिप्पणियाँ

1. शिशिर कुमार मित्र, श्री अरविन्दो एण्ड इण्डियन फ्रीडम, (श्री अरविन्दो लाइब्रेरी मद्रास, 1948) पृ 24
2. देखिये श्री अरविन्दो ऑन हिमसेल्फ एण्ड ऑन दी मदर, (श्री अरविन्दो आश्रम, पांडिचेरी, 1953) पृ. 81 तथा मनोज दास, श्री अरविन्दो इन दी फर्स्ट डेकेड ऑफ दी सेन्चुरी (श्री अरविन्दो आश्रम, पांडिचेरी, 1972) पृ. 24
3. श्रीनिवास आयंगर, श्री अरविन्दो, (आर्य पब्लिशिंग हाउस कलकत्ता 1945) पृ 12
4. श्री अरविन्दो, दी डॉक्ट्रीन ऑफ पैसिव रेजिस्टेन्स, (पांडिचेरी 1952) पृ 69-70
5. वही
6. स्पीचेज, (आर्य पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, 1922, प्रथम संस्करण) पृ 173-174
7. दी डॉक्ट्रीन ऑफ पैसिव रेजिस्टेन्स पृ 71
8. देखिये श्रीनिवास आयंगर, पृ. 168
9. श्री अरविन्दो, एसेज ऑन दी गीता, (कलकत्ता, 1949) खण्ड I पृ 96 तथा खण्ड II, पृ 312
10. दी डॉक्ट्रीन ऑफ पैसिव रेजिस्टेन्स, पृ 28-29, 62
11. श्री अरविन्दो, उत्तरपाड़ा स्पीच (आर्य पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता) पृ 20
12. वही, पृ 33-34
13. वही पृ 29-30
14. श्री अरविन्दो, दी आइडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी (श्री अरविन्दो बर्थ सेन्टेनरी लाइब्रेरी पांडिचेरी, 1971) पृ. 479

15. दी डोक्ट्रीन ऑफ पेसिव रेजिस्टेन्स, पृ 71
16. दी आइडियल ऑफ ह्यूमन युनीटी, पृ. 290
17. श्री अरविन्दो, दी ब्रेन ऑफ इण्डिया (आर्य पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, 1923) पृ. 10-11
18. श्री अरविन्दो, दी आइडियल ऑफ कर्मयोगिन (आर्य पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, 1921) पृ. 6-7
19. वही
20. स्पीचेज, पृ. 6, 18-19
21. देखिये करणसिंह, प्रोफेट ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म, (भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1970) पृ. 82-83
22. दी आइडियल ऑफ ह्यूमन युनीटी, पृ .226
23. वही, पृ. 124-125
24. श्री अरविन्दो, दी लाइफ डिवाइन, खण्ड II, (आर्य पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, 1941) पृ. 921
25. दी आइडियल ऑफ ह्यूमन युनीटी, पृ. 37
26. दी ह्यूमन साइकिल, पृ. 25-26
27. वही, पृ. 39
28 दी आइडियल ऑफ ह्यूमन युनीटी, पृ. 166
29. वही, पृ 166-167
30. देखिये हरिदास मुखर्जी एण्ड उमा मुखर्जी, श्री अरविन्दो एण्ड दी न्यू थॉट इन इण्डियन पोलिटिक्स, (फर्मा के. एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1964) पृ. 379-380
31. स्पीचेज, पृ. 141-145
32 दी डोक्ट्रीन ऑफ पेसिव रेजिस्टेन्स, पृ. 4-53
33. वही, पृ 63
34. देखिये मुखर्जी एण्ड मुखर्जी, पृ. 22-27
35. देखिये वी. पी. वर्मा, दी पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ श्री अरविन्दो, (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1960) पृ 310-320
36. वही, पृ. 333-345
37. श्री अरविन्दो, वार एण्ड सेल्फ डिटरमिनेशन, (सेन्टेनरी लायब्रेरी, पाण्डिचेरी, 1971) पृ. 603
38. वही, पृ 633
39. दी आइडियल ऑफ ह्यूमन युनीटी, पृ 362-369
40. दी ह्यूमन साइकिल, पृ. 78-79
41. श्री अरविन्दो, दी सुपरमेन, (कलकत्ता, 1944) पृ. 2-4, 81

अध्याय 22

रवीन्द्र नाथ ठाकुर (1861-1941)

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म कलकत्ता के एक सम्पन्न जमींदार परिवार मे 7 मई, 1861 को हुआ। उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर उपनिषदो के महान् विद्वान थे। बगाल की नवजाग्रति मे उनका अनुपम योगदान रहा। रवीन्द्रनाथ ने अपने बाल्यकाल मे राजा राममोहन राय के ब्रह्मसमाज-आदोलन,[1] बकिमचन्द्र चटर्जी के बगला-साहित्य, पाश्चात्य प्रभाव मे पली नव-सम्पन्न बगाली पीढी द्वारा प्राचीन मूल्यो के तिरस्कार का दृष्टिकोण आदि का अनुभव किया था। उनका स्वय का दृष्टिकोण पाश्चात्य एव पौर्वात्य के सम्मिश्रण का था। भारतीय नवजागरण के सदेशवाहक रवीन्द्र ने कला एव साहित्य के क्षेत्र मे अभिनव प्रयोग किये। उनका समन्वयकारी दर्शन जीवन की समस्त विधाओ—साहित्य, सगीत, चित्रकला, अर्थशास्त्र राजनीति, समाज-सुधार, शिक्षा, को ओतप्रोत करने वाला था। वे केवल कवि और सगीतज्ञ ही नही थे अपितु एक नाटककार, कहानीकार, चित्रकार अभिनेता, शिक्षाविद् तथा दार्शनिक के रूप मे भी सर्व प्रसिद्ध रहे। राजनीति से उनका सम्बन्ध क्षणिक रहा किंतु राजनीतिक विचारो मे उनकी मौलिकता प्रशसनीय थी। समाज सुधार के क्षेत्र म भी उनका योगदान कम महत्वपूर्ण नही कहा जा सकता। उनकी कार्य शैली भिन्न थी। भीड-भाड एव जन-समुदाय के नेतृत्व का प्रचलित प्रयोग उनके बस का नही था। वे एकान्त के साधक थे किन्तु उनके विचारो ने समाज के हर वर्ग को प्रभावित किया। भारत के महान् सपूतों मे से वे एक थे।

रवीन्द्रनाथ ने विश्वविद्यालय-शिक्षा कभी प्राप्त नही की। उनका विद्याभ्यास घर पर ही हुआ। वे पाठशाला भी भेजे गये किन्तु वहा वे प्राय अनुपस्थित ही रहते थे। वे मैट्रिक तक भी नही थे किन्तु बगला तथा अग्रेजी का उन्होंने जो अध्ययन किया उसी से वे महान् बन गये। मृत्यु पर्यन्त उनका लेखन कार्य चलता रहा। उनकी कृतियो का सकलन पूरे 10 खडो मे प्रकाशित हुआ। कविता, उपन्यास, नाटक तथा निबन्धो के अनेक सग्रह प्रकाशित हुए। उनकी अनेक अग्रेजी कृतियो मे से सर्वाधिक चर्चित एव विश्व प्रसिद्ध रचना गीतांजलि थी। इसी पर उन्हे 1913 मे नोबेल पुरस्कार भी प्राप्त हुआ।[2] यह उनकी बगला कविताओ का अग्रेजी अनुवाद था। वे प्रथम तथा अब तक अन्तिम भारतीय हैं जिन्हे साहित्य मे यह पुरस्कार प्राप्त हुआ है। इस पुरस्कार ने उन्हें विश्व प्रसिद्ध बना दिया। उनके आलोचक भी उनके प्रशसक बन गये। विश्वविद्यालयो द्वारा उन्हें उपाधियो से अलकृत करने की होड सी लग गयी। उन्हे विदेशो से व्याख्यान देने के निमन्त्रण प्राप्त होने लगे। वे अनेक बार विदेश-यात्रा पर गये और प्राय समस्त विश्व का भ्रमण किया। उन्हे भारत की ब्रिटिश सरकार ने 1915 मे 'सर' का खिताब दिया।

रवीन्द्रनाथ ने 1901 मे शान्ति निकेतन मे ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की। प्राचीन भारत की गुरुकुल व्यवस्था के अनुरूप उनका यह प्रयोग आरम्भ मे अनेक कठिनाइयो मे गुजरा। उनके आश्रम मे ईसाई तथा अंग्रेज अध्यापकों की नियुक्ति के कारण परम्परावादियो ने उनकी आलोचना की। नवीन विचारधारा वालो ने उनके प्रयोग को पुरातनवादी बतलाया। आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद उनका यह आश्रम सफलतापूर्वक चलता रहा। आगे चल कर यह विश्व-भारती मे रूपान्तरित हो गया और उसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व स्वीकार किया जाने लगा। विश्व के अनेक विद्वान् यहा शिक्षण के लिए आमन्त्रित किये गये। भारतीय संस्कृति का प्रकृति के निर्मल एव स्वच्छन्द वातावरण मे अनुशीलन इस संस्थान की विशेषता रही है।[3]

वैचारिक दृष्टि से रवीन्द्र परमेश्वर की सत्ता के उपासक थे। उपनिषदो के प्रभाव मे वे मानव के क्षणभगुर जीवन मे अविनाशी ईश्वर की शक्ति का दर्शन करते थे। मानव द्वारा जीवन के उच्चतम लक्ष्यों की प्राप्ति ही उसका अमरत्व माना गया। यह जिजीविषा रवीन्द्र की प्रेरणा थी। वे जनता का साधारण लौकिक जीवन से उठकर अलौकिक की ओर बढने के लिए आह्वान करते थे।[4] सकीर्णता तथा क्षुद्र भावुकता एव सासारिकता के मोहपाश से निकलना अनिवार्य था। जीवन मे एकाकीपन ही अन्तिम सत्य था। मृत्यु तथा जीवन के बीच मानव का कार्य क्षेत्र उनके द्वारा भलीभाति परखा गया था। वे ऋषितुल्य थे फिर भी लौकिक जीवन से दूर नही थे। भक्ति एव कर्म का अनुपम योग उनमे दिखाई देता था। महात्मा बुद्ध के उपदेशो, कबीर की अनासक्ति एव सत्यवाणी, वैष्णव सन्तों की निष्कपट भक्तिविह्वलता तथा बगाल के बाउल गायकों की हृदयस्पर्शी सगीत लहरों ने उनके अन्तर्मन को निर्मित किया था। वे अद्वैतवादी थे। मानवीय एकता तथा विश्व-कल्याण उनके अभीष्ट थे। प्रकृति तथा मानव को एकलय करना उनका उद्देश्य था। हिंसा से दूर, मानव-प्रेम पर समस्त सामाजिक, धार्मिक एव राजनीतिक विचारो को उन्होंने आधारित माना। आत्मा का परिष्कार ही उनका ध्येय एव सन्देश था। भारत के भावी भविष्य का आशाजनक चित्र उन्होंने प्रस्तुत किया था। विभिन्नता में एकता स्थापित करने की भारत की विशेषता से वे अधिक प्रभावित थे। समस्त धर्मों, जातियो एव रगो के व्यक्तियों का एकीकरण एव भ्रातृत्व रवीन्द्र का भावी स्वप्न था। भारत की सहिष्णुता, धर्मप्रियता तथा विदेशी तत्त्वों को आत्मसात् करने की अनूठी शक्ति ने उन्हे भारत की महानता एव उसकी भावी-भूमिका का ज्ञान कराया।[5] पूर्व तथा पश्चिम के मधुर सम्बन्धों के लिए भारत को ही प्रयास करना था। भारत एक महत्वपूर्ण सम्बन्धकारी तत्त्व था।

रवीन्द्र केवल मनीषी तथा एकान्तवासी चिन्तक-साधक ही नही थे। वे राजनीतिक प्रबुद्धता के सदेशवाहक भी थे। जीवन के प्रारम्भिक दिनों मे बगाल की राजनीतिक स्थिति ने उन्हे प्रभावित किया था। व राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थक थे किन्तु कांग्रेस की रीति-नीति उन्हे पसन्द नही थी। केवल दिखावे एव प्रस्ताव पारित करने वाली उदारवादियो की कांग्रेस ने उन्हें प्रभावित नही किया। वे कांग्रेस से अधिक रचनात्मक कार्यक्रम की उम्मीद करते थे। सैनिक शक्ति तथा सत्ता के आधार पर विदेशी शासन को अपनी बात मानने के लिए झुका देना उन्हें पसन्द था न कि याचना तथा

चाटुकारिता। यही कारण था कि 1898 के स्वतन्त्र भाषण पर प्रतिबन्ध लगाने वाले अधिनियम का उन्होंने खुल कर विरोध किया। वे राष्ट्रवादी देशभक्तों के कार्यों की सराहना करते थे। उग्रवादी कार्यक्रम की ओर उनका रुझान बंगाल तक ही सीमित नहीं था। तिलक की प्रथम गिरफ्तारी के समय उनके बचाव के लिए धन-संग्रह करने में उनका योगदान रहा। 1905 के बंग-भंग आन्दोलन में उनका सक्रिय सहयोग रहा। अपने ओजस्वी भाषणों, लेखों तथा प्रदर्शनों के द्वारा उन्होंने बंगाल की जनता को नई शक्ति प्रदान की। विपिन चन्द्र पाल के अनुसार बंग-भंग के विरोध में 'राखी-उत्सव' तथा कलकत्ता-विश्वविद्यालय की परीक्षाओं का बहिष्कार रवीन्द्र द्वारा प्रेरित थे।[6] वे शान्तिपूर्ण तरीकों से सरकार को बंगाल का विभाजन समाप्त करने के लिए बाध्य करना चाहते थे। किन्तु बंग-भंग-आन्दोलन के दौरान हिंसक प्रदर्शनों एवं घटनाओं से क्षुब्ध हो वे राजनीति से दूर हट गये और पुनः साहित्य-साधना में लीन हो गये। जालियांवाला बाग के नर-संहार ने उनके कवि हृदय को व्यथित कर दिया। उन्होंने शासन की इस क्रूर नीति के विरुद्ध अपना 'सर' का खिताब लौटा दिया। उनका यह कार्य साहसिक एवं देशभक्ति पूर्ण था। ऐसे समय में जब कि जनता का मनोबल ब्रिटिश शासन की कठोर नीतियों से गिर चुका था रवीन्द्र ने उन्हें आत्म-विश्वास का नया पाठ सिखाया।[7]

गांधीजी ने रवीन्द्र को 'गुरुदेव' कह कर सम्बोधित किया। वे जन जन की श्रद्धा के पात्र बन चुके थे। देश-विदेश का कोई भी ऐसा महान व्यक्ति नहीं था जो रवीन्द्र के दर्शनों के लिए लालायित न रहता हो। रवीन्द्र फासीवाद एवं सर्वाधिकारवाद के प्रबलतम विरोधी थे। उनकी रचनाएं फासीवादियों तथा नाजियों द्वारा जलाई गयीं। 1926 में लिथुआनिया की सरकार ने ठाकुर की रचनाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया। किन्तु वे अपने विरोधी स्वर को बनाये रहे। 1938 में जापान के प्रसिद्ध कवि योने नागूची को लिखे पत्र में उन्होंने जापान के साम्राज्यवाद की तीव्र भर्त्सना की। वे निर्बल देशों पर बलवान देशों द्वारा आधिपत्य किये जाने की भर्त्सना करते थे। जापान के एशियाई फासीवाद का रवीन्द्र ने तीव्रतम विरोध किया। जापान के प्रचार को भारत में रोकने के लिए किये गये प्रयत्नों में रवीन्द्र के विचारों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।[8]

रवीन्द्र ने इटली की सरकार के निमन्त्रण पर वहां की यात्रा की। मुसोलिनी ने उनकी काफी प्रशंसा की थी किन्तु जब रवीन्द्र को फासीवादियों की वास्तविकता का पता चला तो उन्होंने अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करना जीवन पर्यन्त जारी रखा। वे सोवियत रूस तथा अमेरिका की भी यात्रा कर चुके थे। विशेषतः रूस की यात्रा ने उन्हें काफी प्रभावित किया और यह भी ऐसे समय में जब स्टालिन वहां का सर्वेसर्वा था। 1937 में रवीन्द्र ने अफ्रीका की नीग्रो-प्रजातियों के प्रति संवेदना प्रकट की। वे अफ्रीका को पूर्व का शिशु मानते थे। वे एशिया तथा अफ्रीका के भावी मधुर सम्बन्धों का स्वप्न संजोए हुए थे। पश्चिमी देशों द्वारा अफ्रीका पर आधिपत्य स्थापित करने के विरुद्ध उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से रोष प्रकट किया।[9]

रवीन्द्र तथा आईन्स्टीन में एक बार पारस्परिक वार्तालाप भी हुआ। वार्तालाप यथार्थ की प्रकृति पर केन्द्रित हुआ तो रवीन्द्र ने मानवीय जगत् की अपनी अवधारणा प्रस्तुत की। सापेक्षवाद के प्रणेता ने मन्त्रमुग्ध होकर ब्रह्माण्ड की कवितामय व्याख्या सुनी। रवीन्द्र ने

कहा कि पदार्थ का निर्माण प्रोटोन्स तथा इलेक्ट्रोन्स से हुआ है। इन दोनों के मध्य रिक्तता है किन्तु पदार्थ ठोस दिखाई देता है। इसी प्रकार से मानवता व्यक्तियों द्वारा निर्मित है फिर भी मानवीय सम्बन्धों में परस्पर अन्तर्सम्बन्ध है जो कि मानव-विश्व को जीवन्त दृढ़ता प्रदान करता है। सारा ब्रह्माण्ड भी इसी तरह हम से जुड़ा हुआ है, यह मानवीय ब्रह्माण्ड है। रवीन्द्र ने यह भी व्यक्त किया कि वे कला, साहित्य तथा मानव की धार्मिक चेतना के माध्यम से इन विचार का अनुसरण कर रहे थे। वे इसे सत्य तथा सुन्दरम् मानते थे।[10]

7 अगस्त 1940 को ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने शांति निकेतन में रवीन्द्र को डाक्टर ऑफ लेटर्स की उपाधि से सम्मानित किया। लेटिन भाषा में उनकी प्रशस्ति पढ़ी गयी। रवीन्द्र ने इस प्रशस्ति का उत्तर संस्कृत में दिया। उनके लिए पढ़ी गयी प्रशस्ति में कहा गया कि रवीन्द्र का जीवन केवल साहित्य-साधना के एकाकी वातावरण का ही प्रतीक नहीं था। वे अवसर आने पर जनता के मध्य उपस्थित हुए और मानवता के विरुद्ध किये गये कार्यों की भर्त्सना की। उन्होंने ब्रिटिश राज को भी आड़े हाथों लिया और ब्रिटिश प्रशासन के न्यायकर्त्ताओं के बुरे कार्यों की आलोचना की। वे अपने देशवासियों की त्रुटियों के भी आलोचक रहे। वे जन सामान्य की स्वतन्त्रता के रक्षक रहे हैं। रवीन्द्र ने अपने संस्कृत भाषी उत्तर में व्यक्त किया कि ऐसे समय में जबकि विश्व में भयानक संघर्ष छिड़ा हुआ है और विज्ञान ने युद्ध की विभीषिका को तीव्र कर दिया है, विश्व-व्यापी सम्बन्धों की बात करना कवि की उड़ान जैसा लगता है। किन्तु समय की हिंसा भयावह होते हुए भी किसी दिन समाप्त होने वाली है और अन्त में मानव-सभ्यता का विकास पुन लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होना दिखाई देगा। द्वितीय विश्व युद्ध के समय लेटिन तथा संस्कृत भाषा का यह संगम पूर्व तथा पश्चिम की एकता के सार्वभौमिक सत्य का साक्षी था।[11]

इस अवसर पर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व करने वाले सर मॉरिस ग्वायर ने कहा कि रवीन्द्र मानवीय स्वतन्त्रता के प्रतीक हैं। वे फासीवाद तथा नाजीवाद के सर्वाधिकारवादी तन्त्र के कटु आलोचक रहे हैं। मानवीय आत्मा की स्वतन्त्रता के वे समर्थक हैं।

लम्बे समय तक साहित्य-साधना एवं शिक्षण के अभिनव प्रयोगों द्वारा वे देश की सेवा करते रहे। वे प्रकृति-चित्रण के महानतम साहित्यकार थे।[12] अनेक पारिवारिक विपत्तियों को सहर्ष झेलते हुए उनकी लेखनी सतत चलती रही।[13] 1941 में उनका स्वर्गवास हुआ। भारत को "जन-गण मन अधिनायक जय है" का राष्ट्रगीत कवीन्द्र रवीन्द्र ने ही दिया है।

रवीन्द्र के राजनीतिक विचार

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के राजनीतिक विचार कुछ सीमा तक भारत के उग्रवादियों से साम्य रखते हैं। वे अन्याय एवं दमन के विरोधी थे। दासता तथा असमानवीयता उन्हें स्वीकार नहीं थी। स्वतन्त्रता एव स्वच्छन्दता के उन्मुक्त वातावरण में बीता उनका शैशव विदेशी शासन के कठोर शिकंजे से मुक्त होने की प्रेरणा देता था। उन्हें पूर्णतया उग्रवादियों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि वे यूरोपीय उदारवाद से अत्यधिक प्रभावित थे। किन्तु इतना अवश्य है कि भारत के उदारवादी विचारकों के कार्यक्रम से उन्हें सहानुभूति नहीं थी। वे उदारवादियों की याचना एव प्रार्थनाओं की नीति के विरोधी रहे। राजनीतिक भिक्षावृत्ति को वे बुरा समझते थे। उनका यह दृष्टिकोण था कि सर्वधानिक

आन्दोलन चलाने मात्र से स्वशासन प्राप्त नहीं होगा। अधिकारों की माग करने मात्र से अधिकार प्राप्त नहीं होंगे। हठधर्मी विदेशी शासन से स्वतन्त्रता की आशा करना व्यर्थ था। वे परोक्ष रूप में असहयोग एवं दृढ़ राजनीतिक कार्यक्रम के पक्षपाती थे। वे स्वदेशी तथा बहिष्कार की प्रतिमूर्ति थे। केवल राजनीतिक आन्दोलन तक ही वे अपने विचार सीमित नहीं करना चाहते थे। उनका दृष्टिकोण व्यापक था और वे राजनीतिक कार्य के साथ ठोस रचनात्मक कार्य भी करना चाहते थे। उनके रचनात्मक काम का आधार समाज की विगलित मान्यताओं एवं रूढ़ियों को समाप्त कर देना था। हमारी सामाजिक व्यवस्था के वे अंश जो मानव-गरिमा के प्रतिकूल अस्पृश्यता तथा ऊंचनीच का भेद-भाव दर्शाते थे उनसे वे जूझना चाहते थे। भारत के निवासियों में समान चेतना तथा आत्मविश्वास का जागरण करना उनका ध्येय था। इसकी प्राप्ति के लिए ही वे अधिक क्रियाशील रहे क्योंकि उनकी दृष्टि में हमारी आन्तरिक कमजोरियाँ ही हमारी दासता के लिए उत्तरदायी रही थी। उन कमजोरियों को दूर करके ही हम पुनः अपनी खोयी हुई स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते थे।[14]

रवीन्द्र राज्य के दमनकारी स्वरूप से घृणा करते थे। वे सीमित राज्य-व्यवस्था के पक्षपाती थे। सरकार का कार्य व्यक्तियों के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना था। वे नहीं चाहते थे कि सरकार 'माई-बाप' बन जाय। राज्य तथा समाज के अन्तर को स्पष्टतः प्रारम्भ करके रवीन्द्र ने सामाजिक दायित्व को विस्तृत करने का सुझाव दिया। वे राज्य को समाज की तुलना में अधिक शक्तिसम्पन्न अथवा नियन्त्रणकारी नहीं बनने देना चाहते थे। व्यक्ति द्वारा अपने हितकारी एवं सुविधामूलक कार्यों को किया जाना चाहिए। व्यक्ति का कार्यक्षेत्र व्यापक होगा तभी राज्य पर व्यक्ति की निर्भरता कम होगी। समाज द्वारा स्वीकृत एवं प्रस्तुत क्षेत्राधिकार ही राज्य के लिए उपयुक्त था। वे इस प्रकार सीमित राज्य के समर्थक थे। समाज उनके राजनीतिक विचारों का मूलाधार था। इस सन्दर्भ में स्वयं रवीन्द्र ने बोलपुर में अपनी जमींदारी के क्षेत्र में स्वयंशासी व्यवस्था स्थापित करने का प्रयोग किया था। वे ग्रामीण संगठनों के माध्यम से स्थानीय स्तर पर समस्त प्रशासनिक एवं न्यायिक कार्यों की अनुभूति चाहते थे। पंचायती राज-व्यवस्था का एक सुन्दर एवं सजीव प्रयोग उन्होंने किया था। वे आजकल की सामुदायिक विकास योजना तथा सहकारिता के पूर्वद्रष्टा माने जा सकते हैं।

वे भारत की प्राचीन राजनीतिक संस्थाओं को प्रमाण मानते हुए यह सिद्ध करना चाहते थे कि शासक तथा शासित के सम्बन्धों में शासक समाज के नियमों से समक्ष अपने आप को आबद्ध एवं सीमित मानता था। समाज को व्यक्तियों के योगक्षेम का उत्तरदायित्व सौंपा गया था। वे भारतीय समाज के इस पुरातन महत्त्व को पुनर्स्थापित करने के इच्छुक थे। उनकी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा भी इसी विचार पर आधारित थी। वे मानवीय आत्मा के परमात्मा में विलीनीकरण को ही सच्ची स्वतन्त्रता मानते थे।[15] व्यक्ति की यह स्वतन्त्रता समष्टिरूप में समाज के लिए भी आवश्यक थी। वे केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता के पक्षधर नहीं थे। वे मानवीय स्वतन्त्रता को अधिक महत्त्व देते थे। समाज के लिए चिन्तन, स्वतन्त्र क्रिया-कलाप एवं आत्म-विकास की स्वतन्त्रता चाहते थे, ऐसी स्वतन्त्रता जो समस्त कृत्रिम बन्धनों से समाप्त कर मानव की नैसर्गिक प्रतिभा को मुखरित करने का अवसर प्रदान करे। वे राजनीतिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता

का दायरा सीमित मानते थे। मानव मानव के परस्पर मधुर सम्बन्धों की स्थापना अत्यन्त व्यापक विचार था। राजनीतिक स्वतन्त्रता की माग राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की पृष्ठपोषक हो सकती थी किन्तु मानवीय स्वतन्त्रता को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के निमित्त न्यौछावर नहीं किया जाना चाहिए था। जब तक मानव स्वतन्त्रता की आत्म-प्रेरित दिशा का स्वयं बोध न कर ले तब तक वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के महत्व को आत्मसात् नहीं कर सकता। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता मानव के विचारों को सकुचित करती है। वह राष्ट्र के नाम पर अन्य राष्ट्रीयताओं को हेय तथा महत्वहीन समझने तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को पैदा करने वाली हो सकती है। मानवीय स्वतन्त्रता का उद्देश राष्ट्र की सीमाओं को समाप्त कर विश्व व्यापी मानव-बन्धुत्व एवं एकता का मार्ग है।

रवीन्द्र सकीर्ण राष्ट्रवाद के आलोचक थे। राष्ट्रवाद जनित-सकीर्णता मानव प्रकृति के स्वच्छन्द एवं आध्यात्मिक विकास के मार्ग में बाधा थी। वे राष्ट्रवाद को युद्धोन्मादवर्धक एवं समाजविरोधी मानते थे। राष्ट्रवाद के नाम पर राज्यशक्ति का अनियन्त्रित प्रयोग अनेक अपराधों का कारण था। व्यक्ति को राष्ट्र के प्रति समर्पित कर देना उन्हें स्वीकार नहीं था। राष्ट्र के नाम पर मानव-सहार तथा मानवीय सगठनों का सचालन उनके लिए असह्य था। मानव की सहिष्णुता तथा उसमें नैतिकता जन्य परमार्थ की भावना राष्ट्र की स्वार्थ-परायणता की नीति के अन्तर्गत समाप्त प्राय हो जायगी। ऐसे अप्राकृतिक एवं अमानवीय विचार पर राजनीतिक जीवन को आधारित करने का अर्थ सर्वनाश ही होगा। रवीन्द्र ने राष्ट्र की धारणा को विश्व-व्यापी स्तर पर अमान्य करने का आग्रह किया था। वे भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन के राजनीतिक स्वतन्त्रता-सम्बन्धी पक्ष के आलोचक थे क्योंकि उनका यह विश्वास था कि भारत इससे शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। भारत को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। आर्थिक प्रगति में भारत चाहे पिछड़ा हुआ हो किन्तु मानवीय मूल्यों में पिछड़ापन उसमें नहीं होना चाहिए। निर्धन भारत भी विश्व का मार्गदर्शन कर मानवीय एकता के आदर्श को प्राप्त कर सकता है। भारत का अतीत इतिहास यह सिद्ध करता है कि भौतिक सम्पन्नता की चिन्ता न कर भारत ने आध्यात्मिक चेतना का सफलतापूर्वक प्रचार किया है। रवीन्द्र ने नव-युग की नवीन निर्माणक क्षमता को दृष्टि में रख कर राष्ट्रवाद का विरोध किया।

अपने राष्ट्र सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन करते हुए रवीन्द्र ने व्यक्त किया कि भारत में राष्ट्रवाद नहीं के बराबर है। भारत में यूरोप सदृश राष्ट्रवाद नहीं पनप सकता। सामाजिक कार्यों में रूढ़िवादिता का पालन करने वाले यदि राष्ट्रवाद की बातें करते हों तो राष्ट्रवाद कहाँ से प्रसारित होगा। वे भारत के राष्ट्रवादी विचारकों के उस उदाहरण को जिसमें वे स्विट्ज़रलैण्ड को बहुभाषी एवं बहुजातीय होते हुए भी राष्ट्र का अनुकरणीय प्रतिरूप मानते थे और भारत को उसी के अनुरूप राष्ट्र मानते थे उचित नहीं ठहराया। रवीन्द्र का यह विचार था कि स्विट्ज़रलैंड तथा भारत में अनेक अन्तर एवं भिन्नताएं हैं। वहाँ व्यक्तियों में जातीय भेद-भाव नहीं है और वे आपस में मेलजोल रखते हैं तथा अन्तर्विवाह करते हैं क्योंकि वे एक ही रक्त के हैं। भारत में जन्माधिकार समान नहीं है। जातीय विभिन्नता तथा पारस्परिक भेद-भाव के कारण भारत में उस

प्रकार की राजनीतिक एकता की स्थापना कठिन दिखाई देती है जैसी एक राष्ट्र के लिए आवश्यक है। समाज द्वारा बहिष्कृत होने का भय भारतीय को डरपोक तथा कायर बना देता है। खान-पान की जहां स्वतन्त्रता न हो वहां राजनीतिक स्वतन्त्रता का अर्थ कुछ व्यक्तियों पर शासन ही कहा जायगा। निरकुशता ही शासन का प्रकार बनेगी और राजनीतिक जीवन मे विरोध अथवा मतभेद रखने वाले का जीवन दूभर हो जायगा। क्या ऐसी नाममात्र की स्वतन्त्रता के लिए हम अपनी नैतिक स्वतन्त्रता को तिलाजलि दे दें ?

रवीन्द्र ने 1917 मे अपने लेख 'नेशनलिज्म इन दी वेस्ट' मे यह प्रकट किया कि राष्ट्रवाद का राजनीतिक एव आर्थिक सगठनात्मक आधार उत्पादन मे वृद्धि तथा मानवीय श्रम की बचत कर अधिक सम्पन्नता प्राप्त करने का यान्त्रिक प्रयास है। राष्ट्रवाद की धारणा विज्ञापन तथा अन्य सगठनो का लाभ उठाकर राष्ट्र की समृद्धि एव राजनीतिक शक्ति मे अभिवृद्धि करने मे प्रयुक्त हुई है। शक्ति की वृद्धि ने राष्ट्रो मे पारस्परिक द्वेष, घृणा तथा भय का वातावरण उत्पन्न कर मानव जीवन को अस्थिर एव असुरक्षित बना दिया है। शक्ति की यह लालसा जीवन के साथ खिलवाड है क्योकि शक्ति का प्रयोग बाह्य सम्बन्धो के साथ-साथ राष्ट्र की आन्तरिक स्थिति को नियन्त्रित करने मे भी होता है। ऐसी परिस्थिति मे समाज पर नियन्त्रण बढना स्वाभाविक है। राष्ट्र समाज तथा व्यक्तिगत जीवन पर छा जाता है और एक भयावह नियन्त्रणकारी स्वरूप प्राप्त कर लेता है।[16] रवीन्द्र ने इसी आधार पर राष्ट्रवाद की आलोचना की है। वे राष्ट्र के विचार को जनता के स्वार्थ का ऐसा सगठित रूप मानते है जिसमे मानवीयता तथा आत्म तत्त्व लेश मात्र भी नही रहता। दुर्बल एव असगठित पडोसी राज्यो पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयास राष्ट्रवाद का ही प्रतिफल है।[17] यह साम्राज्यवाद अन्तत मानवता का सहारक बनता है। राष्ट्र को शक्ति मे वृद्धि अनियन्त्रित है। इसके विस्तार की कोई सीमा नही है। किन्तु उसकी शक्ति मे ही उसके विनाश के बीज उपलब्ध है। राष्ट्रो का पारस्परिक सघर्ष जब विश्व व्यापी युद्ध का रूप धारण कर लेता है तब उसकी सहारकता के सामने सब कुछ नष्ट हो जाता है। यह निर्माण का मार्ग न होकर विनाश का मार्ग है।[18] मानव-प्रेम एव एकता के स्थान पर मानव-जाति मे वैमनस्य तथा स्वार्थ उत्पन्न करने की राष्ट्रवादी धारणा का विरोध रवीन्द्र का सदैव स्मरणीय योगदान है।

रवीन्द्रनाथ के विचारो मे लोकतन्त्र की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। वे लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के सर्वहितकारी पक्ष का जीवन भर अपनी लेखनी से निर्वाह करते रहे। वे सर्वजनसुखाय एव सर्वजनहिताय राजनीतिक व्यवस्था के समर्थक होते हुए भी समतावादी नही थे। मानव समुदाय मे समानता न तो है और न लायी जा सकती है अत वे समता के स्थान पर अवसर की समानता मे अधिक विश्वास प्रकट करते थे। वे मानव असमानता को नैसर्गिक मानते थे। प्रकृति ने मानव मे विभिन्न योग्यताओ तथा क्षमताओ का ऐसा प्राकृतिक अन्तर उत्पन्न किया है कि उसे शिक्षा द्वारा भी दूर नही किया जा सकता। असमानता के निवारण के स्थान पर व्यक्तियो मे प्राप्त नैसर्गिक प्रतिभा को उभारने तथा विकसित करने का उन्हे पूर्ण अवसर प्राप्त होने चाहिए।

रवीन्द्र प्राकृतिक अधिकारो समर्थक सिद्धान्त के अधिक निकट दिखाई देते है। वे

प्रत्येक देश के स्वतन्त्र बने रहने के प्राकृतिक अधिकार को मानते हैं। भारत द्वारा आत्म-निर्णय की क्षमता प्राप्त करना भी वे इसी सिद्धान्त के अनुसार उचित ठहराते हैं। वे सेवा-धर्म को ही स्वतन्त्रता मानते थे। कर्त्तव्य करने से ही अधिकारों की प्राप्ति होती है। यह ईश्वरीय विधान है कि हम देश की सेवा के लिए तत्पर रहते हैं, आत्म-प्रेरणा हमें कर्तव्य के लिए बाध्य करती है। केवल अधिकारों की कामना मात्र से अथवा उनकी वैधिक प्राप्ति से राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती। प्रथम कर्त्तव्य है उसके पश्चात अधिकार। यदि देश की सेवा का व्रत पूर्णतया निभाया जाय तो अधिकारों की प्राप्ति स्वतः अनुभव होने लगेगी। भारत की सेवा करने के पुनीत कर्त्तव्य से विचलित नहीं होना चाहिए। देश निर्माण के कार्य में निरन्तर व्यस्त रहने की आवश्यकता है। इस कार्य को यदि ब्रिटिश हुकूमत रोकना चाहे तब भी नहीं रोक सकती। यदि हम सेवा करने के इस अधिकार का प्रयोग न करें तो दोष किसे देंगे। इस प्रकार से सेवा करने के प्राकृतिक अधिकार को ही रवीन्द्र ने विशेष महत्व दिया। उनका अधिकार विषयक दृष्टिकोण लोकतन्त्र सम्बन्धी व्याख्या के सन्दर्भ में अधिक सापेक्ष एवं सार्थक है। वे लोकतान्त्रिक पद्धति की थोथी समानता को स्वीकार न कर, मानव मानव में स्वार्थ, लालच तथा अहमन्यता को समाप्त करना चाहते हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था का कतिपय हाथों में संकुचन तथा नेतृत्व द्वारा अपनी स्वार्थ सिद्धि का प्रयोग उन्हें पसन्द नहीं था। वे चाहते थे कि जनता में सही चेतना जागृत हो और वह संगठित होकर अपनी शक्ति का स्वयं बोध कर सके। प्रेम तथा सेवा द्वारा ही मानव-समाज में शोषण समाप्त हो सकता है। वे ऐसा सामाजिक पुनर्निर्माण चाहते थे जिसमें व्यक्ति अपनी क्षुद्र आकांक्षाओं को समाजहित में नियन्त्रित कर सके। शक्ति का मनमाना प्रयोग जनहित के लिए घातक मानते हुए रवीन्द्र ने सच्चे लोकतान्त्रिक व्यक्ति के निर्माण पर बल दिया। उनकी यह धारणा विश्व-भ्रमण के पश्चात् और भी दृढ़ हो गयी। वे रूस तथा अमेरिका दोनों ही देशों की राजनीतिक स्थितियों को स्वयं देखकर आये थे। यही कारण था कि वे वर्ग-चेतना जागृत करने के स्थान पर मानव-कल्याण की विश्व-चेतना का विकास करना चाहते थे। वर्गभेद तथा वर्ग-संघर्ष द्वारा सामाजिक परिवर्तन अथवा विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा सत्ता के लिए संघर्ष दोनों ही विकल्प उन्हें स्वीकार्य नहीं थे। वे सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए अलग ही मार्ग चुनना चाहते थे और वह था मानववादी व्यवस्था का मार्ग जिसमें निर्धन की स्थिति को सुधारने के लिए समृद्ध द्वारा सेवा अर्पित की जाय, जहाँ ग्रामीण अंचलों को विकसित करने के लिए स्वयं-सेवा की जाय। वे हिंसा द्वारा किसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना को स्वीकार नहीं करते थे। उनके कवि हृदय में निर्धन एवं असहाय के लिए विशेष स्थान था और इसी कारण वे दरिद्रनारायण की सेवा को महत्त्वपूर्ण मानते थे।

रवीन्द्र ने भारत की विभिन्न धार्मिक इकाइयों में सामंजस्य एवं मेल-जोल बढ़ाने का मार्ग-प्रशस्त किया। अल्प संख्यकों को देश की मुख्य धारा में एकीकृत करना चाहते थे। साम्प्रदायिकता के वे कट्टर विरोधी थे। बंगाल-विभाजन के समय मुसलमानों द्वारा हिंसात्मक कार्य किये जाने का उन्होंने प्रबल विरोध किया था। वे मुस्लिम अल्पसंख्यकों की धार्मिक प्रवृत्ति के विरोधी नहीं थे। हिन्दू और मुसलमानों की धार्मिक पृथकता स्वतः स्पष्ट थी किन्तु उनकी यह धार्मिक प्रवृत्ति दोनों ही सम्प्रदायों में मनोमालिन्य उत्पन्न करने

के लिए उत्तरदायी नहीं ठहरायी जा सकती थी। पारस्परिक वैमनस्य का कारण धर्म न होकर धर्म के साथ जोड़े गये अयुक्तिसंगत सामाजिक रीति-रिवाज थे। बदलती हुई परिस्थितियों के साथ धार्मिक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आवश्यक था। रवीन्द्र चाहते थे कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों मिलकर सद्भाव का वातावरण तैयार करें और भारत के निर्माण में अपना समान योगदान दें। वे भारत में सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदान प्रदान एवं समन्वय का ऐसा वातावरण चाहते थे जिससे जातीय एवं धार्मिक वैमनस्य कम हो सके तथा साम्प्रदायिकता का अन्त हो सके। मुसलमानों की पृथक्तावादी नीति इस कार्य में बाधक थी।

रवीन्द्र ने प्रारम्भ में (बंग-भंग के समय) असहयोग एवं बहिष्कार की नीति का समर्थन किया था। किन्तु गांधीजी के असहयोग एवं बहिष्कार-आन्दोलन के वे आलोचक बन गये। शिक्षण-संस्थाओं, न्यायालयों तथा विधानमण्डलों आदि का बहिष्कार जैसा कि गांधीजी चाहते थे रवीन्द्र को असृजनात्मक एवं नकारात्मक कार्यक्रम प्रतीत हुआ। उनमें गांधीजी की निष्ठा, सत्यप्रियता, सादगी तथा आध्यात्मिकता के प्रति गहरी आस्था थी किन्तु वे गांधीजी के असहयोग आन्दोलन को प्रलयंकर मानते थे। इतने व्यापक पैमाने पर असहयोग का कार्य ब्रिटिश शासन के साथ साथ हमारे अन्य देशों के प्रति दृष्टिकोण को भी असहृद एवं विरोधी बना सकता था। विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार की आग प्रत्येक विदेशी वस्तु एवं विचार के बहिष्कार तक फैल सकती थी। ऐसी असहिष्णुता भारत के अन्य देशों के साथ सम्बन्धों तथा पूर्व-पश्चिम की संस्कृतियों के मिलन में बाधक बन सकती थी। रवीन्द्र ने जीवन पर्यन्त प्रयास कर शान्तिनिकेतन, श्री निकेतन तथा विश्व-भारती की स्थापना की थी। अब वे गांधीजी को सहयोग देकर अपने रचनात्मक कार्य से हटना नहीं चाहते थे। उन्हें गांधीजी के आर्थिक कार्यक्रम तथा उनकी चरखे की अर्थव्यवस्था के प्रति आस्था नहीं थी। वे स्वराज को घृणा द्वारा प्राप्त करने के इच्छुक नहीं थे। वे गांधीजी के आध्यात्मिक प्रयोगों एवं अहिंसा तथा सत्य के प्रति उनकी नैतिक निष्ठा को राजनीति के घिनोने वातावरण में प्रविष्ट होते देख उद्वेलित थे। गांधीजी जैसे व्यक्तित्व का सामाजिक सेवा में स्थान था, न कि राजनीति में। रवीन्द्र ने इसी कारण से गांधीजी के राजनीतिक कार्यक्रम को स्वीकार नहीं किया। रविन्द्र की भावुकता एवं कोमल कल्पना गांधीजी के राजनीतिक प्रयासों की वास्तविक गहराई तक नहीं पहुंच सकी। रवीन्द्र तथा गांधीजी में उतना ही वैचारिक भेद था जितना कि कल्पना तथा यथार्थ में हो सकता है। रवीन्द्र राजनीतिक यथार्थ से दूर कल्पनालोक में विचरण करने वाले मनस्वी थे। गांधीजी जन-आन्दोलन के अगुवा तथा भूखी और नंगी मानवता के उद्धारक थे। रवीन्द्र की संगीत-लहरी आत्मिक सुख की पूरक थी जबकि गांधीजी करोड़ों जन की उदरपूर्ति का मार्ग ढूंढ रहे थे।

रवीन्द्र ने गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन की पद्धति तथा उसके लक्ष्य की आलोचना करते हुए यह व्यक्त किया कि भारत की समस्याएं सामाजिक हैं, न कि राजनीतिक। सामाजिक समस्याओं का हल सामाजिक रीतियों से ही प्राप्त किया जा सकता है। भारत ने अतीत में प्रजातीय समस्याओं का सुन्दर हल प्राप्त कर विश्व की विभिन्न संस्कृतियों में सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। भारत का मार्ग सहयोग का रहा

है। असहयोग-आन्दोलन तिरस्कार तथा बहिष्कार पर आधारित होने के कारण मान्य नहीं हो सकता। रवीन्द्र ने इस सन्दर्भ में यह भी व्यक्त किया कि "स्वराज" हमारा लक्ष्य नहीं है। हमारा संघर्ष आध्यात्मिक संघर्ष है। यह मानव के लिए किया जाने वाला संघर्ष है। हमें मानव को मानवकृत जाल से, जो कि राष्ट्रीय स्वार्थ के रूप में विद्यमान है, मुक्त करना है। असहयोग-आन्दोलन अतार्किक धारणा के अन्धानुसरण पर आधारित है। यह भीड़ के मनोविज्ञान की आड़ में शोषण का मार्ग प्रशस्त करता है। "स्वराज" को केवल प्रचार के साधन के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। साम्प्रदायिक एकता की स्थापना का सुगम मार्ग प्रस्तुत करना भुलावा मात्र है। वे गांधीजी द्वारा पाश्चात्य शिक्षा की आलोचना को भी निरर्थक बतलाते थे।

रवीन्द्र की यह धारणा थी कि भारतीयों के अंग्रेजों के चरित्र में विश्वास के कारण ही उनमें भारत के प्रशासन में बराबर का हिस्सा मांगने का साहस जागृत हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी में जब कि इंग्लैंड का साम्राज्य अपनी चरम उन्नति पर था भारत को स्वशासन एवं स्वतन्त्रता का सन्देश प्राप्त हुआ। मत्सेनी, गैरीबाल्डी तथा ग्लैडस्टन भारतीयों की प्रेरणा का स्रोत बने। फ्रांस की राज्य-क्रांति के पश्चात् अमेरिका द्वारा नीग्रो लोगों को अधिकार दिये जाने का प्रयास एक नयी प्रेरणा का जनक था।[19] समय ने पलटा खाया और बीसवीं शताब्दी में इंग्लैंड की स्थिति जर्जरित होने लगी। फिर भी यूरोप ने एशिया को नयी राह दिखाई, भ्रमरहित विवेक तथा व्यावहारिक कार्यों के लिए उसे प्रेरित किया। हमारा दृष्टिकोण अन्ध विश्वास से हटकर वैज्ञानिक सत्यता की ओर मुड़ा। आत्म-विश्वास की भावना जागृत हुई। यदि इन पाश्चात्य प्रभावों में भारत आगे नहीं बढ़ा होता तो आज भारत की स्थिति उतनी ही दयनीय होती जैसी अंग्रेजों के आगमन के पहले विदेशी शासकों के अन्तर्गत रही। यह अंग्रेजी शासन का ही परिणाम था कि हम शासन कार्य में बराबर का हिस्सा मांगने लगे। यदि किसी अन्य शासन की बात होती तो इस तरह की कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। भारत के पूर्व शासकों ने जो कुछ जनहित में किया वह जनता पर दया तथा अनुग्रह दिखाने के लिए किया था। उनसे कुछ मांगने का दुःसाहस कौन कर सकता था किन्तु अंग्रेजों ने हमें ऐसी स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया कि हम सामान्य आचार-शास्त्र की दलील देकर उनसे अधिकारों की मांग करने लगे।[20] रवीन्द्र के विचारों का यह पक्ष इस बात की ओर इंगित करता है कि वे भारत में अंग्रेजी शासन तथा पाश्चात्य प्रभाव के रचनात्मक पक्ष के प्रशंसक थे। यद्यपि उनके विचार उदारवादियों जैसे नहीं रहे और न वे प्रार्थना एवं याचिकाओं की नीति के पक्षपाती थे फिर भी उनके हृदय में अंग्रेजी शासन के प्रति गहरी श्रद्धा थी। भारत में नव जागृति तथा अंधविश्वास एवं रूढ़िवादिता को दूर करने में अंग्रेजी शासन के योगदान का सही मूल्यांकन उन्होंने किया। उनकी देशभक्ति इस सत्य की स्वीकारोक्ति में बाधक नहीं थी।

एशिया में नव-जागरण का रवीन्द्र ने स्वागत किया। उन्हें जापान के उद्भव से प्रसन्नता हुई थी। तब तक जापान द्वितीय विश्वयुद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था। जापान का उदाहरण उन्हें इसलिए भी रुचिकर लगता था कि जापानियों ने पश्चिम के साथ संघर्ष तथा सामंजस्य दोनों ही स्थितियाँ देखी थी। जापान ने यह दर्शाया कि वह कैसे पुरानी मान्यताओं को समाप्त कर वर्तमान में जीना जानता है। 1933 में रवीन्द्र ने अनुभव

किया कि भारत भी जापान की तरह आत्मनिर्णय की प्रतीक्षा करता रहा तथा प्रगति के लिए उत्कण्ठा लिये रहा किन्तु भारत की अंग्रेजी सत्ता ने मार्ग अवरुद्ध कर दिया। भारत प्रगति चाहते हुए भी आगे नहीं बढ़ सका। लम्बे समय तक प्रतीक्षा करने के बाद भी लक्ष्य उतना ही दूर प्रतीत होता है। भारत में अंग्रेजी शासन केवल कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिए चिन्तित है। नियमों तथा आदेशों के माध्यम से सामयिक परिवर्तन पर्याप्त नहीं है। शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्र में किये कार्य देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने लायक नहीं है। जनता के जीविकोपार्जन के मार्ग सीमित हैं। भारत की सम्पदा को कानून और व्यवस्था रखने वाली यान्त्रिक प्रणाली निगल रही है। भारत के यूरोप के साथ सम्बन्ध आज भारत का शोषण कर रहे हैं। नवीन युग की चकाचौंध वाली रश्मियों में भारत एक काला धब्बा बना हुआ है।[21]

1941 में रवीन्द्र ने अपनी मृत्यु के तीन मास पूर्व यह व्यक्त किया कि भारत पर विदेशी शासन दुर्भाग्यपूर्ण है। दैनिक जीवन की सुविधाओं में ही नहीं अपितु भारत में भेद-भाव की नीति द्वारा भी बारबार इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का बोध होता है। इससे भी दयनीय बात यह है कि इस सब का दोष हमारे समाज पर ही मढ़ा जाता है। भारत में पृथकतावादी तत्वों को गुप्त रूप से उभारा जाता है।[22] रवीन्द्र का इंगित अंग्रेजों द्वारा मुसलमानों को पृथकत्व के लिए प्रेरित करने वाले प्रचार की ओर था।

रवीन्द्र भारतीयों को बौद्धिक क्षमता में किसी अन्य की तुलना में पिछड़ा हुआ नहीं मानते थे। भारतीय जापानियों से किसी भी तरह कम नहीं। अन्तर यह है कि भारतीय अंग्रेजों के आधिपत्य में हैं जबकि जापान के निवासी स्वतन्त्र हैं। ब्रिटेन के प्रशासन के अन्तर्गत ब्रिटिश सभ्यता का मानव-गरिमा का आदर्श भारत में नहीं है। अंग्रेजों ने भारत में पुलिस राज्य की स्थापना कर रखी है। अंग्रेजी सभ्यता का यह भारतीय रूप स्वीकार योग्य नहीं हो सकता। सभ्यता का आदर्श व्यक्तियों में एकता की स्थापना करने का तथा शान्ति एवं सद्भाव बनाने का रहा है जबकि भारत में इसके विपरीत स्थिति है। भारत के सामाजिक ढांचे को इस प्रकार से तोड़-मरोड़ दिया गया है कि कानून और व्यवस्था बनाये रखने वाली हुकूमत के संरक्षण में गुंडागर्दी तथा तोड़-फोड़ की घटनाएं हो रही हैं। जब तक स्वयं शासकों का जीवन खतरे में न पड़े प्रशासन इस ओर से निश्चिन्त हुआ बैठा है। रवीन्द्र फिर भी उन महान् अंग्रेजों की प्रशंसा करते थे जिनकी आत्मा उच्च थी तथा जो चारित्रिक दृष्टि से प्रशंसा के योग्य थे। उन्हीं पर रवीन्द्र को भारत की नैया की रक्षा का भरोसा था। रवीन्द्र का यह अन्तिम विश्वास था कि भाग्यचक्र परिवर्तित होकर रहेगा और एक दिन अंग्रेज भारत के साम्राज्य को त्यागने के लिए विवश कर दिये जायेंगे।[23]

रवीन्द्र के सामाजिक विचार

रवीन्द्र के सामाजिक विचारों पर ग्रामीण परिवेश की स्पष्ट छाप है। ग्रामीण क्षेत्र की समस्याओं से उनका साक्षात्कार एक जमींदार के रूप में हुआ था। उनकी सहृदयता ने उन्हें अपने ही किसानों के जीवन को सुधारने और सुखमय बनाने का अवसर देकर एक नया प्रयोग देश के सामने प्रस्तुत किया।[24] उनकी दयनीय दशा से वे द्रवित हुए और उनका मार्गदर्शन किया। वे इन भूमि हीन खेतीहर श्रमिकों की शक्ति को जानते

थे। यद्यपि उनके द्वारा इन श्रमिकों को संगठित करने तथा उन्हें अपने वर्ग के प्रति चैतन्य कर संगठित प्रयासों से अपनी स्थिति को सुधारने का कार्य नहीं किया गया। वे इसके विपरीत जमींदारों के हृदय-परिवर्तन का कार्य कर रहे थे ताकि जमींदारों की जमीनें सुरक्षित रहें तथा श्रमिकों को भी दो जून रोटी मिल जाय। इस कार्य को सहकारिता के माध्यम से पूरा करने का उनका आह्वान अवश्य महत्त्वपूर्ण था। वे सहकारिता को कृषि-क्षेत्र में प्रयुक्त करना चाहते थे। सहकारिता का आधुनिक आंदोलन आर्थिक है जबकि रवीन्द्र का मन्तव्य मुख्यतः नैतिक पक्ष से रहा है। वे सहकारिता द्वारा व्यक्तियों में आत्म-विश्वास तथा आत्मनिर्भरता की भावना का संचार कर रहे थे। सहकारिता के आर्थिक पक्ष को वे इस नैतिक दायित्व का अनुगामी मानते थे। केवल आर्थिक दृष्टिकोण नैतिक मूल्यों को तिरोहित कर सकता था।

ग्रामीण भारत की समस्याओं में एक समस्या जो कि प्रारम्भ से आज तक विद्यमान रही है वह है ग्रामीण क्षेत्र से शहरों की ओर पलायन। रवीन्द्र ने इस समस्या पर समुचित चिन्तन कर यह सुझाव दिया कि ग्रामीण क्षेत्रों में आधुनिक सुविधाएं उपलब्ध करायी जाय तथा जीवन को अधिक सुखमय बनाने का प्रयास किया जाय ताकि एक ओर गांवों से शहर की ओर जाने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाय तथा दूसरी ओर शहरों से गांवों की ओर जाने तथा बसने वालों की संख्या में वृद्धि हो। रवीन्द्र ने अपने-जीवन का अधिकांश समय शहर के कोलाहल से दूर ग्रामीण क्षेत्र में ही बिताया था। उनकी साहित्य साधना तथा शिक्षा के क्षेत्र में उनके प्रयोग भी ग्रामीण वातावरण में ही हुए थे। यहां तक कि उनकी साहित्यिक कृतियां भी प्रकृति के सुरम्य उपवन में प्रस्फुटित हुई। यदि रवीन्द्र के जीवन से प्रकृति को पृथक् कर दिया जाय तो उनका साहित्यिक योगदान नगण्य रह जायगा। इसी प्रकृति के साथ साक्षात्कार के लिए वे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों को आह्वान करना चाहते थे। आज की कठिन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का मूल शहरीकरण की प्रवृत्ति एवं महानगरों की छिछली संस्कृति है। रवीन्द्र ने बहुत पहले इस ओर ध्यान केन्द्रित कर हमें नया मार्ग दिखाया किन्तु पाश्चात्य सभ्यता के अन्धानुकरण में रवीन्द्र के प्रयोगों को विस्मृत सा कर दिया गया। कृत्रिमता जीवन का अंग बन गयी। शायद अमेरिका के महानगरों की असुरक्षित जनता का छोटे कस्बों की ओर अभिमुख होना भारतीयों को पुनः रवीन्द्र से प्रेरणा प्राप्त करने के लिए विवश करदे।

रवीन्द्र समाज तथा व्यक्ति में तादात्म्य चाहते थे किन्तु उनका व्यक्ति समाज द्वारा आवृत नहीं था। वे समाज द्वारा व्यक्ति की नैसर्गिक प्रतिभा तथा आकांक्षाओं का कुंठित होना पसन्द नहीं करते थे। वे अनावश्यक सामाजिक मान्यताओं एवं बन्धनों को दूर करने में विश्वास करते थे। यही कारण है कि रवीन्द्र राजनीति से प्राय दूर रहने का प्रयास करते रहे। उन्हें राजनीति से विशेष लगाव इसलिए भी नहीं था कि शक्ति प्राप्त करने की लालसा तथा जनता पर नेतृत्व स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा उनमें कभी नहीं रही। वे सौम्यता, सादगी एवं साहित्य-सेवा में अपना जीवन गुजारना चाहते थे। उनकी दृष्टि में आर्थिक विषमता ही सामाजिक बुराइयों की जड़ थी। शिलाइदह में गांवों के सन्दर्भ में वे निर्धनता के बुरे प्रभावों का समीचीन अनुभव प्राप्त कर चुके थे। उनकी यह अनुभूति जो उनकी साहित्यिक रचना का भी स्रोत थी ग्रामीण समाज के पुनर्निर्माण का मार्ग दिखाती

है। गावों में शिक्षा के समुचित प्रबन्ध द्वारा अन्धविश्वास एवं पिछड़ेपन को दूर किया जा सकता था। कुटीर-उद्योगों को पुनर्जीवित कर गावों को आर्थिक दृष्टि से साधन-सम्पन्न तथा आत्मनिर्भर बनाना आवश्यक था। इस कार्य के लिए रवीन्द्र ने श्रीनिकेतन की स्थापना की जिसका उद्देश्य ग्राम-पुनर्निर्माण का समुचित ज्ञान प्राप्त करना था। जब तक स्वयं ग्रामीण क्षेत्रों की जनता अपने बारे में सोचने और कार्य करने के लिए जागृत न हो, बाह्य सहायता से उन्नति सम्भव नहीं। वे इस कार्य के लिए समय-समय पर मेलों तथा यात्राओं का आयोजन उचित समझते थे ताकि एक क्षेत्र के ग्रामीण दूसरे क्षेत्र के ग्रामीणों के सम्पर्क में आयें और एक दूसरे के अनुभव से लाभान्वित हों। किन्तु यह कार्य राजनीतिक प्रभाव से दूर रह कर ही किया जाता था।

रवीन्द्र उन सामाजिक बुराइयों का अन्त करना चाहते थे जिनसे भारतीय समाज की प्रगति अवरुद्ध हो रही थी। वे अस्पृश्यता, जाति-प्रथा एवं स्त्रियों की दुर्दशा से चिन्तित थे। ब्रह्म-समाज के प्रभाव में रवीन्द्र ने जाति-प्रथा का विरोध करते हुए इसे भारत की एकता का प्रबल शत्रु बताया। जाति-प्रथा के प्रतिकार से अस्पृश्यता की समस्या भी सहज रूप से हल की जा सकती थी। वे इसके उन्मूलन के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। स्त्रियों की दशा को सुधारने के लिए उनके द्वारा शिक्षा के प्रचार पर बल दिया गया। शिक्षण-संस्थाओं के माध्यम से उन्होंने यथाशक्य यह कार्य सम्पादित किया। वे स्त्रियों में जागृति तथा आत्मविश्वास का प्रसार सुनिश्चित करना चाहते थे। किन्तु इससे उनका उद्देश्य स्त्रियों को पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिला कर आगे बढ़ाने का था न कि उनमें पारस्परिक प्रतियोगिता उत्पन्न करने का। स्त्रियां वो वे कार्य करते हैं जिनके लिए प्रकृति ने उन्हें बनाया है। स्त्रियों की महानता उनकी मृदुलता, वात्सल्य आदि स्त्रियोचित गुणों में है जिन्हें प्रकृति ने पुरुषों को प्रदान नहीं किया। पुरुषोचित कार्यों को करने की होड़ में स्त्रियां अपने स्वभाव के विपरीत दिशा में ही जा सकती हैं। यह स्थिति न केवल स्त्री समाज के लिए अपितु समस्त मानव-समाज के लिए समस्यामूलक बन सकती है। स्त्रियों का पुरुषों के समान आदर एवं सम्मान वे स्वीकार करते हैं।

रवीन्द्र ने समाज को राज्य का आधार माना है। उनके विचारों में ग्रामीण-समाज तथा विश्व-समाज का अन्तर अधिक स्पष्ट नहीं हो पाया। वे व्यक्ति का समष्टिकृत रूप स्वीकार नहीं करते। उनका सामाजिक व्यक्ति न तो जनता के दायरे में आता है और न वर्ग की सत्ता के अन्तर्गत। वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रचारक हैं। सामाजिक पुनर्निर्माण को वे सुधारवादी दृष्टि से नहीं अपनाते। वे विकासवादी हैं, न कि सुधारवादी।[25]

रवीन्द्र समाज को राज्य से अधिक प्रमुखता देते थे और मानवीय विकास में समाज को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। उनकी यह धारणा राष्ट्रवाद की आलोचना में सहायक थी। वे फासीवादियों को राष्ट्रवाद के पागलपन का प्रतीक मानते थे। फासीवाद के प्रवर्तन के पहले राष्ट्रवाद आर्थिक विस्तारवाद तथा उपनिवेशवाद से जुड़ा हुआ था। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद राज्य की बढ़ती हुई शक्ति के कारण राष्ट्रवाद को सामकीय स्वीकृति सर्वत्र प्राप्त हो गयी। मुसोलिनी ने कहा कि 'राष्ट्र राज्य का निर्माण नहीं करता अपितु राज्य द्वारा राष्ट्र का निर्माण होता है।' राष्ट्रवाद की अवधारणा, जोकि उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शती में राजनीति की सहयोगी अवधारणा बन गयी थी, अपने मूल

रूप से सांस्कृतिक थी। पाश्चात्य देश इससे पूर्व अधिक विश्वव्यापी दृष्टिकोण से युक्त थे और इस कारण वहां राष्ट्रवाद सुप्तप्राय रहा। किन्तु क्षेत्रीयता के प्रचार ने धीरे-धीरे स्थिति परिवर्तित कर दी। नगरीकरण ने एक नया वातावरण तैयार किया। परम्परागत मूल्यों को समाप्त किया जाने लगा तथा मानव-समुदाय की एकता के सूत्र बिखरने लगे। राष्ट्रीय भाषाओं तथा राष्ट्रीय साहित्य का विकास हुआ और पुनर्नवीनीकरण होने लगा। राष्ट्रवाद समाज की आत्मिक एकता का प्रतीक बन उसके अस्तित्व को दमनकारी तत्त्वों से बचाने का साधन बन गया। जैसे-जैसे शासकीय वर्ग ने राष्ट्रवाद के महा-पुजारी बनने का कार्य प्रारम्भ किया वैसे-वैसे राष्ट्रवाद की धारणा शक्ति के यान्त्रिक संगठन में परिवर्तित एवं दृढ़ होती गयी। राष्ट्रवाद राष्ट्रीय-राज्य का उन्नायक एवं उपनिवेशों के वाणिज्यीय शोषण का प्रतीक बन गया।

रवीन्द्र ने राष्ट्रवाद के इसी अन्तिम पक्ष की आलोचना की है जिसमें नृशंसता, क्रूरता तथा पृथक्ता दिखाई देती है। वे राष्ट्रवाद को शक्ति का संगठित समष्टिगत रूप मानते हुए राज्य के शोषणकारी पक्ष को दर्शाते हैं। उनके अनुसार पश्चिम ने वाणिज्य तथा राजनीति की राष्ट्रीय मशीन द्वारा मानवता की साफ-सुथरी दबाई हुई गांठें तैयार की हैं। वे भारत को पश्चिम के राष्ट्रवाद से दूर रहने की प्रेरणा देते थे। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए यह आवश्यक था की भारत इस पाश्चात्य राष्ट्रवादी विष से दूर रहे। उनका कहना था कि पाश्चात्य राष्ट्र ऐसा बांध है जो पाश्चात्य सभ्यता को राष्ट्रहित देशों की ओर प्रवाहित होने से रोकता है। वे भारत को राष्ट्र-रहित देश मानते थे क्योंकि भारत विभिन्न प्रजातियों का देश था और भारत को इन प्रजातियों में समन्वय बनाये रखना था। यूरोप के देशों के सामने प्रजातियों का समन्वय कोई समस्या नहीं थी, अत. वे राष्ट्र-वाद रूपी मदिरा का सेवन कर स्वयं की आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक एकता को खतरा उत्पन्न कर रहे थे। अब पाश्चात्य राष्ट्र या तो विदेशियों के लिए द्वार बन्द कर दें या फिर उन्हें दास बनादें। यही उनकी प्रजातीय समस्या का समाधान है।

राष्ट्रवाद की आलोचना के तीन प्रमुख आधार जो कि रवीन्द्र ने प्रस्तुत किये वे थे (1) राष्ट्रीय राज्य की आक्रामक नीति, (2) प्रतियोगी वाणिज्यवाद की विचारधारा तथा (3) प्रजातिवाद।—बर्बरता के प्रबल विरोधी रवीन्द्र ने चीन, अबीसीनिया तथा गण-वादी स्पेन की स्वतन्त्रता के लिए आवाज बुलन्द की। वे अन्तर्राष्ट्रवादी होते हुए भी देश की संस्कृति से जुड़े हुए थे। वे फासीवादियों के राष्ट्रवाद की आलोचना करते थे किन्तु स्वयं भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के मनोहर प्रतिनिधि थे।

फासीवाद तथा साम्यवाद की तुलना प्रस्तुत करते हुए उन्होंने फासीवाद को असह्य निरंकुशवाद की संज्ञा दी। अपने सोवियत रूस के अनुभवों को अभिव्यक्त करते हुए वे अनुभव कर रहे थे कि स्टालिनवादी रूस में व्यक्ति को समष्टिवाद ने आच्छादित कर दिया था। वे वैचारिक नियन्त्रण को अच्छा नहीं मानते थे। किन्तु उन्हें इस बात से सन्तुष्टि थी कि रूस में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण होते हुए भी शिक्षा तथा संस्कृति के क्षेत्र में विकास के पूर्ण अवसर उपलब्ध थे। वे फासीवादियों की स्थिति को सर्वाधिक हेय मानते थे क्योंकि उस व्यवस्था में हर प्रकार का नियन्त्रण था। वे रूस के उपभोगपरक उत्पादन श्रम की प्रशंसा कर रहे थे क्योंकि उसमें लालच तथा संग्रह का स्थान नहीं था। उन्हें यह

व्यवस्था भारतीय उपनिषदों की 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' के समान लगती थी।

रवीन्द्र ने सोवियत रूस के धर्म-विरोधी प्रचार तथा कार्य की भी सराहना की। वे धर्म को 'विषकन्या' की तरह मानते थे। उनका कहना था कि सोवियत रूस के नेतृत्व ने देश को जारशाही के अपमान तथा स्वयं आरोपित तिरस्कार से बचाया था। धार्मिक दृष्टिकोण से रूस की आलोचना करने वालों को रवीन्द्र का कहना था कि वे रूस की धर्म सम्बन्धी नीति का समर्थन करते हैं क्योंकि मस्तिष्क को अन्धकार में रखने वाली तथा आत्मा को अन्धेरी गुफा में बन्द करने वाली धर्मान्धता से तो नास्तिकता कहीं अच्छी है। रवीन्द्र धर्म को लौकिक तथा कर्मकाण्डीय अर्थ में स्वीकार नहीं करते थे। उनका धर्म आध्यात्मिकता के उच्च धरातल पर अवस्थित था। यह आत्म-निग्रह तथा मोक्ष की ध्यानातीत अवस्था से सम्बन्धित था न कि दिन प्रतिदिन के धार्मिक संस्थाओं के आडम्बर तथा ढोंग से। किन्तु रूस में एक बात रवीन्द्र को रुचिकर नहीं लगी और वह थी व्यक्तिगत सम्पत्ति का समाजीकरण। रवीन्द्र सम्पत्ति को मानव व्यक्तित्व की सही अभिव्यक्ति का साधन मानते थे। सम्पत्ति का समष्टिकरण उन्हें मानवीय प्रकृति के नियमों की अवहेलना तथा अभिव्यक्ति को क्रूरतापूर्वक दबाने जैसा लगा। उन्हें इस बात का दुःख था कि रूस सहित सभी पाश्चात्य देशों में सामाजिक परिवर्तन के लिए शक्ति को विशेष महत्व दिया जाता था। बल-प्रयोग के स्थान पर सत्य की शक्ति का उपयोग किया जाना चाहिए था। वे प्राचीन भारतीय आदर्श को जिसमें अहम् तथा नोऽहम् दोनों के सामंजस्य की स्थिति स्वीकार की गई थी, उचित मानते थे। रवीन्द्र ने जहाँ रूस की इतनी प्रशंसा की वहाँ रूस की बोल्शेविक क्रान्ति को 'अप्राकृतिक क्रान्ति' भी बतलाया। व्यक्ति तथा समष्टि के मध्य द्वन्द्व ने रूस की क्रान्ति को जन्म दिया था। जारशाही के अमानवीय शासन से बचने के लिए क्रान्तिकारियों ने बलप्रयोग द्वारा सत्ता हाथ में ली किन्तु वे क्रान्ति के परिणामों को शीघ्र प्राप्त करने के प्रयास में अपनी जनता पर बलप्रयोग करने लगे यह उचित नहीं था। फिर भी रवीन्द्र ने रूस की सहकारी कृषि की प्रशंसा की। वे स्वयं सहकारिता के प्रशंसक थे। अतः रूस के ग्रामीण क्षेत्रों में सहकारिता का सफल प्रयोग देख कर वे हर्षित हुए। वे भारत में भी भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सहकारी खेती को प्रोत्साहित करने के पक्ष में थे ताकि भूमि न तो व्यक्तिगत स्वामित्व में रहे और न सामूहिक खेती का अभिशाप सहन करना पड़े। रवीन्द्र का यह विचार त्रुटिपूर्ण था क्योंकि रूस ने सामूहिक खेती तथा भूमि का पूर्ण समाजीकरण कर लिया था। सहकारिता का जो मधुर स्वप्न रवीन्द्र रूस में देख रहे थे वैसा वहाँ कुछ भी नहीं था। समाजीकरण की प्रक्रिया में व्यक्तिगत मूल्यों तथा आदर्शों का महत्व नहीं रहता। रवीन्द्र रूस की प्रशंसा तथा आलोचना के मिले-जुले स्वर में वास्तविकता से दूर जाते दिखाई देते हैं। एक ओर उनके संस्कारों की कुलीनता सर्वहारा के शासनतन्त्र को स्वीकार करने में संकोच करती है तो दूसरी ओर उनकी मानववादी भावनाएं हिंसा के प्रयोग पर आधारित समाजीकरण की अमानवीय प्रवृत्ति का प्रचण्ड विरोध करती हैं। रवीन्द्र के विचारों में न फासीवाद के लिए प्रशंसा है और न रूस के समाजवादी समाज के प्रति मोह। उनका राजनीतिक चिन्तन राजनीतिक आदर्शवाद एवं अतिमानववाद पर आधारित है।

आध्यात्मिक मानववाद का सहयोगी अपितु अनुभवातीत मानवतावाद का विस्तार बना दिया है। उनका मानवतावाद सामाजिक एवं आर्थिक समानता के सिद्धान्त पर आधारित नहीं। वे भौतिक तत्व को जीवन के लिए उपयोगी मानते हुए भी उसकी अनिवार्यता को आध्यात्मिक चेतना का प्रतिगामी मानते हैं। परमात्मा द्वारा दी गयी मनुष्य की अतिरिक्त शक्ति जो कि उसे सृजनात्मकता एवं सौन्दर्यबोध के प्रति अग्रसर करती है मूल रूप से आध्यात्मिक है। सार्वभौम मानव-मन एवं सार्वभौम मन में निरन्तर संघर्ष होता रहता है और समन्वय भी। समन्वय के बिना परमात्मा तथा आत्मा का तादात्म्य स्थापित नहीं हो सकता। सार्वभौम मानव-मन तथा व्यक्तिगत मन के मध्य समन्वय ही सच्चा मानव-धर्म है।[32]

रवीन्द्र ने मानव-व्यक्तित्व में विश्व को समाया हुआ मानते हुए मानवता की सीमा-रेखाओं में परमात्मा के प्रकाशित एवं अनन्त स्वरूप का दर्शन किया। उनकी ईश्वर के प्रति निष्ठा ने ईश्वर के साक्षात्कार के लिए बाह्य धार्मिक आडम्बरों के स्थान पर अपने अन्तराल में स्थित नर-नारायण की उपासना का मार्ग सुझाया। बाह्य जगत एवं अन्तराल के सूक्ष्म अन्तर्जगत् में ईश्वर का अविराम अस्तित्व मनुष्य की आत्मिक उन्नति का प्रेरक अध्याय है। समाज तथा शासन के अनुचित नियन्त्रणों से मुक्ति के लिए अनन्त के आनन्द-घन सच्चिदानन्द स्वरूप एवं उसके अभिराम सौन्दर्य को हृदयंगम करना आवश्यक है। मायावाद के भ्रमजाल में न पड़ कर भक्तिभाव से अनन्त का सत्यान्वेषण अभीष्ट है।[33]

रवीन्द्र का आध्यात्मिक मानववाद ईश्वर साधना का एकाकी पथ नहीं है। वे व्यक्तिगत मोक्ष की कामना नहीं करते। मानवता का उनका दर्शन समष्टिरूप में मानव-कल्याण से अभिप्रेरित है। वे सुख-दुःख को शाश्वत मानते हुये जीवन की नैसर्गिकता को बनाये रखने में विश्वास करते हैं। संन्यास ही आध्यात्मिक साधना का मार्ग नहीं। शारीरिक श्रम करने वाला मानव सहज भाव में अनन्त का साक्षात्कार कर सकता है। कबीर, रैदास रज्जब आदि को परमात्मा की असीम अनुकम्पा का बोध हुआ था। उन्हें इसके लिए गूढ़ दार्शनिक तत्वों का विधिवत अध्ययन अथवा शास्त्रार्थ नहीं करना पड़ा था। धर्म दर्शन शास्त्र और विज्ञान की नीरस कल्पनाओं एवं तर्कों से ईश्वर की उपलब्धि नहीं होती। वास्तविक सत्य सन्देह एवं विनय में ही प्राप्त हो सकता है। मानवता का सन्निकट स्वरूप सर्वात्मक तथा निषेधात्मक है। उसे बोधात्मक नहीं माना जाना चाहिए। उनके अनुसार त्याग अथवा तपस्या के स्थान पर सामाजिक साहचर्य एवं सहकार से ही परम तत्व की प्राप्ति सम्भव है। नर-नारायण तथा दरिद्रनारायण का सहानुभूति पूर्वक विचार ही सत्य है। दरिद्रनारायण की सच्ची सेवा में मानवता परिलक्षित होती है। व्यक्तिगत स्वार्थ को तिलांजलि देकर दुःख एवं क्षुधापीड़ित मानवता का परमार्थ अनन्त की प्राप्ति का एक मात्र मार्ग है। मानव व्यक्तित्व का पूर्णतर जब समाज के साथ तादात्म्य स्थापित करता और समाजगत तादात्म्य जब विश्वजनीन सार्वभौम का रूप ग्रहण करते तभी अनन्त के दर्शन होते हैं। यही सच्चा स्वतन्त्रता एवं मुक्ति है। राजनीतिक स्व-तन्त्रता निम्नस्तरीय है। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता सर्वोच्च है। प्रेम सामंजस्य एवं शांति आध्यात्मिक मानवतावाद से अनुभवातीत मानवतावाद की ओर अग्रसर होने के सहायक तत्व हैं।[34]

मूल्यांकन

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का चिन्तन सार्वकालिक एव शाश्वत मूल्यो का निरूपक है। वे समन्वय-युग के ऐसे विचारक थे जिसने पाश्चात्य एव प्राच्य के मानवीय मूल्यो को एकीकृत करने का स्वप्न देखा। उनका साहित्यसृजन अद्वितीय था। भारतीय परिवेश तथा पाश्चात्य प्रभाव के मिलेजुले वातावरण मे उनका सृजन-चिन्तन प्रस्फुटित हुआ। पाश्चात्य देशो की अनेक यात्राओ ने उनके मानस मे भारतीय महानता को और भी अधिक उभार दिया। वे मानवता के गरिमामय आदर्श की खोज मे भारतीय आध्यात्म के सफल अध्येता थे। उनकी कृतियो मे सार्वभौमिक मानववाद एव विश्व-समाज की चेष्टा ने उन्हे 'विश्व-नागरिक' की श्रेणी मे ला खडा किया। वे सामाजिक अन्याय एव धार्मिक मतमतान्तर के आडम्बर से मानव की मुक्ति का प्रयास करते रहे। वे नैतिक आचरण की शुद्धता के प्रतीक थे। नैतिकता को धार्मिक धरातल से उठा कर मानवीय धरातल पर लाने का उनका प्रयास सराहनीय था। रवीन्द्र ने मानवता को ईश्वर के समकक्ष प्रस्तुत कर भारतीय सस्कृति की महानता का सन्देश दिया। वे मानवता के अग्रदूत थे। भारत मे विभिन्न सम्प्रदायो एव विश्व की समस्त मानवता को समन्वय का पाठ पढा कर रवीन्द्र ने प्रेम एव सहानुभूति के शाश्वत तत्त्वो का प्रस्थापन किया।

साहित्य मे भारत के एक मात्र 'नोबेल पुरस्कार' विजेता का कीर्तिमान स्थापित कर रवीन्द्र ने समस्त विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। उनकी साहित्यिक कृतियाँ परमात्मा की विराट् सृजनात्मक शक्ति का ही बोध नही कराती अपितु मानव के प्रकृति के साथ तादात्म्य का मार्ग भी प्रशस्त करती है। उनकी गीताजलि विश्व-साहित्य को अनुपम देन है। गीताजलि मे रवीन्द्र का यह विश्वास मुखरित हुआ है कि विश्वत्व के स्तर पर भारत की भूमिका अन्य देशो से भिन्न है। यह न केवल भारत के अपितु समस्त विश्व के हित मे है कि भारत एकनिष्ठ होकर उस भूमिका का निर्वाह करे।[35]

रवीन्द्र का राजनीतिक दर्शन असामान्य है। वे राजनीति को सामाजिक दर्शन की तुलना मे हेय मानते हैं। रवीन्द्र ने राजनीति को शक्ति का प्रतीक मान कर उसे मानवता का प्रबल शत्रु माना। वे सर्वाधिकारवाद के उग्रतम आलोचक थे। उनके अनुसार भारत ने सदैव सामाजिक स्वतन्त्रता को राजनीतिक स्वतन्त्रता से अधिक महत्त्व दिया था। सामाजिक स्वतन्त्रता एव सामाजिक दर्शन का अत्यधिक महत्व रवीन्द्र ने इस कारण से भी व्यक्त किया कि वे ग्रामीण क्षेत्रो के विकास एव पुनर्निर्माण के कार्य मे अत्यधिक रुचि लेते थे। किन्तु रवीन्द्र की यह धारणा कि राजनीति को महत्त्वहीन बना दिया जाय तर्कसगत नहीं थी। राजनीति-जनित युद्धोन्माद, शोषण एवं लोकतान्त्रिक मूल्यो का ह्रास अवश्य आलोच्य था किन्तु केवल इसी आधार पर समस्त राजनीतिक क्रियाकलापो की अवमानना त्रुटिपूर्ण थी। रवीन्द्र राजनीतिज्ञ नही थे। वे देशभक्त एवं मानवीय स्वतन्त्रता की गरिमा के रक्षक थे। उनका कविहृदय मानवीय भावनाओ का अतिक्रमण स्वीकार नही करता था। इसी कारण से वे राष्ट्रवाद के भी कटु आलोचक रहे। वे राष्ट्रवाद को मनुष्य की सामाजिक सवेगात्मकता का शत्रु मानते थे। उनकी दृष्टि मे राष्ट्रवाद की धारणा कृत्रिमता की परिचायक थी। यद्यपि उनके विचारो मे सत्य का अश विद्यमान है क्योकि राष्ट्रवाद अनेक सघर्षों का कारण रहा है फिर भी यह नही माना जा सकता कि राष्ट्रवाद की

16 रवीन्द्रनाथ ठाकुर, नेशनलिज्म (मैकमिलन, लन्दन, 1920) पृ 3-4
17. वही, पृ 43-44
18 वही, पृ. 46
19 रवीन्द्रनाथ ठाकुर, टुवार्ड्स यूनिवर्सल मैन, (एशिया, बम्बई, 1961) पृ 346
20 वही, पृ. 347
21 वही, पृ 348
22 रवीन्द्रनाथ ठाकुर, क्राइसिस इन सिविलाइजेशन, (विश्व भारती, कलकत्ता, 1941) पृ 12-17
23 वही
24 देखिए शशधर सिन्हा, सोशल थिंकिंग ऑफ टैगोर, पृ. 97, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, लग्न होन रता (विश्व भारती, कलकत्ता, 1960) पृ 137-138
25 धुरजटी प्रसाद मुखर्जी, टैगोर-ए स्टडी, (पद्मा पब्लिकेशन्स, बम्बई, द्वितीय संस्करण, 1944) पृ. 148
26. देखिए अलबर्ट श्वाइत्जर, इण्डियन थाट एण्ड इटस डेवलपमेन्ट, पृ 244
27 रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दी रिलीजन आफ मैन, पृ 34
28 वही, पृ 24
29. वही
30 बिपिनचन्द्र पाल, इण्डियन नेशनलिज्म, पृ 260-261
31. टुवर्ड्स यूनिवर्सल मैन, पृ 272
32. दी रिलीजन आफ मैन, पृ 233-235
33 वही, पृ 120-186
34 वही, पृ 15-30, 134-143
35 जा डा खानोलकर, दी ल्यूट एण्ड दी प्लो ए लाइफ आफ रवीन्द्रनाथ टैगोर, (दी बुक सेन्टर प्रा लि, बम्बई, 1963) पृ 154

अध्याय 23

जवाहरलाल नेहरू (1889-1964)

14 नवम्बर 1889 के दिन जवाहरलाल नेहरू का इलाहाबाद में जन्म हुआ। उनके पिता पंडित मोती लाल नेहरू भारत के जाने-माने वकील थे। वकालत में उन्होंने अपार धन अर्जित किया और वैभव तथा विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे। बाद में गांधीजी के नेतृत्व में उन्होंने सामान्यजन की तरह सादगी का जीवन प्रारंभ किया और कांग्रेस आंदोलन के कर्णधार रहे। पिता के प्रभाव में जवाहरलाल नेहरू की शिक्षा-दीक्षा पश्चिमी तौर-तरीके से हुई थी। उन्हें शिक्षा के लिये इंगलैंड के प्रसिद्ध हैरो विद्यालय में भर्ती किया गया। उसके पश्चात् वे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए और विज्ञान में आनर्स की परीक्षा उत्तीर्ण कर, लन्दन से बैरिस्टरी का प्रमाणपत्र लेकर भारत लौटे। 1912 में भारत लौटने के पश्चात् वे कांग्रेस-आंदोलन की ओर आकृष्ट हुए और पहली बार बांकीपुर में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन में प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए। 1916 में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के समय वे गांधीजी के सम्पर्क में आये और तब से गांधीजी के साथ उनके सम्बन्ध निरन्तर प्रगाढ़ होते गये। गांधीजी के साथ अनेक प्रश्नों पर असहमत होते हुए भी जवाहरलाल उन्हें अपना गुरु, मित्र तथा दार्शनिक मानते रहे।

जवाहरलाल वैभव के मध्य उत्पन्न हुए थे। साधारण जीवनयापन करने वाले औसत भारतीय के जीवन में जो आर्थिक एवं सामाजिक कष्ट आते हैं, उनका केवल सैद्धान्तिक अनुभव ही उन्हें रहा। स्वयं के जीवनयापन की समस्या उनके सामने कभी उपस्थित नहीं हुई।[1] किन्तु अपनी आर्थिक सम्पन्नता का उन्होंने स्वयं के आमोद-प्रमोद के लिए उपयोग न कर अपना सर्वस्व राष्ट्र की सेवा में अर्पित कर दिया। उनका वैवाहिक जीवन, पारिवारिक जीवन सभी कुछ राष्ट्रीय जीवन के लिये समर्पित रहा। युवा जीवन के श्रेष्ठ वर्ष उन्होंने कारावास में बिताये। कारावास का सिलसिला 1921 में उनके जीवन में आरंभ हुआ, जब कि गांधीजी के असहयोग आंदोलन में सम्मिलित होने के कारण वे तथा उनके पिता पंडित मोतीलाल नेहरू 6 महीने के लिए बंदी बनाये गये और तबसे 1945 तक वे अनेक बार जेल गये।

जवाहरलाल 1918 में कांग्रेस महासमिति के सदस्य चुने गये। 1922 में उन्हें इलाहाबाद नगरपालिका का सर्वसम्मत अध्यक्ष चुना गया। कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में उन्हें जिनेवा में होने वाले साम्राज्यवाद-विरोधी सम्मेलन में जाने का अवसर 1927 में मिला। 1927 में ही वे सोवियत सरकार के निमन्त्रण पर रूस-यात्रा पर गये। 1928 में उन्होंने लखनऊ में साइमन आयोग के विरुद्ध प्रदर्शन किया जिसके कारण उन्हें पुलिस की

लाठियों का प्रहार सहना पड़ा। कांग्रेस के 1929 के लाहौर अधिवेशन के वे अध्यक्ष निर्वाचित हुये और उन्होंने भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता का शंखनाद किया। वे भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन के भी अध्यक्ष रहे। गांधीजी द्वारा संचालित नमक-सत्याग्रह तथा 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' में वे अग्रणी रहे। 1936 में बिहार में भूकंप से पीड़ित जनता की उन्होंने सेवा की। 1936 में ही दो बार वे कांग्रेस अधिवेशनों—पहले लखनऊ तथा बाद में फैजपुर अधिवेशन—के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1938 में उन्हें कांग्रेस की राष्ट्रीय योजना समिति का अध्यक्ष चुना गया। उन्होंने 1939 में चीन की भी यात्रा की। गांधीजी के 1940 के व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन में उन्होंने भाग लिया। क्रिप्स-आयोग के आगमन पर 1942 में उन्होंने समझौतावार्ता में भाग लिया। अगस्त 1942 में 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव का उन्होंने पूर्ण शक्ति के साथ समर्थन किया। 1945 में वे शिमला-सम्मेलन में भी सम्मिलित हुए। आजाद हिन्द फौज के सैन्य कर्मचारियों की रिहाई की पैरवी में भी उन्होंने भाग लिया। कैबिनेट मिशन योजना द्वारा प्रस्तावित अन्तरिम सरकार की स्थापना के समय वे वायसराय की परिषद् के उपाध्यक्ष बने एवं परराष्ट्र विभाग के सदस्य का कार्यभार उन्हें सौंपा गया। भारत के लिए संविधान निर्मात्री सभा का लक्ष्य निर्धारक प्रस्ताव उन्हीं के द्वारा 30 दिसम्बर 1946 को प्रस्तुत किया गया जो कि स्वतंत्र भारत के संविधान का आमुख बना। सदियों की दासता से मुक्ति प्राप्त कर जब भारत ने स्वतन्त्रता के नवयुग में प्रवेश किया, जवाहरलाल नेहरू को ही भारत की सत्ता संभालने का सुअवसर प्राप्त हुआ। वे भारत के प्रथम प्रधान मंत्री बने। विभाजन के पश्चात् भारत के समक्ष उपस्थित हुई अनेक चुनौतियों का उन्होंने सामना किया। काश्मीर की समस्या, शरणार्थियों की समस्या, खाद्यान्न समस्या, देशी रियासतों के एकीकरण की समस्या, सभी का नेहरू ने विलक्षण समाधान प्रस्तुत किया। सरदार पटेल के उप-प्रधान मंत्री होने के कारण उनके द्वारा लिये गये निर्णयों का पूर्ण अनुशासन से पालन करवाया गया। नेहरू का आदर्शवाद तथा पटेल के यथार्थवाद का सुन्दर समन्वय भारत के लिए संकट की घड़ियों में महत्वपूर्ण रहा। नेहरू ने भारत की विदेश-नीति को नवीन दिशा दी। उनके नेतृत्व में भारत ने असंलग्नता की नीति का समर्थन करते हुये गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों की अगुवाई की। एशिया तथा अफ्रीका के नव-जागरण को संबल प्रदान करते हुए नेहरू ने दिल्ली में 1949 में ग्यारह एशियाई राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाया। दक्षिणी एशिया तथा दक्षिणपूर्वी एशिया में उनके राजनीतिक नेतृत्व की अमिट छाप पड़ी। धर्म-निरपेक्षता तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद के स्तंभ जवाहरलाल नेहरू ने भारत को विश्व-शांति का अग्रदूत बना दिया। 1954 में उनके सद्प्रयत्नों से पंचशील का सिद्धान्त भारत ने स्वीकार किया और इसी के अंतर्गत भारत-चीन समझौता किया गया। कांग्रेस के आवडी अधिवेशन में समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य निर्धारित करने तथा जयपुर में कांग्रेस महासमिति के अधिवेशन में लोकतान्त्रिक समाजवाद का ध्येय प्रस्तुत करने के साथ-साथ नेहरू ने भारत के योजनाबद्ध विकास का भी श्रीगणेश किया। वे योजना आयोग के अध्यक्ष बने तथा भारत की पंचवर्षीय योजनाओं का सूत्रपात कर उन्होंने भारत को प्रगति के पथ पर ला खड़ा किया। भारी उद्योगों की स्थापना, सार्वजनिक

क्षेत्र का विस्तार, मिश्रित अर्थ-व्यवस्था, पंचायती राज्य, राज्यों का पुनर्गठन, शिक्षा का विस्तार, वैज्ञानिक गवेषणा तथा अनुसंधान का विकास आदि अनेक कार्य नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल में किये गये। चीन द्वारा भारत पर आक्रमण की घटना ने नेहरू को विचलित कर दिया। उन्हें कड़ी आलोचना का भाजन बनना पड़ा। वे फिर भी भारत को सुसंगठित करने के प्रयास में लगे रहे। चीन की चुनौती ने नेहरू को अधिक यथार्थवादी बना दिया। उन्ही के समय सेना का पुनर्गठन प्रारंभ हुआ और भारत की प्रतिरक्षा को नवीन परिस्थितियों के अनुरूप ढाला गया। उनकी गुटनिरपेक्षता की नीति यथावत् बनी रही। संयुक्त राष्ट्र की सफलता के लिए भारत का विशेष प्रयास उन्हीं के विचारों के अनुरूप था। अनेक कठिनाइयों के बावजूद नेहरू ने अपने विचार-दर्शन के अनुसार ही भारत का मार्ग-निर्देशन किया। भारत को संघर्षों के मध्य जीवित रखने में उनके करिश्मावादी नेतृत्व का अतुलनीय योगदान रहा।

जवाहरलाल केवल राजनीतिज्ञ एवं स्वाधीनता-सेनानी ही नहीं थे। उनकी लेखनी से अनेक महत्त्वपूर्ण रचनायें निसृत हुईं। यदि उनके राजनीतिक जीवन-कार्य को कुछ समय के लिये विस्मृत कर दिया जाय, तब भी वे अपनी अनुपम कृतियों द्वारा विश्व मानवता के संदेशवाहक के रूप में साहित्य-आकाश के चमकते नक्षत्र रहेंगे। उनकी प्रमुख कृतियां हैं

सोवियत रशा (1928), लेटर्स फ्रॉम ए फादर टु हिज डॉटर (1929); विदर इंडिया (1933), ग्लिम्पसेज ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री (1934); एन ऑटोबायोग्राफी (1936); इंडिया एण्ड दी वर्ल्ड (1936), दी क्वश्चन ऑफ लैंग्वेजेज (1937), एटीन मन्थ्स इन इंडिया (1938), व्हेयर आर वी ? (1939), चाइना, स्पेन एंड दी वार (1940); टुवर्ड्स फ्रीडम (1941), दी यूनीटी ऑफ इंडिया (1941), दी डिस्कवरी ऑफ इंडिया (1947), ए बन्च ऑफ ओल्ड लैटर्स (रिटन मोस्टली टु जवाहरलाल नेहरू एंड सम रिटन बाई हिम—1958), लैटर्स टु हिज सिस्टर्स (1963), विजिट टु अमेरिका (1950)।

इनके अतिरिक्त उनके भाषणों के संग्रह 'बिफोर एण्ड आफ्टर इंडिपेन्डेंस, जवाहरलालनेहरूज स्पीचेज,' (4 खंड), 'एक्सट्रैक्ट्स फ्रॉम हिज राइटिंग्स एंड स्पीचेज' तथा उनके वाङ्मय का संकलन 'सिलेक्टेड वर्क्स आफ जवाहरलाल नेहरू' (8 खंड) उनके समुचित व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करता है। नेहरू का व्यक्तित्व एवं कृतित्व उनके 27 मई 1964 के निधन के पश्चात् भी अमरत्व प्राप्त कर चुका है।

नेहरू का मानस

नेहरू के व्यक्तित्व की विशेषता उनके अंतराल में निहित वैचारिक द्वन्द्व में परिलक्षित होती है। उनके उपचेतन में विचारों, आकांक्षाओं एवं निष्ठाओं का निरन्तर संघर्ष उनकी बाह्य परिस्थितियों के साथ जूझता रहता था। उनकी आन्तरिक वैचारिक क्षुधा शांत नहीं हो सकती थी।[2] वे क्रियात्मक जीवन की व्यस्तता से कुछ क्षण निकालकर अपने वैचारिक जगत में खो जाना चाहते थे।[3] उनकी हार्दिक इच्छा थी कि वे अपने विचारों को, जो कि चिंतन, बौद्धिक उत्सुकता एवं ज्ञान के अन्वेषण की पिपासा द्वारा उत्पन्न हुए थे, जगत की वास्तविक समस्याओं से सम्बद्ध कर सके। उन्हें इसमें सफलता भी प्राप्त हुई। वे केवल मानसिक धरातल पर ही चिंतन को संजोये न रहे, अपितु अपने चारों और फैले

वाद के रूप में परिलक्षित हुआ। वे सहिष्णुता एवं निरपेक्षवादी दृष्टिकोण के सहारे मानवीय प्रकृति को समझने का प्रयास करते रहे। उन्हें ईश्वर को नकारने के स्थान पर मानव को नकारना कठिन प्रतीत होता था।[6] उनका मानवतावादी दृष्टिकोण इतना व्यापक होता चला गया कि वे मानव के आराधक बन गये। केवल राजनीतिक उद्देश्यों से ही नहीं, अपितु आंतरिक संस्कृति के वशीभूत होकर नेहरू ने मानव की प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की क्षमता एवं दृढ़ता का अभिनंदन किया। आदर्शों, सत्य, देश तथा आत्मसम्मान के लिए मानव के संघर्षों ने नेहरू की कल्पनाशक्ति को आलोकित किया। मानव की पारस्परिक निष्ठा मैत्री एवं निःस्वार्थ वृत्ति के सुनहरे पक्ष ने नेहरू के दर्शन में मानव के प्रति मानव की श्रद्धा जागृत की। यही कारण था कि नेहरू ने सार्वजनिक जीवन में व्यक्ति की गरिमा को बनाये रखने के अपने उदार संस्कारों को तिरोहित नहीं होने दिया। राजनीतिक नेतृत्व के सफलतम क्षणों में भी वे मानवीय सहयोग, मानवीय प्रसन्नता तथा मानवीय प्रगति के उपासक बने रहे। वैज्ञानिक मानवतावाद के समर्थक नेहरू ने जीवन में प्रलोभन-कारी वृत्ति का विरोध किया। पारलौकिक सुखों की चिन्ता न कर इसी जीवन को श्रेष्ठ बनाने का मानवतावादी विचार नेहरू के जीवन-दर्शन का आधार था। वे विश्व-मानवता को अन्याय, दमन तथा दुःखों से मुक्त देखने के इच्छुक थे।[7]

नेहरू का मानव-प्रेम उनके प्रकृति-प्रेम का सहगामी था। वे प्रकृति के अनन्यतम पुजारी थे। मनोवैज्ञानिक कारण कुछ भी रहा हो, उनके प्रकृति-प्रेम ने उनकी सुकोमल मानवीय भावनाओं को सदैव जीवित रखा।[8] राजनीतिक सत्ता एवं नेतृत्व के उच्चतम शिखर पर पहुंच कर भी नेहरू की लोकतान्त्रिक निष्ठा भ्रष्ट नहीं हुई। सम्भवतः उनके प्रकृति-प्रेम में सृजनात्मकता के प्रति उनकी आस्थाएं इतनी गहरी कर दी थी कि वे संहार को अमानवीय समझने लगे। वे मानव प्रकृति तथा विश्व की एकता को साकार करना चाहते थे। उनका उद्देश्य जीवन में समन्वय, सन्तुलन एवं सम्पन्नता को बनाये रखना था।

नेहरू के राजनीतिक एवं सामाजिक चिंतन के मूल आधार

नेहरू के चिन्तन में लोकतन्त्र के प्रति उनकी गहरी आस्था सर्वव्याप्त है। वे लोकतन्त्र को जीवन का एक प्रकार मानते थे। मानव-जीवन में स्वतन्त्रता का महत्व स्वीकार करते हुये नेहरू ने मानवीय स्वतन्त्रता को साध्य माना किन्तु वे स्वतन्त्रता को अनियन्त्रित अर्थों में स्वीकार नहीं करते थे। मानवीय प्रवृत्ति के पाशविक एवं विनाशी पक्ष को देखते हुए व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर राज्य द्वारा उचित नियन्त्रण स्थापित करने की अनिवार्यता को वे स्वीकार करते थे ताकि निम्न स्तरीय संवेगात्मक मानव-व्यवहार स्वतन्त्रता की गरिमा को न गिरा सके। वे राज्य की उपादेयता को स्वीकार करते हुये उसके माध्यम से सामाजिक हित को प्राप्त करना चाहते थे। उन्होंने राज्य की धर्म निरपेक्षता पर बल दिया है। व्यक्ति के धार्मिक अधिकारों की मान्यता को स्वीकार करते हुए नेहरू ने राज्य के नैतिकवादी पक्ष को अधिक महत्व दिया है ताकि नैतिक गुणों को धार्मिक संकीर्णता तिरोहित न कर सके। वे व्यक्ति को सामाजिक प्रक्रिया से इस प्रकार एकीकृत करना चाहते थे कि उसमें मानवीय आत्मा व्यक्ति जन्य न हो कर समिष्टगत रूप से प्रकट हो सके ताकि आर्थिक न्याय, समानता, वर्गहीन समाज व शोषण-रहित व्यवस्था की स्थापना हो सके। समाज की भौतिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक उन्नति

के साथ-साथ सहयोग, सौहार्द एवं प्रेम द्वारा विश्व-समाज की स्थापना हो सकती है। लोकतन्त्र तथा साम्यवाद दोनों ही इसी प्रकार की सामाजिक क्रान्ति के प्रतीक हैं। साम्यवाद अवश्य ही मानवीय स्वतन्त्रता को सीमित करता है, अतः आलोचना का विषय बना है, अन्यथा सहयोग एवं समानता के आदर्श द्वारा मानवजीवन के रचनात्मक विकास का क्रम निरन्तर प्राप्त किया जा सकता है। नेहरू लोकतान्त्रिक पद्धति के प्रति पूर्ण निष्ठावान हैं किन्तु वे पंचवर्षीय लोकतन्त्र के पक्षपाती नहीं हैं जिसमें जनता चुनाव के समय ही लोकतन्त्र का आभास प्राप्त करे तथा शेष समय के लिए अवसरवादी तथा सत्ता-लोलुप नेतृत्व का शिकार बनी रहे। नेहरू ने उन स्थितियों को आत्मसात् किया है जिनके अनन्तर मानवीय मस्तिष्क एवं आत्मा को परतन्त्रता में निबद्ध कर दिया जाता है। वे आधुनिक सभ्यता को मानवीय स्वातंत्र्य के लिए अभिशाप मानते हैं क्योंकि आज का मानव यान्त्रिक होकर समष्टिगत समुदाय में विलीन हो गया है।[9] औद्योगिक विकास के भ्रमजाल में फंस कर व्यक्ति का जीवन एकाकी एवं अन्तर्मुखी बन गया है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति को पुनः सामाजिक परिवेश के प्रति जागृत किया जाये और नेतृत्व सत्ता का मोह छोड़ कर सामाजिक प्रक्रिया को नवीन गति प्रदान करें। उचित नेतृत्व के माध्यम से सामाजिक दायित्वों की पुनर्स्थापना हो सकती है।

नेहरू ने संविधान द्वारा स्वीकृत व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं अन्य अधिकारों को व्यक्ति के आत्मिक विकास के लिये काफी नहीं माना। इसके लिये वे चाहते हैं कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था को अधिक से अधिक विकसित किया जाय तथा सामाजिक प्रक्रिया के आत्मीकरण के साथ-साथ अधिकारों की सुरक्षा एवं अधिकार दोनों ही को विषय निष्ठ बनाया जाये। राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक बन्धनों को दूर करने से ही व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से लोकतान्त्रिक समाज की उपादेयता सिद्ध हो सकती है। लोकतन्त्र केवल व्यक्तिपरक धारणा नहीं है। समाज का प्राणवीकरण उचित नहीं है। लोकतन्त्र इस दृष्टि से राज्य के बढ़ते हुए प्रभाव एवं आधिपत्य को सीमित कर सकता है। समाज के विभिन्न समूहों के पास स्वतन्त्रता होनी चाहिए ताकि समाज का उचित स्तरण हो सके। सामाजिक स्तरण का अर्थ पूंजीपतियों को आधिपत्य अथवा जन्म, धर्म आदि परम्परागत प्रभावों के अन्तर्गत ऊंच-नीच का वातावरण न होकर मानवीय समानता के आदर्श पर स्थापित लोकतन्त्रीय समाज होना चाहिए।

नेहरू ने समाजवाद की व्याख्या करते हुए समाजवाद को राज्य द्वारा उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण को माना। समाजवादी व्यवस्था शोषण का प्रतिकार प्रस्तुत करती है। समूह की सामाजिक प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने की विशेषता समाजवाद में है, अतः लोकतन्त्र की दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त विचारधारा समाजवाद के अलावा और कोई नहीं हो सकती। समाजवाद के माध्यम से भुखमरी, गरीबी, बेकारी आदि का निराकरण करके समाज का परिष्कार किया जा सकता है। नेहरू की समाजवाद में गहन निष्ठा थी। वे इसे केवल साधन के रूप में नहीं मानते थे। वे वैज्ञानिक समाजवाद से इसलिए भी प्रभावित थे कि यह समाज की परम्परागत मान्यताओं को समाप्त कर उनके स्थान पर आधुनिकता का नव-संदेश देने की क्षमता रखता है।[10] सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तीव्रगति दे कर सामाजिक पुनर्निर्माण द्वारा राष्ट्रीय जीवन का लोकतन्त्रीकरण सम्भव

है। भारत में समाजवाद का प्रसार एवं प्रचार भारतीय परिप्रेक्ष एवं पर्यावरण के अनुरूप होना चाहिये। नेहरू ने इस संदर्भ में गांधीजी के न्यासिता-सिद्धान्त को समाजवाद के अनुरूप स्वीकार नहीं किया। वे व्यक्ति अथवा समूह की न्यासिता के स्थान पर राष्ट्र की न्यासिता चाहते हैं। राष्ट्र की न्यासिता संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था पर राज्य के नियन्त्रण से ही प्राप्त हो सकती है।

नेहरू के विचारों पर मार्क्सवाद की निश्चित छाप थी। वे मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग विहीन समाज तथा इतिहास की आर्थिक व्यवस्था को स्वीकार करते थे। अपनी रूस यात्रा के अनुभवों के आधार पर उन्होंने मार्क्सवाद के वैज्ञानिक समाजवादी पक्ष का समर्थन किया था। वे मानते थे कि रूस ने विज्ञान तथा प्रविधि का प्रयोग कर मानव के आर्थिक शोषण का प्रतिकार प्रस्तुत किया है। व्यक्ति ने समुदाय की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में एक नये विश्व का निर्माण किया है। किन्तु नेहरू समाजवाद को व्यक्तिवाद का तरसम रूप मानते थे। वे मार्क्सवाद की उस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते थे जिसमें व्यक्ति को समष्टि में परिवर्तित कर दिया गया है। समाजवाद में प्राप्त भौतिक सम्पन्नता व्यक्तिगत अभिव्यक्ति एवं स्वतन्त्रता का विलोम नहीं है, ऐसा उनका विचार था। सामाजिक अनुबन्ध एवं उत्तरदायित्वों के अन्तर्गत व्यक्ति पूर्णतया सुरक्षित रह सकता है। वे सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार की पूर्णतया समाप्ति के पक्ष में नहीं थे। इसके स्थान पर वे सम्पत्ति को सहकारिता पद्धति पर आश्रित करना चाहते थे, ताकि उसे चन्द व्यक्ति मुनाफाखोरी का माध्यम न बना सकें। उनकी मान्यता थी कि साधनों के उचित वितरण द्वारा सम्पत्ति के एकाधिकार अथवा केन्द्रीयकरण से बचा जा सकता है, यद्यपि राज्य का बढ़ता हुआ कार्य क्षेत्र व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये खतरा भी उपस्थित कर सकता है। नेहरू इस खतरे के प्रति जागरूक हैं। समाजवादी राज्य द्वारा औद्योगीकरण का प्रसार राज्य में शक्ति की अभिवृद्धि करता है किन्तु चुनौती का सामना उचित आर्थिक समायोजन तथा योजनाबद्ध विकास पर सामाजिक नियन्त्रण के माध्यम से ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त छोटे उद्योगों का विकास करके भी औद्योगिक विकास का विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है ताकि सहकारिता का सहारा लेकर नागरिकों को सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं से सम्बद्ध किया जा सके। राष्ट्र निर्माण में औद्योगीकरण की उक्त महत्वपूर्ण भूमिका को नेहरू ने स्वीकार किया, किन्तु वे भारत राष्ट्र की आत्मा का ग्रामीण समाज में निवेश यथावत् बनाये रखना चाहते थे। अतः ग्रामीण क्षेत्रों का आर्थिक एवं सामाजिक विकास किया जाना आवश्यक है ताकि व्यक्ति शहरीकरण का शिकार न बन जाये तथा शहरी औद्योगिक इकाइयां ग्रामीण इकाइयों का स्वावलम्बन समाप्त न कर दें। गांवों का आधुनिकीकरण करके ग्रामीण जन-समुदाय को शहरीकरण की चकाचौंध करने वाली प्रवृत्ति से बचाया जा सकता है। गांवों को राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया से सम्बन्धित करने का यह प्रयास महत्वपूर्ण था। नेहरू ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सामुदायिक विकास योजनाओं तथा विस्तार-सेवाओं का अनुमोदन किया।

नेहरू अन्तर्राष्ट्रवादी थे। उनका अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण वैदिक तथा आधुनिक विज्ञान के ब्रह्माण्डीय दृष्टिकोण का मिश्रण था, वे समस्त विश्व को एक इकाई के रूप

में देखते थे जिसमें मानवीय समाज की सार्वभौमिक एकता पर विशेष बल दिया गया था। इसी आधार पर वे लोकतन्त्र तथा राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों को सम्बन्धित करना चाहते थे ताकि राष्ट्रों में पारस्परिक वैमनस्य समाप्त होकर विश्व-बन्धुत्व का वातावरण बन सके।[11] वे राष्ट्रों की विस्तारवादी प्रवृत्ति के प्रबल आलोचक थे। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे राष्ट्रवाद के आलोचक थे। उनका यही अभिप्राय था कि मानवीय हितों तथा मानवतावाद को मापदण्ड स्वीकार करते हुए राष्ट्रीय हितों की सम्पूर्ति की जाये। वे उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, रंगभेद, प्रजातीय सर्वोच्चता आदि बुराइयों से राष्ट्रों को मुक्त रखने के लिये प्रयत्नशील थे। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास से प्रत्येक राष्ट्र इन बुराइयों से बच सकता है, ऐसी उनकी मान्यता थी। नेहरू का राष्ट्रवाद उनके अन्तर्राष्ट्रवाद के समरस था।[12] वे केवल देश-भक्ति अथवा राष्ट्रवाद के संकीर्ण प्रांगण पर अवलम्बित रहना नहीं चाहते थे।[13] उन्होंने दी डिस्कवरी आफ इण्डिया में स्थान-स्थान पर भारत की संस्कृति तथा सभ्यता की प्रशंसा में उद्गार व्यक्त किये हैं, किन्तु उनका राष्ट्रवादी दृष्टिकोण उनके विचारों को सीमित न कर सका। वे भारत की सीमा के बाहर के विश्व पर अपनी दृष्टि लगाये रहे। उनका मानवतावादी चिन्तन उन्हें विश्व नागरिक की स्थिति में प्रस्तुत करता है।[14]

नेहरू ने गांधीजी को अपना "गुरु" स्वीकार किया था किन्तु नेहरू तथा गांधीजी में वैचारिक भेद की कमी न थी। नेहरू ने गांधीजी के चिन्तन की भौतिकता-विहीन दृष्टि तथा सामाजिक जीवन की यथार्थता से विलग विचारधारा को व्यावहारिक नहीं माना। वे मानते थे कि गांधीजी व्यक्ति की आत्मिक शुद्धता, जीवन में संयम तथा अपरिग्रह की धारणा से मानव जीवन को परिष्कृत एवं परिवर्तित करना चाहते थे किन्तु यथार्थ जीवन में गांधीजी की ये धारणाएं सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं के समक्ष महत्वहीन दिखाई देती थीं। समाज के उत्थान तथा उसकी भौतिक समृद्धि नेहरू के लिये अधिक महत्वपूर्ण थी और उनकी वरीयता को आध्यात्मिक गुणों के व्यक्तिगत पक्ष के समक्ष समाप्त नहीं किया जा सकता था। वे व्यक्ति के आत्मोत्कर्ष के स्थान पर प्रत्यक्ष एवं स्थूल जगत में मानवीय अनुभूति को महत्व देते थे।[15]

नेहरू के राजनीतिक विचार

नेहरू के विचारों पर वैज्ञानिक एवं औद्योगिक क्रान्ति, मानवतावाद, धर्मनिरपेक्षता, उदारवाद, फेबियनवाद तथा मार्क्सवाद का स्पष्ट प्रभाव था। वे आर्थिक नियोजन एवं लोकतन्त्रवाद दोनों के मध्य समन्वय स्थापित करना चाहते थे। आलोचकों ने उन्हें शायद इसी कारण से 'हेमलेट आफ इण्डिया' कह कर सम्बोधित किया है किन्तु यह सच है कि लोकतन्त्र को यथावत् बनाये रखने तथा आर्थिक नियोजन के सभी उदाहरणों का आत्मसात्करण करने में नेहरू ने जो वैचारिक एवं व्यावहारिक सफलता प्राप्त की वह विश्व में अनूठी थी। स्वतन्त्रता तथा समानता के व्यक्तिगत मूल्यों का अंगीकरण करने के साथ-साथ नेहरू ने सोवियत रूस के समान सामूहिकता के स्थान पर सहकारिता का वरण किया। वे समस्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता के मध्य आर्थिक समृद्धि का समाजवादी रूप लाना चाहते थे। उनका दृष्टिकोण सार्वभौम मानवतावादी था। वे उन मूल्यों को भारतीय जन-जीवन में उतारना चाहते थे जो कि पाश्चात्य जीवन के अंग थे। संसदात्मक लोकतन्त्र

को भारत में प्रतिष्ठित करने का उनका प्रयास सराहनीय था। वे भारत जैसे निर्धन, अल्पशिक्षित एवं अल्पविकसित देश में पश्चिम की अति-विकसित शासन पद्धतियों का प्रयोग करना चाहते थे ताकि वर्षों से चली आ रही जड़ता, अज्ञानता एवं सामाजिक अंधविश्वासिता को दूर किया जा सके। नेहरू ने राष्ट्रीय एकता, धर्मनिरपेक्षता तथा राजनीतिक समानता के आदर्शों को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया। नेहरू ने लोकतान्त्रिक उपायों से भारत में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। यह उनके ही लोकतान्त्रिक विचारों एवं उदारता का परिणाम था कि केरल में "बुलेट" के स्थान पर "बैलट" से साम्यवादी सरकार की स्थापना हो सकी। देशी रियासतों के शासकों की अपार धन-सम्पदा, उद्योगपतियों के कालेधन से उत्पन्न समृद्धि तथा अंग्रेजों की गुलामी करने वाले सम्भ्रान्तसेवी वर्ग के विदोषों से जनित वातावरण को सामान्य जन के स्वाधिकार एवं स्वाभिमान से परिशुद्ध करने का नेहरू का प्रयास व्यक्ति की गरिमा को पुनर्स्थापित कर रहा था।

नेहरू ने केवल भारत की सभ्यता तथा संस्कृति की महत्ता का ही अवलम्बन नहीं लिया, अपितु पाश्चात्य विश्व की महत्वपूर्ण विरासत को भी आत्मसात् करने का सन्देश दिया ताकि समाज के आणविक विकास के स्थान पर उसके अन्य समाजों के साथ सहयोग की प्रक्रिया को निरन्तरता प्रदान की जा सके। भारतीय समाज की पृथकता पर जोर न देकर विश्व-समाज के साथ उसके सम्बन्धों को स्थापित कर नेहरू ने परम्परा की आधुनिकता के साथ अन्तरक्रिया को दर्शाया। उनका आधुनिक दृष्टिकोण उन्हें प्रारम्भ से ही विश्व इतिहास की अन्योन्याश्रितता से परिचित रखे हुआ था। वे भारत के भावी भविष्य को इसी विश्व घटनाचक्र से सम्बन्धित मानते हुये एक अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का स्पन्दन अपने हृदय में सजोये हुये थे।

नेहरू के राजनीतिक चिन्तन में उनकी संविधानवाद में दृढ़ निष्ठा प्रगट होती है। वे सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के माध्यम से लोकतान्त्रिक पद्धति के क्रान्तिकारी कार्य को सम्पादित करना चाहते थे। सामाजिक तथा आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों को राष्ट्रनिर्माण के कार्यों के साथ सम्बद्ध करके जनता में निर्वाचक का आत्मविश्वास नेहरू ने जागृत किया। भारत की जनता में लोक सम्प्रभुता का संचार करने का श्रेय नेहरू को ही मिलने वाला था। विदेशी पर्यवेक्षकों को भारत जैसे विशाल देश में लोकतन्त्र का प्रयोग असम्भव-सा प्रतीत होता था। यह नेहरू के प्रबल संकल्प का ही प्रतिफल था कि वे भारत में व्याप्त समस्त कमियों के बावजूद भी लोकतन्त्र को सफल बना सके। केवल लोकतन्त्र को सफलता ही नहीं मिली, अपितु उसे स्थायित्व भी प्राप्त हुआ। दीर्घकाल से चले आ रहे विदेशी शासन के पश्चात् भारत की महत्वपूर्ण समस्या राजनीतिक एवं आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करने की थी। नेहरू ने इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति करने का साहस प्रदर्शित किया। राजनीतिक स्थायित्व के लिए संसदात्मक शासन पद्धति का सहारा लिया। सामाजिक परिवर्तन तथा उभरती हुई सामाजिक शक्तियों को सर्वसम्मति के आधार पर गतिमान किया। आर्थिक स्थायित्व को प्राप्त करने के लिये नेहरू ने सम्पत्ति के अधिकार को छीनने के स्थान पर जनता को पूंजी के केन्द्रीयकरण से उत्पन्न परेशानियों से अवगत कराया और सहकारिता आन्दोलन के माध्यम से कुटीर एवं लघु उद्योगों की स्थापना तथा सम्पत्ति के

उचित वितरण पर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

समाजवाद

नेहरू पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव उनके 1926-27 की रूस-यात्रा से स्पष्ट हो गया था।[16] वे रूस द्वारा प्राप्त आर्थिक विकास से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन (1929) के अध्यक्षीय भाषण में समाजवादी दर्शन के विश्वव्यापी सामाजिक प्रभाव को व्यक्त किया। उन्होंने भारत की दरिद्रता तथा आर्थिक विषमता के निवारण के लिये समाजवादी पद्धति को अनुकरणीय माना।[17] उन्हीं के प्रभाव से 1931 के कांग्रेस के कराची अधिवेशन में प्रमुख उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव पारित किया गया। 1936 के लखनऊ अधिवेशन में नेहरू ने भूमि तथा चन्द व्यक्तियों के हाथ में उद्योगों के स्वामित्व की निन्दा करते हुए जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की बात कही। वे मुनाफाखोरी, जमाखोरी आदि आर्थिक बुराइयों को दूर करने के लिये कृत-संकल्प थे। यह क्रम उनके जीवनपर्यन्त चलता रहा। उन्होंने ग्लिम्पसेज आफ वर्ल्ड हिस्ट्री में ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के अध्ययन में मार्क्स की शब्दावली का भी प्रयोग किया। यद्यपि वे मार्क्स की विचारधारा के सभी तथ्यों से प्रभावित नहीं थे और विशेषतः वर्ग-संघर्ष के विचार को भी स्वीकार नहीं करते थे, फिर भी उनके मन में पूंजीपतियों द्वारा साधनहीन कृषकों एवं श्रमिकों के शोषण के प्रति गहरा क्षोभ था। वे इस आर्थिक शोषण के क्रम को समाजवादी प्रक्रिया से समाप्त करना चाहते थे। वे भारत में नये आर्थिक समाज की स्थापना करने के लिए परिवर्तन एवं विकास का मार्ग अपनाना चाहते थे, किन्तु यह परिवर्तन शक्ति के द्वारा लाने का विचार उनका नहीं था। वे शान्तिपूर्ण उपायों से सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन चाहते थे। वे भारत में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिये लोकतन्त्र को अनिवार्य शर्त मानते थे। भारतीय जनता में वर्ग-चेतना का अभाव, अंधविश्वास, भाग्यवादिता, अकर्मण्यता आदि ऐसे मूलभूत कारण थे जिनसे नेहरू ने भारत में समाजवाद को दमन के माध्यम से लाना उचित नहीं समझा। वे निरंकुशता के माध्यम से उग्र परिवर्तन लाने के पक्ष में नहीं थे। वे इस कार्य के लिये जनता को जागृत कर उसमें समाजवाद के प्रति निश्चित लोकमत का संचार करना चाहते थे ताकि परिवर्तन की प्रक्रिया क्रमिक तथा स्वाभाविक रूप से पूर्ण हो सके। समाजवाद को गति प्रदान करने के लिए नेहरू ने भारत की अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र को अत्यधिक महत्त्व दिया। उत्पादन के प्रमुख स्रोतों का सार्वजनिक क्षेत्र में होना स्वतः सार्वजनिक स्वामित्व में वृद्धि करते हुए देशव्यापी औद्योगीकरण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम होगा। वे भारत की दरिद्रता का निवारण मिश्रित अर्थ-व्यवस्था में ढूंढ रहे थे। उनका यह प्रयास उन्हीं के प्रयत्नों से मूर्तीभूत हुआ। वे योजनाबद्ध विकास के द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से इस कार्य में जुट गये। उनके द्वारा स्वीकृत मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का क्रम राष्ट्रीय उत्पादन-क्षमता तथा राष्ट्रीय आय में अभिवृद्धि का कारण बना। सम्पत्ति के सम्बन्ध में समाजवादी दृष्टिकोण के कारण नवीन धारणाएं विकसित हुई। सार्वजनिक उपयोग में निजी सम्पत्ति के हस्तांतरण का मार्ग भी नेहरू ने ही प्रशस्त किया। यद्यपि आज भी देश में समाजवादी समाज की स्थापना का उद्देश्य पूर्णतया सम्पादित नहीं हो पाता है

और इस मार्ग में अनेक कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि नेहरू ने जिस समाजवादी व्यवस्था का सृजन करना चाहा था, वह स्थापित नहीं हो पायी। 'प्रगतिशील' आलोचकों द्वारा प्रायः नेहरू के लिये यह आलोचना प्रस्तुत की जाती है कि उनके समाजवादी विचारों ने भारत को समाजवादी प्रगति की ओर बढ़ाने के स्थान पर पूंजीवादी प्रवृत्ति की अभिवृद्धि में सहायता दी है। इन 'बुद्धिजीवियों' का यह भी तर्क है कि भारत में पूंजीवादी व्यवस्था पहले से भी अधिक मजबूत हुई है और बड़े-बड़े व्यवसायियों एवं उद्योगपतियों ने आर्थिक विकास का अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयास किया है। इसी प्रकार से यह भी व्यक्त किया जाता है कि भारत में जमींदारी व्यवस्था के समापन के बावजूद भूमिहीन कृषकों की स्थिति जैसी की तैसी ही बनी हुई है बड़े-बड़े भूपतियों ने सघन खेती कार्यक्रम का लाभ उठाते हुए भूमि के स्वामित्व में अधिक विस्तार किया है। किन्तु उपर्युक्त आलोचना बेबुनियाद है। वामपंथी अथवा प्रगतिशील आलोचक यह भूल जाते हैं कि नेहरू ने समाजवादी देशों के समान पूर्ण राष्ट्रीयकरण की नीति का अवलम्बन नहीं लिया। न उन्होंने भूमि के सामूहिक स्वामित्व का ही मार्ग अपनाया। नेहरू के समाजवादी समाज की रूपरेखा सीमित थी। वे सीमित अर्थों में समाजवादी प्रयोग कर रहे थे। मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के उद्देश्यों में पूंजीपतियों को पूर्णतया समाप्त करने का कोई कार्यक्रम नहीं होता। उन्हें समाप्त करने के लिये परोक्ष रूप से सामाजिक क्षेत्र का विस्तार करने का कार्यक्रम निर्धारित किया जाता है। नेहरू ने सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार एवं बड़े-बड़े उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित करने की प्रक्रिया का प्रारम्भ कर उन व्यवसायों से पूंजीपतियों को वंचित कर दिया किन्तु देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा विशेषतः उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन के लिए छोटे उद्योगों एवं मध्यम श्रेणी के उद्योगों को निजी क्षेत्र में रखना आवश्यक था। नेहरू का आर्थिक कार्यक्रम सहअस्तित्व का द्योतक था, अन्यथा वे निजी क्षेत्र को समूल समाप्त करने का विचार प्रस्तुत करते। समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के शान्तिपूर्ण प्रयासों में वर्ग-संघर्ष की स्थिति को टालना तथा इस संघर्ष को पारस्परिक वार्ता मजदूर संगठनों के विकास एवं बढ़ते हुए प्रभाव तथा उपभोगी व्यवस्थापन के माध्यम से दूर करने का उनका विचार सर्वथा समाजवादी था। वे समाजवाद को भारतीय पर्यावरण के अनुकूल स्थिति में ढालना चाहते थे। रूस अथवा चीन का अनुकरण करने का उनका कोई इरादा नहीं था जैसा कि प्रगतिशील बुद्धिजीवियों का रहता है।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण अथवा भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करने का जो कार्य श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में सम्भव हुआ, वह नेहरू द्वारा किये गये प्रयासों का ही प्रतिफल था। नेहरू ने समाजवादी समाज की स्थापना का प्रथम चरण हमारे समक्ष रखा था और उसे गति देने में उन्होंने कोई शिथिलता नहीं दिखाई। नेहरू केवल वैचारिक समाजवादी नहीं थे, वे राजनीतिक यथार्थवादी भी थे। निजी उद्योगों की राष्ट्रीय उत्पादन में अभिवृद्धि करने की क्षमता का उन्हें पूरा अहसास था और उन्होंने इसका पूर्ण उपयोग भी किया, किन्तु नेहरू ने सामान्यजन की आर्थिक स्थिति को सुधारने के प्रयासों में कोई कसर नहीं रखी। पिछड़ी जातियों तथा आदिम एवं अनुसूचित जातियों के संरक्षण, अल्पसंख्यकों के हितों का प्रतिनिधित्व तथा विदेशी आयात पर न्यूनतम निर्भरता—इन सभी

उद्देश्यों को नेहरू ने अपने जीवन में साकार होते हुए देखा।

राजनीतिक नेतृत्व

नेहरू के राजनीतिक नेतृत्व को 'करिश्मेटिक लीडरशिप' की संज्ञा दी गयी है। नेहरू ने करिश्मावादी नेतृत्व प्रदान किया था। लोकतान्त्रिक पद्धति की दृष्टि से ऐसे नेतृत्व को विकासशील देशों के लिये सामाजिक परिवर्तन तथा राजनीतिक विकास के अत्यन्त अनुकूल माना गया है। नेहरू के सफल नेतृत्व के अनेक आधार थे। वे जन-जन के नेता अर्थात् लोकनायक थे। कांग्रेस दल के वे दार्शनिक, मित्र एवं पथ-प्रदर्शक थे। गांधीजी तथा सरदार पटेल के पश्चात् नेहरू को ही कांग्रेस दल का भाग्यविधाता स्वीकार कर लिया गया था। कांग्रेस दल ने नेहरू के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण अभूतपूर्व सफलताएँ अर्जित कीं। नेहरू को अपने राजनीतिक कार्यक्रम के क्रियान्वयन एवं समर्थन के लिए एक शक्तिशाली एवं सुसंगठित दल की आवश्यकता थी। कांग्रेस दल ने नेहरू का पूर्ण समर्थन किया। यद्यपि नेहरू के कांग्रेस में सभी हितों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था, फिर भी कांग्रेस ने उनके समाजवादी कार्यक्रम को समर्थन दिया और उसे सफलता की ओर बढ़ाया। कांग्रेस को बड़े उद्योगपतियों से समय-समय पर आर्थिक सहायता भी प्राप्त हुई। यह उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल कदम था। भारत जैसे विशाल देश में लोकतान्त्रिक चुनाव-पद्धति के लिए अपार साधनों की आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति में दल स्वयं के सदस्यों की सदस्यता-शुल्क से अपना व्यय वहन नहीं कर सकता था। इतना होने पर भी नेहरू के प्रभावशाली नेतृत्व ने कांग्रेस को प्रगति के मार्ग पर बढ़ाया और उसे दक्षिणपंथियों के प्रभाव से मुक्त रखा। नेहरू ने समाजवाद के राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कांग्रेस को दलीय अनुशासन में निबद्ध किया। जन-सामान्य को समाजवादी कार्यक्रम से अवगत कराने के लिये दल के आन्तरिक विरोधी हित-समूहों को नियन्त्रण में रखा। भारत में साम्यवादी दल तथा पृथक् समाजवादी दलों के विद्यमान रहते हुए भी नेहरू ने कांग्रेसदल को सदैव पूर्ण बहुमत से सत्ता में प्रतिष्ठित रखा। उन्होंने कांग्रेसदल का आधुनिकीकरण करते हुए उसमें सरचनात्मक परिवर्तन भी किये। 'कामराज प्लान'[18] द्वारा दल से अनेक वरिष्ठ राजनेताओं को सत्ता से हटा कर नवीन तत्वों का समावेश किया। उनके द्वारा पंचायती राज्य की स्थापना भारत में प्रभावशाली नेतृत्व के निर्माण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम था।[19]

संविधानवाद

नेहरू ने संवैधानिक संरचना के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन लाने का सफल प्रयास किया। वे स्वतन्त्र रूप से निर्मित लोकतान्त्रिक संविधान को ही संवैधानिक पद्धति का प्रमुख अंग मानते थे। यही कारण था कि भारत की परतन्त्रता के दिनों में उन्होंने लार्ड सीमियन द्वारा संवैधानिक पद्धति को भारत के हित के लिये अनुकूल बतलाये जाने का विरोध किया था।[20] उनका यह तर्क था कि भारत में तब तक कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता जब तक कि भारत के संवैधानिक तन्त्र को जनता की स्वतन्त्र सहमति पर आधारित नहीं किया जाता।[21] इसी प्रकार नेहरू ने अतिवादी क्रान्तिकारी पद्धति को भी अस्वीकार किया। हिंसा के आधार पर भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता-प्राप्ति का मार्ग उन्हें उचित नहीं लगा। वे कांग्रेस के अहिंसक असहयोग कार्यक्रम को अधिक

प्रभावोत्पादक मानते थे। उनकी यह मान्यता थी कि हिंसक आन्दोलन देश की क्रान्तिकारी विचारधारा के बाल्यकाल का द्योतक है। क्रान्तिकारी विचारधारा वास्तव में हिंसा एवं बल प्रयोग के पश्चात् ही सही रूप में पनपती है। वास्तविक शान्ति केवल हिंसा पर आधारित नहीं होती।[22] नेहरू ने अहिंसक शान्ति का समर्थन किया था। वे गांधीजी के असहयोग आन्दोलन को आततायी शासन के प्रतिकार का सफल मार्ग मानने लगे थे,[23] किन्तु नेहरू की राजनीतिक पद्धति में असहयोग का मार्ग जनता द्वारा प्रयुक्त होने के स्थान पर नेताओं द्वारा प्रयोग में लाना चाहिये था। उनका विश्वास था कि पश्चात्य देशों के समान जनता के बहुमत द्वारा चलाये जाने वाले राजनीतिक कार्यक्रम का भारत द्वारा अनुकरण उचित नहीं था। केवल सत्यात्मक आधार पर किसी राजनीतिक आन्दोलन की सफलता को आंकना उन्हें पसन्द नहीं था। जन-सामान्य अहिंसक आन्दोलन में उत्पन्न कष्टों को झेलने का साहस नहीं रखता। चुने हुए व्यक्ति ही ऐसे आन्दोलन की बागडोर सम्भाल सकते हैं। जहाँ अधिक जनसमुदाय को राजनीतिक आन्दोलन में प्रयुक्त करना हो, वहाँ आन्दोलन को संवैधानिक दिशा ही मिलनी चाहिये।[24]

राजनीति में नैतिक मूल्य : व्यक्ति तथा राज्य

नेहरू ने भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् अपनी अमेरिका यात्रा के दौरान बतलाया कि भारत की सफलता केवल विदेशी शत्रु की हार से ही पूरी नहीं हुई किन्तु और भी उपलब्धियाँ शेष थीं। साधन और साध्य के पारस्परिक सम्बन्धों पर जोर देते हुए नेहरू ने नैतिक शक्ति को पाशविक शक्ति से अधिक महत्वपूर्ण बतलाया। बुराई का सहारा लेकर किया गया कार्य एक कुचक्र है जिसमें फँस कर निकलना सम्भव नहीं। सत्य के आधार पर भारत द्वारा प्राप्त की गई स्वतन्त्रता यथार्थ पर आधारित है।[25]

नेहरू ने 1958 में कांग्रेस के अपने सहयोगियों के नाम लिखा था कि व्यक्ति के नैतिक मूल्यों का ह्रास अच्छी स्थिति का द्योतक नहीं है। वे व्यक्ति के मस्तिष्क द्वारा भौतिक विश्व पर प्राप्त की गयी विजय को विश्व के होने वाले परिवर्तनों का आधार मानते हुए भी इस तथ्य से निराश थे कि व्यक्ति बाह्य अंतरिक्ष की खोज करते हुए भी अपने अन्तराल को टटोलने में विवशता दिखाता है। उनकी मान्यता थी कि विज्ञान की आणविक तथा प्रविधि के क्षेत्र में प्रगति सभ्यता को विनाश की ओर धकेल रही है, धर्म विवेक के साथ संघर्ष में आता है और धार्मिक तथा सामाजिक परिवर्तन के आधार विवेकवाद के समक्ष निस्तेज हो जाते हैं। धर्म यथार्थवादी न होकर पारलौकिक दृष्टिकोण अपनाता है और विवेकवाद सतही ज्ञान प्राप्त करने तक सीमित रह जाता है। विज्ञान भी अनेकानेक उपलब्धियों के पश्चात् पदार्थ, ऊर्जा तथा आत्मा की परस्पराश्रयवृत्तता को नहीं समझ सका। भूतकाल में जब कि मानव का प्रकृति से अधिक सामीप्य था, व्यक्ति का जीवन सुखमय था। विज्ञान के विकास ने निर्माण के उपायों को विनाश में प्रयुक्त करने का मार्ग दिखाया है।[26]

जीवन का उद्देश्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए, नेहरू के अनुसार, आज भी मानव उत्सुक है। प्राचीन सभ्यताओं की अपूर्णता को नवीन पाश्चात्य सभ्यता आणविक क्रम का विकास करके भी दूर नहीं कर सकी है। हमारी सभ्यता में कहीं न कहीं कोई त्रुटि अवश्य है। हमारी समस्यायें भी हमारी सभ्यता के सम्बन्ध में ही

हैं। धर्म ने जहां एक ओर आध्यात्मिक तथा नैतिक अनुशासन उत्पन्न किया है, वहीं अन्धविश्वास तथा सामाजिक बुराइयाँ भी उत्पन्न की हैं। धर्म द्वारा उत्पन्न इन बुराइयों ने धर्म को निगल लिया है। अंधकार से बचने के लिये साम्यवाद एक नई ज्योति दिखाता है, किन्तु साम्यवाद भी कतिपय दोषों से युक्त है। यह भी मानव, प्रकृति तथा मानवीय स्वतन्त्रता को जड़बद्ध करने का प्रयास करता है। इसके द्वारा आध्यात्मिक तथा नैतिक पक्ष का प्रतिकार मानव व्यवहार के गूढ़ मूल्यों तथा नैतिक स्तर के विरुद्ध है। हिंसा का मार्ग प्रदर्शित करने वाली साम्यवादी विचारधारा मानवीय आचरण में बुराइयों को बढ़ावा देती है।[27]

नेहरू ने सोवियत रूस की प्रशंसा करते हुए व्यक्त किया कि वे रूस द्वारा बच्चों तथा सामान्यजन के लिए किये गये कल्याणकारी कार्यों से अत्यधिक प्रभावित हुए थे, परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करने का रूस का कार्य साध्य को भ्रष्ट करने वाले साधनों पर आधारित है। साम्यवाद द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था की यह आलोचना कि पूंजीवाद वर्ग-संघर्ष एवं हिंसा पर आधारित है, वास्तव में सही है, किन्तु इस स्थिति से बचकर वर्गविहीन समाज की स्थापना करने के लिए हिंसा ही एकमेव मार्ग नहीं हो सकती। साम्यवाद तथा फासिस्टवाद दोनों ही, नेहरू के दृष्टिकोण में, हिंसा के प्रयोग पर अवस्थित होने के कारण स्वीकृति योग्य आदर्श नहीं हैं।

नेहरू ने गांधीजी द्वारा दर्शाये गये शांतिपूर्ण मार्ग को अन्य आदर्शों से कहीं अधिक सहिष्णु बतलाया है। वे साम्यवादी तथा गैर-साम्यवादी दोनों ही विचारधाराओं को अन्यों पर थोपने की असहिष्णु नीति के विरुद्ध थे। नेहरू ने 1956 के स्वेज-विवाद तथा हंगरी की स्वायत्तता-प्राप्ति की घटना-दोनों ही-को इसका ज्वलन्त उदाहरण बतलाया। उनकी धारणा थी कि इस प्रकार का वैचारिक संघर्ष सामाजिक प्रगति का बोध न हो कर हिटलर जैसे व्यक्ति के अभ्युदय का कारण बन सकता है।[28]

नेहरू ने यह स्वीकार किया कि भारत में भौतिक समृद्धि को प्राप्त करने के प्रयत्न में मानवीय प्रकृति के आध्यात्मिक तत्त्व की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि भारत में व्यक्ति तथा राष्ट्र के लिये एक ऐसे जीवन-दर्शन की आवश्यकता है जो हमारे चिन्तन को आध्यात्मिक पृष्ठभूमि दे सके। उनके अनुसार भारत का लक्ष्य व्यक्ति के जीवन को उन्नत करना होना चाहिये। समाजवाद तथा लोकतन्त्र दोनों ही साधन हैं साध्य नहीं है। हम समाज के कल्याण के लिये व्यक्ति का बलिदान नहीं करता है।[29] इसके लिए जीवन का ध्येय प्रतिस्पर्द्धा अथवा संग्रहणशीलता न होकर सहयोग पर आधारित होना चाहिए। प्रत्येक का कल्याण सबके कल्याण का जनक बन सकता है यदि लोगों को अधिकारों के स्थान पर कर्तव्यों के प्रति निष्ठावान् बना जाय। इस तरह शिक्षा को नई दिशा प्रदान कर एक नव मानवता का सृजन किया जा सकता है।

वैदिक दर्शन का उल्लेख करते हुये नेहरू ने दर्शाया कि प्रत्येक वस्तु में परमात्मा का अंश है। यह स्थिति हम तत्त्वमीमांसा की गहराइयों की ओर ले जाती है। विज्ञान भी तत्त्वमीमांसा की ओर बढ़ रहा है। यदि व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाये तो प्रत्येक वस्तु में परमात्मा का निवास जीवन के यथार्थ को हमारे सामने प्रस्तुत करते हुये जाति, रंगभेद, वर्ग-भेद आदि के संकीर्ण बन्धनों से मुक्त करता हुआ हमें अधिक सहिष्णु बनाने में सहायक

हो सकता है।

नेहरू के प्रयत्नो से भारत मे लोक कल्याणकारी राज्य तथा समाजवाद के आदर्श को स्वीकार किया गया।[30] प्रत्येक देश चाहे वह पूंजीवादी हो, समाजवादी हो अथवा साम्यवादी-मूलरूप मे लोक कल्याणकारी राज्य के आदर्श को स्वीकार करता है। पूंजीवाद ने भी इस आदर्श की पूर्ति का काम संपादित किया है। लोकतन्त्र तथा पूंजीवाद ने इस आदर्श की अनेक कमियो को दूर करने का प्रयास किया है। औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रो ने भी आर्थिक विकास के क्रम को निरन्तर आगे बढाया है और समाज के सभी वर्गों को उन्नत किया है। पिछड़े हुये देशो मे औद्योगिक विकास की कमी के कारण वह स्थिति अभी तक नही बन पायी जिसमे आर्थिक असमानता को दूर किया जा सके। समाजवाद इन असमानताओ को दूर कर सकता है। किन्तु नेहरू का यह स्पष्ट विचार है कि पिछड़े हुये अथवा अविकसित देशो मे समाजवाद का प्रयोग समाजवाद को भी पिछड़ा एवं अविकसित बना देगा।

उनके विचार से साम्यवाद के अनेक राजनीतिक आधारो ने समाजवाद सम्बन्धी मान्यताओ को विकृत रूप मे प्रस्तुत किया है। साम्यवाद की वर्ग-हिंसक उपायो से स्थापना समाजवाद से मेल नही खाती। समाजवाद को समाज के सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन से जोड़ने की आवश्यकता है ताकि उत्पादन के स्रोतो को सामुदायिक परिवर्तन तथा विकास का मापदंड माना जा सके। साम्राज्यवाद अथवा उपनिवेशवाद ने प्रगति को अवरुद्ध किया है। इसके विपरीत समाजवाद आर्थिक स्वावलम्बन तथा समानता का आधार प्रस्तुत करता है।

नेहरू ने व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्धो पर बल देते हुये यह व्यक्त किया कि राज्य व्यक्ति के लिये है, न कि व्यक्ति राज्य के लिये। व्यक्ति समाज के प्रति उत्तरदायी है किन्तु राज्य का मूल आधार व्यक्ति के कल्याण पर निर्भर करता है। व्यक्ति के अधिकार उसके सामाजिक उत्तरदायित्वो से सतुलित किये जाये जाते हैं। कर्त्तव्यो के बिना अधिकारो का बोध नही हो सकता।[31] नेहरू राज्य के पुलिस राज्य से लोककल्याणकारी राज्य की ओर विकास को आधुनिक समय की आवश्यकता के अनुकूल मानते थे। वे राज्य के बढते हुए कार्यो को दृष्टि मे रखते हुए राज्य-शक्ति के विस्तार तथा उसके केन्द्रीयकरण से परिचित थे। वे चाहते थे कि राज्य-शक्ति का विकेन्द्रीयकरण किया जाय ताकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता की राज्य से रक्षा की जा सके।[32]

नेहरू ने विकेन्द्रीयकरण तथा गावो के स्वावलम्बन मे अन्तर बतलाया है। गांवो को स्वावलम्बी एवं विकसित बनाने की योजना उन्हें सर्वाधिक प्रिय थी किन्तु वे उस आर्थिक विकेन्द्रीयकरण के पक्ष मे नही थे जो ऐसे ग्रामोद्योग पर बल देते हो जो आधुनिक उपकरणो एवं साधनो को त्याग कर पुरातनपंथी साधनो से उद्योगो के विकास की राह दिखाता हो। निर्धनता को दूर करने के ऐसे प्रयास निर्धनता को और भी बढाते हैं। निर्धनता को एकदम दूर नही किया जा सकता है। नेहरू के अनुसार समाजवादी दिशा मे योजनाबद्ध प्रयास ही निर्धनता को मिटा सकता है।

योजना के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुये नेहरू ने योजनाबद्ध कार्यक्रम को सीमित साधनो की दृष्टि से महत्त्व का बतलाया। विकसित एवं अविकसित क्षेत्रो का समान रूप

से विकास करने के लिये राष्ट्रीय एकीकृत योजना की आवश्यकता होती है। इस कार्य के लिये निजी उद्योगों को प्रोत्साहित करने की भी आवश्यकता होती है। भारत में निजी उद्योगों को योजना के अन्तर्गत उचित नियंत्रण में निबद्ध किया गया है ताकि योजना के राष्ट्रीय तथ्यों का सधारण हो सके तथा उत्पादन बढ़ाया जा सके।

नेहरू ने भूमि-सुधारों की योजना को कृषि की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि के लिये आवश्यक माना।[33] इन सुधारों के माध्यम से अर्से से चली आ रही सामाजिक असमानता तथा वर्ग संरचनाओं को समाप्त किया जाना आवश्यक था। भारत में भूमि-सुधारों द्वारा विकास के एक निश्चित आधार को प्राप्त कर सामाजिक सुरक्षा की स्थापना के लिये भी प्रयत्न किया गया था,[34] किन्तु कोई भी उद्देश्य तब तक, नेहरू की दृष्टि में, पूरा नहीं हो सकता जब तक कि मानवीय गुणों का विकास न किया जाये। मानव की उन्नति में ही राष्ट्र की उन्नति निहित है। नेहरू ने शिक्षा तथा स्वास्थ्य को इस दृष्टि से अधिक महत्व देने की आवश्यकता पर बल दिया है ताकि आर्थिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति हो सके।

नेहरू ने भारत की समस्याओं को अन्य देशों से भिन्न स्तर पर रखा। औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों के समक्ष समस्याएँ भिन्न प्रकार की थीं। उनका आर्थिक स्तर वर्तमान विकसित अवस्था से पहले भी भारत से कई गुणा अच्छा था। पश्चात्य मापदंडों से भारत की समस्याओं का निवारण सही ढंग से नहीं हो सकता। मार्क्सवादी आर्थिक व्यवस्था भी पुरानी पड़ चुकी है। अतः भारत के लिए अपनी समस्याओं के निराकरण हेतु भारतीय दृष्टिकोण अपनाना ही श्रेयस्कर है। शांतिपूर्ण उपायों से तथा प्रत्येक वस्तु में जीवन-शक्ति के अस्तित्व के वैदिक आदर्श को ध्यान में रख कर हमें आर्थिक समस्याओं का हल ढूंढना है।

सामाजिक परिवर्तन

नेहरू के अनुसार प्राचीन समय में जो राजप्रासाद की क्रान्तियां हुआ करती थी, उनमें राजनीतिक परिवर्तन की प्रक्रिया का सामान्य जनता के जीवन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। जन-जीवन के सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष को परिवर्तित करने की स्थिति सत्ताधारियों की शक्ति-लालसा से सम्बन्धित नहीं थी। अच्छे और बुरे शासकों का सत्ता के लिये रक्तपात निर्बाध गति से चलता रहता था। किन्तु यह स्थिति राष्ट्रीय क्रान्ति के युग में बदल गयी। विदेशी सत्ता द्वारा संचालित राष्ट्र जनता की परतन्त्रता के अलावा उसके नैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पतन का कारण बन जाता है। परतन्त्रता में जकड़ी हुई जनता शोषण एवं अपमान की भागी बनती है। समाज की उच्च श्रेणियों को सत्ता तथा शक्ति से दूर रखकर विदेशी शासन अपनी जड़ें जमाने का प्रयास करता है, किन्तु राष्ट्रीय क्रान्ति के माध्यम से विदेशी सत्ता से मुक्ति प्राप्त करने पर समाज का उच्च वर्ग पुनः शक्ति प्राप्त कर लेता है और दासता के सभी बंधन तोड़ देता है। फिर भी राष्ट्रीय क्रान्ति का लाभ समाज के निम्न वर्गों तक नहीं पहुंच पाता। उनके लिये परतन्त्रता और स्वतन्त्रता का अन्तर तब तक स्पष्ट नहीं हो सकता, जब तक उन्हें सामाजिक स्तर की दृष्टि से ऊंचा उठाने का प्रयास न किया जाए। इस कार्य के लिये केवल राजनीतिक परिवर्तन ही पर्याप्त नहीं होता। राजनीतिक परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति भी

आवश्यकता होती है। सामाजिक क्रान्ति समाज में ढांचे को बदल देती है। अंग्रेजों की संसदीय सर्वोच्चता स्थापित करने वाली क्रान्ति अथवा फ्रांस की राज्यक्रान्ति इसी प्रकार के सामाजिक परिवर्तन की द्योतक है। सामाजिक परिवर्तन के लिए जनता में जागृति आवश्यक है। जब आर्थिक कारणों से जनता तिलमिला उठती है, तब सामाजिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त होता है। फिर भी जनता में अन्याय का प्रतिकार करने की भावना पूर्णतया जागृत नहीं हो पाती। उस सुषुप्त भावना को जागृत किये बिना सामाजिक परिवर्तन अर्थहीन है।[35]

नेहरू ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में बाधक तत्त्वों का उल्लेख करते हुये बतलाया कि प्राचीन समय में आवागमन के साधनों की सीमित उपलब्धि तथा उत्पादन एवं वितरण के साधनों में परिवर्तन की शिथिलता, धर्म द्वारा रूढ़िवादिता एवं परिवर्तन का विरोध, वर्ग-विशेष का साधनों पर एकाधिपत्य एवं सत्ता का स्वामित्व ऐसे कारण थे जिनमें यथास्थिति को भी परिवर्तन का प्रतीक बना दिया गया। इनके अनुसार सत्ताधारियों द्वारा यह भ्रम अभी भी बना हुआ है। वे जिसे स्वयं के लिए लाभकारी मानते हैं, उसी को श्रेष्ठ मानकर शेष समाज का शोषण करते हैं। वास्तव में समाज का हित केवल कुछ व्यक्तियों का हित नहीं हो सकता। सामाजिक हित की वास्तविक साधना में ही व्यक्तिगत हित की कामना करना श्रेयस्कर है किन्तु धर्म तथा रूढ़िवादिता से दबे व्यक्ति भी शोषण की व्यवस्था को अपने लिए श्रेष्ठ मानने की भूल कर बैठते हैं और सामाजिक परिवर्तन का स्वयं विरोध करते हैं। वे सामाजिक व्यवस्था को अपरिवर्तनशील मानते हुये भाग्यवादिता के सहारे जीते हैं। किस्मत को दोष देने वाले या मानने वाले प्रगति का विरोध करते हैं। नेहरू के अनुसार यह स्थिति तब छिन्न-भिन्न होती है, जब रूढ़ियां तथा वास्तविकता के बीच खाई गहरी हो जाय। एक बार परिवर्तन की प्रक्रिया स्थापित होने पर सामाजिक क्रान्ति वेग से लाई जा सकती है। अतः रूढ़िवाद एवं परम्परावाद ही क्रान्ति-वेग के जनक हैं। यदि समाज परिवर्तन की प्रक्रिया के साथ-साथ परिवर्तित होता रहे तो सामाजिक क्रान्ति की भी आवश्यकता नहीं होगी। सामाजिक क्रान्ति का स्थान सामाजिक विकास ले लेगा।[36]

सामाजिक परिवर्तन के लिए नेहरू ने गांधीजी के विचारों को स्वीकार नहीं किया। गांधीजी की धारणा कि व्यक्तियों का सुधार सामाजिक विकास का प्रतीक बन सकता है, नेहरू को समीचीन प्रतीत नहीं हुआ। इसी प्रकार वे भौतिक सुविधाओं का स्वेच्छा से त्याग तथा सादगी और सीमित आवश्यकताओं से संयमित जीवन को उचित ही न मानते थे। नेहरू ने गांधीजी के इन विचारों के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की स्थिति को हास्यास्पद माना। वे समाज की प्रगति के लिये विज्ञान की उपलब्धियों एवं भौतिक सुविधाओं को महत्त्व देते थे। वे गांधीजी के साधुवाद एवं निर्धनता के महिमागान को आधुनिकता की दृष्टि से पिछड़ेपन का प्रतीक मानते थे। आधुनिक सभ्यता द्वारा न केवल शहरी समाज को अपितु ग्रामीण भारत को ऊपर उठाने का उनका स्वप्न सामाजिक परिवर्तन का विशिष्ट विचार था। वे मानते थे कि जहां गांधीजी व्यक्तिगत मुक्ति तथा पाप की भावना से प्रत्येक वस्तु को तौलते थे, वहां सामाजिक हित आधुनिक समय की मांग का प्रतीक था। व्यक्ति को परिष्कृत करने का विचार व्यक्ति के सामाजिक जीवन को सम्पन्न

एव सुखी बनाने से भिन्न था। निर्धन तथा साधन हीन व्यक्ति की सेवा के उपदेश से शोषण उत्पन्न करने वाले कारणों का अन्त ढूंढा जाना चाहिये था। नेहरू ने यहा तक माना कि गांधीजी के विचारों की अहिंसा उनके द्वारा स्वीकृत राजनीतिक तथा सामाजिक सरचनाओं की अहिंसा से मेल नही खाती। गांधीजी का दार्शनिक अराजकतावाद हिंसात्मक परिवर्तन का विरोधी है किन्तु इसके कारण परिवर्तन की प्रक्रिया का त्याग नहीं करना चाहिए।[37] समाजवाद तथा मार्क्सवाद को हिंसा से जुड़ा हुआ मान कर गांधीजी ने त्याग दिया है। पूंजीवाद को उससे कम बुरा मानकर उसे कुछ समय के लिये स्वीकार कर लेते हैं किन्तु मनुष्य की भौतिक सुख-सुविधाओं की उन्हें चिन्ता नहीं है। वे न्यासिता के सिद्धान्त की चर्चा करते हुये उसके माध्यम से जनता के कष्टों का निवारण ढूंढते रहे हैं। इस प्रकार मनुष्य का आन्तरिक, नैतिक एव आध्यात्मिक विकास चाहते हुये वे व्यक्ति के बाह्य पर्यावरण मे परिवर्तन करना चाहते हैं। नेहरू के अनुसार उपर्युक्त गांधीवादी दृष्टिकोण व्यावहारिक नहीं है। मनुष्य की शक्ति प्राप्त करने की लालसा, धन अर्जित करने का लोभ एव मानव-सुलभ अन्य चेष्टायें समाप्त नही की जा सकती। सामाजिक परिवर्तन का ध्येय इन सभी मानवीय चेष्टाओं के मध्य सामजस्य तथा सामाजिक नियत्रण प्रस्तुत करने का है ताकि साधनहीन तथा साधन-सम्पन्न दोनों का निर्वाह हो सके। नेहरू के अनुसार ग्रामोद्योगों की स्थापना तथा पुरातनपंथी जीवन की पुनरावृत्ति से प्रगति प्राप्त नही की जा सकती। प्रगति के लिये आवश्यक है कि समाजवाद का लक्ष्य निर्धारित किया जाये। सार्वजनिक हित मे उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था की जाये। यदि राजनीतिक और सामाजिक सस्थाए ऐसे परिवर्तन का विरोध करें तो उन्हें भी बदल दिया जाय। न्यासिता के नाम पर पहले पूंजीपति को पनपने देना और फिर उससे सार्वजनिक हित मे सम्पत्ति के प्रयोग की कामना करना, जमीदारी-जागीरदारी तथा सामतवादी व्यवस्था को स्वीकार करना आदि नेहरू को स्वीकार नहीं थे। वे परिवर्तनवादी थे। उन्हें हिंसा, अहिंसा, बल प्रयोग अथवा हृदय-परिवर्तन किसी भी माध्यम के प्रति आग्रह अथवा अनाग्रह नहीं था। उनके सामने मूल प्रश्न था सामाजिक व्यवस्था को बदलने का। नेहरू ने अपने आपको पारिवारिक कारणों से बुर्जुआ करार देते हुये तथा साम्यवादियों द्वारा उन्हें "पश्चात्तापी बुर्जुआ" समझने का औचित्य स्वीकार करते हुये भी यही कहा कि हमें पाप के स्थान पर पापी का अन्त करना है। पूंजी के दुर्गुणों को पूंजीपतियों की समाप्ति से ही दूर किया जा सकता है। अत नेहरू ने व्यक्तियों के साथ दुराव न रखते हुए पूर्ण व्यवस्था को समय के अनुसार परिवर्तत करने पर जोर दिया। वे परिवर्तन की प्रक्रिया को पूरा करने के लिये समदात्मक लोकतन्त्र को सही मानते थे। उनके अनुसार समदात्मक लोकतन्त्र की असफलता का कारण उसका पूरी तरह मे प्रयोग नहीं किया जाना है। नेहरू ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से धर्म को दूर रखने का आग्रह किया। वे स्पिनोजा के इस कथन को कि 'ज्ञान तथा समझदारी से स्वतन्त्रता प्राप्त करना भावुकता के बन्धन मे श्रेयस्कर है'—भारत के लिये सर्वाधिक उपयुक्त मानते थे।[38]

नेहरू तथा लोकतन्त्र

नेहरू के अनुसार लोकतन्त्र केवल राजनीतिक अथवा आर्थिक धारणा मात्र नहीं है बल्कि एक मानसिक अवस्थिति है। लोकतन्त्र में राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में अवसरों

की अधिकाधिक समानता अन्तर्निहित है। व्यक्ति द्वारा अपनी योग्यताओं तथा क्षमताओं का विकास तथा अन्य व्यक्तियों के प्रति सहिष्णुता का भाव लोकतन्त्र का मूलाधार है। इसकी गतिशीलता तथा सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति इसे ऐसा मानसिक उपागम बना देती है जिससे हमारी राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं का हल निकल सके। लोकतन्त्र में प्रयुक्त राजनीतिक स्वतन्त्रता अथवा समानता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता अर्थहीन दिखाई देगी, फिर भी राजनीतिक समानता पूर्व आवश्यकता है। राज्य द्वारा प्रत्येक नीति पर जनता का समर्थन प्राप्त करना लोकतन्त्र की धुरी है। यदि जनता का यह परमाधिकार छीन लिया जाय तो स्वाधीनता की समाप्ति निकट है। नेहरू के अनुसार लोकतन्त्र में प्रचार के साधनों का दुरुपयोग किया जा सकता है ताकि जनता को गलत नीतियों से बहलाया-फुसलाया जा सके, किन्तु इस तरह का खतरा लोकतन्त्र में सदैव बना रहेगा। इस दोष के कारण लोकतांत्रिक व्यवस्था का त्याग नहीं किया जा सकता। व्यक्तियों द्वारा विनिश्चय करने का अधिकार सुरक्षित रखा जाना है ताकि वह आवश्यकता पड़ने पर शासन में परिवर्तन कर सके। व्यक्ति की रक्षा करने के साथ-साथ महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति से भी सामाजिक तन्त्र को सुरक्षित रखना है। अपराधी अथवा असामाजिक तत्त्वों से समाज को बचाना आवश्यक है। ऐसा कई बार हुआ है कि कोई एक समूह शक्ति प्राप्त कर उस शक्ति को कुछ समय तक बनाये रखता है तथा प्रचार-साधनों से जनता को गुमराह करता है। इस स्थिति से उबारने का उत्तरदायित्व व्यक्ति पर ही है। यदि व्यक्ति असफल होता है तो दोष लोकतन्त्र का नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति की असफलता को लोकतन्त्र की असफलता नहीं मानना चाहिये। लोकतन्त्र शासन के अन्य प्रकारों की तुलना में जनता से अधिक उच्च प्रतिमानों की अपेक्षा करता है। यदि जनता उस मापदण्ड तक नहीं पहुँच पाई तो लोकतांत्रिक यन्त्र असफल हो जाता है।[39]

नेहरू के अनुसार लोकतन्त्र के निर्वाह के लिये आर्थिक कार्यक्रम जरूरी है। केवल मताधिकार के प्रयोग मात्र से समस्याओं का निराकरण नहीं होता। समाज में व्याप्त आर्थिक भेदभाव तथा असमानताओं को दूर किये बिना लोकतन्त्र नहीं पनप सकता। अतः जन प्रतिनिधियों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिये सभी उपाय काम में लायें। मैत्री, सहकारिता, राज्य द्वारा नियन्त्रण आदि किसी भी माध्यम से भेदभाव रोका जाना चाहिये।[40]

नेहरू ने लोकतन्त्र को शांतिपूर्ण पद्धति मानते हुये उसे साध्य प्राप्त करने का उचित साधन माना।[41] अनुशासन के स्थान पर लोकतन्त्र का आत्मानुशासन अन्य पद्धतियों से श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें व्यक्ति पर बाह्य दबाव का अभाव प्रकट होता है। अल्पसंख्यकों के प्रति सहिष्णुता का भाव केवल लोकतन्त्र में ही सम्भव है। संघर्ष के स्थान पर शांतिपूर्ण परिवर्तन लोकतन्त्र का प्राण है। यदि लोकतांत्रिक पद्धति में शांतिपूर्ण उपायों का प्रयोग नहीं होता तो वह लोकतन्त्र का विलोम ही होगा। अराजकता से भिन्न लोकतन्त्र प्रत्येक व्यक्ति को विकास का अवसर प्रदान करता है। कोई भी सामाजिक संगठन बिना अनुशासन के नहीं चल सकता, अतः लोकतन्त्र में भी अनुशासन आवश्यक है। यह अनुशासन न केवल बाह्य दबाव से लाया जा सकता है, और न आत्मानुशासन मात्र से। लोकतन्त्र में अनुशासन स्वयं पर आरोपित किया जाता है।

इस प्रकार नेहरू ने लोकतन्त्र के लिये अनुशासन को महत्वपूर्ण बतलाया और एकतंत्रवाद से उसकी भिन्नता प्रकट की। उन्होंने यह बतलाने का भी प्रयास किया कि व्यक्ति द्वारा अनुशासित न रहने पर बाह्य सत्ता अथवा सैनिक तानाशाही लोकतन्त्र का स्थान लेने के लिए अनुशासन आरोपित करती है।

उनके अनुसार केवल संवैधानिक ढांचे की श्रेष्ठता अथवा संवैधानिक नियमों की श्रेष्ठता से लोकतन्त्र की स्थापना नहीं होती। व्यक्तियों के चरित्र से व्यवस्था चलती है। संविधान भी जनता के विचारों का ही प्रतिबिम्ब हुआ करता है। यदि जनता की भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में असफल हों, तो श्रेष्ठ संविधान भी निरस्त कर दिये जाते हैं। समय के अनुसार कदम से कदम मिलाकर चलना आवश्यक है। आधुनिक समय की मांगों को देखते हुए समदात्मक पद्धति पर्याप्त नहीं है। नागरिकों के समक्ष कार्याधिक्य से प्रदत्त व्यवस्थापन में वृद्धि होना अनिवार्य हो गया है। शासन का सामाजिक समस्याओं से संयुक्त होने का यह अच्छा परिणाम सामने आता है कि अब राज्य केवल पुलिस राज्य न रहा आकर लोक-कल्याणकारी शासन की भूमिका निभाता है। लोकतन्त्र के आर्थिक पक्ष की पूर्ति के लिये शासन को वित्तीय प्रबन्ध भी करना पड़ता है। केवल राजनीतिक शक्ति के प्रसार तथा मताधिकार की व्यवस्था लोकतन्त्र की सुरक्षा के लिये पर्याप्त नहीं है। उन्होंने भारत में ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के अपनाने पर टिप्पणी करते हुए व्यक्त किया कि भारत ने संसदीय जीवन को आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुसार ढालने का सफल प्रयास किया है, किन्तु निरन्तर विकासोन्मुख मानवसमाज के लिये सामाजिक परिवर्तन तथा आर्थिक विकास में तालमेल बिठाना आवश्यक है।[42] उन्होंने भारत के लोकतांत्रिक शासन की इस विशेषता को अधिक ध्यान में रखने का आग्रह किया कि भारत में अन्य देशों की तुलना में लोकतन्त्र को स्थापित किये अधिक समय नहीं हुआ। इतने कम समय में लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना के अनेक लाभ तथा हानियां भी हैं जिनके प्रति जागरूक रहने की आवश्यकता है। लाभकारी पक्ष यह है कि भारत में लोकतन्त्र की स्थापना शांतिपूर्ण तरीकों से की गई है, किन्तु इसमें क्रांतिकारी पक्ष अन्तर्निहित है। इतने कम समय में व्यक्तियों के चिन्तन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया गया है कि वे दासता तथा सामन्तवादी युग से अपने को पूर्णतया भिन्न पाते हैं। भारतीय जनता ने इस परिवर्तन को शांति से बिना किसी संघर्ष तथा व्यवधान के प्राप्त किया है। फिर भी यह प्रश्न सामने आ सकता है कि व्यक्तियों के सोचने की आदत क्या इतनी शीघ्रता से परिवर्तित हो सकती है जितनी शीघ्रता से राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तन लाया गया है? इसके उत्तर में नेहरू ने यह व्यक्त किया है कि व्यक्तियों को नवीन दृष्टिकोण अपना कर समय के साथ अपने को बदलना होगा, अन्यथा यह क्रान्तिकारी लोकतांत्रिक परिवर्तन रूढ़िवादिता तथा यथास्थितिवाद का शिकार बनकर अवरुद्ध हो जायेगा। उनके अनुसार कभी-कभी क्रान्ति लाने वाले स्वयं क्रान्ति के प्रतिगामी बन जाते हैं। इससे सावधान रहने की आवश्यकता है। इतने विशाल जन-समुदाय को नवीन मार्ग पर अग्रसर करने के पश्चात् उन पर नियंत्रण की समस्या स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। भारत ने शांतिपूर्ण अनुशासित तरीके से स्वतन्त्रता प्राप्त की है, अतः नियंत्रण की वे समस्याएँ भारत के सामने नहीं आयीं जो अन्यत्र देखी गयी हैं, फिर भी वे इतने विशाल जनसमुदाय

को उचित नेतृत्व ही दिशा दे सकता है।[43]

लोकतन्त्र में नेतृत्व की समस्या पर प्रकाश डालते हुए नेहरू ने लिखा है कि नेतृत्व ऐसा होना चाहिये जो जनता की अगुवाई करे, न कि स्वयं जनता के आदेशों पर चलने लग जाय। भीड़ की इच्छा के अनुसार चलने वाला नेतृत्व नेतृत्व नहीं कहा जा सकता और न इसके द्वारा मानवीय प्रगति ही सम्भव है। इसी प्रकार यदि नेतृत्व प्रदान करने वाला जन समुदाय से अलग-थलग पड़ जाय तो वह भी उचित नहीं। यदि वह जनसामान्य की तरह सोचने लग जाय तो उसका चिन्तन निम्न धरातल का हो जायगा और वह अपने आदर्शों के प्रति विश्वासघात करेगा अथवा सत्य के लिये समझौता। एक बार समझौता करना प्रारम्भ कर दिया गया तो फिर इस अन्त न होने वाली फिसलन से सभलने का अवसर नहीं प्राप्त होगा। नेतृत्व के लिए सत्य का स्वयं दर्शन पर्याप्त नहीं है, दूसरों को भी सत्य का दर्शन करा सकने की उसमें क्षमता होनी चाहिये। उनके अनुसार लोकतान्त्रिक समाज में जनता या नेतृत्व करने वाला आमतौर पर पर्यावरण के अनुरूप अपने-आपको ढालते हुये कम बुराई के मार्ग का अनुसरण करना चाहता है। अनुकूलन की थोड़ी-बहुत मात्रा तो अपरिहार्य है, किन्तु यह अनुकूलन मूलभूत आदर्शों तथा लक्ष्यों को हानि पहुंचाने वाला नहीं होना चाहिये। यह समस्या निरन्तर बनी रहेगी। प्रत्येक पीढ़ी के समक्ष यह समस्या चुनौती के रूप में होगी और हर व्यक्ति को इसका समाधान अपने प्रकार से चुनना होगा।[44]

लोकतन्त्र को बहस, वार्तालाप तथा असहमति से निर्णयों को स्वीकृत कराने वाली पद्धति मानते हुये नेहरू ने इसे अल्पसंख्यकों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण माना। लोकतन्त्र को शान्ति तथा युद्ध दोनों ही परिस्थितियों में कार्य के अनुरूप मानते हुये वे इसे गतिशील परिवर्तन का माध्यम मानते रहे। उनके अनुसार लोकतन्त्र के अन्तर्गत स्थापित संसदात्मक शासन-व्यवस्था को किसी निश्चित अर्थव्यवस्था से जोड़ना उचित नहीं था। निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र दोनों ही लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत समान रूप से आर्थिक कार्यक्रम के सहभागी बन सकते थे। यह कहना कि संसदीय लोकतन्त्र केवल निजी क्षेत्र से जुड़ा हुआ रह सकता था, उचित नहीं था। उनके अनुसार समाजवाद, निजी उद्योग तथा लोकउद्यम के समर्थक तर्क महत्त्वपूर्ण दिखाई देते हुये भी अप्रभावी हैं। दुनिया में ऐसा कोई भी देश नहीं जहां कि विपरीत परिस्थितियों को मध्यमवर्ग द्वारा मिलाने का प्रयास न किया गया हो। अमेरिका जिसे कि निजी क्षेत्र तथा पूंजीवाद का गढ़ माना जाता है, वहां भी लोक उद्यमों की कमी नहीं है। जिन देशों में समाजवादी लोकतान्त्रिक व्यवस्था है, वहां भी संसदीय लोकतन्त्र ठीक से प्रभावी है। वास्तविकता तो यह है कि संसदीय लोकतन्त्र तथा निजी क्षेत्र में कोई तालमेल नहीं।[45]

नेहरू ने संसदीय लोकतन्त्र की सफलता के लिये वयस्क मताधिकार के महत्व को स्वीकार किया। वे चाहते थे कि मताधिकार के व्यापक प्रयोग से उत्पन्न राजनीतिक परिवर्तन की स्थिति को बनाये रखने के लिए आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना अनिवार्य है। आज साम्यवादी, गैर-साम्यवादी तथा साम्यवाद-विरोधी सभी अपने यहां आर्थिक लोकतन्त्र स्थापित करने की बात दोहराते हैं। इसी प्रकार नेहरू ने शिक्षा के विस्तार पर भी बल दिया। उनके अनुसार अन्य देशों में लोकतन्त्र की स्थापना शिक्षा तथा साक्षरता

के पूर्ण विस्तार के पश्चात् ही हुई, किन्तु भारत मे लोकतन्त्र जिन परिस्थितियो मे स्थापित किया गया, उनमे शिक्षा की वह स्थिति नही थी। अन्य देशो मे आर्थिक क्रान्ति ने शिक्षित जनसमुदाय की मांगों को बढ़ाया और लोकतान्त्रिक व्यवस्था ने उसे पूरा करने का प्रयास किया। भारत मे हमने राजनीतिक लोकतन्त्र एकदम प्रारम्भ कर दिया है यद्यपि जनता की मांगो की आपूर्ति पूरी नही हो पायी। शिक्षा के विस्तार से जनसमुदाय म उत्पन्न राजनीतिक तथा आर्थिक जागृति का समाधान आवश्यक है। इसके लिये योजनाबद्ध विकास का मार्ग अपनाया गया है। यदि राजनीतिक संरचना जनता की आकांक्षाओ तथा उनकी पूर्ति के मध्य की खाई को नहीं पाटती तो उसका अर्थ होगा संरचना का पिछड़ापन और उसकी समाप्ति।[16]

संचार तथा आवागमन के साधनो के विकास ने समस्त मानवीय संरचनाओं को परिवर्तित कर दिया है। केन्द्रीयकरण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति ने मानवीय स्वतन्त्रता के लिये खतरा उत्पन्न कर दिया है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता वह स्थिति नही रही जिसमे एक राष्ट्र दूसर राष्ट्र से आदान-प्रदान किये बिना बना रह सके। राष्ट्रो की परस्पर निर्भरता ने विश्व-सरकार की ओर इंगित किया है, किन्तु राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बनाये रखते हुये विश्व-सरकार की स्थापना मान्य है, अन्यथा नही। नहरू के अनुसार वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है केन्द्रीयकरण तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की समस्या को सुलझाना। उनके अनुसार इस समस्या का समाधान ससदीय लोकतन्त्र मे ही निहित है। एक-सत्तात्मक शासन इस दृष्टि से सफल नही माना जा सकता। कोई भी तानाशाह लंबे समय तक लोकमत की अवहेलना नही कर सकता। औद्योगिक दृष्टि से विकसित समाजो म बुद्धिजीवियों द्वारा एक-सत्तात्मक शासन के प्रति विद्रोह अवश्यम्भावी है। फिर भी केन्द्रीयकरण जनता की स्वतन्त्रता को सीमित करता है। केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीयकरण मे उचित सामंजस्य की आवश्यकता है। गाधीजी ने विकेन्द्रीयकरण का मार्ग प्रशस्त किया है और वे आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियों का विकेन्द्रीयकरण चाहते हैं ताकि शक्ति के केन्द्रीभूत होने से उत्पन्न दोषो से बचा जा सके। नेहरू के अनुसार समय की माग को देखते हुए समाज का अधिक से अधिक संश्लिष्ट होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति मे प्रशासकीय तन्त्र की अभिवृद्धि रोकी जानी चाहिये। नौकरशाही की संख्या म वृद्धि का अर्थ है, ऐसे प्रशिक्षित व्यक्तियों को सरकारी तंत्र मे समाविष्ट करना जो कार्य कुशल होते हुए भी सरकारी तंत्र मे अवरोध उत्पन्न कर दें और निरुद्देश्यता मे वृद्धि करें। कोई भी शासन-व्यवस्था निष्क्रिय तथा जड होने पर समाप्त हो सकती है किन्तु संसदीय शासन व्यवस्था मे निष्क्रियता तथा जड़ता से दूर रह कर जीवन[17] के बदलते हुए आयामो से युक्त होने की अद्भुत क्षमता है।

नेहरू ने समाजवाद से प्रेरणा प्राप्त कर लोकतन्त्र को समाजवादी लोकतन्त्र के रूप मे परिष्कृत करने का सुझाव दिया। वे स्केन्डिनेवियाई देशो मे समाजवादी लोकतन्त्र से अत्यन्त प्रभावित हुए थे।[18] यही कारण था कि उन्होंने भारत जैसे कृषि-प्रधान देश मे भूमि-सुधारों को प्राथमिकता दी और जमींदारी, तालुकेदारी तथा जागीरदारी प्रथाओं को मिटाने मे पहल की। देशी रियासतों की समाप्ति के साथ ही सामन्तवादी शासन का पतन कर दिया गया। कृषि की समस्याओं के निराकरण के साथ-साथ भारत मे औद्योगिक

विकास की ओर भी ध्यान दिया गया। योजना बद्ध विकास का उद्देश्य था समाजवादी समाज की क्रमिक स्थापना। नेहरू ने विज्ञान तथा प्रविधि को निर्धनता के निवारण मे प्रयुक्त करने का सुझाव दिया। वे उत्पादन मे वृद्धि करना चाहते थे ताकि गरीब वर्गों को उबारा जा सके। वैज्ञानिक नियोजन के द्वारा उत्पादन मे वृद्धि कर राष्ट्रीय सम्पत्ति मे वृद्धि करना आवश्यक था, किन्तु इसका उद्देश्य चन्द व्यक्तियों को लाभान्वित करना नही था। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार के समान अवसर मिलने चाहिये थे। लोक कल्याणकारी राज्य के साथ समाजवादी समाज की स्थापना तथा सब को अवसर की समानता उपलब्ध कराने का कार्य सम्पत्ति की असमानता को दूर कर सकता है। आर्थिक भेदभाव अथवा ऊँच-नीच के भाव रहते समाजवादी लोकतन्त्र की स्थापना नही हो सकती। नेहरू ने लोकतन्त्र के विकास के लिए सैद्धान्तिक समाजवाद के स्थान पर प्रायोगिक तथा व्यावहारिक समाजवाद को अपनाने का आग्रह किया।[49] वे समाजवाद को प्रत्येक राष्ट्र अथवा समाज अथवा व्यक्ति का लक्ष्य देखना चाहते थे। आधुनिक समय मे समाजवाद मे अविश्वास का अर्थ है वर्तमान परिस्थिति के प्रति अज्ञानता। फिर भी नेहरू ने समाजवाद की किसी मान्यता विशेष मे अपने को जोडना स्वीकार नही किया। उनके अनुसार समाजवाद का अर्थ था ऐसे सर्वहितकारी समाज की स्थापना जिसमे धनाढ्य द्वारा अनावश्यक व्यय, अथवा निर्धन की निर्धनता दोनो को समाप्त किया जा सके।[50]

लोकतांत्रिक समाजवाद

नेहरू ने लोकतान्त्रिक समाजवाद मे निष्ठा प्रकट की। वे उत्पादन मे वृद्धि करने के लक्ष्य की प्रगति के लिए भारत मे राष्ट्रीयकरण की नीति के समर्थक थे, यदि राष्ट्रीयकरण द्वारा उत्पादन मे वृद्धि सम्भव हो। उनका उत्पादन पर अधिक जोर यह सिद्ध करता था कि वे पूँजीवादी व्यवस्था को पूर्णतया समाप्त करने के पक्ष मे नही थे। पूँजीवादी व्यवस्था उत्पादन-प्रधान होती है जबकि साम्यवादी अथवा पूर्णतया समाजवादी व्यवस्था मे उपभोग पर अधिक ध्यान दिया जाता है। नेहरू द्वारा बारबार उत्पादन के महत्त्व को दोहराना यही स्पष्ट करता है वे समाजवाद के लक्ष्य की ओर तो बढना चाहते थे किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति अपना झुकाव रोकने मे असमर्थ थे। लोकतान्त्रिक समाजवाद भी उपभोक्ता अर्थव्यवस्था की दृष्टि से अनुपयोगी नही था, किन्तु केवल उत्पादन के द्वारा निर्धनता के अंत की बात करना छद्मवेशी पूँजीवाद की दुहाई देने के समान था। सम्भवत नेहरू आधुनिक समय के 'प्रगतिशील' कहे जाने वाले भारतीयो के समान अपनी वामपंथी छवि बनाये रखने के लिये अधिक उद्यत थे।

नेहरू ने राष्ट्रीयकरण की नीति का समर्थन करते हुये भारत मे प्रतिरक्षा तथा कुछ अन्य प्रमुख उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किया। वे सम्पूर्ण उद्योगो का राष्ट्रीयकरण भारत के लिए व्यवहारिक नही मानते थे। इन उद्योगो पर व्यय करने के लिए प्राप्त धनराशि को नये उद्योगो की स्थापना मे लगाया जा सकता था तथा निजी उद्योगो के लिए भी मार्ग खुला था, किन्तु नेहरू ने एक महत्त्वपूर्ण सुझाव यह दिया कि विज्ञान तथा प्राविधिकी के विकास के कारण उत्पादन के श्रेष्ठ साधनो को सार्वजनिक क्षेत्र मे ही रखा जाय ताकि निजी व्यावसायियो के हाथ मे आकर वे निजी एकाधिकार की वस्तुयें न बन

जायें।[51]

नेहरू साम्यवाद तथा पूंजीवाद का मध्यम मार्ग चुनना चाहते थे ताकि समतापूर्ण वितरण तथा समुचित उत्पादन की समस्या का समाधान किया जा सके। वे भारत के संदर्भ में विचारवादों के संघर्ष से दूर रहने तथा जो यथेष्ट एवं श्रेयस्कर हो उसी मार्ग को अपनाने का आग्रह कर रहे थे। वे 'वाद' का लेबल लगाने के स्थान पर जनोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन की ओर समग्र ध्यान केन्द्रित कर रहे थे। उनके अनुसार मूल समस्या थी जनता का जीवन स्तर उन्नत करने की, आवश्यकताओं की पूर्ति करने की, जीवन-यापन के साधन उपलब्ध कराने की तथा जीवन में विकास के लिए भौतिक वस्तुओं के साथ-साथ सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक वस्तुओं को प्राप्त कराने की। उनके अनुसार इन उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को प्राप्त करने में सर्वाधिक उपयुक्त व्यवस्था ही अंगीकार करनी है।[52]

नेहरू ने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए राष्ट्रीयकरण की नीति पर बल देते हुये उसे औद्योगीकरण के लिए आवश्यक बतलाया। वे निजी उद्योगों का पूर्ण राष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहते थे। उनका विचार था कि निजी व्यावसायियों को भी उद्योग धन्धे चलाने का अवसर मिलना चाहिए। वे मिली-जुली अर्थ-व्यवस्था के समर्थक थे। उनके अनुसार भारत को किसी बाह्य मॉडल की नकल करने के स्थान पर अपनी आवश्यकता तथा क्षमता के अनुसार आर्थिक कार्यक्रम अपनाना चाहिए। अनेक सिद्धान्तों, विचारवादों तथा नीतियों में से किसी भी एक मार्ग का अनुसरण किया जा सकता है और आवश्यकता पड़ने पर उसमें भी परिवर्तन लाये जा सकते हैं। नेहरू ने अमेरिका का उदाहरण देते हुये बतलाया कि वहां भी निजी उद्योगों का बाहुल्य होते हुये भी राजकीय उपक्रमों की संख्या कम नहीं है। रूस में मार्क्सवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना का दावा किया जाता है किन्तु वहां भी मार्क्स की अपने प्रकार से व्याख्या करते हुए राजकीय पूंजीवाद की स्थापना कर दी गई। अतः उचित यही है कि लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना भारत में की जाय। अमेरिका की समृद्धि 150 वर्षों के निरन्तर प्रयास तथा शान्ति एवं सौहार्द के वातावरण में हुई है। उनका भौगोलिक विस्तार तथा उत्पादन का निरन्तर कीर्तिमान भी कम नहीं। किन्तु भारत को यह सब प्राप्त करने के लिए कम से कम 100 वर्ष चाहिये। नेहरू के अनुसार भारत जैसे महान् देश के सामने अनेक समस्याएं तथा संघर्ष-भरा वातावरण है। हम लम्बे समय तक आर्थिक विकास की प्रतीक्षा नहीं कर सकते, जैसे अमेरिका ने की है। भारत की बड़ी-बड़ी योजनाओं को भारत के निजी उद्योग नहीं चला सकते। राज्य द्वारा चलाये जाने पर भी ये योजनायें तुरन्त लाभ पहुंचाना शुरू नहीं करतीं। इसके लिये कुछ समय चाहिये। उन्होंने भारत के उद्योगपतियों को पैसे बनाने की कला में निपुण बतलाया किन्तु व्यापक परिप्रेक्ष्य में विवेक शून्य करार दिया क्योंकि उद्योगपतियों ने समय के साथ-साथ आगे बढ़ने के स्थान पर प्राचीन विगलित मुक्त व्यापार की दुहाई देना बंद नहीं किया। नेहरू ने भविष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये निजी सम्पदा में अभिवृद्धि करने के स्थान पर सार्वजनिक हितों के संवर्द्धन पर ध्यान केन्द्रित करने का अनुरोध किया।[53]

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की लोक-कल्याणकारी राज्य से तुलना करते हुये नेहरू

ने दोनों को विलोम शब्दों की संज्ञा दी। वे यह मान सकते थे कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था द्वारा कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो सकती थी किन्तु उन्हें कल्याणकारी राज्य को समाजवादी अर्थ-व्यवस्था पर आधारित करना सर्वथा अनुपयुक्त दिखाई देता था। उनके अनुसार भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना का उद्देश्य समाजवाद अथवा साम्यवाद द्वारा तब तक पूरा नहीं हो सकता, जब तक हमारी राष्ट्रीय आय में अत्यधिक वृद्धि न हो जाये। समाजवाद अथवा साम्यवाद हमारी वर्तमान सम्पदा का विभाजन कर सकते हैं, किन्तु भारत में निर्धनता के अलावा विभाजन करने को क्या है। केवल गिने-चुने धनाढ्य व्यक्तियों की सम्पत्ति को इधर-उधर बाँटने से हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था नहीं सुधर सकती। मात्र मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि के लिए हम ऐसा कर लें किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह अनुपयोगी रहेगा, क्योंकि भारत जैसे निर्धन देश में सम्पत्ति की अत्यल्पता है। पहले हम सम्पदा का निर्माण करें, देश में सम्पत्ति का उत्पादन करें और फिर उसे समता से विभाजित करें। आर्थिक साधनों के बिना लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। अभाव की अर्थव्यवस्था पर हम जन-कल्याण की बुनियाद नहीं रख सकते। आवश्यकता है प्रचुरता की अर्थव्यवस्था की जो हर प्रकार के अभाव को दूर कर सके।[54]

समाजवाद की अवधारणा को गत्यात्मक, लचीली तथा विकासोन्मुख मानते हुये भी नेहरू ने उसे किसी विशेष साँचे में ढालने के बजाय सर्वतोमुखी विचार के रूप में देखा। उनके अनुसार अत्यधिक विकसित औद्योगिक समुदाय का समाजवाद कृषि-प्रधान व्यवस्था के समाजवाद से भिन्न होगा। समाजवाद को किसी दृढ़ परिभाषा में बाँधने के स्थान पर आवश्यकतानुसार किये गये जनोपयोगी कार्यों को समाजवादी कार्यक्रम की संज्ञा दी जा सकती है। समाजवाद की विशिष्टता इसमें है कि यह पूँजीवादी व्यवस्था के संग्रहकारी समाज के स्थान पर सहयोग एवं सहकार पर नये समाज के निर्माण का मार्ग सुझाता है। सर्वाधिकारवादी राज्य के अन्तर्गत समाजवाद की स्थापना त्वरित गति से होती है, जैसा कि सोवियत रूस तथा माओ के चीन में हुआ है, किन्तु लोकतान्त्रिक पद्धति से समाजवाद की स्थापना शनैः शनैः होती है। लोकतान्त्रिक समाजवाद मानवीय मूल्यों पर आधारित है। उनके अनुसार भारत ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आदर्श को स्वीकार किया है, अतः केवल भौतिक समृद्धि ही हमारा लक्ष्य नहीं है। भौतिक सम्पदा के साथ-साथ मानव की रचनात्मक शक्ति को भी बढ़ाना है। लोकतन्त्र तथा समाजवाद को समन्वित करने के शान्तिपूर्ण उपायों पर अमल करना है। दमन अथवा हिंसा के स्थान पर सद्भाव तथा सहयोग द्वारा लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना होनी चाहिये। नेहरू ने इस सदर्भ में तानाशाही शासकों को भी सद्भाव तथा सहयोग का अवलम्बन लेने हुये बतलाकर लोकतान्त्रिक सरकारों के लिये इसकी अपरिहार्यता पर पूर्ण बल दिया।[55]

नेहरू तथा मार्क्सवाद

नेहरू ने मार्क्सवाद के प्रशंसकों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। वे मार्क्स के सामाजिक तथा आर्थिक दर्शन को अत्यधिक वैज्ञानिक एवं विचारोत्पादक स्वीकार करते थे किन्तु वे मार्क्स के विश्लेषण को उपयोगी तथा विवेकयुक्त मानते हुये भी मार्क्सवाद से पूर्णतया सहमत नहीं थे। मार्क्सवाद को इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति का प्रतिफल

मानते हुये नेहरू ने मार्क्स के विचारों को ऐसे वातावरण में उत्पन्न माना जहां परिस्थितियाँ विकट एवं विचित्र प्रकार की थीं—ऐसी स्थितियां जिनकी विश्व में कहीं और पुनरावृत्ति नहीं हुई थी। औद्योगीकरण के प्रथम चरण की दानवीयता एवं असामान्य परिस्थितियों का मार्क्स के विचारों पर भी प्रभाव पड़ा था। लोकतांत्रिक संरचना जैसी वस्तु उस समय में नहीं थी जिसके द्वारा बिना हिंसात्मक उपायों के परिवर्तन लाया जा सके। चूंकि संवैधानिक अथवा लोकतांत्रिक उपायों से परिवर्तनों का नितान्त अभाव था, अतः मार्क्स ने हिंसात्मक क्रान्ति के प्रयोग का ही वरण किया। नेहरू ने मार्क्स के इस असामान्य साधन को असामान्य परिस्थितियों का परिणाम मानकर पूर्णतया अस्वीकार किया।[56] मार्क्स के विचारों को पुराना घोषित करते हुये नेहरू ने वर्तमान समय में उनकी समय-बाह्यता को सिद्ध किया है। उनके अनुसार मार्क्स को अपने ऐतिहासिक सन्दर्भ से पृथक् कर वर्तमान समय की समस्याओं का निराकरण मार्क्स में ढूंढना युक्ति-युक्त नहीं है।

नेहरू के अनुसार मार्क्सवादी विश्लेषण में ऐतिहासिक शक्तियों के महत्त्व को आर्थिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का अभिप्राय तार्किक था, किन्तु मार्क्स का यह विश्लेषण भविष्य में आनेवाले अन्य प्रभावों को आत्मसात् नहीं कर सकता था। यह मार्क्स का दोष नहीं था, क्योंकि उन्होंने अपने समय में जो कुछ अनुभव किया, उसी के आधार पर अपने निष्कर्ष स्थापित किये। बाद में अन्य शक्तियों का उद्भव हुआ जिनमें राजनीतिक लोकतंत्र शांतिपूर्ण परिवर्तन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। मार्क्स के समय में लोकतांत्रिक शासन वाले देशों में भी वास्तविक राजनीतिक लोकतंत्र नहीं था क्योंकि शासन भूपतियों के हाथ में था। मताधिकार प्राप्त होने के पश्चात् जो परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है, वह मार्क्स द्वारा प्रस्तावित सामाजिक परिवर्तन शान्तिपूर्ण तरीके से लाने में समर्थ है। मार्क्स इस तथ्य का स्वप्न में भी चिंतन न कर सका कि भविष्य में इस प्रकार की राजनीतिक शक्ति उत्पन्न हो सकेगी।[57]

इसी प्रकार से श्रमिक तथा कृषक-संगठनों के विकास ने पूंजीपतियों पर दबाव डाल कर जिस आर्थिक लोकतंत्र का सूत्रपात किया है, वह भी मार्क्स की इस भविष्य-वाणी को नकारता [illegible] पूंजी तथा शक्ति का अधिक से अधिक केन्द्रीयकरण चन्द व्यक्तियों के हाथ में हो जायेगा और निर्धनता बढ़ती जायेगी। वास्तविकता यह है कि आधुनिक समय में लोकतांत्रिक माध्यमों से तथा मजदूरों के संगठनों द्वारा जो प्रभाव डाला जा रहा है उससे पूंजीपतियों की शक्ति पर नियंत्रण स्थापित हुआ है और निर्धनता भी दूर हुई है। यद्यपि मार्क्स द्वारा वर्णित आर्थिक स्थितियों को नेहरू ने अस्वीकार नहीं किया, फिर भी उन्होंने यह माना कि परिवर्तित वातावरण ने मार्क्स के विचारों को कुछ-कुछ सीमित कर दिया। प्राविधिकी के आशातीत विकास ने सामाजिक न्याय तथा सामाजिक परिवर्तन की मांग को पूरा करने में जो भूमिका निभाई, वह भी मार्क्सवाद के लिये चुनौती बन गयी है। प्राविधिकी के विकास तथा वैज्ञानिक प्रगति ने पूंजी तथा उत्पादन की समस्याओं का ऐसा हल ढूंढ निकाला है जिससे भौतिक सम्पन्नता का सुख आम जनता को भी प्राप्त होने लगा है। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह सम्पन्नता पूरी दिखाई देती है, किन्तु व्यवहार में अभी भी मानवता की सामान्य एवं प्रारम्भिक

मांगों को पूरा करने के लिये बहुत कुछ करना शेष है। मार्क्स ने ऐसे समय में अपना कार्य किया था जब प्रमुख प्रश्न आर्थिक था। उस समय ऐसी वस्तुओं का वितरण जो सीमित मात्रा में उपलब्ध थीं और जिनके कारण विविध संघर्षों की उत्पत्ति हुई थी उनसे शक्तिशाली तथा धन-सम्पन्न वर्ग द्वारा निर्धन एवं दुर्बल का शोषण हो रहा था।[58] नेहरू ने वर्ग-संघर्ष की स्थिति को भी स्वीकार किया किन्तु वे मार्क्स द्वारा सुझाये गये हिंसात्मक हल के पक्ष में न थे। वे गांधीजी की शान्तिपूर्ण, मैत्रीपूर्ण एवं रचनात्मक पद्धति को अधिक उपयुक्त मानते थे। नेहरू के अनुसार वर्ग-संघर्ष को सामान्य ठहराने के स्थान पर शान्ति तथा सहयोग से उसका हल ढूंढने की आवश्यकता है ताकि व्यक्तियों को नष्ट करने अथवा उनमें युद्ध करने की धमकी देने के बजाय उनका हृदय जीता जा सके और वर्ग-संघर्ष को सीमित किया जा सके। उनके अनुसार गांधीजी वर्ग-संघर्ष के प्रति इतने जागरूक नहीं थे जितने वर्तमान (1960) समय के व्यक्ति, किन्तु उनके द्वारा सुझाये गये उपाय आज भी उतने ही कारगर हैं—विशेष तौर से भारत के लिए। भारत का अतीत तथा भारतीय परम्परा शान्ति, मैत्री तथा सहयोग का प्रतीक है। नेहरू के विचारों के अनुसार वर्ग-संघर्ष के साथ एक और महत्वपूर्ण पक्ष जुड़ा हुआ है और वह है आणविक शक्ति का। आणविक शक्ति का शान्तिमय पक्ष जहाँ मानवीय विकास को चरम सीमा तक पहुँचा सकता है, वहाँ आणविक बम समस्त मानवीय सभ्यता को कुछ ही क्षणों में नष्ट भी कर सकता है। इस अभूतपूर्व शक्ति के उदय ने वर्ग-संघर्ष अथवा पूंजीवादी-समाजवादी संघर्ष या जनता-युद्ध की भयावहता को इतना अधिक बढ़ा दिया है कि हिंसा द्वारा इन समस्याओं का हल ढूंढना सम्भव नहीं है। अत किसी भी दृष्टि से वर्ग-संघर्ष का विचार पुराना ही दिखाई देता है—विशेषतः तब जबकि न केवल राष्ट्रों अपितु मानव-समूहों अथवा व्यक्तियों द्वारा भी संहारक शस्त्रों को प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे समय में गांधीजी द्वारा प्रस्तुत समन्वय, सहयोग, सह-अस्तित्व तथा प्रगतिशील समीकरण के समाधान का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है।[59]

साम्प्रदायिकता : धर्म तथा राजनीति

साम्प्रदायिकता को नेहरू ने मिथक की संज्ञा दी और यह व्यक्त किया कि इस मिथक को समाप्त करने के लिये दमन की जितनी उपयोगिता नहीं उतनी भय की भावना के निवारण तथा हितों को दूसरी दिशा देने की है। मुसलमानों के हृदय से भय की भावना दूर करने तथा उन्हें हर प्रकार की सुरक्षा प्रदान करने की आवश्यकता है। उनके 1934 में व्यक्त विचार के अनुसार साम्प्रदायिकता शासकीय शक्ति से हित-साधन प्राप्त करने की लालसा का परिणाम है। साम्प्रदायिक विचारक विदेशी शासन को निरन्तर बनाये रखना चाहता है ताकि वह अपने समूह के लिये सब कुछ प्राप्त करता रहे। विदेशी सत्ता का अन्त करने में ही साम्प्रदायिक तत्वों का भी अन्त सुनिश्चित है। यही कारण है कि भारत में आर्थिक समस्याओं के निवारण के लिये विशेष ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि विदेशी शासन तथा कतिपय उच्च वर्ग से सम्बन्धित साम्प्रदायिक नेताओं ने अपने स्वार्थपूर्ण हितों के संरक्षण में ही सारा समय लगाया। सामाजिक संरचना के परिवर्तन तथा आर्थिक सुधारों के कारण उनके मताधिकार को ठेस पहुँचती थी, अतः सुधारों का क्रम रोक दिया गया। इस प्रकार साम्प्रदायिकता ने राजनीतिक तथा सामाजिक प्रतिक्रिया उत्पन्न की है।

ब्रिटिश सरकार ने इन प्रतिक्रियावादियों को पूर्ण संरक्षण दिया है।[60]

साम्प्रदायिक संगठनों को धार्मिक नहीं कहा जा सकता—यद्यपि वे धार्मिक समूहों से सम्बन्धित होते हैं तथा धर्म के नाम का दुरुपयोग करते हैं। उन्हें सांस्कृतिक संगठनों की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती, चाहे कितनी भी जोर से वे भूतकालीन संस्कृति का बखान क्यों न करें। उनके उपदेश में नैतिकता तथा आचार-शास्त्र का नितान्त अभाव है, अतः उन्हें नैतिक समूह में भी सम्मिलित नहीं किया जा सकता। उनका कोई आर्थिक कार्यक्रम भी नहीं है। कुछ अपने-आपको राजनैतिक भी कहलाना स्वीकार नहीं करते। वास्तविकता, नेहरू के अनुसार, यह है कि ये साम्प्रदायिक संगठन राजनीतिक तरीकों से काम करते हैं। उनकी मांगें राजनीतिक होती हैं फिर भी वे अपने आपको गैर-राजनीतिक करार देते हुए अन्य समुदायों के साथ टकराव उत्पन्न करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। वे न तो भारत की पूर्ण स्वाधीनता की मांग करते हैं और न अधिराज्य स्थिति की मांग ही प्रस्तुत करते हैं।[61] इन साम्प्रदायिक तत्वों का निदान के लिए नेहरू ने आर्थिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता पर बल दिया है। उनके अनुसार राजनीतिक स्वतन्त्रता तो आवश्यक है ही, किन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना साम्प्रदायिकता नष्ट नहीं की जा सकती। आर्थिक प्रश्नों पर ध्यान केन्द्रित होने से साम्प्रदायिकता का प्रभाव कम होने लगेगा। उनके अनुसार व्यक्तियों का ध्यान जीवन-यापन तथा उदरपूर्ति की आवश्यकताओं का निवारण करते समय साम्प्रदायिकता की ओर नहीं रहेगा। श्रमिकों तथा कृषकों के सामने भी आर्थिक समस्यायें हैं। उनका सहयोग मिलने से भी साम्प्रदायिकता से उनका ध्यान दूसरी ओर लगाया जा सकता है जिससे उनके आर्थिक हितों का उचित समाधान प्रस्तुत किया गया हो। अतएव आम तौर से देश की वास्तविक समस्याओं के प्रति जनता का ध्यान यदि आकृष्ट किया जाय तो साम्प्रदायिकता का वातावरण समाप्त हो सकता है।[62] साम्प्रदायिकता की समस्या का राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा कैसे समाधान किया जा सकता है, इस प्रश्न के उत्तर में नेहरू ने (1936 में) बतलाया कि साम्प्रदायिकता की समस्या का मूल कारण मध्यमवर्ग में व्याप्त बेरोजगारी की समस्या है। साम्प्रदायिकता की आड़ में नौकरियां मिल जाती हैं। राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई भावना ने साम्प्रदायिकता को कम करने में सहायता दी है, फिर भी साम्प्रदायिकता की भावना उसी समय समाप्त हो सकती है जब कि मूल प्रश्न आर्थिक तथा सामाजिक हों। ऐसे में साम्प्रदायिक नेताओं की दाल न मध्यम वर्ग में गलेगी और न निम्न मध्यम वर्ग में ही। नेहरू ने अपने तर्क के समर्थन में 1921 के असहयोग आंदोलन का उदाहरण देते हुए बतलाया कि उस आंदोलन के समय साम्प्रदायिक नेताओं का तनिक भी आकर्षण नहीं रहा क्योंकि जनता का ध्यान अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं पर लगा हुआ था। इस संदर्भ में ब्रिटिश शासन की नीति का विरोध करते हुए नेहरू ने कहा कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के अन्तर्गत सम्प्रदायों की अलग इकाइयां स्थापित कर वातावरण को और भी विषैला बनाया गया है। नेहरू ने यह भी तर्क प्रस्तुत किया कि साम्प्रदायिक प्रश्न का जाति से कोई लेना देना नहीं है। दक्षिण भारत में ब्राह्मण तथा अब्राह्मण के विवाद को मानते हुए भी नेहरू ने इसे जातिगत प्रश्न न मानकर सम्पन्न तथा साधन-हीन का संघर्ष माना। उनके अनुसार दक्षिण भारत की मूल समस्या थी कुछ धन-सम्पन्न कुलीन व्यक्तियों तथा [illegible]

साधनहीन निर्धन दलित वर्गों के मध्य संघर्ष। वे इसे साम्प्रदायिक समस्या मानने को तैयार न थे क्योंकि मूल समस्या आर्थिक थी।[63]

नेहरू ने धर्म तथा राजनीति के साम्प्रदायिकता के रूप में गठबंधन को देश के लिये घातक बतलाया। राजनीति को नैतिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित मानने का गांधीजी का दर्शन स्वीकार करते हुये नेहरू ने व्यावहारिक अर्थों में इसे श्रेयस्कर माना, किन्तु राजनीति तथा धर्म के संकीर्ण सम्बन्धों की साम्प्रदायिक राजनीति के रूप में परिणति उन्हें स्वीकार नहीं थी। इसका सर्वाधिक बुरा परिणाम देश के साथ-साथ अल्प संख्यकों को भुगतना पड़ता है। नेहरू ने इस संदर्भ में व्यक्त किया कि स्वाधीन राज्य के अन्तर्गत किसी भी अल्प संख्यक वर्ग द्वारा अपने-आपको अन्य वर्गों से अलग रखने का विचार देश को नुकसान पहुंचाने वाला विचार है। अल्पसंख्यक वर्ग स्वयं इससे कष्ट उठाता है क्योंकि उसके तथा अन्य वर्गों के मध्य ऐसी दीवार—न केवल धार्मिक आधार पर अपितु राजनीतिक एवं आर्थिक आधार पर भी—खड़ी हो जाती है कि वह अपना औचित्यपूर्ण प्रभाव कभी नहीं डाल सकता। नेहरू ने संविधान निर्मात्री सभा के समक्ष उपर्युक्त विचार व्यक्त करते हुये यह भी कहा कि अल्प संख्यकों के लिये प्रजातीय तथा धार्मिक दोनों ही स्थानों को सुरक्षित करना उचित नहीं है। उनके अनुसार जितना कम संरक्षण हो उतना ही अच्छा है और वह भी उन अल्पसंख्यकों की दृष्टि से जो संरक्षण चाहते हैं न कि उनकी दृष्टि से जो बहुमत में हैं।[64]

नेहरू ने आर्थिक एवं सामाजिक असमानता की चर्चा करते हुये बतलाया कि आधुनिक लोकतंत्र में मताधिकार का प्रयोग करने वाले निर्धन व्यक्तियों तथा धनकुबेरों में समानता स्थापित नहीं की जा सकती। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति सत्ता पर नियंत्रण स्थापित कर हर प्रकार की सुविधायें प्राप्त कर सकता है जबकि निर्धन व्यक्ति के लिये पेटभर भोजन भी कठिन हो जाता है। निर्धन तथा सामाजिक दृष्टि से दबे हुए वर्ग को ऊपर उठाने के लिये अनुसूचित जातियों को विशेष संरक्षण प्रदान करना आवश्यक है ताकि वे शैक्षिक, आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से अन्य वर्गों के समान प्रगति कर सकें। जन-जातियों को भी ऊपर उठाने की आवश्यकता है ताकि सदियों से होने वाले शोषण का अन्त किया जा सके। उनके लिए भी आर्थिक तथा शैक्षिक संरक्षण प्रदान किये गये है ताकि भविष्य में उन्हें अपने पैरों पर खड़ा होने का अवसर मिल सके। किन्तु किसी भी समुदाय विशेष को दी गयी बाह्य सहायता उस समुदाय की वास्तविक शक्ति का निर्माण नहीं करती। बाह्य सहायता समाप्त होते ही दुर्बलता के लक्षण दिखाई पड़ने लगते है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि बाह्य सहायता प्राप्त करने वालों द्वारा अपनी शिक्षा, संस्कृति एवं शक्ति में वृद्धि की जाय। कोई भी राष्ट्र अपने पैरों पर खड़े हुए बिना आगे नहीं बढ़ता।[65] इस प्रकार नेहरू ने धर्म तथा जाति के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव का विरोध करते हुये इस कार्य के लिये उचित व्यवस्थापन के कार्य में सक्रिय सहयोग दिया।

साम्प्रदायिकता को पिछड़ेपन की संज्ञा देते हुए नेहरू ने यह विचार प्रतिपादित किया कि धर्म की व्यक्तिगत मान्यता उचित है, किन्तु किसी भी धर्मावलम्बी द्वारा धर्म को राजनीति में आयातित करना सर्वथा अनुचित जान पड़ता है। उनके अनुसार भारत को

हर प्रकार के साम्प्रदायिक संगठनों का विरोध करता है चाहे वह हिन्दू संगठन हो अथवा मुस्लिम संगठन अथवा सिक्ख संगठन। साम्प्रदायिकता तथा राष्ट्रवाद साथ-साथ नहीं चल सकते। राष्ट्रवाद का अर्थ हिन्दू राष्ट्रवाद, मुस्लिम राष्ट्रवाद अथवा सिक्ख राष्ट्रवाद नहीं है। जैसे ही कोई हिन्दू, सिक्ख अथवा मुस्लिम की बात करता है तो उसका स्पष्ट अर्थ है कि वह भारत की बात नहीं करता। प्रत्येक व्यक्ति को अपने आपसे यह प्रश्न पूछना है कि क्या वह भारत को एक राष्ट्र, एक देश बनाना चाहता है अथवा 10, 20 या 25 राष्ट्रों में भारत को विभाजित करना चाहता है ताकि तनिक-सा धक्का लगने ही सभी टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जायें। नेहरू के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को इसका उत्तर देना है। विभाज्यता सदैव भारत की दुर्बलता रही है। पृथकता की भावना चाहे हिन्दुओं, मुसलमानों, सिक्खों, ईसाइयों अथवा अन्य में रही हो, भारत के लिये खतरनाक है। इन्हें क्षुद्र मस्तिष्कों की उपज माना जाना चाहिये। समग्र की आत्मा को पहचानने वाला व्यक्ति साम्प्रदायिक दृष्टिकोण नहीं रख सकता। भारत के व्यापक हितों को दृष्टि में रखते हुये क्षुद्र हितों का त्याग आवश्यक है।[66]

नेहरू अपने-आपको धार्मिक मनोवृत्ति का व्यक्ति नहीं मानते थे। धार्मिक सम्प्रदाय उन्हें रुचिकर नहीं लगते थे। जीवन के बाद की धार्मिक निष्ठाओं में उनकी अभिरुचि नहीं थी[67], किन्तु उन्हें इस ब्रह्माण्ड की नियन्त्रक शक्ति में विश्वास था। उन्हें यह ज्ञात था कि मानव के पास विवेक, सूझबूझ, ज्ञान तथा अनुभव का अपूर्व भंडार होते हुये भी वह जीवन के रहस्यों के बारे में बहुत कम जानता है। विश्व की रहस्यात्मक प्रक्रियाओं को समझने के स्थान पर व्यक्ति केवल कल्पना का ही पुट लगा सका है। उनकी धार्मिक दृष्टि ऐसे श्रद्धालु की थी जो धर्म को नैतिक मूल्यों के रूप में मानता है। नेहरू इस दृष्टि से पूर्णतः नास्तिक नहीं कहे जा सकते। वे संशयवादी थे।[68]

धर्म-निरपेक्ष राज्य

नेहरू ने दैविक राज्य की मान्यता के विपरीत धर्म-निरपेक्षता को समर्थन प्रदान किया। वे भारत राष्ट्र की बहुधर्मिता के विचार से प्रभावित थे और चाहते थे कि भारत में धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार समस्त सम्प्रदायों को समान रूप से प्राप्त हो। धर्म-प्रधान राज्य की तरह भारत एक प्रमुख धर्म को मान्यता देकर शेष धर्मों के प्रति अन्याय नहीं कर सकता था। नेहरू के अनुसार धार्मिक राज्य का विचार सदियों पहले त्यागा जा चुका है। आधुनिक व्यक्ति के मस्तिष्क में ऐसे विचार के लिए कोई स्थान नहीं है। भारत में इस प्रश्न को उन व्यक्तियों द्वारा उठाया गया है जो पुन: प्राचीन मनोवृत्ति को अपनाने के उन्मुख हैं।[69] नेहरू ने व्यक्तिगत मान्यताओं का विरोध करते हुये भी यह स्पष्ट किया कि आधुनिक विचारधारा को दृष्टि में रखते हुये धर्म को राजनीति में घसीटने का प्रयास उपयुक्त नहीं दिखाई देता। वे भारत को केवल राष्ट्रीय एवं धर्म-निरपेक्ष मार्ग पर ही अग्रसर करने के इच्छुक रहे ताकि भारत राष्ट्रीय मार्ग से अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर सुगमता से बढ़ सके। उनके अनुसार भारत को संकीर्णता की परिधि से निकल कर सभी धर्मों के साथ समता का व्यवहार करना है ताकि एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित हो सके। उन्हें संकीर्ण राष्ट्रवाद पसन्द नहीं था। वे राष्ट्रवाद को अधिक रचनात्मक एवं सहिष्णु बनाना चाहते थे ताकि भारत अपनी जनता की सर्वोत्तम बुद्धिमत्ता को अन्तर्राष्ट्रीय

व्यवस्था की स्थापना के हित प्रयुक्त कर सके।[70] नेहरू ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का जीवन पर्यन्त प्रयास किया और धर्म-निरपेक्षता पर अपनी अटूट आस्था रखते हुये[71] राष्ट्रवाद तथा एशियाई देशों के नवोदय के मध्य के सेतु रूप में बने रहे।[72]

नेहरू तथा गांधीजी

नेहरू के विचारों पर गांधीजी के व्यक्तित्व एवं चिन्तन का स्पष्ट प्रभाव अंकित रहा। वे सर्वप्रथम गांधीजी के सत्याग्रह-आन्दोलन से प्रभावित हुए और तब से वे गांधीजी के निरन्तर संपर्क में ब रहे। उन्हें गांधीजी का मार्ग कर्त्तव्यों का ऐसा मार्ग लगा जो स्पष्ट होने के साथ-साथ सम्भवतः प्रभावी भी था। वे गांधीजी की बुद्धिमत्ता तथा राजनीतिक अन्तर्दृष्टि के कायल थे। उनके तर्कों से समक्ष नेहरू को सहमत होते देर नहीं लगती थी। नेहरू ने डिस्कवरी आफ इण्डिया में एक पूरा अध्याय 'मध्यवर्गों की विवशता-गांधी का आगमन'' गांधीजी के यशोगान पर लिखा। गांधीजी के सामूहिक प्रभाव से अभिभूत हो कर नेहरू ने व्यक्त किया '' गांधीजी आये, उनका आगमन एक ऐसी आंधी और तूफान की तरह था जो सब कुछ को-और विशेषतौर पर जनता के मस्तिष्क को-उथल-पुथल कर डालता है। वे कहीं आसमान से नहीं आये बल्कि वे भारत के लाखों-करोड़ों नर-नारियों के बीच में जन्मे थे। उन्हीं की भाषा बोलते थे और निरन्तर उन्हीं की ओर आंखें लगाये हुए उनकी दारुण स्थिति को सामने रखकर चलते थे।'[73]

गांधीजी का प्रभाव केवल कांग्रेस संगठन तक सीमित नहीं था। राष्ट्रीय नेताओं की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के बावजूद वे गांधीजी के प्रभाव से अछूते न रहे। उनके अनुसार, गांधीजी ने भारत की कोटि-कोटि जनता को विभिन्न मात्राओं में प्रभावित किया है। कुछ की जिन्दगी का सम्पूर्ण ढांचा बदल गया, कुछ आंशिक रूप में प्रभावित हुए, कुछ पर प्रभाव सीमित रहा और बाद में क्षीण हो गया, किन्तु कतिपय ऐसे भी थे जिन पर उनका प्रभाव अविरल रहा ।''[74] गांधीजी द्वारा अहिंसा एवं प्रत्यक्ष कार्यवाही से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्ति का संकल्प पूरा करने में नेहरू ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। नेहरू की भूमिका अनेक प्रसंगों पर निर्णायक थी। गांधीजी तथा नेहरू में परस्पर आस्था थी किन्तु दोनों के व्यक्तित्व अलग-अलग थे। गांधीजी के प्रति असाधारण श्रद्धा रखते हुए भी नेहरू को अन्य राष्ट्रीय स्तर के नेताओं के समान असहयोग आन्दोलन सहसा समाप्त कर देना उचित नहीं लगा। वे गांधीजी के निर्णय से अप्रसन्न हुये। जेल से अपने विरोध को प्रकट करते हुए उन्होंने व्यक्त किया—''जब हमें हमारे संघर्ष को ऐसे समय रोके जाने की सूचना मिली, जबकि हम चारों तरफ से जीतते जा रहे थे और अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर रहे थे तो हमारे क्रोध का पारावार नहीं रहा।''[75] किन्तु नेहरू का यह मतभेद अस्थायी सिद्ध हुआ। गांधीजी के आत्मीय व्यवहार ने उनका रहा-सहा विरोध भी जीत लिया। नेहरू ने कहा, 'मुझे सत्याग्रह-आन्दोलन के विषय में सबसे प्रशंसनीय बात जो लगी, वह थी उसका नैतिक पहलू। मैंने कभी भी अहिंसा सिद्धान्त में सम्पूर्ण निष्ठा नहीं रखी और न ही उसे सर्वदा के लिये स्वीकार ही किया, किन्तु यह मुझे धीरे-धीरे अपनी ओर आकर्षित करता रहा। कालान्तर में मुझमें यह विश्वास जागृत हुआ कि भारत में जिन परिस्थितियों में हम जी रहे हैं और हमारी परम्पराओं की जो पृष्ठभूमि है, उसमें यह हमारे लिये सही नीति है।''[76] इस प्रकार नेहरू ने गांधीजी के प्रति अनुयायित्व में अपने

विवेक को नहीं छोड़ा। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय भी नेहरू ने नमक सत्याग्रह की आलोचना की। वे नमक के प्रश्न को राष्ट्रीय संघर्ष के साथ जोड़ने के प्रति आशंका-न्वित थे। डांडी-यात्रा और नमक-सत्याग्रह की अभूतपूर्व सफलता ने नेहरू को गांधीजी की अहिंसक तकनीकों के प्रति मोह लिया। नमक-सत्याग्रह ने भारत में विदेशी शासन को चुनौती दी थी। *प्रशासन छिन्न-भिन्न होने जा रहा था।* नेहरू ने लिखा कि "जब हमने जनता में अदम्य उत्साह देखा और नमक बनाने के कार्यक्रम को दावानल की तरह फैलते हुए पहिचाना तो हमें अपने आप से कुछ लज्जा अनुभव हुई क्योंकि हमने गांधीजी के प्रस्ताव का विरोध किया था। हम यह देखकर श्रद्धावनत हुये कि एक व्यक्ति ने लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को इतने सुगठित ढंग से प्रभावशाली कार्य करने के लिए किस तरह निखारा।"[77]

द्वितीय महायुद्ध के समय गांधीजी द्वारा सविनय अवज्ञा कार्यक्रम को पुनः आरम्भ करने का नेहरू ने इस कारण विरोध किया कि वे मित्र राष्ट्रों की स्थिति को आन्दोलन द्वारा दुर्बल नहीं करना चाहते थे, किन्तु गांधीजी की प्रेरणा ने अन्ततोगत्वा नेहरू को व्यक्तिगत सत्याग्रह में सम्मिलित कर ही लिया। "भारत छोड़ो" आन्दोलन के समय भी नेहरू ने गांधीजी के इस कार्यक्रम के प्रस्ताव का विरोध किया किन्तु गांधीजी द्वारा समझाये जाने पर नेहरू ने स्वयं कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में इस प्रस्ताव को प्रस्तुत किया। गांधीजी ने नेहरू की रचनात्मक आलोचना का सदैव स्वागत किया। उनके पारस्परिक सद्भाव एवं आत्मविश्वास के वातावरण में अधीनस्थता जैसी वस्तु नहीं थी, किन्तु गांधी तथा नेहरू में अन्तर्विरोध भी था। नेहरू ने भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय और स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् महत्वपूर्ण समस्याओं पर विरोधी दृष्टिकोण अपनाया और उन पर डटे रहे। यह विरोध केवल सामाजिक तथा आर्थिक प्रश्नों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि उसमें अहिंसा तथा शान्ति प्रियता की नीति के प्रश्न भी समाहित थे। द्वितीय महायुद्ध के समय गांधीजी द्वारा बिना शर्त अहिंसा पर बल दिये जाने के विचार को नेहरू ने अस्वीकार कर दिया। नेहरू के अनुसार "गांधीजी ने जब 1940 में युद्ध और भावी स्वतन्त्र भारत के सन्दर्भ में अहिंसा का प्रश्न उठाया तो कांग्रेस कार्यसमिति को इसका प्रतिकार करना पड़ा। कार्यसमिति का यह मत था कि वे उतनी दूरी तक नहीं जा सकते जहां तक गांधीजी उन्हें ले जाना चाहते थे। वे इसके लिये भी तैयार नहीं थे कि भारत और कांग्रेस सम्या भावी विदेश नीतियों के सम्बन्ध में इस (अहिंसा) सिद्धान्त का प्रयोग करें। इससे गांधीजी के साथ इस प्रश्न पर निश्चित एवं सार्वजनिक सम्बन्ध भंग हुआ।"[78] विवाद की यह स्थिति गहरी होती गयी और भारत के विभाजन के समय अधिक मुखरित हुई। ऐसे मतभेदों का सिलसिला एक बार 1928 में भी सामने आया था जब गांधीजी तथा नेहरू में पत्रों का आदान प्रदान हुआ। नेहरू ने 11 जनवरी 1928 के एक पत्र में गांधीजी को लिखा, "यंग इण्डिया में आपके अनेक लेख और आत्मकथा आदि पढ़ने से ऐसा लगता है कि मेरे विचार आपसे सर्वथा भिन्न हैं। मैं अनुभव करता हूं कि आप अपने निर्णयों में जल्दबाजी करते हैं और कभी कभी तो ऐसा लगता है कि आप घटनाओं के घट जाने के बाद उन्हें उचित सिद्ध करने के लिये जो भी प्रमाण मिल जाता है, उसी को तर्क बना देते हैं। आप पश्चिम की सभ्यता की निन्दा

ढग से भाकते हैं और उसकी बहुत सी असफलताओं को आवश्यकता से अधिक महत्व देते हैं। मैं निश्चित रूप से आपसे असहमत हू।"[79] गांधीजी ने नेहरू को प्रत्योत्तर में लिखा, "तुम्हारे और मेरे मध्य जो अन्तर है, वे मुझे इतने गहरे और व्यापक लगते हैं कि हमारे पास वार्तालाप करने के लिए कोई समान स्थल नहीं है। मैं अपनी इस वेदना को नहीं छिपा सकता कि मुझे तुम जैसे साहसी, निष्ठावान्, योग्य तथा ईमानदार सहयोगी को खोने का कितना दुःख होगा। किन्तु जब कोई किसी महत् ध्येय के लिये कार्य करता है तो सहयोगियो का मोह त्यागना ही पड़ता है। इन सभी विचारो से लक्ष्य अधिक महत्वपूर्ण होना चाहिये।"[80] नेहरू का वैचारिक एव व्यावहारिक भेद भारत के विभाजन के सम्बन्ध में उभर कर सामने आया। गांधीजी ने विभाजन को कभी भी स्वीकार नहीं किया जबकि नेहरू के समक्ष इसके अलावा और कोई विकल्प शेष नहीं था। उन्होंने स्वीकार किया कि "आन्तरिक विरोधो के बने रहने की अपेक्षा विभाजन सम्भवत. कम बुरा था, क्योंकि इसके द्वारा हमे अविलम्ब स्वतन्त्रता प्राप्त हो रही थी। हम स्वतन्त्रता प्राप्त करने को उत्सुक थे, अत हमने विभाजन स्वीकार किया। किन्तु बाद के परिणामो से प्रमाणित हुआ कि विभाजन उससे कही अधिक बुरा निकला जिसकी हमने कल्पना की थी।"[81]

विभाजन के सम्बन्ध में गांधीजी तथा नेहरू के वैचारिक मतभेदो के अलावा राष्ट्रीय राज्य की स्थापना, परम्परागत शक्तितन्त्र की स्थापना, भारत का औद्योगीकरण, लोक कल्याणकारी राज्य का विचार आदि ऐसे प्रयास थे जो नेहरू ने गांधीजी के प्रभाव क्षेत्र के बाहर किये थे। गांधीजी ने स्वय इस तथ्य का रहस्योद्घाटन अपने 5 अक्टूबर, 1945 को नेहरू को लिखे पत्र द्वारा किया। उन्होंने लिखा, "पहली बात जो मै लिखना चाहता हू वह है हमारे दृष्टिकोण का अन्तर। यदि यह अन्तर मौलिक है तो मुझे लगता है कि यह अन्तर हमे जनता के समक्ष रखना चाहिये। इस तथ्य को जनता से छिपाना स्वराज्य के कार्य के लिये हानिकारक होगा। मैं पहले कह चुका हू कि मैं उस शासन व्यवस्था का पक्षधर हू जिसकी रूपरेखा मैं हिन्द स्वराज मे वर्णित कर चुका हू।"[82] किन्तु नेहरू ने गांधीजी की हिन्द स्वराज मे वर्णित योजना को कभी स्वीकार नहीं किया। नेहरू ने यद्यपि गांधीजी के आदर्शों पर भारत को यथासम्भव चलाने का प्रयास किया किन्तु व्यावहारिक राजनीति की आवश्यकता ने उन्हें पृथक् मार्ग अपनाने के लिये प्रेरित किया।

नेहरू तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

नेहरू की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अन्तर्दृष्टि का प्रत्यक्ष प्रमाण उनके द्वारा निर्मित एव सचालित भारत की विदेशनीति से मिलता है। वे भारत की विदेश-नीति के कर्णधार थे। अठारह वर्षो तक (1946-64) उन्होंने भारत के विदेशी सम्बन्धो को मार्ग-दर्शन दिया। उनके व्यक्तित्व की छाप भारत की विदेश-नीति के निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन पर इतनी गहरी थी कि आज भी भारत उनके द्वारा निर्धारित नीति के मापदडो से विचलित नहीं हुआ है। भारत जैसे विशाल देश, उसकी महत्वपूर्ण सामरिक स्थिति, उसका विश्व-इतिहास एव सभ्यता मे योगदान तथा जनसख्या की दृष्टि से विश्व मे द्वितीय स्थान, ये सभी महत्ता के सूचक होने के कारण उसकी श्रेष्ठता स्थापित करने वाले तत्व

हैं। ऐसे महान् राष्ट्र की गौरवपूर्ण परम्पराओं का नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में पूर्णतया निर्वाह किया। न केवल भारत में, अपितु एशिया तथा अफ्रीका के अधिकांश राष्ट्रों ने भारत की महत्ता का आभास नेहरू के अन्तर्राष्ट्रीय नेतृत्व में प्राप्त किया। यह नेहरू के व्यक्तित्व एवं उनकी सत्यनिष्ठा का प्रमाण था कि वे भारत का विदेश नीति के निर्माण का श्रेय स्वयं को न देकर भारत की कोटि-कोटि जनता तथा उसकी भावनाओं को देते थे। उन्हें इस बात से चिढ़ थी कि व्यक्ति उन्हें ही विदेश नीति के निर्माण का सम्पूर्ण श्रेय दे। वे अपने-आपको केवल माध्यम के रूप में मानते थे और नीति का मूल स्रोत जनता की चेतन अथवा अचेतन भावनाओं को मानते थे।[83] व्यक्ति के रूप में नेहरू में समस्त मानवोचित गुण एवं सीमायें थीं किन्तु उनके द्वारा भारत की विदेश-नीति का सधारण तत्कालीन परिस्थितियों में त्रुटि-रहित एवं श्रेष्ठ रहा। उनकी मृत्यु के कुछ समय पहले तथा बाद में कई आलोचकों ने भारत की विदेश-नीति की आलोचना की किन्तु उनकी आलोचना का केन्द्र-बिन्दु भारत की चीन से पराजय पर ही केन्द्रित रहा। केवल एक घटना-विशेष से उनकी नीति की जय अथवा पराजय नहीं आंकी जा सकती। सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में विदेश-नीति का अध्ययन करने पर ही आलोचकों की अर्थहीनता सिद्ध हो सकती है।

नेहरू की विदेशनीति का निर्धारण भारत की घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के संदर्भ में किया गया था। भारत ने समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य निर्धारित किया था और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए भारत को साम्यवादी तथा पश्चिमी राष्ट्रों से अपने सम्बन्ध मधुर रखते हुये दोनों से आर्थिक सहायता प्राप्त करनी थी। भारत के सामाजिक जीवन के आधुनिकीकरण तथा प्रशासनिक संस्थाओं की कार्यक्षमता में वृद्धि के लिए शिथिल आर्थिक व्यवस्था को नवजीवन प्रदान करना आवश्यक था। देश में व्याप्त प्रान्तवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावादिता तथा अन्य पृथकतावादी शक्तियों के निवारण के लिये आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने की आवश्यकता थी ताकि भारत की नवजात स्वतन्त्रता की रक्षा की जा सके। नेहरू ने आर्थिक विकास, धर्म निरपेक्षता तथा राजनीतिक लोकतन्त्र के त्रिगुणात्मक कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए विदेश-नीति को उसी क्रम में निर्धारित किया जिससे भारत की प्रगति में बाधा न पड़े।[84] यह कार्य इतना सरल नहीं था। विश्व शीतयुद्ध के विषैले वातावरण से गुजर रहा था। साम्यवादी देशों तथा पश्चिमी राष्ट्रों के पारस्परिक मनोमालिन्य के कारण असंलग्नता की मान्यता नगण्य थी। सामरिक महत्व की संधियों तथा शस्त्रों की होड़ में असंलग्न राष्ट्रों के लिये अनेक प्रलोभन प्रस्तुत किये गये थे। नाटो तथा वारसा संधियों के कारण दोनों ही गुट अपनी शक्ति में वृद्धि के प्रयत्न करते हुये असंलग्न राष्ट्रों को अपनी ओर खींचने का प्रयास कर रहे थे। ऐसे समय में नेहरू ने भारत की विदेश-नीति को असंलग्नता के ध्रुव आधार पर बनाये रखा। बांडुग सम्मेलन में नेहरू के सफल नेतृत्व के कारण एशिया तथा अफ्रीका के देशों को नई प्रेरणा तथा शक्ति प्राप्त हुई।[85]

नेहरू के अन्तर्राष्ट्रीय चिंतन में विश्व को युद्ध की विभीषिका से बचाने का प्रयास अन्तर्निहित था। वे मारणांतक अस्त्रों की होड़ से चिन्तित थे। विश्व की महाशक्तियों की शक्ति लोलुपता एवं नव-उपनिवेशवादी प्रवृत्तियों की उन्होंने भर्त्सना की। वे शांतिपूर्ण

सहअस्तित्व के सूत्रधार थे। उनका यह निश्चित विश्वास था कि यदि विश्व में शांति के प्रयासों तथा सह-अस्तित्व की भावना को न बनाये रखा तो सम्पूर्ण विश्व का विनाश हो जायेगा। वे सहिष्णुता, सद्भावना एवं सौम्यता के आधार पर आणविक युग की चुनौतियों को स्वीकार करने का आह्वान कर रहे थे। वे महाशक्तियों से भयभीत नहीं थे और न अपने से दुर्बल राष्ट्रों को धमकाने अथवा डराने का उनका कोई इरादा ही था। उनका उद्देश्य राष्ट्रों के मध्य मैत्री के संतुलन रूप में कार्य करने का था।[86] उनका यह विश्वास था कि भारत पार्थक्य की नीति का अनुसरण कर विश्व राजनीति से अलगाव नहीं रह सकता था। भू-राजनीति एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए भारत को अपनी भूमिका निभानी थी। भारत की राष्ट्रीय सम्प्रभुता तथा उसके राष्ट्रीय हित राष्ट्रों के परस्पर मैत्री सम्बन्धों से उसी प्रकार प्रभावित थे जैसे अन्य राष्ट्रों के। नेहरू 'वसुधैव कुटुम्बकम्'' के सिद्धान्त में निष्ठा प्रकट करते हुये विश्व के सभी देशों के साथ अच्छे पड़ोसियों के सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे।[87] यद्यपि नेहरू के विचारों में आदर्श एवं उच्च नैतिक सिद्धान्तों का विशेष पुट था, फिर भी उनकी विदेश-नीति को केवल आदर्शात्मक नहीं माना जा सकता। भारत के राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि रखने का उद्देश्य आदर्शपूर्ण यथार्थ का था। भारत अन्य राष्ट्रों से अधिक नैतिकता का दावा नहीं कर सकता था। गांधीजी के साधन-साध्य सम्बन्धी के नैतिक औचित्य को पूर्ण मान्यता प्रदान करते हुये भी भारत राष्ट्रीय हितों की तिलांजलि नहीं दे सकता था। इस प्रकार नेहरू की विदेश-नीति के आदर्शात्मक पक्ष यथार्थवाद से असम्बद्ध नहीं थे।

भारत की शांतिप्रियता पर आधारित विदेशनीति का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष था भारत का पंचशील के सिद्धान्त में विश्वास। पंचशील की मान्यता नेहरू के ही प्रयत्नों का परिणाम थी। नेहरू ने इसी के आधार पर भारत-चीन समझौता किया और तिब्बत के साथ भारत के व्यापार एवं आवागमन को सुरक्षित रखा। पंचशील के प्रमुख सिद्धान्त थे—(i) एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता एवं सम्प्रभुता का परस्पर सम्मान, (ii) आंतरिक मामलों में पारस्परिक अहस्तक्षेप, (iii) समानता, (iv) पारस्परिक हित तथा (v) शांतिपूर्ण सहअस्तित्व। नेहरू की यह धारणा थी कि यदि पंचशील के सिद्धान्त को पूर्ण मान्यता मिल जाय तो राष्ट्रों का परस्पर मनोमालिन्य सर्वथा समाप्त हो जायेगा।[88] भारत द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में इन सिद्धान्तों की मान्यता भारत की लोकतंत्र के प्रति निष्ठा की प्रतीक थी। पंचशील का यह अर्थ नहीं था कि भारत अपनी मान्यताओं का त्याग कर दे, तुष्टीकरण की नीति अपनाये, तटस्थ बन जाय अथवा उपनिवेशवाद-साम्राज्यवाद का विरोध न करे।[89] पंचशील की मान्यता ने भारत को अन्य देशों से वचनबद्धता की अपेक्षा का अवसर दिया। नेहरू ने विश्व में प्रचार-साधनों के दुरुपयोग तथा वैचारिक संघर्ष की आलोचना की। वे शीतयुद्ध के विरोध में थे। साम्यवादी तथा पश्चिमी राष्ट्रों का यह शीत-युद्ध कभी भी विश्व में आणविक संहार की विभीषिका उत्पन्न कर सकता था। शीत-युद्ध, गृह-युद्ध तथा वैचारिक संघर्षों के प्रति नेहरू का विरोधी स्वरूप विश्व में शांति क्षेत्रों की स्थापना का पूर्वगामी विचार है। मानवता के भविष्य को सुरक्षित रखने तथा विश्व को जीवनदायिनी दिशा देने में उनका यह योगदान चिरस्मरणीय रहेगा।

नेहरू की विदेश नीति की दूसरी विशिष्टता थी असंलग्नता की नीति का अनुसरण।

नेहरू तथा उनके प्रशंसक दोनों ही असंलग्नता को भारत की विदेश-नीति का पर्यायवाची मानते रहे। वास्तविकता में असंलग्नता की नीति विदेश-नीति का साधन थी न कि स्वयमेव साध्य। असंलग्नता के प्रति लगाव का यह अर्थ नहीं था कि राष्ट्रीय नीति एवं क्रियाविधि की स्वतंत्रता का त्याग कर दिया जाय। इस दृष्टि से नेहरू के विचारों में स्पष्टता नहीं थी किन्तु उनके द्वारा असंलग्नता की नीति का अनुसरण सैन्य संधियों को पूर्णतः अस्वीकृत करने की दृष्टि से किया गया था। असंलग्नता की नीति का दूसरा लाभ यह रहा कि इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर अल्पकालिक निर्णय लिये जा सकते थे और प्रत्येक समस्या को उसके महत्त्व के अनुसार परखा जा सकता था। नेहरू के अनुसार असंलग्नता का अर्थ तटस्थता, निष्क्रियता अथवा दीवार के दोनों ओर पैर लटका कर बैठने की नीति से नहीं था। भारत की विश्व-राजनीति में सक्रियता एवं गतिशीलता को देखते हुये उसे तटस्थवाद का समर्थक नहीं कहा जा सकता था। असंलग्नता की नीति का उद्देश्य विश्व के व्यापक हितों को दृष्टि में रखते हुए भारत के स्वयं के राष्ट्रीय हितों की पूर्ति का था।[90]

नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को बनाये रखने का निरन्तर प्रयास किया। उनके अनुसार भारत द्वारा शांति की कामना इस कारण से नहीं की गयी थी कि भारत अपने आर्थिक विकास के लिए इसे चाहता था अपितु इस भारतीय धारणा के अधीन की थी कि शांति जीवन, चिंतन तथा क्रियाशीलता का आधार है। नेहरू ने औपनिवेशिक शासन से दबे जनमानस के आत्मनिर्णय के अधिकार को सर्वव्यापी बनाने का प्रयास किया और उसे विश्व-शांति की आवश्यक शर्त बतलाया।[91] पराधीन राष्ट्रों के शांतिपूर्ण स्वातंत्र्य आन्दोलनों को उन्होंने समर्थन दिया। उनके नेतृत्व में भारत की विदेश-नीति में रंगभेद तथा प्रजातीय भेदभाव का व्यापक विरोध किया गया। नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण निपटारा विश्व राजनीति के परिप्रेक्ष्य में सर्वोत्तम उपाय माना। युद्ध द्वारा झगड़ों को निपटाने के स्थान पर पारस्परिक बातचीत एवं समझौतों द्वारा विवादों का हल ढूंढना उन्हें समीचीन प्रतीत होता था। स्वेज संकट के समय उन्होंने कहा था "आधुनिक विश्व में अंतर्राष्ट्रीय विवादों को राष्ट्रों के मध्य मल्ल युद्ध द्वारा नहीं निपटाया जा सकता। व्यक्तियों की भर्त्सना करके भी कुछ प्राप्त नहीं हो सकता। हमें गलत कार्य करने वालों को सद्भावना द्वारा जीतना चाहिये और साथ ही साथ उन सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान रहना चाहिये जो हमारी दृष्टि में महत्वपूर्ण हैं।"[92]

नेहरू ने एशिया तथा अफ्रीका के नवोदित स्वतंत्र राष्ट्रों की सहायता तथा उनकी प्रभाव वृद्धि का व्यापक प्रचार किया। वे एशिया तथा अफ्रीका के राष्ट्रों को सर्वाधीनता के दायरे से बाहर निकाल कर विश्व-राजनीति में सक्रिय योगदान देने के पक्ष में थे। वे उनकी पार्थक्यवादी नीति के समर्थक नहीं थे। नेहरू द्वारा एशिया तथा अफ्रीका की समस्याओं के प्रति सहानुभूति एवं समानता के व्यवहार के आधार पर विश्व जनमत उद्वेलित किया गया। वे भारत द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को स्थायी बनाने तथा उन्हें बल प्रदान करने के कार्य में निरन्तर लगे रहे। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र को लोकप्रिय एवं प्रभावी बनाने में अत्यधिक योगदान दिया। उनके अनुसार विश्व में युद्ध तथा शांति के प्रश्नों को सुलझाने में संयुक्त राष्ट्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता था।[93]

नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भारत की स्थिति को अपने कार्यकाल में इतना पुख्ता कर दिया कि भारत विश्व के प्रत्येक कोने में, लातिनी अमेरिका के अपवाद को छोड़कर, अपने सम्बन्ध स्थापित कर सका। शीतयुद्ध के कारण भारत के महाशक्तियों के साथ सम्बन्ध इतने मधुर नहीं रहे किन्तु धीरे धीरे भारत की असंलग्नता की नीति के सम्बन्ध में महाशक्तियों के रवैये में परिवर्तन आया। भारत ने गुट-निरपेक्षता की नीति का अनुसरण करते हुये दोनों ही गुटों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रखे। नेहरू के प्रभाव से भारत के अरब देशों के साथ भी सम्बन्ध प्रगाढ़ हुये। गुट निरपेक्ष राष्ट्रों में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ी। इंगलैण्ड तथा युगोस्लाविया भारत के घनिष्ठ मित्र बने। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने तथा उनका समाधान ढूंढने में भारत ने सहायता दी। कोरिया युद्ध, हिन्दचीन की समस्या, स्वेज संकट, निरस्त्रीकरण की समस्या आदि के निवारण में भारत ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[94] चीन द्वारा भारत पर आक्रमण किये जाने से भारत की प्रतिष्ठा गिरने के स्थान पर और भी बढ़ी क्योंकि एक ओर चीन की घिनौनी आक्रमणकारी तस्वीर विश्व के सामने आई तो दूसरी ओर भारत ने अपने प्रतिरक्षा प्रयासों को नया मोड़ दिया। चीन द्वारा भारत पर आक्रमण नेहरू के लिये व्यक्तिगत चुनौती एवं प्रतिष्ठा का प्रश्न अवश्य था क्योंकि चीन के आक्रामक रवैये का नेहरू को व्यक्तिगत रूप से पूर्वज्ञान होते हुये भी भारत की जनता के समक्ष उन्होंने सदैव चीन का मैत्रीपूर्ण रूप ही प्रस्तुत किया। वे कृष्ण मेनन तथा अपने अन्य सहयोगियों के साथ चीनी आक्रमण के समय तक यही मानते रहे कि चीन भारत पर आक्रमण नहीं करेगा। यद्यपि उनका यह निर्णय दोषपूर्ण रहा[95] और इसकी देश में व्यापक प्रतिक्रिया हुई किन्तु नेहरू द्वारा स्थापित विदेश-नीति का भारत ने परित्याग नहीं किया। उसी नीति पर चलकर भारत ने अपनी प्रतिरक्षा व्यवस्था को सक्षम बनाया और आक्रमणकारियों को मुँह तोड़ जवाब देने की क्षमता विकसित की। यह नेहरू की विदेश नीति के सकारात्मक पक्ष का प्रतीक था कि हम भयानक आक्रमणों के बावजूद भारत की आर्थिक समृद्धि एवं विकास के लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं।

विश्व एकता तथा नेहरू

नेहरू ने विश्व-एकता के स्वप्न को सदैव अपने मस्तिष्क में संजोये रखा। प्रारम्भ में वे ऐसे विश्वसंघ की कामना करते थे जिसमें चीन, भारत, बर्मा, श्रीलंका, अफगानिस्तान आदि सम्मिलित हों।[96] वे ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के पक्ष में नहीं थे। यद्यपि राष्ट्रसंघ की असफलता ने उनके विचारों को प्रभावित किया था और वे व्यापक अधिकारों से युक्त किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की कामना करते थे किन्तु ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का उन्होंने (भारत की स्वाधीनता से पूर्व) रंगभेद की नीति तथा दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ अमानवीय व्यवहार के कारण विरोध किया। वे ऐसे किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की योजना को स्वीकार करने के लिये उद्यत न थे जिसमें सोवियत रूस, चीन तथा भारत सम्मिलित न हों। पश्चिमी देशों के साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी, फासीवादी रवैये की निंदा करते हुए उन्होंने भावी विश्वसंघ में सोवियत रूस की महत्वपूर्ण भूमिका की कामना की। वे ऐसा विश्व संघ चाहते थे जो लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता पर आधारित हो और जिसमें प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र आन्तरिक सम्प्रभुता का प्रयोग करते हुये अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में विश्व-व्यवस्थापिका का

नियन्त्रण स्वीकार करें।[97]

नेहरू ने विश्व राज्य की अवधारणा का समर्थन करते हुये गांधीजी के विचारों के अनुरूप अहिंसा द्वारा विश्व-शांति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव का स्वागत किया। अन्याय पर आधारित व्यवस्था को साधन-साध्य के औचित्य पर अस्वीकार करते हुए नेहरू ने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नैतिक कानून की सर्वोच्चता को प्रतिपादित किया। विश्व-राज्य की कल्पना में उनका पूर्ण विश्वास था। संयुक्त राष्ट्र को और भी अधिक व्यापक संघात्मक स्थिति में परिवर्तित कर विश्व-राज्य की स्थापना की जा सकती थी जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपने बुद्धि सौष्ठव के अनुसार अपनी नियति निर्धारित कर सके। नेहरू मानते थे कि राष्ट्रों में व्याप्त परस्पर भय तथा घृणा का अन्त करके स्वतन्त्रता तथा पारस्परिक सहयोग पर आधारित विश्व-राज्य की स्थापना सम्भव है।[98] यदि विश्व-राज्य की स्थापना नहीं होती है तो विश्व का भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा। उनके अनुसार भारत में राष्ट्रवाद विश्व-राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अवधारणा पर सदैव आधारित रहा है, अतः विश्व-राज्य की स्थापना में वह अपना पूर्ण योगदान कर सकेगा।[99]

विश्व-शान्ति की दृष्टि से, नेहरू के अनुसार, वर्तमान समय में युद्ध के मूल कारणों को दूर करने की आवश्यकता थी। एक देश द्वारा दूसरे देश पर आधिपत्य स्थापित करने की प्रवृत्ति युद्ध के अनेक कारणों में से एक मूलभूत कारण थी। लम्बे समय तक यूरोपीय देशों ने एशिया पर आधिपत्य जमाये रखा। अफ्रीका पर भी विदेशी साम्राज्यवादी छाये रहे। अन्य कारणों में नेहरू ने प्रजातीय सम्बन्धों, आर्थिक पिछड़ेपन आदि को भी युद्ध फैलाने वाले कारण मानते हुये उनका समाधान ढूंढने का आग्रह किया। उनके विचारों के अनुसार एशिया तथा अफ्रीका के देशों की पिछड़ी हुई स्थिति जब तक सुधारी नहीं जाती, तब तक विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।[100]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शान्ति स्थापना के प्रयास, नेहरू के अनुसार, तभी सफल हो सकते हैं जबकि शान्ति की मनोवृत्ति अपनाई जाय। सभ्यता तथा संस्कृति के विकास ने भविष्य की प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया है किन्तु यह सभ्यता और संस्कृति मानव-मस्तिष्क तथा मानवीय व्यवहार पर आधारित है, न कि भौतिक साधनों पर। युद्ध के समय यह सभ्यता तथा संस्कृति अवरुद्ध हो जाती है और व्यक्ति का मस्तिष्क बर्बरता का उदाहरण बन जाता है। इस बर्बरता से बचने का मार्ग है शान्ति को पूर्णरूपेण आत्मसात् करना तथा विवादों को मैत्रीपूर्ण ढंग से निपटाना। यद्यपि नेहरू शान्तिवादी नहीं थे और वे अन्याय का प्रतिकार करने में कोई बुराई नहीं मानते थे, किन्तु उनका मूल विचार यह था कि अन्यायी आक्रान्ता से युद्ध करते समय भी मैत्री का हाथ उसकी ओर बढ़ाकर रखना चाहिये जो भय अथवा अन्य कारण से हमारा विरोधी शत्रु है। गांधीजी के उपदेशों को अपनाते हुये शान्ति को चिरंतन सत्य के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता है। प्रतिष्ठा अथवा अपमान का बदला लेने के नाम पर संघर्ष उत्पन्न कर शान्ति को भंग करने का प्रयास आधुनिक युग की दृष्टि से अमानवीय है।[101]

मूल्यांकन

जवाहरलाल नेहरू के उदात्त मानवीय जीवन पक्ष ने उन्हें भारतीय जनता का हृदय-सम्राट् बना दिया। राजनेता के रूप में भी वे जनता से दूर नहीं रहे। अपनी सुरक्षा के सभी

प्रबन्धकों को हतप्रभ करते हुए वे जनसमूह के मध्य आ खड़े होते थे। वे जनता को प्यार करते थे और भारतीय जनता भी उन पर अपना अपार स्नेह उड़ेलती थी। वे भारतीय नेतृत्व के पद-सोपान में सदैव श्रेष्ठत्व प्राप्त करते रहे। गांधीजी के उत्तराधिकारी के रूप में उनका नेतृत्व उभरा और अपने पिता की महानता के दिनों में ही स्वयं भी महान् बन गये। उनकी उपस्थिति अनुभव की जाने लगी। स्वतन्त्रोत्तर भारत में उनका प्रधान मन्त्रित्व सदैव चर्चा का विषय रहा। दल तथा विपक्ष के दिग्गज नेता भी उनके समक्ष बौने लगते थे। समस्त भारत प्रशासन उनके इशारे पर चलता था। हिटलर अथवा मुसोलिनी की शक्ति उनके लोकतांत्रिक नेतृत्व तथा प्रभाव से समक्ष धूमिल होती दिखाई देती थी। अपने मन्त्रिमण्डलीय सहयोगियों के साथ उनका व्यवहार रूक्ष तथा कठोर था। यद्यपि टी० टी० कृष्णमाचारी, वी० वी० गिरि तथा सी० डी० देशमुख द्वारा त्यागपत्र देने के व्यक्तिगत कारण थे किन्तु नेहरू अपने सहयोगियों का चयन अथवा उनको अपदस्थ करने के अधिकार का स्वतन्त्र प्रयोग करने में सदैव दृढ़ रहे। उनके इस विचार के कारण उनके सहयोगियों में हीनता की भावना विकसित होना स्वाभाविक ही था।

नेहरू तथा गांधीजी में मूल वैचारिक अन्तर यह था कि जहाँ गांधीजी, शक्ति की चिन्ता किये बिना भी, अपने सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान् रहते थे, वहाँ नेहरू अपने राजनीतिक नेतृत्व को स्थायित्व प्रदान करने हेतु सिद्धान्तों के साथ समझौता करने को तैयार थे। सत्ता तथा उसके औचित्य को बनाये रखने में नेहरू सदैव सफल रहे। उन्होंने अपनी लोकतांत्रिक प्रगतिवादी प्रतिभा को बनाये रखा। उन्होंने स्वयं के लिये सत्ता का दुरुपयोग नहीं किया। वे उन समस्त मानव-सुलभ प्रलोभनों से दूर थे जिनके कारण सत्ताधिकारी भ्रष्ट एवं अनैतिक कहलाते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि नेहरू में मानवोचित कमियाँ नहीं थीं। वे चाटुकारिता से प्रसन्न रहते थे। अपनी बात का विरोध उन्हें असह्य बना देता था। वे क्रोधी भी थे। अपने उत्तराधिकारी के चयन में दिखाई गई शिथिलता उनकी अहम्मन्यता तथा हठधर्मिता का ही प्रतीक थी। सम्भवतः यह राजनीतिक शक्ति की नैसर्गिक प्रवृत्ति रही है कि सत्ताधारी द्वारा सत्ता का उपयोग उसकी तृष्णा को शान्त करने के स्थान पर उसे और भी अधिक अतृप्त बना देता है। अधिनायकतन्त्र हो अथवा लोकतन्त्र, असाधारण शक्ति सम्पन्नता दोनों ही परिस्थितियों में सिंह पर सवारी करने के समान है। सवार रहना सुरक्षा का प्रतीक है किन्तु उतरना घोर असुरक्षा का कारण बन जाता है।

नेहरू के व्यक्तित्व पर टिप्पणी करते हुये पट्टाभिसीतारामैया ने 1942 में लिखा था कि "नेहरू अपने परिचितों के साथ गम्भीर, अपने मित्रों के साथ घनिष्ठ एवं प्रसन्न, अपरिचितों के साथ विनयशील, तथा सहयोगियों के साथ अभद्र हो सकते हैं। उनकी व्यग्रता तथा असंतुलित भावुकता उनके द्वारा लिये गये शीघ्र निर्णयों तथा उनके प्रति दृढ़ लगाव के कारण है। वे अन्य व्यक्तियों से सुझाव प्राप्त करना स्वीकार नहीं करते और प्रायः ऐसे सुझावों को अस्वीकार करने में नहीं झिझकते। वे अपनी श्रेष्ठ प्रतिभा के प्रति सदैव जागरूक रहते हैं और अपनी उच्चता प्रकट करते हैं किन्तु इसके साथ ही उनकी हीनता का भाव भी उपस्थित होता है जिसके कारण वे अपने आपको गांधीजी से हेय समझना भी उचित नहीं मानते। वे बापू द्वारा तैयार किये गये मसविदों को स्वीकार नहीं

करते जब कि समस्त ममवीदो के प्रारूप उनके द्वारा ही तैयार किये जाते हैं।" .... " .... जवाहरलाल नेहरू अपने वार्तालाप को गर्जना के साथ प्रारम्भ करते हैं, प्रत्येक को भलाबुरा कहते हैं, अपने देशवासियो की मन स्थिति की कटु आलोचना करते हैं, गांधीजी के धार्मिक-नैतिक आग्रह की आलोचना करते हैं, रूस, स्पेन तथा चीन की बातें करते हैं और एक ऐसी हलचल पैदा करते हैं जैसा कि मगरमच्छ घुटने तक गहरे पानी मे अपनी गिरफ्त में फसे शिकार द्वारा अपनी मुक्ति के सौम्यप्रयास के समय मचाता है।[102] "जवाहरलाल एक राजनीतिज्ञ हैं न कि कोई सन्त अथवा दार्शनिक। वे विश्व की अच्छी वस्तुओ से प्रेम करते हैं, फिर भी वे कर्त्तव्य के स्थान पर सुख अथवा देश के स्थान पर स्वय को रखना कदापि स्वीकार नही करते।"[103]

नेहरू के विचारो तथा कार्यों की अनेक कारणो से आलोचना की गई। उनकी भावुकता, वैचारिक अस्थिरता तथा नीतियो के क्रियान्वयन मे शिथिलता ने अनेक अवसर उपस्थित किये जिनके कारण उनसे त्रुटियाँ हुईं। उन्होंने समाजवादी समाज की स्थापना की घोषणा तो की, किन्तु उसे ठीक से कभी भी परिभाषित नही किया। नियोजन के सम्बन्ध मे उनके विचार गाधीजी से भिन्न थे। वे विदेशी पर्यवेक्षकों की प्रशसा को अधिक महत्व देते थे। भारत की कृषि-व्यवस्था पर उन्होंने अपना उतना ध्यान केन्द्रित नहीं किया जिसकी भारत को आवश्यकता थी। भारत की बढती हुई जनसख्या को उन्होंने प्रारम्भिक वर्षों मे चिन्ता न की। घोषणाओ के बावजूद उन्होंने जमाखोरो तथा कर-वचको के विरुद्ध कठोर कार्यवाही नहीं की। विदेशो से आर्थिक सहायता प्राप्त करने के पश्चात् भी वे विदेशी मुद्रा के दुरुपयोग को नही रोक सके। उन्हें ग्रामीण भारत की कठिनाइयों का सीमित ज्ञान था। भारत की अशिक्षित, भूखी तथा असहाय जनता को नियोजन से सम्बन्धित करने का प्रचार केवल भुलावा मात्र था। नौकरशाही के भ्रमजाल में फसकर नेहरू ने सहकारिता, पचायतीराज्य तथा सामुदायिक विकास योजनाओ को मखौल बना दिया। ग्रामीण जनता की समस्याओ के निराकरण की ओर उनका ध्यान बहुत विलम्ब से आकर्षित हुआ। ग्रामीण क्षेत्रो में बेरोजगारी बढती चली गयी। खादी, ग्रामोद्योग आदि इस समस्या को हल नहीं कर सके।[104]

विदेश नीति के सचालन मे नेहरू ने साम्यवादी चीन मे मैत्री को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया। वे चीन से अन्दर ही अन्दर भयभीत थे और उसे तुष्ट करने के लिये सुरक्षा परिषद् मे उसे स्थान दिलाना चाहते थे किन्तु चीन के साथ लगने वाले भारत के सीमान्त प्रदेशो की ओर उनका ध्यान नही गया। वे भारत के अक्साई चीन प्रदेश मे चीन के आक्रमण की सूचना प्राप्त करके भी ससद से इस तथ्य को छिपाये रहे। भारत की प्रतिरक्षा पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया और वह भी विशेषत: भारत-चीन सीमारक्षा की दृष्टि से। परिणाम स्पष्ट था। चीन भारत की ओर बढने लगा। नेहरू ने फिर भी जनता को वस्तुस्थिति का ज्ञान नही कराया। अन्त मे चीन के साथ भारतीय जवानो की मुठभेड ने जब पराजय का मुख देखा तब विदेशो से सैनिक सहायता की वार्तायें प्रारम्भ हुईं। भारत की चीन के साथ सघर्ष मे हार ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत की प्रतिरक्षा एवं असलग्नता की नीति कितनी दुर्बल थी। गुट निरपेक्ष राष्ट्रो ने भी भारत का वैसा साथ नहीं दिया जो कि उनसे अपेक्षित था। इससे पहले नेपाल के साथ सम्बन्धो में नेहरू ने

त्रुटियुक्त नीति का अनुसरण किया। नेपाल को सरक्षित राज्य बनाने तथा सिक्किम को सरक्षित राज्य से भारतीय गणराज्य मे सम्मिलित करने के प्रस्तावो पर भी उन्होने समय रहते स्वीकृति नही दी। नेपाल ने विवश होकर चीन के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। वियतनाम के सघर्ष मे वियतनामियो द्वारा सहायता की माग को ठुकरा कर केवल मध्यस्थता करने का दभ दर्शाना भी उनकी नीति का अग रहा। वियतनाम भी चीन की ओर झुका। लाओस तथा कम्बोडिया के मामलो मे भारत द्वारा चीन का दबे स्वर मे समर्थन चीन के प्रभाव को ही बढ़ाने मे सहायक रहा। पाकिस्तान के साथ भारत के सम्बन्धो मे भी कोई सुधार नही हुआ। काश्मीर की समस्या को सुलझाने के प्रयास विफल रहे। नेहरू की अमेरिका-विरोधी नीति बाद मे परिवर्तित हो गयी और अमेरिका से आर्थिक सहायता का क्रम प्रारम्भ हुआ। युद्ध-निरपेक्षता की नीति से अधिक शीत-युद्ध के कारणो ने भारत को विदेशी सहायता दिलवाने का मार्ग प्रशस्त किया। दूसरी ओर, भारत तथा रूस के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो का सिलसिला चलता रहा। तेलगाना मे साम्यवादियो के प्रति अपनाये गये कठोर रुख को रूस की बढती हुई मैत्री के समक्ष त्यागना पडा।[105]

भारत के आन्तरिक प्रशासन की दृष्टि से भी नेहरू की आलोचना की गयी। वे भारत की निर्वाचन-पद्धति से प्रसन्न नही थे। फिर भी उसमे आमूलचूल परिवर्तन करना उनके वश मे न था। उन्होने राज्य के नीति-निर्देशक तत्वो को क्रियान्वित करने का व्यापक प्रयास नही किया। भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के साथ उनके मतभेद उभर कर सामने आये। न्यायपालिका की प्रक्रिया मे उनके द्वारा किया गया हस्तक्षेप आलोचना का विषय बना। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीयकरण, धर्मनिरपेक्षता, राज्यो का भाषायी पुनर्गठन, राष्ट्रभाषा का प्रश्न, अनुसूचित जातियो तथा जनजातियो की समस्या, नौकरशाही के बढ़ते हुए प्रभाव की समस्या, प्रशासन मे व्याप्त भ्रष्टाचार, गाधीवाद के प्रति तिरस्कृत दृष्टि, काग्रेस दल का नेतृत्व, राज्यो मे हस्तक्षेप, कामराज योजना द्वारा मन्त्रीमण्डलीय सतुलन बनाने का प्रयास, राज्यपालो के पद का राजनीतिक उपयोग, चुनाव के सम्बन्ध मे धन-सग्रह, केरल राज्य मे हस्तक्षेप आदि अनेक प्रश्नो पर आलोचको द्वारा नेहरू की तीव्र आलोचना की गयी।[106]

फिर भी नेहरू के व्यक्तित्व, विचारो तथा कार्यों की उपर्युक्त आलोचना उनकी महानता, उनके त्याग तथा उनके आधुनिक भारत के निर्माण मे योगदान को तिरोहित नही कर सकती। नेहरू असाधारण व्यक्ति थे। वे भारत के प्रधानमन्त्री, काग्रेस के कर्णधार, देश की जनता के हृदय सम्राट तथा विश्व शांति के अग्रदूत थे। उनकी दृष्टि भी असाधारण थी। वे केवल समय के साथ-साथ चलने के आदि ही नही थे, अपितु उन्हे भविष्य की सभावनाओ का भी ज्ञान था। उन्होने इसी आधार पर भारत के भावी भविष्य का निर्धारण किया। उनकी असाधारण योग्यता एव विवेकयुक्त दृष्टि के समक्ष उनके सहयोगी एव सहायक प्रशासक भी भौचक्के रह जाते थे। ऐसे प्रभावशाली नेतृत्व के अन्तर्गत भारत की प्रगति निश्चित थी और वह हुई भी। अनेक उपलब्धियो का वरण कर भारत जैसा समस्या-प्रधान देश नेहरू के प्रयासो से ही अपनी स्वतन्त्रता बनाये रख सका। समस्याओ के समाधान का नेहरू का वैचारिक क्रम त्रुटिपूर्ण नही था। दोष था उन व्यक्तियो का जो नेहरू की नीतियो के क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी थे। नेहरू एव सेनापति

के रूप मे थे। उनके सेनापतित्व मे विजय निश्चित थी किन्तु सेनापति की सफलता का रहस्य सेना के प्रत्येक सैनिक की कार्यकुशलता, निष्ठा एव कर्तव्यपरायणता पर जिस प्रकार आधारित होता है, उसी प्रकार नेहरू के विचारो के अनुरूप भारत को बढाने का कार्य भारतीय जनता के कधो पर भी था। भारत की आतरिक एव बाह्य नीतियों की सफलता का श्रेय यदि नेहरू के नेतृत्व को दिया जाता है तो असफलताओ का उत्तरदायित्व भारतीय जनता, भारत के बुद्धिजीवियो तथा अर्थहीन आलोचको पर ही होगा।

नेहरू ने भारत को वैज्ञानिक प्रगति के मार्ग पर अग्रसर किया। आणविक अनुसन्धान एव गवेषणा मे भारत की सफलता का रहस्य स्वय नेहरू का दृष्टिकोण था। वे जानते थे कि भारत की आर्थिक विपन्नता अन्य देशो के साथ वैज्ञानिक सहयोग द्वारा प्रविधि के विकास से दूर की जा सकती थी। उन्होंने विदेशो के ज्ञान-विज्ञान का भारत मे दोहन किया और भारत की वैज्ञानिक प्रतिभा को निखारने तथा उभारने का कार्य कर हमे अधकार से प्रकाश की ओर बढने मे सहायता दी। यदि उनके समान वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाला नेतृत्व भारत की स्वतन्त्रता के शैशव मे प्राप्त न होता तो आज भारत गर्व से माथ मस्तक ऊचा उठाकर खडा नहीं रह सकता था। भारत की सर्वतोमुखी उन्नति का श्रेय नेहरू को ही दिया जा सकता है। उनके समय से ही कृषि की ओर भारत का ध्यान आकर्षित हुआ। कृषि मे वैज्ञानिक अनुसन्धानो के माध्यम से उन्नत बीजों तथा उर्वरको का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। जन-सख्या पर नियत्रण के प्रयास उन्ही के समय प्रयुक्त किये गये। कृषि के क्षेत्र मे भारत की आधुनिक आत्म-निर्भरता नेहरू के प्रारम्भिक प्रयासो का ही परिणाम है। भारत मे औद्योगीकरण की नीति का सफल सचालन उन्ही के समय विधिवत् प्रारम्भ हुआ। उनके विचारो के अनुरूप भारी उद्योगो की स्थापना की गई जिनसे आज हम लाभ उठा रहे हैं। आवास, भवन निर्माण, परिवहन, चिकित्सा, जलदाय, विद्युत, सिचाई आदि सभी क्षेत्रो म औद्योगिक विकास के प्रत्यक्ष परिणाम परिलक्षित हुये। कल-कारखानो का विस्तार, सिचाई की बृहद् योजनायें, शिक्षा का प्रसार व जन-स्वास्थ्य मे वृद्धि आर्थिक नियोजन के परिणाम थे। देश की आर्थिक समृद्धि तथा रोजगार के अवसरों की व्यापकता नेहरू के चितन के ही परिणाम थे। औद्योगिक विकास ने भारत को आधुनिकता के युग मे ला खडा किया। परम्परागत शासन तथा सामाजिक व्यवस्था को नवीनता मे ढालने का प्रयास शुरू हुआ। नेहरू के नेतृत्व मे भारत के सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन का कार्य स्वतत्रोत्तर भारत की महानतम उपलब्धियों में से एक है।

नेहरू को जनता का अपार समर्थन प्राप्त होते हुए भी, उनकी मूलभूत लोकतात्रिक मान्यताएँ परिवर्तित नहीं हुई। यदि वे चाहते तो भारत पर अपना व्यक्तिगत शासन स्थापित कर सकते थे किन्तु उनके लोकतात्रिक मानव ने उन्हें लोकतात्रिक पद्धति के विकास की ओर ही प्रवृत्त किया। उनके नेतृत्व मे स्वतन्त्र भारत का सविधान बना। मौलिक अधिकारों की मान्यता स्थापित हुई। न्यायिक सरक्षण प्राप्त हुये, विपक्ष को आलोचना करने का अवसर प्राप्त हुआ और भारत की निरीह जनता को वयस्क मताधिकार प्राप्त हुआ। लोकतात्रिक विकेन्द्रीयकरण भी एक नवीन उपलब्धि थी। नेहरू ने भारत मे पचायती राज्य को पुनर्स्थापित कर जनता को सच्ची सत्ता प्रदान करने का प्रयास किया। अनेक प्रशासनिक सुधारो के माध्यम से सार्वजनिक कष्टो का निवारण प्राप्त किया। भारत

मे प्रशासनिक दक्षता तथा जन-सेवी कार्यों के मध्य सतुलन स्थापित किया गया। नौकरशाही की प्रतिबद्धता का नया प्रयोग किया गया ताकि आम जनता को उसका पूर्ण लाभ प्राप्त हो सके। पूंजीवाद पर नियत्रण तथा समाजवादी समाज की स्थापना के लिए नियमित अर्थ-व्यवस्था प्रयुक्त हुई। समाजवाद की ओर भारत ने बढ़ना प्रारम्भ किया। इससे अधिक उपयुक्त और कोई विकल्प नही था। मार्क्सवाद तथा पूंजीवाद दोनो के दुर्गुणो से मुक्ति दिलाने का नेहरू का कार्य प्रशसनीय था। लोकतांत्रिक समाजवाद के माध्यम से नेहरू ने स्वतन्त्रता तथा समता मे तालमेल बैठाकर राजनीतिक विकास का सतुलित उदाहरण प्रस्तुत किया।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे नेहरू द्वारा प्रस्तावित असलग्नता, गुट-निरपेक्षता की नीति, सह-अस्तित्व का विचार तथा पचशील के सिद्धान्त ने विश्व-शान्ति मे भारत के योगदान को स्पष्ट कर दिया।[107] साम्यवादी चीन से भारत की हार ने भारत का कायापलट ही कर दिया। नेहरू चीन से युद्ध टालना चाहते थे। वे नही चाहते थे कि भारत की आर्थिक प्रगति युद्ध के कारण शिथिल हो जाय और भारत को शीत युद्ध का रणक्षेत्र बनना पड़े। उनकी कूटनीति यद्यपि असफल रही किन्तु यह असफलता भारत के आज की शक्ति-सम्पन्नता का रहस्य बन गई। भारत मे चीन के आक्रमण के बावजूद अहिंसा का मार्ग नही छोड़ा। नेहरू की अहिंसा उनके दार्शनिक गुरु बापू की अहिंसा ही थी जिसमे कायरता के लिये कोई स्थान नहीं था। पुर्तगाल तथा फ्रांस के अधीन भारत के प्रदेशो को मुक्त कराने मे नेहरू ने इसी नीति का अनुसरण किया। पाकिस्तान द्वारा पहले काश्मीर तथा बाद मे पूरे भारत पर आक्रमण का मुंहतोड़ जवाब दिया गया। भारत ने न केवल राष्ट्रमण्डल को ही जीवन-दान दिया, अपितु नेहरू के नेतृत्व मे सयुक्त राष्ट्र के साथ-साथ भारत ने कोरिया, इण्डोनेशिया, बर्मा मलेशिया तथा अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रो को भी अभयदान दिया। विश्व मे सबसे बड़े लोकतान्त्रिक देश का गौरव प्राप्त करने मे भारत-रत्न नेहरू का सर्वाधिक योगदान रहा।

नेहरू ने सदियो से चले आ रहे साम्प्रदायिक वैमनस्य के विवाद मे पड़े भारत को धर्मनिरपेक्षता का सन्देश दिया और भारत को विश्व के अग्रणी धर्मनिरपेक्ष राज्यो की पंक्ति में खड़ा होने का गौरव प्रदान किया। भारत के आध्यात्मिक एव नैतिक मूल्यो का अनुसरण करते हुये भारत मे लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की गयी। सामाजिक सुरक्षा तथा सामाजिक समानता का लक्ष्य प्राप्त करने हेतु नेहरू ने ऊच-नीच, जाति-पाति तथा छुआछूत के विरुद्ध व्यापक अभियान चलाया गया। मानव की गरिमा को उच्चतम शिखर पर स्थापित करने के लिये नेहरू ने मानव मे ईश्वरोचित गुण आरोपित किये। गांधीजी ने ईश्वर को सृष्टि का निर्माता स्वीकार करते हुये मानव की तुच्छता का बोध करवाया किन्तु नेहरू ने युगो-युगो से चले आ रहे मानव के प्रकृति के साथ सघर्षों का उल्लेख कर मानव की उदात्त भावनाओ का रहस्योद्घाटन किया। अपने विचारो तथा सिद्धान्तो के हेतु सर्वस्व न्योछावर कर देने की मानव की साहसिक वृत्ति उन्हें मानवीय तत्त्व के प्रति निष्ठावान् बनाती थी। प्रकृति के समक्ष, ब्रह्माण्ड के सूक्ष्मतम तत्व के रूप मे, मानव की नगण्यता भी उसे शक्तिशाली के विरुद्ध-सघर्ष करने से नही रोक सकती। अपने मस्तिष्क मे ज्ञान बोध को सजोये हुये मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का

अविराम प्रयास किया है। नेहरू ने ईश्वर की स्थिति को स्वीकार करने के स्थान पर एक ऐसी रहस्यात्मक शक्ति की उपस्थिति को स्वीकार किया है जो मानव के जीवन तथा राष्ट्रों के भविष्य का सृजन करती है। ईश्वर हो या न हो, नेहरू ने मानव में ईश्वरोचित गुणों का दर्शन किया है। वे मानव के दानवीय पक्ष से भी अपरिचित नहीं हैं। वे आधुनिक सभ्यता के शिशु होने के साथ-साथ भारत की प्राचीन धरोहर के प्रतीक भी हैं। नेहरू ने भारत की प्राचीन बौद्धिक उपलब्धियों को आधुनिक चिन्तन के साथ एकाकार कर दिया है। नेहरू ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अवलम्बन लेकर भी भारत की आध्यात्म-प्रधान संस्कृति तथा सभ्यता के सहस्रों वर्षों के ननन्वयकारी प्रभाव को स्वीकार किया है। यही कारण है कि नेहरू ने पाश्चात्य जीवन के चकाचौंध पैदा करने वाले कृत्रिम प्रभावों से दूर रह कर पूंजीवाद, उपनिवेशवाद, साम्यवाद आदि से मुक्ति का मार्ग दर्शाते हुये अन्तर्राष्ट्रीयवाद तथा विश्व-सरकार की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया है।

आधुनिक विज्ञान की भावना से ओतप्रोत नेहरू का सत्यवादी दृष्टिकोण सत्य को तिरोहित करने वाले अर्थहीन धार्मिक आडम्बरों के प्रति घृणा का भाव व्यक्त करता है। लोकतान्त्रिक होकर भी अपने प्रति अनन्य विरोध को पुरातनपंथी तथा सामन्तवादी मानने वाले, ईश्वर की सृष्टि को न मानते हुए भी मानव के भविष्य में दृढ़ निष्ठावान्, सर्वत्र सौन्दर्य के उपासक, अपने दारुण कष्टों की चिन्ता न कर मानव मात्र के मुख पर मुस्कान तथा उनकी आंखों के अश्रुओं को पोंछने का अदम्य साहस एवं सेवा का भाव, सीमित विनय, असीमित सम्मान के भागी, त्रुटियां करते हुये भी विश्वासघाती व्यक्तियों पर विश्वास करने वाले नेहरू का व्यक्तित्व अद्भुत ही था।[108]

नेहरू ने विश्वव्यापी लोकप्रियता अर्जित की। देश-विदेश के मनीषियों ने उनके लिये उदार उद्गार प्रकट किये। 1936 में कवीन्द्र रवीन्द्र ने नेहरू में युवाशक्ति के अविरल उत्स को देखकर उन्हें भारत के ऋतु-राज[109] की उपमा दी। आचार्य नरेन्द्र देव ने नेहरू को लोकतान्त्रिक समाजवाद का प्रतीक माना।[110] अशोक मेहता ने उन्हें "योगी तथा कॉमीसार का अद्भुत सम्मिश्रण" माना।[111] जोरू टाइसन के अनुसार नेहरू ने केवल भारत को स्वतन्त्र ही नहीं किया, अपितु आने वाले वर्षों के लिये भारत का मार्ग भी निर्धारित किया।[112] फ्रैंक मोरेस ने व्यक्त किया कि "गोपीजनवल्लभ भगवान श्रीकृष्ण की तरह नेहरू के नाम के जादू ने भारतीय जनसमुदाय को मुग्ध रखा।"[113] जाकिर हुसैन ने नेहरू को "विकासशील विश्व के निर्माताओं में से एक" माना।[114] आर० के० करंजिया के अनुसार "नेहरू ने शीतयुद्ध को असफल बना दिया।"[115] माइकेल ब्रेचर ने व्यक्त किया कि "नेहरू ने प्रबुद्धवर्ग को राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति उसी प्रकार आकर्षित किया जिस प्रकार से गांधीजी ने किसानों को सम्मोहित किया।"[116] विन्स्टन चर्चिल ने "नेहरू को द्वेषरहित तथा निर्भीक व्यक्ति" माना।[117] नेहरू ने "भारत पर शासन करने के लिये अपने आपको सुशासित किया।"[118] वे फासीवाद के विरुद्ध सामाजिक लोकतन्त्र की विजय के प्रतीक थे।[119] गांधीजी के अनन्यतम शिष्य[120] होकर भी वे स्वतन्त्र चिन्तन के धनी थे। गांधी अगर लेनिन थे तो नेहरू ट्राटस्की के समान थे।[121] गांधीजी जवाहरलाल नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर कांग्रेस की बागडोर उनके हाथों में देते हुये भारत के भविष्य की सुरक्षा के प्रति पूर्णतया आश्वस्त रहे।[122] नेहरू का स्वयं का त्याग भी कम न था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति

से पूर्व में 3262 दिन नेहरू ने भारत के विभिन्न कारावासों में बिताये।[123] कोटि-कोटि जनता के प्रेरणा-स्रोत नेहरू ने स्वयं गांधीजी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी रामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द जैसे सन्तों से प्रेरणा प्राप्त की। उनकी आन्तरिक प्रेरणा के आराध्य थे-स्वामी विवेकानन्द।[124]

नेहरू को अस्थिरचित्त, आत्मप्रशंसक, पलायनवादी तथा स्वप्न-विलासी कहा जाय[125] अथवा उन्हें सामाजिक क्रान्तिकारी के स्थान पर केवल समाज सुधारक ही स्वीकार किया जाय,[126] नेहरू के भारत प्रेम पर इसका लेशमात्र भी कुप्रभाव नहीं। अपने ही शब्दों में नेहरू ने अपने समाधि लेख के लिये निम्न उद्‌गार व्यक्त किये थे

"यही व्यक्ति था जिसने अपने समस्त चिन्तन एवं मन से, भारत तथा भारत की जनता से प्रेम किया। और वे, प्रत्युत्तर में, उसे चाहते थे और उसे अपना प्रचुर एवं असमय प्रेम प्रदान किया।"[127] सुप्रसिद्ध भौतिक शास्त्री अलबर्ट आइन्स्टीन ने जवाहरलाल नेहरू को आने वाले कल का प्रधान मन्त्री '[128] ठीक ही कहा था। नेहरू रायनाऊ के समान कह सकते हैं ' अच्छे के लिये अथवा बुरे के लिये तुम्हें मुझ-सा फिर कभी नहीं मिलेगा।"[129] □□

टिप्पणियाँ

1. बी. आर नन्दा, दी नेहरूज मोतीलाल एण्ड जवाहरलाल (जोर्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1962) पृ 341
2. जवाहरलाल नेहरू, एन आटोबायोग्रेफी (जॉन लेन, लन्दन, 1936) पृ 207
3. जवाहरलाल नेहरू, डिस्कवरी आफ इंडिया (दी सिगनेट प्रेस कोलम्बिया, 1945) पृ 47
4. वही पृ. 92
5. जवाहरलाल नेहरू स्पीचेज खण्ड-II।, (पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली, 1958) पृ 433
6. आटोबायोग्रेफी, पृ 477
7. डिस्कवरी आफ इंडिया, पृ 15
8. नेहरू, इण्डिपेन्डेन्स एण्ड आफ्टर, (पब्लिकेशन्स डिवीजन दिल्ली 1949) पृ 401
9. आटोबायोग्रेफी, पृ. 76-77
10. नेहरू, इंडिया एण्ड दी वर्ल्ड, (जार्ज एलन एण्ड अनविन लन्दन, 1936) पृ 82 83
11. विलार्ड रेन्ज, जवाहरलाल नेहरूज वर्ल्ड व्यू, (यूनिवर्सिटी आफ जार्जिया प्रेस, 1961) पृ 44
12. नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ, (कमिटी फोर सेलेब्रेशन आफ जवाहरलाल नेहरूज सिक्सटियेथ बर्थडे, कलकत्ता, 1949) पृ 127
13. आटोबायोग्रेफी, पृ. 414
14. के टी. नरसिंहचार, प्रोफाइल आफ जवाहरलाल नेहरू, (दी बुक सेंटर, बम्बई, 1965) पृ 37-38
15. वाई जी. कृष्णमूर्ति, जवाहरलाल नेहरू दी मन एण्ड हिज आइडियाज, (पॉपुलर बुक डिपो, बम्बई, 1944) पृ. 1-3
16. सर्वपल्ली गोपाल, जवाहरलाल नेहरू ' ए बायोग्रेफी, खण्ड 1 1889-1947 (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1976) पृ 106-107
17. नेहरू, इंडियाज फ्रीडम, (अनविन बुक्स, लन्दन, 1965) पृ. 14
18. आर के करंजिया, दी फिलोसोफी आफ मि नेहरू (जोर्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1966) पृ. 133-140

19. वही, पृ. 141
20. नेहरू, ए बन्च आफ ओल्ड लेटर्स, (एशिया, बम्बई, 1958) पृ. 142
21. वही,
22. नेहरू, टुवर्ड्स फ्रीडम (दी जौन डे कम्पनी, न्यूयार्क, 1941) पृ 133-134
23 जे. एस. ब्राइट (स) नेहरू बिफोर एण्ड आफ्टर इंडिपेन्डेन्स, खण्ड-I (इंडिया प्रिंटिंग वर्क्स, नई दिल्ली) पृ. 39
24 वही, पृ 37
25 नेहरू, विजिट टू अमेरिका (दी जौन डे कम्पनी, न्यूयार्क, 1950) पृ 26-29
26 ए आई सी. सी. इकोनोमिक रिव्यू, नई दिल्ली, 15 अगस्त, 1958, पृ 3
27 वही, पृ. 4
28 वही, पृ 5
29 ए बन्च आफ ओल्ड लेटर्स, पृ 353
30 ओटोबायोग्रेफी, पृ 551-552
31 नार्मन ब्रजिन्स, टाक्स विथ नेहरू, (गोलेन्ज, लन्दन 1951) पृ 21
32. वही, पृ. 22-24
33. स्पीचेज, खंड II, पृ 407 तथा खंड IV पृ. 122
34 आर. के. करंजिया, दी माइन्ड आफ मि नेहरू, (जौर्ज एलन एण्ड अनविन, लंदन 1960) पृ. 46-47
35. नेहरू, ग्लिम्पसेज आफ वर्ल्ड हिस्ट्री, (लिन्डसे ड्रमन्ड, लंदन, 1949) पृ. 502-503
36 वही, पृ 504-505
37. टुवर्ड्स फ्रीडम, पृ. 314-320
38 वही, पृ 321-326
39 टाक्स विथ नेहरू, पृ 18-21
40 स्पीचेज, खंड-III, पृ. 95
41. एम एन दास, दी पोलीटिकल फिलासाफी आफ जवाहरलाल नेहरू, (जौर्ज एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1962) पृ. 94-95
42. स्पीचेज, खंड-III, पृ. 139-141
43. वही, पृ 142-144
44. देखिये प्राक्कथन, डी जी तेंदुलकर, महात्मा, खंड-1, (झवेरी एण्ड तेंदुलकर, बम्बई, 1951) पृ. XIII
45. स्पीचेज, खंड IV, पृ. 69-70
46 वही, पृ 70-71
47 वही, पृ 71-72
48 डोरोथी नोर्मन, नेहरू दी फर्स्ट सिक्स्टी ईयर्स, खंड-1 (एशिया, बम्बई, 1965) पृ. 450-451
49. स्पीचेज, खंड IV पृ 150-152
50 दी माइन्ड आफ मि नेहरू, पृ 57
51 डोरोथी नोर्मन, खंड-II पृ 379-380
52. स्पीचेज, खंड-I, पृ 140-143
53. वही, खंड-II, पृ 13-18
54 वही, खंड-III, पृ 17-18
55 वही, पृ. 52-54
56. टाइबर मेंडे, कनवर्सेशन्स विथ नेहरू, (सेकर एण्ड वारबर्ग, लंदन, 1956) पृ. 31-32
57. दी माइंड आफ मि नेहरू, पृ. 28-29
58 वही, पृ 29-30

59 वही पृ 76-77
60 नेहरू, रीसेन्ट एसेज एण्ड राइटिंग्स ऑन दी फ्यूचर आफ इंडिया, कम्यूनलिज्म एण्ड अदर सबजेक्ट्स (किताबिस्तान, इलाहाबाद, 1934) पृ. 72-74
61 वही, पृ 75-76
62 वही, पृ. 77-79
63 बिफोर एण्ड आफ्टर इंडिपेन्डेन्स, पृ 312-313
64 स्पीचेज, खंड, I पृ. 73-75
65 वही, पृ 76-78
66. वही, खंड IV, पृ. 12
67. टाइबर मेन्डे, पृ 144
68 डिस्कवरी आफ इंडिया, पृ 685
69 स्पीचेज, खंड, I पृ 339
70. वही,
71 ज्योफ्रे टाइसन, नेहरू दी ईयर्स आफ पावर, (पाल माल प्रेस, लंदन, 1966) पृ. 194
72 वही, पृ 188
• गांधी मार्ग में प्रकाशित प्रो वी वी. रमण मूर्ति के लेख से साभार भावानुवाद।
73 डिस्कवरी आफ इंडिया, पृ 227
74 वही, पृ 428
75. आटोबायोग्रेफी, पृ. 73
76. वही,
77. वही, पृ 213
78. डिस्कवरी आफ इंडिया, पृ 539
79 दी कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खंड 35, (पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली) पृ 543-544
80 वही,
81. स्पीचेज, खंड, 11, पृ. 115
82. ए बंच आफ ओल्ड लेटर्स, पृ 505
83 नेहरू, इंडियाज फोरेन पॉलिसी, (पब्लिकेशन्स डिवीजन, नई दिल्ली 1961) पृ 80
84 वी. एस एन मूर्ति, नेहरूज फोरेन पॉलिसी, (दी बीकन इनफार्मेशन एण्ड पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1953) पृ 31
85 डब्ल्यू आर क्रोकर, नेहरू, (जोर्ज एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1966) पृ 109
86 इंडियाज फोरेन पॉलिसी, पृ. 83-84
87. वही, पृ 84 85
88. टाइबर मेन्डे, पृ 81
89 फ्रैंक मोरेस, नेहरू, सनलाइट एण्ड शैडो, (जैको पब्लिशिंग हाउस बम्बई, 1964) पृ 172
90 टाइबर मेन्डे, पृ. 44
91 इंडियाज फॉरेन पालीसी, पृ 326
92, दी हिन्दू, दिसम्बर 28, 1956
93. टाइबर मेन्डे, पृ. 87
94 करंजिया, दी फिलॉसोफी आफ मि नेहरू, पृ 30
95 माइकेल एडवार्ड्स, नेहरू : ए पोलीटिकल बायोग्रेफी (विकास, दिल्ली, 1971) पृ 304
96, दूसरा फ्रोरम, पृ 367
97 डोरोथी नोर्मन, खंड, 1 पृ. 636-641
98. नेहरू, एक्जपंर्ट्स फ्रोम हिज राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, (पब्लिकेशन्स डिवीजन, नई, दिल्ली, 1964) पृ. 73-74

99 विजिट टु अमेरिका, पृ 87-88
100. वही, पृ. 31-33
101. एक्सट्रैक्ट्स फ्रॉम हिज राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पृ 64-65
102 देखिए प्राक्कथन वाई. वी कृष्णमूर्ति, जवाहरलाल नेहरू, पृ XI
103. वही पृ XVIII
104. अमोघ राव तथा बी. जी राव, सिक्स थाउजेण्ड डेज जवाहरलाल नेहरू-प्राईम मिनिस्टर, (स्टर्लिंग, नई दिल्ली, 1974) पृ 5-72
105 वही, पृ 108-370
106 वही, पृ 372-462
107. एम एस राजन (स) इंडियाज फोरेन रिलेशन्स ड्यूरिंग दी नेहरू ईरा (एशिया, बम्बई, 1976) पृ I-XVIII
108 प्रोफाइल आफ नेहरू, पृ 248-249
109 पी डी टंडन (स), नेहरू युअर नेबर ,(दी सिग्नेट प्रेस, कलकत्ता, तिथि नहीं) पृ XI
110. वही पृ 35
111 वही, पृ. 130
112 नेहरू दी ईयर्स आफ पावर, पृ. 188
113. जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्रेफी, (मैकमिलन, न्यूयार्क, 1956) पृ 491
114 देखिए करंजिया, दी फिलोसोफी आफ मि नेहरू, (आमुख)
115. वही, पृ 15
116 माइकल ब्रेचर, नेहरू ए पोलीटिकल बायोग्रेफी (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1959) पृ 597
117. वही, पृ 596
118 विन्सेन्ट शीआन नेहरू दी इयर्स आफ पावर, (विक्टर गोलेन्ज, लंदन, 1960) पृ 275
119. जे. एस. ब्राइट, जवाहरलाल नेहरू, (दी इंडियन प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर, तिथि नहीं) पृ. 218
120. वार्लेंता स्वेन्डर, नेहरू आफ इंडिया (पी टी आई. बुक डिपो, बंगलौर, 1951) पृ 162
121 जे. एस. ब्राइट पृ 220
122. यंग इंडिया, 9 जनवरी, 1930
123. रामगोपाल, ट्रायल्स आफ जवाहरलाल नेहरू, (बुक सेंटर, बम्बई, 1962) पृ 109
124 डोरोथी नार्मन, नेहरू दी फर्स्ट सिक्सटी ईयर्स, खंड-11, पृ. 530-536
125. डा एफ करक्का, नेहरू ' दी लोटस ईटर फ्रोम काश्मीर. (डेरेक वर्शोयल, लंदन, 1953) पृ 113-114
126. माइकेल ब्रेचर, पृ. 625
127. दी स्टेट्समैन, 21 जनवरी, 1954
128 देखिये करंजिया, दी फिलोसोफी आफ मि. नेहरू, पृ. 11
129 देखिए कृष्णमूर्ति, जवाहरलाल नेहरू दी मैन एण्ड हिज आइडियाज, पृ 11

□□

अध्याय 24

मानवेन्द्र नाथ रॉय (1887-1954)

भारत के समाजवादी चिन्तकों में मानवेन्द्रनाथ रॉय का अनूठा स्थान रहा है। वे न केवल भारत में समाजवाद के ही अग्रगण्य थे अपितु साम्यवाद के प्रसार एवं प्रचार के भी अग्रदूत रहे। भारत में साम्यवाद का अध्याय उन्हीं के नाम से प्रारम्भ होता है किन्तु जितनी प्रबलता से उन्होंने साम्यवाद का समर्थन किया उतनी ही प्रबलता से उन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में उसका विरोध भी किया। जहां एक ओर एशिया तथा भारत को साम्यवाद का सन्देश उन्होंने दिया वहां दूसरी ओर उन्होंने सर्वप्रथम साम्यवाद की भर्त्सना कर सारे विश्व को मानववाद का संदेश भी दिया। साम्यवाद की त्रिमूर्ति लेनिन, स्टालिन तथा ट्राटस्की के अत्यन्त निकट रह कर तथा मैक्सिको, चीन व भारत को साम्यवाद का मार्ग दिखाकर जिस तरह से मानवीय स्वातन्त्र्य का उद्घोष किया उसका दूसरा उदाहरण विश्व में नहीं मिलता। यदि भारतीय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन से ऊपर उठकर विचार किया जाये तो यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि उनका नवमानववाद भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन की विश्व को एक अनुपम देन है।

संक्षिप्त जीवन-परिचय

मानवेन्द्रनाथ रॉय, जिनका जन्म-नाम नरेन्द्र भट्टाचार्य था, 1887 में बंगाल के एक गांव अरबालिया में जन्मे थे। उन्होंने अपना युवा जीवन एक क्रान्तिकारी के रूप में प्रारम्भ किया। 1905 के बंगभंग आन्दोलन में सक्रिय भाग लेकर वे भूमिगत क्रान्तिकारी आन्दोलन में सम्मिलित हुए। भारत-जर्मनी क्रान्तिकारी षड्यन्त्र के वे सूत्रधार थे। 1907 में कलकत्ता के पास चिंगरीपोता रेलवेस्टेशन की डकैती के राजनीतिक अपराध में उन्हें गिरफ्तार किया गया। किन्तु प्रमाण की कमी के कारण उन पर आरोप सिद्ध नहीं हुआ और वे छोड़ दिये गये। पुनः हावड़ा-षड्यन्त्र काण्ड में तथा गार्डनरीच डकैती काण्ड के सिलसिले में उन्हें गिरफ्तार किया गया पर वे जमानत पर मुक्त कर दिये गये। क्रान्तिकारी कार्यों की प्रेरणा उन्हें सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी जतीनमुखर्जी से मिली थी। उन्हीं के निर्देश से वे प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन की सहायता के लिए शस्त्रास्त्र प्राप्त करने जर्मनी भेजे गये। अंग्रेज गुप्तचरों की निगाह से अपने को बचाते हुए वे चीन, जापान होते हुए अमेरिका पहुंचे। अमेरिका में इनका सम्पर्क लाला लाजपतराय से हुआ। लाला लाजपत राय ने उन्हें दैनिक खर्च के लिए आर्थिक सहायता दी। इतना ही नहीं, राय की समाजवाद में जिज्ञासा देख कार्लमार्क्स के ग्रन्थों का संग्रह भी उन्हें खरीद कर दिया। अपने अमेरिका प्रवास के दौरान राय ने अपना प्रथम विवाह एक अमेरिकन महिला एवेलिन से किया। लाजपत राय ने मानवेन्द्रनाथ की दयनीय आर्थिक स्थिति देख उनकी पूरी सहायता की तथा दम्पत्ति का पूरा खर्चा उठाया। किन्तु मानवेन्द्र नाथ का प्रमुख

उद्देश्य जर्मनी से सहायता प्राप्त कर भारत आना था। इस कार्य की पूर्ति के पहले ही उन्हें अंग्रेज गुप्तचरों द्वारा ढूंढ लिया गया तथा उन्हें गिरफ्तार करवा दिया गया। जमानत पर छूटते ही राय अमेरिका से भग कर मेक्सिको पहुंचे। मेक्सिको पहुंचने के बाद उनका एक नया जीवन प्रारम्भ हुआ। अब वे भारतीय क्रान्तिकारी न होकर एक विचारक, सशक्त लेखक तथा साम्यवादी नेता थे। मेक्सिको में ही उन्होंने सर्व प्रथम एक साम्यवादी दल की स्थापना की। रूस के बाहर यह पहला साम्यवादी दल स्थापित हुआ था तथा अमरिकी महाद्वीप पर यह साम्यवाद का प्रथम दौर था। अब वे राष्ट्रवाद की सीमाएं पार कर साम्यवाद में प्रविष्ट हो चुके थे। कार्लमार्क्स के विचारों से प्रभावित हो वे अब विप्लववादी से एक कुशल राजनीतिज्ञ बन चुके थे। उनके विचारों की भावुकता तथा सांस्कृतिक चेतना लुप्त हो चुकी थी तथा उनका स्थान ले लिया था राजनीति पर प्रभाव डालने वाले आर्थिक विचारों ने। मेक्सिको से वे रूस चले गये। रूस में वे लेनिन के अन्तरंग शिष्य एवं प्रशंसक बन गये। लेनिन से इतनी घनिष्ठता होते हुए भी समय समय पर वे लेनिन से अपने वैचारिक मतभेद प्रकट करने से नहीं हिचकिचाते थे। लेनिन भी उनकी निर्भीकता एवं योग्यता पर प्रसन्न थे। लेनिन उन्हें अफगानिस्तान में रूस का राजदूत बनाकर भेजना चाहते थे किन्तु सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण यह कार्य सम्पन्न नहीं हुआ।

अपने रूस प्रवास के दौरान मानवेन्द्रनाथ ने 'कोमिनटर्न" के लिए प्रशंसनीय कार्य किया। लेनिन के दो महान् शिष्यों ट्राटस्की तथा स्टालिन से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध रहे। अन्य रूसी नेता जैसे जिनोवीव, कामेनेव आदि के सम्पर्क में भी वे आये। इस तरह साम्यवाद के प्रणेताओं की दृष्टि से मानवेन्द्रनाथ एशिया के मान्य साम्यवादी नेता का स्थान प्राप्त कर चुके थे।

1922 में मानवेन्द्रनाथ बर्लिन में रहे थे। उनका बर्लिन जाने का उद्देश्य वहां से भारत की स्वतन्त्रता का नया कार्यक्रम बनाना था। वे लेनिन के भारत सम्बन्धी दो कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना चाहते थे। पहला तो यह था कि वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ मिल कर भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकें तथा दूसरा यह कि वे कांग्रेस के नेतृत्व को चुनौती दें। कांग्रेस को ध्वस्त कर उसके स्थान पर भारत में साम्यवादी दल को प्रोत्साहित करें। रॉय ने दोनों ही नीतियों का अनुसरण किया। उन्हें इस कार्य के लिए रूस से आर्थिक सहायता भी प्राप्त हुई। इस धन से उन्होंने एक द्वैमासिक पत्र वेंगार्ड आफ इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स प्रकाशित किया। जिनेवा तथा पेरिस से उन्होंने पुस्तकें प्रकाशित की तथा कई पत्र लिखे। उन सबको साम्यवादी साहित्य के साथ प्रचार के लिए भारत में भेजा। किन्तु उनके इस कार्य का भारत में विशेष लाभ नहीं हुआ। गांधीजी तथा उनके सहयोगियों के हाथ में कांग्रेस का नेतृत्व था। वे रॉय के विचारों से प्रभावित न हो पाये। रॉय को इस बात से बहुत निराशा हुई। इससे भी अधिक निराशा रॉय को इस बात से हुई कि गांधीजी राजनीति व धर्म को समन्वित करना चाहते थे तथा ईश्वर की सत्ता को सर्वोपरि मानते थे। रॉय इससे खिन्न थे क्योंकि एक साम्यवादी विचारक के रूप में उन्होंने ईश्वर की सत्ता को तिलांजलि दे दी थी। रॉय ने भारत में साम्यवादी गतिविधियों को प्रोत्साहित किया। कानपुर (1924) तथा मेरठ (1929) षडयन्त्र-काण्ड इसी साम्यवादी उपक्रम के परिणाम थे। रॉय, "कोमिनटर्न" तथा अंग्रेजी साम्यवादी दल

के प्रयत्नों से भारत मे साम्यवादियो का जोर बढ़ रहा था और वे श्रमिकों मे वर्ग-चेतना जागृत कर उन्हे संघर्ष के लिए तैयार कर रहे थे। किन्तु इस बीच "कोमिन्टर्न" के साथ हुए मतभेदों के कारण रॉय को इससे अलग होना पड़ा। वे 1929 मे साम्यवादी दल से अलग हो गये। उन्होंने कांग्रेस के नेताओ से सम्पर्क साधा तथा जर्मनी म कांग्रेस की शाखा स्थापित करने का प्रयास किया। वे 1930 म भारत लौटे। अब वे समाजवादी विचारधारा के आलोचक बन चुके थे और अनुभव करते थे कि साम्यवादी विचारधारा में ऐसी कई कमियां थी जिससे वह भारत के लिए श्रेयस्कर नही हो सकती थी। यही कारण था कि वे रूस के साम्यवादी नेताओ की स्वार्थपरायण नीति के विरोधी बन गये थे। किन्तु राय को अपने पूर्व कार्यों एव विचारो के कारण गिरफ्तार कर जेल भेज दिया गया। वे छ वर्ष जेल मे रहे। जेल म उन्होंने अपना लेखन-कार्य जारी रखा था। जेल मे उन्होंने **फिलोसोफिकल कोन्सीक्वेंसेज आफ माडर्न साइन्स** नामक ग्रन्थ लिखा जो कि 9 खण्डो मे म लिखा हुआ है। 1936 म जेल से मुक्त हुए। वे कांग्रेस के सदस्य बन गये। कांग्रेस म जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस से उनका विशेष सम्पर्क रहा तथा राय के प्रभाव म कांग्रेस ने आर्थिक तथा सामाजिक कार्यक्रम निर्धारित किया। किन्तु कांग्रेस म राय को उतनी सफलता नही मिली जितनी वे अभिलाषा रखते थे। इसका कारण यह था कि वे गांधीजी से सर्वथा भिन्न विचार रखते थे। वे गाधीजी के विरोधी के रूप में कांग्रेस मे नही पनप सके।

1940 मे रॉय ने रेडिकल डिमोक्रेटिक दल की स्थापना की। द्वितीय महायुद्ध के दिनों मे उन्होंने फासीवाद का जमकर विरोध किया। वे मानते थे कि विश्व मे फासीवाद की विजय एक भयकर घटना होगी। वे 1942 के कांग्रेस के 'भारत छोडो' आन्दोलन को भी फासीवाद की संज्ञा दे चुके थे। वे फासीवादियो के विरुद्ध युद्ध मे लड रहे ब्रिटेन की शक्ति को क्षीण नही देखना चाहते थे। इसी कारण से उन्होंने कांग्रेस के आन्दोलन को अदूरदर्शितापूर्ण कहा। उनके आलोचक इस कार्य के लिए उन्हे राष्ट्र-विरोधी एव ब्रिटिश-समर्थक कहने लगे। रॉय के लिए अपने पक्ष मे सफाई प्रस्तुत करना कठिन था। सत्य यह था कि रॉय किसी भी प्रकार की दासता पसन्द नहीं करते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि फासीवाद विश्व मे स्वतन्त्रता की समाप्ति कर देगा। इसी कारण से वे फासीवाद के विरुद्ध लडने वाले ब्रिटेन तथा रूस के पक्ष का समर्थन कर रहे थे।

भारत मे मानवेन्द्रनाथ रॉय ने श्रमिक तथा किसानो के उद्धार के लिए "इन्डियन फेडरेशन आफ लेबर" संगठित किया। उनका यह विश्वास था कि श्रमिकों व किसानो की मुक्ति के बिना समाज प्रगति नही कर सकता। उन्होने एक नवीन सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक दर्शन की आवश्यकता अनुभव की। वे एक ओर मार्क्सवाद से उत्पन्न सकटो तथा दूसरी तरफ ससदीय लोकतन्त्र की निर्बलता से परिचित थे। अत उन्होंने इन दोनो खतरो का सामना करने के लिए एक नया दर्शन प्रस्तुत किया जिसे "उग्रमानववाद" अथवा "नवमानववाद" की सज्ञा दी गयी। 1937 मे उन्होने अपने प्रमुख साप्ताहिक पत्र इन्डिपेन्डेन्ट इन्डिया का नाम बदल कर दी रेडिकल ह्यूमेनिस्ट रख दिया जो आज भी इसी नाम से प्रकाशित हो रहा है। राय ने इस पत्र के माध्यम से अपने सामाजिक पुनर्निर्माण सम्बन्धी विचारो को प्रस्तुत किया।

रॉय सामाजिक समस्याओं को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखते थे। स्वतन्त्रता की मूलभूत प्रेरणा ने उन्हें एक ऐसा यथार्थवादी चिन्तक बना दिया जो अपने राजनीतिक चिन्तन में वैज्ञानिक एवं विवेकपूर्ण विचारों से ओत' प्रोत था। रॉय का भारत के बुद्धिजीवियों में अद्वितीय स्थान माना जा सकता है। उनका मानववाद मानवमात्र को स्वतन्त्रता का सन्देश देता है। रॉय की महानता केवल विचारों तक ही सीमित नहीं थी। वे व्यक्तिगत जीवन में स्पष्टवादी एवं निर्मल रहे। वे सर्वदा सत्यान्वेषी रहे और कुटिलता तथा दम्भ उनको छू भी नहीं सके। उनके जीवन की सादगी तथा ईमानदारी का एक अनुकरणीय उदाहरण इस बात से मिलता है कि जब 1948 में उनको यह अनुभव हुआ कि उनकी स्थापित रेडिकल डिमोक्रेटिक पार्टी लोकतान्त्रिक धारणाओं से तादाम्य स्थापित नहीं कर पायी है तो उन्होंने बिना किसी झिझक के उसे समाप्त कर दिया। इसके बाद वे न तो किसी दल से सम्बन्धित रहे तथा न किसी प्रकार की दलगत राजनीति का समर्थन किया। जीवन के शेष दिन उन्होंने स्वतन्त्र लेखन, चिन्तन तथा स्वयं द्वारा स्थापित इण्डियन रिनेसां इन्स्टीट्यूट, देहरादून के निदेशन में व्यतीत किये। 25 जनवरी 1954 को उनका शरीरान्त हुआ।

रॉय के राजनीतिक विचार

मानवेन्द्रनाथ रॉय का राजनीतिक दर्शन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला भाग उनके उन विचारों से सम्बन्धित है जब वे कट्टर मार्क्सवादी थे तथा दूसरा भाग उन विचारों से सम्बन्ध रखता है जब वे मार्क्सवाद के विरोधी बन गये अतः मार्क्सवाद को चुनौती देने के लिए उन्होंने नव मानववाद की स्थापना की। उनके राजनीतिक विचारों का पहला भाग उनकी मार्क्स-भक्ति का वर्णन करता है जो उनके उपर्युक्त वर्णित जीवन-परिचय में मिल जाता है। दूसरे भाग का विचार अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यहीं से उनका मौलिक राजनीतिक चिन्तन प्रारम्भ होता है। यहां उन्हीं नव-मानववादी विचारों का उल्लेख किया जा रहा है।

रॉय के राजनीतिक विचारों में व्यक्ति को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। उनकी यह धारणा थी कि एक अच्छा व्यक्ति ही एक अच्छे समाज की रचना कर सकता है। वे व्यक्ति को ही समाज का आधार मानने लगे थे। उनका यह कथन था कि सदियों से राजनीतिक विचारकों ने व्यक्ति के महत्त्व को नहीं पहचाना। कालान्तर में नव-जागरण युग में ही व्यक्ति अपनी मौलिक स्थिति प्राप्त कर सका। इसके साथ ही व्यक्ति का स्थान राज्य तथा समाज की तुलना में पुनर्रांकित हुआ। रॉय भी मार्क्सवादी प्रभाव के दिनों में व्यक्ति को राज्य की तुलना में दूसरे स्थान पर मानते रहे किन्तु मार्क्सवाद का प्रभाव दूर होने के बाद वे यह मानने लगे कि व्यक्ति का कार्य केवल आज्ञापालन ही नहीं अपितु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखना भी है। इस तरह उन्होंने व्यक्ति को एक नागरिक के सम्मानित पद पर पुनः स्थापित किया। स्वतन्त्रता एवं कर्त्तव्य का व्यक्ति के जीवन में तालमेल बिठाया। वे सोचने लगे कि साम्यवादी तथा समाजवादी विचारकों ने व्यक्ति के आत्म-गौरव को ठेस पहुंचाई है। वे व्यक्ति के सामाजिक दायित्व तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता दोनों को समान स्थान देते थे। उन्हें पूंजीवाद की व्यक्तिगत स्वार्थपरायणता की नीति पसन्द नहीं थी। इससे उनकी यह धारणा भी बलवती हुई कि पूंजीवाद की

स्वार्थ-वृत्ति ही अन्ततः पूंजीवाद को समाप्त कर देगी।

रॉय ने राज्य को केवल साधन माना, साध्य नहीं। राजनीतिक दर्शन के दृष्टिकोण से वे राज्य को न तो एक आवश्यक बुराई ही मानते थे तथा न मार्क्स के समान राज्य के तिरोहित होने में ही उनका विश्वास था। वे राज्य की आवश्यकता एक अच्छे शासन के प्रदाता के रूप में आवश्यक समझते थे। उदारवादियों की भाँति रॉय भी राज्य को सामान्य हित साधन का उपकरण समझते थे। उन्हें राज्य के कठोर नियन्त्रण अथवा अधिनायकतन्त्र में विश्वास नहीं था। वे जर्मनी तथा रूस के अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर अधिनायकतन्त्र से, चाहे वह एक व्यक्ति का हो अथवा एक दल का, अत्यधिक घृणा करते थे। वे राज्य को पूर्णतया लोकतान्त्रिक आधार देना चाहते थे। उनकी दृष्टि में राज्य समाज का राजनीतिक संगठन है तथा सत्ता के विकेन्द्रीयकरण द्वारा राज्य व समाज दोनों समकक्ष हो जाते हैं। वे राज्य को एक अति लोकतान्त्रिक राज्य बनाना चाहते थे, जिससे संसदीय लोकतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र दोनों की बुराई से बचा जा सके। वे आर्थिक नियोजन को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से सम्मिलित कर अधिक प्रत्यक्ष लोकतन्त्र स्थापित करना चाहते थे। चूंकि उन्हें पूर्व तथा पश्चिम के देशों की राजनीतिक स्थिति का व्यक्तिगत अनुभव था, अतः वे ऐसा निदान प्रस्तुत कर रहे थे जिससे दोनों की ही समस्याओं का उपचार हो सके।

रॉय को राष्ट्रवाद के सिद्धांत से घृणा हो चुकी थी। यद्यपि उन्होंने अपना राजनीतिक जीवन एक राष्ट्रवादी क्रांतिकारी के रूप में ही शुरू किया था किन्तु अध्ययन तथा मनन-चिन्तन ने उनको राष्ट्रवाद का विरोधी बना दिया। जो कुछ राष्ट्रवाद उनमें शेष था वह मार्क्सवाद के प्रभाव में समाप्त हो गया था। रॉय का यह विचार था कि राष्ट्रवाद भावुकता पर आधारित होने के कारण किसी भी वैज्ञानिक राजनीतिक चिन्तन का आधार नहीं बन सकता। वे राष्ट्रवाद के सिद्धांत को निरर्थक मानते थे। वे राष्ट्रवाद को निरर्थक मानते हुए उसे पूंजीवादी शोषण तथा औपनिवेशिक विस्तारवाद का प्रतीक मानते थे। वे राष्ट्रवाद को फासीवाद का प्रेरक भी मानते थे। फासीवाद से उन्हें घृणा थी। उनकी दृष्टि में मानवीय अस्तित्व को ध्वस्त करने में फासीवाद से बढ़ कर कोई और विचारधारा नहीं हो सकती थी। वे इसी कारण से भारतीय राष्ट्रवाद के कट्टर आलोचक थे।

रॉय अंतर्राष्ट्रवाद के प्रतीक थे। विश्व बन्धुत्व तथा विश्व-एकता में उनका विश्वास था। उनकी दृष्टि से इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि समस्त मानव संस्कृति का एक ही उद्गम है। वे मानते थे कि विश्व एकीकरण अवश्य स्थापित होगा। उन्होंने इस विचारधारा का इसलिए भी समर्थन किया कि इसके द्वारा आर्थिक क्षेत्र में व्याप्त अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा, गरीबी तथा बेकारी दूर की जा सकती है, यदि राष्ट्रीय राज्यों का स्थान एक विश्व-राज्य ले ले। वे मानव व मानवता के बीच और किसी वस्तु को सहन नहीं कर सकते थे। उनका अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण वंश, रंग, राष्ट्रीयता या अन्य किसी भी तत्त्व से सीमित नहीं था। वे समाजवादी व्यवस्था की थोथी अंतर्राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करते थे। उन्हें इसका कटु अनुभव था कि विश्व के समस्त श्रमिक पूंजीवादी शोषण के विरुद्ध एक होने को तैयार नहीं थे। राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों ने समाज

वादी सिद्धांत को ताक पर रख दिया था। उनके विचार से साम्यवादी तथा समाजवादी दोनों ही राष्ट्रवाद के विचार से ग्रस्त थे, यहां तक कि वे साम्यवाद को राष्ट्रवाद का ही उग्रतर रूप मानने लगे। उन्हें साम्यवाद से इसी कारण से चिढ़ हो गयी कि साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रवाद का प्रचार तो करते थे पर व्यवहार में राष्ट्रवादी थे। इस तरह रॉय का उग्रमानववाद एक सच्चे अन्तर्राष्ट्रवाद का प्रतीक तथा उसकी प्राप्ति का साधन है।

मानवेन्द्र नाथ रॉय की वैज्ञानिक राजनीति

मानवेन्द्र नाथ रॉय का राजनीतिक दर्शन पूर्णतया वैज्ञानिक चिंतन पर आधारित है। उन्होंने अध्यात्मवाद, भौतिकवाद तथा समाजवाद तीनों का सांगोपांग अध्ययन कर उनकी उपादेयता अथवा निरर्थकता सिद्ध करते हुए मानववाद को नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने अध्यात्मवाद के स्थान पर भौतिकवाद तथा समाजवाद को विशेष महत्त्व दिया है। रॉय के अनुसार धर्म तथा अध्यात्मवाद मनुष्य के वैज्ञानिक चिंतन का मार्ग अवरुद्ध करते हैं। उनके विचारों में मध्ययुग तक की स्थिति इसी तर्क की पुष्टि करती है। जब से पुनर्जागरण काल में धर्म को सीमित कर वैज्ञानिक चिंतन का प्रारम्भ हुआ तभी से मानवीय स्वतन्त्रता का सही वातावरण बना। उनके विचारों से धर्म ने एक लम्बे समय तक मानव मस्तिष्क को नियन्त्रित किया तथा धार्मिक आडम्बरों ने उसे दबाये रखा। यद्यपि उन्होंने बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम धर्म को सामाजिक क्रांति लाने के प्रयासों का श्रेय दिया फिर भी वे यह मानते रहे कि इन धर्मों के प्रवर्तकों के बाद उनके अनुयायियों ने भक्त मनुष्यों के धार्मिक विश्वास, अज्ञानता तथा निर्धनता का लाभ उठाकर उनका शोषण किया। वे धर्म की वर्तमान उपस्थिति का यह कारण प्रस्तुत करते रहे कि धर्म का मानव-जीवन के कई क्रिया-कलापों से ऐसा अटूट सम्बन्ध रहा है जिससे वह अभी भी जीवित है। वे यह मानते थे कि धार्मिक सम्प्रदायों का शिक्षा के क्षेत्र में अपना विशेष योगदान रहा है। शिक्षा संस्थाओं का निर्माण, विकास तथा उनकी व्यवस्था धार्मिक संस्थाओं द्वारा होती रही। इन संस्थाओं ने शिक्षा के प्रसार में पूर्ण योग दिया तथा ज्ञान जाग्रत करते हुए मानव में विवेक तथा जिज्ञासा का पोषण किया। उनके अनुसार आर्थिक क्षेत्र में भी धर्म ने आर्थिक क्रिया-कलापों को प्रश्रय दिया। आर्थिक गतिविधियां धार्मिक सम्प्रदायों का अंग बन गयीं। इन सम्प्रदायों के पास अत्यधिक मात्रा में जमीन तथा धन सम्पदा उपलब्ध होने के कारण वे वैभवशाली बन गये। उनके आर्थिक वैभव के सामने साधारण मानव को झुकना पड़ा। इसका सबसे खतरनाक परिणाम यह हुआ कि मानव-मस्तिष्क तथा चिंतन की स्वतन्त्रता पर धर्म का एकाधिकार हो गया। स्वर्ग तथा नर्क की परिकल्पनाओं ने सामान्य जनता को सदैव भयभीत रखा। किन्तु रॉय के अनुसार भौतिकवाद के बढ़ते हुए प्रभाव ने इस धार्मिक एकाधिकार को चुनौती दी और उसे सीमित किया। मानववाद के उदय ने ईश्वर को चुनौती दी तथा पुनर्जागरण तथा सुधार युग ने धार्मिक विश्वास का तिरस्कार किया। यह मानव का धार्मिक बन्धनों से चिंतन को मुक्त करने के लिये विद्रोह था। इसमें विज्ञान से भी सहायता मिली। विज्ञान के विकास ने ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में नवीन विचार प्रस्तुत किये तथा विज्ञान की विभिन्न शाखाओं ने ज्ञान की असीमित वृद्धि की। धर्म का व्यक्ति पर नियन्त्रण शिथिल हो गया। सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन आया तथा अध्यात्मवाद द्वारा उत्पन्न नियतिवाद एवं तर्कहीनता समाप्त

होने लगी। मानव में आत्मविश्वास, आशावादिता तथा विवेक को बल मिला। इस प्रकार मानवता को धर्म से मुक्ति का चित्रण प्रस्तुत करते हुए रॉय धर्म को परिष्कृत[1] करने के स्थान पर उसकी पूर्ण समाप्ति के पक्ष में थे। वे आध्यात्मिकता के बन्धन से मानवीय चिन्तन को मुक्त कर एवं स्वतन्त्र चेतना की स्थापना कर रहे थे।

रॉय भौतिकवादी थे। वे दर्शन को भौतिकवाद तथा भौतिकवाद को ही एक मात्र दर्शन मानते थे। उनका भौतिकवाद 'खाओ, पीओ तथा जीओ" वाले भ्रमात्मक विचार से सम्बन्धित नहीं था।[2] उनकी दृष्टि में भौतिकवाद प्रकृति के यथार्थ ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है तथा प्रकृति से मानव का तादात्म्य स्थापित करता है। वे प्रकृति को स्वाभिमान एवं व्यक्तिगत प्रसन्नता का परिचायक मानते थे।

भौतिकवादी विचारों के संदर्भ में रॉय ने दिदरो को इतिहास का अग्रणी भौतिकवादी माना था। उनके विचार में दिदरो भौतिकवाद को एक मानवीय दर्शन में परिणत कर सका। उन्होंने दिदरो के इन विचारों को कि मानवीय शक्ति बंधनमुक्त है तथा व्यक्ति को अपने अस्तित्व की रक्षा की पूर्ण स्वतन्त्रता है—भौतिकवादी दर्शन का आधार माना। दिदरो के अलावा रॉय ग्रीक विचारकों जैसे थेल्स, एनाक्सागोरस, हेराक्लिटस आदि का भी भौतिकवाद की समृद्धि के लिए उल्लेख करते थे। इनमें से रॉय ने हेराक्लिटस का विशेष उल्लेख करते हुए बताया कि वे द्वन्द्वात्मकता के प्रवर्तक थे तथा हीगल के प्रेरणा स्रोत थे। रॉय ने यह माना कि द्वन्द्वात्मकता की विचारधारा ने सम्पूर्ण सत्य तथा सम्पूर्ण ज्ञान को चुनौती देकर मानवीय मस्तिष्क को सभी बन्धनों से मुक्त कर दिया। रॉय ने हेराक्लिटस के इस कथन का—'साधारण सत्य है, असाधारण असत्य है तथा जो मानवीय मस्तिष्क के परे है वह सत्य नहीं किन्तु स्वप्न है, ज्ञान नहीं किन्तु केवल भ्रम है'—पूर्ण समर्थन किया। इसी प्रभाव में रॉय ने अपने विचारों को अधिक से अधिक वैज्ञानिकता पर आधारित किया तथा काल्पनिकता का त्याग कर इन्द्रियजन्य अनुभव को ही सत्य माना।[3]

इसी प्रकार रॉय प्रोटागोरस से भी प्रभावित हुए। प्रोटागोरस का यह सन्देश कि मनुष्य ही सब वस्तुओं का मापदण्ड है रॉय के लिए ज्ञानदीप था। इसी तरह भारतीय उपनिषदों में भौतिकवादी अंशों का उल्लेख करते हुए उनसे प्रेरणा ली तथा ऋषि कपिल तथा कणाद के विचारों को भी भौतिकवादी संज्ञा दे उनके विचार ग्रहण किये। टॉमस हॉब्स ने रॉय को प्रभावित किया। वे हॉब्स की धर्मनिरपेक्ष राजनीति एवं विवेक तथा उद्योगों के समन्वय के प्रशंसक थे। अपने भौतिकवादी दर्शन पर रॉय हीगल मार्क्स तथा एन्जिल्स का प्रभाव भी स्वीकार करते थे। इन विचारकों का भौतिकवादी दर्शन रॉय के चिन्तन पर सदैव अंकित रहा। वे इस प्रभाव से मुक्त होने का प्रयास करके भी मुक्त न हो सके। उनके समकालीन साम्यवादी विचारकों के सान्निध्य से भी उन पर प्रभाव पड़ा और वे लेनिन, स्टालिन, ट्राटस्की के समान भौतिकवादी एवं अ तत्ववादी बन गये। वे राजनीति में नैतिकता को कोई स्थान नहीं देना चाहते थे। फिर भी उन्हें मैकियावेली का अनुयायी नहीं कह सकते। वे सत्यवादी थे तथा उन्होंने मैकियावेली के विपरीत अपने भौतिकवादी दर्शन में भी मानवीय कोमल भावनाओं को जीवित रखा। स्वार्थपरायणता का त्याग प्रस्तुत कर उन्होंने आर्थिक मानव के स्थान पर नैतिक मानव को प्रतिष्ठित किया। उनका भौतिकवाद

आदर्शवादी ज्ञानशास्त्र से रहित नहीं। वे समस्त विचारों का भौतिक अस्तित्व से सम्बन्ध मानते हैं।[4] इस प्रकार रॉय का भौतिकवाद पूर्णतया यथार्थवादी भौतिकवाद है। वे लेनिन के समान यथार्थवादी एवं भौतिकवादी दोनों ही है।[5]

मानवेन्द्र नाथ रॉय के विचारों में आर्थिक शोषण, सामाजिक दासता, सांस्कृतिक पिछड़ापन एवं आध्यात्मिक गिरावट से मुक्ति दिलाने के लिए समाजवाद से बढ़ कर और कोई सिद्धान्त नहीं है।[6] रॉय पूंजीवाद के कट्टर विरोधी थे। मेक्सिको में समाजवादी दल की स्थापना करने के बाद वे निरन्तर समाजवाद के प्रचार में लगे रहे। किन्तु बाद में उनको यह कटु अनुभव हुआ कि समाजवाद सब कुछ नहीं दे सकता। वे यह मानने लगे कि मानव केवल पेट भर भोजन के लिए जिन्दा नहीं रहता। इस प्रकार वे शनैः शनैः समाजवाद के प्रबल आलोचक बन गये। वे समाजवादी चिन्तन जन्य नैतिकता, आचार तथा सामाजिक व्यवहार सम्बन्धी कुचेष्टाओं को बुरा मानते थे। साधन तथा साध्य के अटूट सम्बन्धों के विचार में उनका पूरा विश्वास था।[7]

प्रचलित समाजवादी चिन्तन से ऊब कर रॉय ने एक नवीन समाजवादी विचारधारा प्रस्तुत की जिसका नाम उन्होंने 'सहकारी समाजवाद' रखा। सहकारी समाजवाद में रॉय ने व्यक्ति को समाज की स्वतन्त्र इकाई के रूप में स्वीकार किया। इसमें न तो व्यक्ति पर नियन्त्रण रहेगा और न उसकी स्वतन्त्रता सीमित की जायेगी। पंचायतों के माध्यम से हर व्यक्ति शासन में अपने आपको प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित कर सकता है। वे मानते थे कि सहकारी समाजवाद अधिक लोकप्रिय हो सकता है क्योंकि उत्पादन, वितरण एवं विनिमय में पारस्परिक सहयोग के द्वारा अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इस तरह सहकारिता के आधार पर व्यक्ति को मार्क्सवादी व्यवस्था से अधिक लाभ मिल सकते हैं। जहाँ मार्क्सवादी व्यवस्था केवल स्वतन्त्रता देती है वहाँ रॉय द्वारा प्रस्तुत सहकारी समाजवाद व्यक्ति को हर प्रकार की स्वतन्त्रता देने को उद्यत है। रॉय ने सहकारी समाजवाद को पूंजीवाद तथा साम्यवाद दोनों से ही मुक्ति दिलाने वाला माना। यह एक ऐसा सामाजिक दर्शन है जिसमें आर्थिक उपलब्धि ही सब कुछ नहीं किन्तु मानव का सर्वांगीण विकास एवं कल्याण इसका लक्ष्य है।

मानवेन्द्रनाथ रॉय तथा नवमानववाद

रॉय के राजनीतिक विचारों में नव मानववाद का विशेष महत्त्व है। उनकी नव-मानववादी विचारधारा को समझने के लिए आवश्यक है कि पहले यह जान लिया जाय कि मानववाद क्या है? मानववाद एक प्राचीन विचारधारा है। यूनान के स्टोइक्स तथा एपीक्यूरियन्स विचारकों से लेकर आधुनिक काल तक इसके व्याख्याकार प्रस्तुत होते रहे हैं। प्राचीन समय से ही मानववादी विचारधारा का केन्द्रबिन्दु मानव रहा है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य ही सब कार्यों का आधार है। मानव सर्वश्रेष्ठ है। भारत में भी चार्वाक तथा बौद्धदर्शन में मानववाद के स्पष्ट लक्षण मिलते हैं। यूरोप में मानववादी चिन्तन ने पुनर्जागरणयुग के बाद अधिक वैज्ञानिकता ग्रहण की। ईश्वर की प्रमुखता कम हुई तथा मानव का महत्त्व बढ़ा। ईश्वर की सत्ता के स्थान पर मानव की सत्ता को मानववाद ने स्थापित किया। डेकार्ट तथा स्पिनोज़ा ने ईश्वरीय सत्ता को झकझोर दिया। कान्ट, वॉल्टेयर आदि ने मानव की प्रमुखता स्थापित की। मानवरूपी ईश्वर की आराधना होने

लगी। दार्शनिक चिन्तन का केन्द्रबिन्दु ईश्वर प्राप्ति न होकर ऐसा मनुष्य बना जो मानवीय अनुभवों के विश्व को मस्तिष्क द्वारा आत्मसात् करना चाहता था। विवेकपूर्ण, मानवीय तथा वैज्ञानिक विचारों की बाढ़ सी आ गयी। मनुष्य की सम्प्रभुता ने चिन्तन एवं जीवन के बाह्य बन्धनों को तोड़ने का मार्ग अपनाया।

आधुनिक युग में मानववाद यथार्थवाद, अस्तित्ववाद एवं मार्क्सवाद के रूप में प्रकट हुआ। वर्तमान के सन्दर्भ में मानववाद ने एक ओर यह धारणा प्रस्तुत की कि मानव स्वयं साध्य है तो दूसरी ओर इस विचार का प्रतिपादन किया कि मानव ही ध्यानातीत चिन्तन का केन्द्र है तथा वही सार्वभौम सृष्टि है। उसकी अन्तर्दृष्टि ही उसका लक्ष्य है। इस विचार ने मनुष्य को स्वभाव से अच्छा माना है तथा उसे पूर्णता प्राप्त करने की असीमित शक्ति से सम्पन्न माना है। यह मानव की स्वतन्त्रता दिलाने के प्रयास को उसके द्वारा समाज में सर्वांगीण विकास का अविभाज्य अंग मानता है। यह व्यक्तिगत हित साधन की जगह सामाजिक हित साधन का समर्थक है। मानववाद इस ध्येय की प्राप्ति के लिए अज्ञान तथा अन्धविश्वास को विवेकपूर्ण चिन्तन द्वारा दूर करना चाहता है। यह मानव में मानव का प्रेम जागृत करता है। मानव को इसी भौतिक जीवन में सुखमय तथा आनन्दमय बनाने के लिए विज्ञान का सहयोग प्राप्त करना तथा मानव की श्रेष्ठता स्थापित करना इस विचारधारा का ध्येय है।

नव मानववाद

मानवेन्द्रनाथ रॉय ने प्राचीन मानववाद में अनेक कमियाँ पाईं। उन्हें प्राचीन मानववाद की धर्म परायणता स्वीकार नहीं थी। उनका विचार था कि मानववाद के साथ धर्म का मिश्रण किसी भी समय मानववाद को नष्ट कर सकता है। मनुष्य की सत्ता से ऊपर रॉय अन्य किसी भी प्रकार की आधिदैविक अथवा आधिभौतिक सत्ता को मानने के लिए तैयार नहीं थे। अतः रॉय ने मानववाद की प्राचीन मान्यताओं को समाप्त कर एक नवीन दृष्टिकोण अपनाया। यह नवीन धारणा न तो एक रहस्य थी और न केवल मात्र विश्वास की वस्तु। नव मानववाद मानव के प्रादुर्भाव, उसके अतीत तथा उसकी वास्तविकता की खोज के साथ जीवन के मूलभूत अनुभवों पर आधारित किया गया। जीवशास्त्रीय प्रयोगों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि विवेक तथा नैतिकता मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति के परिणाम हैं। इसी जीवशास्त्रीय विशेषता के आधार पर वह अन्य मनुष्यों के साथ शान्ति व सहयोग का जीवन जीता है। रॉय के अनुसार नव मानववाद कोई धर्म दर्शन या केवल मात्र सामाजिक दर्शन अथवा केवल मात्र राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धान्त ही नहीं है। इसके विपरीत यह उन सिद्धान्तों का संग्रह है जो मनुष्य जीवन के सभी क्रिया-कलापों को उसके सामाजिक अस्तित्व से सम्बन्धित कर उसकी अनुभूति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।[3]

इस प्रकार नव मानववाद मानव को स्वयं के भाग्य का निर्माता मानता है तथा यह सुविधा प्रदान करता है जिसके अपनाने से मनुष्य अपने विश्व का निर्माण तथा पुनर्निर्माण करता हुआ सतत विकास की ओर प्रयत्नशील रह सकता है। मानव-मस्तिष्क को सजग पैदा करने वाले चिन्तन सन्दर्भों तथा अनुभवों से ही नवमानववाद उत्पन्न होता है। मानव की सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक तथा नैतिक जीवन की समस्याओं

ने मानव-भविष्य के सम्बन्ध में यह सोचने के लिए विवश किया है कि यदि मानव अपने लिए एक नवीन जीवन-दर्शन की सृष्टि नहीं करता तो वह अपने आप में विश्वास खो बैठेगा तथा सदा के लिए मार्गच्युत हो जायेगा। अत सामाजिक ढांचे का नव निर्माण एव मानव-जीवन को सौहार्द्रपूर्ण एव सुखमय बनाने के लिए मानव का पुनर्मूल्यांकन नव मानववाद का ध्येय है।[9]

यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाये तो नवमानववाद कोई पूर्णतया नवीन विचारधारा नहीं दिखलाई देती। यह वही पुरानी मानववादी विचारधारा है जिसको आधुनिक विज्ञान की गवेषणाओं का पुट देकर नवमानववाद के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। मानवेन्द्रनाथ का यह उदारवादी दृष्टिकोण है कि उन्होंने नवमानववाद को कठोरता की परिधि में न रख कर उसे बदलती परिस्थितियों के अनुरूप विकसित होने वाला सिद्धान्त बनाया है। रॉय ने स्वीकार किया है कि मानववाद मार्क्स के प्रभाव से अछूता नहीं किन्तु साथ ही साथ उन्होंने यह भी तर्क प्रस्तुत किया है कि नव मानववाद मार्क्सवाद से अधिक वैज्ञानिक है। उनका कहना था कि जब मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों का सृजन किया था उस समय वैज्ञानिक ज्ञान इतना विकसित नहीं था। इसके विपरीत वे अपने नवमानववाद को जीव शास्त्र तथा मनोविज्ञान के नवीनतम निष्कर्षों पर आधारित मानते हुए उसे मार्क्सवाद से भी अधिक प्रगतिशील मानते थे।

किन्तु नवमानववाद तथा मार्क्सवाद में पर्याप्त अन्तर है। नवमानववाद में व्यक्ति को प्रमुखता दी गई है, जब कि मार्क्सवाद में स्थिति इसके विपरीत है। नवमानववाद में व्यक्ति की प्रमुखता केवल समाज में ही नहीं, अपितु अखिल ब्रह्माण्ड में मानी गयी है। समाज की रचना का आधार ही व्यक्ति को माना है। यदि व्यक्ति समाज के बिना अस्तित्व नहीं रखता तो समाज भी व्यक्तियों का ही बनाया हुआ सगठन है। अच्छे व्यक्ति मिलकर ही अच्छे समाज का निर्माण करते हैं।[10] जब कि मार्क्सवाद एक अच्छे समाज की रचना को प्राथमिकता देता है ताकि उसके माध्यम से अच्छे मनुष्यों का निर्माण हो सके। पर रॉय के अनुसार अच्छे व्यक्ति का निर्माण अधिक महत्व रखता है। यह कहना कि पहले एक अच्छे समाज का निर्माण किया जाये तथा बाद में उसके माध्यम से अच्छे व्यक्ति बनाये जायें, उचित नहीं। यदि इस धारणा को माना जाये तो इसके अनुसार पहले शक्ति हथियानी होगी तथा साध्य की प्राप्ति में हर साधन उचित ठहराया जायेगा। इससे अच्छाई का लोप हो जायेगा और बुरे साधनों से भी अच्छे समाज को सगठित करने का समर्थन किया जायेगा। रॉय के अनुसार यह सर्वथा अनुचित है। बुरे साधन अच्छे व्यक्ति का निर्माण नहीं कर सकते तथा बुरे व्यक्ति अच्छे समाज का सृजन नहीं कर सकते। इस प्रकार रॉय मार्क्सवाद के विपरीत साधन तथा साध्य की नैतिकता के औचित्य पर बल देते हुए दोनों के समन्वय के पक्षपाती है।

रॉय के नवमानववाद की स्थापना शिक्षित एव प्रबुद्ध जनता के माध्यम से ही हो सकती है। यदि समाज का ऐसा नव-निर्माण नवमानववाद पर आधारित किया जाये तो वह एक अभूतपूर्व क्रान्ति का जनक होगा। यह एक ऐसी क्रान्ति होगी जिसमें मानव के नैतिक, बौद्धिक, मानसिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्य पक्षों का समावेश होगा तथा यह मानव के दृष्टिकोण में आमूलचूल परिवर्तन ला देगी। यही उग्र मानव-

वाद है। इसमें न तो राष्ट्रवाद की भावना का समावेश है और न रंगभेद का। इसका प्रमुख लक्ष्य मानव है।[11]

इस तरह रॉय ने एक ऐसा दर्शन प्रस्तुत किया है जिसमें मानव को स्वतन्त्रता-प्रेमी, विवेकी तथा सृजनशील प्राणी के रूप में बताया गया है। रॉय की मान्यता है कि मानव की स्वतन्त्रता ही उसे बर्बरता से सभ्यता की ओर बढ़ाने में सहायक हुई है। मानव विवेकपूर्ण चिन्तन तथा ज्ञान के आधार पर ही अपने तथा बाह्य विश्व के अस्तित्व को समझ पाया है। अन्धविश्वास तथा धार्मिक मतान्धता से ऊपर उठकर वह ईश्वर की सत्ता को चुनौती देते हुए स्वयं को ढूंढने का प्रयास करता है।[12] यही विचारधारा केवल आध्यात्मिक तथा सामाजिक जीवन में ही नहीं, अपितु राजनीति में भी नवीन प्रेरणा लेकर आई है। यह भौतिकवाद, प्रकृतिवाद एवं बुद्धिवाद का अद्भुत सम्मिश्रण है।

मानवेन्द्रनाथ रॉय के स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्र सम्बन्धी विचार

रॉय के उग्रमानववादी विचारों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सर्वोपरि माना गया है। उनके अनुसार राष्ट्रीय राज्य साम्यवादी वर्ग-राज्य तथा समाजवादी राज्य सब ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को किसी न किसी अनुपात में सीमित कर देते हैं। यहाँ तक कि लोकतान्त्रिक राज्य तो राष्ट्रीय समष्टिवाद से बद्ध है।[13] इसी कारण से रॉय ने एक ऐसे राजनीतिक संगठन का आधार प्रस्तुत किया है, जिसमें व्यक्ति राष्ट्रीय अथवा वर्ग-समष्टि का यन्त्र न बनाया जा सके। रॉय ने राज्य की उत्पत्ति के प्रारम्भिक समय से ही स्वतन्त्रता की प्रमुखता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है और यह विश्वास व्यक्त किया है कि स्वतन्त्रता की प्रेरणा से ही मानव प्रकृति के साथ संघर्ष करता रहा है। राज्य तथा समाज का आधार मानव-स्वतन्त्रता मानते हुए रॉय की यह दृढ़ धारणा है कि मानव बन्धन का हर समय प्रतिकार करता रहा है। आधुनिक परिस्थितियों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को आर्थिक सन्तुष्टि एवं सुरक्षा पर निर्भर कर दिया है, किन्तु इसके साथ यह भी आवश्यक है कि उसे सांस्कृतिक एवं बौद्धिक स्वतन्त्रता का वातावरण प्राप्त हो ताकि वह अपनी बौद्धिक क्षमता का पूर्ण उपयोग कर सके।[14]

रॉय ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता-प्राप्ति की लालसा को चिरंतन माना है। स्वतन्त्रता की अनुभूति ही उसका जीवन है। किन्तु रॉय के अनुसार स्वतन्त्रता का यह तात्पर्य नहीं है कि व्यक्ति सब कुछ करने की स्वतन्त्रता रखता है। उस पर विवेक का नियन्त्रण है जो उसे बुराई से रोकता है। विवेक ही व्यक्ति को सामाजिकता सिखाता है। व्यक्ति तथा समाज में कोई विरोधाभास नहीं हो सकता, यदि व्यक्ति विवेक द्वारा मार्ग-दर्शन प्राप्त करता रहे। रॉय ने इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए जो नवीन व्यवस्था प्रस्तुत की है उसका नाम "संगठित लोकतन्त्र" है। रॉय ने आधुनिक लोकतन्त्र को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पोषक मानने के साथ यह भी व्यक्त किया कि सामूहिक कल्याण के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का इसमें हनन होता है। वे प्रतिनिधि लोकतन्त्र के पक्ष में नहीं हैं। मतदाता तथा सरकार के मध्य इतनी दूरी बढ़ जाती है कि शासन पर जनता का नियन्त्रण नाम मात्र को रह जाता है। इसलिए रॉय ने प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का समर्थन किया है। रॉय का यह विश्वास था कि आधुनिक लोकतन्त्र में दल व्यवस्था से हानि हुई है। दलों ने लोकप्रिय सम्प्रभुता को केवल मात्र संवैधानिक दिखावा बना दिया है।[15] वे यह मानते थे कि दलगत राजनीति के द्वारा

प्रतिनिधि लोकतन्त्र में सत्ता की होड़ नैतिक एवं सार्वजनिक मापदण्डों को समाप्त कर देती है। चरित्रवान व्यक्ति इस दलगत राजनीति से कतराते हैं तथा इस प्रकार जनता को उचित नेतृत्व मिल नहीं पाता। उन्होंने इस आधार पर संसदात्मक लोकतन्त्र के प्रति अपनी अनिच्छा प्रकट की। वे संसदात्मक शासन में लोक-कल्याणकारी राज्य के प्रयत्नों को मानव-स्वतन्त्रता को संकुचित करने वाले मानते थे। रॉय ने 'संगठित लोकतन्त्र' पर इसी कारण से इतना बल दिया। वह प्रत्यक्ष एवं विकेन्द्रित लोकतन्त्र था जिसमें रॉय ने राजनीतिक दलों का कोई स्थान नहीं रखा था। इस प्रकार यह दल-विहीन लोकतन्त्र का विचार है। रॉय ने इसका विस्तार से उल्लेख करते हुए इसके क्रियात्मक स्वरूप के बारे में यह बताया है कि छोटे छोटे सहकारी संगठनों के द्वारा यह प्रत्यक्ष लोकतन्त्र आधुनिक राज्यों में स्थापित किया जा सकता है। इस व्यवस्था में शक्ति जनता के हाथों में रहेगी तथा जनता ही शासन-कार्य में भाग लेकर इसका नियन्त्रण करेगी।[16] स्थानीय लोकतान्त्रिक इकाइयों से राज्य का संगठन संघवत होगा। रॉय ने रूस का हवाला देते हुए बताया है कि वहां पर भी लेनिन ने सोवियतों के सम्बन्ध में इसी प्रकार की व्यवस्था की थी, किन्तु साम्यवादी व्यवस्था के केन्द्रीयकरण ने इसकी मूल आत्मा को समाप्त कर दिया। रॉय ऐसी विकृति नहीं चाहते थे। अतः मार्क्सवाद के विपरीत उन्होंने लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीयकरण को अधिक महत्व दिया। अपने संगठित लोकतन्त्र के प्रतिपादन में रॉय ने मतदाताओं के शिक्षित होने की अनिवार्यता पर बल दिया ताकि वे भाषण कला में निपुण नेताओं के बहकावे में नहीं आ सकें। वे नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से ईमानदार तथा पक्षपात-रहित व्यक्तियों को ही शासन का नेतृत्व सौंपने के पक्ष में थे। चूंकि प्रारम्भ में कुशल तथा गुणी शासकों का चयन होना कठिन है, इसलिए प्रारम्भिक स्थिति में शासकों के निर्वाचन के स्थान पर मनोनयन का प्रावधान भी प्रस्तुत किया।[17]

अपने संगठित लोकतन्त्र सम्बन्धी विचारों को रॉय ने प्रिंसिपल्स ऑफ रैडिकल डिमोक्रेसी नामक पुस्तिका में प्रस्तुत किया। इन्हीं विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए उन्होंने अपनी ओर से भारत के संविधान का एक प्रारूप[18] भी लिखा था। यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के भावी संविधान-निर्माताओं के लिए एक अनुकरणीय सुझाव था। अपने इस प्रस्तावित संविधान में रॉय ने नागरिकों के उन मौलिक अधिकारों का भी उल्लेख किया जो निर्धारित जीवन-स्तर, श्रमिकों के न्यूनतम वेतन, वृद्धों तथा अपाहिजों के लिए सामाजिक सुरक्षा, चौदह वर्ष तक के बच्चों के लिए अनिवार्य एवं धर्म-निरपेक्ष शिक्षा, भाषण तथा प्रेस की स्वतन्त्रता, श्रमिकों, कामिकों तथा किसानों के संगठनों का संरक्षण, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, धार्मिक स्वतन्त्रता आदि प्रदान करते हैं। राज्य की समस्त शक्ति जनता में निहित मानी गई है तथा इस शक्ति के प्रयोग का अधिकार गांव, कस्बे तथा नगरों की स्थानीय जन-समितियों को सौंपा गया है। ये जन-समितियां वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रतिवर्ष चुनी जायेंगी तथा इनकी सदस्यता कुल मतदाताओं की आबादी का 1/50 वां भाग होगी। ऐसे राज्य में अल्पसंख्यकों के अधिकारों का भी संरक्षण आनुपातिक प्रतिनिधित्व एवं निर्वाचन-पद्धति द्वारा होगा। प्रान्तीय एवं संघीय सरकारें जन-समितियों द्वारा चुनी जायेंगी। संघ की इकाइयों को संघ की सदस्यता से अलग होने की स्वतन्त्रता भी होगी। रॉय ने जन-समितियों को स्विट्जरलैंड के समान

प्रारम्भक तथा प्रत्यावर्तन का अधिकार भी दिया है। उन्हे प्रत्याह्वान का अधिकार भी होगा। इसी तरह केन्द्र मे रॉय ने एक सर्वोच्च जन-समिति की रूपरेखा प्रस्तुत की, जिसमे एक निर्वाचित गवर्नर-जनरल, राज्य-सभा तथा सघीय सभा रहेगी। राज्य-सभा के बारे मे रॉय का विचार था कि उसमे योग्यतम व्यक्ति ही रखे जायें जिससे वे शासन का मार्ग-दर्शन करते रहें। सघीय सभा का चुनाव अप्रत्यक्ष तरीके से हो और उसे कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका सम्बन्धी शक्ति प्रदान की जाये। किन्तु इन सब पर सर्वोच्च जन-समिति का नियन्त्रण रहेगा तथा शासन का कोई भी कार्य उसके समर्थन के बिना सम्पन्न नही हो सकता। रॉय ने सघ की इकाइयो के सम्बन्ध म भी कई सुझाव दिये हैं।

इस प्रकार मानवेन्द्र नाथ रॉय ने राज्य-शासन के समस्त कार्य मे जन-सहयोग पर बल दिया है। उनकी राजनीतिक व्यवस्था मे राजनीतिक दलो का कोई स्थान नही है, उनका दल-विहीन लोकतन्त्र का विचार उनकी एक अनूठी देन है। वे राजनीतिक दलो के अस्तित्व को तभी तक मानते हैं जब तक मनुष्यो म नैतिकता तथा विवेक जागृत नही हो जाता। व्यक्तियो के स्वय विवेकी बनने के बाद न तो राजनीतिक दलो की आवश्यकता रहेगी और न राज्य की। रॉय के अनुसार राज्य भी शनै शनै समाप्त हो जायेगा। न कोई वर्ग-भेद रहेगा और न कोई किसी का शोषण करेगा। केवल एक समाज रहेगा। समाज का एक केन्द्रीय सगठन होगा लेकिन वह 'लेवाथा' न होकर एक समन्वयवादी तत्त्व के रूप मे कार्य करेगा तथा विभिन्न सामाजिक सगठनो मे तालमेल रखेगा। इस प्रकार के समाज मे राज्य शक्ति की कोई आवश्यकता नही होगी।[19]

रॉय के आर्थिक विचार

रॉय के आर्थिक विचार शोषण के प्रति विरोध का सन्देश देते हैं। वे मानव को आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया सरक्षित करने के पक्ष मे है। उनके विचार से मानव अपनी भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति होने पर पर ही अपना बौद्धिक एव सर्वांगीण विकास कर सकता है। स्वतन्त्रता का उपभोग मनुष्य को आर्थिक सुरक्षा ही प्रदान कर सकता हैं। वे ऐसे आर्थिक नियोजन के पक्ष मे है, जो मानव-स्वतन्त्रता की रक्षा कर सके। विज्ञान एव तकनीकी ज्ञान के द्वारा यह कार्य वे सम्पादित होता हुआ देखते है। उनके विचारो से औद्योगीकरण के द्वारा भौतिक समृद्धि प्राप्त कर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सरक्षण मिल सकता है। किन्तु रॉय के आर्थिक नियोजन सम्बन्धी विचार न समाजवादी है और न पूजीवादी। वे नियोजन की समाजवादी पद्धति को इसलिए अमान्य ठहराते हैं कि उसमे नियोजन एक शक्तिशाली राजनीतिक यन्त्र के माध्यम से प्राप्त किया जाता है और यह स्थिति सामाजिक प्रगति के नाम पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त कर देती है। वे पूजीवादी नियोजन को भी पसन्द नही करते, क्योकि यह व्यवस्था अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के सिद्धान्त पर आधारित है इसलिए निधनो का शोषण होता है।[20]

रॉय के अनुसार आर्थिक समृद्धि के लिए औद्योगीकरण आवश्यक है। यह आन्तरिक व्यापार बढाकर प्राप्त किया जा सकता है। वे विदेशी व्यापार पर अधिक जोर नही देते। उनकी दृष्टि मे विदेशी व्यापार हर समय साथ नही देता तथा कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत् म बढती हुई व्यापारिक प्रतिस्पर्धा का शिकार बन सकता है। वे

जनता की क्रय-शक्ति बढ़ाने के पक्ष में हैं। इसके लिए उन्होंने नये-नये उद्योगों की स्थापना की सिफारिश की है, ताकि अधिक से अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिल सके। कृषि भूमि पर दबाव कम हो और कृषकों की स्थिति में भी सुधार आये, इसके लिये वे कृषकों की आर्थिक शक्ति बढ़ाने हेतु भूमि के उचित वितरण को अधिक महत्त्व देते हैं। अधिक से अधिक सार्वजनिक निर्माण-कार्य करने का पक्ष भी रॉय ने समर्थित किया है, जिससे जनता को आय के साधन उपलब्ध हों। इस प्रकार भूमि के समान वितरण तथा कृषकों और श्रमिकों की क्रय शक्ति में वृद्धि द्वारा आर्थिक सम्पन्नता का मार्ग रॉय को पसन्द है।

रॉय ने प्रचलित समस्त आर्थिक सिद्धान्तों की आलोचना की है तथा यह प्रकट किया है कि ये समस्त विचार मनुष्य को एक स्वार्थी प्राणी मानते हैं। इसके विपरीत रॉय मनुष्य को स्वभाव से ही सहयोगी प्राणी के रूप में देखते हैं। इसी कारण से रॉय उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण जनता में निहित करना उचित मानते हैं। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरुद्ध नहीं, बशर्ते इसके द्वारा सामाजिक शोषण न किया जाये। वे सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि यह व्यवस्था राज्य को मानवीय स्वतन्त्रता समाप्त करने का अधिकार देकर एक सर्वाधिकार राज्य की स्थापना करती है। इस तरह रॉय निजी सम्पत्ति की मान्यता के साथ-साथ सम्पत्ति के सहकारी स्वामित्व पर भी बल देते हैं। वे आर्थिक नियोजन को ऐच्छिक सहकारिता पर आधारित करते हैं। निजी उद्योगों में हस्तक्षेप करने की नीति के पक्ष में वे नहीं थे क्योंकि उनका यह विश्वास था कि सहकारिता पर आधारित उद्योग अपने आप निजी उद्योगों को व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के द्वारा परास्त कर देंगे।[21]

इस प्रकार रॉय ने आर्थिक विकेन्द्रीकरण की नीति का अनुसरण किया है। वे आर्थिक क्षेत्र में राज्य को हस्तक्षेप करने से वंचित करते हुए भी सामाजिक नियन्त्रण द्वारा आर्थिक उन्नति प्राप्त करने के इच्छुक हैं। वे राज्य का नियन्त्रण केवल विद्युत् उत्पादन, कोयला, इस्पात, यातायात आदि विभागों तक सीमित रखना चाहते थे। उनकी सहकारिता केवल आर्थिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं। वे शिक्षा को भी राज्य के नियन्त्रण से मुक्त रखना चाहते हैं। राज्य केवल विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में समन्वय स्थापित करने का काम करेगा। ये विचार बहुलवादियों के विचारों से मिलते-जुलते हैं। इस प्रकार रॉय राज्य को केवल कानून तथा सुरक्षा आदि अधिकार देकर शेष सभी व्यवस्था मानव-सहकारिता पर छोड़ देते हैं।

भारत की आर्थिक स्थिति सुधारने की दृष्टि से रॉय के विचारों में मौलिकता भी है। उन्होंने कई ऐसे व्यावहारिक सुझाव दिये हैं, जिन पर अमल करना भारत के लिए श्रेयस्कर है। रॉय के अनुसार भारत में औद्योगीकरण की प्रगति कृषि के विकास पर ही निर्भर करती है। वे कृषि के विकास को अत्यधिक महत्त्व देते हैं ताकि मेहनतकश जनता की क्रय करने की शक्ति में वृद्धि हो। वे कृषि के मशीनीकरण के पक्ष में न थे। मशीनीकरण के सम्बन्ध में उनका यह विचार था कि इससे ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी बढ़ेगी। वे उर्वरक बनाने के बड़े-बड़े कारखानों के पक्ष में भी नहीं थे। उनका विचार इन कारखानों पर भारी लागत लगाने के स्थान पर गोबर की खाद को ही काम में लाने का था ताकि

खाद सुगमता से ग्रामीणों को प्राप्त हो सके। वे ग्रामीण क्षेत्र में ईंधन के लिए गोबर के स्थान पर कोयले के प्रयोग के पक्ष में थे। यदि कोयला अच्छी मात्रा में ग्रामीण क्षेत्र में मिलने लगे तो गोबर का उपयोग ईंधन के रूप में नहीं होगा। कोयला-खदानों का नियन्त्रण राज्य के हाथ में रहे, ताकि उद्योगपति कोयले की कृत्रिम कमी पैदा न कर सके और न कीमतें ही बढ़ा सकें। इसी तरह सिंचाई के सम्बन्ध में भी रॉय के विचार बहुत सुलझे हुए थे। उन्होंने बड़ी-बड़ी सिंचाई-योजनाओं के स्थान पर छोटी सिंचाई-योजनाओं को महत्त्व दिया। बड़ी योजनाएँ अपने पर खर्च हुए धन की वसूली के लिए सिंचाई की दरों में वृद्धि करने के लिए अवश्य बाध्य होंगी। इससे कृषक को सिंचाई की बढ़ी हुई दरें देनी होंगी और उसे वास्तविक लाभ नहीं होगा। वे सहकारी आधार पर गाँवों में ट्यूब वैल लगाने के पक्ष में थे। इसी तरह कृषकों की समस्त कृषि सम्बन्धी समस्याओं के निवारण के लिए वे सहकारिता के सिद्धान्त पर बल देते थे। सहकारी ऋण-व्यवस्था, सहकारी क्रय-विक्रय समितियाँ आदि की उन्होंने सिफारिश की। वे सामूहिक खेती के स्थान पर सहकारी खेती के पक्ष में थे। सहकारी फार्म की योजना भी उन्होंने प्रस्तुत की। बड़े फार्म बनाने की योजना उन्हें पसन्द नहीं थी। जोत की सीमा निर्धारित करने का भी रॉय ने समर्थन किया।[22] भारत की कृषि तथा उद्योगों की प्रगति से सम्बन्धित रॉय के ये विचार यथार्थपूर्ण हैं।

रॉय द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना

रॉय ने अपने जीवन के कई वर्ष एक कट्टर मार्क्सवादी के रूप में बिताये। बाद में मार्क्सवाद की सर्वाधिकारवाद में परिणति, जिसे उन्होंने साम्यवादी शासन में देखा, के कारण वे मार्क्सवादियों से विमुख हो गये। यद्यपि यह सत्य है कि वे जीवनपर्यन्त मार्क्स के प्रभाव में रहे, किन्तु मार्क्सवादियों से उन्हें बाद के दिनों में पूर्ण घृणा हो गयी थी।

रॉय ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से मार्क्सवाद-साम्यवाद की आलोचना की है। रॉय के अनुसार मार्क्स का यह कथन असत्य है कि मध्यमवर्ग का अन्त हो जायेगा और समाज केवल दो वर्गों अर्थात् पूँजीपतियों तथा निर्धन-वर्ग में विभाजित हो जायेगा। रॉय ने मार्क्स की इस विचारधारा के प्रतिकूल यह पाया कि मध्यमवर्ग का विश्व में पहले से अधिक महत्त्व बढ़ा है। मध्यमवर्ग ही समाज को बौद्धिक एवं राजनीतिक जीवन देता है। लोकतन्त्र विशेषतया मध्यमवर्गीय नेतृत्व पर ही सफलतापूर्वक चल सकता है।[23]

रॉय ने मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की भी कटु आलोचना की है। उनके विचारों में अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त न तो पूँजीवादी प्रथा का द्योतक था न श्रमिकों के शोषण का। रॉय के अनुसार पूँजीवाद को समाप्त करने के विचारों से मार्क्स इतने अधीर हो उठे थे कि उन्होंने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत किया और उससे अपने तर्क को पुष्ट किया। वास्तविकता में अतिरिक्त उत्पादन के सामाजिक महत्त्व को भी देखना चाहिए था। रॉय ने यह व्यक्त किया कि यदि अतिरिक्त मूल्य का आर्थिक पक्ष समाप्त हो जाता है तो सामाजिक मूल्य भी नष्ट हो जायेंगे और सामाजिक प्रगति समाप्त हो जायेगी। उनके विचारों से सामाजिक अतिरिक्त मूल्य के नष्ट होने से कई सभ्यताओं का विनाश हुआ है। यदि भविष्य में सभ्यता की रक्षा करनी है तो

अतिरिक्त मूल्य की भी रक्षा करनी होगी ताकि आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था चलती रहे। वे यह कहते थे कि यदि अतिरिक्त मूल्य शोषण का ही प्रतीक मान लिया जावे तो इसका अर्थ होगा कि साम्यवादी रूस भी इस शोषण का अपवाद नहीं है। वहाँ व्यक्तिगत पूंजीवाद के स्थान पर राजकीय पूंजीवाद है। स्वयं ट्राट्स्की भी इसी विचार के थे।

मार्क्स द्वारा की गयी इतिहास की भौतिक व्याख्या भी रॉय ने स्वीकृत नहीं की। उनके अनुसार मार्क्स ने जीवन के भौतिकवादी पक्ष को अधिक उभारने का कार्य किया। यह एक निर्जीव आर्थिक आधार था जो कि मार्क्स ने इतिहास की निश्चयात्मकता के पुट के सहारे खड़ा किया था। मार्क्स ने मानवता, वैचारिक सुधारवाद तथा पूर्ववर्ती आर्थिक सिद्धान्तों को तिलांजलि दे इतिहास तथा सामाजिक आर्थिक मान्यताओं पर अपना सिद्धान्त आधारित किया। रॉय के अनुसार इतिहास का केवल आर्थिक आधार ही नहीं होता, उसके पीछे सामाजिक व विचारात्मक दृष्टिकोण भी होते हैं। फिर किसी भी प्रकार का दर्शन आर्थिक आधार पर ही नहीं खड़ा होता। स्वयं एन्जिल्स भी मार्क्स के इन विचारों से सहमत नहीं थे। रॉय भी एन्जिल्स की तरह सामाजिक परिवर्तन के लिए आर्थिक एवं भौतिक तत्वों के स्थान पर सांस्कृतिक एवं मानववादी तत्वों की स्थापना करते हैं। वे मार्क्स के यान्त्रिक सामाजिक दृष्टिकोण से भी सहमत नहीं हैं। आर्थिक प्रगति से समाज का बदलना दोषपूर्ण है। मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताएं इतनी परिवर्तनशील तथा लचीली हैं कि इनसे कोई शाश्वत विचार प्राप्त नहीं हो सकता।

रॉय ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सर्वहारा-वर्ग के अधिनायक तन्त्र की भी आलोचना की है। वे सर्वहारा-क्रान्ति को अपूर्ण मानते हैं। चन्द व्यक्ति जो कि सर्वहारा का प्रतिनिधित्व करने का दम भरते हैं कोई क्रान्ति नहीं ला सकते। आज के युग की विशाल राजकीय सेनाओं के सामने उनकी शक्ति नगण्य होगी। उन्हें समाज के प्रगतिशील वर्ग का भी पूरी तरह समर्थन नहीं मिलेगा, क्योंकि उनका उद्देश्य संकुचित है। वे केवल साम्यवादी वर्ग का हित ही ध्यान में रखेंगे जिससे समाज का बहुसंख्यक वर्ग उन्हें अविश्वास की दृष्टि से देखेगा। उनके विचारों के अनुसार समाज में क्रान्ति तब तक नहीं आ सकती, जब तक प्रगतिशील व्यक्तियों का पूरा समर्थन प्राप्त न हो जावे। रॉय का यह विश्वास था कि मध्यम वर्ग सर्वहारा वर्ग से भी ज्यादा पिछड़ा हुआ है। मध्यम वर्ग को अधिक प्रगतिशील एवं चेतनशील बनाने की आवश्यकता है। वे वर्गसंघर्ष के स्थान पर सर्वाधिकारवाद एवं लोकतन्त्र के मध्य संघर्ष को अधिक महत्व देते हैं। उन्हें सर्वहारा से अधिक मानवीय स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की चिन्ता है। रॉय मध्यमवर्ग को ही समाज का नेतृत्व सौंपने के पक्ष में थे। उनके विचार से मध्यमवर्ग वर्गभेद की भावना से ऊपर उठकर अपनी बौद्धिक प्रतिभा द्वारा समाज का अधिक हित कर सकता है। मार्क्स के विपरीत रॉय मध्यमवर्ग को ही क्रान्तिकारी कार्यों का सूत्रधार मानते हैं। इन्हीं चेतनाशील व्यक्तियों के माध्यम से वे एक सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के इच्छुक हैं। इस तरह रॉय मार्क्सवाद के स्थान पर उदारवाद के अधिक समर्थक दिखाई देते हैं।[24]

व्यक्ति की स्वतन्त्रता को ध्यान में रखते हुए रॉय ने मार्क्स के बारे में यह विचार व्यक्त किया कि मार्क्स ने मानव की चेतना स्वयं इतिहास के क्रम को भाग्य तथा प्रकृति के आर्थिक नियम से बांधने का प्रयास किया है। रॉय ने मार्क्सवादी स्वतन्त्रता को ऐच्छिक

दासता को महत्ता दी है। उनके विचार से मार्क्सवाद ने वर्तमान जगत् के बौद्धिक कार्य-क्षेत्र को धूमिल कर विश्व में संघर्ष की स्थिति पैदा की है। व्यक्ति को व्यक्ति न मानकर उसे समष्टि में परिवर्तित किया जा रहा है। ऐसा वातावरण रॉय के अनुसार न तो स्वतन्त्रता का बोध कराता है न सच्चे राजनीतिक जीवन का। वे मानव को साधन बनाने की वृत्ति का भी विरोध करते हैं। रॉय के अनुसार समाज व्यक्ति की रक्षा तथा उसके योगक्षेम की प्राप्ति के लिए है न कि उसको निगलने के लिए। मानव का विकास नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता से ही हो सकता है जिससे वह अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करते हुए विवेक पूर्ण व्यवहार करता रहे। मानव के सर्वांगीण विकास के लिए आर्थिक सुरक्षा एवं सम्पन्नता के साथ-साथ सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक वातावरण की भी जरूरत है, जिससे उसकी बुद्धि तथा सांस्कृतिक चेतना कुण्ठित न हो जाये। रॉय के अनुसार, मानव स्वतन्त्रताप्रिय, कल्पनाशील एवं रचनात्मक प्रवृत्ति का है। उसे बन्धन, नियन्त्रण एवं दमन में रखना घातक सिद्ध हो सकता है। रॉय मार्क्स की तरह समाज को प्राथमिकता देकर व्यक्ति को दूसरे स्थान पर नहीं रखना चाहते।[25]

रॉय व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के साथ-साथ सामाजिक स्थिति में परिवर्तन लाने के भी पक्षपाती हैं, किन्तु उनके द्वारा सुझाया गया परिवर्तन का मार्ग हिंसा पर आधारित नहीं है। वे शान्तिपूर्ण तरीके से राजनीतिक एवं सामाजिक स्थितियों को सुधारना उचित समझते हैं। उनका यह विश्वास है कि मार्क्स द्वारा प्रदर्शित हिंसात्मक तरीका ही शासन-परिवर्तन के लिए एक मात्र उपाय नहीं है। वे शासक का हृदय-परिवर्तन करना अधिक उचित मानते हैं। शासक को हर समय अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान कराते रहने से जनता उसे लोक कल्याणकारी कार्यों के लिए बाध्य कर सकती है। राजनीतिक सुधार का एक मात्र उपाय, रॉय के अनुसार, यह है कि शासन के विवेक तथा नैतिकता को जागृत किया जाय। इसका यह तात्पर्य नहीं कि रॉय ने क्रान्ति को कोई महत्त्व नहीं दिया। वे क्रान्ति को भी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं किन्तु उनकी यह क्रान्ति मध्यमवर्ग-जनित होगी न कि सर्वहारा द्वारा। रॉय की यह धारणा है कि क्रान्ति द्वारा कोई अभूतपूर्व करिश्मा पैदा नहीं होता। क्रान्ति का आधार उचित कल्पना एवं विवेक पर होना चाहिए। वे मार्क्स के इस विचार से कि क्रान्ति का खूब प्रचार किया जाये सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार क्रान्तिकारी कार्यों के अत्यधिक प्रचार से केवल मुट्ठी भर क्रान्तिकारी ही उसका लाभ उठाते रहेंगे तथा शेष जनता क्रान्ति से सम्बन्धित न होकर अलग थलग हो जायेगी। इस कारण से वे क्रान्ति के पक्ष में न होकर शान्तिपूर्ण तरीकों में विश्वास व्यक्त करते हैं।[26]

रॉय द्वारा मार्क्स के सिद्धान्तों की आलोचना की पृष्ठभूमि में एक और महत्त्वपूर्ण कारण भी है। रॉय ने मार्क्स तथा एन्जिल्स दोनों को जर्मन राष्ट्रवाद का अन्धभक्त माना है। उनके अनुसार ये दोनों महान् विचारक जर्मनी को ही दुनिया में सर्वश्रेष्ठ मानते रहे, यहाँ तक कि उन्होंने जर्मनी द्वारा एक विश्व-राज्य की स्थापना के काल्पनिक आधार को भी समर्थन प्रदान किया। रॉय के अनुसार ऐसी जातीय अथवा राष्ट्रीय सर्वोच्चता का विचार खतरनाक था। एक सच्चे अन्तर्राष्ट्रीय समाज का निर्माण करने वालों को जातीय तथा राष्ट्रीय श्रेष्ठता के विचार से दूर रहने की जरूरत थी। रॉय ने स्वयं अपने व्यक्तिगत

उदाहरण से यह स्थापित कर दिया कि सकीर्णता के आधार पर समाजवादी लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं हो सकती। मार्क्स जैसे विश्व-प्रसिद्ध विचारक तथा साम्यवाद के मसीहा जर्मनी की श्रेष्ठता एवं उसके राष्ट्रीय गौरव के उपासक बने रहें यह रॉय को स्वीकार नहीं था। रॉय को इससे मार्क्सवाद के प्रति अश्रद्धा हो गयी। वे कथनी तथा करनी अर्थात् सिद्धान्त व व्यवहार में अटूट सम्बन्ध मानते थे। इसी कारण से रॉय ने अपनी मानसिक सच्चाई का परिचय देते हुए मार्क्स की आलोचना की और यह स्थापित किया कि कोई भी सिद्धान्त व्यवहार की कसौटी पर निखारे बिना ग्राह्य नहीं होना चाहिए। पूर्व-निर्धारित मान्यताओं पर आधारित सिद्धान्त अग्राह्य हैं चाहे वह कार्लमार्क्स जैसे व्यक्ति द्वारा ही प्रतिपादित क्यों न हो।

इसी तरह रॉय ने अपनी मार्क्सवाद की आलोचना के माध्यम से यह स्थापित किया कि मार्क्स के अन्धानुकरण की आवश्यकता नहीं है। वे साम्यवाद को ही मानव के विकास का अन्तिम लक्ष्य नहीं मानते थे। उनका विश्वास था कि यदि साम्यवाद को मानव-विकास का अन्तिम लक्ष्य मान लिया गया तो समस्त सामाजिक विकास अवरुद्ध हो जायेगा। विकास की यह अवरुद्धता मानव-जीवन की समाप्ति की सूचक होगी।

मानवेन्द्रनाथ रॉय तथा विश्व-राजनीति

मानवेन्द्र नाथ रॉय के विचारों में उनकी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रति अगाध रुचि तथा उनके विश्लेषण की असामान्य प्रतिभा का परिचय मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्बन्ध में उनके विचारों में उसी प्रकार का परिवर्तन दिखाई देता है जैसा परिवर्तन उनके राजनीतिक चिन्तन में आया है। वही मार्क्सवाद से मानववाद की ओर प्रयाण इसमें भी विद्यमान है। अपने प्रारम्भिक राजनीतिक जीवन में मार्क्सवाद से प्रेरित हो एक सच्चे मार्क्सवादी की तरह अमेरिका तथा रूस के वैचारिक द्वन्द्व में रॉय ने रूस का पक्ष उचित माना। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् रूस तथा अमेरिका के पारस्परिक तनाव तथा शीतयुद्ध की प्रखरता ने उनके विचारों में परिवर्तन ला दिया। वे शीतयुद्ध के परिणामों से तथा आणविक अस्त्रास्त्रों की होड़ से काफी चिन्तित थे। वे तृतीय महायुद्ध की सम्भावनाओं में सृष्टि के अन्त का आभास पाते थे। धीरे धीरे उनके मानववादी दृष्टिकोण ने उन्हें अनायास अमेरिका का प्रशंसक बना दिया।[27] वे लोकतन्त्र को साम्यवाद से अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। अतः पूंजीवाद के विरुद्ध होते हुए भी वे अमेरिका की स्वतन्त्रता प्रिय नीति के प्रशंसक बन गये। उन्हें अमेरिका में लोकतन्त्र की रक्षा तथा मानव-स्वतन्त्रता के गुण दिखाई दिये। लेकिन वे अमेरिका की रूस-विरोधी "साम्यवाद को रोकने सम्बन्धी नीति" के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में अमेरिका की सैनिक गठबंधन तथा सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की आलोचना की। उन्हें अमेरिका का यह नव-उपनिवेशवादी रवैया पसन्द नहीं था। इसे वे लोकतन्त्र की जड़ें खोखला करने वाला उपाय मानते थे। उन्हें सैनिक गठबन्धन की नीति से फासीवाद का आभास होता था। इसी कारण से रॉय ने ट्रूमैन-योजना तथा अतलान्तिक समझौते को भी अमेरिका की विस्तारवादी एवं हस्तक्षेप की नीति का अंग माना। इस प्रकार रॉय ने अमेरिका की विदेश-नीति को आक्रामक तथा विस्तारवादी बताया जब कि रूस की विदेश-नीति की उन्होंने कोई आलोचना नहीं की। रॉय का यह मत निश्चित रूप से पक्षपातपूर्ण था। उन्हें रूस की विदेश-नीति शान्तिप्रिय

प्रतीत होती थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका की एशिया सम्बन्धी नीति की भी रॉय ने आलोचना की। वे अमेरिका के द्वारा एशिया में फासीवादियों के साथ किये गये समझौतों को लोकतन्त्र का संहारक मानते थे। उनके अनुसार अमेरिका की इस नीति से उसकी एशिया में प्रतिष्ठा कम हुई। एशिया में साम्यवाद के प्रति सद्भाव बढ़ने का कारण ही यह था कि एशियावासी साम्यवाद के राजनीतिक आदर्श में अपनी निर्धनता का हल ढूंढ रहे थे। रॉय के अनुसार चीन में साम्यवाद की विजय से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। वे अमेरिका से यही आशा करते थे कि अमेरिका एशिया में लोकतन्त्र की नींव गहरी करने तथा लोकतन्त्र की खोई हुई प्रतिष्ठा जमाने का प्रयास करेगा किन्तु अमेरिका द्वारा अवांछित नेतृत्व का समर्थन तथा एशिया में अमेरिका की बदनामी से उन्हें काफी निराशा हुई।

अपने निष्पक्ष विचारों में रॉय ने गुट-निरपेक्षता की नीति को ही श्रेष्ठ माना। उनकी दृष्टि में भारत को न तो अमेरिका और न रूस से ही लाभ हो सकता था। वे रूस की साम्यवादी तानाशाही तथा अमेरिका की साम्राज्यवादिता दोनों के विरुद्ध हो गये। इसी कारण से उन्होंने एक तृतीय शक्ति के उदय पर बल दिया। उन्हें विश्व की दो महाशक्तियों पर नियन्त्रण के लिए तीसरी विश्वशक्ति की उपादेयता श्रेयस्कर दिखाई दी। भारत के लिए इसी नीति का अनुसरण उन्होंने उचित माना। वे नेहरू की गुट-निरपेक्षता की नीति के प्रशंसक नहीं थे, क्योंकि नेहरू का उन दिनों अमेरिका की तरफ ज्यादा झुकाव था तथा वे भारतीय साम्यवादी दल के विरुद्ध कठोर रुख अपनाये हुए थे। रॉय ने इस प्रकार की गुट-निरपेक्षता की नीति को प्रवंचना माना। उनका यह भी विश्वास था कि साम्यवादी चीन भारत के लिए सदैव खतरा है। उनकी यह मान्यता थी कि इस खतरे का सामना करने के लिए भारत अमेरिका का समर्थन प्राप्त करेगा और वह अमेरिका की नीति का अनुसरण करेगा। यद्यपि रॉय के विचार आज की परिस्थिति में सत्य होते दिखाई नहीं देते फिर भी उनमें स्थान स्थान पर मौलिक चिन्तन एवं विश्लेषण विद्यमान है।

भारत की विदेश-नीति के सम्बन्ध में रॉय का यह विचार था कि भारत पूर्ण रूप से असलग्नता की नीति का ही अनुसरण करते हुए सफलता प्राप्त कर सकता है। वे विदेशी आर्थिक सहायता तथा सहयोग में विश्वास नहीं करते थे। वे किसी भी प्रकार की विदेशी सहायता को एक स्वतन्त्र विदेश-नीति में बाधा उत्पन्न करने वाला तत्त्व मानते थे। वे भारत की निर्धनता तथा पिछड़ेपन का अन्त भारतीय उपायों से ही चाहते थे। उनका यह विश्वास था कि भारत में आर्थिक समृद्धि जब तक नहीं आती और जब तक निर्धनता का निवारण नहीं होता तब तक साम्यवाद के खतरे से नहीं बचा जा सकता। वे यह मानते थे कि साम्यवाद को सेना अथवा शक्ति से नहीं रोका जा सकता। एक सच्चे राजनीतिक एवं आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना से ही भारत साम्यवाद का प्रसार रोक सकता है। वे यह भी मानते थे कि प्रचार तथा उचित शिक्षा से भी साम्यवाद को दूर रखा जा सकता है। वे जनता को इस तथ्य से अवगत कराना चाहते थे कि साम्यवाद उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु है। इसके लिए वे शान्ति एवं सुरक्षात्मक वातावरण

आवश्यक मानते थे। उनके विचार से युद्ध को रोकने से ही सच्चा लोकतन्त्र पनप सकता है। युद्ध की स्थिति लोकतन्त्र की रक्षा नहीं करती। वे यह भी मानते थे कि जब तक भारत की जनता पूर्णतया जागृत नहीं हो जाती तब तक भारत में साम्यवाद का खतरा बना रहेगा। वे जनता के विचारों में आमूलचूल परिवर्तन लाना चाहते थे और पुरानी मान्यताओं के स्थान पर मानववाद की स्थापना करना चाहते थे। इसी कारण से उन्होंने सगठित लोकतन्त्र, सहकारी अर्थ-व्यवस्था तथा नव मानववाद का खूब प्रचार किया।

मानवेन्द्रनाथ रॉय का यह विश्वास था कि एक विश्व-सरकार ही विश्व-राजनीति से युद्ध की विभीषिका टाल सकती है। वे इस कार्य के लिए राष्ट्रवाद को पूर्णतया समाप्त करना चाहते थे। वे राष्ट्रीय राज्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय राज्य में कोई तालमेल नहीं देख पाये। उनके अनुसार एक सच्चा मानववादी दृष्टिकोण ही विश्व-शान्ति ला सकता था।

निष्कर्ष

मानवेन्द्रनाथ रॉय का राजनीतिक दर्शन उनकी बदलती हुई मनोस्थिति का दर्पण है। रॉय ने एक राष्ट्रीय क्रान्तिकारी के रूप में अपने राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ किया। उसके पश्चात् वे मार्क्सवादी तथा मार्क्सवादी से उग्र मानववादी बन गये। यद्यपि उन्होंने मार्क्स की आलोचना प्रस्तुत की फिर भी वे जीवनपर्यन्त मार्क्सवाद के प्रभाव से विमुक्त न हो सके। उनका नव मानववाद उदारवाद तथा मार्क्सवाद का सम्मिश्रण था। वे अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद से प्रेरित थे तथा मार्क्स के जीवन के प्रारम्भिक विचारों को अपने नवीन दर्शन का आधार बनाये हुए थे। उनका नव मानववाद उदारवाद का ही दर्शन है। पुराने उदारवाद को मार्क्स के विचारों से परिष्कृत कर रॉय ने नव मानववाद की स्थापना की है। मार्क्स का यह प्रभाव रॉय के विचारों को कहीं-कहीं अस्पष्ट बना देता है।

रॉय ने मार्क्सवादी ब्रह्माण्डीय अध्ययन की व्याख्या द्वन्द्वात्मकता का सहारा लिये बिना ही की है। रॉय के अनुसार मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद केवल नाम के लिए भौतिकवाद है। उसका मूलतत्व द्वन्द्ववाद है। अतः यह एक प्रत्ययवादी दर्शन है। रॉय ने फ्यूरबाख के समान मानववादी भौतिकवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाया है। किन्तु रॉय ने भी वही मार्ग अपनाया जो मार्क्स ने अपनाया था और वे भी यह सिद्ध करने में असफल रहे कि अनुभव के आधार पर मस्तिष्क का बाह्य ब्रह्माण्ड से क्या सम्बन्ध हो सकता है। इसी तरह रॉय ने धर्म का घोर विरोध किया। वे समस्त अन्धविश्वासों तथा धार्मिक कृत्यों के विरुद्ध थे तथा मार्क्स की तरह धर्म को मानवीय मस्तिष्क के लिए अफीम मानते थे। किन्तु अपनी इस धार्मिक अनास्था एवं नास्तिकता के कारण वे धर्म के मानववादी मूल्यों को ठीक से नहीं समझ पाये। विशेषतः हिन्दूधर्म के मूल सिद्धान्तों को वे कभी आत्मसात् नहीं कर पाये। साम्यवादियों की तरह हिन्दू-धर्म के केवल बाह्य आवरण तक ही उनकी दृष्टि रही। उन्हें यह समझ में नहीं आया कि हिन्दू-धर्म में बढ़कर मानववाद का सन्देश और कहाँ मिलेगा। इस तरह धर्म के प्रति अपनी पूर्व निर्धारित मान्यताओं के कारण वे अपने विचारों को भारत में लोकप्रिय न बना सके।

मानवेन्द्र नाथ रॉय ने विवेक की मान्यता पर अधिक बल दिया है। वे विवेक के समक्ष आध्यात्मिकता को गौण समझते थे तथा आन्तरिक प्रेरणा से प्राप्त ज्ञान की महत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने केवल ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त अनुभव को ही मान्यता दी।

वे अनुभव तथा विवेक को ही ज्ञान का आधार मानते थे। इससे आगे उन्होंने ज्ञान की कोई सीमा नहीं मानी। किन्तु भारतीय दर्शन के आधार पर रॉय की यह मान्यता असत्य सिद्ध होती है। भारतीय ऋषि-महर्षियों ने ज्ञान की महत्ता को ध्यानातीत अवस्था तक ढूंढ निकाला और यह सिद्ध किया कि भारतीय योग-पद्धति द्वारा ज्ञान का वह धरातल प्राप्त किया जा सकता है जिसकी व्याख्या मनोवैज्ञानिक भी नहीं कर सकते।

आर्थिक क्षेत्र में भी रॉय अपनी निर्भीकता का स्पष्ट चित्रण प्रस्तुत नहीं कर सके। एक ओर राष्ट्रीयकरण तथा दूसरी ओर निजी व्यवसाय दोनों को ही उन्होंने मान्यता दी। इसी कारण से उन्होंने सहकारी स्वामित्व को विशेष महत्त्व दिया है। सहकारिता के प्रभाव में रॉय आर्थिक नियोजन के स्थान पर ऐच्छिक सहयोग को उचित ठहराते हैं। बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना एवं कृषि के यन्त्रीकरण का उन्होंने यदि एक ओर विरोध किया है तो दूसरी ओर उनका समर्थन भी। वे इनका नियन्त्रण भी राज्य को न सौंपकर सहकारिता पर आधारित करते हैं। औद्योगीकरण द्वारा व्यक्तियों के जीवन-स्तर को उन्नत करने का भी उनका विचार है जो कि भारतीय मान्यता न होकर एक पाश्चात्य धारणा है।

यदि सही अर्थों में मानवेन्द्र नाथ रॉय के विचारों का मूल्यांकन किया जाये तो यह कटु सत्य सामने आयेगा कि मानवेन्द्र नाथ रॉय जैसे उद्भट विद्वान् तथा दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण व्यक्ति को भारतीय जनमानस में उचित स्थान प्राप्त नहीं हुआ। भारतीय राजनीति में भी रॉय को वह स्थान नहीं मिला जिसके वे उचित पात्र थे। उन जैसी प्रतिभा के गिने-चुने आदमी ही उस समय की देश की राजनीति में थे फिर भी उन्हें भारत में वह गौरव प्राप्त नहीं हुआ जिसके वे अधिकारी थे। सम्भवत इसके लिए स्वय रॉय की व्यक्तिगत मान्यताएं दोषी हैं। वे स्वभाव से हठी तथा दुर्गम्य थे। उनके इस स्वभाव को साधारण जनता अहंकारिता समझती थी। वे स्वभाव से गम्भीर तथा चिंतनशील व्यक्ति थे। इस कारण से साधारण जन-समुदाय से घुलने मिलने का उन्हें न तो अवसर मिला और न उन्होंने इसे पसन्द ही किया। केवल बुद्धिजीवी-वर्ग से ही उनका सम्बन्ध रहा। उनका पाश्चात्य रहन-सहन तथा उनके विचारों की अत्यधिक प्रगतिशीलता भी सामान्य जनता के लिए अगम्य थी। वे पेशेवर राजनीतिज्ञ नहीं थे और न उनमें वे विशेषताएं थीं जो पेशेवर राजनीतिज्ञों में होती हैं। वे सीधे, सच्चे एवं ईमानदार आदमी थे। जो विचार उनको मान्य होता उसी पर वे चलते थे और फिर जनता की उन्हें चिंता नहीं रहती थी। उनके ये गुण उनके राजनीतिक जीवन के लिए दुर्गुण थे और इस कारण वे भारतीय राजनीति में नहीं चमके। इसके अलावा स्वय रॉय के कुछ कार्य भी उनकी लोकप्रियता को घटाने वाले रहे—जैसे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में कॉंग्रेस की आलोचना, भारत के स्वतन्त्रता सेनानियों की आर्थिक मान्यताओं पर कठोर प्रहार आदि। साधारण जनता रॉय की राष्ट्रवाद-विरोधी विचारधारा से उनके प्रति विरक्त हो गयी। इससे वे भारत के राष्ट्रवादियों की दृष्टि से तो गिरे ही अपितु बाद के दिनों में मार्क्सवाद का विरोध करने के कारण वे साम्यवादियों की निगाह में भी गिर गये। उनके लिए यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण रहा। वे न तो कॉंग्रेस के साथ मिल कर देश की स्वतन्त्रता के लिए ही कुछ कर सके और न भारत में साम्यवादी आंदोलन को ही उचित नेतृत्व दे पाये। उनके इस पशोपेश ने उनको भारत के राजनीतिक जीवन से सन्यस्थ कर दिया।

रॉय ने भारतीय राजनीति से अपनी हार मान ली और जीवन के अन्तिम वर्ष स्वस्थापित रेडिकल ह्यूमनिस्ट इन्स्टीट्यूट की गतिविधियों में बिता दिये। किन्तु वे अपनी धुन के पक्के रहे और उन्होंने कभी भी अपने विचारों के साथ विश्वासघात नहीं किया। चिंतन के क्षेत्र में उन्होंने सत्य व नैतिकता की मान्यता को नहीं छोड़ा। उनके द्वारा प्रतिपादित नवमानववाद राजनीतिक दर्शन को अनुपम देन है। यह जहाँ एक ओर मार्क्सवाद से प्रेरित है तो दूसरी ओर उसका प्रत्युत्तर भी है। मार्क्सवाद से बचने का एक ही तरीका है और वह है मानववाद। मानववाद को एक मान्य राजनीतिक विचार धारा बनाने के लिए उन्हें एक दर्शन तथा ऐतिहासिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक आधार प्रदान किया जाये ताकि तार्किक दृष्टि से उसकी पुष्टि की जा सके। यह नवीन दर्शन समस्त मानव अस्तित्व का वृहत् निरूपण है, जो आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों की तुलना में किसी भी तरह से कम महत्त्व का नहीं। यह उन्हीं की प्रेरणा का प्रतिफल था कि भारत में एक ऐसा नया बुद्धिजीवी-वर्ग पैदा हुआ जिसने मानववाद के समर्थन द्वारा साम्यवादी कुचेष्टाओं को दूर करने का बीड़ा उठाया। साम्यवाद की बीभत्सता का चित्रण कर रॉय ने मानव स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत जीवन की श्रेष्ठता को समष्टिवाद से बचाने का अनुकरणीय कार्य किया है। किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की विचारधारा कभी-कभी यह आभास देती है कि उनका लोकतन्त्र एक ही मान्यता वाला लोकतन्त्र है। उसमें अन्य विचारधारा या मत का कोई स्थान नहीं है। लोकतन्त्रात्मक दृष्टि से एक रसता या एक रूपता अथवा एक दलीयता उचित नहीं है। रॉय ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट विचार प्रस्तुत नहीं किये। इससे यह पता लगाना कि स्वतन्त्रता तथा साम्यवादी पद्धति की सीमा रेखा कहाँ है, कठिन है।

रॉय ने मानववाद के माध्यम से एक नवीन सामाजिक दर्शन प्रस्तुत किया है। कुछ आलोचकों का यह कहना है कि उनके विचार नवीन नहीं है। सत्य यह है कि उनके मानववाद में यदि नवीनता है तथा मौलिकता भी है तो दूसरी ओर इस में पुरानी मान्यताओं पर चढ़ाया गया नया मुलम्मा भी विद्यमान है। एक दृष्टि से रॉय का यह दर्शन नवीन है क्योंकि उन्होंने पुरानी मान्यताओं तथा मार्क्सवाद को चुनौती देकर मानववाद की स्थापना की। दूसरी दृष्टि से रॉय का मानववाद कोई नवीन प्रयोग नहीं, क्योंकि वह उदारवाद का उन्नत एवं नव संशोधित स्वरूप मात्र है। उन्होंने उदारवाद को व्यक्तिवाद के संकीर्ण दायरे से निकालकर आधुनिक समाजवादी समाज के अनुरूप बना दिया है। यह विचार अधिक तर्क सगत भी दिखाई देता है। मार्क्स के कट्टर आलोचक बनने के बाद भी मानवेन्द्र नाथ रॉय मार्क्स के विचारों की महत्ता के कायल रहे। इस लिए उन्होंने उदारवाद को समाजवादी जामा पहनाया तथा सबके लिए ग्राह्य बनाया।

परन्तु रॉय के नव मानववाद का सही योगदान उनके विचारों की नवीनता में न होकर प्राचीनता में ही है। रॉय ने कतिपय प्राचीन तथा सार्वभौम विचारों को अपने दर्शन का आधार बना कर उन्हें पुनर्जीवित किया है। उनका यह कार्य इन प्राचीन सिद्धान्तों में नवीनता का संचार करता है, जिनकी मान्यताएं व्यक्ति को सर्वाधिक प्रतिष्ठा दिलाने की पक्षपाती है तथा व्यक्ति को साधन न बनाकर साध्य बनाती है। इसी तरह रॉय की धर्म-विहीन नैतिकता का विचार भी आधुनिक समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है।

इसके द्वारा समाज में फैली हिंसा, धार्मिक अन्धविश्वास तथा धर्माचार्यों की साम्प्रदायिकता से मुक्ति मिल सकती है। इसी तरह रॉय द्वारा चिन्तन की स्वतन्त्रता का सन्देश भी महत्वपूर्ण है। रॉय बाह्य तथा आन्तरिक दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता चाहते हैं ताकि व्यक्ति विवेकी तथा सर्वपूर्ण हो और वह अन्धानुकरण एवं विचारों की निर्धनता का शिकार न बने। इसी प्रकार रॉय द्वारा प्रतिपादित संगठित लोकतन्त्र का विचार प्राचीन लोकतान्त्रिक मान्यताओं का नया रूप है। उनका संगठित लोकतन्त्र सबसे नीचे की इकाई से आरम्भ होता है तथा विकेन्द्रीयकरण के प्रगाढ़ आधार पर हर व्यक्ति तक लोकतन्त्र का सन्देश पहुंचाता है। रॉय ने अपने इन विचारों में एक ऐसे व्यक्ति के निर्माण का मार्ग प्रस्तुत किया है जो निर्भीकता से राज्य के एकाधिकार को चुनौती दे सके। केवल मात्र संवैधानिक लोकतन्त्र की व्यवस्था तथा संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकारों के उल्लेख से ही मानव की स्वतन्त्रता एवं उसके आत्म-गौरव की रक्षा नहीं हो सकती। रॉय के विचारों में प्राप्त व्यक्ति के नैतिक उत्तरदायित्व की प्रधानता से आज की बढ़ती हुई नौकरशाही, राजनीतिक भ्रष्टता तथा राज्य की बढ़ती हुई सर्वाधिकारवादी प्रवृत्ति का प्रतिकार किया जा सकता है।

मानवेन्द्र नाथ रॉय का दर्शन उस आत्मप्रेरणा तथा आत्म-विश्वास का मार्ग है जहां भाग्यवादिता का कोई स्थान नहीं। रॉय ने मानव को स्वयं के अन्तराल में झांकने के लिए बाध्य किया है। उनका ईश्वर के प्रति विद्रोह इसका प्रतीक है कि व्यक्ति ही सब वस्तुओं का नियामक है तथा वह अपने लिए अपना मार्ग स्वयं निर्मित कर सकता है। उनकी नास्तिकता मानवीय अस्तित्व की सार्थकता का संकेत है। धर्म, राज्य तथा समाज तीनों के अवांछित बन्धनों से व्यक्ति को मुक्ति दिलाना ही मानवेन्द्र नाथ रॉय का अन्तिम लक्ष्य है। □□

टिप्पणियाँ

1. मानवेन्द्र नाथ रॉय, रीज़न, रोमैन्टीसिज़्म एण्ड रिवोल्यूशन, खंड I, पृ. 114
2. मानवेन्द्र नाथ रॉय, मेटीरियलिज़्म, पृ. 1-5
3. वही, पृ. 56 57
4. मानवेन्द्र नाथ रॉय, पोलिटिक्स पावर एण्ड पार्टीज़, पृ. 30
5. देखिये वी. एस. शर्मा, 'दी पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ एम. एन. रॉय, पृ. 73-76
6. मानवेन्द्र नाथ रॉय, न्यू ओरियेन्टेशन, पृ. 2
7. पोलिटिक्स, पावर एण्ड पार्टीज़, पृ. 22-3
8. मानवेन्द्र नाथ रॉय, रेडिकल ह्यूमेनिज़्म, पृ. 1-14
9. वही, पृ. 14-18
10. पोलिटिक्स, पावर एण्ड पार्टीज़, पृ. 141
11. मानवेन्द्र नाथ रॉय, न्यू ह्यूमेनिज़्म, पृ. 34-37
12. वही, पृ. 38
13. रेडिकल ह्यूमेनिज़्म, पृ. 21
14. रीज़न, रोमैन्टीसिज़्म एण्ड रिवोल्यूशन, खंड II पृ. 298

15. रेडिकल ह्यूमेनिज्म, पृ. 30
16. वही, पृ. 27
17. न्यू ह्यूमेनिज्म, पृ. 46
18. कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ फ्री इंडिया—ए ड्राफ्ट (1945)
19. रेडिकल ह्यूमेनिज्म, पृ. 37
20. न्यू ह्यूमेनिज्म, पृ. 56
21. रेडिकल ह्यूमेनिज्म, पृ. 54
22. वही, पृ. 47-50
23. न्यू ह्यूमेनिज्म, पृ. 23
24. रीज़न, रोमैन्टीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खण्ड II, पृ. 209
25. वही, खण्ड I, पृ. 283
26. न्यू ह्यूमेनिज्म, पृ. 17
27. रीज़न, रोमैन्टीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खण्ड II, पृ. 275

□□

अध्याय 25

जयप्रकाश नारायण (1902-1979)

बिहार के सारन जिले में सिताबदियारा नामक ग्राम में 1902 में एक कायस्थ परिवार में जयप्रकाश नारायण का जन्म हुआ। उनके पिता राजकीय सेवा में थे। ग्रामीण वातावरण में पले जयप्रकाश ने 17 वर्ष की आयु तक ट्राम तक नहीं देखी थी।[1] स्कूल की शिक्षा पूरी करने के बाद जयप्रकाश ने पटना में विज्ञान महाविद्यालय में प्रवेश लिया किन्तु महात्मा गांधी के सत्याग्रह आंदोलन का प्रभाव उन पर इतना पड़ा कि उन्होंने अध्ययन का बहिष्कार कर सत्याग्रह आंदोलन में भाग लिया। उनके पिता जयप्रकाश के इस निर्णय से अप्रसन्न हुए क्योंकि वे चाहते थे कि जयप्रकाश सरकारी सेवा में उच्च पद प्राप्त करके परिवार की समृद्धि में वृद्धि करेंगे। जयप्रकाश ने इन आग्रहों को स्वीकार नहीं किया और वे अपने इरादे के पक्के रहे। इसी दौरान 1922 में जयप्रकाश का विवाह एक प्रतिष्ठित कांग्रेसी कार्यकर्त्ता, जो कि गांधीजी के चम्पारन सत्याग्रह में उनके सहायक रहे थे, की पुत्री प्रभादेवी के साथ हुआ।

"1957 में दलगत राजनीति से संन्यास लेने के लिए प्रजा समाजवादी पार्टी से त्यागपत्र देते हुए जयप्रकाश ने लिखा था, 'मेरे पिछले जीवन का रास्ता बाहर के लोगों को टेढ़ा-मेढ़ा और पेचीदा लग सकता है। और वे उसे अनिश्चितता से भरा हुआ एवम् अन्धेरे में टटोलना कह सकते हैं। लेकिन जब मैं अतीत पर दृष्टि डालता हूँ, तो मुझे उसमें विकास की एक अटूट रेखा दिखाई पड़ती है। उसमें राह खोजने का प्रयत्न था, इससे इनकार नहीं किया जा सकता, लेकिन वह अंधकारमय हरगिज नहीं था, मेरे सामने ऐसे कई प्रकाशमान आकाशदीप थे, जो प्रारम्भ से ही अधूमिल एवं अपरिवर्तित रहे और मेरे पेचीदा दिखाई पड़ने वाले रास्ते पर मेरा पथ-प्रदर्शन करते रहे।' ये आकाशदीप थे—स्वतन्त्रता एवं समता। जयप्रकाश के चिंतन में समय-समय पर कई परिवर्तन हुए हैं, किन्तु बराबर उनका ध्येय एक ही रहा है—एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की खोज, जो इन दोनों मूल्यों पर आधारित हो। इसी खोज में वे कभी मार्क्सवाद की ओर मुड़े, तो कभी गांधीवाद की ओर। और अंत में, इसी खोज में उन्होंने मार्क्सवाद, एवं लोकतन्त्र के सिद्धान्तों का समन्वय कर एक ऐसी विचारधारा का सृजन किया, जो भारत में समाजवादी व्यवस्था को सबल आधार प्रदान करने की क्षमता रखती है।"[2]

जयप्रकाश ने अपने अध्ययन को जारी रखने की दृष्टि से अमेरिका जाने का निश्चय किया। अमेरिका जाने का उद्देश्य एक ओर अध्ययन को बनाये रखना था तथा दूसरी ओर वे अमेरिका के स्वतन्त्र वातावरण में से भारत की स्वतन्त्रता के लिए नयी

शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। 1922 में जयप्रकाश सेनफ्रांसिस्को पहुंचे। वे बर्कले में केलिफोर्निया विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए तथा परीक्षा के पश्चात् अवकाश के समय अपनी आजीविका तथा फीस उपलब्ध कराने के लिए मेरिसवील नामक स्थान पर शेर खां नामक एक भारतीय के सम्पर्क में आये। उन्होंने जयप्रकाश को रोजगार उपलब्ध कराया। अमेरिका में अध्ययन करने के लिए जयप्रकाश को अनेक कार्य करने पड़े। वे कभी खान में काम करते तो कभी फैक्ट्री में और कभी कसाई खाने में। उन्होंने जूतों पर पालिश की तथा होटलों के शौचालय भी साफ किए। वे अपना खाना स्वयं बनाते और इस प्रकार अध्ययन के लिए धन एकत्रित करते। अमेरिका में ही जयप्रकाश मार्क्सवाद के प्रभाव में आये। जे लवस्टोन के मार्क्सवादी विचारों का उन्होंने समर्थन किया और उस समय से ही मार्क्सवाद में उनकी रुचि निरन्तर बनी रही। केवल एक ही कमी उनमें थी जिससे वे कट्टर मार्क्सवादी न बन पाये और वह थी उनकी देशभक्ति तथा भारतीय राष्ट्रवाद के प्रति आसक्ति[3]। विस्कोंसीन विश्वविद्यालय में जयप्रकाश नारायण ने विज्ञान का अध्ययन छोड़ कर समाज शास्त्र में प्रवेश लिया। समाज शास्त्र में उनकी रुचि सामाजिक परिवर्तन तथा समाज के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से जाग्रत हुई थी। वे मार्क्स के समाजशास्त्रीय विचारों का भी अध्ययन करना चाहते थे क्योंकि वे मार्क्स को विश्व के महानतम मनीषियों तथा समाज शास्त्रीय पथप्रदर्शक के रूप में मानते थे। ओहायो विश्वविद्यालय से जयप्रकाश ने एम. ए. परीक्षा उत्तीर्ण की। "मार्क्स और लेनिन की जो भी रचनाएं उनके हाथ लगती वे तुरन्त पढ़ डालते। साथ ही साथ मानवेन्द्रनाथ राय की भी भारत-सम्बन्धी रचनाओं का अध्ययन चलता। अपने अध्ययन का खर्च जुटाने के लिए मजदूरी करते हुए जयप्रकाश मार्क्सवाद के उत्साही अनुयायी बन गये। स्वतंत्रता के ध्येय के प्रति अभी भी उनका पहले जैसा ही लगाव रहा, लेकिन यह विश्वास हो गया कि मार्क्स तथा लेनिन द्वारा बताये गये रास्ते से उसे पाना कहीं अधिक सहज था। इसके अतिरिक्त उनका यह भी विश्वास हो गया कि सिर्फ देश की राजनीतिक स्वतंत्रता ही काफी नहीं है। यह स्वतंत्रता समाज के सभी वर्गों के लिए होनी चाहिए। और इसमें शोषण और गरीबी से भी स्वतंत्रता की व्यवस्था रहनी चाहिए। तब जयप्रकाश को यह नहीं पता था कि इस तरह की स्वतंत्रता के संबंध में गांधीजी के भी अपने विचार थे।"[4]

"जब 1929 में सात साल के बाद जयप्रकाश भारत वापस आये तब उनके सामने यह समस्या खड़ी हुई कि मार्क्सवाद को भारतीय राजनीतिक स्थिति में किस प्रकार जोड़ा जाये। यहां 1925 में ही भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का जन्म हो चुका था। बहुत छोटी होते हुए भी भारतीय मार्क्सवादियों की यही सबसे बड़ी जमात थी। अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन (कोमिंटर्न) के निर्देश के अनुसार भारतीय कम्युनिस्ट उस समय गांधी और पूरे कांग्रेस को अंग्रेजों का पिट्ठू घोषित कर रहे थे। मार्क्सवाद को भारतीय स्थिति से इस प्रकार जोड़ना जयप्रकाश को बिलकुल गलत मालूम पड़ा। उनकी दृष्टि में, जब तक देश स्वतंत्र नहीं होता तब तक राजनीतिक स्वतंत्रता ही सार्वजनिक जीवन का मुख्य उद्देश्य रह सकती थी। और स्वतंत्रता का संघर्ष आगे बढ़ाने के लिए कांग्रेस और गांधी के नेतृत्व दोनों की ही आवश्यकता थी। फिर भारत के मार्क्सवादी किसी बाहरी संगठन के निर्देश में चलें यह भी जयप्रकाश को गवारा नहीं था।"[5]

कुछ समय तक वे प्रसिद्ध उद्योगपति घनश्यामदास बिड़ला के निजी सचिव रहे। इसके पश्चात् वे भारतीय राजनीति में सक्रिय हुए और कांग्रेस के उस ऐतिहासिक लाहौर अधिवेशन में सम्मिलित हुए जहाँ जवाहरलाल नेहरू ने भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग प्रस्तुत की थी। वे नेहरू से अत्यन्त प्रभावित हुए और नेहरू उनसे। नेहरू ने उन्हें कांग्रेस के श्रम अनुसंधान ब्यूरो की देख रेख करने के लिए आमंत्रित किया। जयप्रकाश ने 1930 में अखिल भारतीय कांग्रेस के इलाहाबाद मुख्यालय में दल की श्रम संबंधी गतिविधियों का संचालन किया।

गांधीजी द्वारा 1930 में चलाये गये नमक सत्याग्रह ने कांग्रेस दल को उद्वेलित किया। हजारों की संख्या में कांग्रेसजन गिरफ्तार कर लिये गये। कांग्रेस के कार्यकारी महासचिव के रूप में जयप्रकाश पर कांग्रेस आंदोलन चलाने की जिम्मेदारी आई। 1932 में उन्हें भी मद्रास में गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें नासिक जेल में रखा गया और एक वर्ष का कठोर कारावास मिला। नासिक जेल में वे अच्युत पटवर्धन, अशोक मेहता, मीनू मसानी तथा अन्य युवा कांग्रेस नेताओं के सम्पर्क में आये। जयप्रकाश नारायण कांग्रेस के सविनय अवज्ञा आंदोलनों से अधिक प्रभावित नहीं हुए। उनकी दृष्टि में कांग्रेस दल राष्ट्रीय संघर्ष के लिए कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं रखता था तथा उच्च मध्यम वर्ग के कांग्रेस नेता भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष एवं बलिदान से हिचकते थे। उनके अनुसार उच्चकुलीन कांग्रेस बुद्धिजीवी ब्रिटिश सरकार से विधायी सुविधायें प्राप्त करने में ही सन्तुष्ट थे। जयप्रकाश ने कांग्रेस में रहकर नये आर्थिक कार्यक्रम लागू करने का प्रयास किया तथा कांग्रेस के भीतर वर्ग चेतना में परिवर्तन लाने का भी प्रयास किया। उनकी योजना कांग्रेस की विचार धारा में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की थी। वास्तव में कांग्रेस किसी सामाजिक वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। कांग्रेस में समृद्ध जमींदारों तथा कुलीन उच्च मध्यमवर्गीय शिक्षित व्यक्तियों का बोलबाला था। उनका उद्देश्य उच्च सरकारी सेवायें प्राप्त करने की सुविधायें, व्यवस्थापिका सभाओं में अधिक स्थान प्राप्त करने, स्थायी बन्दोबस्त तथा नागरिक अधिकार प्राप्त करने तक ही सीमित था। स्वतंत्रता प्राप्त करना उनकी वर्ग चेतना के अनुरूप नहीं था क्योंकि कांग्रेस मध्यमवर्गीय भारतीयों का ऐसा संगठन था जिसे सम्पूर्ण जनता का समर्थन प्राप्त नहीं था।

"स्वतन्त्रता के ध्येय की पूर्ति के लिए तो जयप्रकाश कांग्रेस में गये, लेकिन समता के ध्येय के लिए भी तो कुछ करना था। ताकि दोनों ध्येयों के लिए साथ-साथ काम किया जा सके। यही सोचकर उन्होंने कई अन्य साथियों के सहयोग से 1934 में कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना की। उस समय उनकी विचारधारा पूरी तरह मार्क्सवाद पर आधारित थी। 1936 में कांग्रेस समाजवादी पार्टी द्वारा प्रकाशित अपनी पुस्तक समाजवाद ही क्यों? में जयप्रकाश ने लिखा 'और पहले से कहीं अधिक स्पष्ट तौर पर आज यह कहना संभव है कि समाजवाद का एक ही रूप, एक ही सिद्धान्त है- मार्क्सवाद।'" इसी पुस्तक में कांग्रेस समाजवादी पार्टी के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए जयप्रकाश ने समाजवादी कार्यक्रम की व्याख्या की है। इस कार्यक्रम के मुख्य मुद्दे इस प्रकार थे समाज के उत्पादक वर्गों के हाथ में सत्ता का हस्तान्तरण, राज्य द्वारा देश के आर्थिक जीवन की परियोजना एवं उस पर नियंत्रण उत्पादन, वितरण एवं विनिमय के सभी साधनों का

श्रमिन राष्ट्रीयकरण, विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिकार, राष्ट्रीयकरण के बाहरवाले आर्थिक जीवन को चलाने के लिए सहकारिता समितियों का सगठन, जागीरो, जमींदारो तथा अन्य सभी शोषक वर्गों का बिना किसी मुआवजे के उन्मूलन, किसानों के बीच जमीन का पुनर्वितरण, सहयोगी एवं सामूहिक खेती को प्रोत्साहन आदि। इस कार्यक्रम पर मार्क्सवादी चिंतन एवम् उस समय रूस में चल रहे कार्यक्रम की छाप साफ तौर पर दिखाई पड़ती है। लेकिन इतिहास साक्षी है कि कभी कोई क्रान्ति-शोधक लकीर का फकीर नही रहा। और जयप्रकाश पर भी यही बात लागू है। जिस प्रकार मार्क्सवादी होते हुए भी वे *भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी मे नही शामिल हुए और कांग्रेस मे काम करते* रहे। उसी प्रकार सिर्फ रूस की नकल के आधार पर उन्होंने भारत मे समाजवाद लाने की योजना नही बनायी। इस तरह हम देखते है कि जयप्रकाश सहयोगी एवम् सामूहिक खेती की बात तो करते है, लेकिन इसके लिए एक गाव को ही इकाई बनाना चाहते हैं, रूस की तरह अनेक गावो के समूह को नही। वे यह भी चेतावनी देते हैं कि इसमे कोई जोरजबर्दस्ती नही होनी चाहिए, बल्कि किसानों को प्रचार एवम् प्रोत्साहन द्वारा इसके लिए तैयार करना चाहिए। जयप्रकाश यह भी लिखते है कि भारत म रूस की तरह खेती के क्षेत्र मे बड़ी-बड़ी मशीनो की उतनी आवश्यकता नही होगी जितनी अन्य चीजो की, क्योंकि यहा आबादी की कोई कमी नही है और उस हिसाब से जमीन भी बहुत अधिक नही है। जयप्रकाश उस समय भी बडे शहरों के अनियन्त्रित बढाव से चिंतित थे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि उद्योगो का कुछ खास-खास जगहो पर जमा होना रोका जाये और इसके बदले गावो को भी औद्योगिक उत्पादन का केन्द्र बनाया जाये ताकि खेती और उद्योग बहुत अशो मे साथ-साथ चलें। यहा हमें सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण के क्षेत्र मे जयप्रकाश की विचारधारा में विविधता के बीच एक विचित्र एक रूपता दिखाई पड़ती है, जो आज चालीस वर्षो के बाद भी बनी हुई है।"[7]

जयप्रकाश ने भारत के जन-जन की स्वतन्त्रता के लिए विचार प्रस्तुत किए। उनका यह विश्वास था कि जनता की आवश्यक मांगो की पूर्ति के बिना भारत मे स्वतन्त्रता सही अर्थों मे स्थापित नही हो सकती। वे गरीबी तथा शोषण को समाप्त करने तथा समाजवादी समाज की स्थापना करने के लिए लालायित थे। आचार्य नरेन्द्र देव भी कांग्रेस को समाजवाद की ओर बढाने के लिए कृत सकल्प थे। 1937 मे किसान सभा तथा कांग्रेस के मध्य उत्पन्न हुए विवाद के कारण कृषक आन्दोलन को कांग्रेस नेताओ ने कांग्रेस की सप्रभुता के लिए चुनौती समझा। परिणाम यह हुआ कि किसान सभा के अध्यक्ष स्वामी सहजानद सरस्वती ने बिहार प्रदेश कांग्रेस से अपने सबध तोड लिये। जयप्रकाश ने भी कांग्रेसी नेताओ को आड़े हाथो लिया। उन्होंने डा० राजेन्द्र प्रसाद का विरोध किया तथा बिहार मे कांग्रेस की रीति-नीति की आलोचना की। कांग्रेस सगठन मे यद्यपि जवाहरलाल नेहरू के विचार समाजवाद के पक्ष मे थे किन्तु कांग्रेस के अधिकतर नेता उदार-बुर्जुआ थे। ऐसे समाजवाद विरोधी वातावरण मे प्रगतिशील तत्वो के लिए दल मे रहना असहनीय था। सन् 1934 मे पटना मे एक पृथक कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना की गई जिसम जयप्रकाश सगठन सचिव तथा इसके प्रथम बम्बई अधिवेशन के महासचिव चुने गये। इस दल का उद्देश्य एक ओर सविधानवादी नेताओ का विरोध करना था तो दूसरी ओर

भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष को तीव्र गति से आगे बढ़ाना था। समाजवादी नेताओं ने एक समाजवादी बुक क्लब बनाया और सुभाषचन्द्र बोस तथा जवाहरलाल नेहरू को इसका संस्थापक सदस्य बनाना चाहा। सुभाषचन्द्र बोस इसके लिए राजी हो गये लेकिन नेहरू ने इस कार्य के लिए स्वीकृति नहीं दी। जयप्रकाश को नेहरू की असहमति पसंद नहीं आई।

"कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना के कुछ समय बाद कम्युनिस्टों के साथ मिल कर काम करने का जो अनुभव हुआ, उससे जयप्रकाश को इतना गहरा धक्का लगा कि उनके मन में कम्युनिस्टों की विचारधारा और रूस के अंधानुकरण की प्रवृत्ति के प्रति तरह-तरह की शंकाएं उठने लगी। इसी समय रूस से स्तालिन के अत्याचार की खबरें आने लगी। इसका भी जयप्रकाश के चिंतन पर प्रभाव पड़ा। वे मार्क्सवादी तो बने रहे, लेकिन उनके मन में यह धारणा घर करने लगी कि समता की खोज में रूस का अंधानुकरण करने से व्यक्तिगत स्वतंत्रता को खतरा पहुंचने का डर रहेगा। इसके चलते, शुरू में अनजाने ही, उनके मन में लोकतन्त्रात्मक शासन पद्धति एवम् गांधी की विचारधारा के लिए आकर्षण उठने लगा। प्रभावती के साहचर्य से भी इसमें सहायता मिली। कुछ समय बाद वे अपनी तथा अपनी पार्टी की विचारधारा को भी मार्क्सवाद के बजाय लोकतांत्रिक समाजवाद के नाम से पुकारने लगे। इस तरह के चिंतन की पहली झांकी हमें जयप्रकाश के उस प्रस्ताव के प्रारूप में मिलती है, जो उन्होंने 1940 में रामगढ़ कांग्रेस में पेश करने के लिए तैयार किया था। इस प्रस्ताव द्वारा उन्होंने स्वतंत्र भारत की सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप का निरूपण करने का प्रयास किया था। इसे हम एक लोकतांत्रिक समाजवादी समाज की संक्षिप्त रूपरेखा मान सकते हैं। इसमें यह स्पष्ट किया गया कि देश का शासन जनता की इच्छा के अनुसार होगा और सभी नागरिकों को बोलने और लिखने की पूरी स्वतंत्रता होगी। जहां एक तरफ इस बात की व्यवस्था की गयी थी कि उत्पादन के सभी प्रमुख साधनों पर समाज का स्वामित्व स्थापित किया जायेगा। और सभी को विकास के लिए समान सुविधा प्रदान की जायेगी। वहां दूसरी तरफ यह भी साफ तौर पर कहा गया था कि राज्य का कर्त्तव्य सिर्फ नागरिकों की भौतिक आवश्यकताओं को देखना ही नहीं होगा, बल्कि उनके नैतिक एवं बौद्धिक विकास के लिए भी समुचित व्यवस्था करनी होगी। इसके लिए इस बात का विशेष उल्लेख किया गया था कि राज्य की तरफ से लघु उद्योग को प्रोत्साहन दिया जायेगा।"[8]

"1946 में जेल से छूटने के कुछ समय बाद अंग्रेजी साप्ताहिक जनता में जयप्रकाश ने "समाजवाद का मेरा चित्र" शीर्षक से जो लेख प्रकाशित किया उसमें हमें उनके चिंतन का नया रूप स्पष्ट तौर पर दिखाई पड़ता है। इस लेख में जयप्रकाश अपने को मार्क्सवादी घोषित करते हैं, लेकिन साथ ही इस पर जोर देते हैं कि मार्क्सवाद समाज को समझने का एक विज्ञान है, और उसमें किसी तरह के रूढ़िवाद के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। वे यह भी कहते हैं कि भारतीय समाजवादी आन्दोलन किसी दूसरे देश की नकल के आधार पर नहीं चलाया जा सकता। इस भूमिका के बाद समाजवादी भारत का चित्र खींचते हुए वे खेती के क्षेत्र में सामूहिक खेती की जगह ग्राम पंचायतों की देख-रेख में सहकारी खेती की बात करते हैं। उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में जहां एक तरफ वे बड़े-बड़े उद्योगों पर राज्य के स्वामित्व की बात करते हैं, वहां दूसरी तरफ यह सुझाव देते हैं कि मध्यम दर्जे के

उद्योगों का समाज के स्वामित्व में और लघु-उद्योगों का उत्पादकों की सहकारी समितियों के स्वामित्व में चलना ठीक होगा। समाजवाद के राजनीतिक पक्ष का निरूपण करते हुए जयप्रकाश ने उसके लोकतांत्रिक आधार पर और भी जोर दिया। उनके अनुसार मार्क्सवाद में "मजदूरों की अधिनायकशाही" की व्यवस्था कुछ ही समय के लिए की गयी है, और हर जगह इसे अनिवार्य नहीं माना गया है। फिर इसका अर्थ किसी खास पार्टी की अधिनायकशाही, जैसा कि रूस में हुआ, कतई नहीं है। सच्चा समाजवादी समाज लोकतंत्र के आधार पर ही कायम किया जा सकता है। और लोकतंत्र में सभी को अपना विचार व्यक्त करने और उसके प्रचार के लिए समुचित संगठन बनाने की पूरी छूट होनी चाहिए। जयप्रकाश के शब्दों में, "इस लोकतंत्र में मनुष्य न पूंजीपति का गुलाम होगा, न किसी पार्टी का, न राज्य का, मनुष्य स्वतंत्र होगा।"[9]

"इस लेख के प्रकाशित होने के कुछ ही समय बाद 1947 में, जयप्रकाश ने 'जनता' में एक दूसरा लेख प्रकाशित किया, जिसका शीर्षक था 'समाजवाद तक पहुंचने का रास्ता।' यहां उन्होंने इस मत का खंडन किया कि मार्क्सवाद के अनुसार सशस्त्र क्रान्ति द्वारा ही समाजवाद लाया जा सकता है। 1872 में "कम्युनिस्ट इंटरनेशनल" के द हेग सम्मेलन में मार्क्स के भाषण का हवाला देते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया कि सशस्त्र क्रान्ति हर जगह अनिवार्य नहीं है, जहां लोकतांत्रिक ढंग से काम करने का रास्ता खुला हुआ है वहां उस रास्ते से भी समाजवाद लाया जा सकता है। उनका यह विचार था कि भारत में समाजवाद के लिए लोकतांत्रिक ढंग से काम करना संभव होगा और इसी रास्ते को अपनाना श्रेयस्कर भी होगा। उस समय तक सिर्फ रूस में ही सशस्त्र क्रान्ति द्वारा समाजवाद लाने का प्रयत्न किया गया था और वहां एक सच्चे समाजवादी शासन के बजाय एक खास पार्टी की अधिनायकशाही कायम हो गयी थी। जयप्रकाश ने लिखा 'मैं इतिहास से सबक लेना चाहता हूं।' रूढ़िवाद के दायरे से बाहर रहकर और इतिहास से सबक लेकर सोचने की इस प्रवृत्ति के चलते अगर एक तरफ जयप्रकाश समाजवाद के साथ लोकतंत्र को अविच्छिन्न रूप से जोड़ने लगे, तो दूसरी तरफ गांधीवाद के प्रति उनका आकर्षण दिनोंदिन बढ़ने लगा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में सत्ता के लिए राजनीतिज्ञों की आपाधापी देखकर वे अक्सर सोचा करते : क्या राजनीतिक जीवन में रहने का अर्थ सिर्फ सत्ता के लिए घुड़दौड़ में लगा रहना है? क्या सत्ता की राजनीति की जगह जनता की सेवा की राजनीति नहीं चलायी जा सकती? क्या नैतिक मूल्यों को बिल्कुल भुला कर स्वस्थ राजनीतिक जीवन चलाया जा सकता है? नैतिकता-विहीन राजनीति का परिणाम क्या होगा? क्या इस तरह की राजनीति के आधार पर लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढने के लिए जयप्रकाश अब गांधी की रचनाओं का अध्ययन एवं उनके जीवन दर्शन पर मनन-चिंतन करने लगे। विशेषकर गांधी की हत्या के बाद जयप्रकाश के मन में उनका आकर्षण पहले से बहुत अधिक बढ़ गया। अब उनका यह विश्वास हो गया कि समाजवादी आन्दोलन को गांधी से बहुत-कुछ सीखना होगा।"[10]

"इस चिंतन का प्रभाव हम जयप्रकाश की उस रिपोर्ट में देख सकते हैं, जो उन्होंने 1948 में समाजवादी पार्टी के महामंत्री के रूप में उसके नासिक सम्मेलन में

रखी थी। यहीं पर उस पार्टी ने कांग्रेस से अलग होकर एक विरोधी पार्टी के रूप मे काम करने का निर्णय लिया, लेकिन जयप्रकाश की रिपोर्ट मे सत्ता के लिए संघर्ष का उतना आह्वान नही था जितना गीता की शिक्षा के अनुसार, निष्काम रूप से जनता की सेवा मे समर्पित होने का, इससे भी आगे बढ़कर, अपने अनेक साथियों को आश्चर्यचकित करते हुए, जयप्रकाश ने इस बात पर विशेष जोर दिया कि राजनीतिक जीवन नैतिक मूल्यो से अनुप्राणित होना चाहिए तभी जाकर उसे सिर्फ सत्ता के लिए घुड़दौड़ मे परिणत होने से बचाया जा सकता है। दो साल बाद 1950 मे समाजवादी पार्टी के मद्रास सम्मेलन मे फिर महामंत्री के रूप मे अपनी रिपोर्ट मे जयप्रकाश ने कहा "समाजवादी आन्दोलन के जिन उद्देश्यो पर हमे जोर देना है, वे सिर्फ पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने और एक पार्टी की अधिनायकशाही कायम करने तक सीमित नही है, बल्कि हमे स्वतंत्र एवम् समान व्यक्तियो के एक समाज का निर्माण करना है, एक ऐसा समाज जो मानवीय एवम् सामाजिक जीवन के कुछ मूल्यो पर आधारित हो।"[11]

"यह स्पष्ट है कि इन विचारो का स्रोत गांधीवाद मे था। 1951 मे प्रकाशित जयप्रकाश के 'समाजवाद एवम् सर्वोदय' शीर्षक लेख से यह बात बिलकुल साफ हो जाती है। समाजवादियो से सर्वोदयी नेताओ द्वारा रचित आर्थिक विकास की योजना का अध्ययन करने की अपील करते हुए यहाँ जयप्रकाश ने स्पष्ट शब्दो म लिखा कि समाज-वादियो की पुरानी धारणा के विपरीत, गांधी प्रतिक्रियावादी नही, बल्कि एक महान क्रान्तिकारी थे और उनकी विचार-धारा से मानव सभ्यता के विकास मे बहुत सहायता मिलेगी। समाजवादी आन्दोलन को विशेषकर तीन बातो को गांधी की विचारधारा मे अपनाना होगा—नैतिक मूल्यो पर जोर, सत्याग्रह का तरीका और राजनीतिक एवम् आर्थिक विकेंद्रीयकरण का सिद्धान्त। अगर समाजवादी गांधीवाद के प्रति उदासीन रहेंगे तो इससे उन्ही का नुकसान होगा। स्पष्ट है कि 1951 तक आते-आते जयप्रकाश मार्क्सवाद के चुस्त दायरे से काफी दूर पहुंच चुके थे, लेकिन अभी तक वे अपने को मार्क्सवादी कहते आ रहे थे। जब 1952 के आम चुनाव के बाद उन्होने पूना मे 21 दिनो का उपवास किया तब बिछावन पर पड़े-पड़े वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जिस तरह के समाजवादी समाज की कल्पना वे कर रहे थे, उसका आधार मार्क्सवाद नही बन सकता था। मार्क्सवाद का आधार भौतिकवाद मे था। और जयप्रकाश का अब यह दृढ़ विश्वास हो गया कि निरे भौतिकवाद से मनुष्य को अच्छाई के लिए प्रेरणा नही मिल सकती है। इसलिए अगर मनुष्य को नैतिकता के आधार पर चलना है, तो उसे भौतिक-वाद से परे जाना होगा। मार्क्सवाद से विदा लेने का अर्थ यह नही हुआ कि जयप्रकाश ने मार्क्स के सभी विचारो, विशेषकर समाज का आर्थिक विश्लेषण तथा समाजवाद के उद्देश्य का परित्याग कर दिया। समाजवाद मे उनकी निष्ठा अभी भी रही, स्वतंत्रता एवम् समता के जिन दो ध्येयो के पीछे उनका जीवन चल रहा था उन्हे वे अभी भी समाजवाद मे ही समाहित पाते थे। किन्तु जहाँ पहले वे समाजवाद तक पहुंचने के लिए मार्क्स द्वारा बताये गये रास्ते को कारगर मानते थे, वहाँ अब वे गांधी के रास्ते को ज्यादा सही मानने लगे। 1951 से विनोबा के नेतृत्व मे चलते हुए भूदान-ग्रामदान आन्दोलन ने जयप्रकाश के नये चिंतन को एक ठोस आधार प्रदान किया।"[12]

"क्रान्ति सोचिए जयप्रकाश का चिंतन अब एक नये मोड़ पर आ खड़ा हुआ। वे सोचने लगे कि स्वतन्त्रता और समता के आधार पर जिस नयी सामाजिक व्यवस्था का स्वप्न वे इतने दिनों से देख रहे थे वह, शायद राजनीतिक संघर्ष के बजाय विनोबा के रास्ते से कहीं अधिक सुगमता से स्थापित हो जावे। इसके साथ-साथ उनको यह भी भान हुआ कि विनोबा अथवा सर्वोदय के रास्ते से बना हुआ समाज वास्तव में समाजवाद के उद्देश्यों का अधिक सुगमता से अपना सकेगा, क्योंकि उसकी नींव सहयोग और राज्य शक्ति पर होगी। इस विचारधारा का आकर्षण जयप्रकाश के लिए इतना बढ़ गया कि उन्होंने 1954 में बोध गया सर्वोदय सम्मेलन के अवसर पर भूदान-ग्रामदान आन्दोलन के लिए अपने जीवन-दान की घोषणा कर दी। अब वे सत्ता की राजनीति से अपने को अलग रखने लगे और 1957 में प्रजा समाजवादी पार्टी की सदस्यता से त्यागपत्र देकर पूरी तरह उससे मुक्त हो गये। दलगत राजनीति से सन्यास लेकर जयप्रकाश अब एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की खोज में लगे, जिसके द्वारा एक सहयोगी, समतावादी समाज की स्थापना की जा सके। उनके अनुसार ऐसी व्यवस्था दलगत राजनीति के आधार पर नहीं खड़ी की जा सकती थी। दलगत राजनीति में साधारण जनता के नाम पर ही सब-कुछ होता है, लेकिन वोट देने के समय के अलावा साधारण जनता की वास्तव में कभी पूछ नहीं होती। दलगत राजनीति के बजाय लोकनीति का चलन हो जाये तभी सही अर्थों में लोकतन्त्र की स्थापना हो सकती है, लोकनीति का अर्थ है जनता द्वारा राजनीतिक दलों की परवाह किये बिना शासन के कार्यों में सीधे भाग लेना। इस लोकनीति का आधार ग्राम-पंचायत हो सकती थी, फिर उनके आधार पर जिला परिषद, राज्य के विधान मंडल एवं पूरे राष्ट्र के संसद का गठन किया जा सकता है। इस तरह की व्यवस्था के निर्माण के लिए यह भी आवश्यक है कि एक नये अर्थतन्त्र का विकास हो, जिसमें सहकारी खेती और सहकारी उद्योगों का प्रसार किया जावे। केन्द्रित बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों को कायम करने के बजाय हर क्षेत्र में जनता की आवश्यकताओं एवं वहाँ के साधनों के पर्यवेक्षण के आधार पर आर्थिक विकास की योजना बनायी जावे। गाँव सिर्फ खेती की ही इकाई नहीं हो, बल्कि उद्योग की इकाई भी। जयप्रकाश का इसका अंदाजा था कि जिस तरह की राजनीतिक एवम् सामाजिक व्यवस्था का चित्र उन्होंने खड़ा किया था, वह तुरन्त नहीं कायम की जा सकेगी। बल्कि वह एक आदर्श के रूप में थी जिस ओर बढ़ने की कोशिश से वर्तमान व्यवस्था में क्रमशः सुधार होता चला जायेगा। और हम इस तरह समाजवाद एवम् लोकतन्त्र दोनों ही दिशा में प्रगति करते चले जायेंगे। इस दृष्टि से प्रारम्भिक कदम क्या हो, इसकी चर्चा जयप्रकाश ने अपनी 1961 में प्रकाशित पुस्तिका लोक स्वराज में की। यहाँ उन्होंने इस बात पर विशेष जोर दिया कि पंचायती राज की संस्थाओं को मजबूत बनाया जावे और ग्राम सभा को प्रदेश एवम् राष्ट्र की राजनीति से जोड़ने का प्रयत्न किया जावे। इसके लिए उनका यह सुझाव था कि प्रत्येक चुनाव क्षेत्र की ग्राम-सभाओं से दो-चार प्रतिनिधि चुने जायें और उनको मिला कर एक निर्वाचक परिषद का गठन किया जावे। प्रदेशों के विधान-मंडलों अथवा लोकसभा के लिए कौन उम्मीदवार खड़े हों, इसका फैसला इन्हीं निर्वाचक परिषदों पर छोड़ दिया जावे। न कि राजनीतिक दलों पर जैसा अभी होता

है। वे निर्वाचित परिषद् इसको भी देख-रेख रखें कि जो उम्मीदवार जीतते हैं, वे जनता प्रतिनिधि के रूप में काम करते हैं, या अपने स्वार्थ-साधन में लग जाते हैं।"[23]

"अपनी साधना के बीच गांधी शताब्दी के वर्ष, 1969 तक आते-आते जयप्रकाश इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भूदान-ग्रामदान आन्दोलन में चाहे जितना भी पसीना बहाया जाये, बिना संघर्ष के भूमिहीनों और गरीब किसानों की समस्याओं का समाधान नहीं होने वाला। इसके साथ ही साथ उनका यह भी विश्वास हो गया कि बिना जीवन के हर क्षेत्र में क्रान्ति लायें, उस समाज की नींव नहीं पड़ सकती जिसका सपना वे अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ से ही देख रहे थे। संघर्ष और क्रांति का रास्ता अहिंसात्मक ही होगा। 1969 में ग्राम विकास के लिए स्वेच्छा से काम करने वाली संस्थाओं के प्रतिनिधियों के बीच दिल्ली में बोलते हुए जयप्रकाश ने खुले आम घोषणा की कि वर्तमान व्यवस्था को समाप्त करने के लिए एक व्यापक क्रांति किस तरह लायी जाये, यह सोचने का समय आ गया है। उसी साल टाइम्स (लंदन) में प्रकाशित (13 अक्तूबर) एक लेख में उन्होंने लिखा "गांधीवाद संपूर्ण क्रांति का दर्शन है।" 1969 से 1973 तक जयप्रकाश अन्य कई कामों के साथ-साथ ग्रामदान के काम में लगे रहे, लेकिन इसके साथ ही साथ यह भी सोचते रहे कि कैसे कोई ऐसा जन-संघर्ष आरम्भ किया जाये, जिससे पूरा देश एक बार तन्द्रा की स्थिति से उठ खड़ा हो जाये और संपूर्ण क्रांति की ओर बढ़ चले। 1973 तक आते-आते उनका यह विश्वास पक्का हो गया कि ऐसे संघर्ष के लिए स्थिति काफी अनुकूल है। चारों तरफ बढ़ते हुए घुटन के वातावरण को देखते हुए क्रांति-शोधक जयप्रकाश इस निष्कर्ष पर पहुंच गये कि अब विस्फोट के आने में अधिक देर नहीं है। लेकिन अगर इस विस्फोट को रचनात्मक रूप देना था और संपूर्ण क्रांति की दिशा में बढ़ने के लिए इसका प्रयोग करना था, तो यह आवश्यक था कि इसका नेतृत्व अपने हाथ में लिया जाये। इसी उद्देश्य को सामने रखकर जयप्रकाश ने 1973 के अन्तिम चरण में युवकों का आह्वान किया। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि उन्हें फिर भारत के राजनीतिक क्षितिज पर '42 की तरह क्रांति के बादल दिखाई पड़ रहे थे, आवश्यकता थी आदर्शवादी युवकों की, जो आगे बढ़कर क्रांति का अग्रदूत बन सकें। पिछले तीन-चार सालों में जो कुछ हुआ है वह इसी चिन्तन का परिणाम है।"[24]

लक्ष्मी नारायण लाल ने जयप्रकाश के मानस का जीवंत वर्णन करते हुए लिखा है :

"इन्हें आन्दोलन में उतना विश्वास नहीं है, जितना कि संघर्ष में है। और सबसे ज्यादा आस्था है संघर्ष में, अबाधता में, निरन्तरता में। संघर्ष की इसी अबाधता को जहां कहीं भी बंधा हुआ, रुका हुआ सीमित और कुंठित होते हुए देखा वहीं उस व्यवस्था को, दल और विश्वास को छोड़कर यह आगे बढ़ गए। चाहे मार्क्सवाद हो चाहे साम्यवाद, चाहे कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी हो, चाहे सोशलिस्ट हो, चाहे पी एस पी हो और चाहे सर्वोदय हो और अंत में चाहे स्वयं जे पी ही क्यों न हों। पर उनमें रहने वालों ने हमेशा जे पी पर यह कहकर पत्थर फेंके हैं कि यह भगोड़ा है अवसरवादी है, व्यक्तिवादी है, प्रतिक्रियावादी है, सुधारवादी है, संशोधनवादी है दक्षिणपंथी है...। पर सदा ऐसे फेंके हुए पत्थर उन्हें छूकर ऐसे कांटे बन गए हैं जो पत्थर चलाने वालों के पैरों में अक्सर चुभते हैं। और तब उन्हें दर्द की एक टीस होती है और उनके मुंह से निकलता है हाय! यह

शख्स हमारी पार्टी का लीडर क्यों नहीं हुआ ? यह हमेशा क्या-क्या करता रहता है ? बोलता रहता है ? जे. पी. ने दो टूक उत्तर दिया है आप कहते हैं कि जयप्रकाश नारायण नेता बने, लेकिन नेता बनकर क्या करे और कहे वह जो आप चाहते हैं ? यानी जयप्रकाश नारायण अपना दिमाग कहीं रख आए, उसे कहीं ताले में बंद कर आए। आप उसके दिमाग को, कार्यकलाप को, विचार को समझना चाहते हैं ? वह क्या कर रहा है, क्या सोच रहा है, उसका समाजवाद से अथवा जनता के साथ क्या सम्बन्ध है ? यह सब आप समझना चाहते हैं ? क्या आपको ऐसा नेता मिलेगा जो आपकी शर्तों पर आपका नेता बनने को तैयार होगा ? मैं अपनी शर्तों पर नेता बनने को तैयार हूं। मानिए मेरी शर्तें और चलिए गांव में मेरे साथ। मैं जंगल में नहीं गया हूं। हिमालय की गुफाओं में नहीं गया हूं। गांधियन इंस्टीट्यूट में बैठा-बैठा किताब नहीं पढ़ रहा हूं...।"[15]

राजनीतिक विचार

जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक विचारों में दलविहीन लोकतन्त्र का विचार प्रमुख है। दलविहीन लोकतन्त्र का विचार स्वयं जयप्रकाश का मौलिक विचार नहीं है। उन्होंने मानवेन्द्र नाथ रॉय के दल विहीन लोकतन्त्र के विचारों को अपने शब्दों में व्यक्त करने का प्रयास किया है। अतः इस सन्दर्भ में जयप्रकाश मौलिक चिंतक न होकर व्याख्याकार के रूप में ही माने जाने चाहिये। जयप्रकाश दलगत राजनीति को जनता की असहाय स्थिति का कारण मानते हैं। यह समाज में नैतिक पतन, भ्रष्टाचार एवं स्वार्थ परायणता फैलाने वाला तत्व है। बहुसंख्यक दल शक्ति अपने हाथ में केन्द्रित कर लोकतान्त्रिक शासन के स्थान पर स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना करता है। जनता को सुशासन का झूठा आश्वासन देकर भुलावे में डाल दिया जाता है। शासन के हाथों में शक्ति का केन्द्रीयकरण जनता को हर समय शासन का मुंह ताकने के लिये विवश करता है। छोटे-छोटे कार्य के लिए जनता को शासन पर निर्भर रहना पड़ता है। उसमें स्वावलम्बन की बची खुची भावना भी समाप्त हो जाती है और वे दलीय राजनीति के दल-दल में फंस दिये जाते हैं। राजनीतिक दल उन्हीं सार्वजनिक मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं जिससे उनका राजनीतिक स्वार्थ पूरा होता हो। जनसामान्य की वास्तविक कठिनाइयों का निराकरण नहीं किया जाता। सत्ता-लोलुप राजनीतिक तत्वों द्वारा सार्वजनिक हित के नाम पर अपने व्यक्तिगत हितों की पूर्ति की जाती है। सत्तारूढ़ दल ही नहीं अपितु विपक्ष भी इस होड़ में पीछे नहीं रहता। जयप्रकाश ने दलीय राजनीति के स्थान पर विकेन्द्रीयकरण का समर्थन किया। वे जनता को शासन पर नियन्त्रण करने के अधिकारों से युक्त करना चाहते थे। उनके अनुसार वर्तमान निर्वाचन पद्धति के स्थान पर जनता द्वारा स्थानीय स्तर पर जन-प्रतिनिधियों का प्रत्यक्ष मनोनयन होना चाहिये। ग्राम सभाओं द्वारा मतदाता परिषदों को चुना जाय। मतदाता परिषद् उम्मीदवारों का चुनाव करें और जिसे बहुमत प्राप्त हो उसे राज्य अथवा केन्द्र की धारा सभा के लिये निर्वाचित माना जाय। चुनाव में शक्ति, धन तथा समय की बचत के लिये एक स्थान के लिये एक ही उम्मीदवार प्रस्तुत किया जाय। सर्वाधिक लोकप्रिय व्यक्ति ही निर्वाचित किया जाय। इस प्रकार जयप्रकाश ने विकेन्द्रीयकरण के माध्यम से पंचायती राज्य को केन्द्र से सम्बन्धित करने का मार्ग बनाया। उन्होंने भारत के गांवों में बसने वाली समष्टि को पाश्चात्

लोकतन्त्र की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति से विलग किया।[16]

जयप्रकाश नारायण ने भारत की राज्य व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिये अपने विचार प्रस्तुत किये। वे वैज्ञानिक तथा विवेकपूर्ण व्यवस्था के लिये लोकतन्त्र को पुनर्गठित कर उसे सामुदायिक समाज एवं विकेन्द्रीयकरण पर आधारित करना चाहते थे। उन्होंने इस संदर्भ में दो तर्क प्रस्तुत किये। प्रथम, पश्चिम का लोकतन्त्र निर्वाचित अल्पतन्त्र है और लोकतन्त्र के स्थान पर उसे लोकतांत्रिक अल्पतन्त्र कहा जाता है। इसमें जन सामान्य का सहकार नगण्य होता है। द्वितीय, पाश्चात्य लोकतन्त्र व्यक्तिवादी समाज पर आधारित है। आधुनिक पाश्चात्य लोकतन्त्र व्यक्ति की सामाजिक प्रवृत्ति एवं सभ्य मानवीय समाज को नकारता है। ऐसे लोकतन्त्र में समाज एक अनागरिक पृथक व्यक्तियों का समूह है। राजनीति केवल मत प्राप्त करने का यन्त्र मात्र रह गई है। ऐसे में व्यक्ति आंगिक एकता का प्रतीक न होकर एक पृथक इकाई के रूप में दिखाई देता है। सामाजिक सम्बन्धों का उस पर कोई प्रभाव नहीं। वह सामुदायिक जीवन के स्थान पर व्यक्तिगत जीवन जीता है। इस प्रकार पश्चिमी लोकतन्त्र की प्रक्रियाएँ तथा संस्थायें दोषपूर्ण हैं। जयप्रकाश ने लोकतन्त्र को इन बुराइयों से बचाने के लिये प्राचीन भारतीय समाज के क्षेत्रीय एवं व्यवसायात्मक समुदायों का आदर्श अपनाने पर जोर दिया है। जयप्रकाश ने सुझाया है कि लोकतन्त्र के विकेन्द्रीयकरण को कठोर नीति से लागू किया जाय। समाज को इस प्रकार से पुनर्गठित किया जाय कि सामाजिक समन्वय एवं व्यक्तियों का सहकार भली प्रकार प्राप्त हो सके। ऐसा समाज जिसमें विभिन्नता में एकता, हितों की समरूपता, सामाजिक उत्तरदायित्वों के मध्य स्वतन्त्रता, प्रकार्यों का वैभिन्य किन्तु लक्ष्य की समानता और सामाजिक हित प्राप्त किया जा सके। जाति, वर्ग, नस्ल, धर्म तथा राजनीति सभी व्यक्ति को विभिन्न संघर्षमय समूहों में बांट देते हैं। समाज ही उन्हें एक जुट रखता है और उनके हितों को समन्वित करता है। मनुष्य सामुदायिक कार्यों में सहभागी होकर आत्म-नियन्त्रण एवं आत्म-निर्देशन प्राप्त करता है।[17]

जयप्रकाश समाज का पुनर्निर्माण पिरामिड की भाँति करना चाहते हैं अर्थात् वे सबसे नीचे के स्तर पर ग्रामीण समाज और उस पर क्षेत्रीय, जिलास्तरीय, प्रान्तस्तरीय एवं राष्ट्रीय समुदायों की स्थिति स्वीकार करते हैं। इनमें से प्रत्येक स्तर सामुदायिक जीवन दृष्टिकोण विकसित कर सकता है। समस्त समुदाय के प्रकार्यों को सामान्यतः सामुदायिक जीवन ही एकीकृत करता है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार जैसे-जैसे हम सामुदायिक जीवन एवं संगठन के आंतरिक वृत्त से निकल कर बाह्य वृत्त की ओर जाते हैं तो ऐसा आभास होता है कि बाह्य समुदायों के लिये सीमित कार्य ही शेष हैं। जब हम राष्ट्रीय समुदाय के स्तर तक पहुँचते हैं तो कार्यों की संख्या केवल प्रतिरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, मुद्रा, अन्तर्राज्यीय समन्वय एवं व्यवस्थापन तक ही सीमित दिखाई देती है। जयप्रकाश के विचारों पर आधारित स्तरीय सामाजिक संगठन एक ऐसा सामाजिक प्रयोग है जो मानव को स्वशासित समुदाय के अन्तर्गत संगठित कर स्वशासन का अवसर देता है। यह लोकतन्त्र का ऐसा आदर्श प्रतिरूप है जो भारत को आधुनिक सभ्यता के यन्त्र-मानव से बचा सकता है।[18]

जयप्रकाश ने लोकतन्त्र के लिये सत्य, अहिंसा, स्वतन्त्रता, अत्याचार के विरुद्ध

प्रतिकार की शक्ति, सहयोग, परमार्थ, सहनशीलता, उत्तरदायित्व की भावना, मानव समानता में निष्ठा एव मानवीय प्रकृति की शिक्षणीयता मे विश्वास आदि गुणो तथा मानसिक दृष्टिकोणो को लोकतन्त्र के लिये आवश्यक बताया। उनके अनुसार उपर्युक्त नैतिक गुणो के बिना लोकतन्त्र सम्भव नही। इन नैतिक गुणो के साथ-साथ जयप्रकाश नारायण ने आधुनिक उद्योगवाद की भौतिकवादी प्रकृति को लोकतन्त्र के लिये अनुपयुक्त माना है। उनकी दृष्टि मे पूंजीवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद भौतिक वस्तुओ के लिये व्यक्ति की लालसा को बढाते हैं। सच्चे अर्थो मे स्वतन्त्रता, स्वाधीनता एव स्वशासन की प्राप्ति एव उपभोग के लिये आकाक्षाओ पर स्वत नियन्त्रण आवश्यक है। अधिक से अधिक प्राप्त करने की लालसा सघर्ष, युद्ध तथा वैमनस्य को जन्म देती है। वह व्यक्ति को ऐसी उत्पादन व्यवस्था मे बाध लेती है जो लोकतन्त्र को नष्ट कर उसे नौकरशाही के अल्पतन्त्र के सुपुर्द कर देती है। जयप्रकाश के इन विचारो पर गाधीजी के अस्तेय एव अपरिग्रह सिद्धान्तों की छाप दिखाई देती है।[19]

जयप्रकाश क्रान्तिकारी समाजवाद के स्थान पर लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना के इच्छुक हैं। उनके अनुसार मार्क्स द्वारा क्रान्तिकारी समाजवाद के प्रतिपादन पश्चात् लोकतन्त्र के विकास ने काफी शक्ति प्राप्त करली है। अत समाजवाद की स्थापना लोकतान्त्रिक तरीको से ही होनी चाहिये। स्वय मार्क्स ने अपने 'हेग' मे दिये गये भाषण मे शान्तिपूर्ण परिवर्तन द्वारा समाजवाद की स्थापना को सम्भव बताया। जयप्रकाश ने समाजवाद के माध्यम से अनेक सामाजिक एव आर्थिक समस्याओं का निदान ढूंढा है।[20] उनके अनुसार समाजवादी राज्य को मूलभूत मूल्यो की स्थापना करनी चाहिये और नैतिकता विहीन जीवन को अस्वीकार करना चाहिये। वे साधन और साध्य के पारस्परिक सम्बन्ध को महत्व देते हैं। उच्च आदर्शो के अनुरूप किये गये कार्य उच्च लक्ष्यो की प्राप्ति सम्भव बनाते है। इसके विपरीत आचरण द्वारा लक्ष्य प्राप्ति सम्भव नहीं है। नवीन समाज की स्थापना के लिये स्वीकृत आदर्श मूल्यो को द्वन्द्वात्मक पद्धति परिवर्तित नही कर सकती। समाजवाद की सफलता के लिये जयप्रकाश ने लोकतान्त्रिक राज्य की अनिवार्यता पर बल दिया है। राजनीतिक दृष्टि से समाजवाद की यथार्थता इसी पर आधारित है कि समाजवाद को निम्नतम स्तर पर लोक शासन मे उतार दिया जाय। केवल राष्ट्रीय स्तर पर समाजवाद की चर्चा निरर्थक है।[21]

जयप्रकाश ने समाजवादी समाज की आर्थिक सरचना पर प्रकाश डालते हुये यह बतलाया कि केवल उद्योगो का राष्ट्रीयकरण वेतन की समानता तथा श्रमिकों का नियन्त्रण प्रस्तुत नही कर सकता। वस्तुत उद्योगो के राष्ट्रीयकरण ने नौकरशाही का शासन स्थापित कर दिया है। समाजवादी अर्थव्यवस्था की सरचना विकेन्द्रित होनी चाहिये। बडे पैमाने पर तथा केन्द्रित उत्पादन एशिया के देशो मे समाजवाद नही ला सकता। इसके लिये गृह उद्योगो, कुटीर उद्योगो एव छोटे उद्योगो की देश भर में स्थापना कर उत्पादन का लक्ष्य प्राप्त करना चाहिये। केवल अर्थव्यवस्था ही नहीं किन्तु स्वामित्व का विकेन्द्रीयकरण भी आवश्यक है। केवल केन्द्रीय सरकार द्वारा उद्योगो का स्वामित्व नही होना चाहिये। विभिन्न स्तरो पर स्वामित्व होने हुये ग्राम सगठन या नगर निगमो तक स्वामित्व बटा हुआ होना चाहिये। जयप्रकाश के ये विचार राममनोहर लोहिया के विचारो को प्रति-

ध्वनित करते हैं। राममनोहर लोहिया के विचारों में समान आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीयकरण पर जयप्रकाश का सुझाव यह दर्शाता है कि चन्द व्यक्तियों के हाथ में पूंजी का केन्द्रीयकरण न हो। इस बात की आवश्यकता है कि समाजवादी समाज आर्थिक अधिनायकतन्त्र से मुक्त रहे। जयप्रकाशनारायण समाजवादी समाज की स्थापना के लिये शान्तिपूर्ण लोकतांत्रिक साधनों के प्रयोग को आवश्यक नहीं मानते। उनका यह अभिप्राय नहीं कि समाजवाद शान्तात्मक अथवा संवैधानिक पद्धतियों से ही स्थापित किया जाय। वे क्रान्तिक जन आन्दोलन के माध्यम से समाजवाद की स्थापना का विचार प्रकट करते हैं। यदि जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो सके तो ऐसा शान्तिपूर्ण प्रयत्न असंवैधानिक होते हुए भी उचित है।[22] लोहिया के विचारों के विपरीत जयप्रकाश यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि हिंसा के बिना समाजवादी क्रान्ति अपूर्ण है। वे गांधीजी के आदर्शों को ध्यान में रखकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अनुचित साधनों से इच्छित साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। समाजवाद की सफलता के लिए जयप्रकाश ने व्यक्ति की इच्छाओं को सीमित करने की आवश्यकता पर बल दिया। समाज के हित में मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं पर नियन्त्रण स्थापित करना समानता, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृत्व के लिये उपयोगी ही नहीं वरन् आवश्यकता भी है। जब तक व्यक्ति की माँग को नियन्त्रित नहीं किया जाता तब तक समाजवादी समाज का प्रयोग सम्भव नहीं। जयप्रकाश के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण के स्थान पर आत्म नियन्त्रण द्वारा एक ओर व्यक्ति तथा व्यक्ति के मध्य तथा दूसरी ओर व्यक्ति समूहों एवं राष्ट्रों के मध्य संघर्ष नहीं टाला जा सकता।[23]

जयप्रकाश नारायण ने महात्मा गांधी के साधन एवं साध्य के समन्वय को महत्त्वपूर्ण माना है। गांधीजी ने साधन को ही साध्य माना और यह व्यक्त किया कि बुरे साधनों से अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। आधुनिक विश्व की समस्याओं को देखते हुए यह सर्वथा उचित है कि अच्छे लक्ष्यों की प्राप्ति एवं अच्छे समाज के निर्माण के लिये अच्छे साधनों का प्रयोग आवश्यक है।[24] इतना ही नहीं राजनीति में नैतिक मूल्यों का महत्त्व समझा जाना चाहिये। सर्वाधिकारवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को देखते हुए यह और भी आवश्यक हो गया है। फासीवाद, नात्सीवाद एवं स्टालिनवाद ने राजनीति में नैतिक मूल्यों को जो धक्का लगाया है उससे समाज में व्यक्ति की स्थिति निष्प्राण हो गयी है। न केवल राजनीति अपितु सामाजिक जीवन तथा पारिवारिक जीवन भी इसके कुप्रभाव से वंचित नहीं रहा। अच्छे समाज के निर्माण के लिये अनुशासन, चरित्र एवं नैतिक मूल्यों की साधन के रूप में प्रयुक्ति आवश्यक है।[25]

जयप्रकाश नारायण ने सर्वोदय की धारणा के विकास एवं चिन्तन को विशेष योगदान दिया है। वे सर्वोदय को सर्वजन सुखाय एवं सर्वजन हिताय मानते हुए इसे उपयोगितावादियों के 'अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिकतम सुख" के सिद्धान्त से भिन्न एवं श्रेष्ठ मानते हैं। वे सर्वोदय को सामाजिक दर्शन मानते हुए एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं जिसमें राज्य का हस्तक्षेप सीमित हो। पारस्परिक सहायता एवं जन सहयोग से राजनीति के स्थान पर लोकनीति की स्थापना की जाय। वे सामुदायिक लोकतन्त्र अथवा साझेदार लोकतन्त्र चाहते हैं जिसमें राज्य व्यवस्था का पुनर्गठन किया जा सके। सर्वोदय में इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विकेन्द्रीयकरण आवश्यक

है। राजनीतिक एवं आर्थिक विकेन्द्रीयकरण को सभी स्तरों पर लागू किया जाय। वे सर्वोदय को जनता का समाजवाद अथवा लोक-समाजवाद मानते हैं। वे राज्य की शक्ति को प्रयुक्त किये बिना समाजवादी जीवन का ऐसा प्रयोग करना चाहते हैं जो जनता के स्वैच्छिक प्रयासों का परिणाम हो।[26]

जयप्रकाश ने सर्वोदय के सामाजिक दर्शन की प्राप्ति के लिये प्रेम एवं सहिष्णुता का सामाजिक जीवन का आधार माना है। घृणा से सामाजिक जीवन कलुषित हो जाता है अत घृणा जो कि सामाजिक वातावरण जनित है नियंत्रित की जानी चाहिये। जयप्रकाश ने इसी कारण से वर्ग-संघर्ष को जोकि वैज्ञानिक समाजवाद का आधार है, स्वीकार नहीं किया। जनता के स्वयं के प्रयत्नों से सामाजिक वातावरण में परिवर्तन लाया जा सकता है और संघर्ष का स्थान सहकारिता को प्राप्त हो सकता है। जयप्रकाश अहिंसा को साधन के रूप में प्रयुक्त करने के पक्षपाती हैं। सर्वोदय के विचार पर गांधीजी की अहिंसा की धारणा व्याप्त है। अहिंसा का आर्थिक क्षेत्र में उपयोग आर्थिक हिंसा अथवा शोषण के निराकरण के अर्थ में किया गया है। व्यक्ति का जीवन यदि निस्वार्थ सेवा एवं सीमित इच्छाओं से परिपूर्ण हो जाय तो आर्थिक समानता का आदर्श सुगमतापूर्वक स्थापित हो सकता है। सर्वोदय कार्यकर्ताओं के स्वयं के उदाहरण एवं उचित शिक्षा की व्यवस्था पर इस उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव है।[27]

सर्वोदय की मान्यता शक्ति के विरोध पर आधारित है। गांधीजी के आध्यात्मिक अराजकतावाद अथवा रामराज्य की कल्पना में राज्य रूपी यान्त्रिक प्रक्रिया की आवश्यकता अनुभव नहीं की गयी। किन्तु जयप्रकाश ने राज्य के तिरोहित होने के विचार को असम्भव माना है। उनकी मान्यता है कि राज्य पूर्णतया विलुप्त नहीं हो सकता अत. राज्य के कम से कम हस्तक्षेप की कामना करनी चाहिये।[28] गांधीजी के सदृश जयप्रकाश की भी यह धारणा है कि कम से कम शासन करने वाली सरकार ही अच्छी है। राज्य के प्रति सर्वोदयवादियों की अविश्वास की भावना राज्य द्वारा समाज-सुधार के कार्यों में शक्ति का अन्तिम अस्त्र के रूप में प्रयोग करने में है। समाज-सुधार का कार्य, सर्वोदयवादियों के अनुसार, अनिवार्यता अथवा दवाब के वातावरण में नहीं हो सकता। स्थायी महत्व के कार्यों को सम्पादित करने के लिये राज्य शक्ति के स्थान पर लोकमत का समर्थन प्राप्त होना चाहिये। जब तक व्यक्ति में निःस्वार्थ सेवाभावना एवं सामाजिक अनुशासन का संचार नहीं होता तब तक सामाजिक तालमेल नहीं बैठ सकता। इसके लिये उपदेश एवं उदाहरण की अन्तर समाप्त होना चाहिये। अपनी मान्यताओं के अनुरूप कार्य कर दिखाने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। जब राज्य शक्ति का स्थान जनशक्ति लेले तभी व्यक्ति को आत्म-निर्भर बनाया जा सकता है। सर्वोदयवादियों की यह मान्यता उन्हें साम्यवादियों एवं समाजवादियों से ठीक विपरीत स्थिति में प्रस्तुत करती है। साम्यवादियों एवं समाजवादियों के अनुसार सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन के संघर्ष में राजनीतिक शक्ति एक अनिवार्य तत्व है। शोषणकारी वर्ग के स्वेच्छा से आत्म समर्पण की सम्भावना न होने के कारण सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में शक्ति के प्रयोग पर बल दिया गया है ताकि राजनीतिक शक्ति का एकाधिकार प्राप्त कर पूंजीपतियों, जमींदारों एवं शोषक तत्वों का सफाया किया जा सके। किन्तु सर्वोदय की विचारधारा के प्रतिपादन में जयप्रकाश नारायण

ने लोकशक्ति के महत्व को ही दर्शाया है। उनके अनुसार जन-इच्छा की सकारात्मक एव निर्भीक अभिव्यक्ति पर ही सर्वोदय की सफलता निर्भर है। लोकशक्ति को जागृत एव सगठित करने के लिये सर्वोदयवादियो ने निस्वार्थ सेवा भावना से युक्त कार्यकर्ताओ की टोली तैयार की है जो जन-समुदाय मे विचरण करती हुई उन्हे स्वावलम्बन एव स्व-शासन का नव-जीवन प्राप्त कराने म सहायक हो सके।[29] इस प्रकार जयप्रकाश नारायण के सर्वोदय सम्बन्धी विचार ग्राम-स्वराज्य, विकेन्द्रीयकरण तथा स्वावलम्बन का महत्त्व स्पष्ट करते हुए नवीन सामाजिक एव आर्थिक क्रान्ति को इगित करते है। सर्वोदय ने आधुनिक समय की सग्रहकारी समाज व्यवस्था एव आत्म विहीन शहरीकरण की प्रवृत्ति को नई चुनौती दी है। शहरीकरण की आधुनिक स्पर्धा ने मानव जीवन को 'एकाकी भीड" मे परिवर्तित कर दिया है। जयप्रकाश के अनुसार शहर तथा कस्बे ऐसे मानवीय जगल हैं जहा व्यक्ति का जीवन अवैयक्तिक सम्बन्धो स शासित होता है।[30]

जयप्रकाशनारायण के अनुसार समाजवादी समाज की स्थापना दीर्घकालिक विकास एव प्रयत्नो पर आधारित होती है। सक्रमणकाल की अवधि पूरी होने के पश्चात् ही नवीन आदर्श की प्राप्ति होती है। वर्ग सघर्ष के बिना समाज मे समाजवाद की चेतना मात्र दिखाई देती है। केवल समाजवादी बुद्धिजीवियो से समाजवाद स्थापित नही होता है। वास्तविक शक्ति काम करनेवाले श्रमिको तथा पूजीवादी समाज के शोषित वर्गों के समर्थन से ही सभव है। शोषित वर्ग द्वारा शोषण का विरोध सामाजिक व्यवस्था को नष्ट करके एव शोषणविहीन समाजवादी समाज की स्थापना म सहायक बनता है। बुद्धिजीवियो द्वारा इस सघर्ष मे वैचारिक भूमिका निभाई जाती है तथा आन्दोलन को विचारवाद की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। समाजवाद की स्थापना के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष मे दो स्तर दिखाई देते हैं—एक समाजवादियो द्वारा वर्ग-सघर्ष के माध्यम से शक्ति पर नियत्रण तथा दूसरा शक्ति सम्पन्न समाजवादियो द्वारा समाजवाद की स्थापना। सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्य शक्ति पर दो प्रकार से अधिकार किया जा सकता है। एक तो क्रांति के द्वारा तथा दूसरा लोकतात्रिक तरीको मे। किन्तु लोकतात्रिक पद्धति द्वारा राज्य शक्ति पर अधिकार केवल वही सम्भव है जहाँ राजनीतिक लोकतन्त्र पूर्णतया स्थापित हो चुका हो तथा श्रमिक वर्ग ने एक शक्तिशाली राजनीतिक दल बनाकर कृषको तथा निम्न मध्यम वर्ग को अपने अधीन ले लिया हो। जहाँ ऐसा सम्भव न हो वहाँ समाजवाद की स्थापना के लिए कोई समझौता नही हो सकता। इसका यह अर्थ नही है कि यदि कोई ऐसा समझौता सम्भव न हो तो उस देश मे स्वतत्रता की स्थापना ही नही की जा सके। भारतीय राष्ट्रवाद का उदाहरण यह स्पष्ट करता है कि श्रमिक वर्ग का लोकतत्र की शक्तियो के साथ समझौता न होने पर भी भारत की स्वतत्रता की माग अपना महत्व बनाये हुए है।[31]

जयप्रकाशनारायण ने राष्ट्रीय एकता को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। वे राष्ट्रवाद को भारत मे पूर्णतया पल्लवित होता देखना चाहते हैं। उनके अनुसार भारत न तो कभी राष्ट्र रहा था और न आज ही एक राष्ट्र है। किसी भी देश के राष्ट्र बनने के लिए राष्ट्रीय चेतना की आवश्यकता होती हैं, जिसका भारत मे नितान्त अभाव रहा है। फ्रास की राज्यक्रांति तथा औद्योगिक क्रांति ने समस्त विश्व मे शक्ति तथा सम्प्रभुता के

मूल्यों को परिवर्तित कर दिया है। भारत भी एक नवीन क्रांति की दहलीज पर खड़ा है। भारत की जनता राजनीति के प्रांगण में प्रविष्ट हो चुकी है और अभिजनवादी राजनीति की अवधारणा अब पुरानी पड़ चुकी है। गांधीजी के सद्-प्रयत्नों से अभिजनवादी राजनीति जन-राजनीति में परिवर्तित हो गई। यदि राष्ट्रीय चेतना को राष्ट्र का आधार माना जाये तो भारत को अभी अनेक कठिन परीक्षाओं से गुजरना है। केवल प्रादेशिक एकता से राष्ट्र की स्थापना नहीं होती। इसके लिए भावात्मक एकता की आवश्यकता होती है। एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना से ही इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। जयप्रकाश ने द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त तथा भारत के विभाजन दोनों का विरोध किया था। आज प्रत्येक राष्ट्र बहुराष्ट्रीय राज्य है। मिश्रित अथवा समन्वित राष्ट्रवाद ही आधुनिक विश्व की समस्याओं का समाधान कर सकता है। इस प्रकार जयप्रकाश ने राष्ट्रवाद के संदर्भ में एक नवीन विचार प्रस्तुत किया है। उनका समन्वित राष्ट्र का दृष्टिकोण मूलतः दो परिस्थितियों पर आधारित है। एक परिस्थिति है पूर्ण धर्मनिरपेक्ष आधार तथा दूसरी है जनता की आवश्यकताओं तथा भावनाओं के अनुरूप राष्ट्र की राजनीति। इन दोनों आदर्शों के पश्चात् ही व्यक्ति राष्ट्रीय विकास का आभास प्राप्त कर सकता है।[32]

जयप्रकाश ने राष्ट्रवाद के उद्‌गम पर ध्यान केन्द्रित कर यह विचार प्रकट किया है कि राष्ट्रवाद एक अर्वाचीन मान्यता ही है। 1900 वीं शताब्दी को राष्ट्रवाद की शताब्दी माना जा सकता है। पश्चिम यूरोप में राष्ट्रवाद अपने आधुनिक अर्थों में पूर्णतया प्रकट हुआ है। राष्ट्रवाद के विकास के लिए मानवीय समुदाय को एक उच्च सभ्यता के स्तर तक पहुंचना आवश्यक प्रतीत होता है। किन्तु जयप्रकाश ने यह माना है कि राष्ट्रवाद एक साधन है न कि साध्य। प्रत्येक राष्ट्र के तीन निर्माणक तत्त्व होते हैं :—(1) राष्ट्र की स्वयं की स्पष्ट भूसम्पदा, (2) एक समान राज्य का प्रतिनिधित्व करनेवाली राजनीतिक एकता तथा (3) अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा अन्य राष्ट्रों द्वारा मान्यता प्राप्त पृथक् संप्रभु राष्ट्र की स्थिति।[33]

जयप्रकाशनारायण ने व्यक्त किया कि ब्रिटिश शासन के अनुसार भारत आधुनिक अर्थों में राष्ट्र नहीं रहा। यद्यपि भारत में एकता थी, भारत के नाम से एक पृथक् प्रदेश था, तथा उसकी स्पष्ट सीमायें थी, किन्तु यह एकता आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक भावना जनित थी। राष्ट्रवादी नहीं थी। भारत में ब्रिटिश शासन द्वारा सम्पूर्ण भारतीय प्रदेश पर अधिकार प्राप्त करने के पश्चात् ही एक सरकार के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता का उदय हुआ। चूंकि यह राजनीतिक एकता ऊपर थोपी हुई थी अतः इसके द्वारा राष्ट्रीयता की स्थापना नहीं हो सकती थी। ब्रिटिश शासन के विरोध करने की प्रक्रिया ने शनैः शनैः भारतीय राष्ट्रवाद को जन्म दिया। उग्र ब्रिटिश राष्ट्रवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय राष्ट्रवाद का विकास हुआ किन्तु दुर्भाग्य से यह इतना शक्तिशाली नहीं था कि भारत को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक राष्ट्रीयता में बांध सकता। इसका एक परिणाम यह हुआ कि भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय एक नवीन राष्ट्रीयता के विचार ने चुनौती प्रस्तुत की। द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त ने भारत की स्वतन्त्रता को रक्त-रंजित कर दिया। द्विराष्ट्र सिद्धान्त अपने आप में निःसन्देह गलत आधारों पर स्थापित किया गया था। क्योंकि इतिहास इस बात का साक्षी है कि केवल धर्म के आधार पर राष्ट्रीयता

की स्थापना नहीं होती। फिर भी भारत में यह सब कुछ हुआ और विभाजन की स्थिति आई। विभाजन ने व्यक्तियों के हृदय में क्रोध, दुःख तथा असंतोष को जन्म दिया इसका प्रभाव अभी भी विद्यमान है। हम एक स्वस्थ एवं यथार्थवादी विचार को बनाने के लिए सच्चे अर्थों में भारत राष्ट्र की स्थापना करनी है। यह कार्य राष्ट्रीय चेतना के बिना सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से भारत के दो महान् व्यक्तित्व रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा महात्मा-गांधी—ने हमें ऐसे राष्ट्रवाद का चित्र प्रदान किया है जो कि आत्मा की उस एकता पर आधारित है जिसके द्वारा समस्त मानव जाति व्यक्तियों के एक राष्ट्र के अन्तर्गत आ जाती है।[34]

राष्ट्रवाद की दृष्टि से आक्रामक राष्ट्रवाद विश्व के लिए खतरा है। लोकतान्त्रिक पद्धति पर आधारित जीवन सहिष्णुता का पाठ सिखाता है। यही सहिष्णुता राष्ट्रीय जीवन के लिए भी आवश्यक है। हिंसा तथा अहिंसा के मध्य यदि कोई वरणयोग्य है तो वह अहिंसा ही हो सकती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने संकीर्ण राष्ट्रवाद का विरोध कर जिस विश्व बन्धुत्व की बात कही है वही वास्तविक राष्ट्रवाद है। गांधीजी ने भी अपने आपको राष्ट्रवादी कहा है किन्तु उनका राष्ट्रवाद न तो संकीर्ण राष्ट्रवाद रहा है और न आक्रामक राष्ट्रवाद ही। राष्ट्रवाद की दृष्टि से राष्ट्रीय एकता सबसे बड़ी चुनौती है। भारत में हिन्दू तथा मुसलमान दो ऐसे बड़े समुदाय हैं जो सदियों से साथ रहते आये हैं। इन दोनों के मध्य साम्प्रदायिक वैमनस्य समाप्त करके ही धर्म निरपेक्ष लोकतान्त्रिक संविधान का लाभ उठाया जा सकता है। देश में व्याप्त जातिवाद उतना ही घातक है जितना कि साम्प्रदायिकवाद। हिन्दू समुदाय में जातिवाद के कारण अनेक संघर्ष समय समय पर उत्पन्न होते रहे हैं जो हमारे राष्ट्रीय समन्वय एवं एकता के मार्ग में बाधक सिद्ध हुए हैं। इन समस्याओं का निवारण नारेबाजी अथवा संघर्ष से प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिए धैर्य एवं अनवरत परिश्रम की आवश्यकता है। भारत को अपने पड़ोसी राष्ट्रों से भी खतरे की चुनौती का सामना करना पड़ा है। पाकिस्तान तथा चीन के साथ युद्ध में अपार जन-धन की हानि हुई है। यदि पड़ोसी राष्ट्रों के साथ शांति बनाये रखी जा सके तो हम सच्चे अर्थों में मानवतावादी बन सकते हैं।[35]

राष्ट्रवाद की अवधारणा

भारतीय राष्ट्रवाद की अवधारणा को जयप्रकाशनारायण ने भारत की एकता के काल के लिए आवश्यक माना है। उनके अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद एक समन्वित एवं धर्म निरपेक्षता के उदाहरण के रूप में है। स्वतंत्रता संग्राम के दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीयता उत्पन्न हुई। जिन्ना का द्विराष्ट्र सिद्धांत जिसमें एक पृथक् हिन्दू राष्ट्र तथा एक पृथक् मुस्लिम राष्ट्र का विचार भारत के विभाजन एवं एक पृथक् इस्लामी राज्य की स्थापना का कारण बना है स्वतंत्रता आन्दोलन को धूमिल करनेवाला था। इसका एक प्रभाव भारत में यह हुआ कि यहाँ भी हिन्दू-राष्ट्र की माँग जोर पकड़ने लगी। इसके अनेक कारण थे। भारत में हिन्दुओं का बहुमत होने पर भी उनमें एक अल्पसंख्यक समुदाय की मनोवृत्ति थी। जिसका कारण यह था कि हिन्दू-समुदाय जाति व्यवस्था तथा छुआछूत के कारण अनेक भागों में बटा हुआ था और अनेक शताब्दियों से हिन्दुओं पर गैर हिन्दू मुस्लिम तथा ईसाई अल्पसंख्यकों का शासन रहा जो कि भारत के बाहर

से आये थे। कुण्ठित भावनाओं के कारण हिन्दू राष्ट्र की माग भारतीय जन समुदाय को आकर्षित करने लगी। एक अन्य कारण यह था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले भारत की आजादी के लिए सभी समुदायों के सम्मिलित समर्थन की आवश्यकता थी जिसमें राष्ट्रवाद को एक बहुराष्ट्रीय दृष्टि से देखा गया था। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हिन्दू बहुसंख्यक समुदाय ने बहुमत होने के कारण अन्य समुदायों पर अपनी आकांक्षाओं को लादने का अवसर प्राप्त किया। हिन्दू राष्ट्र की भावना को किसी भी दृष्टि से राष्ट्रीय विकास एवं राष्ट्रीय भक्ति का उन्नायक नहीं माना जा सकता।[35]

भारत में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ हिन्दू राष्ट्र की माग का प्रबल समर्थक रहा है। संघ के अनुसार एक सुसंगठित हिन्दू समाज की स्थापना की आवश्यकता महसूस की गई है जो वास्तविक राष्ट्रीय एकता के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जाति, धर्म, दल अथवा भाषा के भेदभाव से ऊपर हो। जयप्रकाश के अनुसार किसी भी समुदाय का संगठित होना अनुचित नहीं है। किन्तु उस समुदाय द्वारा पृथक्तावादी प्रचार, साम्प्रदायिक राजनीति एवं बहुसंख्यक समुदायों द्वारा अल्पसंख्यकों पर आधिपत्य करने का विचार उचित नहीं ठहराया जा सकता। इसी प्रकार से भारतीय मुसलमानों ने जमायते-इस्लामी द्वारा मुसलमानों को संगठित करने तथा उनमें सामाजिक एवं राजनीतिक पृथकता के बीज बोने का प्रयास किया गया है। इसका उद्देश्य मुस्लिम राष्ट्र की भावना को बलवती करना है। इस प्रकार से भारतीय राष्ट्र की माग के स्थान पर मुस्लिम राष्ट्र तथा हिन्दू राष्ट्र की माग समान रूप से साम्प्रदायिक है। जयप्रकाश ने व्यक्त किया है कि कतिपय व्यक्ति हमारे ऋषि मुनियों के, स्मृति एवं पुराणों के, कवियों तथा कलाकारों के, राजनेता तथा योद्धाओं के योगदान को भारत की राष्ट्रीय धरोहर एवं राष्ट्रीय एकता का कारण मानते हैं। उनकी दृष्टि में भारत एक अत्यन्त प्राचीन राष्ट्र है और यह कहना सर्वथा असत्य है कि भारत एक निर्माणाधीन राष्ट्र है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार जनता की सांस्कृतिक एकता तथा राजनीतिक एकता में भ्रम दिखाई देता है। क्योंकि भारत की जनता हिमाचल से सेतुबन्ध रामेश्वर तक सदियों से एक समान सांस्कृतिक धरोहर की सहभागी रही है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे एक ही प्रकार के राज्य के अन्तर्गत रहे हैं। ऐसा केवल भारत में ही नहीं हुआ अपितु यूरोप तथा अरब देशों में भी सांस्कृतिक एकता के साथ-साथ राजनीतिक विखण्डता विद्यमान रही है। जयप्रकाश की मूल धारणा यह है कि नव प्राप्त राजनीतिक एकता जो कि भारत के स्वतन्त्र संविधान द्वारा स्थापित की गयी है उसे बनाये रखा जाये। भारत में भारतीय समाज के विभिन्न तत्वों द्वारा एक राष्ट्र में बंध जाने का काम अभी सम्पन्न नहीं हुआ। भारत की प्राचीन धरोहर एवं प्राचीन एकताओं का उल्लेख करके इस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। जयप्रकाश के अनुसार एक मत यह भी है कि जो व्यक्ति भारत के ऐतिहासिक अतीत से अपने आपको सम्बन्धित पाते हैं और उसके पूर्ण समर्थक हैं वे ही भारतीय राष्ट्रीयता के प्रतीक हैं। उन व्यक्तियों की दृष्टि से राष्ट्रीय एकता प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने को राष्ट्र के साथ एकाकार होने में निहित है। इस मान्यता में निश्चित रूप से सत्य का अंश है यदि भारतीय इतिहास का प्रारम्भ केवल मुस्लिम अथवा ईसाई आक्रमणकारियों से माना जाये और भारत के इससे पूर्व के इतिहास को महत्ता न दी जाये। आधुनिक राष्ट्रवाद के विकास में प्रत्येक राष्ट्रीयता

अपनी प्राचीन गौरव गाथा से एक नयी वस्तु निकालने का प्रयास कर रही है।[37]

राष्ट्रीय धरोहर की चर्चा में न केवल प्राचीन समय की गणना ही सम्मिलित की जानी चाहिये अपितु उसके पश्चात् जो भी हुआ है उसको भी सम्मिलित किया जाना आवश्यक है। भारत में विदेशी संस्कृति तथा जातियों का दीर्घावधि से सम्मिलन होता रहा है। इस्लाम तथा ईसाई धर्म के सम्बन्ध में जो कि बाद में भारत में आये समन्वय की भावना हिन्दू समाज के विरोध के कारण धीमी रही है। इसके उपरान्त भी भारतीय ईसाई तथा भारतीय मुसलमान रक्त, शारीरिक बनावट, जीवन के प्रकार, जाति व्यवस्था, भाषा, साहित्य, कला, विचार, दर्शन भौतिक संस्कृति आदि की दृष्टि से भारतीय ही माने जाने चाहिये। इन दो धर्मों ने भारत में एक विशेष भारतीयपन ग्रहण कर लिया है जिसके कारण भारतीय दर्शन, साहित्य, विज्ञान संगीत, वास्तुकला, चित्रकला तथा मध्ययुगीन सन्तों के धार्मिक प्रवचनों पर उनका प्रभाव पड़ा है। इस दृष्टि से हमारी राष्ट्रीय धरोहर न केवल प्राचीन समय तक सीमित है अपितु मध्ययुगीन एवम् वर्तमानकालिक प्रभाव भी इसके अंग हैं। यह हो सकता है कि इस्लाम तथा ईसाई धर्म के प्रभाव में पारस्परिक विरोध की उग्रता के कारण परस्पर मनोमालिन्य अधिक रहा हो किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम भारतीय इतिहास को इसकी सम्पूर्णता में स्वीकार न करें। जयप्रकाश-नारायण ने इस संदर्भ में स्पष्टीकरण देते हुए व्यक्त किया है कि किसी भी देश के भूतकालिक इतिहास से जन-समुदाय द्वारा अपने आपको भावनात्मक दृष्टि से सम्बन्धित करने की धारणा अन्ध विश्वास की प्रतीक नहीं है। केवल पारस्परिक सद्भाव, धैर्य एवम् एक दूसरे के विचारों को समझने की दृष्टि से अधिक उदार दृष्टिकोण बनाये रखने पर बल दिया जाना चाहिये। हिंसा अथवा भय द्वारा इस प्रक्रिया को परिवर्तित करने का अर्थ होगा राष्ट्र का विघटन एवम् साम्प्रदायिक वैमनस्य।[38]

व्यापक राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से एक बहुभाषा-भाषी एवम् बहु-राष्ट्रीय राज्य हिन्दू राष्ट्र की धारणा से भिन्न है। व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण धर्म, भाषा आदि भेद-भाव को स्वीकार नहीं करता और सभी को भारत का नागरिक तथा भूमिपुत्र मानता है। इसके विपरीत राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के संस्थापक श्री गोलवलकर के विचार केवल हिन्दुओं को भारतीय स्वीकार करते हैं। मुसलमानों तथा ईसाइयों को आक्रान्ता मानते हैं। जयप्रकाश नारायण के इन विचारों का मूल उद्देश्य यह है कि राष्ट्रीय एकता एवम् लोकतन्त्र की दृष्टि से धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक दलों को देश के राजनीतिक जनमत को पूर्णतः इस योग्य बनाना चाहिये कि वे हिन्दू राष्ट्र तथा मुस्लिम पृथक्तावादी तत्वों को उभरने और भारत की एकता एवं राष्ट्रीयता को चुनौती देने का अवसर न दें। जयप्रकाश ने धर्म-निरपेक्षवाद को राष्ट्रवाद की अवधारणा का आधार माना है। हिन्दू राष्ट्रवाद की धारणा की आलोचना का उनका आधार यही है कि हिन्दू राष्ट्रवाद धर्मनिरपेक्षता का विरोधी है। भारतीय राष्ट्र की धारणा में पृथक्तावादी साम्प्रदायिक तत्वों को दूर रखने की आवश्यकता है। जयप्रकाश यह मानते हैं कि हिन्दू राष्ट्र की साम्प्रदायिक एवं धार्मिक आधार पर स्थापना स्वयं हिन्दू समुदाय के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। जाति व्यवस्था, मतमतान्तर तथा अस्पृश्यता के निवारण से ही हिन्दू समाज की संस्कृति को बहुधर्मी, बहुसाम्प्रदायिक भारतीय समाज से जोड़ा जा सकता है। धर्मनिरपेक्षता के तत्व के माध्यम

से राष्ट्रीयता तथा एकता की स्थापना बलवती होगी। धर्मनिरपेक्षता को स्पष्ट करते हुए जयप्रकाशनारायण ने व्यक्त किया है कि धर्मनिरपेक्षवाद अधर्म, नास्तिकता तथा भौतिकवाद का पर्यायवाची नहीं है। भारतीय जनता जो कि अत्यन्त धार्मिक है वह ऐसे धर्मनिरपेक्षवाद का अवलम्बन नहीं लेगी जो धर्म को निर्मूल करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हो। उनके अनुसार धर्मनिरपेक्षवाद को राज्य तथा सामाजिक जीवन के संदर्भ में ही देखने की आवश्यकता है। भारत के संविधान निर्माताओं ने संविधान में कहीं पर भी धर्मनिरपेक्ष शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है फिर भी उनका उद्देश्य धर्मनिरपेक्ष भारत राज्य स्थापित करने का रहा है। भारत का संविधान अमेरिका की तरह धर्म तथा राज्य के मध्य अभेद्य दीवार खड़ी नहीं करता किन्तु ब्रिटिश राज्य से अधिक धर्मनिरपेक्षता का समर्थन करता है। भारतीय संविधान किसी भी धर्म को प्रधानता नहीं देता। भारत राज्य का कोई राज्य-धर्म नहीं है और वह सभी धर्मों के प्रति उदार निरपेक्षता का परिचय देता है। संविधान में ऐसे भी प्रयोजन रखे गये हैं जिसमें सरकार धर्म से सम्बन्धित धर्मनिरपेक्ष गतिविधियों का विधायी नियमन करने का अधिकार रखती है। इसी प्रकार से सामाजिक कल्याण एवं सुधार की दृष्टि से शासन ऐसे कानून पारित कर सकता है जो धार्मिक विश्वास एवं क्रिया-कलापों में हस्तक्षेप करने वाले माने जाते हों।[39]

जयप्रकाशनारायण ने हिन्दू राष्ट्र के समर्थकों द्वारा राज्य के धर्मनिरपेक्ष होने की आलोचना का विरोध किया है। उनके अनुसार हिन्दू राजनीतिक चिंतन में अनेकों ऐसे संदर्भ हैं जिनमें यह स्पष्ट होता है कि राज्य तथा धर्म को अलग-अलग रखना चाहिये। प्राचीन समय से ही भारत में हिन्दू राज्यों ने विभिन्न सम्प्रदायों को अपनी धार्मिक मान्यताएं बनाये रखने का अधिकार दिया था। धर्म के नाम पर दमन भारतीय इतिहास का अंग नहीं रहा। भारतीय धार्मिक एवं दार्शनिक चिंतकों द्वारा पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग किया गया है। प्राचीन भारत में चिंतन की स्वतन्त्रता इतनी अधिक रही जितनी पाश्चात्य देशों में कुछ वर्षों पहले तक नहीं थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू संस्कृति पर भारतीय राजनीति को अवस्थित करने का हिन्दू राष्ट्रवादियों का प्रयास धर्मान्धता का प्रतीक है। यद्यपि भारत के मुस्लिम समुदाय में परम्परागत इस्लाम धर्म की मान्यताओं के कारण धर्म तथा राज्य एक दूसरे से इतने गुंथे हुए हैं कि मुसलमानों द्वारा धर्मनिरपेक्ष राज्य के साथ सामंजस्य स्थापित करना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु आधुनिक विश्व की वैज्ञानिक एवम् तकनीकी मान्यताओं के कारण विश्व के मुस्लिम राज्य भी धर्म को राज्य से पृथक् करने में लगे हुए हैं।[40]

जयप्रकाशनारायण के अनुसार अन्य धार्मिक सम्प्रदायों में राज्य तथा धर्म सम्बन्धी विवाद इतनी बड़ी समस्या नहीं है। ईसाइयों ने लम्बे समय तक संघर्षरत रहकर चर्च को धर्म से पृथक् करने में सफलता अर्जित की है। सिक्ख सम्प्रदाय भी राज्य को धर्म के अन्तर्गत मानता रहा है किन्तु शनैः शनैः उनमें भी परिवर्तन दिखाई देता है। भारत के अन्य धार्मिक समुदाय भी धर्मनिरपेक्ष राज्य की मान्यता स्वीकार करते हैं किन्तु सामाजिक जीवन में धर्मनिरपेक्षवाद की प्रगति अधिक उत्साहवर्धक प्रतीत नहीं होती। इसका कारण यह हो सकता है कि हम धर्म के वास्तविक मूल्यों को भूलकर केवल रूढ़िवाद एवम् अन्ध-विश्वास में फंसे हुए हैं। आर्थिक विपन्नता से उत्पन्न बेरोजगारी की समस्या भी धार्मिक

संकीर्णता का कारण हो सकती है जिसमें जाति अथवा साम्प्रदायिकता के नाम पर आर्थिक प्रतियोगिता से लाभ उठाने का प्रयास किया जाता हो। यही कारण है कि भारत में अनेक शिक्षित जन, धार्मिक तथा जातीय दृष्टि से उग्र साम्प्रदायिक दृष्टिकोण रखते हैं।[41]

जयप्रकाशनारायण के अनुसार केवल राज्य का धर्मनिरपेक्ष होना ही राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से काफी नहीं है। राज्य के साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी धर्म निरपेक्षता की समान मान्यता होनी चाहिये। सामाजिक जीवन के धार्मिक तथा अधार्मिक पक्षों पर इसका तीन तरह से प्रभाव पड़ता है। (1) समाज में व्यक्ति अपने धर्म के प्रति निष्ठावान रहते हुए अन्य धर्मों के प्रति आदर का भाव रखें तथा उनके प्रति सहिष्णुता एवं सद्भाव बनाये रखें। (2) धर्मविहीन दृष्टिकोण से सामाजिक जीवन में विवेक, नैतिकता तथा मानवीय दृष्टिकोण द्वारा सामाजिक जीवन शासित हो न कि धार्मिक एवम् साम्प्रदायिक विचारों से। (3) धार्मिक क्रियाकलाप में भी धर्म के आवश्यक तत्वों एवम् धर्म से सम्बंधित अमानवीय कृत्यों जैसे नर-बलि, अस्पृश्यता जातिगत ऊंच-नीच की भावना आदि को पृथक रखा जाये। धर्म से ऐसे तत्वों को दूर करने की आवश्यकता है जो धर्म की दृष्टि से भी तर्क संगत नहीं है जैसे इस्लाम पर आधारित बहुपत्नी प्रथा। भारतीय समाज राष्ट्रवाद के साम्प्रदायिक पक्ष के प्रति जितना जागृत रहेगा उतना ही राष्ट्रीय एकता एवं सामाजिक शांति को बल प्राप्त होगा। भारत में ऐसे राजनीतिज्ञों की कमी नहीं है जो अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अंध-विश्वास, धार्मिक मतांधता एवम् जातिगत द्वेष को फैलाने का प्रयास करते हैं। इसके कारण आधुनिक विज्ञानजनित जागृति की प्रक्रिया तथा प्राचीन भारतीय आध्यात्मिकता जो कि उपनिषद कालीन गौरव गाथाओं की प्रतीक है, सीमित हो जाती है। भारतीय एकता की प्रक्रिया मूल रूप से बौद्धिक एवं आध्यात्मिक चेतना की प्रक्रिया है।[42]

समाजवाद तथा सर्वोदय

जयप्रकाशनारायण के अनुसार सर्वोदय के सम्बन्ध में अनेक व्यक्ति अहिंसा एवं त्यागिता के सम्बन्ध में काफी कुछ वार्तालाप करने के बाद भी सामाजिक परिवर्तन लाने में अधातुर दिखाई देते हैं। यदि सर्वोदय योजना का ध्यान से अध्ययन किया जाय तो यह केवल भावुकता प्रधान योजना न होकर सामाजिक क्रांति का ठोस सुझाव है। परम्परागत समाजवादी चिन्तन से बाहर यह पहला प्रयास है जो नये समाज की रचना का चित्र प्रस्तुत करता है। समाजवादी, विशेषतौर से वैज्ञानिक समाजवादी, विचारकों द्वारा जिन्हें निरपेक्ष होना चाहिये तथा तथ्यों के आधार पर विचार प्रकट करना चाहिये सर्वोदय की योजना के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाकर उन व्यक्तियों का समर्थन करना चाहिये जो सर्वोदय के कार्य के लिए अपना सर्वस्व दान दे चुके हैं। इस रूप में सर्वोदय योजना समाजवादी दल के 80 प्रतिशत कार्यक्रमों को लिए हुए है। साथ-साथ वर्गविहीन एवं जातिविहीन समाज-वाद का आदर्श भी सर्वोदय की धारणा में सम्मिलित है।[43]

वर्धा से 30 जनवरी 1950 को सर्वोदय योजना प्रकाशित की गयी। यह योजना राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के गांधीजी के सिद्धांतों के क्रियान्वयन के लिए प्रस्तुत की गई थी। इसका आदर्श एक अहिंसक, शोषणरहित सहकारिता के आधार पर स्थापित समाज है जो जाति अथवा वर्ग पर आधारित नहीं होगा और सभी को समान अवसर की सुविधा प्राप्त

होगी। सर्वोदय योजना में वर्तमान प्रतियोगी अर्थ व्यवस्था के स्थान पर सहयोग पर आधारित सामाजिक अर्थ व्यवस्था स्थापित की जायेगी। कृषि भूमि पर स्वामित्व का अधिकार जमीन जोतनेवाले को दिया जायेगा जो कि समाज द्वारा स्वीकृत नियमों के आधार पर होगा। भूमि का पुनर्वितरण नहीं होगा और कोई भी व्यक्ति निश्चित भूमि के तीन गुने से अधिक भूमि नहीं रख सकेगा। शेष सत्ताधिकारी जोत को सहकारी फार्मों में परिवर्तित कर दिया जायेगा। बेकार भूमि पर सामूहिक कृषि की जायेगी और उन्हें कृषि योग्य बनाया जायेगा। व्यक्तिगत जमीनों पर खेती करने वाले कृषकों को आर्थिक बहुधंधी संगठनों के माध्यम से कार्य करना होगा। वर्तमान मूल्य स्तर को ध्यान में रखते हुए 100 रुपया प्रतिमाह न्यूनतम वेतन अथवा आय के रूप में निर्धारित किया जायेगा। और इसके 20 गुना अधिक अर्थात् दो हजार रुपया से अधिक किसी की आय अथवा पारिश्रमिक आदि नहीं होगी। इस योजना में उद्योगों को केन्द्रित एवं विकेन्द्रित दो भागों में विभाजित किया गया है। केन्द्रित उद्योगों में सामाजिक स्वामित्व होगा और उन्हें स्वायत्त शासी निगमों अथवा सहकारी समितियों के माध्यम से चलाया जायेगा। ऐसे केन्द्रित उद्योगों को आय पर दो हजार रुपयों की न्यूनतम मासिक आय के आधार पर मुआवजा देकर राष्ट्रीयकरण कर लिया जायेगा। अर्थात् मुआवजा इतना सीमित होगा कि वह केवल गुजारे के योग्य रहेगा। सार्वजनिक स्वामित्व वाले केन्द्रित उद्योगों में कर्मचारियों को व्यवस्थापन में सम्बद्ध किया जायेगा। विदेशी कम्पनियों को या तो समाप्त कर दिया जायेगा या उनको सार्वजनिक स्वामित्व के अन्तर्गत ले लिया जायेगा। विकेन्द्रित उद्योगों की स्थिति इससे कुछ भिन्न होगी। इन उद्योगों में उत्पादन के उपकरण व्यक्तिगत अथवा सहकारी स्वामित्व में होंगे। देश का विदेश व्यापार सार्वजनिक निगम के नियंत्रण के अधीन होगा। बैंक तथा बीमा कम्पनियों के सम्बन्ध में सर्वोदय योजना में न्यूनतम कार्यक्रम व्यापक स्तर पर बचत योजना संगठित करने, कृषि तथा विकेन्द्रित उद्योगों के हित में पूंजी विनियोग को सीमित करने का रहेगा। अन्त में बैंकों तथा बीमा कम्पनियों को राष्ट्रीयकृत कर लिया जायेगा ताकि राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था को वृहत् पूंजी के एकाधिकार के कुचक्र से बचाया जा सके। करारोपण के सम्बन्ध में सर्वोदय योजना का उद्देश्य एक ऐसी वित्तीय व्यवस्था को विकसित करना है जिसके अन्तर्गत अधिकतम सार्वजनिक राजस्व का प्रधान प्रतिशत धन देनेवालों द्वारा खर्च किया जा सके। शेष प्रधान प्रतिशत से उच्च निकायों का अनुदान बनाया जायेगा। सर्वोदय योजना के उपर्युक्त आधार निश्चित रूप से समाजवाद की ओर ले जाते हैं।[44]

सर्वोदय योजना का दूसरा चरण पहले चरण से अधिक सफल होगा। चूँकि इस योजना का निर्माण राजनीतिज्ञों तथा राजनीतिक दलों के स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं किया गया अतः यह कहना कि सर्वोदय योजना के बाद समाजवादी दल की आवश्यकता ही नहीं रहेगी उचित नहीं है। यह योजना किसी भी राजनीतिक कारण से प्रेरित नहीं है। इसका एक मात्र उद्देश्य राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का गांधीवादी कार्यक्रम देश के समक्ष प्रस्तुत करना है। किन्तु जयप्रकाश नारायण ने साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सर्वोदय योजना का क्रियान्वयन करने के लिए कार्यकर्ताओं के पास क्रियान्वयन के उपकरण उपलब्ध नहीं है। योजना के प्रारम्भ में कांग्रेस द्वारा इसे लागू करने का प्रयास किया गया था

लेकिन वह आशा ही धूमिल हो गई है। यदि समाजवादी दल इस पर अमल करना चाहे तो सर्वोदय कार्यकर्ता समूह उनका समर्थन करेंगे। जयप्रकाश की मान्यता है कि रचनात्मक कार्यकर्ताओं तथा समाजवादी दल को नये सामाजिक ढाँचे को तैयार करने के लिए एक हो जाना चाहिये। किन्तु वे शीघ्रता से यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि समाजवाद केवल सर्वोदय योजना ही नहीं है समाजवाद इससे भी अधिक है।[35]

जयप्रकाश नारायण ने गांधीवाद को समाजवाद का पर्यायवाची नहीं माना है। किन्तु वे दृढ़ता के साथ यह कहना चाहते हैं कि भारत में समाजवाद गांधीवाद को भुला कर नहीं लाया जा सकता। वैज्ञानिक समाजवादियों ने गांधीवाद को आणुविक युग की आवश्यकताओं के संदर्भ में पुरातन पंथी बतलाते हुए अस्वीकृत कर दिया है। वे गांधीवाद को मध्ययुगीन, प्रतिक्रियावादी तथा निहित स्वार्थों को अप्रत्यक्ष रूप से समर्थित करनेवाला मानते हैं जो कि उचित नहीं है। अनेक आलोचकों ने गांधीजी के न्यासिता सिद्धान्त की मखौल उड़ाई है और गांधीजी को वर्ग सहयोगी कह कर पुकारा है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार ऐसे वैज्ञानिक समाजवादी आलोचक वैज्ञानिक हैं ही नहीं। वास्तविकता यह है कि गांधीजी प्रतिक्रियावाद से दूर एवं महान सामाजिक क्रांतिकारी कहे जा सकते हैं जिनका अपना पृथक मौलिक अस्तित्व है। गांधीजी ने सामाजिक चिंतन तथा सामाजिक परिवर्तन पद्धतिशास्त्र को विशेष योगदान देकर मानवीय प्रगति एवं सभ्यता को अमरत्व प्रदान किया है। जयप्रकाश के अनुसार गांधीवाद का पहला पक्ष जो कि समाजवाद के लिए रुचि का विषय होना चाहिये वह है उसका नैतिक अथवा आचारगत आधार, उसका मूल्यों पर विशेष आग्रह। रूसी अथवा स्टालिनवादी समाजवादी दर्शन की व्याख्या ने समस्त चिंतन को मैकियावेली के समान सद्-असद्, भले-बुरे आदि के ज्ञान से विहीन कर दिया है। मैकियावेली के समान स्टालिनवादी दर्शन साध्य को साधन से अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। उनके लिए निजी अथवा सामूहिक शक्ति ही एक मात्र साध्य है और इस उद्देश्य पूर्ति के लिए वे किसी भी साधन का उपयोग तथा दुरुपयोग करने से नहीं झिझकते। प्रत्येक साम्यवादी देश में शक्ति के लिए संघर्ष—जो कि साम्यवादी शक्तिलोलुप वर्ग में पारस्परिक रूप से होता है—ने एक सर्वाधिकारवादी समाज का निर्माण किया है जो समाजवाद के संस्थापकों के पोषित विचारों के विपरीत होते हुए सामाजिक क्रांति को दूषित करता है। ऐसे नैतिकताविहीन भयावह विचार के विरुद्ध गांधीजी का राजनीतिक दर्शन समाजवादियों के लिए आत्मशुद्धि का उपचार प्रस्तुत करता है। गांधीवादी समाज व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के उन मूल्यों को नवीन सभ्यता का आधार बनाना चाहता है जिन्हें प्राप्त करने के लिए समाजवादी लालायित है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से गांधीवाद धर्मनिरपेक्ष तथा धार्मिक अथवा आधिभौतिक आधार लिए हुए है जबकि समाजवादी दर्शन पूर्णतया धर्म निरपेक्ष तथा प्राकृतिक एवं भौतिक है। किन्तु जीवन में व्यवहारिक गांधीवाद समाजवाद से भिन्न मूल्यों का दुराग्रह नहीं करता। सामाजिक तथा आर्थिक समानता अर्थात् वर्ण विहीन एवं वर्गविहीन समाज शोषण से मुक्ति मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा, सहयोग प्रत्येक के कल्याण का सामाजिक उत्तरदायित्व तथा प्रत्येक का समाज के प्रति उत्तरदायित्व समान रूप से गांधीवाद में विद्यमान है।[36]

क्रांतिकारी तकनीक

एवं समाजवादी की दृष्टि से गांधीवाद का दूसरा आकर्षक पक्ष

को नवीन योगदान देने में है। शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने में गांधीजी के पहले केवल हिंसक साधनों का ही प्रचार था। शांतिपूर्ण साधनों का प्रयोग आंदोलनों तथा औद्योगिक श्रमिकों द्वारा हड़ताल एवं सामूहिक हड़ताल में प्रयुक्त होता था। इससे अधिक संघर्ष शक्ति-विहीन प्रतीत होता था। हिंसक साधनों का प्रयोग न तो सुगम था और न सलाह योग्य। अतः सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करने में असमर्थ था। महात्मागांधी की सविनय अवज्ञा एवं सत्याग्रह की पद्धति से शोषित तथा दलित मानव ने एक नयी तकनीक प्राप्त की है जो संघर्ष को शांतिपूर्ण सीमा के आगे ले जाते हुए सामाजिक न्याय तथा सामाजिक परिवर्तन की मांग को समुचित अभिव्यक्ति प्रदान करती है।[47]

गांधीवाद का तीसरा पक्ष आर्थिक एवं राजनीतिक विकेन्द्रीकरण पर जोर देने से सम्बन्धित है। वामपंथी क्षेत्र में इस पक्ष को उचित मान्यता नहीं मिली किन्तु ऐसे समाजवादी चिंतक जो श्रमिकों के लोकतन्त्र में अपनी शक्ति की तुलना नहीं करते और जो राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण से उत्पन्न विनाशक प्रभावों से परिचित हैं वे गांधीवाद के इस पक्ष को सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से देखते हैं। आर्थिक विकेन्द्रीकरण का यह अर्थ कदापि नहीं है कि आधुनिक विज्ञान एवं प्रविधि को तिलांजलि दे दी जावे। जयप्रकाश के अनुसार यह भी नहीं है कि आधुनिक उत्पादन की तकनीकों से शोषण नहीं होता अथवा व्यक्ति का व्यक्ति पर आधिपत्य स्थापित नहीं किया जाता। भारत जैसे पिछड़ी अर्थव्यवस्था वाले देशों के लिए विकेन्द्रित उद्योगों का अधिक महत्व है। क्योंकि भारत में उत्पादन श्रमलाभ की दृष्टि से किया जाता है न कि पूंजीगत लाभ की दृष्टि से। यह दृष्टिकोण गांधीवादी चिंतन तथा भारत में समाजवादी पुनर्निर्माण में निकटता स्थापित करता है। जयप्रकाश नारायण के अनुसार राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ न तो राज्य को दुर्बल बनाने से है और न योजनाबद्ध जीवन के अभाव से। इस दृष्टि से गांधीवादी रचनात्मक कार्यकर्ताओं की एक विशेष भूमिका है। उपर्युक्त तीन आधारों के अलावा भी अनेक ऐसे आधार हैं जिन पर गांधीवाद के योगदान का समर्थन किया जा सकता है।[48]

साम्यवाद, समाजवाद तथा सत्याग्रह

जयप्रकाश नारायण ने साम्यवाद तथा समाजवाद का विवेचन करते हुए गांधीवादी चिंतन के सत्याग्रह के आदर्श से उनकी तुलना की है। उनके अनुसार समाजवाद तथा साम्यवाद दोनों ही असफल सिद्ध हुए हैं। जहां कहीं भी साम्यवाद सफल हुआ है उसकी परिणति राज्य पूंजीवाद तथा अधिनायकतन्त्र—जो कि साम्यवाद के प्रतिवाद हैं—के रूप में हुई है। समाजवाद पश्चिमी यूरोपीय देशों के संदर्भ में अपना प्राचीन आदर्शवाद खो चुका है और वह केवल मतदानात्मक एवम् वैधानिक मान्यता मात्र रह गया है। इस प्रकार से हिंसा एवं मतदानात्मक कार्य दोनों ही पद्धतियां विफल हुई हैं। जयप्रकाश के अनुसार गांधीवाद अहिंसक जन-आन्दोलन द्वारा क्रांति का मार्ग प्रस्तुत करता है जिसे तीसरा विकल्प माना जा सकता है। गांधीवाद का उज्ज्वल पक्ष यह है कि वह शक्ति हथियाने पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करता और न राज्य शक्ति पर निर्भर करता है। गांधीवाद सीधा जनता तक पहुंचता है, उन्हें उनके जीवन में क्रांति लाने में सहायता देता है और उनके माध्यम से समस्त समुदाय के जीवन में क्रांति का सूत्रपात करता है। राज्य शक्ति का समर्थन तभी किया जाता है जब जन शक्ति का निर्माण सुनिश्चित हो।[49]

उपर्युक्त दृष्टि से गांधीवादी तकनीक दल तथा वर्ग के संकीर्ण दायरे से बाहर जाती दिखाई देती है क्योंकि यह सभी दलों तथा सभी वर्गों के सदस्यों को परिवर्तित करने तथा क्रांतिकारी बनाने का उद्देश्य रखती है। समाजवाद एक वर्ग को दूसरे के विरुद्ध भड़काकर आगे बढ़ना चाहता है। किंतु गांधीवाद वर्गों के मध्य अपना मार्ग निर्मित करता है। समाजवाद एक वर्ग को अन्य वर्गों पर विजयी बनाकर वर्गों का विनाश करना चाहता है जो कि पूर्ण अतार्किक है। गांधीवाद वर्गों को एक दूसरे के निकट लाकर वर्ग भेद इस प्रकार से समाप्त करना चाहता है कि किसी प्रकार का वर्ग भेद बचे ही नहीं। समाजवाद का अंतिम लक्ष्य है राज्य विहीन समाज की स्थापना किन्तु समाजवाद राज्य को सामाजिक क्रांति का आधार बनाकर सर्वशक्तिमान बना देता है। जबकि गांधीवाद समाजवाद की भांति ही राज्य विहीन समाज की स्थापना के उद्देश्य की पूर्ति के लिए करता हुआ सामाजिक प्रक्रियाओं को राज्य पर कम से कम निर्भर करने का प्रयास करता है। राज्यविहीन समाज की स्थापना तत्क्षण होनी चाहिये। भविष्य के किसी काल्पनिक समय में उसकी स्थापना का आश्वासन व्यर्थ है। इस प्रकार से गांधीवाद उस क्रांतिकारी प्रक्रिया का प्रतीक है जो अन्य प्रक्रियाओं से लक्ष्य प्राप्ति में अधिक सफल हो सकती है।[80]

जयप्रकाश नारायण ने उपर्युक्त आधारों पर गांधीवाद तथा गांधीवादी तकनीक के गूढ़ अध्ययन का समर्थन किया है। उनके अनुसार सत्याग्रह समाजवादी क्षेत्र में एक फैशन सा बन गया है किन्तु सत्याग्रह को कई अर्थों में एक स्वतन्त्र समतापूर्ण एवं श्रेष्ठ समाज की स्थापना का सहायक बनाने के लिए उसे दलगत संघर्षों से कलुषित नहीं करना है। यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि कोई भी शांतिपूर्ण कार्य सत्याग्रह नहीं कहा जा सकता। सत्याग्रह हृदय परिवर्तन की सम्भावना में पूर्ण निष्ठा पर आधारित है। यदि कोई सत्याग्रही विशेष अपने प्रतिद्वन्द्वी के हृदय को परिवर्तित करने में असफल होता है तो उसमें सत्याग्रह की असफलता नहीं है। यह व्यक्तिगत असफलता ही मानी जानी चाहिये। इस तरह सत्याग्रह दलगत अथवा वर्गगत संघर्ष नहीं हो सकता। इसकी अपील सभी दलों तथा सभी वर्गों के लिए है। सत्याग्रही के लिए इस आदर्श की प्राप्ति चाहे सम्भव न हो सके लेकिन आवश्यक बात यह है कि सत्याग्रही सत्याग्रह के आदर्श को भली-भांति समझे और इसके लिए पूर्णनिष्ठा से कार्य करता रहे।[81]

सामाजिक परिवर्तन के नवीन आयाम

जयप्रकाश नारायण के अनुसार समाजवाद ने विश्व मानवता के समक्ष समानता,
स्वतन्त्रता, बन्धुत्व एवं शांति तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहजीवन के उच्च आदर्शों को प्रस्तुत
किया है। किन्तु ये आदर्श अभी भी दूर के स्वप्न के समान है। प्रारम्भ के दिनों में इस
अनुमान को कि एक बार समाजवादियों के शक्ति में आते ही सारे स्वप्न पूरे हो जायेंगे,
सफलता नहीं मिली। समाजवाद के आदर्श तथा सिद्धान्त आज विस्मृत होने अथवा पीछे
धकेल दिये जाने की स्थिति में है। इसका कारण समाजवादी आदर्श की प्राप्ति के लिए
प्रयुक्त किये गये दोषपूर्ण उपागमों में है। समाजवाद को जीवन का प्रकार, चिंतन का
एक पक्ष तथा व्यवहार के एक नैतिक आदर्श के रूप में माना गया है। किन्तु इस संदर्भ
में यह भुला दिया गया है कि ऐसा उच्च आदर्श सरकार के निर्देशों के बाह्य दबाव अथवा

उद्योगों के राष्ट्रीयकरण तथा पूंजीवाद को समाप्त करने मात्र से प्राप्त नहीं हो सकता। समाजवादी समाज का निर्माण मौलिक रूप में एक नीवन मानव का निर्माण है। ऐसे मानवीय पुनर्निर्माण की महत्ता को सभी ने स्वीकार किया है। किन्तु इस तथ्य की स्वीकारोक्ति के बाद भी राज्यरूपी वाहन में बैठने वालों की दौड़ निरन्तर जारी है। यह स्पष्ट है कि यदि मानवीय पुनर्निर्माण समाजवादी पुनर्निर्माण की कुंजी है और वह राज्य के क्षेत्र की पहुंच के बाहर है तो समाजवादी आन्दोलन पर जोर देने के लिए आन्दोलन को राजनीतिक कार्यों के स्थान पर पुनर्निर्माण के कार्य में परिवर्तित कर देना चाहिये। जयप्रकाश नारायण के अनुसार समाजवाद के लिए सबसे बड़ी चुनौती यह है कि मानवीय पुनर्निर्माण किस प्रकार से सम्भव है। इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिये गये है। कोई शिक्षा को इस कार्य के लिए उपयुक्त मानता है तो कोई और अन्यतथ्य को। शिक्षा से इस समस्या का समाधान नहीं है। जिस बात की आवश्यकता है वह यह है कि समाजवादी आदोलन एक जन आदोलन के रूप में मानवीय पुर्नर्निर्माण का कार्य करे। ऐसा आन्दोलन तभी सफल हो सकता है जब वह गैर राजनीतिक उद्देश्यों से चलाया जाये और राज्य पर आधिपत्य करने का इसका लक्ष्य न हो। क्योंकि मनुष्य के पुनर्निर्माण की दृष्टि से राज्य पूर्णतया असगत सिद्ध होगा।[52]

ऐसे आन्दोलन की प्रेरक शक्ति स्वार्थों की टकराहट नहीं हो सकती। श्रमिकों का स्वार्थ पूंजीपतियों के स्वार्थ से भिन्न होता है तथा मध्यस्थता वाले हित अपनी-अपनी दृष्टि से अपना मार्ग चुनते हैं। ऐसे समाज में अनेक मौलिक मतभेद हो सकते हैं जो इस कहावत 'बोये पेड़ बबूल का आम कहा से खाय' को चरितार्थ करते हैं। अत: आन्दोलन की प्रेरक शक्ति समाजवादी मूल्यों के अनुरूप होनी चाहिये। इस सदर्भ में जयप्रकाश नारायण ने समाजवाद की परिभाषा प्रस्तुत की है। वे समाजवादी समाज को ऐसा समाज बतलाते हैं जिसमें व्यक्ति स्वेच्छा से अपने स्वयं के हितों को समाज के व्यापक हितों के अधीन बना लेता है। इस परिभाषा में स्वेच्छिक शब्द का विशेष महत्व है। मनुष्यों को अपने हितों को दूसरे के हितों के अधीन बनाने के लिए अनेक प्रकार से विवश किया जा सकता है। किन्तु ऐसे कार्य में शक्ति का प्रयोग आवश्यक है। अत: बल प्रयोग से समाजवाद सीमित एवं भ्रष्ट बन जाता है। समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्व तब तक सभव नहीं है जब तक व्यक्तियों का नैतिक विकास इतना न हो जाये कि वे स्वेच्छा से अपनी आवश्यकताओं को सीमित करने के लिए तैयार हो तथा अपनी स्वतन्त्रता को अन्य सहयोगियों के अधीन बना दें। यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वय के लिए अधिक से अधिक प्राप्त करने की इच्छा रखता हो और उसकी पूर्ति में लगा रहता हो तो समाजवादी समाज की स्थापना नहीं हो सकती। जब तक व्यक्ति आत्मनियंत्रण का पाठ नही पढ़ लेता तथा ऐसे नियन्त्रण के मनुष्य अपने जीवन को नहीं बना लेता तब तक व्यक्ति तथा व्यक्ति के मध्य एवं उसके समूहों, वर्गों तथा राष्ट्रों के मध्य सघर्ष बना रहेगा। विज्ञान ने व्यक्ति के हाथ में सम्पन्न जीवन के साधन उपलब्ध किये हैं। सार्वभौमिक सुख की सभावना के मध्य मनुष्य ने ईर्ष्या, लालच तथा स्वार्थपरायणता के कारण व्यापक कष्टों का जाल बुन लिया है। विश्व शीत-युद्ध एवम् उष्ण-युद्ध के कारण सर्वनाश के कगार पर खड़ा है। विश्व में प्रत्येक के लिए काफी वस्तुएं उपलब्ध है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए अधिक से अधिक प्राप्त करना

चाहता है। जयप्रकाश ने यह भय प्रकट किया है कि यदि मानव का नैतिक विकास वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के समानान्तर नहीं रहा तो उसका भविष्य अन्धकारमय हो जायेगा। इसलिये आवश्यकता इस बात की नहीं है कि स्वार्थों पर परस्पर द्वन्द्व हो किन्तु सामाजिक मूल्यों पर आधारित समता की भावना लायी जाये। शक्ति की पिपासा को छोड़कर राजनीति में सहभागी बनने वाले व्यक्तियों द्वारा नये जीवन का प्रारम्भ किया जाय। समानता के उपदेश के स्थान पर समानता का प्रयोग प्रारम्भ किया जाय। वास्तविक समानता की स्थापना तब तक संभव नहीं है जब तक समाज के सदस्य मार्क्स के 'प्रत्येक व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार' के आदर्श का पालन नहीं करते। यद्यपि कोई भी राज्य व्यक्ति को इस आदर्श के अनुरूप जीने के लिए बाध्य नहीं कर सकता। यह तभी व्यवहार में आ सकता है जब मानव समुदाय स्वेच्छा से इसे स्वीकार करे। समानता का यह अर्थ नहीं है कि धनी व्यक्ति से छीन लिया जाये व निर्धन में बांट दिया जाये। यदि निर्धन व्यक्तियों ने अमीरों की संपत्ति प्राप्त कर समानता साबित करने के लिए उसका स्वयं वितरण प्रारम्भ कर दिया और जीवन के वास्तविक दर्शन को नहीं स्वीकार किया तो वे स्वयं अपने मध्य असमानता के विभिन्न प्रकारों का निर्माण करेंगे। यदि निर्धन व्यक्तियों ने जीवन दर्शन को स्वीकार कर उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयास किया और व्यापक स्तर पर उसका प्रयोग किया तो अमीर भी उसमें पीछे नहीं रहेंगे। यही बात समाजवाद के अन्य मूल्यों और आदर्शों पर भी लागू होती है।[53]

समाजवाद की विचारधारा सम्बन्धी समस्याएँ

जयप्रकाश नारायण के अनुसार समाजवाद का अर्थ है नब्बे प्रतिशत व्यवहार तथा दस प्रतिशत सिद्धांत। उनके अनुसार समाजवादियों ने इस साधारण गणना को भुला दिया है। कोई भी सिद्धांत व्यवहार में प्रयुक्त होने के पश्चात् ही सत्य की कसौटी पर अच्छा या बुरा बताया जा सकता है। सिद्धांत तथा व्यवहार में अन्तर्सम्बन्ध होना चाहिये। यदि इस आधार पर समाजवाद का प्रयोग किया जाये तो समाजवाद के सम्बन्ध में विचारवाद से सम्बन्धित उतनी समस्याएँ उत्पन्न नहीं होंगी जितनी दिखाई देती हैं। जयप्रकाश नारायण ने कुछ प्रमुख समस्याओं पर विचार व्यक्त किये हैं। जयप्रकाश के अनुसार पहली समस्या समाजवादी मूर्तियों से सम्बन्धित है। सोवियत रूस के सफल समाजवादी उदाहरण को ध्यान में रखते हुए समाजवाद के सम्बन्ध में अनेक नये प्रश्न उत्पन्न हुए। रूस के समाजवादी संस्थापकों ने न केवल सामाजिक संरचनाओं के नियमों को ही बदला अपितु संरचनाओं को ही बदल दिया। एक नवीन आर्थिक आधार पर समाजवादी समाज की स्थापना की गई है। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है, कृषि का सामूहिकीकरण कर दिया गया है। निजी लाभ की भावना को आर्थिक व्यवस्था से हटा दिया गया है। इससे जिन सामाजिक संरचनाओं एवं अन्य संरचनाओं का निर्माण हुआ है वे समाजवाद के विवरण में सही नहीं बैठती। सोवियत रूस को देखकर यह विश्वास नहीं होता कि वह समाजवादी समाज है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे समाजवाद के स्थान पर राज्य पूंजीवाद की स्थापना करदी गयी हो।[54]

उपर्युक्त भ्रान्ति का कारण ढूंढा जा सकता है। यदि हम मार्क्स के द्वन्द्वात्मक अथवा ऐतिहासिक भौतिकवाद को देखें तो हमें यह जानकर निराशा होगी कि रूस में

मार्क्स के विचारों के विपरीत प्रयोग हुए हैं। वैज्ञानिक एवं तकनीकी दृष्टि से रूस तथा अमेरिका दोनों ही समान रूप से सम्पन्न है किन्तु एक में पूंजीवादी समाज है और दूसरे में भिन्न प्रकार की व्यवस्था। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराने विचारवादी मापदण्ड सीमित हो चले हैं। मार्क्स ने इतिहास की जो व्याख्या की थी वह वहीं पर रुकी हुई है। यह आशा की जाती थी कि रूस में समाजवादी शासन की स्थापना के पश्चात् समाजवाद का विज्ञान आगे बढ़ेगा और मार्क्स का दर्शन तथा उसकी ऐतिहासिक व्याख्या को आगे बढ़ाया जायेगा। किन्तु विडंबना यह है कि रूस मे इतिहास को बनाने के स्थान पर उसे तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है। यदि सत्य से आँख मूंद ली जाये तो किसी भी तरह की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकती।[55]

इसी प्रकार से रूस मे सत्ता की स्थापना के पश्चात् साम्यवादी दल के अन्दर ही सत्ता के लिये भयंकर संघर्ष होता रहा है। यही स्थिति उन समाजवादी देशों की भी है जो स्टालिनवादी साम्यवाद के अन्तर्गत बने थे। इससे एक गंभीर समस्या यह उत्पन्न हो गई है कि साम्यवादी दल उच्च आदर्शों के स्थान पर शक्ति की राजनीति का मोहरा बन गया है। किसी भी साम्यवादी देश मे राज्यविहीन समाज की स्थापना नहीं हुई है। रूस ने अब इस आदर्श का नाम लेना ही बन्द कर दिया है। साम्यवादी दलों में शक्ति की होड़ के कारण दलों का नैतिक अवमूल्यन प्रारम्भ हो गया है। आज मार्क्सवाद का सामान्यतः स्वीकृत दर्शन नैतिकता विहीन हो चला है। साम्यवाद ने व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पर्यावरण को बदलने का प्रयास किया है किन्तु व्यक्ति को अछूता छोड़ दिया है। व्यक्ति की प्रकृति में निहित बुराइयों ने अपनी जड़े और गहरी कर ली है जिसमे सामाजिक पुनर्निर्माण का कार्य जटिलतम हो गया है। भारत मे व्यक्ति के विकास के लिए उसके पर्यावरण को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। गौतम बुद्ध ने मानवीय कष्टों का कारण मानवीय इच्छाओं को बताया है। उन्होंने आत्म संस्कृति की ऐसी व्यवस्था विकसित की जिससे व्यक्ति की मानवीय प्रकृति स्वतः परिवर्तित होने लगे और अपने कष्टो के निवारण के लिए व्यक्ति अपनी तृष्णाओं पर नियन्त्रण रख सके। किन्तु यह प्रयास भी एकांगी दिखाई देता है—ठीक उसी प्रकार से जैसे कि समाजवादी देश पर्यावरण को परिवर्तित करना चाहते हैं किन्तु व्यक्ति को भूल जाते हैं। बुद्ध ने दुःख का कारण तृष्णा को बतलाया। उन्होंने सामाजिक संस्थाओं तथा सामाजिक पर्यावरण मे उत्पन्न कष्टों का निराकरण प्रस्तुत नहीं किया। उदाहरण के लिए यदि दो बालक विश्व में उत्पन्न होते हैं—एक निर्धन परिवार तथा दूसरा सम्पन्न परिवार में तो इन दोनों मानवीय व्यक्तियों के कष्टो का कारण उनकी स्वयं की प्रकृति न होकर वह सामाजिक पर्यावरण है जिसमें वे रह रहे हैं। अतः व्यक्ति तथा उसके सामाजिक पर्यावरण में ताल-मेल बैठाने की आवश्यकता है। जब तक व्यक्ति को सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप अनुशासित नहीं किया जाता तब तक सभी सामाजिक प्रयोग असफलता की ओर ही बढ़ते रहेंगे।[56]

समाजवादी आन्दोलन के समक्ष अनेक चुनौतियां है। यद्यपि साम्यवादी एक नये समाज, वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज, स्वतन्त्र तथा समान व्यक्तियों के समाज के विचार को लेकर आगे बढ़े हैं किन्तु वे अपने लक्ष्य की ओर नहीं बढ़ रहे हैं। साम्यवाद की पूर्ण स्थापना होनी शेष है। यदि हमारे वर्तमान कार्य हमारे समक्ष आदर्श के अनुरूप

हैं तो हम भविष्य में भी आदर्शों को प्राप्त कर सकेंगे। यदि इसके विपरीत हमारे वर्तमान मूल्य अंतिम मूल्यों से मेल नहीं खाते तो हम द्वन्द्वात्मक विलोम के शिकार हो जायेंगे। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सामाजिक आन्दोलन में आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यक्रम के साथ साथ मूल्यों के प्रश्न से सम्बन्धित कार्यक्रम भी सम्मिलित किये जायें। जयप्रकाश के अनुसार अगली समस्या समाजवादी समाज के विकास के उचित राजनीतिक ढांचे की है। यदि समाजवाद के प्रसिद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया जाय तो उससे ऐसा प्रतीत होगा कि मार्क्स, एंजिल्स, कॉटस्की, लेनिन आदि किसी भी चिन्तक ने समाजवादी समाज की राजनीतिक विशेषताओं का विस्तृत विवरण, प्रस्तुत नहीं किया है। मार्क्स तथा एंजिल्स पूंजीवादी समाज के विश्लेषण तथा पूंजीवाद के अन्त पर उत्पन्न सामाजिक समाज के विवरण तक ही सीमित रहे। राजनीतिक दृष्टि से समाजवाद रूसी राजनीतिक व्यवस्था द्वारा ही सामने आया है। आज रूस में एक ऐसी संरचना है जो एकदलीय अधिनायकतन्त्र के रूप में जानी जाती है।[57] एक ऐसा दल है जो सीमित सदस्यता लिये हुए है, जिसमें समय समय पर सदस्यों का दमन होता है तथा जिसमें लोकतन्त्र नाम की कोई वस्तु नहीं है। इस एकदलीय अधिनायकतन्त्र में पूर्ण नौकरशाही राज्य की स्थापना की गई है जो कि श्रमिकों के राज्य के अनुरूप नहीं है और न उसे जनता का राज्य ही कहा जा सकता है। इन कारणों से रूस का राजनीतिक संगठन समाजवादी आन्दोलन की दृष्टि से विश्व में मान्य नहीं रहा। हमें इससे भिन्न प्रकार की संरचना का पता लगाना होगा। जयप्रकाश के अनुसार कुछ पश्चिमी यूरोपीय देशों में जैसे—स्वीडन अथवा फिनलैण्ड में समाजवादी सरकारें समाजवादी सरकार की स्थापना का प्रयास कर रही हैं। यह कार्य संसदात्मक लोकतन्त्र के ढांचे के अनुरूप किया जा रहा है। ऐसे देशों में हो सकता है कि ब्रिटेन के समान समाजवादी दल कुछ वर्षों तक शक्ति में रहकर पुन. जनता के मत द्वारा शक्ति खो दें। एशिया के कई समाजवादी इसे समाजवाद की असफलता बताते हैं, इसका कारण यह है कि वे यह चाहते हैं कि एक बार समाजवादी दल शक्ति में आ जाने के बाद निरन्तर सत्ता में बना रहे चाहे उसके लिए कोई भी उपाय काम में क्यों न लिया जाय। राजनीतिक लोकतन्त्र में ऐसा नहीं हो सकता। वहां तो सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए प्रत्येक को अपनी बारी की प्रतीक्षा करनी होगी। यह हो सकता है कि समाजवाद व्यक्तियों के हृदय में ऐसा स्थान बना ले कि समाजवादी दल निरन्तर सत्ता में बना रहे और सामाजिक पुनर्निर्माण के निर्विरोध अवसरों का लाभ उठा सके। ऐसी स्थिति में भी बुर्जुआ उदारवाद की राजनीतिक संरचनाओं को बनाये रखने के स्थान पर बदलने की आवश्यकता प्रतीत होगी। केवल प्रतिनिध्यात्मक शासन काफी नहीं है। आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रों में जनता को स्वशासन का अधिकार मिलना चाहिये। आज पश्चिम के समाजवादी भी राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीयकरण की समस्या से परिचित हो रहे हैं ताकि जनता स्वयं अपने कार्यों के प्रशासन में सहयोगी बन सके। यह सम्भव नहीं है कि एक समाजवादी संसद समाजवादी मन्त्रीमण्डल के माध्यम से देश पर शासन करती रहे। इसके लिए नीचे के स्तर से जनता का शासन में सहयोग तथा प्रत्यक्ष सहभागी होना आवश्यक है।[58]

हमारे सामने समाजवादी राजनीतिक व्यवस्था का एक अन्य उदाहरण युगोस्लाविया

का है जो विकास की प्रक्रिया में है। युगोस्लाविया में साम्यवादी दल का शासन रहा है। वहां पर भी एकदलीय राज्य है लेकिन वहां के साम्यवादी यह चाहते हैं कि एकदलीय शासन को शीघ्रता से समाप्त कर दिया जाय और मार्क्सो जैसी रूढ़िवादिता को समाजवादी आन्दोलन ने दूर कर दिया जाये। रूढ़िवादिता से तात्पर्य है रूस का मार्क्सवाद-लेनिनवाद के एकमात्र व्याख्याकार होने का दम्भ। वास्तविकता यह है कि हममें से प्रत्येक इस युक्ति को मानते हैं कि बिना लोकतन्त्र के समाजवाद कायम नहीं रह सकता और न लोकतन्त्र समाजवाद के बिना पूर्ण है। युगोस्लाविया में इसी युक्ति के अनुसार जन समितियों के माध्यम से जनता द्वारा शासन के कार्य को साम्यवादी दल ने स्वीकार किया है जिसमें श्रमिकों तथा कृषकों को पूर्ण प्रतिनिधित्व दिया गया है। इनकी यह धारणा है कि एक बहुदलीय व्यवस्था समाजवादी राजनीति की पूर्ति नहीं कर सकती। अतः एक नवीन राजनीति की संरचना की आवश्यकता है जहां समाजवाद का लक्ष्य जनता द्वारा स्वीकार कर लेने के पश्चात एक अथवा अनेक दलों की आवश्यकता नहीं रहेगी। इस प्रकार बहुदलीय राज्य के स्थान पर दलविहीन राज्य की स्थापना का प्रयास किया जा रहा है। यदि राज्य का तिरोहित होना अनिवार्य है तो दल को तिरोहित होना पड़ेगा। इसके लिये दल के उद्देश्यों को इतना प्रचलित, लोकप्रिय तथा सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत होना पड़ेगा कि दल की महत्ता ही समाप्त हो जायेगी। लेकिन जयप्रकाश नारायण ने इस मत को स्वीकार नहीं किया कि दलों के समाप्त होने के पश्चात् एक ही विचारधारा वाले व्यक्ति समान उद्देश्य लेकर चलेंगे। इंगलैंड में अनुदार तथा उदार दल पूंजीवादी समाज का उद्देश्य लेकर चलते हैं तथा अमेरिका के रिपब्लिकन तथा डिमोक्रेटिक दल द्वारा खुले व्यापार की नीति का समर्थन किया जाता है। अर्थात् समान उद्देश्य को लेकर चलनेवाला देश भी दो दलों में विभाजित दिखाई देता है। अत यह कहना कि समाजवाद को जन स्वीकृति मिलने के पश्चात् सारा समाज एक ही नीति का अनुसरण करेगा, उचित प्रतीत नहीं होता। जयप्रकाश के अनुसार समाजवाद को लोक कल्याणकारी मानने के साथ साथ लोकतन्त्र को भी अनिवार्य रूप में स्थापित करने की आवश्यकता है। लोकतान्त्रिक पद्धति से शासन में आने के पश्चात् समाजवादी समाज में भी बहुदलीय व्यवस्था रहेगी। चाहे बहुदलीय व्यवस्था हो अथवा दलविहीन व्यवस्था हो जनता के लिए स्वशासन की स्थापना प्रमुख समस्या के रूप में सामने होनी चाहिये। इसके लिए राज्य को विकेन्द्रित करना अनिवार्य होगा।[43]

जयप्रकाश नारायण के अनुसार तीसरी समस्या समाजवादी समाज की आर्थिक संरचना से सम्बंधित है। मार्क्सवाद के अनुसार उत्पादन के साधनों के अनुरूप ही आर्थिक संरचना की स्थापना होती है। यदि रूस में राज्य समाजवाद जैसी स्थिति है तो उसका अर्थ यह है कि वहां की आर्थिक संरचना में कोई कमी अवश्य है। इस कमी का कारण केन्द्रीयकरण, नौकरशाही की प्रवृत्ति, औद्योगिक लोकतन्त्र की कमी, उद्योगों के व्यवस्थापन में श्रमिकों के सहभागी होने की कमी, संक्षेप में आर्थिक प्रक्रियाओं पर लोकप्रिय नियंत्रण की कमी सर्वव्याप्त है। रूस में आर्थिक कार्यक्रम की दृष्टि से उद्योगों का पूर्ण राष्ट्रीयकरण कर लिया गया फिर भी समाजवाद स्थापित नहीं हुआ। इसका अर्थ है कि राष्ट्रीयकरण की नीति में कोई राष्ट्रीयनीति निहित है। उदाहरण के तौर पर भारत में रेलवे के समान

यदि अन्य उद्योगों का भी राष्ट्रीयकरण कर लिया जाये तब भी समाजवाद की स्थापना नहीं हो सकेगी। नौकरशाही का बोलबाला हो जायेगा, शोषण बढ़ेगा, अतिरिक्त मूल्य का समान वितरण नहीं हो पायेगा जैसा कि भारत की रेल व्यवस्था से स्पष्ट है। निजी क्षेत्र में रेलों के संचालन तथा राज्य द्वारा सार्वजनिक क्षेत्रों में रेलों के संचालन में एक ही अन्तर है कि पहली वाली व्यवस्था में प्रशासनिक बोर्ड साझेदारों के प्रति उत्तरदायी था तो दूसरी व्यवस्था में यह केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी है। प्रशासकीय बोर्ड में नौकरशाही का बोलबाला है। रेल विभाग में काम करने वाले कर्मचारियों की नीचे के स्तर से लेकर रेलवे बोर्ड तक प्रशासन में कोई वाणी नहीं है। रेलवे के संचालन में भी उनकी कोई आवाज नहीं। वेतन संरचनाओं में भी पूंजीवादी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है जहां कि न्यूनतम वेतन तथा अधिकतम वेतन में इतना अन्तर है कि जितना शायद पूंजीवादी व्यवस्था में भी नहीं होगा। उपर्युक्त स्थिति रूस में भी अल्पाधिक रूप में विद्यमान है। वहां भी उद्योगों के प्रशासन में उपभोक्ता एवं उत्पादकों का नियंत्रण नहीं है और न वे लाभ के वितरण पर नियंत्रण रख सकते हैं। नौकरशाही दल की सर्वोच्चता, उद्योग, सेना, सामूहिक कृषि आदि सभी प्रश्नों का विनिश्चय करती है। अतः यह सोचने की आवश्यकता है कि समाजवादी समाज किस प्रकार से नौकरशाही तथा केन्द्रीयकरण को समाप्त कर सकेगा और उत्पादक तथा उपभोक्ताओं को उद्योगों के व्यवस्थापन में साझेदार बना सकेगा। श्रमिकों को उनके श्रम का उचित पारिश्रमिक वितरित हो यह भी एक महत्वपूर्ण समस्या है जिसका निराकरण विकेन्द्रीयकरण के अलावा संभव नहीं है।[80]

जयप्रकाश नारायण के अनुसार समाजवादी समाज की आर्थिक समस्याओं के निराकरण के लिए विभिन्न स्तरों पर स्वामित्व का विकेन्द्रीयकरण करना लाभप्रद हो सकता है। केन्द्रीय सरकार के हाथों में सारी आर्थिक संरचना का दायित्व सौंप देना किसी भी दृष्टि से लाभप्रद नहीं हो सकता। अन्यथा पूंजी का केन्द्रीय सरकार के हाथों में केन्द्रीयकरण राजनीतिक अधिनायकवाद के साथ साथ आर्थिक अधिनायकतंत्र की भी स्थापना कर देगा। एशिया के देशों के लिए आर्थिक प्रगति प्राप्त करना सीमित पूंजी की समस्या के कारण कठिन हो गया है। उत्पादन कम होने के कारण पूंजी के निर्माण तथा उपभोग की मात्रा दोनों ही कम है। यदि ऐसी स्थिति में एशिया के राज्य अधिनायकतंत्र के द्वारा आर्थिक विकास प्राप्त करना चाहें तो अधिनायकतंत्रीय व्यवस्था उत्पादकों से अधिक से अधिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने का प्रयास करेगी। औद्योगीकरण के लिए कच्चे माल तथा वस्तुओं की आवश्यकता होगी। कृषकों की दृष्टि से जितना अनाज उत्पन्न किया जायेगा वह कृषक की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ सामाजिक पुनर्निर्माण दोनों की दृष्टि से काफी नहीं होगा। यदि अधिनायकतंत्रीय व्यवस्था होगी तो राज्य कृषक का उत्पादन अपने हाथों में लेगा और कृषक भूखों मरने लगेगा। अकाल की कृत्रिम स्थिति बनाकर राज्य के प्रचार साधनों से जनता को आवश्यक वस्तुओं से विमुख कर राज्य त्वरित गति से आर्थिक प्रगति कर सकता है किन्तु ऐसी आर्थिक प्रगति भी सीमित होगी क्योंकि जनता मन-ही-मन दमन एवं कुंठा ग्रस्त होगी। लोकतांत्रिक पद्धति से चलाये जानेवाले शासन में आर्थिक विकास के लिए ऐसे नियंत्रण स्थापित नहीं किये जा सकते। यही कारण है कि एशिया के राज्यों में समाजवादी अर्थव्यवस्था की संरचना अनिवार्य रूप

मे विकेन्द्रित होती हुई दिखाई देती है।[61]

आर्थिक सरचना की समस्या के साथ-साथ एक और समस्या जुडी हुई है वह समस्या है समाजवाद के श्रमिको, कृषकों, मजदूर तथा कृषक संगठनो के सबध की। रूस मे इन सगठनो का महत्व उत्पादन बढाने के लिए व्यक्तियो को प्रेरित करने का है। एशिया मे ऐसे लोग ट्रेड यूनियनो मे हैं जो मध्यमवर्ग से सबधित होने के कारण सही अर्थो मे मजदूरो के प्रतिनिधि नही कहे जा सकते। राजनीतिक दल मजदूरो का सगठित समर्थन प्राप्त करने की प्रतिस्पर्द्धा मे लगे हुए है। इसके अलावा एक और भी पक्ष है और वह यह कि एशिया मे समाजवाद की स्थापना के लिए केवल श्रमिको पर निर्भर नही किया जा सकता। कृषको को साथ मे लिए बिना समाजवाद की स्थापना असम्भव है। कृषको का समर्थन तब ही प्राप्त हो सकता है जब उनकी आवश्यक मागें पूरी की जासकें। सामन्तवाद को समाप्त करके जब तक कृषको को भूमि प्रदान नही की जायेगी और भूमि के स्वामित्व का पुर्नवितरण नही होगा तब तक कृषक प्रसन्न नही होगे। इससे भूमि के स्वामित्व के कारण एक नया वर्ग उत्पन्न होगा जो समाजवादी आन्दोलन का प्रबल समर्थक होगा। यह वर्ग सशस्त्र क्रांति अथवा चुनाव दोनो मे समर्थन देगा। यदि स्थिति को ठीक से समझ लिया जाये तो समाजवादी समाज मे आर्थिक सगठन की हमारी अवधारणा अन्य देशो से सर्वथा भिन्न दिखाई देगी।[62]

जयप्रकाश नारायण के अनुसार हम कृषक वर्ग को धोखे मे नही रख सकते। यह नही हो सकता कि पहले हम उसे जमीन दें और फिर उससे समर्थन प्राप्त करने के बाद सामूहिक खेती के नाम से उससे जमीन वापस छीन लें। इस प्रकार से समाजवाद नही आ सकता। भले ही एक नये प्रकार का अधिनायकवाद स्थापित हो जाय। छोटे किसान को जो कि गावो मे रहता है और अपने भूखण्ड से भावनात्मक दृष्टि से बंधा हुआ है उसे समाजवादी बना कर ही समाजवादी समाज का एक महत्वपूर्ण अग बनाया जा सकता है। भारत के सैकडो गावो में समाजवाद लाने के लिए एक ही तरीका है कि किसानो की भूमि को एक साथ जोता जाय और समस्त भूमि का राष्ट्रीयकरण अथवा ग्रामीणकरण कर दिया जाय। भूमि का स्वामित्व गाव के समस्त समुदाय मे होना चाहिये न कि राज्यरूपी विचारात्मक अथवा राष्ट्र रूपी भावनात्मक इकाई मे। ग्रामीण किसान को किसी ठोस सस्था के प्रति जिसका कि वह भाग है अपनी भूमि सौंपने मे अनिच्छा नही होगी। सोवियत रूस का अनुभव यह बतलाता है कि सामूहिकीकरण नौकरशाही के हाथ मे शोषण का एक यन्त्र बन गया है। रूस ने गाव मे रहने वाले व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध को समाप्त करने की दृष्टि से ग्रामीण जनसख्या को कस्बो मे और कस्बो की जनसख्या को गावों मे भेजने का प्रयास किया ताकि नौकरशाही कृषकों पर शासन कर सके और कृषकों के व्यक्तिगत मानवीय सम्बन्धो के लिए कोई सम्भावना न रहे। रूस की व्यवस्था अपनाने का यही परिणाम होगा।[63]

जयप्रकाश के अनुसार सघर्ष करने की तकनीक भी समाजवादी विचारवाद का एक अग है। और इसके सम्बन्ध मे अनेक विवाद हैं। हम सभी चाहते हैं कि एक लोकतान्त्रिक समाज के लिए लोकतान्त्रिक साधनो का प्रयोग किया जाय। यदि लोकतान्त्रिक तरीके सम्भव न हो तब तो बात दूसरी है अन्यथा हमारा कार्य लोकतान्त्रिक होना चाहिये। हमे हिंसा का

प्रयोग नहीं करना चाहिये। लोकतान्त्रिक साधनों से अभिप्राय केवल संसदात्मक पद्धति से नहीं है। इसका अर्थ व्यापक जन आन्दोलन से है जो कि अहिंसक हो। ऐसा आन्दोलन असंवैधानिक होने पर भी यदि शान्तिपूर्ण है तो वह हिंसक आन्दोलन से कई गुना अच्छा ही है। जनता का सच्चा समर्थन प्राप्त करने के पश्चात् जन आन्दोलन चलाने से जनता का सदैव समर्थन प्राप्त होता रहेगा। ऐसे समाज की स्थापना के लिए अनेक समस्याएँ सामने आ सकती हैं। उदाहरण के लिए भूमि के पुनर्वितरण की समस्या। इस समस्या का तीन प्रकार से समाधान किया जा सकता है। प्रथम, समाजवादी दल के शक्ति में आने तथा इस सम्बन्ध में व्यवस्थापन करने से, द्वितीय, किसानों द्वारा हिंसक आन्दोलन करने अथवा भूमिहीन श्रमिकों द्वारा भूमि पर अधिकार प्राप्त करने से चाहे वह सफल हो अथवा नहीं, तृतीय, किसानों द्वारा उन भूखण्डों पर अधिकार करने के लिए शान्तिपूर्ण जन आन्दोलन करने से। भूमि के पुनर्वितरण की समस्या समाजवादियों के सत्ता में आने से आसानी से हल हो जाती है लेकिन जहाँ समाजवादियों का शासन न हो वहाँ कृषकों को सैकड़ों तथा सहस्रों की संख्या में शान्तिपूर्ण जन आन्दोलन चलाना होगा और शासन द्वारा सभी प्रकार के दमनात्मक उपायों का प्रयोग होने के बाद भी कृषकों का मनोबल नहीं टूटना चाहिये। कृषकों को छोटे-मोटे हिंसक क्रान्तिकारियों की सहायता से भूमि पर अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। इस आन्दोलन को अन्त में समाजवादी शासन की स्थापना में परिवर्तित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी के शान्तिपूर्ण आन्दोलनों से प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है। गांधीजी की सफलता भूमि के सम्बन्ध में तथा भूमि के तथा सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में चलाये जाने वाले आन्दोलन का मार्गदर्शन कर सकती है। अतः शान्तिपूर्ण संघर्ष करके समाजवाद की स्थापना हो सकती है तथा राज्य, पूँजीपतियों एवं शोषक वर्गों के विरुद्ध संघर्ष में विजय प्राप्त हो सकती है।[83]

भूमि के पुनर्वितरण के सम्बन्ध में जयप्रकाश ने विनोबा भावे द्वारा चलाये जाने वाले भूदान आन्दोलन की चर्चा की जो अपने आप में एक पूर्णतया नयी तकनीक है। विनोबा ने कहा है कि भूमि जोतने वाले की होनी चाहिये न कि जमींदार की। किन्तु यह कार्य प्रेम के माध्यम से किया जाना चाहिये न कि हिंसा के द्वारा। विनोबा ने गाँव-गाँव पदयात्रा करके अतिरिक्त भूमि के स्वामियों को वह भूमि, भूमिहीनों में वितरित करने की प्रेरणा दी है। इस प्रकार से जमींदारों तथा पूँजीपतियों का हृदय परिवर्तन कर हजारों एकड़ भूमि पुनर्वितरित की गयी है। इस आन्दोलन की विशेषता यह है कि इसमें व्यक्तियों के हृदय में अपने अधिकारों की पूर्ति की भावना जाग्रत होती है और वे नया आत्म विश्वास प्राप्त करते हैं। यदि भूमि पर अधिकार करने के लिए शान्तिपूर्ण आन्दोलन भी चलाये जायें तो उतनी सफलता प्राप्त नहीं होगी जितनी भूदान आन्दोलन के हृदय परिवर्तन के माध्यम से प्राप्त हुई है। संघर्ष करने में संघर्ष की असफलता का भी भय रहता है चाहे वह शान्तिपूर्ण ही क्यों न हो। किन्तु भूदान आन्दोलन में असफलता एवं निराशा का कोई स्थान नहीं है। जयप्रकाश ने भारत में समाजवाद की स्थापना की दृष्टि से इस प्रयोग पर समाजवादी अमल करने तथा भारत में शोषण एवं असमानता का अन्त करने के लिए बुद्धिजीवियों का आह्वान किया है। उनकी यह धारणा है कि भारत में मुट्ठी भर धनी व्यक्तियों के हाथ में आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति का जो शोषणकारी केन्द्रीकरण हो

गया है उसे समाप्त कर समाजवादी समाज की स्थापना की जाये। भारत में व्याप्त प्रान्तीय एव क्षेत्रीय बन्धनों को समाप्त कर देश की सम्पदा का देशवासियों के लिए निर्बाध उपयोग किया जाये।[65]

लोकतांत्रिक समाजवाद

जयप्रकाश नारायण के अनुसार समाजवाद न तो राज्यवाद है और न पूंजीवाद विरोधी है। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण तथा कृषि का सामूहिकीकरण समाजवादी अर्थ व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग है किन्तु वे अपने आप मे समाजवाद नही है। समाजवाद के अन्तर्गत मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण नही होता। न अन्याय होता है और न दमन। यदि राष्ट्रीयकृत एवम् समूहकृत अर्थ-व्यवस्था में भी शोषण, अन्याय, दमन, असुरक्षा तथा असमानता मिलती है तो उसे समाजवाद की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यदि ऐसी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीतिक अथवा आर्थिक शक्ति दल के अल्पतन्त्र में केन्द्रित हो जाती है—जिसे न तो हटाया जा सकता है न रोका जा सकता है—ऐसी स्थिति मे समाजवाद का स्थान दमन और क्रान्ति का स्थान प्रतिक्रिया ले लेती है। साम्यवादी भी इसी प्रकार के अल्पतन्त्रीय समाज की स्थापना कर क्रान्तिकारी नहीं कहे जा सकते, उन्हें प्रतिक्रियावादी ही कहा जायगा। अत. समाजवाद चिंतन का एक प्रकार ही नहीं अपितु एक नवीन संस्कृति तथा एक नवीन सभ्यता है।[65]

समाजवादी क्रान्ति के दो मार्ग हैं प्रथम सशस्त्र जन आन्दोलन, द्वितीय शान्ति पूर्ण अथवा लोकतान्त्रिक पद्धति का। इस सम्बन्ध में काफी वाद-विवाद समाजवादियों में होता रहा है। कतिपय विचारकों का यह मत है कि बिना हिंसा के समाजवाद की स्थापना श्रमिकों को धोखा देने के समान है। वे मार्क्स को उद्धरित कर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हिंसक क्रान्ति से ही पूंजीवाद समाप्त हो सकता है। किन्तु मार्क्स के विचारों तथा कथनों का सूक्ष्म विवेचन करके यह कहा जा सकता है कि मार्क्स ने केवल सशस्त्र क्रान्ति का ही समर्थन नहीं किया। मार्क्स के विचारों की वास्तविक स्थिति यह है कि वह हिंसक तथा शान्तिपूर्ण दोनो मे से किसी भी एक पद्धति द्वारा समाजवाद को समर्थन देता है यदि वह पद्धति ऐतिहासिक एव लक्ष्य प्राप्ति की दृष्टि से परिस्थिति विशेष के लिए उपयुक्त हो। वही पद्धति सही मानी जायगी जो अवसर उपस्थित होने पर कारगर सिद्ध हो सके न की पूर्व निर्धारित मान्यता। कई समाजवादी विचारक यह भी विचार व्यक्त करते हैं कि मार्क्स के समय की स्थितियाँ आज नहीं है अत आज की परिस्थिति में शान्तिपूर्ण उपायों से समाजवाद की स्थापना नहीं हो सकती। मार्क्स के विचारों का परिमार्जन एव स्वस्थ परम्परा है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम मार्क्स की वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग छोड़कर पूर्व निर्धारित मान्यताओं को महत्व देने लगें। वास्तविकता यह है कि जब मार्क्स ने उपर्युक्त तर्क प्रस्तुत किया था तब राजनीतिक लोकतन्त्र का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। आज विश्व का छठा हिस्सा सोवियत साम्यवाद तथा चीन के अधीन है। समस्त पूर्वी यूरोप तथा मध्य यूरोप के कुछ भाग साम्यवादी हैं। स्केन्डिनेविया तथा ग्रेट ब्रिटेन मे समाजवादी सरकारें हैं तथा सहकारिता आन्दोलन अपने पूरे जोर पर है। पश्चिम यूरोप के अन्य देशों में पूर्ण राजनीतिक लोकतन्त्र है और द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् वहां पर भी पूंजीवाद लड़खड़ाने लगा है। भारत, पाकिस्तान, बर्मा तथा लंका में साम्राज्यवाद का अन्त होकर

स्वतन्त्रता का उदय हुआ है। अमेरिका में भी श्रमिकों की स्थिति में सुधार आया है तथा अनेक प्रगतिशील कानून प्रभाव में आये हैं। इस प्रकार विश्व में हर जगह लोकतन्त्र को पहले से अधिक बल मिला है। अतः मार्क्स के समय की स्थितियों में और आज में यही अन्तर है कि आज समाजवाद का शान्तिपूर्ण विकास सम्भव है।[67]

साध्य एवं साधन

जयप्रकाश नारायण ने गांधीजी के प्रभाव में यह स्वीकार किया है कि राजनीति में नैतिक मूल्यों को सुरक्षित रखा जाना चाहिये। उनके अनुसार गांधीजी ने साधन तथा साध्य को समान स्तर पर रखकर एक बहुमूल्य विचार प्रस्तुत किया है। जयप्रकाश के अनुसार सदियों से राजनीतिज्ञ यह उपदेश देते आये हैं कि राजनीति में आचार शास्त्र जैसी कोई वस्तु नहीं होती। प्राचीन समय में जब कि राजनीति एक छोटे से वर्ग के हाथों में थी इस धारणा का दुष्प्रभाव इतना व्यापक नहीं रहा तथा जनता अपने नेताओं तथा राज्य के मन्त्रियों के क्रिया-कलापों से अछूती रही किन्तु सर्वाधिकारवाद के उदय के साथ ही साथ जिसमें फासीवाद, नाजीवाद तथा स्टालिनवाद सम्मिलित हैं इस सिद्धान्त का इतना व्यापक प्रयोग हुआ है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति इसके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। इसका भयंकर परिणाम यह हुआ है कि सामाजिक जीवन में नैतिक मूल्यों का ह्रास हो गया है। न केवल राजनीतिक क्षेत्र ही इसका शिकार हुआ है अपितु मानवीय जीवन का प्रत्येक क्षेत्र, यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं रहा। रूस में स्टालिन की पद्धति की सफलता ने यह सिद्ध कर दिया है कि मार्क्सवाद में नैतिक मूल्यों का कोई स्थान नहीं है। यदि कोई समाजवादी नैतिकता की बात भी करता है तो उसे समाजवाद विरोधी तथा संशोधनवादी कहा जाता है। जयप्रकाश नारायण ने अपने स्पष्ट विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि समाजवाद में साधनों का महत्व सर्वोपरि होना चाहिये। उनके अनुसार यदि समाजवाद का अर्थ है ऐसा समाज जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो तथा व्यक्ति सुसंस्कृत एवं सभ्य बने, स्वतन्त्र, शौर्यवान्, दयालु एवम् परोपकारी बने तो यह पूर्णतया आवश्यक है कि वह अपने व्यवहार में मानवीय मूल्यों का कभी भी त्याग न करे। यह मानना कि शोषण रहित समाज में सभी को पेट भर भोजन, कपड़ा तथा मकान मिल जाय तो सभी अपने आप ठीक हो जायगा, उचित प्रतीत नहीं होता। ऐसा समाज जिसमें मानव की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाय लेकिन मानव का आचरण पशुवत हो तो उसे समाजवाद नहीं कहा जा सकता।[68]

जयप्रकाश ने गांधीजी के उद्देश्यों के सन्दर्भ में कहा है कि गांधीजी ने अच्छे साधनों से अच्छे उद्देश्य प्राप्त करने की अनिवार्यता पर बल दिया है। विश्व की घटनाएं यह सिद्ध करती है कि गांधीजी ने जो कहा है वह पूर्ण सत्य है। समाजवाद का लक्ष्य भी एक अच्छे समाज की स्थापना करना है और इस दृष्टि से अच्छे साधनों से ही ऐसा समाज स्थापित हो सकता है। समाज में आध्यात्मिक मूल्यों का पुनर्विकास होना चाहिये। आध्यात्मिकता का अर्थ संकीर्ण धार्मिक तथा तत्वशास्त्रीय व्याख्या से नहीं लेना चाहिये। आध्यात्मिकता का अर्थ है मानवीयता। समाज में ऐसे मानव की आवश्यकता है जिसमें मानवीय मूल्य हों। झूंठ, फरेब, हत्या करने वाले, असहिष्णु तथा असामाजिक विचार वाले व्यक्तियों का समाज में रहने से क्या लाभ है। जयप्रकाश ने मानवीय प्रकृति के सम्बन्ध में यह विचार व्यक्त

किया है कि मानवीय प्रकृति क्या है यह कहना कठिन है किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि मानव जैसी प्रकृति का निर्माण करना चाहे वैसी प्रकृति बन सकती है। सभ्य व्यक्ति उत्पन्न नहीं होता, वह प्रशिक्षण से सभ्य बनता है। यदि समाजवादी दल का लक्ष्य केवल अच्छा खाना खाने वाले, अच्छे कपड़े पहनने वाले तथा अच्छी तरह से रहने वाले पशु उत्पन्न करने का नहीं है अपितु अच्छे व्यक्ति उत्पन्न करने का है तो हमें कतिपय नैतिक मूल्यों को स्वीकार करना होगा।

राजनीति का उद्देश्य केवल शक्ति प्राप्त करना नहीं है। क्योंकि शक्ति ही राजनीति का सार बन जायें तो भले बुरे सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग खुलकर किया जायेगा और राजनीति, भ्रष्टाचार की पर्यायवाची बन जायेगी। ऐसे वातावरण में कोई भी दल समाप्त हो सकता है। मानव की दृष्टि से यह स्वाभाविक ही है कि व्यक्ति अपने प्रभाव एव व्यक्तित्व में वृद्धि की कामना करे किन्तु शक्ति प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा पर अंकुश लगाना आवश्यक है। अपने कार्य तथा सेवाओं के बल पर यदि व्यक्ति ऊंचा उठता है तो उसमें कोई हानि नहीं है। जिन व्यक्तियों को राजनीति केवल शक्ति राजनीति ही दिखाई देती है वे इस भ्रान्ति के शिकार हैं कि राज्य ही सामाजिक भलाई का एकमात्र उपकरण है। वे राज्य पर अधिकार कर समाज की सेवा करना चाहते हैं तथा अपनी इच्छानुसार सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।[69] जयप्रकाश नारायण ने इस मत का पूरी तरह से खंडन किया है। उनके अनुसार कांग्रेस ने राज्य पर अधिकार जमा रखा है किन्तु यह प्रत्येक कांग्रेसी जानता है कि यदि कांग्रेस ने राज्य पर अधिक निर्भर किया और सामाजिक परिवर्तन तथा विकास के हर कार्य के लिए राज्य का सहारा लिया तो कांग्रेस समाप्त हो जायेगी। संसदात्मक तंत्र से अलग होकर स्वतंत्र रूप से समाज एव राज्य की सेवा के बिना जनहित का रक्षण नहीं हो सकता। फासीवादी तथा साम्यवादी दोनों ही प्रकार के सर्वाधिकारवादी देशों ने यह सिद्ध कर दिया है कि राज्य को सामाजिक पुनर्निर्माण का एजेन्ट मानकर सिवाय दमनयुक्त समाज के और कुछ प्राप्त नहीं होता। ऐसे समाज में राज्य सर्वशक्तिमान होकर लोकप्रिय साझेदारी खो देता है और व्यक्ति राज्यरूपी अमानवीय मशीन का पुर्जा मात्र रह जाता है। ऐसे समाज की स्थापना का उद्देश्य निरर्थक है। हमें ऐसे लोकतान्त्रिक समाजवादी समाज का विकास करना है जिसमें उपर्युक्त कमियां न हों।[70]

लोकतन्त्र की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि व्यक्ति राज्य पर कम से कम निर्भर करे। गांधी तथा मार्क्स दोनों के अनुसार लोकतन्त्र का सर्वोच्च स्वरूप वह है जिसमें राज्य तिरोहित हो जाये। सर्वाधिकारवाद लोकतन्त्र का पूर्वगामी नहीं हो सकता है। लोकतन्त्र के पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि जनता विभिन्न प्रकार के आर्थिक एवं सांस्कृतिक संगठनों के माध्यम से सार्वजनिक कार्यों में भाग ले। ऐसी लोक संस्थाओं की स्थापना की जाये जिससे व्यक्ति आत्म निर्भर होकर अपने स्वयं के कार्यों तथा अपने जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए कटिबद्ध रहे। इसके लिए आवश्यक है कि ऊंच नीच का भेद भुलाकर एक ऐसे श्रमिक संगठन की स्थापना की जाये जो स्वयं उद्योगों का संचालन कर सकें, श्रमिकों को नागरिकता के गुणों में दीक्षित किया जाये, गांवों में सहकारिता समितियों की रचना की जाये। युवा वर्ग तथा बालकों को स्वैच्छिक संघों द्वारा राष्ट्रीय सेवा करने के

लिए प्रेरित किया जाये, समाज के पिछड़े से पिछड़े वर्गों में ऐसे सांस्कृतिक प्रभाव उत्पन्न किये जायें कि उनमें भी जागृति उत्पन्न हो जाये। यदि हम जाति, अंधविश्वास तथा साम्प्रदायिकता को समाप्त करने में सफल हो जायें, यदि शक्ति के आकर्षण से दूर राष्ट्र की सेवा में लगे हुए सहस्रों लोकसेवकों का सहयोग प्राप्त करने में सफल हो जायें तो समाजवादी समाज के निर्माण करने में हम अवश्य ही सफल होंगे। इस स्थिति में राज्य स्वतः समाजवादी राज्य बन जायेगा और अपनी पूर्व निर्धारित भूमिका का निर्वाह करने लगेगा। राज्य समाजवादी आन्दोलन के हाथों में एक उपकरण मात्र रह जायेगा क्योंकि व्यक्ति जीवन के उस समाजवादी मार्ग का स्वतन्त्रतापूर्वक अनुसरण करेगा जिसमें राज्य सत्ता तथा इच्छा का स्रोत नहीं रहेगा।[71]

सर्वोदय दर्शन :

जयप्रकाश नारायण के अनुसार सर्वोदय निर्वाचन की पद्धति, दलीय संगठन तथा लोकतन्त्र की शैली को स्वीकार नहीं करता है। सर्वोदय इससे भी एक कदम आगे बढ़कर प्रत्यक्ष लोकतन्त्र में तथा जनता के स्वावलम्बन में विश्वास रखता है। सर्वोदय केन्द्रीय नियन्त्रण तथा दलीय सरकार के स्थान पर स्वतन्त्र शासन की स्थापना करना चाहता है। गांधीजी ने भी कांग्रेस दल से जनता की सेवा में पूर्णतया अपने आपको लगा देने की इच्छा व्यक्त की थी। एक भविष्यद्रष्टा के रूप में गांधीजी ने आगे आने वाली परिस्थिति का पूर्वाभास प्राप्त किया था। वे कांग्रेस संगठन को अहिंसक समाज की स्थापना में प्रयुक्त करना चाहते थे। वे ऐसा सर्वोदय समाज स्थापित करना चाहते थे जो रस्किन के अन्टु दिस लास्ट में व्यक्त विचारों के अनुसार हो। वे चाहते थे कि कांग्रेस सभी प्रकार के शोषण तथा असमानता को समाप्त करने का कार्य करें। यही कारण था कि गांधीजी कांग्रेस दल को राजनीतिक शक्ति से दूर रखना चाहते थे ताकि अहिंसा का प्रयोग निर्विवाद चलता रहे। जयप्रकाश के अनुसार यदि कांग्रेस ने गांधीजी की सलाह मान ली होती और अपने आपको केवल समाजसेवा करने तक ही सीमित रखा होता तो इस देश में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती जो राजनीतिक शक्ति को अपने अधीन कर लेती। लोककल्याणकारी राज्य में नौकरशाही सर्वशक्तिमान हो जाती है। लोकतन्त्र तभी प्रभावित रहता है जब व्यक्तियों का एक ऐसा संगठित वर्ग हो जो बिना किसी लोभ, लालच व मोह के जन कल्याण की भावना से संगठित होकर अपनी शक्ति का परिचय दे। यह विचार उन व्यक्तियों के लिए महत्व नहीं रखता जो यह मानकर चलते हैं कि राजनीतिक शक्ति के बिना कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि शक्ति को प्राप्त करने के लिए पागलों की भीड़ उमड़ पड़ी है। सेवा करने का लक्ष्य भुला दिया गया है। किन्तु भूदान ने एक नया मार्ग दिखाया है। भूदान कार्यकर्ताओं को सभी प्रकार के चुनावों से दूर रहना होता है। यह एक दलविहीन संगठन है। सभी दलों को इसमें सम्मिलित होने की स्वतन्त्रता है। भूदान के मंच का उपयोग दलीय प्रचार के लिए भी नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसे व्यक्तियों का संगठन है जो सेवा करना चाहता है। यह एक ऐसी जनशक्ति निर्मित करना चाहता है जो कानून से भी स्थापित नहीं हो सकती। यह प्रत्येक वयस्क को ग्राम्य लोकतन्त्र में सम्मिलित होने पर जोर देती है। जनता को जाग्रत करने, स्वावलम्बी बनाने तथा अपने स्वयं के बारे में सोचने विचारने की स्थिति पर अधिक ध्यान

दिया गया है। ग्राम पंचायतों को ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों पर विचार करने की क्षमता प्राप्त होनी चाहिये। यदि भारत के पांच लाख गांव इस प्रकार का प्रत्यक्ष लोकतन्त्र अपना लें तो वे स्वतन्त्रता की ज्योति का अनुभव करने लगेंगे।[72]

जयप्रकाश के अनुसार स्वायत्तशासी ग्रामीण गणतन्त्रों के विचार को अपने आपको क्रान्तिकारी कहने वाले व्यक्तियों द्वारा यूटोपियावादी माना गया है, जबकि वास्तविकता यह है कि बिना विकेन्द्रीयकरण के सत्ता निम्नतम इकाई तक नहीं पहुंच सकती। राजनीतिक दलों द्वारा यह कार्य सम्पादित नहीं हो सकता क्योंकि वे स्वयं केन्द्रीयकरण की नीति पर संगठित होते हैं। दल में कुछ महत्वपूर्ण व्यक्ति ही महत्वपूर्ण दलीय प्रश्नों को निर्धारित करते हैं। और वे दल को अपनी स्वार्थपूर्ति का साधन बना लेते हैं। रूस में क्रान्ति की सफलता के बाद सोवियतों को शासन की इकाई माना गया और यह अपेक्षा की गयी थी कि उनमें ही वास्तविक शक्ति निहित होगी किन्तु ऐसा नहीं हुआ। स्वावलम्बन से ही स्वतन्त्रता की रक्षा हो सकती है। प्रत्येक क्षेत्र की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति उस क्षेत्र द्वारा ही पूरी होनी चाहिये। विभिन्न क्षेत्र पारस्परिक लेन-देन से एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं। हमने कस्बों के लिये ऐसी कोई योजना अभी तक नहीं बनाई। इसका यह परिणाम हुआ कि कस्बों में सामुदायिक जीवन जैसी स्थिति ही नहीं। दो पड़ौसी एक दूसरे को नहीं जानते हैं। हमें सबसे पहले सामुदायिक जीवन का सृजन करना होगा। नगरपालिकाओं को अपने कार्यों का सफाई, बिजली तथा पानी की सप्लाई से अधिक विकास करना होगा और अपने आपको नागरिकों की उन तात्कालिक समस्याओं जैसे बीमारी, बेरोजगारी, ग्रामीण उद्योग आदि से सम्बन्धित करना होगा। तभी उन्हें स्वशासन की वास्तविक इकाईयां माना जायेगा। इनमें प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का भी प्रयोग किया जा सकता है।[73]

आजकल निर्वाचन केवल बहुमत को प्राप्त करने की तकनीक मात्र रह गया है। इसके द्वारा लोकमत का मापन किया जाता है। चूं कि हमारा देश निर्धन है हम खर्चीली चुनाव व्यवस्था का उपयोग नहीं कर सकते। जब तक चुनाव की पद्धति में परिवर्तन नहीं होता निर्धन व्यक्ति को कोई अवसर नहीं मिल सकता। ऐसी स्थिति में संयुक्त अप्रत्यक्ष निर्वाचन ही सही माना जायेगा। शासन की सबसे छोटी इकाई में भी बहुमत के आधार पर निर्णय न लेकर सर्वसम्मति से निर्णय लिये जायें। विचारों में मत भेद हो सकता है किन्तु कार्य करते समय सबको हिस्सा लेना चाहिये। भारत में पंचों को पंच परमेश्वर कहा जाता है। अकाली सिक्ख भी सर्वसम्मति से अपना मुखिया चुनते हैं। जब तक मत वैभिन्य होता है तब तक सभी सर्वसम्मत हल निकालने का प्रयास करते हैं जो सबको स्वीकार हो सके। हार्दिक सहयोग के बिना ऐसा होना सम्भव नहीं। यदि हम ऐसा समुदाय बना सकें जो श्रम की महत्ता को मान्यता प्रदान कर श्रम को मुद्रा के रूप में प्रचारित कर सके तो मध्य यूरोप के "श्रम समुदायों" के समान श्रम का मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।[74]

जयप्रकाश नारायण के अनुसार राज्य के तिरोहित होने की सभी कामना करते हैं। किन्तु ऐसे स्वतन्त्र समाज की ओर तभी आगे बढ़ा जा सकता है जब हम दिन प्रतिदिन के जीवन में स्वावलम्बी बन जायें और सहयोग की कला सीख लें। केन्द्रीयकृत सत्ता द्वारा

ऐसे स्वतन्त्र समाज की ओर नहीं बढ़ा जा सकता। यदि हम स्वतन्त्र तथा समान व्यक्तियों का समाज स्थापित करना चाहते हैं तो हमें स्वावलम्बी तथा आत्मनिर्भर गाँवों की अनेक इकाइयों का निर्माण करना पड़ेगा तथा सर्वसम्मति से निर्णय करने की कला सीखनी होगी। इसके लिए हमें जनता को अहिंसक शक्ति का भण्डार बनाना होगा (अर्थात् लोक-संग्रह करना होगा)। विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन को इसी दिशा की ओर आगे बढ़ाया है। वे जनता को अपने उत्तरदायित्व के प्रति चेतनाशील बनाना चाहते हैं। व्यक्ति स्वयं अपने गाँवों में भूमि की समस्या का स्वयं की शक्ति के अनुसार निराकरण करें ताकि केन्द्रीय शासन के मार्गदर्शन से स्वतन्त्र होकर एक स्वतन्त्र समाज बनाया जा सके। शिक्षा के क्षेत्र में भी शासन से स्वतन्त्र होने की आवश्यकता है। जनता स्वयं अपने बालकों की शिक्षा की व्यवस्था करे। सरकार के हाथों में शिक्षा का कार्य नहीं सौंपा जाये। ऐसी शिक्षा व्यवस्था जो नौकरशाही के हाथों में होती है ऐसे उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य की भावना का विकास नहीं कर सकती जो कि स्वतन्त्र समाज के सदस्यों के लिए आवश्यक है। पाश्चात्य लोकतान्त्रिक देशों द्वारा की गई त्रुटियों को हमें नहीं दोहराना है। हमें उनकी पद्धति का अंधानुसरण भी नहीं करना है। हमारा संविधान अनेक पश्चिमी देशों के लोकतान्त्रिक संविधानों की प्रतिलिपि है। यह एक संकलन मात्र है, इसमें सम्पूर्णता का नितान्त अभाव है। इसके द्वारा नागरिकों में व्यक्तित्व-द्वय विकसित हुआ है। इससे सर्वोदय को प्राप्त नहीं किया जा सकता। भारत की अधिकतर जनता भ्रमित है। तोते की तरह हम राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा आर्थिक नियोजन की बात करते हैं किन्तु हमारे कोई मूलभूत सिद्धान्त नहीं हैं। परिणामस्वरूप हमारी चिन्तन की मौलिकता समाप्त हो गई है। सरकार पर हमारी निर्भरता बढ़ रही है। हम लोकतन्त्र को दुर्बल बनाकर हमारे राजनीतिक एवम् सामाजिक जीवन में एकतन्त्रात्मकता की प्रवृत्ति को बल प्रदान कर रहे हैं। सर्वोदय में इस प्रकार का अंधानुसरण नहीं है। सर्वोदय सभी के कल्याण पर महत्व देता है। सर्वोदय आदर्शों के गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है। जयप्रकाश नारायण ने भारत के बुद्धिजीवियों को सर्वोदय का अध्ययन कर उस पर अपना ध्यान केन्द्रित करने का आह्वान किया है ताकि जन कल्याण की भावना लोक संग्रह के माध्यम से प्रकट हो कर राजनीति को लोकनीति में परिवर्तित कर सके।[35]

जयप्रकाश नारायण, नक्सलवाद तथा विनोबा

जयप्रकाश नारायण की समाजवादी चिन्तन प्रणाली 1971-72 में भारतीय साम्यवादी दल के प्रभाव तक सुषुप्त सी दिखाई देती थी वह पुनः नक्सलवादी आंदोलन के कारण उद्वेलित हो उठी। जे पी ने लोकनीति तथा लोकराज के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिये थे। किन्तु हिंसात्मक आंदोलन ने जयप्रकाश को अपने विचारों में आवश्यक परिवर्तन करने के लिये बाध्य किया। बिहार के नक्सलवादी आंदोलन का सामना करने के लिये जयप्रकाश ने समग्र क्रांति का विचार प्रस्तुत किया। देखें जयप्रकाश की समग्र क्रान्ति का विचार तथा नक्सलवादियों के आंदोलन में अंतर केवल साधनों का ही था। दोनों का उद्देश्य सामाजिक क्रान्ति लाने का था। यदि हिंसा को नक्सलवादी आंदोलन से पृथक कर दिया जाय तो जयप्रकाश की समग्र क्रान्ति भी उसी तरह सामाजिक परिवर्तन की प्रतीक है। यह बात जयप्रकाश द्वारा बिहार के

मुसहरी प्रखंड के नक्सलवादी आंदोलनकारियों के साथ बातचीत में स्पष्ट हुई। जयप्रकाश ने गांव के बीच में अपना शिविर स्थापित कर नक्सलियों का आह्वान किया कि यदि उनमें नैतिक साहस हो तो वे पहले जयप्रकाश की हत्या करें। नक्सलियों का जयप्रकाश से साक्षात्कार अनोखा था। नक्सलियों ने हिंसक क्रान्ति में अपनी निष्ठा प्रकट करते हुए माओ के शब्दों में दोहराया कि क्रान्ति बंदूक की नली से निसृत होती है। जयप्रकाश का उत्तर था कि बिना व्यापक लोकशक्ति का समर्थन प्राप्त किये हिंसात्मक आंदोलन भी सफल नहीं हो सकता और फिर क्रान्ति के बाद वही बंदूक जिसके हाथ में होगी, वही निरंकुश राजा बनेगा तो समाज की चिंता कौन करेगा ? जयप्रकाश नारायण ने क्रान्ति को लोकशक्ति पर आधारित मानते हुए उसके अहिंसक होने पर जोर दिया। उनके "पुराने समाज का बदलना और नये का बनना दोनों साथ-साथ और कदम-ब-कदम होते हैं।"[76]

जयप्रकाश नारायण का वैचारिक द्वन्द्व चिंतन तथा समाज के आमूलचूल परिवर्तन की प्रक्रिया को वैचारिक गति और समष्टिगत दर्शन के दृष्टिकोण पर आधारित है। "जयप्रकाश नारायण ने सर्वोदय में रहकर उस धर्म से अपना तादात्म्य बनाये रखा, जो जीव धाम वन से होकर आता है और व्यष्टि से समष्टि की यात्रा करता है। यानी व्यष्टि का समष्टिगत चिंतन और समष्टि का व्यष्टि में निहित होना जयप्रकाश नारायण के चिंतन का आधार रहा, जबकि आचार्य भावे सेंट फ्रांसिस की स्थितियों से इस चिंतन के स्तर पर पहुंच कर व्यष्टि से कटकर सीधे आध्यात्मिक ब्रह्म से जुड़े। ब्रह्मलीन व्यक्ति समाज की चिंता परेशानी, दुख-सुख, मान-अपमान से परे हो जाता है। यानी यों कहा जा सकता है कि सर्वोदय की दो स्पष्ट धाराएं हो गयी हैं—सर्वोदयी लोकपक्ष तथा सर्वोदयी आध्यात्मिक पक्ष। इन पक्षों का अंतर ही जयप्रकाश नारायण तथा विनोबा का द्वन्द्व है।...विनोबा ने गांधीजी के राजनीतिविहीन पक्ष को पकड़ा था। जबकि जयप्रकाश ने गांधीजी के सक्रिय लोकनीति के पक्ष को पकड़ा था और वे इस सूत्र को बराबर पकड़े रहे। जयप्रकाश नारायण का पूरा आंदोलन पक्ष दलविहीन लोकनीति का रहा।... जयप्रकाश नारायण की चिंताएं सामाजिक हैं। तो विनोबा की चिंताएं देह से अलग आत्मिक, धार्मिक शान्ति और ब्रह्म चिंतन की हैं। दोनों के आंतरिक हाहाकार का धरातल उतना ही भिन्न, जितना धरती और दूर क्षितिज पर धरती-आकाश के मिलने का भ्रम। हालांकि विनोबा की दृष्टि और उनकी व्यापक बाहरी तथा आन्तरिक सच्चाई और ईमानदारी पर शंका नहीं की जा सकती। क्योंकि उनका यह मानना है कि वे भी लोक कल्याण के लिये ही जी रहे हैं। जबकि जयप्रकाश नारायण का लोक कल्याण एक पूरी प्रक्रिया के बाद की परिणति है। विनोबा का चिन्तन, व्यक्ति विकास के दौर की स्थिति है, जो महज एकांतिक और सीमित दायरे की चीज है, जबकि जयप्रकाश नारायण का चिन्तन समाज विकास की स्थितियों का तथा लोकनिर्माण की अवस्थाओं का है। ऐसा लगता है सर्वोदय के सिक्के के दो पहलुओं लोकपक्ष तथा आध्यात्मिक पक्ष का प्रतिनिधित्व क्रमशः जयप्रकाश तथा विनोबा करते हैं।"[77]

जयप्रकाश नारायण तथा विनोबा भावे के मध्य वैचारिक अन्तर का कारण यह भी है कि जयप्रकाश मार्क्सवाद के वैज्ञानिक द्वन्द्व के समर्थक हैं तथा स्वयं द्वन्द्व

शोधन मे विश्वास करते हुए सत्य को सापेक्ष मानते हैं। विनोबा का चिंतन निरपेक्ष है और इस कारण समाज म अनेक भ्रान्तियो का सामूहिक कारण बन गया है। 'जो अन्तर मार्क्स तथा हेगल के बीच है वही अन्तर विनोबा तथा जयप्रकाश नारायण के बीच मे है। सापेक्ष निरपेक्ष का द्वन्द्व ही जयप्रकाश और विनोबा का द्वन्द्व है। जो द्वन्द्व एक जमाने म गांधी और लोहिया मे था आज वही द्वन्द्व लगता है सनातन रूप से गतिशील है।''''जयप्रकाश के अनुसार "कोई व्यक्ति ऐसे सत्य को पाने का दावा नही कर सकता, जो सदा के लिये सत्य हो। हम लोगो ने सम्पूर्ण सत्य को न पाया है, न पा सकते हैं। एजेल्स का, जिसने इस सिद्धान्त की विवेचना बडी योग्यता से की है, कहना है कि हम लोग सापेक्ष सत्य तक ही पहुँच सकते हैं। सापेक्षिक सत्य से हम लोग असत्य को निकाल देते हैं और इस प्रकार पूर्ण सत्य तक पहुँचते हैं, इसी तरह से ज्ञान की वृद्धि होती है।" उक्त कथन मूलत. सिद्धान्त म निहित सत्य और सिद्धान्त का सत्य पाने के प्रयास का चिंतन है तथा प्रत्येक वस्तु की गतिशीलता का प्रमाणीकरण भी है। अत जयप्रकाश के मूल चिंतन का आधार मार्क्स एव व्यवहार गांधी है, जबकि विनोबाजी का आधार गांधी का व्यवहार और अध्यात्म है, यही द्वन्द्व इन दोनो का है। यही कारण है कि विगत तीस वर्षों मे जहाँ जयप्रकाश का विकास जननेता के रूप मे हुआ, वही विनोबा का विकास आध्यात्मिक सत के रूप मे हो गया। लेकिन चिंतन की पृष्ठभूमि ही इसका प्रमुख कारण रही। उसी का यह परिणाम है कि आज सर्वोदय म आत्मनिरीक्षण और विचार का युग शुरू हो गया है। जयप्रकाश तथा विनोबा की सामाजिक चिंताओ को एक उदाहरण से स्पष्ट समझा जा सकता है। नक्सली आन्दोलन को लेकर विनोबा तथा जयप्रकाश दोनो ही चिंतित थे। दोना ही रक्तपात, लूट से खिन्न थे, लेकिन दोनो के चिंतित होने मे खास किस्म का फर्क था। विनोबा नक्सली आन्दोलन मे रक्त-पात से, मानवीय तथा धार्मिक रूप से चिंतित थे, वे मानव को मानव द्वारा मरते-मारते नही देख सकते थे, जबकि जयप्रकाश पूरे नक्सलवादी मूवमेंट को एक आन्दोलन के रूप म देख रहे थे। उसकी मूल उपज समाज की राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था मे देख रहे थे। यह समाज व्यवस्था की शोषण की पद्धति मे था, इसका निदान शोषण के खातो म था। ऊपरी तौर पर हल्के-फुलके सुधार म नही था। सरकार से माग करके इस आन्दोलन को समाप्त नही किया जा सकता था। अत इससे आचार्य विनोबा जहाँ क्षुब्ध थे, वही जयप्रकाश जी इसे चुनौती मानकर मुकाबले पर डट गये थे, और इस आन्दोलन से कमोबेश प्रेरणा ग्रहण करके जन-आन्दोलन के लिये अपने को तैयार कर रहे थे।

इसी सन्दर्भ मे जयप्रकाश की धारणा और निष्कर्ष को ध्यान में रखना होगा कि 'सयोग से समाजवाद की ओर बढने की गति धीमी हो सकती है, पर वह सुनिश्चित होनी चाहिये, गति धीमी हो ही, यह भी जरूरी नही। भारत का ही उदाहरण ले। यहाँ की जनता आज समाजवाद के इतने पक्ष मे है कि या तो सत्ता हस्तान्तरित होने के बाद यहाँ कोई पूजीवादी राज्य स्थापित नही होगा और यदि पूजीवादी राज्य स्थापित हो गया, तो प्रजातान्त्रिक ढग से उसे हटाया जा सकेगा।' प्रजातान्त्रिक रूप से वे सरकार तो हटा चुके लेकिन पूजीवादी का खात्मा लम्बी अवधि की माग करता है। कमोबेश यह कथन पश्चिम बगाल मे मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी तथा उसके

लोगों की जीत है, जो यह सिद्ध कर रहा है कि कम्युनिस्ट पार्टियाँ भी चुनाव के द्वारा सत्ता प्राप्त कर सकती हैं। लेकिन जयप्रकाश तथा विनोबा की चिंतन भूमि का खास फर्क यह भी है कि विनोबा का समाज 'सत्ताहीन विकेन्द्रीकरण चुपचाप छोटे-छोटे कदम कर स्वेच्छाचारी समाज बनाने का है' जबकि जयप्रकाश ने जनसत्ता, पूँजीवाद के खात्मे का युद्ध, एलान सा किया है, जो आगे जा कर शोषणहीन, वर्गविहीन, समाज में विकसित होगा, और अन्त में स्वेच्छाचारी समाज में विकसित हो जायेगा। एक मायने में द्वन्द्व का मूल कारण 'क्रान्ति' है जो जयप्रकाश और विनोबा के बीच खड़ा हुआ है।"[78]

समग्र क्रान्ति

जयप्रकाश नारायण ने समग्र क्रांति के लिये संघर्ष की भूमिका को महत्त्व दिया है। वे यह आवश्यक नहीं मानते कि संघर्ष मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष के अनुरूप ही हो। उनका यह विश्वास है कि भारत में गांधीजी के अत्यधिक प्रभाव के कारण मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष सफल नहीं हो सकता। गांधीजी का सत्याग्रह तथा उनके अन्य विचार संघर्ष की दृष्टि से काफी महत्त्व रखते हैं। अतः यह सम्भव है कि भावी संघर्ष में मालिक तथा मजदूर में विभाजन न दिखाई दे और दोनों के मध्य विवाद की स्थिति भी न हो। सभी वर्गों के लोगों को इस निश्चित क्रांति में भाग लेना है। पिछड़े तथा दलित वर्गों का यद्यपि इसमें बहुमत होगा, फिर भी ऊपर के लोग या तो इसमें सहयोग देंगे अथवा सक्रिय रूप से भाग लेंगे। समग्र क्रांति को सफल बनाने के लिये नवीन विचारधारा की आवश्यकता है क्योंकि इसके लिये किया गया संघर्ष वर्ग-संघर्ष से भी अधिक विस्तृत होगा। पिछड़े तथा दलित वर्गों के समर्थन के साथ-साथ समग्र क्रांति की सफलता के लिये समाज के ऊपर के वर्ग के नवयुवक भी इसमें भाग लेकर इसे सफल बना सकेंगे। युवा पीढ़ी की इसमें मुख्य भूमिका होगी। उन्हीं को इसका नेतृत्व करना है।[79] जयप्रकाश नारायण के अनुसार समग्र क्रांति के संदर्भ में "मिश्रित अर्थ व्यवस्था" आवश्यक है। अर्थ व्यवस्था मिश्रित ही रहेगी। सोवियत संघ जैसे देशों में जहाँ समाजवाद की स्थापना मान ली गयी है वहाँ भी "मिश्रित समाजवाद" है। यह सत्य है कि वहाँ एक ही वर्ग है। सभी श्रम करने वाले लोग हैं। फिर भी व्यापक अन्तर विद्यमान है। कारखाने का व्यवस्थापक, दल का महा सचिव अथवा सचिव अपने आप में एक वर्ग है। यह स्थिति अब भी समाजवादी नेता मिलोवान जिलास ने अपनी पुस्तक दी न्यू क्लास में अच्छी तरह स्पष्ट की है। जिलास ने यह बतलाया है कि क्रान्ति के कारण उत्पन्न यह नवीन वर्ग एक शोषक वर्ग के रूप में व्यवहार कर रहा है। अतः समाजवाद की कोई भी व्यवस्था क्यों न हो मिश्रित अर्थ व्यवस्था आवश्यक रूप में बनी रहेगी। फिर भी हमारा आदर्श एक वर्गविहीन समाज की स्थापना का होना चाहिये और किसी नवीन वर्ग को पनपने नहीं देना चाहिये। जयप्रकाश नारायण ने इस संदर्भ में जनता सरकार की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए व्यक्त किया है कि जनता दल अपनी पूर्व भूमिका तथा क्रान्ति की उपज होने के कारण इस दिशा में कुछ हद तक कार्य कर सकता है। जनता सरकार समग्र क्रान्ति की प्रक्रिया में अपनी आर्थिक नीतियों को बदल कर सहायक हो सकती है। अनेक रास्तों में से यह भी एक रास्ता हो सकता। लेकिन जब तक नीचे के स्तर से जन-क्रान्ति नहीं होगी सरकार के प्रयास विफल ही रहेंगे। इस कार्य में निम्न विद्यार्थियों को वर्ग न मानकर जमात (समुदाय) मानते हुए उन्हें इस संघर्ष

में सबसे आगे रहने की बात जयप्रकाश नारायण ने कही है। फिर भी यह स्वाभाविक है कि वे सभी वर्ग जो वर्तमान समाज में साधनहीन माने जाते हैं और जिन्हें अपने आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकारों के लिये लड़ना पड़ता है, इस संघर्ष में प्रमुख सहभागी होंगे। समग्र क्रान्ति को सफल होने में कितना समय लगेगा यह जयप्रकाश नारायण ने निर्धारित नहीं किया। उनके अनुसार यह सब परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। यह जल्दी भी हो सकती है। इसमें देर भी हो सकती है यदि इसके लिये उपयुक्त वातावरण न हो। कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकता।[80]

जयप्रकाश नारायण के समग्र क्रान्ति सम्बन्धी विचारों की आलोचना में कहा गया है कि भारत में वर्ग-संघर्ष की अवश्यम्भाविता के मार्क्सवादी विचार को पुनर्जीवित करना उतना ही अर्थ हीन दिखाई देता है जितना जाति व्यवस्था की अमानवीय धारणा का अवलम्बन। जाति व्यवस्था जन्म के आधार पर समाज के कतिपय वर्गों को सदा-सदा के लिए हेय बना देती हैं। उसी प्रकार से आर्थिक आधार पर समाज को वर्ग भेद की दृष्टि से देखना भी मानवीय गरिमा का अवमूल्यन करना है। मानवीय व्यक्तित्व की असीमित प्रतिभा को जाति अथवा वर्ग की दृष्टि से देखना उन्हें राष्ट्र निर्माण के कार्य से पृथक रखने का कुचक्र बन जायेगा। वर्ग संघर्ष द्वारा प्रेरित मानवप्रकृति तथा सामाजिक समुदायों में निष्ठा का अभाव दूषित मनोवृत्ति का परिचायक है। मार्क्स ने वर्ग संघर्ष के आर्थिक पक्ष को अत्यधिक महत्व दिया है किन्तु जीवन में भौतिक उपलब्धियाँ ही सब कुछ नहीं होतीं। भारतीय चिंतन का आदर्श संघर्ष के स्थान पर सहिष्णुता एवम् समन्वय पर अधिक बल देना है। गांधीजी ने भी न्यासिता के माध्यम से वर्ग संघर्ष की कटुता को दूर करने का मार्ग दर्शाया है। यदि गांधीजी का विचार आज की परिस्थितियों से जूझने में समर्थ नहीं है तो वैधानिक माध्यम से तथा उचित शिक्षण से जनमत जागृत कर सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक विकास का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिये हमें रूस, चीन अथवा पश्चिम की औद्योगिक क्रान्ति के कटु अनुभवों की पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है।

समग्र क्रान्ति में जयप्रकाश नारायण ने युवाशक्ति के योगदान को विशेष महत्व दिया है। युवा पीढ़ी के उत्साह तथा आदर्शवाद को रचनात्मक कार्यों में प्रवृत्त करना बुराई नहीं है किन्तु साधन तथा साध्य के सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि युवा पीढ़ी को क्रान्ति के लिये हर प्रकार के साधनों का प्रयोग करने की अनुमति दे दी जाये। नक्सलवाद के अनुभवों की स्मृति धूमिल नहीं हुई जिसमें युवकों ने हिंसा का मार्ग अपनाया था। आज भी छात्रों में अनुशासनहीनता की भावना के कारण शिक्षण संस्थाओं का वातावरण दूषित बना हुआ है। कानून तथा व्यवस्था की स्थिति पहले से अधिक बिगड़ी है। राजनीतिक दलों की स्थिति भी अधिक सुदृढ़ नहीं है। क्षेत्रीय दलों को अधिक स्थायित्व मिला है। ऐसे में राष्ट्रव्यापी क्रान्ति का आह्वान केवल सर्वोदयवादियों के बस का काम नहीं है। समग्र क्रांति का अर्थ केवल समाज की बाह्य संरचना में परिवर्तन तक सीमित नहीं रह सकता। इसके लिये मानवीय चेतना में भी उतना ही परिवर्तन आवश्यक है। आज विज्ञान की उपलब्धियों ने मानवीय चेतना को अपनी सांस्कृतिक विरासत से तादात्म्य स्थापित करने को विवश कर दिया है। राजनीतिक संरचनाओं, सामाजिक प्रकारों तथा आर्थिक प्रतिरूपों से उलझने के स्थान पर मानव को

स्वय के चेतनरूप का पूर्ण दर्शन कर लेना आवश्यक है ताकि प्रौद्योगिकी का मानवीय चेतना पर नियन्त्रण शिथिल हो जाय। इस कार्य को पुरातनपन्थी बौद्धिक संरचनाओं के माध्यम से सम्पादित नहीं किया जा सकता। चेतना जागृति के नव-शिक्षण आन्दोलन के बिना समग्र क्रांति का अमृत पान असम्भव है।[81]

जयप्रकाश नारायण ने भारतीय सामाजिक एवम् राजनीतिक जीवन को सुधारने के लिये अनेक योजनाएं तथा विचार समय समय पर दिये हैं। वे अधिकतर स्वप्नलोकी विचारों के सृजनकर्त्ता के रूप में ही लोकप्रिय हुए हैं। उनकी एक विशेषता यह भी रही है कि वे किसी नवीन विचार का आधार प्रस्तुत कर उस विचार की अनुपयुक्तता अथवा अव्यावहारिकता के कारण समाप्ति के पहले ही किसी अन्य योजना में उलझ जाते हैं और उसे लोकप्रिय बनाने के प्रयास मे जुट जाते हैं। उनका जीवन ऐसे ही कार्यों से भरा पड़ा है। इस शताब्दी में दूसरे दशक तक वे मार्क्सवाद की जकड मे रहे तो तीसरे दशक में गांधीवाद से प्रभावित समाजवाद ने उन्हें तल्लीन रखा। चौथे दशक में वे एक क्रान्तिकारी तथा उग्रवादी के रूप में उभरे और भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् वे भूदान आंदोलन, दलविहीन लोकतन्त्र आदि कार्यों में लगे रहे। छठे दशक मे उनकी रुचि समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम तथा भारत-पाक सम्बन्धों मे रही तो सातवें दशक के प्रारम्भ मे वे बंगलादेश की समस्या से उद्वेलित रहे और गुजरात के छात्र आंदोलन के मार्गदर्शक बने। बिहार में जन आंदोलन का श्री गणेश कर जयप्रकाश समग्र क्रान्ति की ओर अभिमुख हुए।

□□

टिप्पणियाँ

1. मीनू मसानी, इज जे. पी. दी एन्सर? (मैकमिलन, दिल्ली, 1975) पृ 6
2. विमल प्रसाद, "जयप्रकाश : क्रांति-दर्शक चिन्तन के मोड़", धर्मयुग, 9 अक्तूबर, 1977
3. मीनू मसानी, पृ. 7
4. धर्मयुग, 9 अक्तूबर, 1977
5. वही
6. मीनू मसानी, पृ. 7
7. धर्मयुग, 9 अक्तूबर, 1977
8. वही
9. वही
10. वही
11. वही
12. वही
13. वही

14 वही
15. लक्ष्मीनारायण लाल, जयप्रकाश (मैकमिलन, दिल्ली, 1974) पृ 9
16. जयप्रकाश नारायण, ए पिक्चर ऑफ सर्वोदय सोशल आर्डर, (अखिल भारतीय सेवा संघ, तंजोर, 1955) पृ 10
17 वही
18. वही, पृ 196-200
19 वही, पृ. 202-204
20. जयप्रकाश नारायण, टुवर्ड्स स्ट्रगल, (संपादक, यूसुफ मेहरअली, पद्मा पब्लिकेशन्स, बम्बई, 1946) पृ 65
21. बिमल प्रसाद (सं) सोशलिज्म, सर्वोदय एण्ड डेमोक्रेसी, (एशिया पब्लि , बम्बई, 1964) पृ 108
22 वही, पृ 110-118
23. वही, पृ. 113
24. वही, पृ. 59-60
25. वही, पृ 60-62
26 वही, पृ 161
27 वही, पृ 160
28. जयप्रकाश नारायण, फ्रॉम सोशलिज्म टु सर्वोदय, (सर्व सेवा संघ, काशी, 1958) पृ. 160
29. वही, पृ 161
30 वही, पृ. 188
31. ब्रह्मानन्द (सं.), जयप्रकाश नारायण : नेशन बिल्डिंग इन इण्डिया, (नवचेतना प्रकाशन, वाराणसी) पृ. 118-123 तथा 377-378
32 वही, पृ 406-407
33. वही, पृ 397
34. वही, पृ 398-402
35 वही, पृ. 412-416
36. वही, पृ. 417-418
37. वही, पृ 418-420
38. वही, पृ. 420-421
39. वही, पृ 423-424
40. वही, पृ 424
41. वही, पृ 424-426
42. वही, पृ. 426-427
43. सोशलिज्म, सर्वोदय एण्ड डेमोक्रेसी, पृ 91
44. वही, पृ 91-92
45. वही, पृ. 92
46. वही, पृ. 93-94
47. वही, पृ. 95
48. वही, पृ. 96
49. हरिजन, 6 फरवरी, 1954
50. वही
51. वही
52. सोशलिज्म, सर्वोदय एण्ड डेमोक्रेसी, पृ. 132
53 वही, पृ. 134-136

54 वही, पृ. 100
55. वही, पृ. 101
56 वही, पृ 102-104
57. वही, पृ 105
58 वही, पृ. 105-107
59. वही, पृ 107-109
60. वही, पृ. 109-111
61 वही, पृ 112-113
62. वही, पृ 114
63. वही, पृ 115
64 वही, पृ. 116-117
65 वही, पृ. 117-118
66. वही, पृ. 67-68
67. वही, पृ 70-71
68 वही, पृ 59 50
69. वही, पृ 60-61
70. वही, पृ 61
71. वही, पृ 62
72. ए रिपोर्ट ऑफ लॉरेन्स सेरम बार्टर, पृ. 52-53
73. वही, पृ. 53-54
74 वही, पृ 54-55
75. वही, पृ. 55-57
76 साप्ताहिक हिन्दुस्तान, अक्तूबर 16, 1977
77. वही
78 वही
79 जयप्रकाश नारायण, जेल डायरी, (सेतुवर प्रकाशन, बम्बई 1977) पृ. 129
80. इण्डियन एक्सप्रेस, सितम्बर 22, 1977
81 वरुणसिंह, "टोटल रिवोल्यूशन एन अप्रेज़ल", इण्डियन एक्सप्रेस, सितम्बर 27, 1977

□□

अध्याय 26

विनोबा भावे (1895-)

विनोबा भावे का जन्म सितम्बर 11, 1895 के दिन महाराष्ट्र के कोलाबा जिले के गगोदे ग्राम में हुआ। इनका जन्म नाम विनायक भावे था किन्तु गांधीजी ने इन्हें विनोबा नाम दिया जो कि विनायक तथा बाबा शब्द का मिश्रित रूप था। ब्राह्मण परिवार में जन्मे विनोबा ने पूना तथा बड़ौदा में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। वे अध्ययन में तन्मय रहते थे। गणित उनका सर्वाधिक प्रिय विषय था। उनके स्वाध्याय से प्रभावित होकर पिता ने उन्हें इंजीनियर बनाने का निर्णय किया। 1912 में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण कर वे इंटर परीक्षा की तैयारी में लग गये किन्तु उनका हृदय अध्ययन से दूर ब्रह्म-जिज्ञासा में लगा हुआ था। 1916 में एक दिन अपनी माता रुक्मणी देवी के देखते देखते उन्होंने अपने स्कूल तथा कालेज के प्रमाण-पत्रों को अग्नि के सुपुर्द करते हुए जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ किया। जून 7, 1916 को वे महात्मा गांधी के सम्पर्क में आये और उसके बाद यह सम्पर्क बढ़ता चला गया। गांधीजी ने विनोबा को पहचाना और विनोबा को सच्चा गुरु प्राप्त हो गया।[1]

विनोबा ने स्वाध्याय से जो कुछ सीखा वह उनके जीवन की अपूर्व निधि है। मराठी, संस्कृत, अंग्रेजी में निष्णात होने के साथ वे अनेक भारतीय भाषाओं के ज्ञाता हैं। महाराष्ट्र के संत-साहित्य को कण्ठस्थ करने के अलावा विनोबा ने तुलसीदास के रामचरित मानस तथा विनय पत्रिका, शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य तथा श्रीमद्भगवगीता का गूढ़ अध्ययन किया है। उपनिषदों, स्मृतियों तथा योगदर्शन का उनका ज्ञान उन्हें संतों की श्रेणी में ला खड़ा करता है।[2] आजन्म ब्रह्मचारी रहकर पदयात्राओं के माध्यम से जनजीवन में चेतना का संचार करना उनका लक्ष्य रहा है। साबरमती-आश्रम से वर्धा के पवनार आश्रम तक उनका बौद्धिक क्रियाजगत् रहा है। गांधीजी के बाद उनके विचारों को कार्य रूप में परिणत करने का जो कार्य विनोबा ने अपने हाथ में लिया वह आज भी नियमित रूप में वे कर रहे हैं। हरिजनोद्धार, तेलगाना में साम्यवादी प्रभाव के विरुद्ध भूमिहीन कृषकों की समस्या का निवारण, नई तालीम, राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार, नागरी लिपि का संशोधन, भूदान-यज्ञ, कांचन मुक्ति, ग्रामदान, सम्पत्तिदान, जीवनदान, सर्व सेवा-संघ की गतिविधियां, डाकुओं की समस्या का समाधान और अंत में गोवध निषेध आदि समस्त कार्य विनोबा के अथक परिश्रम तथा त्याग के परिणाम हैं। पद, स्वार्थ, आत्म प्रचार तथा सुख का त्याग कर विनोबा ने भारतीयों के समक्ष ही नहीं अपितु समस्त विश्व के सम्मुख एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया है जिसका कोई सानी नहीं। विनोबा के त्याग एवं साधना का आज के स्वार्थ तथा सत्तालोलुप जगत् में उतना प्रभाव दिखाई नहीं देता जितना कि होना चाहिए था। विनोबा स्वयं इस तथ्य से अपरिचित नहीं।

किन्तु उन्हें इसकी चिन्ता भी नहीं है। वे अपना कर्त्तव्य किये जा रहे हैं। वे सर्वोदय के पुनीत विचार को आगे बढ़ाने के लिए व्रत-संकल्प हैं। गरीबी और शोषण के विरुद्ध छेड़े गये इस धर्मयुद्ध में वे अकेले भी अनेक से अपराजित रहेंगे।

विनोबा भावे 18 अप्रेल 1951 को आन्ध्र प्रदेश के तैलंगाना के नालगुंडा जिले के पचमपल्ली गाव में भूमिहीन हरिजनों की दर्द भरी कहानी सुनकर भूदान का कार्य प्रारम्भ किया। उन्होंने अनुमान लगाया कि यदि भूमिहीन कृषकों को किसी प्रकार से भूमि प्राप्त हो जाये तो भारत की भूमि समस्या का समाधान हो सकता है। उनके अनुमान से पाच करोड़ एकड़ जमीन भारत से भूमि हीनता को मिटाने के लिए आवश्यक थी जो कि कुल काश्तकारी जमीन का छठा हिस्सा था। उन्होंने गांव-गांव में घूम कर भूमि का दान मांगा और भूदान आन्दोलन का सूत्रपात किया। वहाँ से वे पुन पवनार आश्रम आये, तीन महिने बाद उन्होंने दिल्ली की ओर प्रयाण किया और 62 दिन की पवनार से दिल्ली की यात्रा में उन्हें 19 हजार 436 एकड़ भूमि दान में मिली। इसके बाद उन्होंने उत्तरप्रदेश की पदयात्रा की और वहां उनको 2,95,018 एकड़ भूमि प्राप्त हुई। बिहार में उन्हें 839 दिन की यात्रा में 22,32,474 एकड़ भूमि भूदान में प्राप्त हुई। बिहार के लिए उन्होंने यह दिखा दिया कि अहिंसा की शक्ति से भूमि समस्या का निराकरण कैसे किया जा सकता है। इसके बाद विनोबा ने उड़ीसा की 249 दिन की पदयात्रा में 2,57,277 एकड़ भूमि, आन्ध्र प्रदेश की 224 दिन की पदयात्रा में 50,754 एकड़ भूमि, तमिलनाडू में 341 दिन की पद यात्रा में 47,092 एकड़ भूमि; केरल की 138 दिन की पदयात्रा में 1,571 एकड़ भूमि तथा कर्नाटक की 212 दिन की पदयात्रा में 1,109 एकड़ भूमि भूदान में प्राप्त की। विनोबाजी ने सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं को 8 मार्च 1953 को चान्डिल्य में सम्बोधित करते हुए कहा, "हमारा उद्देश्य केवल भूदान प्राप्ति ही नहीं है। हमें स्वतन्त्र लोकशक्ति का निर्माण करना है, जो हिंसक शक्ति की विरोधी और दंड शक्ति से भिन्न होगी। इस अहिंसक लोकशक्ति से देश की विभिन्न समस्यायें आसानी से हल की जा सकेंगी।"

विनोबा जी के भूदान आन्दोलन का यह प्रभाव हुआ कि जयप्रकाशनारायण ने इस अहिंसक क्रान्ति के लिए लगभग 600 कार्यकर्त्ताओं के साथ जीवन दान का व्रत लिया। जमीन के दाम गिरने लगे। जमींदार स्वयं विनोबाजी के पास आते और हाथ जोड़कर भूमि का छठा हिस्सा स्वीकार करने का आग्रह करते। किन्तु बिहार में इसकी एक प्रतिक्रिया यह हुई कि अनेक बड़े जमींदार घबरा गये। कांग्रेस तथा उसके समर्थक राजनीतिक क्षेत्रों में खलबली मच गई। जमीन हाथ से जाती देखकर कई कांग्रेसी झल्ला उठे और उन्होंने किसी तरह से विनोबाजी को बिहार से विदा किया। लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि बिहार के जमींदार तथा बिहार की कांग्रेसी सरकार ने बिहार के भूदान आन्दोलन को जर्जरित कर दिया और भूमिहीनों की समस्या वैसे की वैसी बनी रह गई।

भूदान आन्दोलन शनैः शनैः शिथिल होता गया। उनकी पदयात्रायें दिखावा रह गई। बड़े-बड़े सरकारी अधिकारी तथा मंत्री उनकी पदयात्रा की अगवानी करते और स्वागत के लिए तैयार रहते लेकिन विनोबा जी के साथ फोटो खिचाते ही फिर गायब हो जाते। उन लोगों का भूमि समस्या को हल करने में अथवा राष्ट्र का पुनर्निर्माण करने में

कोई योगदान नहीं था। वे केवल स्वार्थवश विनोबाजी के साथ हो जाते थे। भूदान के बाद विनोबाजी ने ग्रामदान की योजना प्रारम्भ की। उन्हे पहला ग्रामदान 23 मई 1951 को उत्तरप्रदेश के हमीरपुर जिले के मगरात गांव मे प्राप्त हुआ जहां सभी भूमिवालो ने अपनी जमीन विनोबाजी को दान कर दी। विनोबाजी ने ग्रामदान की 4 शर्तें रखी थी (1) गाँव के सब वयस्क निवासी, स्त्री हो अथवा पुरुष, मिलकर ग्रामसभा बनायें। (2) गाँव के सब भूमिवान अपनी अपनी जमीन का स्वामित्व ग्रामसभा को सौंप दें। (3) गाँव के सब भूमिवान अपनी जमीन का बीसवा हिस्सा ग्रामसभा को दान करदें ताकि वह भूमिहीनो को दिया जा सके। (4) गाँव मे ग्राम कोष खोला जाये जिसमें भूमिवान लोग अपनी जमीन मे होने वाली पैदावार का चालीसवा हिस्सा जमा करें और मजदूरी करनेवाले या वेतन पाने वाले लोग प्रतिमाह एक दिन की मजदूरी या वेतन जमा करें।

विनोबाजी ग्रामदान के माध्यम से प्रत्येक गाँव को एक परिवार जैसी सूरत देना चाहते थे। परिवार के सदस्य जिस प्रकार मिल-जुलकर आपसी सलाह से काम करते हैं उसी तरह गाव के सारे विवाद ग्रामसभा के द्वारा तय करें, उन्हे कोर्ट अथवा पुलिस थाने मे जाने की आवश्यकता नही रहे। सारे झगडे ग्रामसभा मे निपटाये जायें। इसी तरह प्रत्येक गाँव मे ग्राम भडार की स्थापना की जाय। गाँव की सफाई, सिचाई, शिक्षा, सुरक्षा, चिकित्सा, पशु-पालन आदि ग्रामसभा की देख-रेख म हो। ग्रामसभा द्वारा इन कार्यों के लिए जमीन दी जाये तथा उद्योग धन्धो की स्थापना करें। खेती की व्यवस्था अलग-अलग होते हुए भी लगान ग्रामसभा द्वारा दिया जावे। विनोबा के अनुसार ग्राम स्वराज्य का आदर्श 'खेत गाँव का, खेती किसान की' था। किन्तु विनोबाजी का यह कार्यक्रम अधिक सफल नही हुआ। विनोबाजी ने ग्रामदान के पश्चात् प्रखण्डदान मागा और उसके बाद जिलादान की माग की। विहार मे दरभगा पहला जिला था जिसका जिलादान हुआ। एक-एक करके सभी जिलो का दान हो गया और पूरा बिहार ही दान मे आ गया। लेकिन इससे भूमिहीनों की समस्या नही सुलझी और यह केवल दिखावे का ही आन्दोलन रहा। विनोबा ने सरकार की सामुदायिक योजना और ग्रामदान योजना के बीच घनिष्ठ सहयोग की मांग की और यह सहयोग कुछ अर्से तक प्राप्त भी हुआ लेकिन सामुदायिक विकास के अधिकारियो द्वारा मिलने वाला सहयोग जनता मे भ्रान्ति फैलाने मे सहायक हुआ। जनता यह समझने लगी कि शायद भूदान तथा ग्रामदान का कार्य सरकारी है। सामुदायिक विकास का काम ढीला पडने के कारण ही भूदान का काम भी शिथिल होने लगा। इसके लिए भूदान आन्दोलन के अन्तर्निहित दोष काफी हद तक उत्तरदायी है। पहला दोष यह था कि जमीन के बँटवारे मे दानदाता का सहयोग नही लिया गया था। भूदान का सारा तंत्र ऐसा खडा किया गया था मानो भूदान वालो को भूमिवान के प्रति डर तथा अविश्वास है। इसका नतीजा यह हुआ कि भूदान करने वालो ने विशेष रुचि नही दिखाई। भूदान कार्य कर्त्ता भी अच्छे-बुरे सभी तरह के लोग थे। अत कुछ भूमि भूमिहीनों को मिली तो कुछ भूमि हडप ली गई। स्वय विनोबा ने बाद मे यह स्वीकार किया कि भूमिवानो की सलाह न लेकर उन्होंने बडी गलती की थी। उनके अनुसार यह उनके पुण्य का अहकार था कि

वे न्याय की बात छोड़ गये लेकिन इस चेतावनी के बाद भी विनोबा ने भूमिवानों को भूमि वितरण के कार्य में सम्मिलित नहीं किया।

दूसरी त्रुटि विनोबा के आन्दोलन में यह रही कि कार्यकर्त्ताओं के मामले में हुए खर्च का ठीक से हिसाब नहीं रखा गया। भूदान आन्दोलन को गांधी स्मारक निधि से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई थी चूंकि विनोबा ने यह आन्दोलन अखिल भारत सर्व सेवा संघ के अन्तर्गत चलाया था। सर्व सेवा संघ के अधीन प्रान्तीय भूदान समितियां काम करती थीं जिनका लेखा-जोखा लेखा परीक्षकों को पसंद नहीं आया। कार्यकर्त्ताओं ने ठीक से हिसाब रखने में असमर्थता प्रकट की। उनका यह उत्तर था कि क्रान्ति के काम में लगे हुए लोग हिसाब-किताब ठीक से नहीं रख सकते। परिणाम यह हुआ कि गांधी स्मारक निधि ने विनोबाजी को शिकायत की और इनसे आन्दोलन को आर्थिक सहायता मिलनी बन्द हो गई। विनोबाजी तथा जयप्रकाशनारायण के अलावा और कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था जो भूदान आन्दोलन के लिए निस्वार्थ भाव से अपना जीवन अर्पित करता। फिर भी भूदान आन्दोलन ने वह कार्य कर दिखाया जो सरकारी तंत्र नहीं कर सकता था। 1957 तक 40 लाख एकड़ से ज्यादा जमीन भूदान में प्राप्त हुई थी। यद्यपि 5 करोड़ के लक्ष्य की दृष्टि से चालीस लाख दसवें हिस्से से भी कम था किन्तु इससे लाखों भूमिहीनों को जीवन का नवीन मार्ग प्राप्त हुआ। भूमिहीनों में भूदान आन्दोलन ने नवीन जीवन का संचार किया। अनेक समाज सेवी आगे आये और सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं का निश्चित समुदाय जनता के समक्ष प्रस्तुत हुआ। विनोबाजी की अहिंसक क्रान्ति जैसे जैसे ग्रामदान, जिलादान, संपत्तिदान की ओर आगे बढ़ी भूदान आन्दोलन कमजोर होता रहा। यदि सर्वोदय आन्दोलन केवल भूदान तक ही सीमित रहता तो उसका लक्ष्य भी पूरा हो जाता और आन्दोलन को शिथिल नहीं होना पड़ता।

भूदान की असफलता आर्थिक विषमता, गरीबी तथा बेरोजगारी की समस्या के लिए चुनौती थी। भूदान आन्दोलन के सम्बन्ध में जयप्रकाशनारायण ने अपनी जेल डायरी में 18 अगस्त 1975 को यह अङ्कित किया, "शायद विनोबाजी यह समझते थे और अब भी समझते हैं कि बिना किसी संघर्ष के, शांतिपूर्ण संघर्ष के बगैर भी राजनीतिक तंत्र में क्रमागत परिवर्तन लाया जा सकता है, लेकिन ग्राम स्वराज्य कार्य के वर्षों के अपने अनुभव से मेरा यह निश्चित मत बन गया है कि ग्राम स्वराज्य अपने में एक मूल्यवान राजनीतिक संगठन है बशर्ते कि वह काम करे और सिर्फ कागज पर न रहे। ग्राम स्वराज्य आंदोलन में क्रमागत राजनीतिक परिवर्तन लाने की कोई क्षमता नहीं थी। सैद्धान्तिक दृष्टि से इस क्षमता का कोई कारण नहीं था‥जिले लिए गए, फिर नमूना बनाने की दृष्टि से प्रखंड लिए गए, लेकिन सफलता कहीं भी नहीं मिली। भूदान से शुरू होकर और ग्रामदान में से होकर (आने वाले ग्राम स्वराज्य के लिए यह एक तरह का आधार समझे गये थे) बीस साल से ज्यादा लम्बे अरसे तक चलने के बाद ग्राम स्वराज्य आन्दोलन उस निष्फल हालत में पहुंच गया था जिसमें वह आज है।"[3]

विनोबा ने एक अनुशासित लोकतन्त्र की विचारधारा जो कि पूर्णतया अहिंसा पर आधारित है, प्रस्तुत की है लेकिन वे ग्राम स्वराज्य आन्दोलन को एक व्यापक आन्दोलन के

रूप में चलाने के समर्थक नहीं दिखाई देते। जयप्रकाशनारायण ने बिहार में जनता सरकार की स्थापना करने का जो प्रयास 1974-1975 में किया उसका विरोध कर विनोबा ने यह सिद्ध कर दिया कि वे बिहार जैसे आन्दोलन के पक्षधर नहीं हैं। स्वयं विनोबा वर्धा के पास हुए सर्व सेवा संघ अधिवेशनों में अपना बहुमत खो चुके हैं। 1974-1975 में सर्व सेवा संघ के सर्वोदय कार्यकर्ताओं ने बहुमत से बिहार में सत्याग्रह का समर्थन किया था तथा जयप्रकाशनारायण के सम्पूर्ण क्रान्ति के विचारों को स्वीकार किया था। विनोबा ने इस अल्पमत में अपने आपको देखकर 25 दिसम्बर, 1974 से एक वर्ष का मौन रखने का व्रत धारण कर लिया था। देखा जाये तो सम्पूर्ण क्रान्ति स्वयं विनोबा के विचारों से निसृत विचार है। भूदान के दिनों में विनोबा ने जो कुछ विचार एवम् आदर्श प्रस्तुत किये थे वे कुल मिलाकर सम्पूर्ण क्रान्ति के विचार का निर्माण करते हैं। आपातकाल सारे देश में लागू किया गया उससे ऐसा लगता है कि विनोबा के विचारों में 25 दिसम्बर, 1975 को कुछ परिवर्तन आया। उन्होंने अचानक अपने एक वर्ष का मौन व्रत समाप्त करने की घोषणा की। उन्होंने लोकतान्त्रिक सत्याग्रह के मार्ग को जनता के विचारार्थ प्रस्तुत किया और शिक्षकों तथा शिक्षाविदों के आचार्यकुल की स्थापना का सुझाव दिया। उन्होंने आचार्यों का एक अधिवेशन बुलाने का आह्वान किया और यह कहा कि इस आचार्य सम्मेलन में उपस्थित होने वाले उच्च शिक्षकों, न्यायविदों, साहित्यकारों तथा दलीय राजनीति से दूर रहने वाले राजनीतिक कार्यकर्ताओं को शासन की वर्तमान नीति पर विचार विमर्श कर सर्व सम्मति से अपना निर्णय देना है ताकि शासन उस पर विचार कर सके। विनोबा ने साथ में यह भी व्यक्त किया कि यदि आचार्य अधिवेशन के सर्व सम्मत विचारों तथा सलाह को सरकार ने स्वीकृत नहीं किया तब ही सत्याग्रह आरम्भ करने की स्थिति उत्पन्न होगी। जनवरी 1976 में पवनार में आचार्यों का अधिवेशन हुआ और उसमें देश में जो कुछ घटित हुआ उसके लिए किसी को भी दोषी न ठहराते हुए पुन. सामान्य स्थिति स्थापित करने पर विचार किया गया। यह भी विचार व्यक्त किया गया कि बहुत बड़ी संख्या में राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की गिरफ्तारी, नागरिक स्वतन्त्रताओं का परिसीमन तथा प्रेस पर नियन्त्रण राष्ट्र के लिए स्वास्थ्यप्रद नहीं है। सम्मेलन में आम चुनाव कराने की शीघ्रता पर भी बल दिया गया। यह सम्मेलन विनोबा भावे की तत्कालीन विचारधारा से अधिक उग्र सिद्ध हुआ। विनोबा चाहते थे कि आचार्यों का यह सम्मेलन आपातकालीन स्थिति को सामान्य ही बतलायेगा किंतु आचार्यों ने आपातकालीन स्थिति को असामान्य बताया और देश में सामान्य स्थिति पुन. लागू करने का आह्वान किया।[६]

आपातकाल के दौरान विनोबा भावे का राजनीतिक चिन्तन सुषुप्त होता हुआ दिखाई दिया। उन्होंने 1974 के जयप्रकाशनारायण के बिहार आन्दोलन की आलोचना करना प्रारम्भ कर दिया। विनोबा ने उस समय के समाचार पत्रों में उनके द्वारा राजनीति से सन्यास लेने के उनके निर्णय पर व्यंग किये जाने के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त की। वे मानते

लगे कि भारत के समाचारपत्र राजनीति को अधिक महत्व देते हैं, समाज तथा अन्य समस्याओं पर कम ध्यान देते हैं। आलोचकों ने यह कहा कि तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने एक कुशल राजनीतिज्ञ के रूप में विनोबा के 'आपात स्थिति अनुशासन पर्व है' जैसे विचारों का सार्वजनिक प्रचार एवम् प्रदर्शन करके विनोबा की लोकप्रियता का लाभ उठाया। भारत की सामान्य जनता में यह प्रश्न विचारणीय बना हुआ था कि सत्ता तथा पद की राजनीति से विमुक्त विनोबा जैसे आध्यात्मिक रुचि के राजनीतिक-मार्गदर्शक कब तक मौनव्रत धारण किये रहेंगे। विनोबा ने यद्यपि सक्रिय राजनीति से वर्षों पहले सन्यास ले लिया था और उनका समय दल तथा शक्ति की राजनीति से कोसों दूर रचनात्मक कार्यक्रम में लगा हुआ था। इतना ही नहीं वे जीवन में आध्यात्मिकता का आस्वादन कर रहे थे। इन सभी परिस्थितियों ने विनोबा भावे के व्यक्तित्व पर ऐसा प्रश्न-वाचक चिह्न लगा दिया जिसके कारण उनकी लोकप्रियता घटी और उनके प्रति सामान्य जन में वैसा श्रद्धा का भाव नहीं रहा जैसा कि भूदान आन्दोलन के समय रहा होगा। आलोचकों ने विनोबा को आड़े हाथों लेते हुए यह व्यक्त किया कि गांधीजी के नाम पर सन्यासी के रूप में कंचनकामिनी का त्याग कर दर-दर स्वतन्त्रता की अलख जगाने वाले विनोबा भावे स्वयं गांधीवादी सत्याग्रह को भूल गये। आपातकाल के बाद के दिनों में उन्होंने दबे स्वर में गोवध विरोध का आह्वान किया तो ऐसा लगने लगा कि उनकी अन्तरात्मा अभी भी जीवित है किन्तु उसके बाद पुनः उनकी चुप्पी से यही सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि विनोबा में अब दमन तथा अत्याचार का विरोध करने की वह शक्ति नहीं रही जिसे गांधीजी ने उनमें देखा थी और जिसके कारण गांधीजी ने उनको अपने इतने अधिक निकट आने का अवसर दिया।

विनोबा के विचार : विनोबा का स्वराज्य शास्त्र[5]

विनोबा भावे ने अहिंसक राजनीतिक समाज के सिद्धान्तों को स्वराज्य शास्त्र के नाम से व्यक्त किया है। स्वराज्य शास्त्र में विनोबा भावे ने सर्वप्रथम राजनीति की समस्या को लिया है। विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों को स्पष्ट करने से पहले विनोबा राजनीतिक संगठनों की व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति एकाकी जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। व्यक्ति की समूह में रहने की प्रवृत्ति तथा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की भौतिक आवश्यकता के साथ-साथ सामाजिक जीवन में पारस्परिक सम्बन्धों की सुव्यवस्था एवम् जीविकोपार्जन के साधन प्राप्त करने की लालसा राजनीति अथवा राजनीतिक संगठन के विचार को जन्म देती है। व्यक्ति तथा व्यक्ति के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों की सुव्यवस्था इस कारण से भी आवश्यक होती है कि व्यक्ति भौतिक साधनों को आपस में बांटने के लिए लालायित रहते हैं। सामाजिक जीवन में सन्तोष एवम् मानसिक शान्ति के लिए व्यक्ति अपने इर्द-गिर्द सामाजिकता का वातावरण तैयार करता है। राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों ही पक्ष राजनीति के अन्तर्गत आते हैं और उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार विनोबा ने राजनीति की परिभाषा करते हुए कहा है कि राजनीति

व्यक्ति समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों एवम् संगठनों का ज्ञान प्रदान करने वाला विज्ञान है।

विनोबा राजनीतिक समस्याओं के प्रति प्रचलित कृत्रिम व्यवहार के विरुद्ध हैं। उनके अनुसार आज मानवीय समाज तीन वर्गों में—उच्च, मध्य एवम् निम्न में बाँट दिया गया है और राजनीति को इन तीन वर्गों के मध्य समन्वय स्थापित करने से सम्बन्धित माना जाता है। यद्यपि यह राजनीतिक अन्वेषण को दिया गया कृत्रिम अर्थ है, यह समस्या राजनीतिक नहीं है। इसी तरह हिन्दू समाज में लोगों को उनके व्यवसाय के अनुसार जातियों में बाँट दिया गया है और राजनीति को विभिन्न जातियों के मध्य अन्तर्सम्बन्धों को समन्वित करने का उपाय माना गया है। यह भी एक कृत्रिम उपचार है। संसार में कुछ व्यक्ति अत्यधिक धनी हैं और कुछ अत्यन्त निर्धन इस प्रकार अमीर तथा गरीब दो वर्गों की स्थिति सामने आती है। राजनीति को इस वर्ग संघर्ष का अन्त करने के लिए उत्तरदायी ठहराया है लेकिन वास्तविकता कुछ और ही है। विनोबा के अनुसार इस कृत्रिमता का मूल कारण उपर्युक्त वर्ग भेदों के मनमाने तथा निर्मूल विचार के कारण है। जाति अथवा वर्ण-भेद वास्तविक होते हुए भी मौलिक नहीं कहे जा सकते। अतः संगठन का कोई भी सिद्धान्त जो इस निर्मूल धारणा पर आधारित होगा थोथा हुआ सिद्धान्त ही माना जायेगा। अमीर तथा गरीब का भेद मौलिक नहीं है अपितु परिस्थिति जन्य है। यदि किसी पूँजीपति को पैसे की वजह से धनी मान लिया जाये और धन के अभाव के किसी व्यक्ति को निर्धन माना जाये तो यह मौलिकता विहीन विचार होगा क्योंकि निर्धन भी श्रम की महत्ता के विचार से कम धनी नहीं है और श्रम की क्षमता में निर्धन पूँजीपति धनी नहीं कहा जा सकता। अतः अमीर तथा गरीब शब्द तर्कसंगत नहीं है। उपर्युक्त भेद के अलावा धर्म तथा भाषा सम्बन्धी अन्तर भी राजनीतिक समस्याओं से सम्बन्धित किये जाते हैं जब कि वास्तविकता यह है कि भाषा तथा धर्म सम्बन्धी अन्तर राज्य व्यवस्था के मौलिक गुण नहीं हैं।

राजनीतिक व्यवस्था का नैसर्गिक अर्थ कुछ और ही है। कुछ व्यक्ति नैसर्गिक रूप से बुद्धिमान एवम् सशक्त होते हैं तो कुछ इसके विपरीत। बुद्धि तथा शारीरिक शक्ति दोनों को क्षमता के अन्तर्गत माना जाता है। जीवन में पूँजी नाम की वस्तु क्षमता से ही उत्पन्न होती है। अतः व्यक्तियों को उनके नैसर्गिक गुणों के अन्तर के कारण दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—क्षमतासम्पन्न तथा अक्षम। यदि इन्हें वर्ग की स्थिति में देखा जाये तो इन्हें वर्ग के रूप में संगठित होना होगा। जब तक वे संगठित नहीं होंगे उन्हें वर्ग नहीं कहा जा सकता। यदि इस प्रकार मानवीय समाज में नैसर्गिक वर्ग नहीं है तो वे केवल कम अथवा अधिक क्षमता वाले व्यक्ति ही हैं और इन व्यक्तियों को अपने कार्यों के सम्पादन के लिए कैसे संगठित होना है यह राजनीति विज्ञान का मौलिक विषय रहा है। इस मूल विचार के साथ महत्त्वहीन एवं काल्पनिक अन्य समस्याओं का निदान ढूँढा जा सकता है।

विनोबा ने शासन के तीन सैद्धान्तिक प्रकार बताये हैं (1) कोई बुद्धिमान अथवा क्षमतायुक्त व्यक्ति सब की ओर से प्रशासन करे। (2) एक से अधिक व्यक्ति मिलकर प्रशासन करें। (3) सभी व्यक्ति मिलकर समानता के विचार से अपने प्रशासन का उत्तरदायित्व वहन करें। अन्य शब्दों में उपर्युक्त तीन प्रकारों को एक व्यक्ति का शासन, एक से अधिक व्यक्तियों का शासन तथा सबका शासन कहा जा सकता है। उपर्युक्त तीन भेद स्थायी हैं फिर भी उनके उपभेद स्थापित किये जा सकते हैं। एक व्यक्ति के द्वारा

शासन तथा सभी के द्वारा शासन दो अतिवादी विचार हैं किन्तु एक से अधिक व्यक्ति का शासन अनेक प्रकारों को जन्म देता है—एक तो कुछ व्यक्तियों का शासन तथा दूसरा अनेक व्यक्तियों का शासन। अनेक व्यक्तियों के शासन का अर्थ है साधनहीन, शक्तिहीन तथा धन पर जीवित रहने वाले व्यक्तियों का शासन। ऐसे व्यक्ति सर्वत्र एक समान होते हैं और उनकी शासन व्यवस्था भी एक जैसी ही होती है किन्तु कुछ व्यक्तियों का शासन अनेक प्रकार के विकल्प प्रस्तुत करता है जैसे—ज्ञानवान व्यक्तियों का शासन, सेना का शासन अथवा धनाढ्य का शासन। इनमें से कोई भी दूसरे के साथ मिलकर मिश्रित शासन व्यवस्था की स्थापना कर सकते हैं जिससे शासन के अनेक प्रकार सामने आते हैं
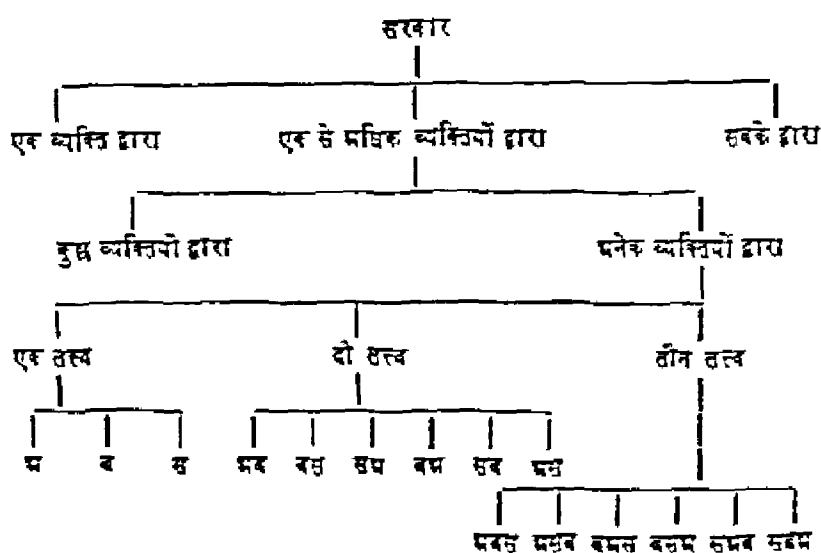
उपर्युक्त वर्गीकरण में व्यक्त शासन के 18 प्रकार सभी शासन व्यवस्थाओं को प्रकट करते हैं। रंग-भेद की नीति पर आधारित शासन-व्यवस्था, सवर्ण हिन्दुओं का अवर्ण हिन्दुओं पर शासन अथवा धर्माश्रित शासन जैसे—ईसाइयों का यहूदियों पर, राष्ट्रीयता पर आधारित शासन जैसे—इंग्लैण्ड का भारत पर शासन, नागरिकता पर आधारित शासन जैसे प्राचीन रोम का विश्व पर साम्राज्य तथा अन्य कई प्रकार के शासन उपर्युक्त वर्गीकरण में आ जाते हैं।

विनोबा के अनुसार सभी व्यक्तियों का शासन आज तक कभी स्थापित नहीं हुआ। गांधीजी ने प्रयास किया है और वे भारत में सभी व्यक्तियों के शासन को स्थापित करने का प्रयोग कर चुके हैं। सभी व्यक्तियों के शासन के नाम से इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में जिस प्रकार की शासन व्यवस्था है वह केवल एक दिखावा है। हिंसा पर आधारित कोई भी शासन सभी व्यक्तियों का शासन नहीं कहला सकता। जब तक व्यक्ति अपनी स्वेच्छा से एक जुट होकर अपने में से किसी को शक्ति से युक्त नहीं करते और ऐसे व्यक्ति को जो कि स्वार्थ एवं घृणा से ऊपर है चुनना नहीं सीखते तो ऐसी व्यवस्था चाहे एक व्यक्ति के शासन के रूप में हो या एक से अधिक व्यक्ति के शासन के रूप में फिर भी (अहिंसा पर आधारित) ऐसी व्यवस्था सभी व्यक्तियों का शासन कहलायेगी। भारत की

प्राचीन पंचायती राज्यव्यवस्था अपूर्ण होते हुए भी इसी दृष्टिकोण पर आधारित था। आज की आवश्यकता के अनुरूप विभिन्न पंचायतों में समन्वय स्थापित करने की व्यवस्था के अभाव में पंचायत व्यवस्था अपेक्षाकृत एवं अपूर्ण मानी गई है। यद्यपि सभी व्यक्तियों का शासन अभी तक स्थापित नहीं हो पाया है फिर भी भविष्य में इसकी स्थापना करने की आवश्यकता है।

एक व्यक्ति का शासन प्रारम्भ से ही चला आ रहा है, भारतीय रियासतों में इस प्रकार का शासन रहा है। इन राज्यों के संस्थापक जितने उदार तथा शक्तिशाली थे उतने उनके बाद के उत्तराधिकारी नहीं रहे। जिस प्रकार से सूर्य से तपी हुई रेत सूर्य से भी अधिक गर्म लगती है उसी तरह एकतन्त्रात्मक शासन अनेक दुर्गुणों का कारण बन जाता है।

कुछ व्यक्तियों का शासन यूरोप में तथा अन्यत्र लोकप्रिय रहा है। नाजीवाद, फासी-वाद तथा साम्राज्यवाद इसी के उदाहरण हैं। हिंसा, पूंजी का संग्रह, बड़े पैमाने पर उत्पादन, ये ऐसे शासन के अंग हैं। यद्यपि हिंसा का बोलबाला रहता है फिर भी ऐसे शासन में अहिंसा की बार बार दुहाई दी जाती है। अनेक व्यक्तियों पर नियन्त्रण कायम करने के लिए बार बार लोककल्याण का नारा लगाया जाता है। शासक तथा शासित के मध्य खींच-तान चलती रहती है तथा हिंसा का वातावरण स्थायी रूप से बना रहता है। जब तक अधिकतर व्यक्ति दुर्बल तथा अज्ञानी रहते हैं तब तक ऐसी शासन व्यवस्था किसी न किसी रूप में चलती रहती है।

अनेक व्यक्तियों द्वारा शासन का उदाहरण रूस ने प्रस्तुत किया है। लेकिन रूस का यह प्रयोग हिंसा पर आधारित होने के कारण समाज द्वारा प्रयुक्त नहीं हो सकता। रूस का प्रयोग वास्तव में कुछ व्यक्तियों का शासन ही है जिसमें सेना, बुद्धिजीवी तथा सम्पन्न व्यक्ति ही सम्मिलित हैं। तलवार के जोर पर स्थापित की गयी यह व्यवस्था तलवार से ही चलाई जाती है। ऐसे शासन की सफलता केवल इस बात पर निर्भर करती है कि शासन बड़े पैमाने पर अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हो।

विनोबा ने सांख्य के दर्शन पर आधारित तीन प्रकार के शासनों को त्रिगुणों से संबंधित माना है। यह कहना कठिन है कि इनमें कौनसा गुण कितना प्रभावशाली रह सकता है। मूल रूप में यह शासन व्यवस्था अनेक के लाभ के लिए है किन्तु यह कुछ व्यक्तियों के शासन में सीमित हो गई है।

विनोबा ने केवल सैद्धान्तिक आधार पर ही राजनैतिक प्रकारों को व्यक्त नहीं किया अपितु व्यवहारिक दृष्टि से भी नाजीवाद, फासीवाद एवम् समाजवाद को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वे शासन के विभिन्न प्रकारों को जीवन के आवश्यक उपकरण मानते हैं। उनका यह विचार है कि जनता के समर्थन के बिना कोई भी शासन सफल नहीं हो सकता। यदि सब व्यक्ति शासन करने लग जायें तब भी प्रशासन का कार्य सभी व्यक्ति नहीं कर सकते। कुछ व्यक्ति ही इसके योग्य होते हैं और उनमें भी एक सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न होता है। जनता शासन के सिद्धान्तों तथा प्रकारों से बंधी हुई नहीं है। वह जीवन से संबंधित होती है। जब तक उनका जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत होता है और वे जीवन यापन में कोई व्यवधान नहीं पाते तब तक उनके लिए शासन की कोई भी व्यवस्था अच्छी

मानी जायेगी। सैद्धांतिक दृष्टि से सिद्धांत का निरूपण करने वाले शासन के विभिन्न सिद्धांतों की रचना करते हैं जबकि व्यवहारिक व्यक्ति शासन के प्रकार ढूंढते हैं और जनता उन्हें सहयोग देती है। सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक दोनों ही प्रकार के चिन्तक जीवन को सुखी बनाने के लिए अपने अपने विचार प्रकट करते हैं। यदि इसके विपरीत केवल अपने विचारों के लिए शासन व्यवस्था का प्रकार प्रस्तुत किया जावे तो वह उच्छृंखलता अथवा असहिष्णुता का कारण बन जाती है जिसे लोकहितकारी कदापि नहीं माना जा सकता।

विनोबा ने शासन के सभी प्रकारों में चार सामान्य तत्त्व दर्शाये हैं जो इस प्रकार से हैं —(1) मानव जीवन की सेवा का लक्ष्य, (2) जन-सहयोग (3) क्षमतायुक्त व्यक्तियों द्वारा प्रशासन, (4) एक व्यक्ति की अंतिम सत्ता। विनोबा ने इन चार सामान्य तत्त्वों के बारे में स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि उनके अनुसार मानव जीवन की सेवा करने का लक्ष्य यदि केवल स्थानीय स्तर तक ही सीमित रहे तो इस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि जीवन के अन्य लक्ष्यों से इसकी टकराहट होगी और उससे नवीन शासन व्यवस्था उत्पन्न होगी। इसी तरह से यदि उद्देश्य यह है कि कुछ क्षणों के लिए सेवा की जावे तो वह शीघ्र शिथिल हो जायेगा। यदि यह लक्ष्य केवल दिखावे के रूप में रहा है तो दिखावा समाप्त होते ही लक्ष्य भी समाप्त हो जायेगा। जहाँ तक जनसहयोग का प्रश्न है विनोबा का कहना है कि यह सहयोग दबाव पर आधारित होने पर स्थायी नहीं होगा। यदि इसमें जनता को सुखी करने का उपक्रम अधिक रहा तो जनसहयोग की मात्रा बढ़ जायेगी। यदि शासकीय वर्ग शिक्षा पर नियंत्रण करके जनता को अंधकार में रखे तो यह और भी स्थायी हो सकता है। जनता की भलाई चाहे नहीं भी हो तब भी सरकार के द्वारा दिखावा करने से जनता को कुछ समय के लिए बहलाया जा सकता है। लेकिन यह निश्चित है कि इन सभी रीतियों से शासन अधिक दिन नहीं चलाया जा सकता। यदि जनता ने स्वेच्छा से सहयोग देने का संकल्प किया तब भी शासन तभी तक चल पायेगा जब तक कि जनता के सहयोग का दुरुपयोग नहीं होता और जनता की वफादारी के साथ विश्वासघात नहीं किया जा सकता। योग्य व्यक्तियों द्वारा प्रशासन चलाने के मार्ग में भी अनेक बाधायें हैं। यदि उनका निर्वाचन किया जाता है तो उनका कार्यकाल सुशासन की मात्रा पर निर्भर करेगा। यदि वे नियुक्त किये जाते हैं तो वे तभी तक शासन कर सकते हैं जब तक जनता स्वयं इस योग्य नहीं होती तथा प्रशासकों में पारस्परिक संघर्ष नहीं होता। यदि वे खुद संगठित होकर प्रशासन करें तो वे अधिक समय तक हावी रह सकते हैं। किन्तु जनता के सहयोग के बिना ऐसे प्रशासकों को अधिक समय तक शासन करने का अवसर नहीं मिल सकता क्योंकि वे आपस में ही ईर्ष्या, द्वेष के शिकार बन जाते हैं। सर्वोच्च सत्ता से युक्त व्यक्ति यदि स्वयं नियुक्त है तो वह अपने प्रभाव के समय तक ही सत्ता में रह सकेगा और यदि चुना (निर्वाचित) हुआ है तो वह अपने निर्वाचकों के प्रभाव एवम् उनकी स्वतंत्रता के अनुपात में ही शासन कर सकता है।

विनोबा ने राजनीतिक संगठनों के संबंध में राष्ट्रों के मध्य भाईचारे की भावना को राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं का मूल माना है। उन्होंने राजनीतिक आदर्शों की व्याख्या करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृत्व, राष्ट्र के सभी तत्त्वों में सहयोग, अभिजनों तथा जनता के हितों में एकता, समाज के सभी सदस्यों के समान विकास के प्रति सम्मानपूर्ण

सभी व्यक्ति मिलकर सभी की समस्याओं का निवारण करें समाज के विकास के स्तर पर निर्भर करता है। जो चार तत्त्व महत्वपूर्ण हैं वे इस प्रकार से हैं :—

1 क्षमतासम्पन्न व्यक्ति अपनी क्षमता का प्रयोग जनसेवा में करें।

2 व्यक्ति आत्मनिर्भर हों तथा एक दूसरे के साथ सहयोग करें।

3 उनके सहयोग का नियमित आधार अहिंसा ही होनी चाहिये तथा उनमें यदा-कदा असहयोग अथवा प्रतिरोध भी विद्यमान होना चाहिये।

4 प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया गया ईमानदारीपूर्ण कार्य नैतिक एवन् आर्थिक दृष्टि से समान मूल्य का माना जाये।

उपर्युक्त चार विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए विनोबा ने कहा है कि जनसेवा में व्यक्तियों की प्रवृत्ति स्वस्थ लोकमत पर निर्भर करती है। ऐसे व्यक्ति जो शारीरिक दृष्टि से बलिष्ठ एवन् बौद्धिक दृष्टि से जाग्रत हैं उन्हें सत्तासम्पन्न माना गया है। तीसरी स्थिति समाज में उन व्यक्तियों के कारण उत्पन्न हुई जो पूंजीगत कारणों से उन्नत हैं। पहले के दो समूह नैसर्गिक हैं जब कि तीसरा समूह बाह्य कारणों से अनित है। ये तीनों ही समूह तीन प्रकार की क्षमताओं से युक्त हैं अतः इन तीनों को जनसेवा के कार्य में प्रयुक्त करने की आवश्यकता है। जो सरकार जन भावनाओं के अनुसार प्रशासन चलाती है उसे इन तीनों समूहों का सहयोग प्राप्त करना चाहिये। बौद्धिक क्षमता द्वारा जन सामान्य में ज्ञान का सचार, शारीरिक क्षमता द्वारा जनहित में श्रौदंपूर्ण कार्य तथा आर्थिक सम्पन्नता के माध्यम से उत्पादन क्षमता का विस्तार एवन् समाज में समान वितरण की स्थिति को प्राप्त करना है।

लोकमत ऐसा होना चाहिये जो सत्तासम्पन्न व्यक्ति को समाज के कल्याण के विरुद्ध कार्य करने पर अपराधी ठहरा सके। किन्तु यह समस्त कार्य राज्य के नियमों के अधीन होना चाहिये। अहिंसक राज्य में कानून के नियन्त्रण का महत्त्व कम नहीं रहता यदि वह लोकमत के अनुरूप हो। समाज भय अथवा दण्ड के कारण सही मार्ग पर नहीं चलता। लोकमत का भय ही वास्तविक भय है जो समाज को सही मार्ग पर चलाता है। प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे श्रेष्ठ व्यक्ति होते हैं जिन्हें लोकमत नैतिकता की सीमा में नहीं बांध सकता। उसी प्रकार से कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो नैतिकता तथा लोकमत की परवाह नहीं करते। किन्तु सामान्य जनता अथवा जनता का बहुमत लोकमत के विपरीत काम करने से घबराता है। यही लोकमत कानून का आधार है और बहुसंख्यक समाज इसका आदर करता है। लोकमत की अवहेलना करने वालों को उन श्रेष्ठ व्यक्तियों की सगति में रखना चाहिये जो नैतिकता से ऊपर हैं। जैसे लोकमत चोरी करने वाले के प्रति कोई श्रद्धा नहीं रखता उसी तरह से कृपण अथवा जमाखोर के प्रति भी अश्रद्धा का भाव होना चाहिये। उपनिषदों में राजा अश्वपति का उदाहरण विद्यमान है जिसमें वह घोषणा करता है कि उसके राज्य में न तो कोई चोर है और न कोई कृपण अर्थात् वह कृपण तथा चोर दोनों को एक ही श्रेणी में रखता है। लोकमत द्वारा ऐसी स्थिति कानून के अन्तर्गत स्वीकार कराने का प्रयास किया जाना चाहिये।

धनिक व्यक्ति की सम्पत्ति का सामूहिक उपयोग होना चाहिये ताकि धनसम्पन्न

व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति की चिन्ता भी न रहे और सार्वजनिक उद्योगों में उस सम्पत्ति का सही उपयोग किया जा सके। विनोबा ने भारत के प्राचीन आदर्श को प्रस्तुत करते हुए यह कहा है कि प्राचीन व्यवस्था में शिक्षकों को सम्पत्ति से दूर रहने का आग्रह किया जाता था ताकि वे सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त रहें। शिष्य लोग गुरुओं की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। गुरु राजा पर भी नियन्त्रण रखते थे। किन्तु वर्तमान समय में यह आदर्श नहीं रहा। लोकमत की दृष्टि से यह आवश्यक है कि वह इस बात का ध्यान रखें कि कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति का अर्जन अपने सुख के लिये नहीं करें और समाज के अन्य व्यक्तियों को कष्ट न पहुंचाये। जिस प्रकार से ज्ञान का दान करने से ज्ञान बढ़ता है उसी प्रकार से सम्पत्ति भी दान करने से बढ़ती है। सम्पत्ति का उचित वितरण सम्पत्ति में वृद्धि करनेवाला है। समाज व्यक्ति का बैंक है अतः सम्पत्ति का समाज के हाथों नियमन सम्पत्ति की सुरक्षा का श्रेष्ठ आधार है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति समाज हित में सम्पत्ति का उपयोग करने में रुचि रखता है किन्तु निजी स्वामित्व का विचार इस मार्ग में बाधक बन जाता है। सम्पत्तिवान व्यक्ति भी मानवीय हृदय से युक्त है फिर भी सम्पत्ति के सम्बन्ध के कुछ अमानव धारणायें उसे स्वार्थी बना देती हैं।

विनोबा के अनुसार राज्य का कर्त्तव्य है कि वह परिवार की आर्थिक व्यवस्था को समाज पर लागू करे और लगड़े तथा अन्धे वाली कहावत को चरितार्थ करे। यह कार्य राज्य ही कर सकता है परिवार नहीं कर सकता। यदि राज्य ऐसा नहीं कर सकता तो राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। राज्य को आर्थिक असमानता दूर करनी चाहिये। यदि राज्य इस कार्य में विफल हो जाये तो ऐसे राज्य को नष्ट करके अराजकता की स्थापना बुरी नहीं कहलायेगी। प्रशासकों ने अराजकता का भय फैलाकर जनता को मनमाने नियम मानने के लिये बाध्यकारी भीरुता स्थापित करदी है। जब तक जनता में जागृति नहीं आती तब तक सत्ता सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा समाज हित में उनकी क्षमता का उपयोग नहीं हो सकता। राज्य के अन्तर्गत क्षमता-विहीन व्यक्तियों का भी कम महत्त्व नहीं होता। क्षमतावान तथा क्षमताविहीन दोनों प्रकार के व्यक्ति मिलकर ही एक दूसरे की सहायता करते हुए राज्य के कार्य को सफल बना देते हैं। यद्यपि राज्य की सत्ता क्षमतासम्पन्न व्यक्तियों में ही निहित होनी चाहिये किन्तु सत्ता का प्रयोग जन हित में ही किया जाना चाहिये।

क्षमतावान व्यक्तियों को जनसेवा के कार्य में लगाये रखने के लिए ग्रामोद्योगों का विकास तथा ग्रामों को आत्मनिर्भर बनाने की योजना लागू की जानी चाहिये। व्यक्ति यदि असहाय अनुभव करता है तो वह जनसेवा का कार्य नहीं कर सकता है। ऐसे उद्योगों की स्थापना होनी चाहिये जो व्यक्तियों द्वारा नियन्त्रित हों। अन्य व्यक्तियों द्वारा संचालित उद्योगों अथवा कारखानों की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इससे व्यक्ति आत्मनिर्भर नहीं बनता। गांव में बसने वाले प्रत्येक व्यक्ति की दैनिक जीवन की आवश्यकता गांव में ही पूरी होनी चाहिए। अन्य आवश्यकताओं की राज्य द्वारा पूर्ति की जा सकती है। ग्रामीणों द्वारा अपने खेतों में उगाया जाने वाला कच्चा माल ग्रामोद्योगों के द्वारा निर्मित वस्तुओं में खपाया जाना चाहिए। आज हालत यह है कि ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाला कच्चा माल ग्रामों द्वारा स्वयं उपयोग में नहीं लाया जाता। प्रत्येक वस्तु बाहर भेज दी जाती है। गांव

वाले तिलहन को बेच देते हैं और स्वयं की आवश्यकता के लिए तेल भी शहरों से खरीद कर लाते हैं। वे रुई का उत्पादन करते हैं फिर भी कपड़े तथा बोने के लिए कपास भी खरीद कर लाते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें अपनी फसल बेचनी पड़ती है जिससे उन्हें पूरा आर्थिक लाभ प्राप्त नहीं होता है। व्यक्तियों की ऐसी असहाय स्थिति न तो जनता के लिए हितकारी है न राज्य के लिए और न मुट्ठी भर धनवान व्यक्तियों के लिए। समाज का आदर्श संगठन वही हो सकता है जिसमें ग्रामोद्योगों का जाल सा बिछा हुआ हो और जो देश भर में कृषि को सहायता पहुंचा सके। राज्य को इस कार्य में सुरक्षा तथा सन्तुलन कायम करना होगा। पूंजी का समान वितरण सर्वत्र होने वाली बूंदाबादी के समान है ताकि जनता में आत्मनिर्भरता पैदा हो और धनवान व्यक्ति जनता की और जनता धनवान व्यक्तियों की सेवा कर सके। व्यक्तियों में पारस्परिक सहयोग बढ़ाने के लिए ग्रामीण उद्योगों के अलावा और कोई मार्ग नहीं है।

उपर्युक्त योजना के विकल्प में समाजवादियों ने अलग योजना प्रस्तुत की है जिसके अन्तर्गत वे पहले पूंजी का केन्द्रीकरण करके फिर उसका समान वितरण करना चाहते हैं किन्तु इस योजना से तीन हानियाँ हो सकती हैं। प्रथम, इस योजना के अन्तर्गत आर्थिक दृष्टि से कीमतें बढ़ जाती हैं क्योंकि इसमें दोहरी प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है अर्थात् पहले पूंजी एक स्थान पर संगृहीत की जाती है और फिर उसका समान वितरण किया जाता है। द्वितीय, संग्रहीत पूंजी की सुरक्षा के लिए विशेष व्यवस्था करनी पड़ती है फिर भी बाह्य आक्रमण का भय बना रहता है। तृतीय, इन सब के कारण समाज का संगठन इतना पेचीदा हो जाता है कि आन्तरिक संघर्ष के कारण कभी भी व्यवस्था समाप्त हो सकती है। अन्तर्निर्भरता का पेचीदापन इसके लिए उत्तरदायी है। यदि अन्तर्निर्भरता सरल हो तो इस भय से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। आत्मनिर्भर अथवा शक्तिशाली समूहों में अन्तर्निर्भरता आसान रहती है। इसके विपरीत स्थिति गाड़ी में जुते हुए दो कमजोर बैलों के समान है। समाजवादी व्यवस्था पारस्परिक रूप से जुड़े हुए विभिन्न चक्रों के समान है जिसमें एक भी चक्र रुकने पर सारी मशीन रुक जाती है और उसको सुधारने का कार्य भी सुगम नहीं होता। यदि यह मशीन चलती भी रहे तो उसमें ऐसे कई स्थल होंगे जहां घर्षण के कारण तेल देने की आवश्यकता रहेगी। अतः समाजवादी योजना सरल नहीं कही जा सकती। यह राज्य पर अधिभार का कारण बन जाती है और हिंसा से इसे मुक्त नहीं रखा जा सकता। समाज के संगठन को सरल बनाने के लिए राज्य पर अधिक दबाव डालने की आवश्यकता नहीं है। उसके स्थान पर प्रत्येक ग्रामीण को अपना स्वयं का शासक तथा ग्रामीणों को परस्पर सहयोग के द्वारा एक गुंथे हुए रस्से के समान बनाने की आवश्यकता है।

स्वगामी गांवों को प्रान्तीय राजनीतिक संगठन के अन्तर्गत लाना है और इन प्रान्तीय राजनीतिक संगठनों को राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन के अन्तर्गत तथा स्वगामी राष्ट्रों को मानवजाति के राजनीतिक संगठन के अन्तर्गत लाना ही सामान्य उद्देश्य होना चाहिए। मानवीय राजनीतिक संगठन विश्वसंघ का रूप ग्रहण कर सकता है। इस संघ में विश्व के समस्त प्रतिनिधि किसी प्रकार की शारीरिक शक्ति अथवा दण्ड शक्ति का अधिकार नहीं रखेंगे केवल नैतिक श[illegible]

आधार होगा। इस प्रकार के मानवीय संगठन की स्थापना भविष्य के राजनीतिक कार्यक्रम की मूल आवश्यकता है। यह कहना कि राजनीति में केन्द्रीय राज्य व्यवस्था शक्तिशाली हो सर्वथा मिथ्यापूर्ण है। नैतिक शक्ति के लिए बुद्धिमत्ता एवं चारित्रिक गुणों की आवश्यकता होती है और इस शक्ति द्वारा पाशविक शक्ति से भी अधिक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। जब तक व्यक्ति आत्मनिर्भर नहीं होता तथा एक दूसरे का सहयोगी नहीं बनता तब तक ऐसे विश्वव्यापी राजनीतिक संगठन का आधार निर्मित नहीं हो सकता।

शासन का राजनीतिक प्रकार चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो व्यवहार में वह इस बात पर निर्भर करता है कि वह मानवीय तत्त्व पर कितना आधारित है। समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले शासक अपने स्वयं के गुणदोषों को राज्य व्यवस्था के माध्यम से प्रकट करते हैं। अच्छे राज्य का प्रमुख निर्माणक तत्त्व यह है कि अच्छे व्यक्ति ही शासन करने के लिए चुने जायें। फिर भी प्रशासन पर अच्छे अथवा बुरे व्यक्तियों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। राजनीतिक संगठन का विज्ञान अथवा राजनीति का विज्ञान व्यवहारिक गणितशास्त्र की तरह कोई नियमित विज्ञान नहीं है और शुद्ध गणित शास्त्र तो कतई नहीं है। शुद्ध गणित शास्त्र सैद्धांतिक चिन्तन के क्षेत्र में रहता है। जब कि एक व्यवहारिक गणित शास्त्र पदार्थ के विश्व में रहता है। राजनीति का क्षेत्र मानवीय सम्बन्धों का क्षेत्र है जो कि स्थूल चिंतन एवम् पदार्थ दोनों क्षेत्रों से ही भिन्न है। इस कारण से राजनीति को मानवीय तत्त्व विहीन, स्वतन्त्र यान्त्रिक स्वरूप नहीं दिया जा सकता। राजनीति का उद्देश्य सभी व्यक्तियों के सम्पूर्ण कल्याण की सुरक्षा प्रदान करना है और वह इस प्रकार से कि जिससे संघर्ष की स्थिति उत्पन्न न हो। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विस्तृत मताधिकार, बहुमत के अनुसार शासन, अल्प संख्यकों की सुरक्षा तथा उनमें पूर्ण सन्तोष की भावना जाग्रत करना आवश्यक है। वैचारिक स्वतन्त्रता, न्याय प्रशासन की तटस्थता एवम् सुलभता, सार्वभौमिक शिक्षा की व्यवस्था, सुधारक दण्ड संहिता आदि अच्छे शासन के बाह्य निर्माणक तत्त्व हैं।

सहयोग जीवन का शाश्वत नियम है किन्तु यह तभी सम्भव है जब कि वह स्वेच्छिक हो और पूर्णतया अहिंसा पर आधारित हो। अज्ञानतावश अथवा विवशता में दिया गया सहयोग अच्छे राज्य के लिए निरर्थक है। क्योंकि यह अधिक दिन तक स्थिर नहीं रह सकता इससे प्रच्छन्न हिंसा तथा बाद में हिंसा का प्रत्यक्ष रूप उभरता है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा कानून का पालन किया जाना चाहिये और तब तक कानून को समर्थन देना चाहिए जब तक वह नैतिकता के विरुद्ध न हो। लेकिन जब व्यक्ति कानून से सहमत न हो तभी उसे उसका विरोध करना चाहिये और वह भी अहिंसक रीति से। सहयोग देने वाला ही आवश्यकता पड़ने पर असहयोगी बन सकता है। ऐसे ही व्यक्ति अहिंसक प्रतिरोध भी प्रस्तुत कर सकते हैं क्योंकि उनके लिए प्रतिरोध कर्त्तव्य बन जाता है। राज्य के प्रत्येक नागरिक को सहयोग की शिक्षा दी जानी चाहिए और साथ ही साथ उन्हें असहयोगी बनने तथा प्रतिकार करने का भी पाठ पढ़ाया जाना चाहिये ताकि आवश्यकता पड़ने पर अहिंसक असहयोग भी किया जा सकता है।

असहयोग एवं प्रतिरोध में समानता होते हुए भी एक अन्तर है। प्रतिरोध अधिक

बाधाकारी होता है। यदि असहयोग से काम चल जावे तो प्रतिरोध की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। असहयोग के असफल होने पर ही प्रतिरोध करना चाहिए और वह भी सविनय अवज्ञा के रूप में। प्रतिरोध अनुशासित होना चाहिए गोपनीय नहीं होना चाहिए तथा दृढ़ता के साथ किया जाना चाहिये। प्रतिरोध के कारण दिया गया दंड बिना किसी विरोध अथवा घृणा के स्वीकार करना चाहिए। इसके लिए जनता का सही शिक्षण तथा राष्ट्र की नैतिक निजनावस्था में इसका समावेश आवश्यक है। सामाजिक जीवन में असहयोग का महत्त्व और भी अधिक है। सामाजिक सम्बन्धों में, पारिवारिक मामलों तथा व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में असहयोग का स्थायी महत्त्व है। अन्याय का भार वहन करने तथा हिंसक प्रतिरोध करने के मध्य अहिंसक असहयोग एवं प्रतिरोध बड़ा ही काम करता है। राज्य की प्रगति, व्यक्तियों की मनःस्थिति तथा आन्दोलनकारियों की शक्ति चाहे कुछ भी क्यों न हो समाज में असहयोग को स्थायी महत्त्व मिलना चाहिए।

विनोबा भावे ने असहयोग की शिक्षा को बाल्यकाल से देने का आग्रह किया है। उनका यह कहना है कि माता-पिताओं को बच्चों के बाल्यकाल में ही आज्ञाकारिता का पाठ पढ़ाना चाहिए और उन्हें यह भी सिखाना चाहिये कि उनकी अन्तरात्मा किसी आज्ञा का पालन करने के विरुद्ध हो तो वे माता-पिताओं की आज्ञाओं का भी उल्लंघन कर सकते हैं। आगे चलकर इसीसे स्वस्थ लोकमत का निर्माण हो सकता है। गुरुदेवदत्त ने यह कहा है कि बुद्धिमान व्यक्ति सिद्धांतों का आदर करते हैं अर्थात् सत्य के शाश्वत नैतिक सिद्धांतों का पालन करते हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि परिवार, समाज तथा राष्ट्र के सभी प्रकार के नियमों को आंख मूंदकर स्वीकार कर लिया जावे। उनका तात्पर्य यही है कि नैतिक सिद्धांतों के विपरीत बने नियमों को स्वीकार नहीं किया जावे। अच्छे समाज में अनैतिक सिद्धांतों के लिए कोई सिद्धांत नहीं होता है फिर भी यदि संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो तो आत्मविवेक से उसका निपटारा हो सकता है। आदर्श राज्य की स्थापना के पश्चात् भी जनता को जाग्रत रहने की आवश्यकता है अन्यथा व्यक्ति का स्वतन्त्र विकास अवरुद्ध हो जावेगा। भारत जैसे राष्ट्र में जहाँ अनेक समुदाय, धर्म तथा भाषायें हैं वहाँ समस्याओं का निदान ढूंढना सम्पूर्ण विश्व की समस्याओं का निदान ढूंढने के समान है। भारत जैसे बहुसंख्यक देश में जब संचार के साधनों का विकास नहीं हुआ था उस समय उन्हें एक राष्ट्र में बांधकर रखने के लिए जो प्रयास किये गये होंगे वे अवर्णनीय हैं। अहिंसा के द्वारा ही इतने बड़े राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोकर रखा जा सकता है। यही कारण है कि भारत की राजनीति में अहिंसा को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। राजनीति ही नहीं अपितु सामाजिक जीवन, पारिवारिक मामलों, धार्मिक एवं शिक्षा के क्षेत्रों में भी अहिंसा का अनुसरण किया गया है। दीर्घकाल से चली आ रही अहिंसा की इस धारणा के कारण भारतवासियों ने अपने को एक राष्ट्र ही माना है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारत को मानवता के समुद्र की संज्ञा दी है। ऐसा समुद्र जो सभी के लिए खुला है। इतना होने पर भी राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा का पूरी तरह से पालन नहीं किया गया। अहिंसा का पालन सामाजिक, पारिवारिक तथा व्यक्तिगत जीवन में अवश्य किया गया है। सामाजिक जीवन में अहिंसा के प्रयोग का परिणाम यह हुआ है कि देश पर आक्रमण करने वाली विभिन्न विदेशी जातियाँ भारत राष्ट्र का अंग बन गईं।

यदि यह पूछा जाये कि राजनीतिक जीवन में अहिंसा का प्रयोग क्यों नहीं हुआ तो विनोबा के अनुसार इसका एक ही उत्तर है कि भारत में राजनीति का कभी महत्व नहीं रहा। आधुनिक परिस्थिति में राजनीति ने जीवन के सभी क्षेत्रों को आच्छादित कर दिया है और इसके कारण छोटे-बड़े सभी अच्छे व्यक्ति राजनीति के प्रति अन्यमनस्क नहीं हो सकते।

राजनीति की व्यापकता के कारण भारत में अहिंसा के अलावा और कोई विकल्प ही नहीं है। हिंसा की क्षमता एवं भावना के बने रहते,भी राजनीतिक प्रशासन में जो कि जीवन के समान विस्तृत है हिंसा के लिए कोई सम्भावना नहीं है। अब सभी व्यक्तियों के लिए अहिंसा का प्रयोग आवश्यक हो गया है। अहिंसा के कारण दुष्ट व्यक्ति में भी श्रद्धा का भाव उत्पन्न होता है। समाज की सुरक्षा के लिए समझदार, नागरिकों द्वारा अहिंसा के हथियार का प्रयोग राज्य द्वारा बिना किसी नियन्त्रण के प्राप्त होना चाहिये। यदि यह अधिकार राज्य द्वारा प्रदान नहीं किया जाता तो जनता सत्याग्रह के द्वारा प्राप्त करेगी। प्रशासकों द्वारा भी अहिंसक मनोवृत्ति काम में लायी जानी चाहिये और उन्हें हिंसा का त्याग कर देना चाहिए अन्यथा जब जनता दुर्बल हो जाती है, अच्छे व्यक्ति अन्यमनस्क हो जाते हैं और बुरे व्यक्तियों का सामना करने के लिए केवल प्रौढ़ सभ्य ही रह जाते हैं तब प्रशासकों के सामने हिंसा का प्रतिरोध करने के लिए प्रतिहिंसा का मार्ग ही शेष रह जाता है। इसके विपरीत सभी जागृत व्यक्तियों के एकजुट हो जाने पर दुष्ट व्यक्तियों का भी अहिंसा से सामना किया जा सकता है और उनकी दुष्टता को दूर किया जा सकता है। इसका यह परिणाम होगा कि दुष्ट व्यक्ति अपनी दुष्टता छोड़कर अहिंसा के प्रति श्रद्धावनत हो जायगा। अच्छे शासन के लिए यही एक मापदण्ड है, शेष कार्य द्वितीय स्तर के हैं। जिस शासन में इसकी कमी है वह एक ऐसे सुंदर चित्र के समान है जो जीवनहीन है।

आदर्श राज्य में श्रम का मूल्य यान्त्रिक अथवा अनुतग्दायी नहीं होना चाहिए। सभी व्यक्ति समान श्रम नहीं कर सकते क्योंकि उनकी क्षमता भिन्न होती है लेकिन राज्य को यह चाहिये कि वह सभी को समान सुरक्षा प्रदान करें। शारीरिक एवं मानसिक कार्य का भेद बना रहेगा और शारीरिक कार्य में भी दक्ष एवं अदक्ष का अन्तर मिटाया नहीं जा सकता। फिर भी अपनी क्षमतानुसार कार्य करने वाले व्यक्ति को जीविकोपार्जन का समान अधिकार मिलना चाहिये यदि,व्यक्ति अपना कार्य ईमानदारी से तथा समाज हित में करे। सेवा का आर्थिक मूल्य एक त्रुटिपूर्ण विचार है। सेवा का क्षेत्र आर्थिक नहीं किन्तु नैतिक है अतः उसका मूल्यांकन नैतिकता की दृष्टि से ही किया जा सकता है। रुग्णावस्था में पड़े हुए व्यक्ति की सेवा, करना और रात भर जगकर उसकी सुश्रूषा करने को आर्थिक तराजू में कैसे, तोला जा सकता है? इस कार्य को अमूल्य ही माना जायेगा। मूल मापदण्ड समाज की सेवा करने का है और इसके लिए समाज का ही उत्तरदायित्व है कि वह सेवा करने वाले व्यक्ति को सबल प्रदान करें। परिवार में भी प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार ईमानदारी से कार्य करता है और उसे परिवार का समान संरक्षण प्राप्त होता है। यदि इस पारिवारिक सिद्धांत को मान लिया जाये तो आधुनिक समय के प्रचलित वेतन भत्ते आदि की मान्यता प्रभावहीन हो जायेगी। परिवार में माता-पिता अपने से भी अधिक बच्चों के लालन-पालन पर खर्च करते हैं। बच्चे उनके समान परिवार की सेवा नहीं कर सकते फिर भी माता-पिता अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए उन्हें

भविष्य में योग्यतापूर्वक कार्य करने के लायक बनाते हैं। जिस प्रकार से माता-पिता बच्चों के लालन-पालन में उनसे कोई आकांक्षा नहीं रखते उसी प्रकार से राज्य को भी सभी व्यक्तियों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना से कर्त्तव्य निर्वाह करना चाहिये और जनता को भी समाज की सेवा का कर्त्तव्य निभाना चाहिए। राज्य को कभी भी अपने द्वारा प्रदान की गई सुरक्षा को व्यक्तियों द्वारा की गई सेवा से नहीं तौलना चाहिए क्योंकि यह तो स्वयं संतुलित होने वाली प्रतिक्रिया है। राज्य द्वारा प्रदत्त सुरक्षा तथा वेतन में अन्तर को समझना आवश्यक है। राज्य समान सुरक्षा प्रदान कर सकता है लेकिन सबको समान वेतन नहीं दे सकता। व्यक्ति को उतना ही वेतन मिल सकता है जिससे राज्य समान सुरक्षा प्रदान करने के उत्तरदायित्व का वहन कर सके। हो सकता है कि अत्यन्त सन्तान-वान व्यक्ति जिसकी आवश्यकताएँ कम हैं उसे कम वेतन दिया जावे तथा कम सन्तानवाला व्यक्ति जिसकी आवश्यकताएँ अधिक हैं अधिक वेतन प्राप्त करे। एक सेनापति जिसकी क्षुधा तीव्र हो उसे कम दैनिक भत्ता मिले जब कि एक सामान्य सिपाही जिसकी पाचन शक्ति कमजोर है उसे अधिक भत्ता दिया जावे। विनोबा ने उपर्युक्त आर्थिक विचारों का सारांश प्रस्तुत करते हुए उन्हें क्रमबद्ध रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—(1) प्रत्येक व्यक्ति को समान संरक्षण प्राप्त होगा, (2) प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार सेवा करेगा जो कि असमान होगी, (3) समान संरक्षण का अर्थ समान वेतन नहीं है, (4) वेतन की वर्तमान असमानता नहीं बनाये रखी जा सकती, (5) वेतन की असमानता क्रम से कम होगी तथा व्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार होगी, (6) वेतन की असमानता सेवा की असमानता के अनुपात में ही नहीं होगी किन्तु आवश्यकता की असमानता के अनुरूप होगी, (7) सभी व्यक्तियों द्वारा की गई कुल सेवा तथा राज्य द्वारा प्रदान किये गये संरक्षण की मात्रा एक दूसरे के समान होगी।

उपर्युक्त सात सिद्धांतों पर आधारित श्रम संगठन सर्वथा अपरिचित नहीं है। भारत के गांवों में सम्मिलित रूप से किया गया कार्य जिसमें सभी समान श्रम नहीं करते बटवारे के समय समान लाभ प्राप्त करते हैं। समूह के रूप में काम करने से स्वतः उत्साह की वृद्धि होती है और भाईचारे की भावना बढ़ती है। आलसी व्यक्ति को काम चुराने का मौका नहीं मिलता और अधिक श्रम करने वाले को कुछ विशेष सुविधा प्राप्त हो जाती है। काम का यही प्रकार पूरे समाज में प्रचलित किया जा सकता है। समाज में इस प्रकार का प्रयोग शिक्षित व्यक्तियों के विरोध का कारण बन सकता है। लेकिन यदि वे भाईचारे के आधार पर इस व्यवस्था को स्वीकार करें तो उन्हें यह समझने में देर नहीं लगेगी कि इस व्यवस्था में कोई बुराई नहीं है। समाज में पुरुषों तथा स्त्रियों में भी वेतन की असमानता नहीं होनी चाहिए। स्त्रियों के कार्य में अधिक कलात्मकता होती है यद्यपि वे पुरुषों के समान शारीरिक श्रम नहीं कर सकतीं। आवश्यकता इस बात की है कि आर्थिक समानता के विचार के अन्तर्गत पुरुषों तथा स्त्रियों को एक स्थान पर रखा जावे। यदि श्रम की दृष्टि से कोई वास्तविक अन्तर है तो वह ईमानदारी से किया गया श्रम तथा बेईमानी से किये गये श्रम का अन्तर है। इसी तरह कुशल एवं अकुशल श्रम के अन्तर को भी नहीं टाला जा सकता। बेमानी श्रम को राज्य सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता। यद्यपि राज्य को बेईमान व्यक्तियों को सुधारने का उत्तरदायित्व वहन करना

चाहिये और सुधार की प्रक्रिया के द्वारा उन्हें भी संरक्षण प्रदान करना चाहिए। इसी प्रकार से यह राज्य का उत्तरदायित्व है कि वह अकुशल श्रम को कुशल श्रम में परिवर्तित करे। ऐसे कार्य जिसमें कुशलता की आवश्यकता नहीं होती वह भी राष्ट्र के लिए आवश्यक है और वह कार्य अकुशल श्रम को सौंपा जा सकता है।

आधुनिक समय में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना सामाजिक दृष्टि से अधिक लाभकारी सिद्ध हुई है। बच्चे में अपने कार्य की कुशलता से प्राप्त सौ पुरस्कार भी उतना संतोष उत्पन्न नहीं करते जितना अपनी माता द्वारा प्राप्त प्रशंसा का एक शब्द। यदि पुरस्कार से ही उत्साह उत्पन्न होता है तो वह व्यक्ति को लालची बना देगा। आर्थिक असंतुलन को दूर करने अथवा सामाजिक संतुलन की स्थापना करने का सही उपाय है कि सामाजिक भावना का उचित संचार किया जाये और ऐसे आर्थिक संगठन का निर्माण किया जाये जिसमें व्यक्ति को आवश्यकता अनुसार आर्थिक लाभ का अवसर मिले। विनोबा ने इस दृष्टि से हिन्दू धर्म के अन्तर्गत वंश परम्परागत व्यावसायिक समूहों के सामाजिक संगठन को एक महान उपलब्धि माना है किन्तु वे बाद के समय में इस व्यवस्था में उत्पन्न हुई ऊंच नीच की भावना को इस व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने का कारण मानते हैं। उनकी मान्यता है कि आर्थिक प्रतिस्पर्धा के कारण पैतृक व्यवसायिक पद्धति अधिक जर्जरित हुई है। पैतृक व्यवसायिक पद्धति की विशेषताओं की चर्चा करते हुए विनोबा ने यह कहा है कि इस व्यवस्था में व्यक्ति समाज द्वारा प्रदत्त कार्य करता है, समाज व्यक्ति की क्षमता के अनुसार कार्य का अवसर देता है, उसकी पैतृक कुशलता उसे कार्य के योग्य प्रशिक्षण देने में सहायता पहुंचाती है, प्रशिक्षित व्यक्ति प्रशिक्षण के अनुसार कार्य करना अपना कर्त्तव्य मानता है, कोई अन्य व्यक्ति उसके कार्य में प्रतिस्पर्धा नहीं करता, प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक वेतन एवं संरक्षण प्राप्त होता है तथा निष्ठा से किये गये कार्य को समान मान्यता प्राप्त होती है परिणाम यह होता है कि व्यक्ति सेवा को ही धर्म मानते हुए ईश्वर को प्रसन्न करता है। पैतृक व्यवसायात्मक समूहों का उपर्युक्त संगठन सामाजिक शान्ति तथा आर्थिक संतुलन का सुन्दर प्रयोग रहा है। विनोबा के अनुसार आदर्श राज्य का गठन ऐसे ही सामाजिक संगठन पर आधारित होना चाहिए। वे जाति व्यवस्था को उसकी तीन मौलिक विशेषताओं के कारण उपयोगी मानते हैं — (1) आवश्यकतानुसार वेतन, (2) प्रतिस्पर्धा का अभाव, (3) ऐसी शिक्षा की व्यवस्था जो व्यक्ति के पैतृक गुणों का पूरा पूरा लाभ उठा सके। उनके अनुसार प्रथम दो विशेषताएं अर्थशास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं तथा तीसरी विशेषता समाजशास्त्र की दृष्टि से उपयोगी है। कतिपय व्यक्ति तीसरी विशेषता को स्वीकार नहीं करते ऐसी स्थिति में पहली दो विशेषताओं को स्वीकार किया जा सकता है। यदि तीसरी विशेषता भी सत्य सिद्ध हो तो ऐसे पैतृक व्यवसायिक समूहों को पुनर्जीवित कराने में संकोच नहीं करना चाहिये। किन्तु ऊंच नीच का भेद-भाव इसमें से पूर्णतया समाप्त किया जाना चाहिए ताकि यह व्यवस्था समाज को लोहपाश में न जकड़ ले। उनके अनुसार हमें प्रकार से अधिक तत्त्व पर जोर देना चाहिये। सेवा की भावना, स्वावलम्बन, अहिंसक शक्ति तथा सभी को आवश्यकतानुसार वेतन ये चार ऐसे स्तम्भ हैं जिस पर राज्य रूपी भवन की आधारशिला रखी हुई है। राज्य का बाह्य स्वरूप समाज के मानसिक स्तर तथा देशकाल के भेद के कारण भिन्नता रख सकता है किन्तु राज्य के

उद्देश्यों में मौलिक समानता सर्वत्र विद्यमान है। इसी प्रकार से परिवार का बाह्य स्वरूप भी छोटा बड़ा हो सकता है किन्तु परिवार का मूल विचार सर्वत्र एक जैसा है। राजनीतिक विचारक भी चिकित्साशास्त्रियों के समान अपने विचारों को एकमात्र रामबाण औषधि मानते हैं किन्तु आज जब गणितशास्त्र भी सापेक्षता के विचार को स्वीकार कर चुका है तो फिर राजनीति अथवा सामाजिक संगठनों के शास्त्र को अपने विचारों की पूर्ण सत्यता पर जोर नहीं देना चाहिये। विज्ञान के क्षेत्र में दो प्रकार के विज्ञान दिखाई देते हैं. एक मानव को नियन्त्रित करनेवाले विज्ञान तथा दूसरे मानवों द्वारा नियन्त्रित होनेवाले विज्ञान। इन दोनों में महान अन्तर है इस अन्तर को भुलाकर नियन्त्रित करनेवाले विज्ञानों को नियन्त्रित विज्ञानों के समान मानना अवैज्ञानिक है। सुशासन के लिए पहले वर्णित चार सिद्धान्तों को ही मान्यता प्राप्त होनी चाहिये ताकि जनता का कल्याण एवं सुख प्राप्त किया जा सके और शेष सभी विवाद परिस्थितियों के अनुसार निश्चित किये जाने के निमित्त छोड़ देने चाहिये।

विनोबा के अनुसार अहिंसा पर आधारित शासन अधिक स्थायी होता है। यद्यपि इतिहास में अहिंसा पर आधारित राज्य का उदाहरण मिलना कठिन है। फिर भी यह कहा जा सकता है हिंसा पर आधारित राज्य की लम्बे समय से चली आ रही मान्यता यह सिद्ध करती है कि हिंसा ही सब कुछ नहीं है। जिन राज्यों में हिंसा के द्वारा सरकार की स्थापना की गयी है वे भी जनमत का समर्थन अर्थात् अहिंसा का समर्थन पाने के इच्छुक हैं ताकि उनकी शासन व्यवस्था बनी रहे। हिंसा से प्रतिहिंसा और भी उभरती है और अन्त में परिणाम युद्ध होता है। अतः हिंसा को शासन का आधार नहीं बनना चाहिए। नैतिक दृष्टिकोण से भी सभी व्यक्तियों पर अहिंसा की मान्यता को तार्किक दृष्टि से स्वीकार करना चाहिए। आज के विश्व में युद्ध से उत्पन्न समस्त खामियों के प्रति व्यक्ति सचेत है क्योंकि इन युद्धों में राष्ट्रों का बहुत ध्वंस हुआ है। अतः भविष्य में युद्ध के लिए विशेष सम्भावना दिखाई नहीं देती क्योंकि हिंसा का स्थान अहिंसा लेती जा रही है। न केवल जनमत किन्तु विश्व का बहुसंख्यक जन समुदाय इसी परिणाम पर पहुंच रहा है।

अहिंसा में विरोधी को समाप्त करने के लिए कोई स्थान नहीं है। विरोधी को समाप्त करने के स्थान पर विरोधी के हृदय को परिवर्तित करने की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। अहिंसा में एक व्यक्ति की विजय दूसरे व्यक्ति की भी विजय है। यदि कोई विवादपूर्ण विषय उपस्थित हो जाये तो उसे तटस्थ पंच फैसले के लिए सौंप दिया जाता है। यही अहिंसा का सरल मार्ग है। जब दो व्यक्ति आपस में मिलते हैं और उनमें परस्पर विरोध प्रारम्भ होता है तो उन दोनों में से हिंसक व्यक्ति अहिंसक व्यक्ति को समाप्त कर सकता है क्योंकि अहिंसक व्यक्ति की अहिंसा को हिंसक व्यक्ति शायद उभरने का अवसर ही न दे। ऐसा व्यक्तिगत सम्बन्धों में हो सकता है राष्ट्रीय सम्बन्धों में नहीं। व्यक्तिगत सम्बन्धों में भी अहिंसक व्यक्ति की ही विजय माननी चाहिये क्योंकि वह अपना आत्मसंयम नहीं खोता। इसी तरह राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी अहिंसा की ही विजय होनी है।

पूर्ण युद्ध तथा अहिंसक राज्य के मध्य चयन करते समय अहिंसा अधिक रोचक नहीं लगती फिर भी संगठन प्रशिक्षण आदि की दृष्टि से अहिंसक राज्य की आवश्यकता अनुभव की जाती है। अहिंसक राज्य का संगठन युद्ध से भिन्न होता है। पर इतना अधिक

व्यापक होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को स्पर्श करता हो। प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसा के प्रति निष्ठावान बनाया जाता है। क्योंकि अहिंसा विश्वास पर आधारित है और यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पहुंचनी चाहिये। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सम्पूर्ण प्रशासन अहिंसा पर आधारित होना चाहिए। क्योंकि राष्ट्रों को हिंसक राज्यों की रक्षा करने के लिए जितना बलिदान करना पड़ता है उतना अहिंसक राज्यों को रक्षार्थ नहीं करना पड़ेगा। अहिंसा की दृष्टि से प्रतिरक्षा अधिक सुरक्षाजनक है क्योंकि इसमें जीवन तथा सम्पत्ति को हानि नहीं पहुंचाई जाती है। अहिंसा की लड़ाई युद्ध क्षेत्र में नहीं होती बल्कि व्यक्ति के हृदय में होती है। फिर भी अहिंसा को लेकर निरन्तर तैयार रहने की आवश्यकता रहेगी एक बार अहिंसा के प्रयोग का यह अर्थ नहीं है कि जीवन भर उसी के काम चल जावे। अहिंसक जीवन को हर समय हर पल त्याग के लिए तैयार रहना होगा।

अहिंसक व्यवस्था मानवीय क्षमता से परे नहीं है और न इसके लिए किसी आधि-भौतिक शक्ति की आवश्यकता है यदि व्यक्ति अत्यन्त उन्नत मानव के रूप में हो तो उसके लिए प्रतिकार की आवश्यकता नहीं होगी। सामान्य व्यक्ति जिसकी प्रकृति में बुराई विद्यमान है वह एकदम अपनी कुटिलता का त्याग नहीं कर सकता फिर भी उसकी प्रकृति की अच्छाई उसकी बुराई पर हावी रहेगी और वह व्यक्ति समाज में अहिंसक व्यवस्था को बनाये रखने में सहायक बन सकेगा। यही कारण है कि अहिंसक व्यवस्था अन्य सभी सामाजिक व्यवस्थाओं की तुलना में अधिक स्थायी है।

अहिंसक राष्ट्र चाहे एक ही हो फिर भी वह सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त कर अपनी सुरक्षा बनाये रख सकेगा। वास्तविकता यह है कि सम्पूर्ण मानवीय समाज एक है केवल सुविधा के लिए पृथक् पृथक् राष्ट्रों का विचार निर्मित हुआ है। यदि कोई एक राष्ट्र अहिंसक बन जाता है तो वह अपने को दूसरे से विपरीत अथवा पृथक् नहीं मानेगा। वह अपने पड़ोसी राष्ट्रों की वैधानिक हितों की उसी प्रकार से रक्षा करेगा जैसे वह स्वयं के हितों की करेगा। अहिंसक राष्ट्र अपनी उत्पादित वस्तुएं दूसरे राष्ट्र पर थोपना नहीं चाहता। इसमें प्रत्येक गाँव स्वावलम्बी होगा तथा श्रम के कार्य में लगा हुआ होगा। यदि पड़ोसी राष्ट्र के साथ किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होता है तो आपसी बात चीत से या पंच फैसले से उसका निपटारा किया जायेगा। यदि पड़ोसी राष्ट्र ने आक्रमण कर दिया तो अहिंसक राष्ट्र उस आक्रमण का मुकाबला अहिंसा से ही करेगा। अहिंसक राष्ट्र भय से सर्वथा मुक्त होता है। भारत का उदाहरण बतलाता है कि आक्रमण करनेवाला राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की भूमि तथा सुविधाओं को देखकर ललचाता है किंतु इससे दूसरे राष्ट्र को कोई हानि नहीं होनी चाहिए। मूल रूप से सारा ही विश्व एक है। यदि हम किसी अन्य राष्ट्रीयता को अपने यहाँ आने से न रोकें तो उसमें हमें कोई हानि नहीं होगी। भारत में पारसियों को आकर बसने की सुविधा देने का उदाहरण सामने है। प्रयत्न करने पर भी यदि पड़ोसी राष्ट्र आक्रमण करदे तो अहिंसक राज्य को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अहिंसक राज्य के साहसिक व्यक्ति जो कि अपने जीवन को अर्पित करने को तैयार हैं उनके होते हुए राज्य को कोई संकट नहीं होता। शक्ति अथवा पौरुष की कमी अहिंसा की सबसे बड़ी कमजोरी है। अहिंसा में विश्वास रखने वाले व्यक्ति को आत्म-शक्ति से वंचित नहीं होना

होना चाहिए यदि उनमें भीरुता का भाव उत्पन्न हो गया तो वह अहिंसा को हिंसा से दुर्बल मानने लगेगा। वास्तविकता यह है कि अहिंसक राज्य व्यवस्था बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक कलह से मुक्त होती है। अहिंसक राज्य में सभी के सुख के लिए प्रयास किया जाता है और सभी के कष्टों के निवारण का प्रयत्न किया जाता है। फिर भी यदि कोई व्यक्ति अव्यवस्था फैलाने का प्रयास करता है तो अहिंसा में विश्वास रखनेवाले सार्वजनिक कार्यकर्ताओं द्वारा उनका शमन कर दिया जाता है। प्रत्येक राज्य में ऐसे कार्यकर्ताओं की टोली होती है जो सामाजिक सेवा का कार्य उत्तरदायित्व की भावना से करते हैं। उनका शेष जनता पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है और असंतुष्ट तत्त्व सही मार्ग पर आने लगते हैं। आदर्श अहिंसक व्यवस्था के अन्तर्गत पुलिस की आवश्यकता नहीं है पुलिस के स्थान पर सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की टोलियां ही रहेंगी जो पूरे लगन से अपने कर्तव्यों का पालन करेंगी। शायद भविष्य में आदर्श राज्य स्थापित होने के पश्चात् कानून तथा व्यवस्था की समस्या ही उत्पन्न न हो। कानून तथा व्यवस्था की बात हम इसलिए करते हैं कि हम आधुनिक राज्य के संदर्भ में प्रत्येक स्थिति को आंकने का प्रयास करते हैं।

मार्क्सवाद तथा सर्वोदय

विनोबा भावे ने कहा कि मार्क्सवाद एवम् सर्वोदय मानवीय प्रकृति की अवधारणा की दृष्टि से एक जैसे लगते हैं। मार्क्स के अनुसार निर्धन व्यक्तियों द्वारा राज्य की शक्ति पर कब्जा किये जाने के पश्चात् अन्त में राज्य भी तिरोहित हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि राज्य की सत्ता नहीं रहेगी और बिना किसी केन्द्रीय शक्ति के हस्तक्षेप के देश का शासन चलता रहेगा। यदि साम्यवादी मार्क्स के इस विचार को स्वीकार करते हैं तो उन्हें मनुष्य की नैसर्गिक अच्छाई एवम् विश्वसनीयता को स्वीकार करना होगा। मार्क्स ने इसी मान्यता से अपना विचार व्यक्त किया था वह जानता था कि यदि व्यक्ति की अच्छाई को स्वीकार नहीं किया गया तो राज्य कभी भी तिरोहित नहीं होगा और उसकी सत्ता सदैव बनी रहेगी। साम्यवादी कहते हैं कि आधुनिक समय में राज्य को और भी अधिक शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता है और सारी शक्ति केन्द्र में निहित होनी चाहिये। इसे वे सर्वहारावर्ग का अधिनायकतन्त्र कहते हैं। उनका कहना है कि राज्य इस अधिनायकतन्त्र की स्थिति के पश्चात् किसी दिन तिरोहित हो जायेगा। लेकिन कैसे होगा इसका कोई उत्तर नहीं है। इसके विपरीत सर्वोदय विचारधारा राज्य सत्ता के पूर्ण विलोप में विश्वास रखती है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए केन्द्रीय सत्ता की शक्ति को दुर्बल बनाना चाहती है। वे विकेन्द्रीकरण के द्वारा राज्य की शक्ति को क्षीण कर राज्य को तुरन्त समाप्त करने में विश्वास करते हैं। देखा जाये तो साम्यवादी मानव की नैसर्गिक अच्छाई में निष्ठा प्रकट नहीं करते।[6]

सर्वोदय तथा मार्क्सवाद में सम्वाद की स्थिति बन सकती है अथवा नहीं इस सम्बन्ध में विनोबा के विचार हैं कि मार्क्सवाद कोई ऐसा वाद नहीं है जो परिस्थिति एवम् इर्द-गिर्द के पर्यावरण को नजरअंदाज कर प्रयुक्त किया जा सके। यह प्रयोग की एक प्रवृत्ति है जो कि स्थान तथा समयानुसार आवश्यक परिवर्तन के दौर से गुजरती है। रूस में हुई क्रान्ति पूर्णतया मार्क्स के अनुरूप नहीं थी। चीन में रूस से भिन्न स्थिति में क्रान्ति हुई। अतः मार्क्सवाद की पद्धतियों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहे हैं। यूरोप में जब मार्क्सवाद

का जन्म हुआ उस समय पूंजीवाद अपने उग्रतम रूप में था। इस प्रकार से मार्क्सवाद का का प्रयोग परिस्थिति जन्य है।[7]

सर्वोदय जीवन का आदर्श है। यह अन्य विचारवादो मे सुलभ उच्च आदर्शों को ग्रहण करने मे सदैव तत्पर रहता है। सर्वोदय एक स्वतन्त्र विचारवाद है जो सम्पूर्ण जीवन को अंगीकार करता है। इसका जन्म मार्क्सवाद के समान किसी विशेष विचारवाद से संघर्ष करने के लिए नही हुआ। यही कारण है कि सर्वोदय निरन्तर प्रगति की ओर बढ रहा है। यह अच्छाई का स्वागत करता है अत मार्क्सवाद भी सर्वोदय के अन्तर्गत सम्मि-लित किया जा सकता है। मार्क्सवाद तथा सर्वोदय के बीच कोई स्थायी संघर्ष नही है। विनोबा के अनुसार भारत की विशिष्ट सांस्कृतिक एवम् परम्परागत परिस्थितियो के अनुरूप मार्क्सवाद को भी बदलने की आवश्यकता है। मार्क्सवाद भारत के लिए बहुत उपयोगी हो सकता है यदि यह भारत की आवश्यकतानुसार अपने को ढाल ले। यह तभी पल्लवित हो सकता है जब लोककल्याण की भावना इसका केन्द्र बिन्दु बन जाये। यदि मार्क्सवाद मे परिवर्तन सम्भव नहीं है तो इस सिद्धात का कोई मानवीय मूल्य नही होगा। विनोबा की यह मान्यता है कि मार्क्सवाद अज्ञानियो का अन्धविश्वास न रहकर एक समयानुसार परि-वर्तित होने वाली जागृत विचारधारा बन जायेगा। उनके अनुसार जिस प्रकार से गगा का पाट बढ़ता चला जाता है और अन्त मे वह समुद्र मे मिल जाती है उसी प्रकार से किसी दिन मार्क्सवाद भी सर्वोदय मे आ मिलेगा। सर्वोदय का दार्शनिक आधार भारतीय जनता के सांस्कृतिक एवम् पारम्परिक धरोहर के अनुरूप है। अत सर्वोदय की मान्यता को भारत मे स्थापित होने के लिए अधिक अनुकूलन की आवश्यकता नही है जबकि भारत मे मार्क्स-वाद की स्थापना के लिए अनेक प्रयास करने होंगे। यही कारण है कि मार्क्सवाद सर्वोदय में मिलकर ही भारत मे सर्वत्र फैल सकता है। भारत मे संविधान के माध्यम से मार्क्सवाद की स्थापना इस बात का प्रमाण है कि मार्क्सवाद में विश्वास रखने वाले विचारको मे हृदय परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया है।[8]

कानून तथा नैतिकता

विनोबा के अनुसार भूदान आन्दोलन के लिए भूमि प्राप्ति व्यवस्थापन के माध्यम से करने की आवश्यकता नही है। वे अपने आन्दोलन को नैतिक आन्दोलन मानते हुए व्यवस्थापन की माग को निरर्थक समझते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति के नैतिक सिद्धान्तो मे व्यवस्थापन के द्वारा लाये गये परिवर्तन केवल एक औपचारिकता और पुस्तक की समाप्ति पर अङ्कित किये गये 'समाप्त' की भांति है। अहिंसक सामाजिक व्यवस्था मे कानून समाप्ति का सूचक है और उसी प्रकार से निरर्थक है जिस प्रकार से समाप्ति का उपर्युक्त चिह्न क्योंकि पुस्तक सम्पूर्ण होने के पश्चात् उपर्युक्त चिह्न की आवश्यकता ही नहीं रहती। विनोबा ने इस प्रकार व्यवस्थापन के प्रति अपनी अनिच्छा प्रकट की है। उनका यह कहना है कि नैतिक वातावरण बनने के पश्चात् व्यवस्थापन की माग करना बुरा नही है किन्तु व्यवस्थापन के माध्यम से इस कार्य को प्रारम्भ करना उचित नही ठहराया जा सकता। विनोबा व्यवस्थापन की सहायता के बिना भूदान की समस्या का हल ढूढते है।[9]

अपरिग्रही समाज का आदर्श

विनोबा ने अपरिग्रह बनाम अपहरण की समस्या का विमोचन किया है। उनके

अनुसार वर्तमान समाज में अपहरण का अधिक बोलबाला है। अपहरण के दावेदार यह मान्यता रखते हैं कि व्यक्ति समाज के निमित्त है अत व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से समाज हित में वंचित करना बुरा नहीं है। बल्कि अपहरण के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करना त्रुटिपूर्ण है। कई देशों में यह विचार मान्यता प्राप्त कर रहा है। किन्तु विनोबा ने अपहरण के सिद्धान्त का तीव्रतम विरोध करते हुए अपरिग्रह के सिद्धान्त का पक्ष प्रस्तुत किया है। उनका यह कहना है कि सामान्यतया अपरिग्रह को सन्यासियों का विचार माना जाता रहा है। यह भ्रान्ति फैलाई जाती है कि परिग्रह के बिना सामान्य व्यक्ति का जीवन दूभर हो जायेगा। यह भी कहा जाता है कि इस अर्थ में सन्यासियों का आदर करना चाहिये किन्तु उनके विचारों का अनुसरण नहीं करना चाहिये। सन्यास को जीवन के अंतिम आदर्श के रूप में स्वीकार करते हुए भी संग्रह की प्रवृत्ति के प्रति आस्था बनायी रखी जाती है। विनोबा ने इस भ्रान्ति का निवारण करते हुए यह कहा है कि किसी पाप का निवारण करने के लिए उसी पाप को माध्यम नहीं चुना जा सकता। यदि इस कार्य में सफलता भी मिल जाये तब भी हम सत्य का हनन ही करते हैं। अत लालच तथा संग्रह की वृत्ति को विश्व से मिटाने की आवश्यकता है और इसके लिए ऐसी मान्यता स्थापित करने की आवश्यकता है कि लोभ तथा लालच का समूल नाश कर दिया जाये। समाज में चोरी करने वाले, काला धन बनाने वाले तथा संग्रह करनेवालों को किसी मूल्य पर सम्मान का स्थान नहीं मिलना चाहिए। गीता में यह बात स्पष्ट रूप से अंकित की गई है लेकिन सन्यासियों के उपदेशों के समान गीता के उपदेश को भी ताक में रख दिया है।[10]

विनोबा सम्पूर्ण के माध्यम से संग्रह को उचित मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार यज्ञ में समय जब इन्द्र को आहुति दी जाती है तो मन्त्र पढ़ा जाता है कि 'यह आहुति इन्द्र के लिए है, मेरे लिए नहीं।' इसी तरह से वे चाहते हैं कि हम कारखानों में जो भी माल उत्पादित करें वह समुदाय तथा राष्ट्र के लिए समर्पित करें न कि अपने लिए। हमारे पास जो कुछ भी है उसे समाज के निमित्त अर्पित करदें और अपनी आवश्यकतानुसार हम समाज से पुन जो भी प्राप्त करेंगे वह हमारे लिए अमृत के समान होगा। इस संदर्भ में विनोबा ने आधुनिक समय की उस असंगति को दर्शाया है जो सेवा के नाम पर शोषण का प्रतीक बन गयी है। उनके अनुसार शासन के प्रशासकीय एवं अन्य विभाग जो कि सम्पन्न खर्चीले हैं 'सेवाओं' के नाम से जाने जाते हैं उदाहरण स्वरूप प्रशासनिक सेवा, चिकित्सा सेवा, शिक्षा सेवा आदि। प्रशासकीय सेवा के अधिकारियों को चार अंकों में वेतन मिलता है। जबकि उनके स्वामियों का जो कि देश के निर्धन व्यक्ति हैं और जिनकी सेवा करने का वे उपदेश देते हैं उन्हें केवल आठ आने रोज के मिलते हैं। यह एक दुःखद विरोधाभास है कि जो लोग लाखों रुपये कमाते हैं उन्हें सेवक कहा जाता है जबकि राष्ट्र के लिए अन्न उत्पन्न करने वालों को स्वार्थी की संज्ञा दी जाती है। यह दम्भ एवं स्वार्थ का चरमोत्कर्ष है। विनोबा ने इस दम्भ के निवारण के लिए भूमि को सामूहिक सम्पत्ति मानने का विचार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार भूमि, सम्पत्ति तथा बुद्धि जो भी कुछ हमारे पास है वह समस्त समाज को अर्पित है। हमें अपरिग्रह से यह भय नहीं रखना है कि वह हमें निर्धन बना देगा। अपरिग्रह हमें समाज के सदस्य के रूप में धनी बनादेगा। यह कार्य पृथक् व्यक्तिगत हितों से पूरा नहीं हो सकता। आवश्यकता इस बात की है कि

अपरिग्रह के सिद्धान्त पर एक सुन्दर समाज की रचना की जाये। यही भूदान का आदर्श है।[11]

विनोबा ने अपरिग्रह के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन को सुगम माना है। उनके अनुसार वर्तमान समय में जो व्यक्ति धनसंग्रह करता है वह धन के साथ-साथ चिन्ताओं तथा विभिन्न रोगों को भी अर्जित कर लेता है। उसके पास धन की प्रचुर मात्रा होती है किन्तु वह धन से भी अधिक मूल्यवान अपने निकटतम व्यक्तियों का प्रेम खो देता है। यही कारण है आज के समाज में धनसम्पन्न व्यक्ति भी सुखी नहीं है। गरीब तथा अमीर सभी दु:खी हैं। इसके लिए व्यवस्था को परिवर्तित करने की आवश्यकता है ताकि अपरिग्रह के दृढ़ आधार पर समाज को व्यवस्थित किया जा सके। विनोबा ने यह भी स्पष्ट किया है कि उनका विचार एक नैतिक विचार है और इस दृष्टि से यह समाज के हित में स्वयं द्वारा आरोपित है न कि बाह्य शक्ति के दबाव के द्वारा। हमें निर्धन तथा अमीर सभी को इस विचार की उपादेयता बतलानी है और अपरिग्रह का संदेश घर-घर पहुंचाना है। यदि यह संदेश देशवासियों द्वारा ठीक से आत्मसात कर लिया जाये तो हमें न तो अमेरिकी आर्थिक सहायता की आवश्यकता रहेगी और न नासिक प्रेस के कागजी रुपयों की। प्रत्येक भारतीय घर बैंक बन जायेगा। जनता स्वयं सभी प्रकार की मांगों की पूर्ति कर सकेगी और अपनी चिन्ताओं को समाज पर छोड़ देगी। विनोबा ने अपने को भगवान वामन के समान प्रस्तुत कर भूमि के छठे भाग की मांग की है। वे भूदान, सम्पत्तिदान तथा जीवनदान के अभिन्न कार्यक्रम को इस आदर्श पर चला रहे हैं ताकि सभी व्यक्ति ईश्वर की सम्पदा का समान रूप से उपयोग कर सकें और निर्धनों के हित अपना समस्त न्यौछावर कर स्वेच्छिक निर्धनता को अङ्गीकार कर लें।[12]

मानवीय समाज का वास्तविक आधार

विनोबा के अनुसार केवल व्यक्तिवादी जीवन ही सब कुछ नहीं है। हम समाज में रहते हैं और समाज की सेवा करके ही आत्मिक सन्तुष्टी प्राप्त करते हैं—चाहे हमारे समाज की कल्पना परिवार जितनी संकीर्ण हो अथवा समस्त मानवीयता जितनी विस्तृत। हम समाज से पृथक् जीवन की कल्पना नहीं कर सकते यह एक नैसर्गिक मानवीय भावना है जिसको दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। हम सभी प्रकार के सुख दु:ख में दूसरों के साथ रहना चाहते हैं और यही समाज का आधार है। समाज के शासन के लिए अनेक प्रकार के कानून विद्यमान हैं जिनमें कुछ धार्मिक हैं, कुछ सामाजिक तथा अन्य बौद्धिक। यह एक प्रकार का बन्धन है जो व्यक्तियों द्वारा सामान्यतया पालन किया जाता है। सामाजिक इच्छा के प्रति सम्मान की भावना से हमारा जीवन इन नियमों द्वारा बद्ध रहता है। आवश्यकतानुसार इन कानूनों की आलोचना की जाती है किन्तु इन्हें तोड़ा नहीं जाता। यही कारण है कि समाज एक जुट रहता है और यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। किन्तु कानून कितने भी अच्छे तथा प्रभावशाली क्यों न हो वे काफी नहीं हैं इनसे समाज शक्तिशाली नहीं बनता। समाज की वास्तविक शक्ति निष्ठा से ही प्राप्त होती है। माता-पिता तथा बच्चों के बीच में निष्ठा का बन्धन होता है। इस निष्ठा के अभाव में परिवार रूपी संस्था का समस्त आनन्द तिरोहित हो जायेगा। इसी प्रकार से पति-पत्नी के बीच निष्ठा की भावना न रहे तो गृहस्थ जीवन सारहीन हो जायेगा। व्यक्ति तथा शासन के

मध्य भी निष्ठा की भावना आवश्यक है अन्यथा समुदाय दुर्बल हो जायेगा। कानूनों का निर्माण होता रहेगा और व्यक्ति उसका पालन भी करेंगे किन्तु उससे राष्ट्र समृद्ध नहीं होगा। यदि व्यक्तियों की शासन मे निष्ठा नहीं है तो वे शासन को असफल बना देंगे। उदाहरण के तौर पर विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के मध्य विश्वास की कमी के कारण ही परीक्षा भवन में निरीक्षक नियुक्त किये जाते हैं ताकि विद्यार्थी नकल न कर सकें। किन्तु इससे नकल करने की प्रवृत्ति समाप्त नहीं हुई है। निष्ठा की कमी के कारण शिक्षा ने अपना ठोस आधार खो दिया है। जब तक विद्यार्थी तथा शिक्षक के मध्य पूर्ण विश्वास की भावना उत्पन्न नहीं होती तब तक शिक्षण व्यवस्था अधूरी ही मानी जायेगी। अतः यह कहा जा सकता है कि कानून द्वारा निष्ठा अथवा विश्वास का निर्माण नहीं हो सकता। कानून द्वारा प्रेम तथा श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। केवल धर्म ही, जो कि नैतिक एवम् सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना का प्रतीक है, निष्ठा का सृजन कर सकता है।[13]

राजनीतिक शक्ति एवम् सामाजिक क्रान्ति के मध्य सम्बन्ध

विनोबा भावे ने आचार्य कृपलानी के विचारों का खण्डन करते हुए यह कहा था कि सामाजिक क्रान्ति के लिए पहले राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। उनके अनुसार केवल शक्ति प्राप्त करने से ही सामाजिक क्रान्ति सम्भव नहीं होती। शासनात्मक अधिकार प्राप्त होने से जनमत पर नियन्त्रण हो सकता है किन्तु क्रान्ति नहीं हो सकती। लोकतान्त्रिक सरकार सामान्य जनता के विचारों को प्रकट करती है और बहुसंख्यक समाज की मान्यताओं को स्वीकार करती है। जैसी जनता होती है वैसी सरकार भी होती है। यदि जनता मद्यपान करने की इच्छुक हो तो सरकार मद्यनिषेध का नियम नहीं बना सकती। यदि सरकार अच्छी हो और जनता इसके विपरीत बुरे व्यक्तियों का बाहुल्य रखती हो तो वह सरकार लोकतान्त्रिक नहीं कही जा सकती। अतः सामाजिक क्रान्ति लाने वालों को राजनीतिक शक्ति का त्याग करना पड़ता है। उनके पास ऐसी शक्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है जिसके द्वारा वे राजनीतिक क्रान्ति ला सकें। महात्मा बुद्ध को क्रान्ति लाने के लिए अपना साम्राज्य छोड़ना पड़ा। यदि वे सम्राट् ही बने रहते तो क्रान्तिकारी नहीं बन सकते थे, अच्छे शासक भले ही बन जाते। अकबर एक अच्छा शासक था किन्तु क्रान्तिकारी नहीं था। बुद्ध, क्राइस्ट तथा गांधी सभी क्रान्तिकारी थे किन्तु उनकी शक्ति नैतिक थी। शासन नैतिक प्रभाव को मान्यता देता है और उसके अनुरूप अपने आपको ढाल लेता है किन्तु स्वयं प्रभाव अथवा शक्ति का सृजन नहीं कर सकता। शक्ति के लिए चिल्लाने से शक्ति नहीं बनती। नैतिक नियम के पालन से ही शक्ति का निर्माण होता है। विनोबा भावे ने नयी तालीम को इस प्रकार की शक्ति का सृजनात्मक उपाय माना है। उनके अनुसार नयी तालीम का अनुसरण सामाजिक क्रान्ति ला सकता है। वे सरकार से सहायता लेने में तत्पर हैं किन्तु सरकार पर निर्भर रहना नहीं चाहते। वे अपना काम स्वयं करके सरकार द्वारा अपना उदाहरण अपनाने पर जोर देते हैं अर्थात् सरकार का नेतृत्व करना चाहते हैं, मार्गदर्शन करना चाहते हैं। यदि समाज में ऐसे मार्गदर्शक हों तो शासन उनके विचारों से लाभान्वित हो सकता है। वे इस बात को केवल निराशा का विचार ही बताते हैं कि शक्ति के बिना व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। उनका यह कहना है कि व्यक्ति को स्वावलम्बी बनना चाहिये और आशावादी बनना चाहिये। गांधीजी

का जीवन इस मामले मे प्रेरणादायी है। वे एक साधारण व्यक्ति से महान् शक्तिशाली व्यक्ति बन गये। सत्य यह है कि शक्ति पृथक् नही है इसके साथ आत्मा अर्थात् शिव अन्तर्निहित है। यदि हम आत्मा के प्रति निष्ठावान है तो शक्ति अपने आप हमे प्राप्त होगी। शिव तत्त्व शक्ति की कामना नही करता शक्ति ही शिव की कामना करती है। अतः हमे शक्ति के स्थान पर शिव को प्राप्त करने की लालसा रखनी चाहिये यही गांधीजी का उपदेश भी है।[14]

कोई भी रचनात्मक कार्य क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से किये जाने पर ही क्रान्ति का सूत्रपात करता है तभी आवश्यक शक्ति उत्पन्न होती है। रचनात्मक कार्य शक्ति का साधन है। कोई भी शासन राज्य की आज्ञा द्वारा जातिविहीन समाज की स्थापना नहीं कर सकता। सरकार ने शारदा एक्ट लागू किया था लेकिन आज भी 10-12 वर्ष की कन्याओ का विवाह होता है। इसका कारण यह है कि इसे दण्डनीय अपराध नही माना गया है जैसे कि चोरी को दण्डनीय अपराध मानते हैं। यह उसी तरह से जैसे कि चोरो के समाज मे चोरी को दण्डनीय अपराध नही माना जायेगा। यदि हम राजनीतिक शक्ति अथवा शासकीय शक्ति के माध्यम से क्रान्ति की कामना करते है तो हमारा अहिंसा मे विश्वास नही रहेगा। सत्ता द्वारा परिवर्तन शक्ति से ही सम्भव होता है। हमे शक्ति नहीं अपितु शंकराचार्य के विचारो के अनुरूप चलना है। शंकराचार्य से जब यह पूछा गया कि यदि जनता उनके विचारों को नहीं समझ पाये तो वे क्या करेंगे। उनका उत्तर था कि वे उन्हें और भी स्पष्ट करेंगे और यह पूछे जाने पर कि यदि फिर भी विचार समझ मे न आये तो शंकराचार्य का कहना था कि वे बार-बार समझाते रहेगे। अर्थात् नियम यह है कि प्रकाश के सामने अन्धकार नहीं ठहर सकता। अन्धकार शक्ति नही है प्रकाश ही शक्ति है। एक बार प्रकाश उत्पन्न होने के पश्चात् अन्धकार को नष्ट होना ही पड़ता है।[15]

क्राइस्ट ने भी एक बार यह पूछे जाने पर कि व्यक्ति अपराध करने वाले को कितनी बार क्षमा करे, कहा था कि जितनी बार वह अपराध करे उतनी बार उसे क्षमा कर दिया जाये। अर्थात् क्रोध शक्ति नही है क्षमा ही शक्ति है। यही सत्याग्रह की मान्यता है। यदि हमे हमारे विचारो मे तथा हमारी क्षमाशीलता मे पूर्ण निष्ठा है तो हम समाज मे क्रान्ति ला सकते हैं यदि केवल शक्ति मे ही हमारा विश्वास हो तो हम शासक भले ही बन जायें क्रान्तिकारी नही बन सकते। खादी पहनने को कानून द्वारा बाध्य करना क्या खादी की सफलता का सूचक कहा जा सकता है? यदि चर्खे तथा खादी के बारे मे कोई क्रान्तिकारी विचार है तो वह यह है कि यह मिल के विरुद्ध खड़ा है और मिल को समाप्त कर देगा। किन्तु गांधीजी के पश्चात् इस विचार की मान्यता खादी पहनना अनिवार्य करके प्राप्त नही की जा सकती। हमे अपने आपको भारतवासी कहलाने का गौरव अनुभव करना चाहिये। विनोबा के अनुसार गांधीजी की नयी तालीम की योजना एक क्रान्तिकारी विचार है किन्तु इसके प्रसार के लिए शक्ति की आवश्यकता नही है। सच तो यह है कि बिना शिक्षा के हम शक्ति उत्पन्न नही कर सकते। हमे चिंतन के कुचक्र को तोड़कर शिक्षा के द्वारा शक्ति का प्रयोग करना है और शक्ति के माध्यम से नये विचारो को प्रसारित करना है। वास्तविक शक्ति हमारी आत्मा मे अन्तर्निहित है उसे पहचानने की आवश्यकता है[16]

नवीन क्रान्ति

जनता क्रान्तिकारी कार्यक्रम अपनाने को उत्सुक रहती है और यह मानती है कि क्रान्ति रक्तहीन नहीं हो सकती। किन्तु सत्य यह है कि रक्त पूर्ण क्रान्ति-क्रान्ति नहीं है। ऐसे व्यक्ति यथास्थितिवादी हैं। उनके सामने क्रान्ति लक्ष्य नहीं है किन्तु स्थिति में परिवर्तन का सीमित कार्यक्रम ही है जिनमें वे एक स्थिति को बदल कर दूसरी स्थिति प्राप्त करना चाहते हैं। क्या यह क्रान्ति है कि सुखी व्यक्ति दुःखी बन जायें और दुःखी व्यक्ति को सुखी बना दिया जाये? क्या इससे कष्टों का निवारण हो जायेगा? यह तो यथाशक्तिवाद का प्रतीक है। वास्तविक क्रान्ति सब की प्रसन्नता की कामना करती है। सर्वोदयवादी सच्चे क्रान्तिकारी हैं क्योंकि वे सभी के सुख के इच्छुक हैं। जो समाज को दो वर्गों मे बाटना चाहते हैं वे साम्यवादी कहलाना पसन्द करते हैं किन्तु वास्तव में वे सम्प्रदायवादी हैं। पाश्चात्य मस्तिष्क अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिकतम सुख चाहता है। किन्तु भारतीय चिन्तन सभी के कल्याण की कामना करता है। सभी को समान प्रेम भाव से देखना भारत का आदर्श है। एक समय था जब एक अल्पसंख्यक वर्ग ने बहुसंख्यक वर्ग पर शासन किया लेकिन आज बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों पर शासन करते हैं। किन्तु भारत मे इसके विपरीत स्थिति है। हमें यह सिखाया जाता है कि हम दूसरों के लिए वैसा ही व्यवहार करें जैसा हम दूसरों द्वारा अपने लिए चाहते हैं। विनोबा ने इसी आदर्श के अनुसार परिणाम प्राप्त करने की कामना की है। वे किसी को कष्ट देना नहीं चाहते। वे हृदय परिवर्तन पर जोर देते हैं। उनका मार्ग कोई नवीन मार्ग नहीं है। ऋषि-मुनियों द्वारा दिये गये उपदेशों का वे पालन कर रहे हैं। वे एक ऐसी अहिंसक क्रान्ति लाना चाहते हैं जो भारत के विचारों के अनुकूल है। उनकी यह मान्यता है कि यदि भारत में अहिंसक क्रान्ति सफल नहीं होती तो विश्व में कहीं भी अहिंसक क्रान्ति नहीं लाई जा सकती है।[17]

विनोबा के अनुसार हमें अपने विचार दूसरों पर नहीं थोपने चाहिए। यदि कोई हमारे विचारों से सहमत न हो तो उन्हें अपने स्वतन्त्र विचार व्यक्त करने की छूट होनी चाहिए। दूसरों पर विचार थोपने का अर्थ है हिंसा, साम्राज्यवाद तथा विश्व-युद्ध की ज्वाला को भड़काना। जब तक राष्ट्रों में पारस्परिक सहिष्णुता का भाव उत्पन्न नहीं होता तब तक सही अर्थों में शान्ति की सम्भावना असम्भव है। असुरक्षा की भावना अनेक बार राष्ट्रों को शस्त्रीकरण तथा पारस्परिक भय के लिए प्रेरित करती है। यदि सही रूप में जनमत को जागृत किया जाये तो ऐसा संगठन विश्व में उभर सकता है जो स्थायी शान्ति का प्रतीक बन जाये। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपनी श्रेष्ठ सलाह दी किन्तु साथ-साथ उसने यह भी कहा कि वह निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र है। यह इस बात का प्रतीक है कि हमें अपना आदर्श दूसरों पर नहीं थोपना चाहिए। अहिंसा पर आधारित समाज का यही गुण है कि हम किसी को अपना विचार मानने के लिए बाध्य न करें।[18]

सर्वोदय का अर्थ

विनोबा के अनुसार गांधीजी ने सभी के कल्याण का उद्देश्य प्रस्तुत किया था न कि अधिक से अधिक व्यक्तियों के अधिकतम सुख का। उनके पदचिह्नों पर चलकर सेवाग्राम में सर्वोदय समाज की स्थापना हुई। यह समाज संगठन मात्र नहीं है किन्तु एक क्रान्तिकारी विचार से प्रेरित है। सर्वोदय शब्द अपने आप में एक संस्था से अधिक

शक्तिशाली है। शब्दो मे जो शक्ति होती है वह सगठनो में नहीं होती । शब्दो से राष्ट्रो का उत्थान तथा पतन होता है। सर्वोदय शब्द कुछ व्यक्तियो के उदय का प्रतीक नही है, न अधिक से अधिक व्यक्तियो के उदय का। इसमे सभी के कल्याण की कामना की गई है जिसमे गरीब तथा अमीर, छोटे तथा बडे, बुद्धिमान तथा अनपढ सभी को सम्मिलित किया गया है। सर्वोदय सभी को हृदय से लगाने की उच्च भावना का प्रतीक है।[19]

सर्वोदय की अवधारणा हमे विश्व मे व्याप्त हिंसक सघर्षो के प्रति सोचने के लिए विवश करती है। फिलिस्तीन मे अरबो तथा यहूदियो के मध्य सघर्ष चल रहा है। चीन मे होने वाले आन्तरिक कलह तथा डच राष्ट्रीयता द्वारा इन्डोनेशिया मे मचाया गया सघर्ष हम द्वितीय विश्व युद्ध की याद दिलाता है। युद्ध के बाद जापान के युद्ध अपराधियो को फासी पर चढाया गया यह सोचकर कि जापान को दडित करने पर शान्ति की स्थापना हो जायेगी। भारत मे भी कश्मीर मे हिंसक उपद्रव हुए हैं। कश्मीर की समस्या का अहिंसक हल नहीं हो पाया। भारत मे राजनीतिक एकता के लिए प्रयत्न जारी है। छोटे राज्यो को बडे समूहो मे मिला दिया गया है किन्तु मानसिक दृष्टि से एकता की स्थापना नही हो पाई है। सभी दिशाओ मे विघटनकारी तत्त्व मुँह बाये खडे हैं। सभी राजनीतिक दल विद्यार्थियो को अपना मोहरा बनाने मे लगे हुए हैं । श्रमिको को भी राजनीतिक मोहरे बनाया जा रहा है और उनकी समस्यायें सुलझने की जगह उलझ रही हैं। विनोबा के अनुसार इन सभी समस्याओ के निराकरण का मार्ग सर्वोदय समाज की स्थापना ही है। सर्वोदय का विचार क्रान्तिकारी विचार है। केवल सगठनात्मक धारणा नही। यह विचार तथा कर्म दोनो को प्रेरित करता है।[20]

अधिक से अधिक व्यक्तियो के अधिकतम सुख का पाश्चात्य विचार अल्पसख्यक तथा बहुसख्यको की समस्या के कीटाणुओ से ग्रस्त है किन्तु सर्वोदय का विचार गीता के उपदेश पर आधारित है जिसमे सभी के सुख के लिए व्यक्ति को समर्पित होने को प्रेरणा दी गयी है। इस धारणा मे सत्य तथा अहिंसा के प्रति पूर्ण निष्ठा की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। निजी एव सार्वजनिक जीवन मे व्यापारिक अथवा व्यावसायिक जीवन मे असत्य को त्यागने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। हमे जीवन मे हिंसा का पूर्णतया त्याग देना है। समाज के उत्थान का रचनात्मक कार्यक्रम पूर्ण अथवा आशिक रूप से व्यक्तिगत एव सामूहिक रूप से इस तरह प्रयुक्त करना है ताकि स्थानीय सस्थाओ की स्थापना के साथ सर्वोदय का विचार सुगमता से चलता रहे । यदि हम युवा एव प्रौढ व्यक्तियो मे सर्वोदय के सदेश को प्रसारित करने मे सफलता प्राप्त कर लें तो विश्व की समस्त समस्याओ का हल ढूँढा जा सकेगा । आधुनिक विश्व मे वर्तमान राजनीतिक पद्धतियो की हमे आवश्यकता प्रतीत नही होगी क्योकि सर्वोदय की अवधारणा इन सबसे एक कदम आगे है।[21]

इस प्रकार सर्वोदय का अर्थ स्वत स्पष्ट है। मानवीय समाज मानव तथा मानव के मध्य हितो के टकराव पर आधारित नही हो सकता। व्यक्ति के विचारो मे स्वार्थपूर्ण सकीर्णता हो सकती है किन्तु समष्टिगत चितन म हितो का टकराव नही होना चाहिए। हम पूजी तथा अन्य भौतिक सुविधाओ की होड मे नही पडना है । स्वर्ण से अधिक प्रेम का महत्त्व स्थापित करना है। पूजी ही सामाजिक सगठन का कारण है और हितो के

संघर्ष का प्रतीक है। इस समस्या का निदान भी सर्वोदय ने सम्भव बना दिया है। हमें दूसरों के हितों की अधिक चिन्ता रखनी चाहिये ताकि व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना पर अंकुश लगाया जा सके और सामाजिक सद्भाव तथा शान्ति को प्रोत्साहित किया जा सके। इस नियम द्वारा न केवल सुखी परिवारों की ही स्थापना होती है अपितु सारा समाज इस पर आधारित किया जा सकता है। व्यक्ति को अपना भोजन स्वयं जुटाना है और श्रम करके अपनी आजीविका जुटानी है उसे दूसरों पर आश्रित नहीं रहना है। मनमाने प्रकार से आजीविकोपार्जन उचित नहीं है। यदि विश्व दो नियमों—स्वयं द्वारा आजीविकोपार्जन तथा उत्पादक श्रम को अपना ले तो सर्वोदय का मार्ग स्वयं प्रशस्त हो जायेगा।[22]

लोक शक्ति तथा राज्य शक्ति

विनोबा ने स्वतंत्र लोकशक्ति के निर्माण का आह्वान किया है जो हिंसक शक्ति तथा राज्यशक्ति से भिन्न है। राज्यशक्ति में हिंसा का तत्त्व विद्यमान होता है यद्यपि राज्यशक्ति जन प्रतिनिधित्व के कारण हिंसा की प्रच्छन्न प्रतीति होती है और इस कारण लोकशक्ति से भिन्न होती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम राज्यशक्ति को अनावश्यक बना दें। यदि यह मान लिया जाये कि राजनीतिक शक्ति द्वारा ही जनसेवा की जा सकती है तो हम न जनसेवा कर पायेंगे और न जनता की मनोभावना के अनुरूप उनका भार कम कर सकेंगे।[23]

विनोबा ने स्वराज्य, सर्वोदय तथा रामराज्य का विश्लेषण करते हुए कहा है कि शासन द्वारा अधिक कार्य करने का अर्थ है जनता के द्वारा पहल करने की कमी। रामराज्य शब्द का प्रयोग स्वतन्त्रता के पहले एक आदर्श लक्ष्य के रूप में दिखाई देता था किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे राज्य का स्वरूप रामराज्य की ओर बढ़ता हुआ दिखाई नहीं देता। हम प्रत्येक कार्य के लिए सरकार का मुँह देखने लगे हैं। वास्तविकता यह है कि जनता शासन से अधिक शक्तिशाली होती है। उन दोनों के मध्य वही सम्बन्ध होता है जो कुएँ तथा बाल्टी के मध्य होता है। हमें अपनी शक्ति को पहचानना है और अपने इर्द-गिर्द की समस्याओं का स्वयं हल ढूँढना है। हमें अपने उपयोग के लिए कपड़ा, तेल तथा गुड़ बनाना है ताकि हम शहर का मुँह न देखें। भूमि का इस प्रकार से वितरण करना है कि सभी भूमिहीनों को भूमि प्राप्त हो जाये। तभी हमारा देश निर्धनता से सम्पन्नता में परिवर्तित होगा यही रामराज्य का आदर्श है।[24]

वास्तविक लोकतन्त्र

विनोबा के अनुसार लोकतन्त्र तथा सैन्यशक्ति साथ साथ नहीं चलते। राजनीति तथा नैतिकता के मध्य के असंतुलन को दूर करना आवश्यक है ताकि दलीय राजनीति से ऊपर उठकर सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना की जा सके। विश्व के अनेक देशों में लोकतान्त्रिक सरकारें कार्यरत हैं किन्तु उनके द्वारा जो लोकतन्त्र प्रयुक्त हो रहा है वह केवल औपचारिक है। उन्हें बड़ी बड़ी सेनाएं रखनी पड़ती हैं। जबकि सच्चा लोकतन्त्र तथा सैन्यबल एक दूसरे के विरोधी है। सच्चा लोकतन्त्र शस्त्र के बल पर आधारित नहीं होता। वह जनता की सद्भावना तथा अहिंसा की शक्ति पर आधारित होना चाहिए। हमें ऐसा ही लोकतन्त्र स्थापित करना है। देश में औपचारिक लोकतन्त्र का आधार बुरा

नही है किन्तु उसके लिए विरोधी दल की आवश्यकता नही है क्योकि हमे दल-विहीन लोकतान्त्रिक संगठन बनाना है। सामाजिक न्याय पर आधारित परोपकारी कार्य करने तथा समाज की व्यवस्था को न्यायोचित बनाने के लिए ऐसे संगठन की आवश्यता है जो राजनीति को राष्ट्रीय जीवन का अभिन्न अग मानते हुए वर्तमान समय मे व्याप्त राजनीति तथा नैतिकता के अन्तर को समाप्त करदे। ऐसा संगठन जो गुणो को भी परिसीमित करता हो अपने स्वय मे विनाश के बीज लिए हुए होता है। हम ऐसी राजनीति को स्वीकार नही कर सकते है जो व्यक्ति की दयालुता पर नियन्त्रण लगाती हो। सत्य तथा अहिंसा के प्रति निष्ठावान व्यक्ति जब तक राजनीति मे प्रविष्ट नही होते तब तक उच्च कोटि की राजनीति का निर्माण नही हो सकता। हमे शासन तथा जनता दोनो पर समान प्रभाव स्थापित करना है और दलगत राजनीति के सकीर्ण लगाव से दूर होकर ऐसे कार्यकर्ताओं का संगठन बनाना है जो दलगतता से ऊपर हो। राजनीतिक दृष्टि से कार्यकर्त्ता विभिन्न राजनीतिक संगठनो से जुडे रह सकते हैं किन्तु रचनात्मक कार्य के लिए उन्हें एक जुट होकर सर्वोदय के सेवको के रूप मे काम करना होगा न कि विभिन्न दलो के सदस्यो के रूप मे। रचनात्मक कार्य के लिए यदि प्रत्येक गाव एक भूमिहीन परिवार को पुनर्स्थापित कर दे तो सारा देश इससे लाभान्वित हो सकता है। बडे जमीदारो से भूमि प्राप्त करके भूमिहीनो को वितरित करनी है। बडे जमीदारो द्वारा दिया गया भूमि का दान सख्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है तो निर्धन व्यक्ति द्वारा दिया गया दान गुणात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इससे भूदान आन्दोलन का नैतिक स्तर ऊचा होगा।[25]

बहुमत एव सर्वसम्मति

ग्राम पचायत के रूप मे भारत का राजनीतिक अनुभव उच्च शिखर पर पहुचा है। ग्राम पचायत की अनुपम संस्था पाच व्यक्तियो की सर्वसम्मति की प्रतीक रही है। जब तक आधुनिक लोकतन्त्र बहुमत द्वारा प्राप्त किये गये विनिश्चय की धारणा पर आधारित है अल्पसख्यको की समस्या उत्पन्न होती रहेगी। अल्प सख्यको की समस्या का तब तक निराकरण नही हो सकता है जब तक सभी ईमानदार तथा सद्भावनायुक्त व्यक्तियो मे सर्वसम्मति के सिद्धान्त को लागू नहीं किया जाता। हमे ऐसे कार्यक्रम चलाने हैं जो सभी व्यक्तियो मे समान स्वीकारोक्ति स्थापित कर सकें। अच्छे व्यक्तियो म मतो का वैभिन्य केवल सतही तौर का होता है और सामान्य स्वीकारोक्ति के तत्त्व विद्यमान रहते हैं जिन पर अमल किया जा सके। अत प्रत्येक कार्य मे मत वैभिन्य को छोडकर कार्यक्रम की सफलता के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। कार्यक्रम मे वैभिन्य का समावेश नही होना चाहिये चाहे कार्यक्रम को लागू करने से पहले विचार-विमर्श एव वाद-विवाद क्यो न हो। यदि किसी कार्य के सम्बन्ध मे अच्छे व्यक्तियो की धारणा का एक मत प्राप्त नही होता तो सर्वसम्मति के आधार पर ऐसे कार्य का क्रियान्वयन नही होना चाहिए। वे ही कार्यक्रम जनता के समक्ष प्रस्तुत करने चाहिए जिनके सम्बन्ध मे सर्वसम्मति हो।[26]

विनोबा ने आधुनिक लोकतन्त्र की कटु आलोचना की है। उनकी मान्यता है कि लोकतान्त्रिक कहे जानेवाले किसी भी देश म शासन जनता के द्वारा नही चलाया जाता

और कोई भी देश अब्राहम लिंकन की लोकतन्त्र की परिभाषा की कसौटी में खरा नहीं उतर सकता। उन्होंने वर्षों तक भूदान के लिए पद यात्रायें की हैं और व्यापक जन सम्पर्क किया है। उन्हें भारत के ग्रामीण क्षेत्रों का जितना अनुभव है उतना बहुत कम राजनीतिज्ञों तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को प्राप्त हुआ करता है। फिर भी विनोबा ने आधुनिक संसदात्मक लोकतन्त्र की आलोचना की है वह अपने आप में एक विशिष्ट विचार है। जयप्रकाश नारायण जो कि भूतकाल में पश्चिमी लोकतन्त्र के प्रबल समर्थक थे कालान्तर में स्वयं सर्वोदय से परिचित होकर गांधी तथा विनोबा के ग्राम स्वराज्य एवं लोकनीति के समर्थक बन गये। विनोबा ने लोकनीति को वास्तविक अर्थों में दल-विहीन लोकतन्त्र अथवा विकेन्द्रित लोकतन्त्र के रूप में प्रस्तुत किया है। लोकनीति राजनीति के विरुद्ध है लोकनीति द्वारा दलीय राजनीति अथवा शक्ति की राजनीति का पूर्ण बहिष्कार किया गया है। इसमें स्वतन्त्रता तथा अन्य लोकतान्त्रिक मूल्यों का यद्यपि त्याग नहीं किया गया है। फिर भी यह लोकतान्त्रिक व्यवस्था के पश्चिमी बाह्य आवरण को अस्वीकृत करती है। विनोबा की लोकनीति में बहुमत का शासन महत्त्व नहीं रखता। बहुमत के स्थान पर सर्व सम्मति से शासन या एकमत शासन स्वीकार किया गया है। यद्यपि विनोबा सहभागी लोकतन्त्र की स्थापना का उद्देश्य लेकर आगे बढ़े हैं किन्तु उन्हें अथवा उनके शिष्य जयप्रकाश नारायण को जो कि सम्पूर्ण क्रांति का विचार लेकर आगे बढ़े हैं सफलता प्राप्त नहीं हुई। विनोबा ने पवनार आश्रम में रहते हुए समय समय पर शासन को परिष्कृत करने के लिए जो विचार व्यक्त किये हैं उन्हें सरकार ने अभी तक पूर्णतया लागू नहीं किया। यद्यपि प्रचार यही किया जाता रहा है कि विनोबा के आदर्श की ग्रामस्वराज्य स्थापित किया जावे। यद्यपि आपातकाल के दौरान में अनाचारों का प्रसारण विनोबा की सलाह पर ही किया गया माना जाता है।

समानता तथा दयालुता

विनोबा ने समानता के साथ-साथ दयालुता के आदर्श को स्वीकार किया है। उनकी मान्यता है कि दयालुता के बिना व्यक्ति बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति से वंचित रह जाता है और उसमें अहंकारिता का भाव उत्पन्न हो जाता है। समानता एवं असमानता में विरोधाभास है किन्तु समानता तथा दयालुता में कोई विरोध नहीं। दयालुता से ही सच्ची समानता स्थापित होती है। असमानता को दूर करने के लिए दयालुता आत्मा को शक्ति प्रदान करती है और साथ ही साथ असमानता का भी निवारण करती है। हमें अपने दयालुता के प्राचीन धरोहर को नहीं मिटाना है क्योंकि केवल समानता की मांग स्वार्थपरायणता को प्रतीक मानी जायेगी। वर्तमान जीवन में समानता की स्थापना के लिए प्रयत्न जारी है। हमें अपने पूर्वजों का ध्यान रखकर उनके आदर्शों के अनुसार चलना है ताकि हम उनके अनुभवों का लाभ उठा सकें। दयालुता का यह अर्थ नहीं है कि हम झूठे गौरव के शिकार बन जायें और निर्बलता की दयनीय स्थिति में पहुँच जायें। समानता के साथ भी यही हो सकता है। समानता हमारी विवेकपूर्ण दृष्टि को समाप्त कर देती है। यदि समानता में हमारे द्वारा विचार की शक्ति नष्ट हो जाती है तो वह समानता भी दिखावा मात्र रह जायेगी। इसलिए समानता के आदर्श को दयालुता के साथ मिलाने की आवश्यकता है। यह कार्य निरन्तर आत्मनिरीक्षण से ही सम्भव है।

हमें असमानता के दम्भ का निवारण करना है। जिसके पास निजी सम्पत्ति नहीं है वह भी आर्थिक समानता के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये। इसी प्रकार से शारीरिक अन्तर द्वारा जनित असमानताएं भी दूर होनी चाहिये। यदि हम समाज में समानता चाहते हैं तो व्यक्तिगत जीवन में उससे सौगुनी समानता पहले स्थापित करनी होगी। मानवीय शरीर में 98° (एफ) तापक्रम बना रहता है क्योंकि ताप का स्रोत सूर्य अत्यधिक गर्म है। यदि सूर्य का ताप मानव के शरीर के तापक्रम से कम होता तो अनर्थ हो जाता। इसलिए समाज के सेवकों को समाज से आगे चलकर बताना है तभी उनका लक्ष्य तथा कार्य पूरा हो सकेगा।[28]

पूर्ण समानता, अनुपातविहीन असमानता एवम् समता

विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन के दौरान जमींदारों तथा समाज के हित में भूमि का दान करने का आग्रह किया है। और पूर्ण समानता, असमान असमानता तथा समानता का विवेचन किया है। विनोबा का कहना है कि समाज में गणितीय समानता सम्भव नहीं है फिर भी किसी सम्पन्न व्यक्ति द्वारा समाज हित में अपनी संगृहीत सम्पत्ति का कुछ भाग दे दिया जाये तो वह उसके लिए अच्छा ही होगा। वे समाज में पाँचों अंगुलियों के समान समानता चाहते हैं। उनके अनुसार न सम्पूर्ण समानता सम्भव है और न असन्तुलित असमानता ही समाज के लिए हितकारी है। अच्छा यह है कि समाज पंचायत धर्म का पालन करते हुए समता की स्थापना करें जिसमें छोटे-बड़े सभी का निर्वाह हो सके।[29]

विनोबा का योगदान

विनोबा ने "स्वराज शास्त्र" में अपने राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विचारों को प्रस्तुत किया है। व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलन के कारण गिरफ्तारी के दौरान 1943 में नागपुर-जेल में विनोबा ने अपने इन स्फुट विचारों को संकलित करवाया था। विनोबा के अनुसार राज्य (शासन) तथा स्वराज्य में अन्तर है। राज्य शक्ति से स्थापित किया जा सकता है किन्तु स्वराज्य अहिंसा के बिना असम्भव है। राज्य (शासन) के स्थान पर स्वराज्य की आवश्यकता है। स्वराज्य वैदिक शब्द है। यह प्रत्येक का प्रत्येक के लिए ऐसा शासन है जिसमें प्रत्येक को अपनत्व अथवा स्वशासन दिखाई दे। यह सबका शासन है। यह रामराज्य है।[30] राज्य का अस्तित्व अमीर तथा गरीबों में समानता लाने के लिए है। जिस प्रकार से परिवार में सभी सदस्यों को समानता की दृष्टि से देखा जाता है उसी प्रकार से राज्य को भी व्यवहार करना है। यदि राज्य यह सेवा नहीं कर सकता तो ऐसे राज्य के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं है। असमानता फैलाने वाले राज्य को नष्ट कर उसके स्थान पर अराजकता ही रहेगी। प्रशासकों द्वारा अराजकता का भय हर समय फैलाया जाता है ताकि जनता उनके कुशासन को भी नम्रतापूर्वक स्वीकार कर ले। योग्य व्यक्तियों की योग्यता को स्वीकार करना चाहिए किन्तु योग्य व्यक्तियों को भी जनता के सहयोग एवं समर्थन की आवश्यकता है। उसके बिना योग्य व्यक्तियों का शासन भी नहीं चल पायेगा। जिन्हें हम अयोग्य समझते हैं उनमें भी अपनी तरह की योग्यता है। उसके बिना राज्य नहीं चल सकता। पारस्परिक सहयोग के बिना सभी योग्यताविहीन हैं। ऐसी स्थिति अंधे तथा लंगड़े की कहावत की ही याद दिलायेगी। जिस राज्य में योग्य

व्यक्ति यह नहीं जा लेते कि समाज में कम योग्यता प्राप्त व्यक्तियों का सहयोग भी आवश्यक है वहां राजनीतिक व्यवस्था के स्थान पर घोर अराजकता का ही वास होगा। संक्षेप में, राज्य द्वारा योग्य व्यक्तियों को सत्ता अवश्य सौंपी जाय किन्तु वह सत्ता जनता की सेवा में समर्पित की जानी चाहिए।[31]

विनोबा ने जनता की स्वतन्त्रता पर अधिक बल दिया है। उन्होंने सत्ता को जन-सेवा में प्रयुक्त किये जाने के उद्देश्य के साथ ही साथ व्यक्तियों को सबल एव स्वावलम्बी बनाना आवश्यक माना है। वे जनता को स्वावलम्बी बनाकर उसे अपनी शक्ति के प्रति जागृत करना चाहते हैं। वे उद्योग व्यवसाय की देखरेख भी जनता को ही सौंपना चाहते हैं और प्रत्येक गाव को स्वावलम्बी इकाई बनाना चाहते हैं। दक्ष व्यक्तियों द्वारा स्वेच्छा से जनता की सहायता करने पर बल देते हैं ताकि जन-समुदाय उन्हें प्रत्युत्तर में सहयोग प्रदान कर सकें। जनता को स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होना है। समाजवादियों की तरह पहले एक स्थान पर धन केन्द्रित कर फिर उसके वितरण का प्रयत्न विपदाओं को ही आमन्त्रित करेगा। प्रत्येक को उसकी योग्यता एव उसके श्रम के अनुसार वेतन देने की प्रणाली भी व्यर्थ है। किसी रोगी की तन्मयता से सेवा करने वाले व्यक्ति की अथवा निष्पक्ष होकर न्याय करने वाले न्यायाधीश की सेवाओं का मूल्य कैसे आका जा सकता है। ऐसी अनेक सेवाएँ हैं जो अमूल्य हैं। वेतन-शृंखला निर्धारित करना न्यायोचित नहीं है। विनोबा के अनुसार न्यायोचित यही है कि वेतन-शृंखला की बात किये बिना व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण शक्ति एव योग्यता समाज के हित में प्रयुक्त करे और समाज उस व्यक्ति के भरणपोषण का उत्तरदायित्व निभाये।[32]

विनोबा के अनुसार रूस की क्रान्ति का आकर्षण क्षीण होता जा रहा है। समाजवाद ने पूंजीवाद के चार पक्षों—केन्द्रीकरण, मशीनीकरण, सैन्यतन्त्र तथा मानव-शोषण में से प्रथम तीन को यथावत् रखकर अन्तिम को समाप्त करने का प्रयास किया है। किन्तु ऐसा प्रयास भ्रममूलक ही कहा जायगा। ये चारों पक्ष वैसे ही विद्यमान हैं। केन्द्रीकरण में उत्पन्न दक्षता, मशीनीकरण से उत्पन्न सुविधाएँ, सैन्यबल से उत्पन्न सुरक्षा की भावना व्यक्तियों को इतना भ्रमित कर देती हैं कि वे शोषण का अन्त करने के लिए इन्हें छोड़ना नहीं चाहते। शक्ति से विजित वस्तु शक्ति द्वारा ही बनी रह सकती है। इसके लिए नेतृत्व द्वारा जनता को शस्त्रों से लैस रखा जाता है। जन साधारण द्वारा शस्त्रों के दक्ष सचालन की कमी के कारण उन्हें सेना पर निर्भर करना पड़ता है। प्रतिरक्षा की यह व्यवस्था प्रचुर मात्रा में धन सग्रह, विज्ञान तथा राजनय पर आश्रित है। परिणाम यह होता है कि अनेक का शासन कुछ व्यक्तियों का शासन रह जाता है और सशक्त, सुशिक्षित एव धनी व्यक्तियों का एक नया गुट तैयार हो जाता है। विनोबा के अनुसार यह स्थिति जनता के हित में नहीं हो सकती। जनहित के लिए सशक्त व्यक्तियों को जनता की भलाई के लिए अपने शारीरिक बल का प्रयोग करना चाहिए। सुशिक्षित व्यक्तियों द्वारा जनजीवन में ज्ञान का प्रवाह उत्पन्न किया जाना चाहिए और धन का उपयोग उत्पादन की क्षमता में वृद्धि करने तथा यथोचित वितरण की व्यवस्था के लिए होना चाहिए। तभी अच्छे शासन की स्थापना हो सकती है। दुर्गुण रहित शासन के लिए विनोबा ने चार आवश्यकताएँ बतायी हैं—योग्य एव क्षमता युक्त व्यक्तियों द्वारा जन-सेवा, व्यक्ति में आत्म-

निर्भरता एवं पारस्परिक सहयोग की भावना, अहिंसक सहयोग अथवा असहयोग, निष्ठापूर्वक किये गये प्रत्येक काम का समान नैतिक एवं वित्तीय मूल्य। यदि इसके विपरीत कोई व्यक्ति आचरण करता है तो जनमत उसे उचित कानूनी दण्ड दिलाने की व्यवस्था करे। नैतिक नियमों तथा जनमत की अवहेलना करने वालों को उच्च विचारों से युक्त व्यक्तियों की देखरेख में रखा जाय न कि शासकीय नियन्त्रण में।[33]

गांधीजी के अहिंसा सम्बन्धी विचारों को विनोबा ने अपने जीवन में उतारने का प्रयास किया है। गांधीजी के उपदेशों में घृणा, क्रोध, असत्य आदि को जीतने के लिए प्रेम, शान्ति एवं सत्य का मार्ग दर्शाया गया है। विश्व में व्याप्त अशान्ति का मूल कारण भय एवं अविश्वास है। रूस तथा अमेरिका इसके उ   है। विश्व के राज्य जितने अधिक समीप आते जा रहे हैं उतना ही पारस्परिक भय उनमें बढ़ता जाता है। विनोबा के अनुसार विज्ञान की प्रगति ने समय तथा दूरी को घटाकर विश्व को एक ही भौगोलिक इकाई में परिवर्तित कर दिया है। साथ ही विज्ञान ने सभ्यता के विनाश का मार्ग भी बना दिया है। हिंसा तथा घृणा की वृद्धि के साथ ही विश्व की समाप्ति सन्निकट है। अभी भी समय है कि इस विनाश की ओर बढ़ने के स्थान पर प्रेम एवं अहिंसा का मार्ग अपनाया जाय। महात्मा बुद्ध के सन्देश को सुनने और उस पर अमल करने की आवश्यकता पर बल देते हुए विनोबा ने दया तथा क्षमा जैसे शाश्वत मूल्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया है। गीता में प्राणिमात्र से घृणा न करने का सन्देश निहित है। वेद तथा साधु-सन्तों के उपदेश भी इसी सन्देश को बारबार प्रस्तुत करते हैं। किन्तु विनोबा के अनुसार इन उपदेशों को कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया। कारण यह है कि घृणा को प्रोत्साहित करने वाले तत्व ज्यों के त्यों विद्यमान है। विनोबा ने सटीक उदाहरण से इसे समझाने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार एक प्यासा व्यक्ति साफ पानी न मिलने पर गन्दे पानी से ही अपनी प्यास बुझाने की ठान लेता है उसी प्रकार विश्व भी घृणा के पीछे नहीं दौड़ता, घृणा से घृणा के कारण प्रेम नहीं करता, किन्तु कुछ समस्याओं का समाधान न मिलने पर घृणा का सहारा लेता है। यदि विश्व की समस्याओं का शान्तिपूर्ण हल ढूढ लिया जाय तो हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। विनोबा ऐसी शान्ति की खोज में है जो विश्व को अशान्ति से बचा सके। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक यह सम्भव नहीं होता तब तक विश्व अहिंसा की शक्ति में विश्वास नहीं करेगा।[34]

गांधीजी के अहिंसा एवं असहयोग के सिद्धान्त को हृदयगम कर विनोबा ने भी इन दोनों के महत्त्व को विस्तार से दर्शाया है। विनोबा के अनुसार नागरिक शिक्षा के अन्तर्गत व्यक्ति को राज्याज्ञा का पालन सिखाने के साथ ही साथ असहयोग एवं अहिंसक प्रतिरोध की भी शिक्षा दी जानी चाहिए। वे असहयोग एवं अहिंसक प्रतिरोध दोनों को पर्यायवाची मानते हैं तथा अहिंसक प्रतिरोध को अधिक महत्त्व देते हैं। यदि असहयोग से कार्य पूरा हो जाय तो प्रतिरोध की आवश्यकता नहीं होती। असहयोग में व्यक्ति अपना हाथ खींच लेता है ताकि विरोधी को स्वयं अपनी भूल-सुधार का अवसर प्राप्त हो सके। यदि यह सम्भव न हो तब ही राज्य के कानून को तोड़ने का सकल्प किया जाय। अहिंसक प्रतिरोध के लिए व्यक्ति में सविनय अवज्ञा, अनुशासन, निष्कपटता एवं क्रोध रहित होकर

दण्ड सहन करने की क्षमता होनी चाहिए। उचित प्रशिक्षण एवं शिक्षा से इन गुणों को विकसित किया जाना चाहिए। यद्यपि सुशासन के अन्तर्गत असहयोग अथवा प्रतिरोध का प्रयोग संयोगवश ही होता है फिर भी सामाजिक जीवन में उनका उपयोग जानना आवश्यक है। केवल राजनीतिक कारणों से ही नहीं अपितु परिवार, व्यवसाय एवं व्यक्तिगत सम्बन्धों में भी इनका उपयोग हो सकता है। अन्याय को आंख मूंद कर सहन करने अथवा अन्याय का उग्र विरोध करने इन दोनों मार्गों में से सहयोग एवं अहिंसा का मार्ग मध्यम मार्ग के रूप में है। यह मार्ग इन दोनों परिस्थितियों की तीव्रता को समन्वित करता है।[35]

विनोबा के अनुसार राज्य का कोई भी स्वरूप क्यों न हो, अहिंसक प्रतिरोध एवं असहयोग की रीति-नीति को जीवित रखना आवश्यक है। बाल्यकाल से ही इस बात की शिक्षा दी जाय कि माता-पिता के आज्ञा पालन के साथ-साथ आवश्यकता पड़ने पर उनकी आज्ञाओं का भी प्रतिकार किया जाय यदि उनकी आज्ञाएं अन्तःकरण के विरुद्ध हों। स्वयं माता-पिता द्वारा इस प्रकार का शिक्षण अपने बच्चों को दिया जाय। इसके लिए उचित जनमत जागृत किया जाय। मानवीय सिद्धान्तों की अवहेलना करने वाले परिवार, समाज तथा राष्ट्र के नियमों की अवहेलना करना अनुचित नहीं है। राज्य कितना भी पूर्ण क्यों न हो उस पर अत्यधिक आश्रित होना अथवा उसको अपनी निष्ठा समर्पित कर देना उचित नहीं है। यदि ऐसा राज्य स्थापित भी हो जाय जिसे व्यक्ति अपना सब कुछ सौंपकर निश्चिन्त हो जाय तब भी ऐसा राज्य मानवता का शोषक ही माना जाना चाहिए। मानवीय विकास की संभावनाएं ऐसे राज्य में समाप्त हो जाती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि एक अच्छा राज्य व्यक्ति में चेतना एवं स्वतन्त्र चिंतन का विकास करे ताकि आवश्यकता उपस्थित होने पर व्यक्तियों द्वारा अहिंसक असहयोग का प्रयोग राज्य को उचित मार्ग पर अग्रसर करने के लिए किया जा सके।[36]

विनोबा ने हिंसा के सिद्धान्त को मूर्खतापूर्ण बतलाया है। मानव इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि हिंसा पर आधारित साम्राज्य एक के बाद एक धूलिधूसरित होते गये हैं। हिंसा पर आधारित कोई भी शासन चिरस्थायी नहीं हो सकता। फिर भी हिंसा मानव मस्तिष्क के लिए आकर्षण बनी हुई है और हिंसा की असफलता के बावजूद हम उसकी सफलता के लिए आशान्वित रहते हैं। सत्य तो यह है कि हिंसा पर आधारित राज्य भी जनता के समर्थन (अहिंसा) की आशा करते हैं ताकि उनका शासन चिरस्थायी हो सके। अहिंसा ही एकमात्र सत्य है। हिंसा का प्रयोग निरन्तर बढ़ने वाला नशा है। व्यक्ति के द्वारा की गयी हिंसा के उत्तर में प्रतिहिंसा और भी अधिक तीव्र होती है और यह तीव्रतम होती हुई युद्धोन्माद में परिवर्तित हो जाती है। जबकि अहिंसा का पालन करने वाला व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को समाप्त करने अथवा कुचलने के स्थान पर उनके हृदय को प्रभावित कर परिवर्तन की अपेक्षा करता है। अहिंसा के विश्व में एक व्यक्ति की सफलता दूसरे व्यक्ति की भी सफलता है। अहिंसा का मार्ग सरल है। अहिंसा की लड़ाई युद्ध के मैदान में नहीं लड़ी जाती बल्कि हृदय में लड़ी जाती है। अहिंसा में परिपूर्ण जीवन त्याग और बलिदान का प्रतीक है। यह बलिदान निरन्तर है और इसमें विशेष प्रकार का आनन्द अनुभव होता है।[37]

विनोबा ने युद्ध को अहिंसा का प्रेरक बतलाया है। उनके विचार विस्मयकारी होते

हुए भी भारत की उस घटना का स्मरण दिलाते हैं जिसमें सम्राट अशोक ने युद्ध जनित विध्वंस एवं विनाश से द्रवित हो अहिंसा का पाठ सीखा था। विनोबा की भी यही धारणा है कि विश्व-युद्ध से होने वाले संहार को देखकर व्यक्ति एवं राष्ट्र युद्ध का अन्त करने का प्रयत्न करते हैं और वे अहिंसा के समीप पहुंचने का प्रयास करते हैं। विनोबा विश्व-युद्ध से उतने भयभीत नहीं जितने छोटे युद्धों एवं झगड़ों से। विश्व-युद्ध व्यक्ति को संकीर्णता की परिधि से बाहर कर उसे समस्त मानवता के लिए चिंतन करने को बाध्य करता है जबकि छोटे युद्धों का प्रभाव ठीक इसके विपरीत ही होता है। जहां विश्व-युद्ध अहिंसा की ओर बढ़ता हुआ चरण है वहां छोटे युद्ध अहिंसा को दूर धकेलने का प्रयास करते हैं। यह विश्व शांति के लिए विश्व-युद्ध से भी अधिक भयावह स्थिति है। हिंसा में निष्ठा रखने वाले राष्ट्र जहां विश्व-युद्ध को समाप्त करने की बात करते हैं वहां उनका सीमित युद्ध को चलाते रहने का स्वार्थ यह सिद्ध करता है कि वे विश्व-शांति अथवा अहिंसा के समर्थक नहीं हैं। अहिंसा का वातावरण बनाये रखने के लिए इन छोटे छोटे युद्धों को रोकना अत्यावश्यक है।[34] विनोबा के उपर्युक्त विचार आधुनिक समय की शीत-युद्ध की राजनीति पर करारा प्रहार है।

आर्थिक समानता की अवधारणा को विनोबा भावे ने अत्यधिक महत्त्व दिया है। आर्थिक समानता के बिना अच्छे समाज की कल्पना निरर्थक है। विनोबा ने भारत के प्राचीन जीवन में त्याग की भावना को समानता के आधुनिक आदर्श से सम्बन्धित करने का प्रयास किया है। आध्यात्मिक साधना के लिए भौतिक सुविधाओं एवं समृद्धि को त्यागना उचित माना गया है। अपरिग्रह, ग्रेड श्रम (ग्रेड लेबर) तथा वेतन की समानता के माध्यम से आर्थिक समानता का आदर्श स्थापित करने का प्रयास किया गया है। विनोबा इस दृष्टि से गांधीजी के पद चिह्नों पर अग्रसर होते दिखाई देते हैं। गांधीजी के सदृश, विनोबा की भी यही धारणा है कि आवश्यकताओं अथवा इच्छाओं को बहुगुणित करने के स्थान पर उनका परिसीमन करना चाहिए ताकि समाज में समन्वय एवं संतोष का वातावरण बना रहे। प्रकृति ने हमारी आवश्यकताओं के अनुरूप अनुपात में सब वस्तुओं को उत्पन्न किया है अतः प्रत्येक व्यक्ति द्वारा केवल अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुओं का उपभोग किया जाय, संग्रह न किया जाय, तो विश्व में कोई व्यक्ति क्षुधापीड़ित अथवा अन्य प्रकार से पीड़ित नहीं रह सकता। अपनी आवश्यकता से अधिक का अधिग्रहण अपराध है, चोरी है। अपरिग्रह एवं अस्तेय द्वारा समस्त सामाजिक एवं आर्थिक बुराइयों को दूर किया जा सकता है। विनोबा के अनुसार किसी भी वस्तु का उत्पादन स्वयं के निमित्त न होकर राष्ट्र एवं समाज के निमित्त मानना चाहिए। उत्पादन समाज अथवा राष्ट्र को अर्पित कर व्यक्ति स्वार्थ से ऊपर उठ जाता है। समाज इस उत्पादन को जब पुनः व्यक्ति को प्रत्येक की आवश्यकतानुसार वितरित करता है तब व्यक्ति में नवीन जीवनदायिनी शक्ति का संचार होता है। सहज में व्यक्ति तथा समष्टि की अन्योन्याश्रितता स्पष्ट हो जाती है।[35]

विनोबा के आर्थिक समानता सम्बन्धी विचारों का यह तात्पर्य नहीं कि वे पूर्ण समानता अथवा गणितीय समानता के पक्षपाती हैं। विनोबा गणितीय समानता के स्थान पर औचित्य पूर्ण अथवा ऐसी समानता चाहते हैं जैसी की हाथ की पांच अंगुलियों में होती है। पांचों अंगुलियां बराबर न होते हुए भी पूर्ण सहयोग से एक साथ मिलकर अनेक कार्य

सम्पादित करती हैं। अंगुलियों में अन्तर भी इतना अधिक नहीं कि छोटी अंगुली एक इंच लम्बी हो और सबसे बड़ी एक फुट लम्बी।[10] विनोबा के इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि यदि पूर्ण समानता असाध्य है तो असंतुलित असमानता भी हानिप्रद माननी चाहिए। इसके स्थान पर असमानता के माध्यम से समानता का प्रयोग होना चाहिए। वे समानता को विभेदक समानता भी कहते हैं अर्थात् ऐसी समानता जो भेदभावपूर्ण होते हुए भी औचित्य-पूर्ण हो। विनोबा ने उदाहरण देते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि जैसे माता अपने बच्चों को पाचन शक्ति, वय एवं आवश्यकतानुसार ही भोजन देती है वह भेदभावपूर्ण दिखाई देते हुए भी समानता का आदर्श माना जाना चाहिए। विनोबा शक्ति अथवा बल-प्रयोग द्वारा समानता की स्थापना स्वीकार नहीं करते। उनका उद्देश्य विभेदमूलक आत्मिक अथवा आध्यात्मिक समानता की स्थापना करने का है जो कि बिना दबाव के प्राप्त की जा सके।[11]

विनोबा ने गांधीजी के 'रोटी-रोजी' सिद्धान्त का अक्षरशः समर्थन किया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रयत्नों से (श्रम करके) अपना भोजन जुटाये। उद्देश्य धन का संग्रह करना न हो अपितु अपना भरण पोषण मात्र माना जाय। प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उत्पादन किया जाय और उत्पादनकर्त्ताओं में समानता की भावना रखी जाय तो श्रम की महत्ता एवं आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन-दोनों को प्रोत्साहन प्राप्त होगा। इसी प्रकार से वेतन की समानता का आदर्श भी प्रस्तुत किया गया है जिसमें मेहनत द्वारा किये गये कार्यों में बड़े छोटे का भेद न रखकर समान वेतन देने का उद्देश्य निहित है। विनोबा ने आर्थिक समानता, रोटी-रोजी तथा वेतन की समानता का आदर्श स्वीकार करते हुए भी इसे पूर्णतया प्रयोगात्मक आदर्श नहीं माना है। वे यह मानते हैं कि व्यक्ति में भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति की लालसा इतनी बलवती होती है कि अपरिग्रह अथवा श्रम-साम्य कार्य अथवा वेतन आदि की समानता के विचार को पूर्ण स्वीकृति मिलना असम्भव है। फिर भी आर्थिक भेदभाव मिटाने की दृष्टि से एक ओर गरीब और अमीर की खाई को बढ़ने से रोकना है तथा दूसरी ओर उसे पाटने का प्रयास भी करना है।[12]

आर्थिक भेदभाव मिटाने के लिए विनोबा ने सर्वोदय की विचारधारा का प्रतिपादन किया है। उनका यह नारा है कि भारत के गाँव आत्म-निर्भर हो जाय। वे अपने लिए उन वस्तुओं का उत्पादन करें जिनकी उन्हें आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति को रोटी तथा रोजी मिलती रहे। प्रत्येक व्यक्ति श्रम करे। ग्रामीण स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक देश की समस्त अर्थव्यवस्था संयुक्त परिवार के समान कार्यशील रहे। परिवार जैसा मधुर एवं सौहार्द्रपूर्ण वातावरण बनाया जाय। आर्थिक विकेन्द्रीकरण के साथ राजनीतिक एवं प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण भी लाया जाय। प्रत्येक गाव एक स्वशासित इकाई माना जाय। ग्रामीण जनता अपने कार्यों का निष्पादन स्वयं करे और स्वशासन के माध्यम से अपनी कठिनाइयों का निराकरण भी प्राप्त करें। स्थानीय स्तर पर पूर्ण स्वशासन का यह अर्थ नहीं कि केन्द्रीय सत्ता का महत्त्व समाप्त मान लिया जाय। केन्द्रीय सत्ता को बनाये रखना उसी प्रकार से आवश्यक है जिस प्रकार से रेल के डिब्बे में खतरे की जंजीर।[13] केवल आवश्यक होने पर ही केन्द्रीय सत्ता का नियन्त्रण स्वीकार किया जाय।

विनोबा आत्मविश्वास एवं ईश्वर के अधीन रहे हैं। वे शांति एवं अहिंसा द्वारा अज्ञान, आलस्य एवं हिंसा को जीतना चाहते हैं। उनके अनुसार गांधीजी द्वारा प्रतिपादित

शान्ति तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक नई सामाजिक व्यवस्था स्थापित नहीं कर दी जाती। केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने से यह कार्य पूरा नहीं होगा। आर्थिक, जातीय तथा सामाजिक शोषण से मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है। हिंसा का नग्न ताण्डव चारों ओर दिखाई देता है ऐसे में विनोबा मानव को पशुता से ऊंचा उठ कर विवेक, न्याय एवं व्यवस्था के अनुरूप चलने की प्रेरणा देते हैं। वे प्रेम के शासन में विश्वास करते हैं जिसमें हिंसा अथवा दबाव लेशमात्र भी नहीं। विनोबा ने इस कार्य की पूर्ति के लिए सर्वोदय का मार्ग चुना है। सर्वोदय की अवधारणा अत्यन्त जटिल है क्योंकि उसमें व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों प्रकार के उत्तरदायित्वों को माना गया है। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के अन्तर्गत व्यक्ति का चहुमुखी विकास एवं कल्याण निहित है। सामाजिक दृष्टि से सर्वोदय द्वारा सबके भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास का उद्देश्य प्रस्तुत किया गया है ताकि समस्त मानवता का विकास हो सके।[44]

वे ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं जो प्रेम तथा सत्य पर आधारित हो। वे व्यक्ति के आन्तरिक विकास पर बल देते हुए यह कामना करते हैं कि घृणा, शान्ति एवं सहयोग का वातावरण विश्व में निर्मित किया जाय। मनुष्य का नैतिक पुनर्जागरण आवश्यक माना गया है। केवल वातावरण ही नहीं अपितु व्यक्ति द्वारा स्वयं परिवर्तित होना आवश्यक है। मनुष्य के आध्यात्मिक एवं चारित्रिक गुण ही उसके भविष्य का निर्माण करते हैं। प्रगति के साथ मानव का अंतराल भी परिवर्तित होना चाहिए। बाह्य मतभेदों का मूल आन्तरिक कलह है अतः मानव के आन्तरिक एवं बाह्य विकास के लिए सर्वोदय समाज की स्थापना उपयोगी मानी गयी है।[45]

विनोबा ने भारत की पंचवर्षीय योजनाओं के संदर्भ में 1951 में कहा था कि हमारा संविधान भारत के प्रत्येक नागरिक को शासन द्वारा रोटी-रोजी दिलाने की व्यवस्था का प्रावधान रखता है किन्तु योजना में इस तरह की कोई चर्चा नहीं है। योजना का उद्देश्य सेना का विस्तार एवं भारी उद्योगों की स्थापना है न कि रोजगार की व्यवस्था करना। आवश्यकता यह है कि पहले सबको रोजगार दिलाने की व्यवस्था की जाय और बाद में योजनाएं बनायी जायें। राजनीतिक दृष्टि से यह बात कितनी भी अखरने वाली लगती हो किन्तु वास्तविक उद्देश्य यही होना चाहिए। यदि शासन को यह कार्य असंभव दिखाई दे तो ऐसे शासन की आवश्यकता नहीं है।[46] इसी प्रकार से परिवार-नियोजन[47] के बारे में विनोबा का कहना है कि परिवार की संख्या निर्धारित करने का कार्य राज्य का नहीं है। शासन का उत्तरदायित्व खाद्य-पदार्थ उपलब्ध कराना है, इससे अधिक नहीं। जापान तथा इंग्लैंड में जन-संख्या की समस्या भारत से कम नहीं है। वास्तविकता यह है कि पृथ्वी पर जनसंख्या से अधिक दबाव पाप का होता है। विनोबा के अनुसार जनसंख्या नियंत्रित करने के स्थान पर व्यक्ति को आत्मनियंत्रण सिखाना चाहिए।[48]

विनोबा ने खादी एवं ग्रामोद्योग को प्रोत्साहित करने का आह्वान किया है। वे खादी तथा ग्रामोद्योग के माध्यम से भारत में व्याप्त बेरोजगारी की समस्या का अन्त सम्भव मानते हैं। ग्रामोद्योग की स्थापना कर वे व्यक्ति को पैसे की भूख से बचाना चाहते हैं। जब प्रत्येक आवश्यक वस्तु गांव में ही उत्पादित होने लग जाय तो फिर पैसे की आवश्यकता नहीं रहेगी। प्रत्येक व्यक्ति विनिमय एवं पारस्परिक सहयोग से उन्हें प्राप्त

में बाट लेगा। विनोबा के अनुसार कुटीर-उद्योगों का ह्रास नहीं हुआ अपितु उन्हें समाप्त किया गया है। बड़ी-बड़ी मिलों की स्थापना कर गृह- उद्योगों को समाप्त किया जाता है। हम पहले बेरोजगारी फैलाते और बाद में उसका हल ढूंढने का प्रयास करते हैं। पहले व्यक्ति को रोजगार दिया जाय, बाद में आवश्यकता हो तो मशीनीकरण किया जाय। मशीन मानव को बेकार बनादे यह विनोबा को स्वीकार नहीं।[49]

विनोबा ने सर्वोदय की विचारधारा को जीवन के आध्यात्मिक पक्ष से जोड़ दिया है। वे राजनीति में शक्ति तथा प्रभाव के क्षेत्र का परिसीमन करने के लिए उसे जीवन के उदात्त पक्ष से जोड़ना और राजनीति को मात्र की विचारधारा में परिवर्तित करना चाहते हैं। सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए राजनैतिक क्रियाकलापों की अनिवार्यता मानते हुए भी विनोबा ने समाज-सेवा को राजनीति से अधिक महत्त्व दिया है। जन सामान्य के कल्याण के लिए तथा जनता जनार्दन की सेवार्थ पारस्परिक सद्भाव, स्वार्थ तथा राजनीतिक शक्ति का प्रलोभन त्यागने का आदर्श सर्वोदय का प्रमुख आधार है। गांधीजी ने पूर्ण स्वराज की स्थापना का आदर्श प्रस्तुत किया है। यह आदर्श स्वराज को लक्ष्य मानकर चलने से प्राप्त नहीं हो सकता। लक्ष्य के रूप में स्वराज की प्राप्ति मानवीय प्रेरणा एवं विकास को अवरुद्ध करती है। आदर्श के रूप में पूर्ण स्वराज की मान्यता मानव विकास की अविरल धारा के समान है। बाह्य प्रेरक तत्वों से भी अधिक शक्तिशाली आन्तरिक आत्मप्रेरणा है। आत्मप्रेरणा से मानव सेवा का व्रत एवं तदनुसार कर्म सर्वोदय को इतिहासवाद तथा जीवन के काल-विभाजन के क्रम से मुक्त रखता है। सर्वोदयवाद लक्ष्य का कर्म से स्वतन्त्र नहीं मानता। जिस प्रकार से भविष्य वर्तमान से पृथक् नहीं हो सकता उसी प्रकार से लक्ष्य तथा भविष्य को भी मानव-अस्तित्व से पृथक् नहीं किया जा सकता। मानव-अस्तित्व की सार्थकता आत्मिक आत्मानुभूति में निहित है और सर्वोदय इस मार्ग को प्रशस्त करते हुए आत्मानुभूति को सामाजिक आत्मानुभूति से एकाकार करने में समर्थ है। विनोबा के अनुसार जो यह कहते हैं कि सत्ययुग अभी आना शेष है वे साम्यवादी हैं। परम्परावादी तथा साम्यवादी दोनों ही सत्ययुग में निष्ठा रखते हैं। परम्परावादी बीते हुए सत्ययुग का वर्णन करते हैं तो साम्यवादी आने वाले सत्ययुग का स्वप्न देखते हैं। किन्तु विनोबा न तो भूतकाल में विश्वास करते हैं और न भविष्य में। न तो भूतकाल हाथ में है और न भविष्य। केवल वर्तमान ही अपने हाथ में है और इस कारण से वर्तमान में ही सत्ययुग को वास्तविकता प्रदान करनी है।[50]

विनोबा ने भारतीय राजनीति के नैतिक उद्देश्यों एवं मानवीय मूल्यों को समर्थन देते हुए राजनीति को लोकनीति में परिवर्तित करने का अभियान चलाया है। वे साम्यवादी देशों को राजनीतिक स्वार्थ पर अपनी व्यवस्था आधारित करने के कारण निम्न श्रेणी में रखते हैं। उनकी दृष्टि में जनता के शासन का अधिक महत्त्व है और वह लोकनीति पर आधारित है। वे राजनीति को लोकनीति में परिवर्तित करना चाहते हैं। लोकनीति में ही गांधीजी के रामराज्य की कल्पना को साकार किया जा सकता है। लोकनीति में राजनीति के मत्स्य सिद्धान्त का प्रभाव नहीं है। राजनीति शोषण, षड्यन्त्र तथा अन्य अनैतिक कार्यों को प्रोत्साहित कर सार्वजनिक जीवन में मानवीय मूल्यों को विगलित करती है। सत्तातुर व्यक्तियों द्वारा राजनीतिक शक्ति का प्रयोग अपने विरोधियों को कुचलने

में किया जाता है। राजनीति में मानव के शोषण का प्रतिकार करने का छद्म रखा जाता है। वास्तविक अर्थों में राजनीति स्वयं जनसाधारण का शोषण करती है। किन्तु लोकनीति जनसेवा पर आधारित है। लोकनीति मानव को सामाजिक एवं राजनीतिक क्रियाकलापों में प्रतिष्ठित करने का मार्ग है। लोकनीति सत्याग्रह की प्रक्रिया पर आधारित है। सार्वजनिक कार्यों में आध्यात्मिक भावना का सचार लोकनीति से ही सम्भव है। लोकनीति का विकास ही जनता में राजनीति के प्रति तिरस्कार की भावना उत्पन्न कर सकता है। लोकनीति सर्वोदयवाद पर आधारित है। इसमें लोकतन्त्र, धर्मनिरपेक्षता एवं समाजवाद के आदर्श अन्तर्निहित हैं। पंचायती राज-व्यवस्था के माध्यम से लोकनीति गांव से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक जनता का शासन स्थापित कर लेगी। शासन के विकेन्द्रीकरण का यही एक मार्ग है। ग्राम-स्वराज्य की कल्पना में पूंजीवाद, उद्योगीकरण तथा शहरीकरण का सशक्त प्रतिकार विद्यमान है।[51]

विनोबा की सर्वोदय-योजना में राजनीति की दण्डशक्ति को लोकनीति की जन-शक्ति में परिवर्तित करने का उद्देश्य प्रस्फुटित हुआ है। विनोबा ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण को शहरीकरण का अन्त करने तथा उसके स्थान पर भारत के सहस्रों गांवों में बसे भारतीयों के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक विकास के लिए प्रयुक्त किया है। वे ग्रामीण भारत को दलगत राजनीति से मुक्त रखना चाहते हैं ताकि ग्रामीण जनता सच्चे लोकसेवकों का निर्वाचन कर सके। भारत में सच्चा लोकतन्त्र तभी स्थापित हो सकता है जब निष्ठा से ग्रामों के अभ्युदय का कार्य किया जाय। विनोबा ने इसी उद्देश्य से भूदान-कार्यक्रम के साथ-साथ ग्रामोत्थान का सकल्प किया है।[52] विनोबा का भूदान-आन्दोलन भारत के भूस्वामित्व की व्यवस्था को नवीन दिशा देने के लिए प्रारम्भ किया गया है। विनोबा सम्पत्ति के अत्यधिक सग्रह तथा उसके चन्द हाथों में केन्द्रित होने को सामाजिक एवं आर्थिक सन्तुलन का शत्रु मानते हैं। उनका यह विचार है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के पश्चात् शेष भूमि भूमिहीनों में वितरित करने को उद्यत हो जाय तो अनेक भूमिहीन मजदूरों एवं निर्धनों को जीवनयापन का स्वतन्त्र एवं निश्चित साधन प्राप्त हो जायगा। वे भूपति से अपनी भूमि का कुछ भाग भूमिहीनों में वितरित करने के लिए मांगते हैं। यही भूदान कार्यक्रम का लक्ष्य है। इससे भूमिहीनों में भूमि वितरित होगी और भूमि का समुचित वितरण होकर सर्वोदयी समाजवादी समाज की स्वतः स्थापना होती दिखाई देगी। गांधीजी ने अपरिग्रह का विचार इसी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया था कि व्यक्ति कम से कम सग्रह करे। विनोबा का भूदान-आन्दोलन भी भूपतियों के विवेक को प्रभावित कर साम्ययोग की स्थापना करना चाहता है ताकि समाज में अधिकतम समानता स्थापित हो सके और गरीब (हैवनाट्स) तथा अमीर (हैव्स) की खाई पाट दी जाय।[53]

भूदान-आन्दोलन ने भूमि का अन्तिम अधिकार ईश्वर में माना है। 'सबै भूमि गोपाल की' इस मन्त्र के साथ वे व्यक्ति के सम्पत्ति के प्रति मोह को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध हैं ताकि व्यक्तिगत स्वामित्व का दम्भ छोड़कर सम्पत्ति का सार्वजनिक उपयोग हो सके। विनोबा ने तेलगाना में जिस प्रकार से भूदान यज्ञ प्रारम्भ किया था वह आज भी समाजवाद तथा साम्यवाद के लिए बहुत बड़ी चुनौती है। साम्यवाद वर्ग-संघर्ष के द्वारा सम्पत्ति के स्वामित्व को चुनौती देकर नवीन व्यवस्था स्थापित करता है। विनोबा प्रेम

द्वारा वर्ग-भेद मिटाकर अहिंसा तथा अपरिग्रह के माध्यम से साम्य स्थापित करना चाहते हैं। वे समाज में व्यक्ति के स्वत: आत्मनिग्रह द्वारा ऊँचनीच का भेद मिटाना चाहते हैं। साम्यवाद का विकल्प विनोबा का सर्वोदयी विचार है। रूस तथा अन्य साम्यवादी देशों ने शक्ति तथा भय से जिन भूमिसुधारों को अपने देशों में क्रियान्वित किया और जिस प्रकार से भूमि के स्वामित्व को समाज में हस्तान्तरित किया वह कार्य विनोबा हृदय-परिवर्तन द्वारा सुगमता से करते हुए दिखाई देते हैं।[54]

भूदान-आन्दोलन के साथ-साथ विनोबा ने ग्रामदान, सम्पत्तिदान, श्रमदान, जीवनदान आदि कार्यक्रम भी चलाये हैं। ग्रामदान से उनका तात्पर्य समस्त भूमि के व्यक्तिगत अधिकार को ग्राम को समर्पित कर पुन: प्रत्येक ग्रामवासी को उसकी आवश्यकता-नुसार भूमि का वितरण है। सम्पत्तिदान नगर के सम्पत्तिशालियों द्वारा समाजहित में अतिरिक्त सम्पत्ति त्यागने का कार्यक्रम है। यह अतिरिक्त सम्पत्ति जरूरतमन्द की सहायता में खर्च की जाय। निर्धन व्यक्ति जिसके पास भूमि तथा सम्पत्ति नहीं है वह विनोबा के कार्यक्रम में श्रमदान दे सकता है। श्रमदान द्वारा वह अपने श्रम का कुछ अंश सार्वजनिक जीवनोपयोगी कार्यों में लगाये। शारीरिक श्रम द्वारा वह अपनी सामर्थ्यानुसार योगदान दे सकता है। विनोबा ने इसके अतिरिक्त ऐसे व्यक्तियों के लिए भी मार्ग तैयार किया है जो उनके समान समस्त जीवन सामाजिक सेवा तथा सर्वोदय-कार्यक्रमों में व्यतीत करना चाहते हैं। इसे जीवनदान की संज्ञा दी गयी है। जयप्रकाश आदि सर्वोदयी कार्यकर्ता जीवनदान के उदाहरण हैं। विनोबा ने बुद्धिजीवी तथा श्रमजीवियों के अन्तर को मिटाने के लिए बुद्धि जीवियों से यथाशक्ति सामाजिक सेवा में प्रवृत्त होने का आग्रह किया है। बुद्धिजीवियों द्वारा अपने समय का कुछ भाग जनसेवा में लगाने का कार्य उनके परोपजीवी लाञ्छन को परिष्कृत कर सकता है।[55]

विनोबा ने गांधीजी के क्रान्ति एवं शान्ति के सन्देश को जीवित रखने तथा उसे यथार्थ रूप देने में अपना जीवन समर्पित कर दिया है। गांधीजी के विचारों की आदर्श-वादिता को रचनात्मक कार्यक्रम में परिवर्तित कर विनोबा ने अपने कथन की पुष्टि की है कि गांधीजी के विचार व्यवस्थित न होते हुए भी सही चिंतन की शक्ति से युक्त हैं।[56] विनोबा ने मानवता को ... के नियम से प्रतिबद्ध करने का प्रयास किया है। वे प्रेम तथा सत्य के आधार पर ... सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के इच्छुक हैं। सामाजिक समानता एवं न्याय के प्रतीक विनोबा ने भूदान, ग्रामदान आदि के द्वारा साम्यवाद का धार्मिक विकल्प प्रस्तुत किया है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रखर प्रचारक तथा खादी ग्रामोद्योग के समर्थक विनोबा ने भारत की निर्धन जनता को "शान्ति सेना" में परिवर्तित कर जनता-राज के प्रजातन्त्र मंत्र का सफल दिया है।[57]

□□

टिप्पणियाँ

1. देखिये सुरे० राम, विनोबा एण्ड हिज मिशन (अखिल भारत सर्व सेवा संघ, काशी, 1954) पृ. 10-15

2. वही, पृ. 20-24
3. जयप्रकाश नारायण, प्रिज़न डायरी, पृ 131
4. महादेव गारोलकर, मे पी. विजिडेटेड, (एस चन्द एण्ड को., नई दिल्ली, 1977) पृ. 89-91
5. विनोबा भावे, स्वराज्य शास्त्र, पृ 19-95
6. विनोबा भावे. सर्वोदय चर्चा, पृ. 20-21
7. वही, पृ 30
8. वही, पृ. 31-32
9. हरिजन, 9 फरवरी, 1952
10. विनोबा भावे, भूदान यज्ञ, पृ. 66-67
11. वही, पृ 67-68
12. वही, पृ 68-69
13. हरिजन, 14 अगस्त, 1954
14. वही, 19 जून, 1949
15. वही
16. वही
17. वही, 15 दिसम्बर, 1951
18. वही, 7 जुलाई, 1951
19 वही, 26 दिसम्बर, 1948
20. वही, 13 फरवरी, 1949
21. वही
22 वही, 17 अप्रैल, 1949
23. वही, 2 मई, 1953
24 वही, 6 मार्च, 1954
25. वही, 29 मार्च, 1952
26 वही, 23 मई, 1953
27. महादेव गारोलकर, मे पी विजिडेटेड, पृ. 85-86
28 हरिजन, 30 जून, 1951
29 वही, 26 जनवरी, 1952
30 देखिये लैन्ज़ा डेल वास्टो, गांधी टु विनोबा, (राइडर एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1956) पृ. 215
31. वही, पृ 211-212
32 वही, पृ. 213-214
33 वही, पृ. 209-211
34. देखिये हरिजन, जुलाई 3, 1954
35 लैन्ज़ा डेल वास्टो, पृ 207-208
36 वही, पृ 208
37. वही, पृ. 214
38. देखिये हरिजन, जनवरी 8, 1950
39 विनोबा भावे, भूदान यज्ञ, (नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1953) पृ. 66-69
40 देखिये हरिजन, जनवरी 26, 1952
41 वही, दिसम्बर 20, 1952
42 देखिये अप्पादोराय, इण्डियन पोलिटिकल थिंकिंग, पृ. 78
43 वही, पृ. 126
44. दादा धर्माधिकारी, सर्वोदय-दर्शन, (अखिल भारतीय सेवा संघ, काशी, 1957) पृ. 225-233

45. विनोबा भावे, सर्वोदय के आधार, (अखिल भारतीय सेवा संघ, काशी, 1956) पृ. 60-65
46. लेजा डेल वास्टो, पृ 215-216
47. वही, पृ. 216
48 वही
49. वही, पृ 217-218
50 देखिये मनोरंजन झा, मोडर्न इण्डियन पोलिटिकल थॉट. (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1975) पृ. 285
51. जयप्रकाश नारायण, सोशलिज्म, सर्वोदय एण्ड डेमोक्रेसी, (बिमला प्रसाद द्वारा सम्पादित, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई 1964) पृ. 126-128
52. विनोबा भावे, भूदान टु ग्रामदान, (अखिल भारत सेवा संघ, तंजौर, 1956) पृ. 41
53. विनोबा भावे, भूदान यज्ञ, प्रथम खण्ड (अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, काशी, 1956) पृ. 128-133
54. वही, पृ. 131, 243-246
55. जयप्रकाश नारायण, पृ. 123-131 तथा 132-171
56. देखिये के. जी. मशरूवाला, गांधी एण्ड मार्क्स, (नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1954) में विनोबा द्वारा लिखित प्रस्तावना
57. पी नागराज राव, कान्टेम्पोरेरी इण्डियन थॉट, पृ. 131-133

अध्याय 27

राष्ट्रवाद एवं स्वराज

आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन में राष्ट्रवाद तथा स्वराज इन दो अवधारणाओं का विशिष्ट महत्त्व है। राष्ट्रवाद तथा स्वराज इन दोनों का सुन्दर समन्वय दासता-पीड़ित भारत की मुक्ति के लिए राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक प्रबुद्धता का सन्देशवाहक रहा है। राष्ट्रवाद के प्रसार एवं प्रभाव के अन्तर्गत स्वराज्य-प्राप्ति की लालसा बलवती होती गयी और अन्त में राष्ट्रवादी विचारधारा ने ही भारत को स्वतन्त्रता दिलवायी थी। भारतीय चिंतकों में मानववादी रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा मार्क्सवाद के प्रभाव के अन्तर्गत मानवेन्द्रनाथ रॉय राष्ट्रवाद के आलोचक रहे हैं। ठाकुर ने भारत की जाति-प्रथा तथा सामाजिक संकीर्णता के आधार पर राष्ट्रवाद के प्रसार को असम्भव बताया है, जब कि मानवेन्द्रनाथ रॉय राष्ट्रवाद को मार्क्सवादी श्रमिकों तथा सर्वहारा के अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व के मार्ग में रुकावट मानते हैं। दोनों ही विचारक यथार्थ से दूर रहे हैं। इनके विपरीत प्रायः समस्त आधुनिक भारतीय सामाजिक व राजनीतिक विचारकों ने राष्ट्रवाद के महत्त्व को यथाधिक रूपेण स्वीकार करते हुए उसे स्वराज्य-प्राप्ति का एक मात्र साधन माना है।

अवधारणात्मक दृष्टिकोण से राष्ट्रवाद के विविध रूप आधुनिक भारतीय चिन्तन में प्रकट हुए हैं। पाश्चात्य राष्ट्रवादी विचारधारा में राजनीतिक एवं आर्थिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है। भारत में भी राष्ट्रवाद को राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से महत्त्व देने वाले अनेक विचारक हैं किन्तु राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करने वाले विचारकों ने राष्ट्रवाद को एक नवीन दिशा दी है, जो कि भारतीय चिन्तन की मौलिक प्रवृत्ति की परिचायक माना जा सकती है। स्वामी विवेकानन्द, विपिन चन्द्र पाल तथा अर-विन्द घोष का आध्यात्मिक राष्ट्रवाद एक नवीन अनुभूति है। पाश्चात्य राष्ट्रवादी चिंतन की संकीर्णता को भारत ने ग्रहण नहीं किया। विश्व बन्धुत्व तथा सर्वहितकारी प्रयोजनों के प्राचीन भारतीय आदर्श ने राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रीयता का बाधक न बना कर उसका सहयोगी बना दिया है। राष्ट्रवाद के सुप्रसिद्ध दार्शनिक मत्सीनी के प्रभाव में रहते हुए भी भारतीय चिंतकों ने मानववादी विचारधारा को तिलांजलि नहीं दी अपितु व्यक्तिगत अधिकारों तथा नैतिक मूल्यों को स्वीकार करते हुए व्यक्ति के कर्त्तव्यों के साथ-साथ उसके अधिकारों का भी ध्यान रखा है। एक ओर जहाँ राष्ट्रवाद को आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक आधारों पर प्रकल्पित किया गया है, वहाँ दूसरी ओर स्वराज्य के भी भिन्न-भिन्न अर्थ प्रस्तुत किये गये हैं। भारतीय राष्ट्रीय चिंतन में उदारवादियों, उग्रवादियों तथा प्रतिवादियों ने स्वराज्य को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा है। यदि उदार-वादियों ने भारत को औपनिवेशिक स्वराज मिलने मात्र में सन्तुष्टि प्रकट की है, तो उग्र-

वादियों ने औपनिवेशिक स्वतन्त्रता तथा पूर्ण स्वतन्त्रता के बीच का मार्ग अपनाया है। अतिवादियों ने पूर्ण स्वतन्त्रता को ही लक्ष्य मानकर सशस्त्र क्रान्ति का मार्ग प्रस्तुत किया है। इस तरह राष्ट्रवाद तथा स्वराज्य के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न स्वरूपों तथा अर्थों को प्रस्तुत करते हुए भी मूल रूप में भारतीय चिन्तकों का ध्येय स्वतन्त्रता प्राप्ति में साकार हुआ है।

राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि राष्ट्रीयता की भावना भारत में आरम्भ से ही रही है। भारतीय राष्ट्रीयता को किसी आंग्ल-इतिहासकार अथवा राजनीतिक चिंतक के प्रमाण-पत्र की आवश्यकता नहीं हुई। अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के उत्कर्ष के दिनों में भारत को एक राष्ट्र तथा एक पृथक् भौगोलिक अस्तित्व की गरिमा प्राप्त थी। समस्त भारत का एकीकरण करने वाले अंग्रेज शासक एकता के प्रथम संदेश-वाहक नहीं थे। मौर्यकाल तथा गुप्तकालीन भारत में चक्रवर्ती सम्राट का अस्तित्व था तथा समस्त भारत एक सूत्र में बन्धा हुआ था। बाद में विदेशी आक्रमणकारियों ने तथा भारतीयों के स्वयं की अज्ञानता तथा आलस्य की वृत्ति ने भारत को अन्धकार व दासता के गर्त में ढकेल दिया। इन विदेशी आक्रमणकारियों में से अधिकांश भारतीय रंग में रंग गये। यहाँ तक कि मुस्लिम शासक भी भारतीय बन गये तथा भारत को अपना वतन मानने लगे। केवल एक ही आक्राता ऐसा आया जो कि विज्ञान, भौतिकता, ईसाइयत तथा विशिष्ट संस्कृति के नाम पर भारत का हर प्रकार से शोषण तथा अपमान करने को उद्यत था। प्रारम्भ में व्यापारी बन कर आने वाले इस आक्रांता ने शनैः शनैः अपना असली रूप दिखाया तथा भारत का शासक बन बैठा। भारत में राष्ट्रवाद का आधुनिक स्वरूप इसी अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत बौद्धिक पुनर्जागरण एवं दासता से मुक्ति के प्रयास में परिलक्षित है। भारतीय पुनर्जागरण के नैतिक एवं आध्यात्मिक सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य शिक्षा, अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों तथा ईसाई धर्म से भारतीय पुनर्जागरण तथा सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन पर पड़ने वाले प्रभावों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताया गया है। पाश्चात्य प्रभाव को मानने से अस्वीकृति नहीं है, किन्तु भारतीय चिन्तकों का एक बहुत बड़ा समुदाय भारतीय संस्कृति, धर्म-चेतना एवं भारतीय आधारों पर ही आगे बढ़ना श्रेयस्कर मानता रहा है। भारतीय बौद्धिक पुनर्जागरण के दो प्रकार हमारे सामने हैं—एक सुधारवादी तथा दूसरा पुनरभ्युदय-वादी। जहाँ सुधारवादियों ने पाश्चात्य प्रभाव को आत्मसात् करते हुए पाश्चात्य पद्धतियों से कार्य करना स्वीकार किया है वहाँ पुनरभ्युदयवादियों ने पाश्चात्य प्रभाव को भारतीय चिन्तन से मिलाकर एक कर दिया है और भारत के स्वर्णिम अतीत को ध्यान में रख भावी भारत के सुखद स्वप्न को संजोया है।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से राष्ट्रवाद एक मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक विचार है। राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए एकता का आधार प्राप्त होना आवश्यक है। भाषा, जाति, धर्म, संस्कृति, समान ऐतिहासिक धरोहर, भौगोलिक एकता तथा आर्थिक हित आदि ऐसे कई तत्व हैं जिनकी सहायता से राष्ट्र का विचार उत्पन्न होता है और अन्त में राष्ट्र की भावना उत्पन्न होती है। एक बार इस भावना के उत्पन्न होने के बाद फिर यह निरन्तर बलवती होती जाती है और वह राष्ट्र स्वतन्त्रता प्राप्त करता है और उसे बनाये रख सकता है। भारत में विभिन्नता के अनेक कारण रहे हैं, फिर भी धार्मिक एवं ऐति-

हासिक कारणों से राष्ट्रीयता की भावना प्रारम्भ से ही बनी रही है। समय-समय पर इस भावना को जागृत करने की सामग्री मिलती रही है। मुगलकाल में महाराणा प्रताप तथा छत्रपति शिवाजी के समय राष्ट्रीय भावना की जागृति के अवसर उपस्थित हुए। इससे राष्ट्रीय विचारधारा में तेजी आयी। ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध नव जागरण के अवसर फिर से उत्पन्न हुए तथा 1857 में फिरंगियों को भगाने का प्रयत्न इसी राष्ट्रवाद की भावना का कारण बना। इसके बाद धर्म तथा समाज-सुधार-आंदोलनों ने इसे निरंतर बल प्रदान किया तथा यह विचारधारा बल प्राप्त करती गयी।

भारतीय बौद्धिक पुनर्जागरण में राष्ट्रवाद के पूर्ण दर्शन दयानन्द सरस्वती के विचारों में होते हैं। यद्यपि राजा राममोहन राय 'आधुनिक भारत के जनक' माने गये हैं फिर भी उन पर पाश्चात्य प्रभाव अधिक रहा एवं वे ईसाइयत के प्रभाव से अपने को मुक्त करने का निरन्तर संघर्ष करते रहे। उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज भारतीय राष्ट्रवाद का पहला प्रतीक है, पूर्ण प्रतीक नहीं। राजा राममोहन राय द्वारा जहाँ एक ओर अंग्रेजों से मैत्री, उनके द्वारा भारत में बसने तथा भारत की शिक्षा, कानून तथा उद्योगों में पूरी तरह से सहायता एवं मार्ग-दर्शन का आह्वान उनकी पाश्चात्य भक्ति का प्रतीक है, वहाँ उनके द्वारा सामाजिक सुधारों को लागू करने का विचार जो कि सती-प्रथा, विधवा एवं बालविवाह से सम्बन्धित है उनकी सुधारवादी प्रवृत्ति का द्योतक है। दयानन्द सरस्वती पहले राष्ट्रवादी हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित वेदों की महानता का विचार भारतीयों में आत्म विश्वास जगाने का आधुनिक समय में प्रथम प्रयास था। भारतीयों में अपने अतीत के प्रति श्रद्धा तथा अपने धर्म के प्रति महत्ता का भाव पैदा कर उन्होंने प्रत्येक भारतीय को गर्व से मस्तक ऊँचा करके चलने की प्रेरणा दी। यह कार्य कोई और सम्पादित नहीं कर सकता था। उन्होंने संस्कृत व हिन्दी भाषा के माध्यम से अपने उपदेश दिये तथा हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का पद प्रदान करके हमारे राष्ट्रीय संग्राम को अपनी स्वयं की राष्ट्रीय भाषा दी। ईसाई धर्म प्रचारकों तथा कट्टर पन्थी मुसलमानों से हिन्दू-धर्म की रक्षा करते हुए न केवल हिन्दू-धर्म की महानता का ही उन्होंने संदेश दिया अपितु अछूतोद्धार का कार्य कर भारतीय सामाजिक कुरीतियों को ध्वस्त करने में सहायता दी। उन्हीं के सद् प्रयत्नों से अंग्रेजों द्वारा प्रोत्साहित ईसाई धर्म प्रचारकों के धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी देश द्रोही कार्य को चुनौती दी गयी तथा उनके योग्य शिष्य लाला लाजपतराय ने हजारों हिन्दू-अनाथ बच्चों तथा स्त्रियों को अकाल एवं महामारी के समय ईसाइयों के चंगुल से बचाया। आर्यसमाज केवल धर्म-सुधार तथा समाज-सुधार-आन्दोलन ही नहीं था। यह एक ऐसा राष्ट्रीय आंदोलन था जिसने भारत की बहुसंख्यक जनता में पौरुष पैदा कर उन्हें विदेशी दासता का प्रतिकार करने के लिए एक नवीन राजनीतिक विकल्प सुझाया। आधुनिक समय में हिंद-स्वराज्य की प्रेरणा स्वामी दयानन्द सरस्वती की देन है। भारत में स्वराज्य की कल्पना को पुनः साकार करने वाले वे प्रथम आधुनिक भारतीय चिंतक हैं। उनके राष्ट्रवाद तथा स्वराज सम्बन्धी विचारों से तिलक, लाजपतराय, श्यामजी कृष्ण वर्मा, अरविन्द घोष आदि ने प्रेरणा ली है।

स्वामी विवेकानन्द भी राष्ट्रवाद के अग्रदूतों में हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक विचार राजनीतिक चिन्तन को एक अनुपम देन है। वे धर्म को

ही हर वस्तु का आधार मानते हैं। उनकी स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार स्वराज्य का प्रतीक है। वे आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता के प्रतिपादक हैं। उनके विचारों से भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलनकारियों को विशेष प्रेरणा मिली है। उन्होंने राष्ट्रवाद के व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही पक्षों का समन्वय प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार के विचार स्वामी रामतीर्थ ने भी प्रस्तुत किये हैं। श्रीमती एनीबेसेन्ट ने भी राष्ट्र को एक आध्यात्मिक सत्ता माना है। उन्होंने राष्ट्र को ईश्वरीय अभिव्यक्ति माना है। श्रीमती बेसेन्ट के अनुसार यदि राष्ट्र की स्वयं की भूमि, सरकार आदि भी नष्ट हो जायें, तब भी राष्ट्र धर्म के आधार पर ही जीवित रह सकता है। वे भारत को एक निरन्तर राष्ट्र के रूप में मानती थीं और उनका यह निष्कर्ष था कि भारत की राष्ट्रीयता अंग्रेजों की देन नहीं है। राष्ट्र के अवयवी आधार को स्पष्ट करते हुए व्यक्ति तथा राष्ट्र के परस्पर सम्बन्धों को उन्होंने स्पष्ट किया। किन्तु वे राष्ट्रवाद को सामाजिक विकास की एक अवस्था से अधिक मानने को तैयार नहीं थीं। वे राष्ट्रवाद की पूर्णता विश्व बन्धुत्व के आदर्श में ही मानती थीं।

उदारवादी चिन्तकों में दादाभाई नौरोजी ने राष्ट्रवाद को आर्थिक आधार प्रदान किया। अंग्रेजी दासता के अन्तर्गत भारतीय जनता की आर्थिक दुर्दशा का परिचय प्रस्तुत कर उन्होंने भारत के आर्थिक शोषण के प्रति जनता की आँखें खोल दीं। अंग्रेज शासकों की अप्राकृतिक वित्तीय नीति को 'निर्गम-सिद्धांत' के द्वारा स्पष्ट कर भारतीयों के आर्थिक तथा राजनीतिक प्राकृतिक अधिकारों की मांग प्रस्तुत की। भारतीय जनता की दरिद्रता के लिए अंग्रेजी शासकों को उत्तरदायी ठहराते हुए नौरोजी ने आर्थिक राष्ट्रवाद का आधार प्रस्तुत किया। अपने कलकत्ता-कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में स्वराज का आह्वान करते हुए देश में स्वशासन की रूपरेखा प्रस्तुत की। यद्यपि उनके विचारों का स्वराज इंगलैण्ड अथवा उनके उपनिवेशों में प्रचलित स्वराज जैसा ही था।

महादेव गोविन्द रानाडे ने अपने लेखन में राष्ट्रवाद को प्रान्तीयता से प्रारम्भ कर सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्रवाद तक पहुंचा दिया। मराठों के इतिहास को भारतीय राष्ट्रीयता का स्रोत मानते हुए महाराष्ट्र की धर्म, भाषा, नस्ल तथा साहित्य सम्बन्धी एकता को सारे भारत के राष्ट्रानुभव का आधार बनाया। अंग्रेजों की सेवा में होने के कारण उन्होंने जहां एक ओर स्वराज के प्रश्न को टाला, वहां साथ ही साथ सामाजिक सुधारों के लिए शासन की सहायता का भी प्रयास किया। राजनीतिक आधार के स्थान पर रानाडे ने सामाजिक महत्ता तथा सामाजिक भेदभाव एवं कुरीतियों को दूर कर राष्ट्रवाद के सामाजिक पक्ष को बल प्रदान किया। वे सर्वांगीण स्वतन्त्रता में विश्वास रखते थे तथा मौन रूप में भारत की भावी स्वतन्त्रता के भी पक्षपाती थे। उदारवादी नेताओं में फिरोजशाह मेहता के राष्ट्र तथा स्वराज सम्बन्धी विचार नगण्य हैं। वे अंग्रेजी शासन के समर्थक थे। स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में उनके विचार उत्साहजनक नहीं थे किन्तु सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने राष्ट्र तथा स्वराज दोनों अवधारणाओं पर गम्भीर मनन किया है। यद्यपि उनके उदारवाद और जीवन के अन्तिम दिनों में शासन के साथ उनके पूर्ण सहयोग की नीति ने उन्हें अलोकप्रिय भी बनाया, फिर भी बंगभंग आन्दोलन के समय उनके द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवादी विचारों ने अनेकानेक व्यक्तियों को प्रेरित तथा प्रभावित किया है। वे भारत

की महानता में विश्वास करते हैं। उन्होंने, अपनी आत्मकथा का नामकरण भी 'ए नेशन इन मेकिंग' किया है। वे मत्सीनी से अत्यधिक प्रभावित थे और इसी कारण से भारत की एकता पर उन्होंने विशेष प्रयत्न भी किया। भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के महान् प्रवर्तकों तथा उनके सन्देशों को आत्मसात् करने की आवश्यकता पर उन्होंने इसलिए बल दिया ताकि देश का नैतिक पुनरुत्थान हो सके। भारत के अतीत को ध्यान में रख कर भावी नैतिक पुनर्जागरण की प्राप्ति को वे भारत की भावी राजनीतिक मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं। उन्होंने स्वराज का प्रबल समर्थन किया है तथा स्वराज को वे ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति मानते हैं। प्रत्येक राष्ट्र के आत्म-निर्णय के अधिकार को वे स्वीकार करते हैं। स्वराज-प्राप्ति का कार्य उनकी दृष्टि से केवल राजनीतिक उपक्रम ही नहीं अपितु धार्मिक एवं नैतिक कार्य भी है। ऐसे विचार न तो दादा भाई नौरोजी के ही हैं और न फिरोजशाह मेहता के। उदारवादियों में गोपाल कृष्ण गोखले ने भी सार्वजनिक तथा राजनीतिक कार्यों को राष्ट्रीय सेवा का मार्ग माना है। उनके द्वारा प्रस्तुत शासन के विकेन्द्रीयकरण की योजना तथा देहात में बसने वालों की निर्धनता के निराकरण के उपाय स्वराज्य-दिशा की ओर इंगित करते हैं। उन्होंने राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में कोई विचार व्यक्त नहीं किया। सम्भवत इसी कारण से उन्हें एक भीरु राजनीतिज्ञ की संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार उदारवादियों में सब लोग राष्ट्रवाद के प्रबल समर्थक नहीं थे। अधिकतर उदारवादी विचारक अंग्रेजी शासन को ईश्वरीय वरदान मानते थे, अत वे सच्चे अर्थों में राष्ट्र सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करने में संकोच करते थे। स्वराज के सम्बन्ध में भी उनका दृष्टिकोण पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने का नहीं था। उनमें से कुछ अंग्रेजी शासन के गुणगान में इतने तन्मय रहे कि स्वराज के सम्बन्ध में सोचने की उन्हें आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। कुछ ऐसे भी विचारक थे जो अंग्रेजी शासन के माध्यम से सामाजिक तथा सर्व प्रकार के सुधार लाने का स्वप्न देखते थे। दोनों ही प्रवृत्तियां भारतीय राष्ट्र तथा उसकी स्वाधीनता के मार्ग में रुकावट पैदा करने वाली थीं। सुधारवाद की विचारधारा दासता की मनोवृत्ति की परिचायक है। इसे सच्चे अर्थों में चुनौती उग्रवादियों तथा पुनरभ्युदयवादियों से ही मिली है।

उग्रवादियों में से प्रत्येक ने राष्ट्र तथा स्वराज्य के सम्बन्ध में ठोस विचार प्रस्तुत किये हैं। लोकमान्य तिलक ने भारतीय राष्ट्रवाद को प्रबल आधार प्रदान किया है। शिवाजी तथा गणपति सम्बद्ध उत्सवों के द्वारा राष्ट्रवाद को धार्मिक आधार प्रदान किया गया। धर्म को राष्ट्रीयता का एक तत्त्व मानते हुए उसे राष्ट्रीय एकीकरण का आधार माना गया। जनता में देश भक्ति की भावना जागृत कर उसे स्वतन्त्रता के लिए उद्यत किया गया। तिलक स्वराज्य को अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते थे। उदारवादियों द्वारा की गई अंग्रेजों की प्रशंसा के विपरीत तिलक तथा अन्य उग्रवादियों द्वारा कांग्रेस को एक प्रतिवादी राष्ट्रवादी संगठन बनाने का प्रयास किया। सहयोग के स्थान पर असहयोग एवं निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति उग्रराष्ट्रवादी विचार धारा की परिचायक है। होमरूल-आन्दोलन के माध्यम से भारत को स्वराज्य दिलाने का प्रयत्न भी राष्ट्रीय विचारधारा का प्रेरक रहा। तिलक ने पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग प्रस्तुत नहीं की, लेकिन उनके विचारों में राष्ट्रवाद तथा स्वराज का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत हुआ है। उनके द्वारा

प्रतिपादित स्वराज्य की विचारधारा, होमरूल-आन्दोलन में सहयोग, राष्ट्रभाषा हिन्दी का समर्थन, रेल मार्गों के राष्ट्रीयकरण का सुझाव तथा धर्म-निरपेक्ष राजनीति कुछ ऐसे वैचारिक आधार हैं जिनके द्वारा राष्ट्र की भावना का सर्वतोन्मुखी संस्थापन सम्भव हुआ। वे समाज में प्रचलित विशिष्ट सांस्कृतिक मूल्यों को राष्ट्रवाद का प्राण मानते हैं। राष्ट्र की अविच्छिन्नता के लिए वे हिन्दू-संस्कृति की प्रमुख नैतिक एवं आध्यात्मिक मान्यताओं को संरक्षण देना चाहते थे। उनकी दृष्टि में स्वतन्त्रता एक अविनाशी विचार है। राष्ट्र सम्बन्धी पाश्चात्य मान्यता को स्वीकार करते हुए वे राष्ट्र के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को दुहराते हैं। उन पर मत्सीनी, बर्क, मिल तथा विल्सन सभी का प्रभाव पड़ा है। स्वराज शब्द को वैदिक आधार पर मानते हुए उसका राजनीतिक क्षेत्र में प्रयोग किया है। उन्होंने स्वराज के राजनीतिक अर्थ के साथ ही साथ उसका नैतिक अर्थ भी प्रस्तुत किया है। राजनीतिक दृष्टि से यदि स्वराज का अर्थ स्वशासन है तो नैतिक दृष्टि से उन्होंने इसे आत्म-निर्भरता तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता से सम्बन्धित किया है। तिलक ने पुरातनवाद का भी समर्थन किया है। उनके अनुसार किसी भी राष्ट्रीय कार्य को एकदम नवीन आधार देकर प्रारम्भ नहीं किया जा सकता। अतः तिलक ने इस कार्य को भारत की ऐतिहासिकता से सम्बन्धित कर एक निरन्तर गतिशील राष्ट्रीय ऐतिहासिक परम्परा प्रस्तुत की है। महाराष्ट्र में शिवाजी तथा गणपति-उत्सवों का प्रचलन उन्होंने इसी कारण से किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसका प्रभाव केवल सम्भ्रान्त वर्ग तक ही सीमित था, राष्ट्रीय आन्दोलन को उस स्तर तक प्रभावित नहीं कर पायी, जिस स्तर पर तिलक ने इन जन-आन्दोलनों से प्रभावित किया, इन उत्सवों का देश के अन्य प्रान्तों में मनाया जाना जनता के राष्ट्रीय जागरण का प्रतीक था। स्वराज के साथ साथ स्वदेशी के आर्थिक कार्यक्रम ने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना सिखाया, जिससे नवोदित मध्यम वर्ग तथा विकासशील भारतीय उद्योगपतियों को प्रोत्साहन मिला। स्वराज के सम्बन्ध में तिलक की धारणा थी कि वे अंग्रेजों को हटा कर उनके स्थान पर जर्मन शासकों को नहीं बैठाना चाहते। उनका उद्देश्य था अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना। वे चाहते थे कि भारत के आन्तरिक मामलों का संचालन भारत की जनता के हाथों में ही हो।।

इसी प्रकार विपिनचन्द्र पाल भी राष्ट्रवाद के महान प्रवर्तक हैं। राष्ट्र के विचार को दार्शनिक आधार पाल तथा श्री अरविन्द के विचारों में प्राप्त हुआ है। पाल ने इण्डियन नेशनलिज्म तथा नेशनेलिटी एण्ड एम्पायर के माध्यम से राष्ट्रवाद का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया। उनके अनुसार राष्ट्र का अपना अवयवी स्वरूप है। वह समस्त जनमानस को अपने अन्तराल में लिये हुए है। राष्ट्र तथा व्यक्ति में पृथकत्व नहीं। एक आध्यात्मिक इकाई के रूप में राष्ट्र ऐतिहासिक धरोहर को अपने साथ लिए हुए निरन्तर गतिमान है। राष्ट्र एक अजर अमर धारणा है। वे राष्ट्रवाद की धारणा को हिन्दू-धर्म से संयुक्त कर उसे आध्यात्मिकता के साथ साथ लौकिक गुणों से भी युक्त मानते हैं। उनके अनुसार हिन्दू-धर्म ईसाई धर्म तथा इस्लाम की तरह एक धार्मिक पन्थ न होकर सतत जीवन का प्रकार है। उसी प्रकार राष्ट्र की भावना भी पन्थ-विहीन जीवन का शाश्वत अंग है। यही हिन्दू धर्म की तरह आत्मोन्नति तथा आत्म-दर्शन का सच्चा मार्ग है। इसमें ऐसी

आत्म-प्रबलता उत्पन्न होती है कि फिर किसी के सामने स्वतन्त्रता के लिए हाथ पसारने की आवश्यकता नहीं हो सकती। इसी प्रकार पाल ने राष्ट्रवाद के विवेचन में स्वराज्य तथा पूर्ण स्वतन्त्रता का दर्शन किया है। उनका राष्ट्रवाद हिन्दू-राष्ट्रवाद न होकर एक यौगिक राष्ट्रवाद है। वह धर्म सामंजस्य की भावना पर आधारित है और हिन्दू मुस्लिम-ईसाई सभी को प्रेरणा देने में समर्थ है। स्वराज के सम्बन्ध में भी पाल ने प्राकृतिक अधिकारों का तर्क प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि समस्त अधिकार सरकार की कृति न होकर ईश्वरीय उपकार है। इसी कारण से पाल ने बंगभंग-आन्दोलन के समय स्वराज्य को स्वदेशी से सम्बन्धित कर एक महान् कार्यक्रम प्रस्तुत किया। स्वदेशी में विदेशी बहिष्कार अनिवार्य रूप से अन्तर्निहित है। यही निष्क्रिय प्रतिरोध का भी आधार है। पाल ने पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग प्रस्तुत की किन्तु बाद में उन्होंने एक साम्राज्यिक संघ का उदाहरण पेश किया। दैवी लोकतन्त्र पर आधारित यह संघ राष्ट्रों की भावना से उठ कर मानवता के कल्याण की कामना को अपना लक्ष्य मानेगा। पाल के विचारों की यह अन्तर्राष्ट्रीयता आगे जाकर ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के रूप में सफल होती दिखाई देती है।

उग्रवादी विचारकों में लाला लाजपत राय के विचार सशक्त राष्ट्रवाद के प्रतीक हैं। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों तथा भाषणों में राष्ट्रवाद का बहुरंगी स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। वे राष्ट्र को राज्य से भी अधिक महत्त्व देते थे तथा राष्ट्र के अनुसार ही राज्य का निर्माण चाहते थे। उन पर मत्सीनी का विशेष प्रभाव पड़ा था और इस कारण वे मत्सीनी के समान ही राष्ट्रीयता को आवश्यक तत्त्व मानते हुए उसका प्रतिपादन करते हैं। मत्सीनी के समान ही उन्होंने राष्ट्रवाद से अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर वैचारिक प्रयाण किया है। वे मानते थे कि राष्ट्र की भावना भारत में हमेशा से रही है। वे 1857 की क्रान्ति को भी भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम की संज्ञा देते हैं। वे स्वराज्य-प्राप्ति के लिए भारत को आत्मनिर्भर बनाने के पक्ष में रहे। वे भारतीय राष्ट्रवाद को शैक्षिक सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से बल प्रदान करना चाहते थे। निष्क्रिय प्रतिरोध का अवलम्बन लेते हुए उन्होंने औपनिवेशिक स्वराज्य को अपना अभीष्ट माना। पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग उन्होंने प्रस्तुत नहीं की, फिर भी उनका दृष्टिकोण संकीर्ण नहीं कहा जा सकता। वे पूर्ण स्वतन्त्रता को दूरगामी लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर चुके थे। केवल तात्कालिक माँग के रूप में उन्होंने औपनिवेशिक स्वराज की बात कही। वे हिंसा में पूरी तरह विश्वास नहीं करते हुए भी क्रान्तिकारियों के प्रेरणा स्रोत रहे। उन्होंने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिकता से दूर रखा। हिन्दू-मुस्लिम विवाद में भी एक हिन्दू-नेता होने के नाते वे हिन्दुओं के पक्षपाती होते हुए भी राष्ट्रीय एकता के लिए अपनी धर्मनिरपेक्ष राजनीति से विचलित नहीं हुए। उनके द्वारा भारत के भावी विभाजन की रूपरेखा इस बात का प्रमाण थी कि वे किसी भी कीमत पर भारत राष्ट्र के मार्ग में बाधा देखना पसन्द नहीं करते थे। जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग करने वाले तथा हिन्दुओं के धर्म एवं स्त्रियों पर बुरी दृष्टि रखने वाले कट्टर पन्थी मुसलमान भारत को एक राष्ट्र बनाने तथा मानने से मुकरते हैं तब उन्होंने ऐसे गलित एवं राष्ट्रद्रोही तत्त्वों को भारत में अलग एक मुस्लिम राज्य स्थापित करने के कार्य को भविष्य की अवश्यम्भावी योजना के रूप में

प्रगट किया। उनकी भविष्यवाणी सच्ची सिद्ध हुई। जिना तथा उनके कठमुल्ला लीगी साथियों ने अन्त में पृथक् मुस्लिम राज्य तथा पृथक् राष्ट्र का सिद्धान्त द्विराष्ट्र सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रस्तुत किया और इसी तरह भारत का भी विभाजन हुआ। लाजपतराय मुस्लिम विरोधी नहीं थे, अपितु राष्ट्रवाद के विरोधियों के विरोधी थे। आर्यसमाजी होते हुए भी वे यह मानते थे कि भारत में मुगल शासन पूर्णतया भारतीय था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू-मुसलमानों से सम्बन्धित साम्प्रदायिक दंगे धर्म के कारण नहीं होते, किन्तु धर्म की कमी के कारण होते हैं। कोई भी धर्म दंगे करने अथवा हत्या करने का उपदेश नहीं देता। इस प्रकार लाजपत राय ने राजनीतिक दृष्टिकोण से राष्ट्र तथा स्वराज्य की विचारधारा को प्रेरित किया है। वे केवल राष्ट्रवाद तक ही सीमित नहीं रहे। अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-संगठन का भी मानव-कल्याणार्थ उन्होंने समर्थन किया।

उग्रवादियों में श्री अरविन्द ने पाश्चात्य एवं प्राच्य दोनों ही विचार धाराओं का समन्वय प्रस्तुत किया है। वे राष्ट्रवाद को ही सच्चा धर्म मानते हैं और राजनीतिक स्वतन्त्रता को ईश्वरीय कार्य की संज्ञा देते हैं। भारत राष्ट्र सम्बन्धी उनके विचार केवल भारत की स्वतन्त्रता तक ही सीमित नहीं। वे भारत की स्वतन्त्रता में समस्त विश्व की नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता अन्तर्निहित मानते हैं। एक स्वतन्त्र भारत ही समस्त विश्व का नैतिक तथा आध्यात्मिक जागरण करा सकता है। इसी प्रकार गांधीजी ने भी जीवन में नैतिक मूल्यों की आवश्यकता पर बल दिया है। वे ईश्वरवादी थे किन्तु भाग्यवादी नहीं। वे धर्म तथा राजनीति को संयुक्त मानते हुए उग्रवादियों की तरह कर्मयोग में विश्वास रखते थे। वे गुणात्मक राजनीति के सफल प्रयोगकर्ता थे। हिंसा के प्रबल विरोधी होने के नाते गांधीजी उग्रवादियों से भिन्नता रखते थे। सत्य तथा अहिंसा को उन्होंने राजनीति का आधार माना है। वे सत्याग्रह एवं असहयोग की राजनीति से स्वराज-प्राप्ति चाहते थे। सविनय अवज्ञा-आन्दोलन उनका अंग्रेजी शासन से भारत को मुक्ति दिलाने का सफल प्रयोग सिद्ध हुआ। वे निष्क्रिय प्रतिरोध के पक्षपाती थे, किन्तु उनका निष्क्रिय प्रतिरोध उग्रवादियों से भिन्न था। गांधीजी के कार्यक्रम में हिंसा तथा घृणा का कोई स्थान नहीं था। यह केवल राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र नहीं था। वे निष्क्रिय प्रतिरोध को पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य किसी भी क्षेत्र में प्रयोग के लिए उपयुक्त मानते थे। वे निरपेक्ष अहिंसा के पक्षपाती थे। राष्ट्रवाद का भी उन्होंने समर्थन किया। राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के विचार को भी वे स्वीकार करते थे। उन्होंने औपनिवेशिक दासता से भारत की मुक्ति का ही प्रयास नहीं किया, अपितु सामन्तवादी देशी रियासतों के विरुद्ध भी स्वतन्त्रता की माँग को स्वीकार किया। वे राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रवाद की ओर ले जाना चाहते थे। इस तरह संकीर्ण राष्ट्रवाद का उन्होंने समर्थन नहीं किया। गांधीजी का स्वराज सम्बन्धी दृष्टिकोण केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता पर आधारित नहीं था, वे आध्यात्मिक एवं नैतिक दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता चाहते थे। उनकी स्वराज की मान्यता सत्य अर्थात् ईश्वर पर आधारित थी। व्यक्ति के जीवन को श्रेष्ठ बनाने में सहायक हर प्रकार की स्वतन्त्रता का उन्होंने समर्थन किया है। वे मूल रूप में नैतिक, राष्ट्रीय एवं आध्यात्मिक स्वतन्त्रता ही चाहते हैं। श्रीनिवास शास्त्री ने गान्धीजी की अहिंसा एवं असहयोग की नीति का

समर्थन नहीं किया। शास्त्री औपनिवेशिक स्वराज एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पक्ष लेते हैं, किन्तु उनकी राजनीति में राष्ट्रवाद का विशेष पुट नहीं है।

स्वराज्य के सम्बन्ध में मोतीलाल नेहरू के विचार उत्साहवर्धक हैं। भारतीय स्वराज्य के पक्षपाती होने के नाते उन्होंने स्वराजदल के गठन में पूर्ण सहयोग दिया तथा उसका नेतृत्व भी किया। राष्ट्र के आत्म-निर्णय-सिद्धान्त को मानते हुए उन्होंने नेहरू-रिपोर्ट में भारतीयों के मूल अधिकारों का भी समर्थन किया। वे औपनिवेशिक स्वराज के पक्षपाती थे। चितरंजनदास भी स्वराज की विचारधारा से ओतप्रोत थे। स्वराज-दल के संस्थापक के रूप में उनका विशेष कार्य रहा। उनका ईश्वरीय प्रेम उनके विचारों में आध्यात्मिकता का संचार करता है। वे राष्ट्र तथा स्वराज दोनों को ही वैष्णव विचार धारानुसार ईश्वर की कृपा का ही प्रतिफल मानते हैं। वे जीवन तथा इतिहास को ईश्वर की लीला मानते हुए ईश्वरीय वरदान के रूप में उसकी प्राप्ति के इच्छुक हैं। राष्ट्र की सेवा उनकी दृष्टि में समस्त विश्व की सेवा है। राष्ट्रवाद को व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास का साधन मानते हैं। उन पर मसीनी के विचारों का प्रभाव रहा है। वे स्वराज्य को भी केवल मात्र स्वतन्त्रता का पर्यायवाची नहीं मानते। उनके अनुसार स्वराज्य की स्थापना तभी हो सकती है जब कि भारत पूर्ण धर्म-निरपेक्षता, आधुनिकता एवं पूर्ण स्वशासन के सम्मिश्रण से एक नवीन व्यवस्था प्रारम्भ कर दे। वे स्वराज को अधिक से अधिक रचनात्मक बनाना चाहते हैं। उनका विचार था कि यदि भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य भी प्राप्त हो जाता है तब भी कोई हानि नहीं। उसे स्वीकार करने में ही भारत का हित है। भविष्य में स्वतः पूर्ण स्वराज की स्थापना हो जायेगी। परन्तु अंग्रेजों द्वारा इस प्रकार का आश्वासन न मिलने की स्थिति में वे पूर्ण स्वराज के लिए संघर्ष करने के पक्ष में थे।

जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रवाद के विचार को और भी दृढ़ता से ग्रहण करने वाले विचारक हैं। वे भारत की विभिन्नता में एकता का दर्शन करने वाले राष्ट्रवादी हैं। राष्ट्रवाद को धर्म-निरपेक्षता पर आधारित मानते हुए वे इसे महत्वपूर्ण भावनात्मक प्रतीक के रूप में स्वीकार करते हैं। नेहरू ने राष्ट्रवादी विचारधारा को संकट की घड़ियों में देश को उबारने वाला तत्व माना है। राष्ट्र की भावना से ही चतुर्दिक प्रगति प्राप्त हो सकती है तथा देश की शाश्वत प्रकृति स्पष्ट होती है। फिर भी वे संकुचित राष्ट्रवादी मनोवृत्ति से ग्रस्त नहीं थे। वे राष्ट्रवाद के साथ ही साथ विश्व के समस्त पराधीन राष्ट्रों के लिये आत्मनिर्णय के अधिकार का भी समर्थन करते थे। साम्राज्यवाद-विरोधी होने के नाते एवं मानव-स्वतन्त्रता के समर्थक के रूप में उनकी विशेष ख्याति है। भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग उन्हीं के द्वारा कांग्रेस में प्रस्तुत की गयी थी। वे ऐसी स्वतन्त्रता चाहते हैं, जो केवल मात्र राजनीतिक न होकर आर्थिक, सामाजिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय भी हो। इसी कारण से उन्होंने राष्ट्रवाद के संकीर्ण प्रयोग का जो कि विश्व में विघटन, शक्ति राजनीति तथा उपनिवेशवाद के लिए उत्तरदायी है, विरोध किया है। वे वास्तविक अर्थों में स्वराज चाहते हैं। उनके द्वारा स्वीकृत तटस्थता एवं शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का सिद्धान्त स्वतन्त्र भारत की स्वतंत्र विदेश नीति का परिचायक है। उनकी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि के कारण ही भारत ने एशिया, अफ्रीका तथा समस्त विश्व की दासता-पीड़ित मानवता का साथ

भारतीय स्वराज तथा राष्ट्रवाद के चिन्तन में हिन्दू-राष्ट्रवाद के समर्थकों का भी विशेष योगदान है। स्वामी श्रद्धानन्द, पण्डित मदनमोहन मालवीय, भाई परमानन्द, वीर सावरकर, डा॰ हेडगेवार, श्यामाप्रसाद मुखर्जी, माधव राव सदाशिव राव गोलवलकर आदि महानुभावों ने राष्ट्र के विचार को हिन्दू-धर्म पर आधारित कर राष्ट्रीय आन्दोलन को नवीन दिशा दी। ये विचारक हिन्दू-राष्ट्रवादी होते हुए भी हिन्दू-धर्म में अन्तर्निहित सहिष्णुता की नीति का अनुसरण करते हुए अल्पसंख्यकों की समाप्ति नहीं चाहते थे। उनका पृथक् प्रतिनिधित्व अथवा विशेष राजनीतिक रियायत देने में विश्वास नहीं था। ये राष्ट्रवादी थे तथा स्वराज की कामना उनका एकमात्र लक्ष्य था। आधुनिक भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तन में उनका योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की शाश्वत धारा से वे आप्लावित थे। जहां हिन्दू राष्ट्रवादियों ने भारत की एकता का सन्देश तथा धर्म-सहिष्णुता को अधिकाधिक रूप में व्यक्त किया है वहां मुस्लिम राष्ट्रवाद भारतीय आन्दोलन से अलग-थलग हो गया है। सर सैयद अहमद खां, मोहम्मद इकबाल, मोहम्मद अली, शौकत अली, मोहम्मद अली जिन्ना आदि मुस्लिम विचारक एवं मुस्लिम नेता पृथक् मुस्लिम राष्ट्र तथा अपने कांग्रेस-विरोधी या फिर अवसरवादी सहयोगी के रूप में संकीर्ण मुस्लिम राष्ट्रवाद के प्रणेता रहे हैं। भारतीय राष्ट्रवाद एवं स्वराज के सन्दर्भ में इनका योगदान नगण्य है।

भारत के समाजवादी चिन्तकों में आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, डा॰ राममनोहर लोहिया, अशोक मेहता, अच्युत पटवर्धन आदि राष्ट्रवाद तथा स्वराज के आर्थिक एवं सामाजिक पक्ष के विचारक हैं। इनका राष्ट्रवाद राजनीतिक उपागम पर आधारित है। स्वराज की धारणा को लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण एवं ग्राम-स्वराज की भावना पर आधारित करने के कारण इनका चिन्तन अधिक लोकप्रिय रहा है। विनोबा भावे के सर्वोदयवादी विचार भी स्वराज्यवाद को उच्च धरातल पर प्रस्तुत करते हैं। दक्षिण भारत के श्रीनिवास शास्त्री, सुब्रह्मण्य भारती, डा॰ राधाकृष्णन, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य आदि राष्ट्रवाद तथा स्वराज के अग्रगामी विचारक हैं।

इस प्रकार राष्ट्रवाद तथा स्वराज के अवधारणात्मक विकास ने आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक चिन्तन को स्थिर आधार प्रदान कर भारत की स्वतन्त्रता एवं उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को अनुप्राणित किया है। ☐☐

अध्याय 28

न्यासिता एवं सत्याग्रह

भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक चिंतन में न्यासिता का सिद्धांत गांधीजी की अनुपम देन है। न्यासिता का सिद्धान्त आर्थिक समानता के आदर्श से जुड़ा हुआ है। समाज में आर्थिक विषमता बुराइयों की जड़ होती है। प्राचीन भारत में भौतिक समृद्धि के चरम उत्कर्ष के बावजूद जीवन में त्याग की भावना विद्यमान थी। आवश्यकता से अधिक धन-संग्रह करना नैतिक-दृष्टि से उचित नहीं माना जाता था। गांधीजी ने न्यासिता का विचार इसी आदर्श पर आधारित किया है। गांधी तथा विनोबा भावे दोनों सम्पत्ति के समान वितरण, शारीरिक श्रम, श्रम की महत्ता, वेतन की समानता आदि सर्वोदय विचारों के प्रेरक रहे हैं। गांधीजी ने स्वयं के अनुभवों से यह व्यक्त किया कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित "प्रत्येक मनुष्य को उसकी आवश्यकता के अनुसार" वाला सिद्धांत अपूर्ण है क्योंकि यह जानना अत्यन्त कठिन है कि प्रत्येक की आवश्यकताएँ क्या हैं। अतः गांधीजी के अनुसार उपयुक्त यही है कि गरीब व अमीर के अन्तर को जितना अधिक हो सके, कम कर दिया जाय। इसका अर्थ यह होगा कि उन चन्द पूंजीपतियों, जिनके पास राष्ट्र की सम्पदा केन्द्रित हो गई है, के हाथों से सम्पत्ति छीनने के बजाय उनकी संख्या कम की जाय और लाखों करोड़ों भूखे इन्सानों को बढ़ावा दिया जाय। प्रत्येक व्यक्ति को उसके जीवन की नैसर्गिक एवं अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति का अवसर प्राप्त हो। गांधीजी नहीं चाहते कि योग्य तथा प्रतिभावान व्यक्ति अयोग्य एवं कम प्रतिभावाले व्यक्ति से कम आर्थिक आय प्राप्त करे और धनी व्यक्ति का अतिरिक्त धन उससे छीन लिया जाय। प्रतिभावान व्यक्ति को योग्यतानुसार आय से वंचित करना सामाजिक प्रगति के मार्ग में बाधक होगा। इसी प्रकार से जिस व्यक्ति को धन-संग्रह करने का ज्ञान है, उससे वंचित होने पर समाज उसके ज्ञान से वंचित रहेगा। गांधीजी ने मार्क्स के समान पूंजीपतियों को हिंसा के द्वारा समाप्त करना स्वीकार नहीं किया। वे पूंजीपति को समाज के हित में जीवित रखना चाहते हैं। वे ऐसा पूंजीपति-वर्ग खड़ा करना चाहते हैं जो सम्पत्ति का उपयोग, अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात्, समाज के हित में एक न्यासी के रूप में करेगा। गांधीजी के अनुसार जैसे ही व्यक्ति अपने आपको समाज के सेवक के रूप में देखेगा वह समाज के हित में सम्पत्ति का अर्जन एवं प्रयोग आरम्भ कर देगा। उसके आर्थिक क्रिया-कलापों में पवित्रता एवं अहिंसा विद्यमान होगी। यदि यह सम्भव हुआ तो समाज में शान्तिपूर्ण क्रान्ति आ जायेगी।

न्यासिता का सिद्धान्त पूंजीपति के हृदय-परिवर्तन पर आधारित है। सम्पत्ति समाज की होती है। व्यक्ति समाज के कारण ही उसका अर्जन करता है। व्यक्ति इस

त्रुटिपूर्ण धारणा पर जीवित रहता है कि सम्पत्ति पर उसका व्यक्तिगत स्वामित्व है किन्तु वास्तविकता यह है कि सम्पत्ति समाज की है और समाज के हित में ही उसे खर्च किया जाना चाहिए। न्यासिता के सिद्धान्त ने व्यक्तिगत सामाजिक शोषण का अन्त करने के लिए सम्पत्ति को न्यास के रूप में माना है और पूंजीपति को एक न्यासी के रूप में उसकी देखरेख का काम सौंपा है। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने गांधीजी के न्यासिता के सिद्धान्त को और भी अधिक व्यापक बनाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जो किसी पद पर है अथवा सम्पत्ति का स्वामी है, उसका प्रयोग एक न्यासी के रूप में, उन सबके साथ करे जिनसे उसका काम पड़ता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति व्यापारी है तो वह अपने ग्राहकों के लिए न्यासी है, यदि उसके पास जमीन है तो वह अपने परिवार, किरायेदारों तथा समुदाय के लिए न्यासी है। इसी प्रकार से व्यक्ति की स्थिति एक न्यासी के रूप में सदैव बनी रहनी चाहिए। राजगोपालाचार्य के अनुसार आधुनिक विश्व में न्यासिता का सामाजिक सिद्धांत समाज की उलझनों को दूर करने की दृष्टि से उपयुक्त है। ऐसी परिस्थितियां बढ़ती जा रही हैं जिनमें न्यासिता ही सर्वोपरि रहेगी। प्रत्येक मानवीय कार्य, चाहे वह व्यक्तिगत क्यों न हो, सार्वजनिक हित से जुड़ा होने के कारण न्यासिता से सम्बन्धित है। व्यक्तिगत स्वार्थ के स्थान पर सामाजिक हित की भावना से अभिप्रेरित न्यासिता आज के युग की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

महात्मा गांधी तथा राजगोपालाचार्य ने आर्थिक विषमताओं तथा सम्पत्ति के शोषण से बचने का जो मार्ग न्यासिता के माध्यम से प्रस्तुत किया है उसके कई आलोचक भी विद्यमान हैं। स्वयं जवाहरलाल नेहरू ने न्यासिता को सामाजिक समन्वय एवं प्रगति के लिये उपयुक्त नहीं माना है। उनके अनुसार किसी व्यक्ति को शक्ति एवं सम्पत्ति का अनियन्त्रित अवसर देकर उससे यह उम्मीद करना कि वह सार्वजनिक कल्याण हेतु उसका उपयोग करेगा—असम्भव सा लगता है। मानव इतना परिपक्व नहीं है कि उस पर इतना अधिक विश्वास किया जा सके। समाज में अतिमानव अथवा प्लेटो के दार्शनिक शासकों का नितान्त अभाव है। ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो व्यक्तिगत हितों की पूर्ति को सामाजिक हित के अनुरूप मानते हैं। जन्म, सामाजिक स्तर व आर्थिक शक्ति का दिखावा समाज पर इतना हावी है कि समाज कुलीनतन्त्र के इस बोझ का भयंकर परिणाम भुगत रहा है। गांधीजी के अस्तेय एवं अपरिग्रह की अवधारणाओं को भी नेहरू ने स्वीकार नहीं किया। नेहरू के अनुसार गांधीजी व्यक्ति को नैतिक जीवन जीने के लिए प्रेरित करते हैं ताकि उसका व्यक्तिगत एवं आत्मिक विकास हो सके। वे व्यक्ति को सुख-साधन से जिन्दगी व्यतीत करने की प्रेरणा नहीं देते। इसका अर्थ यह है कि समाज की सेवा करने के लिए प्रस्तुत व्यक्ति को भौतिक दृष्टि से कुछ पाने की लालसा के स्थान पर त्याग की भावना रखनी होगी। नेहरू ने इसकी तीव्र आलोचना की है। वे इसे हानिकारक सिद्धांत मानते हैं। वे निर्धनता एवं कष्ट की प्रशंसा को अच्छा नहीं मानते। निर्धनता का अन्त होना चाहिए किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जीवन में साधु वृत्ति की प्रशंसा की जाय। व्यक्तिगत रूप में साधुवृत्ति का सिद्धांत ठीक है किन्तु समाज के लिए इसका प्रचार घातक ही होगा। सादगी, समानता, आत्म-नियन्त्रण प्रशंसायोग्य है किन्तु शरीर की नश्वरता एवं मायावाद का व्यापक प्रचार सामाजिक दृष्टि से उचित नहीं है। साधुवृत्ति

द्वारा प्रेरित इच्छाओं का दमन यथार्थ पूर्ण नहीं है। नेहरू के अनुसार साधुवृत्ति के प्रचार के स्थान पर जनता के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिए विज्ञान एवं यांत्रिकी का विकास करने की आवश्यकता है। जहां नेहरू ने गांधीजी की न्यासिता सम्बन्धी विचारधारा की आलोचना की वहां राजेन्द्रप्रसाद ने इसे एक आदर्श सामाजिक सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया। राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार गांधीजी ने जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की अस्पष्ट, अनिश्चित एवं अनियन्त्रित लालसा को सामाजिक संघर्ष का मूल माना था। गांधीजी की यह मान्यता थी कि भौतिक आवश्यकताओं की मांग पर आधारित समाज में हिंसा से नहीं बचा जा सकता। हिंसा एवं सामाजिक संघर्ष से बचने के लिए व्यक्तियों की आवश्यकताओं की उचित सीमा निर्धारित करना अन्ततोगत्वा अनिवार्य है। इस प्रकार न्यासिता की मान्यता समाज में आर्थिक शोषण की विकृति का उपचार है। पूंजी का प्रयोग व्यक्तिगत हित के साथ-साथ सामाजिक हित में होना चाहिए। गांधी तथा विनोबा भावे ने अपरिग्रह को अप्राप्य मानते हुए भी अनुकरणीय माना है। उनकी दृष्टि में न्यासिता का विचार अव्यावहारिक नहीं है।

सत्याग्रह

महात्मा गांधी ने भारत में स्वराज्य-प्राप्ति के लिए जिस राजनीतिक पद्धति का प्रयोग किया उसे सत्याग्रह के नाम से सम्बोधित किया जाता है। गांधीजी का सत्याग्रह सम्बन्धी विचार एक ओर ईसा मसीह, थोरू एवं टॉलस्टॉय के विचारों पर आधारित था तो दूसरी ओर यह हिन्दू-धर्मदर्शन, दक्षिण अफ्रीका में रंग-भेद एवं जाति-भेद के स्वयं के अनुभव तथा भारत में अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध असहयोग एवं सविनय अवज्ञा आंदोलन में उनके नेतृत्व पर आधारित था। सत्याग्रह कष्ट की अनुभूति पर आधारित होने के कारण हृदय को प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करता है। गांधी विवेक से अधिक अनुभूति को महत्व देते हैं। विवेक मस्तिष्क को प्रभावित करता है जबकि अनुभूति हृदय को छू लेती है। इससे एक सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि व्यक्ति में विकसित होती है। गांधीजी ने सत्याग्रह के संदर्भ में अहिंसा, असहयोग, निष्क्रिय प्रतिरोध एवं सविनय अवज्ञा आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है। गांधीजी इन शब्दों को सत्याग्रह का पर्यायवाची मानते थे।

सत्याग्रह सत्य की खोज तथा सत्य को प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय है। अहिंसा सत्य के प्रति आग्रह में साधन के रूप में प्राप्त होती है। वह सत्य रूपी साध्य की प्राप्ति का मार्ग है। भ्रष्ट राज्य के प्रति सहयोग की भावना न रखना असहयोग कहलाता है। निष्क्रिय प्रतिरोध एवं सविनय अवज्ञा के द्वारा प्रत्येक राष्ट्र तथा प्रत्येक व्यक्ति को यह कर्तव्य पूर्ण अधिकार प्राप्त है कि वह असह्य त्रुटियों का विरोध करे। निष्क्रिय प्रतिरोध एवं सविनय अवज्ञा नागरिक प्रतिरोध के रूप हैं और वे असहयोग की भांति सत्याग्रह के अन्तर्गत आते हैं। इन सबका उद्देश्य सत्य के लिए कष्ट सहन करना है। सत्याग्रह आत्मीय शक्ति के प्रयोग पर आधारित है। सत्याग्रही द्वारा कष्ट सहन कर दुर्व्यवहार करने वाले के हृदय को परिवर्तित करने का प्रयास किया जाता है। गांधीजी ने हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश एवं नमक-कर-कानून के प्रतिरोध में इस पद्धति का सफलता पूर्वक प्रयोग किया था। सत्याग्रही द्वारा अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की चिन्ता किये बिना कानून की अवज्ञा कर कारावास भुगतना सम्भव है किन्तु सत्याग्रही कभी भी पाशविक बल का प्रयोग

नहीं करेगा। व्यक्ति निरपेक्ष सत्य को जानने की क्षमता नहीं रखता अतः उसे दण्ड देने का भी अधिकार नहीं है। प्रत्येक मानव में ईश्वर की ज्योति विद्यमान है अतः उसमें विकास की असीमित क्षमता है। मानव मात्र के साथ दया एवं उदारता का व्यवहार होना चाहिए। गांधीजी के अनुसार अहिंसा के द्वारा ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है। साधन तथा साध्य दोनों में परस्पर निर्भरता है। जैसे साधन होंगे वैसा ही साध्य भी होगा। अच्छे साधनों से ही अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं। बुरे साधनों से साध्य भी अच्छा नहीं हो सकता।

सत्याग्रही निर्भीक होता है किन्तु वह अन्यायी को भयभीत नहीं करना चाहता और न उसे विवश करने का इरादा ही रखता है। सत्याग्रही ऐसी स्वतन्त्रता का वरण करता है जो दूसरे के लिए सुलभ नहीं है क्योंकि सत्याग्रही सत्य के लिए अपने जीवन की आहुति दे सकता है। इस प्रकार सत्याग्रह का मूल अर्थ अन्यायी के हृदय को परिवर्तित कर उसे न्याय के प्रति जाग्रत करना है। अन्यायी को यह बताना आवश्यक है कि जिस पर वह अन्याय कर रहा है उसके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग के बिना वह अन्याय नहीं कर सकता। आत्मिक शक्ति का प्रयोग सैन्यबल के प्रयोग से भिन्न है। आत्मबल प्राप्त व्यक्ति दुर्बलों को सताने या अनैतिक लाभ प्राप्त करने की लालसा नहीं रखता। सत्याग्रही को स्वयं के बचाव की भी आवश्यकता नहीं। उसे गोलियों की बौछार के बीच भी बचाव करने अथवा अपनी छोटी अंगुली उठाने की भी आवश्यकता नहीं। सत्याग्रही निर्भय होने के कारण अपने विरोधी पर भी विश्वास करने के लिए तत्पर रहता है। यदि उसका विरोधी उससे साथ बीस बार भी विश्वासघात करे तब भी वह उस पर इक्कीसवीं बार विश्वास करने के लिए तैयार रहेगा क्योंकि सत्याग्रही मानव-प्रकृति में निष्ठा रखता है। गांधीजी के अनुसार सत्याग्रही आत्मा की आवाज का पालन करता है। सत्याग्रह प्रत्यक्ष कार्यवाही का सर्वाधिक शक्तिशाली मार्ग है अतः सत्याग्रही द्वारा इसका प्रयोग तभी किया जाता है जब अन्य साधन शेष न रहें। सत्याग्रही बार बार संवैधानिक सत्ता से सम्पर्क स्थापित कर तथा जनमत को सम्बोधित कर अपने पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयास करता है और जब सारे साधन प्रयोग में लाये जा चुके होते हैं तब अन्तिम साधन के रूप में सत्याग्रह का प्रयोग करता है। स्वयं की त्रुटियों के लिए सत्याग्रही उत्तरदायी है। उसे सम्मानजनक शर्तों पर समझौता करने के लिए तैयार रहना चाहिए क्योंकि समझौता असफल होने पर वह पुनः अहिंसक संघर्ष के लिए तैयार रहेगा। इसके लिए आवश्यक है कि सत्याग्रही का मस्तिष्क निर्लिप्त हो ताकि वह दूसरों की कठिनाइयों को भी सहानुभूतिपूर्ण तरीके से समझ सके। वह हमेशा दूसरों के कल्याण की भावना रखे। वह चाहे स्वतन्त्र हो या बन्दीगृह में अपने आपको विजेता के रूप में ही मानता है क्योंकि वह सत्कार्य कर रहा है। सत्याग्रही की हार तब होती है जब वह सत्य एवं अहिंसा को त्याग देता है। इसका अर्थ यह है कि सत्याग्रह में धोखाधड़ी का कोई स्थान नहीं है। सत्याग्रह अत्यन्त सौम्य है अतः किसी को दुख नहीं पहुँचेगा। सत्याग्रह का मार्ग धीमा एवम् कोलाहल रहित होते हुए भी निश्चयात्मक एवं कार्यशक्ति की दृष्टि से वेगमय है।

सत्याग्रह प्रगतिशील विचारधारा है। इसकी प्रगति में कई तत्त्व सहायक होते हैं। गांधीजी के अनुसार प्रत्येक पवित्र कार्य में प्रगति का नियम लागू होता है और सत्याग्रह

के सम्बन्ध में यह और भी गतिशील है। सत्याग्रह दंभ के स्थान पर प्रेम पर आधारित है। शक्ति के प्रयोग से प्रतिहिंसा एवं घृणा उत्पन्न होती है जबकि सत्याग्रह से मानव-प्रेम एवं दया का वातावरण तैयार होता है। समाज के हित में रचनात्मक कार्य करना ही सत्याग्रही का आदर्श है। मद्य-निषेध, हरिजनोद्धार आदि कार्य इस प्रवृत्ति के द्योतक हैं। रचनात्मक कार्यों के लिए क्रोध, अहंकार एवम् पिपासा पर नियंत्रण होना चाहिये। आत्मानुशासन, आत्मनियंत्रण तथा आत्मशुद्धि इस कार्य के लिए आवश्यक हैं। सत्याग्रही बुराई को अच्छाई से, क्रोध को प्रेम से, असत्य को सत्य से और हिंसा को अहिंसा द्वारा जीतता है। उसे समय समय पर आत्मपरीक्षण तथा प्रार्थनामय अन्तर्निरीक्षण करना होता है ताकि मानवीय कमजोरियां उसमें प्रविष्ट न हो जायें। उसे बुराई करने वाले तथा बुराई दोनों को अलग अलग रखना होता है। सत्याग्रही का विरोध बुराई के उन्मूलन से है न कि बुराई करने वाले के उन्मूलन से। आत्मा का अस्तित्व तथा ईश्वर में श्रद्धा ये दोनों ही सत्याग्रही को निरन्तर प्रेरणा देने वाले तत्त्व हैं।

सत्याग्रह एवम् अहिंसा में अतीव घनिष्ठता है। वे एक सिक्के के दो पहलू के समान हैं। हिंसा और अहिंसा में परस्पर विरोध है। क्रोध अथवा स्वार्थवश दूसरे को कष्ट पहुंचाना अथवा जीव को नष्ट करना हिंसा है जबकि शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टि से ऐसे कार्य को रोकना अहिंसा है। अहिंसा, प्रेम तथा परोपकार पर आधारित है। अहिंसा में विश्वास रखने वाला अपने शत्रु से भी प्रेम करता है। अहिंसा का प्रयोगकर्त्ता निर्भीक होना चाहिए। वह कायर नहीं हो सकता। वह बिना किसी घृणा के कष्ट एवं आक्रमण झेलने को तैयार रहता है। अहिंसा शारीरिक एवं मानसिक स्थितियों का बोध कराती है। अहिंसा में जहां एक ओर शारीरिक हिंसा पर प्रतिबन्ध है तो दूसरी ओर मानसिक दृष्टि से घृणा करने पर भी नियंत्रण रखा गया है। शरीर एवं मस्तिष्क के तालमेल बिना अहिंसा का प्रयोग सम्भव नहीं है। अहिंसक संघर्ष की यह विशेषता है कि इसमें प्रतिशोध की भावना नहीं रहती और अन्त में शत्रु भी मित्र में परिवर्तित हो जाता है। अहिंसा दुर्बलता की नहीं किन्तु शक्ति की प्रतीक है। अहिंसा में आत्मबल का प्रयोग होता है। गांधीजी ने इस सन्दर्भ में यहां तक व्यक्त किया है कि यदि कायरता एवं हिंसा में से किसी एक को चुनना हो तो वे हिंसा की सलाह देंगे। यदि भारत को अपने सम्मान की रक्षा के लिए हथियार भी उठाने पड़ें तो वह कायरता से अपमान सहन करने से श्रेष्ठ ही होगा। अहिंसा को बहादुरी एवं कायरता से भिन्न समझने की आवश्यकता है। कोई व्यक्ति कितना भी कमजोर क्यों न हो यदि वह अपने स्थान पर अडिग रहेगा और मैदान छोड़ने के स्थान पर जीवन अर्पित कर देगा तो उसे अहिंसा एवम् बहादुरी का प्रतीक माना जायेगा। यदि वह अपनी समस्त शक्ति को अपने शत्रु के विरुद्ध प्रयुक्त कर जीवन अर्पित करेगा तो वह बहादुरी अवश्य होगी अहिंसा नहीं और यदि वह रणक्षेत्र छोड़कर भाग जायेगा तो इसे कायरता का उदाहरण ही माना जायेगा।

अहिंसा द्वारा मानवीय प्रकृति की बर्बरता को बदलने का प्रयत्न किया गया है। धर्मों में ईश्वर के वास को मानते हुए सहिष्णुता की मान्यता आवश्यक है। गांधीजी के अनुसार मानव-सभ्यता अहिंसा से हिंसा की ओर बढ़ रही है फिर भी अवशिष्ट बर्बरता को दूर करना है। राष्ट्रों को परस्पर व्यवहार में हिंसा के स्थान पर अहिंसा का प्रयोग करना

है अन्यथा शस्त्रों की होड़ में लिप्त महाशक्तियाँ मानव-सभ्यता के विनाश को ही आमन्त्रित करेंगी। असहयोग भी सत्याग्रह का मार्ग है। असहयोग का प्रयोग ऐसे राज्य के विरुद्ध किया जाता है जो जन-कल्याण का उत्तरदायित्व भूलकर दमनकारी नियमों द्वारा जनता का शोषण करता है। ऐसे राज्य के विरोध में अन्तःकरण की प्रेरणा से व्यक्ति उठ खड़ा होता है। हिंसक विरोध के स्थान पर अहिंसा का प्रयोग व्यक्ति को असहयोगी बना देता है जिससे राज्य-व्यवस्था का चलन असम्भव हो जाता है। असहयोग द्वारा व्यक्ति राज्य के कानून की अवज्ञा, न्यायालयों का बहिष्कार, विद्यालयों तथा सम्मान एवं उपाधियों का बहिष्कार, कर न चुकाने तथा सेना में भर्ती न होने के कार्यों द्वारा राज्य से अपना समस्त सहयोग-सम्बन्ध तोड़ देता है। किन्तु यह असहयोग अहिंसा के द्वारा ही सफल हो सकता है। हिंसात्मक आन्दोलन द्वारा इसे प्राप्त करने का अर्थ है सरकार द्वारा सैनिक दमन-चक्र का प्रयोग। गांधीजी ने असहयोग के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया है कि असहयोग पूरी व्यवस्था के विरुद्ध किया जाना चाहिए न कि व्यवस्था के किसी एक भाग के विरुद्ध। उदाहरण के तौर पर युद्ध में सम्मिलित न होना तब तक असहयोग नहीं कहा जा सकता जब तक अन्य तरीकों से सहयोग दिया जाता रहा हो जैसे कर देना आदि। इसी प्रकार गांधीजी ने यह भी स्पष्ट किया है कि असहयोग घृणा पर आधारित नहीं अपितु प्रेम पर आधारित है। असहयोग में सामाजिक बहिष्कार का कोई स्थान नहीं क्योंकि असहयोग की लड़ाई में किसी को विवश करना अथवा हिंसा के द्वारा अपनी बात मनवाना सम्मिलित नहीं है। असहयोग की लड़ाई हृदय-परिवर्तन पर आधारित है। इसी तरह असहयोग का अर्थ अराजकता या अव्यवस्था नहीं है। असहयोग का अर्थ है राज्य के प्रति सहयोग की समाप्ति किन्तु व्यक्तियों में पारस्परिक सहयोग में वृद्धि। असहयोग की स्थिति में व्यक्ति पारस्परिक सहयोग द्वारा अपने स्कूल, न्यायालय आदि स्थापित कर सकते हैं ताकि राज्य-व्यवस्था के स्थान पर जनता की व्यवस्था चलती रहे और सामाजिक सेवाओं में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने में कमी न आये।

असहयोग एवं सविनय अवज्ञा अथवा नागरिक प्रतिरोध में अन्तर है। असहयोग में कानून की अवज्ञा सम्मिलित नहीं है किन्तु सविनय अवज्ञा में कानून को तोड़ने और दण्ड का भागी बनने का मार्ग सुनिश्चित है। तथापि सविनय अवज्ञा असहयोग पर आधारित है। यदि कोई व्यक्ति सरकार द्वारा पारित कानून को उचित नहीं मानता तो उसे उसकी अवज्ञा करने का अधिकार है। कानून का अर्थ यह नहीं है कि हम उसे आँख बंद करके धर्म की तरह पालन करें। गलत कानूनों का विरोध आवश्यक है। इसी तरह सविनय अवज्ञा का अर्थ यह नहीं है कि गलत तरीकों एवं तोड़ फोड़ द्वारा अवज्ञा की जाय। यह सविनय अवज्ञा न होकर अपराधपूर्ण अवज्ञा है जिसमें अपराधी हिंसा का प्रयोग करता है और दण्ड से बचने का प्रयास करता है। सविनय अवज्ञा में व्यक्ति सार्वजनिक रूप से कानून भंग करते हुए दण्ड के लिए अपने आप को प्रस्तुत करता है। सविनय अवज्ञा अनुशासन पर आधारित है। पूर्ण सविनय अवज्ञा का अर्थ है शान्तिमय विद्रोह।

गांधीजी ने सत्याग्रह एवं निष्क्रिय प्रतिरोध में अन्तर स्थापित किया है। वे निष्क्रिय प्रतिरोध को सत्याग्रह का ही अंग मानते हुए भी दोनों में अन्तर स्पष्ट करते हैं। जहाँ निष्क्रिय प्रतिरोध में प्रेम का कोई भी स्थान नहीं है वहाँ सत्याग्रह में घृणा के लिए कोई

स्थान नहीं। निष्क्रिय प्रतिरोध में आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र के प्रयोग की मनाही नहीं है किन्तु सत्याग्रह में उपयुक्त अवसर होते हुए भी शारीरिक बल का प्रयोग निषिद्ध है। निष्क्रिय प्रतिरोध शक्ति के प्रयोग की तैयारी है किन्तु सत्याग्रह में पूर्ण अहिंसा परमावश्यक है। जहां निष्क्रिय प्रतिरोध अपने विरोधी को कष्ट देने तथा स्वयं कष्ट भुगतने की ओर इंगित करता है वहां सत्याग्रह में अपने विरोधियों को हानि पहुंचाने का उद्देश्य लेशमात्र भी नहीं होता।

सत्याग्रह के अन्तर्गत उपवास एवं धरना देने की पद्धति का प्रयोग किया जाता है। धरना देने से उन व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट करने का आग्रह है जो सविनय अवज्ञा में सम्मिलित नहीं हुए हैं। गांधीजी ने धरना देने को तब तक गैर कानूनी नहीं माना जब तक उनमें शक्ति अथवा धमकियों का प्रयोग नहीं किया जाता। नैतिक दृष्टि से दूसरों से अपनी बात मनवाने का कार्य गैर कानूनी नहीं हो सकता। इसी प्रकार गांधीजी ने उपवास को बुरे विचार, कार्य एवं भोजन का निराकरण माना है। उपवास का आरम्भ प्रार्थना से माना है क्योंकि बिना प्रार्थना के किया गया उपवास शरीर पर अत्याचार है। सत्याग्रही सरकार के दरवाजे पर अथवा समुदाय के विरोधी तत्वों के दरवाजे पर बैठकर आमरण अनशन करता है जैसे कि गांधीजी ने कलकत्ता में 1 सितम्बर 1947 को हिन्दू-मुस्लिम दंगों को रोकने के लिए किया था। गांधीजी के अनुसार उपवास सत्याग्रही का आदर्श शस्त्र है। उपवास द्वारा आत्मा को कष्ट देने का मार्ग आततायी के हृदय को पिघला देता है। आमरण अनशन का मार्ग सत्याग्रही द्वारा आततायी के हृदय को प्रभावित करने वाला अत्यन्त तीव्र मार्ग है। अनशन में बल-प्रयोग का कोई स्थान नहीं है। गांधीजी के अनुसार उचित प्रकार से निर्धारित अनशन जो कि ऐसे व्यक्ति के द्वारा किया जाय जिसमें प्रेम, अहिंसा तथा ईश्वरनिष्ठा हो तो परोपकार के लिए किया गया ऐसा अनशन दबाव पर आधारित न होकर प्रेम से उत्पन्न माना जायेगा। यह हो सकता है कि अनशन के कारण वांछित परिणामों की प्राप्ति के लिए दबाव का सा असर दिखाई दे और विरोधी इस दबाव के सामने अनशन करने वाले की मांगे मान ले जिन्हें वह अन्यथा स्वीकार नहीं करता किन्तु दबाव की भावना के बिना किया गया अनशन गलत नहीं माना जा सकता।

गांधीजी ने सत्याग्रह के प्रयोग का एक और पूर्वगामी उपाय प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सत्याग्रह प्रारम्भ करने के पहले पंच फैसले के द्वारा झगड़ों का शान्ति पूर्ण निपटारा किया जा सकता है। गांधीजी ने 1942 में अंग्रेजों के साथ इसी प्रकार के पंच फैसले का प्रस्ताव रखा था। साम्प्रदायिक मतभेदों को मिटाने के लिए भी गांधीजी ने पंच-फैसले का प्रयोग किया। पंच-फैसले के द्वारा सच्चा न्याय प्राप्त कर अदालतों के कानूनी दावपेचों से बचा जा सकता है। गांधीजी ने पंच-फैसले को अहिंसा का ही प्रयोग माना है। पंच-फैसले के असफल होने के बाद ही सत्याग्रह आरम्भ होता है जो कि अहिंसा का प्रतिवादी रूप है। इसी प्रकार पारस्परिक मतभेदों को मिटाने के लिए पंच-फैसले के पहले आपसी बातचीत एवं सत्याग्रह के पहले पंच-फैसला झगड़ों को निपटाने का अहिंसक मार्ग है। सामान्यतया पंच-फैसले की सम्भावना कम होने पर ही सत्याग्रह का प्रयोग किया जाता है। पंच-फैसले में एक ही कमी है कि इसमें झगड़ने वाले दोनों गुटों को किवशान्त के आधार पर रखा जाता है जिससे राजनीतिक पद्धति के रूप में इसका प्रयोग कलस माना

हो जाता है।

गांधीजी के सत्याग्रह सम्बन्धी उपर्युक्त विचार भारत के राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तन में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। सत्याग्रह, राजनीतिक पद्धति के रूप में, गलत कानून, सरकारी आदेश तथा सामाजिक मान्यताओं के विरोध का प्रशंसनीय प्रयोग है। कष्टों की अनुभूति एवं बलिदान के द्वारा सत्याग्रही बुराइयों पर विजय प्राप्त करता है। गांधीजी के अनुसार विश्व सत्य पर आधारित है। असत्य अविद्यमान है किन्तु सत्य यथार्थ है। असत्य की अविद्यमानता के कारण उसकी विजय कैसे हो सकती है। सत्य अविनाशी है। यही सत्याग्रह के सिद्धान्त का सार है। किन्तु इतना होने पर भी सत्याग्रह के सिद्धान्त को पूर्णतया विकसित सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। फिर भी सत्याग्रह का सिद्धान्त गांधीजी की अनुपम देन है। गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह एवं जन सत्याग्रह के प्रयोग किये हैं। व्यक्तिगत सत्याग्रह पाशविक बल के स्थान पर आत्मिक शक्ति का प्रयोग है। समूह अथवा जन-सत्याग्रह में भी गांधीजी ने आदर्शवादी विचार प्रस्तुत किया है। गांधीजी ने सत्याग्रह को समझने तथा सत्य एवं अहिंसा के गुणों का विकास करने के लिए सत्याग्रही को प्रशिक्षण देने का प्रयोग भी किया। समूह सत्याग्रह में गांधीजी ने अनुशासन एवं आज्ञापालन पर अधिक बल दिया। सत्याग्रह-आन्दोलन में कुछ अच्छी तरह से प्रशिक्षित नेताओं की अन्य व्यक्तियों द्वारा आज्ञा मानना उसी प्रकार से अनिवार्य माना गया है जिस प्रकार से एक सिपाही सैन्य अनुशासन के अन्तर्गत अपने सेनापति की आज्ञा मानता है। यदि अनुशासन की भावना नहीं है तो हिंसा की घटना द्वारा व्यक्तिगत एवं सामाजिक विखण्डन प्रारम्भ हो जायेगा। गांधीजी इसके लिए आन्दोलनकारियों में उसी प्रकार का प्रेमभाव देखना चाहते हैं जैसा कि एक परिवार के सदस्यों में होता है।

गांधीजी का यह आदर्श एक संवेदनशील प्राणी एवं समाज की आवश्यकता पर बल देता है। उन्नत मानवता ही प्रेम एवं सहिष्णुता का परिचय दे सकती है। सत्याग्रह एक कठिन आदर्श है। इसकी प्राप्ति साधारण व्यक्ति अथवा समाज द्वारा नहीं की जा सकती। जिस दिन विश्व में सत्याग्रह पूर्णतया सफल हो जायगा उस दिन काल्पनिक स्वर्ग पृथ्वी पर साकार उतर आयेगा।

गांधीजी के सत्याग्रह-आन्दोलन की कई विचारकों ने प्रशंसा की है। राजेन्द्रप्रसाद ने सत्याग्रह को मनसा-वाचा-कर्मणा उपयोग में लाने पर बल दिया। वे गांधीजी के अहिंसा सम्बन्धी विचारों को सत्य के प्रयोग के लिए आवश्यक तत्त्व के रूप में मानते थे। उनके अनुसार सत्य का दर्शन स्वयं की अनुभूति में ही पूरा नहीं होता। उसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति दूसरों को भी ऐसा करने में सहायक हो। वह दूसरों के मार्ग का बाधक नहीं होना चाहिए। जवाहरलाल नेहरू भी गांधीजी के सत्याग्रह सम्बन्धी विचारों को विश्वकल्याण का साधन मानते थे। वे जनता सत्याग्रह के स्थान पर नेतृत्व के सत्याग्रह को ही उचित मानते थे। उनके अनुसार सत्याग्रह का मार्ग कष्टों से भरा हुआ है अतः साधारण व्यक्ति द्वारा इसकी पवित्रता की रक्षा नहीं की जा सकती। नेतृत्व द्वारा इसके सफल प्रयोग का जनता से समय समय पर प्राप्त समर्थन ही उसका आधार है। विनोबा भावे ने गांधीजी के विचारों का जीवन में अक्षरशः पालन किया है। वे अहिंसा के पालन में विश्व की समस्त कठिनाइयों का निराकरण देखते हैं। उनके अनुसार घृणा को जो कि

व्यक्तियों के जीवन का अंग बन गई है, उसे उचित समाधान के साथ अहिंसा में परिवर्तित करना आवश्यक है। अरविन्द घोष तथा तिलक भी असहयोग का पालन करते थे किन्तु उनके विचार गांधीजी के सदृश नहीं थे। दोनों ही निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति का प्रचार करते रहे। किन्तु उनका निष्क्रिय प्रतिरोध गांधीजी के प्रतिरोध से भिन्न था। वे सामाजिक तथा आर्थिक दोनों ही प्रकार के बहिष्कार का प्रयोग करना चाहते थे। वे शासन के साथ असहयोग कर उसे पूर्णतया समाप्त करना चाहते थे क्योंकि उनमें शासन के प्रति आक्रोश एवं घृणा का भाव था। वे एक हद तक निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति का पालन करने को तैयार थे किन्तु उसके पश्चात् वे सक्रिय प्रतिरोध के लिए भी तैयार रहना चाहते थे। उनका निष्क्रिय प्रतिरोध केवल उपयोगिता पर आधारित था। उन्हें गांधीजी जैसा धार्मिक लगाव नहीं था। सुभाष चन्द्र बोस के विचार तो और भी भिन्न थे क्योंकि वे सशस्त्र क्रांति के पुजारी थे।

सत्याग्रह के असहयोग एवं नागरिक प्रतिरोध की कई लोगों ने आलोचना की है। गोखले ने असहयोग को असम्भव बताया था। श्रीनिवास शास्त्री, जो गांधीजी के विश्वास-पात्र सलाहकार थे, असहयोग को नकारात्मक सिद्धान्त मानते थे। वे असहयोग को नकारात्मक तथा प्राचीन बौद्ध धर्म के कर्म से दूर रहकर निष्क्रिय हो जाने के उपदेशों के समान मानते थे। उनके अनुसार असहयोग ने समाज में अनुशासन एवं कानून के पालन के आवश्यक सामाजिक आदर्श को हानि पहुंचाई थी। बहिष्कार की नीति ने व्यक्तियों के कथनी और करनी के अन्तर को ही प्रकट किया था। स्कूल तथा न्यायालयों का बहिष्कार बहुत कम लोगों द्वारा किया गया। इस प्रकार श्रीनिवास शास्त्री ने सत्याग्रह एवं असहयोग की नीति को अप्रयोज्य बतलाया। लाला लाजपतराय भी अहिंसा और सत्याग्रह के विचारों को राजनीतिक दृष्टि से अव्यावहारिक मानते थे। उनके अनुसार अहिंसा की धारणा भारत की राजनीतिक निर्बलता का कारण थी। वे निष्क्रिय प्रतिरोध को अंग्रेजों से विमुक्ति का मार्ग मानते थे। वे सहयोग तथा असहयोग दोनों में से किसी एक पर स्थिर रहने की नीति के स्थान पर समयानुसार इनके प्रयोग पर बल देते थे। उनका लक्ष्य भारत से ब्रिटिश शासन को समाप्त करने का था। इस कार्य के लिए वे उग्र राजनीतिक आन्दोलन चलाना चाहते थे। अपने विरोधियों के हृदय-परिवर्तन के स्थान पर वे उनके पलायन में अधिक विश्वास करते थे। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी असहयोग की आलोचना करते हुए गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन को विदेशी शासन के प्रति घृणा एवं हिंसा को जाग्रत करने वाला माना था। भारत में राजनीतिक तथा धार्मिक तनावों के लिए उन्होंने गांधीजी के कार्यक्रमों को ही दोषी ठहराया। विदेशी शासन का विरोध हमारे मस्तिष्क पर इतना छा गया कि कालान्तर में हम देशवासी भी एक दूसरे के विरोधी बन गये तथा जाति व धर्म के नाम पर नर-संहार पर उतर आये। प्रोफेसर रंगनास्वामी के अनुसार अहिंसक असहयोग-आन्दोलन भारत की प्राचीन जाति व्यवस्था पर आधारित था। प्राचीन भारत में जाति व्यवस्था राजनीतिक एवं सामाजिक संगठनों का मूल थी और जो जाति व्यवस्था के नियमों की अवमानना करता था उसे सामाजिक बहिष्कार रूपी असहयोग भुगतना पड़ता था। वर्तमान समय में उसी प्रकार के असहयोग की नीति का देशव्यापी प्रयोग उचित नहीं कहा जा सकता। असहयोग राज्य की स्थिरता को प्रभावित

करता है। भारत जैसे देश में जहाँ विभिन्न सम्प्रदाय के व्यक्ति बसते हैं, असहयोग के द्वारा एकरूपता प्राप्त करना कठिन है। सविनय अवज्ञा भविष्य के लिए बाधक सिद्ध हो सकती है जबकि देशवासी भारतीय सरकार के प्रति भी इसी अवज्ञा का प्रयोग करने लगेंगे। इस प्रकार सत्याग्रह की विभिन्न विधाओं की समय समय पर आलोचना प्रस्तुत की गई है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि गांधीजी के सत्याग्रह सम्बन्धी विचार अपने समय से आगे हैं। गांधीजी आदर्शवादी थे और वे ऐसी आदर्श व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जो सत्य और अहिंसा पर पूर्णतया आधारित हो। गांधीजी ने सत्याग्रह का अनेक बार प्रयोग कर यह दर्शा दिया कि सत्याग्रह सम्बन्धी धारणा आदर्शवादी होते हुए भी अव्यवहार्य नहीं है। दक्षिण अफ्रीका तथा भारत में गांधीजी का सत्याग्रह-आन्दोलन सफलतापूर्वक चला। गांधीजी ने सत्याग्रह के सिद्धान्त को विकासशील माना और उसके निरन्तर प्रयोग की आवश्यकता पर बल दिया। सत्याग्रह के निरन्तर प्रयोग द्वारा ही उसकी अच्छाई तथा कमजोरियां सामने आ सकती हैं। इस सिद्धान्त का और भी अधिक विकास करने की आवश्यकता है। गांधीजी के पद चिह्नों पर चलते हुए कई देशों में सत्याग्रह के प्रयोग किये गये हैं जिनमें अमेरिका के दिवंगत नीग्रो नेता मार्टिन लूथर किंग का उदाहरण हमारे सामने है। □□

अध्याय 29

समाजवाद एवं विकेन्द्रीकरण

भारत में समाजवादी चिन्तन का विकास

भारत मे समाजवादी चिन्तन का विकास उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे आरम्भ हुआ। यह समाजवादी चिन्तन मार्क्स के विचारो के प्रत्यक्ष अध्ययन का परिणाम न होकर उन अंग्रेज समाजवादियो द्वारा प्रेरित था जो तत्कालीन भारतीय राजनेताओ के मित्र थे। अंग्रेज समाजवादी हाइडमैन, लेन्सबरी, जोसिया वेजवुड आदि ने दादा भाई नौरोजी, तिलक, लाला लाजपतराय आदि को प्रभावित किया। लाजपतराय पहले भारतीय नेता थे जिन्होंने 1917 की रूस की क्रान्ति का अभिवादन किया। उन्होंने यह भी भविष्यवाणी की कि यदि भारत की निर्धनता एव दासता का अन्त नहीं किया जाता तो हिमालय भी भारत मे साम्य-वाद के बढते हुए प्रसार को नही रोक पायेगा। लाजपतराय की समाजवाद मे पूर्ण आस्था थी किन्तु वे सैद्धान्तिक समाजवादी नही थे। उन्हें साम्यवाद से घृणा थी क्योंकि वे एक सच्चे राष्ट्रवादी थे। उनकी प्रेरणा से भारत मे अखिल भारतीय श्रमिक सगठन की स्थापना हुई। एन एम जोशी तथा बी. पी वाडिया इस मजदूर सगठन के स्तम्भ रहे। समाजवादी आन्दोलन के साथ-साथ साम्यवादी आदोलन भी भारत मे फैला। रूस की क्रांति एवं उनके प्रचार से प्रेरित हो काजी नजरूल इस्लाम, फजलुल हक, मुजफ्फर अहमद आदि ने पत्रकारिता के माध्यम से साम्यवाद का प्रचार-प्रसार आरम्भ किया। श्रीपाद अमृत डांगे ने साम्यवादी दल के लिए सक्रिय कार्य किया। मानवेन्द्र नाथ रॉय ने ताशकन्द मे रूस की आर्थिक सहायता एव सहयोग से एक सैनिक स्कूल स्थापित किया जिसका उद्देश्य भारत में साम्यवादी क्रांति लाने के लिए एक सेना तैयार करना था। ट्राट्स्की के समान मानवेन्द्र नाथ रॉय रूसी क्रान्ति को काबुल होते हुए बम्बई तथा कलकत्ता पहुचाना चाहते थे। किन्तु भारत मे गाधीजी के नेतृत्व मे काग्रेस ने साम्यवादियों से अपने को अलग रखा।

भारत के समाजवादी चिन्तकों मे मानवेन्द्र नाथ रॉय का अनूठा स्थान रहा है। वे न केवल भारत मे समाजवाद के ही प्रेरक थे अपितु साम्यवाद के प्रसार एवं प्रचार के भी अग्रदूत रहे। भारत मे साम्यवाद का अध्याय उन्ही के नाम से प्रारम्भ होता है किन्तु जितनी प्रबलता से उन्होंने साम्यवाद का समर्थन किया उतनी ही प्रबलता से उन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में उसकी आलोचना की। जहां एक ओर एशिया तथा भारत को साम्यवाद का सदेश उन्होंने दिया वही दूसरी ओर उन्होंने सर्वप्रथम साम्यवाद की त्रिमूर्ति लेनिन, स्टालिन तथा ट्राट्स्की के अत्यन्त निकट रह कर तथा मैक्सिको, चीन व भारत को साम्यवाद का मार्ग दिखाकर जिस तरह से मानवीय स्वातन्त्र्य का उद्घोष किया उसका दूसरा उदाहरण विश्व मे नही मिलता। यदि भारतीय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की राजनीति से ऊपर उठकर विचार किया जाये तो यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि उनका नवमानववाद भारतीय सामाजिक एव राजनीतिक चिन्तन मे समाजवाद का ही अभिनव प्रयोग है।

कांग्रेस में समाजवादी प्रभाव के उन्नायक जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस थे। नेहरू मार्क्स तथा लेनिन के प्रशंसक थे। नेहरू के प्रगतिशील विचारों के कारण गांधीजी के नेतृत्व को समाजवादी चुनौती का सामना करना पड़ा। नेहरू ने ऐतिहासिक लाहौर-कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में समाजवादी सिद्धांतों के प्रति अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त की। उन्हींके प्रयत्नों से कांग्रेस निरन्तर समाजवाद की ओर बढ़ती गयी। कांग्रेस में कई अन्य नेता थे जिन्होंने नेहरू के समान समाजवादी कार्यक्रम को अपना लक्ष्य बना लिया था। ये थे जयप्रकाश नारायण, अशोक मेहता, यूसुफ मेहरअली, एन जी गोरे, अच्युत पटवर्धन तथा आचार्य नरेन्द्र देव। आचार्य नरेन्द्रदेव का समाजवादी चिन्तन की दृष्टि से विशेष योगदान रहा। कांग्रेस के समाजवादी विचारधारा वाले इस गुट ने पटना में मई 1934 में एक कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना की। इस दल के उद्देश्य श्रम-कल्याण, राजकीय आर्थिक नियोजन, महत्त्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, विदेशीव्यापार का राष्ट्रीयकरण, सामूहिक एवं सहकारी खेती, सहकारिता के आधार पर उत्पादन, वितरण तथा ऋण की व्यवस्था, राजतन्त्र व जमींदारी का उन्मूलन आदि थे। यह दल मार्क्सवाद के प्रभाव से अभिभूत था और कांग्रेस के अन्तर्गत कार्य करते हुए भी कांग्रेस के पूंजीवादी नेतृत्व का विरोधी था। आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार दल का उद्देश्य कांग्रेस को नवजीवन देना था ताकि वह भावी समाजवादी समाज का लक्ष्य प्राप्त करने में सफल हो सके। इसका उद्देश्य एक ओर किसानों तथा मजदूरों का समर्थन प्राप्त करना तथा दूसरी ओर उन्हीं के सहयोग से समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के साथ-साथ अंग्रेजी साम्राज्यवाद से मुक्ति प्राप्त करना भी था। वे गांधीजी के आर्थिक तथा सामाजिक विचारों के विरोधी थे।

1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय डा. राम मनोहर लोहिया आदि के नेतृत्व में कांग्रेस समाजवादी दल ने कांग्रेस के कार्यक्रम को पूरा समर्थन दिया जब कि भारतीय साम्यवादियों ने ऐसे राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति अपना विरोधी रवैया अपनाया। साम्यवादियों ने कांग्रेस को फासीवादी बतलाया तथा कांग्रेस के चलाये आन्दोलन को विफल करने में कोई कसर नहीं रखी। रूस पर जर्मनी का दबाव जारी था। रूस ब्रिटेन आदि मित्र राष्ट्रों के साथ था अतः भारतीय साम्यवादी अपनी रूस-भक्ति के कारण भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति को भी ताक पर रखने को तैयार थे। उनका उद्देश्य रूस की रक्षा के लिए ब्रिटेन विरोधी आन्दोलन का विरोध करना था। साम्यवादियों के इस कार्य को जो कि मानेवन्द्रनाथ रॉय आदि द्वारा निर्देशित था राष्ट्रघाती माना गया। इससे भारतीय जनमानस में भारतीय साम्यवादी दल तथा समस्त साम्यवादी नेताओं के प्रति तिरस्कार की भावना उत्पन्न हुई। किन्तु इसके विपरीत कांग्रेस समाजवादी दल ने आन्दोलन का समर्थन करते हेतु जनता का हृदय जीत लिया। यह दल साम्यवादियों की भाँति भारतीय राष्ट्रवाद का शत्रु नहीं था। इस कारण से भी इसे जनता का समर्थन प्राप्त हुआ।

भारत को स्वाधीनता मिलने के पश्चात् कांग्रेस में समाजवादी दल का प्रभाव क्षीण होने लगा। इसमें कांग्रेस समाजवादी दल ने अपने को कांग्रेस से पृथक् कर लिया। इस दल ने आचार्य कृपलानी के कृषक-मजदूर-दल के साथ मिलकर 1952 में प्रजा समाजवादी दल की स्थापना की। आन्तरिक मतभेदों के कारण डा. राम मनोहर लोहिया ने

दर्शन को मानववादी मानकर आचार्य नरेन्द्र देव ने समाजवादी किसान-आन्दोलन को भारत में एक नवीन दिशा दी।

भारतीय समाजवादी चिन्तकों में जयप्रकाश नारायण की भी गणना की जाती है। कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना में उनका पूर्ण योगदान रहा। वे गांधीजी के अनुयायी होते हुए भी मार्क्स के विचारों से अनुप्राणित रहे। इन पर मानवेन्द्र नाथ रॉय के विचारों का भी पूरा प्रभाव पड़ा। फिर भी वे रूस की साम्यवादी सरकार के समर्थक नहीं बने। वे प्रजा समाजवादी दल के कर्णधार थे। बाद में वे सर्वोदय-आन्दोलन में लग गये। जयप्रकाश नारायण का समाजवादी दृष्टिकोण यह था कि वे समाजवाद को सामाजिक आर्थिक पुनर्निर्माण का पूर्ण सिद्धान्त मानते थे। उनके अनुसार मनुष्य अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं में समान नहीं होते। यह जैविक असमानता है जिसका निराकरण नहीं। किन्तु सामाजिक क्षेत्र में मनुष्यकृत असमानता का उन्होंने विश्लेषण किया तथा यह माना कि कुछ मुट्ठी भर लोगों का वितरण व उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होने के कारण शेष जनता निर्धनता, महंगाई तथा शोषण का शिकार बन जाती है। वे इस व्यवस्था को समाजवादी उपचार से ठीक करना चाहते थे। वे उत्पादन के साधनों के समाजीकरण के तथा आर्थिक नियोजन के पक्ष में थे। वे राष्ट्रीय आन्दोलन में स्वयं अग्रगण्य रहे तथा अन्य समाजवादियों को भी इसके लिए प्रेरित किया। उनका यह विचार था कि बड़े-बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण तथा समाजवादी लक्ष्य की पूर्ति से ही भारत का दारिद्र्य दूर हो सकता है। वे समाजवाद को भारतीय संस्कृति का सहगामी मानते थे। उनका यह विचार है कि समाजवाद के आर्थिक सिद्धान्तों का निर्माण अवश्य यूरोप में हुआ है किन्तु उसकी मूल आस्था का दर्शन प्रारम्भ से ही भारतीय संस्कृति में विद्यमान है। जयप्रकाश नारायण ने इस तरह समाजवाद का भारतीयकरण प्रस्तुत कर साम्यवादियों के रूसी मक्का-मदीना पर करारा व्यंग्य किया है।

भारतीय कृषकों के लिए जयप्रकाश नारायण ने भूमि-सुधार तथा ग्रामसुधार योजनाएं प्रस्तुत की हैं। वे सहकारी खेती, ग्राम्य स्वायत्तता, किसानों का भूमि पर स्वामित्व, भूमि सम्बन्धी कानूनों आदि में आमूलचूल परिवर्तन के पक्ष में हैं। वे कृषि तथा उद्योगों में सन्तुलन बनाये रखना चाहते हैं। उनके विचारों से यह सन्तुलन कृषि के क्षेत्र में सहकारिता के द्वारा ही सम्भव है। वे एक ओर कृषि के व्यक्तिवादी आधार का अन्त करना चाहते हैं तो दूसरी ओर उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण। इस प्रकार जयप्रकाश नारायण ने समाजवादी विचारधारा को भारत में प्रसार कर उसे साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद से मुकाबला करने का अस्त्र बनाया।

भारत के समाजवादी चिन्तन में एक और नाम प्रमुखता से लिया जाता है और वह है डा० राममनोहर लोहिया। लोहिया समाजवाद के भीषण प्रचारक थे। समाजवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाने में उनका विशेष सहयोग था। वे सच्चे गांधीवादी थे और उन्होंने एक सच्चे गांधीवादी के रूप में गांधीवाद को समाजवादी चिन्तन में प्रमुखता देने का प्रयास भी किया। वे साम्यवाद के विरोधी थे। जहां आचार्य नरेन्द्रदेव तथा जयप्रकाश-नारायण मार्क्सवादी थे वहां लोहिया पर गांधीवाद की अमिट छाप थी। वे समाजवादियों को कांग्रेस तथा समाजवादी दल दोनों से दूर रखना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने प्रजा

समाजवादी दल से सम्बन्ध-विच्छेद कर एक अलग समाजवादी दल की स्थापना की। वे साम्यवादियों की तरह भारी उद्योगों की स्थापना के पक्षपाती नहीं थे। उन्होंने कुटीर-उद्योगों तथा छोटे उद्योगों की स्थापना पर बल दिया। पूंजीवाद के प्रसार तथा बेरोजगारी को रोकने का उनका यह अपना तरीका था। छोटी मशीनों तथा सहकारी श्रम के आधार पर भारत की आर्थिक समस्याओं का निदान उन्होंने प्रस्तुत किया। वे कृषकों तथा गांवों की स्थिति में सुधार लाने के लिए विकेन्द्रित समाजवाद की स्थापना चाहते थे।

लोहिया ने एशियाई समाजवाद का मार्ग प्रशस्त किया। वे एशिया की समस्याओं का एशियाई तरीकों से हल करने के पक्षपाती थे। पश्चिम का अन्धानुकरण उन्हें पसन्द नहीं था। इसी तरह से मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को स्वीकार करते हुए भी लोहिया आत्मा व चेतना को आर्थिक उद्देश्यों में विलीन नहीं करना चाहते थे। वे वर्ग-संघर्ष को भी नवीन दृष्टि से देखते थे। उनका यह विश्वास था कि वर्ग-संघर्ष जातियों तथा वर्गों का संघर्ष था। इसी तरह इतिहास की भी स्थायी व्याख्या के स्थान पर वे इतिहास की चक्रवत् गति मानते थे। वे पन्थवादी नहीं थे। वे यथार्थवादी थे और इसी कारण समाजवाद के पुरातन पन्थी चोले को दूर फेंक उन्होंने समाजवाद के साथ-साथ लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों को जीवित रखा। आर्थिक विषमता उन्हें पसन्द नहीं थी किन्तु वे राष्ट्रीयकरण की नीति को ही इसका एकमात्र हल नहीं मानते थे। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के महान् समर्थक होने के कारण उन्होंने प्रशासनिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को विकेन्द्रीकरण के साथ समन्वित करने का आदर्श भी प्रस्तुत किया है।

इस तरह भारत में समाजवादी चिन्तन वैज्ञानिक समाजवाद की जकड़ से मुक्त होकर सैद्धान्तिकता के स्थान पर व्यावहारिकता का हामी रहा है। भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप समाजवाद को ढाल कर हमारे समाजवादी चिन्तकों ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। श्रमिकों तथा किसानों, मध्यमवर्ग तथा निम्नवर्ग सभी की समस्याओं का समाधान इसमें प्रस्तुत है। वर्ग-संघर्ष के साथ जाति-संघर्ष से मुक्ति का भी प्रयास इसमें सम्मिलित है। भारत की कृषि-प्रधानता एवं भारत की आबादी का बहुमत जो कि गांवों में बसता है—दोनों ही इन समाजवादी चिन्तकों के विचार बिन्दु रहे हैं। यही कारण है कि भारतीय समाजवाद सामूहिकता के स्थान पर खंडश नियोजन, केन्द्रीकरण के स्थान पर विकेन्द्रीकरण आदि का समर्थक है। भारतीय समाजवाद हिंसा के स्थान पर अहिंसा, सर्वाधिकारवाद के स्थान पर लोकतन्त्रवाद को स्थापित करता है। यह मार्क्सवाद तथा गांधीवाद का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करता है।

विकेन्द्रीकरण

आधुनिक भारतीय चिंतन में विकेन्द्रीकरण की अवधारणा सर्वोदय विचारधारा पर अवलम्बित है। सर्वोदयवाद के अधिष्ठाता गांधीजी ने ग्राम-स्वराज्य की विस्मृत किन्तु प्राचीन मान्यता को नवजीवन प्रदान किया। उनके देहावसान के पश्चात् विनोबा भावे, जयप्रकाश नारायण तथा अनेक गांधीवादियों ने "सर्व सेवा संघ" के माध्यम से "सर्वोदय-योजना" को क्रियान्वित करने का बीड़ा उठाया। सर्व सेवा-संघ के सर्वोदय कार्यकर्ताओं की टोली ने गांधीजी के मार्ग का अनुसरण करते हुए समस्त राजनीतिक प्रलोभनों से दूर रह कर जन-सेवा का व्रत लिया। विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी विचारों को जयप्रकाश नारायण

तथा विनोबा भावे का पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में 1959 में बलवन्तराय मेहता समिति की सिफारिशों के अनुरूप भारत में पंचायती राज का श्रीगणेश हुआ। यद्यपि पंचायतीराज व्यवस्था का प्रायोगिक स्वरूप विकेन्द्रीकरण की सर्वोदय की विचारधारा को प्रतिध्वनित करता है किन्तु दोनों में उतना ही अन्तर है जितना कि सैद्धान्तिक राजनीति एवं व्यावहारिक राजनीति में। सर्वोदयवादियों का विकेन्द्रीकरण सम्बन्धी प्रचार आदर्शोन्मुख है। यह सतत प्रेरणा का प्रतीक है। यहाँ विकेन्द्रीकरण का केवल अवधारणात्मक विवेचन ही किया गया है।

विकेन्द्रीकरण केवल मात्र राजनीतिक आदर्श ही नहीं है। आर्थिक पक्ष भी विकेन्द्रीकरण में सन्निहित है। विकेन्द्रीकरण का राजनीतिक उद्देश्य जहाँ स्थानीय स्वशासन एवं ग्राम्य स्वराज की स्थापना का रहा है वहाँ इसका आर्थिक मन्तव्य पूँजी का विकेन्द्रीकरण एवं न्यासिता से स्पष्ट होता है। राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों ही अर्थों में विकेन्द्रीकरण की अवधारणा का अध्ययन अपेक्षित है। विनोबा भावे भारत के प्रत्येक गाँव को स्वावलंबी बनाना चाहते हैं। वे आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों ही दृष्टिकोण से ग्राम्य-स्वराज्य की स्थापना करना चाहते हैं। उनका राजनीतिक दृष्टिकोण यह है कि स्थानीय स्तर पर प्रत्येक कार्य सर्वसम्मति से किया जाय। बहुमत पर आधारित लोकतन्त्र उन्हें रुचिकर नहीं लगता। सर्वसम्मति से लिये गये निर्णय ही स्थानीय स्वशासन की जड़ें मजबूत कर सकते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में इस प्रकार के अभिनव प्रयोग द्वारा नवीन सामाजिक क्रांति आ सकती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने को शासन से सम्बन्धित मानते हुए अपने उत्तरदायित्वों की पूर्ति में जुट जाए। केन्द्रीय शासन-व्यवस्था का नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप टाला नहीं जा सकता किन्तु कम अवश्य किया जा सकता है। विकेन्द्रीकरण को आर्थिक दृष्टि से ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में क्रियान्वित करने के लिए विनोबा ने एक और भूदान-आन्दोलन का संचालन किया और दूसरी ओर न्यासिता व गांधीजी द्वारा प्रतिपादित विचारों को "सर्वोदय पात्र" के छोटे से प्रयोग से प्रारम्भ किया। ग्रामीण क्षेत्रों में आवश्यकता से अधिक भूमि रखने वालों के हृदय-परिवर्तन से भूमिहीन कृषकों की समस्या का समाधान ढूंढा गया है। अनेक परिवार इससे लाभान्वित हो चुके हैं। इसी प्रकार न्यासिता की धारणा ने उन व्यक्तियों को जिनके पास आवश्यकता से अधिक कोई वस्तु है उसका स्वेच्छिक दान करने की प्रेरणा दी है। सम्पन्न पूँजीपतियों, कृषकों एवं समाज के कुलीन वर्गों पर असहाय एवं दरिद्र जनता के उत्थान का भार है। सर्वोदय की यह प्रेरणा आर्थिक असमानता को दूर करने में हितकारी सिद्ध हो सकती है। पूँजी का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। चन्द व्यक्तियों के हाथ में पूँजी सिमट जाने पर शोषण का चक्र और भी त्वरित वेग से घूमता है। शासन के समस्त ग्रस्त जनता के हित में शिथिलता किन्तु पूँजीपतियों के लिए अभूतपूर्व उत्साह एवं तत्परता प्रदर्शित करने लगते हैं। यदि मार्क्स के बताए हुए मार्ग का अनुसरण न करना हो तो न्यासिता के द्वारा भी आर्थिक समानता का आदर्श प्राप्त हो सकता है। सर्वोदयवादियों ने आर्थिक विकेन्द्रीकरण के प्रश्न को समाजवाद एवं साम्यवाद के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया है।

राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में जयप्रकाशनारायण ने कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार भारत में अत्यधिक विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। भारत के

प्राचीन सामाजिक संगठन के अनुरूप क्षेत्रीय एवं व्यवसायात्मक समुदायों का उत्थान आवश्यक है। समाज का पुनर्गठन पिरामिड के सदृश किया जाय। ग्रामीण समुदाय को आधार मानकर उस पर क्षेत्रीय, जिला स्तरीय, प्रान्तस्तरीय एवं राष्ट्रीय समुदायों को आधारित किया जाय। प्रत्येक स्तर पर सामुदायिक भावना का संचार किया जाय और प्रत्येक स्तर अन्य स्तरों के साथ पारस्परिक आदान-प्रदान की भावना के द्वारा सामान्य राष्ट्रीय चेतना से एकाकार हो। राष्ट्रीय स्तर एवं ग्रामीण स्तरों में तारतम्य रहे। स्थानीय ग्रामीण स्तर पर सर्वाधिक स्वतन्त्रता उद्भासित हो जबकि राष्ट्रीय स्तर पर केवल कतिपय राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों का प्रावधान रखा जाय। विकेन्द्रीकरण की इस योजना में सामाजिक संगठनों के स्वशासन पर अत्यधिक ध्यान केन्द्रित किया गया है। जयप्रकाश-नारायण के इस सामुदायिक लोकनीति के आदर्श ने ऐसे लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त किया है जिसमें राजनीतिक दलों की अहम्मन्यता एवं अवसरवादिता के लिए कोई स्थान नहीं। प्रत्येक व्यक्ति समुदाय के सदस्य के रूप में अपना अंशदान देते हुए समुदाय के अविभाज्य अंग के रूप में अपने आपको मानें। स्वतन्त्रता, आत्मगरिमा एवं स्वावलम्बन का उच्च आदर्श इसी सामुदायिक लोकनीति के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

विकेन्द्रीकरण का राजनीतिक पक्ष केवल स्वशासन तक ही सीमित नहीं है। इसके साथ राज्य की मान्यता का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। जयप्रकाशनारायण एवं विनोबा भावे ने राज्य की शक्ति को सीमित करने तथा समाज को आंतरिक विषयों में अधिक शक्तिशाली बनाने का विचार प्रस्तुत किया है। उनका उद्देश्य राज्य-शक्ति के स्थान पर जनशक्ति को जाग्रत एवं प्रतिष्ठित करने का है। वे राजनीति को लोकनीति में परिवर्तित करना चाहते हैं ताकि राज्य शोषण का प्रतीक न रहकर सेवा का प्रतीक बन जाय। राज्य के बढ़ते हुए हस्तक्षेप ने मानवीय गरिमा एवं स्वतन्त्रता को हास्यास्पद बना दिया है। राज्य को सीमित करने के लिए विकेन्द्रीकरण की अवधारणा प्रकाश में आती है ताकि शक्ति का केन्द्रीकरण राज्य को सर्वाधिकारवादी न बनादे। जयप्रकाशनारायण के अनुसार लोकतान्त्रिक समाजवादी, साम्यवादी तथा लोककल्याणकारी राज्यवादी सभी राज्यवाद से ग्रसित हैं। राज्य को राजनीतिक शक्ति का एकाधिकार देकर नागरिक की स्वतन्त्रता एवं सम्प्रभुता को केवल कागजी संविधान द्वारा सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। राजनीतिक एवं आर्थिक नौकरशाही के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए उचित नियन्त्रणों का विकास आवश्यक है। समाज-वादी चिंतन में भी विकेन्द्रीकरण का महत्त्व बढ़ने लगा है फिर भी समाजवादी राज्य "सेवार्थ" बनकर व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का संकुचन करता है। इसके लिए सर्वोदय ही नवीन दिशा प्रदान कर सकता है। सर्वोदय ने राज्य की बुराई से बचने का मार्ग प्रस्तुत किया है। व्यक्तियों को अपना काम राज्य के बिना स्वयं करने का अभ्यस्त होना चाहिए ताकि राज्य की कम से कम आवश्यकता रह जाय। राज्य समाजवाद के स्थान पर लोक-समाजवाद की स्थापना की जाय। सर्वोदय इसी लोकतान्त्रिक समाजवाद का उन्नत स्वरूप कहा जा सकता है।

विकेन्द्रीकरण का विचार स्वभावतः शासन के सबसे नीचे के स्तर से प्रारम्भ होता है। भारत में गावों की स्थिति शासन के निम्नतम स्तर की द्योतक है। प्राचीन काल में पंचायतों की व्यवस्था स्थानीय स्वशासन की प्रथम कड़ी थी। इसी प्रकार के स्थानीय

स्वशासन को राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की योजना के अन्तर्गत पुनः जीवित किया गया है। भारत में गांव सामाजिक संगठनों की प्राथमिक इकाई हैं। लोकतांत्रिक दृष्टि से सामुदायिक जीवन का पहला अध्याय गांव से ही प्रारम्भ होता है जहां व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ घुलमिलकर अपना जीवन व्यतीत करता है। ग्रामीण स्तर को शहरी स्तर से मिलाने की आवश्यकता है क्योंकि वर्तमान समय में गांव तथा शहर दोनों ही असन्तुलित स्थिति में हैं। राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से इस असंतुलन को दूर करने के लिए कृषि-प्रधान औद्योगिक समुदायों का विकास आवश्यक है ताकि कृषि तथा उद्योगों का साथ-साथ विकास हो और गांव तथा शहरों का असंतुलन दूर किया जा सके। इस कार्य के लिए निर्वाचन-पद्धति में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की गयी है। विकेन्द्रीकरण का सही लाभ तब मिल सकता है जबकि व्यक्ति शासन कार्य से अपने आपको सम्बन्धित माने और स्वयं अपना शासन चलाये। जयप्रकाशनारायण के अनुसार स्वशासन का यह उद्देश्य राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण से ही प्राप्त हो सकता है। पाश्चात्य लोकतान्त्रिक पद्धति में प्रतिनिध्यात्मक शासन इस कमी को दूर करने में असफल रहा है। इस कमी को दूर करने का एक ही मार्ग है और वह यह कि राजनीतिक दलों के माध्यम से प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के स्थान पर जनता का सीधा प्रतिनिधित्व हो। दलविहीन लोकतन्त्र की स्थापना कर शासन के प्रत्येक स्तर पर जनता को सम्बन्धित किया जा सके। सामाजिक पुनर्निर्माण का यही एक मात्र साधन है। स्थानीय समुदाय की सर्वोच्च राजनीतिक इकाई—ग्राम सभा हो जिसकी सदस्यता प्रत्येक वयस्क को प्राप्त हो। ग्राम सभा द्वारा सर्वसम्मति से पंचों का चुनाव किया जाय। ग्राम पंचायत पंचायत समितियों से तथा पंचायत-समिति जिला-परिषदों से संयुक्त की जाय। जिला-परिषदें राज्य विधानसभाओं से समन्वित की जायें और विधान-सभाएं राष्ट्रीय पंचायत के साथ समन्वय स्थापित करें। इस प्रकार निम्नतम स्तर पर प्रत्यक्ष और उसके पश्चात् अप्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था से राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की पूर्ण स्थापना हो सकती है। जयप्रकाशनारायण का यह भी सुझाव है कि चुनावों में जिला स्तर तक राजनीतिक दलों का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर पर भी चुनाव के लिए उम्मीदवारों का चयन जनता द्वारा किया जाना चाहिए न कि राजनीतिक दलों द्वारा। जनता की बढ़ती हुई भूमिका के साथ ही राजनीतिक दलों का महत्त्व घटता जायगा और दलविहीन लोकतन्त्र की स्थापना होकर रहेगी।

स्वराज जब तक जनता के निकट नहीं पहुंच जाता तब तक स्वतन्त्रता की चर्चा अर्थहीन ही दिखाई देती है। यद्यपि भारत में पंचायतीराज की स्थापना सफलतापूर्वक कर दी गयी है फिर भी जयप्रकाश नारायण इससे सन्तुष्ट नहीं दिखाई देते। उनके अनुसार लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की स्थापना के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि जनता को लोकतन्त्र का सहभागी बनने के लिए शिक्षित किया जाय। शिक्षा का समुचित विस्तार हो। राजनीतिक दलों को पंचायतीराज्य में हस्तक्षेप करने से दूर रखा जाय। स्थानीय संस्थाओं को वास्तविक शक्तियों से सम्पन्न किया जाय। पंचायतीराज-व्यवस्था के स्वतन्त्र निष्पादन के लिए प्रत्येक स्तर पर समुचित आर्थिक साधनों का प्रावधान कर अर्थ उपलब्ध कराया जाय। प्रशासकीय अधिकारियों को जनप्रतिनिधियों के प्रति वास्तविक रूप से उत्तरदायी बनाया जाय। जयप्रकाश नारायण इतने तक ही अपने विचारों को सीमित नहीं रखते। वे

एक कदम और आगे बढ़ना चाहते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि स्वशासन में दलभेद अथवा आपसी मनोमालिन्य के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। वे ग्राम-पंचायत के निर्वाचन सर्वसम्मति से कराने के पक्ष में हैं ताकि ग्रामीण समुदाय की शान्ति एवं सौहार्दता समाप्त न हो जाय। समस्त शासकीय नियमों की एक पंचायतराज-आयोग के द्वारा अनुवीक्षा की जाय। इस कार्य से नौकरशाही को दूर रखा जाय। इस प्रकार उनका उद्देश्य गांव से केन्द्रीय स्तर तक विकेन्द्रित शासन-व्यवस्था स्थापित करने का है। उनके विचार प्रेरणादायी होते हुए भी व्यावहारिक नहीं कहे जा सकते। राजनीतिक दलों द्वारा शक्ति का स्वैच्छिक त्याग सम्भव नहीं लगता।

विकेन्द्रीकरण की उपर्युक्त राजनीतिक योजना को सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि तदनुरूप आर्थिक विकेन्द्रीकरण का विचार भी उपलब्ध हो। वर्तमान आर्थिक आयोजन लोकतांत्रिक होते भी जनहितकारी नहीं है। जयप्रकाश नारायण ने इस दुविधा का निराकरण एक नवीन आर्थिक योजना के माध्यम से प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार उत्पादन, वितरण एवं विनिमय के साधनों का राष्ट्रीयकरण करने के बाद भी साम्यवादी देशों में आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना नहीं हो सकी है। राष्ट्रीयकरण की नीति के नाम पर आर्थिक अधिनायकतन्त्र एवं आर्थिक शोषण का नया रूप सामने आया है। जयप्रकाश छोटी मशीनों तथा श्रम-प्रधान अर्थव्यवस्था के पक्ष में हैं। वे राष्ट्रीय योजना के स्थान पर क्षेत्रीय योजना एवं सर्वेक्षण का समर्थन करते हैं ताकि एक क्षेत्र के साधनों का उसी क्षेत्र में तथा बाहुल्य होने पर दूसरे क्षेत्र में प्रयोग किया जा सके। इसी प्रकार से ग्रामीण उद्योगीकरण का कार्यक्रम प्रयोग में लाया जाय ताकि कृषि एवं उद्योगों का समन्वय हो सके। विकेन्द्रित उद्योगों की व्यवस्था को नौकरशाही तथा शोषण से दूर रखा जाना आवश्यक है। पंचायतीराज के माध्यम से इस नवीन आर्थिक कार्यक्रम को क्रियान्वित किया जाय। जयप्रकाश की विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था केवल लोकतंत्र को सुरक्षित करने के लिए ही नहीं अपितु जनसमुदाय को प्रत्यक्ष आर्थिक हित पहुँचाने के लिए प्रस्तुत की गई है। इस योजना द्वारा अधिक से अधिक व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त हो सकता है और धन का इतना उत्पादन हो सकता है कि उसका जनता में विस्तृत वितरण हो सके। वे भारत सरकार की पंचवर्षीय योजनाओं से इस कारण से सन्तुष्ट नहीं हैं कि योजनाओं ने राष्ट्रीय आय में वृद्धि दर्शायी है किन्तु जनसाधारण आज भी बेकारी, भुखमरी तथा गरीबी से घिरा हुआ है। जब तक सामान्यजन को आर्थिक लाभ प्राप्त न हो तब तक आर्थिक नियोजन की निरर्थकता ही प्रकट होगी। जयप्रकाश आर्थिक व्यवस्था का मानवीकरण कर रोटी-रोजी की समस्या को ग्रामीण-उद्योगीकरण द्वारा दूर करना चाहते हैं। वे समाजवादी, मार्क्सवादी, साम्यवादी अथवा अराजकतावादियों के अर्थतन्त्र को जनता के कष्टों का निवारक नहीं मानते। वे फ्रांस की "कम्युनिटीज ऑफ वर्क", इजरायल के "कियुत्जीम" तथा भारत के "ग्रामदान" गांवों से प्रेरणा प्राप्त करने का आह्वान करते हैं। समाजवाद, सर्वोदय तथा लोकतन्त्र का सम्मिश्रण, जो कि आर्थिक एवं राजनीतिक विकेन्द्रीकरण पर आधारित हो, विश्व की असहाय पीड़ित एवं शोषित जनता को नवीन जीवन-ज्योति देने में समर्थ है।

□□

अध्याय 30

भीमराव रामजी अम्बेडकर (1891-1956)

भीमराव् अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रेल 1891 को मह छावनी मध्यप्रदेश में हुआ। उनके पिता का नाम रामजी सकपाल और माता का नाम भीमाबाई था। वे महार जाति के एक अछूत परिवार से थे। भीम के पिता फौज में एक अध्यापक थे। भीम बचपन में ही मातृहीन हो गये थे। लेकिन रामजी सकपाल ने भीम की शिक्षा-दीक्षा का काम भलीभाँति किया। उन्होंने भीम को स्वय गणित और अग्रेजी का अच्छा ज्ञान कराया। रामजी सकपाल के परिवार में धार्मिक वातावरण रहता था। वह अपने बच्चो को कबीर के दोहे सुनाते और बुद्ध तथा अन्य महात्माओ की शिक्षाओ का उपदेश देते थे। अपने पिता के नेक स्वभाव, मितव्ययता, कठोर श्रम सेवा-भाव धार्मिक प्रवृत्ति और शिक्षा-प्रेम से भीम बडे ही प्रभावित हुए थे।

अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् और हिन्दू समाज की विषम स्थितियो में रहते हुए भीम ने 1907 में मैट्रिक की परीक्षा बम्बई के प्रसिद्ध एलफिन्स्टन हाईस्कूल से पास की। व्यक्तिगत रूप मे भीम, पारिवारिक दृष्टि से उसके पिता, भाई एव बहिनों और सामान्यत समस्त अछूत समुदाय के लिए यह शुभ अवसर था। तत्पश्चात् भीम ने इण्टर की परीक्षा पास की और 1912 में बी ए की स्नातक डिग्री बम्बई के विख्यात एलफिन्स्टन कालेज से हासिल की। इसके बाद भीमराव को बडौदा राज्य की फौज मे एक लेफ्टीनेन्ट के पद पर नियुक्ति मिली। बडौदा के महाराजा से बी ए की पढाई के लिए भीम को छात्रवृत्ति प्राप्त हुई थी। इसी बीच उनके पिता का फरवरी 1913 में देहान्त हो गया, जिसके कारण भीमराव को बडा दुःख पहुँचा। पुन महाराजा बडौदा ने भीमराव को अमेरिका में पढने के लिए छात्रवृत्ति प्रदान की। उन्होंने कोलम्बिया विश्वविद्यालय मे अपनी पढाई समाप्त कर 1915 में एम ए और 1916 मे पी-एच डी की उपाधियाँ प्राप्त कीं। भीम अमेरिका के स्वतन्त्र एव स्वच्छ वातावरण से बडे प्रभावित हुए और अब्राहम लिंकन के जीवन से शिक्षा ग्रहण की। अमेरिका मे अपनी शिक्षा समाप्त कर डॉ अम्बेडकर 1916 में ही लन्दन पहुँच गये। उन्होंने लन्दन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से एम एस-सी, ग्रेज-इन से बॉर-एट लॉ की डिग्रियाँ 1921 में और 1923 में डी एस-सी की डिग्री प्राप्त कीं। डॉ अम्बेडकर जर्मनी के बॉन विश्वविद्यालय में भी अध्ययन करने के लिए गये पर धनाभाव के कारण वह भारत वापस आ गये। इस प्रकार एक अछूत बालक भीम ने देश-विदेशो में उच्चतम शिक्षा प्राप्त की। लेकिन वह जीवन पर्यन्त भारतीयता से ओतप्रोत रहे। वह विदेशो की चकाचौंध में नहीं फसे और अपने पददलित समाज की सेवा में जुट गये।

सफलता मिली। वह श्रमिको एवं कृषको को संगठित करना चाहते थे। 23 जनवरी, 1938 को डॉ अम्बेडकर ने अहमदनगर में किसानों-मजदूरों के एक सम्मेलन को सम्बोधित किया। उन्होंने 'अछूत रेलवे कर्मचारियों' को भी संगठित किया। एक विधायक के रूप में वह 1939-1940 के दौरान विधानसभा के अन्दर और बाहर अछूतों, किसान-मजदूरों के हितों एवं अधिकारों की सुरक्षा करते रहे। 1941 के दौरान डॉ अम्बेडकर ने महारों एवं अन्य अछूतो की कठिनाइयों को सरकार तक पहुँचाया, ताकि उन्हें विभिन्न सेवाओं, विशेषकर पुलिस तथा सेना की नौकरियों में लिया जाए। जुलाई 1942 से 1946 तक वह गवर्नर-जनरल की एक्जीक्यूटिव काउंसिल में श्रम-मंत्री रहे। अपने कार्यकाल में डॉ अम्बेडकर ने भारतीय मजदूरों के हित में अनेक कानून बनवाये। यह बड़े गौरव की बात थी कि एक अछूत नेता ने इतने बड़े पद को भलीभाँति सम्भाला। जब भारत स्वतन्त्र हुआ, तब पण्डित नेहरू ने उन्हें 1947 में अपनी मंत्रि-परिषद् में सम्मिलित कर लिया और इस प्रकार वह स्वतन्त्र भारत के प्रथम कानून-मंत्री बने, हालाकि पं नेहरू के साथ कुछ मामलो जैसे 'हिन्दू कोड बिल' तथा 'लखनऊ सम्मेलन' के विवादो के कारण, 23 सितम्बर, 1951 को मंत्री-मण्डल से त्याग-पत्र दे दिया।

16 मार्च, 1946 को कैबिनेट-मिशन ने जब संविधान-सभा तथा अन्तःकालीन सरकार की रूपरेखा संबंधी योजना की घोषणा की तब डॉ अम्बेडकर द्वारा संगठित एव संचालित शैड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन ने अछूतों के हितो और अधिकारो की माँग रखी, किन्तु इनकी उपेक्षा की गई। उधर हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक झगड़ों से समूचे देश में अशान्ति एवं हिंसा का वातावरण फैल गया। भारत की एकता कायम रखने के लिए अनेक प्रयास किये गये, पर 2 जुलाई 1947 को माउण्ट बैटन योजना के अन्तर्गत भारत के दो टुकड़े हो गए, भारतीय संघ और पाकिस्तान। भारत की संविधान-सभा का प्रथम अधिवेशन 9 सितम्बर, 1946 को प्रारम्भ हुआ। डॉ राजेन्द्र प्रसाद संविधान सभा के स्थाई अध्यक्ष बने। इस सभा में देश के सभी गणमान्य राजनीतिज्ञ, नेता, विद्वान और वकील थे। डॉ अम्बेडकर भी संविधान-सभा के न केवल एक सदस्य थे, अपितु नेहरू तथा राजेन्द्र जैसे नेताओं ने उन्हे संविधान प्रारूप समिति का अध्यक्ष बनवाया, ताकि उनकी विधिक योग्यता और अनुभवो का संविधान के निर्माण में सदुपयोग हो सके। 1949 के अन्त तक संविधान-सभा की अनेक बैठकें हुई जिनमें डॉ अम्बेडकर ने सक्रिय भाग लिया। उन्होंने नये संविधान को एक सामाजिक दस्तावेज के रूप मे प्रस्तुत किया। उसमें संघात्मक, धर्म-निरपेक्ष और मानववादी तत्त्वो को सम्मिलित किया। भारत के नये संविधान में बाबा साहेब डॉ अम्बेडकर के सामाजिक चिन्तन, राजनीतिक सूझ-बूझ और विधिक विद्वत्ता की छाप मिलती है। संविधान-सभा मे ही उन्होंने अछूत, कमजोर और पिछड़े वर्गों के लोगों के लिए आरक्षण के प्रावधान सुरक्षित करवाये, हालाकि 26 जनवरी, 1950 के पश्चात् जब नया संविधान लागू हुआ, आरक्षण-नीति राजनीति में बदल गई है, जिसकी डॉ अम्बेडकर ने कड़ी आलोचना की थी।

अपनी योग्यता एवं उपलब्धियो के कारण, डॉ अम्बेडकर को विभिन्न स्थानों में सम्मानित किया गया। 5 जून, 1952 को उन्हे कोलम्बिया विश्वविद्यालय ने 'डॉक्टर ऑफ लॉज' की उपाधि प्रदान की और 12 जनवरी, 1953 को हैदराबाद के ऑसमानिया विश्वविद्यालय ने भी उन्हें डी लिट् की उपाधि से विभूषित किया। डॉ अम्बेडकर गम्भीर विद्वान, सशक्त वक्ता और

चिन्तनशील विद्यानुरागी थे । उन्हें पुस्तकों से अत्यधिक प्रेम था । उनके निजी पुस्तकालय में अनेक दुर्लभ ग्रन्थ थे और लाखों की संख्या में सभी विषयों से संबंधित पुस्तकें थीं । उनका अपने मित्रों एवं अनुयायियों से कहना था कि "अपने ज्ञान में वृद्धि करो, भविष्य आपको मान्यता अवश्य देगा ।" नेहरू मंत्रि-मण्डल से त्याग-पत्र देने के बाद डॉ. अम्बेडकर विद्या-अध्ययन में लीन हो गये और समाज के कमजोर तथा पिछड़े लोगों की भलाई के लिए भारत के कोने-कोने में जाकर उन्हें जागृत करने के काम में जुट गये । उधर उन्होंने अपनी धर्मान्तर घोषणा को साकार रूप देने के लिए न केवल बुद्ध और बुद्धिज्म का गहन अध्ययन किया, बल्कि बौद्ध देशों—लंका, जापान, बर्मा, कम्बोडिया, नेपाल आदि में भ्रमण करने गये । 14 अक्टूबर, 1956 को वह अपने लाखों मित्रों एवं अनुयायियों सहित नागपुर में बौद्ध बन गये । इस प्रकार उन्होंने अपनी उस उद्घोषणा को पूरा कर दिखाया जब उन्होंने कहा था कि हिन्दू धर्म में पैदा न होना उनके बस की बात नहीं थी पर हिन्दू धर्म में रहकर वह मरेंगे नहीं ।[1]

डॉ. अम्बेडकर का मानववादी चिन्तन देश प्रेम एवं जन कल्याण की भावनाओं से ओत-प्रोत था । वह ईश्वर, नित्य आत्मा, नरक-स्वर्ग, आवागमन, मोक्ष आदि में विश्वास नहीं करते थे, फिर भी धर्म में उनकी अटूट आस्था थी । मानव धर्म के रूप में बुद्ध का धर्म ही, उनके लिए सच्चा धर्म था । उनमें अदम्य साहस, धैर्य एवं ज्ञान का अद्भुत सम्मिश्रण था । उनमें भाषा की निर्भीकता, कर्म की निष्ठा एवं ईमानदारी, हृदय की स्पष्टता और मन की शुद्धता थी । वह नवीन समाज व्यवस्था, नवीन संस्कृति और नवीन भारत के पक्षधर थे । डॉ. अम्बेडकर भारत के ही नहीं, अपितु विश्व के मौलिक सामाजिक और राजनीतिक विचारकों में प्रतिष्ठित स्थान रखते हैं । उनका व्यक्तित्व ठोस एवं बहु-चर्चित रहा । वह भविष्य-द्रष्टा भी थे । उन्होंने मानव से संबंधित सभी विषयों पर न केवल चिन्तन किया । बल्कि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की । उनके ग्रन्थों में मनुष्य और समाज, धर्म एवं राज्य, अर्थ और राजनीति के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण तथा समीक्षा मिलता है । डॉ. अम्बेडकर द्वारा रचित प्रमुख ग्रन्थों का उल्लेख यहाँ प्रस्तुत है :

कास्ट्स इन इण्डिया (1917), स्मॉल होल्डिंग्स इन इण्डिया एण्ड देअर रेमेडीज (1918), द प्रॉब्लम ऑफ द रूपी (1923), द इवाल्यूशन ऑफ प्राविन्शियल फाइनेन्स इन ब्रिटिश इण्डिया (1925), एनिहिलेशन ऑफ कास्ट (1937), फेडरेशन वर्सेज फ्रीडम (1939), मि. गान्धी एण्ड द इमैन्सीपेशन ऑफ द अनटचेबिल्स (1943), रानडे, गान्धी एण्ड जिन्ना (1943), थॉट्स ऑन पाकिस्तान (1940), व्हॉट कांग्रेस एण्ड गान्धी हैव डन टू द अनटचेबिल्स (1945), हू वर द शूद्राज ? (1946), स्टेट्स एण्ड माइनॉरिटीज (1947), द अनटचेबिल्स (1948), थॉट्स ऑन लिंग्विस्टिक स्टेट्स (1955) और द बुद्ध एण्ड हिज धम्म (1957) । इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र सरकार ने अंग्रेजी में एक से बारह भाग तक 'डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर : राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज' ग्रन्थमाला (1979-1993) प्रकाशित की है । उनमें डॉ. अम्बेडकर के दुर्लभ भाषण, लेख, अप्रकाशित ग्रन्थ, पत्र-व्यवहार आदि सम्मिलित हैं, जो उनके मानववादी चिन्तन, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, आर्थिक और धार्मिक विचारों को अभिव्यक्त करते हैं ।

सामाजिक चिन्तन

डॉ. अम्बेडकर के व्यक्तित्व में वैज्ञानिक मस्तिष्क और हृदय में मानववादी विचार थे । वह वैज्ञानिक एवं मानववादी मूल्यों के प्रबल समर्थक थे । उनके सामाजिक चिन्तन में एक ओर

वर्णवाद, जाति-प्रथा, अस्पृश्यता, असमानता और अन्याय के प्रति विद्रोह मिलता है, तो दूसरी ओर समाज पुनर्रचना के लिए सकारात्मक तत्त्व भी सन्निहित हैं। उनके सामाजिक विचार कुछ बातों का निषेध करते हैं, तो कुछ सृजनात्मक पक्षों का समर्थन भी करते हैं, ताकि नवीन व्यवस्था की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सके। डॉ अम्बेडकर भारतीय समाज, विशेषकर हिन्दू समाज व्यवस्था में, केवल कुछ सुधारों तक सीमित रहना नहीं चाहते थे, बल्कि उसमें वह मौलिक और क्रान्तिकारी परिवर्तन के पक्ष में थे।

अपने क्रान्तिकारी सामाजिक चिन्तन में डॉ अम्बेडकर ने सर्वप्रथम वर्ण-व्यवस्था और उससे फलित विषमताओं एवं बुराइयों का विरोध किया। यह व्यवस्था भले ही गुण-कर्म, श्रम-विभाजन, मानव-स्वभाव आदि पर आधारित कही गई हो, लेकिन उन्होंने स्पष्ट कहा, 'मेरे लिए यह चातुर्वर्ण्य जिसमें पुराने नाम जारी रखे गये हैं, घिनौनी वस्तु है, जिससे मेरा पूरा व्यक्तित्व विद्रोह करता है यह चातुर्वर्ण्य सामाजिक संगठन प्रणाली के रूप में अव्यावहारिक, घातक और अत्यन्त असफल रहा है।'[2] डॉ अम्बेडकर ने गीता के उस कथन को स्वीकार नहीं किया जिसमें यह कहा गया है कि "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥" अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन चार वर्णों का समूह, गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू वास्तव में अकर्ता ही जान।[3] इसी को वर्ण-व्यवस्था का मूलाधार माना गया जिसका उन्होंने सशक्त खण्डन किया।

वर्ण-व्यवस्था का मूलाधार सांख्य-दर्शन का त्रिगुण सिद्धान्त है। प्रत्येक व्यक्ति में तीन गुणों-सत्त्व, रजस् तथा तमस्—का सम्मिश्रण होता है। इन्हीं के कारण व्यक्ति का स्वभाव संचालित होता है। इन गुणों में स्वाभाविक स्पर्धा एवं परिवर्तनशीलता होती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक इनके आधार पर व्यक्ति में गुणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं। कभी एक गुण का बाहुल्य है, तो कभी दूसरे का। इसलिए डॉ अम्बेडकर ने यह कहा कि गुणों की स्पर्धा एवं परिवर्तनशीलता की स्थिति में व्यक्ति का स्वभाव स्थाई किस प्रकार रह पायेगा। यदि व्यक्ति की स्थिति बदलती रहती है, तो मनुष्यों को स्थायी वर्णों में बांटना उनकी प्रकृति के विरुद्ध होगा। यह कैसे सम्भव होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवहार में जीवन पर्यन्त एकसा बना रहे। अतः डॉ अम्बेडकर की दृष्टि में, सांख्य-दर्शन अथवा गीता यह सिद्ध नहीं कर सकती कि परिवर्तन शक्ति प्रकृति से निर्मित आदमी सदैव ब्राह्मण या क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ही बना रहेगा। इसी कारण उन्होंने चातुर्वर्ण्य को अप्राकृतिक और अव्यावहारिक बतलाया।[4]

डॉ अम्बेडकर ने यह भी नहीं माना कि वर्ण-व्यवस्था का आधार श्रम-विभाजन है, क्योंकि इसमें न केवल कृत्रिम श्रम-विभाजन मिलता है, अपितु श्रमिकों का भी स्थायी विभाजन हो जाता है। इसके अन्तर्गत श्रम तथा व्यवसाय के अनुसार हिन्दुओं में भेद-भाव, ऊँच-नीच की भावनाएँ पैदा हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त जैसाकि डॉ. अम्बेडकर ने कहा, वर्ण-व्यवस्था में श्रम-विभाजन व्यक्ति की स्वेच्छा एवं स्वाभाविक गुणों पर आधारित नहीं है। श्रम-विभाजन का व्यक्ति की क्षमता तथा योग्यता देखे बिना कोई मूल्य नहीं है। साथ ही, वर्ण-व्यवस्था में व्यवसाय का निर्धारण कर्म एवं क्षमता के आधार पर नहीं होता, बल्कि जन्म के आधार पर होता है, जो व्यावसायिक तथा औद्योगिक प्रगति और कार्य-कुशलता के लिए हानिकारक है।[5]

डॉ अम्बेडकर ने वर्ण-व्यवस्था का खण्डन करते हुए यह कहा कि वर्ण-व्यवस्था में श्रम-विभाजन व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं पसन्द पर आधारित नहीं है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति की भावनाओं एवं प्राथमिकताओं के लिए कोई स्थान नहीं है। इसका मूलाधार व्यक्ति की योग्यता नहीं है, बल्कि उसके पूर्व जन्म के कर्म माने गये हैं। यह जन्माधारित है और अपने पूर्वजों के धन्धों के अनुसरण पर ही बल देती है। अतः उस श्रम-विभाजन और उसके अन्तर्गत निर्धारित कार्यों के करने में कोई क्षमता और कुशलता नहीं आ सकती, जिनमें न मनुष्य का मन लगता है और न ही उसकी बुद्धि ही चाहती है।[6]

डॉ अम्बेडकर के अनुसार, वर्ण-व्यवस्था आर्थिक संस्था के रूप में भी असफल रही। उसने व्यक्ति की स्वेच्छा, कार्य-कुशलता और व्यावसायिक स्वतंत्रता का हनन किया है। उन्होंने यह भी नहीं माना कि वर्ण-व्यवस्था जाति की पवित्रता एवं स्वच्छता अथवा उच्च वर्गों की रक्त शुद्धता को बनाये रखने का एक ढंग है। डॉ अम्बेडकर का कहना था कि संसार में कोई भी शुद्ध जाति नहीं है। सभी जातियों (रेसिज) की उत्पत्ति विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से हुई है। भारत में मुश्किल से ही ऐसी कोई जाति या वर्ण मिलेगा, जिसमें विदेशी रक्त का अंश न हो।[7] डॉ राधाकृष्णन् के अनुसार भी हिन्दू जाति में विदेशी अंश समय-समय पर आता रहा है। यहाँ की विभिन्न जातियों में मिश्रण होता रहा है। यहाँ तक कि हिन्दू समाज के अन्तर्गत जातियों में ब्राह्मण से लेकर चण्डाल आदि तक में परस्पर रक्त-संचार हुआ है।[8] डॉ अम्बेडकर की दृष्टि में, वर्ण-व्यवस्था न तो एक वंश को दूसरे वंश से पृथक् रखती है और न यह किसी वंश के रक्त की शुद्धता बनाये रखती है। यह तो एक ही वंश के व्यक्तियों को विभिन्न वर्गों अथवा वर्णों में बाँट कर उन्हें ऊँच-नीच की भावना के आधार पर एक दूसरे से पृथक् रखती है।[9]

कहा जाता है कि हिन्दू वर्ण-व्यवस्था प्लेटो की उस समाज व्यवस्था से मेल खाती है, जिसके अन्तर्गत उसने सभी व्यक्तियों को तीन वर्गों बौद्धिक, शासक एवं मजदूर-में वर्गीकृत किया था। इस वर्गीकरण का आधार भी प्लेटो ने मनुष्य के स्वाभाविक गुणों को माना और तदनुसार काम करने के कर्तव्य-क्षेत्र निर्धारित कर दिये। डॉ. अम्बेडकर ने प्लेटो की समाज व्यवस्था को उसी प्रकार अस्वाभाविक बतलाया जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था को। उन्होंने कहा कि प्लेटो ने मनुष्य एव उसकी शक्तियों को एक बनावटी आधार प्रदान किया। कदाचित् प्लेटो को व्यक्ति की विलक्षणता का पता नहीं था। व्यक्ति स्वयं ही एक वर्ग होता है। मनुष्य में अनेक प्रवृत्तियाँ, क्रियाएँ एव प्रक्रियाएँ होती रहती हैं कि सभी व्यक्तियों को स्थाई वर्गों में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। अतः डॉ अम्बेडकर के अनुसार, दोनों वर्ण-व्यवस्था और प्लेटो की योजना में मनुष्य का कृत्रिम विभाजन किया गया है। उनका विभाजन प्रकृति के विपरीत है। अतः उनकी सफलता की आशा करना बिल्कुल निरर्थक होगा।[10]

डॉ अम्बेडकर ने स्पष्ट, कहा कि वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन एवं सामाजिक न्याय के लिए कोई स्थान नहीं है। वर्ण-व्यवस्था ने ही जातिवाद को जन्म दिया, जो सामाजिक एकता एवं सुदृढ़ता के विपरीत पड़ता है।[11] वर्ण-व्यवस्था में आधुनिक भारतीय समाज के लिए कोई नवीन संदेश नहीं है। यह निरर्थक एवं हानिकारक सिद्ध हो चुकी है। अच्छे सामाजिक संबंधों की जड़ें इसमें नहीं हैं। इस वर्ण-व्यवस्था ने चार वर्णों के लोगों के बीच एक स्थायी, उतार-चढ़ाव की असमानता प्रतिष्ठित कर रखी है, जिसके अनुसार, ब्राह्मण सबसे उच्च है, उससे नीचे क्रमशः

क्षत्रिय, वैश्य तथा निम्नतम स्तर पर शूद्र है। इसके अन्तर्गत यदि ऊपर की ओर जाओ तो सम्मान-आदर है और नीचे की ओर देखो तो घृणा-अनादर है।[12] डॉ अम्बेडकर के अनुसार, वर्ण-व्यवस्था अथवा जाति-प्रथा ने "जन-चेतना को नष्ट कर दिया है। इसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी नष्ट कर दिया है। जाति-प्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असंभव हो गया है।"[13] जाति-प्रथा अथवा वर्ण-व्यवस्था के सबंध में, डॉ अम्बेडकर के चिन्तन का सार निम्नलिखित है—

1 "जाति-प्रथा ने हिन्दुओं को बरबाद किया है।"

2 "हिन्दू समाज को चातुर्वर्ण्य के आधार पर पुनर्गठित करना असभव है, क्योंकि वर्ण-व्यवस्था रिसते हुए एक बर्तन की तरह है या उस आदमी की तरह है, जो नाक की नौक पर दौड रहा है। यह अपने गुणों के कारण अपने को कायम रखने में अक्षम है तथा इसमें जाति-व्यवस्था के रूप में विकृत हो जाने की प्रवृत्ति अतर्निहित है, जबकि वर्ण का उल्लंघन करने पर कानूनी रोक नहीं लगती।"

3 "चातुर्वर्ण्य के आधार पर हिन्दू समाज को पुनर्गठित करना हानिकारक है, क्योंकि वर्ण-व्यवस्था ज्ञान प्राप्त करने के अवसर से वचित कर लोगों को निम्नकोटि का बनाती है और अस्त्र धारण करने से वचित कर, उन्हें दुर्बल बनाती है।"

4. "हिन्दू समाज को ऐसे धर्म के आधार पर पुनर्गठित करना चाहिए, जिसमें स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्त को मान्यता दी जाए।"

5. "उक्त लक्ष्य को पाने के लिए, जाति और वर्ण के पीछे धार्मिक पवित्रता की भावना को नष्ट किया जाना चाहिए।"

6. "जाति और वर्ण की पवित्रता केवल तभी नष्ट हो सकती है, जब शास्त्रो की दिव्य-सत्ता को अलग कर दिया जाए।"[14]

जहाँ तक जाति-व्यवस्था के उन्मूलन का प्रश्न है, डॉ. अम्बेडकर ने यह पाया कि अनेक समाज सुधारकों, विद्वानो और राजनीतिज्ञों ने बहुत से सुझाव दिये हैं जैसे उप-जातियों को नष्ट करके जातियों की संख्या कम करना, फिर अपनी-अपनी उन बड़ी जातियों में मिल जाना जिनके साथ उनके रहन-सहन, खान-पान एवं शादी-विवाह की समानताएँ विद्यमान हैं। कुछ का कहना है कि अन्तर्जातीय भोजों द्वारा विभिन्न प्रकार की जातियों को साथ-साथ बैठकर प्रेमपूर्वक भोजन करने से परस्पर सौहार्द में वृद्धि होगी। कई विद्वानों ने अन्तर्जातीय विवाहों को जाति-प्रथा के उन्मूलन का सही आधार माना, क्योंकि रक्त-संबंधों से ही स्वाभाविक एकता और पारिवारिक भागीदारी संभव हो सकती हैं। लेकिन डॉ अम्बेडकर ने इन सब उपायों पर विचार करने के बाद, यह कहा कि ये सब तरीके अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए। इसका कारण हिन्दुओं के दैवीय एवं पवित्र विश्वास तथा धारणाएँ हैं, जो उन्हें उप-जातियो को तोड़ने, अन्तर्जातीय भोज एवं अन्तर्जातीय विवाह करने से रोकती हैं। वर्ण-व्यवस्था को अकाट्य, ईश्वरीय, पवित्र या दैवीय मानना जाति-प्रथा की निरन्तरता का मूलाधार है। इसलिए डॉ अम्बेडकर ने स्पष्टतः कहा कि "धार्मिक शास्त्रों के प्रति पवित्रता की भावना नष्ट की जाये, क्योंकि हिन्दुओं के कर्म एवं व्यवहार उनकी धार्मिक धारणाओं के ही परिणाम हैं। शास्त्र मनुष्य को अमुक व्यवहार करने के

लिए बाध्य करते हैं। हिन्दू अपने व्यवहार को उस समय तक नहीं बदल सकते, जब तक शास्त्रों के प्रति पवित्रता के भाव का अन्त नहीं किया जायेगा, क्योंकि उनका व्यवहार उनके धार्मिक ग्रंथो पर ही आधारित है।"[15] उन्होंने यह भी बल देकर कहा कि "प्रत्येक पुरुष और स्त्री को शास्त्रो के बंधन से मुक्त कराइए शास्त्रो द्वारा प्रतिष्ठापित हानिकर धारणाओ से उनके मस्तिष्क का पिंड छुडाइए, फिर देखिए वह आपके कहे बिना अपने आप अन्तर्जातीय खान-पान तथा अन्तर्जातीय विवाह का आयोजन करेगा / करेगी।"[16]

नवीन समाज व्यवस्था

डॉ अम्बेडकर के सामाजिक चिन्तन का यह विवेचन अभी तक वर्ण-व्यवस्था की कमजोरियों और उससे उत्पन्न जाति-प्रथा के कुप्रभावो तक सीमित रहा। वर्ण और जाति पर आधारित समाज उन व्यवहारों को जन्म देता है जो व्यक्ति की क्षमता, योग्यता तथा विलक्षणता को अवरुद्ध करता है। डॉ अम्बेडकर जैसे मानववादी चिन्तक ने वर्ण एवं जाति से संबंधित समाज व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया। उनके सामाजिक चिन्तन का यह निषेधात्मक पक्ष है। सकारात्मक दृष्टि से, उन्होंने क्या प्रतिपादित किया ? "यदि आप मुझ से पूछते हैं तो मेरा आदर्श समाज वह होगा जो स्वतत्रता, समता तथा भ्रातृ-भाव पर आधारित हो," ऐसा उनका स्पष्ट उत्तर था।[17] ये सदा गूँजने एव अमर रहने वाले शब्द उन्हें बहुत प्रिय थे। डॉ अम्बेडकर ने इन मधुर शब्दो-स्वतत्रता, समता एव भ्रातृत्व का अनुकरण फ्रास की क्रान्ति से नहीं किया, वरन् बुद्ध की शिक्षाओ से ग्रहण किया। उन्होंने कहा," विधेयात्मक दृष्टि से, मेरा समाज-दर्शन तीन शब्दो में निहित है—स्वतत्रता, समता एव भ्रातृत्व। लेकिन किसी को ऐसा नहीं कहना चाहिए कि मैंने अपने दर्शन को फ्रान्स की क्रान्ति से लिया है। मेरे दर्शन की जड़ें धर्म में हैं, न कि राजनीति विज्ञान में। मैंने अपने महान् गुरु बुद्ध की शिक्षाओ से इनका अनुकरण किया है।"[18]

डॉ अम्बेडकर के सामाजिक चिन्तन के मूल तत्त्व स्वतत्रता, समता, भ्रातृत्व, जनतत्र आदि हैं जिनमें मानवीय गौरव की ध्वनि गूंजती है। ये बौद्धिक प्रेरणा और मानव सेवा के स्रोत हैं। इन्हीं के आधार पर उन्होंने भारत में एक नवीन समाज व्यवस्था की बात कही, जो वर्ण, जाति तथा अस्पृश्यता से भिन्न मानववादी मूल्यो को श्रेष्ठ मानती है। स्वतत्रता, समता, भ्रातृत्व और जनतत्र से संबंधित डॉ अम्बेडकर के विचार इस प्रकार हैं—

स्वतंत्रता—"स्वतंत्र भ्रमण, जीवन और सम्पत्ति के अर्थ में" भारत में स्वतत्रता आवश्यक है। डॉ अम्बेडकर ने कहा कि सभी लोगो को स्वतत्र भ्रमण तथा आवागमन की सुविधा होनी चाहिए। साथ ही, उन्होंने निजी सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन किया। जीवन और स्वास्थ्य की सुरक्षा उसी समय भलीभांति संभव हो सकती है, जब आदमी को निजी सम्पत्ति को रखने और प्रयोग करने का अधिकार हो। उनका यह भी मानना था कि स्वतंत्रता एवं स्वस्थ जीवन उसी समय सुलभ होगा, जब व्यक्ति को अपने मन पसन्द धन्धे करने की स्वतत्रता हो। न केवल इतना ही, वैयक्तिक स्वतत्रता सामाजिक-आर्थिक तत्र की कार्य-कुशलता को बढ़ाने में भी सहायक होती है। इसका अर्थ है कि डॉ. अम्बेडकर के नये समाज में, कुछ सीमा तक स्वतंत्र आर्थिक क्रियाओं का स्थान भी होगा। इस प्रकार, जैसा कि वह सोचते थे, यदि व्यक्तियों की शक्तियों को प्रभावशाली तथा सक्षम ढंग से उपयोग में लाया जाए, तो निश्चय ही स्वतंत्रता का अधिकार लाभदायक सिद्ध होगा।[19] अपने नये समाज में, डॉ अम्बेडकर ने राजनीतिक स्वतंत्रता—दस

बनाने, चुनाव लड़ने, मताधिकार का प्रयोग करने और विभिन्न रूपों में संगठित होने, प्रचार तथा अभिव्यक्ति करने का प्रबल समर्थन किया। वह प्राय: सभी तरह की स्वतंत्रताओं को चाहते थे, ताकि व्यक्ति और समाज दोनों का चहुँमुखी विकास हो सके।

एक आदर्श समाज संगठन के लिए डॉ. अम्बेडकर धार्मिक स्वतंत्रता को भी महत्त्वपूर्ण स्थान देते थे। प्रत्येक व्यक्ति को धर्म-धारण एवं धर्म-प्रचार की स्वतंत्रता दी जानी आवश्यक है। सभी नागरिकों को धार्मिक संस्थाएँ निर्मित करने का अधिकार भी होना चाहिए। किसी व्यक्ति या समुदाय के साथ धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। सुखी वैयक्तिक जीवन और सामाजिक एकता के लिए डॉ. अम्बेडकर धर्म को अति आवश्यक मानते थे, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से, वह राज्य के धर्म-निरपेक्ष स्वरूप का ही समर्थन करते थे। धर्म-निरपेक्ष राज्य को किसी धर्म-विशेष पर बल नहीं देना चाहिए। राज्य की दृष्टि में, सभी धर्मावलम्बी समान होने चाहिए।[20] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की समृद्धि, संगठन और शक्ति के लिए सभी प्रकार की स्वतंत्रताओं के पक्ष में थे।

समानता—डॉ. अम्बेडकर समता के सिद्धान्त को वैचारिक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों में महत्त्व देते थे। उन्होंने यह माना कि सब मनुष्य समान पैदा नहीं होते, तो भी वह वैचारिक समता को महत्त्वपूर्ण समझते थे। समता का आदर्श, बिल्कुल काल्पनिक हो सकता है, फिर भी व्यावहारिक रूप में समता की भावना को प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अंग होना चाहिए। डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, मनुष्य की भौतिक एवं मानसिक शक्ति तीन बातों पर निर्भर होती है- (क) शारीरिक वंश परम्परा, (ख) सामाजिक गठन जैसे माता-पिता का प्यार, शिक्षा, वैज्ञानिक ज्ञान एवं वे सभी वस्तुएँ जो एक व्यक्ति को असभ्य अवस्था से सभ्यता की ओर ले जाती हैं, और (ग) व्यक्ति के स्वयं के प्रयत्न। इन सब बातों में लोग निस्संदेह असमान होते हैं। लेकिन डॉ. अम्बेडकर ने यहाँ एक प्रश्न किया "क्या सभी मनुष्यों के साथ असमानता का व्यवहार करना चाहिए क्योंकि वे असमान हैं ?" उन्होंने स्पष्ट किया कि "जहाँ तक व्यक्तिगत प्रयत्नों का संबंध है, उनको भिन्न अथवा असमान माना जा सकता है, किन्तु लोगों को अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा एवं शक्ति को प्रदर्शित करने का अवसर तो दिया जाना चाहिए, ताकि वे अपने को प्रगतिशील बनालें और समाज में कुछ योगदान कर सकें।"[21]

यदि व्यक्तियों को असमान ही समझ कर व्यवहार किया जाए, तो उनकी क्या दशा होगी ? डॉ. अम्बेडकर कहते थे कि यदि ऐसा ही ठीक समझा जाए, तो जिन व्यक्तियों के पक्ष में जन्म, धन, शिक्षा, परिवार, नाम एवं व्यावसायिक संबंध हैं, वे ही लोग मानव दौड़ में प्रथम आयेंगे। उन्हीं को सुअवसर प्राप्त होंगे। लेकिन इन आधारों पर व्यक्तियों का चुनाव करना योग्यतानुसार नहीं होगा। यह एक कृत्रिम चुनाव होगा, जो विशेष प्रतिष्ठा के आधार पर सम्पन्न किया जायेगा। डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि से, चुनाव हमेशा योग्यता के आधार पर ही होना चाहिए, अन्यथा सामाजिक प्रजातंत्र एवं मानववाद के प्रति घोर अन्याय होगा। अतः यदि वैयक्तिक प्रयत्नों में हम व्यक्तियों को असमान समझें, तो कम-से-कम सामाजिक सुविधाओं के क्षेत्र में उन्हें समान समझना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को आगे बढ़ने का अवसर दिया जाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, मनुष्यों को एक दूसरे के साथ समता का व्यवहार करना चाहिए।[22] डॉ. अम्बेडकर ने यह भी कहा कि वे लोग, जो बिना सुविधाओं के आगे नहीं बढ़ सकते, उन्हें आवश्यक रूप से

आदर्श को ज्ञान, कर्त्तव्य और संगठन के रूप में ग्रहण किया। उनका यह त्रयी-दर्शन पूर्णतः मानववादी है। इन आदर्शों से उद्भूत होने वाले मूल्य केवल दलित-अछूतों तक ही सीमित नहीं है, अपितु सभी मानव प्राणियों से उनका सीधा सबंध है। ये ही आधारभूत 'नव-रत्न' डॉ अम्बेडकर के त्रयी-दर्शन का निर्माण करते हैं और उनका समस्त सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक एवं धार्मिक चिन्तन इन्हीं की पूर्ण अभिव्यक्ति है।[28]

डॉ अम्बेडकर का सामाजिक चिन्तन एक ओर वर्ण, जाति, छुआछूत, भेद-भाव, शोषण, अन्याय और उत्पीड़न का विरोध करता है, तो दूसरी ओर यह मानववादी दृष्टिकोण अपनाकर स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व, शिक्षा, संगठन, संघर्ष, ज्ञान, कर्तव्य और एकता का समर्थन करता है। उनका समस्त सामाजिक चिन्तन मानववाद पर आधारित है, क्योंकि वह आदमी और उसकी सामाजिक स्थिति के अध्ययन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है। उनका त्रयी-दर्शन सामाजिक मुक्ति का ही संदेश है। डॉ अम्बेडकर का चिन्तन निरर्थक मान्यताओं और परम्पराओं के शिकंजों में जकड़ा नहीं है। उसमें मनुष्यता की पूर्ण अभिव्यक्ति है और समयानुसार परिवर्तित होने की सामर्थ्य है, क्योंकि उनका चिन्तन तथा त्रयी-दर्शन अकाट्यता अथवा पवित्रता के दायरों से परे है। वह नव-निर्माण की प्रक्रिया में पारस्परिक प्रेम, व्यावहारिक समानता, वैयक्तिक स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय एवं मानव बंधुत्व का द्योतक है। उसमें अन्तर्निहित मानव मूल्य सार्वभौमिक एवं कालातीत हैं और सभी मानव प्राणियों को अपार शान्ति, संतोष और सम्मान प्रदान करने में सक्षम हैं। जो भी इन्हें व्यवहार में लायेगा, अनुकूल आचरण करेगा, निश्चय ही लाभान्वित होगा और सामाजिक बंधुत्व को समृद्ध बनायेगा।

सामाजिक जनतंत्र

डॉ अम्बेडकर हिन्दू समाज में व्याप्त विकृतियो जैसे जाति, छुआछूत, ऊँच-नीच, जन्माधारित प्रतिष्ठा, असमानता तथा अशिक्षा से बड़े ही दुःखी थे। अधिकतर लोगों को, विशेषकर अछूत-शूद्र नर-नारियो को न तो कोई अधिकार प्राप्त थे और न ही उन्हें मान-सम्मान का जीवन सुलभ था। जाति और छुआछूत ने मानवीय व्यवहार के समस्त चिह्नो को मिटा दिया था, जनतंत्र की कल्पना करना तो और ही असंभव था। ऐसी व्यवस्था में डॉ अम्बेडकर ने स्वयं अनेक कष्टों को सहा, बहुत से अपमान झेले और साथ ही, दलित-अछूतो की पीड़ाओ को महसूस किया। यही कारण है कि उन्होंने आजादी के पूर्व से ही 'सामाजिक जनतंत्र' की आवाज बुलन्द की, ताकि भारत के बहुजनों को राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक स्वतंत्रता भी सुलभ हो सके।

सिद्धान्तत : डॉ अम्बेडकर ने जनतंत्र को अत्यधिक महत्त्व दिया। उनका कहना था कि " हमारा यह महान् कर्तव्य है कि हम जनतंत्र को जीवन संबंधो के मुख्य सिद्धान्त के रूप में संसार से समाप्त न होने दें। यदि हम जनतंत्र में विश्वास करते हैं, तो हमें उसके प्रति सच्चा एवं वफादार होना चाहिए। हमें जनतंत्र में केवल विश्वास ही प्रकट नहीं करना चाहिए, वरन् हम जो कुछ भी करें हमें अपने शत्रुओ को जनतंत्र के मूल सिद्धान्त—स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व का अन्त करने में सहायता नहीं करनी चाहिए।"[29] उनकी दृष्टि में, "जनतंत्र संगठित रूप से रहने का एक ढंग है। जनतंत्र की जड़ें, जो लोग संगठित रूप से समाज का निर्माण करते हैं, उनके ही सामाजिक संबंधो में मिलती हैं।"[30] इस प्रकार डॉ अम्बेडकर ने जनतंत्र को समाज व्यवस्था से

जोड़ा, ताकि यह मात्र मताधिकार अथवा चुनावों तक सीमित न रह जाए। उन्होंने स्पष्टतः कहा, "जनतंत्र केवल सरकार का ही एक रूप नहीं है। मौलिक रूप से, यह सगठित ढंग से रहने की विधि है, परस्पर आदान-प्रदान किया हुआ अनुभव है। यह आवश्यक तौर पर, अपने साथियों के प्रति आदर तथा सत्कार की भावना है।"[31] जनतंत्र निश्चय ही, किसी विशेष जाति या धर्म अथवा देश की धरोहर नहीं है। यह एक सामान्य ढंग एवं विचार है, इसका संबंध समाज में रहने वाले समस्त नागरिकों से है।

अपने विचार को और स्पष्ट करते हुए डॉ अम्बेडकर ने कहा, "किसी जनतांत्रिक सरकार की पूर्व-शर्त जनतांत्रिक समाज की स्थापना करना है। किसी भी जनतंत्र की रूपरेखा में यदि सामाजिक प्रजातंत्र नहीं है, तो उसका कोई मूल्य नहीं है, वह वास्तव में उपयुक्त नहीं है। राजनीतिक नेताओं ने कभी यह अनुभव नहीं किया कि जनतंत्र सरकार का स्वरूप मात्र ही नहीं है, यह आवश्यक रूप से एक समाज की व्यवस्था भी है। यह आवश्यक नहीं कि किसी जनतांत्रिक समाज में विशेषकर एकता, लक्ष्य की सामूहिकता, जन-उद्देश्यो के प्रति वफादारी और सद्‌भावना की पारस्परिकता हो। लेकिन इसमें दो बातें अनिवार्यतः अन्तर्निहित हैं। प्रथम है मन की अभिवृत्ति, अपने साथियों के प्रति सम्मान और समानता की अभिवृत्ति। द्वितीय है सामाजिक संगठन जो कठोर सामाजिक बधनों से मुक्त हो। जनतत्र की उस अलगाव एव अनन्यता से विसंगति तथा असामंजस्यता है जो सुविधा प्राप्त और असुविधा प्राप्त के बीच भेदभाव पैदा करती है।"[32] डॉ. अम्बेडकर की मान्यता थी कि सामाजिक जनतत्र के बिना सरकार और राजनीति की भूमिकाएँ अधूरी होती हैं।

डॉ अम्बेडकर ने सामाजिक जनतंत्र को इतना महत्त्वपूर्ण माना कि इसके बिना राजनीतिक जनतंत्र भी गतिशील नहीं रह सकता। उनके अनुसार, राजनीतिक जनतंत्र चार आधार वाक्यों पर टिका होता है—

1 "व्यक्ति स्वयं में साध्य है,

2 व्यक्ति के कुछ अपृथक् अधिकार होते हैं जिनकी सुरक्षा संविधान द्वारा मिलनी चाहिए,

3. किसी सुविधा को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति के संवैधानिक अधिकारों का हनन नहीं होना चाहिए और

4. राज्य निजी लोगों को वे अधिकार नहीं देगा जिनसे वे अन्य लोगों पर शासन करें।"[33]

स्पष्टतः व्यक्ति का सम्मान, राजनीतिक स्वतत्रता, सामाजिक प्रगति एवं समता, मानव अधिकार, सवैधानिक नैतिकता, स्वतंत्रता आदि डॉ अम्बेडकर के राजनीतिक जनतंत्र के आवश्यक तत्त्व हैं। इनका अनुसरण एवं लाभ कहाँ तक सभव हो सकता है, यह जिसे डॉ अम्बेडकर ने 'आधार प्लान' कहा, उस पर निर्भर करता है। उनकी राय में 'आधार प्लान' का अर्थ किसी समुदाय के 'सामाजिक ढांचे' से है जिसमें राजनीतिक योजना को व्यवहार में लाया जाता है। जैसा कि अम्बेडकर मानते थे, जब तक समाज में सामाजिक जनतत्र नहीं होता, तब तक राजनीतिक जनतंत्र प्रगति नहीं कर सकता। राजनीतिक संमृद्धि सामाजिक जनतंत्र में निहित है। यदि समाज में समानता का व्यवहार नहीं है, तो राजनीतिक जनतंत्र और स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है। राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक ढाँचे पर बहुत कुछ निर्भर है। यहाँ तक कि "सामाजिक

ढाँचे का राजनीतिक जीवन पर इतना प्रभाव पड़ता है कि वह उसकी कार्य-विधि को परिवर्तित कर सकता है, उसको वह समाप्त कर सकता है और उसकी मजाक भी उडा सकता है।"[34] इसलिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक तथा आर्थिक विषयों पर निर्णय लेने से पूर्व 'आधार प्लान' अर्थात् सामाजिक व्यवस्था को भलीभाँति ध्यान में रखना चाहिए। सक्षेप में, जनतत्र को एक *सामाजिक आदर्श और राजनीतिक विधि* दोनो ही होना चाहिए।

देश की आजादी के पूर्व डॉ अम्बेडकर कहा करते थे कि सामाजिक सुधार एवं पुनर्रचना अत्यधिक जरूरी हैं क्योंकि इनके बिना राजनीतिक स्वतत्रता अधूरी रहेगी। वह राजनीतिक और सामाजिक जनतत्र के प्रबल समर्थक थे। उनकी दृष्टि में, जनतत्र को यथार्थ बनाया जाना चाहिए। *बुद्धि और अनुभव पर आधारित जनतंत्र को सामाजिक सहयोग, जन-सेवा और समानता* का स्वरूप धारण करना चाहिए। जनतत्र में मानवीय योग्यताओ का मूल्याकन जन्म के आधार पर न होकर, कर्म तथा क्षमता के अनुसार होना चाहिए। इसलिए डॉ अम्बेडकर ने कहा कि "जनतत्र यथार्थवादी नहीं है, तो वह कुछ भी नहीं है। लोगो की वास्तविक सामाजिक स्थितियो का अध्ययन करना आवश्यक है। जनतत्र में वैचारिक बाते बहुत कम होती हैं।"[35] स्पष्टत डॉ अम्बेडकर का सामाजिक जनतत्र यथार्थ स्थिति, मानव बुद्धि तथा अनुभव, जीवन के प्रति व्यवहारवादी और मानववादी दृष्टि पर आधारित है। जनतत्र को अपनाए बिना, सामाजिक प्रगति एव समृद्धि असभव है। जनतात्रिक व्यवस्था में ही मनुष्य की रचनात्मक विचारधारा उद्‌भूत होती है और जन-कल्याण की भावनाएँ उभरती हैं। यही कारण है कि डॉ अम्बेडकर ने जीवन पर्यन्त जनतत्र का ही समर्थन किया।

निर्धन एवं शोषित जन-समुदायो के प्रति प्रेम और सहानुभूति से अभिप्रेरित डॉ अम्बेडकर ने सामाजिक जनतत्र की ओर देखा और व्यक्तिगत तथा सामाजिक दृष्टि से, उन्होंने जनतत्र को ही भारत की परिस्थितियों में उपयुक्त बतलाया। स्वतत्रता सग्राम के दौरान, उनका मुख्य उद्देश्य अछूतों तथा शोषितो के लिए मानवाधिकार प्राप्त करना और उन्हे सामाजिक मुक्ति दिलाना था। अत॰ उनके लिए सामाजिक जनतत्र का सीधा अर्थ था ऐसी समाज व्यवस्था जहाँ कोई दासता एवं छुआछूत न हो, कोई जातिगत दमन तथा जन्माधारित भेदभाव न हो, और जहाँ धार्मिक अलगाव न हो। इसलिए डॉ अम्बेडकर ने ऐसी सरकार का समर्थन किया जो जनता की हो, जनता के लिए हो और *जनता द्वारा बनाई गई हो*। वह स्वतत्र विचारों, चिन्तन एव अभिव्यक्ति के प्रेमी थे और प्रत्येक को अपने ढग से रहने की सामाजिक आजादी चाहते थे। जनतत्र में केवल सुविधा-प्राप्त लोगों को ही लाभ नही होना चाहिए। सभी को एक अच्छा जीवन सुलभ हो, ऐसी उनकी मान्यता थी। इसी बात को ध्यान में रखते हुए डॉ अम्बेडकर ने कहा था, "एक प्रजातात्रिक समाज को यह चाहिए कि वह प्रत्येक नागरिक को अवकाश तथा संस्कृति का जीवन प्रदान करे।"[36] इस प्रकार स्पष्ट है कि उन्होंने सामाजिक जनतंत्र को अनेक पक्षों—आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक—से जोड़ा, ताकि जनतांत्रिक व्यवस्था से सभी नागरिकों को लाभ पहुँचे।

राज्य–समाजवाद

डॉ अम्बेडकर ने आर्थिक विपन्नता एवं निर्धनता का कटु अनुभव किया और दरिद्र लोगों की दयनीय अवस्था को निकट से देखकर, वह समाजवाद की ओर आकर्षित हुए। उन्होंने

राज्य-समाजवाद में निष्ठा प्रकट की। निर्धनता का उन्मूलन, उत्पादन में वृद्धि और राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के लिए, उन्होंने राष्ट्रीयकरण की नीति का समर्थन किया। ऐसा समाजवाद के अन्तर्गत ही संभव हो सकता है। समाजवाद का इतिहास जटिल है। समाजवाद कई प्रकार का होता है। डॉ. अम्बेडकर ने भारत की आर्थिक स्थिति को देखकर, राज्य-समाज की स्थापना का नारा बुलन्द किया, ताकि राज्य द्वारा उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व और नियंत्रण हो। समाजवाद की मुख्य रुचि श्रमिक तथा शोषित वर्गों की आर्थिक हालत सुधारने की होती है। यह कार्य राज्य ही भलीभाँति सम्पन्न कर सकता है।

डॉ. अम्बेडकर पूँजीपतियों को समाप्त करने की बात नहीं करते थे, क्योंकि आर्थिक विषमता एवं निर्धनता का समस्त उत्तरदायित्व उन पर ही नहीं थोपा जा सकता। निःसन्देह पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने मानव समाज की सेवा की है, पर साथ साथ अनेक सामाजिक एवं आर्थिक बुराइयों को भी जन्म दिया है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं मानव सम्मान में बाबासाहेब की इतनी आस्था थी कि वह पूँजीपतियों की आर्थिक मनोवृत्ति में मौलिक परिवर्तन चाहते थे, न कि उनका अन्त जैसा कि साम्यवादी देशों में हुआ था। उनका कहना था कि यदि पूँजीपतियों को सम्मानपूर्वक रहना है, तो उन्हें चाहिए कि वे श्रमिक वर्ग को अधिक से अधिक वेतन दें और उनके दुःख-दर्द में सम्मिलित हों। श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा की सम्भावनाओं को बढ़ाना भी उनका काम है। डॉ. अम्बेडकर को यह शंका अवश्य थी कि पूँजीवाद देश का औद्योगीकरण कर सकता है अथवा नहीं। उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर यह जाना कि पूँजीवाद ऐसा नहीं कर पायेगा। इसलिए उन्होंने राज्य-समाजवाद का सुझाव लोगों के समक्ष रखा। उन्होंने कहा, "राज्य-समाजवाद भारत का औद्योगीकरण करने के लिए आवश्यक है। व्यक्तिगत अर्थ-व्यवस्था ऐसा नहीं कर सकती। यदि उसने ऐसा किया, तो वे ही आर्थिक असमानताएँ उत्पन्न हो जायेंगी जो पूँजीवाद ने यूरोप के अन्दर पैदा की हैं। भारत के लोगों के लिए यह एक चेतावनी है।"[37]

केवल भारत में औद्योगीकरण के लिए ही नहीं, डॉ. अम्बेडकर ने यहाँ के कृषि क्षेत्र में भी राज्य-समाजवाद के व्यवहार की बात कही। उन्होंने कहा, "खेती के क्षेत्र में सामूहिक पद्धति के साथ-साथ और एक संशोधित रूप में उद्योग के क्षेत्र में राज्य-समाजवाद का होना आवश्यक है।"[38] उनकी दृष्टि में, यह उपयुक्त सुझाव था। जब तक राज्य खेती और उद्योग के क्षेत्र में, समाज के निर्धन वर्गों के हित में आर्थिक संसाधन नहीं जुटायेगा, तब तक आर्थिक समृद्धि का होना कठिन है। विशेषकर भारत में जहाँ बहुत से लोग परम्परागत रूप से धन के लालची हैं, धन को बचा-बचा कर धरती में गाड़ देते हैं, वहाँ राज्य को चाहिए कि आर्थिक क्षेत्र की प्रगति के लिए प्रयत्न करे और उन वर्गों को प्रोत्साहित करे जो वास्तव में समाजवाद लाना चाहते हैं। ऐसे ही लोग भारत में समाजवादी समाज की स्थापना कर सकते हैं। जिनका हित समाजवाद में है, वे ही लोग समाजवाद लाने में राज्य की नीतियों का समर्थन कर सकते हैं। डॉ. अम्बेडकर ने राज्य को आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन का एक सार्थक साधन माना था। वह राज्य की अधिकतम रचनात्मक भूमिका के पक्ष में थे।

अपने राज्य-समाजवाद के कार्यक्रम के अन्तर्गत, डॉ. अम्बेडकर ने बीमा कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण का सुझाव भी दिया था। इसके पीछे उन्होंने दो उद्देश्य बतलाये : (1) राष्ट्रीयकृत की हुई बीमा कम्पनी एक प्राइवेट बीमा कम्पनी की अपेक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा का

उत्तरदायित्व अधिक लेती है। राज्य बीमा कम्पनी, चाहे कैसी भी परिस्थितियाँ हों, धन लौटाने का पूरा दायित्व निभाती है। इसमें व्यक्ति को किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। (2) राज्य बीमा कम्पनियों के द्वारा राज्य के पास भी एक निश्चित पूँजी आ जाती है जिसे वह अपने औद्योगिक कार्यों में लगा सकता है अन्यथा राज्य को खुले बाजार से पूँजी लेनी पड़ती है जिसकी ब्याज दर भी बहुत ऊँची होती है। अतः राज्य को घाटा उठाना पड़ता है।[39] साथ-साथ ही, डॉ अम्बेडकर ने सरकार को यह सुझाव भी दिया कि बीमा-नीति का अधिक से अधिक प्रसारण श्रमिकों और किसानों के हितों की सुरक्षा के लिए किया जाना चाहिए। बीमा कम्पनियाँ आम लोगों को अन्य सुरक्षाओं की गारण्टी भी दे सकती हैं। इस प्रकार जैसा कि बीमा कम्पनियों का प्रसारण हुआ है, डॉ अम्बेडकर के राज्य-समाजवाद की अवधारणा को बल मिला है।

डॉ अम्बेडकर ने राज्य-समाजवाद के सिद्धान्त को व्यक्तिगत स्वतंत्रता से जोड़ा, ताकि राज्य का हस्तक्षेप तो रहे, पर व्यक्ति की स्वतंत्रता का लोप न होने पाये। वह चाहते थे कि संविधान द्वारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता, मौलिक अधिकारों और आर्थिक हितों की गारण्टी दी जाए। उन्होंने कहा कि "व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अन्य लोगों के द्वारा अतिक्रमण से रक्षा करना ही उद्देश्य है। मौलिक अधिकारों का भी यही ध्येय होता है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समाज के आर्थिक ढाँचे में बहुत गहरा एवं वास्तविक संबंध है, चाहे वह सबको मालूम न हो। डॉ अम्बेडकर के अनुसार, निर्धन और भूखे-नंगे लोगों के लिए मौलिक अधिकारों का कोई मूल्य नहीं है, यदि ऐसे लोगों के सामने रोजगार देने के साथ-साथ ऐसी शर्तें रखी जाएँ कि उन्हें अधिक घंटे काम करना पड़ेगा, अपनी स्वतंत्रताओं को त्यागना पड़ेगा, संगठन तथा धर्म आदि में अरुचि रखनी पड़ेगी, तो यह स्पष्ट है कि उनकी इच्छा किधर जाने की होगी, चाहे कठोर से कड़ी शर्तें उनके समक्ष रखी जाएँ। ऐसे विकल्प यदि उनके सामने आ जाते हैं, तो वे बहुत ही सोचनीय अवस्था में पड़ जाते हैं।" भूखे मरने का भय, मकान चले जाने का भय, बचत न होने का भय, जन-धन से मरने के पश्चात् दफनाये जाने का भय आदि ऐसी बातें हैं जिनकी वजह से बेकार लोग अपने मौलिक अधिकारों को भी त्याग सकते हैं अर्थात् जीविका कमाने के लिए और जीवित रहने के लिए वे अपने अधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं।"[40] डॉ अम्बेडकर का यह स्पष्ट संकेत था कि निजी पूँजीपति, मजदूरों को स्वतंत्रतापूर्वक रहने की छूट नहीं देते। वे उनकी स्वतंत्रता एवं सम्मान पर दबाव डालते रहते हैं। ऐसी स्थिति में डॉ अम्बेडकर राज्य द्वारा हस्तक्षेप के पक्ष में थे, ताकि पूँजीपतियों की तानाशाही वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं मौलिक अधिकारों का हनन न कर सके।

डॉ अम्बेडकर किसी भी रूप में तानाशाही के विरुद्ध थे, चाहे वह पूँजीपति की हो अथवा राज्य की। वह असीमित शक्ति पर नियंत्रण के पक्षधर थे। उन्होंने कहा कि "जनसाधारण की स्वतंत्रता की सुरक्षा करने के लिए सरकार की स्वेच्छाचारी नीति को सीमित करना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उन साधन-सम्पन्न या शक्तिशाली वर्गों की स्वेच्छाचारी शक्ति को भी सीमित करना आवश्यक है जिनका आर्थिक क्षेत्र पर आधिपत्य है। यह केवल उसी समय सम्भव होगा जब समाज के आर्थिक क्षेत्र से उनके आधिपत्य का अन्त किया जाए।"[41] स्पष्टतः डॉ. अम्बेडकर समाजवाद चाहते थे, पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अन्त नहीं। उनके राज्य-समाजवाद के सिद्धान्त में, जिसको वह संविधान की धाराओं द्वारा लाना चाहते थे, व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं एवं मौलिक अधिकारों की भली-भाँति रक्षा की गई है। यहाँ तक कि वे राज्य-हस्तक्षेप होने पर भी बनी रह

सकता है। डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में, राज्य एक बुराई नहीं है वरन् एक ऐसा संगठन है, एक सशक्त साधन है जो जनता की भलाई के लिए अनेक कल्याणकारी कार्य कर सकता है। राज्य समाजवाद के अन्तर्गत वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा करने के साथ-साथ डा. अम्बेडकर चाहते थे कि "राज्य समाजवाद की स्थापना संसदीय जनतंत्र को समाप्त किये बिना होना चाहिए, लेकिन साथ साथ उसकी स्थापना के लिए संसदीय जनतंत्र की कृपा पर भी निर्भर नहीं रहना है।"[52]

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार योजना-बद्ध अर्थ व्यवस्था की सफलता के लिए महत्त्वपूर्ण शर्त यह है कि इसमें ढील नहीं पड़नी चाहिए अथवा रोक टोक इसे कार्यान्वित नहीं करना चाहिए। इसे स्थाई बनाया जाना चाहिए। लेकिन वास्तविक स्थायित्व कैसे प्राप्त किया जा सकता है? डॉ. अम्बेडकर ने माना कि संसदीय जनतांत्रिक सरकार ऐसा करने में समर्थ नहीं हो पायेगी। जनतांत्रिक सरकार का बहुमत बदलता रहता है। एक बहुमत राज्य समाजवाद के पक्ष में हो सकता है तो दूसरा उसके विपक्ष में। पक्ष वाला बहुमत यदि उसकी स्थापना के लिए प्रयत्न करता है तो विपक्ष वाला बहुमत उसको समाप्त कर सकता है। अतः जो लोग राज्य-समाजवाद में विश्वास करते हैं उन्हें यह मानना चाहिए कि इतने महान् कार्य की सफलता साधारण कानून के द्वारा सम्भव नहीं हो सकता है। जनतांत्रिक बहुमत परिवर्तनशील होता है। उसके भाग्य का भरोसा नहीं वह कभी भी गिर सकता है। कई बहुमत ऐसे भी होते हैं जो केवल विरोध प्रकट करने के लिए आर्थिक योजनाओं की ओर ध्यान नहीं देते हैं।[53]

उपर्युक्त बातों के आधार पर डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि संसदीय जनतंत्र राज्य-समाजवाद की स्थापना के लिए उपयुक्त नहीं है। जनतंत्र के स्थान पर तानाशाही ही एक ऐसी व्यवस्था है जो आर्थिक योजनाओं को स्थायित्व दे सकती है। लेकिन यह सुझाव बहुत ही विवादग्रस्त है, क्योंकि जो लोग व्यक्तिगत स्वतंत्रता में आस्था रखते हैं वे इस विकल्प को मानने के लिए तैयार नहीं होंगे। वे तानाशाही को किसी भी कीमत पर नहीं चाहेंगे हालांकि उनको कितना ही लाभ क्यों न हो। व्यक्तिगत स्वतंत्रता वास्तव में जनतंत्र में ही सम्भव है न कि तानाशाही व्यवस्था में। वे तानाशाही के स्थान पर जनतंत्र और राज्य-समाजवाद को ही प्रमुखता देंगे। अतः मूल प्रश्न यह है राज्य समाजवाद की स्थापना तानाशाही के बिना, संसदात्मक जनतंत्र के साथ किस प्रकार की जाए? डॉ. अम्बेडकर ने स्वयं इस प्रश्न का यह उत्तर दिया, 'समस्या इस प्रकार हल हो सकती है कि संसदात्मक प्रजातंत्र एवं राज्य-समाजवाद को संविधान की धाराओं के द्वारा लाया जाये ताकि संसदात्मक बहुमत उसे बदल न सके और न समाप्त कर सके। केवल ऐसा करने से ही हम तीनों उद्देश्यों समाजवाद की स्थापना, संसदात्मक प्रजातंत्र की सुरक्षा और तानाशाही का लोप, को सम्पूर्ति कर सकेंगे।'[54] निःसंदेह डॉ. अम्बेडकर तानाशाही के स्थान पर जनतंत्र और समाजवाद दोनों ही चाहते थे। वस्तुतः जनतंत्र व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं संगठन का पक्षपाती है और समाजवाद सम्पूर्ण समाज के लिए आर्थिक न्याय का द्योतक है। एक विचार स्वतंत्रता का समर्थक है, तो दूसरा आर्थिक समानता का पक्षपाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर राजनीतिक और आर्थिक उदारवाद के समर्थक थे। उन्होंने जनतंत्र और समाजवाद में जिस कड़ी की स्थापना की है वह उनके राजनीतिक चिन्तन की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। संक्षेप में, डॉ. अम्बेडकर ने जिस जनतांत्रिक समाजवाद का विचार दिया वह भारत की निर्धन शोषित बहुजन समाज के लिए आज भी प्रासंगिक है।

राजनीतिक विचार

डॉ अम्बेडकर के चिन्तन में जनतंत्र के प्रति उनकी गहरी आस्था सर्वव्याप्त है। वह जनतंत्र को मानव जीवन का एक ढंग मानते थे। मानव जीवन में स्वतंत्रता का महत्त्व स्वीकार करते हुए उन्होंने मानवीय स्वतंत्रता को साध्य के रूप में माना, हालांकि वह स्वतंत्रता को स्वेच्छाचारिता के साथ नहीं जोड़ते थे। डॉ अम्बेडकर ने अनियंत्रित स्वतंत्रता को कभी स्वीकार नहीं किया। चूँकि आदमी पाशविक प्रवृत्ति से भी प्रभावित होता है, इसलिए राज्य द्वारा उसकी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाना आवश्यक हो जाता है। डॉ अम्बेडकर ने राज्य की उपादेयता को स्वीकार किया। वह चाहते थे कि राज्य के माध्यम से सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन तथा सुधार लाना जनहित में सिद्ध होगा। नि:संदेह डॉ अम्बेडकर राज्य को जनतांत्रिक व्यवस्था में एक अनिवार्य संस्था मानते थे। विशेषकर अशान्ति और विद्रोह के समय इसका उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। उन्होंने समाज को अधिक महत्त्व दिया लेकिन फिर भी राज्य का महत्त्व कम नहीं होता उसका सबसे बड़ा कार्य "समाज की आन्तरिक अव्यवस्था और बाह्य अतिक्रमण से रक्षा करना है।"[45] राज्य का अपना एक क्षेत्र है जिसमें उसकी गतिविधियाँ मान्य होती हैं, हालांकि डॉ साहेब राज्य को निरपेक्ष शक्ति के रूप में नहीं मानते थे। उसका स्थान गौण है। उन्होंने कहा, "किसी भी राज्य ने एक ऐसे अकेले समाज का रूप धारण नहीं किया जिसमें सब कुछ आ जाए या राज्य ही प्रत्येक विचार एवं क्रिया का स्रोत हो।"[46] वह राज्य व्यवस्था को मानव हित की सेवा के दृष्टिकोण से देखते थे। राज्य जन-साधारण की सेवा का एक सशक्त माध्यम है।

डॉ अम्बेडकर की दृष्टि से राज्य एक मानव संस्था है। फिर भी राज्य सर्वशक्तिमान एवं निरपेक्ष नहीं होता, क्योंकि जनता ही उसका अन्तिम आधार है। कोई भी राज्य संगठन या सरकार जनता के द्वारा उसकी आज्ञापालन पर निर्भर होती है। राज्य की सत्ता के प्रति आज्ञापालन की भावना महत्त्वपूर्ण बात है। राज्य व्यवस्था की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि लोग उसके कानूनों का पालन करें। डॉ अम्बेडकर जेम्स ब्राइस की इस बात से सहमत थे कि शक्ति या दबाव के द्वारा राज्य अपने को मजबूत बना सकता है। लेकिन दबाव अनेक साधनों में से एक है। यह निर्विवाद तत्त्व नहीं है। डॉ अम्बेडकर ने कहा "राजनीतिक समुदायों को उत्पन्न करने उनकी अच्छी दिशा में ढालने, उनको विस्तृत रूप देने तथा उनको एकत्रित करने में दबाव से अधिक महत्त्वपूर्ण आज्ञापालन की भावना है। आज्ञापालन की भावना जो सरकार के कानूनों तथा नियमों के प्रति प्रदर्शित की जाती है व्यक्ति और सामाजिक समुदायों की कुछ मनोवैज्ञानिक धारणाओं पर निर्भर करती है।"[47] यह आज्ञापालन का भाव आलस्य सम्मान सद्भावना बुद्धि और भय के सम्मिश्रण से उत्पन्न होता है। ये गुण या भावनाएँ सापेक्ष हैं और राज्य तथा समाज की परिस्थितियों पर निर्भर होती हैं। राज्य और जनता दोनों ही किसी व्यवस्था को भलीभाँति संचालित करने में सफल हो सकते हैं।

राज्य व्यवस्था की सुदृढ़ता के लिए जनता के द्वारा सम्मान एवं सद्भावना का होना आवश्यक है। सरकार के प्रति आज्ञापालन का भाव शान्ति व्यवस्था के लिए जरूरी है। इन बातों के बिना न कोई सरकार न कोई जनतंत्र या समाजवाद सफल हो सकता है। इसीलिए डॉ अम्बेडकर ने कहा "सरकार की सत्ता के प्रति सरकार की सुदृढ़ता के लिए आज्ञापालन की भावना उतनी ही आवश्यक है जितनी कि राजनीतिक दलों की राज्य के मौलिक तत्त्वों पर

एकता। किसी भी विवेकशील व्यक्ति के लिए यह असम्भव है कि वह राज्य व्यवस्था कायम रखने के लिए आज्ञापालन के महत्त्व को अस्वीकार करे। नागरिक अवज्ञा में विश्वास करना, अराजकता में विश्वास करने के समान है।'[58] डॉ. साहेब ने जनता की भलाई के लिए राज्य व्यवस्था को अत्यन्त आवश्यक बतलाया। इसके लिए यह भी जरूरी है कि सभी नागरिक राज्य के कानूनों तथा नियमों के प्रति आज्ञापालन की भावना बनाए रखें। साथ ही, डॉ. अम्बेडकर की यह मान्यता थी कि राज्य का प्रमुख कार्य व्यक्ति एवं समाज की स्थिति को सुधारना है। राज्य व्यवस्था, उसकी अनिवार्यता एव सामर्थ्य में अटूट विश्वास प्रकट करते हुए, डॉ. अम्बेडकर ने कहा कि उसके मुख्य कार्य इस प्रकार होने चाहिए—

(1) "'प्रत्येक व्यक्ति के जीवित रहने, स्वातन्त्र्य तथा आनन्द के अधिकारों को बनाए रखना राज्य का काम है,

(2) विचार एवं उसको व्यक्त करने तथा धर्म की स्वतंत्रता बनाये रखना राज्य का काम है;

(3) सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक असमानताओं को दूर करना और शोषित वर्गों को सुविधाएँ देना राज्य का काम है, और

(4) प्रत्येक नागरिक के लिए यह सम्भव करना कि वह भूख-प्यास तथा भय से मुक्त रहे, राज्य का काम है।'[59]

डॉ. अम्बेडकर के राजनीतिक विचारों में राज्य व्यवस्था का सिद्धान्त एकदम राजनीतिक न होकर, सामाजिक और नैतिक भी है। वह मार्क्स की भाँति यह विश्वास नहीं करते थे कि विकास के अन्तिम चरण में राज्य समाप्त हो जायेगा। वह यह मानते थे कि सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से, राज्य सदैव आवश्यक है और उसका किसी भी अवस्था में लुप्त होना असम्भव है। लेकिन बाबासाहेब के अनुसार, राज्य की स्थिति केवल उसी समय तक सार्थक है, जब तक वह व्यक्ति और समाज की सेवा एवं सुरक्षा का साधन बना रहता है। वह राज्य की समष्टिवादी अवधारणा से सहमत नहीं थे, क्योंकि राज्य का निरंकुश एवं निरपेक्ष होना मानवीय स्वतंत्रता के हित में नहीं होता। डॉ. अम्बेडकर का बल इस बात पर था कि राज्य, व्यक्ति और समाज साथ-साथ सम्मानपूर्वक रह सकते हैं, और शोषित एवं कमजोर वर्गों के अधिकारों के संरक्षण का मुख्य दायित्व सभी के सहयोग से निभाया जा सकता है।

डॉ. अम्बेडकर संसदात्मक सरकार के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने माना कि ब्रिटेन में जिस प्रकार की संसदीय प्रणाली है, वह भारत में उपयुक्त रहेगी। संसदीय प्रणाली भारत के लिए कोई नवीन बात नहीं है। भारत में कई ऐसे काल आए, जबकि जनतंत्रीय प्रणाली प्रचलित थी, कालान्तर में वह लुप्त हो गई। डॉ. अम्बेडकर ने यह कहा, "आज संसदीय सरकार की प्रणाली हमारे लिए विदेशी प्रतीत होती है। यदि हम गांवों में जायें तो मालूम होगा कि लोग यह नहीं जानते कि वोट क्या है? पार्टी क्या है? जनतंत्र प्रणाली उन्हें विचित्र प्रतीत होती है। इसलिए हमारे सामने यह समस्या है कि इस प्रणाली को कैसे बचाया जाये। जनता को हमें शिक्षित बनाना है, और उसे संसदीय जनतंत्र तथा मतदात्मक सरकार के लाभ बताने हैं।'[60] डॉ. अम्बेडकर ने संसदीय प्रणाली को इसलिए पसन्द किया कि यह ऐसी सरकार है, जिसे जनता स्वयं चुनती

यह ऐसी प्रणाली है जो भारत में प्रचलित थी और यह जनतांत्रिक है जिसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। यदि संसदीय सरकार अच्छी हो, जन-साधारण की भलाई करे, तो डॉ अम्बेडकर के अनुसार, उसमें तीन शर्तों का होना आवश्यक है—

(1) "पैतृक शासन नहीं होना चाहिए। कोई भी मनुष्य पैतृक शासन का अधिकारी नहीं है। जो कोई शासन करना चाहता है उसे जनता के द्वारा समय-समय पर चुन कर आना चाहिए। उसे जनता की स्वीकृति लेनी चाहिए। पैतृक शासन का संसदात्मक सरकार में कोई स्थान नहीं है।

(2) "कोई भी कानून, या कोई भी योजना, जो जनता के हित के लिए बनाई गई है, वह उन लोगों की सलाह से बनाई जानी चाहिए जिनको जनता ने अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजा है।

(3) "जनतंत्र में जनता के कार्य राज्य के मुखिया के नाम से किये जाते हैं, लेकिन वह एक मूर्ति के समान होता है। उसकी पूजा की जा सकती है, पर वह अपनी मर्जी के मुताबिक शासन नहीं चला सकता। जनतंत्र में सरकार मूलतः उन प्रतिनिधियों द्वारा चलती है जिनको जनता ने चुना है, हालाँकि सैद्धान्तिक रूप से गतिविधियाँ मुखिया के नाम से ही चलती हैं। जो लोग राज्य के मुखिया को सलाह देना चाहते हैं, उन्हें जनता का विश्वास समय-समय पर प्राप्त करते रहना चाहिए।"[51] संक्षेप में, समयावधि में स्वच्छ एवं निष्पक्ष चुनाव होते रहना संसदीय प्रणाली के लिए परमावश्यक है।

परतंत्र देश और विदेशी सरकार तो सदैव कष्टदायक होती है। डॉ अम्बेडकर ने एक अच्छी सरकार को स्वशासन से जोड़ा और कोई भी अच्छी एवं स्वदेशी सरकार प्रतिनिधि सरकार होती है। यह प्रतिनिधि सरकार किसी राजनीतिक दल द्वारा बनाई जाती है जिसे जनता चुनती एवं पसन्द करती है। सत्ता में आसीन राजनीतिक दल को निरंकुश तथा तानाशाह बनने का प्रयास नहीं करना चाहिए और न ही ऐसी विधियाँ प्रयोग में लानी चाहिए जो जनतांत्रिक और संसदात्मक न हो। डॉ. अम्बेडकर का यह कहना था कि *"यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शक्ति* राजनीतिक संगठन के लिए एक दवा है और वह बीमार पड़ जाए तो उस दवा का प्रयोग करना चाहिए। लेकिन चूँकि राजनीतिक संगठन की शक्ति दवा है, उसे उसका रोजाना का भोजन नहीं बनाना चाहिए। एक राजनीतिक संगठन को वास्तव में कार्य की प्रेरणा से ओत-प्रोत होना चाहिए और यही उसके लिए स्वाभाविक है। यह उसी समय सम्भव हो सकता है जब राजनीतिक संगठन के बनाने वाले विभिन्न तत्त्वों में संगठित रूप से कार्य करने की इच्छा हो और साथ-साथ उन नियमों का पालन करने की भावना हो जिनको किसी अधिकृत व्यवस्था ने पास किया हो।"[52] डॉ अम्बेडकर ने स्पष्टतया संसदीय सरकार को उत्तम सरकार माना। उन्होंने कहा कि कानूनों तथा नियमों का परिपालन न केवल जनता, अपितु सभी राज्य कर्मचारियों और जन-प्रतिनिधियों के द्वारा आवश्यक है। इस प्रकार संसदीय सरकार एक साधन मात्र है, साध्य मानव कल्याण है।

डॉ. अम्बेडकर संसदीय अथवा प्रतिनिधि सरकार की व्यवस्था में दल पद्धति को आवश्यक मानते थे। लेकिन वह एक ही दल पद्धति के विरोधी थे। उन्होंने कहा, *"यह स्वीकार्य है कि संसदीय सरकार में दल पद्धति एक आवश्यक अंग है, लेकिन साथ-साथ यह स्वीकार नहीं है कि उसमें एक ही राजनीतिक दल हो, एक राजनीतिक दल उसके लिए घातक*

है। यदि सच कहा जावे तो एक दल पद्धति संसदात्मक प्रणाली के लिए एकदम प्रतिकूल है।'[53] डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, एक दल पद्धति दबाव तथा अन्याय का साधन बन सकती है। जनता को गुमराह करने की अनेक सम्भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। यह निरंकुशता का ही दूसरा रूप होगा। अतः "संसदीय सरकार को एक दल के द्वारा चलाना जनतंत्र को निरंकुशता के समान ही बनाना है, ताकि निरंकुशता अपना कार्य जनतंत्र की ओट में करती रहे।'[54] इस प्रकार जनतंत्र तथा संसदीय पद्धति का एक दल पद्धति के साथ कोई तालमेल नहीं है।

आज संसार में कई देश ऐसे हैं जहाँ पर एक ही पार्टी का शासन है। लेकिन एक दल पद्धति में बहुमत का दबाव समाप्त नहीं हो पाता है। यह उन लोगों के लिए शत्रु बन जाता है जो उस पार्टी के विचारों एवं नीतियों का विरोध करते हैं। इसलिए डॉ. अम्बेडकर ने एक दल की ओट में किसी भी तरह के निरंकुशवाद को पसन्द नहीं किया। उन्होंने कहा, "निरंकुशता केवल इसलिए समाप्त नहीं हो जाती कि वह दल जिसमें वह निहित है, चुनकर भेजा गया है और निरंकुशता इसलिए स्वीकार है कि निरंकुश लोग अपने ही भाई हैं। इसे चुनाव का विषय बनाने से ही यह समाप्त नहीं हो पाता है। इसकी वास्तविक गारण्टी यह है कि इसका उस सम्भावना के साथ सामना किया जाये कि उसे गद्दी से उतार दिया जाये। सत्ता से धराशाही कर दिया जाये अर्थात् उसे एक विरोधी दल बनाकर ठीक किया जाये।'[55] स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर संसदीय प्रणाली में कम से कम पक्ष-विपक्ष के दो दलों के समर्थक थे, ताकि निरंकुशता या तानाशाही जनता पर हावी न होने पाये। उन्होंने यह माना कि "निरंकुशवाद स्वतंत्रता का विरोधी है चाहे वह स्वदेशी हो या विदेशी।'[56]

राज्य और सरकार का सिद्धान्त, जैसा कि डॉ. अम्बेडकर के राजनीतिक विचारों में सन्निहित है, यह स्वीकार करता है कि सामाजिक न्याय और सभी नागरिकों की सुख-सुविधाओं की सम्भावनाओं में अभिवृद्धि करना, उनका मुख्य कार्य है। सामाजिक हितों को, व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं को ध्यान में रखते हुए, आगे बढ़ाना उनके कार्यक्षेत्र में आता है। डॉ. अम्बेडकर राज्य के आदर्शवादी विचार से सहमत नहीं थे, जो यह मानता है कि राज्य एक रहस्यमय व्यक्तित्व है, एवं स्वतंत्र इकाई है, पृथ्वी पर ईश्वर की एक योजना है जिसके ऊपर व्यक्ति का अस्तित्व निर्भर है। डॉ. साहेब के अनुसार, जनता अथवा विभिन्न व्यक्ति ही मिलकर राज्य का निर्माण करते हैं। उनके बिना कोई भी राज्य नहीं बन सकता है। अतः उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि आदमी इस धरती पर जो उत्तमता प्राप्त करना चाहता है, उसमें वह सहयोग दे। इस अर्थ में राज्य अथवा कोई सरकार एक महत्वपूर्ण साधन है, न कि साध्य, और उसका यह दायित्व है कि वह ऐसी समाज व्यवस्था स्थापित करे, ताकि सब लोग, अछूत, कमजोर अथवा अन्य कोई, एक सम्मानपूर्वक जीवन जी सकें। राज्य एक अनिवार्य मानव संस्था है जिसका लुप्त होना असम्भव सी बात है। संक्षेप में, राज्य अथवा सरकार जैसी मानव संस्था को समाज के व्यापक हितों की दिशा में अधिक से अधिक उपयोगी बनाया जाना चाहिए।

डॉ. अम्बेडकर का मानववादी दृष्टिकोण सुस्पष्ट है। उनके राजनीतिक चिन्तन में कानून एवं संविधानवाद का महत्वपूर्ण स्थान है। कानून स्वतंत्रता एवं समानता का संरक्षक है। उन्होंने कहा, "कानून के समक्ष सभी नागरिक समान हैं और सबके नागरिक अधिकार समान हैं।" उनकी मान्यता थी कि नये संविधान के अन्तर्गत सभी नागरिकों के अधिकार समान हैं और कोई

भी कानून, नियम, या रीति-रिवाज अथवा व्यवस्था ऐसी नहीं रहेगी जो भेद-भाव करती है, जो ऊँच-नीच अथवा छूत-अछूत का विचार पैदा करती है। डॉ. अम्बेडकर ने आगे कहा, "कोई राज्य ऐसे क़ानून नहीं बनायेगा या रीति-रिवाजों को लागू नहीं करेगा जिससे नागरिकों की सुविधाएँ समाप्त हों, न कोई राज्य किसी नागरिक को उसके जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों से क़ानून की विधि के बिना वंचित करेगा, और न क़ानून का संरक्षण ही उसके लिए मना किया जायेगा।"[57] व्यक्ति के प्राकृतिक एवं अन्य अधिकारों का संबंध संविधानवाद से है। डॉ. अम्बेडकर ने न केवल सैद्धान्तिक संविधानवाद पर ही विचार किया, अपितु सांविधानिक नैतिकता और व्यावहारिकता पर भी बल दिया, ताकि जनतांत्रिक प्रणाली सुचारु रूप से चलती रहे। अपने राजनीतिक विचारों में डॉ. अम्बेडकर ने संघीय तथा एकात्मक सरकार को भारतीय परिस्थिति में उपयुक्त बतलाया और कहा, "एक भारतीय होने के नाते, भारतीय राष्ट्रवाद में रुचि होने के कारण, मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मैं सरकार के एकात्मक रूप में विश्वास करने वाला हूँ और ऐसे सुझाव को छिन्न-भिन्न करने का विचार मुझे प्रिय नहीं है। एकात्मक सरकार भारतीय राष्ट्र के निर्माण में बहुत ही प्रभावशील रही है।"[58] संक्षेप में, एकात्मक सरकार भारतीय राष्ट्र को टूटने और विभक्त होने से बचा सकती है।

सामाजिक न्याय

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से पददलित लोगों के प्रति समर्पित विद्रोही नेता थे। आजादी के पूर्व एवं पश्चात् वह धर्म के सुधारवादी-आलोचक और राजनीति में एक निश्चित दृष्टिकोण अपनाने वाले व्यक्ति थे। संविधान के महान् निर्माता और गम्भीर विद्वान्, जिज्ञासु भी थे। इन सबसे अधिक वह अनेक स्तरों पर मानव मुक्ति के लिए एक सशक्त योद्धा थे। वैसे वह मामूली परिवार में जन्मे थे, पर विधि निर्माण के क्षेत्र में वह सर्वाधिक लोकप्रिय व्यक्ति बन गये। संविधान और विधिक क्रान्ति को समझने वाले लोग, उन्हें सामाजिक न्याय का मसीहा और सामाजिक दासता का कट्टर शत्रु के रूप में स्मरण करते हैं। वही एक ऐसे न्याय-प्रिय विद्वानों में से थे जिन्होंने न्याय की धारणाओं को नया रूप दिया और बाबासाहेब अम्बेडकर तो स्वयं सामाजिक न्याय के अग्रदूत थे। उन्होंने सामाजिक अन्याय का अनुभव किया, उसकी पीड़ाओं को भोगा और उसके क्रूर प्रहारों को सहन ही नहीं किया, अपितु साहसपूर्वक उनका डटकर सामना किया।

भारत में, विशेषकर हिन्दू समाज में विद्यमान सामाजिक अन्याय ने ही डॉ. अम्बेडकर को सामाजिक न्याय के स्वरूप और विषय पर चिन्तन करने के लिए बाध्य कर दिया। जहाँ सभी क्षेत्रों में अन्याय, शोषण तथा उत्पीड़न होगा, वहीं न्याय की धारणा उद्भूत होगी। डॉ. अम्बेडकर न्याय की सामान्य धारणा से सर्वप्रथम प्रारम्भ हुए और वह न्याय के स्वरूप एवं विषय को लेकर, प्रोफेसर बर्गबॉन की विवेचना से सहमत हुए, जिन्होंने कहा, "न्याय का सिद्धान्त सारगर्भित है और अधिकांशतः उन सभी सिद्धान्तों को भी अपने में सम्मिलित करता है जो एक नैतिक व्यवस्था की आधारशिला बन चुके हैं। न्याय ने सदैव समानता, क्षतिपूर्ति के समानुपात के विचारों को जाग्रत किया है। समदृष्टि समानता की ओर संकेत करती है। नियम तथा संयम, सही एवं सदाचरण का मूल्य में समानता से सम्बन्ध होता है। यदि सभी आदमी समान हैं तो सभी मनुष्य एक ही सार-तत्त्व के हैं और वह समान सार-तत्त्व उन्हें समान मौलिक अधिकारों और समान

स्वतन्त्रता के लिए अधिकारी बनाना है।"[57] न्याय की इस विवेचना में अनेक बातें निश्चय ही अन्तर्निहित हैं।

न्याय की उक्त सामान्य धारणा से सहमत होते हुए, डॉ. अम्बेडकर ने स्वयं न्याय की परिभाषा इस प्रकार की, "न्याय सामान्यतः स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृ-भाव का दूसरा नाम ही है।"[58] उनके सामाजिक न्याय की धारणा का यही आधार-भूत विचार है। यह मानव व्यक्तित्व की गरिमा में अन्तर्निहित विचार है जिसे उन्होंने, संविधान का मुख्य निर्माता होने के नाते न्याय, स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृ-भाव और आदमी की गरिमा के मूल्यों पर निर्धारित किया। सामाजिक न्याय के ये आधार-भूत आदर्श भारत के सभी नागरिकों के बीच बन्धुत्व और मैत्री पर आधारित सम्बन्धों की ओर संकेत करते हैं और ये माँग करते हैं कि सभी नागरिक राष्ट्र के समान नागरिक होने के नाते एक दूसरे का सम्मान करें। यह सामाजिक न्याय की भावना सामाजिक जीवन में पारस्परिक सम्मान और दायित्व के महत्त्व को प्रमाणित करती है। सामाजिक न्याय के निश्चय ही अन्य पक्ष भी हैं, पर ये मूल्य कहीं अधिक प्रासंगिक हैं, क्योंकि वे सम्पूर्ण मानवता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

भारत को राजनीतिक आजादी मिली और यहाँ राजनीतिक जनतन्त्र की स्थापना भी की गई। लेकिन जैसा कि डॉ. अम्बेडकर ने कहा भारतीयों को मात्र राजनीतिक जनतन्त्र से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, "हमें साथ ही अपने राजनीतिक जनतन्त्र को एक सामाजिक जनतन्त्र भी बनाना चाहिए। राजनीतिक जनतन्त्र अधिक दिनों तक आगे नहीं बढ़ सकता यदि उसका आधार सामाजिक जनतन्त्र नहीं होता है। सामाजिक जनतन्त्र का क्या अर्थ है? इसका मतलब एक जीवन पद्धति है जो स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृ-भाव को जीवन के आदर्शों के रूप में स्वीकार करती है। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृ-भाव के इन आदर्शों को एक त्रयी के पृथक्-पृथक् मुद्दों के रूप में नहीं समझना चाहिए। वे इस अर्थ में एक त्रयी की एकता का निर्माण करते हैं कि उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करना, जनतन्त्र के मूल उद्देश्यों को ही पराजित करना है।"[59]

डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में, मानव व्यक्तित्व के निर्माण में स्वतन्त्रता की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। स्वतन्त्रता विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, आस्था और उपासना में निहित मानी गई है। स्वतन्त्रता से आदमी आगे बढ़ता है, विचार सम्पन्न होता है और अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करता है। उससे कला और साहित्य की अभिव्यक्ति के लिए भी अवसर मिलते हैं। स्वतन्त्रता के माध्यम से ही आदमी में छिपी प्रतिभाएँ उजागर होती हैं और वह अपने भाग्य का निर्माण भी करता है। आदमी की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करने के लिए समानता की भूमिका परिलक्षित की जाती है। समानता आदमी को आदमी, समूह को समूह और समुदाय को समुदाय के साथ बाँधती है। उनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध, सहयोग और सामाजिक सद्भाव स्थापित करती है। समानता पारस्परिक दायित्वों की चेतना और अधिकारों की पहचान को सम्भव बनाती है, जिससे किसी समाज के सदस्य, देश के सभी नागरिक, बन्धुत्व की भावना में बंधते हैं। समानता लोगों को एकता के सूत्र में बांधने का एक गुण है। भ्रातृत्व वह आदर्श है जो स्वतन्त्रता और समानता के लिए उपयुक्त वातावरण पैदा करता है जहाँ लोग उनके व्यवहार से लाभान्वित हो सकें। "भ्रातृत्व का अर्थ क्या है?", डॉ. अम्बेडकर ने पूछा और स्वयं कहा, "भ्रातृत्व का अर्थ सभी भारतीयों के बीच एक सामान्य भाईचारे की भावना है, सभी भारतीय एक राष्ट्र हैं। यही

यह आदर्श है जो सामाजिक जीवन को एकता और सुदृढ़ता प्रदान करता है।'[62] इसी कारण डॉ अम्बेडकर ने इस बात पर बल दिया कि ये आदर्श एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। यह कहना उचित होगा कि सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में एक आदर्श दूसरे की सम्पूर्ति करता है, उसे सम्पूर्ण बनने की दिशा में सहयोग देता है। यदि उन्हें उदार दृष्टि से समझा जाये और उनके अनुरूप व्यवहार किया जाये तो वे सामाजिक न्याय की धारणा को व्यावहारिक बना सकने में सक्षम सिद्ध होंगे।

डॉ अम्बेडकर की सामाजिक न्याय की धारणा एक ऐसी जीवन पद्धति है जिसके अनुसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उचित स्थान मिलना चाहिए। लेकिन उचित स्थान का मतलब यहाँ जन्माधारित सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं है। इसका सीधा अर्थ वह योग्यता या गुण है जिसके अनुसार किसी को सही-सही सामाजिक प्रतिष्ठा मिले। डॉ अम्बेडकर की सामाजिक धारणा के मुख्य तत्त्व इस प्रकार हैं—सम्मानपूर्वक रहें और रहने दें, सभी को मान-सम्मान मिले, किसी के प्रति हिंसा न की जाए, स्थाई अथवा तथाकथित स्वाभाविक वर्गों में बांटे बिना प्रत्येक को अपना विवेकपूर्ण हिस्सा मिले, सांविधानिक शासन के प्रति निष्ठापूर्वक रहना, विधि के समक्ष समता, समान अधिकारों की स्वीकृति, सांविधानिक कर्तव्यों का निर्वाह, सामाजिक दायित्वों और विधिक कर्तव्यों की अनुपालना, बेगार तथा भुखमरी से बचाव, कुछ प्राथमिकताओं सहित सभी को समान अवसरों की सुलभता, सम्पत्ति-शिक्षा की उपलब्धता और अन्ततः न्याय, स्वतन्त्रता, समता, भ्रातृत्व तथा राष्ट्रीय एकता सहित मानव व्यक्तित्व की गरिमा। डॉ अम्बेडकर की दृष्टि में, सामाजिक न्याय के सिद्धान्त का सीधा सम्बन्ध भारत की अखण्डता से है अर्थात् इस मातृभूमि में रहने वाले सभी नागरिक समानतः भाई-भाई हैं, चाहे वे हिन्दू हों, जैन तथा बौद्ध, यहूदी तथा पारसी या फिर मुस्लिम और ईसाई। इस प्रकार बाबासाहेब अम्बेडकर के अनुसार सामाजिक न्याय का विचार लोगों में मात्र राष्ट्रीय भौतिक लाभों का न्यायोचित वितरण ही नहीं है, अपितु वह मूलतः ऐसी जीवन पद्धति का समर्थक है जो पारस्परिक मान-सम्मान, मैत्री-भाव, समान नागरिक होने की उत्कण्ठा, राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में न्यायोचित भागीदारी आदि पर आधारित हो। अतः सामाजिक न्याय का मानदण्ड मात्र भौतिक प्रगति नहीं है, मात्र शारीरिक भूख-प्यास मिटा देना नहीं है, कुछ सुख-सुविधाएँ या सरकारी नौकरियाँ देना ही नहीं है, बल्कि इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि भारत के नागरिकों अथवा सभी वर्गों और धर्मों के लोगों के बीच उन मानव मूल्यों तथा आधारों की बाहुल्यता है जिनसे समाज की व्यवस्था न्यायोचित बने और राष्ट्रीय जीवन समरसता की दिशा में अभिवृद्ध हो।

फिर डॉ अम्बेडकर ने, अपनी सामाजिक न्याय की धारणा के अनुरूप, उन सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया, जिन्हें उन्होंने वर्ण व्यवस्था, प्लेटो की स्कीम, अरस्तू के चिन्तन, नीत्शे के विचार, दैविक कानून, मध्यकालीन दृष्टिकोण, मार्क्सवादी सर्वहारा समाजवाद और गांधी के सर्वोदय समाज में अन्तर्निहित पाया। इन सुपरिचित सिद्धान्तों को डॉ साहेब ने क्यों नहीं माना? क्या ये सिद्धान्त पददलित, कमजोर तथा पिछड़े वर्गों के हित में नहीं हैं? संविधान में वर्णित सामाजिक न्याय और इन सिद्धान्तों में कौन से मौलिक मतभेद हैं? ये ... से ... हैं।

कहा जाता है कि वैदिक काल से ही सामाजिक न्याय का विचार प्रारम्भ हो गया था, जब वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को उनके गुण-कर्मानुसार भिन्न-भिन्न कर्तव्य सौंप दिये गये थे। राजा का मुख्य कार्य वर्ण व्यवस्था की पवित्रता तथा दिव्यता को सुरक्षित रखना था ताकि लोगों का सामाजिक जीवन उनके कर्तव्यानुसार सुचारु रूप से चलता रहे। सामाजिक न्याय के इस विचार का समर्थन और प्रमाणीकरण समस्त हिन्दू शास्त्रों ने किया। मनु-स्मृति में वर्ण कर्तव्यों को विधि के रूप में संहिताबद्ध कर दिया और भगवद्गीता ने उसे 'स्वधर्म' की संज्ञा दी जिसमें वर्ण तथा आश्रम दोनों ही आ जाते हैं। वर्णाश्रम में निहित कर्तव्यों को विधि तथा धर्म दोनों की दृष्टि से निभाना अनिवार्य है, क्योंकि उसमें वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार के जीवन का धारण होता है। इस प्रकार सामाजिक न्याय के सिद्धान्त को हिन्दूशास्त्रों तथा विद्वानों ने वर्णाश्रम धर्म के साथ जोड़ दिया और उसे वैदिकवाद, ब्राह्मणवाद और हिन्दूवाद के एक अधिकरण के रूप में अकाट्य माना गया।

डॉ. अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय के वर्णाश्रमवादी दृष्टिकोण को कतई स्वीकार नहीं किया। उसने प्रत्येक वर्ण के लोगों के लिए कर्तव्य निर्धारित एवं वितरित करते समय, सामाजिक असमानता को एक अधिकृत सिद्धान्त मान लिया। वर्णाश्रम व्यवस्था में सर्वोत्तम और पवित्र प्रतिष्ठा एक ही वर्ण अर्थात् ब्राह्मणों को प्रदान की गई। अन्य तीनों वर्णों के लोगों को उनसे हीन माना गया। सबसे अधिक अधिकार ब्राह्मणों को दिये गये और सबसे निम्न स्तर पर शूद्रों को रखा गया यह कहते हुए कि ये लोग जन्म से अयोग्य तथा असक्षम होते हैं। अतः उन्हें इन तीनों वर्णों के लोगों की सेवा ही करनी चाहिए। प्रत्येक चीज को, चाहे वह धर्म हो या नैतिकता, कानून हो या राज्य, ब्राह्मण वर्ग के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से ही परिभाषित किया गया। इस तथ्य को मनु-स्मृति के निम्न उद्धरणों से भली-भाँति परखा जा सकता है—

"अपनी सुप्रसिद्धि, उत्पत्ति की उच्चता, कठोर नियमों की अनुपालना और अपनी विशेष पवित्रता के कारण, ब्राह्मण सभी (वर्णों) का लॉर्ड है।"

"चूँकि प्रजापति के मुँह से ब्राह्मण पैदा हुआ, वह प्रथम-जन्मा है और चूँकि वह वेद ज्ञ है, इसलिए वह अधिकार से समस्त सृष्टि का लॉर्ड है।"

"समस्त पैदा हुए प्राणियों में सबसे उत्तम वे हैं जो जीवनयुक्त हैं, इनमें भी वे हैं जो बुद्धियुक्त हैं और बुद्धियुक्त तथा सभी मानव प्राणियों में भी ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं।"

"पैदा हुए प्राणियों का लॉर्ड होने के नाते, ब्राह्मण कानून का खजाना है और जो कुछ इस संसार में विद्यमान है, ब्राह्मण उसका स्वामी है, क्योंकि उसकी उत्तम उत्पत्ति है।"

"राजा को सुबह उठने के पश्चात् ब्राह्मणों की पूजा और उनकी देखभाल करनी चाहिए और उसे उनके निर्देशानुसार चलना चाहिए, क्योंकि वे पवित्र विज्ञान (वेद) के पण्डित हैं, शासन तथा नीति के ज्ञाता हैं।"

"ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है। अतः किसी को उनके प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए और शूद्रों को उनकी सेवा करनी चाहिए स्वर्ग में जाने के लिए अथवा इस जीवन तथा भावी जीवन को सुधारने के लिए, शूद्र के समस्त लक्ष्य ब्राह्मणों की सेवा से पूरे होते हैं।"

"ब्राह्मण की सेवा ही शूद्र का सर्वोत्तम धन्धा है, वह इसके अलावा अन्य जो कुछ करेगा उसका उसे कोई लाभ नहीं मिलेगा। शूद्र को किसी तरह का धन-संग्रह नहीं करना चाहिए, भले हो वह ऐसा करने में सक्षम हो, क्योंकि जिस शूद्र ने धन-संग्रह किया है, वह ब्राह्मण को दुःख देता है।"[63]

इतना ही पर्याप्त है यह दिखाने के लिए कि मनु-स्मृति में किस प्रकार के न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। यह निश्चय ही अन्तिम (सुपरमैन) की अभिव्यक्ति है। वह शिक्षा देता है कि ब्राह्मण की दृष्टि में जो शुभ है, उचित है, वही विधिक रूप में न्यायसगत है। हिन्दूशास्त्रो ने प्रथम ब्राह्मणो को पवित्र एवं ज्ञाता घोषित किया और फिर समस्त नैतिक एवं विधिक शक्ति उनके हाथों में सौंप कर उन्हें सब तरह से शक्तिशाली बना दिया। अपने हितों की रक्षा के लिए सभी अधिकार ब्राह्मणो में निहित कर दिये। संक्षेप में हिन्दू सामाजिक न्याय का सिद्धान्त यह मानता है कि जो कुछ उचित, शुभ तथा न्यायसंगत है उसे केवल एक ही वर्ग (ब्राह्मणों) के हितों की रक्षा करनी चाहिए। शूद्रो के अलावा क्षत्रियो, वैश्यो तथा स्त्रियो को भी कई अधिकारों एवं संस्कारो से वंचित रखा गया ताकि वे ब्राह्मण वर्ण की स्थिति तथा प्रतिष्ठा को चुनौती न दे सकें।

डॉ अम्बेडकर ने देखा कि प्लेटो की स्कीम में भी न्याय को एक ही वर्ग के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया। समस्त राज-सत्ता अथवा प्रशासन बौद्धिक वर्ग (दार्शनिक-राजा) को सौंपने का प्रस्ताव रखा गया, क्योंकि इसी वर्ग के लोग सक्षम, योग्य और स्वभावतः विवेकशील एवं न्यायप्रिय समझे गये। सारी निर्णय-शक्ति उन्हीं तक सीमित रखी गई और उचित, शुभ या न्यायसंगत होने का निर्णय वही ले सकते थे। यह प्लेटो का सर्वसत्तावाद ही था, जो निश्चय ही जनतंत्र-विरोधी और समता-विरोधी था। प्लेटो ने, वर्ण व्यवस्था की भाँति सभी नागरिकों को समान अधिकार प्रदान नहीं किये और अन्य वर्गों को एक ही वर्ग की सेवा में अर्पित कर दिया। दोनो ने मानव प्राणियों को स्वभाव के अनुरूप निश्चित वर्गों में बांटा जो अप्राकृतिक तथा बनावटी था। थ्रेसीमैकस ने भी न्याय को शक्तिशाली वर्ग के हितों की रक्षा के साथ जोडा और कहा कि शक्तिशाली का हित ही न्याय है, हालांकि इसका विरोध सुकरात तथा प्लेटो ने किया। उधर नीत्शे ने तो समस्त न्याय को अतिमानव (सुपरमैन) की कृपा व इच्छा का विषय मान लिया। जो कुछ अतिमानव अथवा सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति कहता है वही शुभ, उचित और न्याय है।

न तो वर्ण व्यवस्था, न ही प्लेटो की स्कीम और न ही थ्रेसीमैकस तथा नीत्शे के विचारो मे कोई ऐसे तत्व मिलते हैं जो सामाजिक न्याय के आदर्श की संतुष्टि करते हैं। इनमें से किसी ने भी सामाजिक न्याय को सामान्य आदमियों से नहीं जोडा और न ही सम्पूर्ण समाज को न्याय का लक्ष्य बनाया। उनकी व्यवस्थाओ में सामाजिक न्याय का मुख्य केन्द्र बिन्दु एक विशेष वर्ग का हित ही रहा और उनके समाज-दर्शनो में एक ही वर्ग की श्रेष्ठता का गुणगान किया गया अर्थात् वर्ग व्यवस्था मे ब्राह्मणो का, प्लेटो की स्कीम में विवेकयुक्त शासको का, थ्रेसीमैकस की दृष्टि में शक्तिशाली लोगो का और नीत्शे के विचार में अतिमानवो के वर्ग का। एक ही वर्ग की प्रतिष्ठा, शक्ति एवं सम्मान को सुरक्षित और सिद्धान्ततः अन्य सभी नागरिकों को इनके अधीन रखा गया। इस सामाजिक भेदभाव को प्राकृतिक कह कर न्यायोचित ठहराने का प्रयास किया गया जो डॉ अम्बेडकर की दृष्टि में सामाजिक न्याय की सच्ची भावना का स्पष्ट प्रतिरोध है।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार, वर्ण व्यवस्था में स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व के आदर्शों के लिए कोई स्थान नहीं है। उसमें सामाजिक असमानता का पोषण और मानव व्यक्तित्व की गरिमा का पतन होता है। उसमें उन लोगों, विशेषकर शूद्र-दलितों की आर्थिक सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है जो ब्राह्मण वर्ग से निम्न स्तर पर आते हैं। वर्ण व्यवस्था में स्तरीय चरित्र मिलता है और 'सामाजिक असमानता' को समाज का अधिकृत आदर्श माना गया है। इसलिए डॉ. अम्बेडकर ने वर्णाश्रम धर्म के सम्पूर्ण सामाजिक न्याय के संरचनात्मक एवं कार्यात्मक ढाँचे को अस्वीकृत कर दिया और कहा कि सामाजिक न्याय का जो सार-तत्त्व है, वर्णाश्रम धर्म उसका प्रतिरोधी है।[64] इन्हीं कारणों से, जैसा कि डॉ. अम्बेडकर ने सोचा, प्लेटो की स्कीम असफल रही, उससे कोई सार्वजनिक हित नहीं हुआ और उसमें सामाजिक वर्गीकरण तो नितान्त बनावटी सिद्ध हुआ। मानव स्वभाव के रहस्यों को प्लेटो समझने में असमर्थ रहा।[65] इस प्रकार वर्गाधारित सामाजिक न्याय की धारणाओं को निश्चित करने में, वर्ण तथा प्लेटो दोनों ने 'सामाजिक असमानता', या भेदभाव, को अन्तर्निहित कर दिया। श्रेष्ठ वर्ग के अलावा अन्य वर्गों के लोगों पर अनेक सीमाएँ एवं निर्योग्यताएँ थोप दीं जो सामाजिक न्याय की भावना का स्पष्ट निषेध है। यहाँ तक कि अरस्तू ने भी, सांविधानिक शासन में अपनी अटूट निष्ठा के बावजूद, सामाजिक असमानता को न्यायोचित ठहराया। उसके अनुसार, "कृषि का कामकाज दासों द्वारा किया जाना है और कारीगरों को नागरिकता से इसलिए वंचित रखना है कि सद्गुण उन लोगों के लिए असम्भव है जिनका समय शारीरिक श्रम में ही समाप्त होता है।"[66] संक्षेप में डॉ. अम्बेडकर के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह सामाजिक न्याय के उन सिद्धान्तों को मानते जिन्होंने किसी न किसी आधार पर सामाजिक असमानता, स्त्रियों की निम्न स्थिति, अप्राकृतिक श्रेष्ठता और थोपी गई दासता को न्यायोचित रूप दिया। वह इन्हीं अन्यायों के प्रति तो जीवन भर संघर्ष करते रहे।

संविधान का मुख्य निर्माता होने के नाते, डॉ. अम्बेडकर ने थ्रेसीमैकस जैसे विचारकों के सामाजिक न्याय की धारणाओं को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनमें भी शक्तिशाली के हितों की वकालत की गई और साथ ही यदि शक्तिशाली के हितों एवं अधिकारों की रक्षा होती है तो असमानता और हिंसा को न्यायोचित ठहराया। जहाँ तक नीत्शे के समाज-दर्शन का सम्बन्ध है, डॉ. अम्बेडकर ने कहा, "वह शक्ति की इच्छा, हिंसा, आध्यात्मिक मूल्यों का निषेध, अतिमानव तथा बलिदान, सामान्य आदमी की दासता और पतन के साथ जुड़ गया।"[67] मनु के समान नीत्शे भी सामाजिक असमानता एवं अन्याय का प्रतीक बन गया। इन दोनों का न्याय विचार सामाजिक न्याय की उस भावना का निश्चय ही निषेध है जिसे सुकरात और बाबा अम्बेडकर जैसे विचारकों ने आम कमजोर आदमी के हितों की रक्षा के लिए आवश्यक बतलाया। आधुनिक युग में स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व के निषेध में सामाजिक न्याय कैसे सम्भव होगा?

दैविक कानून के आधार पर कुछ ईश्वरवादी धर्मों तथा धर्मशास्त्रियों द्वारा जिस प्रकार के सामाजिक न्याय की व्याख्या की गई, उसे भी डॉ. अम्बेडकर ने अमान्य कर दिया। दैविक कानून क्या है? इस बात को प्रोफेसर राधाकृष्णन् ने भलीभाँति समझाया और कहा कि यह ईश्वर की इच्छा है। ईश्वर आदमी के कर्मानुसार उसके साथ न्याय करता है। न्याय "ईश्वर के मन और संकल्प का ही रूप है। ईश्वर उसका प्रवर्तक, कर्माध्यक्ष है। न्याय ईश्वर का विशेष गुण है। वह प्रत्येक कार्य, प्रत्येक विचार को एक अदृश्य रूप में किन्तु न्याय की सर्वदर्शी तराजू में तौलता है।"[68] इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वरीय कानून इतने निश्चित हैं कि उनसे कोई आदमी बच नहीं सकता। जो कुछ संसार में घटित होता है, वह ईश्वर के ही न्याय का प्रतिफल है। डॉ. अम्बेडकर ने मानव समाज में इस प्रकार के सामाजिक न्याय की धारणा को कतई स्वीकार नहीं

किया। उन्होंने ईश्वर को न्याय करने वाला नहीं माना, क्योंकि उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। बाबासाहेब ने सामाजिक न्याय की ऐसी किसी धर्मशास्त्रीय धारणा को स्वीकार नहीं किया जिसका प्रचार मुस्लिम, यहूदी, ईसाई, सिक्ख तथा हिन्दू मजहबों ने किया। उन्होंने धार्मिक पंथों तथा सन्तों के उस विचार को भी नहीं माना कि सभी लोग ईश्वर के समक्ष समान हैं और ईश्वर ही उन्हें न्याय देगा, क्योंकि इस प्रकार की समानता एवं न्याय कोरी कल्पना के सिवाय और कुछ नहीं है।

एक विधिवेत्ता के रूप में, डॉ. अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय के उन लौकिक एवं नैतिक तत्वों को अधिक महत्व दिया जिनका सीधा सम्बन्ध आदमी की भलाई से होता है। न्याय के सन्दर्भ में बाबासाहेब ने आदमी और ईश्वर के बीच सम्बन्धों को निरर्थक एवं अप्रासंगिक बतलाया। यह बिल्कुल ही खोखली आशा है कि दिव्य जगत् में सभी को न्याय मिलेगा, जब कि वर्तमान संसार में सामाजिक अन्याय और आर्थिक शोषण करने वालों के हाथों में खेलते रहें, उनके अत्याचार झेलते रहें और उनके समक्ष असहाय बने रहें। यदि दैविक कानून के द्वारा विद्यमान जगत् में न्याय सम्भव नहीं है तो वह किसी अदृश्य संसार में कैसे सम्भव होगा? ईश्वर की कृपा एवं न्याय का यहाँ कोई संकेत नहीं मिलता। इसी कारण डॉ. अम्बेडकर ने एक ओर कबीर, नानक, रविदास, चोखामेला तथा ऐसे ही सन्तों की सामाजिक सेवा के लिए, प्रशंसा की तो दूसरी ओर 'ईश्वर के समक्ष समानता' की धारणा को उन्होंने एक कल्पना बतलाया जिसे मानव प्राणियों ने कभी माँगा नहीं। सामाजिक न्याय के आदर्श को केवल इसी लौकिक समाज में प्रभावी बनाने की आवश्यकता है ताकि पददलित, कमजोर एवं पिछड़े वर्गों के हितों की संविधान और सरकार द्वारा रक्षा की जा सके। विद्यमान स्थिति में तो राज्य का कानून ही प्रभावी हो सकता है, न कि दैविक कानून।

सामाजिक न्याय की मार्क्सवादी धारणा भारत के पददलित, कमजोर तथा पिछड़े वर्गों के सन्दर्भ में बहुत ही महत्वपूर्ण लगती है। इस धारणा ने शोषित वर्गों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हितों की अच्छे ढंग से वकालत की है। लेकिन डॉ. अम्बेडकर ने इस धारणा को भारतीय सामाजिक स्थिति में उपयुक्त नहीं पाया, क्योंकि यद्यपि मार्क्सवादी न्याय की धारणा में, सामाजिक न्याय के आर्थिक एवं लौकिक पक्षों पर अधिक बल दिया है, पर उसमें सार्वभौम प्रमाणीकरण की कमी है। इसमें भी केवल सर्वहारा वर्ग के हितों की सुरक्षा का लक्ष्य मिलता है। न्याय के वर्ग-चरित्र की रूपरेखा मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन तथा माओ जैसे विचारकों ने प्रस्तुत की। उन्होंने सामाजिक न्याय की माँग करते समय सर्वहारा वर्ग के आर्थिक हितों को सर्वोपरि माना और उन्हें भी आवश्यकता पड़ने पर हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए भी सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना आवश्यक होगी। साथ ही मार्क्सवादी विचारधारा ने धर्म की भूमिका को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया और धर्म को मानव के लिए निरर्थक एवं काल्पनिक बतलाया। डॉ. अम्बेडकर ने इसी बात का विरोध किया, क्योंकि सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में धर्म की अहम् भूमिका होती है। न्याय के सन्दर्भ में धर्म का सामाजिक मूल्य है। डॉ. अम्बेडकर ने स्वीकारा कि भारतीय स्थिति में धर्म के बिना कुछ भी करना सम्भव नहीं है। यहाँ का सामाजिक जीवन धर्म से पूर्णतः जुड़ा हुआ है। इसलिए डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में धर्म को उस सामाजिक न्याय की धारणा से पृथक् नहीं कर सकते जिसे हम भारतीय स्थिति में चाहते हैं। भारत में सामाजिक न्याय धर्म के बिना सम्भव नहीं होगा। अतः डॉ. अम्बेडकर ने तीन मुख्य कारणों से मार्क्सवादी धारणा को अस्वीकार किया : (i) उसमें ... क तत्व पर अधिक बल दिया गया है (ii) न्याय की प्रभावी प्रक्रिया में सर्वहारा वर्ग की

तानाशाही को आवश्यक माना गया है; और (iii) धर्म की भूमिका का निषेध किया गया है। ये सभी बातें डॉ. अम्बेडकर को अप्रिय लगीं। इसलिए वह आर्थिक तत्व के सामाजिक न्याय में महत्व को मानते हुए, मार्क्सवाद की सामाजिक न्याय की धारणा से पूर्णतः सहमत नहीं हुए।

गांधी का सर्वोदय सामाजिक न्याय का आदर्श निश्चय ही धर्म से जुड़ा हुआ है। आर्थिक तत्त्व पर अधिक बल नहीं है और तानाशाही का भी उसमें निषेध है। लेकिन डॉ. अम्बेडकर ने गांधीवाद को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उसका मूलाधार वह सनातन धर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म है जिसे बाबासाहेब ने कतई स्वीकार नहीं किया। इसके अलावा गांधीजी की सामाजिक न्याय की धारणा 'वैष्णवजन' की भावना और ईश्वर कृपा अथवा 'दरिद्रनारायण' के विचार पर आधारित है जिसे डॉ. अम्बेडकर ने पददलितों, कमजोर एवं पिछड़े वर्गों की सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में स्वीकार नहीं किया। गांधीजी मानते थे कि मानव उत्थान के लिए सत्य, अहिंसा और ईश्वर-प्रेम आवश्यक हैं। डॉ. अम्बेडकर के लिए सम्भव नहीं था कि वह गांधीवाद में आस्था रखते। उन्होंने गांधी की सर्वोदय सामाजिक न्याय की धारणा को तीन मुख्य कारणों से अमान्य कर दिया : (1) वह उस श्रम-विभाजन के विचार पर आधारित है जो वर्णाश्रम धर्म में अन्तर्निहित है; (2) उसमें न्याय के रख-रखाव की प्रक्रिया में दरिद्रनारायण की भूमिका को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, और (3) उसमें आर्थिक न्याय के लिए जिस न्यासिता के आदर्श को प्रस्तावित किया गया है वह भेड़िया को मेमना की रखवाली करने के समान है अर्थात् पूँजीपति धन-सम्पत्ति के स्वामी न होकर सामाजिक हित में उसके प्रबंधक-न्यासी होंगे जो भारतीय स्थिति में असम्भव है। यह मूलतः उस सामाजिक असमानता को न्यायोचित ठहराना था जो हिन्दू समाज-दर्शन में निहित है। वस्तुतः डॉ. अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में वर्णाश्रम की भावना और ईश्वर के सकल्प की भूमिका को आधार नहीं बनाया। उन्होंने तो सांविधानिक शासन, कानून, धर्म और नैतिकता को सामाजिक न्याय का आधार स्वीकार किया।

कोई अब भी यह प्रश्न कर सकता है : डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक न्याय की धारणा का निश्चित सार-तत्त्व क्या है ? उसके उत्तर में, यह कहा जा सकता है कि समस्त मानव प्राणियों की समानता, स्त्री-पुरुष की समान प्रतिष्ठा, कमजोर एवं निम्न जाति के लोगों के प्रति सम्मान की भावना, आर्थिक खुशहाली, समान मानव अधिकारों के प्रति निष्ठा, पारस्परिक प्रेम, सहयोग तथा सामाजिक सद्भाव की प्रचुरता, धार्मिक सहिष्णुता एव सहयोग, अन्य नागरिकों के साथ बंधुत्व-भाव, सभी मामलों में मानवीय व्यवहार, सभी नागरिकों की गरिमा, जातिगत भेदभावों का अन्त, सभी नागरिकों को शिक्षा तथा सम्पत्ति का अधिकार, मैत्री-भाव, शुभ-संकल्प कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक न्याय की धारणा का निर्माण करते हैं और वह धारणा सांविधानिक शासन, अर्थात् कानून का शासन, भारत के सभी नागरिकों को एक-सूत्र में बांधने के लिए समान नागरिक संहिता में अटूट विश्वास करती है। इससे भी अधिक डॉ. अम्बेडकर ने भारतीय स्थिति में भ्रातृत्व पर अत्यधिक बल दिया। उनकी दृष्टि में, सामाजिक न्याय के लिए वास्तव में हम जो चाहते हैं वह भ्रातृत्व ही है। राजनीतिक एव आर्थिक न्याय की तुलना में उस सामाजिक न्याय की अधिक आवश्यकता है जो मूलतः भ्रातृत्व पर आधारित है। अतः भ्रातृत्व सामाजिक न्याय की आधारभूत शिला है।

भारत में सामाजिक न्याय के लिए भ्रातृत्व क्यों आवश्यक है ? जैसा कि डॉ. अम्बेडकर ने कहा, "भ्रातृत्व भाईचारे की भावना का दूसरा नाम है। यह उस भावना में अन्तर्निहित है जो किसी व्यक्ति को दूसरों की भलाई की ओर ले जाती है जिसके कारण दूसरों की भलाई उसके लिए स्वभावतः और अनिवार्यतः हमारे अस्तित्व की भौतिक दशाओं की ओर आकर्षित करती

है ।'[69] इसी भ्रातृ भाव के कारण ही कोई व्यक्ति अपने हितों का सार्वजनिक हित में बलिदान कर देता है । एक बार जब कोई आदमी भ्रातृ-भाव से ओत-प्रोत हो जाता है वह स्वतः सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में भागीदार बनेगा और उसे विभिन्न क्षेत्रों में प्रभावी बनाने के लिए अपना सहयोग और सद्भाव प्रदान करेगा । डॉ अम्बेडकर की दृष्टि में भ्रातृत्व सर्वोच्च मानव मूल्य है जो आदमी को दूसरों की भलाई करने के लिए सम्प्रेरित करता है । ऐसा आदमी समाज सेवा के लिए लालायित रहता है और दूसरों का जानबूझकर अहित नहीं करता । वह आदमी जो भ्रातृत्व से अभिभूत है किसी कानून की बाध्यता के बिना, इस प्रकार प्रबुद्ध बन जाता है कि वह स्वतः सामाजिक न्याय के मार्ग का अनुसरण करेगा । वह मानव मूल्यों में निष्ठा रखते हुए सामाजिक असमानता अन्याय एवं शोषण से दूर रहेगा । यही वह सामाजिक न्याय की निश्चित धारणा है जिसमें डॉ अम्बेडकर की अटूट आस्था थी और संविधान के नीति निर्देशक तत्वों और मौलिक अधिकारों के द्वारा वह उसे साकार रूप देना चाहते थे । सामाजिक न्याय की यह धारणा सम्पूर्ण भारत और उसके सभी नागरिकों के लिए एक नया सन्दर्भ एक नया अर्थ प्रदान करती है जो यहाँ के प्रजातंत्र, धर्म निरपेक्ष स्वरूप और राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से पूर्णतः प्रासंगिक है ।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है डॉ अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय पर ही जोर क्यों दिया ? यह महत्वपूर्ण प्रश्न है । न्याय कई प्रकार का होता है जैसे विधिक न्याय आर्थिक न्याय राजनीतिक न्याय धार्मिक न्याय प्राकृतिक न्याय वितरणात्मक न्याय प्रशासनिक न्याय स्त्री एवं बाल न्याय तथा सामाजिक न्याय । निश्चय ही सभी प्रकार के न्याय मानव जीवन में महत्त्व रखते हैं पर सामाजिक न्याय का महत्त्व कहीं अधिक है क्योंकि डॉ अम्बेडकर की दृष्टि में उसमें न्याय के सभी पक्षों का समावेश है । सामाजिक न्याय सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था का द्योतक है जबकि अन्य न्याय के प्रकार उसके किसी एक ही पक्ष को पूरा करते हैं । विधिक न्याय हो अथवा आर्थिक या राजनीतिक, वह सीमित क्षेत्र का मुद्दा होता है । ये न्याय समाज व्यवस्था के ही अंग हैं पर उनका क्रियान्वयन थोड़े लोगों को लाभ पहुँचाता है । उन्हें सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था बनाये रखने के लिए नियोजित किया जाता है क्योंकि समाज के समस्त अंगों को एक विराट् न्याय की धारणा से जोड़ना पड़ता है । वह न्याय की विराट् धारणा सामाजिक न्याय है जिसमें विधिक आर्थिक राजनीतिक धार्मिक प्राकृतिक सभी प्रकार के न्याय समाहित हैं । गरीबी बेगार तथा दरिद्रता मिटाना स्त्रियों को समान प्रतिष्ठा देना सम्पत्ति एवं कृषिक झगड़ों का निपटारा अभाव ग्रस्त लोगों को विधिक सहायता देना पिछड़े वर्ग के लोगों को आरक्षण प्रदान करना राजनीतिक अधिकारों को कमजोर वर्ग के लोगों को सुलभ कराना तथा धार्मिक सद्भाव कायम रखना ये सब सामाजिक न्याय के ही विभिन्न पक्ष हैं जिनकी सम्पूर्ति सम्पूर्ण समाज व्यवस्था को न्यायोचित बनाने में सहायक सिद्ध होती है । इसलिए डॉ अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय को एक व्यापक धारणा मानकर उस पर अधिक बल दिया । सामाजिक न्याय को डॉ अम्बेडकर ने चूँकि समता एवं भ्रातृ भाव से जोड़ा इसलिए वह सम्पूर्ण समाज का कार्यात्मक रूप है । समाजिक न्याय समूचे राष्ट्र की सीमाओं को छूता है और उसमें रहने वाले समस्त नागरिकों को बंधुत्व में बांधने का प्रयास करता है चाहे वे अमीर हों या निर्धन, सवर्ण हो या अवर्ण हिन्दू हो या मुस्लिम अथवा सिक्ख ईसाई तथा बौद्ध । इस प्रकार सामाजिक न्याय की धारणा सर्वसमाहित तथा सम्पूर्ण समाज व्यवस्था का संचालन है । इसी कारण डॉ अम्बेडकर ने उस पर अत्यधिक बल दिया और कहा कि भारत में समाज व्यवस्था को न्याय स्वतंत्रता समता एवं भ्रातृत्व के आदर्शों पर निर्मित किया जाना चाहिए जो सामाजिक न्याय के प्रमुख तत्त्व हैं । यह कोई एक व्यक्ति जाति समुदाय या धर्म का मुद्दा नहीं है । सामाजिक न्याय एक गतिशील

अनवरत चलने वाला आन्दोलन है जिसे भलीभाँति संचालित करने के लिए ज्ञान, कर्म और धैर्य की आवश्यकता है। ऐसा कार्य शीलवान कार्यकर्ता ही कर सकते हैं।[70]

राज्य और धर्म

डॉ. अम्बेडकर ने धर्म को जीवन का एक अपृथक् अंग माना और धर्म को समाज के अस्तित्व के लिए भी अनिवार्य बतलाया। समाज और शिक्षा में धर्म की अहम् भूमिका होती है। इससे वैयक्तिक शुद्धता तथा सामाजिक सुदृढ़ता बढ़ती है। धर्म सामान्य भलाई की ओर अग्रसित करता है। डॉ. अम्बेडकर की मान्यता थी कि सच्चा धर्म ही ऐसा कर सकता है। उनके अनुसार, राज्य और धर्म में घनिष्ठ संबंध है, क्योंकि धर्म सम्पूर्ण समाज का धारण करता है, जिससे राज्य के काम-धाम का संचालन सुचारु रूप में होता है। इसलिए राज्य का कर्तव्य है कि वह धर्म के प्रति न तो कठोर बने और न ही धर्म-विशेष का पक्षधर।

डॉ. अम्बेडकर का दृष्टिकोण था कि राज्य को सभी नागरिकों को विश्वास और धर्म की स्वतंत्रता देनी चाहिए, उनको धर्म-प्रचार और धर्म-परिवर्तन की भी स्वतंत्रता कानून तथा नैतिक व्यवस्था की सीमाओं के अन्तर्गत होनी चाहिए।[71] वह जानते थे कि धार्मिक स्वतंत्रता भारतीय संस्कृति की आत्मा है और यहाँ के नागरिकों के लिए ऐसी स्वतंत्रता का होना आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति अन्तर्मुखी है, तो धर्म उसे आन्तरिक सुख-शान्ति प्रदान करता है और कोई व्यक्ति बहिर्मुखी है, तो धर्म उसे सामाजिक सेवा के लिए प्रेरित करता है। अतः डॉ. अम्बेडकर के विचार से धार्मिक स्वतंत्रता आवश्यक है। वह चाहते थे किसी व्यक्ति को इसके लिए बाध्य न किया जाये कि वह अपना धर्म त्याग दे अथवा किसी धार्मिक संस्था तथा संगठन का सदस्य बन जाये, या फिर अन्य धार्मिक शिक्षाओं को ग्रहण करने के लिए विवश किया जाये। यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो निश्चय ही उसे स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। जब तक बच्चा समझदार नहीं होता है, उसकी धार्मिक शिक्षा का भार उसके माता-पिता पर होना चाहिए।[72] यदि वह बड़ा होने पर अन्य किसी धर्म में जाना चाहे, तो उसे पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। उसे अपने मन-पसन्द धर्म को ग्रहण करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। डॉ. अम्बेडकर ने स्वयं इस अधिकार का प्रयोग हिन्दू धर्म त्याग कर, बौद्ध धर्म को अंगीकार करके किया।

डॉ. अम्बेडकर ने धर्म की जीवन में अनिवार्यता और स्वतंत्रता के साथ-साथ ही, यह आग्रह किया कि लोग धर्मान्धता और कट्टरता का त्याग करें। धार्मिक भेदभाव, दबाव तथा धर्मान्धता का, जो कि भारतीय समाज की मुख्य बुराइयों में से हैं, उन्होंने कड़ा विरोध किया। बहुत से लोग अपने धर्म की रक्षा और शान के लिए जान दे सकते हैं, पर धर्मानुसार आचरण नहीं करते। यह धर्म को लेकर दोगलापन डॉ. अम्बेडकर को कतई पसन्द नहीं था। धर्म मनुष्य के लिए है, न कि मनुष्य धर्म के लिए। धर्म का काम शुद्धाचरण सिखाना है। मन की पवित्रता स्थापित करना है। ऐसे लोग, जो सच्चे धर्मानुसार आचरण करते हैं, सामाजिक एकता और सामाजिक स्थिति को सुधारने में सहायक सिद्ध होते हैं। ये अन्ततः राज्य के लिए अच्छे तथा निष्ठावान नागरिक सिद्ध होते हैं। व्यक्तियों के मन की पवित्रता, शुद्धाचरण और शीलाचरण राज्य की सुदृढ़ता और एकता के लिए परमावश्यक हैं।

डॉ. अम्बेडकर एक मानववादी विचारक होने के नाते, धर्म की स्वतंत्रता एवं धार्मिक संस्थाओं के प्रबल समर्थक थे। धार्मिक संस्थाएँ, जैसा कि उनका विश्वास था, राज्य के उद्देश्य की पूर्ति में बहुत कुछ सहायक सिद्ध हो सकती हैं। धार्मिक संस्थाओं को कानून तथा राज्य व्यवस्था के अनुसार ही अपना कामकाज करना चाहिए। डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में, सभी

धार्मिक संस्थाएँ अपने सदस्यों पर कुछ आर्थिक योगदान करने के लिए नियम बनाने में स्वतंत्र होनी चाहिए। फिर यहाँ डॉ अम्बेडकर का कहना था कि किसी भी व्यक्ति को, यदि वह नहीं चाहता है, उस धार्मिक संस्था को, जिसका वह सदस्य नहीं है, आर्थिक योगदान करने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए। वह धर्म के मामला में राज्य के हस्तक्षेप को नहीं चाहते थे बशर्ते कि कोई धार्मिक कृत्य तथा नियम मानव हित में न हो अथवा राष्ट्र के कानूनों के प्रतिकूल हो।[73]

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि डॉ अम्बेडकर ने भारत में धर्म-निरपेक्षता के आदर्श को अपने राजनीतिक विचारों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने कहा कि राज्य को किसी धर्म को राज धर्म घोषित नहीं करना चाहिए।[74] डॉ अम्बेडकर ने धर्म-निरपेक्षता के आदर्श को जटिल नहीं बनाया और न ही उसे 'सभी धर्म समान' हैं के संदर्भ में विश्लेषित किया। उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि "एक धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ यह नहीं है कि हम लोगों की धार्मिक भावनाओं की ओर ध्यान नहीं देंगे। वह सब कुछ जिससे धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ है यह है कि यह संसद किसी एक विशेष धर्म को अन्य सभी लोगों पर थोपने में सक्षम (कॉम्पीटेन्ट) नहीं होगी। यही एकमात्र सीमा है जिसे संविधान स्वीकार करता है।"[75] इससे स्पष्ट है कि हमारा संविधान धर्म-विरोधी नहीं है। वह धार्मिक स्वतंत्रता और धर्माचरण का अधिकार सभी नागरिकों को प्रदान करता है। अतः धर्म निरपेक्षता को राज्य-संविधान के संदर्भ में देखा जाना चाहिए, न कि किसी धर्म विशेष के पक्ष-विपक्ष में।

जहाँ तक धर्म और राजनीति के संबंध का प्रश्न है, डॉ अम्बेडकर ने दोनों को महत्त्वपूर्ण माना, फिर भी वह धर्म को जीवन में उच्च स्थान देते थे। उन्होंने कहा कि "धर्म किसी के सामाजिक उत्तराधिकार का अंग है। उसका जीवन तथा गरिमा और मान उसके साथ जुड़ा हुआ है। अपने धर्म का परित्याग करना कोई आसान काम नहीं है।"[76] धर्मविहीन राजनीति सत्ता अधूरी है, क्योंकि क्रान्तिकारी परिवर्तन धर्म के द्वारा ही होता है। डॉ आम्बेडकर ने ऐतिहासिक अध्ययन एवं सर्वेक्षण द्वारा यह निष्कर्ष निकाला कि धार्मिक क्रान्ति समाज में मौलिक परिवर्तन लाती है, जबकि राजनीतिक क्रान्ति अस्थाई बदलाव की प्रतीक है। इसलिए राजनीतिक सत्ता परिवर्तन अथवा क्रान्ति के पूर्व यदि धार्मिक क्रान्ति हो जाये, तो युग-परिवर्तन संभव होगा जैसा कि बुद्ध, महावीर, मोहम्मद साहेब तथा गुरु नानक द्वारा धार्मिक क्रान्तियों के फलस्वरूप ऐतिहासिक परिवर्तन हुए।

सारांशतः यह कहना उचित होगा कि डॉ अम्बेडकर का दर्शन उस आत्म-प्रेरणा, आत्म-विश्वास और सामाजिक समता का मार्ग है जहाँ भाग्यवादिता तथा ईश्वरीय चमत्कार का कोई स्थान नहीं है। उनका हिन्दूवाद तथा गीता-दर्शन के प्रति विद्रोह इसका प्रतीक है कि आदमी ही अपनी स्थिति का नियामक है तथा आदमी अपने लिए अपना मार्ग स्वयं निर्मित कर सकता है। उनका क्रान्तिकारी चिंतन मानवीय अस्तित्व को नया आयाम देता है और उसकी सार्थकता को सिद्ध करता है। समाज, राज्य और धर्म तीनों के अवांछित बंधनों से आदमी, शोषित-उत्पीड़ित जन-समूह को मुक्ति दिलाना ही बाबासाहेब अम्बेडकर के चिन्तन और आन्दोलन का सतत् लक्ष्य है।

□ □

टिप्पणियाँ

1 डॉ अम्बेडकर के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व की जानकारी के लिए, विशेषकर दो ग्रंथ देखें डी आर जाटव, डॉ अम्बेडकर—व्यक्तित्व एवं कृतित्व (समता साहित्य सदन,

जयपुर, 1993) और धनन्जय कीर, डॉ. अम्बेडकर-लॉइफ एण्ड मिशन, (पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1990)।

2. बाबासाहेब डॉ अम्बेडकर—सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड 1 (भारत सरकार, नई दिल्ली, 1993), पृ. 81
3 भगवद्गीता, अध्याय 4,13
4. बी. आर. अम्बेडकर, बुद्ध एण्ड द फ्यूचर ऑफ हिज रिलीजन, (लेख, 1950), पैरा II
5. बी आर अम्बेडकर, एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, (अम्बेडकर स्कूल ऑफ थॉट, अमृतसर, 1944), पृ 19-20
6. वही , पृ 20-21.
7. वही , पृ 21-22
8. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, द हिन्दू व्यू ऑफ लॉइफ, (ऐलिन एण्ड अनविन, लन्दन, 1949), पृ. 99
9 एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, पृ. 23, 24 व 25
10. वही, पृ. 43-44.
11. वही., परिशिष्ट 2, पृ 21
12. बी. आर. अम्बेडकर, हू वर द शूद्राज ?, (थैकर एण्ड कम्पनी, बम्बई, 1947), पृ 8
13 बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर-सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 1, पृ 77
14. वही , पृ 112
15. एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, पृ 59.
16. बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर—सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 1, पृ 92.
17. एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, पृ 38.
18. बी आर. अम्बेडकर, दिनांक 3 अक्टूबर, 1954 को ऑल इण्डिया रेडियो द्वारा प्रसारित 'माई पर्सनल फिलॉस्फी' व्याख्यानमाला में उनकी वार्ता से।
19. एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, पृ. 38-39.
20. बी आर. अम्बेडकर, स्टेट्स एण्ड मॉइनॉरिटिज, (थैकर एण्ड कम्पनी, बम्बई, 1947), पृ 11-12
21. एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, पृ 39.
22 वही., पृ. 39-40.
23. बी आर. अम्बेडकर, व्हॉट कांग्रेस एण्ड गांधी हैव डन टू द अन्टचेबिल्स, (थैकर एण्ड कम्पनी, बम्बई, 1946), पृ 137.
24 एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, पृ. 40
25 बाबासाहेब डॉ अम्बेडकर—सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 1, पृ 78.
26. वही., पृ. 78
27. व्हॉट कांग्रेस एण्ड गांधी हैव डन टू द अन्टचेबिल्स, पृ. 208-209.

28 डॉ अम्बेडकर के त्रयी-दर्शन के विशद् विवेचन की जानकारी के लिए, देखें-डी. आर जाटव, डॉ अम्बेडकर के त्रयी—सिद्धान्त, (समता साहित्य सदन, जयपुर, 1993) ।

29 बी आर अम्बेडकर ऑल-इण्डिया डिप्रेस्ड क्लासिज कान्फ्रेंस में दिये गये भाषण से, नागपुर, जुलाई 1942

30 धनन्जय कीर, डॉ अम्बेडकर लाइफ एण्ड मिशन (पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1962), पृ 487

31 स्टेट्स एण्ड माइनॉरिटिज पृ 23

32 बी आर अम्बेडकर रानाडे गाधी एण्ड जिन्ना (थैकर एण्ड कम्पनी, बम्बई, 1943), पृ 36

33 स्टेट्स एण्ड माइनॉरिटिज, पृ 32

34 बी आर अम्बेडकर थॉट्स ऑन लिग्विस्टिक स्टेट्स (थैकर एण्ड कम्पनी, बम्बई 1955), पृ 34

35 वही , पृ 34

36 व्हाट कांग्रेस एण्ड गाधी हैव डन टू द अण्टचेबिल्स, पृ 295

37 स्टेट्स एण्ड माइनॉरिटिज, पृ 31

38 वही , पृ 31

39 वही , पृ 31

40 वही , पृ 32

41 वही , पृ 33

42 वही , पृ 34

43 वही , पृ 34

44 वही , पृ 34

45 वही , पृ 3

46 बी आर अम्बेडकर, पाकिस्तान और द पार्टीशन ऑफ इण्डिया, (थैकर एण्ड कम्पनी, बम्बई, 1946), पृ 330

47 वही , पृ 293

48 वही , पृ 294

49 स्टेट्स एण्ड माइनॉरिटिज, पृ 3

50 दस स्पोक अम्बेडकर, भाग प्रथम (भगवानदास द्वारा संकलित एवं संपादित, भीम-पत्रिका प्रकाशन, जलंधर, 1963), पृ 51-52

51 वही , पृ 52-53

52 पाकिस्तान और द पार्टीशन ऑफ इण्डिया, पृ 362

53 रानाडे, गाधी एण्ड जिन्ना, पृ 74

54 वही , पृ 74-75

55. वही, पृ 75
56 वही, पृ 75
57 स्टेट्स एण्ड माइनॉरिटिज, पृ 9
58. गोलमेज परिषद (RTC = प्रथम सत्र, 12.11.1930 – 19. 1. 1931) प्रोसीडिंग्स, पृ 123–129
59 डॉ बाबासाहेब अम्बेडकर : राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड 3, (महाराष्ट्र सरकार का प्रकाशन, बम्बई, 1987), पृ 25
60 वही, पृ 25
61 'ऑन द कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया', डॉ अम्बेडकर द्वारा संविधान-सभा में दिया गया भाषण, दिनांक 25 11 1949.
62 वही भाषण।
63 मनु-स्मृति : (क्रमश) – X 3, I 93, 95 एवं 99, II 100, VII. 36, XI 35, X 122, 123 एवं 192
64 राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पृ 25–92
65. एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, पृ 43–44
66 जी एच सेबाइन, ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल थ्योरी, (ऑक्सफोर्ड एण्ड आई. बी. एच, बम्बई, 1973), पृ 103
67 राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पृ 74.
68. एस राधाकृष्णन्, द हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, (मैकमिलन, लन्दन, 1949), पृ. 73.
69 राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पृ 44
70. विस्तृत जानकारी के लिए देखें : डॉ आर. जाटव, सामाजिक न्याय का सिद्धान्त, (समता साहित्य सदन, जयपुर, 1993), पृ 72–79.
71. स्टेट्स एण्ड माइनॉरिटिज, पृ 11.
72. वही, पृ 11.
73 वही, पृ 12
74 वही, पृ 12
75. के एन चन्दन, रिलेवेन्स ऑफ अम्बेडकरिज्म इन इंडिया, (रावत, जयपुर, 1993, द्वारा संपादित), पृ 68
76 वही, पृ 67–68

□□□

अध्याय **31**

राम मनोहर लोहिया (1910-1967)

23 मार्च 1910 के दिन राम मनोहर लोहिया का जन्म तमसा नदी के किनारे स्थित कस्बा अकबरपुर जिला फैजाबाद (उत्तर प्रदेश) में हुआ। उनके पिता का नाम हीरालाल और माता का नाम चन्दा था। दोनों ही सरल एवं मृदु स्वभाव के थे। उनके पिता, हीरालाल एक उद्भट देशभक्त तथा गांधीवादी थे। पुत्र पर अपने पिता के व्यक्तित्व और विचार का व्यापक प्रभाव पड़ा पर लोहिया ढाई वर्ष की आयु में ही मातृहीन हो गये थे। अतः उन्हें माता-पिता का संयुक्त स्नेह न मिल सका। आगे चलकर उनके पिता ने लोहिया को गांधीजी का व्यक्तिशः आशीर्वाद प्रदान कराया जिसे लोहिया ने कभी विस्मरण नहीं होने दिया।

प्रारम्भ से ही लोहिया प्रखर बुद्धि के विद्यार्थी रहे। उनका शैक्षणिक अध्ययन अकबरपुर में शुरू हुआ। वह नवीं कक्षा तक प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते रहे और 1925 में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा भी बम्बई के मारवाड़ी विद्यालय से प्रथम श्रेणी में पास की। तत्पश्चात् 1927 में इण्टर की परीक्षा हिन्दू विश्वविद्यालय (बनारस) से उत्तीर्ण करके, उन्होंने 1929 में कलकत्ता की एक शिक्षण संस्था विद्यासागर महाविद्यालय से बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। स्नातक बनने के *पश्चात्, लोहिया ने बर्लिन के हम्बर्ट विश्वविद्यालय से 1932 में 'नमक और सत्याग्रह'* नामक शोध-प्रबंध पर पी-एच. डी. की डिग्री प्राप्त की। इस प्रकार लोहिया डॉ. राम मनोहर लोहिया के रूप में स्थापित हुए। वह जर्मनी से 1933 में अपना विद्यार्थी जीवन समाप्त कर, स्वदेश वापस आ गये। डॉ. लोहिया का विद्यार्थी जीवन बड़ा ही सफल रहा। अतः उन पर उनके सभी अध्यापकों का विशेष स्नेह बना रहा। उन्होंने भी अपने गुरुओं और हितैषियों के प्रति सदैव मान-सम्मान की भावना का प्रदर्शन किया।

डॉ. लोहिया विद्यार्थी जीवन से अनेक प्रकार के संगठनों से जुड़े रहे। *अगस्त 1920 में* लोकमान्य बाल गंगाधर की मृत्यु को उन्होंने गम्भीरतापूर्वक लिया और बम्बई के मारवाड़ी विद्यालय के अपने छात्र साथियों द्वारा हड़ताल करवा कर, उसका नेतृत्व किया। यहीं से उनका *संघर्षमय जीवन प्रारम्भ हुआ। विदेशी वस्तुओं के प्रति वह अनाकर्षित होते चले गये* और उग्र दल का नेतृत्व भी किया। असहयोग आन्दोलन के समय जब गांधी जी बम्बई आ गये, तब उनके पिता हीरालाल, डॉ. लोहिया को लेकर गांधीजी से मिलने गये। न चाहने पर भी, लोहिया ने अपने पिता के कारण गांधीजी के चरण स्पर्श किये। तत्पश्चात् गांधीजी ने उनकी पीठ थपथपाई। 1924 के 'गया कांग्रेस अधिवेशन' में डॉ. लोहिया ने एक प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। यहीं से उन्होंने खद्दर पहनना और उसका प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। 1928 में भारत आये 'साइमन कमीशन' का उन्होंने विरोध किया। *कलकत्ता में 'साइमन वापस जाओ' आन्दोलन* का नेतृत्व *किया। इसी समय लोहिया ने 'अखिल बंग विद्यार्थी सम्मेलन'* की अध्यक्षता की और जर्मनी के

की राजनीति तीव्र की और 'अंग्रेजी हटाओ' 'दाम बांधो' 'जाति तोड़ो' हिमालय बचाओ आदि आन्दोलनों का संचालन किया। 1955 से लेकर 1962 तक वह इसी प्रकार के सत्याग्रहो आन्दोलनो को तेज करते रहे।

अमरोहा निर्वाचन क्षेत्र के उप चुनाव में विजयी होकर 1963 में डॉ लोहिया प्रथम बार लोक सभा में प्रविष्ट हुए जहाँ उनकी कुशाग्र बुद्धि तीखी आलोचना तथा विद्रोही व्यक्तित्व का भलीभाँति परिचय हुआ। उनके विचार विवादास्पद तो बने पर उन्होंने जाति प्रथा आर्थिक शोषण, धर्मान्धता जमींदारी-प्रथा बाल विवाह छुआछूत आदि पर कडे प्रहार किये। फलत कट्टर हिन्दू उनसे नाराज हो गये लेकिन कमजोर वर्गों के लोगो ने उनका खूब साथ दिया। 1964 में विश्व भ्रमण करने के पश्चात् डॉ लोहिया ने महँगाई भ्रष्टाचार भाई भतीजावाद लाल फीताशाही कांग्रेसी दादागीरी आदि के विरुद्ध बदों के आह्वान किये, आन्दोलनो को सक्रिय किया और 1967 के आम चुनाव में उन्होंने कांग्रेस हटाओ देश बचाओ' का नारा बुलन्द किया। लेकिन इस पीडित उपेक्षित वर्गों के हिमायती अविचलित उत्साह धैर्य निष्ठा तपस्या एवं त्यागी व्यक्तित्व के धनी लौह-पुरुष का दिल्ली में 12 अक्टूबर 1967 को देहावसान हो गया। पारिवारिक बंधनों से मुक्त डॉ लोहिया जीवन पर्यन्त अविवाहित फक्कड और घुमक्कड बने रहे। वह जन्मत समाजवादी और विद्रोही रहे। उनका समस्त दर्शन जनतांत्रिक मानववाद को अभिव्यक्ति है।

डॉ लोहिया अपने चिन्तन में स्वतंत्र थे। वह किसी के विचारो का अनुकरण करने में विश्वास नहीं करते थे। वह मौलिक चिन्तक थे। उन्होंने भारतीय दर्शन एवं धर्म की रूढिवादी परम्पराओ को स्वीकार नहीं किया। डॉ लोहिया मूलत नास्तिक थे। ईश्वर और आत्मा परमात्मा में उनकी कोई आस्था नही थी। फलत उन्होंने वेद शास्त्रो की अकाट्यता वर्ण व्यवस्था ईश्वर के अस्तित्व आत्मा की अमरता नरक स्वर्ग पारलौकिक मोक्ष आदि को स्वीकार नही किया। उनका चिन्तन मानव की समस्याओ एव कष्टो का अन्त करने तक सीमित रहा। मानववादी दृष्टि विश्व समाजवाद समान असगति सामाजिक समता विचार एव वाणी की स्वतन्त्रता कर्म का सयम वर्णाधारित व्यवस्था का विरोध जाति प्रथा का अन्त चौखम्भा राज्य तथा प्रशासन आदि डॉ लोहिया के चिन्तन के मौलिक तत्त्व हैं। निश्चय ही डॉ लोहिया भारत के मौलिक सामाजिक एव राजनीतिक विचारकों में प्रतिष्ठित स्थान रखते हैं।

उनमें विद्वत्ता विवेक और क्रान्तिकारी दृष्टि का अद्भुत सम्मिश्रण था। डॉ लोहिया ने हिन्दी अंग्रेजी में अनेक ग्रंथो की रचना की जिनमें प्रमुख इस प्रकार हैं—

समाजवाद के आर्थिक आधार (1952) समाजवादी चिन्तन (1956) नया समाज नया मन (1956) कांचन मुक्ति (1956) वशिष्ठ और वाल्मीकि (1958) कृष्ण (1960) खोज वर्णमाला विषमता व एकता (1960), सिविल नाफरमानी सिद्धान्त और अमल (1960) समाजवादी एकता (1961) जर्मन सोशलिस्ट पार्टी (1962) मर्यादित उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला (1962) सरकार से सहयोग और समाजवादी एकता (1962) अन्न समस्या (1963) क्रांति के लिए संगठन (1963) पाकिस्तान में पलटनी शासन (1963) भारत चीन और उत्तरी सीमाएँ (1963) जाति प्रथा (1964) भाषा (1965) इतिहास चक्र (1966) धर्म पर एक दृष्टि (1966) निजी और सार्वजनिक क्षेत्र (1966) निराशा के कर्तव्य

(1966), सात क्रान्तियाँ (1966), आजाद हिन्दुस्तान में नये सम्मान (1968), भारत में समाजवाद (1968), समाजवाद की अर्थ-नीति (1968), समाजवाद की राजनीति (1968), हिन्दू और मुसलमान (1969), सरकारी, मठी और कुजात गांधीवादी (1969), समाजवादी आन्दोलन का इतिहास (1969), समलक्ष्य: समबोध (1969), सगुन और निर्गुन (1969), राम, कृष्ण और शिव (1969), नरम और गरम पथ (1969), देश-विदेश नीति, कुछ पहलू (1970), देश गरमाओ (1970), मन-दृष्टि (1970), हिन्दू-पाक युद्ध और एका (1970), सुधरो अथवा टूटो (1971), अर्थशास्त्र मार्क्स के आगे (1980), विल टू पॉवर एण्ड अदर रायटिंग्स (1956) मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म (1963), रुपीज 25,000 /- ए डे (1963), द कास्ट सिस्टम (1964), इन्टवरवेल डूरिंग पॉलिटिक्स (1965) और गिल्टी मैन ऑफ इण्डियाज, पार्टीशन (1970)।

सामाजिक विचार

भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में जन्मे डॉ. लोहिया एक निरीश्वरवादी चिन्तक थे। वह हिन्दू होते हुए भी हिन्दू धर्म एवं समाज की मूल मान्यताओं के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने धर्म को ईश्वर तथा आत्मा के साथ न जोड़कर, मानव प्राणियों के कल्याण तथा लौकिक समृद्धि के साथ जोड़ा। वह वर्ण-व्यवस्था को भारतीय समाज का कोढ़ मानते थे। इस व्यवस्था ने न केवल शूद्रों के जीवन को नरक बनाया अपितु नारी-जगत् की दुर्दशा भी की। वर्ण व्यवस्था ने जातिवाद को जन्म दिया और छुआछूत तथा ऊँच-नीच की भावनाओं को फैलाया। डॉ. लोहिया ने यह महसूस किया कि "भारत इतने समय तक वर्ण व्यवस्था के फलस्वरूप दासता और सहन की स्थिति में रहा है और अब आन्तरिक असमानता को समाप्त करने का संघर्ष प्रारम्भ हो गया है।"[3] डॉ. लोहिया ने वर्ण तथा जाति में कोई भेद नहीं किया। उन्होंने यह नहीं माना कि वर्ण या जाति का आधार स्वभाव तथा कर्तव्य विभाजन है। वह मानते थे कि वर्ण-व्यवस्था बल द्वारा निर्मित की गई एक व्यवस्था है जिसमें गुण-कर्म का कोई मूल्य नहीं है।[4] जाति-व्यवस्था की व्यापकता के बारे में डॉ. लोहिया ने स्पष्टतः कहा, "भारतीय जीवन में जाति सर्वाधिक प्रभावशाली तत्व है। वे लोग जो इसे सिद्धान्त में नहीं मानते, उसे व्यवहार में स्वीकार करते हैं। जीवन जाति की सीमाओं में ही बंधा हुआ रहता है और सुसंस्कृत लोग धीमी आवाजों में जाति-व्यवस्था के विरुद्ध बोलते हैं, पर अपनी क्रिया में वे उसे अस्वीकार नहीं कर पाते। यदि उन्हें अनेक कार्यों का स्मरण कराया जाता है, जो जाति की अविस्मरणीय पुष्टि करते हैं, तो वे उनके विचार तथा भावना को घृणा से देखते हैं। वस्तुतः वे उन्हीं पर जाति-गत मनोविकार का आरोप मढ़ देते हैं जो उन्हें उनके जातिगत आचरण का स्मरण दिलाते हैं यह कहते हुए कि हम एक ओर सिद्धान्तों और मानदण्डों पर स्वस्थ विचार-विमर्श करते हैं, तो दूसरी ओर ये आलोचक वातावरण को जाति की बात करके दूषित करते हैं। उनका कहना है कि ये आलोचक ही जाति का वातावरण पैदा करते हैं।'[5] डॉ. लोहिया ने स्पष्टतः माना कि विचार और कार्य में यह विचित्र अलगाव भारतीय संस्कृति का एक स्पष्ट विशेषता है। इसका मूल कारण जाति व्यवस्था ही है। जाति एक अपरिवर्तनीय संरचना है जो विचार और कर्म में पार्थक्य प्रदर्शित करती है।[6]

डॉ. लोहिया ने यह माना कि भारतीय समाज का पतन यहाँ व्याप्त अनेक विषमताओं के कारण हुआ। उनके अनुसार, सामाजिक विषमताओं में वर्ण-व्यवस्था व जाति-प्रथा, नर-नारी

असमानता, अस्पृश्यता, रंग-भेद-नीति और साम्प्रदायिकता प्रमुख हैं। डॉ लोहिया की दृष्टि में, सामाजिक दरिद्रता का मुख्य कारण जाति एवं नारी का पार्थक्य है। "मैं मानता हूँ कि जाति एवं नारी के दो पार्थक्य मुख्यत. हमारी मन. स्थिति के ह्रास के लिए उत्तरदायी हैं। इन पार्थक्यों में साहस और आनन्द को ध्वस्त करने की पर्याप्त सामर्थ्य है।"[7] हिन्दू समाज की दुर्दशा के लिए डॉ लोहिया ने ब्राह्मणवाद को भी उत्तरदायी पाया। "इसके मूल में ब्राह्मणवाद का षड्यंत्र उनकी समझ में आया। साथ में वणिकवाद की भी साठ-गाँठ का आभास हुआ। दोनों ने मिलकर जो जातीय चक्र-व्यूह रचा है, उसी का यह प्रतिफल हुआ है कि हिन्दू धर्म में नफरत फैल गई और उसके प्रति अनेक संदिग्धताओं ने जन्म ले लिया है।"[8] अन्य शब्दों में, "डॉ लोहिया जाति-भेद अथवा वर्ण-भेद को ही नहीं, अपितु वर्ण और जाति नाम की संज्ञाओं का भी होम चाहते थे। डॉ लोहिया की दृष्टि समन्वयवादी नहीं, अपितु, जाति-रोग को जड़ से विनष्ट करने की रही। उनके कुछ सुनिश्चित सिद्धान्त थे, जिन्हें प्रतिष्ठित करने के लिए, निर्भीकतापूर्वक वह आजीवन संघर्षरत रहे।"[9]

भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक विषमताओं को देखकर डॉ लोहिया बड़े ही व्याकुल थे। वह समता पर आधारित समाज व्यवस्था के पक्षधर थे। अन्य समताओं की अपेक्षा, उन्होंने सामाजिक समता का प्रतिपादन अधिक सशक्त रूप में किया। सामाजिक विषमताओं में जाति प्रथा, नारी दुर्दशा, अस्पृश्यता, रंग-भेद-नीति और साम्प्रदायिकता को वह सभी तरह से समाप्त करना चाहते थे। इन सामाजिक कुरीतियों में जाति-प्रथा सर्वाधिक विनाशकारी मानी गई। डॉ लोहिया ने कहा, "आर्थिक गैर-बराबरी और जाति-पाँति जुड़वाँ राक्षस हैं और अगर एक से लड़ना है, तो दूसरे से भी लड़ना आवश्यक है।"[10] जाति-प्रथा ने समाज के कमजोर वर्गों को न केवल आर्थिक असमानता का शिकार बनाया है, अपितु उन्हें सामाजिक एवं राजनीतिक समता से भी वंचित रखा है। डॉ लोहिया चाहते थे कि सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार कर्म होना चाहिए, न कि जन्म। जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को उच्च समझना अथवा ब्राह्मणों के चरण-स्पर्श करने का स्पष्ट अर्थ है जाति-प्रथा को बनाये रखना। जाति-प्रथा एक जड़-वर्ग का द्योतक है जिसके कारण भारत का समग्र जीवन निष्प्राण हो गया है। उसी के कारण भारत दासता एवं परतंत्रता का शिकार हुआ। डॉ लोहिया ने जाति-प्रथा के कुप्रभाव के विषय में यह कहा, "जाति अवसर को सीमित करती है, सीमित अवसर योग्यता को संकुचित कर देता है, संकुचित योग्यता अवसर को और आगे रोकती है, जहाँ जाति का प्रभुत्व है, वहाँ अवसर और योग्यता लोगों के संकुचित दायरों में और अधिक सीमित होती चली जाती हैं।"[11]

जाति-प्रथा के उन्मूलन के लिए डॉ लोहिया ने अनेक सुझाव दिये। सामान्यत· *अन्तर्जातीय विवाहों* और सहभोजों को उन्होंने महत्त्व दिया। लेकिन इन्हें प्रशासन एव समाज द्वारा कड़ाई से लागू करना चाहिए। उन्होंने कहा, "जिस प्रशासन और फौज में भर्ती के लिए, और बातों के साथ-साथ, शूद्र और द्विज के बीच विवाह को योग्यता और सहभोज के लिए इन्कार करने पर अयोग्यता मानी जायेगी, उसी दिन जाति पर सही मायनों में हमला शुरू होगा। वह दिन अभी आना है।"[12] उनकी मान्यता थी कि अन्तर्जातीय विवाहो और सहभोजो से *आवश्यक रूप में समता का* भाव पैदा होने लगेगा। डॉ लोहिया ने जाति-प्रथा के तोड़ने मे वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष चुनाव की भूमिका पर भी बल दिया। उनका विचार था कि

"जैसे-जैसे यह वयस्क मताधिकार चलता रहेगा, चुनाव चलते रहेंगे, वैसे-वैसे जाति का ढीलापन बढ़ता रहेगा।"[13] संक्षेप में, डॉ लोहिया ने आम लोगों में राजनीतिक चेतना भरने और राष्ट्र को सशक्त बनाने के लिए जाति-प्रथा की समाप्ति की दिशा में प्रत्यक्ष चुनाव, वयस्क मताधिकार और विशेष अवसर के सिद्धान्त की आवश्यकता पर बल दिया।

जाति-प्रथा के उन्मूलन की दिशा में डॉ लोहिया ने, उपर्युक्त सुझावों के साथ-साथ, ब्रह्मज्ञान और अद्वैतवाद को सार्थक सिद्ध किया। वैसे डॉ. लोहिया निरीश्वरवादी थे, पर ब्रह्मज्ञान और अद्वैतवाद के मूल स्वर-हम सब एक ही हैं, को प्रासंगिक बतलाया। अपने व्यक्तिगत संकुचित शरीर और मन से हटकर सब के प्रति अपनापन अनुभव करना ही सच्चा ब्रह्मज्ञान है।[14] इस भाँति जाति-प्रथा की समाप्ति को ही सच्चा अद्वैतवाद मानते हुए, उन्होंने कहा," एक तरफ तो अद्वैत चला रहे हैं कि सब संसार एक है, सब समान हैं, पेड़ समान, गन्ध समान, आदमी समान, देवता समान और दूसरी तरफ, अपने ही अन्दर ब्राह्मण, बनिया, चमार, भंगी, कहार, कापू, माला, मादीगा, न जाने पचास तरह के झगडे करके बटवारा, अपने देश को हम छिन्न-भिन्न कर रहे हैं।"[15] डॉ लोहिया का ब्रह्मज्ञान और अद्वैतवाद से मात्र इतना ही मतलब था कि सब मानव प्राणी समान हैं, सभी सामाजिक समता के हकदार हैं। उनकी दृष्टि में, ब्रह्मज्ञान एकता और अद्वैतवाद समता के प्रतीक हैं, न कि ईश्वर, मोक्ष, स्वर्गादि के आधार हैं। वह ब्रह्मज्ञान के काल्पनिक स्वरूप अथवा अद्वैतवाद के कोरे अध्यात्मक को नहीं चाहते। वह व्यावहारिक नतीजों को अधिक महत्त्व देते थे। यही कारण है कि डॉ लोहिया ने वेद-शास्त्रों अथवा धर्म की अव्यावहारिक मान्यताओं को कोई महत्त्व नहीं दिया। वह दोगले व्यवहार और झूठे प्रचार से बहुत घृणा करते थे।

आर्थिक दृष्टि से भी डॉ लोहिया ने जाति-प्रथा को तोड़ने पर बल दिया। जाति-प्रथा के कारण प्रायः छोटी जातियाँ सार्वजनिक जीवन से बहिष्कृत की जाती हैं। उनमें दासता की भावना पैदा हो जाती है। इसी दासता एवं भेदभाव के कारण हर तरह का शोषण इन छोटी, कमजोर एवं पिछडी जातियों का होता है। वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपना काम-धंधा नहीं कर सकते। वे गरीब हो जाती हैं और उनकी स्वाभाविक योग्यता क्षीण हो जाती है। इसलिए डॉ लोहिया की दृष्टि में कमजोर एवं पिछडी जातियों को आर्थिक रूप से सबल और उनमें आत्म-सम्मान जागृत करने की आवश्यकता है। डॉ लोहिया ने सुझाया कि सभी भूमिहीन मजदूरों को साढे छ. एकड़ जमीन मिले, खेतिहर मजदूरों की मजदूरी बढाई जाए, ऊँची से ऊँची आमदनी या नीची से नीची आमदनी के बीच में एक मर्यादा बांधने वाली बात लागू की जाए।[16] उन्होंने स्पष्टतः कहा कि "चरम दरिद्रता की अवस्था में सामाजिक चेतना मर जाती है, या कम से कम, क्षीण हो जाती है। समृद्धि और सुख में रहने वाले व्यक्ति अपने और दरिद्र जनता के बीच निर्ममता की प्राचीरें खड़ी कर देते हैं। सामाजिक चेतना का पुनर्जागरण तभी सम्भव है, जब इन प्राचीरों को ढहाया जाये, और ये प्राचीरें तभी गिर सकती हैं जबकि आमदनियों का परस्पर अन्तर निश्चित सीमा के अन्दर रखा जाये।"[17] इस प्रकार जाति-प्रथा को समाप्त करने की दिशा में न्यूनतम आमदनी बुनियादी सवाल है। यह तय करती है कि कुल आमदनी कितनी हो और साथ ही, अधिकतम आय तथा खर्चा भी तय किया जाए, ताकि ऊँची आय वाले छोटी जातियों का शोषण न कर सकें।

डॉ लोहिया का विशेष अवसर का सिद्धान्त एक उच्च आदर्श एवं न्याय पर आधारित है। यह सामाजिक न्याय की बात ही नहीं करते थे, बल्कि उसे व्यवहार में लाने के लिए, और साथ

हो, वर्ग-विहीन तथा जाति-विहीन समाज की स्थापना की दृष्टि से, कमजोर तथा पिछड़े लोगों को हर क्षेत्र में प्राथमिकता देने पर बल देते थे। डॉ लोहिया कमजोर एवं पिछड़े वर्गों को साठ प्रतिशत आरक्षण देने के पक्ष में थे। उन्हें राजनीतिक, आर्थिक तथा प्रशासनिक क्षेत्रों में आरक्षण और प्राथमिकता दी जाए, ताकि वे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करें और सम्मानपूर्वक जी सकें। डॉ लोहिया इन छोटी-पिछड़ी जातियों को न केवल नेतृत्व के पदों पर आसीन देखना चाहते थे, बल्कि उनकी मन स्थिति जागृत करना, उन्हें सुसंस्कृत बनाना और उनमें अधिकार-भावना भी भरना चाहते थे। उनके अनुसार, यदि पद् दलितों में अधिकारों के प्रति चेतना जागृत हो जाए, तो वे अपना कर्तव्य भी भलीभाँति निभा सकते हैं। अधिकार और कर्तव्य की भावनाएँ एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। जहाँ आदमी का सम्मान हो, अधिकार मिलें, तो वह अपने पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक उत्तरदायित्वों को अच्छी तरह सम्पन्न कर सकता है।[18] संक्षेप में, डॉ लोहिया की दृष्टि में, "समान अवसर नहीं, बल्कि प्राथमिकता पर आधारित अवसर इन संकुचित बंधनों की दीवारों को ढहा सकता है।"[19]

डॉ लोहिया ने सामाजिक परिवर्तन तथा सामाजिक न्याय को व्यावहारिक बनाने के लिए यह कहा— "मुसलमानों एवं अन्य लोगों के बीच स्त्रियों, आदिवासियों, शूद्रों, हरिजनों और पिछड़े वर्गों का पतन जाति-व्यवस्था में खोजा जाना चाहिए। तब एक समाजशास्त्रीय नियम उद्भूत होता है कि अवसर एवं योग्यता का अवमूल्यन तथा संकुचन जाति की एक अनिवार्य संलग्नता है। इस देश में जो कुछ भी नौकरशाही योग्यता है, वह ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों में पाई जाती है, और व्यापारिक योग्यता वैश्यों में, और इन क्षेत्रों में देश की 90% जनसंख्या और उसकी स्वाभाविक योग्यताएँ क्षीण तथा गतिहीन (अशक्त) हो गई हैं। योग्यता तथा अवसर के अवमूल्यन की प्रक्रिया जहाँ एक बार प्रारम्भ हुई अनिश्चित काल तक चलती रही जिसके परिणामस्वरूप इन ब्राह्मणों या कायस्थों में से कुछ सुविधा-भोगी उप-जातियों ने और अधिक सुविधाएँ हासिल कर लीं, जबकि बहुसंख्यक लोग निरन्तर वंचित रहे और कम योग्य बनते गये। जाति का अर्थ है लोगों को उनकी योग्यताओं से वंचित करना और यही सब से महत्त्वपूर्ण कारण है कि भारतीय लोग इतने पिछड़े क्यों हैं और प्राय दासता में क्यों रहे हैं। एक बार पुनः भारतीय लोगों की योग्यताओं को पुनर्जागृत करने के लिए, विशेष एवं प्राथमिकता पर आधारित अवसरों का समाधान एकमात्र नुसखा है, ताकि इस पद्दलित जनसंख्या को 90% भाग को देश में सभी उच्च अवसरों का 60% भाग मिल सके जैसे राजपत्रित सेवाओं में अथवा नेतृत्व पदों पर। जब तक क्षमता और योग्यता के अवसर के लिए, एक परीक्षा रहती है, तब तक भारतीय लोग अपनी योग्यताओं (क्षमताओं) से वंचित रहेंगे और आरक्षण मात्र कागजों पर बना रहेगा। इस देश में समस्त अवसरों का 60% समाज के पिछड़े लोगों को, उनकी क्षमता के बावजूद, इस आशा से दिया जाना चाहिए कि बढ़ते हुए अवसरों की यह उल्टी प्रक्रिया जाति-व्यवस्था को विनष्ट कर देगी और लोगों की क्षमताओं को पुनर्जागृत करेगी।"[20]

समाजवादी चिन्तन

भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक विषमताओं ने डॉ लोहिया के चिन्तन को बहुत ही प्रभावित किया। उनका समाजवादी चिन्तन देश-प्रेम तथा जन-कल्याण की भावनाओं से ओत-प्रोत है। वह न तो मार्क्स से सहमत थे और न ही गांधी से। उनके दर्शन में एक प्रकार की ऐसी मौलिकता है जिसमें निर्भीकता एवं ईमानदारी की सोच मिलती है। उन्होंने भारत की पद्दलित तथा पिछड़ी [illegible]यों को भलीभाँति देखा। उनकी पीड़ाओं को महसूस किया। वह उनके

कल्याण के प्रति आबद्ध हो गये। यही कारण है कि डॉ. लोहिया का समाजवादी चिन्तन, उनके मानववादी दृष्टिकोण की एक सशक्त अभिव्यक्ति है। वह चाहते थे कि जाति, वर्ण, धर्म, वंश, लिंग, संस्कृति, सम्पत्ति आदि की भिन्नताओं से मुक्त, एक ऐसी समाज व्यवस्था स्थापित की जाए जो कर्म से उद्भूत हो और व्यवहार मे पुष्ट हो। वह भारतीय दर्शन एव धर्म की उन अनेक कल्पनाओ एवं प्रलोभनो में नहीं आए जो आदमी को ईश्वर, आत्मा, मोक्ष आदि से तो जोड़ते हैं, पर आदमी को आदमी से अलग करते हैं। उनका समाजवादी चिन्तन धरातल की चीजो को अधिक महत्त्व देता है।

डॉ. लोहिया समाजवाद को 'समानता एव सम्पन्नता' के साथ जोड़कर, उसे व्यावहारिक रूप देना चाहते थे। उनका विचार था कि "समाजवाद के सिद्धान्त को एक दृढ आधार प्रदान करने के साथ कार्य के उन कारगर तरीका का खोज निकालना जिनके द्वारा सिद्धान्त कार्यान्वित किया जा सके, उतना ही आवश्यक है। समस्त कार्य का लक्ष्य जनता की इच्छा को संगठित एव व्यक्त करना और राष्ट्रीय जीवन का पुनर्निर्माण होना चाहिए।"[21] डॉ. लोहिया चाहते थे कि लोगों में समाजवादी विचार एव कार्य के प्रति तडपन पैदा हो। क्रान्तिकारी दृष्टिकोण अपनाये बिना, समाजवाद का सही-सही कार्यान्वयन सभव नहीं होगा। उन्होंने कहा "क्रान्तिवाद के बिना समाज का सही विकास सभव नहीं हो पायेगा।"[22] यह आवश्यक भी है कि किसी भी व्यापक सामाजिक एव आर्थिक या राजनीतिक परिवर्तन के लिए आम लोगो का जागृत करना और उन्हें तैयारी में जुटाना पूर्व-शर्त है। इसलिए डॉ. लोहिया ने कहा "जब तक लोगो के मनो को एक साथ हिलाने वाली, कोई अन्दर से निकली हुई तडप नहीं होती, तब तक यह सब काम सफल नहीं हो पाते, और वह तडप अभी भी नहीं, वह मन अभी है नहीं। उसको बनाने का काम हमारा पहला काम है।"[23] डॉ. लोहिया के समाजवादी चिन्तन में वे सभी तत्त्व पाये जाते हैं जो सामान्यत किसी भी समाजवादी सिद्धान्त में होते हैं जैसे अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्था को पहचान एवं उसके प्रति विद्रोह, नयी व्यवस्था में विश्वास और उसका कार्यान्वयन, सामाजिक एव राजनीतिक भ्रष्ट सस्थाओ एव विषमताओं का अन्त, नयी व्यवस्था की स्थापना के लिए एक क्रान्तिकारी संकल्प और उसका व्यावहारिक बनाने की दिशा में संसाधनों का सगठन।

डॉ. लोहिया का समाजवादी चिन्तन पूर्णत क्रान्तिकारी और मौलिक था। उन्होंने सामाजिक विषमताओं को सभी समस्याओं की जड माना। उनके समाजवादी चिन्तन का प्रमुख लक्ष्य एक ओर जाति-व्यवस्था को विनष्ट करना अर्थात् समता लाना और दूसरा आर्थिक दरिद्रता का अन्त करना अर्थात् गरीबी और अमीरी के व्यापक अन्तर को समाप्त करना था। उन्होंने स्पष्टत कहा कि "सबसे पहले गरीबी और अमीरी के फर्क से अन्याय निकलते हैं, उनको लें। यह जहरीला अन्याय है।"[24] यदि आर्थिक अन्याय समाप्त होता है, तो निश्चय ही सामाजिक समता के द्वार खुल जायेंगे। भारतीय सदर्भ में मात्र आर्थिक बदलाव ही पर्याप्त नहीं हैं। यहाँ की जन्माधारित सामाजिक प्रतिष्ठा को समाप्त करना भी समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए परमावश्यक है। यही कारण है कि डॉ. लोहिया के समाजवादी चिन्तन में जाति एवं वर्ग का उन्मूलन, आय तथा व्यय नीति का निर्धारण, अन्न सेना एव भू-सेना का सगठन, खेतिहर भूमि का समुचित पुनर्वितरण, आर्थिक विकेन्द्रीकरण और राष्ट्रीयकरण अथवा समाधनों का समाजीकरण प्रमुख तत्त्व हैं।

वर्ग या जाति उन्मूलन से संबंधित डॉ. लोहिया के विचार सुस्पष्ट हैं। वह वर्ण तथा जाति को एक ही मानते थे और चाहते थे कि सामाजिक समता की व्यावहारिकता के लिए, इसका ध्वस्त होना जरूरी है। डॉ. लोहिया वर्ग उन्मूलन को भी जरूरी समझते थे। उनके अनुसार, वर्ग उत्पत्ति का कारण केवल आर्थिक नहीं है, बल्कि सामाजिक और बौद्धिक भी है। उनकी दृष्टि में, "दौलत, बुद्धि, स्थान के हिसाब से समाज में गिरोह बनते हैं, जिन्हें वर्ग कहते हैं।"[25] यहाँ दौलत, बुद्धि तथा स्थान से डॉ. लोहिया का तात्पर्य क्रमशः आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक भेद-भाव से है। ऐसा प्रत्येक वर्ग शोषण करता है और शोषण के द्वारा कोई वर्ग विशेषाधिकार प्राप्त कर लेता है जो एक भयानक अस्त्र बन जाता है। कुछ विशेषाधिकार जन्म से ही प्राप्त होते हैं, तो कुछ प्राप्त किये जाते हैं। डॉ. लोहिया के अनुसार, जाति, सम्पत्ति और भाषा भारतीय समाज में बुनियादी विशेषाधिकार हैं। जाति और सम्पत्ति तो स्पष्टतः जाने-माने विशेषाधिकार हैं। भाषा संबंधी विशेषाधिकार से डॉ. लोहिया का मतलब अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से था। भारतीय समाज में सम्पत्ति एवं प्रतिष्ठा अंग्रेजी बोलने वालों के साथ जुड़ी हुई है। यह धारणा बन चली है कि जो अंग्रेजी नहीं जानते, शासन नहीं चला सकते। इस प्रकार प्रजातांत्रिक राज्य में करोड़ों लोग हीन भावनाओं से ग्रस्त हो गये हैं। भाषा, जाति और सम्पत्ति वर्ग निर्माण के सशक्त आधार हैं। इनके साथ-साथ, अन्य आधार भी हो सकते हैं, पर डॉ. लोहिया ने इन्हीं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और चाहते थे कि इन वर्गों एवं विशेषाधिकारों को समाप्त किये बिना समाजवादी व्यवस्था की स्थापना कठिन होगा।

डॉ. लोहिया ने 'अंग्रेजी हटाओ' अभियान व्यापक रूप में चलाया। यह अभियान आज भी उनके अनुयायियों द्वारा सक्रिय है। "मैं चाहता हूँ कि अंग्रेजी का सार्वजनिक इस्तेमाल फौरन बंद होना चाहिए। विधायिकाओं, सरकारी कार्यालयों, अदालतों, दैनिक समाचार-पत्रों और नाम-पटों में अंग्रेजी का इस्तेमाल नहीं होना चाहिए और अंग्रेजी की लाजमी पढ़ाई बंद होनी चाहिए।"[26] अंग्रेजी के स्थान पर डॉ. लोहिया 'लोक भाषा' का प्रयोग चाहते, ताकि भाषा से उत्पन्न वर्ग समाप्त हो जाएँ। इसके पीछे उनका समाजवादी दृष्टिकोण था। भाषा समता का आधार हो, परस्पर आदान-प्रदान और मेल-जोल का माध्यम होना चाहिए, न कि भेद-भाव अथवा वर्ग-विभाजन का। वह चाहते थे कि भारत की 'लोक भाषा' हिन्दी हो, न कि अंग्रेजी।

जहाँ तक जाति या वर्ण पर आधारित वर्गों अथवा भेद-भाव, ऊँच-नीच, छूत-अछूत का संबंध है, डॉ. लोहिया इनकी समाप्ति के लिए जीवन पर्यन्त सक्रिय रहे। उनका कहना था, "जो आदमी हिन्दुस्तान की जाति-प्रथा को अपने दिमाग में नहीं रखेगा, जो कि एक वस्तु-स्थिति है, एक खास बात है, और हरेक चीज के लिए वह नींव है, वह कभी भी पूँजीवाद-समाजवाद के चक्कर को समझ ही नहीं पायेगा।"[27] डॉ. लोहिया ने मार्क्स के वर्ग-संघर्ष को भारतीय संस्कृति, इतिहास और परम्पराओं की भूमि पर वर्ण-संघर्ष के रूप में संशोधित करने का प्रयास किया क्योंकि भारत में वर्ण या जाति को तोड़े बिना समाजवाद की कल्पना नहीं की जा सकती। वर्ण-व्यवस्था को तोड़ने के लिए डॉ. लोहिया ने सामाजिक विषमताओं की समाप्ति पर अधिक बल दिया। उन्होंने 90% कमजोर पददलित एवं पिछड़ी जातियों को शैक्षणिक संस्थाओं, राजपत्रित अधिकारियों और नेतृत्व पदों पर आसीन करने का सुझाव दिया, ताकि इन लोगों में आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास और भागीदारी की भावनाएँ जागृत हों।

डॉ. लोहिया ने सम्पत्ति पर आधारित वर्ग तथा विशेषताओं को समाप्त करने पर अधिक बल दिया। उनके अनुसार, समाजवाद की स्थापना के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के मंत्री, जिलाधीश, कमिश्नर और अन्य बड़े-बड़े अफसरों के खर्चीले और विलासितापूर्ण जीवन का दमन उतना ही जरूरी है जितना कि निजी क्षेत्र के सेठों-करोड़पतियों के ऐश, आराम और फैशन वाले जीवन का। डॉ. लोहिया चाहते थे कि आय-समता 1 : 10 के अनुपात से निश्चित की जाए और शोषण-रहित मूल्य-नीति का निर्धारण भी हो। उनका तात्पर्य था कि एक ओर घोर गरीबी, दरिद्रता और दूसरी असीमित अमीरी, सम्पन्नता के भेद-भाव अथवा खाई को आय तथा व्यय की सीमाओं पर अंकुश लगाकर समाप्त किया जाए। डॉ. लोहिया ने कहा, " . यह कभी नहीं हो सकता कि सारे समाज में तो लालच का समुद्र बढ़ता रहे और बीच में सिर्फ सरकारी नौकरों के लिए फर्ज का टापू बना डाला जाए, यह नामुमकिन चीज है। लालच की लहरें लपेट मारेंगी। अगर किसी तरह से सरकारी नौकरी के लिए कर्तव्य का द्वीप बना भी दिया, तो वह टापू लालच के समुद्र में बह जायेगा। रोक लगानी है तो सभी आमदनियों पर, सरकारी नौकरों की, कारखाने वालों की, वकीलों की, राजनीति करने वालों की।"[28] डॉ. लोहिया चाहते थे कि जाति तथा सम्पत्ति के कारण जो श्रम तथा मेहनत नहीं करते, उनकी आदतों तथा संस्कारों को बदलना चाहिए, ताकि वे स्वयं काम करें। न्यूनतम आमदनी को डॉ. लोहिया ने बुनियादी सवाल बताया और चाहा कि न्यूनतम और अधिकतम आमदनी की सीमाएँ निश्चित करके समाजवादी व्यवस्था को समृद्ध किया जाए।[29]

डॉ. लोहिया के समाजवादी चिन्तन में धनिक वर्ग के खर्च पर सीमा बांधना, उच्च पदाधिकारियों की आय एवं सुविधाएँ घटाना, फालतू कर्मचारियों की छँटनी करके वैकल्पिक रोजगार बढ़ाना, विदेशी वस्तुओं का आयात कम करना, देश में निर्मित वस्तुओं का अधिकाधिक प्रयोग, करोड़पतियों के कारखानों का अनिवार्यतः राष्ट्रीयकरण, कृषि सुधार और भूमि का समुचित पुनर्वितरण प्रमुख सुझाव हैं। डॉ. लोहिया ने यह भी कहा कि "मैं यह मानता हूँ कि इस दाम-नीति को हकीकत बनाने के लिए, हमारे आर्थिक और सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने पड़ेंगे और सरकारी लूट, पूँजीपति मुनाफों और बड़े किसानों के हितों पर जमकर हमला करना होगा।"[30] साथ ही उनका सुझाव था कि अन्न-सेना और भू-सेना जैसे समूह बनाकर शोषित लोगों का आर्थिक एवं सामाजिक उत्पीड़न रोका जाए। बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए यह सुझाव दिया गया। उन्होंने कहा था कि "जैसे बंदूक वाली सेना वैसे ही हल वाली सेना। मोटी तरह से सोच लो हल वाली सेना जो नयी जमीन को तोड़े, आबाद करे।"[31] डॉ. लोहिया के मतानुसार, अन्न एवं भू-सेना केवल कृषक तथा आर्थिक विकास के लिए ही नहीं, अपितु सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी परिवर्तन की प्रक्रिया में योगदान करेगी। यह सेना ग्रामीण व्यक्तियों में प्रोत्साहन तथा प्रेरणा का संचार करेगी। वह ग्रामीणों को तकनीकी ज्ञान देकर उनके कृषि-उत्पादन को समृद्ध करवायेगी। इस प्रकार डॉ. लोहिया की अन्न एवं भू-सेना की योजना बहुत ही वैज्ञानिक और व्यावहारिक है जिसे आज एकीकृत ग्रामीण विकास योजनाओं के रूप में सरकारें संचालित कर रही हैं। अपनी योजनाओं को लागू करने के लिए, डॉ. लोहिया ने विदेशी सहायता की बजाय, देशी संसाधनों पर अधिक बल दिया।

भारत के सभी नागरिकों को समुचित अनाज मिले, उनकी रोटी-रोजी चले, और सभी नागरिक अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें, डॉ. लोहिया का समाजवाद इन्हीं परानुभूति चाहों का चाहक था। उन्होंने 'दाम बांधो आन्दोलन', 'अन्न बढ़ाओ आन्दोलन', 'रोटी दो [illegible]

समुचित वितरण डॉ लोहिया के समाजवाद का प्रमुख हिस्सा है। लोगों का अधिकार है कि उन्हे भोजन व अन्न मिले। उन्हें यह भी अधिकार है कि वे भुखमरी की स्थिति मे अनाज के गोदामो को लूट लें। यह अपराध नहीं, समय की माँग है। कोशिश करके अनाज का हिसाब-किताब भी रखना चाहिए।[32] डॉ लोहिया के मतानुसार, मुफ्त रसोई घर और अनाज के व्यापार का समाजीकरण किया जाना चाहिए, ताकि लोगों को लाचारी, भुखमरी, बीमारी आदि से बचाया जा सके। उन्होंने अनाज के व्यक्तिगत व्यापार को समाप्त करने का भी सुझाव दिया। ये व्यक्तिगत व्यापारी अत्यधिक लाभ कमाकर भूखे को और अधिक भूखा न बना पाएँ। उनके अनुसार, यदि अनाज व्यापार का समाजीकरण कर दिया जाए, तो अनाजो की कीमतों में अधिक उतार-चढाव नहीं होगा। डॉ लोहिया ने अपनी समाजवादी नीति और राजनीति को लोगो के पेट भरने की समस्या से जोडा और कहा कि "जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति को भोजन से अलग रखो, वे या तो अज्ञानी हैं, या बेईमान। राजनीति का मतलब और पहला काम लोगों का पेट भरना है। जिस राजनीति में लोगो का पेट नहीं भरता, वह राजनीति भ्रष्ट, पापी और नीच है।"[33]

डॉ लोहिया ने अपने समाजवादी चिन्तन को व्यावहारिक बनाने के लिए भूमि के पुनर्वितरण पर भी बल दिया। उनकी भूमि सबधी पुनर्वितरण की नीति थी, "अधिक से अधिक और कम से कम जमीन के स्वामित्व मे एक और तीन का रिश्ता हो।"[34] डॉ लोहिया जमींदारी-प्रथा और सामन्तवाद के कट्टर विरोधी थे। जमीन का समुचित पुनर्वितरण केवल राज्य द्वारा ही कानून बनाकर किया जा सकता है। इससे भी आगे समाजवाद को व्यावहारिक बनाने के लिए उन्होंने भारत मे आर्थिक विकेन्द्रीयकरण की आवश्यकता पर बल दिया और कहा कि छोटी-छोटी मशीनो पर आधारित उद्योग पद्धति "मुल्क के लिए सामाजिक, सास्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से भी आवश्यक है। मैं उस जमाने का चित्र आँखों के सामने देख रहा हूँ, जबकि देश के सभी गाँवो मे और शहरो में विद्युतचलित छोटी मशीनों का एक बहुत बडा जाल बुनकर लोगो को काम दिया गया है और देश की सम्पत्ति बढ रही है।"[35] डॉ लोहिया की दृष्टि मे, "यह मशीन अविकसित ससार की आर्थिक समस्या का ही समाधान नहीं करेगी, अपितु वह नवीन खोज के लिए भी सक्षम बनायेगी और समाज के सामान्य लक्ष्यो की उपलब्धियाँ भी करायेगी।"[36] डॉ लोहिया के समाजवादी चिन्तन के कुछ अन्य तत्व निम्न प्रकार हैं:—

1 सम्पत्ति का समाजीकरण किया जाए, जिसका सीधा अर्थ है कि सम्पत्ति के स्वामित्व द्वारा समाज-कल्याण को अधिकाधिक कारगर बनाना और आर्थिक शोषण को रोकना।

2 श्रम के शोषण पर आधारित समस्त उत्पादन के साधनो का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए और समाजवादी व्यवस्था के लिए कृषि का भी राष्ट्रीयकरण आवश्यक है।

3 व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन होना चाहिए, ताकि सम्पत्ति के प्रति मोह की भावना और उसके कारण होने वाले अत्याचार, अन्याय और शोषण समाप्त हो जाएँ।

4 समाजीकरण या राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया में कोई क्षतिपूर्ति न की जाए, विकेन्द्रित राष्ट्रीयकरण हो और राष्ट्रीयकृत उद्योगो की राज्य द्वारा समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

5 सामाजिक स्वामित्व राज्य के विभिन्न स्तरो, गाँव से लेकर सघ तक, व्यावहारिक बनाया जाए और उत्पादन पर समुचित नियत्रण तथा आय का सही वितरण किया जाए, ताकि सामाजिक विषमताओं का अन्त हो।[37]

राजनीतिक विचार

सामान्यतः समाजवादी चिन्तन में आर्थिक तत्त्व सर्वाधिक प्रभावशाली होता है, पर डॉ. लोहिया के समाजवादी दर्शन में सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक तत्त्व भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। डॉ लोहिया एक ऐसे समाज का निर्माण चाहते थे जो वर्ग-विहीन एवं वर्ण-विहीन हो। जाति-व्यवस्था के तो वह कट्टर विरोधी थे। उन्होंने व्यक्ति के सांस्कृतिक उत्थान को भी आवश्यक बतलाया। उनके अनुसार, व्यक्ति और समाज परस्पर आश्रित होते हैं। व्यक्ति का उन्नयन सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए आवश्यक है। डॉ लोहिया का राजनीतिक चिन्तन बड़ा ही व्यापक है जिसमें व्यक्ति और समाज से संबंधित सभी पहलुओं पर विचार किया गया है। उनका राजनीतिक चिन्तन उनके समाजवादी दर्शन से ही उद्भूत हुआ है। उनके राजनीतिक चिन्तन के प्रमुख तत्त्व हैं—राजनीतिक इतिहास की समाजवादी व्याख्या, चौखम्भा-योजना, वाणी स्वतंत्रता एवं कर्म नियंत्रण, सविनय अवज्ञा (सिविल नाफरमानी) और व्यक्ति एवं समाज के परस्पर संबंध। इन्हीं का यहाँ विवेचन प्रस्तुत है—

डॉ लोहिया की दृष्टि से राजनीतिक इतिहास को गति देने वाले कुछ मौलिक सिद्धान्त होते हैं जिनमें तीन प्रमुख हैं—(1) देशों का उत्थान व पतन होता है, वैभव, धन का स्थान बदलता रहता है। देश के बाहरी संबंधों में उतार-चढ़ाव होता रहता है, (2) देश के अन्दर वर्ग-वर्ण का झूला झूलता रहता है, और (3) सभी देश शारीरिक एवं सांस्कृतिक ढंग से मिलन भी किया करते हैं। डॉ लोहिया का इतिहास के चक्र-सिद्धान्त में विश्वास था। उन्होंने 'इतिहास-चक्र' नाम की पुस्तक भी लिखी। उनके अनुसार, इतिहास अबाध रूप से चक्रवत् गतिशील रहता है। उनकी मान्यता थी कि "विश्व के इतिहास को प्राचीन, मध्य और आधुनिक युगों में बांटना, उनमें एक अबाध या एक-एक कर हुआ उत्थान बताना एक सांस्कृतिक बर्बरता है जो किसी प्रकार भी दिलचस्प नहीं है।"[38] वैसे यह देखा जाता है कि समस्त सभ्यताओं में भाषा तथा आचरण और जीवन के ढंग एवं उद्देश्य बुनियादी तौर पर एक ही ढंग से विकसित एवं परिपक्व होते हैं, पर उनमें अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा भौगोलिक कारणों से ऐसे बदलाव आते हैं, जिनसे उनके उत्थान-पतन की स्थितियाँ भिन्न हो जाती हैं। डॉ. लोहिया का विचार था कि "ऐतिहासिक समूहों के बारे में और मानव सभ्यता तथा उसके सांस्कृतिक क्रमों के लिए, यदि यह सच है कि 'जो जन्मा है वह मरेगा अवश्य', तो यह भी उतना ही सच है कि 'जो मरता है वह फिर पैदा होगा'।"[39] अत. यह कहना उचित ही है कि राष्ट्रों और सभ्यताओं का उत्थान-पतन सदा होता रहता है जैसा कि हमें भारत में गुप्त साम्राज्य, रोमन साम्राज्य, ब्रिटिश साम्राज्य आदि के उत्थान-पतन से ज्ञात होता है।

राजनीतिक इतिहास की समाजवादी व्याख्या से डॉ. लोहिया का तात्पर्य यह था कि इतिहास-चक्र में सभी देशों का समान रूप में उत्थान-पतन होता है, चाहे कोई भी देश कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो। कोई देश हमेशा के लिए न तो वैभव, शक्ति और धनवान् होता है और न हमेशा के लिए उनसे रहित। भारत, रोम, चीन और अरब देश उच्चतम श्रेणी में रह चुके हैं, पर उनका भी पतन हुआ और पश्चिम यूरोप ने शिखर स्थान को प्राप्त किया और यह महाद्वीपों में श्रेष्ठ गिना जाने लगा। इसलिए डॉ लोहिया ने कहा था कि "शक्ति और समृद्धि हर युग में बराबर एक क्षेत्र से दूसरे में बदलती रही है। कोई भी सदा इतिहास की उच्चतम चोटी पर नहीं बैठा

रहा। अब तक का समस्त मानव इतिहास वर्ग और वर्ण के आन्तरिक बदलाव और शक्ति तथा समृद्धि के एक क्षेत्र से दूसरे में बाह्य परिवर्तन का इतिहास रहा है।"[40]

डॉ लोहिया की राजनीतिक इतिहास की समाजवादी व्याख्या में वर्ग और वर्ण का झूला भी झूलता रहता है। उन्होंने यह माना कि ये दोनों ही—वर्ग तथा वर्ण सभी समाजो की विशेषताएँ हैं जो सभी जगह मिलती हैं। उन्होंने कहा कि "जन्मजात वर्गीकरण या धर्म द्वारा उसको मान्यता वर्णों का आवश्यक गुण नहीं है। वर्ग से वर्ण की भिन्नता उस स्थिरता से होती है जो वर्ग-सबधो में आ जाती है, कोई व्यक्ति अपने से ऊँचे वर्ग में नहीं जा सकता और कोई भी वर्ण अपनी सामाजिक स्थिति और आमदनी में ऊपर नहीं उठ सकता। अस्थिर वर्ण को वर्ग कहते हैं। स्थायी वर्ग वर्ण कहलाते हैं। हर समाज या सभ्यता में वर्ग से वर्ण और वर्ण से वर्ग का बदलाव हुआ है। यही बदलाव लगभग सभी आन्तरिक घटनाओं की जड में होता है। यह करीब-करीब हमेशा ही न्याय और बराबरी की माँगों से प्रेरित होता है।"[41] डॉ लोहिया की दृष्टि में न्याय, समानता आदि की माँगें शून्य से उत्पन्न न होकर, वर्ग व वर्ण-सघर्ष के परिणाम हैं।

डॉ लोहिया के अनुसार, भारत में भी वर्ग एवं वर्ण के बीच बदलाव, उतार-चढाव की कथा अनवरत चलती रही। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि "आन्तरिक वर्ण-निर्माण और बाह्य अधःपतन साथ-साथ चलता है, चाहे दोनों के बीच काल का जो भी अन्तर रहे। पूरे समाज का बढ़ता कौशल निश्चित रूप से विभिन्न वर्गों के भीतरी हरकत व उतार-चढाव के साथ जुड़ा हुआ है।"[42] उन्होंने माना कि देश-काल की परिस्थिति के अनुसार वर्ग और वर्ण दोनो अपने स्वरूप एव उद्देश्य में भिन्न होते हैं। विभिन्न देशो के वर्ण-निर्माण में भी अन्तर होता है। भारत में वर्ण-व्यवस्था का आधार प्रारम्भ में गुण-कर्म था और कालान्तर में इसका आधार जन्म हो गया। "भारत इतने समय तक वर्ण-व्यवस्था के फलस्वरूप तन्द्रा और सड़न की स्थिति में रहा कि उसकी नई प्राप्त शक्ति वर्णों को ढीला करके वर्गों में बदल रही है और आन्तरिक-असमानता को समाप्त करने का संघर्ष प्रारम्भ हो गया है।"[43] लेकिन डॉ लोहिया ने यह आशा व्यक्त की कि एक अन्य प्रकार की वर्ण-व्यवस्था पैदा हो सकती है जिसमें राजनीतिक दल, प्रबंधक वर्ग और स्वतंत्र-पेशा वर्ग सभी अपने उच्चतम स्थानों पर स्थिर हो जाएँ और बाकी बची आबादी निम्न स्तर के द्विज वर्णों में बंट जाये। नये वर्णों का निर्माण तो सदैव चलता रहता है। इस प्रकार डॉ लोहिया का निष्कर्ष यह है— "अब तक का समस्त मानवीय इतिहास वर्गों और वर्णों के बीच आन्तरिक बदलाव, वर्गों की जकड़ से वर्ण बनाने और वर्णों के ढीले पड़ने से वर्ग बनने का ही इतिहास रहा है।"[44]

डॉ लोहिया के राजनीतिक चिन्तन में चौखम्भा-योजना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने न केवल आर्थिक, अपितु राजनीतिक विकेन्द्रीकरण को प्रमुख स्थान दिया। राजनीतिक विकेन्द्रीकरण राजनीतिक समता एवं सम्पन्नता का द्योतक है। वह राजनीतिक केन्द्रीकरण के विरुद्ध थे, क्योंकि ऐसी व्यवस्था में शासक, सेठ और सरकारी अधिकारियों के त्रिकोण का आधिपत्य हो जाता है। सामान्य व्यक्ति उत्पीड़न का शिकार होता रहता है। डॉ लोहिया ने स्पष्टत. कहा कि राजनीतिक केन्द्रीकरण के कारण "दिमाग जकड़ गये हैं। विचारों का स्थान प्रचारों ने ले लिया है आज विचार, शक्ति का गुलाम बन गया है।"[45] केन्द्रित-शक्ति के कारण आम जनता शक्ति के हाथ में कठपुतली मात्र रहकर अपग हो जाती है, जिससे प्रजातांत्रिक व्यवस्था का मूल उद्देश्य ही ध्वस्त हो जाता है। दो खम्भो-केन्द्र एव प्रान्त-वाली संघात्मक व्यवस्था को डॉ लोहिया अपर्याप्त मानते थे। उनके अनुसार, "बडी राजनीति देश के कूडे को

बुहारती है, छोटी राजनीति मोहल्ले अथवा गाँव के कूड़े को ....।[46] इसलिए उन्होंने अपनी चौखम्भा-योजना के अन्तर्गत ग्राम, मण्डल, प्रान्त और केन्द्र इन चार समान प्रतिभा और सम्मान वाले खम्भों में शक्ति के विकेन्द्रीकरण का सुझाव दिया। यह केवल प्रशासन की व्यवस्था नहीं है, अपितु इनमें उत्पादन, स्वामित्व, व्यवस्था, कृषि-सुधार योजना, विकास, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि का प्रबंधन भी सम्मिलित होगा। ये चारों स्तर स्वतंत्र एक दूसरे से संबंधित होंगे। डॉ लोहिया ने कहा, "चौखम्भा राज्य की कल्पना में स्वावलम्बी गाँव ही नहीं, वरन् समझदार और जीवित गाँव की धारणा है। यद्यपि दोनों विचार अनेक स्थानों पर एक दूसरे से मिल जाते हैं।"[47] इस प्रकार डॉ लोहिया चाहते कि देश में राजनीतिक एवं आर्थिक विकेन्द्रीकरण द्वारा ही नागरिकों को अपना स्थानीय शासन करने और संसाधन जुटाने से ही देश का उत्थान किया जा सकता है। विकेन्द्रीकरण से ही सभी नागरिक अपने भाग्य के निर्माता बन सकते हैं। चौखम्भा राज्य में ही सभी नागरिकों की प्रजातांत्रिक भागीदारी सम्भव हो सकेगी।

'वाणी-स्वतंत्रता और कर्म-नियंत्रण' का सिद्धान्त भी डॉ लोहिया के राजनीति चिन्तन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यह प्रजातंत्र का आधार और व्यक्ति की प्रगति एवं स्वच्छन्दता का मार्ग है। उनके अनुसार, वाणी-स्वतंत्रता बिल्कुल स्वच्छन्द रहे, पर कर्मों को नियंत्रण में रखना आवश्यक है। उन्होंने कहा, "बोली की तो लम्बी बांह होनी चाहिए, खूब स्वतंत्र हो, जो भी बोलो, लेकिन जब कर्म करो तो बंधी हुई, संगठित, अनुशासित मुट्ठी होनी चाहिए।"[48] राजनीतिक दलों को, व्यक्तियों और समितियों को बोलने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए, भले ही वे कुछ गलत बातें करें। बहुमत को चाहिए कि वह अल्पमत की बातें सुनें, उनके सुझावों की ओर ध्यान दे। केवल कार्यों के ऊपर ही प्रतिबंध रहना चाहिए, भाषण पर नहीं। वाणी की स्वतंत्रता का सशक्त प्रतिपादन करते हुए डॉ. लोहिया ने जनतांत्रिक देशों से आग्रह किया कि वे व्यक्ति को भाषण और अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता दें। ऐसा साम्यवादी देशों में संभव नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ सर्वहारा वर्ग की तानाशाही होती है। स्वतंत्रता के साथ-साथ डॉ. लोहिया ने जो कर्म-नियंत्रण की बात कही, वह महत्त्वपूर्ण है। कर्म-नियंत्रण को उन्होंने दो प्रकार से बतलाया-एक तो सिद्धान्त और विधान वर्जित कामों को न करें, और दूसरा सम्मेलन विधान द्वारा आदेशित कामों को करें।[49] उनका यह भी कहना था कि झूठ और सच का निर्णय एक व्यक्ति या संस्था अथवा सरकार नहीं कर सकती। वह तो झूठ और सत्य के संघर्ष से और परस्पर आवागमन से निखरता है। उनके अनुसार, "... ....झूठ बोलने का भी अधिकार है, क्योंकि झूठ क्या है, सच क्या है, इसका फैसला अगर कोई कार्य-कारिणी या सरकार करने बैठ जायेगी, तब तो फिर वाणी की स्वतंत्रता बिल्कुल खत्म हो जायेगी।"[50] डॉ लोहिया ने वाणी-स्वतंत्रता को दबाना एक जघन्य अपराध माना, हालांकि उन्होंने कर्मों पर नियंत्रण की बात को प्रजातांत्रिक प्रक्रिया का अनिवार्य अंग बताया। संक्षेप में डॉ. लोहिया ने वाणी-स्वतंत्रता में प्रेस की स्वतंत्रता, भाषण की स्वतंत्रता, निजी भाषा की स्वतंत्रता आदि क्रियात्मक रूप से प्रयोग करने पर बल दिया।

उपर्युक्त विचारों के अतिरिक्त डॉ लोहिया के राजनीतिक चिन्तन में जन-शक्ति, सविनय अवज्ञा, व्यक्ति-समाज का परस्पर संबंध, धर्म तथा राजनीति और धर्म-निरपेक्ष जैसे समसामयिक विचार भी सम्मिलित हैं जिनका यहाँ संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है—

डॉ लोहिया प्रजातांत्रिक समाजवाद के एक सशक्त प्रवक्ता थे। यही कारण है कि उन्होंने जन-शक्ति का प्रबल समर्थन किया। जन-शक्ति से उनका तात्पर्य जन-इच्छा से था। यह वह जन-इच्छा है जो डॉ लोहिया द्वारा अपनी पुस्तक 'सात क्रान्तियाँ' (1966) में प्रस्तावित सात क्रान्तियों से व्यक्त होती है अर्थात् यदि जन-इच्छा जागृत हो, तो इन सात क्रान्तियों का सूत्रपात हो सकता है:- नर-नारी की समानता के लिए, चमड़ी-रंग पर रची असमानताओं के विरुद्ध, जन्मजात तथा जाति-प्रथा के खिलाफ, परदेशी गुलामी के खिलाफ एवं विश्व-लोक राज्य के लिए, निजी पूँजी की विषमताओं के खिलाफ तथा योजनाओ द्वारा उत्पादन बढ़ाने के लिए, निजी जीवन में अन्यायी हस्तक्षेप के खिलाफ, और अस्त्र-शस्त्र के खिलाफ तथा सत्याग्रह के लिए। डॉ लोहिया के विचार से, राज्य को आन्तरिक एवं बाह्य दोनो मामलो में अपनी शक्ति का इस्तेमाल हमेशा जन-इच्छा की दृष्टि से विकास के हित में करना चाहिए, न कि उसका दमन करने के लिए। जन-शक्ति का समर्थन राजनीतिक सफलता की धुरी है। व्यवस्थापिका जन-इच्छा के दर्पण के रूप में काम करे और साथ ही, सम्पूर्ण कार्यों का उद्देश्य जनता की इच्छा को संगठित और अभिव्यक्त करना तथा यथासभव राष्ट्रीय जीवन का पुनर्निर्माण होना चाहिए।[51]

डॉ लोहिया ने सविनय अवज्ञा (सिविल नाफरमानी) के सिद्धान्त का समर्थन किया। अन्याय का प्रतिकार दो रूपो—हिंसात्मक और अहिंसात्मक में सम्भव है। अन्याय के विरोध का अहिंसात्मक ढंग ही सत्याग्रह है। सविनय अवज्ञा इसका एक विशेष अंग है, जिसे डॉ लोहिया ने 'सिविल नाफरमानी' का सिद्धान्त कहा है। इसका अर्थ है कि अन्यायी के प्रति सबल विरोध, न कि उसके समक्ष झुकना। सिविल नाफरमानी करने वाला व्यक्ति न तो कमजोर होता है और न ही हिंसक। इसका अर्थ "मामूली इंसान को मामूली वीरता के साथ काम चलाना" है।[52] अपने विचार को और स्पष्ट करते हुए, डॉ लोहिया ने कहा, "सिविल नाफरमानी अथवा अन्याय से शान्तिपूर्वक लड़ना अपने आप में एक कर्तव्य है। कर्तव्य में आगा-पीछा या नफा-नुकसान नहीं देखा जाता।"[53] उनकी दृष्टि से, सविनय अवज्ञा का लक्ष्य मात्र अन्यायी के हृदय को ही परिवर्तित करना नहीं है, बल्कि असख्य जन-समूह का हृदय बदलना भी उसका परम लक्ष्य है। कमजोर एव असमर्थ व्यक्तियों को समर्थ बनाकर अन्याय, शोषण तथा दमन का मुकाबला करना, सविनय अवज्ञा का मूल आधार है। यह किसी को मारने का सिद्धान्त नहीं है। "मरेंगे मगर मारेंगे नहीं", "मारो अगर मार सकते हो लेकिन हम तो अपने हक पर अड़े रहेंगे", यह डॉ लोहिया ने कहा।[54] उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि "सिविल नाफरमानी की सबसे बुनियादी बात यह है कि सच्चाई करोड़ो लोगो के अन्दर बैठने के लिए तपस्या और तकलीफ का सहारा ले।"[55] अन्य शब्दो में, डॉ लोहिया के सिविल नाफरमानी अन्याय के प्रति लड़ने के लिए एक शाश्वत सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त तर्क और हथियार दोनो से सुसज्जित है। "सिविल नाफरमानी में तर्क और हथियार दोनो का मिश्रण है। इसमें एक ओर तो तर्क का माधुर्य है, दूसरी ओर हथियार का बल भी।"[56] इस दृष्टि से, यह सिद्धान्त सर्वव्यापक है, जिसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अन्यायो को समाप्त करने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान सिविल नाफरमानी का व्यापक इस्तेमाल किया गया था।

डॉ लोहिया के राजनीतिक चिन्तन मे व्यक्ति और समाज के सबध का भी विवेचन मिलता है, पदार्थ तथा चैतन्य, सगुण एव निर्गुण, धर्म तथा राजनीति, व्यक्ति और समाज को उन्होंने समदृष्टि से देखा, न कि द्वन्द्व के रूप मे। उनकी दृष्टि में, विषय एव प्रवृत्ति, व्यक्ति तथा समाज, रोटी और सस्कृति आदि के बीच माने गये अन्तर्निहित विरोधाभास नकली और अस्वाभाविक हैं। व्यक्ति और समाज में घनिष्ठ सबध है। डॉ लोहिया ने तो व्यक्ति और समाज

को एक ही माना है। उन्होंने स्पष्ट किया कि व्यक्ति समाज से जन्मा है और समाज भी व्यक्ति से जन्मा है। जिस प्रकार व्यक्ति का विकास समाज द्वारा होता है, उसी प्रकार समाज का विकास व्यक्ति द्वारा होता है। व्यक्ति और समाज के रूप में मानव साध्य तथा साधन दोनों है जैसा कि डॉ. लोहिया ने कहा, "व्यक्ति एक साध्य और एक साधन दोनों हैं; एक साध्य के रूप में वह सबके प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति करता है; एक साधन के रूप में, वह अन्याय (दमन) के विरुद्ध, क्रान्तिकारी क्रोध का उपकरण है।"[57] इस प्रकार डॉ. लोहिया ने व्यक्ति और समाज के संबंध को द्वन्द्व के रूप में नहीं लिया, अपितु एक संतुलित सम्पर्क रूप में समझा। उनका यह विचार उनके मानववादी चिन्तन से मेल खाता है।

धर्म और राजनीति

धर्म और राजनीति का संबंध जितना ही प्राचीन है, उतना ही वह आधुनिक भी है। आज भारत में तो यह संबंध एक व्यापक चर्चा का विषय बना हुआ है। इस विषय पर डॉ. लोहिया के विचार बड़े ही रोचक और विस्मयकारी हैं। इन्हें स्पष्ट करने के लिए यहाँ उनके ईश्वर, धर्म तथा धर्म-निरपेक्ष राज्य संबंधी विचारों का विवेचन आवश्यक है। डॉ. लोहिया ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते थे। उनका विचार था कि मन्दिर एक ढकोसला है और उसमें विराजमान मूर्ति भी नकली है। उनकी दृष्टि में, ईश्वर ने मनुष्य को नहीं, अपितु मनुष्य ने ईश्वर को बनाया है और उसे एक प्रतीक के रूप में खड़ा कर दिया है।[58] यद्यपि वह ईश्वर को नहीं मानते थे, पर ब्रह्मज्ञान और अद्वैत जैसे नामों को उन्होंने अपने ही ढंग से स्वीकार किया। सब में अपनेपन की प्रतीति ही उनका ब्रह्मज्ञान और संसार की एकता एवं समता ही उनका अद्वैतवाद था।[59] प्रत्येक कर्म में निष्ठा और ईमानदारी बरतना डॉ. लोहिया का कर्मकाण्ड था। स्पष्टतः वह ईश्वर, पूजा-पाठ, तीर्थ-स्थान, नरक-स्वर्ग, मोक्ष आदि में विश्वास नहीं करते थे। उनके अनुसार, ये धर्म के विषय नहीं हैं। गिरे हुओं को उठाना, प्यासे को पानी देना, भूखे को रोटी और गृहहीन को निवास स्थान देना ही सच्चा धर्म है। विभिन्न मजहबों को उन्होंने धर्म नहीं माना, क्योंकि इन्होंने लोगों को हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि में बाँट दिया है। इनसे ऊपर उठकर अपनी दृष्टि को व्यापक बनाना चाहिए और निर्भय होकर मानव धर्म के सच्चे उपासक बनना चाहिए।[60] डॉ. लोहिया की दृष्टि में, धर्म नैतिक गुणों का पर्यायवाची होना चाहिए, इससे अधिक कुछ नहीं। इसी अर्थ में वह केवल मानव धर्मानुयायी थे।

डॉ. लोहिया, अपने दार्शनिक एवं धर्म संबंधी विचारों के अनुकूल, धर्म-निरपेक्ष राज्य के समर्थक थे। वह इस बात से सहमत थे कि धर्म-निरपेक्ष राज्य न धार्मिक होता है, न अधार्मिक और न धर्म का विरोधी। उन्होंने धार्मिक मामलों में निष्पक्षता और नागरिकों की धर्म प्रचार, विश्वास, पूजा आदि संबंधी स्वतंत्रता पर बल देते हुए कहा था, "राजनीति एक आश्वासन अवश्य दे कि यह आस्तिकता अथवा नास्तिकता के प्रचार में दण्ड का इस्तेमाल नहीं करेगी।"[61] डॉ. लोहिया ने मुस्लिम धर्म के नाम पर भारत-विभाजन का कड़ा विरोध किया था, क्योंकि वह धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना के प्रबल समर्थक थे। भारत और पाकिस्तान-दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को उन्होंने कभी हृदय से स्वीकार नहीं किया। निश्चय ही, डॉ. लोहिया मजहबों को लड़ाई और राजनीति से सम्बद्ध नहीं थे, क्यों इनसे साम्प्रदायिकता जैसी मानसिक विषमता फैलती है और राजनीतिक कटुता पैदा होती है, जिससे देश की प्रजातांत्रिक व्यवस्था का ह्रास होता है।

डॉ. लोहिया की दृष्टि से, धर्म मुख्यतः चार कार्य करता है—यह भिन्न धर्मों के बीच झगड़े और कभी-कभी रक्त-रंजित झगड़े उत्पन्न करता है, यह अपने-अपने धर्मानुसार प्रतिष्ठित सम्पत्ति, जाति तथा स्त्री संबंधी व्यवस्थाओं को यथावत् बनाये रखता है, फलतः शोषण एवं

विषमता को स्थायित्व मिलता है, धर्म अच्छे व्यवहार के लिए नैतिक एवं सामाजिक प्रशिक्षण देता है; और अहिंसा, सत्य, दयालुता, न्याय, त्याग आदि के अभ्यास के द्वारा व्यक्ति को संयत और अनुशासित करने में वह महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। डॉ लोहिया ने धर्म के प्रथम दो कार्यों को हेय एवं त्याज्य बताया क्योंकि उनसे राजनीतिक कटुता, धर्मान्धता, साम्प्रदायिकता जैसी बातें बढ़ती हैं और अन्तिम दो धर्म के काम मानवता के लिए अच्छे हैं। ये अत्यधिक लाभकारी हैं।[62] डॉ लोहिया की दृष्टि में, धर्म के इन दो प्रकार के कार्यों को राजनीति से जोड़ा जाना चाहिए। कोई समाजवादी, चाहे आस्तिक हो या नास्तिक, धर्म के इस पक्ष को अवश्य अपनायेगा। केवल उसी धर्म को राजनीति से जोड़ा जा सकता जो मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे। वह मानव धर्म ही हो सकता है जो राजनीति को बुराई एवं अन्याय से लड़ने के लिए प्रोत्साहित करे।

डॉ लोहिया के विचार में धर्म एवं राजनीति में घनिष्ठ संबंध है। उन्होंने कहा कि धर्म का कार्य अच्छाई को करना है और राजनीति का कार्य बुराई से लड़ना है। धर्म सकारात्मक एवं दीर्घकालीन होता है, पर राजनीति नकारात्मक तथा अल्पकालीन होती है। धर्म का स्वरूप शान्त होता है, जबकि राजनीति का रौद्र। धर्म एवं राजनीति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः वे एक दूसरे को परिपक्व और पूर्ण बनाते हैं। डॉ लोहिया की दृष्टि में धर्म आन्तरिक, सूक्ष्म एवं सच्चा है। दोनों अपृथक् हैं। इसी कारण उन्होंने धर्म को 'दीर्घकालीन राजनीति' और राजनीति को 'अल्पकालीन धर्म' कहा है।[63] डॉ लोहिया के अनुसार, अच्छाई करने और बुराई से लड़ने में अन्तर है। जब अधिक अन्तर बढ़ जाये तो वातावरण विषाक्त बन जाता है। प्रत्येक धर्म राजनीति के बिना निर्जीव हो जाता है, क्योंकि बुराई से न लड़ने पर उसकी अच्छाई टिक नहीं पाती। इसी तरह बिना धर्म के राजनीति झगड़ालू तथा कलहपूर्ण हो जाती है, क्योंकि अच्छाई न करने पर बुराई से लड़ना केवल कलह का कारण बनता है। डॉ लोहिया के विचार से धर्म और राजनीति निष्ठा एवं ईमानदारी से मिलकर काम करें अर्थात् यदि एक अच्छाई करे और दूसरा बुराई से लड़े, तो मानव-कल्याण की गति एवं प्रगति अत्यधिक संतोषजनक होगी। इसलिए डॉ लोहिया ने सचेत किया कि "धर्म और राजनीति के अविवेकी मिलन से दोनों भ्रष्ट होते हैं।"[64] संक्षेप में, धर्म एवं राजनीति दोनों एक दूसरे को अच्छाई करने और बुराई से लड़ने को सम्प्रेरित करते हैं।

मौलिक अधिकार

डॉ लोहिया के समाजवादी चिन्तन और सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों की कड़ी में मौलिक अधिकारों का भी विशेष महत्त्व है। वह आदमी को केवल 'पेट्र पशु' नहीं मानते थे। उसके मन और हृदय भी होता है। मानव के जीवन को सुसंस्कृत एवं गौरवमय बनाने के लिए, डॉ. लोहिया ने उन मौलिक अधिकारों का अनुमोदन किया जो लोकतांत्रिक समाजवादी जीवन के अनिवार्य अंग हैं। वह जीवन पर्यन्त इन अधिकारों के लिए संघर्ष करते रहे। राज्य मौलिक अधिकारों को जन्म नहीं देता, राज्य तो केवल इन अधिकारों को वास्तविकता और औचित्य प्रदान करता है। वे मानव के मूल स्वरूप से ही उद्भूत होते हैं। यहाँ उन मौलिक अधिकारों का एक संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है जिनका डॉ लोहिया ने सबल समर्थन किया।

सर्वप्रथम डॉ लोहिया ने बौद्धिक स्वातंत्र्य के अधिकार का समर्थन किया। वह चिन्तन एवं अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता के पक्ष में थे। उन्होंने कहा, "इतना मैं साफ कह देना चाहता हूँ कि समाजवादी हिन्दुस्तान में किसी भी व्यक्ति की साहित्य या कला की अभिव्यक्ति किसी भी हालत में अपराध नहीं रहेगी और जिसे अश्लील वगैरह कहते हैं, उसके बारे में भी यही कहना है।" [illegible] देशों द्वारा

लगाए गये अंकुशों के कट्टर आलोचक थे। साम्यवादी व्यवस्था इन्सान को मौलिक अधिकारों से वंचित रखती है। यह सम्पूर्ण मानव जाति के पतन का द्योतक है। संक्षेप में, डॉ. लोहिया ने 'वाणी-स्वतंत्रता और कर्म नियंत्रण' के सिद्धान्त द्वारा बौद्धिक स्वातंत्र्य के अधिकार का व्यापक अनुमोदन किया।

डॉ लोहिया अहिंसा तथा बौद्धिक स्वातंत्र्य दोनों में विश्वास करते थे। उनकी मान्यता थी कि किसी भी सरकार द्वारा निर्मित अत्याचारी एवं अन्यायी कानूनों का प्रतिरोध करने का अधिकार सभी नागरिकों को प्राप्त होना चाहिए। लेकिन ऐसा अहिंसात्मक तथा शान्तिमय ढंग से होना चाहिए। यही कारण है कि डॉ लोहिया ने सिविल नाफरमानी अथवा सविनय अवज्ञा के अधिकार का समर्थन किया। वह इसे मौलिक अधिकार मानते थे। साथ ही, उन्होंने एक ओर प्राण-दण्ड देने का विरोध किया, तो दूसरी 'आत्म-हत्या' के अधिकार का समर्थन किया। कुछ लोग समाज पर अधिशासन भार होते हैं, उन्हें जानबूझकर खत्म न किया जावे, बल्कि मनोवैज्ञानिक के आधार समाज स्वयं उन्हें मौन सहमतिवश आत्म-हत्या की अनुमति प्रदान करे। लेकिन डॉ लोहिया ने प्राण-दण्ड देने का कड़ा विरोध किया, क्योंकि यह व्यक्तिगत जीवन की स्वतंत्रता के विरुद्ध है। वह किसी के व्यक्तिगत जीवन में कोई भी दखल पसन्द नहीं करते थे। उनकी मान्यता थी कि "हर व्यक्ति को एक हद तक अपने जीवन को अपने मन के मुताबिक चलाने का अधिकार होना चाहिए।"[66] उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता में अगाध आस्था थी। "जीवन में कुछ दायरे होने चाहिए कि जिनमें राज्य का, सरकार का, संगठन का, गिरोह का दखल न हो।"[67]

बौद्धिक स्वातंत्र्य तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अनुरूप, डॉ लोहिया ने धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार का भी समर्थन किया। वह जानते थे कि मजहबों के नाम पर परस्पर झगड़े-फसाद होते हैं, फिर भी नागरिकों को मंदिर-मस्जिद जाने, पूजा-पाठ करने और अन्तःकरण की स्वतंत्रता होनी चाहिए। डॉ लोहिया ईश्वर को नहीं मानते थे, मंदिर-मस्जिद में नहीं जाते थे और धर्माधारित साम्प्रदायिकता की आलोचना करते थे, फिर भी उन्होंने सभी नागरिकों की धार्मिक स्वतंत्रता का समर्थन किया। वह धर्म-निरपेक्ष राज्य के पक्षधर थे। लेकिन नागरिकों के सम्पत्ति के अधिकार पर वह अंकुश तथा सीमा चाहते थे। यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति शोषण एवं अन्याय का साधन बने, तो उसको समाप्त कर देना ही अच्छा है। अपने नये एवं सच्चे समाजवाद की रूपरेखा में उन्होंने यह कल्पना की कि वह "एक ओर तो कायदे-कानून ऐसे बनायेगा कि जिसमें सम्पत्ति लोगों की व्यक्तिगत न हो और दूसरी ओर इस तरह समाज के ढाँचे को बनायेगा, नाटक, फिल्में या खेल-कूद या दर्शन या किताबें या उपन्यास ऐसे चलायेगा और बचपन से ही ऐसी शिक्षा देगा कि सम्पत्ति का मोह आदमी को न हो।"[68] वैसे सम्पत्ति रखने का मौलिक अधिकार सर्वमान्य है, पर डॉ लोहिया ने सम्पत्ति द्वारा शोषण, अन्याय तथा भ्रष्टाचार होने वाली प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने के लिए उसे कानून द्वारा सीमित करने और स्वेच्छा से उसके प्रति स्वार्थ एवं मोह को समाप्त करने पर बल दिया।

समता के अधिकार को डॉ. लोहिया ने सर्वाधिक महत्व दिया। भारतीय समाज में व्याप्त विषमताओं को समाप्त करने के लिए समता की भावना और व्यवहार को सर्वश्रेष्ठ बनाने में उन्होंने भारी योगदान दिया। डॉ लोहिया ने नर-नारी समता, जाति-उन्मूलन, रंग-भेद और छुआछूत की समाप्ति के लिए न केवल सिद्धान्त तथा कार्य प्रस्तुत किये, बल्कि व्यापक रूप में साथ सहयोग भी दिया। उन्होंने वैधानिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में समता के अधिकार का समर्थन किया। वह वैधानिक समता के अन्तर्गत विधि के समक्ष समानता, राजनैतिक समता के अन्तर्गत भेद भाव रहित सार्वभौमिक मताधिकार, आर्थिक समता के

अन्तर्गत समाजवाद की स्थापना और धार्मिक समता के लिए सहिष्णुता तथा धर्म-निरपेक्षता चाहते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि "समता उसके सभी चार अर्थों में ग्रहण करनी चाहिए।"[69] समता का आदर्श भले ही कल्पना मात्र लगे पर डॉ. लोहिया ने हृदय और मन से उसके लिए व्यापक संघर्ष किया और कहा कि "लोग पागलपन के काम करेंगे, यदि समता के लिए उनकी भूख शान्त नहीं की जाती है।"[70] मानव स्वातन्त्र्य और उसके मूल अधिकारों को उन्होंने एकता की बुनियाद बतलाया। इसलिए उनका स्पष्ट कहना था कि "इसके अतिरिक्त, मानव अधिकारों का आनन्द, जो समस्त समता के आधार हैं, विभग्न नहीं होना चाहिए।"[71] इस प्रकार डॉ. लोहिया ने न केवल मौलिक अधिकारों अपितु समस्त मानवाधिकारों का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक विकास के लिए अनिवार्य बतलाया। इन्हीं की प्राप्ति से व्यक्ति एवं समाज का जीवन उच्च और समृद्ध हो पायेगा।

विश्व-व्यवस्था

डॉ. लोहिया भारत के ही नहीं अपितु विश्व के मौलिक सामाजिक एवं राजनीतिक विचारकों में अपना प्रतिष्ठित स्थान रखते हैं। वह आधुनिक भारत के अग्रणी निर्माताओं की श्रेणी में आते हैं। वह अपने को देश काल की सीमाओं से परे एक विश्व नागरिक मानते थे। उनके समाजवादी दर्शन का स्वरूप विश्वव्यापी है। उनका चरित्र अन्तर्राष्ट्रीय है। इसका मुख्य कारण है कि डॉ. लोहिया ने एक सम्यक एवं व्यापक दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने मार्क्स या गांधी की नकल नहीं की, बल्कि स्वयं के स्वतंत्र चिन्तन से अपने कर्मठ व्यक्तित्व सशक्त विचार और निष्ठायुक्त आचरण का निर्माण किया। वह राष्ट्रीय स्तर से ऊपर उठकर विश्व व्यवस्था के विचार और संगठन को महत्त्व देते थे। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में डॉ. लोहिया जिन सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करना चाहते थे वे हैं—विश्व समाजवाद का नव दर्शन संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्गठन का नया आधार अन्तर्राष्ट्रीय जाति प्रथा का उन्मूलन विश्व-विकास समिति की पहल, विश्व-सरकार का स्वप्न, निःशस्त्रीकरण का सशक्त प्रतिपादन, साक्षात्कार का सिद्धान्त और अन्तर्राष्ट्रीयवाद।

डॉ. लोहिया ने जब यह देखा कि पूँजीवादी देशों के कारण समाजवाद की अन्तर्राष्ट्रीयता बिखर गई है, तब उन्होंने कहा कि योरोप का समाजवाद बहस तथा आँकड़ों तक सीमित है और वह किन्हीं बड़े आदर्शों की व्यावहारिकता के लिए प्रोत्साहित नहीं करता। इधर एशिया का समाजवाद आदर्शवादी एवं उत्साही है, पर उसमें ठोसपन का अभाव है। समाजवाद को साम्यवाद या पूँजीवाद का अंग नहीं बनने देना चाहिए। उन्होंने यह माना कि विश्व व्यवस्था की स्थापना के लिए साम्यवाद और पूँजीवाद दोनों ही अपर्याप्त हैं। ये दोनों ही आर्थिक एवं राजनीतिक केन्द्रीकरण के प्रतीक हैं। डॉ. लोहिया के अनुसार "पूँजीवादी और साम्यवादी, दोनों ही व्यवस्थाओं में जन-संस्कृति स्थूल और रूढ़िग्रस्त होती जाती है, और जन-जीवन को एक भद्दापन घेर लेता है।"[72] उन्होंने यह स्पष्ट कहा कि "सारे मानवों को पेटभर अन्न", "मन की आजादी की प्यास" और "युद्धबन्दी" की तीन प्रमुख समस्याओं का समाधान न सोवियत गुट दे सकता है और न अमरीकी गुट।[73]

डॉ. लोहिया ने अपने विश्व-समाजवाद के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में समता, सम्पन्नता और विश्व-परिवार के विचार प्रस्तुत किये। वह विभिन्न गुटों के हानिकारक द्वन्द्वों को समाप्त कर 'अधिकतम कौशल' की जगह 'सम्पूर्ण कौशल' की सभ्यता को लाना चाहते थे, ताकि लोगों का जीवन स्तर मात्र राष्ट्रीय सीमाओं के अन्दर न बढ़कर, सभी राष्ट्रों में एक अच्छा जीवन स्तर हो। यह नयी सभ्यता मानव प्राणियों की समीपता स्थापित करेगी और वर्ण, वर्ग तथा क्षेत्रीय विषमता का अन्त करने का प्रयत्न करेगी। विकेन्द्रित संस्थाएँ शासन चलायेंगी। मनुष्य समूह में

और व्यक्तिगत रूप में अन्याय के विरुद्ध सविनय अवज्ञा का प्रयोग कर सकेगा।[74] विश्व-व्यवस्था के अन्तर्गत सार्वभौमिक नागरिकता, मानवाधिकारों का संरक्षण, प्रजातांत्रिक प्रतिनिधित्व, श्रम की प्रतिष्ठा, समता और सम्मान सभी को सुलभ होंगे। विश्व की समाजवादी व्यवस्था में सच्चे समाजवादी की भूमिका को स्पष्ट करते हुए डॉ. लोहिया ने कहा था, "कोई भी समाजवादी नहीं है, जब तक कि वह समानतः सभी राष्ट्रों और सभी चमड़ीवालों के साथ स्वतंत्र, स्पष्ट और दोस्ताना नहीं है।"[75]

डॉ. लोहिया तीसरे खेमे, तृतीय सभ्यता अथवा नव-समाजवादी दर्शन के समर्थक थे। वह 'तटस्थ गुट' को मानते थे, जिसकी वास्तविकता समदृष्टि पर आधारित है। तटस्थ राष्ट्रों की भूमिका, जैसा कि डॉ. लोहिया चाहते थे, निष्क्रिय, खोखली, सिद्धान्तहीन तथा भयातुर न होकर ठोस, सक्रिय, निर्भीक और सम्पूर्ण कौशल से युक्त होनी चाहिए। तटस्थ राष्ट्रों का मतलब रूसी और अमेरिकी खेमों के बीच झूलते रहना नहीं है, अपितु वे निस्वार्थ ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय समता के व्यावहारिक दर्शन पर आधारित होगा, जिसे डॉ. लोहिया ने नव समाजवादी दर्शन कहा और यह आशा प्रकट की कि साम्यवादी और पूँजीवादी गुट अपने द्वन्द्व भूलकर संभवतः उसी में समाहित हो जायेंगे। इसी से शक्तिपूर्ण संयुक्त राष्ट्रों के संघ का निर्माण होगा।

अपने विश्व-समाजवादी विचार के अनुकूल ही, डॉ. लोहिया ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के पुनर्गठन के आधार सुझाये। वह चाहते थे कि संयुक्त राष्ट्रसंघ राजनीति का अखाड़ा, जाति-प्रथा का गढ़, रंग-भेद का मंदिर, दबाव एवं दमन का केन्द्र न बने। उसका संगठन समता और हृदयग्राही व्यवहार पर आधारित हो, सभी मानव जाति के दिल व दिमाग को स्वीकार्य हो, और वह राष्ट्रों के मध्य व्याप्त आर्थिक और सैनिक विषमताओं को समाप्त करे। साथ ही, डॉ. लोहिया ने यह कहा कि संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय जाति-प्रथा अर्थात् रंग-भेद और विशेषाधिकारों की नीति को समाप्त करने के लिए सम्यक् दृष्टि और विवेक-बुद्धि से काम करने का प्रयास करे। इसका मुख्य लाभ यह होगा कि जाति-रंग-भेद को समाप्त कर के मानव एकता और समता को बल मिलेगा। इसी क्रम में डा. लोहिया ने विश्व-विकास समितियों की स्थापना पर बल दिया जो सहयोग और सद्भाव से काम करें, ताकि सभी राष्ट्रों की आर्थिक विपन्नता समाप्त हो सके। इसी प्रकार विश्व सरकार की स्थापना के स्वप्न को साकार बनाने के लिए उन्होंने राष्ट्रों में मतैक्य की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने निःशस्त्रीकरण का सशक्त समर्थन किया, ताकि विभिन्न देशों के बीच युद्ध न हों। अपने विश्व-व्यवस्था के चिन्तन के अन्तर्गत, डॉ. लोहिया ने 'साक्षात्कार के सिद्धान्त' का महत्त्व बतलाया और कहा कि इसकी दृष्टि से "हर काम का औचित्य स्वयं उसी में होता है और यहाँ अभी जो काम किया जाता है, उसका औचित्य सिद्ध करने के लिए बाद के किसी काम का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं।"[76] साक्षात्कार पद्धति के अनुसार, सभी के सामान्य लक्ष्य हों, परस्पर सहयोग और समझ हो, तो सभी कार्यों तथा परिणामों का औचित्य स्पष्ट हो सकेगा। अतः निरंकुशता, स्वेच्छाचारिता और अराजकता की स्थिति नहीं आ पायेगी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि डॉ. लोहिया का विश्व-समाजवादी चिन्तन अन्तर्राष्ट्रीयवाद की भावना से ओतप्रोत है। इसका अर्थ है व्यक्ति अपने राष्ट्र के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों से भी प्रेम करें। अन्तर्राष्ट्रीयवाद की भावना विश्व के राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण सहयोग और परस्पर सद्भाव की वृद्धि करती है। डॉ. लोहिया ने अन्तर्राष्ट्रीयवाद की भावना को मजबूत बनाने के लिए, नवीन विश्व-व्यवस्था के सृजन हेतु, चार सूत्री योजना प्रस्तुत की—(1) एक देश की जो पूँजी आर्थिक शमन के लिए लगी है उसे जब्त करना, (2) विश्व भर के लोगों को संसार में कहीं भी जाने और बसने का अधिकार हो, (3) विश्व के सभी राष्ट्रों की स्वतंत्रता कायम रहे,

और (4) विश्व-नागरिकता का प्रावधान सबको सुलभ हो।[77] साथ ही, डॉ लोहिया ने अपने अन्तर्राष्ट्रीयवाद के विचार को साकार बनाने के लिए राष्ट्रों की सर्वांगीण समानता, जाति-प्रथा का उन्मूलन, रंग-भेद की नीति की समाप्ति और विश्व-सरकार पर अत्यधिक बल दिया। उनकी दृष्टि से, ऐसी सम्पूर्ण विश्व-व्यवस्था ग्राम, मण्डल, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व जैसे पाँच खम्भों पर निर्मित होगी। प्रत्येक स्तर के अधिकार एवं प्रतिनिधि समान रूप से काम करेंगे। विश्व-व्यवस्था की अपनी एक विश्व-संसद् दो सदनों वाली होगी जिसके अधीन प्रत्येक राष्ट्र की सेना पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित किया जायेगा।[78] डॉ. लोहिया के अन्तर्राष्ट्रीयवाद का स्वरूप सकारात्मक होगा और निःशस्त्रीकरण का अनिवार्यतः पालन किया जायेगा। संक्षेप में, उनका अन्तर्राष्ट्रीयवाद सम्यक् दृष्टि, शान्ति और आशावाद का प्रतीक है।

मानववाद में आस्था

राम मनोहर लोहिया के उदात्त मानवीय जीवन पक्ष ने उन्हें पद्दलित, पीडित एवं शोषित जनता का प्रिय नेता तथा सशक्त प्रवक्ता बना दिया। उनमें पदलोलुपता और सम्पत्ति के प्रति मोह नहीं था। डॉ लोहिया का जीवन नेता, मित्र, पथ-प्रदर्शक तीनों का अद्भुत सम्मिश्रण था। उनके व्यक्तित्व में ठोसपन, विचार में परिपक्वता और आचरण में करुणा, प्रेम, निष्ठा एवं ईमानदारी अभिव्यक्त होती थी। लेकिन साथ ही, वह विद्रोही, नास्तिक तथा क्रान्तिकारी भी थे। उनमें छलकपट, दोगलापन और झूठ नहीं था। अपनी सरल एवं सीधी भाषा में उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त किया, सच्चाई से ओतप्रोत आचरण और कार्यों को अहिंसात्मक रूप में सम्पन्न किया। मूलतः डॉ लोहिया सामाजिक चिन्तक, राजनीतिक विचारक तथा भविष्यद्रष्टा थे। व्यापक दृष्टिकोण, दूरदर्शिता, शान्ति और संतुलन उनके समाजवादी दर्शन की विशेषता थी। वह जनतांत्रिक मानववादी विचारक थे, जिन्होंने सदैव मानव कल्याण पर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

डॉ लोहिया ने सर्वत्र अन्यायों तथा विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने हिन्दू वर्ण-व्यवस्था और हिन्दू धर्म तथा विभिन्न मजहबों की अनेक मान्यताओं को नहीं माना। इसीलिए उन्हें ध्वंसक, मूर्तिभंजक आदि कहा गया। लेकिन उनका समाजवादी दर्शन परम्परावाद, जातिवाद, ईश्वरवाद, वर्णवाद, साम्प्रदायिकता, रंग-भेद, अस्पृश्यता, दरिद्रता, आदि का ध्वंसक होते हुए भी रचनात्मक और अहिंसक है। उनके दर्शन और पद्धति में सृजनात्मक पक्ष अन्तर्निहित है, जिसके कारण डॉ लोहिया ने भारतीय एवं विश्व-चिन्तनधारा को व्यापक रूप में समृद्ध बनाया। वह जीवन में सुखवादी तथा अतिवादी नहीं थे। उन्होंने मानवीय भावना, संस्कृति एवं सम्पन्नता को वैभव और सम्पत्ति की दृष्टि से नहीं देखा। वह मानववादी मूल्यों जैसे स्वतंत्रता, स्वतंत्र चिन्तन, विचार अभिव्यक्ति, समता, परस्पर सहयोग, सद्भाव, ईमानदारी और नैतिक गुणों को मानव जीवन में अधिक महत्त्व देते थे। वह विश्व के पद्दलित, दरिद्र एवं शोषित लोगों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक मुक्ति के निष्ठावान समर्थक थे। उनके चिन्तन में जाति, धर्म, जन्म, रंग एवं राष्ट्र की संकुचित सीमाएँ नहीं थीं। यही कारण है कि डॉ लोहिया राष्ट्रवाद की सीमाओं को लाँघकर अन्तर्राष्ट्रवाद के पोषक बन गये, जो उनकी मानववादी अन्तर्दृष्टि का परिचायक है।

राष्ट्रीय जीवन को समृद्ध बनाने के लिए डॉ लोहिया ने वर्णवाद, जाति-प्रथा, नर-नारी असमानता, अस्पृश्यता, रंग-भेद-नीति तथा अन्य ऐसी ही अनेक सामाजिक कुरीतियों और आर्थिक कट्टरताओं पर प्रभावशाली प्रहार किये। साथ ही उन्होंने आर्थिक समता और राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए सशक्त आन्दोलन किये। इस प्रकार डॉ लोहिया ने अपने समस्त

जीवन को राष्ट्रीय संघर्ष और सेवा में अर्पित कर दिया था। उनकी अनेक नीतियों को आज व्यावहारिक रूप मिल रहा है, हालाँकि उनके कुछ विचार जैसे समाजवादी अर्थ-नीति, चौखम्भा-राज्य, आय व्यय नीति मूल्य-नीति और सम्पत्ति-नियंत्रण महत्त्वहीन होते प्रतीत हो रहे हैं, क्योंकि विभिन्न राजनीतिक दल और सरकार उदारीकरण और निजीकरण की ओर दौड़ रहे हैं। यही स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दिखाई देती है। डॉ लोहिया की विश्व-व्यवस्था, सरकार और नागरिकता का स्वप्न अभी भी दूरस्थ विचार हैं। वैसे विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे के निकट आ रहे हैं, पर उनमें आन्तरिक भावना से तालमेल नहीं है। संसार भर में व्यापक विषमताएँ अभी भी व्याप्त हैं और आतंकवाद तथा नस्लवाद जैसी बुराइयों ने विश्व को अशान्त, हिंसक और विक्षुब्ध कर रखा है। फिर भी डॉ लोहिया का समाजवादी चिन्तन, मानववादी दृष्टिकोण और समत-समाज का विचार सभी के लिए प्रेरणा-स्रोत बने हुए हैं।

साराशत यह कहना उचित होगा कि आधुनिक विज्ञान और जनतांत्रिक मानववाद की भावनाओं से आतप्रोत डॉ लोहिया का समाजवादी दृष्टिकोण, सत्य को तिरोहित करने वाले अर्थहीन धार्मिक आडम्बरों और दमनकारी सामाजिक विषमताओं के प्रति विद्रोह एवं क्रान्ति के भाव उत्पन्न करता है। लोकतांत्रिक होकर, अपने प्रति समस्त विरोधों तथा आलोचनाओं को सहन करते हुए, पुरातनपंथी, सामंतवादी और धर्मान्धता के प्रति अपना क्रोध व घृणा व्यक्त की, ताकि दलित एवं पिछड़े कमजोर वर्गों को सामाजिक एवं आर्थिक मुक्ति मिले। डॉ लोहिया ने, ईश्वर की सृष्टि को न मानते हुए, अपने सुख-दु खों की चिन्ता न कर, मानव प्राणियों के मुख पर मुस्कान लाने तथा उनकी निरीह आँखों के अश्रुओं को पोंछने का अदम्य साहस और सेवा का भाव, सीमित विनय, सद्भाव एवं सम्मान के साथ प्रदर्शित किया। ऐसे सामाजिक क्रान्तिकारी द्वारा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किये गये योगदान को विस्मरण नहीं किया जा सकेगा। उनके विचार एवं व्यवहार में एकता का अद्भुत सम्मिश्रण था। उनका चिन्तन समाजवाद से कहीं अधिक मानववाद का एक सशक्त अभिव्यक्तिकरण है।

□□□

टिप्पणियाँ

1. इन्दुमति केलकर, लोहिया: सिद्धान्त और कर्म, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1963), पृ 74.
2. वही, पृ 95
3. राम मनोहर लोहिया, इतिहास-चक्र, (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1990), पृ 48
4. ताराचन्द दीक्षित, डॉ लोहिया का समाजवादी दर्शन, (लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976) पृ 222
5. राम मनोहर लोहिया, द कास्ट सिस्टम (नवहिन्द, हैदराबाद, 1964), पृ 78
6. वही, पृ 79
7. वही, पृ 1
8. राजेन्द्र मोहन भटनागर, समग्र लोहिया, (किताब घर, दिल्ली, 1982), पृ 160.
9. डा लोहिया का समाजवादी दर्शन, पृ 222-223
10. द कास्ट सिस्टम, पृ 18
11. राम मनोहर लोहिया, मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1963), पृ 33
12. राम मनोहर लोहिया, जाति-प्रथा, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1964), पृ 4

13. राम मनोहर लोहिया, निराशा के कर्तव्य, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1966), पृ 29
14 राम मनोहर लोहिया, हैदराबाद में हुई आर्य समाज की सभा में भाषण से, 27 मई 1960
15. राम मनोहर लोहिया, धर्म पर एक दृष्टि, (नवहिन्द हैदराबाद, 1966) पृ 16.
16 निराशा के कर्त्तव्य, पृ 28
17. राम मनोहर लोहिया, कांचन-मुक्ति, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1956), पृ 32
18 डॉ लोहिया का समाजवादी दर्शन, पृ 51.
19 द कास्ट सिस्टम, पृ 147
20 वही., पृ 119-120
21 सोशलिस्ट पार्टी, सिद्धान्त और कार्यक्रम, जनवरी 1956, पृ 17
22 राम मनोहर लोहिया, गिल्टी मैन ऑफ इन्डिया' ज पार्टीशन, (समता न्यास प्रकाशन, हैदराबाद, 1970), 87
23 राम मनोहर लोहिया, सम-लक्ष्य . समबोध, (समता न्यास प्रकाशन, हैदराबाद, 1969), पृ 6
24 राम मनोहर लोहिया, सात क्रान्तियाँ, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1966), पृ 2.
25 जाति-प्रथा, पृ 46
26 राम मनोहर लोहिया, भाषा, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1965), पृ 75-76
27 राम मनोहर लोहिया, समाजवाद की अर्थ-नीति, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1965) पृ 4
28 राम मनोहर लोहिया, सगुण और निर्गुण, (समता न्यास प्रकाशन, हैदराबाद, 1969), पृ 23
29 समाजवादी की अर्थ-नीति, पृ 7 व 11.
30 भाषा, पृ 75
31. राम मनोहर लोहिया, भाषा, बम्बई, 16 जनवरी 1964
32 राम मनोहर लोहिया, अन्न समस्या, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1963), पृ 15
33 वही , पृ 12
34 राम मनोहर लोहिया, क्रान्ति के लिए संगठन (भाग 1, नवहिन्द, हैदराबाद, 1963), पृ 186
35 लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पृ 196
36 मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, पृ 326
37 वही., पृ 286, 480
38. इतिहास-चक्र, पृ. 17
39 वही , पृ 17
40. वही., पृ. 49
41. वही , पृ 37
42. वही , पृ 41.
43. वही., पृ. 48
44. वही., पृ 48
45. लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पृ 217

46 राम मनोहर लोहिया, समाजवादी चिन्तन, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1956), पृ. 101.
47. राम मनोहर लोहिया, रीवा (म. प्र.) में दिये गये भाषण से, 26 फरवरी, 1950.
48. राम मनोहर लोहिया, समाजवादी आन्दोलन का इतिहास, (समता न्यास प्रकाशन, हैदराबाद, 1969), पृ 140
49 समाजवादी चिन्तन, पृ. 100
50. समाजवादी आन्दोलन का इतिहास, पृ. 139-140
51 मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, पृ. 342.
52. राम मनोहर लोहिया, नया समाज : नया मन, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1956), पृ 2.
53 राम मनोहर लोहिया, सिविल नाफरमानी—सिद्धान्त और अमल, (समाजवादी प्रकाशन, हैदराबाद, 1960), पृ 7.
54 वही , पृ 8
55. वही., पृ 11.
56 नया समाज : नया मन, पृ 1
57 मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, पृ 375
58. राम मनोहर लोहिया, भारत में समाजवाद, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1968), पृ. 28.
59 धर्म पर एक दृष्टि, पृ 7 व 9.
60. वही , पृ. 4.
61. राम मनोहर लोहिया, मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला, (नवहिन्द, हैदराबाद, 1962), पृ 49.
62. मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, पृ. 374-375.
63. मर्यादित, उन्मुक्त और असीमित व्यक्तित्व और रामायण मेला, पृ. 48.
64. वही , पृ. 49.
65. समाजवादी आन्दोलन का इतिहास, पृ 124.
66 सात क्रान्तियाँ, पृ 29
67. वही , पृ. 28.
68. मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, पृ 173
69. वही., पृ. 241.
70. वही., पृ 266.
71. वही , पृ 286.
72. कांचन-मुक्ति, पृ. 30.
73. मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म पृ. 243.
74 नया समाज : नया मन, पृ. 11.
75 मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, पृ 340.
76 इतिहास चक्र, पृ 92.
77. मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, पृ 152-153
78. लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पृ 402.

□□□

ग्रन्थ सूची

खण्ड 1

अध्याय 1—आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन

अप्पादोराय, ए : पोलिटिकल आइडियाज़ इन मार्डर्न इंडिया : ईम्पैक्ट ओफ दी वेस्ट, एकेडेमिक बुक्स, बम्बई, 1971

" " : डोक्यूमेंट्स आन पोलिटिकल थाट इन मार्डर्न इण्डिया, 2 भाग, आक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, 1973

" " : इण्डियन पोलिटिकल थिंकिंग : फ्रोम नौरोजी टु नेहरू, आक्सफर्ड, बम्बई, 1972

अमीर अली, सैयद : दी स्पिरिट आफ इस्लाम ओर दी लाइफ एण्ड टीचिंग्स आफ मोहम्मद, लाहिड़ी, कलकत्ता, 1902

अम्बेडकर, बी. आर. : थोट्स ओन लिंग्विस्टिक स्टेट्स, औरंगाबाद, 1955

अमौरी डी रेनकोर्ट : दी सोल आफ इंडिया, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, 1960

श्री अरविन्द : ओन हिमसेल्फ एण्ड ओन दी मदर, पांडिचेरी, 1953

अलबिरूनी, ए एच. : मेकर्स आफ पाकिस्तान एण्ड मोडर्न मुस्लिम इंडिया, अशरफ, लाहौर, 1950

अली, रहमत : दी मिल्लत आफ इस्लाम एण्ड दी मीनेस आफ इंडियनिज्म, हैफर, कैम्ब्रिज, 1940

अहमद, खान ए. : दी फाउंडर आफ पाकिस्तान, हैफर, कैम्ब्रिज, 1942

अहलूवालिया, एम. ए. : फ्रीडम स्ट्रगल इन इंडिया (1858-1909), रणजीत प्रिन्टर्स, दिल्ली, 1965

आर्गव, डेनियल : मोडरेट्स एण्ड एक्सट्रीमिस्ट्स इन दी इंडियन नेशनलिस्ट मूवमेन्ट, एशिया, बम्बई 1967

आज़ाद, मौलाना अ. क. : इंडिया विन्स फ्रीडम, ओरियंट लौंगमेन्स, बम्बई, 1959

———————— : आटोबायोग्रेफि आफ गिसेपे गेरिबाल्डी, 3 भाग, स्मिथ एण्ड ऐलीज, लन्दन, 1889

आयंगर, के. आर. श्रीनिवास : श्री अरविन्द : ए बायोग्रेफी एण्ड ए हिस्ट्री, 2 भाग, पांडिचेरी, 1972

" " : इंडियन राइटिंग्स इन इंगलिश, एशिया, बम्बई, 1973

———— आल मेन आर ब्रदर्स (यूनेस्को), ओरियंट लौंगमेन्स, बम्बई, 1959

आत्मप्राण, परिव्राजिका : सिस्टर निवेदिता ऑफ रामकृष्ण विवेकानन्द, सिस्टर निवेदिता गर्ल्स स्कूल, कलकत्ता, 1967

———— आटोबायोग्राफी ऑफ सर सी. शंकरन नैय्यर, लेडी माधवन नैय्यर, मद्रास, 1966

इन्द्रप्रकाश : हिन्दू महासभा : इट्स कन्ट्रीब्यूशन टू इंडियाज पोलिटिक्स, लक्ष्मी प्रेस, दिल्ली, 1966

इमाम, जफर . कोलोनिएलिज्म इन ईस्ट वेस्ट रिलेशन्स, ईस्टमेन पब्लि., नई दिल्ली, 1966

———— दी इंडियन नेशन बिल्डर्स, भाग 1, गणेश एण्ड कं., मद्रास, ति. र.

उपाध्याय, गंगाप्रसाद . दी ओरीजिन, स्कोप एण्ड मिशन आफ दी आर्य समाज, इलाहाबाद, 1954

" " दी लाइट आफ ट्रुथ : इंगलिश ट्रान्सलेशन आफ स्वामी दयानन्द्स सत्यार्थप्रकाश, कलाप्रेस, इलाहाबाद, 1956

एन्ड्रूज, सी. एफ तथा मुखर्जी : दी राईज एण्ड ग्रोथ ऑफ कांग्रेस इन इंडिया, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ 1967

एन्ड्रूज, सी एफ. : दी इंडियन प्रोब्लम, नटेसन, मद्रास, 1920

ऐश, ज्योफ्रे : गांधी ए स्टडी इन रिवोलूशन, एशिया, बम्बई 1968

एदीब, हालिद : इनसाइड इंडिया, ऐलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1937

एम्बी, एनस्लो : 1857 इन इंडिया: म्यूटनी और वार ऑफ इंडिपेन्डेन्स, हीथ एण्ड को, बोस्टन, 1963

ओकाकुरा, काक्जो : दी आइडियल्स आफ दी ईस्ट, जोनमरे, लन्दन, 1920

ओडायर, सर माइकेल : इंडिया एज आई न्यू इट : 1885-1925, कोन्स्टेबल, लदन, 1925

ओवरस्ट्रीट तथा विंडमिलर : कम्यूनिज्म इन इंडिया, पेरेनियल प्रेस, बम्बई, 1960

ओर्मो, पीएट्रो : केयूर : एण्ड दी मेकिंग आफ माडर्न इटैली : 1810-1861, पुटनैम्स सन्स, लन्दन, 1914

करंदिकर, एम. एल. : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक : दी हरक्यूलिस एण्ड प्रोमेथ्यूस आफ माडर्न इंडिया, पूना, तिथि रहित

करुणाकरण, के. पी. : कन्टीन्यूटि एण्ड चेन्ज इन इंडियन पोलिटिक्स, पी. पी. एच. नई दिल्ली, 1964

करुणाकरण, के. पी (सम्पा.) : माडर्न इंडियन पोलिटिकल ट्रेडीशन, एलाइड पब्लिशर्स नई दिल्ली, 1962

" " रिलीजन एण्ड पोलिटिकल एवेकनिंग इन इंडिया, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1966

कोकर, फ्रांसिस : रीसेन्ट पौलिटिकल थाट, वर्ल्ड प्रेस, कलकत्ता, 1957
कोहन, हन्स : ए हिस्ट्री आफ नेशनलिज्म इन दी ईस्ट, जार्ज रूटलेज एण्ड सन्स, लन्दन, 1929
कौशिक, के. डी. . दी कांग्रेस आईडियोलाजी एण्ड प्रोग्राम 1920-47, एलाइड, बम्बई, 1964
कृपलानी, जे बी. : गांधी : हिज लाइफ एण्ड थाट, पब्लि. डिवीजन, नई दिल्ली, 1970
कृष्णा, के. बी. : दी प्रोब्लम आफ माइनोरिटीज, जोर्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1939
कृष्णदास : सेवन मंथ्स विथ महात्मा गांधी, नवजीवन, अहमदाबाद, 1951
खरे, एस. बी. (सम्पा) : होमेज टू दी डिपार्टेड बाई एम. के. गांधी, नवजीवन, अहमदाबाद, 1958
खरे, पी एस. : दी ग्रोथ आफ प्रेस एण्ड पब्लिक ओपीनियन इन इंडिया : 1857-1918, पीयूष प्रकाशन, इलाहाबाद, ति. र..
गिल्बर्ट, मार्टिन · सर्वेन्ट ओफ इंडिया—सर जेम्स डनलप स्मिथ, लोंगमैन्स, लन्दन, 1966
ग्रिफिथ्स, सर परसीवाल : दी ब्रिटिश इम्पैक्ट ओन इंडिया, मैकडोनाल्ड, लन्दन, 1952
गुस्टाफसन तथा जोन्स : सोर्सेज ओन पंजाब हिस्ट्री, मनोहर बुक सर्विस, दिल्ली, 1975
गुहा, अरुणचन्द :: फर्स्ट स्पार्क आफ रिवोल्यूशन, ओरियन्ट लौंगमेन्स, नई दिल्ली, 1971
गुहा, ए. सी (सम्पा.) : दी स्टोरी आफ इंडियन रिवोल्यूशन, अलाइड, बम्बई, 1972
गुप्ता, ए सी. (") : स्टडीज इन बंगाल रिनासां, जादवपुर, 1958
गुप्ता, डी. सी. : इंडियन नेशनल मूवमेंट, विकास, दिल्ली, 1970
गैरेट, जी. टी. : एन इंडियन कमेन्टरी, बटलर एन्ड टैनर, लन्दन, 1918
गौबा, के एल. : फ्रेन्ड्स एण्ड फोज, इंडिया बुक कम्पनी, नई दिल्ली, 1974
गोपालकृष्णैया, डी. (सम्पा) : दी पिल्ग्रिम्स मार्च : देयर मैसेजेज, गणेश, मद्रास, 1921
गोर्डन, लियोनार्ड . बंगाल : दी नेशनलिस्ट मूवमेंट: 1876-1940, मनोहर, नई दिल्ली, 1974
गोयल, ओ. पी. : स्टडीज इन मोडर्न इंडियन पोलिटिकल थोट, किताब महल, इलाहाबाद, 1964
घोष, बी. एन. : ए डोक्यूमेन्टरी स्टडी ओफ ब्रिटिश पालिसी टुवर्ड्स इंडियन नेशनलिज्म, नेशनल पब्लि., दिल्ली, 1967

गंगाधरन, के. के. (सम्पा) : इण्डियन नेशनल कॉन्शसनेस—ग्रोथ एण्ड डेवलपमेन्ट, कलमकार प्रकाशन, नई दिल्ली, 1972
घोष, शंकर : दी वेस्टर्न इम्पैक्ट आन इण्डियन पोलिटिक्स, एलाइड, बम्बई, 1967
" " : दी रिनाशी टु मिलिटैन्ट नेशनलिज्म इन इण्डिया, एलाइड, बम्बई, 1969
" " : सोशलिज्म एण्ड कम्यूनिज्म इन इण्डिया, एलाइड, बम्बई, 1971
" " : पोलिटिकल आइडियाज एण्ड मूवमेन्ट्स इन इण्डिया, एलाइड, बम्बई, 1975
घोष, अजय : भगतसिंह एण्ड हिज कोमरेड्स, पी पी एच, बम्बई, 1945
घोष, पी सी : इण्डियन नेशनल कांग्रेस (1892-1909), फर्मा के एल मुखोपाध्याय कलकत्ता, 1960
चक्रवर्ती तथा भट्टाचार्य : कांग्रेस इन इवोल्यूशन-ए कलेक्शन ओफ कांग्रेस रिजोल्यूशन फ्रोम 1895-1934 एण्ड अदर इम्पोरटेन्ट डोक्यूमेंट्स, 2 भाग, दी बुक कम्पनी, कलकत्ता, 1935-1940
चतुर्वेदी, सीताराम . मदनमोहन मालवीय, पब्लि० डिवीजन नई दिल्ली, 1972
चिन्तामणी, सी. वाई. : इण्डियन पोलीटिक्स सिन्स दी म्यूटिनी, आन्ध्र यूनीवर्सिटी, वाल्टेयर, 1937
चौधरी, बी एम : मुस्लिम पोलीटिक्स इन इण्डिया, ओरियन्ट बुक कम्पनी, कलकत्ता, 1946
चौधरी, खलीकुज्जमा . पाथवे टू पाकिस्तान, लागमैंस, लाहौर 1961
चौधरी, सुखबीर : पेजेन्ट्स एण्ड वर्कर्स मूवमेन्ट इन इण्डिया: 1905 टू 1929, पीपुल्स पब्लि हाउस, नई दिल्ली, 1971
जकारियास, एच. सी ई : रिनेसेन्ट इण्डिया, एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1933
जकारिया, रफीक . राइज आफ मुस्लिम्स इन इण्डियन पोलिटिक्स, सोमैया, बम्बई, 1970
जगदीशन, टी. एन. (सम्पा) : लेटर्स आफ राइट ओनरेबल वी. एस. श्रीनिवास शास्त्री, एशिया, बम्बई, 1963
जयकर, एम. आर. : दी स्टोरी आफ माई लाइफ, 2 भाग, एशिया, बम्बई, 1958
जोग, एल. जी. लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, पब्लि. डिवीजन, नई दिल्ली, 1970
जोन्स, कैनेथ : आर्य धर्म : हिन्दू कॉनसनेस इन नाइन्टीन्थ सेंचुरी पंजाब, कैलिफोर्निया युनि प्रेस, बर्कले, 1976
झा, मनोरंजन : कैथेरीन मेयो एण्ड इण्डिया, पी पी एच, नई दिल्ली, 1971

झा, एम. एन. : माडर्न इंडियन पोलिटिकल थाट, मीनाक्षी, मेरठ, 1975
टोपा, आई. एन. : दी ग्रोथ एण्ड डेवलपमेन्ट आफ नेशनलिस्ट थाट इन इंडिया, आगस्टोन, हैम्वर्ग, 1928
" " : साइड लाइट्स आन दी प्रोब्लम आफ इंडियन नेशनिलिटी, इलाहाबाद ला जर्नल प्रेस, इलाहाबाद, 1933
टंडन, प्रकाश : पंजाबी सेन्चुरी 1847-1947, चेटो विन्डस, लन्दन, 1961
डावटर, आदी एच. : सर्वोदय : ए पोलिटिकल एण्ड इकोनोमिक स्टडी, एशिया, बम्बई, 1967
डेश, एस. सी. : पंडित गोप बन्धु, गोपबन्धु साहित्य मंदिर, कटक, 1964
डोडवेल, एच एच (सम्पा.) : दी कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, एस. चन्द, दिल्ली, 1958
ताराचन्द : हिस्ट्री आफ दी फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, 4 भाग, नई दिल्ली, 1961, 1972
तेन्दुलकर, डी सी . महात्मा, 8 भाग, झवेरी एण्ड तेन्दुलकर, बम्बई, 1952
" " : अब्दुल गफ्फार खां, गांधी पीस फाउंडेशन, दिल्ली, 1967
तैयबजी, बद्रुद्दीन : दी सेल्फ इन सेक्युलरिज्म, ओरियन्ट लौंगमेन्स, बम्बई, 1971
थाम्पसन तथा गैरेट . राइज एण्ड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया, सैंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1969
दयानन्द सरस्वती . सत्यार्थप्रकाश, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
दत्त, रजनी पाम : इंडिया टुडे, पी पी. एच., बम्बई, 1947
दास, एम. एन. : इंडिया अन्डर मोर्ले एण्ड मिन्टो, जोर्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1964
दास, मनोज : श्री अरविन्द इन दी फर्स्ट डेकेड ओफ दी सेन्च्युरी, श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डीचेरी, 1972
द्वारकादास, कानजी : इंडियाज, फाइट फोर फ्रीडम, पोपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1966
दीक्षित, प्रभा : कम्यूनलिज्म—ए स्ट्रगल फोर पावर, ओरियन्ट लौंगमेन्स, नयी दिल्ली, 1974
दुबोई, एबे : हिन्दू मेनर्स, कस्टम्स एण्ड सेरेमनीज, ओक्सफर्ड, 1906
दुर्रानी, एफ के. खान : दी फ्यूचर ओफ इस्लाम इन इंडिया, इकबाल एकेडेमी लाहौर, 1926
" " दी मीनिंग ओफ पाकिस्तान, अशरफ, लाहौर, 1946
दुर्गादास : इंडिया फ्रोम कर्जन टू नेहरू एण्ड आफ्टर, कोलिन्स, लन्दन, 1969
देसाई, ए. आर. . रीसेंट ट्रेन्ड्स इन इंडियन नेशनलिज्म, पोपुलर बुक डिपो, बम्बई, 1960

देसाई, ए. आर : सोशल बैकग्राउन्ड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, पोपूलर बुक डिपो, बम्बई, 1959
देवगिरिकर, टी. आर गोपालकृष्ण गोखले, पब्लि. डिवीजन, नई दिल्ली, 1959
देवल, जी. एस. : दी रोल ऑफ दी गदर पार्टी इन दी नेशनल मूवमेन्ट, स्टलिंग, दिल्ली, 1969
" " : शहीद भगतसिंह—ए बायोग्राफी, पंजाबी यूनीवर्सिटी, पटियाला, 1969
देशबन्धु चित्तरंजनदास : ब्रीफ सर्वे ऑफ लाइफ एण्ड वर्क, राजन सेन, कलकत्ता, 1927
धर्मवीर : लाला हरदयाल एण्ड रिवोल्यूशनरी मूवमेंट्स आफ हिज टाइम्स, इंडियन बुक एजेंसी, नई दिल्ली, 1970
नटराजन, एस. : ए सेन्चुरी आफ सोशल रिफोर्म इन इंडिया, एशिया, बम्बई, 1959
नागर, पुरुषोत्तम : लाला लाजपतराय दी मैन एण्ड हिज आइडियाज, मनोहर, नई दिल्ली, 1977
नागरकर, वी. वी. जैनेसिस आफ पाकिस्तान, एलाइड, बम्बई, 1975
नायडू, सरोजिनी : मोहम्मद अली जिन्ना : एन अम्बेसडर आफ यूनीटी : हिज स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स : 1912-1917, गणेश, मद्रास, 1918
निरोद बरन, : टाक्स विथ श्री अरविन्द, श्री अरविन्द पाठ मन्दिर, कलकत्ता, 1960
निज्जर, बी एस. : पंजाब अंडर दी ब्रिटिश रूल, 2 खंड, के. बी. पब्लि. नई दिल्ली, 1974
नेहरू, जवाहरलाल : एन आटोबायोग्रेफी, एलाइड, बम्बई, 1962
" " : दी डिस्कवरी आफ इंडिया, मेरीडियन, लन्दन 1960
नेविनसन, एच. डब्ल्यू : दी न्यू स्पिरिट इन इंडिया, हार्पर ब्रदर्स, लन्दन, 1908
नोमान, मोहम्मद : मुस्लिम इंडिया, किताबिस्तान, इलाहाबाद, 1942
नौरोजी, दादाभाई : पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया, स्वान शोनेनशीन, लन्दन, 1901
नंदा, बी. आर. तथा जोशी, पी. सी. : स्टडीज इन माडर्न इंडियन हिस्ट्री, ओरियन्ट लौंगमेन्स, नई दिल्ली, 1972
पणिक्कर, के एम : ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, एशिया, बम्बई, 1954
" " : दी स्टेट एण्ड दी सिटिजन, एशिया, बम्बई, 1956
" " : कास्ट एन्ड डिमोक्रेसी, होगार्थ प्रेस, लन्दन, 1933
पणिक्कर तथा प्रसाद (सम्पा.) : दी वोइस आफ फ्रीडम, एशिया, बम्बई, 1961

पराण्डे, एस. आर. (सम्पा) : सोर्स मेटीरियल फोर ए हिस्ट्री आफ दी फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, बम्बई, 1953

पटेल, गोवर्धनभाई : विट्ठलभाई पटेल : लाइफ एण्ड टाइम्स, 2 खंड, बम्बई, 1960

प्रभु, आर. के (सम्पा.) : एन एन्थोलोजी आफ मोडर्न इंडियन एलोक्वेन्स, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1960

प्रधान, आर जी. : इंडियाज स्ट्रगल फोर स्वराज, नटेसन, मद्रास, 1930

प्रसाद, बेनी. इंडियाज हिन्दू मुस्लिम क्वेश्चन्स, जोर्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1946

प्रसाद, बिमेश्वर चेंजिंग मोड्स आफ इंडियन नेशनल मूवमेंट, पी. पी. एच , नई दिल्ली, 1966

पार्वते, टी बी. : मेकर्स आफ मोडर्न इंडिया, युनि. पब्लि., जलंधर, 1964

पाडे, धनपति . दी आर्यसमाज एण्ड इंडियन नेशनलिज्म : 1875-1920, एस चन्द, नई दिल्ली, 1972

प्यारे मोहन : एन इमेजनरी रिबेलियन, खालसा ब्रदर्स, लाहौर, 1920

पुराणी, ए. बी. (सम्पा.) : ईवनिंग टाक्स विथ श्री अरविन्द, श्री अरविन्दाश्रम, पांडिचेरी, 1959

पुरोहित, बी. आर. : हिन्दू रिवाइवलिज्म एण्ड इंडियन नेशनलिज्म, साथी प्रकाशन, सागर, 1965

फरकुहर, जे. एन. : मोडर्न रिलीजस मूवमेन्ट्स इन इंडिया, मुंशीलाल मनोहरलाल, दिल्ली, 1967

फारूकी, जियाउलहसन : दी देवबन्द स्कूल एण्ड दी डिमाण्ड फोर पाकिस्तान, एशिया, बम्बई, 1963

फिलिप्स, सी. एच : दी इवोल्यूशन आफ इंडिया एण्ड पाकिस्तान, आक्सफर्ड, लन्दन, 1962

,, ,, (सम्पा) : पोलिटिक्स एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1963

फ्रेजर, लोवेट : इंडिया अन्डर कर्जन एण्ड आफ्टर, हाइनमैन, लन्दन, 1911

बनर्जी, सर सुरेन्द्रनाथ : ए नेशन इन मेकिंग, ओक्सफर्ड यूनीवर्सिटी प्रैस, लन्दन, 1925

बनर्जी, एष. सी. : इंडियन कोन्स्टीट्यूशनल डोक्यूमेन्ट्स, तीन खंड, ए. मुखर्जी, कलकत्ता, 1946

बनर्जी, देवेन्द्रनाथ : इंडियाज नेशन बिल्डर्स, हैडले ब्रदर्स, लन्दन, 1919

बेरी, विथोडोर दे तथा अन्य : सोर्सेज आफ इंडियन ट्रेडीशन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1958

बरतार्य, एस. सी. : दी इंडियन नेशनलिस्ट मूवमेन्ट, इंडियन प्रैस, इलाहाबाद, 1958

बालाबुसेविच, तथा ड्याकोव (सम्पा.) : ए कन्टम्परेरी हिस्ट्री ओफ इण्डिया, पीपुल्स पब्लि. हाऊस, नई दिल्ली, 1964

बालशास्त्री हरदास : आर्म्ड स्ट्रगल फोर फ्रीडम: नाइन्टी ईयर्स वार ओफ इन्डियन इन्डिपेन्डेन्स-1857 टु सुभाष, काल प्रकाशन, पूना, 1958

बाबा छज्जूसिंह दी लाइफ एण्ड टीचिंग्स ओफ स्वामी दयानन्द सरस्वती, एडोसन प्रेस, लाहौर, 1903

बाइट, जे. एस (सम्पा) . इम्पोरटेन्ट स्पीचेज एन्ड राइटिंग्स ओफ सुभाष बोस, दी इण्डियन प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर, 1947

ब्राउन, डी मेकेंजी . फ्रोम रानाडे टु भावे, केलिफोर्निया प्रेस, 1961

ब्राउन, एमीली. सी. : हरदयाल हिन्दू रिवोल्यूशनरी एण्ड रेशनलिस्ट, एरीजोना यूनिवर्सिटी प्रेस, 1975

ब्राउन, एन मेकेंजी : दी व्हाइट अम्ब्रेला इण्डियन पोलीटिकल थोट फ्रोम मनु टु गांधी, केलिफोर्निया प्रेस, 1953

ब्राउन, डब्ल्यू नोर्मन इण्डिया, पाकिस्तान, सीलोन, कोर्नेल यूनीवर्सिटी प्रेस, इथाका, 1951

बिपिनचन्द्र, अमलेश त्रिपाठी, बरुन डे : फ्रीडम स्ट्रगल, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली, 1972

बुच, एम. ए. : राइज एण्ड ग्रोथ ओफ इण्डियन लिबरलिज्म, गुड कम्पेनियन्स, बड़ौदा, 1938

" " : राइज एण्ड ग्रोथ ओफ इण्डियन मिलिटेन्ट नेशनलिज्म, बड़ौदा, 1940

बेवान, एडविन : इण्डियन नेशनलिज्म, मेकमिलन, लन्दन, 1913

ब्रेल्सफोर्ड, एच. एन. · रीबल इण्डिया, गोलॅज, लन्दन, 1931

बेनी प्रसाद . थ्योरी ओफ गवर्नमेन्ट इन एनशान्ट इण्डिया, दी इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, 1927

बेसेंट, एनी . हाउ इण्डिया रोट फोर फ्रीडम, थियोसोफिकल पब्लि. हाऊस, अड्यार, मद्रास, 1915

" . बिल्डर्स ओफ न्यू इण्डिया, अड्यार, 1942

बेम्फोर्ड, पी सी : हिस्ट्रीज ओफ दी नोन-कोओपरेशन एण्ड खिलाफत मूवमेन्ट्स, दीप पब्लि., दिल्ली, 1974 (भारतीय संस्करण)

बोलिथो, हैक्टर . जिन्ना क्रियेटर ओफ पाकिस्तान, जोन मरे, लन्दन, 1954

बोस, निर्मलकुमार · स्ट्रक्चर ओफ हिन्दू सोसायटी, विश्वभारती, कलकत्ता, 1949

" " : प्रोब्लम्स ओफ इण्डियन नेशनलिज्म, एलाइड पब्लि. बम्बई, 1969

मडफोर्ड, पीटर : बर्ड्स आफ ए डिफरेन्ट प्लमेज : ए स्टडी आफ ब्रिटिश इण्डियन रिलेशन्स फ्रोम अकबर टू कर्जन, कोलिन्स, लंदन, 1974

———— : एम एन. राय मेमोईर्स, अलाइड पब्लि., बम्बई, 1964

माथुर, डी. बी. : गोखले : ए पोलिटिकल बायोग्रेफी, मानकटलाज, बम्बई, 1966

" एल. पी. : इंडियन रिवोल्यूशनरी मूवमेंट इन दी युनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका, एस चंद, दिल्ली, 1970

मिचिसन, नाओमी : दी मोरल बेसिस आफ पोलिटिक्स, कोन्स्टेबल, लंदन, 1938

———— . मिसलेनियस राइटिंग्स आफ दी लेट ओनरेबल मि. जस्टिस एम. जी रानाडे, मनोरंजन प्रेस, बम्बई, 1915

मिश्रा, डी. पी. · लिविंग एन इरा, खंड 1, विकास, दिल्ली, 1975

मीरडल, गुनर बियोंड दी वेलफेयर स्टेट, युनिवर्सिटी पेपर बेक्स, लंदन, 1958

मुजीब, एम ' दी इण्डियन मुस्लिम्स, जोर्ज एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1967

मुकर्जी, राधा कुमुद · नेशनलिज्म इन हिंदू कल्चर, थियोसोफिकल पब्लि हाउस, लंदन, 1921

" ए पी . सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज आफ विपिनचन्द्रपाल, मिनर्वा, कलकत्ता, 1974

मुखर्जी, हरिदास तथा मुखर्जी उमा . श्री अरविन्द एण्ड दी न्यू थाट इन इण्डियन पोलिटिक्स, मुखोपाध्याय, कलकत्ता 1964

" " · दी ग्रोथ आफ नेशनलिज्म इन इण्डिया 1857-1905, कलकत्ता, 1957

" " : विपिनचन्द्रपाल एण्ड इण्डियाज स्ट्रगल फोर स्वराज, कलकत्ता, 1968

" " : दी ओरीजन आफ दी नेशनल एजुकेशन मूवमेंट, कलकत्ता 1957

मुखर्जी, हीरेन्द्रनाथ : इण्डियाज स्ट्रगल फोर फ्रीडम, नेशनल बुक एजेंसी, कलकत्ता, 1962

मुंशी, के. एम. : पिलग्रिमेज टू फ्रीडम (1902-1950), खंड 1, भारतीय विद्या भवन, बम्बई

मुंशीराम तथा रामदेव : दी आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रेक्टर्स, गुरुकुल कांगड़ी, 1930

मूर्ति, वी. वी. रमण : नानवायलेंस इन पोलिटिक्स, फ्रंकब्रदर्स, दिल्ली, 1958

" " (सम्पा.) : गांधी : एसेंशल राइटिंग्स, गांधी पीस फाउंडेशन, नई दिल्ली, 1970

मेरी, काउंटेस आफ मिंटो : इंडिया : मिन्टो एण्ड मोर्ले, मैकमिलन, लंदन, 1934

मैक्लेन, जे आर. : दी पोलिटिकल एवेकनिंग इन इंडिया, प्रेंटिस हाल, न्यू जर्सी, 1970

मेहरअली, युसूफ : दी प्राइस आफ लिबर्टी, नेशनल पब्लि. बम्बई, 1948

मेहरोत्रा, एस आर : इंडिया एण्ड कामनवेल्थ : 1885-1929, जोर्ज एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1965

मेहता, अशोक तथा पटवर्धन, अच्युत : दी कम्युनल ट्राएंगल इन इंडिया, किताबिस्तान, इलाहाबाद, 1942

मोदी, होमी : सर फिरोजशाह मेहता : ए पोलिटिकल बायोग्राफी, एशिया, बम्बई 1963

मोर्ले, जान . रिकलेक्शन्स, 2 खंड, मैकमिलन, न्यूयार्क, 1917

दंगहस्वैड, सर मालिन . मान इन इंडिया, जान मरे, लंदन, 1930

रघुवंशी, वी पी. एस. : इंडियन नेशनलिस्ट मूवमेंट एण्ड थाट, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1959

रमण, एन पट्टाभि. पोलिटिकल इनवोल्वमेंट आफ इंडियाज ट्रेड यूनियन्स, एशिया, बम्बई, 1967

राधाकृष्णन, एस गौतम दी बुद्ध, हिन्द किताब्स, बम्बई, 1946

राजगोपालाचारी, सी सत्यम एव जयते, खण्ड 1, भारदन पब्लि., मद्रास, 1961

राजगोपाल हाउ इंडिया स्ट्रगल्ड फोर फ्रीडम, बुक सेंटर, बम्बई, 1967

" लोकमान्य तिलक : ए बायोग्राफि, एशिया, बम्बई, 1954

राव, के. सम्पतगिरि पे बट फ्रंग, हार्डीकर ट्रस्ट, हुबली, ति. र.

राव, यू एस. मोहन (सम्पा) : पेन पोर्ट्रेट्स एण्ड ट्रिब्यूट्स बाई गांधीजी, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1969

राय चौधरी, पी. सी. : सी. एफ. एण्ड्रूज : हिज लाइफ एण्ड टाइम्स, सोमैया, बम्बई, 1971

राय, एम एन. : दी फ्यूचर आफ इंडियन पोलिटिक्स, मिनर्वा, कलकत्ता, 1971

रेवड़ी, सी. : दी इंडियन ट्रेड यूनियन मूवमेंट, ओरियंट लौंगमैन्स, नई दिल्ली, 1972

रे, पी. सी. : लाइफ एण्ड टाइम्स आफ सी. आर. दास, आक्सफर्ड, लंदन, 1927

रेटक्लिफ, एस. के : सर विलियम वेडरबर्न एण्ड दी इंडियन रिफार्म मूवमेंट, जार्ज एलन एंड अनविन, लंदन, 1923

रोलां, रोमां : प्रोफेट्स आफ दी न्यू इंडिया, कासल एण्ड कं. लंदन,

" " : मदरे, एल्बिन मिशेल, पेरिस, 1960

रोबिन्सन, फ्रांसिस : सेपरेटिज्म अमंग इंडियन मुस्लिम्स : दी पोलिटिक्स आफ

दी युनाइटेड प्रोविंसेज मुस्लिम्स : 1860-1923, विकास, दिल्ली, 1975

रोनल्डशे, अर्ल आफ : दी हार्ट आफ आर्यावर्त, कोस्टेबल, लंदन, 1925

लास्की, हेरल्ड : ए ग्रामर आफ पोलिटिक्स, जोर्ज एलन एण्ड अनविन, लंदन 1948

———— : लाइफ एण्ड राइटिंग्स आफ जोसेफ मत्सीनी, 6 खंड, स्मिथ, एल्डर एण्ड कं लंदन, 1891

लाल बहादुर : दी मुस्लिम लीग : इट्स हिस्ट्री, एक्टिविटीज एण्ड एचीवमेन्ट्स, आगरा बुक स्टोर, आगरा, 1954

लुथरा, वेद प्रकाश : दी कन्सेप्ट आफ दी सेक्यूलर स्टेट इन इंडिया, आक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1964

लोवेट, वर्नी : ए हिस्ट्री आफ दी इंडियन नेशनल मूवमेंट, जान मरे, लंदन 1920

लोहिया, राम मनोहर : मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, नवहिंद, हैदराबाद, 1953

लोरे, डेविड : बेंगाल टेररिज्म एण्ड दी मार्क्सिस्ट लेफ्ट : आसपेक्ट्स आफ रीजनल नेशनलिज्म इन इंडिया (1905-1942) फर्मा के एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1975

वर्मा, वी पी. : माडर्न इंडियन पोलिटिकल थाट, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1961

वर्मा, शान्तिप्रसाद : प्रोबलम्स आफ डिमोक्रेसि इन इंडिया, एस चन्द, दिल्ली, 1946

वस्ती, सैयद रजा : लोर्ड मिन्टो एण्ड दी इंडियन नेशनलिस्ट मूवमेंट : 1905-1910, क्लेरेंडन प्रेस, आक्सफर्ड, 1964

वाटकिन्स, फ्रेडरिक एम. : दी एज आफ आइडियोलोजी : पोलिटिकल थाट 1750 टु दी प्रजेंट, प्रेन्टिसहाल, नई दिल्ली, 1965

व्यास, के. सी. : दी सोशल रिनासां इन इंडिया, वोरा एंड कं, बम्बई, 1957

———— : व्हाई इंडिया इज इन रिवोल्ट अगेंस्ट ब्रिटिश रूल, इंडियन नेशनल पार्टी, लंदन, 1916

वाजपेयी, जे एन. : दी एक्स्ट्रीमिस्ट मूवमेंट इन इंडिया, चुग पब्लि., इलाहाबाद, 1974

विद्यावाचस्पति, इन्द्र : आर्यसमाज का इतिहास, 2 भाग, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, 1957

वुडरोफ, जान : इज इंडिया सिविलाइज्ड ? गणेश, मद्रास, 1918

वुडरफ, फिलिप : दी मेन हू रूल्ड इंडिया, खंड 1, शोकेन बुक्स, न्यूयार्क, 1953

वेस्ट, ज्योफ्रे : दी लाइफ आफ एनी बीसेंट, जेराल्ड होवे, लंदन, 1929

वेडरबर्न, विलियम : एलन आक्टेवियन ह्यूम : फादर आफ दी इंडियन नेशनल कांग्रेस (1829-1912), टी फिशर, लंदन, 1913

शर्मा, श्रीराम : महात्मा हंसराज : मेकर आफ दी माडर्न पंजाब, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, लाहौर, 1941

" " : पंजाब इन फर्मेन्ट, एस. चन्द, दिल्ली, 1971

शर्मा, जगदीशशरण : इंडियाज स्ट्रगल फोर फ्रीडम : सिलेक्टेड डोक्युमेंट्स एण्ड सोर्सेज, 3 खण्ड, एस. चन्द, 1962-65

" " . इंडियन नेशनल कांग्रेस : बिब्लोग्रेफि एण्ड क्रोनोलाजी, एस. चन्द दिल्ली, 1959

शास्त्री, वी. एस. श्रीनिवास : माई मास्टर गोखले, माडन पब्लि. मद्रास, 1946

शाकिर, मोइन : खिलाफत टु पार्टीशन, कलमकार प्रकाशन, नई दिल्ली, 1970

शिरसत, के आर. . काका जोजेफ बापटिस्टा : फादर आफ होमरूल मूवमेंट इन इंडिया, पोपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1974

शिरोल, वेलेन्टीन : इंडिया ओल्ड एण्ड न्यू, मैकमिलन, लदन, 1921

शुक्ला, बी. डी : ए हिस्ट्री आफ दी इंडियन लिबरल पार्टी, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1960

दे, थियोडर एल. : दी लिगेसी आफ दी लोकमान्य, आक्सफर्ड, 1956

सर्मा, डी. एस. : हिन्दुइज्म थ्रू दी एजेज, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1956

सग्गी, पी. डी. (सम्पा.) : लाइफ एण्ड वर्क आफ लाल, बाल एन्ड पाल, फोवरसीज पब्लि नई दिल्ली, 1962

सरकार, सुमित : दी स्वदेशी मूवमेंट इन बंगाल : 1903-1908, पी. पी. एच., नई दिल्ली, 1973

साहनी, जे. एन. : दी लिड ओफ : फिफ्टी ईयर्स आफ इंडियन पोलिटिक्स : 1921-1947, एलाइड, बम्बई, 1971

स्मिथ, विलफ्रेड सी. : माडर्न इस्लाम इन इंडिया, विक्टर गोलेंज, लदन, 1946

स्टोक्स, एरिक : दी इंगलिश यूटीलिटेरियन्स एण्ड इंडिया, क्लेरेन्डन, आक्सफर्ड, 1959

स्मिथ, विलियम राय : नेशनलिज्म एण्ड रिफोर्म इन इंडिया, येल युनीवर्सिटी प्रेस, न्यू हेवन, 1938

सिंह, जी. एन. : लेण्डमार्क्स इन कोन्स्टीट्यूशनल डेवेलपमेंट आफ इंडिया, दिल्ली, 1967

सिंह, करण : प्रोफेट आफ इंडियन नेशनलिज्म, एलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1963

सिंह, संगत : फ्रीडम मूवमेंट इन डेल्ही : 1858-1919, एसोसिएटेड, नई दिल्ली, 1972

सिन्हा, शशधर . इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स इन परसपेक्टिव, एशिया, बम्बई, 1964

सीतारमैया, बी पी : दी हिस्ट्री आफ दी इण्डियन नेशनल कांग्रेस, 2 खण्ड, पद्मा पब्लि, बम्बई, 1946

सीतलवाड़, सी एल रिकलैक्शन्स एण्ड रिफ्लैक्शन्स, पद्मा पब्लि बम्बई, 1946

सील, अनिल : दी इमरजेन्स आफ इण्डियन नेशनलिज्म, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1968

——— ——— दी सूरत कांग्रेस एण्ड कान्फ्रेन्सेज, नटेसन, मद्रास, 1907

सूद, जे पी . मेन करेंट्स आफ सोशल एण्ड पोलिटिकल थाट इन माडर्न इण्डिया, जयप्रकाशनाथ, मेरठ, 1963

सेनगुप्ता, पद्मिनी सरोजिनी नायडू : ए बायोग्रेफि, एशिया, बम्बई, 1966

सेन, एन. बी (सम्पा) : फेमाउस एमिनेन्ट हिन्दूज, न्यू बुक सोसाइटी, लाहौर, 1944

सेन, एस पी (,,) · डिक्शनरी आफ नेशनल बायोग्रेफि, 2 खण्ड, इन्स्टीट्यूट आफ हिस्टोरिकल स्टडीज, कलकत्ता, 1973

स्पेलमेन, जे डब्ल्यू · पोलिटिकल थ्योरी आफ एनशेन्ट इण्डिया, आक्सफर्ड, 1964

सैयद, एम एच · मोहम्मद अली जिन्ना : ए पोलिटिकल स्टडी, मोहम्मद अशरफ, लाहौर, 1945

——— ——— · स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ दादाभाई नौरोजी, नटेसन, मद्रास, 1917

स्नाईडर, लुई (सम्पा) दी डायनेमिक्स आफ नेशनलिज्म, वेन नोस्ट्रेंड, न्यूजर्सी, 1964

श्रीनिवास, एम एम सोशल चेन्ज इन मोडर्न इण्डिया, केलिफोर्निया युनिवर्सिटी, बर्कले, 1966

श्रीवास्तव, एन. एम पी. · ग्रोथ आफ नेशनलिज्म इन इण्डिया : इफेक्ट्स आफ इंटरनेशनल ईवेन्ट्स, मीनाक्षी, मेरठ, 1973

हमीद, अब्दुल . मुस्लिम सेपरेटिज्म इन इण्डिया : 1858-1947, आक्सफर्ड, लाहौर, 1967

हाइडमेन, एच एम. : दी एवेकनिंग आफ एशिया, लन्दन, 1919

हिदायतुल्ला, एम . डिमोक्रेसी इन इण्डिया एण्ड दी ज्यूडिशियल प्रोसेस, एशिया, बम्बई, 1966

हीमसाथ, चार्ल्स : नेशनलिज्म एण्ड हिन्दू सोशल रिफोर्म, प्रिंसटन युनि प्रेस, न्यू जर्सी, 1964

हेथकोट, जॉन पेट्रिक . कम्युनिज्म एण्ड नेशनलिज्म इन इण्डिया : एम. एन. राय एण्ड कोमिनटर्न पोलीसी : 1920-1939, प्रिंसटन युनि. प्रेस, न्यूजर्सी, 1971

हॉडसन, एच वी · दी ग्रेट डिवाइड, हचिनसन, लन्दन, 1969

अध्याय 2—राजा राममोहन राय

इकबाल सिंह : राम मोहन राय, भाग 1, एशिया, बम्बई, 1958

———— : दी इंगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय विथ एन इंगलिश ट्रांसलेशन आफ "तुहफातुल मुवाहिद्दीन," पाणिनी आफिस, इलाहाबाद, 1906

कौलेट, सोफिया डाब्सन : लाइफ एण्ड लेटर्स आफ राजा राममोहन राय, 1913

गांगुली, नलिन राजा राममोहन राय, वाई एम. सी. ए पब्लि. हाउस, 1939

जोशी, वी सी (सम्पा) : राममोहन राय एण्ड दी प्रोसेस आफ मोडर्नाइजेशन इन इण्डिया, विकास, दिल्ली, 1975

———— : दी फादर आफ माडर्न इण्डिया : कोमेमोरेशन वोल्यूम आफ दी राममोहन राय सेन्टेनरी सेलिब्रेशन्स,1933, एस. सी. चक्रवर्ती (सम्पा.), कलकत्ता, 1935

बाल, उपेन्द्रनाथ : राममोहन राय : ए स्टडी आफ हिज लाइफ, वर्क्स एण्ड थाट्स, राय एण्ड सन्स, कलकत्ता, 1933

मजूमदार, जे. के. . राजा राममोहन राय एण्ड प्रोग्रेसिव मूवमेंट्स इन इण्डिया, कलकत्ता, 1941

" पी. सी. : दी फेथ एण्ड प्रोग्रेस आफ दी ब्रह्मो समाज, कलकत्ता, 1882

———— : राजा राममोहन राय हिज लाइफ, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, नटेसन, मद्रास, 1925

शास्त्री, पण्डित शिवनाथ . हिस्ट्री आफ दी ब्रह्मोसमाज, 2 भाग, आर. चटर्जी कलकत्ता, 1911

अध्याय 3—स्वामी दयानन्द सरस्वती

दयानन्द, स्वामी : सत्यार्थप्रकाश, स्टार प्रेस, बनारस, 1875 (सर्व प्रथम संस्करण)

" " : वेदान्तिध्वान्ति निवारण, ओरियंटल प्रेस, बम्बई, 1876

" " : पंचमहायज्ञविधि, बनारस संस्करण, 1877

" " : शिक्षापत्री ध्वान्त निवारण, 1876

" " : वेदविरुद्धमतखण्डन, निर्णयसागरप्रेस, बम्बई, 1873

" " : आर्याभिविनय, प्रथम संस्करण, बम्बई, 1876

" " : अनुभ्रमोच्छेदन, बनारस, 1880

" " : संस्कारविधि, प्रथम संस्करण, एशियाटिक, बम्बई, 1877

" " : ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, लजारस प्रेस, बनारस, 1877

" " : व्यवहारभानु, वैदिक यन्त्रालय, बनारस, 1879

———— : दयानन्द : कोमेमोरेशन वोल्यूम, हरबिलास शारदा द्वारा सम्पादित, अजमेर, 1933

——————— आटोबायोग्रैफि आफ पण्डित दयानन्द सरस्वती, (सम्पा) मैडम ब्लावटस्की, थियोसोफिकल पब्लि हाउस, मद्रास, 1952

——————— आटोबायोग्रैफि आफ स्वामी दयानन्द सरस्वती, (सम्पा), के सी यादव, मनोहर, दिल्ली, 1976

——————— दी आटोबायोग्रैफि एण्ड दी ट्रैवल्स आफ स्वामी दयानन्द सरस्वती, (सम्पा) दुर्गाप्रसाद, विरजानन्द प्रेस, लाहौर, 1908

मुंशीराम तथा रामदेव दी आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स · ए विण्डिकेशन, लाहौर, 1910

रोला, रोमा प्रोफेट्स आफ दी न्यू इण्डिया, लन्दन, 1930

लाजपतराय, लाला दी आर्यसमाज, लौंगमेन्स, ग्रीन एण्ड क, लन्दन, 1915

——————— महर्षि दयानन्द की आत्मकथा, (सम्पा) भवानीलाल भारतीय, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1975

शारदा, हरबिलास . लाइफ आफ दयानन्द सरस्वती, परोपकारिणी सभा, अजमेर, 1968

सेन, एन बी (सम्पा) विट एण्ड विजडम आफ स्वामी दयानन्द, न्यू बुक सोसाइटी, नई दिल्ली, 1964

अध्याय 4—स्वामी विवेकानन्द

——————— दी कम्प्लीट वर्क्स आफ स्वामी विवेकानन्द, 8 भाग, अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा

दत्त, भूपेन्द्रनाथ · विवेकानन्द . पैट्रियट प्रोफैट, नवभारत, कलकत्ता, 1954

निवेदिता, सिस्टर . दी मास्टर एज आई सा हिम, उद्बोधन, कलकत्ता, 1939

बर्क, मेरी लुई स्वामी विवेकानन्द इन अमेरिका : न्यू डिस्कवरीज, अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, 1958

मजूमदार, सत्येन्द्रनाथ . विवेकानन्द-चरित

——————— दी मेसेज आफ विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा, 1966

योगेश्वरानन्द, (सम्पा) . दी *लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द*, अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा, *1949*

रोला, रोमा : लाइफ आफ विवेकानन्द, अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा, 1953

——————— : लाइफ आफ स्वामी विवेकानन्द : बाई हिज ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न डिसाइपल्स, अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा, 1933

विवेकानद, स्वामी . फ्रोम कोलम्बो टु अल्मोड़ा लैक्चर्स, मद्रास, 1904

" " · स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स,

" " · इण्डिया एण्ड हर प्रोब्लम्स,

विवेकानन्द, स्वामी : एपिसल्स आफ स्वामी विवेकानन्द, मायावती, अल्मोड़ा, 1920
" " : सिलेक्शन्स फ्रोम स्वामी विवेकानद,
" " : ज्ञानयोग
" " : राजयोग
" " : प्रेक्टिकल वेदान्त
" " : इन्स्पायर्ड टाक्स, माई मास्टर एन्ड अदर राइटिंग्स, रामकृष्ण-विवेकानन्द सेंटर, न्यूयार्क, 1939
" " : माडर्न इण्डिया, अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा, 1923
" " . भक्तियोग
" " : प्रेमयोग
" " : शिकागो वक्तृता, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, 1972

अध्याय 5 –श्रीमती एनी बेसेंट

बेसेंट, एनी · हाऊ इंडिया रोट फोर फ्रीडम, थियोसोफिकल पब्लि हाउस, अड्यार, मद्रास, 1915
" " · दी फ्यूचर आफ इंडियन पोलिटिक्स, थि प हा, मद्रास, 1922
" " : इगलेंड, इंडिया एण्ड अफगानिस्तान, थि. प हा. मद्रास, 1931
(सम्पा.) · अदर ऐल्डर ब्रदरन, थि. प हा, मद्रास, 1934
बेसेंट, एनी : दी यूनिवर्सल टेक्स्ट-बुक आफ रिलीजन्स एन्ड मोरल्स, मद्रास, 1910
" " : इंडिया एण्ड दी एम्पायर, थियोसोफिकल पब्लि. सोसायटी, लदन, 1914
" " : कांग्रेस स्पीचेज आफ एनी बेसेंट, मद्रास, 1917
" " : दी बेसेन्ट स्पिरिट, 4 भाग, मद्रास, 1938
" " : ब्रह्मविद्या, मद्रास, 1932
" " : दी बेसिक ट्रुथ्स आफ वर्ल्ड रिलीजन्स : दी फ्री वर्ल्ड मूवमेंट्स, मद्रास, 1926
" " : शैल इंडिया लिव ओर डाइ, मद्रास, 1925
" " : पोपुलर लेक्चर्स आन थियोसोफी, मद्रास, 1939
" " : इंडिया, थि प. सो, लदन, 1913
" " : दी इंडिया देट शेल बी, मद्रास, 1940
" " : सिविलीजेशन्स डेडलोक्स एण्ड दी कीज, मद्रास, 1925
" " : दी विजडम आफ दी उपनिषद्स, मद्रास, 1907

बेसेंट, एनी · इण्डियन आइडियल्स इन एजुकेशन, रिलीजन, फिलोसोफीज, आर्ट, कमला भाषण माला 1924-25, मद्रास, 1930
" " · लेक्चर्स आन पोलिटिकल साइंस, मद्रास, 1919
" " इण्डिया : ए नेशन, मद्रास, 1939
" " आटोबायोग्रेफि, मद्रास, 1939
" " दी मास्टर्स, मद्रास, 1912
पाल, विपिनचन्द्र मिसज एनी बेसेंट ए साइकोलोजिकल स्टडी, गणेश, मद्रास, ति र
श्री प्रकाश एनी बेसेंट, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1954

अध्याय 7—महादेव गोविंद रानाडे

रानाडे, महादेव गोविंद एसेज आन इण्डियन इकोनोमिक्स, बम्बई, 1899
" " दी मिसलेनियस राइटिंग्स आफ एम जी रानाडे, मनोरंजन प्रेस, बम्बई, 1915
" " दी राइज आफ मराठा पावर, बम्बई, 1900
" " रिलीजियस एण्ड सोशल रिफोर्म्स, बम्बई, 1918
अम्बेडकर, भीमराव रानाडे, गांधी एण्ड जिन्ना, थैकर, बम्बई, 1924
बर्वे, डी जी रानाडे, दी प्रोफेट आफ लिबरेटेड इण्डिया, धार्य भूषण प्रेस, पूना, 1942
केलोक, जेम्स : महादेव गोविन्द रानाडे : पेट्रियट एण्ड सोशल सर्वेंट, कलकत्ता, 1926
गोखले तथा वाचा रानाडे तथा तेलंग, नटेसन, मद्रास, 1915
चिन्तामणि, सी वाई (सम्पा) . इण्डियन सोशल रिफोर्म, 4 भाग, मद्रास, 1901
जागीरदार, पी. जे . स्टडीज इन दी सोशल थाट आफ एम. जी रानाडे, एशिया, बम्बई, 1963
पार्वते, टी वी महादेव गोविन्द रानाडे : ए बायोग्रेफि, एशिया, बम्बई, 1963
मांकर, जी ए : ए स्केच आफ दी लाइफ एण्ड वर्क आफ दी लेट जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे, 2 भाग, बम्बई, 1902
रानाडे, रमाबाई हिज वाइफ्स रेमिनिसेन्सेज, पब्लि डिवीजन, नई दिल्ली, 1963

अध्याय 8—दादाभाई नौरोजी

नौरोजी, दादाभाई · पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया, स्वान सोनेनशीन, लंदन, 1901

पारिख, सी. एल. (सम्पा.) : एसेज, स्पीचेज, एड्रेसेज एण्ड राइटिंग्स आफ दादाभाई नौरोजी, बम्बई, 1887

मसानी, आर. पी. : दादाभाई नौरोजी, दी ग्रैंड ओल्डमेन आफ इंडिया, एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1939

———— स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ दादाभाई नौरोजी, नटेसन, मद्रास, 1917

अध्याय 9—फिरोजशाह मेहता

चिन्तामणि, सी. वाई. (सम्पा.) : स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ दी आनरेबल सर फिरोजशाह मेहता, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1905

जीजीभाय, जे. आर. बी. : सम अनपब्लिश्ड एण्ड लेटर स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ दी ओनरेबल सर फिरोजशाह मेहता, बम्बई, 1918

मोदी, एच. पी. सर फिरोजशाह मेहता : ए पोलिटिकल बायोग्राफि, 2 भाग,

वाचा, डी० इ० : स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ दी ओनरेबल सर फिरोजशाह मेहता, इलाहाबाद, 1905

शास्त्री, वी. एस. श्रीनिवास : लाइफ एण्ड टाइम्स आफ सर फिरोजशाह मेहता, मद्रास, 1945

अध्याय 10—सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ ए नेशन इन मेकिंग : बीइंग दी रेमिनिसेन्सेज आफ फिफ्टी ईयर्स आफ पब्लिक लाइफ, आक्सफर्ड, बम्बई, 1925

" " : स्पीचेज, 6 भाग, कलकत्ता, 1891-1908

आर्गोव, डेनियल : मोडरेट्स एण्ड एक्सट्रीमिस्ट्स इन दी इंडियन नेशनलिस्ट मूवमेंट : 1883-1920, एशिया, बम्बई, 1967

घोम, के. एम. : सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पब्लि. डिवीजन, नई दिल्ली, 1974

" जे. एस. : सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, (ए स्केचबाट), ढाका, 1939

नटेसन, जी. ए. बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी : दी मेन एण्ड हिज मिशन, मद्रास, 1917

अध्याय 11—गोपाल कृष्ण गोखले

कर्वे, डी. जी. (सम्पा.) : स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ गोपालकृष्ण गोखले, बम्बई, 1966

कुंजरु, एच. एन. . गोपाल कृष्ण गोखले : दी मेन एण्ड हिज मिशन, नई दिल्ली, 1966

———— : गोखले सेन्टेनरी सुवेनिर (1866-1966), नई दिल्ली, 1966

देवगिरिकर, टी. आर. : गोपाल कृष्ण गोखले, पब्लि. डिवीजन, नई दिल्ली, 1964

नदा, बी. आर . गोखले : दी इण्डियन मोडरेट्स एण्ड दी ब्रिटिश राज, आक्सफर्ड, दिल्ली, 1977

पटवर्धन, आर पी. . दी सिलेक्ट गोखले, नई दिल्ली, 1968

पराजपे, आर पी गोपालकृष्ण गोखले, पूना, 1915

पार्वते, टी. वी. : गोपालकृष्ण गोखले, नवजीवन, अहमदाबाद, 1959

माथुर, डी वी गोखले : ए पोलिटिकल बायोग्रेफि, बम्बई, 1966

रामास्वामी, सी पी. तथा अन्य गोखले : दी मेन एण्ड हिज मिशन, बम्बई, 1966

राव, पी कोदण्ड गोखले एण्ड शास्त्री, मैसूर, 1961

शास्त्री, वी एस श्रीनिवास माई मास्टर गोखले, मोडल पब्लि मद्रास, 1946

शास्त्री, टी वे . गोपालकृष्ण गोखले : ए हिस्टोरिकल बायोग्रेफि, बम्बई, 1929

शाह, ए बी तथा ऐयर, एस पी (सम्पा) गोखले एण्ड माडर्न इंडिया : सेन्टेनरी लेक्चर्स, बम्बई, 1966

———— स्पीचेज आफ गोपालकृष्ण गोखले, नटेसन, मद्रास, 1920

———— स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ गोपालकृष्ण गोखले, भाग प्रथम, आर्थिक, पूना, 1962

होयलैंड, जे. एस गोपालकृष्ण गोखले . हिज लाइफ एण्ड स्पीचेज, कलकत्ता, 1933

अध्याय 12—वी. एस. श्रीनिवास शास्त्री

जगदीशन, टी एन वी. एस. श्रीनिवास शास्त्री, पब्लि डिवीजन, नई दिल्ली, 1969

" " (सम्पा) . लेटर्स आफ वी. एस. श्रीनिवास शास्त्री, रोच हाउस, मद्रास, 1944

राव, पी कोदण्ड ' दी राइट आनरेबल वी एस. श्रीनिवास शास्त्री : ए पोलिटिकल बायोग्रेफि, एशिया, बम्बई, 1963

———— दी राइट आनरेबल वी. एस श्रीनिवास शास्त्री : ए स्केच, नटेसन, मद्रास, 1924

शास्त्री, वी एस श्रीनिवास माई मास्टर गोखले, मोडल पब्लि , मद्रास, 1946

" " . दी राइट्स एण्ड ड्यूटीज आफ दी इण्डियन सिटीजन, कलकत्ता युनिवर्सिटी प्रेस, 1927

" " : दी अदर हार्मनी, एस विश्वनाथन, मद्रास, 1927

" " शास्त्री स्पीचस, नाटाल प्रेस, पीटर मेरिजबर्ग, 1931

" " रेमिनिसेन्सेज (तमिल), कलाइमगल प्रेस, मद्रास, 1954

" " सेल्फ गवर्नमेंट फोर इण्डिया अण्डर दी ब्रिटिश फ्लेग, सर्वेंट्स आफ इण्डिया सोसायटी, पूना, 1916

शास्त्री, वी एस श्रीनिवास : कांग्रेस-लीग स्कीम : एन एक्सपोजीशन, सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसायटी, पूना, 1917
" " : दी कीन्या प्रोब्लम, सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसायटी, पूना, 1924
" " : लाइफ एण्ड टाइम्स आफ फिरोजशाह मेहता, मद्रास ला जर्नल प्रेस, मद्रास, 1945
" " : लेक्चर्स आन दी रामायण, एस. विश्वनाथन, मद्रास, 1949
" " : थम्बनेल स्केचेज, मद्रास, 1946
——————— : स्पीचेज आफ दी राइट आनरेबल श्रीनिवास शास्त्री, नटेसन, मद्रास, 1924
सर्वेन्ट आफ इंडिया (साप्ताहिक) दी सर्वेन्ट आफ इंडिया सोसाइटी, पूना

अध्याय 13—बाल गंगाधर तिलक

अठाल्ये, डी. वी. : लाइफ आफ लोकमान्य तिलक, जगत हितेच्छु प्रेस, पूना, 1921
श्री अरविन्द बंकिम, तिलक, दयानन्द, आर्य पब्लि हाउस, कलकत्ता, 1940
करमरकर, डी पी : बाल गंगाधर तिलक : ए स्टडी, पोपुलर बुक डिपो, बम्बई 1936
करंदिकर, एस. एल : लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक : दी हरक्यूलीज एण्ड प्रामेथ्यूज आफ माडर्न इंडिया, पूना, 1957
केलकर, एन. सी. : लाइफ एण्ड टाइम्स ओफ लोकमान्य तिलक, मद्रास, 1928
तहमानकर, डी. वी. : लोकमान्य तिलक : फादर आफ इंडियन अनरेस्ट एण्ड दी मेकर आफ मोडर्न इंडिया, जान मर्रे, लन्दन, 1956
तिलक, बाल गंगाधर : दी आर्कटिक होम इन दी वेदाज, तिलक ब्रदर्स, पूना
" " : ओरियॉन ओर रिसर्चेज इन्टू दी एन्टिक्विटी आफ दी वेदाज, तिलक ब्रदर्स, पूना
" " वैदिक कोनोलोजी एण्ड वेदांग ज्योतिष
" " : राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, मद्रास, 1922
" " : गीता रहस्य
" " : आर्टिकल्स आफ लोकमान्य तिलक इन दी केसरी, 4 भाग
पार्वते, टी वी : बाल गंगाधर तिलक, नवजीवन, अहमदाबाद, 1958
प्रधान तथा भागवत : लोकमान्य तिलक : ए बायोग्रेफि, जैको, बम्बई, नि ?
बापट, एस वी (सम्पा.) : ग्लीनिंग्स फ्रोम तिलक्स राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पूना, 1926
भट्ट, बी. जी : लोकमान्य तिलक : हिज लाइफ, माइन्ड, पोलिटिक्स एण्ड फिलोसोफी, पूना, 1956
रामगोपाल : लोकमान्य तिलक, एशिया, बम्बई, 1956

" " . रिपोर्ट आफ पीपुल्स फेमीन रिलीफ मूवमेंट 1908, लाहौर, 1909

" " : लाइफ आफ महात्मा श्रीकृष्ण, लाहौर, 1900

" " : लाइफ एण्ड टीचिंग्स आफ स्वामी दयानन्द, लाहौर, 1898

" " : लाइफ आफ पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी, विरजानन्द प्रेस, लाहौर, 1891

" " सम्राट अशोक, चौधरी एण्ड सन्स, बनारस, 1933

" " स्टोरी आफ माई डिपोर्टेशन, पंजाबी प्रेस, लाहौर, 1908

" " . दी स्टोरी आफ माई लाइफ, दी पीपुल (लाहौर), लाजपतराय नम्बर, अप्रेल 13 तथा, 18, 1929

लाला लाजपतराय आटोबायोग्रेफिकल राइटिंग्स, युनिवर्सिटी पब्लि., दिल्ली, 1965, वी सी जोशी द्वारा संपादित

लाला लाजपतराय . राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, 2 भाग, युनि. पब्लि 1966, वी सं: जोशी द्वारा संपादित

अग्रवाल, आर सी. बेगमल लाजपति, देवनागरी यन्त्रालय, कलकत्ता, 1912

कैलाश, एन. एन . लाला लाजपतराय : हिज रैलेवेन्स फोर अवर टाइम्स, ललवाणी ब्रदर्स, बम्बई, 1965

———— ग्रेट थाट्स आफ लाला लाजपतराय, अल्बर्ट प्रेस, लाहौर, 1928

गर्ग, बी आर. : लाला लाज्पत राय एज एन इजुकेशनिस्ट, अम्बाला, 1973

गोल्डन जुबली सुवेनर : सर्वेन्ट्स आफ दी पीपुल सोसायटी, लाजपत भवन, नई दिल्ली, दिसम्बर, 1972

घोषाल, ज्योतिषचन्द्र (सम्पा) : लाइफ आफ लाला लाजपत राय, रामकृष्ण पब्लि. वर्क्स, कलकत्ता, 1928

चदवानी, पी बी. : लाला लाजपत राय एण्ड हिज रैलेवेन्स टु डे, ललवाणी ब्रदर्स, बम्बई, 1965

जगन्नाथ, लाला . शोर्ट बायोग्रेफि आर्फ लाला लाजपतराय, नई दिल्ली, ति र.

फडके, एम. के. . लाला लाजपतराय किंवा नव युगाचा पूर्वरंग (मराठी), नवयुग ग्रंथमाला, पणवेल, 1931

———— प्रोसीडिंग्स आफ दी हिन्दू कॉन्स्पिरेसी ट्रायल्स आफ सैन-फ्रांसिस्को (1917-18), (माइक्रोफिल्म)

———— बायोग्रेफिकल स्केच आफ लाला लाजपतराय, लाजपत भवन, नई दिल्ली

मोहन लाल . लाला लाजपतराय : जीवन और कार्य, विश्वेश्वरानंद इंस्टीट्यूट, होशियारपुर, 1965

नटेसन, जी. ए : लाला लाजपतराय मान नोन-कोओपरेशन. दी मैनिफेस्टो मान बॉयकाट आफ ओपीनियन एटसेट्रा, नटेसन, मद्रास, ति. र.

नागर, पुरुषोत्तम लाला लाजपतराय : दी मैन एण्ड हिज आइडियाज, मनोहर, नई दिल्ली, 1977

रामदेव लाला लाजपतराय यांचे आत्मचरित्र व चरित्र (मराठी) कर्नाटक प्रिंट. हाउस, बम्बई, 1931

—————— लाजपतराय एण्ड रैलेवेन्स आफ हिज आइडियाज टु डे, पंजाब युनिवर्सिटी, चंडीगढ़, 1972 (मिमोग्राफ)

—————— लाला लाजपतराय ग्लिम्पसेज फ्रोम हिज लाइफ, लालपत भवन, नई दिल्ली, 1965

शास्त्री, अलगूराय लाला लाजपतराय, लोक सेवक मंडल, दिल्ली, 1951

सहोटा, डी एस लाला लाजपतराय हिज लाइफ एण्ड थाट, लुधियाने, 1974

हार्डीकर, एन. एस. लाला लाजपतराय इन अमेरिका, सर्वेंट्स आफ दी पीपुल सोसायटी, नई दिल्ली, ति र

दी पंजाबी लाहौर, मई 15, 1905 से जुलाई 15, 1909

दी पीपुल लाहौर, जुलाई 5, 1925 से दिसम्बर 5, 1929

अध्याय 15—विपिन चन्द्र पाल

पाल, बिपिनचन्द्र एनी बेसेंट, गणेश, मद्रास, 1917

" " एन इन्ट्रोडक्शन टु दी स्टडी आफ हिन्दूइज्म, कलकत्ता, 1908

" " बिगिनिंग्स आफ फ्रीडम मूवमेंट इन मार्डन इंडिया, युगयात्री प्रकाशन, कलकत्ता, 1954

" " रेस्पोंसिबल गवर्नमेंट, बनर्जी, दास एण्ड क कलकत्ता, 1917

" " दी सोल आफ इंडिया, चौधरी एण्ड चौधरी, कलकत्ता, 1911

" " नेशनलिज्म एण्ड दी ब्रिटिश एम्पायर,

" " नेशनलिटी एण्ड दी ब्रिटिश एम्पायर, थैकर, स्पिंक एण्ड क , कलकत्ता, 1916

" " इंडियन नेशनलिज्म : इट्स पर्सनैलिटीज एण्ड प्रिंसिपल्स, मूर्ति एण्ड क , मद्रास, 1918

" " दी स्पिरिट आफ इंडियन नेशनलिज्म, हिन्दू नेशनलिस्ट एजेन्सी, लंदन,

" " दी न्यू इकोनोमिक मीनेस टु इंडिया, गणेश एण्ड क., मद्रास, 1920

" " श्रीकृष्ण, टैगोर एण्ड क , मद्रास,

" " मेमोरीज आफ माइ लाइफ एण्ड टाइम्स, (1858-1885), भाग 1, कलकत्ता, 1932

" " : मेमोरीज आफ माइ लाइफ एण्ड टाइम्स, (1885-1900) भाग 2, कलकत्ता, 1951
" " : स्वराज, वाघवानी एण्ड क., बम्बई, 1922
" " : स्वदेशी एण्ड स्वराज : दी राइज आफ न्यू पैट्रियोटिज्म, युगयात्री प्रकाशन, कलकत्ता, 1954
" " : पेट्रियोटिज्म, युगयात्री प्रकाशन, कलकत्ता, 1954
" " : नोन-कोआपरेशन, इंडियन बुक क्लब, कलकत्ता, 1920
" " : दी न्यू पोलिटी, मद्रास, 1918
" " : दी न्यू स्पिरिट, कलकत्ता, 1907
" " : स्पीचेज एट मद्रास, मद्रास, 1907
" " : स्वराज, दी गोल एण्ड दी वे, 1921
" " : वर्ल्ड सिच्युएशन एण्ड अवरसेल्वज, 1919 क., मद्रास,
" " : दी स्टडी ओफ हिंदूइज्म, युगयात्री प्रकाशन, कलकत्ता, 1951
" " : राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड 1, युगयात्री, कलकत्ता, 1958
——— लाइफ एण्ड उटरेन्सेज आफ बिपिन चन्द्र पाल, गणेश एण्ड
बुच, एम ए : राइज एण्ड ग्रोथ आफ इंडियन मिलिटेंट नेशनलिज्म, बड़ौदा, 1940
मजूमदार, बिमान बिहारी मिलिटेंट नेशनलिज्म इन इंडिया, कलकत्ता, 1966
मुखर्जी, हरिदास तथा उमा : बी सी. पाल एण्ड इंडियाज स्ट्रगल फोर स्वराज, फर्मा के एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1958
मुखर्जी, ए. पी. : सोशल एण्ड पोलीटिकल आईडियाज आफ बिपिनचन्द्र पाल, मिनर्वा, कलकत्ता, 1974
वाजपेयी, जे एन. : दी एक्स्ट्रीमिस्ट मूवमेंट इन इंडिया, चुग पब्लि इलाहाबाद, 1974
शर्मा, पी. डी. (सम्पा) लाइफ एण्ड वर्क आफ लाल, बाल एण्ड पाल, फोरमोस्ट पब्लि. नई दिल्ली, 1962

अध्याय 16—हिन्दूराष्ट्रवाद : विनायक दामोदर सावरकर

अप्टेकर, ए एस. : स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एनशन्ट इंडिया, बनारस, 1944
अय्यर, सी. पी.
रामास्वामी : इंडियन पोलिटिकल थ्योरीज, मद्रास, 1938
एण्ड प्रकाश . हिन्दू महासभा, दी अखिल भारतीय हिन्दू महासभा, नई दिल्ली, 1938
कीर, धनंजय : वीर सावरकर, पोपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1966
गोलवलकर, एम एस. : वी ओर अवर नेशनहुड डिफाइण्ड, नागपुर, 1947

चित्रगुप्त : लाइफ आफ बैरिस्टर सावरकर, हिन्दू मिशन पुस्तक भंडार, नई दिल्ली, 1939

जायसवाल, के. पी : हिन्दू पोलिटी, बंगलोर, 1943

बुच, एम. ए : दी स्पिरिट आफ एनशान्ट हिन्दू कल्चर, बड़ौदा, 1921

भाई परमानन्द हिन्दू संगठन, दी सेंट्रल हिन्दू युवक सभा, लाहौर, 1936

देशपांडे, बी. एस . व्हाई हिन्दू राष्ट्र ?, नई दिल्ली, 1949

राधाकृष्णन, एस. : दी हिन्दू व्यू आफ लाइफ, एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1954

सावरकर, विनायक दामोदर : हिन्दुत्व, सदाशिव पेठ, पूना 1942

" " · हिन्दू पद पादशाही, राजपाल एन्ड सन्स, लाहौर,

" " समग्र सावरकर वांगमय, खण्ड 6, हिन्दू राष्ट्र दर्शन, महाराष्ट्र प्रांतिक हिन्दूसभा, पूना, 1954

" " दी इंडियन वार आफ इंडिपेन्डेन्स 1857, फीनिक्स पब्लि. बम्बई, 1947

" " भारतीय इतिहास के छः स्वर्णिम पृष्ठ, 2 भाग, राष्ट्र धर्म पुस्तक प्रकाशन, लखनऊ, विक्रमसंवत् 2022

शर्मा, डी एस. : दी रेनासां आफ हिन्दूइज्म, बनारस, 1944

अध्याय 17, 18 एवं 19—मुस्लिम राष्ट्रवाद : सर सैयद अहमद खां, मोहम्मद इकबाल तथा मोहम्मद अली जिन्ना

अफजल, रफीक : स्पीचेज एण्ड स्टेटमेंट्स आफ जिन्ना, अशरफ, लाहौर, 1966

अमीर अली, सैयद दी स्पिरिट आफ इस्लाम, लाहिड़ी, कलकत्ता, 1902

अलबिरूनी, ए एच मेकर्स आफ पाकिस्तान एण्ड मोडर्न मुस्लिम इंडिया, अशरफ, लाहौर 1950

अहमद, खान ए दी फाउंडर आफ पाकिस्तान, लुआक एण्ड क , लंदन, 1942

अहमद, जमीलुद्दीन (सम्पा) सम रीसेन्ट स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ मि. जिन्ना, अशरफ, लाहौर, 1942

आगा खां इंडिया इन ट्रांजीशन, टाइम्स आफ इंडिया, बम्बई, 1918

अली, रहमत दी मिल्लत आफ इस्लाम एण्ड दी मीनेस आफ इंडियनिज्म, हैफर एण्ड सन्स, कैम्ब्रिज, 1940

अली, मोहम्मद कोन्स्ट्रक्टिव नोन-कोओपरेशन, गणेश एण्ड क , मद्रास

अली , एस ए · इकबाल : हिज पोइट्री एण्ड मैसेज, कुतुबखाना, लाहौर, 1932

———— ऐमिनेन्ट मुसलमान्स, नटेसन मद्रास, 1926

कबीर, हुमायूं . मुस्लिम पोलिटिक्स, 1906-1942, गुप्ता रहमान गुप्ता, कलकत्ता, 1944

बन्सल, जी. डी. : जिन्ना : दी स्टेट्समैन, गोयल एण्ड गोयल, जयपुर, 1940

कृष्णा, के बी · दी प्रोबलम आफ माइनोरिटीज़, ऐलन एण्ड अनविन, लंदन, 1939

कौशिक, वी. जी दी हाउस देट जिन्ना बिल्ट, पद्मा पब्लि. बम्बई, 1944

ग्राहम, जी एफ आई · दी लाइफ एण्ड वर्क आफ सर सैयद अहमद खाँ, हाडर एण्ड स्टाउटन, लंदन, 1909

खलिकुज्जमा पाथ वे टु पाकिस्तान,

इकबाल, मोहम्मद सिक्स लेक्चर्स आन दी रिकंस्ट्रक्शन आफ रिलीजियस थाट इन इस्लाम, कपूर आर्ट प्रि. वर्क्स, लाहौर, 1930

" " रिकंस्ट्रक्शन आफ रिलीजियस थाट इन इस्लाम, आक्सफर्ड, 1934

" " दी डेवलेपमेंट आफ मेटाफिजिक्स इन पर्शिया, लुजाक एण्ड क., लंदन, 1908

चौधरी, बी एम मुस्लिम पोलिटिक्स इन इंडिया, ओरियन्ट बुक क. कलकत्ता, 1946

जैदी, ए एम फ्रोम सैयद टु इमरजेंस आफ जिन्ना : इवोल्यूशन आफ मुस्लिम पोलिटिकल थाट इन इण्डिया, खण्ड 1, निचिको, दिल्ली, 1975

जैन, एम एस आधुनिक भारत में मुस्लिम राजनीतिक विचारक, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973

जकारिया, रफीक राइज आफ मुस्लिम्स इन इण्डियन पोलिटिक्स, सोमैया पब्लि. ,बम्बई, 1970

एनवर, आई. एच मेटाफिजिक्स आफ इकबाल, अशरफ, लाहौर, 1933

——— 'जिन्ना इन पाकिस्तान", इलस्ट्रेटेड वीकली आफ इण्डिया, दिसम्बर 26, 1976

जिन्ना, एम ए स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स (1912–1917), गणेश, मद्रास, 1917

——— जिन्ना-गांधी टाक्स (सितम्बर, 1944), आल इण्डिया मुस्लिम लीग, 1944

——— दी ट्रिब्यून (लाहौर), दिसम्बर 14, 1924

दर, बी ए ए स्टडी आफ इकबाल्स फिलोसोफी, अशरफ, लाहौर, 1944

दुर्रानी, एफ के. के. : दी मीनिंग आफ पाकिस्तान, अशरफ, लाहौर, 1946

" " . दी फ्यूचर आफ इस्लाम इन इण्डिया, इकबाल एकेडेमी, लाहौर, 1926

प्रसाद, राजेन्द्र · इण्डिया डिवाइडेड, हिन्द किताब्स, बम्बई, 1946

फारूकी, जियाउल हसन : दी देवबन्द स्कूल एण्ड दी डिमांड फोर पाकिस्तान, एशिया, बम्बई, 1963

फिलिप्स, सी एच — दी इवोल्यूशन आफ इंडिया एण्ड पाकिस्तान, आक्सफर्ड, लन्दन, 1962

बानू, रजिया फरहत · मुरक्कात-ए-इकबाल, दिल्ली, 1946

बेग, ए ए . दी पोयट आफ दी ईस्ट, कुतुबखाना, लाहौर, 1939

बोलिथो, हेक्टर · जिन्ना : क्रिएटर आफ पाकिस्तान, जान मरे, लन्दन 1954

बेनी प्रसाद — दी हिन्दू-मुस्लिम क्वेश्चन्स, किताबिस्तान, इलाहबाद,1941

मलिक, हाफिज — मुस्लिम नेशनलिज्म इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पब्लिक अफेयर्स प्रेस, वाशिंगटन, 1963

मेहता, अशोक तथा पटवर्धन, अच्युत — दी कम्यूनल ट्राएंगल इन इंडिया, किताबिस्तान, इलाहबाद, 1942

नायडू, सरोजिनी . मोहम्मद अली जिन्ना, एन एम्बेसेडर आफ यूनीटी : हिज स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, 1912-1917, गणेश, मद्रास, 1918

नागरकर, वी वी — जैनेसिस आफ पाकिस्तान, एलाइड पब्लि बम्बई, 1977

नोमान, मोहम्मद : मुस्लिम इंडिया, किताबिस्तान, इलाहबाद, 1942

लाजपतराय, लाला — "ओपन लेटर्स टु सर सैयद अहमद खां", अक्तूबर 27-दिसम्बर 20, 1888 देखिये लाला लाजपतराय : दी मैन इन हिज वर्ड

शमलू, (सं) . स्पीचेज एण्ड स्टेटमेंट्स आफ इकबाल, अल-मनार अकादमी, लाहौर, 1948

शेरवानी, हारून खां — स्टडीज इन मुस्लिम पोलिटिकल थाट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, अशरफ, लाहौर, 1945

सैयद, अहमद खां · दी प्रजेन्ट स्टेट आफ इंडियन पोलिटिक्स, पायोनियर प्रेस, इलाहाबाद, 1888

" " — दी काजेज आफ दी इंडियन रिवोल्ट

सैयद, एम एच — मोहम्मद अली जिन्ना : पोलिटिकल स्टडी, अशरफ, लाहौर, 1945

सिन्हा, सच्चिदानन्द — इकबाल दी पोयट एण्ड हिज मेसेज, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, 1943

स्मिथ, विल्फ्रेड सी · माडर्न इस्लाम इन इंडिया, विक्टर गालेंज, लन्दन 1946

□□

खण्ड 2

अध्याय 20—मोहनदास करमचन्द गांधी

अग्रवाल, श्रीमन्नारायण — गांधीयन कोन्स्टीट्यूशन फोर फ्री इंडिया, इलाहाबाद, 1946

" " — दी गांधियन प्लान, बम्बई, 1944

" " — गांधीज्म : ए सोशलिस्टिक एप्रोच, इलाहाबाद, 1946

" " — प्रिंसीपल्स आफ गांधियन प्लानिंग, इलाहाबाद, 1960

अजारिया, जे जे — एसेज आन गांधियन इकोनोमिक्स, बम्बई, 1945

अठाले — नियो-हिन्दूइज्म, बम्बई, 1932

अंबेदकर, बी आर — एनिहिलेशन आफ कास्ट एण्ड ए रिप्लाई टु महात्मा गांधी, बम्बई, 1939

" " — व्हाट कांग्रेस एण्ड गांधी हेव डन फोर दी अनटचेबल्स, बम्बई, 1945

" " — मि गांधी एण्ड दी इमेन्सीपेशन आफ अनटचेबल्स, बम्बई, 1943

" " : रानाडे, गांधी, जिन्ना, बम्बई, 1943

अलेक्जाण्डर, होरेस तथा अन्य — सोशल एण्ड पोलीटिकल आईडियाज आफ महात्मा गांधी, नई दिल्ली, 1947

आर्यनायकम, आशादेवी — गांधी : दी टीचर, बम्बई, 1966

आहलूवालिया, बी के. (सम्पा) — फेसेट्स आफ गांधी, नई दिल्ली, 1968

ईटन, जीनेट : गांधी : फाइटर विदाउट ए स्वोर्ड, न्यूयार्क, 1950

एश, ज्योफ्रे — गांधी : ए स्टडी इन रिवोल्यूशन, लन्दन, 1968

एरिक्सन, ई एच : गांधीज ट्रूथ : आन दी ओरिजिन आफ नोनवायोलेन्स, न्यूयार्क, 1969

एण्ड्रूज, सी एफ — महात्मा गांधी : हिज ओन स्टोरी

" " . महात्मा गांधीज आईडियाज, लन्दन, 1949

" " — मीनिंग आफ नोन-कोआपरेशन, मद्रास, 1922

" " — दी चेलेंज आफ दी नार्थ-वेस्टर्न फ्रंटियर, लन्दन, 1937

——— : दी कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, नई दिल्ली,

कालेलकर, काका — गांधीवाद और समाजवाद, दिल्ली, 1939
किंग, मार्टिन लूथर — स्ट्राइड्स टुवार्ड्स फ्रीडम, लंदन, 1959
कुमारप्पा, जे सी — गांधियन इकोनोमी एण्ड अदर एसेज, अहमदाबाद, 1942
" " — नोन-वायोलेंट रिवोल्यूशन एण्ड वर्ल्ड पीस, वर्धा, 1958
कुलकर्णी, वी बी — दी इंडियन ट्रिमविरेट, बम्बई, 1969
कूपर, सिया — पेसिव रेजिस्टेंस इन साउथ अफ्रीका, लन्दन, 1656
कैटलिन, एन एम — दी पाथ आफ महात्मा गांधी, लंदन, 1948
कौशिक, पे डी — दी कांग्रेस आईडियोलोजी एण्ड प्रोग्राम : 1920-47, बम्बई, 1964
" नारायण — ब्लो फोर ए न्यू वर्ल्ड आर्डर : ए साईंटिफिक एप्रोच टू द यूज एण्ड नोन वायोलेंस, नेमारा, 1941
कृपलानी, कृष्ण — गांधी : ए लाइफ, 1968
" (सम्पा) — आल मेन आर ब्रदर्स, अहमदाबाद, 1960
" जे बी, — गांधी : दी स्टेट्समेन, दिल्ली, 1951
" " — दी गांधियन वे, बम्बई, 1938
" " — गांधी : हिज लाइफ एण्ड थाट, नई दिल्ली, 1970
" " — नोन-वायोलेंट रिवोल्यूशन, बम्बई, 1938
" " — पोलीटिक्स आफ चर्खा, बम्बई, 1943
कृष्णमूर्ति, वाई जी. : गांधियन ईरा इन वर्ल्ड पोलीटिक्स, बम्बई, 1943
" " — नियो-गांधीज्म, बम्बई, 1954
" " — रिफ्लेक्शन्स आन दी गांधियन रिवोल्यूशन, बम्बई, 1944
कृष्णदास : सेवन मंथ्स विथ महात्मा गांधी, अहमदाबाद, 1951
कृष्णैया, पी जी (सम्पा) : महात्मा गांधी एण्ड दी यू. एस ए, न्यूयार्क, 1949
गांधी, मोहनदास करमचन्द — अनासक्ति योग, कलकत्ता, 1934
" " — अवर लैंग्वेज प्रोब्लम, करांची, 1942
" " — आरोग्य दर्शन,
" " — इकोनोमिक एण्ड इण्डस्ट्रियल लाइफ एण्ड रिलेशन्स, 3 खण्ड, (स) खेर, अहमदाबाद, 1957
" " — इकोनोमिक्स आफ खादी, अहमदाबाद, 1941
" " — इन सर्च आफ दी सुप्रीम, 2 खण्ड, बम्बई, 1932
" " — इंडिया आफ माई ड्रीम्स, (सं) प्रभु अहमदाबाद, 1960
" " — इंडियन स्टेट्स प्रोब्लम, अहमदाबाद, 1941
" " — एथिकल रिलीजन, मद्रास, 1922
" " — कौंक्वेस्ट आफ सेल्फ, प्रभु तथा राव द्वारा सम्पादित, बम्बई, 1943
" " — कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम, अहमदाबाद, 1941
" " — कम्युनिज्म एण्ड कम्युनिस्ट्स, अहमदाबाद, 1959

गांधी, मोहनदास करमचन्द : कोओपरेटिव फार्मिंग, अहमदाबाद, 1959
" " : गांधीज कोरेस्पोन्डेन्स विथ दी गवर्नमेन्ट, अहमदाबाद, 1945
" " : गीता एकोर्डिंग टु गांधी, अहमदाबाद, 1948
" " : गांधीवाणी, रामनाथ सुमन द्वारा सम्पादित, इलाहाबाद, 1942
" " : गीता बोध, दिल्ली, 1938
" " : गीता दी मदर, जग प्रवेशचन्द्र द्वारा सम्पादित, लाहौर, 1932
" " : टीचिंग्स आफ महात्मा गांधी, (सं) जग प्रवेशचन्द्र, लाहौर, 1945
" " : टू दी हिंदूज एण्ड मुस्लिम्स, (स) हिंगोरानी, कराची, 1942
" " : टू दी प्रिंसेज एण्ड दी पीपुल, (स) हिंगोरानी, करांची, 1942
" " : टू दी स्टूडेन्ट्स, (स) हिंगोरानी, कराची, 1941
" " : टू दी वीमेन, कराची, 1945
" " : टू दी पस्प्लेक्स्ड, (सं) हिंगोरानी, बम्बई, 1966
" " : टुवार्ड्स लास्टिंग पीस, बम्बई, 1966
" " : टुवार्ड्स नोन-वायोलेंट सोशलिज्म, अहमदाबाद, 195:
" " : ट्रस्टीशिप, अहमदाबाद, 1960
" " : डिमोक्रेसि : रीयल एण्ड डिसेप्टिव, अहमदाबाद, 1961
" " : देल्ही डायरी, अहमदाबाद, 1948
" " : ड्रिंक, ड्रग्स एण्ड गेम्बलिंग, अहमदाबाद, 1952
" " : नोन-वायालेंस इन पीस एण्ड वार, 2 खण्ड, अहमदाबाद, 1942-1945
" " : पंचायती राज, अहमदाबाद, 1961
" " : प्रार्थना प्रवचन, 2 खण्ड, रामनाम, (सं. तथा प्र.) हिंगोरानी, कलकत्ता, 1947
" " : पूना स्टेटमेंट्स, लखनऊ, 1933
" " : फोर पेसीफिस्ट्स, अहमदाबाद, 1949
" " : फ्रोम यर्वदा मंदिर, अहमदाबाद, 1949
" " : फ्रीडमुस फंटस, मद्रास, 1921
" " : माई सोशलिज्म, अहमदाबाद, 1959
" " : दी माइन्ड आफ महात्मा गांधी, (स) प्रभु तथा राव, बम्बई, 1945
" " : माई सोल्स एगनी, बम्बई, 1932

गांधी, मोहनदास करमचन्द : रीबिल्डिंग अवर विलेजेज, अहमदाबाद, 1956
" " : ला एण्ड दी लायर्स, (सक) एस बी खेर, अहमदाबाद, 1950
" " . वर्णाश्रमधर्म, अहमदाबाद, 1962
" " विलेज इंडस्ट्रीज, अहमदाबाद, 1960
" " व्हाट जीसस मीन्स टु मी, अहमदाबाद, 1958
" " वीमेन एण्ड सोशल इनजस्टिस, अहमदाबाद, 1942
" " सर्वोदय : इट्स प्रिंसीपल्स एण्ड प्रोग्रेम, अहमदाबाद, 1957
" " सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका, अहमदाबाद, 1961
" " सत्याग्रह (1910-35), इलाहाबाद, 1945
" " सत्याग्रह, दिल्ली, 1940
" " सेलेक्शन्स फ्रोम गांधी, (स) निर्मलकुमार बोस, कलकत्ता, 1934
" " सेल्फ रेस्ट्रेंट वर्सस सेल्फ इंडल्जेन्स, 2 भाग, अहमदाबाद, 1930 तथा 1939
" " स्टोरी आफ माई एक्सपेरिमेंट्स विथ ट्रुथ, अहमदाबाद, 1946
" " : स्पीचेज एण्ड राईटिंग्स, मद्रास, 1922
" " स्वराज इन वन ईयर, मद्रास, 1921
" " हिंद स्वराज और इंडियन होमरूल, अहमदाबाद, 1958
" " हिंदूधर्म, अहमदाबाद, 1958
" " फेमस लेटर्स आफ महात्मा गांधी, (सक) आर एल. खिपले, लाहौर, 1947
" " दी मेसेज, (स) यू एस मोहन राव, नई दिल्ली, 1968
" " सेलेक्टेड लेटर्स, सेकंड सीरीज, (सक) वी जी देसाई, अहमदाबाद, 1962
" " . दी सेलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, 6 खंड, (सम्पा) श्रीमन्नारायण, अहमदाबाद, 1968
" " : पेन पोर्ट्रेट्स एण्ड ट्रीब्यूट्स बाई गांधीजी, (सक) यू एम मोहन राव, नई दिल्ली, 1969
गांधी, एम के. एण्ड टैगोर, रवीन्द्रनाथ . ट्रुथ काल्ड देम डिफरेन्टली, (सक) प्रभु तथा कालेलकर, अहमदाबाद 1961
———— : गांधीयाना, नई दिल्ली, 1962
———— गांधी, व्यक्तित्व, विचार, और प्रभाव, (सम्पादित) काका कालेलकर, वियोगी हरि, बनारसीदास चतुर्वेदी, वी वी केसकर, हरिभाऊ उपाध्याय, विष्णु प्रभाकर, यशपाल, नई दिल्ली, 1966

गांधी देवदास (स) : इण्डिया अनरिकोंसाइल्ड, दिल्ली, 1943

ग्रेग, रिचर्ड बी : दी इकोनोमिक्स आफ खद्दर, मद्रास 1928

,, ,, ए डिसीप्लीन आफ नोन-वायोलेंस, अहमदाबाद, 1941

,, ,, दी पावर आफ नोन-वायोलेंस, लन्दन 1960

गुप्ते कमल दी लम्बी स्ट्रगल फोर ट्रस्टीशिप, नई दिल्ली, 1971

व तथा पारेख महात्मा गांधी, कलकत्ता 1924

गुप्ता नगेन्द्रनाथ गांधी एण्ड गांधीज्म बम्बई, 1945

गगन गांधियन वे टु वर्ल्ड पीस, बम्बई 1960

गैंग एन एप्रोच विद गांधी अहमदाबाद

,, पार्टीलैस डिमोक्रेसी इट्स मीट्स एण्ड फोर्म्स, रामपुर, 1961

ग्रोजिदर एन पी ए वर्ड टु गांधी, लन्दन, 1937

घोष, प्रफुल्ल अहिंसा एण्ड गांधी, कलकत्ता 1954

घोष पी सी महात्मा गांधी-एज आइ सा हिम दिल्ली 1968

चांदीवाला, बृजकृष्ण एट दी फीट आफ बापू, अहमदाबाद, 1954

चौधरी, एम बापू एज आई सा हिम, अहमदाबाद, 1959

जोर्ज एस के गांधीज चेलेन्ज टु क्रिश्चियनिटी, अहमदाबाद, 1959

जाजू, श्री कृष्णदास दी आईडियोलाजी आफ दी चर्खा, काशी, 1951

जोन्स, स्टेनली महात्मा गांधी . एन इन्टरप्रिटेशन, न्यूयार्क, 1948

टालस्टाय, लियो दी किंगडम आफ गोड इज विदिन यू, लदन, 1936

डांगे, एस ए गांधी वर्सस लेनिन, बम्बई, 1921

डोक, जे जे : एम. के. गांधी, एन इण्डियन पैट्रियट, मद्रास, 1909

डीस्टर, ए एच. : प्रोब इन्टु दी गांधियन कॉन्सेप्ट आफ अहिंसा, कलकत्ता, 1962

डंकन, रोनाल्ड (स) . सेलेक्टेड राइटिंग्स आफ महात्मा गांधी, लन्दन, 1951

तिवारी, आर डी. : गांधी-मीमांसा, इलाहाबाद, 1941

तेंदुलकर, डी जी : महात्मा, 8 खंड, बम्बई, 1951-54

तेंदुलकर तथा अन्य (सम्पा) : गांधी : हिज लाईफ एण्ड वर्क, बम्बई, 1944

दयाल, भवानी : दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास, इन्दौर, 1916

दत्ता, डी. एम . दी फिलोसोफी आफ महात्मा गांधी, विस्कोंसिन, 1953

दिवाकर, आर आर. सत्याग्रह इन एक्शन, कलकत्ता, 1949

,, ,, सत्याग्रह : इट्स टेक्नीक एण्ड हिस्ट्री, बम्बई, 1946

,, ,, . सत्याग्रह : दी पावर आफ ट्रुथ, शिकागो, 1948

,, ,, गांधीजीज बेसिक आईडियाज एण्ड सम माडर्न प्रोब्लम्स, बम्बई, 1963

देसाई, महादेव — दी एपिक आफ ट्रैवनकोर, अहमदाबाद 1937

" " — गांधीजी इन इंडियन विलेजेज, मद्रास, 1927

" " — दी स्टोरी आफ बारदोली, अहमदाबाद 1929

" " — द सर्वेंट्स आफ गॉड, दिल्ली, 1935

" " — विद गांधीजी इन सीलोन, मद्रास, 1928

" " — डे टु डे विद गांधी, वाराणसी 1968

देसाई, वी जी — ए गांधी एन्थोलोजी, अहमदाबाद 1952

धर्मवीर — गांधी बिब्लोग्राफी, चंडीगढ़ 1967

धवन, गोपीनाथ — दी पोलीटिकल फिलोसोफी आफ महात्मा गांधी, अहमदाबाद, 1957

नटेसन, जी ए (प्र) — महात्मा गांधी दी मैन एण्ड हिज मिशन, मद्रास 1932

नाग, कालिदास — टालस्टाय एण्ड गांधी, पटना,

नेस, आर्ने — गांधी एण्ड दी न्यूक्लियर एज, लन्दन 1965

नेहरू, जवाहरलाल — महात्मा गांधी, न्यूयार्क, 1948

" रामेश्वरी — गांधी इज माई स्टार, पटना,

नंदा, गुलजारीलाल — सम आस्पेक्ट्स आफ खादी, इलाहाबाद, 1935

नंदा, बी आर — महात्मा गांधी : ए बायोग्रेफी, लन्दन, 1958

पटेल, एम एस — एजुकेशनल फिलोसोफी आफ महात्मा गांधी, अहमदाबाद, 1953

पावर, — गांधी आन वर्ल्ड अफेयर्स, लन्दन 1961

पेंटर, शिव, साइमोन — गांधी अगेंस्ट मैकियावेलिज्म : नॉन-वायोलेंस इन पोलीटिक्स, बम्बई, 1966

पोलक, एम. जी — महात्मा गांधी : दी मैन, लन्दन, 1931

पोलक एच एस एल — महात्मा गांधी, मद्रास, 1930

पोलक, ब्रेल्सफोर्ड तथा लारेंस — महात्मा गांधी, लन्दन, 1949

प्यारेलाल — गांधियन टेकनीक्स इन दी मोडर्न वर्ल्ड, अहमदाबाद, 1953

" — दी लास्ट फेज

" — ए पिलग्रिमेज फोर पीस, अहमदाबाद, 1950

" — दी एपिक फास्ट, अहमदाबाद 1932

प्रसाद, महादेव — सोशल फिलोसोफी आफ महात्मा गांधी, गोरखपुर, 1958

प्रसाद राजेन्द्र — सत्याग्रह इन चम्पारण, अहमदाबाद, 1946

" " — एट दी फीट आफ महात्मा गांधी, बम्बई, 1961

फुलोप मिलर, रेने — लेनिन एण्ड गांधी, लन्दन 1927

फिशर लुई — लाइफ आफ महात्मा गांधी, लन्दन, 1951

फील्ड जी सी — पेसिफिज्म एण्ड कांशियस ओब्जेक्शन, कैम्ब्रिज, 1945

बर्नेज, आर — नेकेड फकीर, लन्दन 1932

बार, मेरी एफ़ — कनवर्सेशन्स एण्ड कोरेस्पोंडेन्स विद महात्मा गांधी, बम्बई, 1949

ब्राउन, डी मेकेंजी — दी व्हाइट अम्ब्रेला : इंडियन पोलीटिकल थाट फ्रोम मनु टू गांधी, बम्बई, 1953

बिड़ला, घनश्यामदास — बापू, दिल्ली, 1944

" " — डायरी के कुछ पन्ने, दिल्ली, 1944

" " — इन दी शेडो आफ दी महात्मा बम्बई, 1968

बोन्ड्यूरेन्ट जोन वी — कोंक्वेस्ट आफ वोयलेंस : दी गांधियन फिलोसोफी आफ कोनफ्लिक्ट, बम्बई, 1958

बोस, एन के — गांधी दी मेन एण्ड हिज मिशन, बम्बई, 1966

" " — माई डेज विद गांधी, कलकत्ता, 1953

बोल्टन, जी — दी ट्रेजेडी आफ गांधी, लन्दन, 1934

बंद्योपाध्याय, जे — माओ त्से-तुंग एण्ड गांधी, दिल्ली 1973

भावे, विनोबा — राजघाट की सन्निधि में, नई दिल्ली, 1955

मजूमदार, बी बी — दी गांधियन कोन्सेप्ट आफ दी स्टेट, पटना, 1957

मशरूवाला, के जी — पोलीटिकल नोन-वायोलेंस, अहमदाबाद, 1941

" " — गांधी एण्ड मार्क्स, अहमदाबाद, 1956

मणि, आर एस — एजुकेशनल आईडियाज एण्ड आईडियल्स आफ गांधी एण्ड टैगोर, नई दिल्ली, 1961

माथुर, वी एस — गांधी एज एन ऐजुकेशनिस्ट, दिल्ली, 1971

मिचीसन, नाओमी — दी मोरल बेसिस आफ पोलीटिक्स, लन्दन, 1938

मुखर्जी, हीरेन — गांधी : ए स्टडी, कलकत्ता, 1960 (द्वितीय सं)

मून, पेन्डेरेल — गांधी एण्ड मोडर्न इंडिया, लन्दन, 1968

मोरेर, हैरीमेन — ग्रेट सोल, बम्बई, 1969

यशपाल — गांधीवाद की शव परीक्षा, लखनऊ, 1952

याज्ञिक, आई के — गांधी एज आई नो हिम, दिल्ली, 1942

रमणमूर्ती, वी वी — नोन-वायोलेंस इन पोलीटिक्स, दिल्ली, 1958

" " (सम्पा.) — गांधी : एसेंशल राइटिंग्स, नई दिल्ली, 1970

रंगास्वामी, एम. — दी पोलीटिकल फिलोसोफी आफ मि. गांधी, मद्रास, 1922

राजगोपालाचारी, सी. — गांधीजीज टीचिंग्स एण्ड फिलोसोफी, बम्बई, 1967

राजगोपालाचारी तथा कुमारप्पा (सम्पा) — दी मेशन्स वोयस, अहमदाबाद, 1957

राधाकृष्णन, एस (सम्पा) — महात्मा गांधी 100 ईयर्स, नई दिल्ली, 1968

रामचन्द्रन, जी तथा महादेवन, टी के (सम्पा) — गांधी—हिज रेलेवेन्स फोर अवर टाइम्स, नई दिल्ली, 1967

रामकृष्ण राव, के — गांधी एण्ड प्रेग्मेटिज्म—एन इंटरकल्चरल स्टडी, कलकत्ता, 1968

रोलां, रोमां	महात्मा गांधी, नई दिल्ली, 1968
" "	महात्मा गांधी, दी मैन हू बिकेम वन विथ दी यनीवर्सल बीइंग, 1924
राय, शितीश (सम्पा)	गांधी मेमोरियल पीस नम्बर, विश्वभारती, शांतिनिकेतन, 1949
रेनोल्ड्स, रेजिनाल्ड	ए क्वेस्ट फोर गांधी, न्यूयार्क, 1952
रे, बिनोद गोपाल	गांधियन एथिक्स, अहमदाबाद, 1950
रोलेंड, आर एम	गांधी, लंदन, 1931
लाला लाजपतराय द्वारा गांधीजी पर लिखित	"एन एप्रीसियेशन", महात्मा गांधी : दी वर्ल्ड्स ग्रेटेस्ट मेन, बम्बई, 1922
लेस्टर, म्यूरियल	गांधी : वर्ल्ड सिटिजन, इलाहाबाद, 1945
वर्मा, वी पी	पोलीटिकल फिलोसोफी आफ महात्मा गांधी एण्ड सर्वोदय, आगरा, 1959
वाडिया, पी ए	महात्मा गांधी, 1940
व्यास, एच एम (सम्पादनकर्त्ता)	गांधीजी एक्सपेक्ट्स, अहमदाबाद, 1965
वैलोक, विल्फ्रेड	नई तालीम एण्ड दी सोशल आर्डर, वर्धा, 1949
शार्प, जेने	गांधी वील्ड्स दी वेपन आफ मोरल पावर, अहमदाबाद, 1960
शार्दूलसिंह, कवीश्वर	गांधीज्म वर्सस कोमनसेंस, लाहौर, 1946
शीयान, विन्सेंट	लीड काइन्डली लाइट, लंदन, 1950
" "	महात्मा गांधी—ए ग्रेट लाइफ इन ब्रीफ, दिल्ली, 1968
शुक्ला, चन्द्रशेखर	गांधीज व्यू आफ लाइफ, बम्बई, 1960
शर्मा, बी एस	गांधी एज ए पोलीटिकल थिंकर, इलाहाबाद, 1956
शर्मा, जे एस	महात्मा गांधी : ए डेस्क्रिप्टिव बिब्लोग्रेफी, दिल्ली, 1968
सीतारामैया, पट्टाभि	गांधी और गांधीवाद, 2 भाग, वेदराज वेदालंकार द्वारा अनुदित, आगरा, 1957, 1959
सुमन, रामनाथ	गांधीवाद की रूपरेखा, दिल्ली, 1939
" "	महात्मा गांधी, दिल्ली 1939
स्प्रेट, पी	गांधीज्म : एन एनेलिसिस, मद्रास, 1939
सथानम, के	सत्याग्रह एण्ड दी स्टेट, बम्बई, 1960
हीथ, कार्ल	गांधी, लंदन, 1944
हीमलर, यूजीन (सम्पा)	रेजिस्टेन्स अगेंस्ट टाइरेनी—ए सिम्पोजियम, न्यूयार्क, 1960
होम्स, जे एच	माई गांधी, लंदन, 1954
होयलेंड, जे एस	दी क्रोस मूव्ज ईस्ट, लंदन, 1931
होर्सबर्ग, एच जे एन	महात्मा गांधी, लंदन, 1972

अध्याय 21—अरविन्द घोष

घोष, अरविन्द : दी आईडियल आफ ह्यूमन यूनीटी, श्री अरविंद लायब्रेरी, न्यूयार्क
" " : दी ह्यूमन साइकल, न्यूयार्क, 1950
" " : दी आईडियल आफ कर्मयोगिन, आर्य पब्लि हाउस, कलकत्ता, 1921
" " दी ब्रेन आफ इंडिया, कलकत्ता, 1923
" " ए सिस्टम आफ नेशनल एजुकेशन, कलकत्ता, 1924
" " दी रेनासां इन इंडिया, कलकत्ता,
" " स्पीचेज, कलकत्ता, 1922
" " बंकिम-तिलक-दयानंद, कलकत्ता, 1940
" " दी फाउंडेशन्स आफ इंडियन कल्चर, न्यूयार्क, 1950
" " दी लाइफ डिवाइन, न्यूयार्क, 1951
" " आन हिमसेल्फ एण्ड आन दी मदर, पांडिचेरी, 1953
" " दी स्पिरिट एण्ड फोर्म आफ इंडियन पोलीटी, कलकत्ता, 1947
" " दी डोक्ट्रीन आफ पेसिव रेजिस्टेन्स, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी, 1952
" " : वार एण्ड सेल्फ डिटरमिनेशन, पांडिचेरी, 1957
" " एसेज आन दी गीता, कलकत्ता, 1945
" " उत्तरपारा स्पीचेज, कलकत्ता, 1943
" " दी सुपरमेन, कलकत्ता, 1944
" " दी प्रजेंट सिच्युएशन, मद्रास, 1909
" " एन ओपन लेटर टू हिज कन्ट्रिमेन, कलकत्ता, 1909
" " हिज लेटर्स टु हिज वाइफ, पूना, 1909
" " आन दी वेदा, पांडिचेरी, 1956
" " बंकिम चन्द्र चटर्जी, पांडिचेरी, 1950
" " : "न्यू लैम्प्स फोर ओल्ड" इन्दु प्रकाश, अगस्त, 7, 1893, अगस्त 21, 1893, अगस्त 28, 1893, सितम्बर 18, 1833, अक्टूबर 30, 1893, दिसम्बर 4, 1893, मार्च 6, 1894
आयंगर, के आर श्रीनिवास : श्री अरविंदो, आर्य पब्लि हाउस, कलकत्ता, 1945
केशव मूर्ति : श्री अरविंदो : दी होप आफ मेन, दीप्ति पब्लि, पांडिचेरी, 1969
गुप्त, नोलिनीकान्त दी योग आफ श्री अरविंदो, 9 भाग, पांडिचेरी, 1958
घोष, हेमेन्द्र प्रसाद : अरविंदो : दी प्रोफेट आफ पेट्रिओटिज्म, एम के. मित्तर, कलकत्ता, 1949

ठाकुर, रवीन्द्रनाथ — सेल्युटेशन टु श्री अरविन्दो, पांडिचेरी, 1959

डालिनी, मोर्वेना — फाउंडिंग दी लाइफ डिवाइन, राइडर एण्ड क., लंदन, 1955

दास, मनोज — श्री अरविन्दो इन दी फर्स्ट डेकेड आफ दी सेन्चुरी, पांडिचेरी, 1972

दिवाकर, आर आर — महायोगी, भारतीय विद्याभवन बम्बई, 1954

निरोद बरन — टाक्स विद श्री अरविन्दो, श्री अरविन्द पाठमंदिर, कलकत्ता, 1960

पियरसन, नाथानील — श्री अरविन्दो एण्ड दी सोल क्वेस्ट आफ मैन, एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1952

पुराणी, ए बी — लाइफ आफ श्री अरविन्दो पांडिचेरी, 1958

" " — श्री अरविन्दो इन इंगलैंड, पांडिचेरी 1956

पुराणी, ए बी (सम्पा) — ईवनिंग टाक्स विद श्री अरविन्दो, पांडिचेरी, 1959

भट्टाचार्य, हरिदास (सम्पा) — दी कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, 4 खण्ड, कलकत्ता, 1956

भारती, सुद्धानंद — श्री अरविन्दो . दी डिवाइन मास्टर, पांडिचेरी, 1948

मित्र, शिशिरकुमार — श्री अरविन्दो एण्ड इंडियन फ्रीडम, श्री अरविन्द लायब्रेरी, मद्रास, 1948

" " — श्री अरविन्दो एण्ड दी न्यू वर्ल्ड, पांडिचेरी, 1957

" " — दी लिबरेटर, जैको, बम्बई, 1954

" " — दी डान एटर्नल, पांडिचेरी, 1954

मुखर्जी, हरिदास तथा उमा — बन्दे मातरम् एण्ड इंडियन नेशनलिज्म, (1906-1908) फर्मा के एल मुखोपाध्याय कलकत्ता, 1957

" " — श्री अरविन्दोज़ पोलिटिकल थाट (1893-1908), कलकत्ता, 1958

" " — श्री अरविन्दो एण्ड दी न्यू थाट इन इंडियन पोलिटिक्स, कलकत्ता, 1954

मैत्रा, एस के — दी मीटिंग आफ दी ईस्ट एण्ड दी वेस्ट इन श्रीअरविन्दोज फिलोसोफी, पांडिचेरी 1956

पोंटकाएटी, के — श्री अरविन्दो आन सोशल साइंसेज एण्ड ह्यूमैनिटीज, ओरियंट लौंगमेन्स, बम्बई, 1962

राव तथा राघवन — श्री अरविन्दो एन इन्ट्रोडक्शन, मैसूर, 1961

राय, दिलीपकुमार — अमंग दी ग्रेट, जैको, बम्बई, 1950

वर्मा वी पी — दी पोलिटिकल फिलोसोफी आफ श्री अरविन्दो, एशिया, बम्बई, 1966

विजयतुंग, ज — ग्लिम्पसेज़ आफ श्री अरविन्दो, मद्रास

सिंह, करण : प्रोफेट आफ इंडियन नेशनलिज्म, जोर्ज एलन एण्ड अनविन, लदन, 1963, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1970

अध्याय 22—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कृपलाणी, कृष्ण : रवीन्द्रनाथ टैगोर, आक्सफर्ड, लदन, 1962
घानोसकर, जी डी. दी ल्यूट एण्ड दी प्लो : ए लाइफ आफ रवीन्द्रनाथ टैगोर, बुक्सेंटर, बम्बई, 1963
गोपाल, के : सोशल थाट आफ रवीन्द्रनाथ टैगोर, अणु प्रकाशन, मेरठ, 1974
ठाकुर, रवीन्द्रनाथ : नेशनलिज्म, मैकमिलन, न्यूयार्क, 1917
" " : दी रिलीजन आफ मेन, मैकमिलन, लंदन, 1920
" " : लैटर्स फ्रोम रशा, विश्वभारती, कलकत्ता, 1960
" " : क्राइसिस इन सिविलीजेशन, विश्वभारती, कलकत्ता, 1941
" " : क्रिएटिव यूनीटी, मैकमिलन, न्यूयार्क, 1922
" " टुवर्ड्स युनिवर्सल मेन, एशिया, बम्बई, 1961
थामसन, एडवर्ड : रवीन्द्रनाथ टैगोर, एसोसिएशन प्रेस, कलकत्ता, 1928
दास, तारकनाथ रवीन्द्रनाथ टैगोर : हिज रिलीजियस, सोशल एण्ड पोलिटिकल आईडियल, सरस्वती लायब्रेरी, कलकत्ता, 1932
मुखर्जी, धुर्जटी प्रसाद . टैगोर-ए स्टडी, पद्मा पब्लि., बम्बई, 1944
रीस, अर्नेस्ट : रवीन्द्रनाथ टैगोर, मैकमिलन, लदन, 1915
रे, विनोय गोपाल : दी फिलोसोफी आफ रवीन्द्रनाथ टैगोर, हिन्द कितार्क्स, बम्बई, 1949
लेज्नी, वी. : रवीन्द्रनाथ टैगोर, एलन एण्ड अनविन, लदन, 1939
वर्मा, राजेन्द्र : रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रोफेट अगेन्स्ट टोटेलिटेरियनिज्म, एशिया, बम्बई, 1964
सेन, सचिन : पोलीटिकल फिलोसोफी आफ रवीन्द्रनाथ, एशर, कलकत्ता, 1929
" " : दी पोलीटिकल थाट आफ टैगोर, जनरल प्रिन्टर्स, कलकत्ता, 1947

अध्याय 23—जवाहरलाल नेहरू

———— : ए. आई. सी. सी इकोनोमिक रिव्यू, नई दिल्ली, 15 अगस्त, 1958
एडवर्ड्स, माइकेल : नेहरू : ए पोलीटिकल बायोग्रेफि, विकास, दिल्ली, 1971
करंजिया, आर के. : दी फिलोसोफी आफ मि. नेहरू, एलन एण्ड अनविन, लदन, 1960
कड़ाका, डी. एफ : नेहरू : दी लोटस ईटर फ्रोम कश्मीर, लंदन, 1953
कजिन्स, नार्मन : टाक्स विथ नेहरू, गोलेन्ज, लदन, 1951

कृष्णमूर्ति, वाई. जी. : जवाहरलाल नेहरू : दी मेन एण्ड हिज आईडियाज, पापुलर बुक डिपो, बम्बई, 1944

कुलकर्णी, वी. बी : दी इण्डियन ट्रिमवरेट, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1969

क्रोकर, डब्ल्यू आर : नेहरूज, एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1966

गोपाल, सर्वपल्ली : जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्रेफि, खण्ड 1, 1889-1947, आक्सफर्ड, 1976

टंडन, पी डी (सम्पा) नेहरू युवर नेबर, सिग्नेट प्रेस, कलकत्ता (तिथि रहित)

टायसन, ज्योफ्रे : नेहरू : दी ईयर्स आफ पावर, पाल माल प्रेस, लंदन, 1966

तेंदुलकर, डी जी . महात्मा, खण्ड 1, प्रकाशन, मवेरी एण्ड तेंदुलकर, बम्बई, 1951

दास, एम एन दी पोलीटिकल फिलोसोफी आफ जवाहरलाल नेहरू, एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1962

नरसिंहचार, के टी प्रोफाइल आफ जवाहरलाल नेहरू, दी बुक सेंटर, बम्बई, 1965

नंदा, बी आर. : दी नेहरूज : मोतीलाल एण्ड जवाहरलाल, एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1962

———— नेहरू अभिनन्दन ग्रंथ, कमीटी फार सेलेब्रेशन आफ जवाहरलाल नेहरूज सिक्सटियथ बर्थ डे, कलकत्ता, 1949

नेहरू, जवाहरलाल एन आटोबायोग्रेफि, जोन लेन, लंदन, 1936

" " : डिस्कवरी आफ इण्डिया, दी सिग्नेट प्रेस, कोलम्बिया, 1945

" " : स्पीचेज, खण्ड 3, पब्लि डिवीजन, नई दिल्ली, 1958

" " : इण्डिपेंडेन्स एण्ड आफ्टर, पब्लि डिवीजन, दिल्ली, 1949

" " : इण्डिया एण्ड दी वर्ल्ड, एलन एण्ड अनविन, लंदन, 1936

" " : इण्डियाज प्रोब्लम, अनविन बुक्स, लंदन, 1965

" " ए बंच आफ ओल्ड लेटर्स, एशिया, बम्बई, 1958

" " टूवर्ड्स फ्रीडम, दी जोन डे कम्पनी, न्यूयार्क, 1941

" " विजिट टू अमेरिका, दी जोन डे कम्पनी, न्यूयार्क, 1950

" " ग्लिम्पसेज आफ वर्ल्ड हिस्ट्री, लिण्डसे ड्रमण्ड, लंदन, 1949

" " : रीसेंट एसेज एण्ड राईटिंग्स आन दी फ्यूचर आफ इण्डिया आफ कम्यूनलिज्म एण्ड अदर सब्जेक्ट्स, किताबिस्तान, इलाहाबाद, 1934

" " : इण्डियाज फोरेन पालिसी, पब्लि डिवीजन, नई दिल्ली, 1961

———— नेहरू : एक्जर्पट्स फ्रोम हिज राईटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पब्लि. डिवीजन, नई दिल्ली, 1964

नोर्मन, डोरोथी : नेहरू : दी फर्स्ट सिक्सटी ईयर्स, खण्ड 2, एशिया, बम्बई, 1965

प्राइट, जे एस (सम्पा) नेहरू : बिफोर एण्ड आफ्टर इंडिपेन्डेन्स, खण्ड 1, इंडिया प्रिंटिंग वर्क्स, नई दिल्ली

ब्रेचर, माईकेल : नेहरू : ए पोलीटिकल बायोग्रेफि, ग्रावसफर्ड, लदन, 1959

मूर्ति, बी. एस. एम. नेहरूज फोरेन पालिसी, दी बीकन इनफोर्मेशन एण्ड पब्लि, नई दिल्ली, 1953

मेन्डे, टाइबर . कनवर्सेशंस विथ नेहरू, लदन, 1956

मोरे फ्रैंक . जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्रेफि, मैकमिलन, न्यूयार्क, 1956

" " जवाहरलाल नेहरू, टाईम्स ग्राफ इंडिया प्रेस, बम्बई, 1956

" " नेहरू : सनलाइट एण्ड शेडो, जैको, बम्बई, 1964

राय, ग्रमीय तथा राव, बी जी सिक्स थाउजेंड डेज : जवाहरलाल नेहरू दी प्राइम मिनिस्टर, स्टर्लिंग, नई दिल्ली, 1974

राय, एम एन *जवाहरलाल नेहरू, रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, दिल्ली, 1945*

राजन, एम एस (सम्पा) इंडियाज फोरेन रिलेशन्स ड्यूरिंग दी नेहरू ईरा, एशिया, बम्बई, 1976

रामगोपाल ट्रायल्स आफ जवाहरलाल नेहरू, बुक सेन्टर, बम्बई, 1962

वैंकटेश्वर, ग्रार जे दी इफेक्ट आफ जवाहरलाल नेहरू आन इंडियन इकोनोमी, ग्राक्सफर्ड बुक कम्पनी, कलकत्ता, 1962

शीग्रान, विनसेन्ट : नेहरू : दी ईयर्स आफ पावर, विक्टर गोलैंज, लदन, 1960

सिन्हा, सच्चिदानद ए शोर्ट लाइफ स्केच आफ जवाहरलाल नेहरू, लॉ प्रेस पटना, 1936

स्मिथ, डोनल्ड यूजीन . नेहरू एण्ड डिमोक्रेसि, ग्रोरियट लोंगमेन्स, कलकत्ता, 1958

स्पेन्सर, कोर्नेला . नेहरू आफ इंडिया, पी. टी ग्राई बुक डिपो, बैंगलोर, 1951

———— सेलेक्टेड वर्क्स आफ जवाहरलाल नेहरू, खण्ड 9, ग्रोरियट लोंगमेन, नई दिल्ली, 1976

रेन्ज, बिनार्ड : जवाहरलाल नेहरूज वर्ल्ड व्यू, युनिवर्सिटी ग्राफ जोर्जिया प्रेस, 1967

ग्रध्याय 24—मानवेन्द्रनाथ राय

ग्रवस्थी, ग्रार. के . साइंटिफिक ह्यूमैनिज्म : सोशिओ-पोलीटिकल आइडियाज आफ एम. एन. राय (ए क्रिटीक), जयपुर, तिथि रहित

ग्रोवरस्ट्रीट तथा विंडमिलर कम्यूनिज्म इन इंडिया, दी पैरेनियल प्रेस, बम्बई, 1960

ग्रोवर, डी. सी . एम. एन. राय : रिवोल्यूशन एण्ड रीजन इन इंडियन पोलीटिक्स, कलकत्ता, 1973

जेना, कृष्णचन्द्र : कोन्ट्रीब्यूशन आफ एम एन राय टु पोलीटिकल फिलोसोफी, एस चंद, दिल्ली
धर, निरंजन : दी पोलीटिकल थाट आफ एम. एन. राय (1936-1954), यूरेका, कलकत्ता, 1966
भट्टाचार्जी, जी पी इवोल्यूशन आफ पोलीटिकल फिलोसोफी आफ एम एन. राय, मिनर्वा, कलकत्ता, 1971
रॉय, मानवेन्द्र नाथ : रीजन, रोमेन्टीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, 2 भाग, रेनासां पब्लि कलकत्ता, 1952 तथा 1955
" " : न्यू ह्यूमेनिज्म : ए मेनिफेस्टो, कलकत्ता, 1947
" " रिवोल्यूशन एण्ड काउंटर रिवोल्यूशन इन चाइना, कलकत्ता, 1946
" " पावर्टी और प्लेंटी, कलकत्ता, 1943
" " . न्यू ओरियन्टेशन, कलकत्ता, 1946
" " मेटीरियलिज्म : एन आउटलाइन आफ दी हिस्ट्री आफ साइंटिफिक थाट, देहरादून, 1940
" " · माई एक्सपीरियेन्स इन चाइना, कलकत्ता, 1945
" " दी कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल, बम्बई, 1943
" " प्लानिंग इन इंडिया, कलकत्ता, 1944
" " : इंडियाज प्रोब्लम एण्ड इट्स सोल्यूशन, 1922
" " फ्रोम सेवेजरी टु सिविलीजेशन, कलकत्ता, 1940
" " साइंटिफिक पोलीटिक्स, कलकत्ता, 1942
" " रेडिकल ह्यूमेनिज्म, नई दिल्ली, 1952
" " नेशनल गवर्नमेन्ट और पीपुल्स गवर्नमेन्ट, दिल्ली, 1943
" " वार एण्ड रिवोल्यूशन, दिल्ली, 1942
" " . फ्रेगमेन्ट्स आफ ए प्रिजनर्स डायरी, 2 भाग, देहरादून, 1941
" " , साइन्स एण्ड फिलोसोफी, कलकत्ता, 1947
" " . पोलीटिक्स, पावर एण्ड पार्टीज, कलकत्ता, 1960
" " व्हाट डू वी वान्ट, जे बी टार्गेट, जिनेवा, 1922
" " · दी फ्यूचर आफ इंडियन पोलीटिक्स, आर बिशप, लंदन, 1926
" " . हेरेसीज आफ दी 20थ सेन्चूरी, मुरादाबाद, 1940
" " नेशनलिज्म, बम्बई, 1942
" " . दी आल्टरनेटिव, वोरा एण्ड क , बम्बई, 1940
" " इंडियन लेबर एण्ड पोस्ट-वार रिकंस्ट्रक्शन, दिल्ली, 1943
" " . फ्रीडम और फासिज्म, 1942,
" " . प्रोब्लम आफ फ्रीडम, कलकत्ता, 1945

राय, मानवेन्द्र नाथ : दी आफ्टरमैथ आफ नोन-कोओपरेशन, लंदन, 1926
——— : एम. एन. राय मेमोयर्स, अलाइड, बम्बई, 1964
राय, एम. एन. तथा मुखर्जी, अबनी : इंडिया इन ट्रांजीशन, जे. बी. टार्गेट, जिनेवा, 1922
राय, एम. एन. तथा वार्णिक, वी. बी. : अवर प्रोब्लम्स, कलकत्ता, 1938
राय, एम. एन. तथा राय, एवेलिन : वन ईयर आफ नोन-कोओपरेशन : फ्रोम अहमदाबाद टु गया, सी. पी. आई., कलकत्ता, 1923
लोरी, डेविड एम : बंगाल टेररिज्म एण्ड दी मार्क्सिस्ट लेफ्ट : 1905-1942, कलकत्ता, 1975
शर्मा, बी. एल : दी पोलीटिकल फिलोसोफी आफ एन. एन. राय, नेशनल पब्लि. हाउस, दिल्ली, 1965
हैयवरोल्ड, जान पेट्रिक : कम्युनिज्म एण्ड नेशनलिज्म इन इंडिया : एम. एन. राय एण्ड कोमिनटर्न पालिसी : 1920-1939, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी, 1971

अध्याय 25—जयप्रकाश नारायण

नारायण, जयप्रकाश : व्हाई सोशलिज्म ? बनारस, 1936
" " : टुवार्डस् स्ट्रगल, पद्मा पब्लि., बम्बई, 1946
" " : ए पिक्चर आफ दी सर्वोदय सोशल आर्डर, सर्वोदय प्रचुरालयम, तंजौर, 1961
" " : ए प्ली फोर दी रिकंस्ट्रक्शन आफ दी इंडियन पोलीटी, अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ, 1959
" " : फ्रोम सोशलिज्म टु सर्वोदय, अ. भा. स. से. सं., 1959
" " : क्रांति का आधुनिक प्रयोग, जनता प्रकाशन, पटना, 1954
" " : सोशलिज्म, सर्वोदय एण्ड डिमोक्रेसि, बिमलाप्रसाद द्वारा सम्पादित, एशिया, बम्बई, 1964
" " : स्वराज फोर दी पीपुल, अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ, 1961
" " : दी बेसिक प्रोब्लम्स आफ फ्री इंडिया, एशिया, बम्बई, 1964
" " : दी प्रिजन डायरी, पोपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1977
नारगोलकर, वसंत : जे. पी. विंडिकेटेड, एस. चन्द, नई दिल्ली, 1977
वारिद, रामाकांत : पोलीटिक्स आफ दी जे. पी. मूवमेंट, रेडिएन्ट, नई दिल्ली, 1977
मसानी, मीनू : इज जे. पी. दी आन्सर ? मैकमिलन, दिल्ली, 1975
लाल, लक्ष्मीनारायण : जयप्रकाश, मैकमिलन, दिल्ली, 1974

शाह, घनश्याम : प्रोटेस्ट मूवमेंट्स इन टू इण्डियन स्टेट्स : ए स्टडी आफ गुजरात एण्ड बिहार मूवमेंट्स, अजंता, नई दिल्ली, 1977
स्कार्फ, एलन तथा वेंडी जे. पी. : हिज बायोग्राफी, ओरियंट लोंगमेन्स, नई दिल्ली, 1975

अध्याय 26—विनोबा भावे

कुमारप्पा, भारतन : कैपिटलिज्म, सोशलिज्म एण्ड विलेजिज्म, शक्ति कार्यालय, मद्रास, 1946
" जे सी : स्वराज फोर दी मासेस, अ भा स से स, वर्धा, 1957
केला, भगवानदास : भूदान, श्रमदान, जीवनदान, भारतीय ग्रन्थमाला, इलाहाबाद, 1955
गोरा : क्हाँ ग्राम राज ? काशी, 1958
चौधरी, एम : भूमि क्रान्ति की महानदी, अ भा स. से स, 1956
जाजू, श्रीकृष्णदास : सम्पत्तिदान यज्ञ, वर्धा, 1957
टंडन, पी डी : विनोबा भावे : मैन एण्ड मिशन, वोरा एण्ड क बम्बई,
टिवेकर, द्दु : क्रान्ति का समग्र दर्शन, वाराणसी, 1972
देल वास्टो, लाजा : गांधी टू विनोबा, लदन, 1956
ढढ्ढा, सिद्धराज : ग्रामदान, काशी, 1958
धर्माधिकारी, दादा : सर्वोदय दर्शन, 1958
नारायण, जयप्रकाश : क्रान्ति का आधुनिक प्रयोग, पटना, 1954
नारगोलकर, वसत : दी क्रीड आफ संट विनोबा, बम्बई, 1963
पटवर्धन, अप्पा साहेब : टुवार्ड्स ए न्यू सोसायटी, 1959
भावे, विनोबा : भूदान यज्ञ, क्या और क्यों, काशी, 1956
" " : भूदान यज्ञ, अहमदाबाद, 1957
" " : चुनाव, 1957
" " : फ्रोम भूदान टू ग्रामदान, तजौर, 1957
" " : ग्रामराज, वाराणसी, 1957
" " : हिंसा का मुकाबला, काशी, 1956
" " : लोकनीति, काशी, 1958
" " : दी प्रिंसिपल एण्ड फिलोसोफी आफ भूदान यज्ञ, तजौर, 1955
" " : रिवोल्यूशनरी सर्वोदय, बम्बई, 1964
" " : सर्वोदय दर्शन, नई दिल्ली, 1960
" " : सर्वोदय एण्ड कम्यूनिज्म, तजौर, 1957
" " : सर्वोदय एण्ड दी विजनेस कम्यूनिटी, तजौर, 1958
" " : सर्वोदय, तजौर 1957
" " : शान्ति सेना, तजौर, 195°
" " : स्वराज शास्त्र बम्बई, 1946

भावे, विनोबा : भूदान गंगा, 7 खंड
" " : त्रिवेणी, निर्मला देशपांडे द्वारा सम्पादित, काशी, 1956
मजूमदार, धीरेन्द्र : शासन मुक्त समाज की ओर, 1957
मश्रुवाला, के जी. प्रैक्टिकल नान-वोयलेन्स, महमदाबाद, 1941
मसानी, आर पी · दी फाइव गिफ्ट्स, लंदन, 1956
मिश्रा, एल. आर वी फोर विनोबा, बम्बई, 1956
मूंदड़ा, दामोदरदास भूदान गंगोत्रि, काशी, 1957
रामभाई, एस · विनोबा एण्ड हिज मिशन, 1958
———— लाइफ आफ विनोबा, तंजौर, 1958
व्यास, एच एम (सम्पा) विलेज स्वराज, महमदाबाद, 1963
वियोगी हरि आदि विनोबा : व्यक्तित्व और विचार, नई दिल्ली, 1971
वेलोक, डब्ल्यू इंडियाज सोशल रिवोल्यूशन लेड बाई महात्मा गांधी एण्ड नाऊ विनोबा, प्रेस्टन, इंगलैंड, ति र
" " : ऑफ दी बीटन ट्रैक, एडवेन्चर्स इन दी आर्ट आफ लिविंग, तंजौर, 1962
शिबली, मल्फर्ड दी क्वाइट बैटल राइटिंग्स आन दी थियरि एण्ड प्रैक्टिस आफ नान-वायोलेंट रेजिस्टेन्स, बम्बई, 1965
हॉफमेन, डी पी इंडियाज सोशल मिरेकल, लंदन, तिथि रहित

अध्याय 27—राष्ट्रवाद एवं स्वराज

अठाले · नियो-हिन्दूइज्म, बम्बई, 1932
अप्पादोराय, ए. : रिवीजन आफ डिमोक्रेसि, आक्सफर्ड, बम्बई, 1940
ऐयर, ए सुब्रह्मण्य · ए लेक्चर आन स्टेट इंटरफियरेन्सेज इन सोशल मैटर्स इन इंडिया, श्रीनिवास वर्दाचारी एण्ड क , मद्रास, 1891
ओमाले, एल एस. एम : मोडर्न इंडिया एण्ड दी वेस्ट, लंदन, 1941
अंडरवुड, ए सी . कोन्टेम्पोररि थाट आफ इंडिया, विलियम्स एण्ड नोर्गेट, लंदन, 1930
कमिंग, जोन (सम्पा) : पोलीटिकल इंडिया (1832-1932) : ए कोओपरेटिव सर्वे आफ ए सेन्चुरी, लंदन, 1932
कार्णिक, वी बी. : इंडियन कम्युनिस्ट पार्टी डोक्यूमेंट्स : 1930-56, न्यूयार्क, 1957
कूपलैंड, आर. · दी कोन्स्टीट्यूशनल प्रोब्लम आफ इंडिया, 1937
कैम्पबेल, जानसन एलन : मिशन विथ माउंटबेटन, लंदन, 1951
चिंतामणि, एम बी. रिलीजस एण्ड सोशल रिफोर्म, बम्बई, 1902
———— कांग्रेस प्रेसिडेंशियल एड्रेसेज, मद्रास, 1934
गाडगिल, डी आर. दी इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन आफ इंडिया, आक्सफर्ड, 1954
गेरेट, जी टी (सम्पा) : दी लिगेसी आफ इंडिया, लंदन, 1937

ग्लेडिंग, पर्सी	इंडिया अंडर ब्रिटिश टेरर, लंदन, 1931
गोपालकृष्णन, पी के	डिवेलपमेंट आफ इकोनोमिक आईडियाज़ इन इंडिया, बम्बई, 1959
गोर्डन, लियोनार्ड ए	बंगाल : दी नेशनलिस्ट मूवमेंट 1876-1940, दिल्ली, 1974
गोलवलकर, एम एस	वी और अवर नेशनहुड डिफाइन्ड, नागपुर, 1947
गोयल, ओ पी	स्टडीज इन मोडर्न इंडियन पोलीटिकल थाट, इलाहाबाद, 1964
" "	कोन्टेम्पोररी इंडियन पोलीटिकल थाट, इलाहाबाद, 1965
गंगाधरण, के के (सम्पा)	इंडियन नेशनल कोन्शसनेस : ग्रोथ एण्ड डिवेलपमेंट, नई दिल्ली, 1972
घोष, शंकर	दी रेनासां टु मिलिटेंट नेशनलिज्म इन इंडिया, कलकत्ता, 1969
" "	दी वेस्टर्न इम्पेक्ट आन इंडियन पोलिटिक्स, कलकत्ता, 1967
" "	पोलीटिकल आईडियाज एण्ड मूवमेंट्स इन इंडिया, बम्बई, 1975
चटर्जी, ए सी	इंडियाज स्ट्रगल फोर फ्रीडम, कलकत्ता, 1947
चर्चिल, विन्सटन	इंडिया स्पीचेज एण्ड एन इन्ट्रोडक्शन, लंदन, 1931
चिंतामणि सी यज्ञेश्वर	इंडियन सोशल रिफोर्म, 4 खंड, मद्रास, 1910
" "	इंडियन पोलीटिक्स सिन्स दी म्यूटिनी, इलाहाबाद, 1937
चंदर, जे पी (सम्पा)	गीता : दी मदर, लाहौर, 1942
डयाकोव, ए एम	ए न्यू स्टेज इन इंडियाज लिबरेशन स्ट्रगल, 1947
दत्त, रोमेशचन्द्र	स्पीचेज एण्ड पेपर्स आन इंडियन क्वेश्चन्स 1897-1900, कलकत्ता, 1902
दत्ता, टी के	व्हाट इंगलिश एजुकेशन हैज मेड ओफ अस, लाहौर, ति र
दीक्षित, प्रभा	कम्यूनलिज्म : ए स्ट्रगल फोर पावर, नई दिल्ली, 1974
देवल, जी. एस	दी रोल आफ दी गदर पार्टी इन दी नेशनल मूवमेंट, दिल्ली, 1969
देशपांडे, वी एस.	व्हाई हिन्दू राष्ट्र ? नई दिल्ली, 1949
देसाई, ए आर	सोशल बेकग्राउंड आफ इंडियन नेशनलिज्म, बम्बई, 1954
नटराजन, एस.	ए सेन्चूरी आफ सोशल रिफोर्म इन इंडिया, लंदन, 1908
नरवने, वी एस	मोडर्न इंडियन थाट, बम्बई, 1964
नायक, वी एन	इंडियन लिबरलिज्म : ए स्टडी, बम्बई, 1945
नेविनसन, एच डब्ल्यू	दी न्यू स्पिरिट इन इंडिया, लंदन, 1908
नौरोजी, दादाभाई	पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इंडिया, 1901
पणिक्कर, के एम	हिन्दू सोसाइटी एट क्रोसरोड्स, बम्बई, 1955
परांजपे, आर पी	दी क्रक्स आफ दी इण्डियन प्रोब्लम, लन्दन, 1931

पार्क तथा टिंकर	लीडरशिप एण्ड पोलीटिकल इन्स्टीट्यूशन्स इन इण्डिया, प्रिंसटन, 1959
पाल विपिनचन्द्र	दी स्पिरिट आफ इण्डियन नेशनलिज्म, लंदन, 1910
————	पीपुल्स प्लान फोर इकोनोमिक डिवेलपमेन्ट आफ इण्डिया, दिल्ली, 1944
पार्वते, टी वी	मेकर्स आफ मोडर्न इण्डिया, जालंधर, 1964
पांडे, धनपति	दी आर्य समाज एण्ड इण्डियन नेशनलिज्म, नई दिल्ली, 1972
पुरोहित, बी आर	हिन्दू रिवाईवलिज्म एण्ड इण्डियन नेशनलिज्म, सागर, 1965
फर्कुहर, जे एन	माडर्न रिलीजस मूवमेंट्स इन इण्डिया, न्यूयार्क, 1911
फिशर तथा बोंडुरेंट	इण्डियन एप्रोचेज टु ए सोशलिस्ट सोसाइटी, बर्कले, 1956
बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ	ए नेशन इन दी मेकिंग, मद्रास, 1925
बालाबुशेविच तथा ड्याकोव	ए कोन्टेम्पोररी हिस्ट्री आफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1964
बेसेंट, एनी	हाउ इण्डिया रोट फोर फ्रीडम, मद्रास, 1915
बेवान, एडविन	इण्डियन नेशनलिज्म, लन्दन, 1913
ब्रेल्सफोर्ड, एच एन	सब्जेक्ट इण्डिया, बम्बई 1946
बोस, सुभाषचन्द्र	दी इण्डियन स्ट्रगल (1920-1934), लन्दन, 1935
" "	स्वदेशी एण्ड बायकाट, कलकत्ता, 1931
मडफोर्ड, पीटर	बर्ड्स आफ ए डिफरेन्ट प्लमेज : ए स्टडी आफ ब्रिटिश-इण्डियन रिलेशन्स फ्रोम अकबर टु कर्जन, लन्दन, 1974
मत्सीनी, जोसेफ	दी ड्यूटीज आफ मेन एण्ड अदर एसेज, लन्दन, 1929
मजमूदार, ए सी	इण्डियन नेशनल इवोल्यूशन, मद्रास, 1915
" जे के	इण्डियन स्पीचेज एण्ड डोक्यूमेंट्स आन ब्रिटिश रूल 1821-1918, कलकत्ता, 1937
मार्क्स, कार्ल	आर्टिकल्स आन इण्डिया, बम्बई, 1943
मुखर्जी, राधा कमल	फन्डामेन्टल यूनीटी आफ इण्डिया, 1926
" हरिदास तथा उमा	दी ग्रोथ आफ नेशनलिज्म इन इण्डिया (1857-1950), कलकत्ता, 1958
" हीरेन्द्रनाथ	इण्डियाज स्ट्रगल फोर फ्रीडम, कलकत्ता, 1962
मैकाले, लार्ड	स्पीचेज विथ हिज मिनट आन इण्डियन एजुकेशन, लन्दन, 1935
मैक्समूलर	बायोग्राफिकल एसेज,
मैकनिकोल, निकोल	दी मेकिंग आफ माडर्न इण्डिया, लन्दन, 1924
मोज़ले, लियोनार्ड	दी लास्ट डेज आफ ब्रिटिशराज,
यंगहस्बैंड, सर फ्रांसिस	डान इन इण्डिया, लन्दन, 1930
रघुवंशी, वी पी. एस	इण्डियन नेशनलिस्ट मूवमेंट्स एण्ड थाट्स, आगरा, 1959

राजगोपालाचारी, सी : सत्यम् एव जयते, मद्रास, 1961

रानाडे, महादेव गोविन्द : दी राईज आफ मराठा पावर,

राधाकृष्णन, एस : दी रिलीजन वी नीड, वाराणसी, 1963

रामगोपाल : इण्डियन मुस्लिम्स (1858-1947), बम्बई, 1959

राय, एम एन. तथा अन्य : सत्याग्रह एण्ड दी पोटेंशियलिटिज आफ दी कांग्रेस, अजमेर, 1941

राय, एम एन : इण्डिया इन ट्रांजीशन, जिनेवा, 1922

रोनाल्ड शे, अर्ल आफ : दी हार्ट आफ आर्यावर्त, लन्दन, 1925

रोबिनसन, फ्रांसिस : सेपरेटिज्म अमंग इण्डियन मुस्लिम्स (1860-1923), दिल्ली, 1975

लाल बहादुर : दी मुस्लिम लीग, आगरा, 1954

लाजपतराय, लाला : यंग इण्डिया : एन इन्टरप्रिटेशन एण्ड ए हिस्ट्री आफ दी नेशनलिस्ट मूवमेंट फ्रोम विदिन, न्यूयार्क, 1917

" " : दी पोलीटिकल फ्यूचर आफ इण्डिया, न्यूयार्क, 1919

वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद : माडर्न इण्डियन पोलीटिकल थाट, आगरा, 1967

वस्ती, सैयद रजा : लोर्ड मिंटो एण्ड दी इण्डियन नेशनलिस्ट मूवमेंट, 1905-1910, लन्दन, 1964

वुडरोफ, जान. : इज इण्डिया सिविलाइज्ड ? मद्रास, 1918

शाकिर, मोइन : खिलाफत टु पार्टीशन, नई दिल्ली, 1970

श्वीटजर, अल्बर्ट : इण्डियन थाट एण्ड इट्स डिवेलपमेन्ट, लन्दन, 1936

शिरोल, वेलेन्टीन : इण्डियन अनरेस्ट, लन्दन, 1910

सरकार, सुमित : दी स्वदेशी मूवमेंट इन बंगाल, 1903-1908, नई दिल्ली, 1973

सावरकर, विनायक दामोदर : हिन्दुत्व, पूना, 1949

" " : दी इण्डियन वार आफ इण्डिपेन्डेन्स : 1857, बम्बई, 1947

सीतारमैया तथा राव : इण्डियन नेशनल एजुकेशन, मसुलीपट्टम, 1910

स्मिथ, डी. एन. : नेशनलिज्म एण्ड रिफोर्म इन इण्डिया, लदन, 1938

सील, अनिल : दी इमरजेंस आफ इण्डियन नेशनलिज्म, लदन, 1968

सेन, सुरेन्द्रनाथ : एट्टीन फिफ्टी सेवन, नई दिल्ली, 1957

हाइडमेन, एच. एम. : दी एवेकनिंग आफ एशिया, लदन, 1919

हार्डिंग, लोर्ड : माई इण्डियन ईयर्स रेमिनीसेन्सेज, लदन, 1948

हीमसाथ, चार्ल्स. एच. : इण्डियन नेशनलिज्म एण्ड हिन्दू सोशल रिफोर्म, प्रिंसटन, 1964

ह्यूम, ए ओ. : ए स्पीच आन दी इण्डियन नेशनल कांग्रेस, कलकत्ता, 1888

होडसन, एच वी : दी ग्रेट डिवाइड, लदन, 1969

अध्याय 28—न्यासिता एवं सत्याग्रह

अग्रवाल, श्रीमन्नारायण . दी गांधियन प्लान आफ इकोनोमिक डिवेलपमेंट फोर इण्डिया, बम्बई, 1944
" " . प्रिंसीपल्स आफ गांधियन प्लानिंग, इलाहाबाद, 1960
अंजारिया, जे. जे एसेज आन गांधियन इकोनोमिक्स, बम्बई, 1945
अलेक्जाण्डर, होरेस तथा अन्य सोशल एण्ड पोलोटिकल आईडियाज आफ महात्मा गांधी, नई दिल्ली, 1949
एण्ड्रूज, सी एफ मीनिंग आफ नोन-कोओपरेशन, मद्रास, 1922
" " महात्मा गांधीज आईडियाज, न्यूयार्क, 1930
एश, ज्योफ्रे गांधी : ए स्टडी इन रिवोल्यूशन, लन्दन, 1968
कृपालानी, कृष्ण . गांधी : ए लाइफ, 1968
" जे बी · गांधी : दी स्टेट्समेन, दिल्ली, 1951
" " · गांधियन वे, बम्बई, 1938
" " · नोन-व्यायोलेंट रिवोल्यूशन, बम्बई, 1938
" " · गांधी : हिज लाइफ एण्ड थॉट, नई दिल्ली, 1970
कृष्णमूर्ति वाई जी नियो-गांधीज्म, बम्बई, 1954
" " रिफलेक्शन्स आन दी गांधियन रिवोल्यूशन, बम्बई, 1944
कुमारप्पा, जे. सी. : गांधियन इकोनोमी एण्ड अदर एसेज, अहमदाबाद, 1942
कौशिक, नारायण : प्ली फोर ए न्यू वर्ल्ड ओर्डर : ए साइंटिफिक अप्रोच इन ट्रुथ एण्ड नोन-वायोलेन्स, 1941
गद्रे, कमल : दी फार्मिंग स्ट्रगल फोर ट्रस्टीशिप, नई दिल्ली, 1971
गांधी, मोहनदास करमचन्द : दी स्टोरी आफ माई एक्सपेरिमेंट्स विथ ट्रुथ, अहमदाबाद, 1940
" " : सत्याग्रह, (1910-1935), अहमदाबाद, 1935
" " : नोन-व्यायोलेन्स इन पीस एण्ड वार,
" " : सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका, अहमदाबाद, 1950
" " : कोन्स्ट्रक्टिव प्रोग्रेस : इट्स मीनिंग एण्ड प्लेस, अहमदाबाद, 1945
" " : सर्वोदय, अहमदाबाद, 1958
" " सेंट परसेंट स्वदेशी, काशी, 1938
" " : कोओपरेटिव फार्मिंग, अहमदाबाद, 1959
" " : दरिद्रनारायण, ए टी हिंगोरानी द्वारा सम्पादित, कराची, 1946
" " . इकोनोमिक एण्ड इण्डस्ट्रियल-लाइफ एण्ड रिलेशन्स, 3 खण्ड, वी जी नेर द्वारा सम्पादित, अहमदाबाद, 1957
" " : इकोनोमिक्स एण्ड खादी, अहमदाबाद, 1949

गांधी, मोहनदास करमचन्द — हिन्द स्वराज ओर इण्डियन होमरूल, अहमदाबाद, 1958
" " — फोर पेसीफिस्ट्स, अहमदाबाद, 1949
" " — ट्रस्टीशिप, अहमदाबाद, 1960
" " — नोन-वायोलेंट वे टु वर्ल्ड पीस, अहमदाबाद, 1959
" " — दी साइंस आफ सत्याग्रह, बम्बई, 1957
" " — इण्डियाज केस फोर स्वराज, बम्बई, 1932
——— ——— "गांधी एण्ड दी वर्ल्ड आउटलुक . ए सिम्पोजियम" गांधीमार्ग, जनवरी, 1962
ग्रेग, रिचर्ड (गम्पा) — दी पावर आफ नोन-वायोलेंस, लन्दन, 1960
" " — गांधीज सत्याग्रह, मद्रास, 1930
" " — गांधीज्म वर्सस सोशलिज्म, मद्रास, 1930
गगल — गांधियन वे टु वर्ल्ड पीस, बम्बई, 1960
जाजू, श्रीकृष्णदास — दी आईडियोलोजी आफ दी चर्खा : ए कलेक्शन आफ सम आफ गांधीज स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स अबाउट खादी, काशी, 1951
झा, एस एन. — ए क्रिटिकल स्टडी आफ गांधियन इकोनोमिक थाट, आगरा,
डायटर, ए एम. — ग्रोथ इन्टू दी गांधियन कोन्सेप्ट आफ अहिंसा, कलकत्ता, 1962
तैयबुल्ला, एम — इस्लाम एण्ड नोन-वायोलेंस, इलाहाबाद, 1959
दत्ता, डी एम — दी फिलोसोफी आफ महात्मा गांधी, विस्कोंसिन, 1953
दासगुप्ता, अरुणचन्द्र — नोन-वायोलेंस · दी इनविन्सिबल पावर, कलकत्ता, 1946
दांतवाला, एम एल — गांधीज्म रीकन्सीडर्ड, बम्बई, 1944
दिवाकर, आर आर — सत्याग्रह इट्स टेकनीक एण्ड हिस्ट्री, बम्बई, 1951
" " — सत्याग्रह इन एक्शन, कलकत्ता, 1949
" " — सत्याग्रह . दी पावर आफ ट्रूथ, शिकागो, 1948
" " : गांधीजीज बेसिक आईडियाज एण्ड सम मोडर्न प्रोब्लम्स, बम्बई, 1963
देसाई, ए आर — गांधीज ट्रूथ एण्ड नोन-वायोलेंस एक्स-रेड : एन ओपन लेटर, जून, 1939
देसाई, कान्तिलाल . गांधी एण्ड गांधीज्म, अहमदाबाद, 1930
देसाई, महादेव हरिभाई . दी गोस्पेल आफ सेल्फलेस एक्शन ओर दी गीता अकोर्डिंग टु गांधी, अहमदाबाद, 1946
" " — ए राइचुअस स्ट्रगल : ए क्रोनिकल आफ दी अहमदाबाद टेक्स्टाइल लेबरर्स फाइट फोर जस्टिस, अहमदाबाद, 1951
" " · हिस्ट्री आफ दी बारडोली सत्याग्रह आफ 1928 एण्ड इट्स सीक्वेल, अहमदाबाद, 1929
देव, शंकरराव · कुछ थी नोट एप्रो आन गांधीज आल्टरनेटिव टु केपिटलिज्म, नागपुर, 1969

देशपांडे, पी जी : ए गांधियाना, अहमदाबाद, 1948
धवन, गोपीनाथ : दी पोलीटिकल फिलोसोफी आफ महात्मा गांधी, अहमदाबाद, 1951
नन्दा, बी. आर : महात्मा गांधी, लन्दन, 1958
नेहरू, जवाहरलाल : फ्रीडम फ्रोम फीयर, नई दिल्ली, 1960
नेल्सन, स्टुअर्ट : "नोन-वायोलेंस इन अमेरिका", गांधी मार्ग, अक्टोबर, 1960
नैयर, शंकरन् : गांधी एण्ड एनर्की, मद्रास, 1922
प्रसाद, राजेन्द्र : सत्याग्रह इन चंपारण, अहमदाबाद, 1946
" " : इकोनोमिक्स आफ खादी, मुजफ्फरपुर, 1927
प्यारेलाल : महात्मा गांधी : दी लास्ट फेज, 3 खण्ड, अहमदाबाद, 1956, 1958, 1965
" : गांधियन टेक्नीक्स इन दी मोडर्न वर्ल्ड, अहमदाबाद, 1953
प्रीतमसिंह, भाई : गांधीज कोन्स्ट्रक्टिव प्रोग्रेम, लाहौर, 1944
पौलिंग, थियोडोर : इन्ट्रोडक्शन टु नोन-वायोलेंस, 1944
पोलक, एम जी : महात्मा गांधी : दी मेन, लदन, 1931
फिशर, लुई : लाइफ आफ महात्मा गांधी, लदन, 1951
फुलोप-मिलर, रेने : गांधी दी होली मैन, लदन, 1931
बंधोपाध्याय, एन. सी : गांधीज्म इन थियरि एण्ड प्रेक्टिस, मद्रास, 1958
बेंफर्ड, पी. सी. : हिस्ट्रीज आफ दी नोन-कोओपरेशन एण्ड खिलाफत मूवमेंट्स, दिल्ली, 1925
बोन्डुरांट, जोन वी. : कोंक्वेस्ट आफ वायोलेंस, बर्कले, 1965
बोस, आर एन. : गांधीयन टेक्नीक एण्ड ट्रेडीशन इन इंडस्ट्रियल रिलेशन्स, कलकत्ता, 1956
बोस, निर्मल कुमार : स्टडीज इन गांधीज्म, कलकत्ता, 1947
" " : गांधी दी मेन एण्ड हिज मिशन, बम्बई, 1966
बोस, ए के तथा पटवर्धन, पी. : गांधी इन इंडियन पोलीटिक्स, बम्बई, 1967
मर्चेंट, विजय : एन एप्रेसोजो आफ गांधीज थाट्स आन ट्रस्टीशिप मेनेजमेंट विथ एन एक्सपेरिमेंट आन दी कोन्सेप्ट, बम्बई, 1969
मजूमदार, बी बी. : दी गांधीयन कोन्सेप्ट आफ दी स्टेट, पटना, 1957
मश्रुवाला, के. जी. : गांधी एण्ड मार्क्स, अहमदाबाद, 1956
" " : प्रेक्टिकल नोन-वायोलेंस, अहमदाबाद, 1941
माथुर, जे एस तथा माथुर, ए एस. (सम्पा) : इकोनोमिक थाट आफ महात्मा गांधी, इलाहाबाद, 1962
माथुर, जे एस. : एसे आन गांधीयन इकोनोमिक्स, इलाहाबाद, 1960

मुंशी, क मा	गांधी, दी मास्टर, दिल्ली, 1948
" "	रिकोन्स्ट्रक्शन आफ सोसाइटी थ्रू ट्रस्टीशिप, बम्बई, 1960
मून, पेंडेरेल	गांधी एण्ड मोडर्न इंडिया, लदन, 1969
मडल, सतराम	गांधी एण्ड वर्ल्ड पीस, कैलिफोर्निया, 1932
रघ्नस्वामी, एम	दी पोलीटिक्स फिलोसोफी आफ मि. गांधी, मद्रास, 1922
रमणमूर्ति, वी वी	नोन-वायोलेंस इन पोलीटिक्स, दिल्ली, 1958
रामचन्द्रन, जी तथा महादेवन, टी के (सम्पा)	गांधी हिज रेलेवेन्स फोर अवर टाइम्स, नई दिल्ली, 1967
रामकृष्णराव, के	गांधी एण्ड प्रेग्मेटिज्म एन इंटरकल्चरल स्टडी, कलकत्ता, 1968
राय चोधरी, पी सी	गांधीजीज फर्स्ट स्ट्रगल इन इंडिया, अहमदाबाद, 1955
रिवेट, के	इकोनोमिक थाट आफ महात्मा गांधी, बम्बई, 1959
लेस्टर, मूरियल	गांधी : वर्ल्ड सिटिजन, इलाहाबाद, 1945
क्षाकर, रे	दी विजडम आफ गांधी, लदन, 1943
वाइनो, टाइसन, एर्म	"दी ट्रू सिग्नीफिकेन्स आफ गांधी," गांधी मार्ग, अक्टोबर, 1958
वेलोक, विल्फ्रेड	गांधी एज ए सोशल रिवोल्यूशनरी
" "	"गांधी एण्ड वेस्टर्न मेटीरियलिज्म", गांधी मार्ग, अप्रेल, 1950
वेस्टन, ब्लेश	गांधी एण्ड नोन-वायोलेंट रेजिस्टेन्स, मद्रास, 1923
वेंकट रगैया, एम.	गांधीजीज गोस्पेल आफ सत्याग्रह, बम्बई, 1966
शर्मा, बी. एस	गांधी एज ए पोलीटिकल थिंकर, इलाहाबाद, 1956
शार्प, जेने	गांधी वील्ड्स दी वेपन आफ मोरल पावर, अहमदाबाद, 1960
शार्दूलसिंह, कवीश्वर	नोन-वायोलेंट नोन-कोओपरेशन, लाहौर, 1934
शुक्ला, चन्द्रशेखर	गांधीज व्यू आफ लाइफ बम्बई 1960
सातलातवाला तथा गाधी	इज इंडिया डिफरेन्ट ? लदन, 1927
सिवली, मल्फोर्ड	दी क्वाइट बैटल राइटिंग्स ओन दी थियरि एण्ड प्रेक्टिस आफ नोन-वायोलेंट रेजिस्टेन्स, बम्बई, 1965
सीतारामैया, पट्टाभि	गांधी एण्ड गांधीज्म 2 खण्ड, इलाहाबाद, 1942
श्री अरविन्द	दी डोक्ट्रीन आफ पेसिव रेजिस्टेन्स, पांडिचेरी, 1952
श्रीधरानी, कृष्णलाल	वार विदाउट वायोलेंस, न्यूयार्क, 1939
सोमन	पीसफुल इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स : देयर साइन्स एण्ड टेक्नीक, अहमदाबाद, 1957
सथानम, के	सत्याग्रह एण्ड दी स्टेट, बम्बई, 1960
हुसैन, आबिद एस.	दी वे आफ दी गांधी एण्ड नेहरू, बम्बई, 1960

हेंड्रिक, जोर्ज · "इन्फ्लुएंस आफ थोर एण्ड एमरसन आन गांधीज सत्याग्रह" गांधी मार्ग, जुलाई, 1959
होर्सबर्ग, एच जे एन : नोन-वायोलेंस एण्ड एग्रेशन, 1968
" " · महात्मा गांधी, लंदन, 1972

अध्याय 29—समाजवाद एवं विकेन्द्रीकरण

अग्रवाल, श्रीमन्नारायण गांधीयन कॉस्टीट्यूशन फोर फ्री इंडिया, इलाहाबाद, 1946
" " गांधीज्म : ए सोशलिस्टिक एप्रोच, इलाहाबाद, 1946
" " लेटर्स फ्रोम गांधी, नेहरू एण्ड विनोबा, बम्बई, 1966
अप्पादोराय, ए. . रिवीजन आफ डिमोक्रेसि, बम्बई, 1940
" " पोलीटिकल आईडियाज इन माडर्न इंडिया : इम्पेक्ट आफ दी वेस्ट, बम्बई, 1971
" " . इंडियन पोलीटिकल थिंकिंग : फ्रोम नौरोजी टु नेहरू, बम्बई, 1972
ऐयर, एस पी तथा श्रीनिवासन, आर (सम्पा) स्टडीज इन इंडियन डिमोक्रेसी, बम्बई, 1965
कृष्णाकरण, के पी. मोडर्न इंडियन पोलीटिकल ट्रेडीशन, नई दिल्ली, 1962
कर्णिक, वी बी इंडियन ट्रेड यूनियन्स, बम्बई, 1966
कालेलकर, काका (सम्पा) · गांधीवाद और समाजवाद, दिल्ली, 1939
कुमारप्पा, भारतन : कैपिटलिज्म, सोशलिज्म एण्ड विलेजिज्म, 1960
कुमारप्पा, जे सी स्वराज फोर दी मासेस, वर्धा, 1957
" " · व्हाई दी विलेज मूवमेंट ? राजमुंद्री, 1938
" " : एन ओवरआल प्लान फोर रूरल डिवलपमेन्ट, वर्धा, 1960
" " इकोनोमी आफ परमानेंस, 2 भाग वर्धा, 1957
केटलिन, एल. एम. : दी पाथ ओफ महात्मा गांधी, लंदन, 1948
गजेन्द्रगडकर, पी बी लॉ, लिबर्टी एण्ड सोशल जस्टिस, बम्बई, 1960
गांधी, मोहनदास करमचंद हिन्द स्वराज और इंडियन होम रूल, अहमदाबाद, 1958
" " . टुवर्ड्स नोन वायोलेंट सोशलिज्म, अहमदाबाद, 1951
" " सोशलिज्म आफ माई कन्सेप्शन, बम्बई, 1957
" " : सर्वोदय, इट्स प्रिंसीपल्स एण्ड प्रोग्राम, अहमदाबाद, 1957
" " पंचायती राज, अहमदाबाद, 1961
गोपाल, सी पी. कोन्टेम्पोररी इंडियन पोलीटिकल थाट, इलाहाबाद, 1966
घोष, शंकर सोशलिज्म, डिमोक्रेसि एण्ड नेशनलिज्म इन इंडिया, बम्बई, 1973
चौधरी, एम · भूमिक्रान्ति की महानदी, काशी, 1956
चौधरी, सुखबीर · पेजेंट्स एण्ड वर्कर्स मूवमेंट इन इंडिया, 1905-1929, नई दिल्ली, 1971
झा, मनोरंजन · माडर्न इंडियन पोलीटिकल थाट, मेरठ, 1975
डांगे, एस. ए : गांधी वर्सेस लेनिन, बम्बई, 1921

डागे, एस ए	महात्मा गांधी एण्ड हिस्ट्री, नई दिल्ली, 1969
डेल वास्टो, लॅंजा	गांधी एण्ड फ्री इंडिया, बम्बई, 1956
डे, एस के .	कम्यूनिटी डिवेलपमेंट, इलाहाबाद, 1962
" "	पंचायती राज, बम्बई, 1961
डोक्टर, आदी एच	सर्वोदय . ए पोलीटिकल एण्ड इकोनोमिक स्टडी, 1967
दत्त, रजनी पाम	इण्डिया टुडे, लंदन, 1940
देव, शंकरराव	सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र, काशी, 1956
धर तथा लाइडाल :	रोल आफ स्माल एंटरप्राइजेज इन इंडियन इकोनोमिक डिवलपमेंट, बम्बई, 1961
धर्माधिकारी, दादा .	क्रान्ति का अगला कदम, काशी, 1953
" "	सर्वोदय दर्शन, काशी, 1957
नम्बूद्रीपाद, ई एम एस	इकोनोमिक्स एण्ड पोलिटिक्स आफ इंडियाज सोशलिस्ट पैटर्न, नई दिल्ली, 1966
" "	दी महात्मा एण्ड दी इज्म, नई दिल्ली, 1959
नरेन्द्र देव, आचार्य	सोशलिज्म एण्ड दी नेशनल रिवोल्यूशन, बम्बई, 1946
" "	राष्ट्रीयता और समाजवाद, वाराणसी, 1949
नारायण, जयप्रकाश	सोशलिज्म, सर्वोदय एण्ड डिमोक्रेसि, बम्बई, 1964
" " .	"आर्गेनिक डिमोक्रेसि", स्टडीज इन इंडियन डिमोक्रेसि, बम्बई, 1965
" " .	व्हाई सोशलिज्म, बनारस, 1936
" " .	फ्रोम सोशलिज्म टु सर्वोदय, 1959
" "	समाजवाद से सर्वोदय की ओर, काशी, 1958
नेहरू ओन सोशलिज्म .	सेलेक्टेड स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, दिल्ली, 1964
फिलिप्स, सी एच	पोलीटिक्स एण्ड सोसाइटी इन इंडिया, लंदन, 1963
फिशर तथा बोंडूरान्ट	इंडियन एप्रोचेज टु ए सोशलिस्ट सोसाइटी, मोनोग्राफ, कैलिफोर्निया, बर्कले, 1956
फिशर, लुई	गांधी एण्ड स्टालिन, न्यूयार्क, 1947
बृजनारायण	इंडियन सोशलिज्म, लाहौर, 1937
ब्राउन, डी मेकेंजी	फ्रोम रानाडे टु भावे, बर्कले, 1961
भट्ट, श्रीकृष्ण	भूमि क्रान्ति का तीर्थ, कोरापुट, काशी, 1955
भावे, विनोबा	लोकनीति, काशी, 1958
" "	सर्वोदय दर्शन, नई दिल्ली, 1960
" "	स्वराज शास्त्र, बम्बई, 1946
भूदान यज्ञ, क्या और क्यों	वर्धा, 1956
मजूमदार, धीरेन्द्र	शोषण मुक्त समाज की ओर, काशी, 1957
मश्रुवाला, के जी	गांधी एण्ड मार्क्स, अहमदाबाद, 1956
मसानी, एम आर	सोशलिज्म रीकन्सीडर्ड, बम्बई, 1944

मेहता, अशोक	:	स्टडीज इन एशियन सोशलिज्म, बम्बई, 1969
” ”	:	डिमोक्रेटिक सोशलिज्म, बम्बई, 1959
रमण, एन पट्टाभि	·	पोलीटिकल इनवोल्वमेंट आफ इंडियाज ट्रेड यूनियन्स, बम्बई, 1967
राव, एम वी (सम्पा)	.	दी महात्मा · ए मार्क्सिस्ट सिम्पोजियम, नई दिल्ली, 1969
राय, मानवेन्द्र नाथ		रीजन, रोमेंटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, कलकत्ता, 1952
” ”	·	दी फ्यूचर आफ इंडियन पोलीटिक्स, लंदन, 1926
लाजपतराय, लाला	·	दी पोलीटिकल फ्यूचर आफ इंडिया, न्यूयार्क, 1919
लोहिया, राम मनोहर	·	मार्क्स, गांधी एण्ड सोशलिज्म, हैदराबाद, 1963
” ”		आसपेक्ट्स आफ सोशल पालीसी, बम्बई, 1952
लिमये, मधु		इवोल्यूशन आफ सोशलिस्ट पोलोसी, बम्बई, 1951
लखनपाल, पी एल		हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, लाहौर, 1946
वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद		दी पोलीटिकल फिलोसोफी आफ महात्मा गांधी एण्ड सर्वोदय, आगरा, 1959
व्यास, एच एम (सम्पा)		विलेज स्वराज, अहमदाबाद, 1963
शाह, सी एफ		मार्क्सीज्म, गांधीज्म, स्टालिनिज्म, बम्बई, 1963
सच्चिदानंद	:	सर्वोदय इन ए कम्यूनिस्ट स्टेट, बम्बई, 1961
सरदेसाई, एस जी	·	इंडिया एण्ड दी रशन रिवोल्यूशन, नई दिल्ली, 1967
सर्वोदय एण्ड कम्यूनिज्म	:	तंजौर, 1957
सहस्त्र बुद्धे, अन्ना साहब	.	रिपोर्ट आन ग्रामदान इन कोरापुट विलेजेज, वर्धा, 1960
सीतारमैया, पट्टाभि		सोशलिज्म एण्ड गांधीज्म, राजमुंद्री, 1938
हरि, वियोगी (सम्पा.)	.	विनोबा और उनके विचार, दिल्ली, 1940
हैरीसन, एस एस		इंडिया : दी मोस्ट डेन्जरस डेकेड्स, मद्रास, 1965

अनुक्रमणिका

अ

इ

ई

उ

ऋ

भ

म

□□